



# चरक-संहिता

महामुनिना भगवतामिवेशेन प्रणीता  
महर्षिचरकेण प्रतिसंस्कृता

चरकचतुराननश्रीपञ्चक्रपाणिदत्तप्रणीतया आयुर्वेददीपिकाख्यटीकया  
महामहोपाध्याय-श्रीगङ्गाधरकविरचकविराजविरचितया जल्प-  
कल्पतरुसमाख्यया टीकया च सम्प्लद्धता ।

कविराज श्रीनरेन्द्रनाथ सेनगुप्तेन  
कविराज श्रीवलाङ्गचन्द्र सेनगुप्तेन च  
सम्पादिता संशोधिता प्रकाशिता च ।

निदान-विमान-शारीर-इन्द्रियाभिधान-स्थानचतुष्टय-  
समन्वितः

द्वितीयः खण्डः ।

प्रथमं संस्करणम् ।

कलिकातानगर्यां

कलुटोलाभ्यन्तरीणसप्ततिसंख्यकभवनस्थ  
धन्वन्तरि-इलेक्ट्रिक-मेशिनयन्त्रे  
श्रीरङ्गलालमिश्रेण मुद्रिता ।

शकाब्दाः १८५० ।

मूल्यं सार्द्धपङ्क्त्युक्तमितम् ।





## निदानस्थानस्य सूचीपत्रम् ।

| विषयाः  | प्रथमोऽध्यायः । | पृष्ठे पङ्क्तौ | विषयाः                                  | पृष्ठ-पङ्क्तौ |
|---|-----------------|----------------|---|---------------|
| ज्वरनिदानाध्यायः  | ...             | ११९३ ३         | रक्तपित्तनिर्गमे-द्रोषभेदेन             |               |
| निदानस्य पर्यायः  | ...             | ११९४ १         | मार्गनिर्देशः                           | १२७२ १        |
| निदानस्य भेदाः  | ...             | ११९६ १         | मार्गभेदेन रक्तपित्तस्य साध्यत्वादि     | १२७२ ६        |
| व्याधेः पर्यायः   | ...             | १२०३ १         | रक्तपित्तस्य चिकित्सासूत्रम्            | १२७४ ३        |
| व्याधेर्ज्ञानोपायाः   | ...             | १२०४ १         | रक्तपित्तस्य साध्ययाप्यासाध्यत्वे हेतुः | १२७५ ४        |
| पूर्वरूपलक्षणम्   | ...             | १२१२ १         | रक्तपित्तस्यासाध्यलक्षणानि              | १२८० १        |
| रूपस्य लक्षणं पर्यायश्च                                       | ...             | १२१७ १         | अध्यायार्थोपसंहारः                      | १२८१ ३        |
| उपशयलक्षणम्   | ...             | १२२० १         |   |               |
| सम्प्राप्तेः पर्यायः प्रकारभेदश्च                             | ...             | १२२७ १         | <b>तृतीयोऽध्यायः ।</b>                  |               |
| ज्वरस्य प्रथमत्वोपदेशे हेतुः                                  | ...             | १२३७ १         | गुल्मनिदानाध्यायः                       | १२८२ १२       |
| तस्याष्टौ कारणानि   | ...             | १२३८ १         | गुल्मस्य संख्या                         | १२८२ ४        |
| वातज्वरस्य निदानादीनि   | ...             | १२४० १         | वातगुल्मः                               | १२८४ १        |
| पित्तज्वरस्य निदानादीनि                                       | ...             | १२४५ १         | गुल्मस्यावस्थितिस्थानम्                 | १२८५ १        |
| कफज्वरस्य निदानादीनि  | ...             | १२४८ १         | गुल्मस्य निरुक्तिः                      | १२८५ ३        |
| द्वन्द्व-सान्निपातिकज्वराणां सम्प्राप्ति-<br>लिङ्गानि च       | ...             | १२५१ १         | पित्तगुल्मः                             | १२८७ ४        |
| आगन्तुज्वरस्य निदानादीनि                                      | ...             | १२५२ १         | श्लेष्मगुल्मः                           | १२८८ ९        |
| ज्वरस्य स्वरूपं द्वैविध्यञ्च                                  | ...             | १२५५ ३         | सान्निपातिकगुल्मः                       | १२८९ ११       |
| ज्वरस्य पूर्वरूपाणि   | ...             | १२५७ ३         | शोणितजगुल्मः                            | १२९० ३        |
| ज्वरस्य पूर्वोत्पत्तिप्रकारान्तरं सर्व-<br>व्याधिप्राधान्यञ्च | ...             | १२५९ ३         | गुल्मानां पूर्वरूपाणि                   | १२९३ १        |
| ज्वरपूर्वरूपे चिकित्साविधिः                                   | ...             | १२६१ ५         | गुल्मे वातस्य प्रधानता                  | १२९३ ८        |
| जीर्णज्वरे चिकित्सासूत्रम्                                    | ...             | १२६२ ५         | गुल्मस्य चिकित्सासूत्रम्                | १२९३ ९        |
| अध्यायार्थोपसंहारः  | ...             | १२६५ १         | अध्यायार्थोपसंहारः                      | १२९९ १        |
|   |                 |                | <b>चतुर्थोऽध्यायः ।</b>                 |               |
| <b>द्वितीयोऽध्यायः ।</b>                                      |                 |                | प्रमेहनिदानाध्यायः                      | १३०० २        |
| रक्तपित्तनिदानाध्यायः   | ...             | १२६७ १         | प्रमेहस्य संख्या                        | १३०० ४        |
| रक्तपित्तस्य निदानपूर्विका सम्प्राप्तिः                       | ...             | १२६७ ६         | व्याधिविशेषाणां हेतुः                   | १३०१ २        |
| तस्य पूर्वरूपाणि  | ...             | १२७० १         | श्लेष्मजप्रमेहस्य निदानम्               | १३०३ ३        |
| तस्य उपद्रवाः   | ...             | १२७१ ६         | श्लेष्मजप्रमेहस्य दूष्यविशेषाः          | १३०४ ८        |
|   |                 |                | श्लेष्मजप्रमेहसम्प्राप्तिः              | १३०५ २        |
|   |                 |                | दशविधश्लेष्मजप्रमेहाणां नामानि          | १३०८ ४        |

## निदानस्थानस्थ मृचीपत्रम् ।

| विषयाः                              | पृष्ठे पङ्क्तौ | विषयाः                                  | पृष्ठे पङ्क्तौ |
|-------------------------------------|----------------|---|----------------|
| तेषां साध्यत्वे हेतुः ...           | १३०९ १         | तस्य लक्षणानि ...                       | १३३७ ८         |
| तेषां लक्षणानि ...                  | १३०९ २         | तस्य उपद्रवाश्च ...                     | १३३८ ९         |
| पित्तजप्रमेहस्य निदानपूर्विका       |                | वेगमन्ध्राणजशोपस्य निदानपूर्विका        |                |
| सम्प्राप्तिः ...                    | १३११ १         | सम्प्राप्तिर्लक्षणञ्च ...               | १३४० ४         |
| पटुविधपित्तजप्रमेहाणां नामानि       | १३१२ १         | क्षयजशोपस्य निदानम् ...                 | १३४२ ४         |
| तेषां याप्यत्वे हेतुः ...           | १३१२ २         | क्षयजशोपस्य सम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणम्  | १३४४ १         |
| तेषां लक्षणानि ...                  | १३१३ २         | विपमानजशोपस्य निदानं                    |                |
| घातजप्रमेहस्य निदानम्               | १३१४ १         | सम्प्राप्तिर्लक्षणञ्च ...               | १३४५ ६         |
| चतुर्विधघातजप्रमेहाणां सम्प्राप्ति  |                | शोपस्य राजचक्ष्मन्मन्त्रात्वे निरुक्तिः | १३५० १         |
| नामानि च ...                        | १३१४ ४         | शोपस्य पूर्व्वरूपाणि ...                | १३५० ४         |
| घातजप्रमेहाणामसाध्यत्वे हेतुः       | १३१६ ३         | शोपस्यैकादश रूपाणि ...                  | १३५२ १         |
| घातजप्रमेहाणां लक्षणानि ...         | १३१७ ४         | शोपस्य साध्यत्वादिनिर्देशः              | १३५३ १         |
| प्रमेहाणां पूर्व्वरूपाणि ...        | १३१८ ४         | अध्यायार्थोपसंहारः ...                  | १३५४ २         |
| प्रमेहाणामुपद्रवाः ...              | १३१८ ११        | <b>सप्तमोऽध्यायः ।</b>                  |                |
| तेषां चिकित्सासूत्रम् ...           | १३१९ १         | उन्मादनिदानाध्यायः ...                  | १३५५ २         |
| अध्यायार्थोपसंहारः ...              | १३१९ ११        | उन्मादस्य संख्यानिर्देशः ...            | १३५५ ४         |
| <b>पञ्चमोऽध्यायः ।</b>              |                | तस्य निदानपूर्व्विका सम्प्राप्तिः       | १३५५ ६         |
| कुष्ठानिदानाध्यायः ...              | १३२० २         | उन्मादस्य पूर्व्वरूपाणि ...             | १३५७ ३         |
| कुष्ठानां सप्त द्रव्याणि ...        | १३२० ५         | वातोन्मादलिङ्गानि ...                   | १३५८ ७         |
| कुष्ठानां संख्याभेदः ...            | १३२३ ४         | पित्तोन्मादलिङ्गानि ...                 | १३५९ ८         |
| जापालादिकुष्ठेषु दोषसम्बन्ध-        |                | श्लेष्मोन्मादलिङ्गानि ...               | १३६० ४         |
| निर्णयः ...                         | १३२५ १         | त्रिदोषोन्मादलिङ्गानि ...               | १३६० ९         |
| कुष्ठानां निदानं सम्प्राप्तिश्च ... | १३२५ ८         | साध्योन्मादानां चिकित्सासूत्रम्         | १३६१ १         |
| कुष्ठानां पूर्व्वरूपाणि ...         | १३२८ १         | आगन्तुकोन्मादस्य निदानम्                |                |
| कुष्ठानां रूपाणि ...                | १३२९ ३         | पूर्व्वरूपाणि च ...                     | १३६२ ४         |
| कुष्ठानामसाध्यत्वादिनिर्देशः ...    | १३३२ ७         | उन्मादकरमूतानामुन्मादविषयताम्           |                |
| कुष्ठानामुपद्रवाः ...               | १३३३ १०        | आरम्भविशेषः ...                         | १३६४ १         |
| अध्यायार्थोपसंहारः ...              | १३३५ १         | आगन्तुकोन्मादस्य रूपाणि ...             | १३६४ ६         |
| <b>षष्ठोऽध्यायः ।</b>               |                | उन्मादकालाः ...                         | १३६५ १         |
| शोपनिदानाध्यायः ...                 | १३३६ २         | उन्मादकरमूतानामुन्मादने                 |                |
| चतुर्विधशोपायतनानां निर्देशः        | १३३६ ४         | प्रयोजनम् ...                           | १३६६ ५         |
| साहसजशोपस्य निदानं सम्प्राप्तिश्च   | १३३६ ६         | पञ्चविधानामप्युन्मादानां                |                |
|                                     |                | द्वै विध्यम् ...                        | १३६७ १         |

## विमानस्थानस्य सूचीपत्रम् ।

≡

| विषयाः                                | पृष्ठे पङ्क्तौ | विषयाः                              | पृष्ठे पङ्क्तौ |
|---------------------------------------|----------------|-------------------------------------|----------------|
| उन्मादानां साध्यत्वादि क्रियासूत्रञ्च | १३५७ ४         | अपस्मारेष्वागन्तुकानुबन्धनिर्देशः   | १३७५ ५         |
| अध्यायार्थोपसंहारः                    | १३७० २         | अपस्मारस्य चिकित्सासूत्रम्          | १३७७ १         |
| अष्टमोऽध्यायः ।                       |                | गुल्माद्यश्रोगाणामुत्पत्तौ पौराणिकी |                |
| अपस्मारनिदानाध्यायः                   | १३७१ २         | कथा                                 | १३७७ ३         |
| अपस्मारस्य संख्यानिर्देशः             | १३७१ ४         | अपस्मारस्य साधारण-चिकित्सा-         |                |
| तस्य निदानपूर्विका सम्प्राप्तिः       | १३७१ ५         | विधिः                               | १३७८ ९         |
| अपस्मारस्य स्वरूपम्                   | १३७२ ५         | रोगाणां निदानार्थकरत्वम्            | १३७९ १         |
| अपस्मारस्य पूर्वरूपाणि                | १३७३ १         | हेतुवर्गान्तरम्                     | १३८२ ५         |
| वातापस्मारलक्षणानि                    | १३७३ ७         | लिङ्गस्य चातुर्विध्यम्              | १३८३ ५         |
| पित्तापस्मारलक्षणानि                  | १३७४ ५         | रोगाणां साध्यत्वादि                 | १३८७ १         |
| श्लेष्मापस्मारलक्षणानि                | १३७४ ९         | साधारणचिकित्साविधिः                 | १३८७ ७         |
| सालिपातिकापस्मारलक्षणानि              | १३७५ ३         | अध्यायार्थोपसंहारः                  | १३९१           |

## विमानस्थानस्य सूचीपत्रम् ।

### प्रथमोऽध्यायः ।

|  |        |
|--|--------|
| रसविमानाध्यायः                           | १३९३ ३ |
| रसादिमानज्ञानस्य प्रयोजनम्               | १३९४ १ |
| रसदोषयोः प्रभावः                         | १३९५ १ |
| द्रव्यप्रभावः                            | १४०४ १ |
| सततासेव्यानां द्रव्यत्रयाणां निर्देशः    | १४०६ ४ |
| पिप्पल्यादीनां सततसेवने दोषाः            | १४०७ १ |
| सात्म्यनिर्देशः                          | १४१० ६ |
| अष्टानामाहारविधिविशेषाद्यतनानां निर्देशः | १४११ ५ |
| भोजनविधिर्भोज्यसाद्गुण्यञ्च              | १४१९ १ |
| अध्यायार्थोपसंहारः                       | १४२३ ७ |

### द्वितीयोऽध्यायः ।

|                            |        |
|----------------------------|--------|
| त्रिविधकुक्षीयविमानाध्यायः | १४२५ २ |
|----------------------------|--------|

|                                       |        |
|---------------------------------------|--------|
| कुक्ष्यशविभागेन मात्रावर्त्तननिर्देशः | १४२५ ४ |
| मात्रावदाहारलक्षणम्                   | १४२६ ६ |
| अमात्रावदाहारलक्षणम्                  | १४२७ ७ |
| अतिमात्राहारस्य लक्षणं सर्वदोष-       |        |
| प्रकोपकत्वञ्च                         | १४२७ ८ |
| आमप्रदोषनिदानम्                       | १४२८ ६ |
| मात्राभ्यवहृतस्य पथ्यस्याप्यन्नस्य    |        |
| अजार्णत्वे हेतुः                      | १४२९ २ |
| विसूचिकालक्षणम्                       | १४२९ ५ |
| अलसकस्य सनिदानलक्षणम्                 | १४२९ ६ |
| अलसकस्यासाध्यलक्षणम्                  | १४३० १ |
| अलसक-विसूचिकयोः                       |        |
| क्रियासूत्राणि                        | १४३१ ३ |
| आमप्रदोषस्य चिकित्साविधिः             | १४३१ ६ |
| आहारस्य पाकस्थाननिर्देशः              | १४३४ ८ |

## तृतीयोऽध्यायः ।

| विषयाः                               | पृष्ठे पङ्क्तौ |
|--------------------------------------|----------------|
| जनपदोद्ध्वंसनीयविमानाध्यायः          | १४३६ २         |
| जनपदोद्ध्वंसस्य पूर्वरूपाणि तत्र     |                |
| कर्त्तव्योपदेशश्च                    | १४३६ ७         |
| जनपदेषु सामान्यभावानां निर्देशः      | १४३९ ७         |
| अनारोग्यकरवातस्य लक्षणम्             | १४३९ ९         |
| अपगतगुणस्य जलस्य लक्षणम्             | १४४० ३         |
| अहितदेशस्य लक्षणम्                   | १४४० ६         |
| अहितकालस्य लक्षणम्                   | १४४१ ६         |
| दृष्टवातादीनां यथोत्तरं गुरुलाघव-    |                |
| निर्देशः                             | १४४२ ४         |
| जनपदोद्ध्वंसकाले कर्त्तव्यानि        | १४४४ १         |
| वाय्वादीनां वैगुण्ये हेतुः           | १४४५ ४         |
| शस्त्रप्रभवस्य जनपदोद्ध्वंसस्य हेतुः | १४४६ ७         |
| अभिशापप्रभवस्य च तस्य हेतुः          | १४४७ ३         |
| कृतयुगोत्पन्नानां मानवानां           |                |
| लक्षणानि                             | १४४८ १         |
| अश्रयत्कृतयुगस्य लक्षणम्             | १४४९ १         |
| त्रेतायुगस्य लक्षणम्                 | १४४९ ४         |
| आयुषो हासकारणम्                      | १४४९ ९         |
| आयुषो नियतानियतकालप्रमाण-            |                |
| निर्देशः                             | १४६२ २         |
| ज्वरिताय उष्णपानीयदाने हेतुः         | १४७० ३         |
| हेतुविपरीतभेषजप्रयोगविधिः            | १४७१ २         |
| तत्र सोदाहरण उपदेशः                  | १४७१ ५         |
| अध्यायार्थोपसंहारः                   | १४७३ ७         |

## चतुर्थोऽध्यायः ।

|                                |        |
|--------------------------------|--------|
| त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीय-      |        |
| विमानाध्यायः                   | १४७५ २ |
| त्रिविधा रोगविशेषविज्ञानोपायाः | १४७५ ४ |
| उपदेशलक्षणम्                   | १४७५ ६ |
| प्रत्यक्षलक्षणम्               | १४७७ १ |

## विषयाः

| विषयाः                        | पृष्ठे पङ्क्तौ |
|-------------------------------|----------------|
| अनुमानलक्षणम्                 | १४८० १         |
| उपदेशेन परीक्षाविधिः          | १४८१ ४         |
| प्रत्यक्षेण परीक्षाविधिः      | १४८२ ४         |
| अनुमानेन परीक्षाविधिः         | १४८२ ११        |
| परीक्षापूर्वकचिकित्सायाः फलम् | १४८६ २         |
| अध्यायार्थोपसंहारः            | १४८७ २         |

## पञ्चमोऽध्यायः ।

|                                      |        |
|--------------------------------------|--------|
| स्रोतोविमानाध्यायः                   | १४८८ २ |
| मूर्त्तिमत्सर्वभावानामभिनिर्वर्त्तने |        |
| क्षये च स्रोतसां मूलत्वम्            | १४८८ ५ |
| स्रोतसां संख्या                      | १४९० १ |
| प्राणवहादि त्रयोदशस्रोतसां निर्देशः  | १४९० ५ |
| स्रोतसां मूलनिर्देशः दृष्टिलक्षणञ्च  | १४९१ ३ |
| स्रोतसां नामानि                      | १४९४ १ |
| स्रोतोदूषणे प्रकोपकारणानि            | १४९५ ४ |
| स्रोतसां दृष्टिलक्षणम्               | १४९७ ३ |
| स्रोतसामाकारनिर्देशः                 | १४९७ ५ |
| प्रदृष्टस्रोतसां क्रियासूत्रम्       | १४९७ ७ |
| अध्यायार्थोपसंहारः                   | १४९८ ६ |

## षष्ठोऽध्यायः ।

|                                     |        |
|-------------------------------------|--------|
| रोगानीकविमानाध्यायः                 | १५०० २ |
| रोगानीकस्य प्रभावादिभेदेन           |        |
| द्विर्भिदाः                         | १५०० ४ |
| द्वैभस्यापि तस्य एकत्वं बहुत्वमपरि- |        |
| संख्येयत्वञ्च                       | १५०० ९ |
| रोगदोषयोः सामान्यं विशेषश्च         | १५०३ ३ |
| शारीरमानसदोषजविकाराणां              |        |
| निर्देशः                            | १५०५ १ |
| अनुबन्ध्यानुबन्धयोर्लक्षणम्         | १५०७ २ |
| अग्नेर्बलभेदेन चतुर्विधत्वम्        | १५०९ ३ |
| प्रकृतिभेदेन तस्य च भेदः            | १५११ २ |

## विमानस्थानस्य सूचीपत्रम् ।

| विषयः                            | पृष्ठे पङ्क्तौ | विषयः                               | पृष्ठे पङ्क्तौ |
|----------------------------------|----------------|-------------------------------------|----------------|
| देहान्निर्क्षणसमीकरणविधिः        | १५१३ ४         | प्राग्वादात् कर्तव्यम्              | ... १५६४ ८     |
| वातलादीनां विशेषविज्ञानविधिः     | १५१५ ३         | वादमयीदालक्षणम्                     | .. १५६५ ५      |
| वातलस्य वातावजयनविधिः            | १५१५ ८         | वादमार्गज्ञानार्थमधिगम्यानां पदानां |                |
| पित्तलस्य पित्तावजयनविधिः        | १५१६ ९         | निर्देशः ...                        | १५६५ ६         |
| श्लेष्मलस्य श्लेष्मावजयनविधिः    | १५१८ ६         | वादस्य लक्षणं भेदश्च                | ... १५६७ ३     |
| अध्यायार्थोपसंहारः               | ... १५१९ ७     | द्रव्यादीनां लक्षणम्                | ... १५७२ १     |
| <b>सप्तमोऽध्यायः ।</b>           |                | प्रतिज्ञालक्षणम्                    | १५७५ १         |
| व्याधितरूपीयविमानाध्यायः         | १५२१ २         | स्थापनालक्षणम्                      | ... १५७६ १     |
| व्याधितरूपाणां द्वैविध्यम्       |                | प्रतिष्ठापनालक्षणम्                 | ... १५७८ १     |
| तस्य प्रयोजनञ्च                  | ... १५२१ ४     | हेतुलक्षणम्                         | ... १५७९ १     |
| तत्राकुशलकुशलभिपज्ञां लक्षणानि   | १५२१ ७         | दृष्टान्तलक्षणम्                    | ... १५८० १     |
| क्रिमीणां समुत्थानादिविशेषः      | १५२४ ७         | उपनय निगमनलक्षणम्                   | ... १५८२ ३     |
| मलजक्रिमीणां निदानादि            | ... १५२४ ९     | उत्तरलक्षणम्                        | ... १५८५ १     |
| शोणितजक्रिमीणां निदानादि         | १५२५ ७         | सिद्धान्तलक्षणम्                    | .. १५८६ ३      |
| श्लेष्मजक्रिमीणां निदानादि       | १५२६ १         | शब्दलक्षणम्                         | ... १५९१ १     |
| पुरीषजक्रिमीणां निदानादि         | १५२६ १२        | प्रत्यक्षलक्षणम्                    | ... १६१५ १     |
| क्रिमीणां चिकित्साविधिः          | ... १५२८ २     | अनुमानलक्षणम्                       | ... १६१७ १     |
| अध्यायार्थोपसंहारः               | ... १५३९ २     | प्रेतिहासलक्षणम्                    | ... १६१७ ४     |
| <b>अष्टमोऽध्यायः ।</b>           |                | औपम्यलक्षणम्                        | ... १६१८ १     |
| रोगभिपगजितीयविमानाध्यायः         | १५४० २         | संशयलक्षणम्                         | ... १६२३ १     |
| शास्त्रपरीक्षाविधिः              | ... १५४० ३     | प्रयोजनलक्षणम्                      | ... १६२७ ४     |
| आचार्यपरीक्षाविधिः               | ... १५४३ १     | सव्यभिचारलक्षणम्                    | ... १६२७ ८     |
| त्रिविधोपायानां निर्देशः         | ... १५४५ ३     | जिज्ञासालक्षणम्                     | ... १६२८ ३     |
| अध्ययनविधिः                      | ... १५४५ ५     | व्यवसायलक्षणम्                      | ... १६२९ १     |
| अध्यापनविधिः शिष्यपरीक्षाविधिश्च | १५४६ ४         | अर्थप्राप्तिलक्षणम्                 | ... १६२९ ३     |
| शिष्यानुशासनविधिः                | ... १५५० ३     | सम्भवलक्षणम्                        | ... १६३० १     |
| सम्भाषाविधिः                     | ... १५५५ १     | अनुयोज्यलक्षणम्                     | ... १६३० ४     |
| जल्पकस्य गुणा दोषाश्च            | ... १५५९ ४     | अननुयोज्यलक्षणम्                    | ... १६३१ ३     |
| परस्य त्रैविध्यम्                | ... १५६० ३     | अनुयोगलक्षणम्                       | ... १६३१ ५     |
| परिपदो भेदः                      | ... १५६० ४     | प्रत्यनुयोगलक्षणम्                  | ... १६३२ १     |
| परिपदभेदे सम्भाषाविधिः           | ... १५६० ८     | वाक्यदोषलक्षणम्                     | ... १६३२ ३     |
|                                  |                | न्यूनालक्षणम्                       | ... १६३२ ६     |

## विमानस्थानस्थ मृचीपत्रम् ।

| विषयः                              | पृष्ठे पङ्क्तौ | विषयः                            | पृष्ठे पङ्क्तौ |
|------------------------------------|----------------|----------------------------------|----------------|
| अधिकलक्षणम् ...                    | १६३३ १         | वातस्य स्वरूपं वातप्रकृतीनां     |                |
| अनर्थकलक्षणम् ...                  | १६३४ १         | लक्षणञ्च ...                     | १६९७ १         |
| अपार्थकलक्षणम् ...                 | १६३४ ३         | विकृतिः परीक्षाविधिः ...         | १६९८ ३         |
| विरुद्धलक्षणम् ...                 | १६३५ १         | सारतः परीक्षाविधिः ...           | १६९९ १         |
| वाक्यप्रशंसालक्षणम् ...            | १६३७ १         | संहननतः परीक्षाविधिः ...         | १७०२ ९         |
| छललक्षणम् ...                      | १६३७ ४         | प्रमाणतः परीक्षाविधिः ...        | १७०३ ४         |
| अहेतुलक्षणम् ...                   | १६४० १         | शरीरस्य प्रमाणम् ...             | १७०६ १         |
| अतीतकाललक्षणम् ...                 | १६४३ ३         | तत्रत्यानां भावानां निर्देशः ... | १७०६ २         |
| उपालम्भलक्षणम् ...                 | १६४४ १         | सात्म्यत आतुरपरीक्षा ...         | १७०७ १         |
| परिहारलक्षणम् ...                  | १६४५ १         | सत्त्वत आतुरपरीक्षा ...          | १७०८ ४         |
| प्रतिज्ञाहानिलक्षणम् ...           | १६५७ १         | आहारशक्ति आतुरपरीक्षा ...        | १७१० १         |
| अभ्यनुज्ञालक्षणम् ...              | १६५८ १         | व्यायामशक्ति आतुरपरीक्षा ...     | १७१० ३         |
| हेत्वन्तरलक्षणम् ...               | १६५९ १         | वयस्त आतुरपरीक्षा ...            | १७१० ५         |
| अर्थान्तरलक्षणम् ...               | १६६० १         | कालस्य लक्षणं परीक्षाविधिश्च     | १७१४ १         |
| निग्रहस्थानलक्षणम् ...             | १६६० ३         | प्रवृत्तिलक्षणम् ...             | १७२१ ४         |
| वादकाले भिषजां वाक्यकथनप्रकारः     | १६६३ २         | उपायलक्षणम् ...                  | १७२२ १         |
| भिषजां ज्ञानार्थं केपाञ्चित्       |                | परीक्षायाः प्रयोजनम् ...         | १७२२ ५         |
| प्रकरणानाम् उपदेशः ...             | १६६४ ३         | वमनोपयोगिभेषजानां निर्देशः       | १७२४ १         |
| कर्तृ-करण कार्ययोनि-कार्य-         |                | विरेचनद्रव्याणां निर्देशः ...    | १७२६ ४         |
| कार्यफलानां निर्देशः ...           | १६६५ १         | आस्थापनद्रव्याणां निर्देशः ...   | १७२७ ९         |
| अनुबन्ध-देश-काल-प्रवृत्त्युपायानां |                | मधुरस्कन्धः ...                  | १७२४ ४         |
| निर्देशः ...                       | १६७४ १         | अम्लस्कन्धः ...                  | १७२२ १         |
| कारण-करणादीनां दशविधपरीक्ष्याणां   |                | लवणस्कन्धः ...                   | १७३३ १         |
| लक्षणानि ...                       | १६८१ १         | कटुकस्कन्धः ...                  | १७३३ ६         |
| आतुरपरीक्षाविधिः ...               | १६९० १         | तिक्तस्कन्धः ...                 | १७३४ ५         |
| प्रकृत्यादिभावानां निर्देशः ...    | १६९३ ४         | कपायस्कन्धः ...                  | १७३५ ७         |
| इलेष्मणः स्वरूपं इलेष्मप्रकृतीनां  |                | अनुवासनद्रव्याणां निर्देशः ...   | १७३९ १         |
| लक्षणञ्च ...                       | १६९४ ७         | शिरोविरेचनद्रव्याणां निर्देशः    | १७३९ ८         |
| पित्तस्य स्वरूपं पित्तप्रकृतीनां   |                | अध्यायार्थोपसंहारः ...           | १७४० १०        |
| लक्षणञ्च ...                       | १६९६ १         | अध्यायप्रशंसा ...                | १७४१ ५         |

## शारीरस्थानस्य सूचीपत्रम् ।

| प्रथमोऽध्यायः ।  |                | विषयाः   | पृष्ठे पङ्क्तौ |
|--|----------------|--|----------------|
| विषयाः   | पृष्ठे पङ्क्तौ | धृतिभ्रंशस्य धृतेश्च लक्षणम्                     | १८३६ ३         |
| कतिधापुरुषीयशारीराध्यायः                                 | १७४३ ३         | स्मृतिभ्रंशस्य स्मृतेश्च लक्षणम्                 | १८३७ १         |
| पुरुषाश्रितास्त्रयोविंशतिः प्रश्नाः                      | १७४४ १         | प्रज्ञापराधलक्षणम्                               | १८३७ ३         |
| आतुभेदेन पुरुषस्य भेदः                                   | १७४६ १         | कालकर्मणां सम्प्राप्तिनिर्देशः                   | १८३९ ५         |
| मनसो लक्षणम्   | १७६३ १         | असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगविवरणम्                 | १८४२ ३         |
| दशेन्द्रियाणां निर्देशः                                  | १७७७ १         | शारीरव्याधीनां सुखदुःखयोश्च हेतु-<br>निर्देशः    | १८४४ ५         |
| पञ्च महाभूतानि तेषां गुणाश्च                             | १७८२ ३         | वेदनानामधिष्ठाननिर्देशः                          | १८४७ ३         |
| बुद्धेर्विवरणम्  | १७९२ १         | वेदनानिवृत्तिकारणम्                              | १८४८ १         |
| पुरुषस्य कारणता  | १७९७ १         | योगलक्षणम्                                       | १८४८ ३         |
| पुरुषप्रतिष्ठितभावानां निर्देशः                          | १८०० १         | योगिनामैश्वर्यलक्षणनिर्देशः                      | १८५२ १         |
| पुरुषस्य प्रभवकारणम्                                     | १८०५ ५         | मोक्षलक्षणम्                                     | १८५५ १         |
| पुरुषस्य ज्ञत्वाज्ञत्वादिनिर्देशः                        | १८०६ १         | योगजस्मृतेर्विज्ञानोपायः                         | १८५५ ३         |
| चतुर्विंशतिकपुरुषस्य सम्भवहेतुषु<br>प्रकृतिविकारनिर्देशः | १८१२ १         | स्मृत्युपलम्भे हेतुः                             | १८५७ १         |
| पुरुषस्य लिङ्गानि  | १८१८ १         | स्मृतेः कारणानि                                  | १८५७ ३         |
| निष्क्रियस्यात्मनः क्रियावत्त्वे हेतुः                   | १८२४ १         | तत्त्वस्वरूपम्                                   | १८५९ १         |
| पुरुषस्यानिष्टयानिषु जन्मकारणम्                          | १८२६ १         | चरमसन्नप्तासस्य फलम्                             | १८६० १         |
| वशिनस्तस्य लक्षणानि                                      | १८२७ १         | भूतात्मनोऽनुपलब्धौ हेतुः                         | १८६२ १         |
| सर्वगतस्यात्मनः सर्ववेदनज्ञानाभावे<br>कारणम्             | १८२७ ३         | अध्यायार्थोपसंहारः                               | १८९४ १         |
| आत्मनो विमुख्ये कारणम्                                   | १८२८ १         | द्वितीयोऽध्यायः ।                                |                |
| क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोरनादित्वम्                           | १८२९ १         | अतुल्यगोत्रीयशारीराध्यायः                        | १८९५ २         |
| आत्मनः साक्षित्वे कारणम्                                 | १८३० १         | अग्निवेदस्य प्रश्नः                              | १८९५ ३         |
| पुरुषस्य वेदनाकृन्विशेषनिर्देशः                          | १८३० ३         | शुक्लशब्दाभिधेयकथनम्                             | १८९६ १         |
| वेदनानां चिकित्सानिर्देशः                                | १८३१ ३         | गर्भोत्पत्तौ कारणम्                              | १८९७ ३         |
| वेदनानां हेतुनिर्देशः                                    | १८३५ १         | सप्रजाया अपि नाट्याश्चिराद् गर्भ-<br>धारणे हेतुः | १८९८ १         |
| बुद्धिचिभ्रंशलक्षणम्                                     | १८३६ १         |  |                |



| विषयाः  | पृष्ठे पङ्क्तौ | विषयाः   | पृष्ठं पङ्क्तौ |
|---|----------------|--|----------------|
| अवधानां गर्भश्रमे कारणम्  | १८९८ ३         | आत्मनिर्णयः ...  | १९४६ १         |
| कन्यासुतादिप्रसवे हेतुः ...   | १९०० १         | अध्यायार्थोपसंहारः ...                                 | १९४९ २         |
| द्विरेतःपवनेन्द्रियाद्यष्टानां जन्म-<br>कारणम् ...                  | १९०२ ३         | चतुर्थोऽध्यायः ।                                       |                |
| सद्योऽनुगतगर्भस्य लक्षणम्   | १९०५ ३         |  |                |
| स्त्री-पुं-नपुंसकगर्भाया लक्षणम्                                    | १९०६ १         | महतीगर्भावक्रान्तिशारीराध्यायः                         | १९५० २         |
| अपत्यस्य मातापितृसमरूपत्वे हेतुः                                    | १९०७ १         | गर्भसम्भवकारणम् ...                                    | १९५० ८         |
| विकृत-हीनाधिकाङ्ग-विकलेन्द्रिय-<br>प्रसवस्य कारणम् ...              | १९०९ १         | गर्भसंज्ञा ...   | १९५१ ३         |
| आत्मनो देहान्तरगमने हेतुः   | १९०९ ५         | कुक्षौ गर्भाभिनिर्व्वर्त्तनप्रकारः                     | १९५२ १         |
| तस्यानुबन्धानां निर्द्देशः ...                                      | १९१४ १         | प्रथम-द्वितीय-तृतीयमासेषु गर्भस्य<br>अवस्थाभेदः ...    | १९५६ १         |
| सर्व्वामयानां हेतुः प्रशमनविधिश्च                                   | १९१५ ३         | महामूतविकारप्रविभागेन गर्भस्य<br>अङ्गादीनां विभागः ... | १९६० १         |
| हर्षस्य शोकस्य च निमित्तम्  | १९१५ ५         | स्त्रीपुंसयोर्विशेषिका भावाः                           | १९६३ ३         |
| रोगाणामपुनर्भवने कारणम्   | १९१५ ६         | गर्भस्य वेदनानुमूतिक्कालः                              | १९६४ ४         |
| दैवपुरुषकारयोर्लक्षणम् ...  | १९१७ ३         | हृद् हृदय्यकथनम् ...                                   | १९६५ १         |
| गदेभ्यः पूर्व्वं प्रतिकर्म्मविधिः                                   | ३९१८ १         | गर्भिणी-गर्भयोर्लक्षणम् ...                            | १९६७ २         |
| आरोग्यहेतुः ...   | १९१८ ३         | गर्भोपघातकरभावानां निर्द्देशः                          | १९६८ ५         |
| अध्यायार्थोपसंहारः ...  | १९१९ ३         | हृद् हृदय्यविमाननायां दोषः                             | १९६९ ५         |
| तृतीयोऽध्यायः ।   |                | चतुर्थोऽध्यायः गर्भस्यावस्था<br>प्रसवकालनिर्द्देशः ... | १९६९ ७         |
|   |                | कुक्षौ गर्भस्य वृद्धिहेतुः ...                         | १९७१ ४         |
| खड्गीकागर्भावक्रान्तिशारीराध्यायः                                   | १९२० १         | गर्भस्याजन्महेतुः ...                                  | १९७३ १         |
| गर्भोत्पत्तिकारणम् ...  | १९२० ४         | कुक्षिस्थगर्भस्य विनाशहेतुरचिरजन्म-<br>हेतुश्च ...     | १९७३ ३         |
| गर्भाभिवृद्धिकारणम् ...   | १९२१ ३         | गर्भस्य विकृतिहेतुः ...                                | १९७३ ५         |
| गर्भोत्पादकभावविषये ऋषीणां<br>वादः ...                              | १९२३ १         | शुद्धादिभेदेन सत्त्वस्य त्रैविध्यम्                    | १९७७ ५         |
| तत्र आग्नेयस्य मीमांसा ...  | १९२६ ६         | शुद्धसत्त्वजत्राह्मणदिसत्त्वानां<br>लक्षणम् ...        | १९७९ १         |
| गर्भस्य मातृज-पितृजात्मज-सात्म्यज-<br>रसज-सत्त्वजभावानां निर्द्देशः | १९२७ ३         | राजसतामससत्त्वानां लक्षणम्                             | १९८१ ३         |
| गर्भविषये भरद्वाजस्य प्रश्नाः                                       | १९४० ६         | अध्यायार्थोपसंहारः ...                                 | १९८४ ४         |
| मनुष्यादीनां तत्प्रभवत्वे हेतुः                                     | १९४३ ७         | पञ्चमोऽध्यायः ।  |                |
| जडादिजातानां पितुरसद्वत्त्वे<br>कारणम् ...                          | १९४५ ३         |  |                |
|   |                | पुरुषविचयशारीराध्यायः                                  | १९८६ २         |

## शारीरस्थानस्य सूचीपत्रम् ।

॥

| विषयाः                         | पृष्ठे पङ्क्तौ | विषयाः                                | पृष्ठे पङ्क्तौ |
|--------------------------------|----------------|---------------------------------------|----------------|
| पुरुषस्य लोकसम्मितत्वम् ...    | १९८६ ४         | दृष्टदोषाणां कार्यम् ...              | २०१८ ५         |
| लोक-पुरुषयोः सामान्यम् ...     | १९८७ ५         | प्रकृतिभूतानां दोषाणां फलम्           | २०१९ १         |
| सामान्योपदेशस्य हेतुः ...      | १९९२ ४         | गर्भोद्भवपूर्वभिनन्दितौ मुनीनां       |                |
| प्रवृत्तेर्मूलम् ...           | १९९४ ३         | वादः ...                              | २०२० ९         |
| अहङ्कारादीनां लक्षणम् ...      | १९९४ ६         | गर्भस्य कुक्षौ स्थितिप्रकारो वर्त्तन- |                |
| निवृत्तिलक्षणम् ...            | १९९६ ४         | प्रकारश्च ...                         | २०२३ १         |
| नोक्षोपायनिर्देशः ...          | १९९६ ६         | गर्भस्य निर्गमनप्रकारः ...            | २०२४ ६         |
| शुद्धसत्त्वस्य फलम् ...        | २००१ ३         | सञ्ज्ञातस्य तस्याहारोपचारविधिः        | २०२५ ४         |
| ज्ञानस्य निर्वागसाधकत्वम्      | २००२ ३         | कालाकालमृत्युविषयको विचारः            | २०२६ ४         |
| निर्वाणस्य फलम् ...            | २००२ ५         | अध्यायार्थोपसंहारः ...                | २०३१ १         |
| मुक्तात्मनो लक्षणम् ...        | २००३ १         | <b>सप्तमोऽध्यायः ।</b>                |                |
| मुक्तस्य पर्यायाः ...          | २००३ ३         | शरीरसंख्यानामशारीराध्यायः             | २०३३ २         |
| अध्यायार्थोपसंहारः ...         | २००३ ८         | पण्णां त्वचां विवरणम् ...             | २०३४ २         |
| <b>षष्ठोऽध्यायः ।</b>          |                | पण्णामङ्गानां निर्देशः ...            | २०३६ १         |
| शरीरविचयशारीराध्यायः ...       | २००५ २         | अस्थिसंख्यानिर्देशः ...               | २०३७ १         |
| शरीरविचयस्य प्रयोजनम् ..       | २००५ ४         | इन्द्रियाधिष्ठानानामिन्द्रियाणाञ्च    |                |
| शरीरलक्षणम् ...                | २००५ ७         | निर्देशः ...                          | २०४० १         |
| धातुवैषम्यस्य फलम् ...         | २००६ १         | क्षेतनाधिष्ठानस्य निर्देशः ...        | २०४० ५         |
| धातुवैषम्यलक्षणम् ...          | २००६ ३         | प्राणायतनानां निर्देशः ...            | २०४० ५         |
| भेषजप्रयोगफलम् ...             | २००८ २         | मर्मनिर्देशः ...                      | २०४१ १         |
| ज्वस्थस्यापि साम्यरक्षणार्थं   |                | कोष्ठाङ्गनिर्देशः ...                 | २०४१ २         |
| भेषजोपदेशः ...                 | २००९ ३         | प्रत्यङ्गनिर्देशः ...                 | २०४२ १         |
| शरीरधातूनां वृद्धिहासकारणम्    | २०११ ३         | स्नायवादित्कर्यप्रत्यङ्गानां निर्देशः | २०४४ १         |
| शरीरधातुगुणाः ...              | २०११ ५         | अङ्गलिसंख्येयानामुदकादीनां            |                |
| जर्दनीयधातूनां निर्देशः        | २०१३ ३         | निर्देशः ...                          | २०५७ ३         |
| धातूनां वर्द्धनोपायः ...       | २०१४ १         | त्वगादिषु सामान्यन्तः पाञ्च-          |                |
| शरीरवृद्धिकरभावानां निर्देशः   | २०१५ १         | भौतिकत्वनिर्देशः ...                  | २०५९ १         |
| बलवृद्धिकरभावानां निर्देशः     | २०१५ ३         | अध्यायार्थोपसंहारः ...                | २०६१ ३         |
| आहारपरिणामकरभावानां निर्देशः   | २०१६ १         | <b>अष्टमोऽध्यायः ।</b>                |                |
| शरीरधातूनां द्वैविध्यम् ...    | २०१७ ३         | जातिसूत्रीयशारीराध्यायः ...           | २०६३ २         |
| तत्र मूलभूतानां निर्देशः ...   | २०१७ ४         | अभीष्टप्रजननकर्म्मोपदेशः ...          | २०६३ ५         |
| प्रसादाख्यधातूनां निर्देशः ... | २०१८ २         | पुष्पात् प्रभृति स्त्रियास्त्रिरात्रं |                |
|                                |                | कर्त्तव्यम् ...                       | २०६४ ४         |

| विषयाः   | पृष्ठे पङ्क्तौ | विषयाः  | पृष्ठे पङ्क्तौ |
|--|----------------|---|----------------|
| तस्याश्चतुर्थहनि कर्त्तव्यम् ...                       | २०६५ १         | प्रतिमासिककर्मणः फलम् ...                       | २१०३ ३         |
| पुत्रदहितृकामयोः सहवासदिवस-<br>नियमः ...               | २०६६ २         | सूतिकागारस्य विधिः ...                          | २००३ ९         |
| गर्भग्रहणरीतिः ...                                     | २०६७ १         | तत्र संग्रहणीयद्रव्याणां निर्देशः               | २१०४ ४         |
| गर्भाधाने वर्जितस्त्रीपुरुषयोर्निर्देशः                | २०६८ १         | सूतिकागारप्रवेशविधिः ...                        | २१०५ ७         |
| संसर्गप्रकारः ...                                      | २०६९ १         | प्रजननकाललिङ्गानि ...                           | २१०६ ४         |
| शुद्धस्नानात् आससरात्रं कर्त्तव्यम्                    | २०७० ८         | आवीप्रादुर्भावे कर्त्तव्यम् ...                 | २१०६ ८         |
| गर्भाधानसंस्कारः ...                                   | २०७२ १         | आवीकुक्ष्यमानाया अप्रसवे कर्त्तव्यम्            | २१०७ ३         |
| अभिलिपितपुत्रकामायाः कर्त्तव्यम्                       | २०७४ ४         | अमरापातनापायः ...                               | २१०९ ८         |
| वर्णवैशेष्ये कारणान्तरम् ...                           | २०७५ ७         | जातमात्रस्यैव कुमारस्य विधेयानि                 | २१११ ३         |
| प्राणिनां सववैशेष्ये कारणम्                            | २०७७ १         | नार्दाच्छेदविधिः ...                            | २११२ ९         |
| पुंसवनविधिः ...  | २०८० ३         | नाभिनाडीपाकचिकित्सा ...                         | २११३ ५         |
| गर्भस्थापनानि ...                                      | २०८३ ३         | असम्यक्कल्पितनाड्या दोषाः<br>तत्प्रतीकारश्च ... | २११३ ७         |
| गर्भापघातकभावानां निर्देशः                             | २०८४ ७         | कुमारस्य जातकर्म्म स्तनपानविधिश्च               | २११४ १         |
| गर्भिणी-चिकित्सा ...                                   | २०८८ १         | कुमारस्य रक्षाविधिः ...                         | २११४ ५         |
| गर्भिण्या द्वित्रिमासेषु पुष्पदर्शनस्य<br>फलम् ...     | २०८९ ३         | सूतिकायाः स्वस्थवृत्तम् ...                     | २११६ ४         |
| चतुर्मासेषु पुष्पदर्शने गर्भस्थापनविधिः                | २०९० ६         | सूतिकाया आतुर्यवृत्तम् ...                      | २११८ १         |
| आमान्वयाद् उष्णादुपयोगाच्च पुष्प-<br>दर्शनस्य फलम् ... | २०९२ ८         | नामकर्मविधिः ...                                | २११९ १         |
| तथोर्विशेषचिकित्सा ...                                 | २०९३ ८         | आयुष्मतां कुमाराणां लक्षणानि                    | २१२० २         |
| गर्भास्पन्दने कर्त्तव्यम् ...                          | २०९४ ४         | धात्रीपरीक्षाविधिः ...                          | २१२३ ७         |
| गर्भिण्या वदावर्त्तविबन्धे चिकित्सा                    | २०९५ ४         | स्तन-स्तन्यसम्प्लक्षणानि ...                    | २१२४ ५         |
| अन्तर्मृतगर्भाया निदानपूर्वक-<br>लक्षणम् ...           | २०९६ ४         | वातादुपसृष्टक्षारलक्षणानि                       | २१२५ १         |
| मृतगर्भायाश्चिकित्सा ...                               | २०९८ १         | दुष्टक्षारायाः पानाशनविधिः                      | २१२६ १         |
| निर्हृतगर्भशल्याया उपक्रमः                             | २०९९ १         | क्षीरजननानि ...                                 | २१२६ ९         |
| गर्भिण्या प्रतिमासिककर्मणः<br>उपदेशः ...               | २१०० १         | धात्रीस्तन्यपानविधिः ...                        | २१२७ ९         |
| किंशचिकित्सा ...                                       | २१०१ ४         | कुमारागारविधिः ...                              | २१२८ १         |
|  |                | कुमारस्य शयनास्तरणादिविधिः                      | २१२८ ७         |
|  |                | वालस्य क्रीडनकानि ...                           | २१३० १         |
|  |                | वालतुर्यचिकित्साविधिः ...                       | २१३१ १         |
|  |                | अध्यायार्थोपसंहारः ...                          | २१४२ ५         |

## इन्द्रियस्थानस्य सूचीपत्रम् ।

| विषयः                               | पृष्ठे पङ्क्तौ | विषयः                               | पृष्ठे पङ्क्तौ |
|-------------------------------------|----------------|-------------------------------------|----------------|
| <b>प्रथमोऽध्यायः ।</b>              |                | <b>पञ्चमोऽध्यायः ।</b>              |                |
| वर्णस्वरीयेन्द्रियाध्यायः ...       | २१४५ ३         | पूर्वरूपीयेन्द्रियाध्यायः ...       | २१८१ २         |
| आयुःप्रमाणावशेषज्ञानार्थं परीक्ष्य- |                | अरिष्टव्यापकपूर्वरूपाणां सामान्य-   |                |
| विषयाणां निर्द्देशः ..              | २१४६ १         | विशेषभावेन निर्द्देशः ...           | २१८१ ४         |
| तेषां परीक्षोपायः ...               | २१४८ ४         | ज्वरादिरोगाणामारिष्टव्यापकपूर्व-    |                |
| प्रकृतिनिर्द्देशः ...               | २१४९ १         | रूपाणि ...                          | २१८१ ६         |
| विकृतिनिर्द्देशः ...                | २१५० १         | पूर्वरूपावस्थायां स्वप्नतोऽरिष्ट-   |                |
| वर्णाधिकारः ...                     | २१५३ १         | कथनम् ...                           | २१८२ ७         |
| स्वराधिकारः ...                     | २१५६ ३         | रूपावस्थादिषु स्वप्नकथनम्           | २१८७ ५         |
| अध्यायार्थोपसंहारः ...              | २१५९ १         | सप्तविधस्वप्नानां निर्द्देशः ...    | २१९० ३         |
| <b>द्वितीयोऽध्यायः ।</b>            |                | कालभेदेन तेषां फलम् ...             | २१९१ ३         |
| पुष्पितकेन्द्रियाध्यायः ...         | २१६० २         | अध्यायार्थोपसंहारः ...              | २१९३ १         |
| पुष्पितलक्षणम् ...                  | २१६२ ३         | <b>षष्ठोऽध्यायः ।</b>               |                |
| गन्धपरीक्षा ...                     | २१६४ ५         | कतमानि शरीरीयेन्द्रियाध्यायः        | २१९४ २         |
| रसपरीक्षा ...                       | २१६५ १         | व्याधिमच्छरीरविषयकप्रश्नः           | २१९४ ४         |
| अध्यायार्थोपसंहारः ...              | २१६६ १         | व्याधिमच्छरीराणामरिष्टलक्षणम्       | २१९४ ८         |
| <b>तृतीयोऽध्यायः ।</b>              |                | अध्यायार्थोपसंहारः ...              | २२०१ ३         |
| परिमर्शनीयेन्द्रियाध्यायः ...       | २१६७ २         | <b>सप्तमोऽध्यायः ।</b>              |                |
| परिमर्शनविधिः ...                   | २१६७ ६         | पञ्जरूपीयेन्द्रियाध्यायः ...        | २२०२ २         |
| सृष्ट्यभावानां लक्षणानि ...         | २१६७ ९         | छायाप्रतिच्छायायोररिष्टलक्षणम्      | २२०२ ४         |
| व्यासतः परिमर्शनविधिः ...           | २१६८ ६         | सुसूक्ष्मतां प्रतिच्छायाया लक्षणानि | २२०३ १         |
| अध्यायार्थोपसंहारः ...              | २१७१ ५         | संस्थानादीनां विवरणम् ...           | २२०४ १         |
| <b>चतुर्थोऽध्यायः ।</b>             |                | प्रतिच्छायालक्षणम् ...              | २२०४ ३         |
| इन्द्रियानीकेन्द्रियाध्यायः ...     | २१७२ २         | खादीनां छायाया लक्षणम्              |                |
| इन्द्रियपरीक्षणोपायः ...            | २१७२ ४         | शुभाशुभत्वञ्च ...                   | २२०४ ५         |
| पञ्चेन्द्रियाणां परीक्षा ...        | २१७३ ३         | तैजसीच्छायाया त्रकारभेदः शुभा-      |                |
| सामान्यतः सर्वेन्द्रियारिष्टपरीक्षा | २१७९ १         | शुभत्वञ्च ...                       | २२०५ ५         |
| अध्यायार्थोपसंहारः ...              | २१८० १         | प्रमाच्छायायोर्भेदः ...             | २२०६ १         |

| विषयाः                                 | पृष्ठे पङ्क्तौ | विषयाः                                  | पृष्ठे पङ्क्तौ |
|--|----------------|---|----------------|
| अपरमरिष्टलक्षणम् ...                   | २२०७ १         | समान्ते परलोकं गन्तुर्लक्षणम् ...       | २२३१ १         |
| अध्यायार्थोपसंहारः ...                 | २२१२ १         | पङ्क्तिर्मार्गैर्मरिष्यतो लक्षणानि ...  | २२३१ ३         |
| <b>अष्टमोऽध्यायः ।</b>                 |                | मासान्तरे मुमूर्षोर्लक्षणम् ...         | २२३२ १         |
| अवाक्शिरसीयेन्द्रियाध्यायः ...         | २२१३ २         | मासात् मुमूर्षोर्लक्षणानि ...           | २२३२ ३         |
| विवर्जनीयरूपप्रतिच्छायाभिर्देशः ...    | २२१३ ४         | कतिपयारिष्टानि ...                      | २२३२ ७         |
| जड़भूतपक्ष्मदृष्टोश्चिकित्सानिषेधः ... | २२१३ ६         | भिषगादिद्वे पिणां दोषाः ...             | २२३५ ४         |
| शुष्यतोऽरिष्टलक्षणम् ...               | २२१३ ८         | जातारिष्टानां गुणवच्चतुष्पादेऽपि        |                |
| केशगतारिष्टलक्षणानि ...                | २२१४ १         | चिकित्सान्वयार्थत्वम् ...               | २२३६ १         |
| नासागतारिष्टलक्षणम् ...                | २२१५ १         | आयुःपरीक्षणे उपदेशः ...                 | २२३६ ३         |
| ओष्ठगतारिष्टलक्षणम् ...                | २२१५ ५         | अरिष्टस्य लक्षणम् ...                   | २२३७ १         |
| दन्तगतारिष्टलक्षणम् ...                | २२१५ ७         | <b>द्वादशोऽध्यायः ।</b>                 |                |
| जिह्वागतारिष्टलक्षणम् ...              | २२१६ १         | गोमयचूर्णयेन्द्रियाध्यायः ...           | २२३८ २         |
| कतिपयान्यरिष्टलक्षणानि ...             | २२१६ ३         | मासान्ते मुमूर्षोरिष्टलक्षणानि ...      | २२३८ ४         |
| अध्यायार्थोपसंहारः ...                 | २२१८ ७         | अर्द्धमासान्तरे मुमूर्षोर्लक्षणम् ...   | २२३८ ६         |
| <b>नवमोऽध्यायः ।</b>                   |                | दुर्लभजीवितस्य लक्षणम् ...              | २२३९ १         |
| यस्यश्वावनिमित्तीयेन्द्रियाध्यायः ...  | २२२० २         | दूताधिगतारिष्टानि ...                   | २२४० १         |
| कतिपयारिष्टलक्षणानि ...                | २२२० ४         | गच्छतो वैद्यस्य पथि औत्पातिकानि ...     | २२४५ १         |
| राजपक्ष्मणोऽरिष्टलक्षणम् ...           | २२२१ १         | आतुरकुलानामौत्पातिकानि ...              | २२४७ ३         |
| बलमांसक्षयेऽचिकित्सानां रोगाणां        |                | मुमूर्षोर्वैद्यमकजनानां व्यवहारः ...    | २२४७ ७         |
| निर्देशः ...                           | २२२१ ५         | मरिष्यतः शयनासनादीनि ...                | २२४७ ९         |
| संशयप्राप्तजीवितस्य लक्षणम् ...        | २२२२ ९         | द्वादशाध्यायोक्तानामरिष्टलक्षणानां      |                |
| संशयितजीविते वैद्यस्य कर्तव्यम् ...    | २२२३ १         | समासतः पर्यायान्तरेण निर्देशः ...       | २२४९ ३         |
| अपराण्यरिष्टानि ...                    | २२२३ ५         | अरिष्टरूपाणि पश्यतापि पृष्टेना-         |                |
| अध्यायार्थोपसंहारः ...                 | २२२४ ९         | पृष्टेन वा भिषजा कर्तव्यम् ...          | २२५३ ८         |
| <b>दशमोऽध्यायः ।</b>                   |                | प्रशस्तदूतलक्षणम् ...                   | २२५५ १         |
| सद्योमरणीयेन्द्रियाध्यायः ...          | २२२६ १         | पथि चातुरवेष्टमप्रवेशे च प्रशस्तानि ... | २२५६ १         |
| सद्यःप्राणांस्तितिक्षतो लक्षणानि ...   | २२२६ ६         | आतुरकुले प्रशस्तलक्षणानि ...            | २२५७ ११        |
| अध्यायार्थोपसंहारः ...                 | २२२९ ७         | प्रशस्तस्वप्नानां निर्देशः ...          | २२५८ ३         |
| <b>एकादशोऽध्यायः ।</b>                 |                | आतुरलक्षणप्रशस्तिः ...                  | २२५९ १         |
| अणुज्योतीयेन्द्रियाध्यायः ...          | २२३० २         | आरोग्यस्य फलम् ...                      | २२५९ ३         |
| समान्तरे मरिष्यतो लक्षणानि ...         | २२३० ४         | अध्यायार्थोपसंहारः ...                  | २२५९ ५         |

# चरक-संहिता

निदानस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातो ज्वरनिदानं व्याख्यास्यामः, इतिह  
स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—अथोद्दिष्टक्रमात् श्लोकस्थानानन्तरं निदानस्थाने वक्तव्ये  
सर्वव्याधिप्रधानत्वात् ज्वरस्य निदानमादावाह—अथात इत्यादि । सर्व  
पूर्ववद् व्याख्यातव्यम् । ज्वरस्य निदानं ज्वरनिदानमधिकृत्य कृतमध्यायं  
ज्वरनिदानमध्यायं व्याख्यास्याम इति ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—संक्षेपेण हेतुलिङ्गाभिधायकं सूत्रस्थानमनु प्रपञ्चेन हेतुलिङ्गाभिधायकं निदान-  
स्थानमुच्यते ; हेतुलिङ्गज्ञानपूर्विका हि चिकित्सा साध्या भवति ; यद्य चिकित्सासूत्रमात्रमभि-  
धातव्यम्, तदुपशयान्तर्गतमेवेति कृत्वा ; किंवा हेतुलिङ्गाभिधायकस्यापि चिकित्सार्थत्वात्  
चिकित्सासूत्रमात्राभिधानमिह ; तत्रापि च शरीरविकारेषु प्रधानत्वात् ज्वरस्यैव निदानमादा-  
इत्यते ; तथा च ज्वरः प्रधानमत्रैव “ज्वरस्तु खलु” इत्यादिना वक्ष्यति, तथा च चिकित्सितं च  
वक्ष्यति,—“वेहेन्द्रयमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली” इत्यादि ; यत् तु वक्ष्यति,—“पुरा गुल्मोत्पत्ति-  
र्यूट” इति, तत्र ‘पुरा’-शब्द आद्याविर्भावौ गुल्मस्य वर्तते न तु ज्वरस्य प्राग्भावे ; दक्षाध्वरध्वंसे  
हि ज्वरपरिमृहीतानां प्राणिनां दिक्षु विद्रावणादिना गुल्मोत्पत्तेरुक्तत्वात् । निदानं कारणमिहोच्यते,  
तच्चेह व्याधिजनकं व्याधिवोधकञ्च सामान्येनोच्यते ; तत्र व्याधिजनकं निदानं हेतुः, व्याधिवोधकञ्च  
कारणं निदानपूर्ववरूपोपशयसम्प्राप्तिरूपम् ; तत्र हेतुरूपं निदानं जनकञ्च भवति, व्याधिवोधकञ्च  
भवति ; अत एव प्रथमम्, “इह खलु” इत्यादिना हेतुमभिधाय “तस्योपलब्धिनिदानम्”  
इत्यादिना पुनर्हेतुरप्युक्तः ; ज्वरस्य निदानं ज्वरनिदानम् । किंवा निदानशब्दो जनककारणवचन एव ;

इह खलु हेतुर्निमित्तमायतनं कर्त्ता कारणं प्रत्ययः समुत्थानं  
निदानमित्यनर्थान्तरम् ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—ननु को ज्वरः, किमस्य निदानम् ? इत्याकाङ्क्षायां प्रतिलोम-  
तन्त्रयुक्त्या प्राग् ज्वरोपदेशनिदानमुच्यते । अत्र निदानशब्देन निदान-पूर्व-  
रूप-लङ्घोपशय-सम्प्राप्तयो विवक्षिताः । समास-व्यासाभ्यां तज्ज्ञापयितुं  
समासेन निदानादीनि पञ्च क्रमेणोपदिशति । रोगाणां ह्युत्पत्तावादौ निदानं,  
ततः पूर्वरूपं, ततः सम्प्राप्तिः, ततो रूपं, तत उपशयः, इत्यत आदौ समासेन  
निदानमाह—इहेत्यादि । खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे । इह संसारे हेतुरित्यादिकम्  
अनर्थान्तरमर्थान्तररहितमेकार्थकम् । भावानामुत्पत्तिसम्पादक इत्येष एक  
एवार्थो हेतृषां हेत्वादीनां पदानाम् । उत्पत्तिस्तु सत्ता, तत्समानाधिकरणं  
तदनुकूलव्यापारश्च इत्युभयात्मिका । तदुभयार्थस्यैकनिष्ठत्वादकर्मकत्वम्  
उत्पत्त्यर्थधातूनाम् । सदिति यतः सा सत्ता द्रव्यगुणकर्मसु । सा तु गुणकर्मसु  
सद्भावाच्च गुणो न कर्म । द्रव्याणि नान्तरेण गुणकर्मभ्यां सन्तीति द्रव्याणां,  
गुणतः कर्मतो वा सद्भावप्रतीत्या द्रव्याणां सत्ता गुणो वा कर्म वेति चेन्न गुण-  
कर्मसु सद्भावात् । गुणाः सन्ति कर्माणि सन्तीति गुणेषु कर्मसु च सत्तायाः  
सद्भावात् । तर्हि चानेकद्रव्यारब्धेषु द्रव्येषु द्रव्यं कारणभूतं यत् सा किं सत्ता ?  
नैवं, सामान्यविशेषाभावेन च । सत्तायां हि नास्ति सामान्यं नास्ति विशेषः,  
कारणभूतद्रव्येषु पुनरस्ति सामान्यं विशेषश्च । अनेकद्रव्यसत्त्वात् तु तेषां  
द्रव्यत्वमुक्तं, तथा कार्यगुणानामप्यनेकगुणारब्धत्वेनानेकगुणसद्भावाद् गुणत्वम्  
उक्तं, तथा कार्यकर्मणामनेककर्मभिः सजातीयविजातीयैरारब्धत्वेनानेक-  
कर्मसत्त्वात् कर्मत्वमुक्तं, न तु तेषां कार्यणां द्रव्यगुणकर्मणामारम्भकाणि  
तत्र ज्वरस्य जनककारणं निदानमधिकृत्य कृतोऽध्यायो ज्वरनिदानम् ; तेन पूर्वरूपादीनामपि  
ज्ञप्तिहेतूनां तथा चिकित्सासूत्रस्य च ग्रहणम् ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—तदेवं ज्वरनिदाने वक्तव्ये सर्वव्याधिसाधारणमेव निदानं वक्तुमुद्यतः  
सामान्यपूर्वकत्वाद् विशेषस्य, तथाप्युत्पन्नस्य व्याधेर्लक्षणं युक्तमिति कृत्वा उत्पत्तिहेतु-  
व्यवहारार्थं लक्षणार्थञ्च पर्यायैराह—इह खल्वित्यादि । इहेति इह प्रकरणे कारणाभिधायक-  
हेत्वादयो नार्थान्तरे, प्रकरणान्तरेऽर्थान्तरे हेत्वादिशब्दा भवन्तीति दर्शयति ; यथा वक्ष्यति—“हेतुः  
अकृतकत्वाद्” इति, तथा “दशैवायतनानि स्युः” तथा “कर्त्ता, मन्ता, बोद्धा” इत्यादौ, प्रत्ययस्य  
क्रिडादौ, उत्थानस्य उद्गमनादौ ; हेत्वादिभूरिपर्यायकथनं शास्त्रे व्यवहारार्थम्, तथा हेत्वादि-  
शब्दानामर्थान्तरेऽपि वर्तमानत्वे पर्यायान्तरेण समं सामानाधिकरण्यात् कारण एव वृत्तिः

द्रव्यगुणकर्माणि सत्ताः सामान्यविशेषवत्त्वात्, सत्तायास्तु सामान्यविशेषा-  
भावात् । तर्हि पुनः सत्ता कः पदार्थः ? पारिशेष्यात् समवायः । स हि भावो-  
ऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् वस्तूनां यावत्कालं स्वारम्भकाणां मेलकरूपः समवायो वर्तते  
तावत्कालमनुवृत्तिर्भवतीति काव्येषु कारणसमवायः सत्ता, सा च तत्समा-  
नाधिकरणस्तदनुकूलव्यापारश्च इत्युभयात्मिकैवोत्पत्तिः । सामान्यविशे-  
षयोरेतद् द्रव्यगुणकर्म्मसमवायानतिरिक्तत्वात् सत्तायाः सत्त्वाभावात् द्रव्य-  
गुणकर्म्मेणामुत्पत्तिसम्पादको हेतुर्निमित्तमित्यादिशब्दैरभिधेयः । तत्त्वन्तु—  
कार्याणां नियतपूर्ववर्तिष्वेव भावेऽपि सम्भवति नान्येषु । तत्र प्रयोजकस्य  
हेतुसंज्ञत्वेन प्रयोजककर्त्तरि चार्थं हेतुशब्दः, शकुनादौ च निमित्तशब्दः,  
आयतनशब्दः स्थाने, क्रियानिमित्तेऽपि स्वतन्त्रे कर्त्तृशब्दः, क्रियाहेतुव्यापारे  
कारणशब्दः, सुप्तिङादिषु प्रत्ययशब्दः, उद्गमादिषु उत्थानशब्दः । पूर्व-  
रूपादिषु चतुषु तदधिकरणग्रन्थेषु च निदानशब्दो वर्तते, तेष्वर्थेषु  
हेतुकार्यत्वाभावादर्थान्तरत्वात् हेतुर्भवतीति । हि वर्द्धन-गमनयोः, स्वादिः,  
'कृद्योगे हेतुरिति रूपम्, निपूर्वं मिदं रूपं निमित्तम्, आङ्पूर्वं यतते रूप-  
मायतनम्, तृजन्तकृञः कर्त्ता, णिजन्तस्य कृञः कारणम्, प्रतिपूर्वस्थेणः  
प्रत्ययः, समुत्पूर्वतिष्ठतेः समुत्थानम्, निपूर्वंदाधातो रूपं निदानम् । भावाना-  
मुत्पत्तिसम्पादके हेत्वादयः सर्वे वर्तन्ते । तेन तन्निदानमिहोच्यते—निदीयते  
निष्पद्यते यस्मान्न तु येन तन्निदानम् । ध्वंसक्षयचयप्रकोपप्रसरस्थानसंश्रयादी-  
नाम् अप्युत्पत्तिरस्तीति तेषां हेतौ न निरुक्त्यन्तरं क्रियते । उपलब्धिकारणेऽर्थ-  
ऽपि न क्रियते निरुक्त्यन्तरम्, उपलब्धेरप्युत्पत्तिरस्ति न चास्त्युत्पत्तिरुत्पत्ति-  
रिति । निदीयते निर्दिश्यते व्याधिरनेनेति निदानं, दिशेः पृषोदरादित्वेन रूप-  
सिद्धिः, इत्येवं व्युत्पन्ननिदानशब्दो नेह हेतुसामान्यपर्यायत्वात् । अथ निश्चित्य  
दीयते प्रतिपद्यते व्याधिरनेनेति निदानमित्येव व्युत्पन्ननिदानशब्दो  
नेह प्रतिपत्तिहेतुमात्राभिधायित्वात् । एतदर्थकनिदानशब्दस्तु ऊपरनिदानं  
व्याख्यास्याम इत्यत्रोपादत्तम् । इति ॥ २ ॥

नियम्यते ; तेन, एकस्मिन्नर्थे यस्मिंस्ते शब्दाः प्रवर्तन्ते, तत् कारणमितरहेत्वाद्यर्थेभ्यो व्यव-  
स्थित्यते ; तेन लक्षणार्थञ्च पर्यायाभिधानं भवति ; एवमन्यत्रापि व्याध्यादिपर्यायाभिधानेऽपि  
व्याख्येयम् ; इह चाक्षसंख्याया महलत्वेन, तथा अपष्टविधव्याधिज्वराद्यभिधानार्थसंज्ञाश्चाष्ट  
इत्यष्टावेव हेतुपर्याया उक्ताः, तेन अपरेऽपि योनिमूलमुखप्रकृत्यादयो हेतुपर्याया बोद्धव्यास्तच्च  
विस्तरभयान्नोक्ताः । एवं रोगपर्यायान्तरानभिधानेऽपि ग्रन्थविस्तरभयाद्यनुसरणीयम् ॥ २ ॥



तत् त्रिविधमसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञाप्रराधः परिणामः  
इचेति । अतस्त्रिधा व्याधयः प्रादुर्भवन्त्याग्नेयाः सौम्या वाय-  
व्याश्च\*, द्विविधाश्चापरे राजसास्तामसाश्च ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—निदानं समासत उक्त्वा सर्वेषां रोगाणां सामान्यतो निदान-  
माह—तत् त्रिविधमित्यादि । असात्म्येत्यादि । असात्म्येन्द्रियार्थ-  
संयोगादिहेतुत्रयम् उत्तरोत्तरप्राधान्येन दीर्घञ्जीवितीयेऽध्याये प्रागुक्तम् ।  
कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च । द्वायाश्रयाणां व्याधीनां  
त्रिविधो हेतुसंग्रहः । शरीरं सत्त्वसंज्ञश्च व्याधीनामाश्रयो मतः ॥ इति ।  
तत्र तेषां मिथ्यायोगायोगातियोगानां विशेषणार्थम् अनुवादः  
कतिधापुरुषीये कृतः । तद् यथा—धीश्रुतिस्मृतिविभ्रंशः संप्राप्तिः  
कालकर्मणाम् । असात्म्यार्थागमश्चेति ज्ञातव्या दुःखहेतवः ॥ इति । तत्र  
कालस्य मिथ्यायोगायोगातियोगाः परिणामसंज्ञा उक्ताः तिस्रैपणीयेऽध्याये ।  
शीतोष्णवर्षलक्षणाः पुनर्हेमन्तग्रीष्मवर्षाः संवत्सरः, स कालः । तत्रातिमात्र-  
स्वलक्षणः कालः कालातियोगः, हीनस्वलक्षणः कालः कालायोगः, यथा-  
स्वलक्षणविपरीतलक्षणस्तु कालः कालमिथ्यायोगः । कालः पुनः परिणाम  
उच्यते इति । परिणाम इति । कालो हि सर्वं परिणमयतीत्यतः परिणामः,  
तस्मिन् काले च यत् परिणमति स च सर्वोऽपि परिणाम इत्युच्यते । यदिह  
शुभाशुभानि कर्माणि कुर्वन्ति तानि खल्विह लोके फलन्ति कानिचित्,  
कानिचित् पुनरत्र फलन्ति । तच्छुभाशुभकर्मजौ धर्माधर्मौ कालान्तरफलौ  
न तु सद्यःफलौ गोदोहनवत् । ततः काले परिणामेन शुभाशुभफलहेतु-  
त्वात् परिणामसंज्ञौ । भावानां स्वभावोऽपि परिणामसंज्ञः । कालस्य  
परिणामेन जन्मजरामृत्युप्रभृतयोऽनिमित्तजाः स्वाभाविका व्याधयः स्वभावात्  
जायन्ते । पूर्वदेहकृतौ शुभाशुभकर्मजौ धर्मश्चाधर्मश्च कर्मसंज्ञः, कालेन  
परिणामेन शुभाशुभहेतुत्वात् परिणामः । अस्मिन् जन्मनि च यानि कर्माणि

चक्रपाणिः—हेतोर्भेदमाह—तत् त्रिविधमित्यादि । एतच्चासात्म्येन्द्रियार्थसंयोगादि दीर्घञ्जीवि-  
तीये तिस्रैपणीये च प्रपञ्चितमिति नेह प्रपञ्च्यते; अत्र पाठादेव त्रित्वे सिद्धे त्रिविधमितिवचनं बहु-  
प्रपञ्चस्यापि असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगादेस्त्रैविध्यानतिक्रमोपदर्शनार्थम्, तथा, प्रत्येकमयोगातियोगः

\* त्रिविधविकल्पा इति वा पाठः ।

शुभाशुभानि तज्जौ च धर्माधर्मौ काले परिणामात् फलहेतुत्वात् परिणाम-  
संज्ञौ भवतः । एतदुक्तं कतिधापुरुषीये—कालस्य परिणामेन जरामृत्य-  
निमित्तजाः । रोगाः स्वाभाविका दृष्टाः स्वभावो निष्प्रतिक्रियः । निदिष्टं  
दैवशब्देन कर्म यत् पौर्वदेहिकम् । हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते ।  
न हि कर्म महत् किञ्चित् फलं यस्य न भुज्यते । क्रियाघ्नाः कर्मेजा रोगाः  
प्रशमं यान्ति तत्क्षयात् । इति । यस्ताह प्रज्ञापराधेनाशुभकर्मणि कुर्वन्ति  
प्रज्ञासमयोगेन शुभानि तज्जातावपि धर्माधर्मौ तत्र प्रज्ञापराधे प्रज्ञासम-  
योगेऽन्तर्भूताविति तदसाधु, चरकस्यैतद्वचनविरोधात् । प्रज्ञा च यदपराध्यति  
तदपि कृतत्रेतादिकालवशेन । न ह्यादिकाले पूर्वकृतमासीदशुभकर्मजं  
फलं किमपि येन बुद्धिरपराध्येत । तदा कालविशेष एव प्रज्ञापराधे हेतुः,  
कालो हि स्वभावतः शुभाशुभहेतुः प्रसिद्धस्तिथ्यादियोगेनानुमेयः, तद्धेतुकश्च  
प्राक् कर्म यदशुभं कृतम् अशुभकाले समागते प्रज्ञातत्त्वविदामतत्त्वाविदा-  
श्चापराध्यति, तत् कालजं प्रज्ञापराधजं तत्कलमधर्मः परिणाम एवोच्यते ।  
आदिकारणतो हि संज्ञा भवति, फलजननञ्चेदानीं कालेन परिणामादेवेति,  
परिणामे धर्माधर्मान्तर्भावो न प्रज्ञापराधसमयोगयोरिति ।

तनु भवत्वेवं कालस्य त्रिविधा योगा व्याधिहेतवः, शीतोष्णवर्षलक्षणो  
यः संवत्सरः कालस्तस्य यथास्वलक्षणयोगेऽपि दोषाणां चयप्रकोपप्रशमाः  
प्रावृद्धादिषु जायन्ते, जीणंशुक्तप्रजीर्णान्नकाले च प्रकोपो जायते, पूर्वाह्णादिषु  
च स च कालः को हेतुः किंचतुर्थः, तथात्वे त्रिविधत्वव्याघात इति ; उक्तं प्राक्  
शीतोष्णवर्षलक्षणः संवत्सरः स काल इति, तस्य स्वलक्षणस्य कालस्यातियोगा-  
योगमिथ्यायोगव्यतिरिक्तसमयोगास्तत्कृताश्चयप्रकोपप्रशमा वातादीनां प्राकृती  
गतिः । अतिमात्रस्वलक्षणस्य कालस्यातियोगः कालातियोगः, हीनलक्षण-  
कालस्य योगः कालायोगः, यथास्वलक्षणविपरीतलक्षणस्य कालस्य योगः काल-  
मिथ्यायोगः, इति त्रिविधयोगो वैकृतः, तस्माद्वातादीनां चयप्रकोपप्रशमाः, वाता-  
दीनां प्राकृती गतिः, इत्युक्तं कियन्तः शिरसीये । चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीनां  
यथाक्रमम् । भवन्त्येकैकशः षट्सु कालेष्वभ्रागमादिषु । गतिः कालकृता चैषा  
चयाद्याः पुनरुच्यते । गतिश्च द्विविधा दृष्टा प्राकृती वैकृती तथा । इति । वातादी-  
मिथ्यायोगभेदात् त्रिविधत्वदर्शनार्थञ्च ; एतच्च हेतुत्रितयमुक्तमपि पुनः प्रकरणवशादुच्यमानमिह  
न पुनरुक्तं दोषमावहति ; एतच्चासाल्येन्द्रियार्थादेस्तैर्विध्यं मूलकारणं प्रति नियामकम् ;  
तेन 'ज्वरसन्तापाद् रक्तपित्तमुदीर्यते' इत्यादयः कुरोगादेरपि प्रत्यासन्नकारणावबोधो नोद्भवनीयः ।

नामपरा च प्राकृती वैकृती गतिर्यथा—पित्तादेवोष्णः पक्तिर्नराणामुपजायते । पित्तञ्चैव प्रकुपितं विकारान् कुरुते बहून् । प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा वैकृतो मल उच्यते । स चैवौजः स्मृतं काये स च पाप्मोपदिश्यते । सर्व्वं हि चेष्टां वातेन स प्राणः प्राणिनः स्मृतः । तेनैव रोगा जायन्ते तेन चैवोपरुध्यते । इति । इत्येवं प्राकृतवैकृतद्विविधकालयोगः कालसम्प्राप्तिस्तथा काले परिणतकर्मफलधर्मश्च कालस्य मिथ्यायोगायोगातियोगा उच्यन्ते । तद्यथा कतिधापुरुषीये—धीधृति-स्मृतिविभ्रंशः सम्प्राप्तिः कालकर्मणाम् । असात्म्यार्थागमश्चेति ज्ञातव्या दुःखहेतवः । इति । अत्र या कालसम्प्राप्तिरुक्ता तत्रैव चयादयोऽन्तर्भूताः । तथा चोक्तम् । निर्दिष्टा कालसम्प्राप्तिर्व्याधीनां हेतुसंग्रहे । चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीनां यथा पुरा । मिथ्यातिहीनलिङ्गाश्च वर्णान्ता रोगहेतवः । जीर्णभुक्त-प्रजीर्णान्न-कालाः कालस्थितिश्च या । पूर्व्वमध्यापराह्णाश्च रात्र्या यामास्त्रयश्च ये । येषु कालेषु नियता ये रोगास्ते च कालजाः । इति । इति काले परिणामेन फलोन्मुखीभूतेनाशुभकर्मजफलेनाधर्मण यदा बुद्धिरधिष्ठीयते, तदा धीर्वा धृतिर्वा स्मृतिर्वा भ्रश्यति, धीधृतिस्मृतिभ्रंशो हि बुद्धेरतियोगायोगमिथ्या-योगाः, तैस्तु त्रिविधैर्योगैर्युक्ता प्रज्ञा बाङ्मनःशरीरारम्भेष्वपराध्यतीति प्रज्ञाप-राध उच्यते । प्रज्ञापराधे सति वागतिप्रवर्त्तते न वा प्रवर्त्तते मिथ्या वा प्रवर्त्त-मानामूचकानृता कालकलहाप्रियावद्भानुपचारपरुषवचनादीनि भाषते । मन-श्चातिप्रवर्त्तते न वा प्रवर्त्तते मिथ्या वा प्रवर्त्तमानं भयशोकक्रोधलोभमोह-मानेर्प्यामिथ्यादशनादिकमाचरति । शरीरश्चातिप्रवर्त्तते न वा प्रवर्त्तते मिथ्या वा प्रवर्त्तमानं वेगधारणोदीरणविषमस्खलनगमनपतनाङ्गप्रणिधानाङ्गप्रदूषण-प्रहारावमर्दनप्राणोपरोधसंक्लेशनादीनि करोति । एवमुक्तं कतिधा-पुरुषीये । उदीरणं गतिमतामुदीर्णानाञ्च निग्रहः । सेवनं साहसादीनां नारीणाञ्चातिसेवनम् । कर्मकालातिपातश्च मिथ्यारम्भश्च कर्मणाम् । विनयाचारलोपश्च पूज्यानाञ्चाभिधर्षणम् । ज्ञातानां स्वयमर्थानामहितानां निषेवणम् । परमौन्मादिकानाञ्च प्रत्ययानां निषेवणम् । अकालादेशसञ्चारौ मैत्री संक्लिष्टकर्मभिः । इन्द्रियोपक्रमोक्तस्य सङ्वृत्तस्य च वर्ज्जनम् । ईर्ष्यामान-

किंवा . रक्तपित्तादिकारणे ज्वरादावपि असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगाद्येव मूलकारणम् ; तेन ज्वरादिफलाख्ये रक्तपित्तादौ ज्वरादिकारणमेव मूलकारणं भवति ; पूर्व्वोक्तकालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न ज्ञाति चेति क्रमभेदेनेहासात्म्येन्द्रियार्थसंयोगस्यादावभिधानेन सर्व्वेषामेवैषां रोगकर्तृत्वे प्राधान्यं दर्शयति ; सा भूदेकांताभिधानेन प्रधानतानियमः । यद्यपि मूलभूतत्वेन

भयक्रोध-लोभमोहमदभ्रमाः । तज्जं वा कर्म यत् क्लिष्टं क्लिष्टं यद् देहकर्म-  
जम् । यच्चान्यदीदृशं कर्म रजोमोहसमुत्थितम् । प्रज्ञापराधं तं शिष्टा ब्रुवते व्याधि-  
कारणम् । बुद्ध्या विषमविज्ञानं विषमञ्च प्रवर्त्तनम् । प्रज्ञापराधं जानीयान्मनसो  
गोचरं हि तत् । इति । इत्येवञ्च प्रज्ञापराधेन कृतकर्मफलनाधर्मेण फलोन्मुखी-  
भूतेन अधिष्ठितः पुरुषोऽतिमात्रस्तनितपटहोत्क्रुष्टादीनां शब्दानामतिमात्रं  
श्रवणं करोति । सर्व्वशो वा शब्दान् न शृणोत्यतिसूक्ष्मान् वा शृणोति ।  
परुषेष्टविनाशोपवातप्रथर्पणभीषणादीन् वा शब्दान् शृणोतीत्येवं शब्दानाम्  
अतियोगायोगहीनयोगमिध्यायोगेभ्यः श्रवणेन्द्रियं व्यापद्यते । तदुक्तं  
कतिधापुरुषीये—अत्युग्रशब्दश्रवणात् श्रवणात् सर्व्वशो न च । शब्दाना-  
ञ्चातिहीनानां भवन्ति श्रवणाज्जडाः । परुषोद्दीपणाशस्ताऽप्रियव्यसन-  
मूचकैः । शब्दैः श्रवणसंयोगो मिध्यायोगः स उच्यते । १ । तथाति-  
शीतोष्णानि स्पृश्यानि स्पृशति स्नानाभ्यञ्जनोत्सादादीनि चातिशीतोष्णानि  
अत्युपसेवते । सर्व्वशो वा स्पृश्यानि न स्पृशति सूक्ष्माणि वा स्पृशति ।  
विषमस्थानासनाभिघाताशुचिभूनादीनि वा स्पृश्यानि स्पृशतीत्येवं  
स्पर्शनेन्द्रियस्पृश्यातियोगायोगहीनयोगमिध्यायोगेभ्यः स्पर्शनेन्द्रियवाधा  
भवति । तदुक्तं कतिधापुरुषीये—असंस्पर्शोऽतिसंस्पर्शो हीनसंस्पर्श  
एव च । स्पृश्यानां संग्रहेणोक्तः स्पर्शनेन्द्रियवाधकः । यो भूतविष-  
वातानामकाले नागतश्च यः । स्नेहशीतोष्णसंस्पर्शो मिध्यायोगः स  
उच्यते । २ । तथातिप्रभावतां दृश्यानामतिमात्रं दर्शनमाचरति सर्व्वशो वा न  
पश्यति । अतिसूक्ष्माणि वा पश्यति । अतिविप्रकृष्टरौद्रमैरवादभुतद्विष्ट-  
वीभत्सविकृतादिरूपाणि वा पश्यतीत्येवं चक्षुरर्थातियोगायोगहीनयोग-  
मिध्यायोगेभ्यो नयनं व्यापद्यते । तदुक्तं कतिधापुरुषीये—रूपाणां  
भास्वतां दृष्टिर्विनश्यति हि दर्शनात् । दर्शनाच्चातिसूक्ष्माणां सर्व्वशश्चाप्य-  
दर्शनात् । द्विष्टमैरववीभत्स-दूरातिक्लिष्टदर्शनम् । तामसानाञ्च रूपाणां  
मिध्यासंयोग उच्यते । ३ । तथासौ पुरुषोऽतितीक्ष्णोग्राभिव्यन्दिनो गन्धानति-  
मात्रं जिघ्रति सर्व्वशो वा न जिघ्रति जिघ्रति वातिसूक्ष्मान् । पूतिद्विष्टामेध्य-

प्रज्ञापराधः प्रधानं भवति, तथापि प्रत्यासन्नकारणत्वेन तथा अबुद्धिपूर्व्वकस्यापि उत्कटशब्द-  
मिध्यायोगादेराप कारणत्वेनासात्त्वेन्द्रियार्थसंयोगोऽपि प्रधानम्; यद्यपि कालो-दुष्परि-  
हर्त्वेन प्रधानम्, तथापि सोऽपीन्द्रियार्थपुराधीनत्वेनाप्रधीनम्, कालातियोगादय इन्द्रियार्थ-  
शीताद्यतियोगादिभ्य एव प्रायो भवन्ति ।

क्लिन्नविषपवनकुण्ठपगन्धादीन् वा जिघ्रतीत्येवं घ्राणार्थगन्धातियोगायोग-  
हीनयोगमिथ्यायोगेभ्यो व्यापद्यते घ्राणेन्द्रियम् । तदुक्तं कतिधापुरुषीये—  
अतिमृद्वतितीक्ष्णानां गन्धानामुपसेवनम् । अमेवनं सर्व्वशश्च घ्राणेन्द्रिये-  
विनाशनम् । पूतिभूतविषद्विष्टा गन्धा ये चाप्यनार्त्तवाः । तैर्गन्धैर्घ्राणसंयोगो  
मिथ्यायोगः स उच्यते । ४ । तथैवासौ पुरुषः पट्टसानेकैकशो द्विशस्त्रिशो वा  
चतुरः पञ्च दातिमात्रमादत्तेऽथवा सर्व्वशो नादत्तेऽत्यल्पं वा मिथ्या वादत्ते,  
यान्याहारविधिविशेषायतनान्यष्टौ राशिवज्जं तद्विपर्य्ययेणादत्तः । इत्येवं  
रसनार्थातियोगायोगहीनयोगमिथ्यायोगेभ्यो ज्वरादयो व्याधयो जायन्ते ।  
तदुक्तं कतिधापुरुषीये—अत्यादानमनादानमोकसात्म्यादिमिश्र यत् । रसानां  
विषमादानमल्पादानञ्च दूषणम् । इति । ५ । इत्येवं परिणामप्रज्ञापराधा-  
सात्म्येन्द्रियार्थसंयोगास्त्रिविधा हेतवः प्रागभिहिताः ।

नन्वेवंविधेषु त्रिविधेषु हेतुषु कानिचिद्द्रव्यभूतानि कानिचित् गुणभूतानि  
कानिचित् कर्मभूतानि । तानि किं व्याधिं प्रति समवायिकारणानि यानि  
विक्रियमाणानि कार्य्यत्वेमापद्यन्ते, यथा घटं प्रति मृद्भालकादीनि । अथवा  
निमित्तकारणानि यानि कार्य्येऽसम्बध्यमानानि कार्य्यं जनयन्ति, यथा घटं प्रति  
कुलालादीनि इति । तत्रोच्यते—सर्व्वत्र हि किञ्चित् कारणं निमित्तं किञ्चित्  
समवायि चेति । तत्र मधुरादिकं द्रव्यं द्रव्यगुणकर्म्मार्थं समयोगेन मात्रया-  
ऽभ्यवहृत जाठराग्निना विषकं रसाख्यं सामान्यविशेषाभ्यां समान् धातून्  
समवेत्य रक्षति अयोगेन विशेषेण हासयति मिथ्यातियोगाभ्यां वर्द्धयति  
सामान्येन । क्षीणान् सामान्येन वर्द्धयति वृद्धान् विशेषेण हासयतीति  
समवायि कारणम् । एवं शब्दादिकम् । प्रज्ञा चायोगमिथ्यायोगातियोगयुक्ता  
वाङ्मनःशरीरातियोगमिथ्यायोगायोगेभ्यः कल्पते । तथा बुद्ध्या च  
प्रवृत्ताऽतिप्रवृत्ता मिथ्याप्रवृत्ता वा वाङ्मनःशरीरप्रवृत्तिः समवेत्य शरीर-  
मनोधातून् क्षीणान् सामान्येन वर्द्धयति वृद्धान् विशेषेण हासयति समान्  
सामान्येन वर्द्धयति विशेषेण हासयति । समयोगयुक्ता तु प्रज्ञा वाङ्मनः-  
शरीरप्रवृत्तिसमयोगाय कल्पते । तथा बुद्ध्या समप्रवृत्ता वाङ्मनःशरीर-  
प्रवृत्तिः सामान्यविशेषाभ्यां क्रियासाम्येन समान् धातून् समवेत्य रक्षति

हेतोर्हेतुत्वं कार्य्यं भवतीति हेतुकार्य्यं व्याधिमाह—अतस्त्रिविधेत्यादि । न चात्र  
यथासंख्यम्, एकरूपादपि हेतोस्त्रिविधग्न्याध्युत्पादः ; अत्रापि 'त्रिविध' वचनमानन्त्येऽपि  
रोगाणामाग्नेयत्वाद्यनतिक्रमोपदर्शनार्थम् ; आग्नेयाः पैत्तिका, सौम्याः क्रफजाः, वायव्याः

विशेषेण हासयति सामान्येन वद्धयतीति समवायिकारणम् । प्रज्ञाया एव समयोगातियोगादिभिः कृताद् वाङ्मनःशरीरारम्भाज्जातं कर्मफलं धर्माधर्मं संस्कारविशेषरूपं शरीरेण समवेत्य वर्त्तमानं तत्र कालेन परिणतं धर्माख्यं सामान्यविशेषाभ्यां समान् धातून् रक्षति, अधर्माख्यन्तु हासयति विशेषेण, वद्धयति सामान्येनेति । अयोगादियुक्तप्रज्ञाजातस्तद्धर्मः । इति धर्माधर्ममपि समवायिकारणम् । कालोऽपि समलक्षण शरीरं समवेत्य समान् धातून् रक्षति सामान्यविशेषाभ्यां हीनातिमिथ्यायोगलक्षणस्तु शरीरं समवेत्य समान् धातून् सामान्येन वद्धयति विशेषेण हासयतीति समवायिकारणम् । इत्येवं रोगारोग्ययोः समयोगायोगादियोगरूपं कारणत्रयम् असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगप्रज्ञापराधपरिणामाख्यं समवायिकारणम् । निमित्तं कारणन्तु जनकं मातापित्रादिकं घटादिषु कुलालादिकमिव भूताभिषङ्गादिकं रोगारोग्ययोर्भिषगादिपादत्रयञ्च द्रव्यवज्जम् सन्निकृष्टम् । विप्रकृष्टन्तु सर्वरोगाणां मृद्युनाम्नी कन्या, तस्या रोदनजाश्रुविन्दवो हि रोगाः । दक्षयज्ञे कुपित-रुद्रश्च ज्वरस्येति । देशस्तु खल्वसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगेऽन्तर्भवति तत्तद्देश-गुणानामिन्द्रियैर्योगात् । एषान्तु त्रयाणां स्वस्वकार्यजनने सामान्यविशेषयो-धर्मयोभूयस्ताल्पीयस्ताभ्यां जयाजये सति व्यभिचाराव्यभिचारौ भवतः । वक्ष्यतऽत्रैव स्थाने प्रमेहनिदाने । इह खलु निदानदोषदूष्यविशेषेभ्यो विकाराणां विघातभावाभावभावप्रतिविशेषा भवन्ति । यदा ह्येते त्रयो निदानादिविशेषाः परस्परं नानुवध्नन्ति न तदा विकाराभिनिवृत्तिर्भवति । अथाप्रकर्षादवलीयांसो नानुवध्नन्ति, न तदावश्यं विकाराभिनिवृत्तिर्भवति । चिराद्वाप्यभिनिवृत्तन्ते विकारास्तनवो वा भवन्त्यथवाप्ययथोक्तसर्व्वलिङ्गाः, विपर्य्यये विपरीताः । इति सर्व्वविकारविघातभावाभावभावप्रतिविशेषाभिनिवृत्तिहेतुर्भवेत्युक्तः । इति । यथा दुग्धं मधुरं मधुरपाकं शीतवीर्यं स्निग्धं गुरु पिच्छिलं द्रवं सरञ्च । कफस्य च तादृशगुणस्य स्थिरस्य स्थैर्य्यगुणवज्जं सर्व्वगुणसामान्यभूयस्तात् स्थिरगुण-हासकारिणं सरगुणमवजित्य सर्व्वगुणतः कफं वद्धयति । न तु सरत्वेन दुग्धं माधुर्यादिकमवजित्य कफं स्थिरगुणतो हासयत्यल्पीयस्तात् । काञ्जिकन्तम्लम्

वातजाः ; यद्यपि प्रधानत्वेन वायव्या एव प्रथमं निर्हेष्टं युज्यन्ते, तथापीह ज्वरे पित्तस्य प्रधानत्वादाग्नेयाभिधानम् ; आग्नेयसौम्यवायव्या इति समासेनैकेकस्याप्यसात्म्येन्द्रियार्थ-संयोगावेस्तिविश्वरोगोत्पत्तिर्वं दर्शयति ; असमासे हि यथासंख्यमपि शङ्क्यते, अन्यथापि

उष्णं तीक्ष्णं विशदं लघु चेत्स्निग्धं द्रवञ्च । द्रवत्वसामान्येऽपि कफमृत्लादि-  
विशेषैर्भूयस्तात् द्रवत्वमवजित्य हासयति न तु द्रवत्वेन कफं वर्द्धयति ।  
तथा हिमे सञ्चितस्य कफस्य वसन्ते वमनलङ्घनकटुकादिसेवनं सन्निवृष्टं  
जीवनीयघृतादिकं बाधित्वा च विषं सद्यो जीवनं हन्ति । इत्येवं प्राधान्या-  
प्राधान्यं बोध्यम् । अभिव्यक्तिरप्युत्पत्तिविशेषः । तद्धेतुत्वात् अभि-  
व्यञ्जकञ्च हेतुभेदमाह कश्चित् । हेतुत्रयमिदं किञ्चिद्धातुप्रदूषणवचनेन दोषहेतु-  
व्याधिहेतु-दोषव्याध्युभयहेतुत्वेन बोध्यम् । दोषहेतवो यथर्तूत्पन्ना मधुरादयः ।  
व्याधिहेतवो मृद्भक्षणादयः पाण्डुरोगादेः । यथा—कपाया मारुतं  
पित्तमूपरा मधुरा कफम् । कोपयेन्मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद् भुक्तञ्च रुक्षयेत् ।  
इति कपायादिमृद्भक्षणतः कुपितवातादीनां पाण्डुरोगोरोगेतररोगानारम्भक-  
त्वेन पाण्डुरोगशोफरोगमात्रारम्भकत्वात् तु व्याधिहेतुत्वात् । उभयहेतवो वात-  
रक्तादौ हस्त्यश्वादियानादयः । ते हि दोषं कोषयित्वा वातरक्तादिप्रतिनियत-  
मेव व्याधिं जनयन्ति नान्यविकारमिति कश्चित् ; तन्न, मृद्भक्षणस्येव हस्त्यश्वादि-  
यानादेर्व्याधिहेतुत्वात् । हस्त्यश्वादियानादेरिव च मृद्भक्षणस्योभयहेतुत्वापत्तेः ।  
तेन व्याधिहेतवोऽभिघातादयः, उभयहेतवो मृद्भक्षणहस्त्यश्वादियानादय इति ।

यस्तु बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधं हेतुं ब्रवाणोऽसात्स्येन्द्रियाथसंयोगादित्रयं  
बाह्यं कारणं दोषा दूष्याश्चाभ्यन्तरम् । तत्र दोषा वातादयः शारीराः ; रजस्तमसी  
मानसौ दोषौ दूष्याश्च रसादयो धातवः । पुरीषादयश्च शारीराः सत्त्वगुणस्तु  
मानसो दूष्य इति व्याचष्टे तदनेन प्रत्याख्यातं भवति, यतोऽस्मिन्नुक्त  
विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते । इति । वातादिधातुवैषम्यं व्याधिं प्रति  
हि न दोषादिको हेतुः । तद्धातुवैषम्यहेतुकास्तु ज्वरादयो व्याधयस्तेषूपपादानं  
दोषा वातादयो रसादयश्च दूष्याः । मानसदोषरजस्तमोवैषम्यनिमित्ताः  
कामक्रोधादयश्च ये तेषूपपादानं विषमरजस्तम इति वातादिभ्यः पृथङ् न ज्वरादयः  
कामादयश्च न पृथग्रजस्तमोभ्यामिति ; तच्चोक्तं—स्वधातुवैषम्यनिमित्तजा ये  
विकारसङ्घा वहवः शरीरे । न ते पृथक् पित्तकफानिलेभ्य आगन्तवस्ते तु ततो  
विशिष्टाः । इति । ये चागन्तवः शरीरेऽभिघातादिभ्यो जायन्ते क्षतादयस्ते-

व्याधीनुक्तहेतुजानाह—द्विविधाश्चापर इत्यादि । राजसतामसानाञ्च विच्छिद्य पाठेनेह तन्त्रे  
शारीरव्याध्यधिकारप्रवृत्तेरनधिकारत्वेनाप्रपन्ननीयत्वं दर्शयति ; अभिधानञ्च राजसतामसयो-  
रिह व्याधिकथनस्य न्यूञ्जतापरिहारार्थम् ; आगन्तवश्चाभिघातादिजा रोगा आग्नेयादिष्वेवान्त-

तत्र व्याधिरामयो गद आतङ्को यक्ष्मा ज्वरो विकारः\*

इत्यनर्थान्तरम् ॥ ४ ॥

ऽपि त्वग्रसमांसादिवैषम्यजा एव, किञ्चित्कालं प्रथमं यद्वातादिदोषसम्बन्ध-  
रहितास्तावत्कालं पित्तकफानिलेभ्यो विशिष्टा न पित्तादिदोषात्मकाः ।  
तस्मादाभ्यन्तरहेतवो न सन्ति ज्वरादयो हि धातुवैषम्यरूपव्याधिजन्यत्वाद्  
व्याधय उच्यन्ते । यथा पञ्चभूतारब्धं वस्तु द्रव्यारब्धत्वात् द्रव्यं तदुक्तं सेन्द्रियं  
चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनमिति । एवं वक्ष्यते चात्र । कश्चिद्धि रोगो रोगस्य  
हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यतीति । स च रोगजत्वाद् रोगः इत्यतो रोगाख्यहेतुर्नाधिक  
इति । यथा पञ्चभूतजमन्नमन्नजश्च शुक्रमित्यन्नं न पृथग्द्रव्यं भूतेभ्य इति ।

एवं त्रिविधे हेतौ सिद्धान्ते तत्कार्यमाह—अत इत्यादि । अतस्त्रिविधात्  
असात्त्व्येन्द्रियार्थसंयोगादितः । यथा धातुवैषम्यं स्यात् तद्विधं शस्त्रादिज-  
सद्योव्रणाद्यागन्तुकं वातादिवैषम्यश्च । तद्वातादिवैषम्यनिमित्ता ज्वरादयश्चेति ।  
त्रिविधा आधिभौतिका आध्यात्मिका आधिदैविकाश्चेति त्रिविधाः आग्नेयादि-  
निर्देशेनैव त्रिविधत्वे सिद्धे त्रिविधवचनात् ख्यापिताः । आग्नेया इत्यादि  
पृथक्पदनिर्देशेन त्रिविधाद्धेतोर्यथाहं न तु यथाक्रमम् । त्रिधा व्याधीनाह—  
आग्नेया इत्यादि । शारीरास्त्रिधाग्नेयादिभेदात् । तत्र मातृजन्मातृवैषम्य-  
रूपा आग्नेयास्तथा पैत्तिकाश्च । पितृजन्मातृवैषम्यरूपाः सौम्याः श्लैष्मिकाश्च ।  
वातवैषम्यं तन्निमित्ताश्च वायव्या इति । अत्रागन्तवोऽन्तर्भवन्ति । द्विविधाश्चापरे  
मानसा राजसास्तामसाश्च । आग्नेयस्य राजसत्वं वायव्यस्य च तथा सौम्यस्य  
तामसत्वं यद्यपि तथापि साक्षात्कारणेन भूतेन निर्देशो न त्वतिपरम्परा-  
कारणेन गुणेन । इति ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—अथ वातादिरसादिस्वेदादीनां शारीराणां धातूनां रजस्तमसो-  
र्मानसयोश्च धातोः सत्त्वस्य च वैषम्येभ्यो विकारेभ्यो जातानां ज्वरादीनां  
कामक्रोधादीनाञ्च विकारत्वं किमस्ति नास्ति वा इति ? अत उच्यते—तत्रेत्यादि ।  
तत्राग्नेयादिषु त्रिविधेषु राजसतामसेषु च धातुवैषम्यनिमित्तेषु रोगेषु व्याधिः

भवन्ति ; यतस्तत्रापि हि दोषप्रकोपव्यपदेशोऽस्त्येव ; किंवा 'अपरे' इत्यग्रधानाः, परो हि  
श्रेष्ठ उच्यते ; अग्रधानत्वे चोक्तं वोपपत्तिः । व्याधीनामाग्नेयादिविभागं दर्शयित्वा व्यवहारार्थं  
लक्षणार्थञ्च पर्यायानाह—अत्र व्याधिरित्यादि । अत्रापि पर्यायानामनर्थान्तरेणातङ्कादि-

\* इतः परं रोग इत्यधिकः पाठो बहुषु ग्रन्थेषु दृश्यते ।



तस्योपलब्धिनिदानपूर्ववरूपलिङ्गोपशयसम्प्राप्तितश्च ।

इत्यादि विकार इत्यन्तं सर्वं प्रातिपदिकमनर्थान्तरमेकार्थकम् । परस्पर-  
मेकार्थकं सद् यमर्थमभिदधाति सोऽर्थो रोगो रोगत्वात् । यथा गोजातो गौरश्च-  
जातश्चाश्व इति । तत्र व्यध ताडने इत्यस्य रूपं व्याधिः । अम रोगे चौरादिस्तस्य  
रूपमामय इति । गद व्यक्तायां वाचीत्यस्य रूपं गद इति संज्ञायाम् । तकि  
दौःस्थ्ये इत्यस्याङ्पूर्वस्य रूपमातङ्कः । यक्ष पूजने इति चौरादिकस्य संज्ञायां  
यक्षमा । ज्वर रोगे इत्यस्य रूपं ज्वर इति । विपूर्व्वेक-कृञो रूपं विकार इति ।  
एषां यथा धातुवैषम्यमुपादानं तथा चासात्मेन्द्रियार्थसंयोगादित्रयञ्च  
कारणमिति । कुष्ठाख्यौषधिविशेषस्य व्याधिपर्यायवाच्यत्वेऽर्थान्तराभावाद्  
व्याधित्वं न प्रसज्यते, तत्रेतिपदेनाग्नेयादीनामनुकषेणात् । यक्ष्मा ज्वरश्चेति  
रोगसामान्ये यथा वृत्तेते तथा रोगविशेषे च वृत्तेते । यथा शालशब्दो वृक्ष-  
सामान्ये वृक्षविशेषे च वृत्तेते । विस्तरेण रोगस्वरूपं विकारो धातुवैषम्यमिति  
श्लोके व्याख्यातमिति ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—अथास्य व्याधे कुत उपलब्धिर्भवतीति अत उच्यते—तस्येत्यादि ।  
तस्य धातुवैषम्यनिमित्तस्य तदनिमित्तस्य चासात्मेन्द्रियार्थसंयोगादिजस्य  
व्याधेः स्वरूपतः प्रभेदतः साध्यत्वासाध्यत्वादितो बलावलतोऽनुबन्धानुबन्धा-  
दितश्च सव्वेतोभावेनोपलब्धयेथासम्भवं प्रत्यक्षमनुमानञ्च निदानादिभ्यः  
पूर्व्वमाप्नोपदेशेन ज्ञातस्य । यथा हिकादौ शब्दः श्रोत्रेण प्रत्यक्षमुपलभ्यते ।  
शैत्यौष्ण्यादिकमातुरगतं स्पर्शेनेन । कृष्णारुणश्चेतपीतादिकं चक्षुषा कृश-

शब्दानां भयाद्यर्थताव्युदासाद् व्याधिलक्षणत्वं बोध्यम् । आतङ्केन हि भयमप्युच्यते, विकार-  
शब्देन हि इन्द्रियादयोऽपि षोडश विकारा उच्यन्ते । तथा व्याध्यादिशब्दानां व्युत्पत्त्या रोग-  
धर्मो लक्षणीयाः ;—तथा च विविधं दुःखमादधातीति व्याधिः । प्रायेणामपमुत्थत्वेनामय  
उच्यते । आतङ्क इति दुःखयुक्तत्वेन कृच्छ्रजीवनं करोति । वचनं हि “आतङ्कः कृच्छ्रजीवने” ।  
यक्ष्मशब्देन च राजयक्ष्मवदनेकरोगयुक्तत्वं विकाराणां दर्शयति ; ज्वरशब्देन च देहमनःसन्ताप-  
करत्वम् । विकारशब्देन च शरीरमनसोरन्यथाकरणत्वं व्याधेर्दर्शयति । रोगशब्देन च  
रुजाकर्तृत्वम् ॥ ३४ ॥

चक्रपाणिः—इदानीं व्याधेर्जनकहेतुमभिधाय तथा तद्धेतुजन्यञ्च व्याधिमुक्त्वा तस्य व्याधे-  
र्ज्ञानोपायमाह—तस्येत्यादि । अविज्ञाते हि व्याधौ चिकित्सा न प्रवर्तते । अतः सामान्येन  
व्याधिज्ञानोपायनिदानपञ्चकमभिधानम् ।

त्वावृशत्वञ्च । रसश्चातुरगतो रसनेनानौचित्याद् ग्रहणानुक्तेः परन्तुनुमानेनोप-  
लभ्यते । गन्धस्तु घ्राणेनेति । प्रत्यक्षमन्यत् सर्व्वेमानुमानेनेति ।

अथैवंमस्तु—निदानेन रोगस्य भविष्यतो वर्त्तमानस्यानुपशयेन निदानेनानु-  
मानादुपलब्धौ सत्यां पुनः कथं पूर्वरूपादिभिर्ज्ञानमिष्यते ; ज्ञातस्य पुनर्ज्ञाने  
प्रयोजनभावादिति चेत् ? न, निदानेन हि व्याधिरयं भविष्यतीति विज्ञायते, स च  
कीदृशो व्याधिरिति न विज्ञायते, न वा निदानादिपञ्चकान्यतममेकमप्यन्तरेण  
व्याधेः सर्व्वथा ज्ञानं भवति, तस्मादपरे ज्ञानहेतवो वक्तव्याः । एकनिदानकानाम्  
अनेकव्याधीनाञ्च समानानेकनिदानकानां वा न निश्चयेन व्याधीनां ज्ञानं  
भवति को व्याधिर्भविष्यतीति संशयात् । निदानस्य सन्निकर्ष-विमर्कपादिना  
जयपराजयविघातादितो व्याध्युत्पत्तिव्यभिचाराच्च । तस्मात् पूर्वरूपादीनां  
वक्तव्यत्वे सामान्यपूर्वरूपात् केवलात् व्याधेर्वातजलादिविशेषावधारणं न  
स्यात्, न वा विशेषेण पूर्वरूपात् केवलात् व्याधीनां निश्चयज्ञानं स्यात् । रक्त-  
पित्तपित्तप्रमेहसन्देहे हि वक्ष्यते “हारिद्रवर्णं रुधिरञ्च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि  
पूर्वरूपैः । यो मूत्रयेत् तं न वदेत् प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः ॥” इति ।  
हारिद्रवर्णरुधिरवर्णमूत्रदर्शने पूर्वेस्मात् प्रमेहपूर्वरूपमभूत् किं नाभूत् तं विज्ञाय  
निःसंशयो भवति न केवलहारिद्रवर्णरुधिरवर्णमूत्रस्य रूपस्य दर्शनमात्रेण  
निःसंशयः स्यात्, तस्माद्रूपज्ञानमात्रतो न व्याधिज्ञानं भवति । नाप्युपशयात्  
केवलाद् व्याधेर्निश्चयः स्यात् । एकद्रव्योपशयानां वातिकानां पैत्तिकानाञ्च  
व्याधीनां मधुरस्निग्धादिरूपशये वातिकत्वपैत्तिकत्वान्यतरसंशयात् ।  
व्याधिप्रभावेण चावम्यतिमिरादीनां कफजलनिश्चयो न वमनेन स्यात् इति ।  
न वा केवल्या सम्प्राप्त्या व्याधिनिश्चयः स्यात् । वातादिः प्रत्येकमेव  
प्रतिरोगं सर्व्वरोगस्य नियमतः स्थानसंश्रयादिमत्तया व्याधिजनकत्वात् । स्वस्व-  
लिङ्गं विना वाताद्यवगमाभावात् । तस्मान्निदानादिपञ्चकात् समस्तादेव  
व्याधेरुपलब्धिर्भवति सर्व्वथैव । एकैकस्मात् तु कस्यचित् कदाचित्  
कथञ्चित् काचिदुपलब्धिर्भवति ।

अथ भविष्यति व्याधिनिश्चयश्चतुर्भिरिति निदानं नोत्त्वा शेषाणि  
चत्वार्युच्यन्तामिति चेत् ? न । भूताद्यमिपङ्गादिजानां व्याधीनां निदानं  
भूतादिकमन्तरेण भूतलक्षणसमानलक्षणवातादिलिङ्गैः वातादिजत्वेन ज्ञाना-  
भावात् । एवमग्निदग्धादिषु बोध्यम् । भूतादिनिदानेन हि तज्ज्ञानात्  
तस्मान्निदानं वक्तव्यम् । निदानेनैव चानुपशयात्मकेन गूढलिङ्गानां व्याधीनां

ज्ञानाच्च । यत् तु संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिज्जनमिति सुश्रुत-  
वचनदर्शनेन निदानज्ञानमन्तरेण निदानपरिवर्जनं न स्यात् अतो निदान-  
मवश्यं वाच्यमिति व्याचष्टे, तन्न, व्याधेरुपलब्ध्यर्थं हि न निदानं ज्ञातव्यं  
भवति, क्रियाथेन्तु भवतीति क्रियोपदेशे वक्तव्यं स्यादिति ।

अथ तर्हि पूर्वरूपं नोच्यतां निदानरूपोपशयसम्प्राप्तयस्तूच्यन्तामिति चेत् ?  
न । विना हि पूर्वरूपं निदानादिभिश्चतुर्भिर्न व्याधेर्निश्चयः स्यात् । यथा—  
“हारिद्रवणं रुधिरञ्च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः । यो मूत्रयेत् तं न वदेत्  
प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः” इति । यत् तु व्याधिज्ञानहेतुषु  
निदानादिषु पूर्वरूपस्यानुपादाने पूर्वरूपावस्थायां विहितक्रियाविशेषो  
न कर्तुं शक्यते भिषग्भिः, पूर्वरूपज्ञानावात् । उक्तञ्च सुश्रुते । वातिक-  
ज्वरपूर्वरूपे घृतपानमिति । वक्ष्यते चात्र ज्वरस्य पूर्वरूपे लघ्वशनमपतर्पणं  
वेति । तदपि व्याध्युपलब्धिपूर्वादात्तं साधकं न भवति । चिकित्सार्थं  
पूर्वरूपस्य ज्ञानस्यावश्यकत्वात् तत्रैवोपदिश्यतां पूर्वरूपमिति । ज्ञानहेतुषु  
उपादाने ज्ञानार्थं यत् तत् साधकं भवतीति ।

अथ लिङ्गं नोच्यतां निदानपूर्वरूपोपशयसम्प्राप्तयस्तूच्यन्तामिति चेत् ?  
न । लिङ्गं हि विना व्याधेः स्वरूपज्ञानं न स्याद् वातादिजलविशेषज्ञानञ्च ।  
यत्तु रूपावस्थायां विहिता सर्वा चिकित्सा विना लिङ्गज्ञानं न सम्भवति,  
तस्माल्लिङ्गं वक्तव्यमिति व्याचष्टे, तन्न । व्याध्युपलब्धिहेतुषु लिङ्गोपादाने  
साधकं भवति । चिकित्सार्थं लिङ्गज्ञानावश्यकत्वे तत्रैव वक्तव्यं भवतीति ।  
इत्थञ्च व्याधेः साध्यत्वासाध्यत्वादिज्ञानार्थञ्च निदानपूर्वरूपलिङ्गान्यवश्यं वक्त-  
वानि भवन्ति । उक्तं हि सुखसाध्यलक्षणप्रकरणे—हेतवः पूर्वरूपाणि रूपा-  
ण्यल्पानि यस्य वा इत्यादि । कृच्छ्रसाध्यलक्षणे च—निमित्तपूर्वरूपाणां  
रूपाणां मध्यमे बले इति । तथा ज्वरस्यासाध्यलक्षणे—हेतुभिर्बहुभिर्जातो  
बलिभिर्बहुलक्षणः । ज्वरः प्राणान्तकृत् । एवं, पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्ता-  
न्यतिमात्रया । यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरः । अन्यस्यापि च रोगस्य  
पूर्वरूपाणि यं नरम् । विशन्त्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवमिति । सुख-  
साध्यत्वादिज्ञानार्थञ्चावश्यं वक्तव्यानि निदानपूर्वरूपलिङ्गानीति ।

अथोपशयोऽप्यवश्यं वक्तव्यः । न हि गूढलिङ्गव्याधीनामनभिव्यक्तत्वेन  
सङ्कीर्णलक्षणानाञ्चोपशयानुपशयाभ्यामन्तरेण विशेषज्ञानं भवति । वक्ष्यते  
हात्र गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेतेति ।

## तत्र निदानं कारणमित्युक्तमग्रे ।

अथ सम्प्राप्तिरिह व्याधिविज्ञानहेतुषु नोच्यतामिति चेत् ? न । यतो निदानेन जातस्यापि व्याधेः आरम्भकदोषाणामंशांशविकल्पानुबन्ध्यानुबन्धरूप-  
प्राधान्याप्राधान्यबलकालादिज्ञानं सम्प्राप्तिमन्तरेण न स्यात् ततो व्याघ्रेशेष-  
विशेषेण स्यात् न चाविशेषविशेषेण व्याघ्रेणान्तरमन्तरेण विशेषेण चिकित्सा  
भवति । वक्ष्यते च—रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम् । ततः कर्म  
भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वम् समाचरेत् ॥ इति । इत्थञ्च व्याधिज्ञानार्थमिहोपदिष्टे  
पञ्चसु निदानादिषु चिकित्सार्थं पुनस्तत्र नैतानि वाच्यानि भवन्ति ।

पञ्चानामेषां निर्देशान्निदानस्थानग्रन्थोऽपि निदानशब्देनोच्यते । तत्राथ  
निरुक्तिरियं—निदीयते निबध्यते हेत्वादिसम्बन्धो व्याधिरनेनास्मिन् वेति  
निदानं निदानस्थानम् । या गौः कामदुधा न तां निददीतेति निबन्धनार्थं  
निपूर्वदात्रो व्यासेन प्रयुक्तत्वात् । हेतुलक्षणनिर्देशान्निदानानीति पोडशेति  
सुश्रुतवचनाच्च । नैषा निरुक्तिः सुश्रुतवचनेन संगच्छते हेतुलक्षणनिर्देशादित्युक्तेः,  
निबन्धनोक्त्यभावात् । करणाधिकरणयोश्च ल्युट् ग्रन्थार्थे पुलिङ्गप्रसङ्गा-  
च्चाध्यायार्थे च । स्थानार्थे चेन्निदानानीति पोडशेति अध्यायार्थे निदाना-  
नीति नपुंसकत्वानुपपत्तिश्च । हेतुलक्षणनिर्देशादिति निर्देशोक्त्या निदीयन्ते  
निर्देश्यन्ते निदानादीनि यस्मिन् तन्निदानं निदानस्थानं पृषोदरादित्वाद्  
रूपसिद्धिः । इयमपि निरुक्तिर्न साधुः । निदानानीति पोडशेति पोडशाध्याय-  
परत्वान्नपुंसकत्वानुपपत्तेः । हेतुलक्षणनिर्देशादित्युक्त्या निदानशब्दे निपूर्व-  
दिशेः प्रयोगाभावात् । एवञ्च निदानशब्दस्य हेतुलक्षणवचनस्य तत्तदध्याये  
उपचारस्तत्तद्व्याधेर्हेतुलक्षणनिर्देशादिति, अन्यथा नपुंसकलिङ्गानुपपत्तिर्निदाना-  
नीति, अध्यायविशेषणत्वेन पुलिङ्गप्रसङ्गश्चेति ।

तत्र निदानादीनि क्रमेण लक्षयति—तत्र निदानमित्यादि ।  
कारणमित्युक्तमग्रे इति । यदिहैवाग्रे उक्तं हेतुनिमित्तमित्यादिपर्यायेण  
उत्पत्तिकारणं तदिह व्याधेर्निदानमिति । यदा तु व्याधिरपरं व्याधिं जनयति ;  
यथा—ज्वरसन्तापाद् रक्तपित्तं जायते इत्येवमादि, तदा तद्रक्तपित्तकरो ज्वरो  
निदानार्थकरो रोग एव न तु निदानम् । यथा घटादि द्रव्यं द्रव्यारब्धद्रव्यं

उक्तं निदानं विवृणोति—निदानमित्यादि । अग्रे उक्तमिति 'इह खलु' इत्यादिना  
'परिणामश्च' इत्यन्तेन । कारणञ्च व्याधीनां सन्निकृष्टं वातादि, विप्रकृष्टञ्चाश्विनाम्

तदारम्भकमृदादि द्रव्यं द्रव्यार्थकरं द्रव्यं न तु नवद्रव्यान्तर्गतं द्रव्यम् । तस्मात्  
 असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगादित्रिविधनिदानातिरिक्तं निदानं नास्तीति ।  
 यच्च सेतिकर्तव्यताको व्याध्युत्पत्तिहेतुनिदानमित्युक्त्वा त्रिविधेष्वसात्म्ये-  
 न्द्रियार्थसंयोगादिषु द्रव्यभूतेषु यथा समन्वेति, तथा वातादिषु च विषमेषु  
 समन्वेति । हेतुश्च बाह्य आभ्यन्तरश्चेति द्विविधः । बाह्यस्त्रिविधः, आभ्यन्तरास्तु  
 दोषदूष्या इति व्याख्याय दोषाणामितिकर्तव्यतायाश्च इतिकर्तव्यतान्तर-  
 भावान्न निदानत्वं किन्तु सम्प्राप्तिलमिति सुश्रुतेन वातादीनां निदानत्वमुक्तम् ।  
 तद्व्यथा—सर्वेषां व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलं तल्लिङ्गत्वाद् दृष्ट-  
 फलत्वादागमाच्चेति व्याचष्टे, तन्न सङ्गतम् ; अद्रव्यभूतेष्वसात्म्येन्द्रियार्था-  
 दिष्वत्युग्रशब्दादिषु परुषवागादिषु लक्षणस्याप्रसङ्गात् सेतिकर्तव्यताकलाभावात्  
 द्रव्यभूतानामितिकर्तव्यतास्वप्नसङ्गाच्च । निदानार्थकरेषु विषमवातादिषु ज्वरा-  
 दिषु चातिप्रसङ्गात् । सुश्रुते तु सर्वेषां व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलं  
 तल्लिङ्गत्वात् इत्युक्तं न निदानमुक्तम् तल्लिङ्गत्वादित्यनेन वातादिप्रकृतिकत्वमुक्तं  
 तेन सर्वेषां व्याधीनामिति वातादिप्रकृतिकानां व्याधीनां ज्वरादीनां मूल-  
 मित्युक्तं न लागन्तुव्याधीनां न वा कामादीनां मानसव्याधीनां मूलमुक्तं तस्माद्  
 विषमवातपित्तश्लेष्माणो न निदानं किन्तु विकारो एव । यत उक्तं विकारो  
 धातुवैषम्यमिति, तच्च धातुवैषम्यं निदानार्थकरं निदानार्थकरज्वरादिव्याधि-  
 वद्व्याधिरेव । तत्र सुश्रुते च पुनरुक्तं तद् यथा—“भूयोऽत्र जिज्ञास्यं—किं  
 वातादीनां ज्वरादीनाञ्च नित्यः संश्लेषः परिच्छेदो वेति ? यदि नित्यः संश्लेषः  
 स्यात् तर्हि नित्यातुराः सर्वे एव प्राणिनः स्युः । अथाप्यन्यथा वातादीनां ज्वरा-  
 दीनाञ्चान्यत्र वत्तेमानानामन्यत्र लिङ्गं न भवतीति कृत्वा यदुच्यते वातादयो  
 ज्वरादीनां मूलानीति ।” तस्मात् सर्वेषां व्याधीनामिति ज्वरादीनां न तु  
 धातुवैषम्यागन्तुव्याधीनाम् ; किं हि वातवैषम्यस्य वातवैषम्यं मूलम् ? तत्रोत्तर-  
 श्चोक्तं—“दोषान् प्रत्याख्याय ज्वरादयो न भवन्ति, अथ च न नित्यः सम्बन्धो  
 यथा हि विदुर्द्वाताशनिवर्षाणि आकाशं प्रत्याख्याय न भवन्ति, सत्यप्याकाशे  
 कदाचिन्न भवन्ति अथ च निमित्ततस्तत एवोत्पद्यन्ते । तरङ्गबुद्बुदादयश्च  
 उदकविशेषा एव । एवं वातादीनां ज्वरादीनाञ्च नाप्येवं संश्लेषो न

अयोगादि ; पुनर्विप्रकृष्टं कारणं ज्वरस्य रुद्रकोपः, सन्निकृष्टं कारणं रक्तपित्तस्य ज्वरसन्ताप इति ।  
 पुनश्च व्याधीनां सामान्येन विप्रकृष्टं कारणमुक्तम् ; यथा—“प्रागपि चाधर्मादृते न रोगो-  
 त्पत्तिरभूद्” इत्यादि । तदेतत् सर्वमपि कारणशब्देन ग्राह्यम् । तन्नाधर्मकार्यत्वेन व्याधीनां

भ्रश्यति तु कृतयुगे केषाञ्चिदत्यादानात् साम्पन्निकानां शरीरगौरवमासीत् । सत्त्वानां गौरवात् श्रमः, श्रमादालस्यम्, आलस्यात् सञ्चयः, सञ्चयात् परिग्रहः, परिग्रहाल्लोभः प्रादुरासीत् कृते । ततस्त्रेतायान्तु लोभादभिद्रोहोऽभिद्रोहादनृतवचनम् अनृतवचनात् कामक्रोधमानद्वेषपाश्याभिघात-भयतापशोक-चिन्तोद्वेगादयः प्रवृत्ताः । ततस्त्रेतायां धर्मपादोऽन्तर्द्धानमगमत् । तस्यान्तर्द्धानाद् युगवर्षप्रमाणस्य पादहासः, पृथिव्यादे-  
गुणपादप्रणाशोऽभूत् । तत्प्रणाशकृतश्च शस्यानां स्नेहवैमल्य-  
रसवीर्य्यविपाकप्रभाङ्गुणपादभ्रंशः । ततस्तानि प्रजाशरीराणि  
हीनगुणपादैर्हीयमानगुणैश्चाहारविकारैरयथापूर्व्वमुपपद्यमानानि-

गङ्गाधरः—ननु कदा पुनर्धर्मः कदा चाशुभमासीदित्यत आह—भ्रश्यति इत्यादि । कृतयुगे तु भ्रश्यति कियत्कालात्यये केषाञ्चित् पुंसां न सर्व्वेषाम् । अत्यादानेन साम्पन्निका भूत्वा केचिद् देहगौरवमापुः । सत्त्वानां देहरूपद्रव्याणां सञ्चयो धनानामालस्याददानात् परिग्रहः सर्व्वभावेण ग्रहणम् कृतयुगे गते गमन-  
भावे ततः कृतयुगगमनानन्तरं त्रेतायां प्रवृत्तायां सत्याम् । अभिद्रोहो जिघांसा । ततस्त्रेतायाः प्रवर्त्तनादनन्तरं सम्यक्प्रवृत्तायां त्रेतायां धर्मपादो धर्मस्य चतुर्थांशः । तेन चाधर्मस्य पादप्रवर्त्तनमभूत् ततस्तु तस्य धर्मपादस्यान्तर्द्धानात् कृतयुगस्य तावद्वेषप्रमाणस्य पादहासः षट्त्रिंशच्छतदिव्यवर्षमानमभूत् गुणानां रसादीनां पादस्य प्रणाशः । तस्य पृथिव्यादिगुणपादस्य प्रणाजेन कृतः । ततः शस्यानां स्नेहवैमल्यरसादिभ्रंशाच्चानन्तरं हीनगुणपादैः शस्यैः सुतरां तद्-  
धोनिर्कैराहारविकारैर्हीयमानगुणैरयथापूर्व्वं पूर्वं कृतयुगे यथा सम्पूर्ण-

व्यासेन—“पुरुषाः सर्व्वसिद्धाश्च चतुर्व्वर्षशतायुषः । कृते” इति । साम्पन्निकानामीश्वराणाम् । कृत इति कृतयुगस्य शेषे ।

हीयमानगुणैश्चेति, यथा यथा त्रेतायाः क्षयो भवति, तथा तथा आहारविहारगुणपादहासो भवन्नास्त इति दशयति । विहारो हि धर्मवद्हीनगुणो भवति, तेन न यथावत् शरीरोपपद्यमान करोति । उपपद्यमानानीति धातुसाम्येन पाल्यमानानि ।

मारुतपरीतानि ० प्राग् व्याधिभिर्ज्वरादिभिः आक्रान्तान्यतः  
प्राणिनो ह्यासमवापुरायुषः क्रमश इति ।

भवतश्चात्र ।

युगे युगे धर्मपादः क्रमेणानेन हीयते ।

गुणपादश्च भूतानामेवं लोकः प्रलीयते ॥

संवत्सरशते पूर्णो याति संवत्सरः क्षयम् ।

देहिनामायुषः काले यत्र यन्मानमिष्यते ॥ १६ ॥

रसादिभिराहारविकारैः तानि प्रजाशरीराणि उपष्टभ्यमानाग्निमारुताभ्यां  
परीतानि न तथाविधानि भवन्ति प्राक् प्रथममेव । व्याधिभिरित्यादि स्पष्टम् ।

इममर्थं श्लोकाभ्यामाह—भवतश्चात्रेत्यादि । युगे युगे प्रतियुगे । तेन  
कृते चतुष्पादधर्मः त्रेतायां त्रिपादधर्मः द्वापरेऽर्द्ध धर्मः कलौ पाद-  
धर्मः, एवंक्रमेण धर्मपादविनाशानुरूपेण भूतानां युगानां भूम्यादीनां मनुष्या-  
दीनां शस्यादीनाञ्च गुणपादो हीयते । एवं कलियुगान्ते धर्मपादचतुष्टयनाशात्  
भूतानां गुणपादचतुष्टयक्षयादेहिनां निःशेषेणायुःक्षयाच्च लोको देही प्रलीयते  
प्रलयं याति ।

कथं देहिनां निःशेषेणायुषः क्षयो भवतीत्यत उच्यते—संवत्सरेत्यादि ।  
यत्र काले कृतत्रेताद्वापरकलियुगानां यस्मिन् युगे दिव्यमानेन नरमानेन  
वा यद्वर्षमानं युगानां देहिनामायुषश्च यद्यन्मानमिष्यते तस्य तस्य  
युगस्य तत्तत्परिमितानां संवत्सराणां शते शतकृत्वो विभक्तानामेकैकभागे  
सम्पूर्णे जाते तद्युगोत्पन्नानां देहिनां तत्तत्परिमितस्यायुष एकैकः संवत्सरः  
क्षयं याति । इत्येवं कलियुगावसाने देहिनामायुषो निःशेषेण परिमाणक्षयात्  
सर्वलोकः प्राणी प्रलीयते । एवं पुनःपुनश्चतुर्युगावसाने सर्वप्राणिप्रलयात्  
लोकः परमात्मलोकपर्यन्तः सर्वो लोकः प्रलीयते शक्तिब्रह्ममात्रमवशिष्यते ।  
तद यथा । कृतयुगस्य मानं स्वभावसिद्धं दिव्यसंवत्सराणामष्टशताधिक-

संवत्सरशते पूर्ण इति संवत्सरेण, शततमेऽंशे पूर्णं । यत्र यन्मानमिष्यत इति यत्र  
युगे यन्मानमिष्यते, तत्र शततमेऽंशे पूर्णं वर्ष एकः क्षयं याति । तेन कलौ शतवर्षायुरिति ।  
यदा शततमोऽंशो याति क्षयम्, तदा नवनवति परमायुर्भवतीत्याद्यनुसरणीयम् ॥ १५।१६ ॥

चतुःसहस्रम् । देहिनामायुषश्च कालस्वभावसिद्धं नरमानेन संवत्सराणां चतुः-  
 शतम् । तत्र कृतयुगस्य संवत्सराणां दिव्यानामष्टशताधिकचतुःसहस्रमानस्य  
 शतकृत्वो विभक्तस्यैकैकभागोऽष्टचत्वारिंशदिव्याः संवत्सरा भवन्ति । तदे-  
 कैकभागे सम्पूर्णे देहिनां चतुःशतसंवत्सरमितस्यायुषः संवत्सरः क्षयं याति ।  
 तेन तद्भागशते सम्पूर्णे देहिनां कृतयुगोत्पन्नानामायुषः संवत्सरशतं क्षयं याति  
 इत्येवं कृतयुगावसाने । अथ प्रवर्त्तमानायां त्रेतायां धर्मपादक्षयात् कालस्वभावाच्च  
 कृतयुगमानस्य पादक्षयो भवति । त्रेतायुगमानश्च दिव्यपट्त्रिंशच्छतवर्षं भवति ।  
 भूम्यादीनां गुणपादक्षयश्च भवति, तेनायुषः शतवर्षक्षये देहिनाश्च त्रेतायुगोत्-  
 पन्नानामायुषः प्रमाणं त्रिशतवर्षं भवति । तत्रापि क्रमेण धर्मक्षयात् त्रेतायुग-  
 मानस्य दिव्यपट्त्रिंशच्छतस्य संवत्सरस्य शतकृत्वो विभक्तस्यैकैको भागः  
 खलु दिव्यसंवत्सरपट्त्रिंशद्भवति । तत्रैकैकस्मिन् भागे दिव्यपट्त्रिंशत्-  
 संवत्सरे पूर्णे जाते त्रेतायुगोत्पन्नानां तेषां देहिनां त्रिशतवर्षस्यायुषः एकैक-  
 संवत्सरः क्षयं यातीत्येवं शतभागे पूर्णे संवत्सरशतमायुषः क्षयं याति  
 त्रेतावसाने । अथ प्रवर्त्तमाने द्वापरे द्वापादधर्मक्षयात् कालस्वभावाच्च त्रेतायुग-  
 मानस्य दिव्यपट्त्रिंशच्छतवर्षस्य पादक्षयो भवति । ततो द्वापरयुगमानश्च  
 दिव्यचतुःशताधिकद्विसहस्रवर्षं भवति भूम्यादिगुणपादक्षयश्च भवति तेनायुषः  
 शतवर्षक्षये देहिनाश्च द्वापरयुगोत्पन्नानामायुषः प्रमाणं द्विशतवर्षं भवति ।  
 तत्रापि धर्मस्य क्रमशः क्षयात् कालस्वभावात् द्वापरयुगमानस्य दिव्य-  
 चतुर्विंशतिशतवर्षस्य शतकृत्वो विभक्तस्यैकैको भागः खलु दिव्यचतुर्विंशति-  
 संवत्सरो भवति । तदैकैकस्मिन् भागे दिव्यचतुर्विंशतिसंवत्सरे पूर्णे जाते  
 तेषां द्वापरयुगोत्पन्नानां देहिनां द्विशतसंवत्सरस्यायुषः एकैकसंवत्सरः  
 क्षयं याति, इत्येवं शतभागे पूर्णे द्वापरयुगस्यावसाने देहिनामायुषः संवत्सरशतं  
 क्षयं याति । ततः प्रवर्त्तमाने कलियुगे धर्मस्य पादत्रयक्षयात् कालस्वभावात्  
 कृतयुगमानस्य त्रिपादक्षये द्वापरस्यार्द्धक्षयाद् द्वादशदिव्यवर्षशतं कलियुगस्य  
 मानं भवति । भूम्यादिगुणपादत्रयक्षयश्च भवति, देहिनामायुषश्च त्रिपादक्षये  
 कलियुगोत्पन्नानामायुषः प्रमाणं वर्षशतं भवति । तत्रापि धर्मपादस्य क्रमेण  
 क्षयात् कालस्वभावाच्च कलियुगमानस्य दिव्यद्वादशवर्षशतस्य शतकृत्वो  
 विभक्तस्यैकैको भागो द्वादश दिव्यसंवत्सरा भवन्ति । तस्मिन् एकैकस्मिन्  
 भागे दिव्यद्वादशसंवत्सरे पूर्णे सति कलियुगोत्पन्नानां देहिनामायुषः शत-  
 वर्षस्यैकैकसंवत्सरः क्षयं याति, इत्येवं शतभागे पूर्णे कलियुगं सम्पूर्णं भवति ।



तत्र देहिनां शतवपमायुर्निःशेषेण क्षयं याति । भूम्यादिगुणपादचतुष्टयस्य च क्षयो भवति, धर्मपादचतुष्टयक्षयश्च जायते, चतुर्थ्यस्य च क्षयो भवति, इत्येवं लोकः प्रलीयते । प्रलयस्तु चतुर्विध उक्त आग्नेयेऽग्निना वसिष्ठाय—नित्यो नैमित्तिकः प्राकृत आत्यन्तिकश्चेति । तद्यथा—चतुर्विधस्तु प्रलयो नित्यं यः प्राणिनां लयः । सदा विनाशो जातानां ब्राह्मो नैमित्तिको लयः । त्रिविधस्त्रिविधायान्तु प्राकृतः प्रकृतौ लयः । लयस्त्वात्यन्तिको ज्ञानादात्मनः परमात्मनि । नैमित्तिकस्य कल्पान्ते वक्ष्ये रूपं लयस्य ते । चतुर्थ्यसहस्रान्ते क्षीणप्राये महीतले । अनाष्टष्टितीवोग्रा जायते शतवार्षिकी । इत्यादिभिः नैमित्तिकः कल्पान्तप्रलयः उक्तः तत्र । आत्मानं वामुदेवाख्यं चिन्तयन् मधुमूदनः । कल्पं शेते प्रवृद्धोऽथ ब्रह्मरूपी सृजत्यपि । द्विपरार्द्धं ततोऽव्यक्ते प्रकृतौ लीयते द्विज । स्थानात् स्थानं दशगुणमेकस्माद्गुण्यते मुने । ततोऽष्टादशमे भागे परार्द्धमभिधीयते । परार्द्धद्विगुणं यत्र प्राकृतः स लयः स्मृतः । एकं दश शतञ्चैव सहस्रमयुतं तथा । लक्षश्च नियुतञ्चैव कोटिरव्युद एव च । खर्व्वश्चैव निखर्व्वश्च शङ्खपङ्क्तौ च सागरः । अन्त्यं मध्यं परार्द्धश्च दश-ष्टद्वयोत्तरोत्तरम् । अनाष्टष्टाग्निसम्पर्कात् कृत्स्ने संज्वलिते द्विज । महदादिविकारस्य विशेषान्तस्य संक्षये । आपो ग्रसन्ति वै पूर्वं भूमेर्गन्धादिकं गुणम् । इत्यादिना स्वस्वप्रकृतौ भूम्यादीनां लयमुक्त्या उक्तं पुनर्महान्तश्च प्रकृतिर्ग्रसति द्विज । व्यक्ताव्यक्ता च प्रकृतिर्व्यक्तस्याव्यक्तके लयः । इत्येवं महाप्रलयाख्य एकविधः प्राकृतः प्रलय उक्तः । ततः परं निर्व्वाणाख्यः प्राकृतः प्रलय उक्तो यथा । पुमानेकोऽक्षरः शुद्धः सोऽप्यंशः परमात्मनः । प्रकृतिः पुरुषश्चैतौ लीयेते परमात्मनि । न तत्र सन्ति सर्वेषां नामजात्यादिकल्पनाः । इति प्रधानक्षेत्रज्ञादिवेदविद्यान्तानां परमात्मनि शिवे लयो निर्व्वाणाख्यः प्राकृतः प्रलय उक्तः । ततः परं महानिर्व्वाणाख्यः प्राकृतः प्रलय उक्तो यथा । सत्तामात्रात्मकेऽज्ञेये ज्ञानात्मन्यात्मनः परे । इति । आत्मन इति परमात्मनः परव्योमरूपस्य चतुष्पाद्ब्रह्मणश्चतुर्थपादगायत्रीसहितत्रिपात्पुरुषस्य शिवस्य सत्तामात्रात्मके ज्ञानात्मनि चेतनास्वरूपे परे ब्रह्मणि शक्तौ लय इति शक्तिमात्रब्रह्मणोऽवशेषो महानिर्व्वाणाख्यः प्राकृतः प्रलयस्तृतीयः । इति । विष्णुसंहितायाश्चोक्तम् । यदुत्तरायणं तदहर्देवानां दक्षिणायनन्तु रात्रिः, संवत्सरोऽहोरात्रः, तत्त्रिंशता मासो, मासास्ते द्वादश वर्षम् । द्वादशवर्षशतानि दिव्यानि तु कलियुगम्, तद्द्विगुणानि द्वापरं, त्रिगुणानि त्रेता, चतुर्गुणानि तु

कृतयुगम्, द्वादश-वर्षसहस्राणि दिव्यानि चतुर्युगं, चतुर्णां युगानामेक-  
सप्ततिर्मेन्वन्तरम्, चतुर्युगसहस्रञ्च कल्पः, स च पितामहस्यैकमहस्तावती चास्य  
रात्रिः, ते च द्वे अस्याहोरात्रः, एवंविधेनाहोरात्रेण मासवर्षगणनया सर्वस्यैव  
हि ब्रह्मणो वर्षशतमेव खल्वायुः, ब्रह्मायुषा परिच्छिन्नः, कालः पौरुषो दिवसः,  
तस्यान्ते महाकल्पः, तावत्येव चास्य निशा, पौरुषाणामहोरात्राणामतीतानां  
सहस्रैव नास्ति न च भविष्याणामनाद्यन्तता कालस्य, एवमस्मिन् निरालम्ब  
काले सततयायिनि । न तद्भूतं प्रपश्यामि स्थितिर्यस्य भवेद्भ्रुवा । गङ्गायाः  
सिकता धारास्तथा वर्षति वासवे । शक्या गणयितुं लोके न व्यतीताः  
पितामहाः । चतुर्दश विनश्यन्ति कल्पे कल्पे सुरेश्वराः । सर्वलोकप्रधानाश्च  
मनवश्च चतुर्दश । बहूनीन्द्रसहस्राणि दैत्येन्द्रनियुतानि च । विनष्टानीह  
कालेन मनुजेष्वथ का कथा । इति ।

• अस्य प्रलयस्य वादप्रतिवादाभ्यामक्षपादगौतमेन न्यायशासने स्थापना कृता ।  
तद् यथा—अवयवावयविप्रसङ्गश्चैवमा प्रलयात् । न प्रलयोऽणुसद्भावात् । परं वा  
त्रुटेः । आकाशव्यतिभेदात् तदनुपपत्तिः । आकाशासर्वगतत्वं वा । अन्तर्वहिश्च  
कार्यस्य कारणान्तरवचनादकार्ये तदभावः । सर्वसंयोगशब्दविभवाच्च सर्व-  
गतम् । अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि चाकाशधर्माः । मूर्त्तिमताश्च संस्थानोपपत्ते-  
रवयवसद्भावः । संयोगोपपत्तेश्च । अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ।  
बुद्ध्या विवेचनात्तु भावानां याथात्म्यानुपलब्धेस्तन्त्वपकर्षणे पदसद्भावानुपपत्ते-  
र्यदवशिष्यते । व्याहृतत्वादहेतुः । तदाश्रयत्वादपृथग्ग्रहणम् । प्रमाणतश्चार्थप्रतिपत्तेः  
प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ।

• इति षोडशभिः सूत्रैः प्रलयस्थापना वार्त्तिकेन व्याख्याता । तद् यथा—  
अवयवावयविप्रसङ्गश्चैवमा प्रलयादिति । एवमुक्तप्रकारेणावयविसिद्धौ  
सत्याश्चावयवावयविभावप्रसक्तिरा प्रलयात् प्रलयपर्यन्तं भवति । प्रलये तु  
तद्विनाशात् । चतुर्विधो हि प्रलयो नित्य-नैमित्तिक-त्रिविधप्राकृत-निर्वाण-  
मोक्षभेदात् । तत्र प्राणिनस्त्वेते यदविरतमहरहर्भ्रियन्ते स नित्यप्रलयः,  
सर्वदाविनाशः कल्पान्तो नैमित्तिकः, प्राकृतस्तु महाप्रलयो निर्वाणप्रलयो  
महानिर्वाणप्रलय इति त्रिविधो निर्वाणमोक्ष आत्यन्तिकप्रलयः । तत्र  
यावज्जीवति तावद्देवदत्तादिरवयवावयविभावापन्नो यदा भ्रियते तदा नावयवी  
इति । १. तत्राह वादी । न प्रलयोऽणुसद्भावात् । २. आ प्रलयादवयवावयवि-  
भावप्रसङ्ग इति यदुक्तं तत्र प्रलयो नास्ति, अणुसद्भावात् । प्राणिनां मरणे

स्थूलदेहात्मसंयोगनाशे नित्यानुबन्धपञ्चमहाभूतसहित-मृक्षमशरीरि-पुरुष-  
सद्भाव एव । तस्मात् नित्यप्रलयो नास्तीति । तत्रोत्तरमाह प्रलयवादी ।  
कृतादिषु चतुर्षु युगेषु क्रमेण धर्मपादक्षये भूत्यादीनां गुणपादक्षयस्ततः  
प्राणिनामायुःक्षयः कलिशेषे निःशेषेण भवति ततो न प्राणी जायते इत्येवं  
त्रुटिः स्यात् तस्मादस्ति प्रलयश्चतुर्युगान्ते पुनश्च कृतप्रवृत्तौ ब्रह्मा पूर्ववत्  
सम्पूर्णयुषं सर्वं सृजतीति । २ । तत्राह वादी—परं वा त्रुटेः । ३ । तथाविध-  
चतुर्युगान्ते प्राणिनां त्रुटेः परं वाणुसद्भावान्न प्रलयो न हि स्रष्टा मृक्षमशरीरिणं  
सृजति स च वर्तत एवेति । ३ । तत्राह प्रलयवादी—आकाशव्यतिभेदात् तदनुप-  
पत्तिः । ४ । तस्याणोः सद्भावस्यानुपपत्तिराकाशव्यतिभेदात् । तेषामणूनाम्  
अन्तर्वह्निश्चाकाशेन सम्प्रवेशाद्विनाशित्वात् । तेषामणूनामारम्भकाणामन्त-  
र्वह्निश्चाकाशोऽस्ति ततस्तेषामवयवानां विभागेन त्रुटिः स्यात् ततः प्रणाश  
इति । ४ । यद्याकाशेनान्तर्वह्निश्च व्यतिभेदः समावेशोऽणूनां नेष्यते तदा खलु । ८ ।  
आकाशसर्वगतत्वं वा । ५ । अणूनामन्तर्वहिराकाशभावे ह्याकाशस्य  
असर्वगतत्वं वा प्रसज्यते । ५ । तत्राह वादी—अन्तर्वह्निश्च कार्यस्य कारणान्तर-  
वचनात् अकार्यं तदभावः । ६ । कार्यद्रव्यस्य शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञस्य कारणान्तर-  
स्य पृथिव्यादिभूतवचनादन्तर्वह्निश्चास्त्याकाशः । अकार्यं प्राण्यप्राणिनां कारण-  
भूते द्रव्ये पञ्चमहाभूतमनोदिक् कालात्मनि वहिरन्तश्चाकाशस्याभाव इति । ६ ।  
न चाकाशस्यासर्वगतत्वं ततो भवति, कथम् सर्वसंयोगशब्दविभवाच्च  
सर्वगतत्वम् । ७ । सर्वगतञ्चाकाशं सर्वसंयोगशब्दविभवात् । परमाणुभि-  
स्तत्कार्यैश्च सह संयोगा आकाशे विभवन्ति । यत्र कचिदुत्पन्नाश्च शब्दा  
आकाशे विभवन्ति तदाश्रयाश्च भवन्तीति । ७ । अव्यूहाविष्टम्भविभ्रुत्वानि  
चाकाशधर्माः । ८ । अव्यूहादयश्चाकाशधर्माः । संयुतप्रतिघातिना द्रव्येणाकाशो  
न व्यूह्यते काष्ठेनेवोदकं निरवयवत्वात् । सर्वं प्रतिघातिद्रव्यञ्च नाकाशं  
विष्टम्भान्ति नास्य क्रियाहेतु गुणं शब्दं प्रवध्नात्यस्पर्शत्वात् । अण्ववयवस्य  
अणुतरतमत्वप्रसङ्गादणोः कार्यत्वप्रतिषेधः । कार्यकारणद्रव्ययोः परिमाण-  
भेददर्शनात् । एवं तर्हि मरणोत्तरकालमणुसद्भावान्न प्रलयः इति । ८ । तत्राह  
प्रलयवादी ।—कार्यकारणद्रव्ययोः परिमाणभेदादेव । मूर्त्तिमन्ताञ्च संस्थानोप-  
पत्तेरवयवसद्भावः । ९ । कार्यकारणद्रव्ययोः परिमाणभेदाद् व्याकृताव्याकृत-  
मूर्त्तिमतां त्रिकोणादिसंस्थानोपपत्तेरारम्भकावयवसद्भावः । त्रिकोणं चतुष्कोणं  
परिमण्डलमित्येवं संस्थीयते यत् तत् संस्थानं सोऽवयवसन्निवेशः । परि-

मण्डलाश्चाणवः । तहि चाणवः पारिमाण्डल्यात् कार्ये सावयवा हेतवः  
 स्युस्ततः कार्याणां त्रिकोणादिसंस्थानदर्शनादवयवसद्भावः । ९। कस्मात् १। १०।  
 संयोगोपपत्तेश्च । १०। बहूनामणूणां संयोगमन्तरेण नोत्पद्यते त्रिकोणादि-  
 संस्थानं तस्मात् संयोगोपपत्तेश्चाणूनामवयवसद्भावः । १०। एवं तर्हि चावयव-  
 संस्थानस्यानवस्था भवतीति । तत्राह—अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्च  
 अप्रतिषेधः । ११। अनवस्थाकारित्वात् तेषामणूनां संयोगाप्रतिषेधः ।  
 यावत् मूर्त्तिमल्लोकेऽस्ति तावत् स्वणवः संयुज्यन्ते । अनवस्थानुपपत्तेश्चाणूनां  
 संयोगस्याप्रतिषेधः । यावद्धि मूर्त्तिमत् प्रसिद्धं तावतोऽन्यन्नाभून्न कचिद् वा  
 भाविः । ११। इत्येवं वदन्तं प्रलयवादिनं प्रति पुनराह वादी । १०। एवमपि मरणोत्तर-  
 कालं चतुर्युगान्तकाल इवाणुसद्भावान्न प्रलयोऽस्तीति । नच हि द्रव्याणि  
 पृथिव्यग्नेजोवाय्वाकाशानि मनोदिक्कालात्मानश्चेति । रूपादीनि च सप्त-  
 दश गुणा उत्क्षेपणादीनि पञ्चकर्मणि समवायश्चेति चतुष्कं नित्यं मरणादुत्तरं  
 संक्षमदेहिषु वर्त्तते । इति । १०। तत्राप्युत्तरमाह प्रलयवादी । १०। अवयवावयवि-  
 प्रसङ्गश्चैवमां प्रलयात् । इति । यावत् कल्पान्तप्रलयं तावदेवावयवावयवि-  
 प्रसक्तिरेव भवति । पूर्णं हि कल्पान्तकाले तेषामणूनामसद्भाव आकाशव्यति-  
 भेदात् । तद् यथाग्निरुवाच वशिष्ठाय । नैमित्तिकस्य कल्पान्ते वक्ष्ये रूपं  
 प्रलयस्य ते । दैवयुगसहस्रान्ते क्षीणप्राये महीतले । अनाष्टष्टिरतीवोग्रा जायते  
 शतवार्षिकी । ततः सत्त्वक्षयः स्याच्च ततो विष्णुर्जगत्पतिः । स्थिरो जलानि  
 पिबति भानोः सप्तसु रश्मिषु । भूपातालसमुद्रादि-तोयं नयति संक्षयम् ।  
 ततस्तस्यानुभावेन तोयाहारोपट्टहिताः । त एव रश्मयः सप्त जायन्ते सप्त  
 भास्कराः । दहन्त्यशेषं त्रैलोक्यं सपातालतलं द्विज । कूर्मपृष्ठसमा भूः  
 स्यात् ततः कालाग्निरुद्रकः । शेषाहिन्वाससम्पातात् पातालानि दहत्यधः ।  
 पातालेभ्यः परं विष्णुर्भुवं स्वर्गं दहत्यतः । अशरीरमिवाभाति त्रैलोक्यमखिलं  
 तथा । ततस्तापपरीतास्तु लोकद्वयनिवासिनः । गच्छन्ति च महर्लोकं  
 महर्लोकोज्जनं ततः । रुद्ररूपी जगत् दग्ध्वा मुखनिश्वासतो हरेः । उत्तिष्ठन्ति  
 ततो मेधा नानारूपाः सविदुत्रतः । शतं वर्षाणि वर्षन्तः शमयन्त्यग्निमुत्थितम् ।  
 सप्तर्षिस्थानमाक्रम्य स्थितेऽम्भसि ततो मरुत् । अथ निश्वासजो विष्णोर्नाशं  
 नयति तान् घनान् । वायुं पीत्वा हरिः शेते शेषे चैकार्णवे प्रभुः । ब्रह्म-  
 रूपधरः सिद्धैर्जनैर्मुनिभिस्ततः । आत्ममायामयीं दिव्यां योगनिद्रां  
 समास्थितः । आत्मानं वासुदेवाख्यं चिन्तयन् मधुसूदनः । कल्पं शेते प्रबुद्धोऽपि  
 ब्रह्मरूपी सृजत्यथ । इति । इत्येवं कल्पान्तप्रलयपर्यन्तमवयवावयविप्रसक्तिरिति ।

तत्राह पुनर्वादी । न प्रलयोऽणुसद्भावात् । ० । तथाविधे विनाशे-  
 ऽप्यणवो हि सन्ति यैः पुनः सृज्यते इति चेत् तत्राह प्रलयवादी । पूर्णे  
 कल्पान्तकाले तेषामणूनां सद्भावानुपपत्तिराकाशव्यतिभेदात् । यदि तेषामन्त-  
 र्वहिश्चाकाशसमावेशो नास्ति तदाकाशस्यासर्वगतत्वं प्रसज्यते । आकाश-  
 व्यतिभेदात् तु तेषां विनाशित्वमतः प्रलयावसाने तेषां सूक्ष्मभूतानां पुनः  
 सर्ग उक्तः । तद यथा मनुना । अप्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्द्धानाञ्च  
 याः स्मृताः । ताभिः सार्द्धमिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः । तस्य सोऽहनिशस्यान्ते  
 प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते । प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् । मनःसृष्टिं  
 विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया । आकाशं जायते तस्मात् तस्य शब्दं गुणं  
 विदुः । आकाशात् तु विकुर्वाणात् सर्वगन्धवहः शुचिः । बलवान् जायते  
 वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः । वायोरपि विकुर्वाणाद् विरोचिष्णु तमोनुदम् ।  
 ज्योतिरुपपद्यते भास्वत् तद्रूपगुणमुच्यते । ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः  
 स्मृताः । अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः । इति । यथा पुनः  
 लोकसर्गे पञ्चमहाभूतसर्गः कल्पान्ते तेषां नाशात् तथा पुरुषेऽपि पुनर्जन्मनि  
 पञ्चमहाभूतानां पुनः सर्गो वक्ष्यते शारीरे । यथा—प्रलयात्यये सिसृक्षुः  
 भूतान्यक्षरभूतः पूर्वतरमाकाशं सृजति । ततः प्रव्यक्ततरगुणांश्चतुरो वाय्वादीन्  
 भावान् । तथा देहप्रग्रहणेऽपि सत्त्वकरणो गर्भाशयमनुप्रविश्य सत्त्वोपादानः  
 पूर्वतरमाकाशं सृजति ततः प्रव्यक्ततरगुणान् वाय्वादींश्चतुरो भावानिति ।  
 कल्पान्तेऽणूनां त्रुटिर्भवति लोके मरणे तु पुरुषे च । तस्मादस्ति प्रलयः । ० ।  
 तत्राह पुनर्वादी । परं वा त्रुटेरिति । ० । कल्पान्ते पूर्वपूर्वानुप्रविष्टानां  
 वाय्वादीनामणूनां त्रुटेः परश्चाकार्याणामणूनां गन्धतन्मात्रादीनां पृथिव्यादीनां  
 सद्भावान् प्रलयः । ० । तत्राह प्रलयवादी । आकाशव्यतिभेदात् तदनुपपत्तिः  
 आकाशासर्वगतत्वं वा । इति । तत्राप्याह वादी । अन्तर्वहिश्चाकाशः कार्यस्य  
 कारणान्तरवचनादकार्ये तदभावः । नव हि द्रव्याणि गन्धमात्रादीनि । ० ।  
 रूपादयः सप्तदश गुणाः पञ्च चोत्क्षेपणादीनि कर्माण्येतत् सर्वं सन्नित्यम्  
 अद्रव्यवत् कारणं सामान्यविशेषवच्चेति नैषामन्तराकाशव्यतिभेदो बहिस्तु  
 तत्राकाशं संव्यसंयोगशब्दविभवाच्च सर्वगतम् । अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि  
 चाकाशधर्माः । अप्ववयवस्यानुतरतमत्वप्रसङ्गादणोः कार्यत्वप्रतिषेधः । कार्य-  
 कारणद्रव्ययोः परिमाणभेददर्शनात् । ० । तत्राह प्रलयवादी । कार्यद्रव्याणां  
 कारणद्रव्यतः परिमाणभेददर्शनादेव । मूर्तिभेदाच्च संस्थानोपपत्तेः कारण-

द्रव्यस्यावयवसद्भावः । स चावयवो व्याकृतोऽव्याकृतो वास्ति यमन्तरेण कार्यद्रव्याणामवयवारम्भो न सम्भवति । संयोगोपपत्तेश्च । वह्नामणूनां संयोगमन्तरेण कार्यद्रव्याणां त्रिकोणाद्यवयवादिमंस्थानं नोपपद्यते तस्मात् संयोगोपपत्तेरणूनामवयवसद्भावः । तथा चावयवमंस्थानस्यानवस्था । अनन्तं हि वस्तु तत्तद्वस्तुनश्चावयवमंस्थानमनन्तं प्रत्येकभेदात् । तथा चावयवानाम् अनवस्थाकारित्वादणूनामनवस्थानुपपत्तिस्तत्तेषां संयोगप्रतिषेधो न भवतीत्यत उक्तं द्रव्यगुणकर्मणांतीति सर्वं सन्नित्यमद्रव्यवत् कार्यं कारणं सामान्यविशेषवच्चेति कार्यत्वादाकाशव्यतिभेदोऽस्ति । तस्मादस्ति प्रलय इति ।

तत्राह वादी । सत्यं तावद् द्रव्यं गुणाः कर्मणांतीत्येतत् सर्वं सन्नित्यमद्रव्यवत् कार्यं कारणञ्चेति तत्राहङ्कारस्य कार्यं तत् सर्वमद्रव्यारब्धं ततो नित्यमिति तेषामणूनां सद्भावान्न प्रलय इति । ० । तत्राह प्रलयवादी च । अवयवावयवविप्रसङ्गश्चैवमा प्रलयात् । इति । यावत् प्राकृतप्रलयं तदेवावयवावयवविप्रसक्तिरेवंप्रकारेण भवति । प्राकृतप्रलये हि तेषां नवानां द्रव्याणां गुणानां कर्मणां विनाशात् । तद् यथा मनुनोक्तम् । युगपत् तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन् महात्मनि । तदायं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति । निर्वृतः । तमोऽयन्तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः । न च स्वं कुर्वते कर्म तदोत्क्रामति मूर्त्तिः । यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्तु चरिष्णु च । समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्त्तिं विमुञ्चति । इति । इत्येवं महाब्रह्मणि नारायणेऽस्मिन्नादित्ये स्थावरजङ्गमपरमाणुलये द्विपराद्धेऽयं नारायणो ब्रह्मादित्यो मूर्त्तिं मुञ्चति चतुर्मुखश्चतुर्भुजश्च पञ्चाननश्चेत्येवं यावती मूर्त्तिमती सर्वं मूर्त्तिं विमुञ्चति, तदा यथा भवति तदुक्तमग्निना वशिष्ठाय । द्विपराद्धं ततोऽव्यक्ते प्रकृतौ लीयते द्विज । पराद्धद्विगुणं यत्र प्राकृतः स लयः स्मृतः । अनावृष्ट्याग्निसंपर्कात् कृते संज्वलिते द्विज । महदादिविकारस्य विशेषान्तस्य संक्षये । ईशेच्छाकारिते तस्मिन् सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे । आपो ग्रसन्ति वै पूर्वं भूमेर्गन्धादिकं गुणम् । आत्तगन्धा ततो भूमिः प्रलयायैव कल्पते । रसात्मिकाश्च तिष्ठन्ति ह्यापस्तासां रसो गुणः । पीयते ज्योतिषा तासु नष्टास्त्रिंशश्च दीप्यते । ज्योतिषोऽपि गुणं रूपं वायुर्ग्रसति भास्वरम् । नष्टे ज्योतिषि वायुश्च बली द्रोधूयते महान् । वायोरपि गुणं स्पर्शमाकाशो ग्रसते ततः । वायौ नष्टे स्वस्य शब्दं भूतादिर्ग्रसते ततः । अभिमानात्मकं तच्च भूतादिं ग्रसते महान् । भूमिर्याति लयश्चाप्सु आपो ज्योतिषि यान्ति तत् । वायौ वायुः स्वे च स्वञ्च

ह्यहङ्कारे लयः स च । महत्तत्त्वे महान्तश्च प्रकृतिग्रसते द्विज । व्यक्ताव्यक्ता  
च प्रकृतिव्यक्तस्याव्यक्तके लयः । अव्यक्तं स्यात् तमोलीनं रजसि स्याद्रजस्ततः ।  
सत्त्वे लीनमेवमेव गुणसाम्यात्मकन्तु तत् । अव्यक्तं स्यात् प्रधानाख्यं तत्रस्थाः  
पुरुषास्तदा । पुमानेकोऽक्षरः शब्दः सोऽप्यंशः परमात्मनः । इति ।  
इत्येवं द्विपराद्धसंवत्सरेषु पूर्णेषु खल्वेतदाव्यक्तात्मान्तं सर्वं प्रलीयते ।  
तावत् कालं सर्वं तद्व्याकृताव्याकृतावयवावयवितया प्रसज्यते । इति  
एष महाकल्पा महाप्रलयो नाम ।

तत्राह वादी । न प्रलयोऽणुसद्भावात् । इत्येवं भूम्यादीनामव्यक्तान्तानां  
विनाशेऽपि प्रलयो न भवति तेषामणुसद्भावात् । नैवं गन्धमात्रादिलक्षणा हि  
भूम्यादयोऽव्यक्तान्ता अणवस्तेषां स्वस्वप्रकृतौ लये त्रुटिभवति नैवाणवः  
सन्ति ।० तत्राह वादी । परं वा त्रुटेरिति । तथैव स्वस्वप्रकृतौ भूम्यादेर्लये  
त्रुटेः परं वाणुसद्भावाच्च प्रलयः । यदुपादानं पुनरव्यक्तं भवति अव्यक्तान्महा-  
नित्यवमादि स्यात् तत्तदुपादानन्तु वृत्त एव ।० तत्राह प्रलयवादी । आकाश-  
व्यतिभेदात् तदनुपपत्तिः । तेषामणूनां सद्भावास्यानुपपत्तिराकाशव्यतिभेदात्  
परमव्योम्नस्तेषामन्तर्वेहिःसमावेशात् तेषां काले प्रलयात् । नैवञ्चेत् तदाका-  
शस्य असव्वगतत्वं वा स्यात् ।० तत्राह वादी । अन्तर्वेहिश्च कार्यस्य कारणान्तर-  
वचनादकार्यं तदभावः । कार्यस्य वस्तुनो ह्यन्तश्च वहिश्चाकाशव्यतिभेदोऽस्ति  
कारणान्तरवचनात् वहूनामुपादानकारणानां वचनात् । बहुभिरारब्धे वस्तुनि  
ह्याकाशमन्तर्गतमाविशति । अकार्यं तु कथमाकाशमन्तरा विज्ञेदतस्तु  
अकार्येऽन्तरावेशो नाकाशस्य । अव्यक्तादीनामुपादानमकार्यं तन्नित्यं न  
तदन्तराकाशसमावेशस्तस्मात् तत्सद्भावो न प्रलयः । न चाकाशस्यासव्वगतत्वम् ।  
सव्वसंयोगशब्दविभावाच्च सव्वगतत्वम् । अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि चाकाश-  
धर्माः । तथाऽवयवस्याणुतरतमत्वप्रसक्तेरणोः कार्यत्वप्रतिषेधः ।

तत्राह प्रलयवादी । अव्यक्तस्याप्युपादानं भूतो योऽणुस्तस्य मूर्तिमताश्च  
संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः । यथा खल्वव्याकृतमूर्तिमदव्यक्तं यदणुभिरारब्धं  
सद्भवति तेषाम् अणूनामपि पृथक् पृथगव्याकृतमूर्तिमत्त्वेन संस्थानमुपपद्यते  
ततोऽवयवसद्भावः तदवयवावयविप्रसक्तिरा प्रलयात् । तदवयवसद्भावस्त  
संयोगोपपत्तेश्च । नान्तरेणानेकोपादानम् अवयवो भवति ततोऽनेकोपादानानां  
संयोगोपपत्तेश्चावयवसद्भावः । तेषामणूनामव्यक्तस्योपादानानां नैकविधा  
ह्यवस्था । तत्तत्पृथक्पृथगवस्था त्वनवस्था तत्कारित्वात् तदनवस्थानुपपत्तेश्च

तेषामणूनामवयवप्रतिषेधो न भवति इत्युक्तम् । अनवस्थाकारित्वात् अनवस्थानुप-  
पत्तेश्चाप्रतिषेध इति । तस्मादस्ति प्रलयः । संवत्सराणां द्विपराद्धं प्राकृत-  
सर्गस्थितिकालस्ततः परं प्राकृतप्रलयस्तावत्कालं वर्त्तते । इति संवत्सराणां  
चतुःपराद्धं प्रधानक्षेत्रब्रह्मपुरुषादीनामेकोऽहोरात्रस्तथाविधाहोरात्राणां षष्ठ्युत्तर-  
त्रिंशत्सहस्राहोरात्राः संवत्सरस्तत्संवत्सरशतं तेषामायुरिति संवत्सरपराद्धाणां  
चतुर्दश शतानि चत्वारिंशच्च पराद्धानि वर्षमेकं भवति, तेषां वर्षाणां शतं संवत्सरा-  
पराद्धाणां चतुश्चत्वारिंशत्सहस्राधिकलक्षमेकं भवति, तेन षट्त्रिंशत्सहस्राणि  
ब्रह्मणो भवन्ति । तावति काले सम्पूर्णे प्रकृतिपुरुषकालाश्चत्वारो वेदा विद्या-  
श्चापराः पराविद्या च वेदान्तपुरुषः सदाशिवश्चेत्येते परमात्मनि परव्योम्नि  
व्योमकेशे शिवे लीयन्ते । स निर्व्वर्णाख्यः प्राकृतः प्रलयः । तदुक्तमग्निना वशि-  
ष्ठाय । प्रकृतिः पुरुषश्चैतौ लीयेते परमात्मनि । न तत्र सन्ति सर्व्वेषां नाम-  
जात्यादिकल्पना । इति । इवेताश्चतरोपनिषदि मन्त्रश्च । यदा तमस्तान् दिवा न  
रात्रिः न सन्न चासच्छिव एव केवलः । तदक्षरं तत् सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्  
प्रसृता पूराणी । इति । ॥ इत्यवयवावयविप्रसक्तिश्चैवमा प्रलयादित्युक्तम् ।

तत्राप्याह वादी । न प्रलयोऽणुसद्भावादिति । तत्र परमात्मनि सर्व्वेषां विना-  
शोऽपि न प्रलयो भवति तेषामारम्भकाणुसद्भावात् । ॥ नैवं ते ह्यणवस्तेषां विनाशे  
पार्थिवदिग्गजानुवदणुसद्भावाभावात् । ॥ तत्राह वादी । परं वा त्रुटेरिति ।  
तेषां त्रुटेः परं वा तदुपादानानामणूनां सद्भावाच्च प्रलय इति । ॥ तत्राह  
प्रलयवादी । आकाशव्यतिभेदात् तदनुपपत्तिः । प्रधानपुरुषादीनामुपादान-  
भूता येऽणवस्तेषां सद्भावानुपपत्तिः परमाकाशव्यतिभेदात् । यदि परमाकाश-  
समावेशस्तेषामन्तर्वहिनं स्यात् तदा आकाशासर्व्वगतत्वं वा । ॥ तत्राप्याह वादी ।  
अन्तर्वहिश्च कार्य्यस्य कारणान्तरवचनादकार्य्यं तदभावः । कार्य्यस्य वस्तुनो-  
ऽनेककारणान्तरवचनात् तैः कारणान्तरैरारभ्यमाणे कार्य्ये आकाशमन्तर्गतं  
वहिश्च भवति । न चैषां प्रधानपुरुषादीनामुपादानस्य कारणान्तरवचनमस्ति  
प्रसिद्धत्वादिकार्य्यत्वं ततस्तदणूनामन्तराकाशं परव्योमापि नास्ति ततो न  
सद्भावानुपपत्तिः । परव्योमन्त्राकाशस्य नासर्व्वगतत्वं । सर्व्वसंयोगशब्द-  
विभवाच्च सर्व्वगतम् । अव्यूहाविष्टम्भविस्तृतानि चाकाशधर्माः । अण्व-  
वयवस्याणुतरतमत्वप्रसक्तेरणोः कार्य्यत्वप्रतिषेधः कार्य्यकारणवस्तुनोः परिमाण-  
भेददर्शनात् । इति चेन्न कार्य्यकारणयोः परिमाणभेदादेव हि । सूक्ष्मताञ्च  
संस्थानोपपत्तेरवयवासद्भावः । परमविद्यादिप्रधानान्तानामुपादानं गायत्री-



स्थानि तेजोऽवन्नानि तेषामव्याकृतमूर्तिमतां संस्थानस्य विभिन्नस्योपपत्तेरवयव-  
सद्भावः । संयोगोपपत्तेश्च । तेषां त्रयाणां संयोगश्चोपपद्यते ततस्तदवयव-  
सद्भावः । अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चाप्रतिषेधः । तैस्तेजोऽवन्नैस्त्रिवृत्-  
त्रिवृद्भूतैः परमविद्यादीनामवस्थाविभिन्नताकारित्वादन्यथा परमविद्यादीना-  
मवस्थाभेदानुपपत्तिः स्यात् तस्मान्च तेषां तेजोऽवन्नानां संयोगप्रतिषेधो न  
भवतीति । यावान् संवत्सराणां परार्द्धकालः प्रधानादिपरमविद्यान्तानामायुःकृत-  
स्तावद्वर्षं परमात्मनः शिवस्यैकमहस्तावती रात्रिरित्येवमहोरात्राणां षष्ठ्युत्तर-  
शतत्रयं वर्षमेकं तथाविधवर्षाणां शतमायुः परमात्मनः शिवस्य तावत्कालं शिवस्य  
परमव्योमलक्षणावयवावयविप्रसक्तिः शिवायाश्च गायत्र्या लोहितशुक्लकृष्ण-  
बल्लक्षणाया अवयवावयविप्रसक्तिरा प्रलयात् । महानिर्व्वाणारूपप्राकृत-  
प्रलयपर्यन्तम् । पूर्णं च तथाविधवर्षशते पूर्वमेतदादिपरमविद्यासदाशिवान्तं  
परमात्मनि लीयते तत्परमात्मा शिवो गायत्र्यां शिवायां लीयते गायत्री-  
स्थानां तेजोऽवन्नानामन्नमप्सु लीयते आपस्तेजसि लीयन्ते तेजः परमाकाश-  
रूपायां शक्तौ ब्रह्मणि लीयते इति गायत्री तेजोऽवन्नलक्षणहीना शक्तिरूपा  
अवतिष्ठते । इति महानिर्व्वाणारूपः प्राकृतः प्रलयः । इत्येतदुक्तं श्वेताश्वतरोप-  
निषदि मन्त्रे । यत्रकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान् विहितार्थो  
दधाति । विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ।  
इति । अग्निना चोक्तं वशिष्ठाय । सत्तामात्रात्मकेऽज्ञेये ज्ञानात्मन्यात्मन्  
परे । आत्यन्तिकं लयं वक्ष्ये ज्ञानादात्यन्तिको लयः । इति । सत्तामात्रे  
ज्ञानात्मके परे ब्रह्मणि खल्वज्ञेये शक्तिमात्रे परमस्यात्मनः शिवगायत्र्यु-  
भयात्मकस्य लय इति प्रकरणात् । ज्ञानात् तत्त्वज्ञानादव्वांगेभ्यः प्रलयेभ्यो  
निर्व्वाणमुक्तिरात्यन्तिकः प्रलयो भवतीति ।

तत्राह वादी—न प्रलयोऽणुसद्भावात् । नैवं प्रलयो भवत्यणुसद्भावात् । एत-  
दादीनामणवो हि शक्तौ वर्तन्ते । इति ।० तत्राह प्रलयवादी । एतदादीनां  
येऽणवस्तेषां तदा त्रुटिः स्यात् ततो नाणुसद्भावः ।० तत्राह वादी । परं वा त्रुटे-  
रिति । तेषाम् अणूनां त्रुटेर्वापरमसद्रूपाणामणूनां सद्भावात् । तदुक्तं तैत्तिरी-  
योपनिषदि । असद् वा इदमग्र आसीदिति ।० तत्राह प्रलयवादी । आकाशव्यति-  
भेदात् तदनुपपत्तिः । परममहाकाशरूपायाः शक्तेस्तेषामणूनामन्तर्वहिश्च समा-  
वेशात् सद्भावानुपपत्तिः । आकाशासर्वगतत्वं वा ।० तत्राह वादी । अन्तर्वहिश्च  
कार्यस्य कारणान्तरवचनादकार्यं तदभावः । न हि तेऽसद्रूपा अणवः

इति विकाराणां प्रागुत्पत्तिहेतुरुक्तो भवति । एवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच, किं नु खलु भगवन् नियतकाल-प्रमाणमायुः सर्व्वं न वेति ॥ १७ ॥

कार्य्यास्तेषामन्तर्ग शक्तिराकाशरूपास्ति । न चासर्व्वगतत्वं शक्तेराकाशरूपायाः । सर्व्वसंयोगशब्दविभवाच्च सर्व्वगतत्वम् । अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि चाकाशधर्म्मास्तेन तेषामणूनां कार्य्यत्वप्रतिषेधः । तत्राह प्रलयवादी । मूर्त्तिमत्ताश्च संस्थानोपपत्तेरवयवसंद्भावः । तैरणुभिर्हि कार्य्यं मूर्त्तिरारभ्यते ततस्ते मूर्त्तिमन्तस्तस्मात् तेषामवयवाः सन्ति । संयोगोपपत्तेश्च । तैरनेकैर्मिलित्वा यतः कार्य्यं मूर्त्तिरारभ्यते ततः संयोग उपपद्यते तस्मात् तेषामवयवाः सन्ति । अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चाप्रतिषेधः । तेषां परस्परमेलनेन कार्य्येषु अवस्थाविभिन्नत्वकारित्वम् । न चेदवस्थाभेदस्य कार्य्येष्वनुपपत्तिस्तस्मात् संयोगस्य प्रतिषेधो न भवतीति प्रलयोऽस्त्येव न नास्तीति । ११ ।

तत्राप्याह वादी । बुद्ध्या विवेचनात् तु भावानां याथात्म्यानुपलब्धेस्तन्त्वपकर्षणे पटसद्भावानुपलब्धिवत् तदनुपलब्धिः । १२ । बुद्ध्या विवेचनात् तु यायत्रन्तानां प्रलये भावानां याथात्म्यस्यानुपलब्धिर्यदवशिष्यते । यथा—पटस्य तन्तूनामपकर्षणे पटस्य यदवशिष्यते तस्यानुपलब्धिः, परन्तु किमपि वर्त्तत एव । तस्मादणुसंद्भावान्न प्रलयः । उक्तञ्च । असद् वा इदमग्र आसीदिति । तत्राह प्रलयवादी । व्याहतत्वादहेतुः । तन्त्वपकर्षणे पटसद्भावानुपलब्धिवदुक्तरूपेण प्रलये यदवशिष्यते तस्यानुपलब्धिरित्यहेतुः । व्याहतत्वात् । पटस्य तन्त्वपकर्षणेऽवशेषाभावात् ततोऽवशिष्टं वर्त्तते इत्युक्तं व्याहतम् । १३ । तदाश्रयत्वादपृथग्ग्रहणम् । १४ । कार्य्यं कारणाश्रितं तन्त्राश्रितः पटस्तन्त्वपकर्षणे पटो नास्ति । यतः कार्य्यकारणयोर्न पृथग्ग्रहणम् । कस्मात् ? प्रमाणतश्चार्थप्रतिपत्तेः । १५ । प्रत्यक्षादिप्रमाणतो हि पटस्यासद्भावप्रतिपत्तिः । प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् । १६ । भावानामस्तित्वं नास्तित्वं प्रमाणैश्चोपपद्यते प्रमाणैश्च नोपपद्यते इति । इत्येवं महानिर्व्वर्णने यां शक्तिर्ब्रह्मं वर्त्तते सा मूला प्रकृतिः । सा तु न सर्गावस्था । येषां सर्गस्तेषां प्रलय इति ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—इतीत्यादि । एवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—किन्तु खल्वित्यादि । नु भो भगवन् नियतकालप्रमाणमायुः किमनियतकाल-प्रमाणम् ? इति संशयः ॥ १७ ॥

तं भगवानुवाच—

इहान्निवेश भूतानामायुर्युक्तिमपेक्षते ।

दैवे पुरुषकारे च स्थितं ह्यस्य बलावलम् ॥

दैवमात्मकृतं विद्यात् कर्म यत् पूर्वदैहिकम् ।

स्मृतः पुरुषकारस्तु क्रियते यदिहापरम् ॥

बलावलविशेषोऽस्ति तयोरपि च कर्मणोः ।

दृष्टं हि त्रिविधं कर्म हीनं मध्यममुत्तमम् ॥

गङ्गाधरः—तं भगवानात्रेय उवाच—इहेत्यादि । इह कर्मक्षेत्रे भूलोके भूतानामायुर्युक्तिं तर्कमपेक्षते । यौक्तिककालप्रमाणमायुः । युक्तिमाह—दैव इत्यादि । दैवमिति पूर्वदैहिकं पूर्वजन्मनि देहवता खल्वात्मना यच्छुभमशुभं वा कर्मे कृतं तत्फलं धर्माधर्मरूपं दैवम् । इह तु जन्मनि यच्च शुभमशुभं वा कर्म क्रियते तत्कर्मफलं धर्माधर्मरूपं पुरुषकारः स्मृतः । ननु दैवपुरुषकारौ सर्वे कुर्वन्ति न कथं सर्वपां समानमायुः प्रमाणं भवतीत्यत आह—बलावलेत्यादि । तयो शुभाशुभरूपदैवपुरुषकारयोर्बलावलविशेषोऽप्यस्ति । कुतो बलावलमित्यतः

चक्रपाणिः—युक्तिमपेक्षत इति दैवपुरुषकारयोर्युक्तिमपेक्षते नियतत्वेऽनियतत्वे वेत्यर्थः । बलावलावलञ्च बलावलम्, तत्रायुषो नियतत्वेन बलमनियतत्वेनाऽवलं ज्ञेयम् । यद्यपि पूर्वदैहिकं कर्मस्थिरत्वेन गतम्, तथापि तज्जनितादृष्टस्य विद्यमानत्वात्, तद्द्वारा तत् कर्म कारणं भवत्येवैहजन्मन्यपि । पुरुषकारस्त्विह जन्मन्यपि कृतं कर्म सामान्येनोच्यते । तत्र बलिमङ्गलादि अदृष्टजननत्वाद् व्याप्रियते, तथा भेषजादि रसरुधिरादिद्वारा । उदारयोरिति प्रशस्तत्वेनोत्तमयोः । दीर्घस्येति रसायनादिना शतादपि दीर्घस्य । सुखस्येति नीरोगत्वेन । नियतस्येति युगनियतस्य, कञ्चै वर्षशतप्रमाणस्येत्यर्थः । शतादूर्वाह नियतमपीह नियतशब्देनोच्यते, तेन न तत्र तस्य दैवपुरुषकारजन्यत्वं घटते, तथापि, तस्याऽप्रशस्तदैवपुरुषकारजन्यत्वात् दैवपुरुषकारजन्यत्वं भवतीति युक्तम् ; किञ्च अनियतायुष एव पुरुषा रसायनाधिकारिणो भवन्ति नियतायुषं प्रति रसायनस्याकिञ्चित्करत्वात् । रसायनादिकृतञ्चायुरनियतं प्रशस्तत्वेन प्रशस्तदैवपुरुषकारजन्यं भवतीति युक्तम् । किंवा, दीर्घत्वे सति नियतस्यायुषो हेतुरिति योजना । तेन, युगनियतञ्च शतवर्षम्, तथा तदधिकञ्चानियतं महता कर्मणैव क्रियते । पुरुषकारेण तु महतास्य सुखित्वं रोगोपघातात् क्रियते । रसायनेन च जरादिन्याधिप्रतिघातः क्रियते । रसायनलभ्यमप्यायुर्बलवत् कर्मनियतमेवेति भावः ।

तयोरुदारयोर्युक्तिर्दीर्घस्य ससुखस्य च ।  
नियतस्यायुषो हेतुर्विपरीतस्य चेतरा ॥  
मध्यमा मध्यमस्येष्टा—

—कारणं शृणु चापरम् ॥

दैवं पुरुषकारेण दुर्वलं ह्युपहन्यते ॥  
दैवेन चेतर्त्तु कर्म विशिष्टेनोपहन्यते ।  
दृष्ट्वा यदेके मन्यन्ते नियतं मानमायुषः ॥

आह—दृष्टमित्यादि । तयोश्च का युक्तिरित्यत आह—तयोरित्यादि । तयोर्दैवपुरुषकारयोरुत्तमयोर्धम्मयोर्दैवपुरुषकारयोर्युक्तियोगो दीर्घस्य सुखान्वितस्य नियतस्य हितस्य चायुषो हेतुर्भवति । धर्म्मो हि सर्वत्र शुभस्य हेतुर्धर्म्मो नाशस्य चेति । यथाधर्म्मश्च दृढिहासावायुषः सर्वत्र । विपरीतस्य स्वस्य दुःखान्वितस्यानियतस्य चायुषो हेतुरितरा हीनयोर्दैवपुरुषकारयोः पुण्ययोः पापयोश्चोत्तमयोर्युक्तियोगः । एवं मध्यमस्यादीर्घाहस्य सुखान्वितस्य नियतानियतस्य चायुषो हेतुर्मध्यमामध्यमयोर्दैवपुरुषकारयोः पुण्ययोर्युक्तिः पापयोश्च मध्यमयोः पुण्यहीनयोर्युक्तिस्तन्मध्यमादल्पमध्यमस्यायुषो हेतुरिति । ननु दैवपुरुषकारयोः पुण्यपापयोस्त्रिविधयोमिश्रणे कीदृशम् आयुः स्यादित्यत आह—कारणं शृणु चापरमिति । तद् यथा । दैवमित्यादि । दुर्वलं दैवं पुण्यं पापं वा पुरुषकारेण प्रवलेन विरोधिना यत उपहन्यते । दुर्वलं दैवं पुण्यं प्रवलेन पुरुषकारेण पापेनोपहन्यते पापञ्च दैवं दुर्वलं प्रवलेन पुण्येन पुरुषकारेणोपहन्यते । तस्मादुभयं दृश्यते इति । इह जन्मनि पापकारी स्वल्पायुर्दुःखान्वितोऽनियतायुष्कश्च दुर्वलदैवाख्यपुण्योपघातात् । इह जन्मनि पापकारी दीर्घायुश्च सुखान्वितश्च नियतायुष्कश्च दैवाख्यप्रवलपुण्येन दुर्वलपुरुषकारपापोपघातादिति । एवं दैवेन विशिष्टेन प्रवलेन विपरीतस्य दीर्घत्वेनानियतस्य तथा रोगयुक्तत्वेनासुखस्य । इतरेति हीनयोर्दैवपुरुषकारयोर्युक्तिः इत्यर्थः । ... मध्यमा मध्यमस्य दीर्घत्वेनादीर्घत्वेनानियतस्य, तथा सुखासुखत्वेनानियतस्यायुषो मध्यमयोः कर्मणोर्युक्तिरित्यर्थः । कारणमिति दैवपुरुषकारयोः परस्परबाधने उपपत्तिम् इत्यर्थः ।

दैवमित्यादि । दुर्वलमायुर्जननं दैवं बलवता मारकेण दृष्ट्वाऽपध्यभोजनादिना विपरीत-

कर्म किञ्चित् क्वचित् काले विपाके नियतं महत् ।

किञ्चित्त्वकालनियतं प्रत्ययैः प्रतिबोध्यते ॥ १८ ॥

पुण्येन पापेन वा तदितरत् पुरुषकाराख्यं कर्म पापं पुण्यं वा विरोधिनापहन्यते । तस्माच्चोभयं दृश्यते । इह जन्मनि विपुलपापकारी दीर्घायुः सुखान्वितो नियतायुष्कश्च । प्रबलदैवेन पुण्येनेह कर्मकृतपापोपघातात् । इह जन्मनि पुण्यकारी स्वल्पायुर्दुःखान्वितोऽनियतायुष्कश्च । प्रबलेन दैवेन पापेनेह जन्मनि कृतकर्मपुण्योपघातात् इति । अत्रापरमुनिमतमाह—दृष्ट्वेत्यादि । इत्येवमुक्त-प्रकारां युक्तिं दृष्ट्वा खल्वेके मुनयो यदायुषो नियतं मानं मन्यन्ते, तत् खलु किञ्चित् किमपि कर्म महत् महाफलं क्वचित् काले विपाके परिणामे नियतं भवति । तस्मान्नियतमायुः स्यादिति । किञ्चित्तु महत् कर्म विपाके परिणामे अकालनियतं कालनियतं न भवति तस्मादनियतकालप्रमाणमायुरिति द्वयं प्रत्ययैः प्रतीतिहेतुभिरुपदेशप्रत्यक्षानुमानयुक्तिभिः प्रतिबोध्यते इति ॥ १८ ॥

मरणकार्यजननादुपहन्यते । विशिष्टेन बलवता, इतरत् कर्म दृष्टं पुरुषकाराख्यम्, उपहन्य पराभूयते । एतद्देवकर्तृकदृष्टपराभवदर्शनाद् दैवनियतमेव सर्वमायुरिति केचिन्मन्यन्ते इत्याह—दृष्ट्वेत्यादि । यदि दृष्टमायुः कारणं स्यात्, न तदा भेषजैः सम्यगुपपादितानां मृत्युः स्यात् । यतश्च सत्यपि चिकित्सिते कर्मवशात् तु मृत्युर्भवति । तेन यत्रापि चिकित्सा जीवयतीति मन्यन्ते, तत्रापि कर्मैवास्ति जीवनकारणमिति दृष्टशक्तित्वादवधारयाम् इति भावः ।

दैवपुरुषकारयोरुभयोरपि बाध्यत्वं दर्शयन्नेकान्तेन नियतायुःपक्षं व्युदस्यति—कर्मैत्यादि । न क्वचित् कर्म न भवति । यदुच्यते—“नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि । अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥” इति । किञ्चित्त्वकालनियतमिति, यथा—इदं मारकं कर्म न तु क्वचित् काले पञ्चविंशवर्षादौ नियतम्, तेन यस्मिन् काले पुरुषकाराख्यं दृष्ट-कर्मानुगुणं प्राप्नोति, तस्मिन् काले सहकारिसान्निध्योपवृत्तिबलं मारयति, यदा तु दृष्टमपथ्य-सेवादि न प्राप्नोति, न तदा मारयति । प्रत्ययैः प्रतिबोध्येत इति दृष्टकारणैरुद्दिक्तं क्रियते । ये तु ब्रुवन्ते—किञ्चित् कर्म कालनियतम्, यदा पच्यते, तस्मिन् काले पच्यत एवेति काल-नियमः । विपाकनियतन्तु—इदं कर्म विपच्यत एव, न तु विपच्यत इति न । कालविपाक-नियतन्तु यथा—इदं कर्म अस्मिन्नेव काले विपच्यत एवेति । एतच्च कालविपाकनियतत्वात् बलवदुच्यते । एतदेव दृष्टवाधनीयमिति । तेषां मते अभुक्तमपि क्षीयते दुर्बलकर्म प्राय-श्चित्तादिनेति बोद्धव्यम्, परं विपर्ययेऽपि तदा किञ्चित्त्वकालविपाकनियतमिति वक्तव्यं स्यात् । किञ्चित्त्वकालनियतवचनात् तु अकालनियतमिति ॥ १७।१८ ॥

तस्मादुभयदृष्टत्वात् तदेकान्तग्रहणमसाधु, निदर्शनमपि चात्रोदाहरिष्यामः ।

यदि हि नियतकालप्रमाणमायुः सर्व्वं स्यात्, तदायुष्कामाणां न मन्त्रौषधिमणिमङ्गलवर्त्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपतनगमनाद्याः क्रिया इष्टयश्च प्रयुज्येरन् । तद्भ्रान्तचण्डचपलगोगजोष्ट्रखरतुरङ्गमहिषादयः पवनादयश्च दुष्टाः परिहार्याः स्युः, न प्रपातगिरिविषमदुर्गाम्बुवेगास्तथा न प्रमत्तोन्मत्तोद्भ्रान्तचण्डचपलमोहलोभाकुलमतयः, नारयो न प्रवृद्धोऽग्निर्न च विविधविषाश्रयाः सरीसृपोरगादयः, न साहसम्, नादेशकालचर्या, न च नरेन्द्रप्रकोपः ; इत्येवमादयो भावा नाभावकराः स्युः, आयुषः सर्व्वस्य नियतकालप्रमाणत्वात् ।

गङ्गाधरः—अत्र नियतकालप्रमाणमायुरिति मतं दूषयितुमाह—तस्मात्त्यादि । तस्मात् कस्यचित् कर्मणो महतो विपाके कचित् काले नियमात् । स्यचित्महतः कर्मणो विपाके कालानियमादुभयदृष्टत्वादुभयस्य नियतकालप्रमाणस्यानियतकालप्रमाणस्य चायुषो दृष्टत्वात् तदेकान्तग्रहणं तन्नियतकालप्रमाणमेवायुरित्यवधारणेन ग्रहणमसाधु । तदुभयस्यायुषो निदर्शनमपि चोदाहरिष्यामः ।

ननु कस्मादुभयथायुर्भवतीत्यत आह—यदि हीत्यादि । हि यस्माद् यदि नियतकालप्रमाणमेव सर्व्वमायुः स्यात् तदायुष्कामाणां सम्बन्धे मन्त्राद्याः क्रिया इष्टयश्च याज्ञिकादिभिर्न प्रयुज्येरन् । उद्भ्रान्तचण्डचपलगवादयश्च परिहार्या न स्युः । इत्येवमादयो भावा उद्भ्रान्तचण्डचपलगवादयो भावाः सन्निहितस्यापि पुरुषस्याभावकरा न स्युः, सर्व्वस्यैवायुषो नियतकालप्रमाणत्वात् ।

चक्रपाणिः—अतः परमुत्तरमुपसंहरति,—तस्मादित्यादि । उभयदृष्टत्वादिति दैवस्य पुरुषकारेण तथा पुरुषकारस्य दैवेन बाधदर्शनात् । एकान्तग्रहणमिति नियतमेवायुः सर्व्वमिति चेत्यर्थः । निदृश्यतेऽभिमतः पक्षः साध्यतेऽनेनेति निदर्शनं युक्तिरित्यर्थः । अत्रेत्यनैकान्तिकपक्षे ; यदीत्यादिना प्रकरणेनायुर्जनकस्य दृष्टस्य हेतोः सेवा, तथा आयुर्विरोधकस्य हेतोर्सेवा

न चानभ्यस्ताकालमरणभयनिवारकाणामकालमरणभयमागच्छेत्  
एव प्राणिनाम् । व्यर्थाश्चारम्भकथाप्रयोगबुद्ध्यः स्युः सव्वेषां  
महर्षीणां रसायनाधिकारे ।

नापीन्द्रो नियतायुष्कं शत्रुं वज्रेणाभिहन्यान्नाश्विनावेनं  
भेषजेनोपचरेताम् \* , न वर्षयो यथेष्टमायुस्तपसा प्राप्नुयुर्न च  
विदितवेदितव्या महर्षयः ससुरेशाः पश्येयुरपदिशेयुराचरेयुर्वा,

अपरश्चाह—न चेत्यादि । यः पुरुषैरकालमरणभयनिवारकाः प्रयोगा  
नाभ्यस्तास्तेषामकालमरणभयं नागच्छत् । नैवागच्छेदिति चेत्, तदा महर्षीणां  
रसायनाधिकारे खल्वकालमरणवारणार्थं चिकित्सादिक्रियारम्भकथाप्रयोग-  
बुद्ध्यश्च व्यर्थाः स्युरिति ।

नापीत्यादिस्पष्टाथेम् । व्यर्था एव चेति चेत् तदोच्यते । इन्द्रोऽपि  
नियतायुष्कं वज्रेण नाभिहन्तुं शक्नुयान्नियतायुष्कत्वात् सव्वेषाम् । अश्विनौ  
चानियतायुष्कमायुर्द्वयर्थं भेषजेनोपचरेताम् । ऋषयश्च तपसा यथेष्ट-  
मायुर्देवापुस्तन्नाप्नुयुः । विदितवेदितव्या महर्षयः सुरेशश्चायुर्वर्द्धनानि रसायना-  
दीनि विदिता सम्यक् दृष्ट्वा चोपदिश्योपचरन्ते तानि सम्यक् पश्येयुरप-  
दिशेयुराचरेयुर्वा इति । अत्र एके त्राहुः । चतुष्पात् सकलो धम्मः सत्यञ्चैव  
कृते युगे । नाधर्मेणागमः कश्चित् पुरुषं प्रतिवर्त्तते । अरोगाः सव्व-  
सिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः । कृते त्रेतादिषु हेतुपामायुहेसति पादशः । इति  
मनुना प्रतियुगं धम्मपादहासाच्चतुर्वर्षशतायुषः पादपादहासः प्रतियुगमुक्त्वा  
नियतप्रमाणमायुरुक्तं, तत् पुननियतानियतायुर्वचनेनानेन विरुध्यते  
इति । तत्रोच्यते मनुनापि प्रतियुगं धम्मपादहासादायुषश्च चतुर्वर्षशतस्य  
पादहासवचनेनैवानियतायुरुक्तं प्रतियुगमायुःप्रमाणभेदात् । तत्रापि प्रतियुगं  
य आयुषः प्रमाणनियमः स खलु धम्मपादनिबन्धन एव सामान्यतः  
उक्तस्तेनैव यो यथा धर्माधर्मावाचरेत् तस्य तथायुर्भवेदिति च ज्ञापितमिति  
सव्वंप्रामाणिकजनानामविवादसिद्धत्वाद् दृश्यते, सा च, यदि नियतमायुः स्यात्, तदा अकिञ्चित्करी  
स्यात्, अनियते चायुषि किञ्चित्करी च स्यात् । तस्मादनियतमप्यायुर्भवतीति भावः । न च  
सव्वत्रैवादृष्टमेव कारणम्, दृष्टस्यापि तृप्तादेर्विरेकादिकर्तृत्वं व्यक्तमेव । अदृष्टस्यैव कारणत्वं

\* नाश्विनावात् भेषजेनोपपादयेतामिति चक्रः ।

अपि च सर्वचक्षुषामेतत् परं यददिव्यचक्षुः \* इद-  
 आप्यस्माकं तेन प्रत्यक्षम् । यथा पुरुषसङ्ख्याणा-  
 मुत्थायोत्थायाहारं कुर्वतामकुर्वताश्चातुल्यायुष्टम् । तथा  
 जातमात्राणामप्रतिकात् प्रतीकाच्चाविपविषप्राणिनाश्चापि  
 अतुल्यायुष्टमेव । न च तुल्यो योगः क्षेमः उदपानघटानां  
 चित्रघटानाश्चोत्सीदताम् । तस्माद्धितोपचारमूलं जीवितम्, अतो  
 विपर्ययान्मृत्युः । अपि च देशकालात्मगुणविपरीतानाश्च कर्म-  
 णाम् + आहारविकाराणाश्च क्रमोपयोगः सम्यक् । त्यागः सर्वस्य  
 चायोगमिथ्यायोगातियोगानां सन्धारणमनुदीर्णानामसन्धारणम्  
 उदीर्णानाश्च गतिमताम् । साहसानाश्च वर्जनमारोग्यानुवृत्तौ  
 मुपलभामहे सम्यगुपदिशामः सम्यक् पश्यामश्चेति ॥ १६ ॥

रोध इति । न हीन्द्राश्विनमहर्षयो मन्वादयो वा नासम्यक् पश्यन्ति  
 दित्यत आह—अपि चेत्यादि । सर्वचक्षुषां ज्ञानानां मध्ये यदिदं  
 चक्षुर्योगसिद्धावाविर्भूतं दिवः परमव्योम्नः परमात्मतस्तत् तु परं चक्षुः  
 तनदिव्यचक्षुषेन्द्रादयो मन्वादयश्च दृष्ट्वा नियतानियतमायुरुपदिदिशुः । तथा-  
 स्माकञ्च प्रत्यक्षमपीदमित्यादि स्पष्टार्थम् । न च तुल्ययोगः क्षेमः सर्वेषाम्  
 उदपानघटानां यथोत्सीदतां योगः क्षेमो न तथा योगश्चित्रघटानां क्षेम इति ।  
 तस्मादित्यादि स्पष्टम् ॥ १९ ॥

दृष्टकार्यानुपपत्तेः कल्पनीयम् । तेनादृष्टस्य कारणत्वं दृष्टकारणमूलमित्यर्थः । तेन, न च  
 दृष्टकारणोच्छेदः कल्पयितुमपि पार्यते । इष्टयो-यज्ञाः । उरसा अत्यर्थसर्पणशीला उरगाः ।  
 आचरेयुर्भेषजमिति शेषः । चक्षुषां परमिति अत्यर्थाभ्रान्तत्वेन । अतुल्यायुष्टमिति, ये  
 आहवं कुर्वन्ते, ते शस्त्रेण म्रियन्ते ये तु न कुर्वन्ते, ते शस्त्रेण प्रायो न म्रियन्ते । प्रती-  
 कारादप्रतीकाराश्चातुल्यायुष्टमिति योजना । न च तुल्यमित्यादौ चित्रघटोऽयं चित्रित एव स्थाप्यते,  
 स हि पानीयवहनादिप्रत्यवायहेत्वभावात् चिरं तिष्ठति । उदपानघटस्तु जलसम्बन्धात् तथा  
 वहनसमये पतनादिना च शीघ्रमुत्सीदति । हितोपचारमूलमपि क्रियोपयोगं सम्यगिति योजना ।  
 सध्वीतियोगसन्धारणं सध्वीतियोगानां वर्जनम् ॥ १९ ॥

\* ऐन्द्रं चक्षुरिति पाठान्तरम् ।

+ आहारविहाराणाञ्च क्रियोपयोगं सम्यक् सध्वीतियोगसन्धारणसन्धारणमिति पाठश्चक्रसम्मतः ।



अतः परमशिवेश उवाच—एवं सत्यनियतकालप्रमाणायुषा  
भगवन् कथं कालमृत्युरकालमृत्युर्वा भवतीति ॥ २० ॥

अथ तमुवाच भगवानात्रेयः—श्रूयतामश्वेश, यथा यान-

गङ्गाधरः—एवं गुरुणायुषो नियतकालप्रमाणत्वानियतकालप्रमाणत्वे द्वे  
स्थापिते श्रुत्वा अतः परं संशयानोऽश्वेश उवाच—अतः परमित्यादि। एवं  
सतीति नियतकालप्रमाणायुषां कालसम्पूरणे मृत्युः कालमृत्युर्भवति अनियत-  
कालप्रमाणायुषां कथं कालाकालमृत्युर्भवतीति ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—तं पृष्ट्वन्तमुवाचात्रेयः—श्रूयतामित्यादि। अत्र शरीरविचित्र-  
शारीरे वक्ष्यमाणं स्पर्तव्यम्। तद् यथा—यः कश्चित् म्रियते स सर्वः  
काल एव म्रियते। न हि कालच्छिद्रमस्तीत्येके भाषन्ते। तच्चार-  
न ह्यच्छिद्रता च्छिद्रता वा कालस्योपपद्यते, कालस्वलक्षणभावात्। तथाह  
यो यदा म्रियते, स तस्य नियतो मृत्युकालः। सर्वभूतानां हि का-  
समक्रियत्वादिति। तदपि चान्यथार्थग्रहणम्। न हि कश्चि-  
इति समक्रियः कालस्त्रायुषः प्रमाणमधिकृत्योच्यते। यो यदा  
तस्य नियतो मृत्युकाल इति यस्येष्टं तस्य सर्वे भावा यथा-  
काला भविष्यन्ति, तच्च नोपपद्यते। प्रत्यक्षं ह्यकालाहारवचनेन  
फलमनिष्टं विपर्यये चेष्टम्। प्रत्यक्षतश्चोपलभ्यते खलु कालाकालयुक्ति-  
स्तासु तास्ववस्थासु तं तमर्थमभिसमीक्ष्य। तद् यथा—कालोऽयमस्य व्याधे-  
राहारस्यौषधस्य प्रतिकर्मणो विसर्गस्य चाकाले वा। लोकेऽप्येतद्-  
भवति। काले देवो वर्षत्यकाले च वर्षति। काले शीतमकाले च शीतम्।  
काले तपत्यकाले च तपति। काले पुष्पफलमकाले च पुष्पफलमिति तस्माद्-  
उभयमस्ति काले मृत्युरकाले च नैकान्तिकमत्र। यदि ह्यकालमृत्युर्न स्यान्नियत-  
कालप्रमाणमायुः सर्वं स्यादेवं गते हिताहितज्ञानमकारणं स्यादित्युक्तम्।

चक्रपाणिः—एवं सतीत्यादि। यत् तावत् कालनियतम्, तस्याकाले मरणाभावादेव  
नाकालमृत्युरस्ति। यत्त्वकालनियतम्, तस्यानियतत्वात् कथं कालमृत्युः अकालमृत्युर्वा भवति ?  
अनियते ह्यायुषि कालनियमो नास्ति, नियमाच्चावर्त्तकं अकालमृत्युरिति तु पृच्छार्थः ॥ २० ॥

चक्रपाणिः—यथाकालमिति यावता कालेन प्रत्यवायशून्यस्याक्षस्य क्षयो भवति, तस्मिन्

समायुक्तोऽक्षः प्रकृत्यैवाक्षगुणैरुपेतः स्यात्, स च सर्वगुणोप-  
पन्नो बाह्यमानो यथाकालं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छेत्,  
तथायुः शरीरोपगतं बलवत्प्रकृत्या यथावदुपचर्यमाणं स्व-  
प्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छति, स मृत्युः काले । यथा च  
स एवाक्षोऽतिभाराधिष्ठितत्वात् विषमपथादपथादक्षचक्रभङ्गाद्  
बाह्यबाहकदोषादणिमोक्षादनुपाङ्गात् पर्यासनात् \* चान्तराव-  
सानं गच्छति, तथायुरप्ययथाबलमारम्भाद् अयथाग्न्यभ्यवहाराद्  
विधार्यवेगाविधारणाद् † विषमशरीरन्यासात् असत्संश्रयाद्  
भूतविषवाद्यन्तुपतापात् अभिघातात् आहारप्रतीकारवर्जना-  
च्चान्तरा अवसानमेवापद्यते, स मृत्युरकाले । तथा ज्वरादीनप्या-  
तिङ्गान् मिथ्योपचरितान् अकालमृत्यून् पश्याम इति ॥ २१ ॥

अथानिवेशः पप्रच्छ—किं नु खलु भगवन् उदरितैभ्यः

था हीत्यादि कालमृत्योर्दृष्टान्तः । अक्षो धुरीति लोके । प्रकृत्या स्फुटित-  
वृद्धिक्रिमिभक्षणादिदोषाभावेन वक्तुं लक्षद्वत्तादिभिरक्षगुणैः । यथा  
चेत्यादिना त्वकालमृत्योर्दृष्टान्तः । अणिमोक्षात् चक्रस्थापनकीलमोक्षात् ।  
उपाङ्गानामङ्गसमीपस्थानामङ्गानाम् । पर्यासनाद्विपर्यासात् । अन्तरा तर्वाङ्ग  
यथाकालात् ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—अथ ज्वरादीनां मिथ्योपचारादकालमरणप्रसङ्गेन ज्वरितैभ्यः

प्रवेत्यर्थः । स्वप्रमाणक्षयादेवेति युगानुरूपवर्षशतक्षयादित्यर्थः । अपथादिति सर्वथा अमार्ग-  
गमनात् । अणिमोक्षादिति कीलमोक्षात् । पर्यसनं परिक्षेपः, अनुपाङ्गादिति स्नेहादानात् ।  
मिथ्योपचारितानित्यसम्यक्चिकित्सितान् । अकालमृत्यूनिति अकालमृत्युकरान् ॥ २१ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति मिथ्योपचारश्रुत्या उष्णतोयं ज्वरेऽप्याग्नेये मिथ्योपचारः स्यादिति

\* पर्यसनादिति चक्रः ।

† विषमाभ्यवहरणात् अतिमैथुनात् उदीर्णवेगविनिग्रहात् इत्यधिक पाठो दृश्यते ग्रन्थान्तरेषु ।

पानीयमुष्णं प्रयच्छन्ति भिषजो भूयिष्ठं न तथा शीतम् ?  
अस्ति च शीतसाध्योऽपि धातुर्ज्वरकर इति ।

तमुवाच भगवानात्रेयः । ज्वरितस्य कायसमुत्थानदेश-  
कालानभिसमीक्ष्य पाचनार्थं पानीयमुष्णं प्रयच्छन्ति भिषजः ।  
ज्वरो ह्यामाशयसमुत्थः, प्रायशो भेषजानि चामाशयसमुत्थानां  
विकाराणां विरेचनवमनापतर्पणसंशमनान्येव ॐ भवन्ति । पाचनार्-  
थञ्च पानीयमुष्णं तस्मादेतज्ज्वरितेभ्यः प्रयच्छन्ति भिषजो भूयि-  
ष्ठम् । तद्धि तेषां पीतं वातमनुलोमयत्यग्निश्चानुदीर्य्यमुदीरयति  
क्षिप्रञ्च जरां गच्छति श्लेष्माणं परिशोषयति खल्वपि च पीतं  
तृष्णाप्रशमनायोपकल्पते । तथा युक्तमपि चैतत् नात्यर्थोत्-  
सन्नपित्ते ज्वरे सदाहभ्रमप्रलापातिसारे वा देयम् । उष्णेन हि  
दाहभ्रमप्रलापातिसारा भूयोऽभिवर्द्धन्ते, शीतेन चोपशाम्य-  
न्तीति ॥ २२ ॥

उष्णपानीयदानं मिथ्योपचारं संशयानः पप्रच्छ । तदाह—अथेत्यादि । यत्  
पप्रच्छ तद् यथा किं नु खल्वित्यादि ।

तमुवाचेति तमग्निवेशम् । ज्वरितस्येत्यादि । ज्वरितस्य नवज्वरिणः ।  
समुत्थानं निदानम् । पाचनार्थं रसदोषपाचनार्थम् । पानीयमुष्णं न तु  
शृतशीतम् । तद्धीत्यादि । तदुष्णं पानीयं पीतं तेषां नवज्वरिणाम् ।  
तथायुक्तमित्यादि । तथा वातानुलोमनादिगुणयुक्तमप्येतदुष्णं पानीय-  
मत्यर्थोत्सन्नपित्ते ज्वरे सदाहादिके वा न देयं भवति । कस्मात् ? उष्णेन  
हीत्यादि । अत्यर्थोत्सन्नपित्त इति वचनादल्पोत्सन्नपित्ते देयम्, तेन  
दाहादयो न भूयोऽभिवर्द्धन्ते इति ख्यापितम् ॥ २२ ॥

आशङ्क्याह—किं न्वित्यादि । शीतसाध्योऽपि धातुः पित्तमुष्णरूपमित्यर्थः । पानीयं यस्मात्  
सर्वज्वरेभ्यो दीयते । तस्मात् पानीयमेवात्र पृच्छति । उत्सन्नपित्ते प्रवृद्धपित्ते :-

भवति चात्र ।

शीतेनोष्णकृतान् रोगान् शमयन्ति भिषग्विदः ।

ये तु शीतकृता रोगास्तैषामुष्णं भिषग्जितम् ॥ २३ ॥

एवमितरेषामपि व्याधीनां निदानविपरीतं भेषजं भवति । यथापतर्पणनिमित्तानां व्याधीनां नान्तरेण पूरणमस्ति शान्तिः, तथा पूरणनिमित्तानां व्याधीनां नान्तरेणापतर्पणमिति । अपतर्पणमपि च त्रिविधं लङ्घनं लङ्घनपाचनं दोषावसेचनञ्चेति । तत्र लङ्घनमल्पवलदोषाणाम्, लङ्घनेन ह्यग्निमारुतवृद्ध्या वातातप-परीतमिवाल्पमुदकमल्पो दोषः प्रशोषमापद्यते । लङ्घनपाचनं तु मध्यवलदोषाणाम् लङ्घनपाचनाभ्यां हि सूर्यसन्तापमारु-ताभ्यां पांशुभस्मावकीर्णैरिव चानतिबहुदकं मध्यवलदोषः

गङ्गाधरः—भवतीत्यादि । शीतेनोष्णकृतानित्यादि । भिषग्विदो वैद्याः । उष्णकृतान् बाह्यहेतुना तूष्णेन कृतान् रोगान् शीतेन भेषजेन शमयन्ति । एवं तेषां व्याख्येयम् ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—एतन्निदग्नेनेन सर्व्वव्याधिपूषसंहरति—एवमितरेषामित्यादि । निदानविपरीतमसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगप्रज्ञापराधपरिणामानां यस्मात् निदाना-ज्जायते यो व्याधिस्तस्य शान्त्यर्थं तन्निदानविपरीतं भेषजं भवति । तद् उदाहरति—तथापतर्पणेत्यादि । पूरणं सन्तर्पणम् । किं नु खल्वपतर्पणमित्यत आह—अपतर्पणमपीत्यादि । अल्पवलदोषाणां लङ्घनमपतर्पणम् । तत्र हेतुलङ्घनेनेत्यादि । लङ्घनपाचनन्त्विति मध्यवलदोषाणां लङ्घनपाचने अप-

न केवलं ज्वर एव शीतोष्णसमुत्थत्वभेदेन उष्णशीतोपचारः, किन्तु सर्व्वत्रैव व्याधावेध-मित्याह—शीतेनेत्यादि । भिषजश्च ते ज्ञानवन्तश्चेति भिषग्विदः ॥ २२ । २३ ॥

चक्रपाणिः—न केवलं शीतोष्णसमुत्थयोरेव परं हेतुविपर्य्ययेण चिकित्सा, किन्त्वपतर्पणादिज-ऽपि हेतुविपरीतेनेत्याह—एवमित्यादि । अपतर्पणसन्तर्पणाभ्याञ्च सर्व्वचिकित्सितं गृहीतम् । न ह्यपतर्पणसन्तर्पणाभ्यां विना अन्यद्विधानान्तरमस्ति चिकित्सायाः, येन सर्व्व एवोपक्रमाः सन्तर्पणापतर्पणभेदा एव । अत एव विशेषज्ञानार्थमपतर्पणभेदानाह—अपतर्पणमित्यादि । लङ्घनपाचनमितिवचनेन यत्र पाचनं क्रियते तत्रावश्यं स्तोकमात्रया लङ्घनं क्रियत इति दर्शयति,

प्रशोषमापद्यते । बहुदोषाणां पुनर्दोषावसेचनमेव कार्यं, न ह्यभिन्ने केदारसेतौ पल्वलाप्रसेकोऽस्ति तद्वदोपावसेचनम् ॥ २४

दोषावसेचनन्त्वन्यद्वा भेषजं प्राप्तकालमप्यातुरस्य नैव-  
विधस्य कुर्यात् । तद् यथा अल्पवाद-प्रतिकारस्याधनस्या-  
परिचारकस्य वैद्यमानिनश्चण्डस्यासूयकस्य तीव्रधर्म्मरुचरेति-  
क्षीणबलमांसशोणितस्यासाध्यरोगोपहतस्य मुमूर्षुलिङ्गान्वितस्य

तपणम् । तत्र हेतुलङ्घनेत्यादि । बहुदोषाणामित्यादि बहुदोषाणां बलवद्-  
व्याधीनामपतर्पणं दोषावसेचनं वमनविरेचनादिकम् । तत्र हेतुर्न ह्यभिन्न  
इत्यादि । यथा हि भिन्ने केदारे पल्वलस्याल्पसरसः प्रसेको भवति न ह्यभिन्ने,  
तद्वदोपावसेचनम् । वमनविरेचनादिना दोषे भिन्ने वहिर्निःसृते शेषः प्रशोष-  
मापद्यते ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—ननु तद्वदोपावसेचनमन्यद्वा भेषजं सर्वेषां किं कुर्यादित्यत  
आह—दोषावसेचनन्त्वन्यत्वादि । दोषावसेचनमन्यद्वा किमपि भेषजं प्राप्त-  
कालमपि कर्तव्यकालप्राप्तमपि खल्वेवंविधस्य वक्ष्यमाणरूपस्यातुरस्य न  
कुर्यात् । कस्य कस्येत्यत आह—तद् यथेति । अल्पवादप्रतिकारस्य यो  
जनो जनैः सहाल्पवादे प्रतिकारानर्हं स्वभावात् तस्य प्रकारो यस्य स  
चेदातुरः स्यात् तदा तस्योपधं दोषावसेचनमन्यद्वा न कुर्यात् । स हि  
चिकित्सायां छलं गृहीत्वा वैद्यस्यायशःकीर्तनं करोति । एवमधनस्य  
चापचारकस्य च वैद्यमानिनश्च । यः स्वयं चिकित्सकाभिमानी स वैद्यं  
प्रत्येवमाह—नेदं भेषजमत्रोपयुक्तं नेदं पथ्यमित्येवमादिदूषणवाक्यम् । तथा  
चण्डस्य क्रोधनस्वभावस्य च वैद्यानामसूयकस्य च तीव्रधर्म्मरुचिजनस्य ।  
अतिक्षीणबलमांसादेश्च तथैवासाध्यरोगोपहतस्य मुमूर्षुलिङ्गान्वितस्य च

पाचनकाले हि यदि वृंहणं क्रियते तदा वृंहणेनाग्नेः प्रतिकूलेन पाचनं न स्यादित्यर्थः । अच-  
कीर्णैरिवेत्यत्र 'इव'शब्दोऽनतिग्रहदकमिवेत्येवंरूपो ज्ञेयः । अन्यद्वेति लङ्घनादि वृंहणादि च ॥ २४

चक्रपाणिः—अनपवादप्रतीकारो वाच्यप्रतीकारः, अधनस्यानुपकरणत्वेन न चिकित्सा पार्थ्यते  
कर्तुमित्यर्थः, वैद्यमानित्यभिमानाद् वैद्योपदेशं न करोति ; तीव्रधर्म्मरुचेः प्रतिक्रियायामधर्म्मो

चेति । एवंविधं ह्यातुरमुपचरन् भिषक् पापीयसाऽयशसा  
योगम् ऋच्छतीति ॥ २५ ॥

भवति चात्र । ०

तदात्वे चानुबन्धे वा यस्य स्यादशुभं फलम् ।  
कर्मणस्तत्र कर्तव्यमेतद् बुद्धिमतां मतम् ॥ २६ ॥

तत्र श्लोकाः ।

पूर्वरूपाणि सामान्या हेतवः सखलज्जराः ।  
देशोद्ध्वंसस्य भेषज्यं हेतूनां मूलमेव च ॥

भेषजं न कुर्व्यादिति । कस्मादिति ? अत आह—एवंविधमित्यादि । हि यस्मात्  
एवंविधमल्पवादप्रतिकारस्वभावादिकमुक्तमातुरमुपचरन् चिकित्सन् भिषक्  
पापीयसा लोके निन्दाजनकेनायशसा युक्तो भवति ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—भवतीत्यादि । तदात्वे चेत्यादि । तदात्वे तत् कर्मकरणकाले ।  
अथानुबन्धे उत्तरकालं वा यस्य कर्मणः फलमशुभं स्यात् तत् कर्म न कर्तव्य-  
मिति बुद्धिमतां मतमिति ॥ २६ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थमुपसंहरति—तत्र श्लोका इति । पूर्वरूपाणीति  
प्रथमावध्युपक्रमं कृत्वा दृश्यन्ते हीत्यादिना जनपदोद्ध्वंसनस्य पूर्वरूपाणि ।  
अपि खित्यारभ्य देशोद्ध्वंसस्य सामान्या हेतवस्तेषां लक्षणानि च । विगुणे-  
ष्वित्यारभ्य देशोद्ध्वंसस्य भेषजम् । अथ खल्वित्यादिना हेतूनां वाय्वादीनां  
भवति, न च चिकित्सा सिध्यत्यधर्मप्रतिबन्धात्, मुमुक्षुलिङ्गान्वितस्वेति रिष्टयुक्तस्य, पापीयसेति  
पापहेतुना पापजनकेनायशसा ॥ २५ ॥

चक्रपाणिः—अनुबन्धे चेत्युत्तरकालम् । संग्रहे पूर्वरूपाणीति नक्षत्रादिविकारः, सखलक्षणाः

अधिकमिदं श्लोकद्वयं चक्रपाणिंसममतं यथा—

अल्पोदकद्रुमो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः ।

ज्ञेयः स जाह्नलो देशः स्वल्परोगतमोऽपि च ॥

प्रचुरोदकवृक्षो यो निवातो दुर्लभातपः ।

अनूपो बहुदोषश्च समः साधारणो मतः ॥

चक्रपाणिकृता टीका यथा—केचिदल्पोदकद्रुमो यस्त्वित्यादिग्रन्थमत्र पठन्ति ।

प्राग्विकारसमुत्पत्तिरायुषश्च क्षयक्रमः ।  
 मरणं प्रति भूतानां कालाकालविनिश्चयः ॥  
 यथा चाकालमरणं यथा युक्तञ्च भेषजम् ।  
 सिद्धिं यात्यौषधं येषां न कुर्याद् येन हेतुना ॥  
 तदात्रेयोऽग्निवेशाय निखिलं सर्वमुक्तवान् ।  
 देशोद्ध्वंसनिमित्तीये विमाने मुनिसत्तमः ॥ २७ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतौ विमानस्थाने जनपदोद्ध्वंसनीयविमानं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

मूलम् । प्रागेवानेकेत्यादिना सर्वविकाराणां प्रागुत्पत्तिरायुषः क्षयक्रमश्च । किं नु खल्वित्यादिना भूतानां मरणं प्रति कालाकालविनिश्चयः । ततः परमित्यादिना भूतानां कालाकालमरणम् । चकाराञ्ज्वरे चोष्णजलं शीतेनोष्णेत्यादिना भेषजं यथायुक्तं सिद्धिं याति तत्प्रकारः । दोषावसेचनन्वित्यादिना येषां भेषजं न कुर्यात् तत् । एवंविधमित्यादिना येन हेतुना तेषां भेषजं न कुर्यात् तत् ॥ २७ ॥

अध्यायं समापयति । अग्रीत्यादि ।

इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ तृतीय-  
 स्कन्धे विमानस्थानजल्पे जनपदोद्ध्वंसनीयविमान-  
 जल्पाख्या तृतीया शाखा ॥ ३ ॥

सस्वविकृतिलक्षणाः, तच्च लक्षणम् “तत्र वातमेवंविधम्” इत्यादिना प्रोक्तम् । ‘यथा युक्तञ्च भेषजं सिद्धिं याति’ इत्यनेनोष्णपानीयदानोपपत्त्या सर्वं संगृहीतम् ॥ २६।२७ ॥

इति चरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्वेददीपिकायां विमानस्थान-  
 व्याख्यायां जनपदोद्ध्वंसनीयविमानं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथातस्त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयं विमानं व्याख्यास्यामः

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति, तद् यथा—उपदेशः  
प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति ॥ २ ॥

तत्रोपदेशो नामाप्तवचनम् । आप्ता ह्यवितर्कस्मृतिविभाग-

गङ्गाधरः—अथैवं रसादिविमानजनपदोद्ध्वंसविमाने उक्ता व्याधिज्ञान-  
हेतुप्रमाणरूपं त्रिविधं रोगविशेषविज्ञानीयं विमानमाह—अथेत्यादि । अध्यायस्य  
आदौ निदिष्टे त्रिविधं रोगविशेषविज्ञानं भवतीति वाक्यार्थे त्रिविधं रोग-  
विशेषविज्ञानमित्यर्थमधिकृत्य कृतो विमानाध्यायः । इति ग्रन्थेऽर्थे छः ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—त्रिविधमित्यादि । रोगेति विषमधातवो रोगास्तज्जाश्च ज्वरा-  
दयो देहादिकार्यद्रव्यवत् । रोगाणां ज्वरादीनां विशेषा वातादिजत्वादिना  
जातानां रूपाणि, तेषां विज्ञानं विशेषेण ज्ञायन्ते प्रमीयन्तेऽनेन तद्विज्ञानं  
प्रमाणम् । तद् द्विविधमप्राप्यार्थग्रहणलक्षणं प्राप्यार्थग्रहणलक्षणञ्चेति । तत्पुन-  
स्त्रिविधं तदाह तद् यथेति ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—तत्रेति । आप्ता हीत्यादि । हि यस्मात् । अवितर्केण वितर्क  
ऊहापोहात्मकस्तं वितर्कं विना सदैवाविच्छेदेन युक्तज्ञानेन त्रैकालिकानां

चक्रपाणिः—जनपदोद्ध्वंसनीयेऽविशेषेण सर्वेऽपि रोगा उक्ताः, तेषां विशेषो यथा ज्ञातव्य-  
स्तदुपदेष्टुं त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयोऽभिधीयते ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—रोगाणां विशेषो यथा वक्ष्यमाणो ज्ञायते येन, तद्रोगविशेषविज्ञानमुपदेश-  
प्रत्यक्षानुमानरूपं प्रमाणत्रयम् । अत्र तु युक्तेरनुमानान्तर्गतत्वादेव न पृथक्करणम् । एतच्च  
प्रमाणत्रयं कचिद्रोगे मिलितम्, कचिद्द्वयम् कचिदेकं परीक्षायां वर्तते । येन, नान्तरे वद्वि-  
मान्यादौ प्रत्यक्षमवश्यं व्याप्तिरिति ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—तिस्रैः पण्ये प्रथममनुमानादिलक्षणाभ्युक्तानि, पुनरिह “तत्रोपदेशो नाम”  
इत्यादिना आप्तोपदेशादिलक्षणाभिधानं प्रकरणागतत्वात् क्रियते । प्राकरणिको ह्यर्थोऽनुच्यमानो



विदो निष्प्रीत्युपतापदर्शिनः । तेषामेवंगुणयोगाद् यद्वचनं तत् प्रमाणम्, अप्रमाणं पुनर्मत्तोन्मत्तमूर्खवक्तृदृष्टादृष्टवचनमिति \* । सव्वेषामेव भावानां तत्त्वेन स्मृत्या विभागं सदसद्रूपं विदन्ति ये ते अवितर्क-स्मृतिविभागविद आप्ता इति चेत् तदा देवग्रहजुष्टा अप्यवितर्कस्मृतिविभाग-विदः किमाप्ता इत्यत आह—निष्प्रीत्युपतापदर्शिन इति । प्रीत्युपतापाभ्यां निगता निष्प्रीत्युपतापा ये द्रष्टुं शीलवन्तस्ते त्वाप्ताः । देवग्रहजुष्टा उपतप्ता देवग्रहेण यदुच्यते त्रैकालिकं ते तद्वदन्ति । ये चावितर्कस्मृतिभ्यां प्रीत्या वदन्ति ते च नाप्ताः । ईदृशास्तु पुरुषास्ते भवन्ति ये तपोज्ञानबलेन रज-स्तमोभ्यां निर्मुक्तास्त्रैकालिकाव्याहतनिर्मलज्ञानवन्तः स्युः । एवमुक्तरूप-गुणयोगात् तेषां वाङ्मनसाभ्यां त्रैकालिकार्थस्य प्राप्यग्रहणाद् यद्वचनं तत् प्रमाणमेव न त्वप्रमाणम् । रजस्तमोविनिर्मुक्तत्वेनानृतवक्तृत्वाभावात् । वाङ्मनसा-भ्याम् अलौकिकार्थस्याप्राप्यग्रहणादलौकिकार्थवचनमात्रमर्थप्राप्त्यभावात् सत्य-मपि न प्रमाणं लौकिकार्थोपदेशो हि प्रमाणम् अत ईश्वरादिरप्रमेय उक्तः । ननु कस्य वचनमप्रमाणमित्यत आह—अप्रमाणं पुनरित्यादि । मत्ता आसवमद्यादि-कृतमदाभिहताः । उन्मत्ता उन्मादादिव्याधिभिर्नुमत्ताः । मूर्खा वेदादिशास्त्रा-ध्ययनादिभिर्जनितावितर्कस्मृतिविभागज्ञानाद्धीनास्ते च ते वक्तारश्चेति ते मत्तोन्मत्तमूर्खवक्तारस्तेषां दृष्टादृष्टयोर्वस्तुनोर्विषये यद्वचनं तदप्रमाणं तेषां दृष्टविषये वचनमपि न प्रमाणं यद्धि तैर्दृष्टं तदुपदेशे तत्त्वतो वक्तुमशक्तत्वात् मत्तत्वादुन्मत्तत्वान्मूर्खत्वाच्च । एतच्चाप्तवचनमलौकिकार्थानामप्राप्यार्थग्रहण-न्यूना भवति । अवितर्कतयादि । वितर्कः कथन्ताऽनिश्चितज्ञानमिति यावत् । स्मृतिः स्मरण-ज्ञानम् । विभाग एकदेशः । एतद्विपर्ययातिशयेनानुभवेन च कात्स्न्येन च ये भावान् जानते, तेऽवितर्कस्मृतिविभागविदः ; वितर्कवेदी तु नाप्तः प्रतिपाद्यवस्त्वशेषविशेषाविज्ञानात् । स्मृति-ज्ञानञ्च यद्यपि प्रमाणमूलमेव, तथापि वर्तमानलक्षणे स्मृतिज्ञानविषयार्थस्य नावश्यंविद्यमानतेति न तत् प्रमाणमिति भावः । किंवा, स्मृतिज्ञानं स्मृतिशास्त्रजं ज्ञानं गणितज्ञानञ्च । एतच्च ज्ञानद्वयं साक्षादर्थदर्शकं इरवबोधेन मिथ्याज्ञानत्वसम्भवादप्रमाणमपीति नोपादेयम् । अथ सम्यग्ज्ञानवन्तोऽपि रागादिवशादन्यथा व्याहरन्तीत्याह—निष्प्रीत्युपतापदर्शिन इति, निष्प्रीत्या निरुपतापेन च द्रष्टुं शीलं तेषां ते तथा । एतेन यथार्थदर्शी निर्दोषश्चाप्तो भवतीति उक्तं भवति । एवमुक्तञ्चाप्तत्वं कस्यचिद् ब्रह्मादेः सर्वत्रैव भवति । लौकिकस्य तु यस्मिंश्चेव तु विषये वितर्कादि न भवति, तत्रैवोपदेशः प्रमाणमिति ज्ञेयम् । अप्रमाणं नावश्यं प्रमाणतयाऽव-

प्रत्यक्षन्तु नाम खलु तद् यत् स्वयमिन्द्रियैरात्मना ॐ चोप-  
लभ्यते ।

लक्षणमलौकिकेषु न प्रमाणम् । योगिभिर्हि योगे प्रज्ञया प्राप्यालौकिकार्थं  
उपदिश्यते वाग्भिर्वाप्यैव । तस्मादलौकिकार्थवचनं तेषां सत्यमपि न  
प्रमाणम्, प्राप्याथेग्रहणलक्षणं हि ज्ञानं प्रमाणम् । लौकिकार्थानान्तु योगेन  
प्रज्ञया प्राप्य पुनर्वाङ्मनसाभ्याश्च प्राप्य योगिभिवेचनं प्रमाणमिति । अलौ-  
किकार्थप्रत्यक्षन्तु योगजं प्रज्ञया प्राप्यैव तदलौकिकप्रमाणमेवेति गौतमादिभि-  
लौकिकप्रमाणवक्त्रभिः प्रमाणेषु योगजप्रत्यक्षं नोक्तमिति । विस्तरेण  
तिस्रैः पणीये व्याख्यातम् ।

क्रमिकं प्रत्यक्षं लक्षयति—प्रत्यक्षन्वित्यादि । तिस्रैः पणीये प्रागुक्तम् ।  
आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्त्तते । व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं  
सा निरुच्यते ॥ इति । तदिह व्याख्यानपसङ्गेन पुनरुच्यते । प्रत्यक्षन्तु खलु  
तद् यत् स्वयमिन्द्रियैरात्मना चोपलभ्यते । अत्र तु इन्द्रियैरिति पृथग्वचनात्  
ख्यापितं श्रवणादिपञ्चबुद्धीन्द्रियप्रत्यक्षं प्रमाणम् स्वतन्त्रे पञ्चबुद्धीन्द्रिया-  
णीत्युक्तेः । आत्मनेति आत्मशब्देन बुद्धिः बुद्ध्याश्रयत्वान्मनश्चेति द्वयं  
विवक्षितम् । स्वयमितिपदेन त्रिधा आत्मा विवक्षितः । आत्मनो नित्यं  
बुद्धियोगाद् बुद्धिरपि त्रिविधा । यत्पदेन शब्दादयः पञ्चेन्द्रियार्थाश्चिन्त्य-  
विचार्यार्था ह्यधिकं मनोऽर्थः । बोद्धव्यं सुखादिकं बुद्धेरथेवेति सर्वं  
विवक्षितम् । तत्र स्वयं खलु जागरितस्थानेन वैश्वानरेणात्मना स्वप्नस्थानेन  
तैजसेनात्मना सुषुप्तिस्थानेन प्राज्ञेनात्मना पञ्चभिरिन्द्रियैरेतत् सन्निकृष्टं  
वंस्तूपलभ्यते मनसा यदुपलभ्यते बुद्ध्या च यदुपलभ्यते तदुपलब्धि-  
ज्ञानं प्रत्यक्षम् । तेन सप्तविधं प्रत्यक्षं भवति । रोगभिपगुजितीयेऽपि वक्ष्यते ।  
आत्मना चेन्द्रियैश्च यत् स्वयमुपलभ्यते तत् प्रत्यक्षं तत्रात्मप्रत्यक्षाः सुख-  
दुःखेच्छादयः शब्दादयः पुनरिन्द्रियप्रत्यक्षा इति । कणादेनापुत्राक्तम् आत्म-  
धार्यते रागादिदुष्टत्वादित्यर्थः । दुष्टश्चायमदुष्टश्चेति दुष्टादुष्टः । तेन पिता हि पुत्रस्य दुष्टोऽपि  
अदुष्टत्वादास एव भवति । किंवा दुष्टो वज्रकः ।

स्वयमिन्द्रियैर्मनसा चेत्यनेन यदात्मनेन्द्रियैश्चक्षुरादिभिरव्यवधानेन गृह्यते रूपादि,  
तत् प्रत्यक्षमिति वाच्यप्रत्यक्षं गृह्णाति । मनसा चेत्यनेन मनसाऽव्यवधानेन यदुपलभ्यते सुखादि,

गुणानां सुखादीनामात्मप्रत्यक्षं न मनःप्रत्यक्षम् । तद् यथा वैशेषिके सूत्रे द्वे ।  
 परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणा मनसो गुणाः । अप्रत्यक्षत्वाच्च ।  
 व्याख्यातश्च । बुद्धीच्छादयो ये प्रत्यगात्मगुणा न ते मनसो गुणाः । कस्मात् ?  
 परत्र समवायात् । प्रत्यगात्मनः परत्र समवायात् । परस्याव्यक्ताख्यस्य  
 क्षेत्रज्ञस्यात्मनो गुणा एव सुखादयः प्रत्यगात्मन्यभिव्यक्ताः करणानां बुद्धिमनः-  
 प्रभृतीनां योगात् प्रत्यगात्मनः परत्राव्यक्ते समवायात् । अस्तु तर्हि मन आत्म-  
 संयोगान्मनस एव गुणास्तेऽभिव्यज्यन्ते इति चेन्न प्रत्यक्षत्वाच्च । प्रत्यगात्म-  
 प्रत्यक्षा हि बुद्धिसुखादय इति । अस्तु चेन्न मनःप्रत्यक्षा बुद्धिसुखादय इति  
 चेत् न, अप्रत्यक्षत्वात् । मनो हि बुद्ध्यादीन् गुणान् न जानातीति मनः-  
 प्रत्यक्षत्वाभावान्नात्मगुणा मनसो गुणा इति । गौतमेनापि सुखादेरात्मप्रत्यक्षम्  
 उक्तं फलपरीक्षायाम् । तत्र सूत्रम् । प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेध इति । तत्र  
 वात्स्यायनभाष्यम् । प्रीतिरात्मप्रत्यक्षत्वादात्माश्रयेति । तस्मात् प्रीतेरात्म-  
 गुणत्वाप्रतिषेध इति । तथा च । सुषुप्तिस्थान आत्मा प्रज्ञया बुद्धरोपाहितः  
 खल्वव्यक्ताख्यः स खलु स्वयं सुषुप्तौ समाधौ जीवन्मुक्तौ च प्रज्ञया शुद्ध-  
 सत्त्वात्मकमहत्तत्त्वाख्यबुद्ध्या परमात्मानं तुरीयं शिवं रसं लब्धानन्दमुप-  
 लभते । तदुपलब्धिस्तत्र तत्रात्मप्रत्यक्षम् । सा प्रज्ञा बुद्धिस्त्रिगुणात्मकस्तु  
 महान् तस्यात्मनो मन उक्तं साङ्ख्ये कपिलेन । तन्मनः । इति सूत्रम् । तच्च  
 न देवदत्तादिपुरुषाणां मनस्तस्मान्न मानसप्रत्यक्षम् । तेनोपलब्धिज्ञानेन  
 प्रत्यक्षेण सा च प्रज्ञा प्रत्यक्षा भवति । एवं तदव्यक्तात्मना त्रिगुणात्मकेन  
 महत्तत्त्वेन मनसाहमिति मन्यत इति तन्महान्तं विकुर्वाण आत्माहङ्कारम्  
 अविद्याख्यां बुद्धिं सृजति । तस्मादहङ्काराज्जातानि महाभूतानि पञ्चानु-  
 प्रविश्य तैजस आत्मांशेन भवति । तदाहङ्कारिकदशेन्द्रियमनोऽर्थपञ्चकपञ्च-  
 प्राणयुक्तः स्वप्नस्थानः स्वप्ने सुखदुःखादिकमुपलभते तथाहङ्कारबुद्ध्या तदुप-  
 लब्धिः स्वप्ने प्रत्यक्षम् । स चैव तैजस आत्मा देवनरादिगोनिषु शुक्रशोणितादि-  
 बीजसंयोगमुपेत्य पञ्चमहाभूतानि सृष्ट्वा तदुपाहितः सन् वैश्वानरो नाम  
 जागरितस्थान आत्मा भवति तैर्भूतैराहङ्कारिकदशेन्द्रियानुप्रविष्टैरेकैकाधिकै-  
 र्जातानि भौतिकानि गृहीत्वा तथा त्रीन् गुणान् सृष्ट्वाहङ्कारिकमनोऽनुप्रविष्ट-  
 तत्त्रिगुणात्मकं सत्त्वगुणबहुलं स्थूलमनो गृहीत्वा तथार्थान् शब्दादीन् पञ्च  
 स्थूलान् प्राणांश्च पञ्च गृहीत्वा चतुर्विंशतिको भवति । स तु जागरणावस्थायां

स्थूलान् विषयान् सुखादीन् स्थूलयाहङ्कारिकया बुद्धैर्बोपलभते । इत्यात्म-  
 प्रत्यक्षा बुद्धिसुखदुःखेच्छादयः । अत्रादिशब्दे मनःप्रत्यक्षाश्चिन्त्यादयोऽर्थाः ।  
 तत्र सुषुप्तिस्वप्नयोः सन्धौ त्वात्मा गृहत्तत्त्वेन मनसा यच्चिन्तनीयं तत्त्वं विचार्य-  
 श्चोपलभते, तन्मनःप्रत्यक्षम् । स्वप्नस्थानस्तैजसो यदाहङ्कारिकेण मनसोपलभते  
 चिन्तनीयादिकं तन्मनःप्रत्यक्षम् । जागरितस्थानो वैश्वानरोऽप्यात्मा स्वयम्  
 आत्मकृतसत्त्वादिगुणमयेन स्थूलमनसा यच्चिन्तनीयादिकमुपलभते तल्लोके मनः-  
 प्रत्यक्षमिति । स्वप्नसुषुप्तयोः सन्धौ चाहङ्कारिकपञ्चेन्द्रियपञ्चार्थाभावान्नास्ति  
 चेन्द्रियप्रत्यक्षम् । अथ स्वप्नस्थानस्तैजसो यद्यदाहङ्कारिकेण श्रोत्रादिना  
 स्वप्ने शब्दादीनुपलभते तदिन्द्रियप्रत्यक्षं स्वप्ने । जागरितस्थानो वैश्वानर  
 आत्मा स्वयं बाह्ये लोके सन्निकृष्टं यच्छब्दादिकं भौतिकेन श्रोत्रादिनेन्द्रियेण  
 उपलभते तदिन्द्रियप्रत्यक्षम् । तत्रेन्द्रियाययोः सन्निकर्षं उक्तस्तिस्त्रैपणीये ।  
 अतिविप्रकर्षातिसन्निकर्षमनोऽनवस्थानकरणदौर्बल्यतीतसौक्ष्म्याभिभवावरण-  
 समानाभिहारवज्जं सान्निध्यमिति । तत्र श्रोत्रेन्द्रियेण समानयोनिमर्थं शब्दं  
 तद्विपरीतञ्च शब्दस्य निवृत्त्याख्यं गुणमुपलभते न तु शब्दवद्द्रव्यं तत्स्वभावात् ।  
 स्पर्शनेन्द्रियेणात्मा समानयोनिमर्थं स्पर्शं शीतोष्णस्निग्धरुक्षखरमसृणविशद-  
 पिच्छिलस्थूलसूक्ष्मसान्द्रद्रवमृदुकठिनादिकं तद्विपरीतञ्चास्पर्शमप्रतीघातमुप-  
 लभते तत् समवायात्तद्वच्च द्रव्यमाकाशादिकमिति । चक्षुरिन्द्रियेणात्मा स्वयं  
 समानयोनिकमर्थं रूपं लोहितशुक्लकृष्णादिकं तद्विपरीतञ्चारूपमाकाशस्य  
 तद्रूपारूपसमवायात् तद्वद्द्रव्यमरूपमाकाशमुपलभते न त्वरूपं वायुं तत्-  
 स्वभावात् इति । सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वकर्मणि  
 रूपवद्द्रव्यसमवायाच्चाक्षुषाणीति रूपहीनेष्वचाक्षुषाणीति कणादः । एवं  
 रसनेन्द्रियेणात्मा स्वयं समानयोनिकमर्थं रसं मधुरादिकं सविपरीतमुपलभते,  
 तत्समवायाच्च तद्वद्द्रव्यं घ्राणेन्द्रियेणात्मा स्वयं समानयोनिकमर्थं गन्धं सौरभा-  
 दिकं सविपरीतमुपलभते, तत्समवायाच्च तद्वद्द्रव्यमिति साक्षात् परम्परया  
 पञ्चेन्द्रियप्रत्यक्षं व्याख्यातं यत् प्रमाणमुच्यते । इत्येतदात्मप्रत्यक्षादिकं सप्तविधं  
 प्रत्यक्षं प्राप्यार्थग्रहणलक्षणं द्विविधं क्षणिकं निश्चयात्मकञ्च । तत्र क्षणिकमप्रमाणं  
 निश्चयात्मकन्तु प्रमाणम् । तत्र यत् पञ्चेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्पन्नमात्ममनः-  
 संयोगजपूर्वकमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षप्रमाणं  
 पञ्चविधमिन्द्रियज्ञानम् । आत्मप्रत्यक्षन्तु यदप्राप्य ग्रहणमाप्नोषदेशाद् भवति  
 तल्लौकिकप्रमाणमप्यलौकिकेषु न प्रमाणमप्राप्त्यर्थत्वात् । मानसप्रत्यक्षन्तु

अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः ।

त्रिविधेन खल्वनेन ज्ञानसमुदयेन पूर्वं परीक्ष्य रोगं सर्वथा सर्वमेवोत्तरकालमध्यवसानमदोषं भवति । न हि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमुत्पद्यते । त्रिविधे त्वस्मिन् ज्ञानसमुदये पूर्वमाप्तोपदेशाद्धि ज्ञानम् । ततः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां सर्वं न प्रमाणं तस्माद् यत् प्रमाणं तस्य प्रत्यक्षसंज्ञामुत्सृज्यापवदत्यनुमानसंज्ञाम् ।

अनुमानं खल्वित्यादि । तत्रापवादविषये कचिदुत्सर्गोऽपि प्रवर्तते । तेन प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालञ्चानुमीयत इत्यत्र प्रत्यक्षपदेन सर्वप्रमाणं विवक्षितमिति । तदेवेह पुनः प्रकारान्तरेण भाष्यते । तर्को युक्त्यपेक्ष इति । युक्त्यपेक्षस्तर्कोऽनुमानं तर्कापेक्षस्तर्कस्तिस्त्रैपणीये युक्तिरेव तर्क उक्तः, बुद्धिः पश्यतीत्यादिना । गौतमेनाप्युक्तम् । अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तिः तत्त्वज्ञानाथंमूहस्तर्क इति । व्याख्यातञ्चैतत् पूर्वम् । तर्कापेक्षतर्कस्यानुमानत्ववचनात् । केवलतर्कस्याप्तोपदेशे त्वाप्तस्येवानुमानेनान्तरीयकत्वेन प्रामाण्ये सिद्धे प्रमाणान्तरत्वं न भवति न चाग्रासाण्यम् । उपमानसम्भवार्थापत्त्यभावानामत्रानुमानेऽन्तर्भावान्नासमग्रवचनस्यैतिह्यस्याप्तोपदेशेऽन्तर्भावश्च ।

ननु त्रिविधविज्ञानेनात्र रोगविशेषज्ञानं किमर्थमुक्तमुक्तञ्च निदानादिर्यजज्ञानं ततो निर्व्वाहादित्यत आह—त्रिविधेनेत्यादि । ज्ञानसमुदयेन न त्वन्यतमव्यतिरेकेण । सर्वं गुरुमुखात् सर्वथा सर्वरोगं ज्ञात्वा कर्मकाले प्रत्यक्षानुमानाभ्यां सर्वथा सर्वं रोगं निदानादिभिः परीक्ष्य चरमकालमध्यवसानमदोषं भवति । कस्मात् ? न हीत्यादि । किञ्चिदेव प्रत्यक्षेण किञ्चिदेवानुमानेन ज्ञायते न तु कृत्स्नमेकेन ज्ञातुं शक्यते । त्रिविधे तु ज्ञानसमुदये खलु कृत्स्नं साध्यत्वादिव्रातजत्वादिवलवदादिरूपेण ज्ञानं भवति, न तु प्रत्यक्षेणान्यैर्वा । आप्तोपदेशेन पूर्वं हि रोगतत्त्वं बुद्ध्वा ततः क्रियाकाले

तच्च मानसं प्रत्यक्षं गृह्णाति । तर्कोऽप्रत्यक्षज्ञानम् । युक्तिः, सम्बन्धोऽविनाभाव इत्यर्थः । तेनाविनाभावजं परोक्षज्ञानमनुमानमित्यर्थः ।

ज्ञानसमुदायेनेति । ज्ञानसमुदायः प्रमाणसङ्घातस्तेन समुदायेन 'अयमेव रोगः' एवम्भूतनिश्चयोऽध्यवसानम् । त्रिविधे त्वित्यादि । ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं प्रमाणम् । प्रथममाप्तोप-

परांक्षोपपद्यते । किं ह्यनुपदिष्टं ॐ पूर्वं यत्तत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां  
परीक्षमाणो विद्यात् । तस्माद् द्विविधा परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षम्  
अनुमानञ्च । त्रिविधां वा सहोपदेशेनेच्छन्ति बुद्धिमन्तः ॥ ३ ॥

† रोगमेकैकमेवंप्रकोपणमेवंयोनिम् ‡ एवमात्मानमेवमधि-

पुनरातुरगतानां शब्दादीनां प्रत्यक्षेण रसानान्तु अनुमानेन जाटराग्न्यादीना-  
ञ्चानुमानेन परीक्षोपपद्यते, तत् कथमाप्तोपदेशादेरैकैकं कृत्स्नज्ञानं भवतीति  
भावः । ननु कस्मादाप्तोपदेशस्य ज्ञानहेतुत्वं क्रियाकाले हि प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव  
परीक्ष्यते इत्यत आह—किमित्यादि । हि यस्मात् पूर्वमाप्तोपदेशेनानुपदिष्टं  
भावं ततः परं प्रत्यक्षानुमानाभ्यां किं विद्यादपि तु न विद्यात् । तस्मात् पूर्वम्  
आप्तोपदेशाज्ज्ञानं ततः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षोपपद्यते । तस्माद् द्विविधा  
परीक्षा क्रियाकाले आतुराणां व्याधेरानवतां प्रत्यक्षमनुमानञ्च । तयोराप्तोप-  
देशपूर्वकत्वात् क्रियाकालिकत्वाच्च पृथगुपादानम् । आप्तोपदेशस्य तु तयो-  
रादितात् क्रियाकाले स्मृतरूपत्वाच्च पृथगुपादानं त्रिविधा वेत्यादिना कृतम् ॥ ३

गङ्गाधरः—नन्वाप्तोपदेशात् कीदृशं ज्ञायते इत्यत आह—रोगमेकैकमित्यादि ।  
एकैकं प्रत्येकं रोगं ज्वरादिकम् एवंप्रकोपणमित्येवं निदानम् एवंयोनिं  
वाताद्येकद्वित्रादिप्रकृतिम् एवमात्मानं शीतात्मकं वोष्णात्मकमेवमादि ।

देशो व्याधिं बोधयति, ततश्चाप्तोपदिष्टं व्याधिं प्रत्यक्षानुमानाभ्यां यथोक्तलिङ्गादिपरीक्षा निश्चिनोति,  
आगमानुपदिष्टे च व्याधिं अत्रैव ह्येव न प्रत्यक्षेणानुमानेन च व्याधिसुपलभत इत्याह—किं  
ह्यनुपदिष्ट इत्यादि । एवं मन्यते—व्याधिविशेषास्तावद् दूरधिगमनीया नोपदेशमन्तरेण शक्या  
विज्ञानुम् । येन अधिगतवैद्यकशास्त्राः प्रतिपादयन्त्येव व्याधिविशेषान् । तस्माद्वागमेन ये  
व्याधीनां हेत्वादिविशेषाः प्रतिपादितास्तान् प्रत्यक्षानुमानाभ्यामुपलभमानो व्याधिं निश्चिनोति,  
अनुपदेशवांस्तानुपलभमानोऽपि हेत्वादिविशेषानशिक्षितवत्कुपरीक्षको यथा रत्नानां विशेषं  
पश्यन्नपि नावधारयति विशेषमिति भावः । ज्ञानवतामित्याप्तोपदेशवताम् । त्रिविधां वेत्यनेन,  
व्याधिपरीक्षासमये ह्याप्तोपदेशोऽपि व्याप्रियते तथा दूरधिगमस्थानसंश्रयादिप्रतिपत्तौ कोष्ठमृदु  
दारुणत्वादिपरीक्षायाञ्चानुरवचनरूपाप्तोपदेशोऽपि व्याप्रियत इति दर्शयति ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—तत्रेत्यादिना आप्तोपदेशमाह । प्रकोपणं वायो रुक्षत्वादिहेतुः । योनिर्वातादयः ।

\* अनुपदिष्टे इति वा पाठः ।

† तत्रेदमुपदिशन्तीत्यधिकः पाठः चक्रसम्मतः ।

‡ एवमुत्थानमित्यधिकः पाठो दृश्यते कचित् ।

ष्ठानमेवंवेदनमेवंसंस्थानम् एवंशब्दस्पर्शरूपरसगन्धमेवमुपद्रवमेवं  
वृद्धिस्थानक्षयान्वितमेवमुदकमेवंनामानमेवंयोगं विद्यात् । तस्मिन्  
इयं प्रतीकारार्था प्रवृत्तिरथवा निवृत्तिरित्युपदेशाज्ज्ञायते ॥ ४ ॥

प्रत्यक्षन्तु खलु रोगतत्त्वं बुभुत्समानः सर्वैरिन्द्रियैः सर्वान्  
इन्द्रियार्थानातुरशरीरगतान् परीक्षेतान्यत्र रसज्ञानात् । तद-  
यथा—अन्त्रकूजनं सन्धिस्फुटनमङ्गलीपर्वणां स्वरविशेषांश्च ये  
चान्येऽपि केचिच्छरीरोपगताः शब्दाः स्युस्तान् श्रोत्रेणैव  
परीक्षेत ।

वर्णसंस्थानप्रमाणच्छायाशरीरप्रकृतिविकारौ चक्षुर्वैषयि-  
काणि यानि चान्यानि कानि च, तानि चक्षुषैव परीक्षेत ।  
रसन्तु खल्वातुरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकमप्यनुमानादवगच्छेत् ।  
न ह्यस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणमुपपद्यते । तस्मादातुरपरिप्रश्नेनैव  
आतुरमुखरसं विद्यात् । यूकोपसर्पणेन त्वस्य शरीरवैरस्यम्  
एवमधिष्ठानं शरीरं वा मानसं वा तत्रापि शरीरावयवविशेषाधिष्ठानमेवं-  
स्थानं वाह । एवंशब्दादिकमेवमुदकमेवंविधौत्तरकालिकफलकम् एवंयोगम्  
एवंविधप्रयोगयोग्यम् । इत्याप्तवचनाज्ज्ञानोपदर्शनम् ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—प्रत्यक्षन्तित्यादि । प्रत्यक्षं परीक्षेतेत्यन्वयः । वर्णेत्यादि ।  
यद्यपि रूपमेव चक्षुरर्थस्तथापि वर्णाश्रितत्वेन तदुपलक्षितत्वात् संस्थानादीनाम्  
अपि चक्षुरर्थत्वं बोध्यम् एवं रसगन्धस्पर्शाश्रयाणामपि बोध्यम् । चक्षुषो बहु-  
विषयत्वात् प्राक् स्पर्शनोपदेशादित उपदेशः । न ह्यस्य प्रत्यक्षग्रहणमुपपद्यते-  
ऽनौचित्यादिति शेषः । ननु कुतोऽनुमीयेत कस्य रस इत्यत आह—

आत्मा स्वभावः ; यथा—रोहिण्या दारुणत्वं, सन्यासस्य शीघ्रोपक्रमणीयत्वादि । अधिष्ठानं  
शरीरमवयवा मनश्च । इयं प्रतीकारार्था प्रवृत्तिः ; यथा—ज्वरे लङ्घनपाचनाद्यर्था प्रवृत्तिः ।  
निवृत्तिः प्रतीकारार्था ; यथा—नवज्वरे दिवास्वप्नस्तानादौ निवृत्तिरित्यादि मन्तव्यम् ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—अङ्गुलीपर्वणाञ्च स्फोटनमिति सम्बन्धः । अन्येऽपि चेति कासहिकाशब्दादयः ।  
'यानि चान्यानि' इत्यनेन लक्षणप्रभादीनि गृह्यन्ते । यूकापसर्पणेन शरीरवैरस्यमिति, विरसादि

मज्जिकोपसर्पणेन शरीरमाधुर्यम् लोहितपित्तसन्देहे तु किं धारि-  
लोहितं लोहितपित्तं वेति, श्रकाकभक्षणाद् धारिलोहितम्  
अभक्षणाल्लोहितपित्तमित्यनुमातव्यम् । एवमन्यानप्यातुरशरीर-  
गतान् रसाननुमिमीत । गन्धास्तु खलु सर्वशरीरगतानातुरस्य  
प्रकृतिवैकारिकान् घ्राणेन परीक्षेत । स्पर्शश्च पाणिना प्रकृति-  
विकृतियुक्तमिति प्रत्यक्षतश्चानुमानैकदेशतश्च परीक्षणमुक्तम् ॥५॥

इमे तु खल्वन्येऽप्येवमेव भूयश्चानुमानज्ञेया भवन्ति भावाः ।  
तद् यथा—अग्निं जरणशक्त्या परीक्षेत वलं व्यायामशक्त्या  
श्रोत्रादीनि च शब्दाद्यर्थग्रहणेन मनोऽर्थाव्यभिचारेण विज्ञानं \*  
व्यवसायेन रजः सङ्गेन मोहमविज्ञानेन क्रोधमभिद्रोहेण शोकं  
तस्मादित्यादि । यूको वाद्यमलक्रिमिः । धारिलोहितमिति जीवितरक्तं येन  
रक्तेन जीव्यते लोकैः । अनुमानैकदेशत इति आतुरशरीरगतसस्यानु-  
मानतः ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—प्रत्यक्षतः परीक्षणमुपदर्श्यानुमानेन परीक्षणमुपदर्शयति—इमे  
त्वित्यादि । इमे इत्यत ऊर्द्धं वक्ष्यमाणाः अन्येऽपीत्यनुक्ता अपि चात्र उवरा-  
दयः । अग्निं जरणशक्तेरिति सर्वं वक्ष्यमाणं विद्यादित्यनेनान्वीयते । कैश्चित्  
प्रागुक्तं परीक्षेतेत्यनेन । जरणशक्तिमुक्तजीर्णकरी शक्तिः । अर्थाव्यभि-  
चारेणेति अव्यभिचारितस्मृत्यादिना व्यवसायेन शास्त्रादिषु विकल्पबुद्ध्या ।  
शरीराद् यूका अपसर्पन्ति । एवं यूकाद्यनपसर्पणेन प्राकृतरसयुक्तशरीरमनुमातव्यम् । धारि-  
लोहितमिति जीवनलोहितमित्यर्थः । श्रकाकभक्षणादिज्ञेयं यत्, तत् पित्तादृष्टत्वेनाविरसात्  
श्वादयो भक्षयन्ति, न तु पित्तदृष्टरक्तमिति भावः । अत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा इत्युपदेशं कृत्वा  
‘शब्दानन्तरं चक्षुर्ग्राह्यं’ रूपं दर्शयन् शब्दादिपरीक्षायाश्च क्रमनियमाभावं सूचयति ॥ ५ ॥

चक्रपाणिः—सूयोऽनुमानज्ञेया इत्यनेनानुमानगम्यतया वक्ष्यमाणाः केचिदग्निबलादय आतुरोप-  
देशगम्या भवन्तीति सूचयति । मनोऽर्थाव्यभिचरणेनेति सतीन्द्रियाणामर्थनिबन्धे यदिदं  
कदाचिच्छब्दं प्रत्येति, कदाचिद्रसमित्याद्ययौगपद्येन सर्वार्थान् प्रत्येति । तेन तु इन्द्रियार्थ-  
संयोगानन्तरमिन्द्रियार्थाग्राहकं मन इत्यनुमीयते । ज्ञानं व्यवसायेनेति व्यवसायः प्रवृत्तिः ।

\* ज्ञानमिति वा पाठः ।



दैन्येन हर्षमामोदेन प्रीतिं तोषेण भयं विषादेन धैर्यम्  
 अविषादेन वीर्यमुत्साहेन \* अवस्थानमविभ्रमेण श्रद्धामभि-  
 प्रायेण मेधां ग्रहणेन संज्ञां नामग्रहणेन स्मृतिं स्मरणेन ह्रियम्  
 अपत्रपेण शीलमनुशीलनेन द्वेषं प्रतिषेधेनोपाधि † मनुबन्धेन  
 धृतिम् अलौल्येन वश्यतां विधेयतया वयोभक्तिसात्मव्याधिसमु-  
 त्थानानि कालदेशोपशयवेदनाविशेषेण गूढलिङ्गं व्याधिमुप-  
 सङ्गेन प्राप्तार्थं प्रीत्यसम्पूर्णत्वदासक्त्यभयरूपेण । मोहमविज्ञानेनेति वचनेन  
 तमो मोहेनेत्युक्तं भवति मोहस्य तमोजलात् । मेधां ग्रहणेन मनसा धारणेन ।  
 स्मृतिं स्मरणेन स्मृतार्थानां प्रकाशनेन । अपत्रपेण लज्जाजनकपरकीय-  
 व्यापारेण । शीलं तच्छीलता सतताभ्यसनमनुशीलनेन पश्चात् शीलनव्यापा-  
 रेण । प्रतिषेधेन निषेधेन । उपाधिमनुबन्धेनेति उपाधिराधुनिकसङ्केतः  
 सङ्केतकर्तृभिः कृतः, अनुबन्धेनोत्तरकालमनुवर्त्तनेन । धृतिर्नियमात्मिका बुद्धिः ।  
 अलौल्यमचञ्चलत्वम् । विधेयतया यद्व्यास्मिन्नाज्ञाप्यते तस्य तत्कर्तव्यत्वेन ।  
 वय इत्यादि वयः कालेन भक्तिं देशेन सात्म्यमुपशयेन सुखावहव्यापारेण  
 व्याधिसमुत्थानं वेदनाविशेषेण इत्येवं यथाक्रमं नान्वयः, परन्तु यथायोगं  
 यथा—पेयजले पानार्थं प्रवृत्तिः । तेनानुमीयते जलज्ञानमस्य जातम्, कथमन्यथा ज्ञानकार्यार्थ-  
 क्रियायां प्रवर्त्तत इति । रजः सङ्गेनेति नाय्यादिसङ्गेन, तत्कारणरजोऽनुमीयते । अभिद्रोहः  
 परपीडार्थप्रवृत्तिः । दैन्यं रोदनादि । आमोदो गीतवादित्रादुत्सवकरणम् । तोषो मुखनयन-  
 प्रसादादिः । तेन प्रीतिस्तोषमात्रम्, हर्षस्तु प्रीतिविशेषो मनउद्वेककारक इत्युक्तं भवति ।  
 धैर्यं विपद्यपि मनसोऽदैन्यम् । वीर्यमारब्धदुष्करकार्येष्वव्यावृत्तिर्मनसः । उत्थानेनेति  
 क्रियारम्भेण । अवस्थानं स्थिरमतिवत्वम् । अविभ्रमेणेत्यभ्रान्त्या । श्रद्धामिच्छाम् । अभि-  
 प्रायेणेति अभ्यर्थनेन । ग्रहणेनेति ग्रन्थादिधारणेन । स्मृतिमिति स्मृतिजनकं संस्कारम् ।  
 स्मरणेनेति तत्कारणं संस्कारोऽनुमीयते । ह्रियमिति लज्जाम् । अपत्रपेणेति लज्जिताकारेण ।  
 शीलमिति सहजं वस्तुषु रागम् । अनुशीलनेनेति अनुशीलनं सततशीलनम्; तेन सततं  
 यमर्थं सेवते तच्छीलोऽयमित्यनुमीयते । प्रतिषेधेनेति व्यावृत्त्या । उपेत्य धीयते इति उपधिः  
 छद्म इत्यर्थः, अनुबन्धेनेत्युत्तरकालं हि आत्रादिवधेन फलेन ज्ञायते,—यदयमुन्मत्तच्छद्मप्रचारी  
 चन्द्रगुप्त इति । विधेयतयेति विधेयप्रचारेण । वयःप्रभृतीनि व्याधिसमुत्थानान्तानि चत्वारि  
 यथासंख्यं कालादिविशेषेण ज्ञायन्ते । तत्र कालविशेषेण षोडशवर्षादिनां वयो बाल्यादि ज्ञायते ।

\* उत्थानेनेति पाठान्तरम् ।

† उपधिमिति चक्रः ।

शयानुपश्याभ्यां दोषप्रमाणविशेषमपचारविशेषण । आयुषः  
ज्यमरिष्टैरुस्थितश्रेयस्त्वं कल्याणाभिनिवेशेन अमलं सत्त्वम्  
अविकारेण । ग्रहण्यास्तु मृदुत्वं दारुणत्वञ्च स्वप्नदर्शनमभिप्रायं  
द्विष्टेष्टेष्वसुखसुखानि \* चातुरपरिप्रश्नेनैव विद्यादिति ॥ ६ ॥

व्यस्तसमस्तकालादिभिर्वयःप्रभृतीन् विद्यादित्यर्थः । अमलं सत्त्वं मनसो  
नैर्मल्यमविकारेण मनसो विकाराभावेन अद्वैधेनेत्यर्थः । आतुरस्य स्वप्नदर्शनं  
आतुरस्यैवाभिप्रायं आतुरस्यैव द्विष्टेषु चेष्टेषु चाभिमतेषु सुखदुःखानि ।  
अत एव सुश्रुतेनाप्युक्तं विशिखानुप्रवेशनीयेऽध्याये । अधिगततन्त्रेणोपासित-  
तन्त्रार्थेन दृष्टकर्मणा कृतयोगेन शास्त्रार्थं निगदता राजानुष्मतेन नीच-  
नखरोम्णा शुचिना शुक्लवस्त्रपरिहितेन च्छत्रवता दण्डहस्तेन सोपानोत्केन  
अनुद्धतवेशेन सुमनसा कल्याणाभिव्याहारेणाकुहकेन बन्धुभूतेन भूतानां  
सुसहायवता वैदेन विशिखाऽनुप्रवेष्टव्या । ततो दूतनिमित्तशकुनमङ्गलानु-  
लोम्बेनातुरगृहमभिगम्योपविश्यातुरमभिपश्येत् स्पृशेत् पृच्छेच्च । त्रिभिरेतै-  
र्विज्ञानोपायैः प्रायशो रोगा वेदितव्या इत्येके । तच्च न सम्यक् । पट्विधो हि  
रोगाणां विज्ञानोपायः । तद् यथा—पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति ।  
तत्र श्रोत्रेन्द्रियविक्षेया विशेषा रोगेषु त्रणास्रावविज्ञानीयादिषु वक्ष्यन्ते सफेनं  
रक्तमीरयन्ननिलः सशब्दो निर्गच्छतीत्येवमादयः । स्पर्शनेन्द्रियविक्षेयाः शीतोष्ण-  
श्लक्ष्णकर्कशमृदुकटिन्तवाद्यो स्पर्शविशेषा ज्वरशोफादिषु । चक्षुरिन्द्रियविक्षेयाः  
शरीरोपचयापचयायुर्लक्षणवलवर्णविकारादयः । रसनेन्द्रियविक्षेयाः प्रमेहा-  
देशेन तु भक्तिरिच्छा ज्ञायते, यथा त्वयं मध्यदेशीयस्तेनास्य गौधूमपादिषु इच्छानुमीयते ।  
यस्माच्चेदमस्योपशेते, तेनेदमस्य साम्यमिति ज्ञायते, वेदनाविशेषेण व्याधिसमुत्थानं ज्ञायते,  
यथा—यस्मादस्य सन्तापवेदनावान्, तस्मादस्य ज्वरव्याधिसमुत्थानं भूतमित्यादि ज्ञेयम् । गूढ-  
लिङ्गमिति विशेषेण गूढलिङ्गव्याधौ लिङ्गैरेवानवधारिते तु उपशयानुपशयाभ्यां परीक्षा करणीयेति  
दृश्यति । अपचारविशेषेणेति महतापचारेण भूरिदोषा भवन्ति, स्वल्पेन स्वल्प इति । कल्याणाभि-  
निवेशेनेति श्रेयस्करमार्गानुष्ठानेन ;—एतदाचरतो निःश्रेयस एव भवति । सत्त्वमिति सत्त्वगुणो-  
द्रेकमविकारेण । परिप्रश्नेन चेतिवचनेन, यद्यपि ग्रहणीमाह्वाद्यनुमानादपि पार्थ्यते ज्ञातुम्,  
तथाप्यनुमानस्य बुद्धिप्रयासबहुत्वेनातुरपृच्छयैव सुखोपचाररूपतया विद्याद् ग्रहणीमाह्वादीनीति  
दर्शयति । मृष्टित्यादि । अभिप्रायो भोजनाद्दीच्छा । द्विष्टेष्टशब्देन तु द्विष्टेष्टितप्रेष्यादिग्रहणम् ॥६॥

\* द्विष्टेष्टसुखदुःखानिति पाठान्तरम् ।

भवन्ति चात्र ।

आप्ततश्चोपदेशेन प्रत्यक्षकरणेन च ।

अनुमानेन च व्याधीन् सम्यग्विद्याद्विचक्षणः ।

सर्वथा सर्वमालोच्य यथासम्भवमर्थवित् ॥

अथाध्यवस्येत् तत्त्वे च कार्ये च तदनन्तरम् ।

कार्यतत्त्वविशेषज्ञः प्रतिपत्तौ न मुह्यति ॥

अमूढः फलमाप्नोति यदमोहनिमित्तजम् ॥

ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नाविशति योगवित् \* ।

आतुरस्यान्तरात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति ॥ ७ ॥

दिषु रसविशेषाः । घ्राणेन्द्रियविज्ञेया अरिष्टलिङ्गादिषु व्रणानामव्रणानाञ्च  
गन्धविशेषाः । प्रश्नेन च विजानीयादेशं कालं जातिं सात्म्यमातङ्कसमुत्-  
पत्तिं वेदनासमुच्छ्रायं बलं दीप्ताग्नितां वातमूत्रपुरीपरजसां प्रवृत्त्यप्रवृत्ती काल-  
प्रकर्षादींश्च विशेषान् । आत्मसदृशेषु विज्ञानाभ्युपायेषु तत्स्थानीयैर्जानी-  
यात् । भवति चात्र । मिथ्यादृष्टा विकारा हि दुराख्यातास्तथैव च । तथा  
दुष्परिमृष्टाश्च मोहयेयुश्चिकित्सकम् ॥ इति । अत्र प्रश्नेनेत्युपलक्षणादनुमानमपि  
ज्ञापितं तथा रसनेन्द्रियविज्ञेयाः प्रमेहादिषु रसविशेषा मक्षिकापिपीलिकादिभिः  
इति शेषः । तेन न विरोधः ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—अथैवं परीक्ष्य चिकित्सायां फलमाह—भवन्तीत्यादि । आप्तत-  
इत्यादि । यथासम्भवमर्थविदित्यन्त एकश्छेदः सार्द्धं श्लोकेन । न मुह्यतीति  
छेदो द्वितीयः । अमूढो मोहाभाववान् अमोहनिमित्तजम् अज्ञानाभावजं सम्यग्-

यथासम्भवमित्यनेन सर्वत्र परीक्षणीये सर्वप्रमाणासम्भव इति दर्शयति—अथेत्यादि-  
अथ प्रत्येकशब्दाद्विषयपरीक्षानन्तरम् । तत्त्वे व्याधितत्त्वे, तथा कार्ये च तत्र साध्ये  
व्याधौ कर्तव्यलक्षणे । तदनन्तरम् अध्यवस्येत्, यदुक्तम्—“तत्त्वं भवति यच्च कार्यं  
युक्तम्,” तत्तावदयं निश्चयं कुर्यादित्यर्थः, अनन्तरमिति अविद्यमानान्तरयोग्यमित्यर्थः । कार्य-  
तत्त्वविशेषाध्यवसायफलमाह—कार्येत्यादि । प्रतिपत्तिः कर्मणां यथाहृतयाऽनुष्ठानम् । अमूढ

तत्र श्लोकौ ।

सर्वरोगविशेषाणां त्रिविधं ज्ञानसंग्रहम् ।

यथा चोपदिशन्त्याप्ताः प्रत्यक्षं गृह्यते यथा ॥

ये यथा चानुमानेन ज्ञेयास्तांश्चाप्युदारधीः ।

भावांस्त्रिरोगविज्ञाने विमाने मुनिरुक्तवान् ॥ ८ ॥

इत्यग्निवेशकृतैः तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतैः विमानस्थाने

त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयं विमानं नाम

चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

ज्ञानादेव जातम् इति तृतीयश्छेदः । अज्ञानजं फलमयशःप्रभृतिकं फलं नाप्नोतीति भावार्थं व्याकरोति ज्ञानेत्यादि इति चतुर्थश्छेदः ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थमुपसंहरति—तत्र श्लोकावित्यादि । त्रिविधमित्यारभ्य बुद्धिमन्त इत्यन्तेन सर्वरोगविशेषाणां त्रिविधं ज्ञानसंग्रहम् । रोगमेकैकमित्यारभ्य जायते इत्यन्तेनाप्ता यथोपदिशन्ति तत्प्रकारम् । ततः प्रत्यक्षन्तित्यारभ्य परीक्षणमुक्तमित्यन्तेन यथा प्रत्यक्षं गृह्यते तत्प्रकारम् । इमे तित्यारभ्य चिकित्सतीत्यन्तेन ये यथानुमानेन ज्ञेयास्तान् भावान् उदारधीर्मुनिरात्रेयपुनर्वसुस्त्रिरोगविज्ञाने त्रिविधरोगविशेषविज्ञाने विमाने उक्तवानित्यर्थः ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि ।

इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजलपकल्पतरौ तृतीयस्कन्धे

विमानस्थानजल्पे त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयजलपाख्या

चतुर्थी शाखा ॥ ४ ॥

इति प्रतिपत्तावमूह इत्यर्थः । ज्ञानं शास्त्रं, तत्कृता बुद्धिर्ज्ञानबुद्धिः । आविश्कृति बुद्ध्यावगाहत् इत्यर्थः । अन्तरात्मानमिति वैद्यपक्षे अन्तःशरीरम् ॥ ७८ ॥

इति चरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्वेददीपिकायां विमानस्थान

व्याख्यायां त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयं विमानं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

## पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातः स्रोतसां विमानं व्याख्यास्यामः, इतिह

स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

यावन्त एव पुरुषे मूर्त्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्त एव  
अस्मिन् स्रोतसां प्रकारविशेषाः । सर्वभावा हि पुरुषे नान्तरेण  
स्रोतांस्यभिनिर्वर्त्तन्ते क्षयं वाप्यधिगच्छन्ति । स्रोतांसि खलु  
परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन ।

गङ्गाधरः—अथ शारीरभावाणां मानविज्ञानार्थं स्रोतोविमानमाह—अथात  
इत्यादि ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—यावन्त इत्यादि मूर्त्तिमन्त इत्यनेन वातादिवहस्रोतसां प्रकार-  
विशेषो नास्तीति ख्यापितं सर्वेषामेव हि स्रोतसां वाताकाशवहत्वात् । ननु  
कुतो यावन्तो मूर्त्तिमन्तो भावविशेषाः पुरुषे तावन्तः प्रकारविशेषाः स्रोतसा-  
मस्मिन् पुरुषे इत्यत आह—सर्वभावा हीत्यादि । पुरुषे हि यस्मात्  
स्रोतांसि अन्तरेण विना सर्वभावा मूर्त्तिमन्तः सर्वभावा रसरक्तादयः  
स्वेदादयः श्लेष्मपित्तपुरीषमूत्रादयश्च नाभिनिर्वर्त्तन्ते न वा क्षयमधि-  
गच्छन्ति । ननु कुतो न सर्वभावाः पुरुषे स्रोतांसि विनाभिनिर्वर्त्तन्ते  
न वा क्षयन्तीत्यत आह—स्रोतांसीत्यादि । धातूनामिति रसादीनाम्  
अयनार्थेन गमनहेतुना । आहारपरिणामरसो हि स्रोतसां छिद्ररूपं पन्थानं  
विना गन्तुं न शक्नोति, न च स्रोतश्छिद्रपथेन गमनं विना तदुत्तरोत्तरधातुत्वेन  
परिणमति । उत्तरोत्तरधातवो हि विभिन्नरूपास्तस्माद्यावन्तो मूर्त्तिमन्तो  
भावाः पुरुषे तावन्तः स्रोतसामस्मिन् प्रकारविशेषा इति भावः ।

चक्रपाणिः—पूर्वस्मिन्नध्याये परीक्षामभिधाय तत्परीक्षणीयं शरीरं दृष्टादृष्टस्रोतोविभागो  
वक्तुं स्रोतसां विमानमुच्यते ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—मूर्त्तिमन्त इत्यसर्वगतद्रव्यपरिमाणवन्तः, असर्वगतपरिमाणं हि मूर्त्तिरुच्यते ।  
भावविशेषा इत्युत्पत्तिमन्तो विशेषाः । अत्र हेतुमाह—स्रोतांसीत्यादि । खलुशब्दो हेतौ ।  
परिणाममापद्यमानामिति पूर्वपूर्वरसादिरूपतापरित्यागेनोत्तरोत्तरं रक्तादिरूपतामापद्यमानानाम् ।  
अयनाथन' इतिवचनाच्च स्थिराणां धातूनामभिवाहीनि भवान्त स्रोतांसि, किन्तु देशान्तरप्रापणेन

अपि चैके सहर्षयः स्रोतसामेव समुदायं पुरुषमिच्छन्ति  
सर्वगतत्वात् सर्वसरत्वाच्च दोषप्रकोपणप्रशमनानाम् । न त्वेत-  
देवम् । यस्य च हि स्रोतांसि यच्च वहन्ति यथा वहन्ति यत्र  
चावस्थितानि सर्वं तदन्यत् तेभ्यः ॥ २ ॥

अत्र मतभेदं दर्शयति—अपीत्यादि । एके मुनयः । स्रोतसामेव  
समुदायं पुरुषमिच्छन्ति दोषप्रकोपणप्रशमनानामाहारपरिणामेन सरूपाणां  
सर्वगतत्वात् सर्वशरीरगतत्वात्, सर्वसरत्वाच्च दोषप्रकोपणप्रशमनाना-  
मित्यन्वयः । रसादिसर्वधातूपधातुमलधातुदुष्टिकराणां दोषाणां सर्वदेह-  
सरणात् । आत्ममनोवहान्यपि स्रोतांसि सन्तीति स्रोतःसमुदायात्मकः  
पुरुष इति भावः । मतमेतद् दृश्यति—न त्वेतदेवमित्यादि । एतदिति पुरुष-  
लक्षणमेवं स्रोतसामेव समुदायः पुरुष इति न तु । कस्मादित्यत आह—यस्ये-  
त्यादि । हि यस्मात् यस्य च मूर्तिमतो भावस्य स्रोतांसि यानि यच्च वहन्ति  
तद् यथा वहन्ति तत्प्रकारः यत्र चावस्थितानि तच्च स्थानं तदेतत् सर्वं तेभ्यः

अभिवाहीनि भवन्ति । एवं मन्यते—रक्तस्य वृद्धिः शोणितरूपतया परिणमता रसेन मिलितेन  
कर्तव्या । स च स्थानान्तरस्थस्य रसस्य रुधिरं समं मेलको न गमनमार्गं स्रोतःसंज्ञकमन्तरा  
भवति । एवं तावदभिनिवृत्तिः स्रोतःकारणिको धातूनां प्रायो रक्त्योत्तरधातुपोषकभागपरि-  
णामो भवति । तच्चाप्युत्तरधातुपोषणं नान्तरेण स्रोतो भवति । यश्च रक्तं न्यायः, स सर्वत्र  
शरीरे भावे । न चान्यस्रोतसा चान्यधातुपुष्टिः सम्भवति, सर्वपोष्याणां भिन्नदेशत्वात् । न  
ह्यभिन्नेन स्रोतसा भिन्नदेशवृक्षयोः सेचनमस्ति । मनस्तु यद्यपि नित्यत्वेन न पोष्यं, तथापि  
तस्येन्द्रियप्रदेशगमनार्थं स्रोतोऽस्त्येव । तच्च मनःप्रभृतीनामतीन्द्रियाणां कृत्स्नमेव शरीरं  
स्रोतीरूपं वक्ष्यति । दोषाणान्तु सर्वशरीरचरत्वेन यथास्थूलस्रोतोऽभिधानेऽपि सर्वस्रोतांस्त्येव  
गमनार्थं वक्ष्यन्ते । सूक्ष्मजिह्वासायान्तु वातादीनामपि प्रधानभूताः धमन्यः सन्त्येव । यदुक्तं  
सुश्रुते—“तासां वातवाहिन्यो दश सिरा भवन्ति” इत्यादि । न च चरके सुश्रुत इव धमनीसिरा-  
स्रोतसां भेदो विवक्षितः ।

सर्वगतत्वादिति स्रोतसां सर्वशरीरावयवगतत्वादित्यर्थः । सर्वसरत्वादित्युत्तरेण  
सम्प्रभ्यते । दोषप्रकोपणमपथ्यं दोषप्रशमनं वा पथ्यं सर्वस्मिन् शरीरप्रदेशे—दोषरूपं सत्  
तथा भेषजरूपं सद् गच्छति । तेन सर्वत्र स्रोतो विद्यते । तेन स्रोतोमयः पुरुष इति  
पूर्वपक्षं निषेधयति—न त्वित्यादि । यस्य हि स्रोतांसि यद्वदितानीत्यर्थः, यच्च वहन्तीति

अतिबहुत्वात् तु खलु केचिदपरिसंख्येयान्याचक्षते स्रोतांसि परिसंख्येयानीत्यन्ये । तेषान्तु खलु स्रोतसां यथास्थूलं कतिचित् प्रकारान् मूलतश्च प्रकोपविज्ञानतश्चानुव्याख्यास्यामः, ये भविष्यन्त्यलमनुक्तज्ञानाय ज्ञानवतां विज्ञानाय चाज्ञानवताम् । तद् यथा—प्राणोदकान्नरसरुधिर-मांसमेदोऽस्थिमज्ज-शुक्रमूत्रपुरीष-स्वेदवहानि । वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वाणि स्रोतांस्ययनभूतानि । तत्तदतीन्द्रियाणां पुनः सत्त्वा-

स्रोतोभ्योऽन्यत् न तु स्रोतांस्येव तस्मात् न स्रोतःसमुदाय एव पुरुष इत्यर्थः ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—मतान्तरमाह—अतिबहुत्वात् त्वित्यादि । मतान्तरमाह—परिसंख्येयानीत्यादि । तन्मतद्वयमप्रतिषिद्धत्वादानुमतम् कार्त्तस्यादपरिसंख्येयानि स्थूलतः परिसंख्येयानि इत्यभिप्रायात् । कतिचिदेव न तु सर्वान् । ननु के प्रकारा व्याख्यास्यन्ते इत्यत आह—तेषान्त्वित्यादि । स्रोतसां ये प्रकारा ज्ञानवतामनुक्तज्ञानाय पुनर्ज्ञानाय अज्ञानवतां स्रोतसां प्रकारा ज्ञानवतां विज्ञानाय चाष्टं समर्था भवन्ति तान् कतिचित् तेषां स्रोतसां प्रकारान् यथास्थूलं तथा मूलतश्च तत्प्रकोपविज्ञानतश्चानुव्याख्यास्याम इत्यर्थः । तद्व्याख्यायते । तद् यथेत्यादि । प्राणोदकादिकानामसर्वशरीरचराणां वहानि सर्वस्रोतांसि अयनभूतानि सच्छिद्राणि पथिरूपत्वात् तथा सर्वशरीरचराणां वातपित्तश्लेष्मणां वहानि सर्वस्रोतांसि चायनभूतानि सच्छिद्राणि वर्त्मरूपत्वात् । न त्वधिष्ठानादिभूतानि । तत्तदतीन्द्रियाणामिन्द्रियागोचराणान्तु सत्त्वा-

यच्च पुण्यन्तीत्यर्थः, यत्र चावस्थितानीति यत्र मांसादौ सम्बद्धानीत्यर्थः, तत् सर्वं धमनीभ्योऽन्यत् । तस्मान्न स्रोतोरूप एव पुरुष इत्यर्थः ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—प्रकोपविज्ञानतश्चेति यथा स्रोतसां प्रकोपो विज्ञायते तथा व्याख्यास्याम इति योजना । अनुक्तार्थज्ञानायेत्यनुक्तस्रोतोज्ञानाय । ज्ञानवतामित्यनुक्तार्थज्ञानसमर्थानाम् । ज्ञानवन्तो ह्यनुक्तमपि स्रोतोऽनुमीमते । विज्ञानाय चाज्ञानवतामिति यथोक्तमानज्ञानाय च मन्दबुद्धी-

दीनां केवलं चेतनावच्छरीरसयनभूतमधिष्ठानभूतञ्च । तदेतत्  
स्रोतसां प्रकृतिभूतत्वात् न विकारैरुपसृज्यते शरीरम् ॥ ३ ॥

तत्र प्राणवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं महास्रोतश्च । प्रदुष्टा-  
नान्तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति ; तद् यथा—अति-  
सृष्टं प्रतिवद्धं प्रकुपितमल्पाल्पमभीक्षणं वा सशब्दशूलमुच्छ्वसन्तं  
दृष्ट्वा प्राणवहानि स्रोतांस्यस्य प्रदुष्टानीति विद्यात् ।

उदकवहानाञ्च स्रोतसां तालु मूलं क्लोम च । प्रदुष्टानाञ्च  
दीनां मन आत्मश्रोत्रस्पर्शनयनरसनघ्राणबुद्धग्रहकारादीनां केवलं चेतनावत्  
सजीवं शरीरस्रोतः अयनभूतमधिष्ठानभूतञ्च । तदेतत् स्रोतसां तेषां प्राणादि-  
वहानाम् एषां सत्त्वादीनामतीन्द्रियाणामभिवाहिस्रोतसां प्रकृतिभूतत्वाद्विकारा-  
भावाद्विदं शरीरं विकारैर्विषम्यैर्नोपसृज्यते । एतेन प्राणादिसत्त्वादिब्रह्मस्रोतसां  
विकृतिभूतत्वे शरीरं विकारैर्नोपसृज्यते इति ख्यापितम् । इति प्रकारव्याख्या-  
नम् ॥ ३ ॥ ५. स्रोतांसि प्रदु

गङ्गाधरः—मूलं... वे—तत्रेत्यादि । तत्र प्राणादिवहेषु स्रोतःसु  
मध्ये हृदयं वक्षः, महास्रोतश्च महासरणं महाच्छिद्रमित्यर्थः । प्राणवहानां  
स्रोतसां प्रकोपविज्ञानतस्तु व्याख्यानं करोति । प्रदुष्टानान्तित्यादि । एषां  
प्राणादिवहानाम् । तद् यथेत्यादि । अतिसृष्टमित्यादि । सर्व्वमुच्छ्वासक्रिया-  
विशेषणम् । यः पुमानति आयत्वा दीर्घमुच्छ्वसिति किंवा प्रतिवद्धमुच्छ्वसिति  
अथवा प्रकुपितं दृढमुच्छ्वसिति किंवा अल्पाल्पमुच्छ्वसिति किंवा अभीक्षण-  
मुच्छ्वसिति किंवा सशब्दशूलमुच्छ्वसिति तादृशमुच्छ्वसन्तं पुरुषं दृष्ट्वा अस्य  
पुरुषस्य प्राणवहानि स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् अनुमीयेत । क्रमिकत्वादुदक-  
वहस्रोतांसि मूलतश्च प्रकोपविज्ञानतश्च व्याख्यायन्ते । उदकवहानाञ्चेत्यादि ।  
५. मूलं तालु क्लोम च । क्लोम कण्ठोरसोः सन्धिः । तेषां प्रकोपविज्ञानमाह—प्रदुष्टाना-  
नाम् इत्यर्थः । तद्वदित्यादि । चेतनावच्छरीरमित्यनेनाचेतनकेशनखादिप्रदेशं सत्त्वादिगमने  
निषेधयति, दोषास्तु तत्रापि यान्तीति । अयनभूतमिति मार्गभूतम् । अधिष्ठानभूतमिति स्थान-  
रूपम् ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—प्राणवहानामिति प्राणसंज्ञकत्वात्तवहानाम् । एतच्च प्राणाख्यविशिष्टस्य घायोः  
विशिष्टस्रोतः । सामान्येन तु वायोः रूढौ एव धर्मः इति न विरोधः । मूलमिति प्रसङ्गस्थानम् ।



खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति ; तद् यथा—जिह्वाताल्वोष्ठ-  
कण्ठक्लोमशोषं पिपासाश्चातिप्रवृद्धां दृष्ट्वा भिषगुदकवहान्यस्य  
स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ।

अन्नवहानां स्रोतसामामाशयो मूलं वामश्च पार्श्वम् । प्रदुष्टा-  
नान्तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति ; तद् यथा—  
अन्नान्नभिलषणमरोचकाविपाकौ च्छर्दिश्च दृष्ट्वा न्नवहान्यस्य  
स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ।

रसवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं दश धमन्यश्च । शोणितवहानां  
स्रोतसां यकृन्मूलं ग्रीहा च । मांसवहानां स्रोतसां स्नायुर्मूलं  
त्वक् च । मेदोवहानां स्रोतसां बुक्कौ मूलं वपावहनश्च । अस्थि-  
वहानां स्रोतसां मेदो मूलं जघनश्च । तन्मूत्रवहानां स्रोतसामस्थीनि  
मूलं सन्धयश्च । शुक्रवहाणां स्त्रीचिदेव नरुणौ सन्तु शोफश्च ।  
प्रदुष्टानान्तु खल्वेषां रसादिवहस्रोतस्त्यादि । स्रोत्युक्तानि विविधा-  
शीत्त्रस्त्रीतोय । यान्येव हि धातूनां प्रदोषविज्ञानानि, तान्येव हि  
यथास्वं दुष्टानां धातुस्रोतसाम् ।

ञ्चेत्यादि । जिह्वेत्यादि स्पष्टम् । क्रमत्वादन्नवहानां व्याख्यानमाह—अन्न-  
वहानामित्यादि । आमाशयो वामपार्श्वश्च मूलमित्यर्थः । प्रकोपविज्ञान-  
व्याख्यानान्तु स्पष्टम् । क्रमिकत्वादसवहानि व्याख्यायन्ते । रसवहानाम्  
इत्यादि । हृदयं हृदयमूला दश धमन्यश्च मूलमिति यकृत् ग्रीहा च मूलम् ।  
स्नायुस्तक् च मूलम् । बुक्कौ अग्रमांसद्वयं वपावहनं वसावहनं मूलम् । मेदो  
जघनश्च मूलम् । अस्थीनि सन्धयश्चास्थिवहानां मूलम् । वृषणावण्डकोषौ  
शोफः शिशश्चेति मूलम् शोफ इति पुरुषाभिप्रायेण पुंसः शुक्रप्रधानत्वात् ।  
प्रकोपविज्ञानान्येषामाह—प्रदुष्टानामित्यादि । विविधाशितपीतीयोक्तलिङ्गतो-  
ऽधिकानि लिङ्गान्यस्य प्रकोपस्याह—यान्येव हीत्यादि । धातूनां प्रदोष-

मूत्रवहाणां स्रोतसां वस्तिर्मूलं वङ्गणौ च । प्रदुष्टानान्तु  
खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति ; तद् यथा—अतिसृष्टं  
प्रतिवद्धं वा कुपितमल्पात्मभीक्षणं वा वहलं सशूलं मूत्रयन्तं  
दृष्ट्वा मूत्रवहाण्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ।

पुरीषवहाणां स्रोतसां पक्वाशयो मूलं स्थूलगुदञ्च । प्रदुष्टानान्तु  
खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति ; तद् यथा—कृच्छ्रेणाल्पाल्पं  
सशब्दशूलमतिद्रवमतिप्रथितमतिवहु चोपविशन्तं दृष्ट्वा पुरीष-  
वहाण्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ।

स्वेदवहानां स्रोतसां मेदो मूलं लोमकूपाश्च । प्रदुष्टानान्तु  
खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति ; तद् यथा—अस्वेदमति-  
स्वेदनं वा पारुष्यमतिश्लक्ष्णतामङ्गस्य परिदाहं लोमहर्षश्च दृष्ट्वा  
स्वेदवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥ ४ ॥

विज्ञानानि विविधाशितपीतीयोक्तानि । क्रमिकत्वान्मूत्रवहाणि व्याख्यायन्ते—  
मूत्रेत्यादि । वस्तिर्वङ्गणौ च मूलं प्रकोपविज्ञानमतिस्पष्टमित्यादि । सर्वं  
मूत्रणक्रियाविशेषणम् । पुरीषेत्यादि स्पष्टम् । पक्वाशयो नाभेरधः स्थूलगुदं  
त्रिवलिरूपम् । प्रकोपविज्ञाने अल्पाल्पमित्यादि उपवेशक्रियाविशेषणम् ।

“अतिसृष्टं वा अतिवद्धं वा” इति विकल्पेन बोद्धव्यम्, अतिसृष्टातिवद्धयोरैकत्रासम्भवात् ।  
अल्पाल्पं वा तथाभीक्षणं चेति विकल्पः । क्लोम हृदयस्थपिपासास्थानम् । वपावहनं, वपा उदरस्था  
स्तिग्धवर्त्तिका यामाहुर्जनाः “तैलवर्त्तिका” इति । सुश्रुते तु “मेदोवहानां मूलं बुधौ कटी च” इत्यु-  
क्तम् । तदत्रातीन्द्रियार्थदर्शगम्ये नास्मद्विधानां बुद्ध्यः प्रभवन्ति । अस्यपि द्रवरूपमस्येव स्रोतो-  
वाह्यम् इति कृत्वा ‘अस्थिवहानाम्’ इत्युक्तम् । यद्यपि विविधाशितपीतीये रसादीनां इष्टिलक्षणमुक्तं  
न रसादिस्त्रोतसाम्, तथापि रसादिदृष्ट्या रसादिवहधमनीनामपि, दुष्टेः साधारणत्वेनोक्तं—“रसादि-  
स्रोतसां विज्ञानान्युक्तानि” इति । ये तु वृचते—रसादिदृष्टिरभिज्ञैव तद्वहधमनीदृष्टेरिति,  
तेषां मते, पृथग्धमनीदृष्ट्या धातुदृष्टिं वक्ष्यति “तेषां प्रकोपात् स्थानस्थाश्चैव” इत्यादीनां ;  
तदनुपपन्नम्, धमनीदृष्ट्या तु तद्वाहदृष्टिरवश्यं भवतीति कृत्वा, धातुदृष्टिलक्षणैरेव इह धमनीदृष्टि-  
रुक्ता, धातुदृष्ट्यन्तरिरिक्तं धमनीदृष्टिलक्षणम् “अतिप्रवृत्तिः” इत्यादीनाञ्चैव वक्ष्यति ।

स्रोतांसि सिरा धमन्यो रसायन्यो रसवाहिन्यो नाड्यः  
पन्थानो मार्गाः शरीरच्छिद्राणि संवृतासंवृतानि स्थानान्याशयाः  
क्षया निकेताश्चेति शरीरधात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि  
भवन्ति । तेषां प्रकोपात् स्थानस्थाश्चैव मार्गगाश्च शरीरधातवः  
प्रकोपमापद्यन्ते इतरेषाश्च प्रकोपादितराणि च । स्रोतांसि च  
स्रोतांस्येव धातवश्च सर्वधातूनेव प्रदूषयन्ति च प्रदुष्टाः । तेषां

उपविशन्तं विड्विस्मजन्तम् । स्वेदेत्यादि । मेदो लोमकूपाश्च स्वेदवहानां मूलम् ।  
प्रकोपलक्षणं स्पष्टम् । अस्वेदमित्यादि ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—वातादीनां स्रोतोमूलानि न सन्ति सर्वशरीरचरत्वात् उक्तानि  
वा । वायोः पक्वाशयः पित्तस्यामाशयः कफस्य हृदयं स्थानं तदेव तद्वह-  
स्रोतसां मूलं प्रदोषलक्षणानि च तेषां प्रकोपलक्षणानीत्यतस्तानि नोक्तव-  
स्रोतसां पर्यायानाह—स्रोतांसीत्यादि । रसादिकत्वात् सर्वेषां रसायनीति  
रसावाहिनीति च संज्ञा संवृतासंवृतेत्येकं नाम । शरीरधात्ववकाशानां  
शरीरधातूनां प्राणादीनां चलनार्थमवकाशा आकाशाच्छिद्राणि च तेषां तथा ।  
लक्ष्यालक्ष्याणामिति केचिद्धात्ववकाशा लक्ष्यन्ते केचिन्न लक्ष्यन्ते इति लक्ष्या-  
लक्ष्यास्तेषां तथा । नन्वेषां स्रोतसां प्रकोपात् किं स्यादित्यत आह—तेषा-  
मित्यादि । स्थानस्थाः स्वमानस्था मार्गगाः स्वस्रोतोगा अपि शरीरधातवः  
प्राणादयो रसादयश्च । इतरेषां प्राणाद्यन्यतमस्य स्रोतसां प्रकोपात् तदितरेषां  
स्रोतांसि प्रकुप्यन्ति । स्रोतांसि प्रकुपितानि स्रोतांस्येवान्यवहानि प्रदूषयन्ति, न  
तु तद्वाह्यान् धातून् । धातवश्च प्रकुपिताः सर्वधातूनेव दूषयन्ति न त्वन्यधातुवहानि

अस्वेदनादिकं स्वेदवहदृष्टिलक्षणं कुष्ठपूर्वरूपेऽप्यस्ति । तेन, यत्रान्यकुष्ठपूर्वरूप-  
दर्शनं भवति, तत्र कुष्ठपूर्वरूपता निश्चेतव्या, एतावन्मात्रलक्षणोदये तु स्वेदवहधमनीनाम् ।  
इह मूलज्ञानं यद्यपि साक्षात्प्रयोजनं नोक्तं; तथापि मूलोपघाताद् वृक्षाणामिव धमनीनां महानुप-  
घातो भवतीति ज्ञेयम्, अत एव सुश्रुते स्रोतोमूलविद्वलक्षणान्युक्तानि ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—स्रोतसां पर्यायानाह—स्रोतांसीत्यादि । संवृतासंवृतानीत्येका संज्ञा, तत्राग्रे  
संवृतानि, मूलेऽसंवृतानि । ‘स्थानानि’ पर्यायान् केचिद्धमनीमूलस्य पर्यायानाचक्षते । अन्ये तु  
एतानपि धमनीपर्यायानाहुः, धमन्योऽपि हि रसादिस्थानं भवन्त्येवेति कृत्वा । स्थानस्था इति  
आशयस्थाः । मार्गगाश्चैवेति धमनीभिर्गच्छन्तः, इतरेषाञ्चेत्यादिना विवृणोति । स्रोतांसि

सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माणो दूषयितारो भवन्ति दोष-  
स्वभावादिति ॥ ५ ॥

भवन्ति चात्र ।

क्षयात् सन्धारणाद् रौक्ष्याद् व्यायामात् क्षुधितस्य च ।  
प्राणवाहीनि दुष्यन्ति स्रोतांस्यन्यैश्च दारुणैः ॥  
औष्ण्यादामाद्भयात् पानादतिशुष्कान्नसेवनात् ।  
अम्बुवाहीनि दुष्यन्ति तृष्णायाश्चातिपीडनात् ॥  
अतिमात्रस्य चाकाले चाहितस्य च भोजनात् ।  
अन्नवाहीनि दुष्यन्ति वैगुण्यात् पात्रकस्य च ॥  
गुरुशीतमतिस्निग्धमतिमात्रं समश्रिताम् ।  
रसवाहीनि दुष्यन्ति चिन्त्यानाश्चातिचिन्तनात् ॥  
विदाहीन्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि द्रवाणि च ।  
रक्तवाहीनि दुष्यन्ति भजताश्चातपानलौ ॥

स्रोतांसि । ( ननु कस्कस्तेषां दूषयिता ) । तेषामित्यादि । प्रदुष्टवातपित्तश्लेष्माणः  
तु तेषां स्रोतसां धातूनाश्च सर्वेषामेव दूषयितारो भवन्ति, न तु स्रोतांसि  
धातूनां न वा धातवः स्रोतसामिति । कस्मादित्यत आह—दोषस्वभावात्  
इतीति ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—अथैषां दूषणे प्रकोपनिदानान्याह—भवन्तीत्यादि । अन्यैश्च  
दारुणैर्वातवृद्धनैरित्यर्थः । औष्ण्यादित्यादि । अम्बुवहस्रोतः प्रकोपनिदानम् । तत्र  
आममपक्वं भुक्तम् । अतिमात्रस्य भोजनात् अकाले च मात्रावद्भोजनात् । अहि-

धातवश्च इष्टाः प्रत्यासन्नानि स्रोतांसि धात्वन्तराणि च स्वदोषसंक्रान्त्या दूषयन्तीत्यर्थः । दोष-  
स्वभावादिति दोषाणामेवायं स्वभावो यद् दूषकत्वं न धात्वन्तराणाम् । तेन, धातुना इष्टिर्धातुद्विष्टि-  
र्धातुगतदोषकृतैव ज्ञेया ॥ ५ ॥

चक्रपाणिः—यथाक्रमस्रोतसां इष्टिकारणमाह—क्षयादित्यादि । दारुणैरित्यत्र कर्मभिरिति

अभिष्यन्दीनि भोज्यानि स्थूलानि च गुरुणि च ।  
 मांसवाहीनि दुष्यन्ति भुत्तवा च स्वपतां दिवा ॥  
 अव्यायामादिवास्वप्नान्मेध्यानाश्चातिसेवनात् ।  
 मेदोवाहीनि दुष्यन्ति वारुण्याश्चातिसेवनात् ।  
 व्यायामादतिसंचोभादस्थनामतिविघट्टनात् ।  
 अस्थिवाहीनि दुष्यन्ति वातलानाश्च सेवनात् ॥  
 उत्पेषादत्यभिष्यन्दादभिघातात् प्रपीडनात् ।  
 मज्जवाहीनि दुष्यन्ति विरुद्धानाश्च सेवनात् ॥  
 अकालयोनिगमनान्निग्रहादतिमैथुनात् ।  
 शुक्रवाहीणि दुष्यन्ति शस्त्रक्षाराग्निभिस्तथा ॥  
 मूत्रितोदकभक्ष्यस्त्री-सेवनान्मूत्रनिग्रहात् ।  
 मूत्रवाहीणि दुष्यन्ति क्षीणस्यातिकृशस्य \* च ॥  
 विधारणादत्यशनादजीर्णाध्यशनात् तथा ।  
 वर्चोवाहीनि दुष्यन्ति दुर्बलाग्नेः कृशस्य च ॥  
 व्यायामादतिसंचोभाच्छीतोष्णाक्रमसेवनात् ।  
 स्वेदवाहीनि दुष्यन्ति क्रोधशोकभयैस्तथा ॥

तस्य यज्जःपुरुषीयोक्तस्य । मांसवहस्रोतःप्रकोपनिदाने स्थूलानि संहतानि  
 लङ्घुकादीनि । मेदोवहस्रोतःप्रकोपनिदाने मेध्यानां स्निग्धत्वात् । अकालयोनि-  
 गमनादिति रजस्वलागमनात् । निग्रहादिति शुक्रवेगनिग्रहात् । मूत्रितस्य  
 मूत्रवेगवतः उदकभक्ष्यस्त्रीणां सेवनात् । विधारणादिति वर्चोवेगविधारणात् ।  
 दुर्बलोऽग्निर्यस्य तस्य तथा । शीतोष्णाक्रमसेवनादिति अक्रमेण शीतोष्ण-  
 शेषः । गुरुणि च भजतामिति पूर्वोक्तेन सम्बन्धः । मेध्यानां मेदराणाम् । अकालयोनि-  
 गमनादिति अहर्षकालगमनात् तथाऽनुचितयोनौ गमनात् । निग्रहादिति शुक्रवेगनिग्रहात् ।  
 मूत्रितेत्यादौ मूत्रवेगयुक्तस्य उदकादिसेवनादिति ज्ञेयम् ।

आहारश्च विहारश्च यः स्याद् दोषगुणैः समः ।  
 ऋतुभिर्विगुणश्चापि स्रोतसां स प्रदूषकः ॥ ६ ॥  
 अतिप्रवृत्तिः सङ्गो वा सिराणां ग्रन्थयोऽपि वा ।  
 विमार्गगमनश्चापि स्रोतसां दुष्टिलक्षणम् ॥ ७ ॥  
 स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च ।  
 स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च ॥  
 प्राणोदकान्नवाहानां दुष्टानां श्वासिक्री क्रिया ।  
 कार्या तृष्णोपशमनी तथैवामप्रदोषिकी ॥

सेवनात् । दोषगुणैर्वातादीनां रक्षादिभिर्गुणैः । ऋतुभिर्विगुणश्चाहारो  
 विहारश्च यस्मिन्वृत्तौ यद्विहितं तद्विपरीत आहारश्च विहारश्च ऋतुभिर्विगुणः  
 स्यात् । स्रोतसामिति दोषवहाणां स आहारो विहारश्च ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—दोषस्रोतोदुष्टिलक्षणमाह—अतीत्यादि । सिराणामतिप्रवृत्तिर्वा  
 सिराणां सङ्गो वा सिराणां ग्रन्थयोऽपि वा सिराणां विमार्गगमनश्चापि ।  
 स्रोतसां वातादिदोषवहस्रोतसाम् ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—अथ स्रोतसामाकारमाह—स्वधातुस्त्यादि । यानि स्रोतांसि  
 यं धातुं वहन्ति स धातुस्तेषां स्रोतसां स्वधातुस्तस्य धातोर्यावर्णस्तत्समवर्णानि  
 तद्धानुवहानि तानि स्रोतांसि । वृत्तानि च तानि स्थूलानि चेति वृत्तस्थूलानि ।  
 अणूनि च वृत्तसूक्ष्माणि च । दीर्घाणि लम्बानि । लतानां प्रतानं अग्रलता तत्  
 सदृशानि । स्रोतसां प्राणादिवहानां प्रकारमूलप्रकोपप्रकोपमणाकारानुत्त्वा

आहारश्चेत्यादिना सामान्येन सर्वस्रोतोदुष्टिमाह । दोषगुणैः सम इत्यनेन  
 दोषातिवर्द्धकं दर्शयति । क्षीणाश्च दोषा नान्यदुष्टिं कुर्वन्ति, किन्तु स्वयमेव क्षीणलिङ्गा भवन्ति  
 इत्यादि वेदितव्यमेव । धातुभिर्विगुण इति धातुविगुणस्वभाव इत्यर्थः न तु विपरीतगुणो धातु-  
 विगुणः । दिवास्वप्नमेध्यादयो हि भेदसा सामान्यगुणा एव भेदोदोषका एवोक्ताः ॥ ६ ॥

चक्रपाणिः—अतिप्रवृत्तिरित्यादिना सामान्यस्रोतोदुष्टिलक्षणमाह । अतिप्रवृत्तिरिह स्रोतो-  
 वाहस्य रसादेर्वोद्व्या । एवं सङ्गोऽपि रसादेर्विमार्गगमनञ्च, यथा—मूत्रवहाणां स्रोतसां चस्तिः  
 मूलमित्यादौ ॥ ७ ॥

चक्रपाणिः—स्वधातुसमवर्णानीति वाह्यधातुतुल्यवर्णानि । प्रतानो लताप्रपञ्चः । प्राणोदक-

\* धातुभिरिति चक्रसम्मतः पाठः ।

विविधाशितपीतीये रसादीनां यदौषधम् ।  
 रसादिल्लोतसां कुर्यात् तद् यथास्वमुपक्रमम् ॥  
 मूत्रविट्स्वेदवाहानां चिकित्सा मौत्रकृच्छ्रकी ।  
 तथातिसारिकी कार्य्या तथा ज्वरचिकित्सिकी ॥ ८ ॥

तत्र श्लोकाः ।

त्रयोदशानां मूलानि स्रोतसां दुष्टिलक्षणम् ।  
 सामान्यं नामपर्यायाः कोपनानि परस्परम् ॥  
 दोषहेतुः पृथक्त्वेन भेषजोद्देश एव च ।  
 स्रोतोविमाने निर्दिष्टं तथा चादौ विनिश्चयः ॥

तेषां दुष्टिप्रतिक्रियासूत्राण्याह—प्राणोदकेत्यादि । श्वासिकी श्वासरोगे विहिता या क्रिया सा कार्य्या । तथा तृष्णारोगोपशमनी या क्रिया विहिता तत्राध्याये सा कार्य्या । आमप्रदोषिकी विसूचिकालसकयोर्विहिता या च क्रिया सा च कार्य्येति प्राणोदकान्नवहस्रोतोदुष्टिप्रतिक्रिया बोध्या । विविधा-  
 शितपीतीयेऽध्याये यद्रसादीनामौषधमुक्तं रसादिवहस्रोतसामपि तदौषधं तच्च यथास्वमुपक्रमं कुर्यात् । आदिपदेनात्र रक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणां ग्रहणम् । मौत्रकृच्छ्रकी मूत्रकृच्छ्राध्यायोक्ता क्रिया या, या चातिसारिकी अतिसाररोगे विहिता, तथा या क्रिया ज्वरचिकित्सिकी ज्वररोगे विहिता सा सा क्रिया मूत्रविट्स्वेदवाहानां दुष्टौ कार्य्येत्यर्थः । वातादिवहस्रोतोदुष्टि-  
 प्रतिक्रिया तु निखिलेन तन्त्रेण वाच्या ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थमुपसंहरति—तत्रेत्यादि । त्रयोदशानां प्राणो-

इत्यादिना चिकित्सामाह—प्राणवहानां श्वासिकी, उदकवहानां तृष्णोपशमनी, अन्नवहानामाम-  
 प्रदोषिकी इति बोद्धव्यम् । मूत्रादिवहानामपि त्रयाणां मूत्रकृच्छ्रादयो यथासंख्यं तिस्रश्चिकित्सा  
 ज्ञेयाः ॥ ८ ॥

चक्रपाणिः—संग्रहे दुष्टिलक्षणं सामान्यं वाताद्यविशेषितं दुष्टिलक्षणमित्यर्थः । स्रोतोदुष्टि-  
 लक्षणानीह वातादिदोषभेदेन नोक्तानीत्यर्थः । वातादिविशेषेण चेह विस्तरभयाद् दुष्टिर्नोक्ता ; तेन  
 वातादिविशेषलिङ्गाधिक्याद् दुष्टिर्निर्णेतव्या । आदौ विनिश्चय इत्यध्यायादौ पुरुषस्य धमनी-

केवलं विदितं यस्य शरीरं सर्वभावतः ।

शरीराः सर्वरोगाश्च स कर्मसु न मुह्यति ॥ ६ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतै विमानस्थाने

स्रोतसां विमानं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

दकान्नादिवहानां प्रकारावच्छिन्नानाम् । स्रोतःप्रभृतिशरीरज्ञानफलमाह—  
केवलमित्यादि । केवलं कृत्स्नं शरीरं शरीरतत्त्वं शरीराः शरीरावयवाः  
सर्वरोगाश्च । एतत् केवलं कृत्स्नं यस्य विदितं, छन्दसि बहुलत्वात् पृष्ठी, स  
कर्मसु चिकित्साक्रियासु न मुह्यति ॥ ९ ॥

अध्यायं समापयति—अग्नौत्यादि ।

इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजलपकल्पतरौ तृतीय-  
स्कन्धे विमानस्थानजल्पे स्रोतसांविमाननाम-  
पञ्चमाध्यायजलपाख्या पञ्चमी शाखा ॥ ५ ॥

मयंत्वादिवानिश्चय इत्यर्थः । केवलमित्यादिना अत्रोक्तधमन्यादिभेदेन शरीरज्ञानस्योपा-  
देयतामाह ॥ ९ ॥

इति चरकचतुरानन-श्रीमद्यकपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्वेददीपिकायां विमानस्थान-  
व्याख्यायां स्रोतोविमानं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥



## षष्ठोऽध्यायः ।

अथातो रोगानीकं विमानं व्याख्यास्यामः, इतिह

स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

द्वे रोगानीके भवतः प्रभावभेदेन साध्यमसाध्यश्च, द्वे रोगानीके बलभेदेन मृदु दारुणश्च । द्वे रोगानीके अधिष्ठानभेदेन मनोऽधिष्ठानं शरीराधिष्ठानश्च, द्वे रोगानीके निमित्तभेदेन धातुवैषम्यनिमित्तश्चागन्तुजश्च, द्वे रोगानीके आशयभेदेन आमाशयसमुत्थश्च पक्वाशयसमुत्थश्च ॥ २ ॥

एवमेतत् प्रभावबलाधिष्ठाननिमित्ताशयभेदात् द्वैधं सद्भेदप्रकृत्यन्तरेण भिद्यमानं वा सन्धीयमानं स्यादेकत्वं बहुत्वं वा ।

गङ्गाधरः—अथ रोगमानविज्ञानार्थं स्रोतोविमानानन्तरं रोगानीकं विमानम् आरभते—अथात इत्यादि । रोगाणामनीकं समूहस्तमधिकृत्य कृतं विमानम् इति रोगानीकं तत् तथा ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—द्वे रोगानीक द्विविधं रोगानीकमित्यर्थः । प्रभावः प्रभवनं भवनमुत्पत्तिर्यद्रूपं यस्य तत्र येन भवनेन यत् द्रव्यं स्वकर्मणि प्रभुर्भवति तत् प्रभवनं प्रभावः । प्रभावं विवृणोति । साध्यमसाध्यञ्चेति । साध्यत्वमसाध्यत्वञ्चेति द्वे स्वप्रभावजे । मृदुत्वं दारुणत्वं द्वे बले । अकष्टकारित्वं मृदुत्वम् आशुकारित्वादिरूपत्वं दारुणत्वम् ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—नन्वेवमेव भेदो रोगानीकस्य न त्वधिकोऽस्तीत्यत आह—एवमित्यादि । द्वैधं द्विविधं सत् भेदप्रकृत्यन्तरेण एभ्यः प्रभावादिभ्योऽप्यधि-

चक्रपाणिः—पूर्वाध्याये स्रोतरूपाधिष्ठानभेदेन रोगानभिधाय प्रभावादिभेदेन रोगानभिधातुं रोगानीकं विमानमुच्यते । रोगानीकमिति रोगसमूहः । बलभेदेनेत्यत्र मृद्वल्पबलम्, दारुणन्तु महाबलं ज्ञेयम् । दारुणं किञ्चित्कालानुपातादेव बलवत्त्वान्मारयति । यदुक्तम्—“सन्ति ह्येवंविधा रोगाः साध्या दारुणसम्मताः । ये हन्युरनुपक्रान्ता मिथ्याचारेण वा पुनः ॥” इति । आमाशयसमुत्थत्वेन आमाशयाश्रयिकफपित्तजाः सर्वे गदा गृह्यन्ते । पक्वाशयसमुत्थग्रहणेन सर्वे वातजाः । एवं सर्वविकारावरोधः । द्वैधं सदिति द्वैविध्यं सत् । भेदप्रकृत्यन्तरेणति

एकत्वं तावदेकमेव रोगानीकं रुक्सासान्याद् ० बहुत्वन्तु दश रोगानीकानि प्रभावभेदादिना भवन्ति । बहुत्वमपि संख्येयं स्यादसंख्येयं वा स्यात् । तत्र संख्येयं तावद् यथोक्तमष्टोदरीये । अपरिसंख्येयं पुनर्यथा महारोगाध्याये—रुक्खासमुत्थानादीनाम् अपरिसंख्येयत्वात् । न च संख्येयाग्रेषु भेदप्रकृत्यन्तरीयेषु विगीतिरित्यतो दोषवती स्यादत्र प्रतिज्ञा काचित्, न चाविगीतिः

काभिरपराभिर्भेदस्य प्रकृतिभिर्भेदकधर्मभिर्घमानमपि सन्धीयमानं संक्षिप्यमाणमेकत्वं स्याद्रोगानीकस्य अथवा व्यस्यमानं बहुत्वं स्यात् । तत्र केन भेदप्रकृत्यन्तरेण भिद्यमानमपि सन्धीयमानमेकत्वं स्यादथवा व्यस्यमानं बहुत्वं स्यादित्यत आह—एकत्वमित्यादि । रुक्सासान्यात् रोगलसान्यात् । प्रभावभेदादिनेति साध्यासाध्य-मृदुदारुण-मानसशारीर-धातुवैषम्यजागन्तुजामाशय-समुत्थपक्वाशयसमुत्थानीत्यर्थः । ननु बहुत्वं किं त्रित्वादिकमपरिसङ्ख्येयं वेत्यत आह—बहुत्वमपीत्यादि । द्विविधं बहुत्वं सङ्ख्येयमसङ्ख्येयञ्च । अष्टोदरीये अष्टाबुदराणीत्यादिरूपेण संख्येयं बहुत्वमुक्तम् । महारोगाध्याये इति वात-विकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततत्त्वेनाशीतिर्वातविकारा व्याख्याता भवन्तीति वातविकारस्यैवमेव पित्तकफविकारयोश्चत्वारिंशत्त्वविंशतित्वे उक्त्वा अप्यपरिसंख्येयं बहुत्वमुक्तं रुक्खादीनां भेदप्रकृत्यन्तराणामपरिसंख्येयत्वात् । न चेत्यादि । ननु संख्येयानां भेदकधर्मभेदैः परिसंख्यातुं विषयाणां रोगानीक-स्यैकत्वादीनां संख्यानां मध्येऽग्रेषु श्रेष्ठेषु भेदकधर्मान्तरेणाग्नेयत्वसौम्यत्व-वायव्यत्वराजसत्वतामसत्ववातिकत्वादिना कृतेषु रोगानीकस्यैकत्वादिषु संख्या-नेषु विगीतिर्विरुद्धा गीतिरैकान्तिकवचनं न भवतीत्यतो हेतोश्च सर्व्वप्रतिज्ञा एकत्वादिरूपा दोषवती स्यात् भेदकधर्मास्थैर्यादित्येवं सर्व्वेव प्रतिज्ञा अत्रा-स्थिरतया न च व्यभिचार दोषवती स्यात् । कस्मादित्यतस्तदोषं परिहरति—

भेदकारणान्तरेण । तथापि सन्धीयमाने सति एकीक्रियमाणे एकबुद्धिकारकानुगतधर्मान्तरेणेति बोद्धव्यम् । दुःखसामान्यादिति दुःखकर्तृत्वेन सर्व्वरोगानुगतेन साधारणेन रूपेण सर्व्वरोगा एक-

इत्यतो दोषवती स्यात्, भेत्ता हि भेद्यमन्यथा भिनत्ति । अन्यथा पुरस्तात् \* भिन्नं भेदप्रकृत्यन्तरेण भिन्दन् भेदसंख्याविशेष-  
सापादयत्यनेकधा, न च पूर्वं भेदाग्रमुपहन्ति ॥ ३ ॥

न चाविगीतिरित्यादि । भेदकश्रेष्ठधर्मान्तरेण वायव्यत्वादिना रोगानीकस्य भेदा-  
नाञ्चाविगीतिरविरुद्धा गीतिरित्यतः काचिदपि द्वित्रादिप्रतिज्ञा न च दोषवती  
स्यात् सर्वा हि साध्वी प्रतिज्ञा । ननु कुतोऽसौ सर्वा प्रतिज्ञा साध्वीत्यत  
आह—भेत्ता हीत्यादि । हि यस्यात् भेत्ता भावानां भेदोपदेष्टा भेद्यं भेदविषय-  
भावमन्यथा भिन्नमन्यप्रकारेण भिनत्ति । कथं भिनत्तीति भेदकरणं  
चिष्टोति—अन्यथेति । पुरस्तात् पूर्वमन्यथा धर्मविशेषेण । पूर्वकृतभेदक-  
धर्मातिरिक्तधर्मेण भिन्दन्नपरभेदं कुर्वन् भेदसंख्याविशेषं भेदेन सङ्ख्याविशेषं  
पूर्वकृतभेदादपरभेदेन सङ्ख्याप्रभेदं पूर्वसङ्ख्यातोऽपरसङ्ख्यामनेकधापादयति ।  
न च पूर्वं कृतं भेदाग्रं भेदश्रेष्ठमुपहन्ति व्याहतं न करोति । एकानेक-  
दोषभेदेन द्विधा राजसतामसभेदेन द्विधा शीतोष्णभेदेन द्वौ ज्वरावित्येवं  
रूपा भवन्ति । बहुत्वमपीत्युक्तं प्रभावभेदादिकृतत्वादपि बहुत्वमित्यर्थः । संख्येयत्वमष्टौदरीये  
“अष्टचत्वारिंशद्रोगाधिकरणान्यस्मिन् संग्रहे” इत्यादिनोक्तम् । असंख्येयत्वं महारोगाध्याये तु  
“तत्र तत्र वापरिसंख्येया भवन्ति रुजावर्णस्थानसंस्थाननामभिः” इत्यनेनोक्तम् ।

ननु संख्येयत्वमसंख्येयत्वञ्च विरुद्धावेतौ धर्मौ, तथैकत्वमनेकत्वञ्चेति विरुद्धौ ।  
तत् कथं विरुद्धत्वेन ख्यातौ धर्मावेकस्मिन् रोगे घटेतामित्याह—न चेत्यादि । संख्येयाग्रेष्विति  
संख्येयरोगपरिमाणेषु, अग्रशब्दः परिमाणे वर्तते । तथैकैकस्य भेदाग्रमपरिसंख्येयं भवति, भेद-  
संख्यारूपं परिमाणमित्यर्थः । भेदप्रकृत्यन्तरैर्येविति भेदकारणान्तरभवेपु । विरुद्धा गीतिः  
विगीतिः, यथा—एकञ्चानेकञ्च, तद् इत्यादिका विरुद्धा गीतिः । अत इति यथोक्तविगीतियोगात्,  
न दोषवती काचित् प्रतिज्ञा, यथा—“अनेकरूपा ह्यल्परूपा” । अत्रोक्ता स्यादिति योजना ।  
विगीतौ दोषाभावं दर्शयित्वा भेदकारणान्तरकृतायामविगीतावपि दोषो भवतीति दर्शयन्नाह—न  
चाविगीतिरित्यादि । यदि ह्येकं रोगानीकं रुजासामान्यादित्यभिधाय पुनरेकं रोगानीकं प्रभाव-  
भेदादित्यविरुद्धा एकताख्यायिकाऽविगीतिः क्रियते, तथापि सा विरुद्धैव स्यात् । यतो न प्रभाव-  
भेदेन रोगाणामेकत्वमुपपन्नम्, किन्तु द्वैधमेवेति भावः । विगीतौ दोषाभावे हेतुमाह—भेत्ता  
हीत्यादि । भेत्ता पुरुषः, भेद्यं रोगम् । अन्यथा त्वेकत्वादिना भिनत्ति, अन्यथा एकत्वेन पुरुषः  
तावत् भेद्यञ्च अन्यथा भिनत्तीति । अस्यार्थं व्याकरोति भेदप्रकृत्यन्तरेणेत्यादिना । अनेकधेति

समानायामपितु भेदप्रकृतौ प्रकृत्यनुप्रयोगान्तरमपेक्ष्यम् । सन्ति ह्यर्थान्तराणि समानशब्दाभिहितानि, सन्ति चानर्थान्तराणि पर्यायशब्दाभिहितानि । समानो हि रोगशब्दो दोषेषु द्वित्वमुक्तं पुनः प्रभावादिभेदेन द्वित्वं यत् कृतं तच्च तत्पूर्वकृतं तद्द्वित्वं न व्याहन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—ननु द्वे रोगानीके इति प्रतिज्ञाय त्रीणि रोगानीकानीति पुनर्वचने प्रतिज्ञाहानिरेव भवति न चाविगीतिः स्यादित्यत आह—समानायामित्यादि । समानायामपि समानायामसमानायाश्च भेदप्रकृतौ रोगादौ भिद्यमाने प्रकृतेरनुप्रयोगान्तरमपेक्ष्यं तदर्थबोधकानुप्रयोगोऽपेक्ष्यते । यथा द्वे रोगानीके प्रभावभेदेनेत्युक्त्वा पुनर्द्वे रोगानीके इत्युक्तौ त्रीणि रोगानीकानीत्युक्तौ च तद्भेदकधर्मस्य प्रकृतेरनुप्रयोगान्तरं मृदुदारुणबलभेदेन निजागन्तुमानसभेदेनेत्यनुप्रयोगापेक्षा स्यात् ।

ननु कुतः प्रकृत्यनुप्रयोगान्तरमपेक्ष्यमित्यत आह—सन्तीत्यादि । एकशब्दाभिहिता अनेकार्थाः सन्ति । सन्ति च एकविधार्था अनेकशब्दवाच्याः । उदाहरणमाह—समानो हीत्यादि । एको रोगशब्दो दोषवाचको व्याधिवाचक-  
द्वे रोगानीके तथा दश रोगानीकानीत्यादि । न च पूर्वं भेदाग्रं भेदप्रमाणमुपहन्ति । एवं मन्यते—यद्धर्मयोगविवक्षया एकत्वमुक्तं, तद्धर्मयोगविवक्षयैव यदि बहुत्वमप्युच्यते रोगाणाम्, ततो विरोधो भवति । न हि तदेवैकज्ञानेकज्वेत्युपपन्नम् । यदा तु धर्मान्तरयोगविवक्षया बहुत्वमुच्यते, न तदा विरोधः ; बहुत्वाभिधानकाले बहूनामेव रोगधर्माणां विवक्षितत्वात् । रोगाणामेकत्वमेकधर्मविषयम्, बहुत्वञ्च बहुधर्मविषयमिति न विरोधः । ननु यत्रासमानभेदकारणं तत्र कारणान्तरकृतत्वादुक्तन्यायेन विगीतिः साध्वी भवतु, यत्र तु दश रोगानीकानि प्रभावादिद्वैविध्यादुच्यन्ते, तत्र कथं द्वे रोगानीके इति द्वित्वं कृतम्, द्वैविध्यमभिधाय पुनर्द्वित्वाद्भेदेनैव दशत्वमुच्यते । सामान्यो ह्ययं द्विधाशब्दो द्वित्वे दशत्वे च रोगाणां हेतुरित्याह—समानायामपीति, समानशब्दामिधेयत्वेनापाततः समानायामित्यर्थः । प्रकृतानुप्रयोगान्तरमपेक्ष्यमिति, प्रकृतस्य समानशब्देनाभिहितस्य यद्भेदख्यापकं पश्चात् प्रयोगान्तरम्, तदपेक्षणीयं विगीति-समानार्थमित्यर्थः । एतेनैतद् दर्शयति—यद्यपि द्विशब्दो रोगप्रभावे तथा रोगबलादौ च समानः तथाप्येकत्र प्रभावभेदानुप्रयोगान्तरमपेक्ष्य प्रभावद्वैविध्ये वर्तते, तथा बलभेदानुप्रयोगान्तरमपेक्ष्य च द्विशब्दो बलद्वैविध्ये वर्तते इत्यादि । तदेवोपपादयति सन्तीत्यादिना । अर्थान्तराणि पर्याय-

च व्याधिषु च । दोषा ह्यपि रोगशब्दमातङ्कशब्दं यक्ष्म-  
शब्दं दोषप्रकृतिशब्दं विकारशब्दश्च लभन्ते । व्याधयश्च रोग-  
शब्दमातङ्कशब्दं यक्ष्मशब्दं दोषप्रकृतिशब्दं विकारशब्दश्च  
लभन्ते । तत्र दोषेषु च व्याधिषु च रोगशब्दः समानः शेषेषु तु  
विशेषवान् । तत्र व्याधयोऽपरिसंख्येया भवन्त्यतिबहुत्वात्  
दोषास्तु खलु परिसंख्येया भवन्त्यनतिबहुल्यात् । तस्माद्  
यथोचितं \* विकारानुदाहरणार्थमनवशेषेण च दोषान् यथाव-  
दनुव्याख्यास्यामः ॥ ४ ॥

इति रोगशब्दाभिहिता अनेकार्थाः । दोषा अपि रोगादिनानाशब्दाभिहिता  
अर्था इति । व्याधयश्चापि रोगादिनानाशब्दाभिहिता अर्थाः । तेन द्वे  
रोगानीके इत्युक्तौ ज्वरादिवोधने दोषवोधने च प्रकृत्यनुप्रयोगान्तरमपेक्षते ।  
तत्रेत्यादि । शेषेषु ज्वरादिषु विशेषवानित्यसमान इति । तत्रेत्यादि ।  
तत्र रोगशब्देन व्याधावभिधेये प्रकृतौ रोगा अपरिसंख्येया अतिबहुत्वात् ।  
दोषेऽभिधेये रोगाः परिसंख्येयाश्चानतिबहुत्वात् इति । प्रकृते रोगस्य पूर्व-  
प्रयोगस्य प्रकृत्यनुप्रयोगान्तरं व्याधय इत्यादि । दोषास्त्वित्यादिकश्च ।  
तस्माद्वाधीनामपरिसंख्येयत्वात् दोषाणां परिसंख्येयत्वाच्च । उदाहरणार्थ-  
मिति विकाराणां यथोचितमुदाहरणार्थम् । यथोचितमिति प्रायोभाविनो  
रोगस्य । सशेषेणेति अनिशेषेण कियदवशेषं विकाराननुव्याख्यास्यामः ।  
दोषाणामुदाहरणार्थमनवशेषेण च निःशेषेण च दोषाननुव्याख्यास्याम इति  
प्रतिजानीते ॥ ४ ॥

शब्दानभिहिता अर्थाः । तत्रोदाहरणमाह—समानो हीत्यादि । दोषेषु व्याधिषु च समानं लभन्-  
वाचकत्वेन तुल्यो रोगशब्दः, तेन रोगदोषसमानत्वेनाभिधेयसमानानां रोगातङ्क्यक्ष्मादिशब्दानां  
सर्वेषामेव वक्ष्यमाणानां ग्रहणम् । शेषेऽपि हेत्वादिषु, विशेषवानित्यभिधानरूपविशेष-  
वानित्यर्थः । तत्रापि रोगशब्दाभिधेयतासमानेऽपि दोषे तथा विकारे च परिसंख्येयाऽपरि-  
संख्येयरूपा विगीतिरस्त्यथ चादोष इत्यभिप्रायेणाह—तत्रेत्यादि । एकैकस्मिन् दोषे बहवो  
विकारा भवन्तीत्यभिप्रायेण विकारापेक्षया दोषाणामनतिबहुत्वं ज्ञेयम् । यथाचित्रमिति यथा-  
विन्यासम्, तेन यानेव पूर्वाचार्या विकारानधिकतमत्वेनोक्तवन्तस्तानेव व्याख्यास्यामः, न तु

रजस्तमश्च मानसौ दोषौ, तयोर्विकाराः कामक्रोधलोभ-  
मोहमानसदशोकचिन्तोद्वेगभयहर्षादयः । वातपित्तश्लेष्माणस्तु  
खलु शारीरा दोषास्तैषामपि विकारा ज्वरातिसारशोथशोषश्वास-  
मैहकुण्डादय इति । दोषाः केवला व्याख्याता विकारैकदेशश्च ।  
तत्र तु खल्वेषां द्वयानामपि दोषाणां त्रिविधं प्रकोपणम् ।  
असात्मेन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति । प्रकुपितास्तु  
खलु प्रकोपणविशेषादूष्यविशेषाच्च विकारविशेषानभिनिवर्त्त-  
यन्त्यपरिसंख्येयान् । ते खलु विकाराः परस्परमनुवर्त्तमानाः  
कदाचिदनुवध्नन्ति कामादयो ज्वरादयश्च । नियतस्त्वनुबन्धो

गङ्गाधरः—तत्रादौ प्रतिलोमतन्त्रयुक्त्या दोषान् निःशेषेण व्याख्यानयति—  
रजस्तमश्चेत्यादि । आदिना द्वेपादयश्च । वातेत्यादि आदिना कासा-  
दयश्च । दोषाः केवला इति कृत्स्नाः । तत्र खित्यादि । प्रकोपणमिति वैषम्य-  
कारणम् । परिणामश्चेत्यतोऽनन्तरमुक्तं प्रागिति शेषस्तेन न पुनरुक्तम् । अनु-  
वादोऽयं विकारापरिसंख्येयत्वकथने हेतूपदेशार्थम् । प्रकुपितास्त्विति दोषा  
इत्यनुवर्त्तते । अपरिसङ्ख्येयान् विकारविशेषानित्यन्वयः । ते च शारीरदोषजा  
ज्वरादयो विकारा मानसदोषजाः कामादयश्च विकारा अनुवर्त्तमाना जातोत्तर-  
मधिककालं वर्त्तमानाः परस्परमनुवध्नन्ति कदाचिन्नैकान्ततः । नियतस्तु

सर्वान् अशक्यत्वात् । किंवा यथोचितमिति पाठः । अनवशेषेण च दोषा इत्यनेन दोषा अनति-  
बहुत्वेनानवशेषेणाप्यभिधातुं शक्यन्त इति प्रकाशयति ॥ १—४ ॥

चक्रपाणिः—तत्र मानसदोषविकारयोरनल्पवक्तव्यतयाऽग्रेऽभिधानम् । ननु परिमितादोषरूपात्  
कारणात् कथमपरिमिता विकारा भवन्तीत्याह—प्रकुपितास्त्वित्यादि । हेतुविशेषदृष्टो हि स  
एव दोषो दूष्यान्तरगतश्च विभिन्नशक्तियोगाद् बहून् विकारान् करोतीति युक्तमेव । उक्तञ्च—  
“स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः । स्थानान्तरगतश्चैव विकारान् कुरुते बहून् ॥”  
इति ।

विकाराणां शारीरमानसानां परस्परं संसर्गमाह—ते खलु विकारा इत्यादि । अनुवर्त्तमाना  
इत्यनेन यदैव ज्वरादयः कामादयो वाऽवलत्वेन च चिरकालमनुवर्त्तन्ते, तदैवानुवध्नन्ति  
प्रायः । यदा तु स्तोककालावस्थायिनो भवन्ति, न तदा प्रायोऽनुवध्नन्तीत्यर्थः । किंवा अनु-

रजस्तमसोः परस्परम्, न ह्यरजस्कं तमः । प्रायः शारीरदोषा-  
णाम् एकाधिष्ठानीयानां सन्निपातः संसर्गो वा समानगुणत्वात् ।

ऐकान्तिकस्त्वनुबन्धः । रजस्तमसोर्मानसदोषयोः कुतो नियतोऽनुबन्धस्तयो-  
स्तित्यत आह—न हीत्यादि । अरजस्कं रजो विना तमो वर्त्तते न, तमो विना  
रजो न वर्त्तते इत्यर्थात् । रागेण हि प्राप्याप्राप्त्या मोहो भवति तमसा च  
रागवृद्धिः स्यादिति । शारीरदोषाणां वातपित्तकफानामेकाधिष्ठानानां समान-  
गुणत्वात् वातपित्तकफानां यावन्तो गुणाः समानास्तावद्गुणैः प्रायः  
सन्निपातस्त्रयाणां समवायः । प्रायः संसर्गो वा तेषामन्यतमयोर्द्वयोः ।  
प्राय इति पदेन क्वचित् पृथक् दोषाणामप्यभिपातः स्यादिति श्रुचितं तेन च न  
रोगोऽप्येकदोषज इति मतमनादृतं कृतमिति । तथा हि ईषत्स्निग्धत्वेऽपि  
पित्तस्य यत्किञ्चिद्रौक्ष्यं वातस्य च रौक्ष्यं पित्तस्य मध्यलघुत्वं वात-  
स्यातिलघुत्वं पित्तस्य च सूक्ष्मत्वं वातस्य च चलत्वं वातस्य पित्तस्य सरत्वं कटुत्वं  
पित्तस्य तेन रौक्ष्यं वातस्य सयोनिक्त्वं वातस्य दारुणत्वं पित्तस्य तीक्ष्णत्वं  
संयोनिकमिति पित्तगुणसामान्यं वातस्य । वातस्य शीतत्वं कफस्य च वातकफयो-  
गुणसामान्यम् । पित्तस्येपत्स्निग्धत्वं कफस्य स्निग्धत्वं पित्तस्य मध्यगुरुत्वं  
कफस्य गुरुत्वं पित्तस्य द्रवत्वं कफस्य द्रवत्वं पित्तस्य किञ्चित् पैच्छिल्यं कफस्य  
पैच्छिल्यं पित्तस्याम्लत्वे मध्यस्निग्धत्वं कफस्य मधुरत्वेन स्निग्धत्वमिति पित्त-  
कफयोगुणसामान्यमिति । ननु वातस्य शीतत्वं पित्तस्योष्णत्वं शीतविरोधि,  
वातस्य रुक्षत्वं पित्तस्येपत्स्निग्धत्वं रुक्षविरोधि, वातस्य लघुत्वं पित्तस्यावरलघु-  
त्वम् अम्लत्वे मध्यलघुत्वं कटुत्वे ततो विदग्धपित्तस्य व्याधिकर्तृत्वेनाल्पलघुत्व-  
मेवाल्पगुरुत्वं तल्लघुत्वविरोधिवातस्यामूर्त्तत्वं पित्तस्य द्रवमूर्त्तत्वममूर्त्तत्वविरोधि  
तत् कथं मिथो नोपघातः ? तथा वातस्य रुक्षत्वं तद्विरोधि स्निग्धत्वं कफस्य  
लघुत्वं वातस्य गुरुत्वं कफस्य सूक्ष्मत्वं वातस्य स्थूलत्वं सान्द्रत्वं कफस्य चलत्वं  
वातस्य स्थिरत्वं कफस्य वैशद्यं वातस्य पैच्छिल्यं कफस्य खरत्वं वातस्य

वर्त्तमानाः परस्परं बलमभिर्वर्द्धयन्तः । अत्र च परस्परशब्देन शारीराणां शारीरेण, मानसानां  
मानसेन, शारीराणां मानसेन, मानसानां शारीरेण चानुबन्धो ज्ञेयः ।

विकारानुबन्धं दर्शयित्वा दोषानुबन्धमाह—नियतस्त्वित्यादि । शारीरदोषानुबन्ध-  
माह—शारीरेत्यादि । एकाधिष्ठानीयतामित्यनेनैकशरीराधिष्ठानप्रत्यासत्त्या संसर्गो दोषाणां

दोषा हि दूषणैः समानाः । तत्रानुबन्धानुबन्धकृतो विशेषः ।  
स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थानप्रशमो भवत्यनुबन्धः,

मृदुत्वं कफस्य दारुणत्वं वातस्य मृदुत्वं कफस्यामूर्त्तत्वं वातस्य द्रवमूर्त्तत्वं  
कफस्य नीरसत्वं वातस्य मधुरत्वं कफस्येति वातकफयोर्न कथं मिथो भवत्युप-  
घातः । पित्तस्येपत्स्निग्धत्वेनैवैषद्रुक्षत्वं कफस्य स्निग्धत्वं पित्तस्योष्णत्वं  
कफस्य शीतत्वं पित्तस्य तीक्ष्णत्वं कफस्य मृदुत्वं पित्तस्याम्लत्वे हीनगुरुत्वं  
हीनलघुत्वं वा कटुत्वेन मध्यलघुत्वं कफस्य गुरुत्वं पित्तस्याम्लत्वं कटुत्वं वा  
कफस्य लवणत्वं मधुरत्वं वा पित्तस्य सरत्वं कफस्य स्थिरत्वं पित्तस्येपत्पिच्छिल-  
त्वेनैषद्वैशद्यं कफस्य पैच्छिल्यमिति तत् कथं पित्तकफयोर्न मिथो भवत्युप-  
घात इत्याशङ्का दृढवलेन निरस्तव्या । विरुद्धैरपि न त्वेते गुणैर्ध्वनन्ति परस्परम् ।  
दोषाः सहजसात्मत्वाद्घोरं विषमहीनिवेति वचनेन सर्व्वथोच्छेदकत्वाभावाथ-  
केन । तद्वचनेन सर्व्वगुणतो दोषाणां सन्निपातसंसर्गासम्भवमाशङ्काह—दोषा  
हीत्यादि । वातपित्तकफास्त्रिंशो दूषणैर्द्रव्यविशेषैः पाटलधान्यादिभिः स्वप्रभावात्  
त्रिदोषकरैस्तथा द्विशो निष्पावादिभिर्द्रव्यविशेषैः स्वप्रभावाद्वातपित्तादिद्विद्वि-  
दोषकरैः प्रकोपे सर्व्वगुणतः समाना इत्यर्थः, एतेन पूर्वाशङ्का निरस्ता । ननु  
तथाविधे सन्निपाते संसर्गे वा दोषाणां किं तुल्यबलत्वमतुल्यबलत्वं वेत्यत  
आह—तत्रानुबन्धेत्यादि । तत्र दोषाणां सन्निपाते संसर्गे वा । अनु अल्पवलेन  
येन यो बलवान् बध्यते सोऽल्पबलोऽनुबन्धः प्रबलस्त्वनुबन्धस्ताभ्यां कृतो  
विशेषो वर्त्तते । ननु कस्त्वनुबन्धः को वानुबन्ध इत्यत आह—स्वतन्त्र  
इत्यादि । त्रयाणां दोषाणां सन्निपाते तेषां मध्ये यो दोषः स्वतन्त्रः स्वेतर-  
दोषयोः प्रयोजको न च प्रयुज्यः, सोऽनुबन्धः । कुतोऽयं ज्ञायते इत्यत आह—

भवन्तीति दर्शयति । समानगुणत्वादिति हेतुं विवृणोति—दोषा हीत्यादि । दूषणैरिति हेतुभिः ।  
प्रायो हि शरीराणां वातादीनां समानो हेतुर्भवति । तथा ह्यम्लं लवणं कटुं च पित्तं कफं वातञ्च  
करोति, तत्राम्लं सकफं पित्तं करोति, लवणञ्च सपित्तं कफं करोति, कटुं तु सवातं पित्तं करोति ;—  
तथा वसन्तः श्लेष्मकारकोऽप्यादानत्वेन वातपित्तं च करोति, तथा वर्षास्त्रिंशो पित्तं वीर्यमानं शरदि  
प्रकुप्य कफानुगतमेव कुप्यति । तथा ग्रीष्मो वातचयं रुक्षत्वेन कुर्वन् उष्णत्वेन मनाक् पित्त-  
चयमपि करोतीत्यनुसरणीयम् ।

एवमेव दोषानुबन्धमनुबन्धानुबन्धभेदेन दर्शयितुमनुबन्धानुबन्धलक्षणमेवाह—  
तत्रेत्यादि । अनुबन्धस्य अनुबन्धस्य च विशेषोऽनुबन्धानुबन्धविशेषः । स्वतन्त्र इति



तद्विपरीतलक्षणश्चानुबन्धः । अनुबन्धानुबन्धलक्षणसमन्विता \*  
यदि तत्र दोषा भवन्ति तत् त्रिकं सन्निपातमाचक्षते द्वयं वा  
संसर्गम् । अनुबन्धानुबन्धविशेषकृतस्तु बहुविधो दोषभेदः ।

व्यक्तलिङ्ग इति । व्यक्तानि लिङ्गानि यस्य स व्यक्तलिङ्ग इति व्यक्तलिङ्गैरनुमीयते-  
ऽनुबन्ध्यः । तानि लिङ्गानि यदि गूढानि भवन्ति तदा कथं ज्ञायते इत्यत  
आह—यथोक्तसमुत्थानप्रशम इति । यस्य व्याधेयं यत् समुत्थानमुत्पत्तिकारण-  
मुक्तं यश्च यस्य व्याधेः प्रशमनहेतुरुपशय उक्तस्तत् समुत्थानं तदुपशयैः प्रशमश्च यस्य  
स यथोक्तसमुत्थानप्रशम इत्यर्थः । तद्विपरीतलक्षणः परतन्त्रोऽनुबन्ध्यसमुत्थान-  
प्रशमाभ्यामेव समुत्थानप्रशमश्चानुबन्ध इति । नन्वेवं किं सन्निपातो बहुविधः  
संसर्गश्चानेकविधः स्यादित्यत आह—अनुबन्ध्येत्यादि । अनुबन्ध्यानुबन्धरूप-  
त्रिदोषसमन्वये सन्निपातमाचक्षते न त्वनुबन्ध्यमात्ररूपत्रिदोषसन्निपाते, तत्र  
पुनर्यो यो दोषोऽनुबन्ध्यरूप एको भवति तदा एकदोषमाचक्षतेऽनुबन्धस्याप्राधा-  
न्येन तद्व्यपदेशाभावात् । पृथक् पृथगेकदोषाभिपाते तु एकदोषो न व्याहृत्यते  
तेन । न च पूर्वं भेदाग्रमुपहन्तीति वचनात् । द्वयं वा संसर्गम् अनुबन्ध्यानुबन्ध-  
लक्षणौ द्वौ दोषौ यदि तत्र समन्वितौ भवतस्तदा तद् द्वयं वा संसर्गमाचक्षते  
इत्यर्थः । ननु तथाविधस्त्वेकदोषद्विदोषाश्च कतिधा भवन्तीत्यत आह—अनु-  
बन्ध्यानुबन्धविशेषेत्यादि । बहुविधो दोषभेद इति वृद्धावस्थायां त्रयाणां सन्निपाते

यथोक्तो दोषो लक्षणीयः, स्वतन्त्र इत्यस्यैव विवरणम्—व्यक्तलिङ्ग इत्यादि । यथोक्त-  
समुत्थानप्रशम इति स्वहेतुसमुत्थितः स्वचिकित्सयैव प्रशमनीयः । किंवा, स्वतन्त्र इत्यनेनापि  
स्वविकारकरणे प्राधान्यमुच्यते, स्वतन्त्रो हि दोषः प्रकोपकाले विकारान् करोति । अस्य तन्  
स्वप्रकोपकाल एव विकारं ज्वरातिसारादिरूपं तथाऽनुबन्ध्यानुबन्धाकारं प्रधानदोषेरितः  
करोति । तद्विपरीतलक्षण इत्यनेनाव्यक्तलिङ्गोऽस्वहेतुप्रकुपितः परचिकित्साशमनीयश्चानुबन्ध  
इति लभ्यते, अनुबन्धो ह्यवलवत्त्वेन न लिङ्गं व्यक्तं करोति, तथा परहेतुना किञ्चिदनुगुणे  
प्रकुपितः परचिकित्सयैव किञ्चिदनुगुणतया शाम्यति । यथा—शरदि श्लेष्मा पित्तहेतुना जलाशय-  
विपाकेन जन्यते, स च पित्तचिकित्सयैव तित्तसर्पिरादिकया कफोऽप्यनुगुणतया शाम्यति ।  
द्वयं वा अनुगुणलक्षणं प्राप्तं संसर्गमाचक्षत इति योजना । अनुबन्ध्यशब्दश्चायं व्यक्तलिङ्गतादिधर्म-  
युक्ते दोषे वर्तते । तेनाप्रधानानुगमनीये सन्निपाते अनुबन्धाभावेऽप्यनुबन्ध इति व्यपदेशो

एवमेव संज्ञाप्रकृतो भिषजां दोषेषु चैव व्याधिषु च नाना-  
प्रकृतिविशेषाद् व्यूहः ॥ ५ ॥

अग्निषु तु शारीरेषु चतुर्विधो विशेषो बलभेदेन भवति ।  
तद् यथा—तीक्ष्णो मन्दः समो विषमश्चेति । तत्र तीक्ष्णोऽग्निः  
एकोल्वणास्त्रिविधा एकदोषा हीनमध्याधिकाः षड्विधा एकदोषाः द्विदोषसम-  
न्वये षड्विधा एकदोषा इति पञ्चदशविधोऽनुबन्ध्यानुबन्धविशेषकृतो भेदः । तथा  
त्रिदोषवृद्धां द्रुगल्वणा द्विकाः त्रिविधा इत्यनुबन्ध्यानुबन्धविशेषकृतस्त्रिविधो भेदः  
इति अष्टादशविध एवानुबन्ध्यानुबन्धविशेषकृतो भेदः । द्विदोषाभिपाते त्रिविधाश्च  
द्विका अनुबन्ध्यरूपकृतो भेदस्त्रिविधः । पृथक् दोषाभिपाते एकदोषास्त्रय इति  
अनुबन्ध्यकृतस्त्रिविधो भेदः । समत्रिदोषसन्निपाते एकः सन्निपातः इत्यनुबन्ध्य-  
कृत एकविधो भेद इति पञ्चविंशतिविधो वृद्धावस्थायां भेदः । अनुबन्ध्यानु-  
बन्धाभ्यां व्यपदिश्यते भेद इति । एवं क्षयावस्थायां पञ्चविंशतिविधो भेदः ।  
क्षयस्थानवृद्धावस्थायान्तु द्वादशविधो भेद इति द्विपट्टिविधेषु भेदेषु मध्ये  
द्वाचत्वारिंशद्विधो भेदोऽनुबन्ध्यानुबन्धविशेषकृतः, शेषास्तु अनुबन्ध्यकृता अष्टौ  
द्वादशधा च मिश्ररूपाः । उपसंहरति—एवमेव इत्यादि । एवं प्रकारेण दोषेषु  
चैव भिषजां एष बहुविधो भेदः संज्ञाप्रकृतः, न तु व्याधिषु । व्याधिषु च पुनः  
नानाप्रकृतिविशेषात् दोषागन्तुरूपनानाप्रकृतिप्रभेदात् भिषजां संज्ञा प्रकृतो  
व्यूहः समूह इत्यर्थः ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—अथ प्राणिनां कायाग्निजीवितत्वात् दोषप्रभवत्वाच्च कायाग्निषु  
भिषजां संज्ञाप्रकृतो भेदः कीदृश इत्यत आह—अग्निषु कृत्यादि । शारीरेषु  
इत्यनेन भौताग्निधात्वग्नीनां निरासः । चतुर्विधो विशेषोऽग्निषु तु भिषजां संज्ञा-  
प्रकृत इत्यन्वयः । बलभेदेनेति बलं समं विषमं तीक्ष्णं मन्दञ्चेति । तद्भेदेन  
कीदृशश्चतुर्विध इत्यत आह—सम इत्यादि । तत्र प्रतिलोमतन्त्रयुक्त्या लक्षयति  
भवत्येव । अनुबन्ध्यानुबन्धरूपसंसर्गविशेषेण कृतः । संज्ञाप्रकृत इत्यनुबन्ध्यानुबन्धसन्निपात-  
संसर्गज्वरातिसारादिसंज्ञाकृत इत्यर्थः । नानाप्रकृतिविशेषव्यूह इति यथोक्तनानाकारणविशेष-  
कृतो ज्वरातिसारादिरूपो व्याधीनां दोषाणाञ्च समूह इत्यर्थः । भिषजामिति पदेन च वैद्या-  
नामप्येवं समयसिद्धाऽनुबन्ध्यादिसंज्ञेति दर्शयति ॥ ५ ॥

चक्रपाणिः—दोषभेदविकारभेदमभिधाय शरीरस्थितेः प्रधानकारणस्याग्नेर्भेदमाह—अग्निषु  
इत्यादि । शारीरेष्विति सामान्यवचनेन सर्वशरीरगताग्नीं आह्वयति । विचरणे तु ज्वररग्निः  
जनकः वा ।

सर्वापचारसहस्तद्विपरीतलक्षणस्तु मन्दः, समस्तु खल्वपचारतो विकृतिमापद्यते अनपचारतस्तु प्रकृतावेवावतिष्ठते । समलक्षणविपरीतलक्षणस्तु विषमः ॥ ६ ॥

अनुमानार्थं प्रागभिहितम् अग्निं जरणशक्त्येति । सर्वापचारसहः सदसद्भोजनमात्रामात्रातिशयसहः । एतेन प्रभूतमप्युपयुक्तमाहारं शीघ्रं पचतीति ख्यापितम्, स एवातिवर्द्धमानोऽत्यग्निराख्यायते इति परैः । स एव भस्मक इत्यन्यैराख्यायते इति । तद्विपरीतलक्षणस्तु अल्पापचारस्याप्यसहः । समस्तित्यादि प्रकृतावेवावतिष्ठते । एतेन यथाकालं मात्रावदुपयुक्तमाहारं सम्यक् पचतीति ख्यापितम् । समलक्षणविपरीतलक्षणस्त्विति अपचारानपचाराभ्यां न वा प्रकृतिं न वा विकृतिं भजते, कदाचित् सम्यक् पचति कदाचिदाध्मानादिकं कृत्वा पचतीति भावः । सुश्रुतेऽप्युक्तम्—प्रागभिहितोऽग्निरन्नस्य पाचकः । स चतुर्विधो भवति, दोषानभिपन्न एको विक्रियामापन्नस्त्रिविधो भवति । विषमो वातेन, तीक्ष्णः पित्तेन, मन्दः श्लेष्मणा, चतुर्थः समः स्रवसाभ्यादिति । तत्र यो यथाकालमन्नमुपयुक्तं सम्यक् पचति स समः समैदोषैः । यः कदाचित् सम्यक् पचति कदाचिदाध्मानशूलोदावर्त्तातिसारजठरगौरवात्रकूजनप्रवाहणानि कृत्वा स विषमः । यः प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशु पचति स तीक्ष्णः, स एवातिवर्द्धमानोऽत्यग्निरित्याभाष्यते; स मुहर्म्हुः प्रभूतमप्युपयुक्तमाशुतरं पचति, पाकान्ते च गलताल्वोष्ठशोषदाहसन्तापान् जनयति । यः स्वल्पमप्युपयुक्तमुदरशिरोगौरवकासश्वासप्रसेकच्छद्दिगात्रसदनानि कृत्वा महता कालेन पचति स मन्दः । विषमो वातजान् रोगान् तीक्ष्णः पित्तनिमित्तजान् । करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसम्भवान् ॥ इति । अत्र वातजानि महारोगाध्याये उक्तानशीतिर्वातविकारान् । एवं चत्वारिंशतः पित्तविकारान् विंशतिं कफविकारान् । अन्यत्रातितीक्ष्णाग्निः पठितः । अतिमात्र-  
एव “तीक्ष्णः सर्वापचारसहः” इत्यादिना यच्चातुर्विध्यमुक्तम्, तज्जठराग्नितीक्ष्णतादिमूलत्वग-  
ग्न्यादितीक्ष्णत्वादिरेवेति ज्ञेयम् । वचनं हि—“तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः”  
इति । यद्यपि समोऽग्निः शस्तत्वेनाग्नेऽभिधातुं युज्यते, तथापि समतश्च तीक्ष्णस्यैव प्राधान्योप-  
दर्शनार्थमिहाग्नेऽभिधानम् । समस्य हि प्राधान्यं निर्विकारत्वेनैव सुस्थितम्, तीक्ष्णः सर्वाप-  
चारसहत्वेन प्रधानम् । तेन तद्विपरीतलक्षणं सिध्यति,—खल्पापचारमपि यो न सहते, स मन्द-  
इत्यर्थः । समलक्षणविपरीतलक्षण इति कदाचिद्विषमोऽपचारादपि न विक्रियते, कदाचिद-

इत्येतै चतुर्विधा भवन्त्यग्नयवेकुतैषु दोषेषु प्रकृतिस्थत्वमुप-  
तत्र समवातपित्तश्लेष्मणां प्रकृतिरिति । सन्ति तु खलु वातला-  
लानान्तु वाताभिभूतैऽन्यधिप्लेस्थास्तु ते ज्ञेयाः ॥ ८ ॥  
लानान्तु पित्ताभिभूतै र्वधानां पुरुषाणां चत्वार्यनुप्रणिधानानि  
श्लेष्मलानान्तु श्लेष्माणि तत्र समसर्वधातूनां सर्वाकार-  
न्यग्नयः ॥ ७ ॥ त्रयाणां यथास्वं दोषाधिक्यमभिसमीक्ष्य

मजीणैऽपि गुरु चान्नमथाशु विकृतिः प्रकृतिरुच्यते, उक्तञ्च प्रागेतत्—दोषानु-  
इति । अस्यातिष्ठदौ भूतैरुच्यते । नन्वस्तु तथाविधा दोषविकृतिरूपैव प्रकृतिः  
कफे पित्तं कु नेत्यत आह—न चेत्यादि । गर्भात् प्रभृति विकारेषु प्रकृतिस्थत्वं  
तदा लब्धवलो कुट्टितकरचरणादिविकारकत्वात् । समास्तु यथा यथा मानेन  
गृह्मर्षुः । पत्न्याणां येषां भवन्ति तथा तथा मानेन गृह्मन्मध्यह्न्यादिरूपाः पुरुषाः  
मातृहान् मृत्युश्च वा वलवत्समाग्नयो भवन्तीति मानाधिक्यालपत्ताभ्यां सममानत्वे  
तदुत्कासदाहमूर्च्छातिरिति भावः । तस्मात् विकृतित्वेन प्रकृतिस्थत्वानुपपत्त्या  
विषमाग्न्यादिविषमाधिक्यरूपा न प्रकृतयः सन्ति, सन्ति तु खलु वातला इत्यादि ।  
गङ्गाधरः—नारोगाः इत्यत आह—अप्रकृतिस्थास्तु ते ज्ञेयाः न तु स्वस्था  
इत्यादि । न ॥

वातादीनां रः—नन्वेवञ्चेत् तदा उत्तरकालं तत्प्रतिक्रियया विषमा वा तीक्ष्ण  
प्रकृतिस्थाना वायव्यः किं समा न भवन्ति भवन्ति वा । समाश्च गर्भात् प्रभृति  
तेषां समाग्ना वा तीक्ष्णा वा मन्दा वा भवन्ति किं न वेत्यत आह—तेषान्तु  
पित्तश्लेष्मयादि । अनुप्रणिधानानि अनु उत्तरकालं प्रकर्षेण प्रकृतिरूपेण  
प्रभृति वन्ति वाताद्याधिक्यसाम्यानि यैस्तान्यनुप्रणिधानानि । तानि कीदृशानि  
प्रचनव्या आह—तत्रेत्यादि । सर्वाकारसमं रसतो गुणतो वीर्यतो विपाकतः  
धिष्ठाने तत्तश्च मात्रातश्च कालतश्च देशतश्च सत्त्वतश्च सात्म्यतश्च समवातपित्त-  
भवन्त्यभिः समं यत् प्रतिकर्म तद्विधानं श्रेयस्करम् । समाग्ने रक्षणकरम् । वात-  
विक्रियानुप्रणिधानान्तु न श्रेयस्करं किन्तु वैषम्यादिकरमिति भावः । अधिक-  
श्लेष्मा-

इति षाकाष्टादिवैषम्यं परित्यज्याविमूर्तविकाराकारित्वेनादूरान्तरं साम्यमिष्यते, तादृशेव प्रकृत्यावपि  
क्रियोन्मयमस्येति भावः । अन्ये तु वैषम्यं नाद्रियन्त एव व्यपदेश्यरोगाजनकत्वात् । दोषप्रकृतिः

दोषप्रतिकूलयोगीनि त्रीण्यनुप्रणिधानानि श्रेयस्कराणि भवन्ति,  
यावदग्नेः समीभावात् । समे तु सममेव कार्य्यम्, एवञ्चेष्टा  
भेषजप्रयोगाश्चापरे । तानि \* विस्तरेणानुव्याख्यास्यामः ॥ ६ ॥

दोषाणां त्रयाणां वातलानां पित्तलानां श्लेष्मलानाञ्च यथास्वं वातलस्य  
वाताधिक्यं पित्तलस्य पित्ताधिक्यं श्लेष्मलस्य श्लेष्माधिक्यमभिसमीक्ष्य ।  
दोषप्रतिकूलयोगीनीति वातलस्य वातप्रतिकूलयोगीनि मधुराम्ललवणा-  
दीनि । पित्तलस्य पित्तप्रतिकूलयोगीनि मधुरतिक्तकपायादीनि । श्लेष्मलस्य  
श्लेष्मप्रतिकूलयोगीनि कटुतिक्तकपायादीनि । यावदग्नेः समीभावात् समत्व-  
प्रातर्भावपद्व्यन्तम् । ततस्तेन तेन समे तु बहौ सममेव समसर्वाकारमनुप्रणि-  
धानं कार्य्यमित्यर्थः । ननु सुश्रुते—प्रकोपो वान्यथाभावः क्षयो वा नोप-  
जायते । प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुपीति वचनं वचनेनानेन विरुध्यते  
वातलादीनां विषमाद्यग्नीनां साम्यकरवचनेन । समानेर्वातलाद्याहारादिना  
वैषम्याद्याशङ्कायां पालनवचनेन चेति चेन्न । अप्रकृतिभूतानां कालप्रकर्षेण  
वृद्धिक्षयान्यथाभावा यथा जायन्ते तथा गर्भात् प्रभृति प्रकृतिभूतानां काले-  
नापि न क्षयवृद्धान्यथाभावा भवन्ति इत्यभिप्रायेण सुश्रुतवचनम्, न च कारणोप-  
सेवनेन तु क्षयवृद्धान्यथाभावास्तेन प्रतिषिद्धा इत्यविरोधात् । अथ वातला-  
दीनां धातुसाम्यापादनेन विषमाद्यग्नीनां सूत्ररूपेण समत्वकरणानुरक्षणोपायान्  
उत्त्वा निःशेषेण तदुपायं वक्तुमाह—एवञ्चेष्टा इत्यादि । एवञ्च वातलादीनां  
विषमाद्यग्निसाम्यकरणार्थं दोषप्रतिकूलयोगीन्यनुप्रणिधानानि श्रेयस्कराणि  
निषेव्य समाग्निमापन्नस्य समसर्व्वरससात्म्यं श्रेयस्करं तथा परे च वातला-  
दीनां विषमाद्यग्निसाम्यकरणानन्तरं समाग्निपालका रसायनविशेषा भेषज-  
प्रयोगा इष्टाः प्रभावात् । वातलादीनां विषमाद्यग्निसाम्यकरणोपायं वक्तुमभि-  
प्रेत्याह—तानीत्यादि । दोषप्रतिकूलयोगीनि त्रीण्यनुप्रणिधानानि ॥ ९ ॥

इति इष्टदोषभाविता प्रकृतिरित्यर्थः । दोषे प्रवृद्धे प्रतिकूलतया योगीनि दोषप्रतिकूलयोगीनि  
त्रीणि वातपित्तश्लेष्मप्रतिकूलानि च । समे त्विति समतां गते बहौ । यथोचितविधानेन वात-  
प्रकृत्यादीनां सममेवानुप्रणिधानं कर्त्तव्यम् । एवमित्यनेन प्रकारेण चेष्टाभेषजमोरेपि प्रयोगा  
वातादीनां भवन्ति । ये तु एवमित्यनेन चतुर्विधेनोक्तेन प्रकारेणेति वदन्ति, ते समप्रकृतीनाञ्च

त्रयः पुरुषा भवन्त्यातुरास्ते त्वनातुरास्तन्त्रान्तरीयाणां भिषजाम् । तद् यथा—वातलश्च पित्तलश्च श्लेष्मलश्चेति ॥१०

तेषामिदं विशेषविज्ञानम् । वातलस्य वातनिमित्ताः पित्तलस्य पित्तनिमित्ताः श्लेष्मलस्य श्लेष्मनिमित्ता व्याधयः स्युर्वल-  
वन्तश्च । तत्र वातलस्य वातप्रकोपणोक्तान्यासेवमानस्य क्षिप्रं वातः प्रकोपमापद्यते । न तथेतरो दोषौ । स तस्य प्रकोप-  
मापन्नो यथोक्तैर्विकारैः शरीरमुपतपति । बलवर्णसुखायुषामुप-  
घाताय । तस्यावजयनं स्नेहवेदौ विधियुक्तौ, मृदूनि च संशोधनानि स्नेहोष्णमधुराम्ललवणयुक्तानि । तद्वदभ्यवहार्यार्ण

गङ्गाधरः—त्रय इत्यादि । भिषजामिति मते इति शेषः ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—विशेषस्य विज्ञानं लिङ्गम् । वातलस्येत्यादि बलवन्तश्च भवन्ती-  
त्यन्तमेकं लिङ्गम्, अत एवोक्तं न दोषप्रकृतिर्भवेदिति सुखसाध्यलक्षणम् । तत्र  
वातलस्येत्यादिना द्वितीयं लिङ्गं वातलादीनां वातप्रकोपणोपसेवनेन क्षिप्रं  
वातादिप्रकोपवचनेन तत् दूषितं येन तु विपजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते ।  
तद्वत् प्रकृतिभिर्देहस्तजातत्वात् बाध्यते इति सुश्रुतवचनात् प्रकृतिरपथ्यसेवनेन  
नात्यर्थं बाध्यते इत्युक्तं तदयुक्तम् । सुश्रुतस्य कुपथ्यसेवनेनातिबाधकत्वाभावाभि-  
प्रायाभावात् । परन्तु वाताद्याधिक्येऽपि प्रकृतिभूतदोषैरप्रकृतिभूतदोषाधिक्ये  
बाधावन्न बाधा भवतीत्यभिप्रायात् । न तथेतरो दोषाविति अप्रकृतिभूतावपौ  
द्वौ दोषौ तयोः प्रकोपणोपसेवनेन प्रकृतिभूतदोषवत् क्षिप्रं न प्रकुप्यत इति  
तृतीयलक्षणम् । स तस्येत्यादिना शरीरमुपतपतीत्यन्तेन चतुर्थं लिङ्गम्, यथोक्तै-  
र्विकारैरशीतिविधादिवातविकारैः । बलादुपघातायेति पञ्चमं लिङ्गम् । तस्य  
) वातलस्य वाताधिक्यावजयनं स्नेहादिकं मृदूनि स्नेहादियुक्तानि च संशोध-  
नानि वमनविरेचनास्थापनशिरोविरेचनानीति चत्वारि । तद्वदिति स्नेहोष्ण-

समन्यायामादिचेष्टा भेषजञ्च ऋतुचर्याविधेयं वमनादिकारकं सूच्यतेऽनेनेति व्याख्या-  
नयन्ति ॥ ८—१० ॥

चक्रपाणिः—न तथेतरो दोषाविति सत्यापि हेतुसेवयेत्यर्थः, अन्यथा वातप्रकोपणसेवया पित्त-

अभ्यज्यानुपनाहोद्रेष्टनोन्मर्दन-परिषेकाद्ग्राह-संवाहनावपीडन-  
वित्रासनविस्मापनविस्मारणानि च सुरासवविधानं स्नेहा-  
श्चानेकयोनयो दीपनीयपाचनीयवातहरवरैचनीयोपहिताः । तथा  
शतपाकाः सहस्रपाकाः सर्वशश्च प्रयोगार्था वस्तयो वस्तिनियमः  
सुखशीलता चेति ॥ ११ ॥

पित्तलस्यापि पित्तप्रकोपणोक्तान्यासेवमानस्य पित्तं क्षिप्रं  
प्रकोपमाप्नुते । न तथेतरो दोषौ । तदस्य प्रकोपमापन्नं  
यथोक्तैर्विकारैः शरीरमुपतपति । बलवर्णसुखायुषामुपघाताय ।  
तस्यावजयनं सर्पिष्पाणं सर्पिषा च स्नेहनमधश्च दोषहरणं

मधुराम्ललवणयुक्तान्यभ्यवहार्याणि तथा स्नेहादियुक्तान्यभ्यज्यानि तैला-  
दीनि । तथा स्नेहादियुक्तानुपनाहादीनि स्नेहादियोगेन संवाहनवित्रा-  
सनयोर्वातहन्तृत्वं नानुपपन्नम् । स्नेहाश्चानेकयोनय इति स्थावरतिलसर्पपातसी-  
कुसुम्भादियोनिका दुग्धसम्भवा एवं देहसम्भवा वसा अस्थिसम्भवो मज्जा च  
ते च स्नेहा दीपनीयादिद्रव्योपहिताः तथा शतपाकाः स्नेहाः सहस्रपाकाश्च  
स्नेहाः शतवारपाकैः संस्कृता इत्यर्थः । सर्वशश्च अप्रकृतिभूतानामविरोधेन  
प्रयोगार्था वस्तयोऽनुवासनवस्तयः । वस्तिनियमो दिनद्वयादिप्रतिनियमेन  
वस्तेः प्रयोगः । सुखशीलता प्रायेण सुखानुशीलनम् ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—पित्तलस्यापीत्यादिकं पूर्ववत् व्याख्येयम् । तदस्येति तत्  
पित्तमस्य पित्तस्य यथोक्तैश्चत्वारिंशता पित्तविकारैः । सर्पिषा स्नेहनं स्नेहन-

इलेष्मणोवृद्धिरेव नास्ति । वित्रासनादयो यद्यपि वातकारकास्तथापि वातजनितोन्मादविनाशक-  
त्वेन चोक्ता इति ज्ञेयम् । उन्मादे हि वित्रासनादि भेषजमभिधायोक्तम्—“तेन याति शमं तस्य  
सर्वतो विप्लुतं मन इति । सर्वशः प्रयोगार्था इति पानाभ्यङ्गवस्त्यादिभिः प्रयोजनीया इत्यर्थः ।  
वस्तिनियम इति वस्तौ यथोक्तनियमसेवेत्यर्थः । किंवा ‘वस्तिनियम’शब्देन सिद्धौ वक्ष्यमाण-  
कर्मकालयोगरूपं वस्तिसंख्यानियमं कर्तव्यतया दर्शयति । वक्ष्यति हि—“त्रिंशन्मताः कर्मसु  
वस्तियोगाः कालास्ततोऽर्द्धेन” इति । सुखशीलता सततसुखसेवित्वम् ॥ ११ ॥

मधुरतिक्तकषायशीतानामौषधाभ्यवहार्याणामुपयोगः । मृदु-  
मधुरसुरभिशीतहृद्यानां गन्धानाञ्चोपसेवा, मुक्तामणिहारा-  
वलीनाञ्च पवनशिशिरवारिसंस्थितानां धारणमुरसा, क्षणे क्षणे  
स्रक्चन्दन-<sup>\*</sup>प्रियङ्गु, कालीयमृणालशीतवातवारिभिरुत्पलकुमुद-  
कोकनदसौगन्धिकपद्मानुगतैश्च वारिभिरभिप्रोक्षणम्, श्रुतिसुख-  
मृदुमधुरमनोज्ञुगानाञ्च गीतवादित्राणां श्रवणं, श्रवणञ्चाभ्यु-  
दयानाम्, सुहृद्भिश्च संयोगः, संयोगश्चेष्टाभिः स्त्रीभिः  
शीतोपहितांशुकस्रग्दामहारधारिणीभिः, निशाकरांशुशीतलप्रवात-  
हर्म्यवासः शैलान्तरपुलिनशिशिरसदनवसनव्यजनपथनसेवा,  
रस्याणाञ्चोपवनानां सुखशिशिरसुरभिमारुतोपवातानामुपसेवनम्,

कर्म, न तु तैलादिना । अधश्चेति विरेचनेन । हारावली हारश्रेणिः । मुक्तादीनां  
विशेषणं पवनादिस्थितानामिति ज्ञेत्यर्थम् । धारणमुरसा वक्षसि धारणम्  
इत्यर्थः । क्षणे क्षणे प्रतिक्षणे स्रक्चन्दनादीनां योगेन शीतैर्वारिभिरभि-  
प्रोक्षणमभ्युक्षणमुत्पलाद्यनुगतैश्च वारिभिरभ्युक्षणम् । श्रुतिसुखानि श्रवणसुखानि  
मृदूनि मधुराणि हृदयङ्गवानि मनोज्ञुगानि च न हि मधुरमपि सर्व्वेषां सर्व्व  
मनोज्ञुगमतोऽस्य मधुरस्य वारणाय मनोज्ञुगेतिपदम्, स्वस्वमनोज्ञुकूलानी-  
त्यर्थः । अभ्युदयानां परममङ्गल्यानां वेदादीनाम् इष्टाभिरभिमतभिः स्वमनो-  
क्षाभिः शीतोपहितानामंशुकादीनां धारिणीभिः, अंशुकं चीनवसनं स्रग्दाम  
मालाबाहुल्यम् । निशाकरांशुभिः शीतलं प्रवातञ्च वातप्रकृष्टञ्च हर्म्यं तत्र वासः ।  
शैलान्तरं पुलिनं तोयोत्थवालुकामयद्वीपं शिशिरं सदनं शिशिरं वसनं शिशिरं  
व्यजनं शिशिरः पवनस्तेषां सेवाभजनम् । सुखानां सुखजनकानां शिशिराणाञ्च



सेवनञ्च पद्मोत्पलनलिनकुमुदसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रहस्तानां  
सौम्यानां सर्वभावाणामिति ॥ १२ ॥

श्लेष्मलस्य श्लेष्मप्रकोपणोक्तान्यासेवमानस्य निप्र-  
श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते । न तथेतरौ दोषौ । स तु तस्य प्रकोप-  
मापन्नो यथोक्तैर्विकारैः शरीरमुपतपति । बलवर्णसुखायुषाम्  
उपधाताय । तस्यावजयनं विधियुक्तानि \* संशोधनानि  
रुक्षप्रायाणि चाभ्यवहार्याणि कटुतिक्तकषायोपहितानि । तथैव  
धावन-लङ्घनप्लवनपरिसरण-जागरण-युद्धव्यवाय-व्यायामोन्मर्दन-  
स्नानोत्सादनानि विशेषतस्तीक्ष्णानाञ्च दीर्घकालस्थितानां

सुरभीणाञ्च मास्ते उपवातानाम् उपगतानाञ्चोपवनानां रम्याणां सेवनञ्च,  
सेवनञ्च पद्मादिहस्तानां पुरुषाणाम्, सौम्यानाम् उदकगुणबहुलानाम् ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—श्लेष्मलस्येत्यादि । पूर्ववद्व्याख्येयम् । यथोक्तैर्विशत्या कफ-  
विकारैः । संशोधनानि चत्वारि रुक्षप्रायाणि तथा रुक्षबहुलानि चाभ्यव-  
हार्याणि कट्वादुपहितानि चाभ्यवहार्याणि तथा कट्वादुपहितानि यथा-  
सम्भवं धावणादीनि । धावनं दोलाश्वादिभिः । प्लवनं जलेषु सन्तरणं परिसरणं

चक्रपाणिः—यथोक्तैरिति महारोगाध्यायोक्तैः । अधश्च दोषहरणमिति विरेचनादित्यर्थः ।  
अग्रं चन्दनं धवलचन्दनम् । हस्तानामिति कलापानाम् ॥ १२ ॥

चक्रपाणिः—श्लेष्मविजयार्थं रुक्षस्यैव हितत्वेन रुक्षाणीति वक्तव्ये यद्रुक्षप्रायाणीति करोति,  
तेषात्यर्थरुक्षान्नस्य वातानुगुणत्वेन तथा धात्वपोपकत्वेन चासेव्यत्वं दर्शयति । उक्तं हि रस-  
विमाने—“स्निग्धमश्नीयात् स्निग्धमुक्तं हि स्वदते भक्तञ्चाग्निमुदीरयति” इत्यादि । लङ्घनमुत्-  
प्लुत्य गमनम् । परिसरणं कुण्डलरूपभ्रमणम् । सर्वशश्चोपवास इति सर्वलङ्घनम् । यदुक्तम्—  
“चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मास्तातपौ । पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम् ॥” इति ।

मद्यानामुपयोगः । सधूमपानः सर्व्वशश्चोपवासस्तथोष्णं वासः  
सुखप्रतिषेधश्च सुखार्थमेवेति ॥ १३ ॥

भवति चात्र ।

सर्व्वरोगविशेषज्ञः सर्व्वकार्य्यविशेषवित् ।

सर्व्वभेषजतत्त्वज्ञो राज्ञः प्राणपतिर्भवेत् ॥ १४ ॥

तत्र श्लोकाः ।

प्रकृत्यन्तरभेदेन रोगानीकविकल्पनम् ।

परस्पराविरोधश्च सामान्यं रोगदोषयोः ॥

दोषसंख्याविकाराणामेकदोषप्रकोपणम् ।

जरणं प्रति चिन्ता च देहाग्ने रक्षणानि च ॥

सर्व्वतोगमनम् । तीक्ष्णानां गवादिमूत्राणां पुराणानाम् । सधूमपान इति धूप-  
पानञ्चेत्यर्थः । उष्णं वासो वस्त्रं सुखार्थमेव न दुःखार्थं सुखप्रतिषेधः ।  
क्लेशकरश्रमादिकं नातिदुःखकरं यथा स्यात् तथा सेवेत ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—एतद्विज्ञानफलमाह—भवन्तीत्यादि । सर्व्वरोगेत्यादि ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थमुपसंहरति । तत्र श्लोका इत्यादि । द्वे रोगानीके  
भवत इत्यारभ्य दशप्रकृत्यन्तरभेदेन दशरोगानीकस्य विकल्पना । संख्येया-  
ग्रोष्वित्यारभ्य पूर्व्वप्रकृत्यन्तरेण परप्रकृत्यन्तरस्य परस्परमविरोधः । समानो  
हीत्यादिना रोगदोषयोः सामान्यं विशेषश्च । दोषसंख्या विकाराणाञ्च संख्यां  
रजस्तमश्चेत्यादिना मानसदोषसंख्या । कामेत्यादिना मानसविकाराणां संख्या ।  
धातपित्तेत्यादिना शारीरदोषसंख्या । ज्वरातिसारेत्यादिना शारीरविकाराणां  
संख्या । तत्र हीत्यादिना दोषप्रकोपणम् । अग्निष्वित्यादिना जरणं जाठराग्निं  
प्रति चिन्ता चतुर्विधवलेन । तेषान्वित्यादिना देहाग्ने रक्षणं समाश्रिकरणं

उपवासशब्दो ह्यत्र लङ्घने वर्त्तते । सुखार्थमित्याद्यतिसुखार्थम् । सुखप्रतिषेधाद्धि श्लेष्मक्षये  
भूते श्लेष्मविकाराभावलक्षणं सुखं भवति ॥ १३ ॥

चक्रपाणिः—यथोक्ताध्यायज्ञानादेव स्वयं सर्व्वरोगाभिज्ञं स्तौति—सर्व्वं इत्यादिना । प्राणान्

नराणां वातलादीनां प्रकृतिस्थापनानि च ।

रोगानीकविमानेऽस्मिन् व्याहृतानि महर्षिणा ॥ १५ ॥

इत्यग्निवेशकृतै तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते विमानस्थाने

रोगानीकं विमानं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

रक्षणञ्चेति चकारात् । तानीत्यादिना वातलादीनां प्रकृतिस्थापनं  
विकृत्यात्मकप्रकृतिप्रशमनेन समवातपित्तश्लेष्मरूपप्रकृतिकरणम् ॥ १५ ॥

अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि ।

इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ तृतीय-

स्कन्धे विमानस्थानजल्पे रोगानीकविमाननामषष्ठाध्याय-

जल्पाख्या पृष्ठी शारवा ॥ ६ ॥

पाति रक्षतीति प्राणपतिः । संग्रहे जरयतीति जरणो वह्निस्तं प्रति चिन्ता “अग्निपु” इत्यादिना  
हुता । प्रकृतिस्थापनानीति भेषजानि ॥ १४ । १५ ॥

इति चरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्वेददीपिकायां विमानस्थान-

ध्याख्यायां रोगानीकविमानं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः ।

अथातो व्याधितरूपीयं विमानं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

इह खलु द्वौ पुरुषौ व्याधितरूपौ भवतः, गुरुव्याधितो लघुव्याधितश्च । तत्र गुरुव्याधित एकः सत्त्वबलशरीरसम्पदुपेतत्वाल्लघुव्याधित इव दृश्यते । लघुव्याधितोऽपरः सत्त्वादीनामल्पत्वाद्-गुरुव्याधित इव दृश्यते । तयोरकुशलाः केवलं चक्षुषैव रूपं दृष्ट्वाध्यवस्यन्तो व्याधिगुरुलाघवे विप्रति-

गङ्गाधरः—अथ पुरुषाणां प्रकृतिमानविवानार्थं व्याधितरूपीयविमानमारभते—अथात इत्यादि । व्याधितरूपौ भवत इत्यस्यार्थं व्याधितरूपमधिकृत्य कृतं विमानम् तत् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—इहेत्यादि । व्याधितस्यान्योन्यस्यैव रूपं ययोर्व्याधितयोस्तौ व्याधितरूपौ । तत्रेत्यादि । गुरुव्याधितस्तु वस्तुतः स च सत्त्वादुपेतत्वाल्लघुव्याधित इव दृश्यते इति । लघुव्याधितरूपो गुरुव्याधितः सत्त्वस्य मनसो बलं शरीरस्य सम्पत् ताभ्यामुपेतत्वात् । लघुव्याधितोऽपरो वास्तविकः, स च सत्त्वबलशरीरसम्पदभावाल्लघुव्याधितोऽपि गुरुव्याधित इव दृश्यते । इति गुरुव्याधितरूपो लघुव्याधितो द्वितीय इति द्वौ पुरुषौ व्याधितरूपौ । नन्वेवमुपदेशस्य किं प्रयोजनमित्यत आह—तयोरित्यादि । चक्षुषैवेति

चक्रपाणिः—पूर्वाध्याये व्याधिं प्रतिपाद्य व्याधितस्य गुरुपस्य भेदं चिकित्सोपयोगितया प्रतिपादयितुं तथा तत्प्रसङ्गाच्च किमीन् प्रतिपादयितुं व्याधितरूपीयोऽभिधीयते । द्वावित्यादौ व्याधिरितो जातो यस्य स व्याधितस्तस्यैव रूपं ययोस्तौ व्याधितरूपौ व्याधितसदृशवित्यर्थः । यो हि गुरुव्याधिः सम्पन्नसत्त्वादिना लघुव्याधिर्दृश्यते, नासावपि लघुना व्याधिना व्याधितः, किन्तु गुरुव्याधित एवासौ । तेन व्याधितरूपावित्यनेन लघुव्याधियुक्तसदृशो बोद्धव्यः, स तु गुरुव्याधिना व्याधितो गुरुव्याधिरदृग्दर्शिना लघुव्याधिरिव दृश्यते । एवं विपर्यासां लघुव्याधितोऽपर इत्यादावपि व्याख्येयम् । अधमत्वादिति ह्यवरत्वादित्यर्थः । चक्षुषैवेति उत्तरज्ञानसाध-

\* अधमत्वादिति चक्रः ।

पद्यन्ते । न हि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये विज्ञानमुत्पद्यते । विप्रतिपन्नास्तु खलु रोगज्ञाने चोपक्रमयुक्तिज्ञाने चापि विप्रतिपद्यन्ते । ते यदा गुरुव्याधितं लघुव्याधितरूपमासादयन्ति तमल्पदोषं मत्वा संशोधनकालेऽस्मै मृदुसंशोधनं प्रयच्छन्तो भूय एवास्य दोषानुदीरयन्ति । यदा तु लघुव्याधितं गुरुव्याधितरूपमासादयन्ति तं महादोषं मत्वा संशोधनकालेऽस्मै तीक्ष्णं संशोधनं प्रयच्छन्तो दोषानतिनिर्हृत्यैव \* शरीरमस्य क्षिण्वन्ति । एवमवयवेन ज्ञानस्य कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमभिमन्यमानाः परिस्खलन्ति । विदितवेदितव्यास्तु मिषजः सवर्गं सर्वथा यथासम्भवं परीक्ष्यं परीक्ष्याध्यवस्यन्तो

रूपं पुरुषस्य गुरुव्याधितं लघुव्याधितवद्रूपं लघुव्याधितं गुरुव्याधितवद्रूपं केवलं चक्षुषैव दृष्ट्वा सत्त्वादिवल न दृष्ट्वा व्याधेर्गौरवे लाघवे च विप्रतिपद्यन्ते प्रतिपत्तिं न लभन्ते । ननु चक्षुरादेर्कैकेनैव रोगज्ञानं भवति कथं विप्रतिपद्यन्ते इत्यत आह—न हीत्यादि । ज्ञानावयवेन प्रत्यक्षेणानमानेन वा विना ज्ञानसमुदयेन ज्ञातव्ये कृत्स्ने भावे विज्ञानं नोत्पद्यते । तस्मात् सत्त्वबलशरीरसम्पत्ती विज्ञातुमवश्यं भवतः व्याधिगुरुलाघवज्ञानार्थमिति भावः । ननु किमर्थं व्याधिः कार्तरन्येन ज्ञातव्यः स्वरूपतो ज्ञानमात्रेणैव उपक्रान्तुमर्हति इत्यत आह—विप्रतिपन्नास्त्वित्यादि । रोगज्ञाने च विप्रतिपन्ना वैद्या रोगस्योपक्रमस्य युक्तेश्च ज्ञाने च विप्रतिपद्यन्ते प्रतिपत्तिं न लभन्ते । ननु तथाविप्रतिपत्तौ का च हानिरित्यत आह—ते यदेत्यादि । स्पष्टम् । ज्ञानावयवतो ज्ञानवादिनं

नोपलक्षणम् । तेन स्पर्शादिनापि विशेषानवगाहकेनेति बोद्धव्यम् । रूपमिति विरूपम् ।

अध्यवस्यन्त इति निश्चयं कुर्वन्तः । गुरुलाघवे विप्रतिपद्यन्त इति गुरुलघुत्वे न प्रतिपद्यन्ते ।

, अत्रैव विरुद्धप्रतिपत्तौ हेतुमाह—न हीत्यादि । ज्ञानावयवेनेति एकदेशज्ञानेन । विप्रति-

पत्तिफलमाह—विप्रतिपन्नास्त्वित्यादि । उपक्रमस्य भेषजप्रयोगस्य विकारेण समं योजना

उपक्रमयुक्तिः, तस्या ज्ञाने विरुद्धप्रतिपत्तिमन्तो भवन्ति । एतदेव व्याकरोति—ते यदेत्यादि ।

आसादयन्तीति बुध्यन्ते । उदीरयन्तीति प्रकोपयन्त्येव परं न त्वल्पबलत्वाद् हरन्तीत्यर्थः । अति-

अतिहृत्यैवेति पाठान्तरम् ।

न कचिदपि विप्रतिपद्यन्ते, यथेष्टमर्थसमिनिर्वर्तयन्ति चेति ॥ २ ॥

भवन्ति चात्र ।

सत्त्वादीनां विकल्पेन व्याधीनां रूप-मातुरे ।

दृष्ट्वा विप्रतिपद्यन्ते वाला व्याधिवलावले ॥

ते भेषजमयोगेन कुर्वन्त्यज्ञानमोहिताः ।

व्याधितानां विनाशाय क्लेशाय महतैऽपि वा ॥

प्रज्ञास्तु सर्वमाज्ञाय परीक्ष्यमिह सर्वथा ।

न स्वलन्ति प्रयोगेषु भेषजानां कदाचन ॥ ३ ॥

इति व्याधितरूपाधिकारे श्रुत्वा व्याधितरूपसंख्याग्रसम्भवं

दूषयति—एवमित्यादि । एवमनेन प्रकारेण । विदितेत्यादि । विदिताः सर्वथा विघाता वेदितव्या ज्ञेया यैस्ते तथा—यथेष्टमर्थं अभिमतप्रयोजनम् ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—पूर्वोक्तमर्थं तद्विव्यवसायार्थं पदेनाह—भवन्ति चात्रेत्यादि ।

सत्त्वादीनामित्यादि श्लोकरयं स्पष्टम् ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—अत ऊर्ध्वं क्रिमुपदेशस्य सङ्गतिमाह—व्याधितरूपाधिकारे श्रुतत्वादि । व्याधितरूपसंख्याग्रसम्भवमिति व्याधितरूपस्य पुरुषस्य संज्ञाया अग्रस्याधिक्यस्य गुरुव्याधिते लघुव्याधितरूपत्वं लघुव्याधितस्य गुरुव्याधितरूपत्वमिवान्यादृशव्याधितस्य तदन्यादृशव्याधितरूपत्वस्य सम्भवं श्रुत्वा । अग्रं पुरुस्तादुपरि परिमाणं परस्य च । आलम्बने समूहे च प्रान्तरे स्यात् नपुंस-

हृत्येति अतियोगेन हृत्वेत्यर्थः । ज्ञानस्येति ज्ञानसाधनस्य । यथासम्भवमिति यानि यत्र ज्ञानसाधनानि भवन्ति, तैस्तत्र । परीक्ष्यं सत्त्वादि । न कचिदपीति गौरवलाघवादौ ॥ ११२ ॥

चक्रपाणिः—एतदेव सुखग्रहणार्थं श्लोकेनाह—सत्त्वेत्यादि । व्याधिरूपमिति व्याधेरिति रूपमित्यर्थः । व्याधितरूपमिति तु पाठः सुगमः । वाला इत्यल्पज्ञाः, अयोगेनेत्यसम्यगयोगेन । तेनातियोगमिध्यायोगयोर्ग्रहणं भवति ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति व्याधिगुल्लाघवस्य दुर्ज्ञेयताप्रसङ्गेन दुर्ज्ञेयक्रिमिल्यापकमपि प्रकरणमारभते—व्याधित इत्यादि । संख्याग्रसम्भवमिति संख्याग्रमाणसम्भवमित्यर्थः । अग्रशब्दो

\* व्याधिरूपमिति चक्रवृत्तः पाठः ।

व्याधितरूपहेतुविप्रतिपत्तौ कारणं सापवादं संप्रतिपत्तिकारणञ्च  
अनपवादं भगवन्तमात्रेयमग्निवेशोऽतः परं सर्वक्रिमीणां पुरुष-  
संश्रयाणां समुत्थानस्थानसंस्थानवर्णनामप्रभावचिकित्सितदिशे-  
षान् पप्रच्छोपसंगृह्य पादौ ॥ ४ ॥

अथास्मै प्रोवाच भगवानात्रेयः । इह खल्वग्निवेश,  
विंशतिविधाः क्रिमयः पूर्वमुद्दिष्टा नानाविधेन प्रविभागेनान्यत्र  
सहजभ्यः । ते पुनः प्रकृतिभिर्विभज्यमानाश्चतुर्विधा भवन्ति ।  
तद् यथा—पुरीषजाः श्लेष्मजाः शोणितजा मलजाश्चेति ।  
तत्र मलो बाह्यश्चाभ्यन्तरश्च । तत्र बाह्यमलजातान् मलजान्  
कम् । अधिके च प्रधाने च प्रथमे चाभिधेयवत् । अस्रकोणे कचे पुंसि क्लीब-  
मश्रुणि शोणिते । इत्यभिधानादधिकार्थेऽग्रशब्दः । एवं पूर्वपरस्मिंश्च व्याख्या-  
तम् । व्याधितरूपस्य हेतोर्विप्रतिपत्तौ प्रतिपत्त्यभावे कारणं ज्ञानाययवरूपं साप-  
वादं सदोषं श्रुत्वा व्याधितरूपस्य हेतोः सप्रतिपत्तिकारणं ज्ञानसमुदायमनपवादं  
निर्दोषं श्रुत्वा अग्निवेशोऽतः परं द्विविधव्याधितरूपस्योपदेशानन्तरं पुरुषाणां  
क्रिमिव्याधितानामक्रिमिव्याधितरूपत्वेन विज्ञानं सदोषं क्रिमिप्रतीकाराकरणेन  
रोगानुच्छेदात् क्रिमिव्याधितहेतुज्ञानन्तु निरपवादं तत्प्रतिकारेण क्रिम्यु-  
च्छेदादतः पुरुषसंश्रयाणां सर्वक्रिमीणां समुत्थानादिविशेषान् पप्रच्छ ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—अथास्मा इत्यादि । इहेत्यादि उत्तरमाह—पूर्वमष्टोदरीये ।  
नानाविधेन यूकादिनामभेदेन बाह्यमलजत्वेन द्विधा शोणितजत्वेन केशादादिनाम्ना  
षट्कफजत्वेनात्रादादिनाम्ना सप्त पुरीषजत्वेन ककेरुकादिनाम्ना पञ्चप्रविभागेन  
विंशतिः क्रिमिजातय उक्ता अत्र तन्त्रे सहजक्रिमिभ्योऽन्यत्र सहजाः क्रिमियस्तु  
तत्र नोक्ता अवैकारिकत्वात् । ते पुनश्चतुर्विधेति स्पष्टम् । तत्रेत्यादि । बाह्यमलः  
परिमाणवाची । व्याधितरूपस्य हेतुः सत्त्वादिवलवत्त्वाबलवत्त्वे, तत्कृतो विप्रतिपत्तिर्व्याधितरूप-  
हेतुविप्रतिपत्तिस्तत्र । कारणं एकदेशेन ज्ञानम् । सापवादमिति सदोषम् । सम्यक् प्रतिपत्तिः  
संप्रतिपत्तिः ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—पूर्वमुद्दिष्टा इत्यष्टोदरीये संज्ञामात्रकथिताः । अन्यत्र सहजेभ्य इत्यनेन शरीर-  
सहजास्त्ववैकारिकाः क्रिमयो विंशतेरप्यधिका भवन्तीति दर्शयति । प्रकृतिभिरिति कारणैः । मलजा

व्याचक्षते । तेषां समुत्थानं मृजावर्जनं स्थानं केशश्मश्रुलोम-  
पक्ष्मवासांसि । संस्थानमणवस्तिलाकृतयो बहुपादाश्च । वर्णस्तु  
कृष्णः शुक्लश्च । नामानि चेषां यक्षाः पिपीलिकाश्च । प्रभावः  
कण्डूजननं कोठपिडकाभिनिर्ध्वत्तनश्च । चिकित्सितन्तु खल्वेषा-  
मपकर्षणं मलोपघातो मलकणाश्च भावानामनुपसेवन-  
मिति ॥ ५ ॥

शोणितजानान्तु कुष्ठैः समानं समुत्थानम् । स्थानं रक्त-  
वाहिन्यो धमन्यः । संस्थानम् अणवो वृत्ताश्चापादाश्च ।  
सूक्ष्मत्वाच्चैके भवन्त्यदृश्याः । वर्णस्तेषां ताम्रः । नामानि केशादा  
लोमादा लोमद्वीदाः सौरसा औद्गुम्वरा जन्तुमातरश्चेति ।  
प्रभावः केशश्मश्रुलोमपक्ष्मापध्वंसो व्रणगतानाश्च हर्षकण्डूतोद-  
संसर्षणानि । अतिप्रवृद्धानाश्च त्वक्सिरास्त्रायुमांसतरुणास्थि-  
भक्षणमिति । चिकित्सितमप्येषां कुष्ठैः समानम्, तदुत्तरकालम्  
उपदेक्ष्यामः ॥ ६ ॥

शरीरकेशादिस्थः, आभ्यन्तरः पुरीषादिः, मृजावर्जनं गात्रमावर्जनाविधानम्  
स्थानं केशादि स्पष्टम् । संस्थानमाकारः । अणवः सूक्ष्माः । पिपीलिकास्तन्यै-  
र्लिङ्ग्या उच्यन्ते । अपकर्षणमाकर्षणं कङ्कत्यादिभिः । मलोपघातो मलाप-  
हरणविधानम् ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—शोणितेत्यादि । कुष्ठैः समानं समुत्थानं निदानं कुष्ठाधिकारे  
कुष्ठानां यद्यन्निदानमुक्तं तत्तन्निदानं तत्कुष्ठकरक्रिमीणां निदानमित्यर्थः ।  
संस्थानं शरीरस्याकारः । वृत्ता वर्तुलाः । सूक्ष्मत्वादेके भवन्त्यदृश्या इत्यनेनान्ये  
केचिद् दृश्याश्च भवन्त्यनतिमूक्षत्वात् । नामानि स्पष्टानि । व्रणगतानां प्रभावो  
हर्षादीनि, अतिप्रवृद्धानाश्च प्रभावस्त्वगादिभक्षणम् । कुष्ठैः समानं समुत्थान-  
इति बाह्यमलैः । पिपीलिकां लिखां केचिदाहुः । क्रिमीणां संज्ञा स्वशास्त्रव्यवहारसिद्धा-देशान्तरं



श्लेष्मजाः क्षीरगुडतिलमत्स्यानूपमांसपिष्टान्नपरमान्न-  
कुसुम्भस्नेहाजीर्ण-पूति-क्लिन्न-संकीर्ण-विरुद्धासात्मप्रभोजन-समु-  
त्थानाः । तेषामामाशयः स्थानम् । प्रभावस्तु ते प्रवर्द्धमानास्तूर्द्ध-  
मधो वा विसर्पन्त्युभयतो वा । संस्थानवर्णविशेषास्तु श्वेताः  
पृथुव्रध्नसंस्थानाः केचित्, केचिद् वृत्तपरिणाहा गरुडूपदाकृतयः  
श्वेतास्ताम्रावभासाश्च । केचिदणवो दीर्घास्तन्त्वाकृतयः श्वेताः,  
तेषां त्रिविधानां श्लेष्मनिमित्तानां क्रिमीणां नामानि—  
अन्त्रादा उदरादा हृदयचराश्चुरवो दर्भपुष्पाः सौगन्धिका महा-  
गुदाश्चेति । प्रभावो हृल्लास आस्यसंस्त्रवणमरोचकाविपाकौ  
ज्वरो मूर्च्छा जृम्भा क्षवथुरानाहोऽङ्गमर्दश्छर्दिः कार्श्यं पारुष्यम्  
इति ॥ ७ ॥

पुरीषजास्तुल्यसमुत्थानाः श्लेष्मजैः । तेषां पक्षाशय एव

मिति वचनेन एषां कुष्ठकरत्वं कुष्ठेष्वेव सद्भावश्च न पृथगिति ख्यापितम् ।  
कुष्ठैः समानं कुष्ठोक्तं चिकित्सितं तदुत्तरकालं कुष्ठाधिकारे उपदेक्ष्यामः ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—श्लेष्मजा इत्यादिना श्लेष्मजक्रिमीणां निदानम् । अजीर्णादिभिः  
प्रत्येकं भोजनेतिपदं योज्यम् वर्णोपदेशसहिताकृतिवचनात् पृथ्वाद्याकाराः  
श्वेता नान्ये वर्णाः । परीणाहेन वृत्ताश्च गरुडूपदाकृतयश्च ये, ते श्वेता एकदेशे  
ताम्रावभासा अपरदेशे । ये च केचित् तन्तुसमाकृतयः दीर्घा अणवश्च, ते  
श्वेता एवेति त्रिविधा आमाशये कफाद्भवन्ति । ते त्रिविधाः सप्तनामानः ।  
उदरादा इत्यादि । उदरमदन्ति इत्युदरादा इत्येवमादिकर्मकरत्वेन संज्ञा ।  
प्रभाव इति प्रभावजकार्यमित्यर्थः कारणे कार्योपचारात् एवं पूर्व्वे परे च  
बोध्यम् । एषां चिकित्सितं वक्ष्यति ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—पुरीषजास्त्वित्यादि । पुरीषजास्तु तुल्यसमुत्थानाः श्लेष्मजैः

प्रसिद्धा च बोद्धव्या । प्रभावमिति स्वशक्तिसम्पाद्यमित्यर्थः । हर्षकण्डादयो व्रणदेश एव ज्ञेयाः,  
परमान्नं पायसम् । संकीर्णभोजनं घृणाविषयमिश्रितव्यञ्जनादिभोजनम् । ब्रह्मो मांसपेशी ॥५-७॥

स्थानम् । प्रभावस्तु प्रवर्द्धमानास्तेऽधो विसर्जन्ति, यस्य पुन-  
रामाशयोन्मुखाश्च स्थुर्यदन्तरम्, तदन्तरं तस्योद्गारनिश्वासाः  
पुरीषगन्धिनः स्युः । संस्थानवर्णविशेषास्तु सूक्ष्मवृत्तपरीणाहाः  
श्वेता दीर्घोर्णांशुसङ्काशाः ॐ, केचित्, केचित् पुनः स्थूलवृत्त-  
परीणाहाः श्यावनीलहरितपीताः । तेषां नामानि—ककेरुका मके-  
रुका लेलिहाः सशूलकाः सौसुरादाश्चेति । प्रभावः पुरीषभेदः  
कार्श्यं पारुष्यं रोमहर्षाभिनिर्वर्तनञ्च । त एव चास्य गुदमुखं  
परितुदन्तः कण्डूश्चोपजनयन्तो गुदमुखं पर्य्यासते । ते जातहर्षा  
गुदनिष्क्रमणमतिवेलं कुर्वन्ति । इत्येवमेव श्लेष्मजानां  
पुरीषजानाञ्च समुत्थानादिविशेषः ॥ ८ ॥

इति । पक्षाशयो नाभेरधः । प्रभाव इति पूर्ववत् प्रभावकार्यमित्यर्थः ।  
यस्य पुनः प्रवर्द्धमानास्तु ते यदन्तरं यन्मध्ये आपाशयोन्मुखाः स्थुर्यदन्तरं तस्य  
पुरुषस्य उद्गारनिश्वासाः । संस्थानेत्यादि । सूक्ष्मा वृत्ताः परीणाहाः चतु-  
ष्पार्श्वा येषां ते तथा । दीर्घोर्णांशुसङ्काशाः दीर्घमेपलोमसदृशाः । स्थूला  
वृत्ताः परीणाहा येषां ते तथा । श्यावनीलहरितपीता एकदेशे श्यावा अपरदेशे  
नीला अन्यदेशे हरिता इतरदेशे पीता इति चतुर्वर्णाः । तेषां द्विविधानां  
नामानि ककेरुकादीनि पञ्च प्रभावः प्रभावजं कार्यं पुरीषभेदादिकम् । त एव  
ककेरुकादयः पर्य्यासते परिवसन्ति । ते इति पुरीषजक्रिमयः गुदनिष्क्रमणं  
गुदनिःसरणमतिवेलमतिमात्रं समुत्थानादेः सम्प्राप्तादेर्विशेषो भेदः, न तु  
निदानादिविशेषः । सुश्रुते तु—असात्प्राध्यशनाजीर्णैर्विरुद्धमलिनाशनैः ।  
अव्यायामदिवास्वप्न-गुर्वतिस्निग्धशीतलैः । मापपिष्टान्नविदल-विसशालूकसे-  
रुकैः । पर्णशाकसुराशुक्त-दधिक्षीरगुह्यक्षुभिः । पलालानूपपिशित-पिण्याक-  
पृथुकादिभिः । स्वाद्वल्द्रवपानैश्च श्लेष्मा पित्तञ्च कुप्यति । क्रिमीन् बहु-

चक्रपाणिः—यदन्तरमिति यस्मिन् काले, तदन्तरं तत्कालमेव । ऊर्णांशुसङ्काशा इति  
मेपलोमतुल्याः । पर्य्यासत इति क्षिपन्ति किंवा गुदं परिवार्य्यासते । अतिवेलमिति पुनःपुनः ॥ ८ ॥

\* दीर्घा ऊर्णांशुसङ्काशा इति पाठान्तरम् ।

चिकित्सितन्तु खल्वेषां समासेनोपदिश्य पञ्चाद्विस्तरेण  
उपदेक्ष्यामः । तत्र क्रिमीणामपकर्षणमेवादितः कर्तव्यम् ; ततः

विधाकारान् करोति त्रिविधाश्रयान् । आमपक्वाशये तेषां प्रसवः, प्रायशः  
स्मृतः । विंशतेः क्रिमिजातीनां त्रिविधः सम्भवः स्मृतः । पुरीषकफरक्तानि  
तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् । अथवा वियवाः किप्याश्चिप्या गण्डूपदास्तथा । चुरवो  
द्विमुखश्चैव सप्तैवैते पुरीषजाः । श्वेताः सूक्ष्मास्तुदन्त्येते गुदं प्रति सरन्ति च ।  
तेषामेवापरे पुच्छैः पृथक् भवन्ति हि । शूलाग्रिमान्द्यपाण्डुत्व-विष्टम्भवल-  
संक्षयाः । प्रसेकारुचिहृद्गोग-विड्भेदास्तु पुरीषजैः । रक्ता गण्डूपदा दीर्घा गुद-  
कण्डूनिपातिनः । शूलाटोपशकृद्भेद-पक्तिनाशकराश्च ते । दर्भपुष्पाः महापुष्पाः  
प्रलूनाश्चिपिटास्तथा । पिपीलिका दारुणाश्च कफकोपसमुद्भवाः । रोमशा रोम-  
सूद्धानः सपुच्छाः श्यावमण्डलाः । रूढधन्याङ्गुराकाराः शुक्रास्ते तनवस्तथा ।  
मज्जादा नेत्रलेह्यारस्तालुश्रोत्रभुजस्तथा । शिरोहृद्गोगवमधु-प्रतिश्यायकराश्च ते ।  
केशलोमनखादाश्च दन्तादाः किक्किशास्तथा । कुष्ठजाश्च परीसर्पा ज्ञेयाः  
शोणितसम्भवाः । ते सरक्ताश्च कृष्णाश्च स्निग्धाश्च पृथक्स्तथा । रक्ताधिष्ठान-  
जान् प्रायो विकारान् जनयन्ति ते । मापपिष्टान्नलवण-गुडशकैः पुरीषजाः ।  
मांसमाषगुडक्षीर-दधिशुक्तैः कफोद्भवाः । विरुद्धाजीर्णशाकादैः शोणितोत्था  
भवन्ति हि । ज्वरो विवर्णता शूलं हृद्गोगः सदनं भ्रमः । भक्तद्वेषोऽतिसारश्च  
सञ्जातक्रिमिलक्षणम् । दृश्यास्त्वयोदशाद्यास्तु क्रिमीणां परिकीर्त्तिताः । केश-  
दाद्यास्त्वदृश्यास्ते द्वावाद्यौ परिवर्जयेत् ॥ इति । अत्र पुरीषशब्देन मला उच्यन्ते ।  
तत्र मला द्विविधा बाह्या आभ्यन्तराश्च चरकेणोक्ताः, तदाभ्यन्तरमलजास्तु  
पञ्च ककेरुकादय उक्ता बाह्यमलजा द्विविधा यूकाः पिपीलिकाश्चेति सप्त । सुश्रुते  
मलत्वसामान्येन पुरीषपदेन मलद्वयमभिप्रेत्य सप्त पुरीषजा उक्ता इत्यविरोधः ।  
कफजास्तु सप्तान्त्रादादयश्चरकेणोक्ताः । सुश्रुते तु दर्भपुष्पादयः षट् कफजा  
उक्ताः परन्तु शोणितजाः सप्त चोक्ता मज्जादा नेत्रलेह्यारः तालुश्रोत्रभुजः केश-  
लोमनखादा दन्तादाः किक्किशाः कुष्ठजाश्चेति । चरके तु षट् शोणितजाः  
केशादादयः उक्ता इति विंशतित्वव्याघातो नोभयमते किन्तु नामभेदः । अपि  
चैषां नामानि कानिचित् सान्वयानि कानिचिन्निरन्वयानि जानीयात् ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—चिकित्सितमित्यादि । तत्र क्रिमीणामित्यादिना सूत्ररूपतया

प्रकृतिविघातोऽनन्तरं निदानोक्तानां भावानामनुपसेवनमिति । तत्रापकर्षणं हस्तैनाभिष्टब्धं विमृश्योपकरणवता वाप्यपनयनम् अनुपकरणवता वा । स्थानगतानान्तु किमीणां भेषजेनापकर्षणम् । न्यायतस्तच्चतुर्विधम् ; तद् यथा—शिरोविरेचनं वमनं विरेचनम् आस्थापनमित्यपकर्षणविधिः । प्रकृतिविघातस्त्वेपां कटुकतित्त-कपायक्षारोष्णानां द्रव्याणामुपयोगः । यच्चान्यदपि किञ्चित् श्लेष्मपुरीषप्रत्यनीकभूतं तत् स्यादिति प्रकृतिविघातः । अनन्तरं निदानोक्तानां भावानामनुपसेवनं यदुक्तं निदानविधौ, तस्य वर्जनं तथाविधप्रयोगाणाञ्चापरेपां द्रव्याणाम् । इति लक्षणतः चिकित्सितमनुव्याख्यातमेतदेव पुनर्विस्तरेणोपदेक्ष्यते ॥६॥

अथैनं क्रिमिक्रोष्ठमग्रे पङ्क्तां सप्तरात्रं वा स्नेहस्वेदाभ्याम् उपपाद्य श्रोभूतै एनं संशोधनं पाययितास्मीति क्षीरगुड-

समासेन चिकित्सितम् । प्रकृतिविघात इति मलकफशोणितपुरीषाणां प्रकृतीनां निर्हरणादिना प्रतीकारः । तत्रापकर्षणमित्यादिना भाष्यरूपनया च सङ्क्षेप-चिकित्सितम् । हस्तेनेति ऊर्द्धमधश्च किञ्चिन्निःसृताभिप्रायेण उपकरणं हस्त-लप्रवस्तुविशेष आहरणार्थं ग्रहणयोग्यः । स्थानगतानामिति मलादुत्तस्वस्थस्थान-स्थितानाम् । न्यायत इति यथाविधितः । अपकर्षणं विवृणोति । तच्चेत्यादि । अनन्तरमिति अपकर्षणानन्तरं प्रकृतिविघातस्ततः परम् ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—अथैनमित्यादि । पङ्क्तां सप्तरात्रं वा स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्या-

प्रकरणेति—अपकर्षणं हस्तादि संशोधनानि च, प्रकृतेः कारणस्य श्लेष्मरूपस्य । विघातः प्रकृतेरित्यर्थः । उपकरणवतेति सन्दंशादुपकरणयुक्तेन । तत् स्यादिति विघातः स्यादिति योजना । निदानोक्तानां भावानामनुपसेवनमिति विवरणानुवादः । अस्य विवरणम्—‘यदुक्तम्’ इत्यादि । तथाप्रायागामिति श्लेष्मजपुरीषजक्रिमिनिदानसदृशानामित्यर्थः । लक्षणत इति संक्षेपतः । संक्षेपो हि विस्तरस्य ग्राहकं लक्षणं भवति ॥ ९ ॥

दधि-तिल-मत्स्यानूप-मांस-पिष्टान्नपरमान्नकुसुम्भस्नेहसंप्रयुक्तैः  
भोज्यैः सायं प्रातश्चोपपादयेत्, समुदीरणार्थञ्च क्रिमीणां  
कोष्ठाभिसरणार्थञ्च भिषक् । अथ व्युष्टायां रात्र्यां सुखोषितं  
सुप्रजीर्णभक्तञ्च विज्ञायास्थापनवमनविरेचनैस्तदहरेवोपपादयेत्  
उपपादनीयश्चेत् स्यात्, सर्वान् परीक्ष्य विशेषान् परीक्ष्य  
सम्यक् ॥ १० ॥

अथाहरेति ब्रूयात् मूलकसर्षपलशुनकरञ्जशिग्रुमधुशिग्रु-  
खरपुष्पाभूस्तृणसुमुखसुरसकुठेरकगण्डीरकालमालपर्णासक्षवक-  
फणिज्भकानि । सर्वाण्यथवा यथालाभं तान्याहृतान्यभि-  
समीक्ष्य खण्डश्लेष्टयित्वा प्रक्षाल्य पानीयेन, सुप्रक्षालितायां  
स्थाल्यां समावाप्य गोमूत्रेणाद्धोदकेनाभिषिच्य साधयेत्, सततम्

नन्तरमष्टमे दिने क्षीरगुडादिसंप्रयुक्तैर्भोज्यैः सायं प्रातरिति प्राह्णे चापराह्णे च  
तादृशानि भोज्यानि भोजयित्वा रात्र्यां व्युष्टायां वासं कारयित्वा ततो नवमे दिने  
सुप्रजीर्णभक्तं सुखोषितञ्च ज्ञात्वा सर्वानास्थापनादियोग्यत्वादिकान् सम्यक्  
परीक्ष्य विशेषान् सुकुमारत्वादीन् सम्यक् परीक्ष्य चेद् यदि स पुरुष आस्थापना-  
दिभिः उपपादयितुमर्हः स्यात्, तदास्थापनवमनविरेचनैस्तदहरेव तस्मिन् नवमे  
एव दिने उपपादयेदिति ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—नन्वास्थापनादिकं कथमुपकल्पयेदित्यत आह—अथाहरेत्यादि ।  
आहर आहरणं कुर्विति ब्रूयात् । कानीत्यत आह—मूलकेत्यादि । करञ्जो  
गोकरञ्जः, शिग्रुः शोभाञ्जनः, मधुशिग्रुः रक्तशोभाञ्जनः, खरपुष्पा यमानी, सुमुखः  
शाकभेदः, गण्डीरं दूर्वाभेदः । सर्वाणि यथालाभं वा मूलकादीनि कुट्टयित्वा

चक्रपाणिः—कोष्ठाभिसरणार्थमिति क्षीरगुडादिलोभेन देशान्तरं परित्यज्य कोष्ठगमनार्थम् ।  
तदहरेवेत्येकस्मिन् दिने, एतच्चैकदिन एव मूर्तिकर्मकरणं व्याधिप्रभावाद् बोद्धव्यम् । एतच्चैकाहेन  
सर्व्वकरणं यदि शरीरबलादिसम्पद्युक्तः पुरुषो भवति, तदैवं परं कर्त्तव्यम्, नान्यथेत्याह—  
उपपादनीयश्चेत् स्यादित्यादिना ॥ १० ॥

चक्रपाणिः—मधुशिग्रुः शोभाञ्जनम्, अत्र काथ्यद्रव्यजलादिमानं काथपरिभाषया कर्त्तव्यम् ।

अवघट्टयन् दृढ्य्या । तस्मिन् शीतीभूते तृपयुक्तभूयिष्ठेऽम्भसि  
 गतरसेष्वौषधेषु स्थालीमवतार्य्य सुपरिपूतं कपायं सुखोष्णं  
 मदनफलपिप्पलीविङ्गकल्कतैलोपहितं स्वर्जिकालवणितमभ्या-  
 सिच्य वस्तौ विधिवदास्थापयेदेनम् । तथार्कालर्ककुटजाङ्गी-  
 कुण्ठकैटय्यकपायेण वा, तथा शिग्रुपीलुकुतुम्बुरुकटुकासर्षप-  
 कपायेण, तथामलकशृङ्गवेरदारुहरिद्रापिचुमर्दकपायेण मदन-  
 फलादिसंयोगयोजितैर्न त्रिरात्रं सप्तरात्रं वा \*स्थापयेत् । प्रत्या-  
 गते च पश्चिमे वस्तौ प्रत्याश्वस्तं तदहरेवोभयतोभागहरं

अष्टगुणेऽर्द्धादिकगोमूत्रे सतनमेव दूर्वा घट्टयन् उत्तोलननिवारणाय पक्त्वा  
 कल्केषु तेषु मूलकादिषु औषधेषु सत्सु उपयुक्तभूयिष्ठेऽम्भसि चतुर्थावशेषे  
 तस्मिन् काथेऽष्टांशशेषे वा सति स्थालीमवतार्य्य तं सुखोष्णं कपायं सुपूतं  
 मदनफलबीजविङ्गकल्कतैलयुक्तं स्वर्जिकालवणयुक्तं वस्तौ अभ्यासिच्य  
 पूरयित्वा आस्थापयेत् निरुहयेत् । एवं त्रिरात्रं सप्तरात्रं वास्थापयेत् । आस्थाप-  
 नान्तरयोगमाह—तथाकैट्यादि । अर्को रक्तार्कः अलर्को धवलार्कः कैटय्य  
 कटफलम् । एषां काथो द्वितीयमास्थापनम् । तथा तृतीयास्थापनयोगमाह—  
 तथा शिग्रिवत्यादि । चतुर्थास्थापनयोगमाह—तथामलकैत्यादि । मदनफल-  
 तण्डुलविङ्गकल्कतैलस्वर्जिकालवणयुक्तेनैवामन्यतमेन काथेन काथविधिः पूर्व-  
 वत् । ननु त्रिरात्रं सप्तरात्रं वा यदेवमास्थापयेत् तदा तदहरेव न वमनविरेच-  
 नयोः उपयोगः सम्भवतीत्यत आह—प्रत्यागते च पश्चिमे वस्तावित्यादि । शेष-  
 दिने उपयोजितवस्तौ प्रत्यागते गुदतो निःसृते सति पुनस्तं पुरुषं प्रत्याश्वस्तं  
 प्रत्याश्वासेन सम्पाद्य तदहरेव उभयतोऽथ ऊर्ध्वं च भागहरं वमनविरेचनोभय-

उपयुक्तभूयिष्ठे प्रक्षीणभूयिष्ठे इत्यर्थः । गतरसेष्वौषधेभ्यो जले संक्रान्तरसेषु । अनेन कपायसिद्धि-  
 लक्षणेन यावता जलेन पाकेन चौषधानि गतरसानि भवन्ति तावदेव जलं देयम्, तावांश्च पाकः  
 कर्तव्यः, नावश्यं परिभाषया सर्वत्र क्रमं दर्शयति । परिपूतमिति वस्त्रगालितम् । वस्तौ  
 चरकादिमानं सिद्धौ वक्ष्यमाणेन ज्ञेयम् । अलर्को मन्दारः ।

\* त्रिरात्रं सप्तरात्रं वेत्यत्र त्रिवारमिति चक्रघृतः पाठः ।

संशोधनं पाययेत् युक्त्या । तस्य विधिरुपदेक्ष्यते—मदनफल-  
पिप्पलीकषायर्याद्धाञ्जलिमात्रेण त्रिवृताकल्काक्षमात्रमालोड्य  
अनुपातुमरसैः प्रयच्छेत्, तदस्य दोषमुभयतो निर्हरति साधु ।  
एवमेव कल्पोक्तानि वसनविरेचनानि प्रतिसंस्ृज्य पाययेदेनं  
बुद्ध्या सर्वविशेषानवेक्ष्यमाणो भिषक् ॥ ११ ॥

अथैनं सम्यग्विरिक्तं विज्ञायापराह्णे शैखरिककषायेण सुखो-  
ष्णेन परिषेचयेत् । तेन चैव कषायेण बाह्याभ्यन्तरान् सर्वोद-  
कार्थान् कारयेत् शश्वत् । तदभावे कटुतिक्तकषायाणामौषधानां  
कार्थैर्मूत्रक्षारैर्वा परिषेचयेत् । परिषिक्तञ्चैनं निध्वातमागारमनु-  
प्रवेश्य पिप्पलीपिप्पलीमूलचक्षुचित्रकशृङ्गवेरैः सह सिद्धेन  
यवाग्वादिना क्रमेणोपचरेत् । विलेप्याः क्रममागतञ्चैनमनु-  
वासयेद्विडङ्गतैलेनैकान्तरं द्विस्त्रिर्वा । यदि पुनरस्याभिवृद्धान्

करमौषधं पाययेत् । उभयतोभागहरमौषधमाह—मदनफलेत्यादि । पिप्पलीशब्दो  
वीजवाची, न तु ऊपणावाची अत्र बोध्या । उभयतोभागहरणयोगकल्पनार्थं  
युक्तिं दर्शयित्वा शेषानुभयतोभागहरयोगान् कल्पयितुमाह—एवमेवेत्यादि ।  
प्रतिसंस्ृज्य संस्ृष्टानि कृत्वा ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—अथेत्यादि । सम्यग्विरिक्तं वान्तश्च विज्ञायेत्यर्थः । शैखरिको-  
ऽपामार्गः । सर्वोदकार्थान् स्नानाचमनादिविधानायोदकार्थान्, न त्वन्यदुद-  
कम् । तदभावे अपामार्गाभावे कट्वादिरसद्रव्याणां (कार्थैः) । मूत्रक्षारैरिति मूत्रमिश्र-  
क्षारैः यवक्षारादैः । सह सिद्धेनेति पिप्पल्यादिकल्कसिद्धेन पेयादिना क्रमे-  
णोपाचरणतस्तु विलेपीक्रमं प्राप्तमेनं विडङ्गतैलेनानुवासयेत् । एकान्तरं द्वौ वारौ  
त्रीन् वारान् वानुवासयेदित्यन्वयः । त्रिविधसंशोधनविषयमुक्त्वा शिरो-

पश्चिमे तृतीयपुटके । संस्ृज्येति मश्रीकृत्य । शैखरिककषायेणेति विडङ्गकषायेण, विडङ्गकषायो

शीर्षादान् क्रिमीन् मन्येत, शिरस्येवाभिसर्पतः कदाचित्, ततः  
स्नेहस्वेदाभ्यां शिर उपपाद्य विरेचयेदपामार्गतण्डुलादिना  
शिरोविरेचनेन ॥ १२ ॥

यस्त्वभ्यवहार्यो विधिः प्रकृतिविधातायोक्तः क्रिमीणाम्,  
अथ तमनुव्याख्यास्यामः । मूषिकपर्णी \* समूलाग्रप्रताना-  
माहृत्य खण्डशस्त्रेदयित्वा उदूखले क्षोदयित्वा पाणिभ्यां पीडयित्वा  
रसं गृह्णीयात् । तेन रसेन लोहितशालितण्डुलपिष्टमालोड्य  
पूपलिकां कृत्वा विधूमेष्वङ्गारेषु वियाच्य † विडङ्गतैललवणोपहितां  
क्रिमिकोष्ठाय भक्षयितुं प्रयच्छेत् । तदनन्तरश्चास्लकाञ्जिकमुद-  
श्वित्पिप्पल्यादिपञ्चवर्गसंसृष्टं सलवणमनुपाययेत् । तां खलु  
एतेन कल्पेन मार्कवाकसहचरनीपनिर्गुण्डीसुमुखसुरसकुठेरक-  
गरुडीरकालमालपर्णासन्नवकफणिज्भकवकुलकुटजसुवर्णाक्षीरी-  
स्वरस्तानामन्यतमे कारयेत् । तथा किणिहीकिराततित्तसुवहा-

विरेचनविषयक्रिमिव्याधितमाह—यदीत्यादि । शीर्षादान् शिरोजातान् शिरो-  
भक्षकान् स्नेहस्वेदाभ्यां शिर उपपाद्य शिरसि स्नेहस्वेदौ कृत्वा ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—आकर्षणमुक्त्वा ततोऽस्य प्रकृतिमलादिविघ्नातायोक्तो यो विधिः  
तम् । अभ्यवहार्यमाह—मूषिकपर्णीमित्यादि । पूपलिकां शङ्कुलीं निर्धूमेषु  
अङ्गाराग्निषु उदश्वित् अर्द्धादिकतक्रं ( उदकीकृत्य उदकतया कल्पयित्वा ) पिप्प-  
ल्यादिपञ्चवर्गसंसृष्टं पञ्चकोलचूणसंयुक्तं सलवणं ससैन्धवमनुपाययेत् । शेषं  
भक्षयविधिमाह—ताम् इत्यादि । एतेन उक्तेन । मार्कवं भृङ्गराजः, अर्कः श्वेतः, सुमुखः  
) शाकविशेषः, कालमालः कासमर्दः । तथेत्यादिना ज्ञेयानाह—किणिहीत्यादि ।

हि वैद्यकव्यवहारान् शैस्वरिककपाय उच्यते । विलेप्याः क्रमागतमिति कृतयवाग्वादिक्रममित्यर्थः ।  
अपामार्गतण्डुलादिनेत्र्यपामार्गतण्डुलीयोक्तं ॥ १११२ ॥

चक्रपाणिः—मूलकर्पणीं शोभाजनम् । उपकुड्येति पाचयित्वा, 'कुड दाहे' इति धातुः पठ्यते ।



मलकहरीतकीविभीतकस्वरसेषु कारयेत् पूषलिकाः स्वरसांश्च  
एषामेकैकशो द्वन्द्वशः सर्वशो वा मधुविलुलितान्\* प्रातरनन्नाय  
पातुं प्रयच्छेत् ॥ १३ ॥

अथाश्वशकृदाहत्य महति किलिञ्जके प्रस्तीर्यातपे शोष-  
यित्वोदूखले क्षोदयित्वा दृशदि पुनः सूक्ष्मचूर्णानि कारयित्वा  
विडङ्गकषायेण त्रिफलाकषायेण वाष्टकृत्वो दशकृत्वो वातपे सुपरि-  
भावितानि दृशदि पुनः सूक्ष्मचूर्णानि कारयित्वा नवे कलसे  
समाश्रप्यानुगुप्तं निधापयेत् । तैपान्तु खलु चूर्णानां पाणितलं  
चूर्णं यावद्वा साधु मन्येत, तत् क्षौद्रेण संसृज्य क्रिमिकोष्ठिने  
लेढुं प्रयच्छेत् । तथा भल्लातकास्थीन्याहत्य कलसप्रमाणेन  
चापोथ्य स्नेहभावितै दृढे कलसे सूक्ष्मानेकच्छिद्रव्रध्ने† मृदाव-

किणिही अपामार्गः, सुवहा जेफालिका, पूषलिका इति कारयेदिति पूर्व्वेणापि  
चान्वेतव्यम् । भक्ष्यविधिमुक्त्वा भक्षणविधिना औषधविधिमाह—स्वरसांश्चैषा-  
मित्यादि । एषां मूषकपर्ण्यादीनाम् अनन्नाय अभुक्तवते शून्यकोष्ठायेत्यर्थः ॥ १३

गङ्गाधरः—अथाश्वशकृदित्यादि । किलिञ्जकः पिटोटोकः, चुव्डीति लोके ।  
अष्टकृत्वोऽष्टवारान् दशकृत्वो दशवारान् वा आतपे सुपरिभावितानि यावता  
विडङ्गकषायेण त्रिफलाकषायेण वा तानि चूर्णान्याद्रीभूयैकतां व्रजेत् तावता  
तेन कषायेण भावयित्वा शुष्कीकृतानि पुनराद्रीकृत्य शोषणं भावना अनुगुप्तं  
तं कलससुखमाच्छाद्य वातादीन् निवारये निधापयेत् । पाणितलं कर्पमात्रम् ।  
यावद्वेति व्याध्यादिवलानुसारेणाल्पाधिकाभ्याम् । योगान्तरमाह—तथा  
भल्लातकेत्यादि । कलसप्रमाणेन द्वात्रिंशच्छरावमानेन आपोथ्य कुट्टयित्वा

पिप्पल्यादिपञ्चवर्गोऽत्रैव पेयादिक्रमोक्तपञ्चकोलम् । सहचरो झिण्टिकी । मधुविलिखितानिति  
मधुनालोडितान् ॥ १३ ॥

चक्रपाणिः—सुपरीत्यादि । यथा सुपरिभावितानि भवन्ति, तथा भावयित्वेत्यर्थः । अनुगुप्त-  
मिति वाताद्यननुगमनीयं कृत्तरक्षञ्च यथा भवति । व्रध्ने गुदः, इह तु कलशाधोभागे । शरीरमुप-

\* मधुविलिखितानिति वा पाठः ।

† शरीरमुपवेष्टेत्यधिकः पाठः क्वचित् ।

लिप्ते समावाप्योऽप्युपेन पिधाय भूमावाकणं निखातस्य स्नेह-  
भावितस्यैवान्यस्य दृढस्य कुम्भस्योपरि समारोप्य समन्ताद्  
गोमयैरुपचित्य दाहयेत् । स यदा जानीयात् साधु दग्धानि  
गोमयानि, गलितस्नेहानि भल्लातकास्थानि ततस्तं कुम्भम्  
उद्धरेत् । अथ तस्माद् द्वितीयादेव कुम्भात् तं स्नेहमादाय  
विडङ्गतगुलचूर्णैः स्नेहार्द्धमात्रैः प्रतिसंस्त्रज्यातपे सर्व्वमहः  
स्थापयित्वा ततोऽस्मै मात्रां प्रयच्छेत् पानाय । तेन साधु  
त्रिगिच्यते, त्रिरिक्तं चानुपूर्व्वी यथोक्ता । एवमेव भद्रदारु-  
सरलकाष्ठस्नेहानुपकल्प्य पातुं प्रयच्छेत् ॥ १४ ॥

अनुवासयेच्चैनमनुवासनकाले । अथाहरेति ब्रूयात् शारदान्  
नवांस्तिलान् सम्पदुपेतान् आहृत्य सुनिष्पृतान् \* शोधयित्वा

उद्धृत्य स्नेहभाविते तैलादिभाविते कलसे मृक्षाणि अनेकच्छिद्राणि  
ब्रन्धे गुददेशेऽर्थात् तलदेशे यस्य तस्मिन् तथा । मृदा सर्व्वतो लिप्ते तानि  
कुट्टितभल्लातकास्थीनि समारोप्य उडुपेन कदलीवृक्षपटलेन शरावाद्याच्छादनेन  
मुखमस्य पिधाय धूमो यथा न निगच्छेत् । भूमौ गर्त्तं कृत्वा स्नेहभावितदृढ-  
कुम्भान्तरमाकण्डं निखातीकृत्य तस्य कुम्भस्योपरि तं भल्लातकास्थिपूरित-  
कुम्भमारोप्य समन्तात् चतुर्दिक्षु गोमयैः कारीपैरुपचित्य आचितं कृत्वा दहेत् ।  
द्वितीयादिति तलस्यकुम्भात् । स्नेहः स एव भल्लातकस्नेहोऽद्धमात्रं यत्र तैर्विडङ्ग-  
चूर्णैः विडङ्गचूर्णस्य द्वौ भागौ भल्लातकस्नेहस्य चैकभाग इत्येवं मिश्रयित्वा सर्व्व-  
चतुःप्रहरदिनं स्थापयित्वा यथोक्तेऽपि उपकल्पनीये विरेचनाधिकारोक्ता ।  
योगान्तरमाह—एवमेवेत्यादि । स्पष्टम् ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—अनुवासयेदित्यादि । शारदानित्यादिना योगान्तरम् । सम्पद-  
उपेतान् जन्तुजग्धलादिदोषरहितान् निष्पूय धौतादिकं कृत्वा निस्तुपीकृत्य  
वेष्टेयति वेष्टयित्वा । उलुपः पिधानम् । स इति भल्लातकस्नेहसाधकः । द्वितीयादिति अधः-

विडङ्गकषाये सुखोष्णे निर्व्वापयेदा दोषगमनात् । गतदोषानभि-  
समीक्ष्य सुप्रशूनान् प्रलुच्य पुनरेव निष्पूतान् शोधयित्वा  
विडङ्गकषायेण त्रिःसप्तकृत्वः सुभावितानातपे शोधयित्वोदूखले  
संजुघ दृशदि पुनः श्लक्ष्णपिष्टान् कारयित्वा द्रोण्यामभ्यवधाय  
विडङ्गकषायेण मुहुस्मुहुर्वसिञ्चन् पाणिमर्दमेव मर्दयेत् ।  
तस्मिंस्तु खलु प्रपीड्यमाने यत् तैलमुदियात् तत् पाणिभ्यां  
पथ्यादाय शुचौ दृढे कलसे न्यस्यानुगुप्तं निधापयेत् ।

अथाहरेति त्रूयात् तिल्वकोदालकयोर्द्वौ विल्वमात्रौ पिण्डौ  
श्लक्ष्णपिष्टौ विडङ्गकषायेण तदर्द्धमात्रौ श्यामात्रिवृतयोरतोऽर्द्ध-  
मात्रौ दन्तीद्रवन्तोरतोऽर्द्धमात्रौ चञ्चित्रकयोरित्येतं सम्भारं  
विडङ्गकषायस्याद्वकमात्रेण प्रतिसंगृह्य, तत्तैलप्रस्थं समावाप्य  
सर्वमालोड्य महति पर्यगे समासिच्यान्नावधिश्रित्य आसने  
सुखोपविष्टः सर्वतः स्नेहमवलोकयन्नजस्त्रं मृद्वग्निना साधयेत्  
निर्व्वापितान् शीतीकृतान् आ दोषगमनात् तिलानां दोषगमनपर्यन्तं सुप्रशूनान्  
सुप्रस्फीतान् प्रलुच्य अपनीय त्रिःसप्तकृत्व एकविंशतिवारान् । एवंप्रकारेण  
निष्पन्नतिलतैलं प्रस्थमितम् । तिल्वकं लोघ्रम् उदालको बहुवारः ; अनयोः  
प्रत्येकं द्विपलं विडङ्गकषायेण पिष्टाविति तदर्द्धमात्रावित्यादौ सर्वत्र योज्यम् ।  
तेन तिल्वकस्य पलद्वयम् उदालकस्य पलद्वयं श्याममूलत्रिवृन्मूलस्य पलम् अरुण-  
मूलत्रिवृन्मूलस्य पलं दन्तीमूलस्यार्द्धपलं नागदन्तीमूलस्यार्द्धपलं चञ्चलस्य  
कर्पश्चित्रकमूलस्य कर्प इत्येतत्सम्भारं कलकं विडङ्गकषायेणाद्वकमात्रेण  
प्रतिसंगृह्य पेषयित्वा तस्मिन् पूर्वोक्तविडङ्गकाथतिलसम्पीडिते प्रस्थे तैले  
गर्भं दत्त्वा तद्विडङ्गकषायस्याष्टशरावैः प्रतिसंगृह्य समालोड्य सर्वं महति  
स्थात् घटात् । निष्पूयेति मृत्तिकाद्यवकराजिचित्य । शोधयित्वेति प्रक्षाल्य । आ दोषगमनादित्यत्र  
तिलदोषगमनं तिलत्वग्लग्नमलादिगमनं ज्ञेयम् । प्रलुच्य निस्तूपीकृत्य । अभ्यवधायेति  
आरोप्य । पाणिभ्यां पथ्यादायेति पाणिलग्नं पुनःपुनर्गृहीत्वा ।

उदालको बहुवारः । विल्वमात्रौ पलप्रमाणौ । पर्यगः कटाहः । यथास्वमिति

दृढ्या संततमव्यवृत्त्यन् । स यदा जानीयात् विरमति शब्दः  
प्रशाम्यति च फेनः प्रसादमापद्यते स्नेहो यथास्वञ्च गन्धवर्ण-  
रसोत्पत्तिः संवर्त्तते च भैषज्यमङ्गुलीभ्यां मृद्यमानमनतिभृद्वनति-  
दारुणमनङ्गुलिग्राहि चेति स कालस्तस्यावतारणाय । ततस्तम्  
अवहृत्य ॐ शीतीभूतमहतैन वाससा परिपूय शुचौ दृढे कलसे  
समासिच्य पिधानेन पिधाय शुक्लेन वस्त्रपट्टेनाच्छाद्य सूत्रेण  
सुवद्धं सुनिगुप्तं निधापयेत् । ततोऽस्मै मात्रां प्रयच्छेत् पानाय,  
तैन साधु विरिच्यते । सम्यगपहतदोषस्य चानुपूर्वी यथोक्ता ।  
ततश्चैनमनुवासयेत् तु काले ।

एतेनैव च पाकविधिना सर्पपातसीकरञ्जकोपातकीस्नेहान्  
उपकल्प्य पाययेत् सर्वविशेषानवेक्षमाणस्तैनागदो भवति ।  
एवं द्रव्यानां श्लेष्मपुरीषसम्भवानां क्रिमीणां समुत्थानसंस्थान-  
स्थानवर्णानामप्रभावचिकित्सितविशेषा व्याख्याताः सामान्यतः ।  
विशेषतस्तु खल्वल्पमात्रमास्थापनानुवासनानुलोमहरणभूयिष्ठं  
तेष्वौषधेषु क्रिमीणां पुरीषसम्भवानां चिकित्सितं कार्यम् ।  
कदाहे समासिच्य पचेत् । ततस्त्ववतारणार्थं स्नेहपाकसिद्धिविज्ञानमाह—  
विरमतीत्यादि । संवर्त्तते वृत्तितो वृत्तिः स्यात् । सम्यगपहतदोषस्य तत्तैल-  
पानेन विरेकानन्तरं विरेचनोक्तानुपूर्वी विहाराहारयोरिति । ततो विरेकात्  
परमनुवासनस्य कालेऽनुवासयेत् ।

तिलतैलकल्पेन सर्पपादिस्नेहानतिदिशति—एतेनैवेत्यादि । तेनागदो  
निष्क्रिमिरोगो भवतीत्यर्थः । एवमित्यादि । समुत्थानं निदानं संस्थानमाकृतिः  
चिकित्सितं निदानोक्तानां भावानामनुपसेवनं प्रकृतिविघातश्च अपकर्ष-  
णादि । विशेषतस्त्वित्यादि । अल्पमात्रमित्यादि तेषुक्तेषु औषधेषु मध्ये  
यावन्मात्रं यदद्रव्यं तैलसंस्कारकम्, तदानुरूपेण वर्णादिसम्पत्तिरित्यर्थः । संवर्त्तते इति

सात्राधिकं पुनः शिरोविरेचनवमनोपशमनभूयिष्ठं तैष्वौषधेषु  
क्रिमीणां श्लेष्मजानां चिकित्सितं कार्यम् । इत्येष क्रिमिघ्नो  
भेषजविधिरनुव्याख्यातो भवति । तमनुतिष्ठता यथास्वं हेतु-  
वर्जने प्रयतितव्यम् । यथोद्देशमेवमिदं क्रिमिकोष्ठचिकित्सितं  
यथावदनुव्याख्यातं भवतीति ॥ १५ ॥

भवन्ति चात्र ।

अपकर्षणमेवादौ क्रिमीणां भेषजं भवेत् ।

ततो विघातः प्रकृतेर्निदानस्य च वर्जनम् ॥

एष एव विकाराणां सर्वेषामपि निग्रहे ।

विधिर्दृष्टस्त्रिधा योऽयं क्रिमीनुद्दिश्य कीर्तितः ॥

संशोधनं संशमनं निदानस्य च वर्जनम् ।

एतावद्भिषजा कार्यं रोगे रोगे यथाविधि ॥ १६ ॥

यदौषधमास्थापनानुवासनानुलोमहरणभूयिष्ठं तदौषधमल्पमात्रमल्पपरिमाणे  
पुरीषजानां क्रिमीणां चिकित्सितं कार्यम् । तेषूक्तेषु औषधेषु मध्ये  
यदौषधं शिरोविरेचनवमनोपशमनभूयिष्ठं तदौषधम् अधिकमात्रमधिकमानं  
श्लेष्मजानां क्रिमीणां चिकित्सितं कार्यमिति पुरीषजश्लेष्मजयोश्चिकित्सि-  
तस्य विशेषः ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—सूत्रार्थं व्यवसायाय श्लोकेनाह—भवन्तीत्यादि । अपकर्षण-  
मित्यादि । सर्वरोगाणामिदं चिकित्सितमितिदिशति । एष एवेत्यादि ।  
भिषजां सङ्क्षेपेण कम्पण्याह—संशोधनमित्यादि । संशोधनमपकर्षणमेव  
व्याख्यातं चतुर्विधम् । संशमनस्तु, न शोधयति यदौषान् समान् नोदीरय-  
त्यपि । समीकरोति च क्रुद्धास्तत् संशमनमुच्यते ॥ स च प्रकृतिविघात  
एव । ननु संशोधनसंशमनाभ्यामेव रोगजयो भवति, व्याधीनामपुन-  
र्भवश्च कथं स्यादित्यत आह—निदानस्य च वर्जनमिति । निदानवर्जनस्य  
प्रयोजनद्वयं व्याधौ सति क्रियालाघवं विनष्टे चापुनर्भव इति ॥ १६ ॥

वर्त्तिवद् भवति । अल्पमात्रमिति आस्थापनानुलोमहरणद्रव्यातिरिक्तं भेषजमल्पमात्रं कर्तव्यम्

तत्र श्लोकौ ।

व्याधितौ पुरुषौ ज्ञाज्ञौ भिषजौ सप्रयोजनौ ।

विंशतिः क्रिमयस्तैषां हेत्वादिः सप्तको गणः ॥

उक्तो व्याधितरूपीये विमाने परमर्षिणा ।

शिष्यसम्बोधनार्थाय व्याधिप्रशमनाय च ॥ १७ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रं चरकप्रतिसंस्कृते विमानस्थाने

व्याधितरूपीयं विमानं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थमुपसंहरति—तत्रेत्यादि । सप्तको गण इति सप्त  
योगाः ॥ १७ ॥

अध्यायं समापयति । अग्नीत्यादि ।

इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ तृतीय-

स्कन्धे विमानस्थानजल्पे व्याधितरूपीयविमान-

जल्पाख्या सप्तमी शाखा ॥ ७ ॥

अर्थः । एतदेवापकर्षणादित्रयं रोगान्तरे शब्दान्तरेणोच्यत इत्याह—अयमेवेत्यादि । अत्र  
संशोधनमपहरणम्, संशमनं विधातः । निदानवर्जनन्तु दाहदेनापि समानम् ॥ १४—१७ ॥

इति चरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्वेददीपिकायां विमानस्थान-

व्याख्यायां व्याधितरूपीयविमानं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

## अष्टमोऽध्यायः ।

अथातो रोगभिषग्जितीयं विमानं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

बुद्धिमानात्मनः कार्य्यगुरुलाघवे कर्मफलमनुबन्धं देश-  
कालौ च विदित्वा युक्तिदर्शनाच्च भिषग्वुभूषुः शास्त्रमेवादितः

गङ्गाधरः—अथ व्याधिविज्ञाने रसादिविमानानां दोषादिमानज्ञानहेतुत्वेऽपि  
विना भिषग्भावं न तैर्व्याधिविज्ञानं भवतीत्यतः शेषं रोगभिषग्जितीयं विमान-  
माह—अथात इत्यादि । रोगाणां भिषग्जितं भेषजं युक्तियुक्तं चतुष्पाद-  
माह स्म । तत्र भिषक् प्रधानतया उक्त इत्यत एवात्र भिषग्जितशब्देन  
भिषगेवोच्यते तदधिकृत्य कृतं विमानमिति ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—बुद्धिमानित्यादि । बुद्धिमान् पुरुषः आत्मनः स्वस्य कार्य्याणां  
त्रिविधैपणीयानां गुरुलाघवे बद्धायासाल्पायासाभ्यां क्रियानिष्पत्तौ वृत्तिकरं  
लोकानां यद्यत् कर्म राजसेवादिकमस्ति तस्य तस्य कर्मणः फलनिष्पत्तिः  
किं बद्धायासतः किमल्पायासतः सिध्यतीति कार्य्यगुरुलाघवे विदित्वा  
तस्य च कर्मणः फलं किं धर्ममात्रं किमर्थमात्रं किं काममात्रं किं मुक्तिमात्रं  
किं द्विफलं त्रिफलं चतुःफलं वा तद्विदित्वा अनुबन्धं तस्य कर्मणः फलस्य  
उत्तरकालं कियन्त सम्वन्धस्तश्च विदित्वा देशकालौ च कस्मिन् दशे कस्मिन्

चक्रपाणिः—पूर्वाध्याये व्याधितरूपभ्रान्तिज्ञानमुक्तम्, तच्च बुद्धिदोषाद् भवति, तेन  
विशुद्धबुद्ध्युत्पादहेतूनामध्ययनाध्यापनतद्विद्यसम्भाषाणां रोगभिषग्जितीयोऽभिधीयते । रोग-  
भिषग्जितं चिकित्सितमधिकृत्य कृतोऽध्यायो रोगभिषग्जितीयः । रोगचिकित्साकारित्वञ्चास्य,  
चिकित्सोपयुक्तस्य सम्यग्ज्ञानसाधनसाध्यस्याध्ययनविध्यादेः तथा करणकारणादेश्चाभिधानाद  
ज्ञेयम् ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—इहाध्ययनविध्यादिषु कर्तव्येषु यादृक् शास्त्रमध्येयम्, तदेवामुर्व्वेदार्थिपुरुषमुपदर्श्य  
दर्शयन्नाह—बुद्धिमानित्यादि । कार्य्यं कर्तव्यम्, तस्य गौरवञ्च बहुप्रयाससाध्यत्वेन लाघवं वा  
स्वल्पप्रयाससाध्यत्वेनेति कार्य्यगुरुलाघवम् । कर्मफलमिति कार्य्यफलम्, एतच्च तादात्म्यकं  
फलमीप्सितम् । अनुबन्धमिति काररस्यैवायत्तीयं फलम् । देशकालाविति कर्तव्यकार्यानुगुणौ  
देशकालावित्यर्थः । एतत् सर्व्वं विदित्वा । युक्तिदर्शनादुपपत्तिदर्शनात् । यदि भिषग्-

परीक्षेत । विविधानि हि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोकेषु ।  
तत्र यन्मन्येत महद्दयशस्विधीरपुरुषासेवितमर्थवहुलमाप्तजन-  
पूजितं त्रिविधशिष्यबुद्धिहितमपगतपुनरुक्तदोषमार्थं सुप्रणीत-  
सूत्रभाष्यसंग्रहक्रमं स्वाधारमनवपतितशब्दमकष्टशब्दम्

काले च वृत्तिकरं किं कर्म युक्तं किं कर्म न युक्तं पूजितमपूजितं वा तद्विदित्वा  
युक्तिदर्शनात् यद्वृत्तेस्तद्देशकालोचितत्वेन श्रेष्ठतमत्वं मन्यते तद् दृष्ट्वा भिषग्-  
बुभूषुर्भिषग्भवितुमिच्छुः सन्नादितः शास्त्रमायुर्वेदीयेषु बहुषु तन्त्रेषु मध्ये  
किं तन्त्रमध्येतव्यं मयेति परीक्षेत । नन्वायुर्वेदे एक एव तस्य कस्मात्  
हेतोः परीक्षा कार्येत्यत आह—विविधानि हीत्यादि । भिषजां शास्त्राणि आयु-  
र्वेदीयानि । तत्र तेषु तन्त्रेषु मध्ये यत् तन्त्रं महदादिकं मन्येत तच्छास्त्रं तन्त्र-  
मभिप्रेदयेत्यर्थः । यशस्विभिर्धीरैः पुरुषैरासेवितमित्यनेन तत्तन्त्रसेविनां  
तत्पुरुषवद्दयशस्वितादयः ख्यापिताः । अर्थवहुलमित्यनेनाल्पकालेनाध्येयत्वेन  
सम्पूर्णविद्याजनकत्वं ख्यापितम् । आप्तजनपूजितमित्यनेन निर्दोषं सिद्धान्त-  
वचनशालि च तत् तन्त्रमासेवितवतः श्रुतपर्यवदातता स्यादिति ख्यापितम् ।  
त्रिविधशिष्यबुद्धिहितमित्यनेन सर्वजनाध्येयत्वमुक्तम् । अपगतपुनरुक्तदोष-  
मित्यनेनाध्ययने पुनरुक्तार्थाध्ययनाय यः श्रमस्तस्य वृथात्वं तस्याभावः  
ख्यापितः । आर्षमित्यनेनाध्ययनेऽपि धर्मादिफलं ख्यापितम् । सुप्रणीतं  
सुष्ठुरचितं सूत्रस्य भाष्यसंग्रहस्य च क्रमो यत्र तत् तथा । सूत्रं सङ्क्षेपेण

भवितुमिच्छुः स्यात्, तदा शास्त्रं तावदादितः परीक्षेत । एवं मन्यते—य आयुर्वेदाध्ययन-  
लक्षणे कार्ये स्वशक्त्यपेक्षया गौरवं मन्यते, स न वक्तते, यश्चायुर्वेदफलेनारोग्यादिना अर्थो न  
भवति, स च, तथा यश्चानुपादेयायुर्वेदज्ञाने देशे स्थितः, स च, तथा यस्य च वपुषो घातव्य-  
लक्षणः कालः, स चायुर्वेदाध्ययनान्तर्गमनाशक्तत्वादेव यथोक्तानुपपत्तिदर्शनाद् भिषग्भवितु-  
मिच्छति । अतो न तान् प्रति आयुर्वेदशास्त्रपरीक्षा अप्युपदिशामः । यस्तु यथोक्तविपरीत-  
धर्मयोगी, स चायुर्वेदाध्ययनोपादानाद् भिषग्बुभूषुः शास्त्रं परीक्षेत । विविधानीत्यगुणवन्ति ।  
सुमहद्दयशस्वि च धीरपुरुषासेवितञ्च । किंवा, सुमहद्दयशस्विधीरपुरुषैरासेवितमिति विग्रहः ।  
आप्तजनपूजितमिति बहुविधैरासैर्यथार्हमनुमतम् । अकृष्टमध्याल्पबुद्धयः त्रिविधाः शिष्याः ।  
अनपगतपुनरुक्तमिति कर्तव्ये यद् दोषपाठं करोति, तेनाधिकरणवशात्प्रप्तं यत् करोति, तेनापि  
पुनरुक्तमदोषं भवति । वचनं हि—“अधिकरणवशाद् दीर्घाद् गुणदोषप्राप्तितोऽयं सम्बन्धोत्तु । स्तुत्यर्थं  
संशयतः शिष्यधियाज्ञातिवृद्धयर्थञ्च । अल्पतोऽन्तरितत्वात् विशेषणेष्वपि च तन्मङ्गलितु । यत्



पुष्कलाभिधानं क्रमागतार्थमर्थतत्त्वविनिश्चयप्रधानं संगतार्थ-  
ससङ्कुलप्रकरणमाशुप्रबोधकं लक्षणवचोदाहरणवच्च तदभिप्रप-  
द्वेत शास्त्रम् । शास्त्रं ह्येवंविधममल इवादित्यस्तमो विधूय  
प्रकाशयति सर्वम् ॥ २ ॥

तत्तदर्थानां ग्रन्थनं येन तत् । भाष्यं तेन सूत्रेण यत् अभिधेयं मुक्तकण्ठेन  
विस्तरेण पुनस्तद्वचनं भाष्यम् । तदपि संक्षेपेणातिविस्तरेण च कर्तुं  
सम्भवति । तत्र संग्रहेण यत् तद्भाष्यं भाष्यसंग्रहः तयोः क्रमः पूर्व सूत्र ततः  
संक्षेपेण भाष्यं न त्वतिविस्तरेण सुप्रणीतं यत्र तथाभूतं तन्त्रं सूत्रार्थस्यान्यथा  
व्याख्यानसामर्थ्यं व्याख्यातुः ख्यापितं येन फलापलापः स्यात् । स्वाधारं  
सुष्ठुधिकरणम् अधिकरणं तत्तदार्थाधिकारः परिच्छेद इत्यर्थः । एतेनान्योन्य-  
मिश्रत्वादुर्वोध्यत्वं नास्तीति ख्यापितम् । अनवपतितशब्दमित्यनेनाधुनिकत्वा-  
शङ्कानिरासः । अकष्टशब्दं कष्टशब्दं हि श्रुतकटूच्चारणाभ्यासकष्टम् । तदभावे तु  
बहुप्रकारशब्दरूपं श्रुतसुखत्वाभ्याससुखत्वार्थं भवति । तत्र चान्यादृशशब्द-  
रूपत्ववारणायाह—पुष्कलाभिधानमिति । पुष्कलेन प्रायेण वर्णावृत्त्याभि-  
धानम् । क्रमागतार्थं क्रमेण यदार्थादुत्तरं यदर्थ उद्दिष्टस्तदार्थादुत्तरमागतः  
प्राप्तिस्तदर्थो यत्र तत् तथा । एतेन प्रकरणशृङ्खलाया धारणसुखत्वं सूचितम् ।  
अर्थतत्त्वविनिश्चयप्रधानमित्यनेन निःसन्दिग्धार्थतत्त्वविद्याजनकत्वं ख्यापितम् ।  
सङ्गतार्थं पूर्वाध्यायव्याख्याने दर्शितपङ्क्तिविधिसङ्गत्या प्रणीतार्थमसङ्कुलप्रकरणम्  
अमिश्रितप्रकरणम्, एतेनाधिकारसौष्टवेऽपि तत्र प्रकरणपार्थक्यं येनाप्यसन्देहार्थः  
स्यात् । आशुप्रबोधकं श्रुतमात्रमर्थबोधजनकशब्दवत् । लक्षणवचोदाहरणवच्च  
इत्यनेनाध्ययनसुगमत्वमर्थतत्त्वावबोधे ख्यापितम् । तथाविधतन्त्रं कुतो हेतोः  
प्रपदेततेत्यत आह—शास्त्रं ह्येवमित्यादि ॥ २ ॥

तन्त्रे स्यात् पुनरुक्तम् नेप्यते तद् विभाव्य विवरणम् ।” स्वाधारमिति शोभनाभिधेयम् । अनव-  
पतितमित्यग्राम्यशब्दम् । अकष्टशब्दमिति अकृच्छ्रोच्चार्यशब्दम्, किंवा अप्रसिद्धाभिधेयशब्दम् ।  
पुष्कलाभिधानमिति सम्यगर्थसमर्पकवाक्यम् । क्रमागतार्थमिति पारिपाठ्यागतार्थम् । सङ्गतार्थ-  
मिति प्रतिपादितार्थम् । असङ्कुलप्रकरणमिति मिश्रीभूतप्रकरणम् । लक्षणवदिति आयुर्वेद-  
प्रधानार्थहेतुलिङ्गार्थासाधारणधर्मकथनवत् । किंवा प्रशस्तशास्त्रलक्षणवत् । उदाहरणवदिति  
प्रष्टव्यवत् ॥ २ ॥

ततोऽनन्तरमाचार्य्यं परीक्षेत । तद् यथा—पर्य्यवदातश्रुतं  
परिदृष्टकर्मणं दक्षं दक्षिणं शुचिं जितहस्तमुपकरणवन्तं  
सर्वेन्द्रियोपपन्नं प्रकृतिज्ञं प्रतिपत्तिज्ञमुपस्कृतविद्याम् ॥  
अनहङ्कृतम् अनसूयकमकोपनं क्लेशक्षमं शिष्यवत्सलमध्यापकं

१ गङ्गाधरः—तत्रपरीक्षानन्तरं तत्राध्ययननिमित्तमाचार्य्यपरीक्षणमाह—  
ततोऽनन्तरमित्यादि । पर्य्यवदातश्रुतमित्यादिकरूपेणाचार्य्यं जानीयात् ।  
पर्य्यवदातश्रुतत्वादिका हि गुणा आयुर्वेदाचार्य्याभिप्रायेणोक्ताः प्रस्तुतत्वात्,  
न तु सर्ववेदाचार्य्याभिप्रायेण । यः पूर्वं गुरुतोऽधीतायुर्वेदीये तत्तन्त्रे  
पर्य्यवदातः शास्त्रार्थतत्त्वनिश्चये सन्देहशून्यः । परिदृष्टकर्मणं सर्वतोभावेन  
गुरोः कृतचिकित्साकर्म स्वकृतकर्म च फलाफलतो दृष्टवन्तम् । दक्षं  
वमनादिसर्वक्रियासु कुशलम् । दक्षिणमनुकूलस्वभावम् । शुचिम् । जितहस्तं  
हस्तेन यत् कर्म चिकित्सार्थं करोति तत् कर्म झटिति सिध्यतीति तं जित-  
हस्तम् । उपकरणवन्तं वस्तिनेत्रशस्त्रादुपकरणवन्तम् । सर्वेन्द्रियोपपन्नं  
न तु हीनेन्द्रियम् हीनेन्द्रियत्वे हि न परीक्षोपपद्यते न वाध्यापनमुपयुज्यते ।  
प्रकृतिज्ञमिति व्याधितानां व्याधिप्रतिकारे स्वस्थानां वा स्वास्थ्यरक्षणे पुंसां  
प्रकृतिज्ञानमन्तरेण न क्रियोपयोगः सम्पद्यते । प्रकृतिर्हि स्वास्थ्ये पुंसां  
स्वभावः सत्त्वशरीरयोः सात्त्विकादिरूपा समवातपित्तकफात्मकस्वरूपा च ।  
प्रतिपत्तिज्ञमिति यस्य स्वस्थस्यातुरस्य वा यादृशी प्रतिपत्तिः क्रियादिषु  
मृत्तिराहारविहारयोः तां हि न ज्ञात्वा चिकित्सितुं नोपयुज्यते पुमान् ।  
उपस्कृतविदं तदायुर्वेदीयतन्त्रविद्या येन तदर्थपर्य्यवदातत्वेनोपाज्जिता पुन-  
रुपस्कृता शास्त्रान्तरसमूहाध्ययनेन संहतीकृता वा भूषणीकृता वा दृढतायां  
पुनःपुनः प्रतियतिता वा तर्कान्वितीकृता वा तच्चाचार्य्येतयैवोरीकुर्यात्  
इत्युपस्कृतविद्यमाचार्य्यं विद्यात् । अनुपस्कृतविद्यमिति पाठे तु अविकृतीभूता  
यस्य विद्या तमाचार्य्यं विद्यात् । अनहङ्कृतमित्यमत्सरं मात्सर्य्यन्तु लोके  
गदितं शिष्याणामध्यापनेऽपि तुच्छत्वसम्भवात् । अनसूयकं परगुणेषु दोषारोपणेन

चक्रपाणिः—अध्येतव्यं शास्त्रं परीक्ष्य यस्मात् तत् शास्त्रमध्येतव्यम्, तस्याचार्य्यस्य परीक्षा-  
माह—तत् इत्यादि । दक्षमिति अवामबुद्धिम् उपकरणवन्तमित्यनेनानुपकरणे गुरौ चिकित्सा-

\* अनुपस्कृतमिति चक्रः ।

ज्ञापनसमर्थश्च । इत्येवंगुणो ह्याचार्यः सुक्षेत्रमार्त्तवो मेघ इव  
शस्यगुणैराशु सुशिष्यं वैद्यगुणैः सम्पादयति । तमुप-  
सृत्यारिराधयिषुरुपचरेदग्निवच्च देववच्च राजवच्च पितृवच्च  
भर्तृवच्चाप्रमत्तः । ततस्तत्प्रसादात् कृत्स्नं शास्त्रमवगम्य

सततशीलनं यस्य तं नाचार्यं विद्यात् । शिष्याणां गुणेष्वपि दोषारोपण-  
सम्भवे तत्त्वार्थप्रवचनाकरणे तत्प्रवृत्तिसम्भवात् । अकोपनमिति कोपशीलस्य  
शिष्याणामध्यापने दुर्वर्धवाक्यप्रवचनार्थबहुवादप्रतिवादे कोपसम्भवे तदर्थ-  
प्रवचनाभावात् । क्लेशक्षमं शिष्याणामध्यापनं हि न क्लेशं विना भवतीति  
क्लेशक्षममाचार्यं विद्यात् । शिष्यवत्सलं शिष्येषु विना वात्सल्यं न गुरो-  
र्विद्यातत्त्वं लभ्यते शिष्यैरिति । अध्यापकं प्रागध्यापककल्पं प्रश्नात् तु  
शिष्याणामध्यापनेनाध्यापकम्, न हि पूर्वमेवाध्यापकता सम्भवति । ज्ञापनसमर्थं  
शिष्याणां तदर्थज्ञापनेऽशेषविशेषेण व्याख्यानसामर्थ्यवन्तम् । नन्वेवंविधैः  
आचार्यैः किं प्रयोजनमन्यादृशे चाचार्ये को दोष इत्यत आह—एवंगुणो  
ह्याचार्य इत्यादि । यथाक्षेत्रं मेघः सुक्षेत्रं शस्यगुणैः सम्पादयति तथा तथा-  
विध आचार्यः शिष्यमाशु वैद्यगुणैः पर्यवेदात्श्रुततादिभिः सम्पादयति ।

ननु तथाविधत्वेनाचार्यं परीक्ष्य किं कुर्व्यादित्यत आह—  
तमित्यादि । तमुपसृत्य उपगम्य तमाचार्येमाराधयितुमिच्छुराराद्धुमिच्छु-  
रित्यर्थः । स्वार्थं णिच् छान्दसत्वात् । अग्निवदित्यनेन नित्यापेक्षित्वं  
सूचितम् । देववच्चेत्यनेन पूज्यतमत्वं सूचितम् । राजवच्चेत्यनेन शासितृत्वं  
ख्यापितम्, तच्छासने सभयं तिष्ठेदिति सूचितम् । पितृवच्चेत्यनेन  
वात्सल्यात् पितृवदपरिहार्यत्वं ख्यापितम् । भर्तृवच्चेत्यनेन यथा प्रतिपालक-  
स्याधीनत्वं देवदधीनत्वमुरीकुर्यादित्यर्थः ख्यापितः । अप्रमत्तः प्रमादशून्यः  
सन्, न तु प्रमादेनान्यथा तमुपाचरेत् । तथा तदुपचरणेन किं स्यादित्यत  
आह—तत इत्यादि । तत्प्रसादात् तस्य गुरोः प्रसन्नत्वात् । कृत्स्नं निखिलं त-  
त्त्रमधिगम्येत्यनेन कृत्स्नतत्तत्राधिगममात्रलाभः स्यादिति ख्यापितम् ।

वृत्त्यभावात् कर्मदर्शनं न भवति । अनुपस्कृतविद्यमिति शास्त्रान्तरज्ञानेन नास्त्येवोपस्कृता  
विद्या यस्य स तथा । यश्चायुर्वेदज्ञः सन् शास्त्रान्तरेणापि संस्कृतो भवति, स तु नितरांमुपादेयः ।  
आर्त्तव इति यथोचितकालभवः । अग्न्यादिबहुदृष्टान्तदर्शनेन, येन येन भावेनान्यादयः सेव्यन्ते,

शास्त्रस्य दृढतायामभिधानस्य सौष्टवेऽर्थविज्ञाने वचनशक्तौ च भूयोभूयः प्रयतेत सम्यक् ॥ ३ ॥

तत्रोपायाननुव्याख्यास्यामः । अध्ययनमध्यापनं तद्विद्य-  
सम्भाषेत्युपायाः ॥ ४ ॥

तत्रायमध्ययनविधिः—कल्यकृतक्षणः ॥ प्रातरुत्थायोपव्युषं वा कृत्वावश्यकमुपस्पृश्योदकं देवर्षिगोब्राह्मणगुरुसिद्धवृद्धाचार्य्येभ्यो नमस्कृत्य समे शुचौ देशे सुखोपविष्टो मनःपुरःसरीभिर्वाग्भिः सूत्रमनुपरिक्रामन् पुनःपुनरावर्त्तयेत् । बुद्ध्या सम्यगनुप्रविश्य

ननु कृत्स्नं तत्रमधिगम्य किं कुर्यादित्यत आह—तत्तत्रस्य दृढतायाम् अच्युतधारणे विषये अभिधानस्य प्रवचनस्य सौष्टवे सौन्दर्ये अर्थविज्ञाने अध्ययनकाले संशयितार्थस्य निःसंशयविज्ञाने निःसंशयार्थस्य स्थिरतायाश्च वचनशक्तौ अनर्गलवचने च ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—ननु कथं प्रयतेत इत्यत आह—तत्रोपायानित्यादि । तत्र भूयो-  
भूयोऽर्थीतशास्त्रप्रयत्ने । उपायान् विवृणोति—अध्ययनमित्यादि ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—नन्वाध्ययनादयस्तावन्तः कीदृशा इत्यतोऽध्ययनादींस्त्रीन् क्रमेण विवृणोति—तत्रायमित्यादि । कल्यः प्रातःकालस्तत्र कृतः नियतरूपः क्षणो येन स कल्यकृतक्षणः । प्रातरुणोदयकालमुपव्युषं तदुत्तरकालं वा उत्थाय आवश्यकं मलमूत्रोत्सर्गपुखधौतदन्तधावनादिकं कम्मं कृत्वा उदकम् उपस्पृश्य स्नात्वा अशक्तौ वस्त्रं त्यक्त्वा पूतो भूत्वा चोदकेनाचम्य वा आचमन-  
विधिः सद्वृत्तेपूक्तः । देवादिभ्यो नमस्कृत्य समे शुचौ देशे अनीचोच्चदेशे शुचिरूपे सुखेन उपविष्टो मनःपुरःसरीभिर्मनोयोगपूर्व्विकाभिः सूत्रमनुपरिक्रामन् सूत्रानुपूर्व्वीकक्रमेण पुनःपुनरावर्त्तयेत् । आवर्त्तनमभ्यासः शीलनं सततक्रियेति आत्रेयभद्रकाप्यीये प्रोक्तम् । मनःपुरःसरीभिरित्यनेन मनोयोगं विनावर्त्तनेन

तथा तथा गुरुः सेव्यत इति दर्शयति । दृढतायामिति शास्त्रग्रहणस्य स्थैर्य्यं । अभिधानस्येति शास्त्राभिधानस्य । वचनशक्तौ अर्थकीर्त्तनसामर्थ्य्यं ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—तत्रेति शास्त्रदृढतादौ, तद्विद्यसम्भाषां तच्छास्त्राध्यायिना सह उद्ग्राहिकां । कल्यो नीरोगः । कृतक्षण इत्यनन्यव्यापारत्वेनाध्ययनाय कृतकालपरिग्रहः । प्रातर्वा उत्थाय,

\* कल्यः कृतक्षण इति चक्रसम्मतः पाठः ।

अर्थतत्त्वं स्वदोषपरिहाराय परदोषप्रमाणार्थम् । एवं मध्य-  
न्दिनेऽपराह्णे रात्रौ च शश्वदपरिहापयन्नध्ययनमभ्यस्येत् ।  
इत्यध्ययनविधिः ॥ ५ ॥

अथाध्यापनविधिः—अध्यापने कृतबुद्धिराचार्यः शिष्यमेव  
आदितः परीक्षेत् । तद् यथा—प्रशान्तमार्यप्रकृतिकमक्षुद्रकर्म-  
णाम् ऋजुचक्षुर्मुखनासावंशं तनुरक्तविशदजिह्वमविकृतदन्तौष्ठम्

स्थिरतया धारणं न स्यादित्युक्तम् । ननु किं वर्णावलिवाक्योच्चारणत एवावर्त्तये-  
दुत किमन्यथेति ? अत आह—बुद्धेस्तयादि । अर्थतत्त्वे बुद्ध्यानुभवेशपूर्वकावर्त्तन-  
फलमाह—स्वदोषेत्यादि । ननु केवलं प्राह्णे एवाध्ययनं कुर्यात् न चात-  
ऊर्द्धमित्यत आह—एवं मध्यन्दिने इत्यादि । एवमनेन प्रकारेण मध्यन्दिनादौ  
चाध्ययनं शश्वन्नित्यमभ्यस्येत् । ननु तत् किं न प्राह्णे कदाचिदभ्यस्येदित्यत  
आह—अपरिहापयन्नध्ययनमिति । प्रातरादिकाले यदध्ययनमुक्तं तदध्ययन-  
मपरिहापयन् न परित्यजन् । एतेन तत्कालमध्ययनं सर्वदेव, मध्यन्दिनादौ तु  
कदाचिदनध्ययनेऽपि न क्षतिरिति ख्यापितम् ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—अथ द्वितीयमुपायमध्यापनं विवृणोति—अथेत्यादि । अध्यापने  
इति । शिष्यचिह्नमाह—तद् यथेत्यादि । प्रशान्तमचञ्चलरूपम् । आर्यप्रकृतिं  
ब्राह्मणक्षत्रियवैश्ययोनिं षड्जातिम् । अक्षुद्रकर्मणं नीचकर्मकर्त्तारम् ।  
ऋजवः सरलाश्चक्षुषी च मुखश्च नासावंशश्च ते यस्य तं तथा । तनुरस्थूला रक्त-  
वर्णा च विशदा चापिच्छिला जिह्वा यस्य तं तथा । अविकृता यथावज्जाता दन्ता

उपव्युपं वा उत्थायेति योजना । उपव्युपमिति किञ्चिच्छेषायां रात्रौ । मनःपुरःसरीभिरिति  
एकाग्रमनःप्रणीताभिः । स्वदोषपरिहारपरदोषप्रमाणार्थमिति स्वकीयाध्ययनदोषपरिहारार्थं पर-  
कीयाध्ययनदोषप्रमाणार्थं परकीयाध्ययनदोषज्ञानार्थमित्यर्थः । प्रसीयतेऽनेनेति प्रमाणं ज्ञानमात्र-  
मीप्सितम् । सम्यग् बुद्धार्थतत्त्वं बुद्ध्या चाधीयानो निर्दोषाध्ययनो भवति, सम्यगध्ययनज्ञानाच्च  
परस्य स्वदोषमध्ययनं प्रतिपद्यते । इत्यध्ययनविधिरिति पूर्वप्रतिज्ञाताध्ययनविधेरुपसंहरणम् ।  
यथोक्तेन विधिनाध्ययनं क्रियमाणं सुसंगृहीतं भवति । इष्टादृष्टसम्पत्त्याध्ययनकालवर्जनम्,  
वेदाध्ययने निषिद्धमेवात्रापि तज्ज्ञेयम्, इति न विशेषेणोक्तम् ॥ ४१५ ॥

चक्रपाणिः—इह शिष्यगुणेषु ऋजुचक्षुर्मुखनासावंशत्वादयो गुणाः सहजलक्षणत्वेनोपादेयाः ।

अमिन्मिणम् धृतिमन्तमलङ्कृतं मेधाविनं वितकस्मृतिसम्पन्नम्  
 उदारसत्त्वं तद्विद्यकुलजमथवा तद्विद्यवृत्तं तत्त्वाभिनिवेशिनम्  
 अव्यङ्ग्यमव्यापन्नेन्द्रियं निभृतमनुद्धतमर्थतत्त्वभावकम् अव्य-  
 सनिनमकोपनम् शीलशौचाचारानुरागदादयदाजिग्योपपन्नम्  
 अध्ययनाभिकाममर्थविज्ञाने कर्मदर्शने चानन्यकार्यमलुब्धम्  
 अनलसं सर्व्वभूतहितैर्पिणमाचार्य्यसर्व्वानुशिष्टिप्रतिपत्तिकरम्  
 अनुरक्तम् एवंगुणसमुदितमध्याप्यमाहुः ॥ ६ ॥

ओष्ठौ च यस्य तं तथा । अमिन्मिणं सानुनासिकवाक्यवचनशीलरहितम् ।  
 धृतिमन्तं कार्य्यं मनोनियमात्मिका बुद्धिर्यस्य तम् । अलङ्कृतं भूषायुक्तम् । मेधा-  
 विनं धारणावती बुद्धिर्यस्य तम् । वितकस्मृतिसम्पन्नं ऊहापोहाभ्यां स्मृत्या च  
 सम्पन्नम् । उदारसत्त्वं मनस औदार्य्यं महत्त्वं यस्य तम् । तद्विद्यकुलजं तदायु-  
 व्वेदीयतन्त्रव्यवसायिनां कुले जातम् । अथवा तद्विद्यवृत्तं तस्मिन् तन्त्रेऽधीते  
 जायते या विद्या सा विद्या यस्य स तद्विद्यस्तेन वृत्तम् उपाजिंतार्थेनावर्त्तत  
 यस्तम्, तत्त्वाभिनिवेशिनं यथार्थत्वेऽभिनिवेशो मृपार्थं स्वयथात्वं यस्य तं तथा ।  
 अव्यङ्ग्यम् अङ्गेनाहीनम् । अव्यापन्नेन्द्रियम् इन्द्रियव्यापद्रहितं, सुष्ठु सर्व्वेन्द्रिय-  
 मित्यर्थः । निभृतं गुप्तरूपम् । अनुद्धतमप्रगल्भरूपम् । अर्थतत्त्वभावकमर्थतत्त्वस्य  
 स्वभावतश्चिन्ताशीलमव्यसनिनं द्रष्टादिव्यवहाररहितम् । अकोपनम् । शीलं  
 सच्चरितं दाक्षिण्यं सर्व्वत्रानुकूलशीलता । अर्थविज्ञाने अध्याप्यतन्त्रार्थविज्ञाने  
 अन्यकार्य्यरहितम्, कर्मदर्शने चिकित्साक्रियादर्शनेऽन्यकार्य्यरहितञ्च । अलुब्धं  
 भोजनादिपु लोभहीनम् आचार्य्यसर्व्वानुशिष्टिप्रतिपत्तिकरम् आचार्य्येण यद्-  
 यदनुशिष्यते तत्तत् सर्व्वमनुशासनं प्रतिपन्नं करोति यस्तमित्यर्थः । अनुरक्त-  
 माचार्य्यानुरक्तम् । एवंविधं शिष्यं परीक्षेत । नन्वेतद्गुणान्यतमगुणहीनं किं  
 नाध्यापयेदित्यत आह—एवंगुणसमुदितमिति । अन्यतमगुणाभावे हि न

अतो विपरीतलक्षणो हि जडो भवति । तद्विद्यवृत्तमित्यायुर्व्वेदज्ञाचारम् । निभृतमिति विनीतम् ।  
 अनुद्धतमित्यनहङ्कृतम् । अनुरागशब्देनाध्ययनानुराग उच्यते । अनुरक्तमित्यनेन च गुरावनु-  
 रक्तत्वमुच्यते । दाक्ष्यं दर्शयित्वाप्यनलसमिति यत् करोति, तेन दाक्ष्यादारब्धेऽपि कार्य्यं बहु-  
 प्रयाससाध्येऽनलसमित्याह । अनुशिष्टिप्रतिकरमित्याज्ञाकरम् ॥ ६ ॥

एवंविधमध्ययनार्थिनमुपस्थितमारिराधयिषुमाचार्यश्चानु-  
भाषेत । अथ उदगयने शुक्लपक्षे प्रशस्तेऽहनि तिष्यहस्त-  
श्रवणाश्रयुजामन्यतमेन नक्षत्रेण योगमुपगते भगवति शशिनि  
कल्याणे कल्याणे च करणे मैत्रे मूहूर्त्ते मुण्डः कृतोपवासः  
स्नातः कषायवस्त्रसंवीतः सन् समिधोऽग्निमाज्यमुपलेपनमुद-  
कुम्भांश्च सुगन्धिहस्तो माल्यदामदीपहिरण्यरजतमणिमुक्ता-  
विद्रुमक्षौमपरिधींश्च कुशलाजसर्षपाक्षतांश्च शुक्लाश्च सुमनसो  
प्रथिताप्रथिता मेध्यांश्च भक्ष्यान् गन्धांश्च घृष्टानादायोपतिष्ठस्व  
इति । अथ सोऽपि तथा कुर्यात् ॥ ७ ॥

तमुपस्थितमाज्ञाय समे शुचौ देशे प्राक्प्रक्षणे उदक्प्रक्षणे  
वा चतुष्किष्कुमात्रं चतुरश्रं स्थण्डिलं गोमयोदकोपलिप्तं

सर्व्वथा तत्तत्रविद्यालाभः स्याद्यथा यथा गुणः स्यात् तथा तथा विद्यालाभः  
स्यादिति तु हृदयम् ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—ननु किमेवम्भूतं शिष्यमन्विष्य परीक्ष्य स्वयमानीयाध्यापये-  
दित्यत आह—एवंविधमित्यादि । एवंविधं विद्यार्थिनं गुरुमारिराधयिषुं  
स्वयमुपस्थितमनुभाषेताचार्यः । किं भाषेतेत्यत आह—अथोदगयने इत्यादि ।  
उदगयने उत्तरायणे माघादिषष्मासाभ्यन्तरे प्रशस्तेऽहनि ज्योतिःशास्त्रोक्त-  
तिथियुक्तवारे शशिनि कल्याणे शुभे मुण्डः मुण्डितशिराः उपतिष्ठस्वेति अनु-  
भाषेत इत्यन्वयः ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—तमित्यादि । चतुरश्रं चतुष्कोणं चतुष्किष्कुमात्रं तथा चैकैकदिशि

चक्रपाणिः—तिष्यः पुण्यानक्षत्रम् । अश्रयुगध्विनी । शशिनि कल्याण इति उक्तनक्षत्रेष्व-  
ध्ययनार्थिनो यतः शशी कल्याणकरो भवति, उदित एव शशिन्यध्ययनं कर्त्तव्यम् । मैत्रे मूहूर्त्ते  
इत्यनुकूले मूहूर्त्ते, मूहूर्त्तादयश्च शिवभुजगादयः । मुण्डः कृतवापनः । गन्धेन हस्तः पञ्चाङ्गुलो  
गन्धहस्तः । हिरण्यशब्देनाघटितं हेमं गृह्यते, हेमशब्देन च घटितम् । परिधयो हस्तप्रमाणा  
होमकुण्डचतुःपार्श्वे स्थाप्याः पालाशादिदण्डा उच्यन्ते । अत्र चोपार्जितवस्तुसाक्षिभ्यमेव फल-  
प्रदमिति ऋषिवचनादुज्जीयते, तेन अन्योपाहृतमपीष्टगन्धाद् नोद्गावनीयम् ॥ ७ ॥

कुशास्तीर्णं सूपविहितं ॐ परिधिभिश्चतुर्दिशं यथोक्तचन्दनोद-  
कुम्भक्षौमहेमरजतमणिमुक्ताविद्रुमालङ्कृतम् मेध्यमद्यगन्ध-  
शुक्लपुष्पलाजसर्षपाक्षतोपशोभितं कृत्वा तत्र पालाशीभिरैङ्गदीभि-  
रौदुम्बरीभिर्माधूकीभिर्वा समिद्धिरग्निमुपसमाधाय प्राङ्मुखः  
शुचिरध्ययनविधिमनुविधाय मधुसर्पिर्भ्यां त्रिस्त्रिजुहुयात्  
अग्निम्, आशीःसंप्रयुक्तैर्मन्त्रैर्ब्रह्माणमग्निं धन्वन्तरिं प्रजापतिम्  
अश्विनाविन्द्रमृषींश्च सूत्रकारानभिमन्त्रयमाणः पूर्वं स्वाहेति ।

हस्तमात्रं सूपविहितं सुष्ठुरूपेणोपविहितमुपस्कृतं भूपितम् । यथोक्तचन्दना-  
दिभिः सज्जां विधाय तैश्चन्दनाभिर्गणेशादीन् देवान् पूजयित्वा त्रिप्रा-  
भिमजश्चोल्लिख्याभ्युक्ष्य च दक्षिणतो ब्राह्मणं स्थापयित्वा तत्र स्थण्डिले  
अध्ययनविधियुक्तं पश्चात् कत्तव्यतयां विधायाम्निमुपसमाधाय पालाशाद्यन्यतम-  
काष्ठैरग्निं प्रज्वाल्य सुश्रुतसंवादात् खदिरदेवदारुविल्वन्यग्रोधाश्वत्थान्यतम-  
काष्ठैर्वाग्निं प्रज्वाल्य प्राङ्मुखः शुचिः सन्नाचार्य्यो ब्राह्मणो ब्राह्मण-  
मूर्द्धाभिषिक्तक्षत्रियादीन् उपनेतुं मूर्द्धाभिषिक्तो मूर्द्धाभिषिक्तक्षत्रियादीन् न तु  
ब्राह्मणं क्षत्रियोऽम्बष्ठक्षत्रियमाहिष्यवैश्यान् अम्बष्ठः क्षत्रियाम्बष्ठमाहिष्यवैश्यान्  
माहिष्यो माहिष्यवैश्यौ वैश्यो वैश्यमिति समानाधमानुपनेतुमर्हति । आपदि  
तु ब्राह्मणादुत्तमाभावेऽवरश्च द्विजो वरमुपनेतुमर्हति । पूर्वं दधिमधुघृताक्ताभिः  
पूर्वोक्ताभिः समिद्धिर्दाव्रीहौमिकविधिना हुत्वा श्रुवेण मधुसर्पिर्भ्यां ॐ भूः  
स्वाहा इति मन्त्रेण त्रिजुहुयात् । ततः ॐ भुवः स्वाहेति त्रिजुहुयात् ततः ॐ स्वः  
स्वाहेति त्रिजुहुयात् इति । एवं व्याहृतिभिस्त्रिस्त्रिजुहुयात् । श्रुवेण त्रिस्त्रि-  
राज्याहुतिं वा दद्यात् तैर्मन्त्रैः । ततः परम् अग्निमांशीःसम्प्रयुक्तैर्मन्त्रैर्ब्रह्माण-  
मभिमन्त्रयमाणः स्वाहेति त्रिजुहुयात् । ततस्तैरेव मन्त्रैरग्निमभिमन्त्रयमाणः  
स्वाहेति त्रिजुहुयात् । ततो धन्वन्तरिं ततः प्रजापतिं ततोऽश्विनौ ततः

चक्रपाणिः—किष्कुरिह हस्तप्रमाणम् । सुपरिहितमिति सुवेष्टितम् । उपधायेत्यारोप्य ।  
जुहुयादित्यध्यापक इत्यभिप्रायः । ब्रह्मादीन् स्वाहेति मन्त्रेण मन्त्रयमाण आचार्य्यः पूर्वमग्निं

\* सुपरिहितमिति चक्रः । . .



शिष्यश्चैनमन्वालभेत । हुत्वा च प्रदक्षिणमग्निमनुपरिक्रामेत् ।  
परिक्रम्य ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयेत् भिषजश्चाभिपूजयेत् ॥ ८ ॥  
अथैनमग्निसकाशे ब्राह्मणसकाशे भिषक्सकाशे चानु-  
शिष्यात्,—ब्रह्मचारिणा श्मश्रुधारिणा सत्यवादिना अमांसादेन  
मेध्यसेविना निर्म्मत्सरेणाशस्त्रधारिणा च ते भवितव्यम् । न च ते  
मद्वचनात् किञ्चिदकार्यं स्यादन्यत्र राजद्विष्टात् प्राणहराद् विपु-  
लाद्धर्मादनर्थसंप्रयुक्ताद्वाप्यर्थात् । मदर्पणेन मत्प्रधानेन मदधी-  
नेन मत्प्रियहितानुवर्त्तिना च त्वया शश्वद्भवितव्यम् । पुत्रवद्वासव-  
दर्थिवच्चोपचरेतानुवस्तव्योऽहम् । अनुत्सुकेनावहितेनानन्य-  
मनसा विनीतेनावेद्यावेद्यकारिणानसूयकेन चाभ्यनुज्ञातेन  
प्रविचरितव्यम् । अनुज्ञातेन चाननुज्ञातेन च प्रविचरता पूर्व

सूत्रकारानात्रेयादीन् त्रिस्त्रिजु हुयात् । शिष्यश्च एनं होमं कुर्यात् । हुत्वा शिष्य-  
स्तमग्निं प्रदक्षिणं दक्षिणभागे कृत्वा त्रिः परिक्रामेत् । परिक्रमानन्तरं ब्राह्मणान्  
स्वस्ति वाचयित्वा भिषजश्च पूजयित्वा ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—अथेत्यादि । ततः परमेनं वर्त्तमानं शिष्यमनुशिष्यात् । अनुशासन-  
माह—ब्रह्मचारिणेत्यादि । निर्म्मत्सरेण मात्सर्यरहितेन ते भवितव्यमिति  
कृद्योगेऽनभिहिते कर्त्तरि पृष्ठी तु न सङ्गच्छते श्मश्रुधारिणेति तृतीयान्तविशेषणा-  
नुपपत्तेः । छन्दसि बहुलत्वात् त्वयेति । न चेति ते तव मद्वचनात् किञ्चित्  
अकार्यं न स्यात् । मद्वचनतः सर्वं कर्त्तव्यमेव तवेत्यर्थः । अन्यत्र राजद्विष्टा-  
दिभ्यः । राजद्विष्टादिषु मद्वचनतो न ते कार्यमकर्त्तव्यम् । मदर्पणेन यत् किञ्चित्  
प्राप्यं भिक्षया तत् पुनर्मह्यमर्पितुं शीलवता । अनुत्सुकेन औत्सुक्यवर्जनेन ।

जुहुयादिति योजना । तेन ब्रह्मादिऋग्भिराशीः प्रयुक्ताभिर्ब्राह्मणे स्वाहेत्यन्ताभिर्होमः कर्त्तव्यः ।  
शिष्यश्चैनमन्वालभेतेति शिष्योऽपि गुरुहोमानन्तरमेव जुहुयादित्यर्थः ॥ ८ ॥

चक्रपाणिः—ते भवितव्यमिति त्वया भवितव्यम् । प्रविचरितव्यमिति चिकित्सार्थं व्यव-

गुर्वर्थोपान्वाहरणे यथाशक्ति प्रयतितव्यम् । कर्मसिद्धिमर्थसिद्धिं  
यशोलाभं प्रेत्य च स्वर्गमिच्छता भिषजा त्वया गोब्राह्मणमादौ  
कृत्वा सर्वप्राणभृतां शर्माशासितव्यम् अहरहरुत्तिष्ठता चोप-  
विशता च । सर्वात्मना चातुराणामारोग्ये प्रयतितव्यम्, जीवित-  
हेतोरपि चातुरेभ्यो नाभिद्रोघव्यम् । मनसापि च परस्त्रियो  
नैवाभिगमनीयास्तथा सर्वमेव परस्वम् । निभृतवेश-  
परिच्छदेन भवितव्यम् अशौण्डेनापेनापापसहयेन च,  
श्लक्ष्णशुक्लधर्म्य-<sup>\*</sup> धन्यसत्यहितमितवचसा देशकालविचा-  
रिणा स्मृतिमता ज्ञानोत्थानोपकरणसम्पत्सु नित्यं यत्नवता ।  
न च कदाचिद् राजद्विष्टानां राजद्वेषिणां वा महाजनद्विष्टानां  
महाजनद्वेषिणां वा औषधमनुविधातव्यम् । एवं सर्वेषा-  
मत्यर्थविकृतदुष्टदुःखशीलाचारोपचारणामल्पवाद-<sup>†</sup> प्रतिकारा-  
मदनुज्ञातेन त्वया मदननुज्ञातेन वा त्वया प्रविचरता पूर्वं गुरुणामर्थानामुपा-  
न्वाहरणे प्रयतितव्यं पश्चान्निजार्थोपान्वाहरणे । कर्मसिद्धिमिच्छतार्थसिद्धि-  
मिच्छता यशोलाभमिच्छता प्रेत्य च मृता च स्वर्गमिच्छता भिषजा त्वया भिषक्तवं  
गतेन अहरहरुत्तिष्ठता चोपविशता च आदौ गोब्राह्मणं कृत्वा प्रथमतो गो-  
ब्राह्मणयोः शर्म मुखमाशासितव्यम्, ततः सर्वप्राणभृतां शर्म चाशासितव्यम् ।  
सर्वात्मना सर्वशेनातुराणां रोगिणाम् । अपि च जीवितहेतोरातुरेभ्यो मित्रेभ्यो  
वा शत्रुभ्यो वा नाभिद्रोघव्यं मनसापि चेति चकारात् वाचा कायेनापि  
इत्यर्थः । परस्वं परस्वामिकं वस्तु निभृतौ निश्चयेन भृतौ वेशपरिच्छदौ येन तेन  
तथा । अशौण्डेनामत्तेन । स्मृत्यादिषु नित्यं यत्नवता भवितव्यमिति पूर्व्वेणा-  
न्वयः । एवमित्यादौ च अल्पवादप्रतिकारादीनामिति जनपदोद्भवंसनीयाल्प-  
हर्तव्यम् । गोब्राह्मणमादौ कृत्वेति प्रथमं गोब्राह्मणानाञ्च शर्माऽशासितव्यम्, ततश्चेतरेषां  
प्राणिनाम् । उपविशता चेति छेदः । शुण्डा मद्यशाला, तत्प्रचारी शौण्डः । अशौण्डस्तु तद्-  
प्रचारी । शुक्रमिव शुक्रम्, निर्दोषत्वादेतद्वचनम् । यत्नवता भवितव्यमिति सम्बन्धः । राज्ञो

\* श्लक्ष्णशुक्लधर्म्यशर्म्येति वा पाठः ।

† अनपवादेति चक्रः ।

दीनां मुमूर्षताश्च तथैवासन्निहितेश्वराणां स्त्रीणामनध्य-  
क्षाणां वा । न च कदाचित् स्त्रीदत्तमामिषम् आदातव्य-  
मननुज्ञातश्च भर्तृथवाध्यक्षेण । आतुरकुलश्चानुप्रविशता  
विदितैनानुमतप्रवेशिना सार्द्धं पुरुषेण सुसंवीतैन अवाक्-  
शिरसा स्मृतिमता स्तिमितैनावेद्यावेद्य मनसा सर्व-  
माचरता सम्यगनुप्रवेष्टव्यम् । अनुप्रविश्य च वाङ्मनो-  
बुद्धीन्द्रियाणि न क्वचित् प्रणिधातव्यानि, अन्यत्रातुरात्  
आतुरोपकारार्थाद्वा आतुरगतैष्वन्येषु वा भावेषु । न चातुरकुल-  
प्रवृत्तयो वह्निर्निश्चारयितव्याः । हसितश्चायुषः प्रमाणमातुरस्य  
जानतापि न त्वया तत्र च खलु वर्णयितव्यम्, यत्रोच्यमानं-  
मातुरस्य अन्यस्य चाप्युपघाताय सम्पद्यते । ज्ञानवतापि च  
नात्यर्थमात्मनो ज्ञानेन विकल्थितव्यम् आत्मादपि हि विकल्थ-  
मानादत्यर्थमुद्विजन्त्यनेके ॥ ६ ॥

वादप्रतिकारस्याधनस्येत्यादुक्तानां न त्रौपधमनुविधातव्यमित्यस्यान्वयः । न  
कदाचिदित्यादि । भिषग्भूते मांसादत्तप्रतिषेधाभावेन भर्तृथवाध्यक्षेणाननु-  
ज्ञातश्च स्त्रीदत्तमामिषं कदाचिन्नादातव्यं न ग्राह्यम् । आतुरकुलञ्चेत्यादिना  
विशिखानुप्रवेशः । आतुरकुलप्रवृत्तय इति आतुरपुरुषस्य कुलचाराः सन्तो  
वाप्यसन्तो वा न वहिरन्यत्र न निश्चारयितव्याः गोपितव्या इत्यर्थः । ननु कुत्र  
न वर्णयितव्यमित्यत आह—तत्र न वर्णयितव्यं यत्रोच्यमानमातुरस्यायुषो-  
हसितं प्रमाणमातुरस्यान्यस्य वाप्युपघाताय भवति । यत्र वर्णनेन न कस्योपघातः  
स्यात् तत्र तु वर्णनं न प्रतिषिध्यते । ज्ञानवतापि न चात्मनो ज्ञानवत्तयात्यर्थं  
श्लाघितव्यम् । कुतो नेत्यत आह—आत्मादपि हीत्यादि । आप्तपुरुषोऽपि

द्विषो राजद्विष्टः । यस्तु राजानं द्वेष्टि, स राजद्वेषी । आचारस्योपचरणमाचारोपचारः ।  
अनध्यक्षाणां वा न प्रतिकर्तव्यमिति योजना । प्रवृत्तय इति वार्त्ताः । तत्रेति न वर्णयितव्य-  
मिति सम्बध्यते । अन्यस्य आतुरपुत्रपित्रादेः । अन्यत्र उदासीने जीवितहासकथनं यशस्करमेव,

न चैव ह्यस्यायुर्वेदस्य पारम्, तस्मादप्रमत्तः शश्वदभियोग-  
मस्मिन् गच्छेत् । एतच्चैवंकार्यमेवं भूयः प्रवृत्तस्य सौष्ठवम्  
अनसूयता परेभ्यो वाप्यागमयितव्यम् । कृत्स्नो हि लोको  
बुद्धिमतामाचार्यः, शत्रुश्चाबुद्धिमताम् अतश्चाभिसमीक्ष्य  
बुद्धिमतामित्रस्यापि धन्यं यशस्यमायुष्यं पौष्टिकं लौकिकम्  
अभ्युपदिशतो वचः श्रोतव्यमनुविधातव्यञ्चेति ॥ १० ॥

अतः परमिदं ब्रूयात् । देवताग्निद्विजगुरुवृद्धसिद्धाचार्येषु  
ते नित्यं सभ्यं वर्तितव्यम् । तेषु ते सभ्यग्वर्त्तमानस्यायमग्निः  
यद्यात्मश्लाघां करोति तदा तेन अनेके उद्विजन्ते सुतरामनाप्तपुरुषो नात्मश्लाघां  
कुर्यात् ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—ननु कुत आप्तोऽपि नात्मश्लाघां कुर्यात् इति ? अत आह—न  
चैव हीत्यादि । हि यस्मादायुर्वेदस्य पारं न चैवास्ति सुतरामाप्तोऽपि नात्म-  
श्लाघां चिकित्सायां कर्तुं शक्नोतीति भावः । तस्मादायुर्वेदपाराभावादात्म-  
ज्ञानेन ज्ञानवत्तया श्लाघां न कृत्वा अप्रमत्तः प्रमत्तो न भूत्वा शश्वत् नित्यम्  
अप्रमादेनाभियोगमसर्ववित्तयास्मिन्नायुर्वेदे योगं गच्छेत् । एतच्च उक्तं यद्-  
यदेवं कार्यमुक्तकार्यमुक्तरूपेण भूयः प्रवृत्तस्य परस्य सौष्ठवमनसूयता तया  
परेभ्यो वापि शिष्येभ्य आगमयितव्यमुपदेशो ग्रहीतव्यः । हि यस्मात् कृत्स्नो  
लोकः सर्वो जनो बुद्धिमतामाचार्यः । अबुद्धिमतान्तु सर्वो जनः शत्रुरित्यतो  
बुद्धिमता पुरुषेणामित्रस्य शत्रोरपि धन्यादिकं वचः श्रोतव्यमनुविधातव्य-  
मिति ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—अतः परमित्यादि । अनुशासनानन्तरम् । तेषु देवतादिषु  
सत्र श्लाघा कर्त्तव्या । आप्तादपि हीत्यत्रासः सत्यवागुच्यते, अन्यत्रापि सत्यमेवासं वक्ष्यति,  
यथाकालप्राप्तमेव ब्रूयादित्यर्थः ॥ ९ ॥

चक्रपाणिः—न चैव हीत्यादि । यस्मादायुर्वेदोऽपि ज्ञातुं न शक्यते प्रायस्तेनायुर्वेद-  
ज्ञानार्थमुद्यमं गच्छेत् । अस्मिन्निति इत्यरे आयुर्वेदे । अनुक्तसद्वृत्तकरणार्थमाह—एत-  
च्चेत्यादि । एतच्चेति “अथैनमग्निसंकाशे” इत्यादिग्रन्थोक्तमनुष्ठेयम् । एवमभूयश्च वृत्तसौष्ठव-  
मिति उक्तसदृशञ्च साधुवृत्तमित्यर्थः । लौक्यं लोकानुसृतम् । ‘इति’ शब्दोऽवधारणे । तेन

सर्वगन्धरसरत्नबीजानि यथेरिताश्च देवताः शिवाय स्युरतो-  
ऽन्यथा वर्त्तमानस्याशिवाय । इति ।

एवं ब्रुवति चाचार्य्ये शिष्यस्तथेति ब्रूयात् । तद्वयथोपदेशश्च  
कुर्वन्नध्याप्योऽतोऽन्यथा त्वनध्याप्यः । अध्याप्यमध्यापयन् ह्याचार्य्यो  
यथोक्तैश्चाध्यापनफलैर्योगमवाप्नोत्यन्यैश्चानुक्तैः श्रेयस्करैर्गुणैः  
शिष्यमात्मानश्च युनक्ति । इत्युक्तावध्ययनाध्यापनविधी ॥ ११ ॥

ते तव अयमग्निरिति प्रत्यक्षं वर्त्तमानोऽयमग्निः । तथेति स्वीकारार्थं । यथोक्तै-  
रध्यापनफलैः शास्त्रस्य दृढता अभिधानसौष्टवार्थं विज्ञानवचनशक्तिरूपैरन्यै-  
र्धर्म्मदिभिश्च श्रेयस्करैः फलैः शिष्यमात्मानश्च युनक्तीति । सुश्रुतेऽप्युक्तम्—  
इत्यष्टाङ्गमिदं तन्त्रमादिदेवप्रकाशितम् । विधिनाधीत्य युञ्जाना भवन्ति प्राणदा  
भुवि ॥ एतदवश्यमध्ययमधीत्य च कर्म्मप्यवश्यमुपासितव्यमुभयज्ञो हि  
भिषग्ग्राहार्हो भवति । भवन्ति चात्र । यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्म्मस्वपरिनिष्ठितः ।  
स मुह्यत्यातुरं प्राप्य प्राप्य भीरुरिवाहवम् । यस्तु कर्म्मसु निष्णातो धाष्ट्रात्  
शास्त्रवहिष्कृतः । स सत्सु पूजां नामोति वधश्चार्हति राजतः । उभावेताव-  
निपुणावसमर्थौ स्वकर्म्मणि । अर्द्धवेदधरावेतावेकपक्षावित्र द्विजौ । यस्तू-  
भयज्ञो मतिमान् स समर्थोऽर्थसाधने । आहवे कर्म्म निर्व्वोढुं द्विचक्रः स्यन्दनो  
यथा । अत्रायमध्यापनविधिः सङ्क्षेपेण शिष्योपनयनारम्भविधिरुक्तः पूर्वं  
ब्राह्मणादिवर्णविशेषोक्तोपनयनानन्तरं सर्व्वेषामायुर्व्वेदाध्ययनसामर्थ्यं ततश्च  
अध्यापनप्रकारस्त्वन्यत्रोक्तस्तद्यथा मनुनोक्तम् । उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षये-  
च्छौचमादितः । आचारमग्निकार्य्यश्च सन्ध्योपासनमेव च । अध्येष्यमाणस्त्वा-  
चान्तो यथा शास्त्रमुदङ्मुखः । ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः ।  
ब्रह्मारम्भेऽवसाने तु पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा । संहत्य हस्तावध्येयं स हि  
ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः । व्यत्यस्तपाणिना कार्य्यमुपसंग्रहणं गुरोः । सव्येन सव्यः  
स्पष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः । अध्येष्यमाणन्तु गुरुर्नित्यं कालमतन्द्रितः ।  
अधीष्व भो इति ब्रूयात् विरामोऽस्त्विति चारमेत् । ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यात्  
आदावन्ते च सर्व्वेदा । स्रक्त्यनोद्धृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्य्यति । प्राक्  
यदेवाऽमित्रस्य धन्यादिगुणयुक्तं वचस्तदेवानुविधातव्यं श्रोतव्यञ्च । यथोक्तैरिति शास्त्रान्तरेण,  
न ह्यखिलशास्त्रेऽध्ययनफलं साक्षात् कचिदुक्तम् ॥ १०११ ॥

सम्भाषाविधिमत् ऊर्द्धं व्याख्यास्यामः । भिषक् भिषजा सह

कुलान् पय्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः । प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत्  
ओङ्कारमर्हति । अकारश्चाप्युकारश्च मकारश्च प्रजापतिः । वेदत्रयात्  
निरदुहद्भूर्भुवः स्वरितीति च । त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदुहत् । तदि-  
त्तुचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः । एतदक्षरमेताश्च जपन् व्याहृति-  
पूर्विकाम् । सन्धयोवेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते । सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य  
बहिरेतत् त्रिकं द्विजः । महतोऽप्येनसो मासात् त्वचेवाहिर्विमुच्यते । एतच्चर्चा  
विमंयुक्तः काले च क्रियया स्वया । ब्रह्मक्षत्रियविद्भ्योनिर्गहणां याति  
साधुषु । ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महान्याहृतयोऽव्ययाः । त्रिपदा चैव सावित्री  
विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् । योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः । स  
ब्रह्मपरमभ्येति वायुभूतः स्वभूतिमान् । एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामं  
परन्तपः । सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात् सत्यं विशिष्यते । क्षरन्ति सव्वर्ग  
वैदिक्यो जुहोति यजति क्रियाः । अक्षरन्त्वक्षरं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ।  
इत्यारभ्य बहून्युक्त्वा । अनेन क्रमयोगेण संस्कृतात्मा द्विजः शनैः । गुरौ  
वसन् सञ्चिनुयाद्ब्रह्माधिगमिकं तपः । तपोविशेषैर्विविधैर्ब्रतैश्च विधिचोदितैः ।  
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना । वेदमेव सदाभ्यस्येत् तपस्तप्यन्  
द्विजोत्तमः । वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते । आहैव स नखाग्रेभ्यः  
परमं तप्यते तपः । यः स्रग्ध्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ।  
योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् । स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति  
सान्वयः । इत्यादि । सुश्रुते च—अथ शुचये कृतोत्तरासङ्गायाव्याकुलायोप-  
स्थितायाध्ययनकाले शिष्याय यथाशक्ति गुरुरूपदिशेत् । पदं पादं श्लोकं वा ।  
ते च पदपादश्लोका भूयः क्रमेणानुसन्धेया एवमेकैकशो घटयेदात्मना चानुपठेत् ।  
अद्वैतमविलम्बितमविशङ्कितमनुनासिकं व्यक्ताक्षरमपीदितवर्णमक्षिभ्रुवौष्ठ-  
पद्मस्तैरनभिनीतं सुसंस्कृतं नात्युच्चैर्नातिनीचैश्च स्वरैः पठेन्न चान्तरेण कश्चिद्-  
व्रजेत् तयोरधीयानयोः । भवतश्चात्र । शुचिगुरुरूपरो दक्षस्तन्द्रानिद्रा-  
विवर्जितः । पठेदेतेन विधिना शिष्यः शास्त्रान्तमाप्नुयात् । वाक्सौष्ठवेऽर्थ-  
विज्ञाने प्रागल्भ्ये कर्मनैपुणे । तदभ्यासे च सिद्धौ च यत्तेताध्ययनान्तगः ।  
इति उक्तावित्यादि ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—क्रमिकत्वादत् ऊर्द्धं सम्भाषाविधिर्व्याख्यायते—भिषगित्यादि ।

सम्भाषेत.; तद्विद्यसम्भाषा हि ज्ञानाभियोगसंहर्षकरी भवति,  
वैशारद्यमपि चाभिनिर्वर्त्तयति, वचनशक्तिमपि चाधत्ते, यश-  
श्चाभिदीपयति, पूर्वश्रुतै च सन्देहवतः पुनः श्रवणात् संशयमप-  
कर्षति, श्रुतै चासन्देहवतो भूयोऽध्यवसायमभिनिर्वर्त्तयति  
अश्रुतमपि कश्चिदर्थं श्रोत्रविषयमापादयति । यच्चाचार्यः  
शिष्याय शुश्रूषवे प्रसन्नः क्रमेणोपदिशति गुह्याभिमतमर्थजातम् ।  
तत् परस्परेण सह जल्पन् पण्डेन \* विजिगीषुराह संहर्षात्  
तस्मात् तद्विद्यसम्भाषामभिप्रशंसन्ति कुशलाः ॥ १२ ॥

सम्भाषेतेति परस्परं शास्त्रं भाषेत । भिषक् भिषजा सहेत्यनेन सम्भाषण-  
मत्र तद्विद्यस्य तद्विदेन सहेति गम्यते । कस्माद्विषक् भिषजा सह सम्भाषेत  
इत्यत आह—तद्विदेत्यादि । तद्विदेति यो येन सह सम्भाषते तस्य  
यस्मिन् शास्त्रे यस्मिन् तन्त्रे वा विद्या तस्मिन् शास्त्रे तन्त्रे वा विद्या यस्य  
स तद्विद्यः एकशास्त्रविद्य एकतन्त्रविद्यो वेति यावत् । तयोः सम्भाषा  
परस्परं तच्छास्त्रस्य तत्तन्त्रस्य वा वादः सम्भाषा । ज्ञानाभियोगः सर्वतो-  
भावेन ज्ञानयोगः संहर्षश्च तौ कर्तुं शीलं यस्याः सा तथा । वैशारद्यं पाण्डित्यं  
तत्त्वाभिनिवेशः । वचनशक्तिः शब्दतत्त्वार्थतत्त्वोक्तौ सामर्थ्यम् । पूर्वश्रुते च  
अध्ययनकाले गुरुतः श्रुतेऽर्थे यदि सन्देहो वर्त्तते तर्हि पुनश्चापरस्मात् तस्य  
शब्दतत्त्वार्थतत्त्व श्रवणात् संशयमपकर्षति । श्रुते चार्थे शब्दतत्त्वार्थतत्त्व यदि  
सन्देहो न वर्त्तते तदा भूयोऽध्यवसायोऽधिकव्यवसायस्तं जनयति । अश्रुतं  
गुरुमुखादश्रुतम् । यश्चार्थं पण्डेन स्वपाण्डित्यप्रकाशनेन विजिगीषुर्विजेतु-  
मिच्छुराह, विजयो हि संहर्षकर इत्यत आह संहर्षात् । तस्मात् ज्ञानाभि-  
योगादिफलकत्वात् ॥ १२ ॥

चक्रपाणिः—संहर्षः स्पृहा । ज्ञानार्थमभियोगसंहर्षो करोतीति ज्ञानाभियोगसंहर्षकरी  
वैशारद्यमिति परवचनाभिभवपाण्डित्यम्, एतच्च सभायामभ्यासाद् भवति । भूयोऽध्यवसाय-  
मिति दृढनिश्चयम् । अथ कथं श्रुतत्वमपि कस्याचिद् गुह्यस्यार्थस्य स्यात् तदाह—जल्पन् पिण्डेनेति ।  
पिण्डेनेति सारोद्धारेण । ननु गुह्यदत्ते सारतत्त्वात् कथमयं विजिगीषुस्तमाहेत्याह—संहर्षादिति,  
स्पृहया तु गुह्योऽप्यर्थो विजयार्थमभिधीयत इति भावः ॥ १२ ॥

\* पिण्डेनेति चक्रः ।

द्विविधा तु खलु तद्विद्यसम्भाषा भवति । सन्धाय-सम्भाषा विग्रह-सम्भाषा च । तत्र ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तिसम्पन्ने-नाकोपने-नानुपस्कृतविदे-नानुसूयके-नानुनेये-नानुनयकोविदेन क्लेशक्षमेण प्रियसम्भाषणेन च सह सन्धाय सम्भाषा विधीयते । तथाविधेन सह संकथयन् विस्रब्धः कथयेत् पृच्छेदपि च विस्रब्धः,

गङ्गाधरः—ननु केन प्रकारेण सम्भाषत इत्यत आह—द्विविधेत्यादि । सन्धाय सन्धिं कृत्वा सम्भाषा सन्धाय-सम्भाषा, विग्रह विग्रहं कृत्वा सम्भाषा विग्रह-सम्भाषा । तत्र द्वयोः सम्भाषयोर्मध्ये ज्ञानविज्ञानादिमता या सम्भाषा विधीयते परेण सह सा सम्भाषा सन्धायसम्भाषा । ज्ञानं शास्त्रार्थज्ञानं विज्ञानं तदर्थेनिश्चयस्ताभ्यां वचनं पूर्वपक्षोक्तिः प्रतिवचनमुक्तरोक्तिस्तयोर्द्वयोः शक्त्या सम्पन्नोऽक्रोधी यः पुमान् तेन सम्भाषा च विग्रहापि सम्भाव्यते इति तद्वारणायाहाकोपनेनेति । अकोप-शालिना इत्यर्थः । ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तिसम्पन्नस्त्वकोपनश्च यः पण्डितः स यदि विकृतविद्यो विस्मृतिसंशयादिभिर्भवति तदा सुतरां विग्रहं कर्तुं न समर्थः स्यादित्यकोपनोऽपि कोपमापद्यते इति तादृशेन सह विग्रह-सम्भाषावारणायानुपस्कृतविदेनेति । भ्रमसंशयादिविरहेण स्मृत्यादिभिर्भूषितीकृता विद्या येन तेन । तथा ज्ञानादिसम्पन्नश्चाकोपनश्चानुपस्कृतविद्य-श्चासूयां कृत्वा यः सम्भाषते तत्सम्भाषावारणायानमूयकेनेति । अनुनेयेनेति यो हि सम्भाष्यस्तेन ज्ञानविज्ञानादितस्तस्य निजस्य विद्यया बुद्ध्यादिभिश्च तुला-तुलाभ्यामनुमेयेन । अनुनये विनये पण्डितस्तेन इति केचिद् व्याख्यानयन्ति तन्न, सन्धायसम्भाषाया हि नेदं लक्षणं, परन्तु येन सह सन्धायसम्भाषा कर्त्तव्या विग्रहसम्भाषा चाकर्त्तव्या तदुपदेशोऽयमिति । तथा च यस्तु ज्ञानं विज्ञानं वचनं प्रतिवचनशक्तिश्चेत्येताभिः सम्पन्नस्तथा च अकोपनः स्मृत्या-दिभिर्भूषितविद्यश्च न चासूयकः अनुनेतुमर्हश्चानुनये कोविदश्च क्लेशं सम्भाषासु कटुवचनादिजनितं घैर्यगाम्भीर्यादिगुणैः क्षमितुं शीलं यस्य स क्लेशक्षमः प्रियसम्भाषणश्च भवति तादृशेन महाजनेन सह सन्धायसम्भाषा विधीयते कुशलेन न तु विग्रहसम्भाषा कर्त्तव्या । ननु तेन सह केन प्रकारेण सन्धाय-

चक्रपाणिः—सन्धायसम्भाषा, नये 'वादः' इत्युच्यते । विग्रहसम्भाषा तुल्यव्यक्तिजल्प-



पृच्छंश्चास्मै विस्रब्धाय विशदार्थजातं ब्रूयात् । न च निग्रह-  
भयादुद्विजेत । निगृह्य चैनं न हृष्येत्, न च परेषु विकत्थेत । न  
च मोहादेकान्तग्राही स्यान्न चानुविदितमर्थमनुवर्णयेत् । सम्यक्  
चानुनयेनानुनीयेत । अनुनयाच्च परं तत्र चावहितः स्यादित्यनु-  
लोमसम्भाषाविधिः ॥ १३ ॥

अत ऊर्ध्वमितरेण सह विगृह्य सम्भाषेत श्रेयसा योगम्

सम्भाषा काव्येत्यतः सन्धायसम्भाषाप्रकारमुपदिशति—तथाविधेनेत्यादि ।  
तथाविधेन निरुक्तेन ज्ञानादिसम्पन्नादिना महाजनेन सह संकथयन् शास्त्रार्थं  
संलपन् पुरुषः विस्रब्धो विश्वस्तः सन् कथयेत् विस्रब्धश्च सन् शास्त्रार्थं  
पृच्छेत् । अथास्मै ज्ञानादिसम्पन्नादिमहाजनाय विस्रब्धाय विश्वस्ताय  
पृच्छंश्च सम्भाषमाणः पुरुषो विशदार्थजातं ब्रूयात् न त्वविशदार्थम् । न च  
निग्रहभयादुद्विजेत । अयं महाजनो यदि मां स्वलिताथेवचनेन निगृहीया-  
दित्युद्वेगं न कुर्यात् तन्महाजनकर्तृकनिग्रहे हि नायश इति भावः । अयं  
महाजनो यदि कथञ्चित् स्मृत्यादिविरहेण निग्रहमापद्यमानः स्यात् तथाप्येनं  
निगृह्य न च हृष्येत् । महाजनो हि प्रथितविद्याकीर्त्तिपौरुषादिः कथञ्चित्  
स्मृत्याद्यभावेन न निग्रहीतुमर्हति तन्निग्रहं कर्तुमशक्तेन विद्यादिभिरल्पेन  
कथञ्चिन्निग्रहेऽपि तस्य विद्याद्यतिशयित्वेनायशः प्रतिपद्यते । अत एव परेषु  
अन्यत्र न विकत्थेत न श्लाघेतेति । मोहादेकान्तग्राही न च स्यात् एकान्तं  
निरन्तरं तदुत्तराशक्यविषये पुनः पुनर्ग्रहणं न कुर्यात् । अनुविदितमुत्तर-  
कालं विदितमर्थं नानुवर्णयेत् ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—विगृह्यसम्भाषाविधिमाह—अत ऊर्ध्वमित्यादि । इतरेण ज्ञान-

वितण्डारूपा ज्ञेया । तत्रेत्यादिना सन्धायसम्भाषाविधिमाह—विस्रब्धः कथयेदिति जल्पवितण्डोक्त-  
निग्रहाभीतः । कथयेदिति ब्रूयात् । निगृह्य चैनं न हृष्येदिति अनुलोमसम्भाषारूपवादे च  
यानि सम्भवन्ति निग्रहस्थानानि तत्त्वविघातीनि हेत्वाभासापसिद्धान्तानि न्यूनाधिकरूपाणि, तैरपि  
निगृह्य न हृष्येत् । जल्पोक्तनिग्रहस्थानानि त्वत्र ग्राह्याण्येव । अविदितमिति प्रतिवादिनो-  
ऽविदितम् । अनुनयेच्च सम्यगनुनयेनेति सम्यन्धः । तेन चात्र च्छलजातिप्रयोगो न कर्त्तव्य इति  
शिक्षयति । तत्र चावहितः स्यादिति सम्यगनुनयेऽवधानं कुर्यात् ॥ १३ ॥

चक्रपाणिः—इतरेणेति । अविशिष्टेन । वादैस्तु विशिष्टो गुरर्ब्रह्मचारी वाधिकृतः, उक्तं

आत्मनः पश्यन् । प्रागेव च जल्पाजलान्तरं परावरान्तरं  
परिपद्विशेषांश्च परीक्षेत सम्यक् । परीक्षा हि बुद्धिमतां  
कार्यप्रवृत्तिनिवृत्तिकालौ शंसति । तस्मात् परीक्षामभिप्रशंसन्ति  
कुशलाः । परीक्षमाणस्तु खलु परावरान्तरमिमान् जल्पक-  
गुणान् श्रेयस्करान् दोषवतश्च परीक्षेत सम्यक् । तद्वयथा—श्रुतं  
विज्ञानं धारणं प्रतिभानं वचनशक्तिरित्येतान् गुणान् श्रेयस्करान्  
आहुः । इमान् पुनर्दोषवतः । तद् यथा—कोपनत्वमवैशारद्यं

विज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तिभिरसम्पन्नेन कोपनेन उपस्कृतविदेष्टानामयुक्तेन  
अननुनेयेनानुनयमूर्खेण क्लेशसहिष्णुना चाप्रियसम्भाषणेन सह विगृह्य  
सम्भाषत विगृह्यसम्भाषां विद्वद्भ्यादिति । आत्मनः श्रेयसा परस्मादुत्कृष्टविद्या-  
बुद्ध्यादिना योगं पश्यन् कुशलः । अश्रेयसा योगं पश्यन्तु न विगृह्य  
सम्भाषेत्यर्थः । कथं श्रेयसा योगायोगौ दृश्यौ स्यातामित्यत आह—श्रेयसा  
योगप्रकारम् । प्रागेवेत्यादि । स्वेन सह सम्भाष्यपुरुषस्य जल्पात् पूर्वमेव  
विगृह्य सम्भाष्यपुरुषस्य जल्पान्तरमपरेण सह जल्पस्तेन परस्य विगृह्य  
सम्भाष्यस्यावान्तरं श्रेष्ठत्वमवरत्वं समत्वं निजात् तेषामन्यतमं परीक्षेत ।  
परिपदां सभानां विशेषांश्च पण्डितसभादिरूपान् परीक्षेत सम्यक् । ननु  
कस्मात् परीक्षेतेत्यत आह—परीक्षा हीत्यादि । परीक्षा हि यस्मात् बुद्धिमतां  
कार्येषु प्रवृत्तौ अयमेव कालः श्रेयस्करः अयमेव कालस्त्वश्रेयस्कर इत्यतस्तेषु  
कार्येषु निवृत्तौ स कालः श्रेयस्कर इति शंसति व्यनक्ति । ननु केन  
प्रकारेण तद्वयं परीक्षेतेत्यत आह—परीक्षमाणस्त्वित्यादि । परावरान्तरं  
परीक्षमाणस्तु जल्पके सम्भाष्यपुरुषे इमान् वक्ष्यमाणान् दोषवतः सदोषान् ।  
परीक्षाप्रकारमाह—श्रुतमित्यादि । श्रुतमध्ययनं विज्ञानं विबलत्वं धारणं  
शब्दतः शास्त्राभ्यासः प्रतिभानं बुद्धिप्रकाशः परोक्तौ द्रुतावबोधशक्तिः वचन-  
शक्तिर्वाचनाशक्तिः । दोषवतो गुणास्तु कोपनत्वमित्यादिकान् । अधारणत्वं

हि न्याये—“तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थभिरनसूयिभिरभ्युपेयाद्” इति । सम्भाषेति  
प्रवृत्तकथोपलक्षणम् । तेन सा वितण्डेति च ज्ञेयम् । परावरान्तरमिति प्रतिवादिन आत्मनश्च

भीरुत्वमधारणत्वमनवहितत्वमिति । एतान् द्वयानपि गुणान्  
गुरुलाघवतः परस्य चैवात्मनश्च तुलयेत् ॥ १४ ॥

तत्र त्रिविधः परः सम्पद्यते, प्रवरः प्रत्यवरः समो वा गुण-  
विनिक्षेपतः, न त्वेवं कार्त्स्न्येन । परिषत् तु खलु द्विविधा,  
ज्ञानवती मूढा परिषच्च । सैव द्विविधा सती त्रिविधा पुनरनेन  
कारणविभागेन । सुहृत्परिषदुदासीनपरिषत् प्रतिनिविष्ट-  
परिषच्चेति ॥ १५।१६ ॥

तत्र प्रतिनिविष्टायां परिषदि ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचन-  
शक्तिसम्पन्नायां मूढायां वा न कथञ्चित् केनचित् सह जल्यो

शब्दतोऽभ्यासविरहः । अनवहितत्वमवधानं विरहः । एतानित्यादि । परस्य  
सम्भाष्यस्य आत्मनो निजस्य तुलयेत् तौलं कुर्यात् ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—प्रवरः श्रेष्ठः प्रत्यवरः कनिष्ठः । गुणविक्षेपतः परस्य श्रेयस्कर-  
सदोषान्यतरेषु गुणेषु स्वगुणविनिक्षेपतः श्रुतत्वादीनां केषाञ्चिदाधिक्यन्यून-  
त्वाभ्यां न पुनरेवंगुणानां कार्त्स्न्येन । परिषत् त्वित्यादिना सैव परिषत् ज्ञान-  
वती मूढेति द्विधा सती त्रिविधा पुनर्भवति प्रत्येकम् । अनेककारणभेदात् ।  
तथा च विवृणोति—सुहृदित्यादि । ज्ञानवती सुहृत्परिषत्, ज्ञानवती  
उदासीनपरिषत्, ज्ञानवती प्रतिनिविष्टपरिषच्चेति त्रिधा ज्ञानवती सभा ।  
मूढा सुहृत्परिषत्, मूढोदासीनपरिषत्, मूढा प्रतिनिविष्टपरिषच्चेति त्रिधा  
मूढपरिषदित्येकीभूय षोढा परिषत् । अत्र उदासीना न सुहृन् च शत्रुर्यत्र  
सा प्रतिनिविष्टा स्वसौहार्द्याभावेन सभ्या निविष्टा यत्र सा तथा ॥ १५।१६ ॥

गङ्गाधरः—तत्र कस्यां सभायां कथं सम्भाषेतेत्यत आह—तत्रेत्यादि ।  
तत्र षट्सु परिषत्सु मध्ये ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तिसम्पन्नायां प्रति-  
प्रतिभादिविशेषमित्यर्थः । जल्पान्तरमिति सामयिकसर्वार्थादिविशेषितं जल्पविशेष-  
मित्यर्थः ॥ १४ ॥

चक्रपाणिः—गुणविनिक्षेपत इति उत्कृष्टगुणत्वेन प्रवर इत्यर्थः, प्रत्यवरो हीनगुणः, समगुणः  
समो वाद्यपेक्षयेत्यर्थः । न त्वेव कार्त्स्न्येनेति न कुलशीलधर्मादिनापि प्रवरादिरिहाभिप्रेत  
इत्यर्थः । मूढपरिषदित्यत्र मूढेव मूढा किञ्चित्कृत्ये, सर्व्वथा मूढायान्तु न कश्चिद व्रूते । न

विधीयते । मूढायान्तु सुहृत्परिपदि वीदासीनायां वा ज्ञान-  
विज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तीरन्तरेणापि दीप्तयशसा ० महाजन-  
विद्विष्टेनापि सह जल्यो विधीयते । तथाविधेन च सह कथयता  
त्वाविद्धदीर्घसूत्रसङ्कलैर्वाक्यदण्डकैः कथयितव्यम् । अतिहृष्टं  
मुहुर्मुहुर्गुह्यसता परं निरूपयता च परिपदमाकारैर्ब्रुवतश्चास्य  
वाक्यावकाशो न देयः । कष्टं शब्दश्च ब्रुवता वक्तव्यो नोच्यते

निविष्टायां परिपदि । मूढायां वा प्रतिनिविष्टायां परिपदि कथञ्चित् केनापि  
प्रकारेण केनचित् सम्भवेन सह न जल्यो विधीयते न कार्य इत्यर्थः । प्रति-  
निविष्टत्वेन सुजल्पितमपि सद्गोपं वणयित्वा पराजयकरणस्य सम्भवात् ।  
मूढायां सुहृत्परिपदि मूढायामुदासीनपरिपदि वा स्वस्य ज्ञानविज्ञानादिकं  
विनापि अपिकारात् ज्ञानादिसद्भावे किं वचनं दीप्तयशसा महाजनविद्विष्टेनापि  
दुरात्मना सह जल्यो विधीयते । सदात्मना तु किं वचनं विग्रहे का कथा ।  
ननु केन प्रकारेण दीप्तयशसा महाजनविद्विष्टेन दुरात्मना सह सम्भाषेतेति  
तदुपदिशति—तथाविधेनेत्यादि । तथाविधेन मूढायां सुहृत्परिपदि मूढाया-  
मुदासीनपरिपदि वा निविष्टेन दीप्तयशसा महाजनविद्विष्टेन दुरात्मना  
सह कथयता सम्भाषमाणेन पुंसां तु आविद्धदीर्घसूत्रसङ्कलैरितरेण ईषद्-  
विद्धं दीर्घं सूत्रं यत् तेन सङ्कला मिश्रिता ये वाक्यांशका दण्डास्तैः कथयि-  
तव्यम् । आकारैराकृतिभिर्मुहुर्मुहुर्गुह्यसता यथा स्यात् तथा परिपदम् उपहसता  
परमुत्कृष्टं यथा स्यात् तथा परिपदं निरूपयता च ब्रुवतश्चास्य परस्य  
वाक्यावकाशो न देय इत्यविच्छेदेनाविद्धदीर्घसूत्रसङ्कलैर्वाक्यदण्डकैः कथयि-  
तव्यमित्यर्थः । कष्टशब्दश्च वाक्यावकाशाभावेऽप्यन्तरं कष्टशब्दात्मकं वाक्यं

केनचिदिति नाधमेनापीत्यर्थः । आविद्धं वक्रम् । कथयितव्यमिति वक्तव्यम् । उपहसता  
परमाकारैरिति योजना । तथा परिपदं रूपयता आकारैरिति सम्बन्धः । कष्टशब्दमिति नाति-  
प्रसिद्धार्थम् । नोच्यत इत्येवं नोच्यत इति वक्तव्यम् । कष्टशब्दस्य ह्यर्थं मूढपरिपत् न जानात्येत ।  
ततश्च कष्टशब्दस्यानर्थकतायाः परिपदं प्राप्य सुखसाध्यत्वमिति भावः । तथा कष्टशब्दं षट्स्त्रेवं

अथवा पुनर्हीना ते प्रतिज्ञेति । पुनश्चाह्वयमानः प्रतिवक्तव्यः ।  
परिसंवत्सरो भवान् शिक्षस्व तावद्गुरुमुपासितो नूनम् ।  
अथवा पर्याप्तमेतावत् ते । सकृदेव हि परिक्षेपिकं निहतं  
निहतमाहुरिति न्यासयोगः \* कर्त्तव्यः कथञ्चित् । एवमेव  
श्रेयसा सह विगृह्य वक्तव्यमित्याहुरेके । न त्वेवं ज्यायसा सह  
विग्रहश्च प्रशंसन्ति कुशलाः ॥ १७ ॥

प्रत्यवरेण तु सह समानाभिमतैर्न वा विगृह्य जल्पता  
सुहृत्परिषदि कथयितव्यम् । अथवाप्युदासीनपरिषद्वधान-  
श्रवणज्ञानविज्ञानोपधारणवचनप्रतिवचनशक्तिसम्पन्नायां कथयता

ब्रूवता परः सम्भाष्यमाणः भो भवता नोच्यत इति वक्तव्यः । अथवा  
पुनश्चाह्वयमानः भोः पुरुषेत्याह्वयमानः आह्वयमानः स भोः ते तव प्रतिज्ञा हीनेति  
प्रतिवक्तव्यः । अथवा परिसंवत्सरः संवत्सरं परिप्राप्तस्तावत् गुरुमुपासितो नूनं  
शिक्षस्वेति वक्तव्यः । अथवा ते तव एतत् सर्वं मयि पर्याप्तं परिगतम् ।  
सकृदकवारमेव हि निश्चितम् । परिक्षेपिकमुद्रितसत्त्वगुणेन शान्तो भूत्वा  
जल्पजन्यक्लेशसाधनात् विरतः सन् आनन्दसाधनेषु भावेषु निरतिर्विक्षेपः स  
एव परिक्षेपः तदीयं यद्यत् कर्म तत् तत् परिक्षेपिकं निहतं निहतं तव  
मतमित्याहुरेवं कचिन्मौनं कचिद्धास्यमित्येवमादि न्यासयोगः कथञ्चिदपि  
कर्त्तव्यः । एवमित्यादि । एवं श्रेयसा श्रेष्ठेन ज्यायसा ज्येष्ठेन । अप्रतिषिद्ध-  
त्वादनुमतमेकेषां मतम् ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—प्रत्यवरेणेत्यादि । सुहृत्परिषदीति । ज्ञानवत्यां मूढायां वा  
प्रत्यवरेण समेन वा सह विगृह्य जल्पता कथयितव्यमुक्तरूपेण । अथवेत्यादि ।  
अवधानादिसम्पन्नयामर्थात् ज्ञानवत्याम् उदासीनपरिषदि परस्परं सम्भाष्य  
वाच्यम्—हीना ते प्रतिज्ञेति । परिसंवत्सरोऽध्ययनं स्वयमुपसंस्कृत्य पुनरध्येता पर्याप्तमेतावत् ते  
इति पक्षावसादयेति शेषः । परिक्षेपिकमिति प्रतिक्षेपिकशब्दम् । नास्य योगः कर्त्तव्य  
इति न सकृत् पराभूतस्य पक्षस्य पुनः प्रतिक्षेपकहेतुना योगः कर्त्तव्य इत्यर्थः । कथञ्चिदित्यादिना  
श्रेयसा समं विगृह्य सम्भाषायामेकीयमतमाह, न त्वेवेत्यादिना आत्ममतमाह ॥ १५—१७ ॥

चावहितेन परस्परसादगुण्यदोषवलमवेक्षितव्यम् । समवेक्ष्य  
च यत्रैनं श्रेष्ठं मन्येत, नास्य तत्र जल्पं योजयेदनाविष्कृतमयोगं  
कुर्वन् । यत्र त्वेनमवरं मन्येत, तत्रवैनमाशु निगृहीयात् ॥१८॥

तत्र खल्विमे प्रत्यवराणामाशुनिग्रहे भवन्त्युपायाः । तद्  
यथा—श्रुतहीनं महता सूत्रपाठेनाभिभवेत्, विज्ञानहीनं पुनः  
कष्टशब्देन वाक्येन, वाक्यधारणाहीनमाविद्धदीर्घसूत्रसङ्कुलैः  
वाक्यदण्डकैः, प्रतिभाहीनं पुनर्वचनेनानेकविधेनानेकार्थ-  
वाचिना, वचनशक्तिहीनमद्धोक्तस्य वाक्यस्याक्षेपणेन, अवि-

पुरुषस्यात्मनश्च सादगुण्यं दोषश्च तयोर्वलम् । श्रेष्ठं सादगुण्येन श्रेष्ठम् न तु  
दोषवलेन । यत्र तु एनं सम्भाष्यं पुरुषमनाविष्कृतं जल्पेनाल्पितमपरांसितम्  
अयोगं कुर्वन् अवरं मन्येत, तस्य जल्पेनानुनिग्रहं कुर्यात् ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—तत्रेत्यादि स्पष्टम् । तद् यथेत्यादि । श्रुतहीनं तच्छास्त्रेऽनधीतम् ।  
विज्ञानहीनं तच्छास्त्रार्थतत्त्वज्ञानहीनं कष्टशब्देन दुर्व्यार्थकशब्दात्मकेन  
वाक्येन । वाक्यधारणाहीनमल्पमेधसमाविद्धदीर्घसूत्रसङ्कुलैः । प्रतिभाहीनं श्रुत-  
मात्रमर्थबोधः प्रतिभा । अनेकविधेन नानार्थकशब्दात्मकवचनेन । अद्धोक्त-  
वाक्यस्याक्षेपेण व्यङ्ग्यार्थकशब्दात्मकेन वाक्येन । अविशारदं पाण्डित्यहीनम्,

चक्रपाणिः—सादगुण्यस्य विद्यमानगुणतायास्तथा दोषस्य बलं सादगुण्यदोषवलम् । श्रेष्ठं  
मन्येतेति यत्र वादविषये प्रतिवादिनमधिकं पश्येदित्यर्थः, तत्र परस्य पुरःसरवादविषये तथा वादो  
निवर्त्तनीयः, यथा आविष्कृतः प्रकटीकृतः सभाया नायोगः । तत्र वादो निवृत्तलक्षणो न स्यात् ।  
अनभीष्टविषये तथा वादनिवृत्तिः कर्त्तव्या यथा कोऽपि न जानात्येवं तत्र वक्तुमक्षममित्यर्थः ।  
तत्रैवेति तत्रैव हीनपक्षे प्रवृत्तं निगृहीयादिति योजना । महता सूत्रपाठेनेति श्रुतहीनो ह्यपरि-  
चयादीर्घसूत्रपाठं कर्त्तुमक्षमः, विज्ञानहीनमिति अज्ञातार्थम् । नानार्थवाचिनेत्यनेकार्थवाचिना ।  
एकविधेनेत्येकविधेन शब्देन प्रतिभाहीनो ह्यनेकार्थं नावधारयति—यत्—केनासिप्रायेणार्थं प्रयुक्तो-  
ऽनेन शब्द इति । वचनशक्तिहीनोऽद्धोक्तवाक्याक्षेपान्न पुनर्वक्तुं क्षमो भवतीति दृष्टम् । अवि-

शारदमपत्रपणेन \*, कोपनमायासेन, भीरुं वित्रासनेन, अनव-  
हितं नियमनेनेति । एवमेतैरुपायैरवरमभिभवेत् ॥ १९ ॥

तत्र श्लोकौ ।

विगृह्य कथयेद् युक्त्या युक्तञ्च न निवारयेत् ।  
विगृह्य भाषा तीव्रं हि केषाञ्चिद् द्रोहमावहेत् ॥  
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यमपि विद्यते ।  
कुशला नाभिनन्दन्ति कलहं समितौ सताम् ॥ २० ॥

एवं प्रवृत्ते तु वादे † । प्रागेव कार्याद्वादात् तावदिदं कर्त्तुं  
यतैत । सन्धाय परिपदाऽयनभूतमात्मनः प्रकरणमादेशयि-

अपत्रपणेन लज्जाजनकवचनेन । कोपनमायासेन क्लेशजनकवचनेन । भीरुं  
वित्रासनेन त्रासजनकवचनेन । अनवहितमवधानहीनं नियमनेन नियत-  
वचनेन । परं प्रतिपक्षम् । अवरमधमम् ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—श्लोकेनेममर्थमाह—तत्र श्लोकावित्यादि । विगृहेत्यादि ।  
उक्तप्रकारेण युक्त्या विगृह्य अवरं कथयेत् जल्पेत् । युक्तं श्रेष्ठं परं विगृह्य  
न निवारयेत् । ननु कुतो युक्तं न विगृह्य निवारयेदित्यत आह—  
विगृहेत्यादि । यतः केषाञ्चिद् विगृह्यसम्भाषा तीव्रं द्रोहमावहेत् ।  
तत् केषामित्यत आह—नाकार्यमित्यादि । क्रुद्धस्य किञ्चिदपि अभिशाप-  
कलहादिकमकार्यं नास्ति । सर्व्वमेव क्रुद्धस्य कार्य्यं भवति तथा  
क्रुद्धस्य किञ्चिदप्यवाच्यं यातापित्रादीनां दुर्व्वचनेन कलहादिवचनादिकं  
न वर्त्तते, अपि तु सर्व्वमेव वाच्यं भवति । तस्मात् कुशलाः सज्जनाः पण्डिताः  
सतां संहिताः कलहं नाभिनन्दन्ति तस्माद् युक्तं विगृह्य न निवारयेत् ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—एवं कर्त्तव्ये वादे पूर्व्वं यत् कर्त्तव्यं तदाह—एवमित्यादि ।  
कार्यादिति वादादित्यन्वयः । इदं वक्ष्यमाणं परिपदा पारिपदेन सह सन्धाय

शारदमित्यदृष्टसमम् । अदृष्टसमो हि हेपणेनातीव लज्जितः सन्न न किञ्चित् प्रतिपद्यते । एव-  
मिति “तद् यथा श्रुतहीनम्” इत्यादिग्रन्थोक्तम् । प्रवृत्ते वादे कुर्यादिति च्छेदः ।

तथाऽप्रवृत्ते वादे किं कुर्यादित्याह—प्रागेवेत्यादि । अयनभूतमिति अभ्यासात्

\* अपहेपणेनेति वा पाठः ।

† कुर्यात् । इत्यधिकः पाठः क्वचित् ।

तव्यम् । यद्वा परस्य भृशदुर्गं स्यात् पक्षं परस्य वा भृशं विमुखम्  
आनयेत् । परिपदि चोपसंहितायामशक्यमस्माभिर्वक्तुम्,  
एवैव तैः परिपत् यथेष्टं यथायोगं यथाभिप्रायं वादं वाद-  
मर्यादाश्च स्थापयिष्यतीत्युक्त्वा तूष्णीमासीत् ॥ २१ ॥

तत्रेदं वादमर्यादालक्षणं भवति । इदं वाच्यमिदमवाच्यम्  
एवं सति पराजितो भवतीति । इमानि तु पदानि खलु भिषग्भि-  
र्वादमार्गज्ञानार्थमधिगन्तव्यानि भवन्ति । तद् यथा—वादो

सन्धिं कृत्वात्मनो निजस्यायनभूतं परस्य जयार्थं यत् प्रकरणं वृत्तरूपं भवति,  
तत् सम्भाषणात् पूर्वमादेशयितव्यमादेशेन ज्ञातव्यम् । यः पक्षः परस्य  
सम्भाष्यस्य दुर्गः स्यात् न वा पक्षं वादात् पूर्वं आनयेत् । पूर्वपक्षेण  
कौशलेन वा उपस्थापयेत् । अथवा परस्य यदतिशयविमुखजनककर्म तद्वा  
कर्मानयेत् । परिपदि सभायामुपसंहितायां सन्निकृष्टायां त्वया सहास्याभिः  
वक्तुं न शक्यमिति काल्पनिकवचसा तूष्णीमासीत्, एष ते इत्यादुक्त्वा च  
तूष्णीमासीत् ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—तत्रेदमित्यादि । वादमर्यादा वादस्य सीमा तस्या लक्षणम् ।  
ननु वादे कर्तव्ये कः पन्थाः कुतो वा वादस्य वृत्तं ज्ञायते इत्यत आह—  
इमानीत्यादि । पदान्यर्थवन्ति वर्णात्मकाः शब्दाः अधिगन्तव्यानि अर्थतो  
विधितश्च ज्ञातव्यानि । ननु कानि पदानि इत्यत आह—तद् यथेत्यादि ।

मार्गाभूतमिव अभ्यस्तमित्यर्थः । परस्य भृशदुर्गमिति प्रतिवादिनोऽविदिततत्त्वेन दुर्गमिव  
दुर्गम्, तत् पूर्वं सन्धिततया परिपदादेशयेत् । पक्षान्तरमाह—पक्षमथवेत्यादि । परस्य प्रति-  
वादिनः पक्षं भृशमत्यर्थं सभायां यथा विमुखं भवति, तथा वादं प्रवर्त्तयेत् । एतेन नास्ति पर-  
लोकः, नास्ति कर्मफलमित्यादि यदि परस्य पक्षे भवति, तदैतस्य पक्षस्य स्वाभाविकद्विष्टत्वेन  
यत्किञ्चित् स्वपक्षसाधनमुच्यते, तदेव परिपदपि गृह्यतीत्युक्तं भवति । उपसंहितायामिति  
संहितादियुक्तायां तूष्णीमासीतेति योजना । उपसंहिता हि परिपत् परोक्षेणाभिमतत्वेन उप-  
दर्शितमेव सर्वं करिष्यति, तदलमिहात्यर्थवचनेन माहात्म्यखण्डकेनेति भावः ॥ १८—२१ ॥

चक्रपाणिः—वादमर्यादालक्षणमाह—तत्रेदमित्यादि । वादशब्देन चेह विगृह्य पक्षप्रति-  
पक्षवचनमात्रमुच्यते । सन्धायसम्भाषयैव तत्त्वबुभुक्षोर्वादो उक्तः ।



द्रव्यं गुणाः कर्म सामान्यं विशेषः समवायः प्रतिज्ञा स्थापना  
 प्रतिष्ठापना हेतुर्दृष्टान्त उपनयो निगमनमुत्तरं सिद्धान्तः  
 शब्दः प्रत्यक्षमनुमानमैतिह्यम् औपम्यं संशयः प्रयोजनं  
 सव्यभिचारं जिज्ञासा व्यवसायोऽर्थप्राप्तिः सम्भवोऽनुयोज्यम्  
 अननुयोज्यमनुयोगः प्रलनुयोगो वाक्यदोषो वाक्यप्रशंसा  
 वाद इत्यादि । निग्रहस्थानमितीत्यन्तेन चतुश्चत्वारिंशत्पदानि । गौतमेन  
 पौडशपदान्युक्तानि । तद् यथा—प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयव-  
 तर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्नि-  
 श्रेयसाधिगम इति । तत्र प्रमाणशब्देन चतुश्चत्वारिंशत्पदानां मध्ये प्रत्यक्षानु-  
 मानोपमानशब्दाः प्रमाणानीति सूत्रेण प्रत्यक्षानुमानोपमानैतिह्याप्तोपदेशार्था-  
 पत्तिसम्भवानां संग्रहः कृतः, प्रमेयशब्देनात्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्ति-  
 दोषंप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयमिति सूत्रेण द्रव्यगुणकर्मसामान्य-  
 विशेषसमवायानां संग्रहः कृतस्तत्रोक्तशरीरस्य चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ।  
 घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशमिति  
 भूतानि । गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदार्था इत्येतैः सूत्रैर्विवृतत्वात्  
 तेनैवेति । अवयवपदेन प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानां संग्रहः कृतः ।  
 परस्परं हि वादे स्वस्वपक्षं स्थापयितुमेव प्रतिज्ञायते । तेन प्रतिज्ञावचनेनैव  
 स्थापनाप्रतिष्ठापनयोः संग्रहः ख्यापितः पृथङ्नोक्तेः । गौतमेनावयवपदोदाहरणोप-  
 देशार्थं दृष्टान्तः पृथगुक्त इह च तथैवेति । शब्दस्याप्तोपदेशैतिह्यप्रमाण-  
 वचनस्याप्रमाणवचनस्य च सर्व्वस्यैव वादमार्गज्ञानहेतुत्वेन ग्रहणं कृतम् ।  
 गौतमेन तु वेदादिशास्त्रात्मकाप्तोपदेशवचनस्य लौकिकैतिह्यवचनस्य च शब्दस्य  
 दृष्टादृष्टार्थस्य सत्यार्थस्य च संग्रहः कृतो नानृतार्थशब्दस्याप्रामाण्यात् निःश्रेय-  
 साधिगमहेतुत्वाभावाच्च । व्यवसायस्य निर्णयशब्देन गौतमेनोपादानं कृतम् ।  
 निग्रहस्थानपदेनाननुयोज्यानुयोगादीनां ग्रहणञ्च कृतम् । तत्र गौतमेन निरनु-  
 योज्यानुयोगशब्देनाननुयोज्यानुयोगः संगृहीतः । तत्राननुयोज्यस्य नान्तरीयक-  
 त्वेन सिद्धत्वान्न पृथग्वचनं कृतम् । एवं पर्य्यनुयोज्याक्षेपणशब्देनानुयोज्या-  
 ननुयोगस्य संग्रहः । स हि प्रत्यनुयोग उच्यते । तत्र चावान्तरीयकत्वादनु-

सम्प्रति वादमार्गज्ञानार्थं वादाभिज्ञेयानि द्रव्यगुणादीन्युपदर्शयन्नाह—इमानीत्यादि । भिषजां

च्छलम् अहेतुरतीतकालमुपालम्भः परिहारः प्रतिज्ञाहानिरभ्यनुज्ञा  
हेत्वन्तरमर्थान्तरं निग्रहस्थानमिति ॥ २२ ॥

तत्र तु वादो नाम स यत् परः परेण सह शास्त्रपूर्वकं  
विगृह्य कथयति । स च द्विविधः—संग्रहेण जल्पो वितण्डा च,

योऽयस्य न पृथग्वचनं कृतमिति । तन्त्रेऽस्मिन् वाक्यदोषनाम्ना न्यूना-  
धिकानर्थकापार्थक्यविरुद्धानां पञ्चानामुक्त्या गौतमोक्तानां न्यूनाधिकपुनरुक्त-  
निरर्थकापार्थक्यप्राप्तकालापसिद्धान्तानां हेत्वाभासान्तर्गतविरुद्धस्य च संग्रहः  
कृतः । गौतमेन तु हेत्वाभासशब्देन सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्य-  
समानीतकालानामुक्त्या प्रकरणसमवर्ण्यसमसंशयसमानामहेतूनां त्रयाणामतीत-  
कालस्य सव्यभिचारस्यात्र संग्रहः कृतः । अभ्यनुज्ञाया मतानुज्ञाशब्देन  
गौतमेन संग्रहः कृतः । अविज्ञातार्थाप्रतिभाननुभाषणान्नानविक्षपाणामत्रोक्त-  
निग्रहस्थाननाम्ना संग्रहः कृतः । वाक्यदोषाणां निरर्थकादीनां ग्रहणेन  
वाक्यप्रज्ञंसा नाम न्यूनाधिकार्थवदनपार्थक्यविदितार्थानां लाभान्न पृथगुक्तिः  
गौतमेन कृता । कृतश्चार्थापत्तिसम्भवयोरनुमानेऽन्तर्भावः । जिज्ञासामन्तरेण  
वादप्रवृत्तिर्न स्यादित्यतो जिज्ञासा च न पृथगुक्ता तेन । उपालम्भपरिहारयोः  
गौतमेन जातिशब्देन संग्रहः कृतः ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—अथोद्दिष्टानां वादादीनां मध्ये वादस्वरूपज्ञानमन्तरेण न वाद-  
मार्गज्ञानं सम्भवतीति प्रथमतो वादस्योक्तस्य स्वरूपलक्षणमाह—तत्र वादो  
नामेत्यादि । तत्र वादादिषु मध्ये स वादो नाम यत् परः परेण सह विगृह्य कथय-  
तीति विगृह्यसम्भाषाया वादविशेषस्य लक्षणम्, न तु वादस्य सामान्यलक्षणम् ।  
तत् तु सम्भाषाशब्देनान्वर्थकेन परस्परं प्रमाणतः स्थापना प्रतिपेक्षाभ्यां  
पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वाद इति ख्यापितम् । सा सम्भाषा द्विधा सन्धाय-  
सम्भाषा विगृह्यसम्भाषा चेत्युक्तम् । गौतमेन तु वादलक्षणमुक्तम् । तद् यथा—  
प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्ष-  
परिग्रहो वाद इति । व्याख्यातञ्चैतद्वात्स्यायनेन तत् प्रतिसंस्कृत्य प्रदर्श्यते ।

वादमार्गो भिषग्ववादमार्गः । वादादयः स्वयमेवाचार्य्येणाग्रे विव्रियन्त इति नेह संज्ञाकथने विव्रि-  
यन्ते ॥ २२ ॥

चक्रपाणिः—तत्रेत्यादिना वादलक्षणम् । इह 'वाद'शब्देन विगृह्य वादोऽभिप्रेतः, तत्त्व

प्रत्यक्षादिप्रमाणेष्वनुमानघटकत्वेन प्रामाण्यसिद्धावपि तदस्य प्रमाणोप-  
संगृहीतत्वाद्गौतमेन प्रमाणान्तरत्वाभावाच्च प्रमाणानामनुग्राहकत्वात् तु पृथगुक्तिः  
कृता । तेन प्रमाणैस्तर्केण च यत्र पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहे साधनोपालम्भौ क्रियेते  
स प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः सिद्धान्ताविरुद्धः स्वतन्त्र-  
प्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसिद्धान्तैरविरुद्धः सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी  
विरुद्धो न चेद्भवति । पञ्चावयवोपपन्नश्च भवति तदा स वाद उच्यते । तत्र  
सिद्धान्ताविरुद्ध इति वचनेन हेत्वाभासनिग्रहस्थानानामभावो वादे स्थापितः ।  
पक्षप्रतिपक्षयोः परिग्रहो ह्यभ्युपगमव्यवस्था । पक्षः प्रतिज्ञा । वादिनोर्द्वयोः  
पक्षयोरेकाधिकरणयोर्धर्मयोः परस्परोपघातिभावे प्रतिपक्षता । तौ च द्वौ  
पक्षौ परस्परं प्रतिपक्षौ । तत्र यः पूर्वः पक्षः स खलु वादप्रवर्तकत्वात् पक्ष  
उच्यते, परस्तु पक्षस्तद्विरोधित्वात् प्रतिपक्ष उच्यते । यथा पूर्वमेकः प्रतिजानीते ।  
वह्निरुष्ण इति । अपरः प्रतिजानीते वह्निरनुष्ण इति । इत्येवं पक्षप्रति-  
पक्षयोः परिग्रहे प्रमाणेन तर्केण च साधनं स्वपक्षस्थापनापरपक्षस्योपालम्भः  
प्रतिषेध एवं ताभ्यां विधीयते । तद् यथा—सिद्धान्ताविरोधेन पञ्चभिरवयवैश्च  
न न्यूनाधिकैः पञ्चभ्योऽवयवैर्भ्यः । तत्र पूर्वपक्षं वह्निरुष्ण इति स्वप्रतिज्ञानं  
वादी हेतूदाहरणोपनयनिगमनैः स्थापयति सिद्धान्तचतुष्टयाविरोधेन । तत्र  
वह्निरुष्ण इत्यत्राह प्रतिवादी—कस्मात् ? तत्राह वादी—दहनात् । क  
इवेत्याह प्रतिवादी । तत्राह वादी—आतपवत् । कथमित्याह प्रतिवादी ।  
तत्राह वादी यथातप उष्णः स च दहति—तथा वह्निर्दहति ; तस्मादुष्णो  
वह्निरिति प्रत्यक्षेण प्रमाणेन तर्केण च स्वपक्षसाधनमतोऽनुष्णत्वप्रतिषेधो  
लभ्यते । इत्येवं पक्षपरिग्रहः सर्वसिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नश्च ।  
प्रतिवादी तु तत्प्रतिषिध्य स्वपक्षं स्थापयति । न वह्निरुष्ण इति प्रतिषिध्याह  
वह्निरनुष्णः । तत्राह वादी कस्मादिति । रूपमात्रलिङ्गत्वादित्याह प्रतिवादी ।  
तत्राह वादी क इवेति । तत्र प्रतिवादी चाह यथा वायुः । कथमित्याह वादी ।  
प्रतिवादी चाह वायुर्यथा स्पर्शमात्रलिङ्गः स चानुष्णस्तथा वह्निश्च रूपमात्र-  
लिङ्गः, तस्मादनुष्ण इति । आप्तोपदेशप्रमाणेन तर्केण च वह्ने रूपमात्रलिङ्गत्वं  
सर्वसिद्धान्तसिद्धं निर्णीयानुष्णत्वमनुमानेन तर्केण च स्थापयित्वा प्रति-  
षिद्धमुष्णत्वं वह्नेः प्रतिवादिनेति प्रतिपक्षपरिग्रहोऽपि सर्वसिद्धान्ताविरुद्धः  
वुमुत्सुवादस्तु सन्धायसम्भाषयैवोक्तः । शास्त्रपूर्वकमित्यनेनार्थादिकलहवाटं निषेधयति ।  
तत्र वादे-विशृङ्खल सम्भाषारूपत्वादेव चलजातिनिग्रहस्थानानां विजिगीषाप्रवृत्तानां प्रयोगो लभ्यते ।

तत्र पक्षाश्रितयोर्वचनं जल्पः, जल्पविपर्ययो वितण्डा ।

पञ्चावयवोपपन्नः । नावयवैर्हीनोऽधिको वेति । परस्परमप्रतिघातिनौ त्वेकाधिकरणौ धर्मौ न प्रतिपक्षौ । तौ हि पक्षौ न प्रमाणतर्काभ्यां परस्परं स्थापनाप्रतिषेधवन्तौ पञ्चावयवोपपत्तावपि । यथा पूर्वमेकः प्रतिजानीते वद्विरद्व इति । अरः प्रतिजानीते वद्विरुपेण इति । पक्षप्रतिपक्षवचनेन उक्तिप्रत्युक्तिप्रतुसंकथाया वादलनिरासः । यथा भो घटमानयेत्युक्त आह—घटमानयामीति । अयैकः प्रतिजानीते वद्विरद्व इति । अपरः प्रतिजानीते वद्विरद्व इति । तौ हि पक्षौ परस्परमुपघातिभावात् प्रतिपक्षौ ततः पक्षप्रतिपक्षभावेऽपि प्रमाणतर्काभ्यां पञ्चावयवैः सिद्धान्ताविरोधेन स्थापनाया अभावान्न तयोः परिग्रहो वाद इति । इत्येवं वादस्य सामान्यलक्षणमन्वर्थसम्भाषाशब्देन न्यापयित्वा विग्रहसम्भाषालक्षणमुक्तम् । तत्र वादो नामेत्यादि । वादो वादविशेषो विग्रहसम्भाषा नाम स यत् परः परेण सह विग्रह कथयति । अत्र विग्रहो वाग्युद्धं छलजातिनिग्रहस्थानैः प्रकरणात् तद्विद्यायाम् । पर एकः पुरुषस्तद्विद्यः परेणान्येन तद्विदेन पुरुषेण सह विग्रह तद्विद्यायां योधयित्वा प्रमाणतः स्वपक्षं हेत्वादिभिः स्थापयित्वा परपक्षं दूषयित्वा स्वपक्षं न स्थापयित्वा परपक्षं दूषयित्वैव वा यत् कथयति अभ्युपगम्य व्यवस्थापयति तत्कथनं वादः, वादविशेषो विग्रहसम्भाषाभिधीयते ।

तं विभजते—स चेत्यादि । स च विग्रह वादः संग्रहेण सङ्क्षेपेण द्विविधो भेदप्रकृत्यन्तरबाहुल्येऽपि जल्पवितण्डालभेदात् जल्पश्च वितण्डा चेति । जल्पं लक्षयति—तत्रेत्यादि । तत्र जल्पवितण्डयोर्मध्ये पक्षाश्रितयोर्जल्प इति । परस्परमुपघातिनौ खल्वेकाधिकरणौ धर्मौ पक्षौ द्वावाश्रितयोर्वादिप्रतिवादिनोर्वादः प्रमाणतः स्थापनाप्रतिषेधवत् सिद्धान्ताविरुद्धं हेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनैरन्यनानधिकैरुपपन्नं छलजातिनिग्रहस्थानैर्विग्रह स्थापनाप्रतिषेधकथनं जल्पः । न तु छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः । न हि छलजातिनिग्रहस्थानैः कस्यचिदर्थस्य साधनं सम्भवति । प्रतिषेधो ह्यर्थस्यैषां सामान्यलक्षणैः श्रयते । वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलमिति साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः । विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् इति । तस्मात् प्रमाणतः साधनोपालम्भवत्सिद्धान्ताविरुद्धं हेत्वादिभिः पक्षाश्रितयोरिति पक्षं साधयतोरित्यर्थः । तेन वितण्डायामप्युत्तरवादिनः परपक्षदूषणलक्षणस्य

यथैकस्य पक्षः पुनर्भवोऽस्ति, नास्तीत्यपरस्य । तौ च स्वस्वपक्ष-  
हेतुभिः स्वस्वपक्षं स्थापयतः परपक्षमुद्धावयतः, एष जल्पस्तद्-

अन्यूनानधिकैरूपपन्नं पक्षप्रतिपक्षाश्रितयोश्छलजातिनिग्रहस्थानैर्विगृह्य स्वस्व-  
पक्षस्य स्थापनापूर्वकं परपक्षदूषणकथनं जल्पः । जल्पस्याङ्गानि विग्रहे  
छलजातिनिग्रहस्थानानि । तैर्हि परपक्षं विहत्य स्वपक्षं स्थापयति । प्रति-  
पक्षप्रतिषेधश्च छलजातिनिग्रहस्थानैः परप्रतिषेधविघातेन स्वपक्षं यद् रक्षति  
तत्र सहकारीणि भवन्ति छलजातिनिग्रहस्थानानीति जल्पे विग्रहस्याङ्गानि  
छलजातिनिग्रहस्थानानि भवन्ति, न तु स्वातन्त्र्येण साधनानि भवन्ति ।  
गौतमेनाप्येवमुक्तम् । यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो  
जल्पः । यथोक्तोपपन्न इति वादलक्षणोक्तोपपन्नः । प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः  
सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहश्छलजातिनिग्रहस्थान-  
साधनोपालम्भो जल्प इति । छलजातिनिग्रहस्थानैः साधनं स्थापना  
उपालम्भः प्रतिषेधः एतौ यत्र क्रियेते स छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भ  
इति । न तु छलजातिनिग्रहस्थानोपालम्भो यथोक्तोपपन्न इति, तथाविधा तु  
वितण्डा इति । अवयवेषु प्रमाणतर्कान्तर्भावेऽपि यत् पुनः प्रमाणतर्कयोः  
पृथग्ग्रहणं तत् साधनोपालम्भव्यतिपङ्गत्वापनार्थम् । अन्यथोभावाः पक्षौ  
स्थापनाहेतुना प्रवृत्तौ वादः स्यादिह जल्पः स्याच्च । अवयवसम्बन्धमन्तरेणापि  
प्रमाणान्यर्थं साधयन्तीति दृष्टम् । प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भो वाद एवेति  
प्रतिषेधार्थं छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भ एव जल्प इति प्रतिषेधार्थञ्च  
पृथक् प्रमाणतर्कग्रहणमिति । एवं निग्रहो जल्प इति प्रतिषेधार्थं छलजाति-  
निग्रहस्थानसाधनोपालम्भ इति वचनमिति वात्स्यायनव्याख्यानम् ।

जल्पमुदाहरति स्वयम् । यथैकस्येति । पुनर्भवोऽस्तीत्येकस्य पक्षः,  
नास्ति पुनर्भव इत्यपरस्य पक्षः । तौ च वादिप्रतिवादिनौ पुनर्भवोऽस्तीति  
वादी पुनर्भवो नास्तीति प्रतिवादी स्वस्वपक्षहेतुभिर्हेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनैः  
स्वस्वपक्षं स्थापयतः परपक्षमुद्धावयतः प्रतिषेधयत एष जल्पः । तद् यथा—  
अस्ति पुनर्भव इति वादी ब्रूते । अस्ति पुनर्भव आत्मनित्यत्वात् ।  
तिस्रैषणीये खलवात्मनो नित्यत्वं प्रत्यक्षानुमानयुक्तिभिराप्तोपदेशेन च स्थाप-

य पक्षोऽस्त्येव, परं स्वमतं न साधयतीति भेदः । यथैकस्येत्यादि जल्पोदाहरणम् । परपक्षोः

वियर्ग्ययो वितण्डा । वितण्डा नाम परपक्षदोषवचनमात्र-  
मेव ॥ २३ ॥

यिता नास्ति पुनर्भव इति पक्षप्रतिषेधः कृतः । तत्र दृष्टान्तः । यथापवर्गोऽप्राणी  
घटादिर्वा । यथा कर्मफलानुबन्धाभावादात्मा दुःखजन्मतो मुच्यते न पुनर्भवति  
तथा पुनर्भवहेतुकर्मफलानुबन्धादात्मा पुनर्भवति न दुःखजन्मतो मुच्यते ।  
यथात्महीनो घटादिर्न पुनर्भवति न तथा सात्मकः पुरुषो न पुनर्भवति ।  
तस्मादस्ति पुनर्भव इति, न तु नास्ति पुनर्भव इति । अथ नास्ति पुनर्भव इति,  
वादी ब्रूते नास्ति पुनर्भव इति । कस्मादिति ? तत्राह प्रत्यक्षमात्रप्रमाण-  
वादी, परोक्षत्वात् पुनर्भवस्य । यथा नास्ति मोक्ष इति । अस्ति पुनर्भव  
आत्मनित्यत्वात् । प्रतिवादी चाह नास्ति पुनर्भवोऽनित्यत्वादात्मनः । तत्र  
वादी चाह—अस्ति पुनर्भवो नित्यत्वादात्मनः, आत्मा हि कर्मफलेन नित्यानु-  
बन्धः । पुनः प्रतिवादी चाह । नास्ति कर्मफलमतो नात्मा कर्मफलानुबन्धः  
तस्मान्नास्ति पुनर्भवः । तत्र पुनर्वादी ब्रूते । अस्ति कर्मफलम्, नास्ति हि  
तत् कर्म यस्य फलं नास्ति । तस्मात् कर्मफलानुबन्धादात्मनः पुनर्भवो-  
ऽस्तीत्येवं जल्पः । इति ।

वितण्डां लक्षयति । जल्पवियर्ग्ययो वितण्डेति । एतामुदाहरति ।  
तद्वियर्ग्ययो वितण्डा । तर्हि किं स्वस्वपक्षस्थापनामात्रं परपक्षप्रतिषेधेन  
यत् कथयति सा वितण्डेत्यत आह—वितण्डा नामेत्यादि । परपक्ष-  
दोषवचनमेव वितण्डा नाम स्वपक्षस्थापनाहीनमिति । तथा चोक्तं गौतमेन ।  
संप्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा । व्याख्यातमिदं वात्स्यायनेन । पक्षः पक्ष  
इति प्रतिपक्षं यौ हि समानाधिकरणौ विरुद्धौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षावुक्तौ  
तयोरेकतरपक्षस्थापनाहीनो जल्पो वितण्डा । तथा च । प्रमाणतर्कोपालम्भः  
सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहश्छलजातिनिग्रहस्थानो-  
पालम्भो वितण्डेति पर्यवसीयते । वैतण्डिको हि स्वपक्षं न स्थापयति परपक्ष-  
प्रतिषेधेनैव प्रवर्तते । इति । अस्त्वेवं यद्वैतपरपक्षप्रतिषेधवचनं तदेव वैतण्डि-  
कस्य पक्ष इति न तसौ कश्चिदर्थं साध्यं निदिश्य स्थापयतीति बोध्यमिति ॥ २३ ॥

दोषवचनमात्रमित्यनेन न स्वपक्षसाधनवचनं वैतण्डिकस्येति दर्शयति । पूर्वमुक्ता दीर्घ-  
जीवितीये ॥ २३ ॥

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः स्वलक्षणैः श्लोक-  
स्थाने पूर्वमुक्ताः ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—वादमुक्त्वा वाद्यानाह—द्रव्येत्यादि। द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेष-  
समवायाः स्वलक्षणैः श्लोकस्थाने प्रथमाध्याये पूर्वमुक्ता इति व्याख्यातास्ते  
विस्तरेण तत्रैव । शिष्याणां व्यवसायार्थं स्मरणाथेञ्चात्र पुनर्द्रव्यादयः स्व-  
लक्षणैः सहोपेण व्याख्यायन्ते । तद् यथा—पूर्वमुक्तं द्रव्यगुणकर्मणां लक्षणम् ।  
यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि तत् । तद् द्रव्यं समवायी तु निश्चेष्टः  
कारणं गुणः । संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम् । कर्तव्यस्य क्रिया कर्म  
कर्म नान्यदपेक्षते । इति । कारणमित्युक्त्या कार्यस्येत्युक्तं यस्य कार्यारम्भे  
यत्समवायिकारणं विक्रियमाणं कार्यं भवति तत्र विक्रियमाणे यत्र कारणे  
कार्यत्वमापद्यमाने कर्मगुणा आश्रिताः स्युस्तदेव तस्य कार्यस्य समवायि-  
कारणं तस्य कार्यस्य द्रव्यं भवति । यत्र तु कारणे कार्यारम्भे कर्मगुणा  
आश्रिता न भवन्ति तद्यत् कारणं कार्यं समवायिकार्यरूपेण परिणमद् एकी-  
भवति तत् कारणं तस्य कार्यस्य न द्रव्यमिति । तद् यथा—पृथिव्यापस्तेजो-  
वायुर्मनश्चेति पञ्च सक्रियाणि स्वरूपतः । स्वरूपतश्च निष्क्रियाणि चत्वारि  
आत्मा कालो दिगाकाशश्चेति । तत्र कतिधापुरुषीये शरीरे वक्ष्यते । आत्मा  
निष्क्रियस्तत्र प्रश्नः । निष्क्रियस्य क्रिया तस्य भगवन् विद्यते कथमिति ।  
तत्रोत्तरमुक्तम् । अचेतनं क्रियावच्च चेतश्चेतयिता परः । युक्तस्य मनसा  
तस्य निर्दिश्यन्ते विभोः क्रियाः ॥ इति । कार्यारम्भे पृथिव्यादिभिः सक्रियैः  
इतरैश्चाक्रियैः सह संयोगेऽन्योन्यानुप्रवेशादन्योन्यानुग्रहात् पुनःपुनः संयोग-  
विभागाभ्यामावर्त्तनादन्योन्यस्य क्रियागुणमेलनाद्विक्रियमाणान् क्रियागुणान्  
आश्रित्यात्मकालदिगाकाशवायुतेजोऽम्बुपृथिव्यः कार्यं समवयन्तीति क्रिया-  
गुणवत् समवायिकारणान्यात्मादीनि नवैव द्रव्याण्युच्यन्ते । तत्र च तदानां तेषां  
क्रियागुणाश्च विक्रियमाणाः क्रियागुणान् विशेषरूपेण जायमानान् गुरुत्वादीन्  
गन्धादींश्च नाश्रित्यैव समवयन्तीति क्रियागुणाश्रयत्वाभावान्न द्रव्याण्युच्यन्ते ।  
तदा हि सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वगुणाश्रयः सन् समवाय्यपि रूपरसादिर्भावो  
निश्चेष्टः क्रियाहीन एव रूपरसाद्यन्तरारम्भे कारणं रूपरसाद्यन्तरमारभमाणः  
समवैति कार्यं इति निश्चेष्टः समवायी सन् कारणं भवति स गुण उच्यते,  
न द्रव्यं द्रव्यस्य लक्षणे कर्मगुणा इति कर्मपदोपादानात् । महाभूतेषु पृथि-

व्यादिषु पूर्वं गुरुत्वादयो विंशतिगुणा अनभिव्यक्ताः पञ्चभूतस्थाः कार्यकाले संयोगात् तेभ्योऽभिव्यज्यन्ते । तद्गुणाश्रयः सन् रूपरसादिन कार्यं समवायी भवति सङ्ख्याविशेषपरिमाणविशेषपृथक्त्वाश्रयः संस्तु कार्यं समवायी स्यादिति ज्ञापनार्थं निश्चेष्ट इत्युक्तं न निर्गुण इत्युक्तम् । कर्माणि च पृथिव्यादिष्वव-  
क्षेपणोत्क्षेपणप्रसारणादीनि तत्कार्यारम्भे पुनःपुनः संयोगविभागे नवानां द्रव्याणां कृत्वा तानि द्रव्याणि तांश्च गुणान् परिणम्य परिणम्यमानान्येकी-  
भूय स्वस्वविरोधीनि कर्माणि भूत्वा तत्र तत्र कर्मणि समवयन्तीति विकृतिभूतकर्माश्रया कर्तव्यस्य क्रिया तपां कर्मणां कर्म यतोऽन्यत् कर्म कर्तव्यस्य क्रिया नापेक्षते स्वप्रकृतिकर्मभ्य एव जायते क्रियाहेतुकर्म कर्मवन्न तु तदा गुणवत्तया जायते । एकत्वपृथक्त्वपरिमाणगुणाः प्रकृति-  
भूता एव सर्वत्र वर्तन्ते न कार्यकाले विक्रियमाणाः कर्मण्याश्रितास्तस्मान्न द्रव्यम् । न च गुणः सचेष्टत्वादिति । एतदभिप्रायेण कणादेनाप्युक्तं वैशेषिक-  
शास्त्रे । क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् । द्रव्याश्रयगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमन्यापेक्षो गुण इति । इह समवायिकारणमित्यनु-  
वर्तते । उभयत्र गुणशब्देन कार्यकाले जायमानगुणो विवक्षित इति ज्ञापनार्थं पुनरुक्तं गुणोऽपि विभाव्यते गुणेनापीति । तेन पङ्कसास्त्रीणि रूपाणि पञ्च कर्माणि । दुग्धादिक्षोर्मधरोऽधिकः । आम्रस्य रूपात् पृथग्रसः । इत्येवमादि । कर्म पुनर्द्रव्याणां संयोगविभागेषु कार्यकाले कर्मान्तरमन-  
पेक्षयैव कारणं सद्यद्द्रव्याश्रयि चागुणवत्समवायिकारणं तत् कर्म । तथा चोत्क्षेपणादीनि पञ्चकर्माणि तेजःप्रभृतिद्रव्याश्रयीणि । न च गुरुत्वादिगुण-  
वन्ति न भूमिकार्यं समवायीनि भवन्ति सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वानि चाश्रित्यै-  
वेति । त्रिवृतो विरेचनात् कर्मणो राजवृक्षस्य विरेचनं कर्म न्यूनमिति मृदु-  
विरेचनमुच्यते राजवृक्षस्य मृदुत्वात् । स्नुहीक्षीरस्य विरेचनमधिकमिति तीक्ष्णं विरेचनमुच्यते स्नुहास्तीक्ष्णत्वात् । एवं त्रिवृतो विरेचनात् पृथक् स्नुही-  
क्षीरविरेचनमिति । एतदर्थकं कर्मलक्षणमिह तन्त्रे पूर्वमुक्तम् । संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम् । कर्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यदपेक्षते ॥ इति । कर्तव्यस्य कार्यस्य द्रव्यमाश्रितं खल्वन्यत् कर्म नापेक्ष्य कार्यारम्भे द्रव्याणां संयोगे च विभागे च कारणं या क्रिया समवायिकारणं भवति तत् कर्म । इति । भ्रान्तास्त्वाहुर्गुणकर्मणी न समवायिकारणे भवतस्ते चासमवायिकारणे इति तदनापेक्षमयौक्तिकञ्च । द्रव्याणि हि सजातीयं



द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरं न विजातीयम् । कर्म तु न कर्मासाध्यं विद्यते । कचित् सजातीयं कचिद्विजातीयं स्वविरोधि कर्म यदारभते तत्कारणभूतकर्मप्रकृतिकमेव कार्यभूतं कर्म स्यात् । तत्र प्रकृतिभूतं कर्मैव समवेत्य कार्यभूतकर्मतया निष्पद्यते तथा प्रकृतिभूतद्रव्यस्या गुणाश्च प्रकृतिभूताः समवेत्य कार्यभूतसजातीयगुणान्तररूपेण निष्पद्यन्ते इति कथमसमवायिकारणे गुणकर्मणी भवत इत्यतस्तदयौक्तिकमनार्पश्चासाध्य इति । सामान्यविशेषौ च पूर्वमुक्तौ । सर्वदा सर्वभावाणां सामान्यं वृद्धि-कारणम् । हासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु । सामान्यमेकत्वकरं विशेषश्च पृथक्त्वकृत् । तुल्यार्थता हि सामान्यं विशेषस्तु विपर्यय इति । परस्पर-तुल्यार्थता सामान्यं तद्विपर्ययः परस्परमतुल्यार्थता विशेष इति सामान्य-विशेषौ परस्परबुद्धापेक्षौ । सामान्यबुद्धापेक्षो विशेषो विशेषबुद्धापेक्षं सामान्यम् । तच्च द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वञ्च सामान्यञ्च विशेषश्चान्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्य इति । कार्येषु च द्रव्येषु द्रव्यारब्धेषु द्रव्यञ्च सामान्यं गुणञ्च सामान्यं कर्म च सामान्यं विशेषश्च द्रव्यं गुणञ्च कर्म चेति । सत्ता चास्ति द्रव्यगुणकर्मसु सामान्यञ्च विशेषश्च । सदिति यतः सा सत्ता द्रव्यगुणकर्मसु न समवाये । सत्ता हि भावो भावानामनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् । भावानाम् आरम्भकद्रव्यसंयोगे यावदारम्भकद्रव्यगुणकर्मणां कार्यरूपेण परिणमतां सर्वेषां मेलनेनैकत्वकरोऽपृथग्भावः समवायः खलु भावानां भावः सत्ता ततो ह्यनुवर्तते कार्यभूतो भावः । यावन्तं कालं स च समवायो वर्तते, तावन्तं कालमनुत्तरं कालं द्रव्यं गुणः कर्म च वर्तते । समवायस्य तु वर्तनं यत् कार्यं तदपि स्वरूपेणैव न तु समवायेनेति समवायस्य सत्ता नास्ति । स्वयं हि सत्ता तस्मात् सामान्यविशेषौ न द्रव्यगुणकर्मसमवायेभ्योऽतिरिक्तौ । यैस्त्वनृषिभिरतिरिक्तौ सामान्यविशेषावुच्येते कथं तैर्द्रव्यगुण-कर्मस्वेव सत्तास्ति न समवायेऽस्तीत्युच्यते । सदिति यतः सा सत्तेति चेत् तदा समवायोऽप्यस्तीति सदिति कुतश्चिदपि कारणान्नवति सैव समवायस्यापि सत्ता सम्भवति । कथं द्रव्यगुणकर्मस्वेव सत्ता न समवाये-ऽस्तीति वक्तुमर्हन्ति । तस्मात् समवायः सत्ताद्रव्यगुणकर्मसु न समवाये, समवाये समवायाभावात् । इति । समवायस्तूक्तः समवायोऽपृथग्भाव इति । द्रव्यगुणकर्मणामारम्भकाणामपृथक्त्वं समवायस्तदपृथक्त्वकृच्च सामान्यं पृथक्त्वकृत् तु विशेषः । द्रव्यसामान्यं गुणसामान्यं कर्मसामान्यञ्च तेषां

अथ प्रतिज्ञा । प्रतिज्ञा नाम साध्यवचनं, यथा—नित्यः पुरुष इति ॥ २५ ॥

मेलनं तु समवायः करोतीति सामान्यमेकत्वकरमित्युक्तम् । तत्रैकत्वमपृथक्त्वं, पृथक्त्वं स्यादसंयोगो वैलक्षण्यमनेकता न त्वेकता । इति । तथा च समवायो नित्यश्चानित्यश्च । नित्ये द्रव्ये भूम्यादौ भूते गुणस्य समवायो नित्यः, द्रव्यारब्धद्रव्ये त्वनित्यो देवनरादौ । तत्र समानानेकेषु सत्ता सामान्यं यथा गोत्वादिकं तत्तदेकैकेषु सत्ता जन्म सत्ता विशेषः । तत्राकृतिग्रहणा सत्ता जातिः । तत्तदेकैकस्मिन् जन्म । तदुक्तं—जातिः सामान्यजन्मनोरिति । अनाकृतिग्रहणा तु सत्ता न जातिसंज्ञया व्यवह्रियते, सत्तैवोच्यते सामान्यविशेषरूपेति तत्त्वम् ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—इति वादेन वाद्यानुत्तवा यैर्वादः कर्त्तव्यस्तान् वक्तुं प्रथमं प्रतिष्ठापयामाह—अथ प्रतिज्ञेति । वादे कर्त्तव्ये प्रथमं प्रतिपाद्यते । सा प्रतिष्ठापयिष्यते । प्रतिज्ञा नाम साध्यवचनमिति । वादिनः प्रज्ञापनीयेन धर्मेण विशिष्टस्य धर्मिणः साध्यस्य परिग्रहवचनं साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा नामोच्यते । गौतमेनाप्युक्तम् । साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा इति । वात्स्यायनेन व्याख्यातमिदम् । प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य परिग्रहवचनं प्रतिज्ञा साध्यनिर्देशः । अनित्यः शब्द इति । स्वयञ्चोदाहरति । यथा नित्यः पुरुष इति । अत्र नित्यत्वेन प्रज्ञापनीयेन धर्मेण विशिष्टस्य धर्मिण आत्मनः परिग्रहोऽभ्युपगम्य व्यवस्थोक्तिः प्रतिज्ञा । न च निगमनं साध्यवचनम् । यतो हेत्वपदेशात् प्रतिष्ठाप्याः पुनर्वचनं निगमनम् । प्रथमं साध्यवचनं प्रतिज्ञेति । भ्रान्तास्तु व्याचक्षते—पक्षतावच्छेदकधर्मविशिष्टे पक्षे साध्यतावच्छेदकधर्मविशिष्टस्य वैशिष्ट्यवोधकः शब्दः प्रतिज्ञेति । अत्र निगमनस्य प्रतिष्ठाप्यप्रसङ्गवारणाय साध्यांशे साध्यतावच्छेदकातिरिक्तप्रकारकत्वं वक्तव्यम् । तेन साध्यतावच्छेदकप्रकारताविलक्षणप्रकारताशून्यसाध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा । इति पर्यवसितम् । तेन पुरुषः प्रमेयवानित्यादौ पुरुषे साध्यस्य प्रमेयस्य द्रव्यगुणादेरवच्छेदकद्रव्यत्वगुणादिप्रकारतातो विलक्षणनीलादिप्रकारता शून्यत्वेन निर्देशान्नाप्रसिद्धिः । उदासीनवाक्यस्य प्रतिष्ठाप्यवारणाय न्यायान्तर्गतत्वे सतीति विशेषणीयम् । न्यायत्वन्तु पञ्चावयववाक्यात्मकत्वम् । तथा च । न्यायान्तर्गतत्वे सति प्रकृत-पक्षतावच्छेदकावच्छिन्न-पक्षक-प्रकृत-साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न-साध्यविधेयता

अथ स्थापना । स्थापना नाम तस्या एव प्रतिज्ञाया हेतु-  
दृष्टान्तोपनयनिगमनैः स्थापना । पूर्व्वं हि लोके प्रतिज्ञा, पश्चात्  
विलक्षणविषयतावबोधाजनकत्वे च सति प्रकृतपक्षकप्रकृतसाध्यबोधजनकत्वं  
प्रतिज्ञात्वम् । तच्च प्रतिज्ञात्वमवयवत्वञ्च परिभाषाविशेषविषयत्वरूपं तद्व्यक्ति-  
रूपं वेति । तदसाधु । प्रवृत्ते हि वादे वादिनोरन्यतरः पुमान् खल्वेकः पूर्व्वं  
प्रतिजानीते, न त्वप्रवृत्ते वादे प्रतिज्ञा भवति । ततो वादे प्रतिज्ञास्थापना-  
वाक्यस्यमवयवत्वेन प्रतिज्ञाया लाभे कथमुदासीनवाक्यस्य प्रतिज्ञात्वं प्रसज्यते ।  
निगमनञ्च न साध्यनिर्देशः परन्तु हेतुपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्व्वचनमिति ।  
एवं साध्यस्य निर्देशो वर्णात्मकेन वाक्येन क्रियते इति तद्वाक्यं न प्रतिज्ञा, तत्  
कथं तथाविधः शब्दः प्रतिज्ञा भवति । प्रतिज्ञेति पुनरन्वर्थसंज्ञा । प्रति  
इत्थम्भावेन जानीते यत् सा प्रतिज्ञा । पक्षश्च वात्स्यायननोक्तः । वादिनोः  
पक्षप्रतिपक्षौ समानाधिकरणौ विरुद्धौ धर्म्मौ तयोरन्यतरः पक्षः स च किञ्चित्  
वस्तुनिष्ठः प्रज्ञापनीयो धर्म्म एव न तु तद्धर्म्मविशिष्टो धर्म्मः । अनित्यः  
पुरुष इत्येकस्य पक्षः । अपरस्य नित्यः पुरुष इति । उभयोः पक्षः किं पुरुषः ।  
नैवं, प्रज्ञापनीयधर्म्मविशिष्टः पुरुष इति । तर्हि नित्यत्वधर्म्मविशिष्टस्य पुरुषस्य  
वादिपक्षस्यावच्छेदको धर्म्मः किं नित्यत्वमथवा पुरुषत्वमनित्यत्वधर्म्मविशिष्टस्य  
तस्यैव पुरुषस्य प्रतिवादिपक्षस्यावच्छेदको धर्म्मः किमनित्यत्वमथवा पुरुषत्वम् ?  
तत्र पुरुषत्वमात्रं चेत् पक्षतावच्छेदको धर्म्मस्तदोभौ पक्षौ तुल्यौ भवतो न पक्ष-  
प्रतिपक्षौ भवत इति । यदि नित्यत्वं पुरुषस्य पक्षतावच्छेदकमनित्यत्वं प्रति-  
वादिपक्षस्य पक्षतावच्छेदकं तदा तन्नित्यत्वानित्यत्वावच्छेदकधर्म्मविशिष्टे  
पक्षे पुरुषे साध्यतावच्छेदकधर्म्मविशिष्टं किं पुरुष नित्यत्वं वादिपक्षे, प्रति-  
वादिपक्षे त्वनित्यम्, तत्र नित्यत्वस्यानित्यत्वस्य चावच्छेदको धर्म्मः को भवति ।  
यद्धर्म्मविशिष्टस्य पक्षे पुरुषावच्छिन्ने वैशिष्ट्यं बोधयेच्छब्दः । इति । नित्यत्व-  
स्यानित्यत्वस्यावच्छेदकधर्म्मस्याप्रसिद्धत्वात्तल्लक्षणमसाधु । न ह्यनार्पं सर्व्वं साध्यं  
भवति । तथा च तद्व्याख्यानं भ्रान्तकृतमसाधुत्वादग्राह्यम् ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—वादी प्रतिज्ञाय किं कुर्यादित्यत उक्तम्—अथ स्थापनेति ।  
वादिना प्रतिज्ञाय स्थापना कार्य्या । का पुनः स्थापनेत्यत आह—स्थापना  
नामेत्यादि । तस्या एव पूर्व्वकृताया एव प्रतिज्ञाया हेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनैः

चक्रपाणिः—स्थापयति सिद्धमर्थं परं प्रति साधयतीति स्थापना । तच्च साध्यं परं प्रति

स्थापना, किं ह्यप्रतिज्ञातं स्थापयिष्यति ? यथा—नित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञा, हेतुः—अकृतकत्वादिति । दृष्टान्तो यथाकाशमिति । उपनयो यथा चाकृतकमाकाशं तथा पुरुष इति, निगमनं तस्मान्नित्य इति ॥ २६ ॥

स्थापना स्थिरीकरणं स्थापना नामेहोच्यते । सा द्विधा, दृष्टान्तसाधर्म्येण हेतुना वैधर्म्येण च हेतुना । तत्र तस्या एव पूर्वकृतायाः प्रतिज्ञायाः प्रज्ञापनेन खलूलब्धिधारणेन प्रत्यक्षानुमानैतिह्यौपम्यान्यतमेन दृष्टान्तसामान्यात् साधयित्वा तत्प्रतिज्ञातार्थसामान्याच्च दृष्टान्तमुदाहृत्य तद्दृष्टान्तापेक्षेण तथेत्युपसंहारेणोपनीय हेतुपदेशात् तत्प्रतिज्ञायाः पुनरुक्तिकरणं दृष्टान्तसाधर्म्योपदर्शनं स्थापना । एवं तस्या एव च प्रतिज्ञायाः प्रज्ञापनेनोपलब्धिधारणेन प्रत्यक्षानुमानैतिह्यौपम्यान्यतमेन दृष्टान्तविधर्म्येण साधयित्वा साध्यवैधर्म्येण दृष्टान्तमुदाहृत्य तद्दृष्टान्तापेक्षेण साध्यस्य न तथेत्युपसंहारेणोपनीयहेतुपदेशात् तस्या एव प्रतिज्ञायाः पुनरुक्तिकरणं दृष्टान्तवैधर्म्योपदर्शनं स्थापना । कस्मादेवं स्थापयेदित्यत आह—पूर्वं हीत्यादि । हि यस्माल्लोके पूर्वं प्रतिज्ञा क्रियते पश्चात् तस्याः प्रतिज्ञायाः स्थापना क्रियते, अन्यथा प्रतिज्ञाभ्रंशेन निग्रहस्थाने पतेत् । तर्हि प्रतिज्ञां क्लृप्तैव स्थापयेत् । न चेत् स्थापयितुं शक्नोति निग्रहस्थाने च पतेदित्यत आह—किं हीत्यादि । हि यस्मात् । किमप्रतिज्ञातं स्थापयिष्यतीति परन्तु प्रतिज्ञातमेवार्थं स्थापयतीति । तत् स्थापनां दर्शयति—यथेत्यादि । नित्यः पुरुष इति वादिनः प्रतिज्ञा । तत्र हेतुरकृतकत्वात् । अकृतकत्वं पुरुषस्य मातापितृकृतत्वेन दृष्टत्वेऽप्यैतिह्यप्रमाणेन प्रज्ञापितम् । य एष एष पुरुषो देवनरादियोनिषु जायते स न केनापि कृत इत्यास्ता उपदिशन्ति । एष हेतुर्दृष्टान्तसाधर्म्यात् पुरुषनित्यत्वसाधकः । कः पुनरिह दृष्टान्त इत्यत आह—दृष्टान्त इत्यादि । यथाकाशमिति । आकाशसमानधर्मवत्त्वेन पुरुषस्य नित्यत्वसाधकोऽकृतकत्वमिति हेतुः । इति दृष्टान्तसाधर्म्यादकृतकत्वेन हेतुना पुरुषस्य नित्यत्वं साधयित्वाकाशेन दृष्टान्तेन उदाहृत्य तदुपनयति—तत्रोपनय इति । दृष्टान्तापेक्षं साध्यसाधर्म्ययुक्ते दृष्टान्ते तदनुसारेण तथेत्युपसंहारो यथा । यथा चाकृतकमाकाशं नित्यं हेत्वादिभिश्चतुर्भिः क्रियते, प्रतिज्ञापि परं प्रति स्थापना भवति । यतः पञ्चावयवमेवानुमानं

अथ प्रतिष्ठापना । प्रतिष्ठापना नाम तस्या एव प्रति-  
ज्ञायाः प्रति विपरीतार्थस्थापना । यथा—अनित्यः पुरुष इति  
विपरीतार्थप्रतिज्ञा, हेतुरेन्द्रियकत्वादिति । दृष्टान्तो यथा—घट  
इति, उपनयो यथा—घट ऐन्द्रियकः स चानित्यस्तथा चायमिति,  
निगमनं तस्मादनित्य इति ॥ २७ ॥

तथा पुरुषोऽकृतक इत्युपसंहारः । ततः किमित्यत आह—निगमनमिति ।  
तत्र निगमनं हेतोरपदेशेनानेन कारणेनैवमित्येवमपदेशेन प्रतिज्ञायाः पुन-  
रुक्तिस्तस्मान्नित्य इति । तस्मादकृतकत्वेत्वाकाशदृष्टान्ततदुपनया इति  
समुदायात् कारणान्नित्यः पुरुष इति स्थापना दृष्टान्तसाधर्म्योपदर्शना ।  
दृष्टान्तवैधर्म्योपदर्शनस्थापना तु प्रदर्श्यते । नित्यः पुरुषोऽकृतकत्वाद्, यथा  
घटः सकृतकोऽनित्यः इति दृष्टान्तवैधर्म्येणाकृतकत्वमिति हेतुः । तद्घट-  
दृष्टान्तापेक्ष उपसंहारस्तूपनय इह । यथा घटः कृतकः स चानित्यो न तथा  
पुरुषः कृतकः तस्मान्नित्यः पुरुष इति निगमनं हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः  
पुनरुक्तिरिति । इति स्थापना दर्शिता ॥ २६ ॥

गङ्गाधरः—अथ प्रतिष्ठापनेति यदुक्तं तद् दर्श्यते—अथ प्रतिष्ठापनेति । एवं-  
वादिना प्रतिष्ठास्थापनायाः कृताया अनन्तरं प्रतिवादिनः प्रतिष्ठापना कार्य्या ।  
कां पुनः प्रतिष्ठापनेत्यत आह—प्रतिष्ठापना नामेत्यादि । तस्याः पूर्वकृताया  
एवं वादिनः प्रतिज्ञायाः प्रतीति विपरीतार्थस्य प्रतिवादिना स्थापना प्रति-  
ष्ठापना नामोच्यते । सापि पूर्ववद् द्विधा । तदुदाहरति—यथेत्यादि । अनित्यः  
पुरुष इति वादिकृताया नित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञाया विपरीतार्थोऽनित्यः  
पुरुष इति प्रतिष्ठा प्रतिवादिनः । तस्याः स्थापना यथा हेत्वादिभिः क्रियते  
तदाह—हेतुरेन्द्रियकत्वादिति । ऐन्द्रियकत्वमिन्द्रियग्राह्यत्वमिति हेतुर्दृष्टान्त-  
साधर्म्यात् । प्रत्यक्षः पुरुषानित्यत्वसाधकः । कः पुनरिह तथाविधो दृष्टान्त  
इत्यत आह—दृष्टान्त इति । यथा घट इति । अनित्यपुरुषस्य साध्यस्य  
साधर्म्यात् तदनित्यत्वधर्मभावी दृष्टान्तो घटश्चैन्द्रियक इत्युदाहरण-

करोति, सा त्विह स्थाप्यत्वेनैव लब्धेति न स्थापनायामिहोदाहृता । 'प्रतिष्ठापना'पदं प्रथमं  
सम्प्रत्यवसरप्राप्त्या प्रतिष्ठापना इति दर्शयति, द्वितीयन्तु प्रतिष्ठापना नामेति तस्या एव  
इत्यादिना धक्ष्यमाणस्य लक्षणस्योपदर्शनार्थम् । एवं स्थापना नामेत्यादावपि पुनरुक्तस्य प्रयोजनं

अथ हेतुः । हेतुर्नामोपलब्धिकारणं, तत्प्रत्यक्षमनुमानम्  
ऐतिह्यमौपम्यमित्येभिर्हेतुभिर्यदुपलभ्यते तत् तत्त्वम् ॥ २८ ॥

साधर्म्येण पुरुषानित्यत्वस्य साधकमैन्द्रियकत्वमिति । कथं साध्यस्य  
दृष्टान्तसाधर्म्यमित्यत आह—उपनय इत्यादि । यथा घट ऐन्द्रियकः स  
चानित्यस्तथा चार्यं पुरुष इति । दृष्टान्तापेक्षस्तथेत्युपसंहारः पुरुषानित्यत्व-  
स्योपनयः । ततः किमित्यत आह—निगमनमिति । किं निगमनमित्यत  
आह—तस्मादनित्यः पुरुष इति निगमनम् । तस्मादिति हेतुपदेशात् ऐन्द्रियकत्वा-  
दिति हेतोरनेन कारणेनैवमिति यथा घट इति दृष्टान्तेन यथा घट ऐन्द्रियकः  
स चानित्यस्तथा पुरुष ऐन्द्रियक इत्येवमपदेशात् तस्या एव प्रतिष्ठाया  
अनित्यस्य पुरुषस्य पुनरुक्तिरिति । इति दृष्टान्ते साध्यसाधर्म्योपदर्शन-  
प्रतिष्ठापना । साध्यवैधर्म्योपदर्शनप्रतिष्ठापना तु दृश्यते । अनित्यः पुरुष  
ऐन्द्रियकत्वात् यथा परमाणुरनैन्द्रियकः स च नित्यः ; यथा च परमाणुरनै-  
न्द्रियकः स च नित्यो, न तथा पुरुषस्तस्मादनित्यः पुरुष इति । तर्हि तद्वक्तुः  
किं न्यूनतेति नाशङ्क्यम् । दृष्टान्तो हि द्विविधः साध्यसाधर्म्यवैधर्म्याभ्यां  
तद्धर्मभाववान् । इति वक्ष्यते ॥ २७ ॥

गङ्गाधरः—ननु हेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनैस्तस्या एव प्रतिष्ठायाः स्थापना  
स्थापनेति यदुक्तम्, तत्र को हेतुः को वा दृष्टान्तः क उपनयः किं निगमनम्  
इत्यतोऽभिहितं हेतुर्दृष्टान्त उपनयो निगमनमिति यत् तत् क्रमेणाह—  
अथ हेतुरिति । अत्र स्थापनायां हेतुः । हेतुर्नामोपलब्धिकारणमिति प्रतिष्ठाया  
उपलब्धिकारणं हेतुर्नामोच्यते न तूत्पत्तिकारणम् । किं किं पुनरुपलब्धि-  
कारणमित्यत आह—तत्प्रत्यक्षमित्यादि । अनुमाने तर्कार्थापत्तिसम्भवा-  
भावानामन्तर्भावः कृतः । ऐतिह्यं लोके वेदे च पारम्पर्योपदेशः । औपम्यम्  
उपमा । प्रतिष्ठास्थापनायामुपनय-रूपावयव-विशेषत्वेनोपलब्धि-हेतुत्वादिह  
वादप्रकरणे पृथगुक्तम् । ननु किमेषामुपलब्धिकारणत्वमिति तदाह—  
एभिर्हेतुभिर्यदुपलभ्यते तत् तत्त्वमिति । यदिति उपलब्धिक्रियाविशेषणम् ।

वाच्यम् । 'प्रतिष्ठापना' पदगतस्य 'प्रति'शब्दस्यार्थं व्याकरोति—विपरीतार्थस्थापनेति 'प्रति'शब्दो-  
ज्यं विपरीतार्थ इत्यर्थः । इयञ्च प्रतिष्ठापना आन्वीक्षिक्यां प्रकरणसमार्थं हेतुदूषणम् ॥ २४—२७ ॥

चक्रपाणिः—हेतुश्चाविनाभावलिङ्गवचनं यद्यपि तथापीह लिङ्गग्रहाहकाणि प्रत्यक्षादिप्रमाणा-  
न्येव यद्योक्तहेतुमूलत्वेन 'हेतु'शब्देनाहेति बोद्धव्यम्, अन्यथा पुनः प्रत्यक्षाद्यभिधानं पुनरुक्तं

अथ दृष्टान्तः । दृष्टान्तो नाम स यत्र मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यं तेनैव यो वर्ण्यं वर्णयतीति । यथाग्निरुष्णो द्रवमुदकं स्थिरा

उपलभेरथस्तु प्रमाबुद्धानुकूलगुणदोषविचारादिव्यापारः । हानोपादानोपेक्षा बुद्धिः प्रमा, फलं तदुपलब्धिकारणं व्यवसायात्मिका निश्चयबुद्धिः प्रत्यक्षादिः । तस्या निश्चयात्मिकाया बुद्धेर्व्यापारो वस्तूनां व्यवसातव्यानां गुणतो दोषतो विचारस्तद्व्यापारवत्त्वात् प्रत्यक्षादिव्यवसायात्मकबुद्धीनां करणत्वं तदेव व्यापारवत्त्वं प्रत्यक्षादीनामुपलब्धिकारणत्वमिति । तद्विचारादिजनकव्यापारवत्त्वादात्मा कर्त्ता । न तु प्रत्यक्षाद्यन्यतमत्वमुपलब्धिकारणत्वं प्रमाणत्वम् । सर्वप्रमाणेष्वसत्त्वात् सामान्यं हि तन्न भवति, प्रमाणत्वं हि सर्वप्रमाणनिष्ठं सामान्यं न तु विशेषः, प्रत्यक्षाद्यन्यतमत्वन्तु विशेष इति । यथा—वह्निमान् पर्वतो धूमादिति प्रत्यक्षो हेतुर्धूमः । अयमातुरो मन्दाग्नित्वादिति जरणशक्त्यानुमितो मन्दाग्निहेतुः । नित्यः पुरुषोऽकृतकत्वादित्यैतिह्यो हेतुरकृतकत्वम् । अस्य मुखं कान्ततमं चन्द्रोपमत्वादित्यौपम्येन हेतुरिति । एतदुपलब्धिकारणचतुष्टयं दृष्टान्तसाधर्म्यवैधर्म्याभ्यां साध्यसाधनमिति । तच्च गौतमेनाप्युक्तम् । उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुस्तथा वैधर्म्यात् । व्याख्यातश्च वात्स्यायनेन । उदाहरणेन सामान्यात् साध्यस्य धर्मस्य साधनं प्रज्ञापनं हेतुः । साध्ये प्रतिसन्धाय धर्ममुदाहरणे च प्रतिसन्धाय तस्य साधनतावचनं हेतुः । अनित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वादिति । उत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टमिति । किमेतावद्धेतुलक्षणमिति नेत्युच्यते । किं तर्हि तथा वैधर्म्यात् । उदाहरणवैधर्म्याच्च साध्यसाधनं हेतुः । कथम् । अनित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात् । अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यं यथात्मादिद्रव्यमिति ॥ २८ ॥

गङ्गाधरः—अथ क्रमिकत्वाद् दृष्टान्तं लक्षयति । अथ दृष्टान्त इत्यादि । यत्र मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यं यो वर्ण्यं वर्णयति स दृष्टान्तो नामोच्यते । यत्र स्यात् । उपलब्धिकारणमिति व्यापकस्य साध्यस्योपलब्धिकारणम् । तत्तत्त्वमिति तल्लिङ्गमित्यर्थः ॥ २८ ॥

चक्रपाणिः—मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यमित्यनेन लौकिकानां पण्डितानाञ्च योऽर्थोऽविवादसिद्धः, स दृष्टान्तो भवति, न पण्डितमात्रसिद्धः । योऽपि लोकशसिद्धो दृष्टान्त उच्यते, स यावन्न प्रतिपाद्यपुरुषं प्रति साध्यते, न तावत् दृष्टान्ततामासादयतीति

पृथिवी आदित्यः प्रकाशक इति, यथा आदित्यः प्रकाशकस्तथा साह्वरं ज्ञानं प्रकाशकमिति ॥ २६ ॥

वर्णनीयेऽर्थे मूर्खा लोकसाम्यमनतीता नैसर्गिकं वैनयिकं बुद्धप्रतिशयमप्राप्ता लौकिका उच्यन्ते तद्विपरीताः परीक्षकाः प्रमाणैरर्थं परीक्षितुं प्रभवन्ति । ते तु विद्वांसः समं बुध्यन्ते तथाविधं वर्णयो वर्णयति स दृष्टान्तः सर्वत्र गृह्यते । तत्र यो दृष्टान्तः साध्यसाधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तद्धर्मभावी स इह स्थापनाप्रतिष्ठापनयोग्याहः । तत्र च यः साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी स दृष्टान्तो, यस्तु साध्यवैधर्म्यात् तद्धर्मभावी स व्यतिरेकी दृष्टान्त इति द्विविध एव दर्शितः । स्थापनाप्रतिष्ठापनाभ्यामन्यत्र यथा दृष्टान्तस्तमुदाहरति । यथाग्निरुष्णः । द्रवमुदकम् । स्थिरा पृथिवी । आदित्यः प्रकाशक इति मूर्खाश्च बुध्यन्ते विद्वांसश्च बुध्यन्ते । तत्र यथादित्यः प्रकाशकस्तथा साह्वरं ज्ञानमिति । आदित्य इति मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यविशिष्टं वर्णं साह्वरं ज्ञानं प्रकाशकमिति वर्णयतीति दृष्टान्त उच्यते । गौतमेनाप्युक्तम् । लौकिक-परीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः । इति । व्याख्यातश्च वात्स्यायनेन । लोकसाम्यमनतीतालौकिकानैसर्गिकं वैनयिकं बुद्धप्रतिशयम् अप्राप्तास्तद्विपरीताः परीक्षकास्तर्केण प्रमाणैरर्थं परीक्षितुमर्हन्तीति । यथायमर्थं लौकिका बुध्यन्ते तथा तं परीक्षका अपि । सोऽर्थो दृष्टान्तः । दृष्टान्त-विरोधेन हि प्रतिपक्षाः प्रतिषेद्धव्या भवन्तीति । दृष्टान्तसमाधिना च स्वपक्षाः स्थापनीया भवन्तीति । अवयवेषु चोदाहरणाय कल्पते इति । स यथोदा-हरणायावयवेषु कल्पते तथोक्तं पुनस्तत्रैव । साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् । व्याख्यातञ्चैतद्वात्स्यायनेन । साध्येन साधर्म्यं समानधर्मता । साध्यसाधर्म्यात् कारणात् तद्धर्म-भावी दृष्टान्त इति । तस्य धर्मस्तद्धर्मः तस्य साध्यस्य । साध्यश्च द्विविधम् । धर्मविशिष्टो वा धर्मो यथा शब्दस्यानित्यत्वम् । धर्मविशिष्टो वा धर्मी, यथा अनित्यः शब्द इति । इहोत्तरं तद्ग्रहणे न गृह्यते । कस्मात् ? पृथग्धर्मवचनात् । तस्य धर्मस्तद्धर्मस्तस्य भावस्तद्भावः, स यस्मिन् दृष्टान्ते वर्तते स दृष्टान्तः साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी भवति, स चोदाहरणम् भावः । अथ बुद्धिसाम्यमात्रे न साध्यसाधर्म्यभावादिष्टत्वात् दृष्टान्तो भवतीत्याह—यो वर्णं वर्णयति यः साध्यं साधयतीत्यर्थः । प्रसिद्धसाध्यसाधनसम्बन्धश्च दृष्टान्तः साध्यं साधयतीति भावः ।



उपनयो निगमनश्चोक्तं स्थापनाप्रतिष्ठापनाव्याख्यायाम् ॥३०॥

इष्यते । तत्र यदुत्पद्यते तदुत्पत्तिधर्मकम् । तच्च भूत्वा न भवति, आत्मानं जहाति निरुध्यते इत्यनित्यम् । एवमुत्पत्तिधर्मकं साधनम्, अनित्यत्वं साध्यम् । योऽयमेकस्मिन् द्वयोर्धर्मयोः साध्यसाधनभावः साधर्म्यादव्यवस्थितम् उपलभ्यते । तं दृष्टान्ते उपलभमानः शब्दोऽप्यनुमिनोति । शब्दोऽप्युत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः, स्थाल्यादिवदित्युदाहरियते । तेन धर्मयोः साध्यसाधनभाव इति । उदाहरणं तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् । उदाहरणमिति प्रकृतम् । साध्यवैधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्तो वा विपरीतमुदाहरणमिति । अनित्यः शब्दः, उत्पत्तिधर्मकत्वात् । यथाऽनुत्पत्तिधर्मकं नित्यमात्मादि । सोऽयम् आत्मादिदृष्टान्तः साध्यवैधर्म्यादनुत्पत्तिधर्मकत्वात् तद्धर्मभावी । योऽसौ साध्यस्य धर्मोऽनित्यत्वं शब्दस्य स तस्मिन् भवतीति । अत्रात्मादौ दृष्टान्ते उत्पत्तिधर्मकत्वस्याभावादनित्यत्वं न भवतीत्युपलभमानः शब्दे विपर्ययम् अनुमिनोति । उत्पत्तिधर्मकत्वस्य भावादनित्यः शब्द इत्युदाहरणसाधर्म्योक्तस्य हेतोः साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् । उदाहरणवैधर्म्योक्तस्य हेतोः साध्यवैधर्म्याच्च तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् । पूर्वस्मिन् दृष्टान्ते यौ धर्म्यौ साध्यसाधनभूतौ पश्यति, साध्येऽपि तयोः साध्यसाधनभावमनुमिनोति । उत्तरस्मिन् दृष्टान्ते ययोर्धर्मयोरेकस्याभावादितरस्याभावं पश्यति, तयोरेकस्याभावादितरस्याभावं साध्येऽप्यनुमिनोति, तदेतद्वेत्ताभासेषु न सम्भवतीति । अहेतवो हेत्वाभासास्तदिदं हेतूदाहरणयोः सामर्थ्यं परमसूक्ष्मं दुःखबोधं पण्डितैरुपवेदनीयमिति ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः—क्रमिकत्वादुपनयनिगमने आह—उपनय इत्यादि । स्थापनाव्याख्यायामुपनयो निगमनश्चोक्तम् । यथा नित्यः पुरुषोऽकृतकत्वात्, यथाकाशम् । उपनयो यथा चाकृतकमाकाशं तच्च नित्यं तथा पुरुष इति । निगमनं तस्मान्नित्य इति । प्रतिष्ठापनाव्याख्यायाश्चोपनयो निगमनश्चोक्तम् । यथा अनित्यः पुरुष ऐन्द्रियकत्वात् । दृष्टान्तो यथा घटः । उपनयो यथा घटऐन्द्रियकः, स चानित्यस्तथाचायमिति । निगमनं तस्मादनित्य इति । इत्येवं व्याख्यानेन ज्ञापितमिदं साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभाविदृष्टान्तापेक्षस्तथेत्युपसंहारः साध्यस्य अग्नयादयश्च लोकप्रसिद्धत्वेनोदाहृताः । तेन एतेषामपि साध्यसाधनोदाहरणमादित्यादिवत् कचिद् द्वन्द्वेऽयमयमिवेति दर्शयति ॥ २९।३० ॥

उपनयः । साध्यवैधर्म्यात् तद्धर्मभाविदृष्टान्तापेक्षो न तथेत्युपसंहारश्च साध्य-  
 स्योपनय इति । गौतमेनाप्युक्तम् । उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा  
 साध्यस्योपनय इति व्याख्यातश्च वात्स्यायनेन । उदाहरणापेक्ष उदाहरणतन्त्र उदा-  
 हरणवशः । वशः सामर्थ्यम् । साध्यसाधर्म्ययुक्ते खलूदाहरण स्थाल्यादिद्रव्यम्  
 उत्पत्तिधर्मकत्वमनित्यत्वञ्च दृष्टम् । तथा शब्द उत्पत्तिधर्मक इति साध्यस्य  
 शब्दस्योत्पत्तिधर्मकत्वमुपसंह्रियते । साध्यवैधर्म्ययुक्त पुनरुदाहरणे आत्मादि-  
 द्रव्येऽनुत्पत्तिधर्मकत्वम् । नित्यत्वञ्च दृष्टम् । न च तथा शब्द इति अनुत्पत्तिधर्म-  
 कत्वस्य प्रतिषेधेनोत्पत्तिधर्मकत्वमुपसंह्रियते । तदिदमुपसंहारद्वैतमुदाहरणद्वैतं  
 भवति । उपसंह्रियतेऽनेनेत्युपसंहारो वेदितव्य इति । द्विविधस्य हेतोर्द्विविध-  
 स्योदाहरणस्योपसंहारद्वैतश्च समानमिति । अथ निगमनञ्चोक्तं यत् तस्मान्नित्य  
 इति स्थापनायां तस्मादनित्य इति प्रतिष्ठापनायां ताभ्यामेवं ज्ञापितम् । यद्वैतप-  
 देशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं तन्निगमनमिति । गौतमेनाप्येवमुक्तम् । हेत्वप-  
 देशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनमिति । व्याख्यातश्च वात्स्यायनेन ।  
 साधर्म्योक्ते वैधर्म्योक्ते वा यथोदाहरणमुपसंह्रियते । तस्मादुत्पत्तिधर्म-  
 कत्वादनित्यः शब्द इति निगमनम् । निगम्यन्तेऽनेनेति प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोप-  
 नया एकत्रेति निगमनमिति । निगम्यन्ते समर्थ्यन्ते संबध्यन्ते । तत्र  
 साधर्म्योक्ते तावद्धेतौ वाक्यम् । अनित्यः शब्दः इति प्रतिज्ञा । उत्पत्तिधर्म-  
 कत्वादिति हेतुः । उत्पत्तिधर्मकं स्थाल्यादिद्रव्यमित्युदाहरणम् । तथा  
 चोत्पत्तिधर्मकः शब्द इत्युपनयः । तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्द इति  
 निगमनम् । वैधर्म्योक्तेऽपि अनित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात् । अनुत्पत्ति-  
 धर्मकमात्मादिद्रव्यं नित्यं दृष्टं, न च तथानुत्पत्तिधर्मकः शब्द इत्युपनयः  
 तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्द इति । अवयवसमुदाये च वाक्ये  
 सम्भूयेतरेतराभिसम्बन्धात् प्रमाणान्यर्थं साधयन्तीति । सम्भवस्तावत् शब्द-  
 विषया प्रतिज्ञा । आप्तोपदेशस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रतिसन्धानात् । अनुपेक्ष  
 स्वातन्त्र्यानुपपत्तेः अनुमानं हेतुः उदाहरणे सादृश्यप्रतिपत्तेः । तत्रोदाहरणं  
 भाष्ये व्याख्यातम् । प्रत्यक्षविषयमुदाहरणम्, दृष्टेनादृष्टसिद्धेः । उपमान-  
 मुपनयस्तथेत्युपसंहारात् न च तथेत्युपमानधर्मप्रतिषेधे विपरीतधर्मोप-  
 संहारसिद्धेः । सर्व्वेषामेकार्थप्रतिपत्तौ सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति । इत-  
 रेतराभिसम्बन्धोऽपि । असत्यां हि प्रतिज्ञायामनाश्रया हेत्वादयो न प्रवर्त्तेरन् ।  
 असति हेतौ कस्य साधनभावः प्रदर्श्यते । उदाहरणे साध्ये च कस्योपसंहारः

स्यात् । कस्य चापदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनं स्यादिति । असत्यु-  
दाहरणे केन साधर्म्यं वैधर्म्यं वा साध्यसाधनमुपादीयेत । कस्य वा साधर्म्ये-  
वैधर्म्यवशादुपसंहारः प्रवर्त्तते । उपनयश्चान्तरेण साध्येऽनुपसंहृतः साधको  
धर्मो नार्थं साधयेत् । निगमनाभावे चानभिव्यक्तसन्धानानां प्रतिज्ञादीना-  
मेकार्थेन प्रवर्त्तनम् । तथेति प्रतिपादनं कस्येति । अथावयवार्थः साध्यस्य धर्मस्य  
धर्मिणा सम्बन्धोपादानं प्रतिज्ञायेः । उदाहरणेन समानस्य विपरीतस्य वा  
धर्मस्य साधकभाववचनं हेत्वर्थः । धर्मयोः साध्यसाधनभावप्रदर्शनमेकत्र  
उदाहरणार्थः । साधनभूतस्य धर्मस्य साध्येन धर्मेण सामानाधिकरण्योप-  
पादनमुपनयार्थः । उदाहरणस्थयोर्धर्मयोः साध्यसाधनभावोपपत्तौ साध्ये  
विपरीतप्रसङ्गप्रतिषेधार्थं निगमनम् । न चैतस्यां हेतूदाहरणविशुद्धौ सत्यां  
साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाच्च । इति निग्रहस्थानबहुत्व  
प्रक्रमते । अव्यवस्थाप्य खलु साध्यसाधनभावमुदाहरणे जातिवादी प्रत्यव-  
तिष्ठते । व्यवस्थिते तु खलु धर्मयोः साध्यसाधनभावे दृष्टान्तस्थे गृह्यमाणे  
साधनभूतस्य धर्मस्य हेतुत्वेनोपमानं न साधर्म्यमात्रस्य न वैधर्म्यमात्रस्य  
वेति । प्रतिज्ञासाध्यवचनमित्युक्त्वा अथ स्थापना, स्थापना नाम तस्या एव प्रति-  
ज्ञाया हेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनैः स्थापनेति वचनेन स्थापितं वादिनोर्वाद्वाक्यस्य  
प्रतिज्ञादयः पञ्चैवावयवा न त्वधिका इति । तत्रैके त्वाहुर्वादिनोर्वाद्वाक्यस्य  
ते च प्रतिज्ञादयः पञ्च पञ्च चापरे जिज्ञासासंशयशक्यप्राप्तिप्रयोजनसंशय-  
व्युदासा दशैतेऽवयवा भवन्ति । जिज्ञासा ह्यप्रतीयमानेऽर्थे संशयिते च प्रवर्त्तिका ।  
योऽर्थस्त्वप्रतीयमानः संशयितो वा तमर्थं ज्ञातुमिच्छति तत्त्वतो हि ज्ञात्वा तमर्थं  
हास्यति वोपादास्यति वोपेक्षिष्यते वेति । हानोपादानोपेक्षान्यतमा बुद्धिः  
तत्त्वज्ञानाद्भवति । तदर्थं जिज्ञासते । संशयश्च जिज्ञासाधिष्ठानम् । यत्रार्थे  
संशयः स्यात् तमर्थं जिज्ञासते । शक्यप्राप्तिश्च प्रमातुः प्रमेयार्थाधिगमार्थं  
प्रमाणानि । प्रयोजनं तत्त्वावधारणमधारणतो हि हेयं जहाति वोपादेयमुपादत्ते  
वोपेक्ष्यं वोपेक्षते । संशयव्युदासः प्रतिपक्षोपवर्णनं तत् प्रतिषेधार्थं भवति ।  
इति । अत्र सिद्धान्त उक्तो वात्स्यायनेन । प्रतिज्ञादयः पञ्चैवार्थसाधक-  
त्वाद् वादिनोर्वादे साधकवाक्यस्यावयवा भागा एकदेशा इत्यनर्थान्तरम् । न तु  
जिज्ञासादयः साधकवाक्यस्यावयवाः अर्थसाधकत्वाभावात् । जिज्ञासा ह्यप्रतीय-  
मानस्यार्थस्य संशयितस्य च पदार्थस्य प्रत्ययार्थं प्रवर्त्तिका न तु साधिका ।  
तस्मात् साधकवाक्यस्य नावयवः । संशयोऽपि व्याहतधर्मोपघातार्थं तत्त्व-

अथोत्तरम् । उत्तरं नाम साधर्म्योपदिष्टे हेतौ वैधर्म्यवचनम्,  
वधर्म्योपदिष्टे वा हेतौ साधर्म्यवचनम् । यथा हेतुसधर्माणो  
विकाराः, शीतकस्य हि व्याधेर्हेतुभिः साधर्म्यं हिमशिशिरवात-  
संस्पर्शा इति ब्रुवतः परो ब्रूयात्—हेतुविधर्मो विकाराः,

प्राने प्रत्यासन्नो न त्वर्थस्य साधक इति तस्मान्नावयवः । शक्यप्राप्तिः प्रमाणानि  
प्रमातुः प्रमेयाधिगमार्थं न तु वादिनोर्वादे साधकस्य वाक्यस्य भागरूपेण  
युज्यते प्रतिज्ञादिवदिति तस्मात् शक्यप्राप्तिर्नावयवः । प्रयोजनञ्च तत्त्वाव-  
धारणमर्थसाधकस्य वाक्यस्य फलं नैकदेशस्तस्मात् साधकवाक्यस्य नावयव  
इति । संशयव्युदासश्च प्रतिपक्षोपवर्णनं वादिना तत्प्रतिपक्षेन तत्त्वज्ञानाभ्य-  
नुज्ञाकरणार्थं न तु साधकवाक्यार्थसाधनार्थं तस्मान्न साधकवाक्यस्यैकदेश  
इत्यतः पञ्चैव प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवा इति गौतमेनोक्त-  
मिति । इति स्थापना प्रतिष्ठापना च व्याख्याता भवति ॥ ३० ॥

गङ्गाधरः—नन्वेवं वादिप्रतिवादिभ्यां हेत्वादिभिः स्वस्वप्रतिज्ञायां स्थापि-  
तायां सत्यां किं कार्यमित्यत उक्तम् उत्तरमिति यत् तदुच्यते—अथोत्तर-  
मिति । वादिप्रतिवादिभ्यां स्वस्वपक्षं हेत्वादिभिः स्थापयित्वा पुनरुत्तरं  
कार्यम् । तत् कीदृशमित्यत आह—उत्तरं नामेत्यादि । प्रतिवादिना  
प्राधर्म्योपदिष्टे हेतौ कार्यस्य साधर्म्योपदिष्टे हेतौ सति वैधर्म्यवचनं  
कार्यवैधर्म्येण हेतोर्वचनमुत्तरं नाम । तथा वैधर्म्योपदिष्टे वा हेतौ  
कार्यस्य वैधर्म्योपदिष्टे हेतौ सति साधर्म्यवचनं कार्यस्य साधर्म्येण  
हेतोर्वचनमुत्तरं नामोच्यते । उदाहरति—यथेत्यादि । हेतुसधर्माणो विकारा  
इति वादिना साधर्म्योक्तो हेतुः प्रदर्श्यते । शीतकस्येत्यादि । हि यस्मात् ।  
शीतकस्य शीतनिमित्तकस्य व्याधेः शीतलैर्हेतुभिः समानधर्मा हिमशिशिर-  
वातसंस्पर्शा वृद्धिहेतव इति ब्रुवता वादिनः परः प्रतिवादी ब्रूयात्

चक्रपाणिः—उत्तरमित्यादि । ‘उत्तर’शब्देनेह जात्युत्तरमुत्तराभासमीप्सितम् । यतो-  
ऽसाधकसाधर्म्यमात्रप्रत्यवस्थानमेवोत्तरविवरणे दर्शयिष्यति । उक्तञ्च न्याये—‘साधर्म्यवैधर्म्योभ्यां  
प्रत्यवस्थानं जातिः’ इति, एतच्च साधर्म्यवैधर्म्योर्वाहरणार्थम् । तेन न्यायोक्ता जात्युत्तर-उत्कर्षोप-  
कार्यसमुदया अप्यनुक्ता इहैवानुबोद्धव्याः । हेतुसधर्म्येण इति हेतुसदृशाः । शीतकः शीतम्,  
हिमशिशीशरवातगताः संस्पर्शाः । शीतस्य हेतुभिः साधर्म्यमिति कृत्वा-योजना । तेन हिमादीनां

यथा शरीरावयवानां दाहौष्ण्यकोथप्रपचने हेतुभिर्वैधर्म्यं हिम-  
शिशिरवातसंस्पर्शा इत्येतत् सविपर्ययमुत्तरम् ॥ ३१ ॥

अथ सिद्धान्तः । सिद्धान्तो नाम स यः परीक्षकैर्बहुविधं  
परीक्ष्य हेतुभिः साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः । स तु चतुर्विधः ;

हेतुविधर्म्याणो विकारा इति । कथमित्यत आह—यथेत्यादि । शरीरावयवानां  
दाहौष्ण्ययोः ये हेतवस्तैर्हेतुभिर्वैधर्म्यमुष्णनिमित्तस्य व्याधेर्वृद्धेः प्रशमनहेतवो  
हिमशिशिरवातसंस्पर्शा इति । साधर्म्योक्ते हेताबुदाहृत्योत्तरं वैधर्म्योक्ते  
हेताबुत्तरमुदाहरति । एतत् सविपर्ययमुत्तरमिति । हेतुविधर्म्याणो विकारा  
इत्युक्ते हेतुसधर्म्याणो विकारा इत्युत्तरं सविपर्ययमिति । तथा च वादे ।  
नित्यः पुरुषोऽकृतकत्वादित्युक्ते वादिना परो ब्रूयात् यथा घटः । यथा  
घटः कृतकः स चानित्यो न तथा पुरुषस्तस्मान्नित्य इति ॥ ३१ ॥

गङ्गाधरः—इत्येवमुत्तरे प्रोक्ते वादिभ्यां किं कार्यमित्यत उक्तम्—सिद्धान्त  
इति यत् तत् प्रोच्यते—अथ 'सिद्धान्त इति । उत्तरानन्तरं सिद्धान्तः  
कार्य इति । कः पुनः सिद्धान्त इत्यत आह—सिद्धान्तो नामेत्यादि ।  
परीक्षकैर्हेतुभिर्वहुविधं वाद्यमर्थं परीक्ष्य साधयितुं यो निर्णयः स्थाप्यते स  
सिद्धान्तो नामोच्यते । निर्णयश्चोक्तो गौतमेन । विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्याम्  
अर्थावधारणं निर्णयः इति । स्थापनाप्रतिषेधौ यौ तौ साधनोपालम्भा-  
बुच्येते तौ पक्षप्रतिपक्षाश्रयौ व्यतिपक्तौ परस्परसंसक्तौ खल्वनुबन्धेन  
प्रवर्त्तमानौ पक्षप्रतिपक्षाबुच्येते । ताभ्यामर्थावधारणं तयोरेकतरस्य निवृत्ति-  
हेतुप्रदर्शनेनैकतरस्यावस्थानं यस्यावश्यम्भावि स्यादवस्थानं स निर्णय इति ।

हेतूनां ये शीतस्पर्शास्ते शीतकेऽपीति, संस्पर्शाः साधर्म्यं हेतुविकारयोरिति । परो ब्रूयादिति  
प्रतिवादी वदेत् । दाहौष्ण्यकोथप्रपचने विकारे इति शेषः, हेतुवैसादृश्यं हेतुवैधर्म्यम् । हिमादि-  
संस्पर्शाः हिमादिजन्यशरीरावयवदाहादिविकारस्पर्शे उष्णे विसदृशा इति वाक्यार्थः । एवं तावत्  
वैधर्म्योक्ते हेतौ विपर्ययाद् यदा हेतुसाम्यमुत्तरं क्रियते, तदा विपर्ययो भवति । एवमेवोदाहरण-  
द्वयं सविपर्ययं सम्पूर्णमुत्तरं भवतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

चक्रपाणिः—साध्यसाधनोदाहरणेन बहुविधं परीक्षितं हेतुभिः साधयित्वा स्थाप्यत इत्यस्य  
विवरणम्—निर्णय इति । निर्णयत इति निर्णयः । एतच्च सिद्धान्तलक्षणमभ्युपगमसिद्धान्ते  
नास्ति । तेन तत्र बुद्धिच्यवस्थितत्वेन चोक्तं सिद्धान्तं ज्ञेयम् । सिद्धान्तं विभजते—स चेत्यादि ।

नन्वेव तद्धि कथं निर्णयः स्यात् । एको हि स्वप्रतिष्ठातार्थं हेत्वादितः स्थापयति परप्रतिपिद्धञ्चोद्धरति । तथैव प्रतिवादी च स्वप्रतिष्ठातमर्थं हेत्वादिभिः स्थापयति चादिप्रतिपिद्धञ्चोद्धरतीति । तत्राह—विमृश्येति विमर्गं कृत्वा पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं यद्भवति द्वयोरेकतरस्य निवृत्तिरन्यतरस्यावस्थानमथवोभयस्यावस्थानमथवोभयस्य निवृत्तिः स निर्णयः । तत्रेयं युक्तिः । एकस्य सम्भवोऽपरस्यासम्भवः प्रमाणैर्य उपपद्यते तौ सम्भवासम्भवौ विमर्गं निवर्त्तयतः । सम्भवपक्षोऽवतिष्ठते, असम्भवपक्षो निवर्त्तते, इति भवति स च सिद्धान्तः । यत्रोभयस्य सम्भवोऽसम्भवो वा तत्र विमर्शो न निवर्त्तते । तत्र पुनर्विमर्गः पक्षप्रतिपक्षाभ्यां द्योत्यं न्यायं पुनः प्रवर्त्तयतीति तथा विमर्गेन धर्मिसामान्यगतौ विरुद्धौ धर्मौ यथा पुरुषो नित्यश्चानित्यश्च हेतुतः सम्भवति । यः खलु पुरुषो जायते देवनरादिरूपेण स नित्यः । यश्च देवनरादिरूपः पुरुषः सोऽनित्य इति तत्र समुच्चयः । नित्यश्चानित्यश्च पुरुष इति निर्णयः सिद्धान्तः । यत्रैकधर्मिस्थौ विरुद्धौ धर्मौ सम्भवासम्भवौ यथा कश्चिदहं घटो नित्यस्ताद्रूपेण सिद्धत्वादिति । परश्चाह अनित्यो घटस्तत्तद्रूपेण जातत्वात् । तत्र विमर्गेन पक्षप्रतिपक्षाभ्यामवधार्यते, योऽयं घटो जायते स पुनर्न जनिष्यते नश्यति च तस्मादनित्यो न नित्य इति । एवमेकस्य निवृत्तिरपरस्यावस्थितिर्निर्णयः सिद्धान्तः । एवं क्रियावद्द्रव्यमिति लक्षणवचने कणादोक्ते क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणमिति वचने । यस्य द्रव्यस्य स्वभावसिद्धस्य पृथिव्यप्तेजोवायुमनसः क्रियायोगो हेतुतः सम्भवति तत् क्रियावद्भवति । यस्यात्मकालदिगाकाशस्य न सम्भवति क्रियायोगस्तदक्रियमिति द्रव्याख्यैकधर्मिस्थयोर्विरुद्धयोः सक्रियत्वनिष्क्रियत्वयोः अयुगपद्भाविनोः कालविकल्पः । स्वरूपः प्रसिद्धिकाले नवसु द्रव्येषु मनः-पृथिव्यादिपञ्चकं सक्रियमात्मादिचतुष्कमक्रियम् । कार्यारम्भकाले तु पञ्चानां सक्रियाणां चतुर्भिरक्रियैः सह संयोगे तेषां क्रियाभिः पुनःपुनः संयोग-विभागाभ्यां नवानामेव पञ्चानां भूतानामन्योन्यानुप्रवेशादन्योन्यानुग्रहादाकाशः सक्रियः स्यात् । नित्यमनोऽनुबन्ध आत्मा मनसः क्रिययोपचरितो रथो गच्छतीतिवत् सक्रियः स्यात् । दिक्कालौ च भूतानुप्रविष्टौ तेषां क्रियाभिरुपचरितौ सक्रियौ भवत इति क्रियागुणवत्समवायिकारणं नवैव द्रव्याणि सम्भवन्तीति कालो विकल्प्यते । अथैक आहुः—वह्निर्मधुरः पाञ्चभौतिकत्वात्, यथेक्षुः । यथेक्षुः पाञ्चभौतिको मधुरश्च तथा वह्निः पाञ्चभौतिकस्तस्मान्मधुर इति ।

सर्वतन्त्रसिद्धान्तः प्रतितन्त्रसिद्धान्तोऽधिकरणसिद्धान्तोऽभ्युप-  
गमसिद्धान्त इति ।

तत्र सर्वतन्त्रसिद्धान्तो नाम तस्मिंस्तस्मिन् सर्वस्मिंस्तन्त्रे  
प्रसिद्धम् । सन्ति निदानानि, सन्ति व्याधयः, सन्ति सिद्धुपायाः

अपरस्त्वाह—वह्निर्मलस्तेजोऽम्बुबहुलपञ्चभूतात्मकत्वात्, यथा तित्तिङ्गी ।  
यथा च तित्तिङ्गी तेजोऽम्बुबहुलपञ्चभूतात्मिका सा चाम्ला तथा वह्निस्तेजोऽम्बु-  
बहुलपञ्चभूतात्मकस्तस्मादम्ल इति । इत्युभाभ्यां पक्षाभ्यां प्रमाणैर्विमृश्याव-  
धाय्यते वह्निर्न मधुरो नाम्लः इति स निर्णयः सिद्धान्तः । अत्रेदमवधातव्यं  
प्रत्यक्षेऽर्थावधारणं निर्णयः परीक्षाविषये तु विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थाव-  
धारणं निर्णयः । शास्त्रवादे च विमर्शवज्जं पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं  
निर्णय इति । सिद्धान्तः कतिविध इत्यत आह—स तु चतुर्विध इत्यादि ।  
चातुर्विध्यं । सिद्धान्तस्याह—सर्वेत्यादि । सर्वतन्त्रसिद्धान्तः प्रतितन्त्र-  
सिद्धान्तोऽधिकरणसिद्धान्तोऽभ्युपगमसिद्धान्त इतीति । गौतमेनाप्युक्तम्—  
तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्त इति । वात्स्यायनेन व्याख्यातञ्च ।  
इदमित्थम्भूतञ्चेत्यभ्यनुज्ञाय मानमर्थजातं सिद्धम् । सिद्धस्य संस्थितिः सिद्धान्तः  
संस्थितिरित्थम्भावव्यवस्था धर्मनियमः, स च पक्षप्रतिपक्षाभ्यामवधारणं स  
खल्वयं तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः । तन्त्रार्थसंस्थितिस्तन्त्र-  
संस्थितिः । तन्त्रमितरेतराभिसम्बद्धस्यार्थसमूहस्योपदेशः शास्त्रम् । अधि-  
करणानुपक्तार्थसंस्थितिरधिकरणसंस्थितिः । अभ्युपगमसंस्थितिरनवधारितार्थ-  
परिग्रहस्तद्विशेषपरीक्षणायाभ्युपगमसिद्धान्तः । तन्त्रभेदात् तु स खलु  
चतुर्विधः । सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तराभावात् इति ।  
तत्रैताश्चतस्रः संस्थितयोऽनर्थान्तरभूता इति ।

अथ क्रमेण तानाह—तत्र सर्वतन्त्रसिद्धान्तो नामेत्यादि । तस्मिंस्तस्मिन्  
सर्वस्मिंस्तन्त्रे तत् तत् प्रसिद्धं यद् यत् स सर्वतन्त्रसिद्धान्तो न तु  
एकैकस्मिन् प्रसिद्धं यद् यदिति । गौतमेनाप्युक्तम् । सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रे-  
ऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्त इति । व्याख्यातं वात्स्यायनेन । यथा  
घ्राणादीनीन्द्रियाणि गन्धादय इन्द्रियार्थाः पृथिव्यादीनि भूतानि प्रमाणैरर्थस्य  
ग्रहणमिति । स्वयमुदाहरति । सन्तीत्यादि । सन्ति निदानानि । इत्येवमादिः

साध्यानां व्याधीनामिति । प्रतितन्त्रसिद्धान्तो नाम तस्मिन्  
 तस्मिन्नेकैकस्मिंस्तन्त्रे तत्तत् प्रसिद्धम् । यथा अन्यत्राष्टौ रसाः  
 षडत्र रसाः, पञ्चेन्द्रियाण्यत्र अन्यत्र षडिन्द्रियाणि तन्त्रे ।  
 वातादिकृताः सर्वे विकारा यथात्रान्यत्र वातादिकृता भूतकृताश्च  
 प्रसिद्धाः । अधिकरणसिद्धान्तो नाम स यस्मिन्नधिकरणे  
 प्रस्तूयमाने सिद्धान्यन्यान्यपि अधिकरणानि भवन्ति । यथा न  
 सर्वस्मिन्नायुर्वेदतन्त्रे प्रसिद्धः । इति सर्वतन्त्रसिद्धान्तः । प्रतितन्त्रसिद्धान्तो  
 नामेत्यादि । तस्मिंस्तस्मिन्नेकैकस्मिंस्तन्त्रे यद् यत् प्रसिद्धं तत् तत् प्रतितन्त्र-  
 सिद्धान्तः । तदुदाहरति । अन्यत्रायुर्वेदतन्त्रेऽष्टौ रसा मधुराम्ललवणकटुतिक्त-  
 कषायाव्यक्तक्षारा इति तत्र सिद्धाः । अत्र तन्त्रे षड्रसा मधुराम्ललवण-  
 कटुतिक्तकषाया इति सिद्धाः । गौतमेनाप्युक्तम्—समानतन्त्रसिद्धः पर-  
 तन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्त इति । व्याख्यातश्च वात्स्यायनेन । यथा  
 नासत आत्मलाभः । न सत आत्महानम् निरतिशयाश्चेतनाः । देहेन्द्रियमनःसु  
 विषयेषु तत्तत्कारणेषु च विशेषा इति साङ्ख्यानम् । पुरुषकम्पेनिमित्तो भूतसर्गः,  
 कर्मदेतवो दोषाः पृथक्स्वगुणविशिष्टाश्चेतना असदुत्पद्यते उत्पन्नं निरुध्यते  
 इति योगिनामिति । एतच्चरकतन्त्रसमानतन्त्रसिद्धाः षड्रसाः पञ्चेन्द्रियाणि  
 वातादिकृताः सर्वे रोगाः प्रसिद्धाः । परतन्त्रासिद्धास्तत्र तत्र परतन्त्रेऽष्टौ रसाः  
 षडिन्द्रियाणि वातादिकृता भूतकृताश्च सर्वे रोगा इति प्रतितन्त्रसिद्धान्तः ।  
 अथाधिकरणसिद्धान्तो नामेत्यादि । यस्मिन्नधिकरणे प्रस्तूयमानेऽन्यान्यप्य-  
 धिकरणानि सिद्धानि भवन्ति, सोऽधिकरणसिद्धान्तः । गौतमेनोक्तञ्च—यत्-  
 सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्त इति । व्याख्यातश्च वात्-  
 स्यायनेन । यस्यार्थस्य सिद्धावन्येऽर्था अनुपपद्यन्ते, न तैर्विना सोऽर्थः सिध्यति,  
 तेऽर्था यदधिष्ठानाः सोऽधिकरणसिद्धान्तः । यथा देहेन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाता  
 दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणादिति । अत्रानुपपत्तिर्नोऽर्था इन्द्रियनानात्वं नियत-  
 विषयाणीन्द्रियाणि स्वविषयग्रहणलिङ्गानि ज्ञातुर्ज्ञानसाधनानि । गन्धादि-  
 गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं गुणाधिकरणम् नियतविषयाश्चेतना इति पूर्वार्थसिद्धावेते-  
 प्रतितन्त्रसिद्धान्ते षड्रसा अष्टौ रसा इति परस्परविरुद्धेऽपि वादे स्वयुक्तिवस्थापनबलात् तु  
 सिद्धान्तत्वं ज्ञेयम् । यस्मिन्नित्यादौ अधिकरणे इत्यभिधेयप्रधानत्वे । अन्यान्यपीति साक्षादन-



मुक्तः कर्मानुबन्धिकं कुरुते निःस्पृहत्वादिति प्रस्तुते सिद्धाः  
 कर्मफलमोक्षपुरुषप्रेत्यभावाः स्युः । अभ्युपगमसिद्धान्तो नाम  
 सं यमर्थमसिद्धमपरीक्षितमनुपदिष्टमहेतुकं वा वादकालेऽभ्युप-  
 गच्छन्ति भिषजः । तद् यथा—द्रव्यं प्रधानमिति कृत्वा  
 वक्ष्यामः । गुणः प्रधानमिति कृत्वा वक्ष्यामः, कर्म प्रधानमिति  
 कृत्वा वक्ष्यामः, इत्येवमादिश्वतुर्विधः सिद्धान्तः ॥ ३२ ॥

ऽथाः सिध्यन्ति । न तैर्विना सोऽर्थः सिध्यतीति । स्वयञ्चोदाहरति ।  
 यथेत्यादि । मुक्त आनुबन्धिकं कर्म न कुरुते निःस्पृहत्वादिति पूर्वं प्रस्तुते  
 अर्थेऽनुपज्ञिण एते कर्मफलमोक्षपुरुषप्रेत्यभावाः सिद्धा भवन्ति । न चैतैर्विना  
 मुक्त आनुबन्धिकं कर्म न कुरुते इत्येपोऽर्थो न सिध्यतीत्यत्यधिकरण-  
 सिद्धान्तः । अथाभ्युपगमसिद्धान्तो नामेत्यादि । यमर्थमसिद्धमपरीक्षितमनुप-  
 दिष्टं गुरुणाऽथाहेतुकं वा वादकालेऽभ्युपगच्छन्ति भिषजः सोऽर्थोऽभ्युपगम-  
 सिद्धान्तः । तद्व्यथेत्यादिनोदाहरति । द्रव्यं प्रधानं कृत्वा वक्ष्याम इत्यादि ।  
 गौतमेनाप्युक्तम्—अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः ।  
 इति । व्याख्यातश्च वात्स्यायनेन । यत्र किञ्चिदथेजातमभ्युपगम्यते, अस्तु  
 द्रव्यं शब्दः । स तु नित्योऽथानित्य इति । द्रव्यस्य सतो नित्यतानित्यता  
 वा तद्विशेषः परीक्ष्यते । सोऽभ्युपगमसिद्धान्तः । स्वबुद्धप्रतिशयचिरव्याप-  
 यिषया परबुद्धप्रवक्षानाच्च वादिना यदश्रुतादिकं तद्वक्तुं प्रवर्तते इति । इति  
 चतुर्विधः सिद्धान्त उक्तः ॥ ३२ ॥

भिधीयमानान्यपि । अनुवन्तातीति अनुबन्धिकं जन्मान्तरेऽप्यनुगामीत्यर्थः । मुक्त इति प्रत्या-  
 सन्नमुक्तिः, सर्वथा मुक्तस्त्वशरीरत्वात् कर्म न करोति । किंवा अनुबन्धिकं विशेषेणेति ।  
 सिद्धा इत्यादि । यदीह कर्मफलं न स्यात्, तदा मुमुक्षुणापि क्रियते कर्मफलोद्विग्नो ह्ययं न  
 तत् कर्म करोति । यदि च मोक्षो न स्यात् तदा 'मुक्तः' इति वचनं न स्यात्, तथा यदि च  
 पुरुषो न स्यात्, तदा कस्य वा बन्धः कस्य वा मोक्षः स्यात्, तदा 'कर्मणो' जन्मान्तरानुबन्धित्व-  
 मनुपपन्नं स्यादिति न युक्तमिति वदता अधिकरणबलादेव सिद्धाः सिद्धान्तत्वेन कर्मफलादयः  
 स्वीकृता भवन्ति । असिद्धमित्यस्य विवरणम्—अपरीक्षितमित्यादि ॥ ३२ ॥

अथ शब्दः । शब्दो नाम वर्णसमाम्नायः, स चतुर्विधः,

गङ्गाधरः—ननु सिद्धान्ते सति वादिनोः किं कार्यमित्यतो वादो हि शब्दात्मकेन वाक्येन क्रियते शब्दस्तर्हि ज्ञातव्य इत्यतः शब्द इति यदुक्तं तदाह—अथ शब्द इति । अथ वाक्यज्ञानार्थं शब्दो ज्ञातव्यस्तत्र कः पुनः शब्दो ध्वन्यात्मको वर्णात्मको वेत्यत आह—शब्दो नाम वर्णसमाम्नाय इति । शब्दस्तु कणादेनोक्तः । श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः । अनित्यश्चायं कारणतः । अभिव्यक्तौ दोषादिति । अपरे त्राहुः । नित्यः शब्दोऽनादितात् भावस्वभावनित्यत्वात् स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात् इति । तद्यथा—प्राक्-सर्गादिदमसदेवासीदेकमेवाद्वितीयम् स खलु सप्रभावगुणनिगूढा शक्तिरेव मूलं ब्रह्म । अतिपरमसूक्ष्मातिसूक्ष्मध्वनिप्रभावादतिपरमसूक्ष्मातिसूक्ष्मव्योमरूपा शक्तिः स्वगुणप्रभावं परिणम्य तेजोऽञ्चानि लोहितशुक्लकृष्णवदाभासानि सृष्ट्वा लोहितशुक्लकृष्णवद्भासमाना इति सूक्ष्मध्वन्यवरुद्धातिपरमसूक्ष्मव्योमरूपा वाक् सम्बभूव, सा गायत्री भगवती दुर्गा । गायति च त्रायते चेति गायत्री, सा विद्या-शान्तिनिवृत्तिप्रतिष्ठेति चतस्रः शक्तयो भूत्वा मिलित्वैकीभूयानन्तशक्तिमान् परव्योमरूपः परमात्मा परः पुरुषः शिवो बभूव । स त्रिपात् पुरुषस्तस्य ज्योतिः-स्वरूपा सा स्वयमजा स सविता नामादिः पुरुषस्तस्य प्रकाशनार्था सा सावित्री तस्यात्मा तुरीयः पाद इति चतुष्पाद्ब्रह्मगायत्रीदानीं सर्गे । सैव गायत्री तेना-त्मना जीवेन शिवेन तेजोऽञ्चान्यनुप्रविश्य सर्वं ससर्ज । तत्रादौ तेजोऽञ्चानि परिणम्य किञ्चित्सूक्ष्ममतिसूक्ष्ममतीन्द्रियं शब्दं सृजमाना तद्विशिष्टा सती परमा विद्या बभूव अकारध्वनिरूपा । तस्याच्चाकारादयो मातृकावर्णा अतिपरमसूक्ष्मा अतीन्द्रिया बभूवुः सा परमा विद्या तद्विशिष्टः परव्योमैव सदा-शिवाख्यः प्रथमो ब्रह्मपुरुषः । ब्रह्मविद्या शास्त्रमयः । ततस्तन्मातृकावर्णानाम् अनन्तयोगात् ऋग्यजुःसामाथर्वान्तिका माया नाम कलाविद्या बभूव सैवाविद्या विद्याविपर्ययविद्या । तद्विशिष्टा ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदाथर्व-वेदाश्चत्वारो ब्रह्मपुरुषा अविद्या शास्त्रमया बभूवुः । तत्र सामविद्या ताल-रागमयध्वनिरूपा तालरागोपाहितवाक्यमयध्वनिरूपा च बभूव तद्विशिष्टः सामवेदः । स द्विविधः शब्दो नित्योऽनादितात् स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वाद्भाव-

चक्रपाणिः—‘शब्द’शब्देनेह सङ्केतबलादर्थप्रतीकारवर्णमालोच्यते । आसोपदेशशब्दस्तु द्विविधः—परमास्रब्रह्मादिप्रणीतस्तथा, लौकिकास्रप्रणीतश्च । ‘ऐतिह्य’शब्देन परमास्रप्रणीतो-

स्वभावनित्यत्वात् । स एव द्विविधः शब्दः क्रमेण स्थूलो भूत्वा खल्वव्यक्ते त्रिगुणसाम्यलक्षणेऽनभिव्यक्तरूपे स्थितः । अव्यक्तान्महत्तत्त्वे विद्यात्मक एव द्विविधो व्यवर्त्तत । ततोऽहङ्कारे जायमानेऽविद्यात्मको द्विविध एव स्थितः । ततोऽहङ्काराज्जायमाने लाकाशे स एव द्विविधः शब्दोऽनभिव्यक्त एव स्थितः सहजरूपेण स एवाकाशस्यात्मा तद्वियोगादाकाशो नश्यति आकाशस्य नित्यत्वं तत्स्थशब्दस्य तदात्मनो नित्यत्वादिति नित्यः शब्दः । तच्छब्दवदाकाशस्यैकादशांशैकांशस्य स्पर्शमात्रे वायावनुप्रवेशादाकाशवाय्वात्मको द्वायात्मको वायुः शब्दस्पर्शयोर्योनिर्वातकलाकलीये प्रोक्तः । यस्ताकाशस्यात्मा शब्दस्तस्याकाशतो निःसरणस्वभावाभावाद्वाय्वनुप्रविष्टस्य वायुतो निःसरणस्वभावात् । ततो वाय्वादीनां तेजोऽम्बुभूमिषु क्रमेण पूर्वपूर्वस्यानुप्रवेशे स द्विविधः शब्दः क्रमेण स्थूलोऽप्यनभिव्यक्तरूपेण स्थितः । ततः पञ्चभिस्तैर्भूतैरारब्धेषु द्रव्येष्वभिघातप्रयुक्ताभिव्यक्तिस्वभावः स्थूलः शब्दो वर्त्तते । स एव द्विविधः शब्दस्तन्नीवीणाङ्गुल्याद्यभिघातकण्ठताल्वाद्यभिघातात् कारणतो वाय्वादिभूतेभ्य एव जायते न ताकाशाज्जायत इत्यतस्त्वनित्यः श्रोत्रेणेन्द्रियेण च गृह्यते इत्येवमभिघातात् कारणादाकाशादभिव्यक्तावाकाशस्यानित्यत्वनश्वरत्वदोषात् । अथवा शब्दस्याभिव्यक्तिमते वक्ष्यमाणदोषात् । इति कणादादीनां सर्व्वेष्टामभिप्रायः । अत एवाभिप्रायाद् गौतमेनापि शब्दः परीक्षितः । विमर्शहेतुनियोगे च विप्रतिपत्तेः संशयः । आदिमत्त्वादैनद्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च । न घटाभावसामान्यनित्यत्वान्नित्येष्वप्यनित्यवदुपचाराच्च । तत्त्वभाक्त्योर्नानात्वविभागादव्यभिचारः । सन्तानानुमानविशेषणात् । कारणद्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानान्नित्येष्वप्यव्यभिचार इति । व्याख्यातश्च वात्स्यायनेनैतत् सर्व्वं तद् यथा । आप्तोपदेशः शब्द इति प्रमाणभावे विशेषणमुक्त्वा तं प्रमाणशब्दम् ; स च द्विविधो दृष्टार्थोऽदृष्टार्थश्चति विभज्य पुनः शब्दो नानाप्रकार इति ज्ञाप्यते । तस्मिन् नानाप्रकारे सत्यानृतदृष्टार्थादृष्टार्थे सामान्येन विचारः क्रियते । शब्दः किं नित्योऽथानित्य इति । विमर्शहेतुनियोगे च विप्रतिपत्तेः संशयः । आकाशगुणः शब्दोऽनभिव्यक्तोऽभिव्यक्तिधर्मक इत्येके । गन्धादिसहवृत्तिर्द्रव्येषु सन्निविष्टो गन्धादिवदवस्थितोऽभिव्यक्तिधर्मक इत्युक्ते शब्दस्य नित्यत्ववादिनः । आकाशगुणः शब्द उत्पत्तिनिरोधधर्मको

ऽवरुद्धः, लौकिकाक्षप्रणीतश्च शब्दैकदेशरूपः सत्यप्रकारविहितो ज्ञेयः । वर्णसमाम्नाय इति

बुद्धिबदित्यपरं शब्दस्यानित्यत्ववादिनः । महाभूतसंज्ञोभजः शब्दोऽनाश्रित  
उत्पत्तिधर्मैको निरोधधर्मैक इत्यन्ये चानित्यत्ववादिन आहुः । अतो विमर्ग-  
हेतोर्विरुद्धसमालोचनहेतोरनुयोगे च विप्रतिपत्तेर्विभिन्नप्रतिपत्तितः संशयः  
किं नित्यः शब्दोऽथानित्य इति । किमत्र तत्त्वमिति । तत्रोत्तरमनित्यः  
शब्द इति । कुतः ? आदिमत्त्वादैन्यद्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च । आदिर्योनिः  
कारणम् । आदीयते यस्मादिति कारणवदनित्यं दृष्टम् । संयोगविभागजश्च  
शब्दः कारणवत्त्वादनित्यः । का पुनरियमर्थदेशना कारणवदिति । उत्पत्ति-  
धर्मैकत्वादनित्यः शब्द इत्यर्थदेशना । भूत्वा न भवति विनाशधर्मैक इति ।  
सांशयिकमेतत् । किमुत्पत्तिकारणं संयोगविभागौ शब्दस्य किमभिव्यक्ति-  
कारणमिति । अत आह ऐन्द्रियकत्वादिति । इन्द्रियप्रत्यासत्तिग्राह्य  
ऐन्द्रियकः । किमयं व्यञ्जकेन समानदेशोऽभिव्यज्यते रूपादिवत् । अथ  
संयोगजाच्छब्दाच्छब्दसन्ताने सति श्रोत्रप्रत्यासन्नो गृह्यते इति । संयोग-  
निवृत्तौ दूरेऽपि शब्दग्रहणान्न व्यञ्जकेन समानदेशस्य ग्रहणं शब्दस्येति ।  
दारुवश्चने दारुपरशुसंयोगनिवृत्तौ दूरस्थेन शब्दो गृह्यते । न च व्यञ्जकाभावे  
व्यज्यस्य ग्रहणं भवति । तस्मान्न व्यञ्जकः संयोगः । उत्पादके तु संयोगे  
संयोगजाच्छब्दाच्छब्दसन्ताने सति श्रोत्रप्रत्यासन्नस्य शब्दस्य ग्रहणमिति युक्तं  
संयोगनिवृत्तौ शब्दस्य दूरस्थेन ग्रहणमिति । इतश्च शब्द उत्पद्यते नाभि-  
व्यज्यते । कृतकवदुपचारात् । तीव्रं मन्दमिति कृतकमुपचर्यते । तीव्रं  
सुखं मन्दं सुखं तीव्रं दुःखं मन्दं दुःखमिति तीव्रत्वादुपचारो यथा सुखादौ  
तथोपचर्यते, तीव्रः शब्दो मन्दः शब्द इति शब्दे तीव्रत्वादुपचारः । अथ  
व्यञ्जकस्य तथाभावाद्ग्रहणस्य तीव्रमन्दतारूपवदिति चेन्न । अभिभवोप-  
पत्तेः । संयोगस्य व्यञ्जकस्य तीव्रमन्दतया शब्दग्रहणस्य तीव्रमन्दता भवति ।  
न तु शब्दो भिद्यते । यथा प्रकाशस्य तीव्रमन्दतया रूपग्रहणस्येति । तच्च  
नैवमभिभवोपपत्तेः । तीव्रो भेरीशब्दो मन्दं तन्त्रीशब्दमभिभवति न मन्द-  
स्तीव्रम् । न च शब्दग्रहणमभिभावं शब्दश्च न भिद्यते । शब्दे तु भिद्यमाने  
युक्तोऽभिभवः । तस्मादुत्पद्यते शब्दो नाभिव्यज्यते । अप्राप्तेऽभिभव इति चेत्  
शब्दमात्राभिभवप्रसङ्गः । अथ मन्यते, असत्यां प्राप्तावभिभवो भवतीति । एवं

वर्णमेलक इत्यर्थः । वर्णानां यद्यपि अत्र सहस्रायिनां मेलको नास्ति, तथाप्येकस्मृतिसमान-  
रूपित्वेन । किंवा, पूर्वपूर्वानुभवजनितसंस्कारसहितान्यवर्णानुसवहारोहेण मेलको ज्ञेयः ।

सति यथा भेरीशब्दः कश्चित् तन्त्रीशब्दमभिभवति । एवमन्तिकस्थोपादानमिव किं दवीयःस्थोपादानमपि तन्त्रीस्वनं नाभिभवेत् । अप्राप्तरविशेषात् । तत्र कैश्चिदेव भेरीयां प्रणादितायां सर्वलोकेषु समानकालास्तन्त्रीस्वना न श्रूयेरन्निति । नानाभूतेषु शब्दसन्तानेषु सत्सु श्रोत्रप्रत्यासत्तिभावेन कस्यचिच्छब्दस्य तीव्रत्वेन मन्दस्याभिभवो युक्त इति । कः पुनरयमभिभवो नाम । ग्राह्यसमानजातीयग्रहणकृतमग्रहणमभिभवः । यथोल्काप्रकाशस्य ग्रहणार्हस्य आदित्यप्रकाशेनेति । तत्राह वादी । न घटाभावसामान्यनित्यत्वान्नित्येष्वप्यनित्यवदुपचाराच्च । न खल्वदिमत्त्वादित्यः शब्दः । कस्मात् ? व्यभिचारात् । आदिमतः खलु घटाभावस्य दृष्टं नित्यत्वम् । कथमादिमान् । कारणविभागेभ्यो हि घटो न भवति । कथमस्य नित्यत्वम् ? योऽसौ शब्दकारणविभागेभ्यो न भवति तस्याभावो न कदाचिद्भावेन निर्वर्त्तते इति । यदप्येन्द्रियकत्वात् तदपि व्यभिचरति । ऐन्द्रियकत्वं सामान्यं नित्यञ्चेति । यदपि कृतकवदुपचारादिति तदपि व्यभिचरति । नित्येष्वप्यनित्यवदुपचारो दृष्टः । यथा हि भवति वृक्षस्य प्रदेशः कम्बलस्य प्रदेश एवमाकाशस्य प्रदेश आत्मनः प्रदेश इति भवतीति । तत्र नित्यवादिनं प्रत्याह । तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वविभागादव्यभिचारः । नित्यः शब्द इति तत्र नित्यत्वमित्यत्र किं तावन्नित्यत्वम् । आत्मान्तरस्यानुत्पत्तिधर्मकस्यात्महानानुपपत्तिर्नित्यत्वम् । तच्चाभावे नोपपद्यते । भाक्तन्तु भवति । यत् तत्रात्मा न महानासीत् । यद्भूत्वा न भवति न जातु तत् पुनर्भवति । तत्रानित्य इव नित्यो घटाभाव इत्ययं पदार्थः । तत्र यथाजातीयः शब्दो न तथाजातीयकं कार्यं किञ्चित् दृश्यते इति व्यभिचारः । यदपि सामान्यनित्यत्वादिति इन्द्रियप्रत्यासत्तिग्राह्यमैन्द्रियकमिति सन्तानानुमानविशेषणात् । नित्ये व्यभिचार इति प्रकृतम् । नेन्द्रियग्रहणसामर्थ्याच्छब्दस्यानित्यत्वं किं तर्हि ? इन्द्रियप्रत्यासत्तिग्राह्यत्वात् सन्तानानुमानम्, तेनानित्यत्वमिति । यदपि नित्येष्वप्यनित्यत्ववदुपचारादिति, न । कारणद्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानान्नित्येष्वप्यव्यभिचार इति । एवमाकाशस्य प्रदेश आत्मनः प्रदेश इति नात्राकाशात्मनोः कारणद्रव्यमभिधीयते यथा कृतकस्य । कथं ह्यविद्यमानमभिधीयते । अविद्यमानता च प्रमाणतोऽनुपलब्धेः । किं तर्हि तत्राभिधीयते । संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वम् । परिच्छिन्नेन द्रव्येणाकाशस्य संयोगो नाकाशं व्याप्नोति । अव्याप्य हि वृत्ते इति । तदस्य कृतकेन द्रव्येण सामान्यम् । न ह्यामलंकयोः संयोगः

आश्रयं व्याप्नोति । सामान्यकृता च भक्तिराकाशस्य प्रकाश इति । अनेनात्म-  
 प्रदेशो व्याख्यातः । संयोगवच्च शब्दबुद्ध्यादीनामव्याप्यवृत्तित्वमिति । एव-  
 मैन्द्रियकशब्दस्यानित्यत्वे सिद्धे पुनर्वादी भाषते । अथ तर्हि निरुपादानकः  
 शब्दः । कस्मात् ? प्रागुत्पत्तेरनुपलब्धः । शब्दस्योत्पत्तेः पूर्वमुपलब्ध्यभावात्  
 निरुपादानकत्वमसङ्गः । नावरणादिभ्यः । आवरणादिभ्यः कारणेभ्यो न  
 प्रागुत्पत्तेरनुपलब्धिः । नैवम् । तेषामनुपलब्धेः । आवरणादीनामनुपलब्धि-  
 कारणानामुपलब्धेर्नावरणादिभ्योऽनुपलब्धिः । आवरणसन्निकर्षव्यवधाना-  
 दिकं शब्दानुपलब्धिकारणं नोपलभ्यते । तस्मात् प्राक् शब्दोत्पत्तेः शब्दारम्भकः  
 शब्दो नास्ति । न हि विजातीयगुणेन विजातीयगुण आरभ्यते । तस्मादयं  
 शब्दो निरुपादानक इति । तत्रोत्तरम् । तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोप-  
 पत्तिः । यदि शब्दस्यानुपलब्धिकारणानामावरणादीनामनुपलम्भान्नास्तित्वम्  
 आवरणाद्यनुपलब्धिरप्यनुपलम्भात् तर्हि नास्तीति । आवरणोपलब्ध्यभाव-  
 प्रतिषेधादस्त्यावरणादिकं शब्दानुपलब्धिकारणमिति । तत्राह पुनर्वादी ।  
 अनुपलम्भादप्यनुपलब्धिसद्भाववन्नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भात् । आवरणानुप-  
 लब्धिरनुपलम्भमानापि यथास्ति तथानुपलम्भमानमप्यावरणमस्तीति यद्यभ्यनु-  
 जानाति भवान् तदानुपलम्भमानाप्यावरणानुपलब्धिरस्ति । तस्मान्नास्त्या-  
 वरणमनुपलम्भादिति । तर्हि च । अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः । यदुप-  
 लभ्यते तदस्ति यन्नोपलभ्यते तन्नास्तीति । अनुपलम्भात्मकमसदिति व्यव-  
 स्थितम् । उपलब्ध्यभावश्चानुपलब्धिः, सा पुनरभावत्वान्नोपलभ्यते । सच्च  
 खलवावरणं तस्योपलब्ध्या भवितव्यम् । न चोपलभ्यते तदावरणमित्यतो  
 नास्तीति तच्च यदुक्तं नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भादिति तदयुक्तम् । तस्माद्  
 अस्त्यस्य शब्दस्योपादानं नित्यः शब्दः । कस्मात् ? अस्पर्शत्वात् । यथा  
 आकाशम् । यथा चाकाशमस्पर्शं तच्च नित्यं तस्मान्नित्य इति । न कर्मा-  
 न्नित्यत्वात् । अस्पर्शत्वादाकाशवन्न शब्दोऽस्य शब्दस्योपादानं नित्यः (शब्दः) ।  
 तस्मात् ? कर्मान्नित्यत्वात् । कर्म चास्पर्शमनित्यम् । दृष्टं स्पर्शवांश्चाणुर्नित्य  
 इत्युभयतः सव्यभिचारो हेतुश्च दृष्टान्तश्चेति । साधर्म्येण दृष्टान्तो न  
 साधुः । साध्यवैधर्म्येण दृष्टान्तश्च । नाणुर्नित्यत्वात् । नित्यः शब्दोऽस्पर्श-  
 त्वात् । यथा घटः । यथा च घटः स्पृश्यः स चनित्यो न तथास्पृश्यः  
 शब्दस्तस्मान्नित्य इति साध्यवैधर्म्येण दृष्टान्तोऽपि न भवति । कस्मात् ?  
 अणुर्नित्यत्वात् । अणुर्हि स्पृश्यः स च नित्यः सर्वो हि स्पृश्यो

नानित्यो न नित्य इति व्यभिचारादिति । एतेनोक्तं भवति । योऽसावस्य शब्दस्योपादानभूतः शब्दोऽनभिव्यक्त आकाशोऽस्मिन्नणुः नित्य इति, स एव वाय्वादिष्वनुप्रविश्य क्रमेण स्थूलः सन्नपि नेन्द्रियग्राह्यः स सोऽपि नित्यः । पाञ्चभौतिके द्रव्ये त्वभिव्यज्यते स इत्यत उत्पद्यते इत्युच्यते ततो नानुपादानो न नित्यः परन्वनित्य इति स्थिरत्वादिति नास्थिरः शब्दो वर्णात्मको हि शब्दः स्थिरः । कस्मात् ? सम्प्रदानात् । अध्यापकोऽध्याप्यमानाय शिष्याय यदध्ययनं ददाति तस्मात् वर्णात्मकः शब्दः स्थिरो न त्वस्थिरः । तत्रोच्यते । तदन्तरालानुपलब्धेरहेतुः । सम्प्रदानादित्ययं हेतुर्न हेतुः । अध्यापनाध्ययनयोरन्तराले शब्दोपलब्ध्यभावात् । तत्राह स्थिरत्ववादी । अध्यापनादप्रतिषेधः । असति सम्प्रदानेऽध्यापनं न स्यात् तदध्यापनलिङ्गेन तयोरध्यापनाध्ययनयोरन्तरालेऽवस्थानमुपलभ्यते । सम्प्रदातुः सम्प्रदीयमानो ह्यवस्थितः । तस्मात् स्थिरत्वस्याप्रतिषेधः । तत्राह प्रतिवादी । उभयोः पक्षयोरन्यतरस्याध्यापनादप्रतिषेधः । अध्यापकस्थः शब्दः शिष्यं प्रपद्यते यत् तदध्यापनम् ? अथ नृत्यस्योपदेशवत् । नृत्यशिक्षको यथा नृत्यति तथानुकरोति नर्तक इत्येवमध्यापकोच्चारितशब्दानुकरणमध्यापनमित्येतयोरुभयोः पक्षयोरन्यतरस्याध्यापनत्वादन्तरालेऽनुपलब्धेरस्थिरत्वप्रतिषेधाभावः शब्दस्यास्थिरत्वमेव । अथाह—स्थिरः शब्दो नास्थिरः । अभ्यासात् । अभ्यस्यमानो हि शब्दः स्थिरो दृश्यते । पञ्चकृत्वः पठति दशकृत्वः पठतीति तद्रूप एवावस्थितो दृश्यते । तस्मादवस्थितस्य शब्दस्य पुनः पुनरुच्चारणमभ्यास इति । तत्राह—नान्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारात् । अवस्थितादन्यत्वेऽपि खल्वनवस्थितेऽभ्यासाभिधानान्न स्थिरत्वं शब्दस्य । यथा द्विनृत्यतु भवान् त्रिनृत्यतु भवान् त्रिरनृत्यद्द्विरनृत्यदिति भविष्यदतीतयोर्नर्तनयोरनवस्थितयोरानृत्यभिधानमिति । तत्राप्याह—अन्यदन्यस्मादनन्यत्वादन्नन्यदित्यन्यथाभावः । यदिदमेकस्मादन्यदित्युच्यते तत् पुनः स्वस्मादनन्यत्वादन्नन्य भवति । एवमन्यताया अभावः । तत्र यदुक्तमन्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारादिति तदयुक्तमिति । तत्राह प्रतिवादी—तदभावेनास्त्यनन्यता तयोस्तिरेतरापेक्षसिद्धेः । अनन्यदिति । न अन्यदित्यनन्यत् । तत्रानन्यदिति कस्मात् ? अन्यशब्दस्य प्रतिषेधार्थकनवा सह समासः । यदि चात्रोत्तरपदं नास्ति कस्यायं प्रतिषेधेन सह समासः । यस्मादन्यो यः स खलु तदभावस्तत्रानन्यता नास्ति । तयोर्द्वयोः परस्परापेक्षान्यतायाः सिद्धेः । यो यस्मादन्यस्तस्मादन्यः स इति भवत्यनन्यः ।

न तु या यस्मादन्यः सोऽनन्य इति । अत्रायमभिसन्धिः, एकस्माद्व्यस्मादन्यो-  
 ऽपरस्तस्मादपरस्मादन्यः स एकः । यथा घटशब्दादन्यः पटशब्दः पट-  
 शब्दादन्यो घटशब्दः खल्वनन्य इति चेत् तदाभ्यासो न स्यात् । घटो घटो  
 घट इत्येवं हि भवत्यभ्यासस्तत्र पूर्वो यो घटशब्दः स द्वितीयादेरन्यो  
 द्वितीयादिस्तस्मादन्य इत्यनन्य इत्यत्रान्यत्वं तावत् किमुच्यते । तत् तदानु-  
 पूर्विकत्वेन तदनन्यत्वं न त्वन्यत्वं तर्हि किं द्वितीयकालादुत्थरितत्वम् ।  
 तथात्वे च येनैकविधगायत्रादिमन्त्रेण पूर्वोत्थरितेनाचार्येण दीक्षितस्तस्य  
 गायत्रादेर्मन्त्रस्य तथैव पुनरुत्थरितस्यान्यत्वे शिक्षितत्वदीक्षितत्वाभावप्रसङ्गः  
 स्यात् स्वरवर्णव्यतिक्रमे तु न तत् तन्मन्त्रत्वं यथा स्यात् तथा ताद्रूप्येणापि  
 तन्मन्त्रत्वं न स्यादिति न मातृकावर्णव्यतिरिक्तानां वर्णानामुत्पादनेन  
 शब्दान्तरं कथं कुर्यात् तस्मात् स्थिरो वर्णात्मकः शब्दोऽभिव्यक्तिनिरोध-  
 धर्मकः । कारणादभिव्यज्यते कारणात् तिरोधत्ते । न च कारणान्नश्यति ।  
 कस्मात् ? विनाशकारणानुपलब्धेः । यदनित्यं तस्य विनाशः कारणाद्  
 भवति तच्चोपलभ्यते । यथा लोप्स्य कारणद्रव्यविभागाद्विनाशः स च  
 विभाग उपलभ्यते शब्दश्चेदनित्यस्तदा तस्य विनाशो यस्मात् कारणाद्भवति  
 तदुपलभ्येत न च पुनरुपलभ्यते तस्मान्नित्यः शब्द इति । तत्राह—अश्रवण-  
 कारणानुपलब्धेः सततश्रवणप्रसङ्गः । यथा विनाशकारणानुपलब्धेर-  
 विनाशान्नित्यस्तथा खल्वश्रवणकारणानुपलब्धेः सततश्रवणप्रसङ्गो न च  
 सततं श्रूयते शब्द इति । व्यञ्जकाभावादश्रवणमिति चेत् प्रसिद्धं व्यञ्जकम् ।  
 अथ विद्यमानस्य शब्दस्य निर्निमित्तमश्रवणमिति विद्यमानस्य निर्निमित्तो  
 विनाशश्चेति समानश्च दृष्टविरोधो निमित्तमन्तरेण विनाशे चाश्रवणे चेति ।  
 उपलभ्यमाने चानुपलब्धेरसत्त्वादपदेशः । अनुमानाच्चोपलभ्यमाने शब्दस्य  
 विनाशकारणे विनाशकारणानुपलब्धेरसत्त्वादित्यनपदेशः । अनेन कारणेनैव-  
 मित्यपदेशः । अथ यस्माद्विषाणी तस्मादश्व इति किमनुमानमिति चेत्  
 सन्तानोपपत्तिः । उपपादितः शब्दसन्तानः । संयोगविभागजाच्छब्दाच्छब्दान्तरं  
 जायते ततोऽप्यन्यत् ततोऽप्यन्यदित्येवं हि शब्दसन्तानस्तेनानुमानमिति । तत्र  
 कार्यशब्दः कारणशब्दं निरुणद्धि । प्रतिघातिद्रव्यसंयोगस्त्वन्तिकस्य  
 शब्दस्य निरोधकः । दृष्टं हि तिरःप्रतिकुड्यमन्तिकस्थेनाप्यश्रवणं शब्दस्य  
 श्रवणं दूरस्थेनाप्यसति व्यवधाने इति । घण्टायामभिहन्यमानायां तारस्तारतरो  
 मन्दो मन्दतर इति श्रुतिभेदान्नानाशब्दसन्तानोऽविच्छेदेन श्रूयते तन्न नित्ये



शब्दे । घण्टास्थमन्यगतं वा अवस्थितं सन्ताननिवृत्तौ कारणं वाच्यम् । येन श्रतिसन्तानो भवतीति । शब्दभेदश्च सति श्रुतिभेदे उपपादयितव्य इति । अनित्ये तु शब्दे घण्टास्थं सन्ताननिवृत्तिर्संयोगसहकारिकारणान्तरं संस्कारभूतं प्रतिघातजवेगाख्यं पटुमन्दमनुवर्तते । तस्यानुवृत्त्या शब्दसन्तानानुवृत्तिः पटुमन्दभावाच्च तीव्रमन्दता शब्दस्य तत्कृतश्च श्रुतिभेद इति । न वै निमित्तान्तरं संस्कार उपलभ्यते । अनुपलब्धेर्हेतोर्निमित्तान्तरं नास्तीति । तत्राह— पाणिनिमित्तप्रश्लेषाच्छब्दाभावेनानुपलब्धिः । पाणिकर्मणा पाणिप्रश्लेषो भवति । तस्मिंश्च सति शब्दसन्तानो नोपलभ्यते । ततः श्रवणानुपपत्तिः । तत्प्रतिघातिद्रव्यसंयोगः शब्दस्य निमित्तान्तरं संस्कारभूतं प्रतिघातजवेगाख्यं निरुणद्धीत्यतोऽनुमीयते । तस्य च निरोधाच्छब्दसन्तानो नोत्पद्यते । अनुत्पत्तौ श्रुतिविच्छेदः । यथा प्रतिघातिद्रव्यसंयोगादिषोः क्रियाहेतौ संस्कारे निरुद्धे गमनाभाव इति । कम्पसन्तानस्य स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यस्य चोपरमः । कांस्यपात्रादिषु पाणिमंश्लेषो लिङ्गं संस्कारसन्तानस्येति । तस्मान्निमित्तान्तरस्य संस्कारभूतस्य प्रतिघातजवेगस्य नानुपलब्धिरिति । विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः । यदि यस्य विनाशकारणं नोपलभ्यते तदवतिष्ठते, अवस्थानाच्च तस्य नित्यत्वं प्रसज्यते । एवं यानि खल्विमानि शब्दश्रवणानि शब्दाभिव्यक्तय इति मतं न तेषां विनाशकारणं भवतोपलभ्यते । अनुपपादनादवस्थानमवस्थानान्नित्यत्वं प्रसज्यते । इति । अथ नैवं, तर्हि विनाशकारणानुपलब्धेः शब्दस्यावस्थानान्नित्यत्वमिति । कम्पसमानाश्रयस्य नादस्य पाणिप्रश्लेषात् कम्पवत्कारणोपरमादभावः । वैयधिकरण्ये हि प्रतिघातिद्रव्यप्रश्लेषादसमानाधिकरणस्यैवोपरमः स्यादिति । अस्पर्शत्वादप्रतिषेधः । आकाशगुणः शब्द इतीदं यत् प्रतिषिध्यते अयमनुपपन्नः प्रतिषेधः । अस्पर्शत्वाच्छब्दाश्रयस्य । रूपादिसमानदेशस्य ग्रहणे शब्दसन्तानोपपत्तेः । स्पर्शव्यापिद्रव्याश्रयः शब्द इति ज्ञायते न च कम्पसमानाश्रय इति । प्रतिद्रव्यं रूपादिभिः सह सन्निविष्टः शब्दः समानदेशो व्यज्यत इति नोपपद्यते इति । कथम् ? विभक्त्यन्तरोपपत्तेश्च समासे । सन्तानोपपत्तेश्चति चार्थः । तद्व्याख्यातम् । यदि रूपादयः शब्दश्च प्रतिद्रव्यं समस्ताः समुदितास्तस्मिन् समासे समुदाये यो यथाजातीयकः सन्निविष्टः तस्य तथाजातीयस्यैव ग्रहणं न भवितव्यं शब्दे रूपादिवत् । अत्र योऽयं विभागः एकद्रव्ये नानारूपा भिन्नश्रुतयो विधर्मणः शब्दा अभिव्यज्यमानाः

दृष्टार्थश्चादृष्टार्थश्च सत्यश्चानृतश्चेति । तत्र दृष्टार्थो नाम त्रिभि-  
हेतुभिर्दोषाः प्रकोपमापद्यन्ते ॐ, षड्भिरुपक्रमैरुपशम्यन्ति,

श्रूयन्ते । यच्च विभागान्तरं सरूपाः समानश्रतयः सधर्माणः शब्दास्तीव्रमन्द-  
धर्मतया भिन्नाः श्रूयन्ते तदुभयं नोपपद्यते । नानाभूतानामुत्पद्यमानानामयं  
धर्मो नैकस्य व्यज्यमानस्येति । अस्ति चायं विभागो विभागान्तरश्च । तेन  
विभागोपपत्तेर्मन्यामहे । न प्रतिद्रव्यं रूपादिभिः सह शब्दः सन्निविष्टो व्यज्यत  
इति । द्विविधश्चायं शब्दो वर्णात्मको ध्वनिमात्रश्च । तत्र वर्ण एव शब्दः किं  
वर्णोपाहितः शब्दो वर्णात्मकः ? आदेः वर्णस्यानित्यत्वप्रसङ्गः । वर्णोपाधिको  
ध्वनिश्चेच्छब्दस्तर्हि च वर्णः किं नित्योऽनित्यो वा ? न तावद्ध्वनिवदनित्यः  
अक्षराभिधानात् ; यत्र क्षरति तदक्षरं वर्णमित्यनर्थान्तरम् । न चाक्षरमित्ययं  
शब्दः परिभाषितोऽकारादिषु । मातृकावर्णभ्योऽतिरिक्ता वर्णा न मातृका-  
वर्णभ्यो जायन्ते शब्दाच्छब्दान्तरवत् । कण्ठतालवाद्यभिधातादिप्रयत्नविशेषेण  
ध्वनिरेव सिद्धवर्णेनोपाहितः प्रव्यज्यतेऽकारादिरूपेण श्रूयते । तदकारोपाहित-  
ध्वनिरेव प्लुतरूपेण श्रूयते, स खल्वकारोपाहितध्वनिसन्तानो न त्वकारसन्तानः ।  
ढकादिध्वनिवत् प्लुतादधिकोऽकारादिध्वनिसन्तानश्च श्रूयते । न च मातृका-  
वर्णादधिकाश्च श्रूयन्ते तस्माद्वर्णो नित्यः । तर्हि किं मातृकावर्णसमसङ्गक एव  
वर्णात्मकः शब्दो नाधिक इत्यत आह—शब्दो नाम वर्णसमाम्नाय इति । म्ना  
अभ्यासे । वर्णानां समानासमानानाम् आ सम्यङ् म्नाय इति वर्णसमाम्नायः  
इति । सम्यगभ्यासो वर्णानां समानासमानानामनन्तयोगादनन्तः । स चैकः  
संप्रत्यये वाक्यरूपेण । अकारादेःकैकवर्णस्तु न वाक्यरूपेण पूर्यते,  
तस्माद्वाक्यघटकानां पदानां पदघटकानां प्रकृतिप्रत्ययागमानाञ्च वर्णानां  
ध्वनिरूपेणाभिव्यक्तानां शब्दत्वेऽपि खल्विह वादमागेपदतया विवक्षाप्रवृत्तमाने  
हि वादे वादिनोरुक्तिप्रत्युक्तिभ्यामर्थबोधकत्वाभावात् । न हेतुकेन पदेन तद्-  
घटकधातुप्रातिपदिकादिमात्रेण वा विवक्षितोऽर्थो वादिना शक्यते ज्ञापयितुम् इति,  
तस्माद्वाक्यमेवायंस्फोटः । इति ज्ञापयितुमाह—स चतुर्विध इति । तं विभ-  
ज्यते । दृष्टार्थश्चेत्यादि । यस्याथे इह दृश्यते स दृष्टार्थो दृष्टफलः शब्दः ।  
स दृष्टार्थो नाम यथा ।

तदुदाहरति—तत्रेत्यादि । त्रिभिर्हेतुभिर्दोषाः प्रकोपमापद्यन्ते । इत्येकं

\* प्रकृप्यन्तीति बहुग्रन्थेषु पठ्यते ।

सति श्रोत्रादिसद्भावे शब्दादिग्रहणमिति । अदृष्टार्थः पुनरस्ति प्रेत्यभावोऽस्ति मोक्ष इति । सत्यो नाम यथार्थ-भूतः । सन्त्यायुर्वेदोपदेशाः, सन्ति सिद्धुपायाः साध्यानां व्याधीनाम्, सन्त्यारम्भफलानीति । सत्यविपर्ययाच्चानृतः ॥३३॥

वाक्यं दृष्टफलम् । असात्मेन्द्रियार्थसंयोगादिभिस्त्रिभिर्हेतुभिः सर्व्वे घातादयो दोषाः प्रकुप्यन्तीति दृश्यते । एवमुदाहरणान्तरं शिष्य-हितार्थं दर्शयति । पङ्क्तिरुपक्रमैरुपशास्यन्ति । लङ्घनवृहणीयादिभिः सर्व्वे कुपिता दोषाः प्रशाम्यन्तीति दृश्यते । अपरमुदाहरणमाह—श्रोत्रादि-सम्भवे शब्दादिग्रहणमिति । एष हि प्रमाणशब्दः । अथादृष्टार्थमाह—अदृष्टार्थः पुनरस्ति प्रेत्यभावोऽस्ति मोक्ष इति । यस्याथे इह न दृश्यते सोऽदृष्टार्थः शब्दः, स खल्वदृष्टफलं वाक्यम् । अस्ति प्रेत्यभाव इत्येकमपरमस्ति मोक्ष इति । एषोऽपि प्रमाणशब्दः । यद्यपि दृष्टार्थादृष्टार्थौ शब्दौ सत्याथौ यथार्थभूतत्वात् तथापि दृष्टार्थादृष्टार्थव्यतिरिक्तोऽपि सत्यः शब्दोऽस्तीति पृथगुच्यते संत्यो नाम यथार्थभूत इति । स च यथार्थो द्विविधः—अलोके सत्यो लोके सत्यश्चानृत इति । अव्यक्तादूर्द्ध्वं प्रधानं क्षेत्रज्ञः कालो विद्याविद्याविशिष्टपञ्च ब्रह्म पुरुषा ऋग्वेदादयः सत्याः परमार्थतः । लोके पुनरव्यक्तात्मादयश्चतुर्विंशतिस्तत्त्वानि तन्मयदेवनरादयश्च सङ्घाताः सत्यानृताः परमार्थेऽनृतत्वात् लोके सत्यत्वाच्च । तदुदाहरति—सन्त्यायुर्वेदोपदेशाः । इति परमार्थसत्यत्वात् सत्यशब्दः ; सन्ति सिद्धुपायाः साध्यानां विकाराणामिति लोके सत्यः परमार्थेऽनृत इति सत्या-नृतार्थः सत्यशब्दः । एवं सन्त्यारम्भफलानीति सत्यानृतार्थशब्दः । एषोऽपि प्रमाणशब्दः । अथानृतशब्दमाह—सत्यविपर्य्ययाच्चानृत इति । यथा नास्तीश्वरः नास्यात्मा नास्ति कर्मफलं नास्ति पुनर्भवः, एवं यावन्मिथ्यावाक्यमिति । मिथ्यार्थशब्दस्यापि वादे प्रयोगादुपदेश इति ।

वर्णसमाम्नायो वाक्यन्तु वशिष्ठाय अग्निनोक्तमाग्नेयपुराणेऽलङ्कारे । सङ्क्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली । तत्र च वर्णवृन्दं स्यात् पदं सुसिद्धप्रभेदवत् । सङ्क्षेपात् समासत इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली वाक्यं दृष्टार्थ इति प्रमाणान्तरोपलब्धियोग्यार्थः । त्रिभिर्हेतुभिरिति प्रज्ञापराधादिभिः । पङ्क्तिरुपक्रमा लङ्घनादयो लङ्घनवृहणीयोक्ताः । एतेषां वाक्यानामिहैव दृश्यतेऽर्थ इति दृष्टार्थत्वम् । सवि-पर्य्ययः—‘न सन्त्यायुर्वेदोपदेशाः’ इत्यादिर्ज्ञेयः ॥ ३३ ॥

भवति । इष्टार्थेन व्यवच्छिन्ना पदावली सम्भवति नानार्थकवाक्यं यत्रार्थ-  
विवक्षा प्रयोक्तुर्वर्तते तत्रार्थं यावत्पदाभिधानेन विवक्षणीयार्थसमाप्ति-  
स्तावदर्थोऽपीष्टः । सा पदावली वाक्यं न त्वविवक्षितेन अर्थेन । यथा  
हरिर्थावति वेगेन जिघांसन्नरिक्कुञ्जरमिति । येनार्थेन व्यवच्छिद्यते स एवार्थ  
इह पदावलयविधीयते । हरिर्विष्णुर्वा सिंहो वान्यो वेति तदन्याध-  
तु न वाक्यम् । तत्र पदं वर्णवृन्दं यत् सुवन्तं तिङन्तश्च तत् पदम् । सुवन्तं  
देवो देवीत्यादि, तिङन्तं भवति गच्छतीत्यादि । ननु तत्र भवतीति भूधातुः  
ततस्तिप् शप् भुव उकारस्य गुण ओकारः संहितायामोकारस्याव् ततः सिधयति  
इति । गच्छतीति गमेगेच्छादेशे सिधयतीति वर्णो विकारी किमादेशीति ?  
तत्रोक्तं गांतमेन । विकारादेशोपदेशात् संशयः । दध्यत्रेति केचिदिकार  
इत्वं हित्वा यत्तमापद्यते इति वर्णस्य विकारं मन्यन्ते, केचित् तत्र पुनरिकारस्य  
प्रयोगे विषये यदिकारस्य स्थानमिकारस्तत्स्थानं जहाति यकारस्तत्स्थान-  
मापद्यते इत्यादेशं ब्रुवते ; उभयमिदमुपदिश्यते, तत्र न धायते किं तत्त्वमिति  
संशयः । न तावद्गणविकाराः सन्ति, प्रकृतिविट्छ्रौ विकारवृद्धेः ; न सन्ति  
वर्णविकाराः प्रकृतिविट्छ्रौ हि विकारो विवर्द्धते । द्रव्यविकारेषु प्रकृत्यनु-  
विधानं दृष्टम् । दध्यत्रेति यकारे वृद्धिदीर्घविधानं नास्ति प्रकृतौ पुनरिकारे  
वृद्धिश्च दीर्घश्च विधीयते । वैकारिक इत्यादां वृद्धिः, वीसर्प इत्यादां  
दीर्घः । तदनुविधानाभावान्नानुमेयो वर्णविकार इति । तत्राह विकारवादी ।  
न्यूनसमाधिकोपलब्धेर्विकाराणामहेतुः । वर्णविकारप्रतिषेधे प्रकृतिविट्छ्रौ  
विकारविट्छ्रेरिति हेतुरहेतुः । कस्मात् ? विकाराणां न्यूनसमाधिकोप-  
लब्धेरिति । द्रव्यविकारः प्रकृतेर्न्यूनाश्च समाश्चाधिकाश्च दृश्यन्ते । द्रव्यविकार-  
दृष्टान्तश्च । नातुल्यप्रकृतीनां विकारविकल्पात् । अतुल्यानां द्रव्याणां  
प्रकृतिभावो हि विकल्प्यते विकारश्च प्रकृतीरनुविधीयते । न त्विवर्णमनु-  
विधीयते यकारस्तस्माद् द्रव्यविकारो न दृष्टान्तः । तत्राह । द्रव्यविकार-  
वैषम्यवद्वर्णविकारः । यथा द्रव्यत्वेन तुल्यायाः प्रकृतेर्विकारवैषम्यं पृथिवी-  
विकार एकविधो जलविकारस्तन्यविधस्तथा वर्णत्वेन तुल्यायाः प्रकृतेर्विकार-  
विकल्पः । इकारस्य यकारो यकारस्य पुनरिकार इति । न विकारधर्मा-  
नुपपत्तेः । नैवं सामान्येन विकारविकल्पः । विकारधर्मानुपपत्तेः । अयं  
हि विकारधर्माद् द्रव्यसामान्येऽपि यदात्मकं द्रव्यं मृदा सुवर्णं वा तस्यात्मनो-  
ऽन्वये पूर्वव्यूहो निवर्तते व्यूहान्तरश्चोपजायते, तं विकारमाचक्ष्महे ।

यथा सुवर्णं कुण्डलं भवति, मृत्तिका घटो भवति, न तथा विकारो यकारो यकारो वा इकारः । तदात्मान्वयाभावात् । विकाराभावे हेत्वन्तरश्चाह । विकारप्राप्तानामपुनरावृत्तेः । न वर्णविकाराः सन्ति विकारप्राप्तानाम् अपुनरावृत्तेः । यथा काष्ठस्य भस्मत्वे पुनर्न काष्ठरूपेणावृत्तिरिकारस्य यत्वे पुनर्यकारस्येत्वं दृश्यते । दध्यत्र, विव्यथे, अथैषः । सुवर्णादीनां पुनरावृत्तेरहेतुः । विकारप्राप्तानाम् अपुनरावृत्तेरिति हेतुरहेतुः । सुवर्णादीनां पुनरावृत्तः । कटकः सुवर्णात्मकः कुण्डलं जायते कुण्डलत्वं विहाय पुनः कटकत्वं प्राप्नोति । कथं पुनरावृत्तिः ? तद्विकाराणां सुवर्णभावाव्यतिरेकात् । सुवर्णादीनां विकाराणां सुवर्णभावेनैव प्रकृत्यनुच्छेदेनैव विकारप्राप्तानां पुनरावृत्तेः । विकारप्राप्तानामपुनरावृत्तेरिति हेतुरहेतुः । नन्ववस्थितं सुवर्णं हीयमानेन कुण्डलत्वेन चोपजायमानेन च धर्मेण धर्मि भवति । नैवं कश्चिद्वर्ण इति । तस्मात् सुवर्णदृष्टान्तो नोपपद्यते । तत्राह विकारवादी । वर्णत्वाव्यतिरेकाद् वर्णविकाराणामप्रतिषेधः । वर्णत्वेनावस्थितं इकारादिः हीयमानेन खलु इकारत्वधर्मेणोपजायमानेन च यत्त्वधर्मेण धर्मी भवति, तस्माद्वर्णविकाराः सन्ति न तेषां प्रतिषेधः । तत्राह प्रतिषेधवादी । सामान्यवतो धर्मयोगो न सामान्यस्य । सुवर्णत्वसामान्यवतो हि सुवर्णस्य कुण्डलत्वकटकत्वधर्मयोगो न सुवर्णत्वस्य सामान्यस्य । न तथा वर्णत्वसामान्यवतो वर्णस्य निखिलस्य इकारत्वयकारत्वधर्मयोगः । न वा वर्णत्वस्य सामान्यस्य तद्धर्मयोग इति न वर्णविकाराः सन्ति । इतश्च वर्णविकारानुपपत्तिः । नित्यत्वे विकारात् अनित्यत्वे चानवस्थानात् नित्या वर्णा इति पक्षे इकारयकारौ वर्णौ तदुभयोर्नित्यत्वे विकारानुपपत्तिरनित्यत्वे च विनाशित्वात् कः कस्य विकार इति । अनित्यां वर्णा इति पक्षेऽनवस्थानं वर्णानाम् । स चोत्पत्तिनिरोधः । उत्पद्यनिरुद्धे विकारे यकार उत्पद्यते । यकारे चोत्पद्यनिरुद्धे इकार उत्पद्यते । इति कः कस्य विकारः ? तदेतदवगृह्य सन्धाने सन्धाय चावग्रहे ज्ञयमिति । नास्ति च सुवर्णस्य स्वरूपं किमपि रूपं यद्रूपं सदुत्पद्यते तदेव विकारभूतं तदेव कटकः स्यात् कटकः पुनः कुण्डलं कुण्डलं पुनः कटक इति । एवं वर्णेऽपि, स्वरूपं किमपि रूपं नास्ति यद्विकारादिरूपेणोत्पद्यते स च विकारभूतस्तस्य विकारो यकारस्तस्य पुनरिकार इति समाधिः । नित्यत्वपक्षे च समाधिः ।

नित्यानाम् अतीन्द्रियत्वात् तद्धर्मविकल्पाच्च वर्णविकाराणामप्रतिषेधः । नित्या वर्णा न विक्रियन्ते इति प्रतिषेधो युक्तः । कस्मात् ? नित्यानामतीन्द्रिय-

त्वात् तद्धर्मविकल्पाच्च, नित्यानां सव्वेषामतीन्द्रियत्वात् । तत्र सव्वेषां नित्या-  
नाम् अतीन्द्रियत्वेऽपि द्वौ धर्मौ विकल्प्येते, परिणामी चैकोऽंशोऽपरिणामी  
चापरोऽंशस्तयोः अपरिणामी योऽंशः स मुख्यः, परिणामी तु योऽंशस्तदंगे  
कारणतः प्रव्यक्तः सन् कार्यरूपेण जायते, स तस्य विकारः । अन्यथा सन्नित्य-  
मद्रव्यवत् कार्य्य कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणामविशेषः कथमुप-  
पद्यते, यन्नित्यं तत् कथं कारणं स्यात् ? परिणाम्यंशो यदि न वर्तते परिणम्य  
हि कार्य्यमारभते । द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वञ्च कथं स्यात् ? आकाशः  
आकाशान्तरमारभते तथात्मात्मानं कालः कालान्तरं दिग्दिगन्तरं मनो मनो-  
ऽन्तरमिति । तस्मादेवं परिणामापरिणामौ द्वौ धर्मौ विकल्प्येते । तद्विकल्पान्न  
दोषः । अन्यथाविकल्पे तु दोषः स्यात् । तदयथा । नित्यं किञ्चिदतीन्द्रियं  
किञ्चिदैन्द्रियकम् । किञ्चिद्विक्रियते किञ्चिन्न विक्रियते, इत्येवं विकल्पो  
विरुद्धो हेत्वाभासो भवति । ऐन्द्रियकं चेन्नित्यं स्याद्विकारो न स्याद् विकार-  
श्चेन्नित्यं न स्यादिति । तस्मान्नैवं विकल्प्यते ।

अनित्यत्वपक्षे तु समाधीयते । अनवस्थायित्वे वर्णोपलब्धिवद्विकारोपपत्तिः ।  
यथाऽनवस्थायिनां वर्णानां श्रवणं भवति, एवमेपां विकारो भवति । इत्य-  
सम्बन्धादसमर्था । अर्थप्रतिपादिका वर्णोपलब्धिः न विकारेण सम्बन्धादसमर्था,  
या गृह्यमाणा वर्णविकारमुपपादयेदिति । तत्र यादृगियं गन्धगुणा पृथिवी एवं  
शब्दस्पर्शादिगुणापि । तादृगेतद्भवतीति । न च वर्णोपलब्धिवर्णनिवृत्तौ  
वर्णान्तरप्रयोगस्य निवर्त्तिका योऽयमिवर्णनिवृत्तौ यकारस्य प्रयोगः यद्ययं  
वर्णोपलब्ध्या निवर्त्तते तदा तत्रोपलभ्यमान इवर्णो यत्नमापद्यत इति गृह्यते ।  
तस्माद्वर्णोपलब्धिरहेतुवर्णविकारस्येति । तत्राह—विकारधर्मित्वे नित्यत्वा-  
भावात् कालान्तरे विकारोपपत्तेश्च अप्रतिषेधः । तद्धर्मविकल्पादिति न युक्तः  
प्रतिषेधः । न खलु विकारधर्मकं किञ्चिन्नित्यमुपलभ्यते । इति वर्णोपलब्धिवत्  
इति न युक्तः प्रतिषेधः । वर्णविघाते हि दधि अत्रेति प्रयुज्य चिरं स्थित्वा ततः  
संहितायां प्रयुङ्क्ते दध्यत्रेति चिरनिवृत्ते चायमिवर्णो यकारः प्रयुज्यमानः कस्य  
विकार इति प्रतीयते । कारणाभावात् कार्य्याभाव इत्यनुयोगः प्रसज्यते इति ।  
इतश्च वर्णविकारानुपपत्तिः । प्रकृत्यनियमाद्वर्णविकाराणाम् । वर्णविकाराभाव-  
प्रतिषेधो न युक्तः । वर्णविकाराणां प्रकृत्यनियमात् । इकारस्थाने यकारः  
श्रूयते यकारस्थाने चेकारो विधीयते । दृष्टो हि विकारधर्मित्वे प्रकृतिनियमः ।  
अनियमे नियमान्नानियमः । योऽयं प्रकृतेरनियम उक्तः स नियतो यथाविषयं

व्यवस्थितः । नियतत्वान्नियम इति भवति । एवं सत्यनियमो नास्ति । तत्र यदुक्तं प्रकृत्यनियमादित्युक्तमिति । नियमानियमविरोधादनियमे नियमाच्चाप्रतिषेधः । नियम इत्यत्राभ्यनुज्ञा । अनियम इति तस्य प्रतिषेधः । अनुज्ञातनिषिद्धयोश्च व्याघातादनर्थान्तरत्वं न भवति । अनियमश्च नियतत्वात् नियमो न भवतीति । यदेवं परिणामात् कार्यकारणभावाद्वा वणविकारोपपत्तिर्भवति तर्हि किं स्थान्यादेशभावात् प्रयोगे विकारशब्दप्रयोग इति ; स च भिद्यते । गुणान्तरापत्त्युपमर्द्दहासवृद्धिलेशश्लेषेभ्यस्तु विकारोपपत्तेर्वणविकारः । गुणान्तरापत्तिरुदात्तस्यानुदात्त इत्येवमादिः, उपमर्द्दी नाम एकरूपनिवृत्तौ रूपान्तरोत्पत्तिः, हासो दीर्घस्य ह्रस्वः, वृद्धिर्ह्रस्वस्य दीर्घः, गुणवृद्धिप्लुता वा तयोः, लेशो लाघवम्, अस्तेः स्त इति, श्लेष आगमः प्रकृतेः प्रत्ययस्य वा । एत एव विशेषा विकाराः, एत एवादेशा इति । एते चेद्विकारा उपपद्यन्ते तर्हि वर्णविकारा इति । ते विभक्त्यन्ताः पदम् । यथादर्शनं विकृता वर्णा विभक्त्यन्ताः पदसंज्ञा भवन्ति । विभक्तिद्वेयी सुप् च तिङ् च । सुप्नामिकी तिङ्नाख्यातिकी । उपसर्गनिपाताव्ययास्तर्हि न पदसंज्ञाः स्युः ? नैवम्, अव्ययाल्लोप इति शिष्यते । पदसंज्ञाप्रयोजनं पदेनार्थसम्प्रत्ययः । ननु धातुनाम्नां प्रत्यययोगेन पदं भवति तेन एकेन पदेन कथमर्थसम्प्रत्ययो भवति, धातुनामप्रत्ययेभ्य एवार्थसम्प्रत्ययो भवति । यथा पचतीति पदम् । तत्र ड् पच प् पाके लः कर्त्तरीति । वत्तमाने लङिति लटस्तिप् । नास्ति प्रथमो युष्मदि मध्यमोऽम्मदुत्तम इति, एकस्मिन् एकवचनमिति नाम्न्येकस्मिन्नेकवचनं तिप् । तथा च एकाश्रयो वत्तमानः पाक इति पचतीति पदार्थो न भवति, पचेः पाकार्थस्तिप् एकार्थो नाम योगी धातुयोगी तु वत्तमानोऽर्थः इति । वर्ण एवार्थस्फोट इति चेन्न । न ह्यन्तरेण पदावयवभावं प्रकृतिप्रत्ययौ मिथोऽन्वयमापद्यते न चानापन्नान्वयौ स्वस्वार्थं सम्प्रत्याययतः । सर्व्वादेशाश्च वस्मसादयो न प्रकृतिप्रत्ययविभागनिर्देशाः सन्ति । तस्मात् पदमेवार्थस्फोट इति । नैवं ; पदमपि नान्तरेण वाक्यावयवभावं सम्पूर्णार्थं प्रत्याययति नान्तरेण च पदान्तरार्थसान्निध्यं सम्पूर्णार्थप्रत्यायने मिथोऽन्वयमापद्यते । न च पचतेऽयं ब्रूतेऽसावित्यादिषु यमिति साविति च पदम् । तत्र इदमदसोरर्थसम्प्रत्ययेनान्तरेण विहितसंहिताप्रतिसन्धानं पदज्ञानं भवति, न च वाक्यज्ञानमन्तरेण तथाविधपदज्ञानं भवतीति वाक्यमेवार्थस्फोटः । तद्धि परस्परमन्वितानां स्वावयवभूतानां पदानामर्थसमुदायं स्फोटयति वर्णानामानुपूर्व्या वाक्यस्य श्रवणेन तदवयवस्मृत्या तत्तदवयवार्थबोधात् ततः

पदानां सर्वेषामर्थान्वयं योग्यतयावधार्यं सव्वार्थानामेकपिण्डेन बोधो वाक्याद्भवति । तत्रान्वयो द्विविधः । प्रयोक्तृरन्विताथपदप्रयोगे कर्त्तव्ये-  
ऽन्वितार्थाभिधानं पदानां वाक्यार्थबोद्धः पदाभिहितार्थान्वय इति । वाक्यञ्च  
उक्तम् । संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावलीति । इष्टो ह्यर्थः स भवति  
नानार्थानां योऽर्थो विवक्षितो यावद्भिः पदानामर्थश्च समाप्यतेऽभीष्टार्थ-  
प्रापनं तदिष्टार्थेन व्यवच्छिद्यते भिद्यते या पदानामावलिः स इष्टार्थव्यवच्छिन्ना  
पदावलिर्वाक्यं संक्षेपात् सामान्याद्भवति । तस्य वाक्यस्य तद्वाक्यावयवानां  
पदानां तत्तत्पदावयवानाञ्च धातुप्रातिपदिकप्रत्ययानामर्थाभिधाने सामर्थ्य-  
मुक्तमग्निपुराणेऽलङ्कारप्रकरणेऽग्निना वशिष्ठाय । तद् यथा—शब्दार्थाभ्याल-  
ङ्कारेषु प्रशस्तिकान्त्यौचित्यसंक्षेपयावदर्थताभिव्यक्तिभेदेन षड्विधेषु मध्ये-  
ऽभिव्यक्तिर्नाम योऽलङ्कारस्तल्लक्षणमुक्तम् । प्रकटत्वमभिव्यक्तिः श्रुतिराक्षेप  
इत्यपि । तस्या भेदौ श्रुतिस्तत्र शब्दं स्वार्थसमर्पणम् । भवेन्नैमित्तिकी  
प्रारिभाषिकी द्विविधैव सा । निमित्तं त्रिविधं तत्र स्यात् तु जातिगुणः  
क्रिया । सङ्केतः परिभाषेति ततः स्यात् पारिभाषिकी । मुख्यौपचारिकी  
चेति सा च सा च द्विधा द्विधा । स्वाभिधेयस्त्वलद्वृत्तिरमुख्यार्थस्य वाचकः ।  
यया शब्दो निमित्तेन केनचित् सौपचारिकी । सा च लाक्षणिकी गौणी  
लक्षणागुणयोगतः । अभिधेयाविनाभूत-प्रतीतिर्लक्षणोच्यते । अभिधेयेन  
सम्बन्धात् सामीप्यात् समवायतः । वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा  
मता । गौणी गुणानामानन्त्यादनन्ता तद्विवक्षया । अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र  
लोकसीमानुरोधिना । सम्यगाधीयते यत्र स समाधिरिह स्मृतः । श्रुते-  
रलभ्यमानोऽर्थो यस्माद्भाति सचेतनः । स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना  
व्यज्यते यतः । शब्देनार्थेन यत्रार्थः कृत्वा स्वयमुपाज्जनम् । प्रतिषेध इवेष्टस्य  
यो विशेषोऽभिधित्तया । तमाक्षेपं ब्रूवन्त्यत्र स्तुतं स्तोत्रमिदं पुनः ।  
अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः । यत्रोक्तं गम्यते नार्थस्तत्-  
समानविशेषणम् । सा समासोक्तिरुदिता सङ्क्षेपार्थतया बुधैः । अपह् तिरपह् तु  
किञ्चिदन्यार्थसूचनम् । पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते । एषामेकत्र  
संज्ञा च समाख्या ध्वनिरित्यतः । इति । व्याख्यातञ्चैतत् सर्वं तिस्रैषणीये  
सङ्ख्येण पुनरिह विस्तरेण व्याख्यायते ।

तद् यथा—प्रकटत्वमभिव्यक्तिः श्रुतिराक्षेप इत्याप । तस्या भेदौ श्रुतिस्तत्र  
शब्दं स्वार्थसमर्पणमिति । प्रकटत्वं स्फुटत्वमर्थस्य प्रव्यक्तीकरणसामर्थ्यमभि-



व्यक्तिरुच्यते । तस्या अभिव्यक्तेः द्वौ भेदौ श्रुतिराक्षेप इत्यपि । तत्र तयोर्मध्ये श्रुतिर्नामाभिव्यक्तिः शाब्दं शब्दकृतं स्वस्यार्थस्य समर्पणमुच्यते । शब्देन योऽर्थः समर्प्यते तदर्थसमर्पणं श्रुतिर्नामाभिव्यक्तिरुच्यते । तत्-श्रुतिग्रहस्तु व्याकरणादिभ्यः स्यात् । तदुक्तम् । शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोपासवाक्याद् व्यवहारतश्च । वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः । इति । तत्र नानाश्रुतीनामर्थभेदग्रहणमर्थादिभ्यो भवति । तदुक्तम् । अर्थात् प्रकरणाद्विज्ञातं औचित्याद् देशकालतः । शब्दार्थास्तु विभिद्यन्ते न रूपादेव केवलमिति शब्दानां शक्तिर्व्याकरणाद् गृह्यते । ड पच प् पाके । पचेः पाके श्रुतिः । ल कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्य इत्यादिना तिङ्गं कत्तेरि कर्मणि भावे च श्रुतिः तद्विशेषग्रहणं शपश्यनादि-यगादिभ्यः स्यादिति ।० उपमानात् । गौरिव गवय इति गोसादृश्याद् गवयज्ञानम् ।० कोपात् । अस्त्री पङ्क पुमान् पाप्मा पापं किल्विपकल्मषमित्यादि ।० आसवावयादासवचनात् । लोके यथायं घटोऽयं पट इत्येवमादिः ।० व्यवहारतस्तु । यवशब्देन याज्ञिका याज्ञिकदेशे शूक-धान्यविशेषं व्यवहरन्ति । म्लेच्छाः कङ्गम् ।० वाक्यशेषात् । विभक्त्यन्तं पदमिति वाक्ये विभक्तिशब्दस्य सुप्तिङ्-विभक्तिरिति शेषवचनात् ।० विवृते-र्यथा । इहव श्रुतिस्तत्र शाब्दं स्वार्थसमर्पणमिति, तस्मान्नेह श्रुतिर्वेदः ।० सिद्ध-पदसान्निध्यात् । रामलक्ष्मणौ पश्येति लक्ष्मणसान्निध्याद् दाशरथौ रामशब्द-ग्रहः । रामकृष्णौ पश्येति कृष्णपदसान्निध्याद् वासुदेवे रामशब्दग्रहः । इति । तथा शब्दार्थसंशये विशेषो गृह्यतेऽर्थात् ।० द्रव्याणां शक्तिरित्यत्रार्थात् सामर्थ्यं न तु शक्तिर्देवता ।० प्रकरणात् । रामायणे रामशब्दो दाशरथौ ।० लिङ्गात् । मित्रं नास्ति ममात्र तु । इह क्लीवाद् बान्धवे, मित्रो भातीति पुंलिङ्गात् सूर्ये ।० औचित्यात् । कृष्णो नमति देवकीमित्यत्र वासुदेवे कृष्णशब्दो न पाराशर्य्ये ।० देशाद् यथा । गत्ते रौति हरिरिति भेके हरिशब्दः ।० कालतः । वर्षासु रौति हरिः इति भेके हरिशब्दग्रहः । इति ।

तां श्रुतिं विभजते—भवेन्नैमित्तिकी पारि-भाषिकी द्विविधैव सा । इति । निमित्तेन विशिष्टे श्रुतिर्नैमित्तिकी, परिभाषया श्रुतिः पारिभाषिकी, इति द्विधा श्रुतिः । तत्र निमित्तमाह—निमित्तं त्रिविधं तत्र स्यात् तु जातिगुणः क्रियेति । जातिः गुणश्च क्रिया चेति त्रिविधं शब्दार्थश्रुतौ निमित्तम् । प्राक्सर्गे यस्य वस्तुनो यन्नाम परमेश्वरेण बुद्धिशक्त्याध्यवस्य गृह्यतया शक्त्या नियमितम्, तत्र तत्र वस्तुनि तस्य तस्य शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं प्रसिद्धमिति । तच्च कस्यचित्

शब्दस्य जातौ कस्यचिद्गुणे कस्यचित् क्रियायां प्रसिद्धप्रवृत्तेर्जातिशब्दो गौरि-  
त्यादिः, गुणशब्दो नील इत्यादिः, क्रियाशब्दश्चल इत्यादिः । पारिभाषिकी-  
माह—सङ्केतः परिभाषेति ततः स्यात् पारिभाषिकी । नामकृद्भिः कृतः सङ्केतः  
परिभाषा । इत्यतः परिभाषया शब्दस्य प्रवृत्तिः पारिभाषिकी नाम श्रुतिः ।  
यथा शिवदुर्गाहरिप्रभृतिषु शिवादयः शब्दाः यदृच्छासङ्केताद् यादृच्छिका इति ।

पातञ्जलभाष्ये चोक्तम् । जातिशब्दो गुणशब्दः क्रियाशब्दो यदृच्छा-  
शब्दश्चतुर्थः । गौः शुक्लश्चलो दित्य इति शब्दानां चतुष्टयी प्रवृत्तिरिति ।  
सङ्केतस्तु द्विविधः—प्राक् प्रसिद्ध आधुनिकश्च । पित्रादिभिर्नामकरणं शास्त्र-  
कारेण संज्ञाकरणं प्रसिद्धः शिवादयः । ते द्वे विभजते । मुख्यौपचारिकी चेति  
सा च सा च द्विधा द्विधा । इति । मुख्या चौपचारिकी चेति सा श्रुतिः पुनर्द्विधा ।  
सा च नैमित्तिकी सा च पारिभाषिकी द्विधा द्विधा भवति । मुख्या चौप-  
चारिकी चेति । मुख्या नैमित्तिकी औपचारिकी नैमित्तिकी, मुख्या पारि-  
भाषिकी औपचारिकी च पारिभाषिकीति । मुख्या प्रसिद्धा, यस्य योऽर्थः  
तस्यैवाभिधोच्यते । इति । लोके वेदे च यस्य योऽर्थस्तस्य तस्मिन्नर्थेऽभिधा-  
नाम श्रुतिर्मुख्या प्रसिद्धा । यथा गौः शुक्लश्चल इत्यादिः । नैमित्तिकी ।  
शिवदुर्गादिः पारिभाषिकी च इति मुख्या ।

अथौपचारिकीं लक्षयति । स्वाभिधेयस्वलद्वृत्तिरमुख्यार्थस्य वाचकः ।  
यथा शब्दो निमित्तेन केनचित् सौपचारिकीति । शब्दः केनचिन्निमित्तेन  
स्वाभिधेयादर्थान्त् स्वलन्ती वृत्तिर्यस्य स स्वाभिधेयस्वलद्वृत्तिः सन्  
अमुख्यार्थस्य वाचको यथा श्रुत्या स्यात् सा श्रुतिः औपचारिकी  
नैमित्तिकी पारिभाषिकी च । नैमित्तिकी यथा । नदीषु वसतां श्रेष्ठो  
गङ्गावासी नरः स्मृतः । गङ्गावासीति गङ्गासमीपे वासी लक्षणात्र पारि-  
भाषिकी । गौर्महिषीति गौणी नैमित्तिकी, यमुना गङ्गा गङ्गेवेति  
पारिभाषिकी गौणीति द्विधा औपचारिकी । औपचारिकीं विभजते । सा च  
लाक्षणिकी गौणी लक्षणागुणयोगतः । इति । सा नैमित्तिकी पारिभाषिकी  
चौपचारिकी द्विधा, लाक्षणिकी च गौणी च । तत्र लाक्षणिकी लक्षणा-  
योगतः, गौणी गुणयोगतः स्यात् । तत्र लक्षणां लक्षयति । अभिधेयाविना-  
भूत-प्रतीतिर्लक्षणोच्यते । अभिधेयोऽभिधेया योऽर्थः शब्देनाभिधीयते तस्याभि-  
धेयस्यार्थस्याविनाभूतस्तदर्थस्यापरित्यागेनामुख्यो योऽर्थस्तस्य प्रतीतिर्यथा  
स्यात् सा लक्षणोच्यते इति । तत्राभिधेयार्थाविनाभावो यथा स्यात् तद्वचनेन

लक्षणां विभजते । अभिधेयेन सम्बन्धात् सामीप्यात् समवायतः । वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता । इति । अभिधेयेन सम्बन्धादेका लक्षणा—कुन्ताः प्रविशन्ति, पुण्यतम आयुर्वेदः । अभिधेयेन सामीप्याद् द्वितीया लक्षणा—नद्यां ग्रामः, गङ्गायां घोषः । समवायतस्तृतीया—इमाः क्षत्रियजातयो वृषलत्वं गताः । इति । क्षत्रियजातिशब्दस्य तज्जातिमद्व्यक्तिषु लक्षणा । तच्छ्रेतः शङ्ख इति वैपरीत्यात् । असमवायतः यथा—मधुरो गुरुः स्निग्धः शीतश्च । मधुरे स्निग्धत्वादीनामसमवायात् । मधुरद्रव्ये लक्षणा चतुर्थी । क्रियायोगात् स्वाभिधेयाविनाभूतार्थप्रतीतिहेतुः पञ्चमी लक्षणा । अम्लो रुचिकृत्, रुचिजननक्रियायोगादम्लशब्दस्याम्लद्रव्ये लक्षणेति । समवायस्य सम्बन्धरूपत्वेऽपि पृथग्वचनं तद्वैपरीत्याल्लक्षणाकरणार्थं सम्बन्धसामान्यवैपरीत्याल्लक्षणा-प्रतिषेधार्थञ्चेति । तेनाभिधेयार्थसम्बन्धादेव ये लक्षणां वदन्ति तन्निरस्तम् ।

लक्षणां विभज्य गौणीं विभजते । गौणी गुणानामानन्त्यादनन्ता तद्विवक्षया । गौणी नामौपचारिकी नैमित्तिकपारिभाषिकार्थाविनाभूतार्थ-प्रतीतिहेतुरनन्ता गुणानामानन्त्यात् । तत्तद्गुणविवक्षया तत्तद्गौणी नामौपचारिकी । यथाग्निर्माणवक इत्यग्निवज्ज्योतिष्मत्त्वादग्निः, पुरुषः सिंह इति सिंहवद्विक्रमगुणवत्त्वात् सिंहः, पुरुषोऽयं गर्दभ इति गर्दभ-वदल्पबुद्ध्यादिगुणयोगाद् गर्दभ इत्येवमादिः । अस्य संज्ञान्तरमाह—अन्यधर्म-स्ततोऽन्यत्र लोके साम्यानुरोधिना । सम्यगाधीयते यत्र स समाधिरिति स्मृतः । इति । अन्यस्यैकस्य धर्मो यत् ततोऽन्यत्र यत्र लोके साम्यानु-रोधिना पुंसां सम्यगाधीयते स समाधिरुच्यते । अग्निर्माणवक इत्यग्निगुण-समाधानान्माणवकः समाधिरिति । अथात्र जिज्ञास्यम्—जातिनिमित्तेन यथा श्रुत्यर्थे शब्दः प्रवर्तते सा श्रुतिर्नैमित्तिकीति, यथा गौरिति यदुक्तं तत्र कः पुनर्गोपदार्थः ? किं गोलं गवाकृतिर्वा गोव्यक्तिर्वेति संशयान आह—यत् तद् गौतमेनोक्तम् । तदर्थे व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधावुपचारात् संशय इति । व्याख्यातं वात्स्यायनेन—अविनाभाववृत्तिः सन्निधिः । अविनाभावेन वर्त्तमानासु व्यक्त्याकृतिजातिषु गौरिति प्रयुज्यते । तत्र न ज्ञायतेऽन्यतमः पदार्थः किम्, उत सर्व्व इति । शब्दस्य प्रयोगसामर्थ्यात् पदार्थावधारणम् । तस्मात्—या-शब्दसमूहत्यागपरिग्रह-सङ्ख्यावृद्धापचयापचयवर्णसमासानुबन्धानां व्यक्तावुपचाराद् व्यक्तिः । व्यक्तिः पदार्थः । कस्मात् ? याशब्दप्रभृतीनां व्यक्तावुपचारात् उपचारतः प्रयोगः । या गौस्तिष्ठति या गौर्निषण्णेति ।

नेदं वाक्यं जातेरभिधायकम् अभेदाद् भेदात् तु द्रव्याभिधायकम् । गवां समूह इति भेदाद् द्रव्याभिधायकम् । न जातेरभेदात् । गोत्रजातिर्हि नानेका—वैद्याय गां ददातीति द्रव्यस्य त्यागो न जातेरभेदात् प्रतिक्रमानुक्रमानुपपत्तेश्च । दाने ग्रहीतुर्यः क्रमः स प्रतिक्रमः, दातुर्यो दानेति कर्तृव्यताक्रमः सोऽनुक्रमः । परिग्रहः स्वत्वेनाभिसम्बन्धः । कौण्डिन्यस्य गौर्ब्राह्मणस्य गौरिति । द्रव्याभिधाने द्रव्यभेदात् सम्बन्धभेदः । कौण्डिन्यस्य या गौर्ब्राह्मणस्यान्यस्यापरा गौर्न सा गौरिति परिग्रहे भवत्युपपन्नः । जातिस्त्वभिन्ना । या कौण्डिन्यस्य गौः सान्यस्य ब्राह्मणस्य गौरिति । सङ्ख्या दश गावो विंशतिर्गाव इति भिन्नं द्रव्यं सङ्ख्यायते न जातिरभेदादिति । वृद्धिः कारणतो द्रव्यस्योपचयः । अवर्द्धत गौरिति । निरवयवा तु जातिर्न वर्द्धते । एतेनापचयो व्याख्यातः । वर्णः शुक्ला गौः कपिला गौरिति, द्रव्यस्य गुणयोगो न सामान्यस्य जातेः । संमासः गोहितं गोसुखमिति द्रव्यस्य हितसुखादियोगो न जातेरिति । अनुबन्धः—सरूपप्रजननसन्तानः । गौर्गां जनयतीति तदुत्पत्तिधर्मत्वाद् द्रव्ये युक्तं न जातौ विपर्ययादिति ।

द्रव्यं व्यक्तिरिति ह्यनर्थान्तरम् । अस्य प्रतिषेधः । न तदनवस्थानात् । न व्यक्तिः पदार्थः । कस्मात् ? अनवस्थानात् । याशब्दप्रभृतिभिर्यौ विशिष्यते स गोपदार्थः । या गौस्तिष्ठति या निषण्णेति न द्रव्यमात्रमविशिष्टं जात्या विनाऽभिधीयते । किं तर्हि ? जातिविशिष्टं, तस्मान्न व्यक्तिः पदार्थः । एवं समूहादिषु द्रष्टव्यम् । १० यदि न व्यक्तिः पदार्थः, कथं तर्हि व्यक्तावुपचारः इति । निमित्तादतद्भावे तदुपचारो दृश्यते खलु । सहचरणस्थानतादर्थ्य-वृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणपुरुषवीरणराजसक्तु-चन्दनदेशशटकान्नपुरुषेष्वावेऽपि तदुपचारः । अतद्भावेऽपि तदुपचार इति, अतच्छब्दस्य तेन शब्देनाभिधानमिति । सहचरणात् । यष्टिकां भोजयेति यष्टिकासहचरितो ब्राह्मणोऽभिधीयते । स्थानात् । मञ्चाः क्रोशन्तीति मञ्चस्थाः पुरुषा अभिधीयन्ते । तादर्थ्यात् । कटार्थं व्यूह्यमानेषु वीरणेषु कटं करोतीति । वृत्तात् । यमो राजा कुबेरो राजेति तद्वद् वर्त्तते इति राजशब्दे राजवद् वृत्तोऽभिधीयते । मानात् । आढकेन मिताः सक्तव इत्यादकसक्तवः । धारणात् । तुलया धृतं चन्दनं तुलाचन्दनमिति । सामीप्यात् । गङ्गायां गावश्चरन्तीति देशोऽभिधीयते सन्निकृष्ट इति । योगात् । कृष्णैर्न रागेण युक्तः शाटकः कृष्ण इति । साधनात् । अन्नं प्राणा इति । आधिपत्यात् ।

अयं पुरुषः कुलम्, अयं गोत्रमिति । इत्येवं व्यक्तौ तूपचारदर्शनाद् व्यक्तिः पदार्थः ।

तत्राह वादी—तत्रायं सहचरणाद् योगाद् वा जातिशब्दो व्यक्ता-  
वुपचारात् प्रयुज्यते इति । तत्र चोत्तरमाह—यदि गौरित्यस्यार्थो न  
व्यक्तिरस्तु तर्हि—आकृतिस्तदपेक्षत्वात् सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः । यदि व्यक्ति-  
र्नास्तु पदार्थस्तर्हि चाकृतिः पदार्थः । कस्मात् ? तदपेक्षत्वात् सत्त्वव्यवस्थान-  
सिद्धेः । सत्त्वावयवानां हस्तादीनां तदवयवानाञ्च नियतो व्यूह आकृतिः ।  
तस्यां गृह्यमाणायां सत्त्वस्य द्रव्यस्य व्यवस्थानं सिध्यति । इयं गौरयमश्व  
इति । नागृह्यमाणायाम् । यस्य ग्रहणात् सत्त्वव्यवस्थानं सिध्यति, तं  
शब्दोऽभिधातुमर्हति, सोऽस्यार्थः । नैतदुपपद्यते । यस्य जात्या योगस्तदत्र  
जातिविशिष्टमभिधीयते गौरिति । न चावयवव्यूहस्य जात्या योगः । कस्य  
तर्हि जात्या योगः ? नियतावयवस्य व्यूहस्य द्रव्यस्य जात्या योगः ।  
तस्मान्नाकृतिः पदार्थः । अस्तु तर्हि जातिः पदार्थः । तत्राह—व्यक्त्याकृति-  
युक्ते मृद्ववकेऽपि जातिरस्ति सा किं तर्हि गोपदार्थ इति ? तत्राह । व्यक्त्याकृति-  
युक्तेऽप्यप्रसङ्गात् प्रोक्षणादीनां मृद्ववकेऽजातेः । जातिः पदार्थः । कस्मात् ?  
व्यक्त्याकृतियुक्तेऽपि मृद्ववके प्रोक्षणादीनामप्रसङ्गादिति । गां प्रोक्षय गामानय  
गां देहीत्येतानि न मृद्ववके प्रयुज्यन्ते । कस्मात् ? अजातेरिति जातेः  
अभावात् । अस्ति हि तत्र व्यक्तिरस्त्याकृतिर्यदभावात् तत्रासम्प्रत्ययः स  
पदार्थस्तस्माज्जातिः पदार्थ इति । तत्राह—नाकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वाज्जात्यभि-  
व्यक्तेः । न जातिः पदार्थः । जातेर्ह्यभिव्यक्तिराकृतिव्यक्ती अपेक्षते ।  
नागृह्यमाणायामाकृतौ व्यक्तौ च शुद्धं जातिमात्रं गृह्यते । आकृतिग्रहणा  
हि जातिस्तस्मान्न जातिः पदार्थ इति । न वै चेदासु पदार्थेन भवितुं शक्यम्  
इति कस्तर्हीदानीं पदार्थ इत्यत आह—व्यक्ताकृतिजातयस्तु पदार्थः । तु-  
शब्दो विशेषणार्थः । किं विशिष्यते ? प्रधानाङ्गभावस्यानियमेन पदार्थत्वम्  
इति । यदा हि भेदविवक्षा विशेषगतिश्च तदा प्रधानं व्यक्तिः, अङ्गन्तु जात्या-  
कृती । यदा तु न भेदो विवक्षितः सामान्यगतिश्च तदा जातिः प्रधानमङ्गन्तु  
व्यक्त्याकृती स्वीकृते । तदेतद्वहुलं प्रयोगेषु । आकृतेस्तु प्रधानभाव उत्-  
प्रेक्षितव्य इति । यथा सरूपाणामेकशेषे गावौ गाव इत्यादौ द्रव्यं प्रधानमङ्गं  
जात्याकृती । जातिवचनात् स्त्रियां ङीप् ब्राह्मणी महिषीत्येवमादिः सामान्य-  
गतेर्भेदाविवक्षया जातिः प्रधानमङ्गन्तु व्यक्त्याकृती । जात्याख्यायामेकस्मिन्

बहुवचनमन्यतरस्यामिति सम्पन्ना यवाः सम्पन्नो यव इत्याकृतिर्जात्याख्या प्रधानं जातिव्यक्ती तु अङ्गमिति । अथ कथं विज्ञायते नानाव्यक्त्याकृति-जातय इति ? लक्षणभेदात् । तत्र तावत् । व्यक्तिगुणविशेषाश्रयो मूर्तिः । व्यज्यत इति व्यक्तिः इन्द्रियग्राह्या, इति न सर्वं द्रव्यं व्यक्तिमूर्त्यभावात् । यो गुणविशेषाणां गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां गुरुत्वलघुत्वादीनामव्यापिनश्च परिमाणस्याश्रयो यथासम्भवं तद् द्रव्यम्, मूर्तिः मूर्च्छितावयवत्वात् । एतेन द्रव्यगुणकर्मणां लिङ्गस्य च संग्रहः कृतः । तत्र कचिद् द्रव्यं प्रधानम्, यथा दित्यो देवदत्तः शिवो दुर्गेत्यादिः । कचिद् गुणः प्रधानम् । उतो गुणवचनात् स्त्रियां ङीप् । पट्टी पटुः, मृद्री मृदुः, गुर्वी गुरुः, लघ्वी लघुरिति । कचित् कर्म प्रधानम् ; करिष्ठः पुमान् । कचित् लिङ्गं प्रधानम्, कोरकः पुमान् । स्त्रियामप्सरसः । अस्त्री पङ्कमित्येवमादिः । कचित् परिमाणं प्रधानम् ; द्रोणः पयसः, आदृको व्रीहेरित्यादि । कचित् सङ्ख्या प्रधानम् ; द्वौ ब्राह्मणौ, ब्राह्मणानां पञ्च । कचित् कर्त्तादिकारकं प्रधानम् ; गां नयति गोपः, गौर्गच्छतीत्येवमादिः । कचित् शब्दस्य स्वरूपमपि पदार्थः । सान्तमहतोर्दीर्घौ नुमि, महानित्येवमादि ।

अथाकृतिलक्षणमाह—आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या । जातिलिङ्गे आख्यायते यया सा जातिलिङ्गाख्या । यया जातिश्च जातिलिङ्गानि च प्रख्यायन्ते तामाकृतिं विद्यात् । सा च नानासत्त्वानां तदवयवानाञ्च नियताद् व्यूहादिति । नियतावयवव्यूहाः खलु सत्त्वावयवा जातिलिङ्गम् । शिरसा पदेन गामनुमिन्वन्ति, नियते च सत्त्वावयवानां व्यूहे सति गोलं प्रख्यायते इति । अनाकृतिव्यङ्ग्यायां जातौ मृत् सुवर्णं रजतमित्येवमादिष्व्वाकृतिर्निवर्त्तते । जहाति पदार्थत्वमिति । समानप्रसवात्मिका जातिः । या समानां बुद्धिं जनयति भिन्नेष्वधिकरणेषु, यया बहूनीतरेतरतो न व्यावर्त्तन्ते, योऽर्थोऽनेकार्थप्रत्ययानुवृत्तिनिमित्तं तत् सामान्यम् ; यच्च केषाञ्चिद् भेदं करोति तत् सामान्यविशेषो जातिरिति ।

अथ श्रुतिमभिव्यक्तिं निरूप्याक्षपो नामाभिव्यक्तिर्निरूप्यते । श्रुतेरलभ्यमानोऽर्थो यस्माद् भाति स चेतः । य आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः । इति । श्रुतिर्निरुक्ता या मुख्या नैमित्तिकी मुख्या पारिभाषिकी, औपचारिकी नैमित्तिकी औपचारिकी पारिभाषिकी, लाक्षणिकी गौणी च नैमित्तिकी लाक्षणिकी गौणी च पारिभाषिकी ; ततः श्रुतितोऽभिव्यक्तितो न लभ्यते योऽर्थः स श्रुतेरलभ्यमानोऽर्थो यस्माद् भाति प्रकाशते स तदर्थप्रकाशहेतुः श्रुतेरितर आक्षेपो नामाभिव्यक्तिर्भवति । सा व्यञ्जना नाम वृत्तिः, स

चाक्षेपो ध्वनिश्च उच्यते । कस्मात् ? यतो ध्वनिना वर्णात्मकेन शब्देनाभिव्यज्यते ध्वनिव्यङ्गत्वाद् ध्वनिः । तथा व्यञ्जनया योऽर्थोऽभिव्यज्यते स व्यङ्ग्यार्थः योऽर्थोऽर्थ एव भवति । ननु श्रूयते हि भू सत्तायामित्यादिरर्थो मुख्यया श्रुत्या धातूनाम्, कर्त्तरि कर्मणि भावे च लः श्रूयते, वर्त्तमानादिषु लडादयः श्रूयन्ते, तिवादीनि त्रीणि त्रीणि चैकादिषु श्रूयन्ते, तत्र प्रथममध्यमोत्तमानि त्रीणि त्रीणि नामयुष्मदस्मदन्वयीनि । तथा च पचति गच्छतीत्युक्ते, एकः कर्त्ता वर्त्तमानः पाकः, एकः कर्त्ता वर्त्तमानं गमनमिति श्रुतितो लभ्यते । कर्त्ता क्रियाश्रयः । एकाश्रयेण सह वर्त्तमानपाकस्याभेदः किमाक्षेपेण व्यज्यते ? नैवं ; स हि पदस्यार्थः श्रुतितो लभ्यते । देवदत्तः पचतीति देवदत्तो नाम पुरुषः श्रुत्या लभ्यते पारिभाषिक्या, सु-विभक्त्या तिङ्र्थकसङ्गान्वयो बोध्यते । तत्रैकसङ्गकदेवदत्तपाकाश्रययोर्भेदः कस्यार्थः ? एकदेवदत्ताभिन्नाश्रय इति बोधात् । सोऽभेदोऽर्थः किमाक्षेपेण लभ्यते इति ? नैवं ; स हि पदस्यार्थः । कथं तद्विज्ञानम् ? उच्यते । अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकमित्यनेन स्थापितम् । धातुरथैवान् प्रत्ययश्चार्थवान् प्रातिपदिकश्चार्थवदिति । तर्हि विभक्त्यन्तं पदं नार्थवत् ? नैवम्, उक्तं हि । प्रत्ययः । पर इत्यनेन प्रकृत्युत्तरमन्तरेण प्रत्ययस्यासम्भवात् । प्रत्ययान्तावयवभूतः प्रत्ययोऽर्थवानिति ख्यापितम् । तथापि नार्थवत् पदं स्थापितं भवति ? नैवं, प्रकृतेः परो यः प्रत्ययो विहितः स न निरन्वयेन विहितः प्रकृत्यर्थान्वयेनैव हि विहितस्ततो यः प्रत्ययार्थो येन सम्बन्धेनान्वयी भवितुमर्हति तत्सम्बन्धेनान्वयितया स प्रत्ययस्तस्याः प्रकृतेः परो विहित इति प्रकृत्यर्थप्रत्ययार्थौ परस्परान्वितौ प्रकृतिप्रत्ययौ ब्रूतः । तत्र प्रत्ययान्तेषु सुवन्तं तिङन्तश्च प्रत्ययान्तं पदम् अप्रत्यय इति विशेषणेन व्यावृत्तप्रातिपदिकसंज्ञा भवतु । तत् प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः सम्बन्धश्च पदस्यार्थो भवतु । कृत्तद्धितसमासानां यः प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः सम्बन्धः स कस्यार्थः पदत्वाभावान्न पदस्यार्थो न वा प्रातिपदिकार्थो न धातुर्थो न प्रत्ययार्थ इति ; उच्यते, स प्रातिपदिकार्थः । कथं विज्ञायते ? कृत्तद्धितसमासश्चेति प्रातिपदिकसंज्ञाविधानेन विज्ञायते । प्रत्ययान्तावयवप्रत्ययवर्ज्येणात् । कृत्तद्धितसमासानां प्रातिपदिकत्वप्रतिषेधे प्राप्ते पुनः समुदायैकार्थवत्त्वात् समुदायरय प्रातिपदिकसंज्ञाविधानात् । अन्यथा नीलोत्पलादीनामसमासान्तप्रत्ययानां प्रातिपदिकसंज्ञायां पृथग्ग्रहणानर्थक्यात् समासावयवभूतानां पदानामर्थवत्त्वेन समुदायस्य धातुप्रत्ययवर्ज्यत्वादर्थवत्त्वाभावाच्च प्रातिपदिकसंज्ञाप्राप्तिर्न स्यात् ।

तस्मात् समासग्रहणं कृतमाचार्येण सूत्रे । नन्वेवं चेत् तर्हि काष्ठैः स्थावरां  
 तण्डुलान् देवदत्तः पचतीत्यादिषु काष्ठाभिन्नकरणं स्थावराभिन्नाधिकरणं  
 तण्डुलाभिन्नं कर्म देवदत्ताभिन्नाश्रयः वर्तमानाभिन्नपाक इत्येवं बोधो  
 भवति न च परस्परमन्वय एषां श्रुतितो लभ्यते, तत्र तत्र यो यः सम्बन्धः स स  
 क्रियाक्षेपेण व्यज्यते । भवत्याक्षिप्योऽर्थ इति चेन्न । स हि वाक्यार्थः । कथं  
 विज्ञायते ? उच्यते । कारके इति सूत्रेण ज्ञापितम् । कथं ज्ञापितम् ? उच्यते,  
 महाभाष्ये तत् सूत्रं व्याख्यातम् । करोतीति कारकं, तच्च क्रियासाधकं  
 क्रियैव । द्विधा हि धात्वर्थः, फलञ्च तत्साधको व्यापारश्चेति । धात्वर्थ-  
 व्यापारः कारकं, स च व्यापारः पट्विधः । पट्विधव्यापाराश्रयाः पट्  
 च कारकाणि भवन्ति, एतदभिप्रायेण महाभाष्ये प्रोक्तम् । अथवा कारक इति  
 यावद्रक्ष्यति तावत् क्रियायामिति । ततो ध्रुवमपायेऽपादानमित्यादिषु वक्ष्य-  
 माणेषु कारकेऽपाये यद्भुवं तदपादानं नाम कारकमित्येवं व्याख्यानं, तेन  
 क्रियात्मकेषु पट्विधेषु व्यापारेषु यथायथमन्वये पट् कारकाणि विहितानि  
 अपादानादीनि । तस्मात् स्वस्वव्यापारे कारकाणामन्वयो येन येन सम्बन्धेन  
 भवति स स सम्बन्धो वाक्यार्थः श्रुत्यैव मुख्ययाऽभिव्यक्त्या भवतीति ।  
 नाक्षेपेण स सोऽर्थो व्यज्यते । तर्हि श्रुतेरलभ्यमानः कोऽर्थ आक्षेपात् प्रकाशत  
 इति । उच्यते, स चाक्षेपः स्तुतं स्तोत्रं समासोक्तिरपह्नुतिः । पर्यायोक्तं  
 समाख्या च पट्विधो ज्ञापितोऽग्निना । तद् यथा—शब्देनार्थेन यत्रार्थं कृत्वा  
 स्वयमुपाज्जेनम् । प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया । तमाक्षेपं  
 ब्रुवन्त्यत्र स्तुतं स्तोत्रमिदं पुनः । अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या  
 स्तुतिरिति । यत्राक्षेपे शब्देन स्वयं मुख्ययाभिधया श्रुत्यर्थेन द्वारोऽर्थमुपाज्जेनं  
 कृत्वा खल्विष्टस्याभिमतस्याथेस्य विशेषमभिधातुं वक्तुमिच्छया प्रतिषेध  
 इव क्रियते, तमाक्षेपमत्र स्तुतं ब्रुवन्ति । यथा—निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं  
 निर्मिल्लिष्टरागोऽधरो नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः । मिथ्यावादिनि  
 दूति वान्धवजनस्याल्लतपीडागमे वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्या-  
 धमस्यान्तिकमिति इह तावच्छब्दे मुख्यया श्रुत्या प्रत्येकशब्दार्थैः समुदाय-  
 श्लोकार्थमुपाज्जेनं कृत्वा स्वकान्तस्यानयनार्थं प्रेषितां दूतीं प्रति स्वाभी-  
 ष्टस्य सम्भोगार्थं कान्तानयनार्थं कान्तसन्निधाने गमनस्य विशेषं तस्य  
 स्वकान्तस्य दूत्या सह सम्भोगमभिधातुमिच्छया सम्भोगचिह्नानि स्नानचिह्नतया  
 दर्शयित्वा वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकमित्यनेन स्वेष्टस्य



कान्तनिकटे गमनस्य कृतस्यापि प्रतिपेध इव क्रियते इति स्तुतम् । एतेनेदं व्यञ्जितम् । रे दूति कान्तसम्भोगार्थिन्या मया मत्कान्तसमीपे आनयनार्थं प्रेषिता त्वमेव तेन सम्भुक्ता वान्धवजनस्य मम पीडां न जानासि त्वां किं ब्रुवे स हि पुरुषोऽधम इति ।०। अथ स्तोत्रं लक्षयति । स्तोत्रमिदं पुनः । अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः । इति । इदन्तु स्तोत्रं नामाक्षेपः । यत्राक्षेपेऽधिकारादपेतस्य व्यपगतस्यान्यस्य वस्तुनो या स्तुतिः वर्तते तत्स्तुतिकरणमाक्षेपः स्तोत्रमिति । यथा—धन्यासि या कथयसि प्रिय-सङ्गमेषु विस्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु । नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ॥ इति । इह सुरतविद्याधिकारादपे-ताया अन्यस्या नाय्याः स्तुतिरियं धन्यासीत्यादि । एतेनाक्षिप्यते ; सुरतविद्या-हीनासि न तत्सुखानुभवनिपुणासि यतः प्रियसङ्गमेषु रतान्तरेषु तत्सुखानु-भवभङ्गहेतुचाटुकशतानि कथयसि, नैवमहमस्मि, यतः किञ्चिदपि न स्मरामि गनो नान्यत्र निवेशयामि, तस्मात् त्वमधन्याहं धन्येति व्यज्यते ।०। अथ समासोक्तिं लक्षयति । यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽथस्तत्समानविशेषणः । सा समासोक्ति-रुदिता सङ्क्षेपार्थतया बुधैरिति । यत्रार्थे खलूक्ते सति यदि तत् समानविशेषणो-ऽन्योऽर्थो गम्यते तदा सङ्क्षेपार्थतया स आक्षेपो बुधैः समासोक्तिरुदिता । यथा—क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोऽंशुकान्तं गृह्णन् केशे-ष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण । आलिङ्गन् योऽवधूतत्रिपुरश्रुतिभिः साश्रनेत्रोत्पलाभिः कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निरिति । इह कामीवार्द्रापराध इति शाम्भवशराग्निसमानविशेषणः क्षिप्तोहस्तावलग्न इत्यादिरूपः इति समासोक्तिराक्षेपः ।०। अथापह्नुतिमाक्षेपं लक्षयति । अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थसूचनम् । यत्राक्षेपे किञ्चित् वस्तु अपह्नुत्य-चोरयित्वा अन्यार्थसूचनं क्रियते स आक्षेपोऽपह्नुतिर्नामोच्यते । तद् यथा—कस्य न वा रोपः स्यात् सत्रणमधरं प्रियायाः समीक्ष्य । सभृङ्गपद्माघ्रायिणि वारितवामेऽधुना सहस्र । इति । अत्र नायकान्तरेणाधरदंशनमपह्नुत्य सभ्रमरपद्माघ्राणे तद्भ्रमरकृतदंशोऽधरे दृश्यते इति सूचितं कयाचित् सख्या । इत्यपह्नुतिः ।०। अथ पर्यायोक्तं लक्षयति । पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभि-धीयते । यत्राक्षेपे एकविधेऽर्थे प्रस्तुतेऽन्येन प्रकारेणान्योऽर्थोऽभिधीयते स आक्षेपः पर्यायोक्ताख्य उच्यते । यथा—कान्ते कत्यपि वासराणि गमय त्वं मीलयित्वा दृशौ, स्वस्ति स्वस्ति निमीलयामि नयने यावन्न शून्या दिशः ।

अथ प्रत्यक्षम् । प्रत्यक्षं नाम तद् यदात्मना चेन्द्रियैश्च

आयाता वयमागमिष्यथ सुहृद्वग्रेस्य भाग्योदये, सन्देशो वद कस्तवाभिलपितस्तीर्थेषु तोयाञ्जलिरिति । भर्त्रा प्रवासं गच्छता यद्यदुक्तं तस्य तस्योत्तरमन्येन प्रकारेणोक्तं प्रियया । इति विपर्ययोक्तं पर्यायोक्तम् उच्यते । ॥ अथ समाख्यामाक्षेपं लक्षयति । एषामेकत्र सङ्गं च समाख्या ध्वनिश्रित्यतः । यत्राक्षेपे खल्वेषां पञ्चानां स्तुतस्तोत्रसमासोक्त्यपह्नुति-पर्यायोक्तानामेकत्र सङ्गः स्यात् तत्र सङ्गे सति स ध्वनिराक्षेपः, इत्यतः सर्व-ध्वनिसङ्गत्वात् समाख्यानामाच्यते । यथा—हन्तालि सन्तापनिवृत्तयेऽस्याः किं तालवृन्तं तरलीकरोषि । सन्ताप एषोऽन्तरदाहहेतुर्नतभ्रवो नव्यजनोपनोद्य इति । इह वैदेन स्वेष्यस्य कामिन्याः कामजसन्तापकथनस्य तद्विशेषं विजने विज्ञापनीय इति विवक्षणा किं तालवृन्तं तरलीकरोषीति प्रतिपेद्य इव कृत इति स्तुतम् । कामिन्याः शान्त्यधिकारादपेतस्य कामोत्कर्षितचित्तस्य स्तुतिः सन्ताप एषोऽन्तरदाहहेतुरिति वचनेन कृता, तत् एतत् स्तोत्रमाक्षेपः, न व्यजनोपनोद्य इति समासोक्तिः । व्यजनोपनोद्यो नैप सन्ताप इति तत्समानविशेषणोऽन्योऽर्थो नव्यजनोपनोद्यो युवजनेनोपनोद्य इति गम्यते, इति समासोक्तिः । अपह्नुतिश्चात्र कामजमनोव्याकुलतां कामिन्या अपह्नुत्य अन्तरदाहज एष सन्ताप इति सूचितः । इत्यपह्नुतिराक्षेपः । पर्यायोक्तश्चात्र एकविधोऽत्र प्रस्तुतः कोऽयमस्या व्याधिस्तत्रान्यप्रकारेण अन्तरदाहजसन्तापाभिधानमिति विपर्ययेणोक्तिः पर्यायोक्तिः । इत्येषां पञ्चानाम् एकत्र सङ्गत्वात् समाख्या नामाक्षेप इति । इत्येष पङ्क्तिश्च आक्षेपः खलु शब्दस्याभिव्यक्तिस्तयाक्षिप्योऽर्थः शब्दोऽपि तद्वोधश्चेदुपदेशाद्भवति तथापि नैप उपदेश आप्तोपदेशो नाम प्रमाणं वेदलोकयोरुपदेशरूपाभावात् । यस्तु वेदे स च नायं यश्च लोके पारम्पर्योपदेश ऐतिह्यं तच्च नैप उपदेशस्तस्मादेष आक्षेपेणोपदेशोऽर्थोपत्तिरनुमानेऽन्तर्भूतो गौतमादिभिः कृतः । तदर्थोपत्तिव्याख्याने दर्शयिष्यते । इति शब्दो व्याख्यातः ॥ ३३ ॥

गङ्गाधरः—अथोद्देशक्रमात् प्रत्यक्षं लक्षयति । वादे शब्दत उक्तिप्रत्युक्ति-वाक्यानन्तरं प्रत्यक्षेणोपलब्धिः कार्येत्यत आह, अथ प्रत्यक्षमिति । तच्च लक्षयति—प्रत्यक्षं नाम तदित्यादि । आत्मनेति सर्वत्रैवात्मानमन्तरेण

चक्रपाणिः—आत्मनेति मनसा, तेन, अनेन मानसप्रत्यक्षसुखाद्यमवस्थयते, इन्द्रियैश्चेत्यनेन

स्वयमुपलभ्यते । तत्रात्मप्रत्यक्षाः सुखदुःखेच्छाद्वेषादयः, शब्दा-  
दयस्त्विन्द्रियप्रत्यक्षाः ॥ ३४ ॥

कोऽपि नेन्द्रियाणामन्यतमो भावः स्वस्वार्थे प्रवर्त्तने प्रभवति, तेनात्मनः  
साधारणहेतुत्वेन हेतूपदेशे प्रायो नाचार्य्यणात्मा निर्दिश्यते, तस्मादत्रात्मशब्दो-  
पादानेनात्मभवत्वेऽपि बुद्धेः सुखादीनाञ्चात्मनैव प्रत्यक्षं न मानसप्रत्यक्षं मनसा  
जाताया बुद्धमेनोबुद्धिग्राह्यत्वाभावादात्मप्रत्यक्षमिति स्थापितम् । त्रिविधं-  
रोगविशेषविज्ञानीयेऽप्यात्मना चेन्द्रियैरित्युक्तेः । इन्द्रियैरिति श्रोत्रादिभिः  
पञ्चभिर्बुद्धीन्द्रियैर्बुद्ध्यपदेशे तेषां हेतुत्वात् ; न तु कस्मैन्द्रियैः पञ्चभिः ।  
परतन्त्रसिद्धमतीन्द्रियं मनश्चेन्द्रियमनुमतं न प्रतिपिद्धम् । तेन मनश्चेन्द्रियं  
स्वयं जागरितस्थानस्वप्नस्थानश्चात्मा । मनसा च युक्तैः पञ्चभिः श्रोत्रा-  
दिभिः इन्द्रियरात्मना यदुपलभ्यते तत् प्रत्यक्षं पञ्चविधं मानसञ्चेन्द्रिय-  
कञ्च । तन्त्रेऽस्मिन् पञ्चेन्द्रियाणीत्यादि पञ्चपञ्चकमुक्तं प्रमाणभूत-  
प्रत्यक्षाभिप्रायेण । परमतसिद्धश्चातीन्द्रियं सत्त्वसंज्ञकं मनोऽप्यप्रतिषेधात्  
अनुमतं मानसप्रत्यक्षम् । आत्मप्रत्यक्षञ्चेह प्रत्यक्षमात्रस्योपदेशार्थमुक्तं ततो न  
पूर्व्वेण विरोधः । विस्तरेण पूर्व्वं व्याख्यातम् । तान्युदाहरति—तत्रात्मेत्यादि ।  
आत्मप्रत्यक्षा इति प्रत्यगात्मप्रत्यक्षज्ञानविषयाः सुखादयः । शब्दादयः पट्-  
शब्दस्पर्शरूपरसगन्धचिन्त्यानीति पुनरिन्द्रियप्रत्यक्षज्ञानविषया इति । स्वयम्  
आत्मा बुद्ध्या युक्तेन स्वेन यदुपलभते तत् स्वप्रत्यक्षमात्मप्रत्यक्षं मनोयुक्तैरिन्द्रियैः  
यदुपलभते तदिन्द्रियप्रत्यक्षं तत्रात्मा केवलेन मनसा यत्किञ्चिदुपलभते तन्मानस-  
प्रत्यक्षमुच्यते । भ्रान्ता आत्मप्रत्यक्षं न विदन्ति । वैशेषिके च कणादेनोक्तम् ।  
परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणा मनसो गुणाः । अप्रत्यक्षत्वात् इति ।  
आत्मगुणा बुद्धीच्छाद्वेषसुखदुःखप्रयत्नाः । परत्र समवायात् । परस्मिन्  
अव्यक्तात्मनि ज्ञे समवायात् प्रत्यगात्मनि जागरितस्थानादौ तदात्मगुणानां  
तेषामभिव्यक्तेः प्रत्यगात्मजागरितस्थानादेः प्रत्यक्षत्वाच्च । न तु मनसो गुणाः ।  
अप्रत्यक्षत्वात् । मनसः प्रत्यक्षाभावाद् बुद्ध्यादीनामिति । गौतमेनाप्युक्तं फल-  
परीक्षायाम् प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेध इति । सूत्रमिदं चात्स्यायनेन व्याख्यातं  
प्रीतिरात्मप्रत्यक्षत्वादात्माश्रयेति ॥ ३४ ॥

वाह्यं प्रत्यक्षं गृह्यते । स्वयमुपलभ्यते इति साक्षादुपलभ्यते इति चेन्द्रियव्यापारेऽप्यपि यदनु-  
मानविज्ञानम्, तदसाक्षात्कारित्वान्न प्रत्यक्षमिति दर्शयति ॥ ३४ ॥

अथानुमानम् । अनुमानं नाम तर्को युक्त्यपेक्षः । यथोक्तम्  
अग्निं जरणशक्त्या, बलं व्यायामशक्त्या, श्रोत्रादीनि शब्दादि-  
ग्रहणेनेति ॥ ३५ ॥

अथैतिह्यम् । ऐतिह्यं नाम आसोपदेशो वेदादिः ॥ ३६ ॥

गङ्गाधरः—अत्रात्मप्रत्यक्षस्य तावन्मानसज्ञानत्वे यदि प्रामाण्यं तर्हि किमेक-  
मेव प्रत्यक्षं प्रमाणं, नान्तरेण मनो न किमपि ज्ञानमुत्पद्यते तत्रापि निर्देशार्थ-  
मिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं पञ्चविधं ज्ञानमिति भेदकरणार्थमिन्द्रियार्थसन्निकर्षा-  
धीनत्वज्ञापनार्थञ्च पृथक् पञ्चविधं प्रत्यक्षमुक्तमित्याशयेन मानसेषु ज्ञानेषु यस्य  
यस्य प्रामाण्यं तदुपदेशार्थं मानसं पञ्चेन्द्रियज्ञानं प्रत्यक्षं प्रमाणमुक्त्वा शेषं  
यद् यन्मानसं ज्ञानं प्रमाणं तत्तन्नामान्तरेणाह—अथानुमानम् । प्रत्यक्षानन्तरम्  
अनुमानं लोके भवति । तद् यथा । अनुमानं नामेत्यादि । युक्त्यपेक्षस्तर्को  
नाम युक्तिरेवानुमानं नामोच्यते । युक्तिः पूर्वमुक्ता । बुद्धिः पश्यति या  
भावान् बहुकारणयोगजान् । युक्तिस्त्रिकाला सा ह्येवा त्रिवर्गं साध्यते ययेति ।  
सैव युक्तिस्तर्क उक्तो गौतमेन । अविद्यातत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितत्त्व-  
ज्ञानार्थमूहस्तर्क इति । तथा च तर्कापेक्षस्तर्कोऽनुमानम् । तर्कस्यानुमाना-  
वान्तरीयकत्वादास्येव प्रामाण्यं न तु प्रमाणान्तरत्वमिति । व्याख्यातं विस्तरेण  
तिस्रैपणीये । उदाहरति—यथेत्यादि । इद्वैव स्थाने पूर्वमुक्तं यथा अग्निं  
जरणशक्त्या बलं व्यायामशक्त्येत्येवमादि । इत्येवमनुमानमेकं मानसं प्रत्यक्षज्ञानं  
प्रमाणम् ॥ ३५ ॥

गङ्गाधरः—तत्र कः पुनरग्निः का जरणशक्तिरित्येवमादिविज्ञानं नान्तरेणोप-  
देजं भवतीत्युक्तमैतिह्यमिति यत् तदाह—अथैतिह्यमिति । अनन्तरमैतिह्यं वाद-  
प्रवृत्तौ ह्येयम् । किं पुनरैतिह्यमित्यत आह—ऐतिह्यं नामासोपदेशो वेदादिः ।  
इहादिपदेन वेदार्थाविपरीतः परीक्षकैः प्रणीतः परीक्षकैश्च परीक्षितो यः  
कश्चिच्छास्त्रवादः सोऽप्यासोपदेशः । एवं लोकेऽपि यः कश्चित् पारम्पर्योप-  
देशः सोऽप्यासोपदेशः । वालो यथा जानाति—एष ते पिता माता चैषा

चक्रपाणिः—तर्को युक्त्यपेक्ष इत्यनुमानलक्षणं विविधरोगविज्ञानीय एव व्याकृतम् । अनु-  
मानोदाहरणमाह—‘अग्निं जरणशक्त्या’ इत्यादिना । अलौकिकासोपदेश ‘ऐतिह्य’पदेनोच्यत  
इत्याह—वेदादिरिति ॥ ३५।३६ ॥

अथौपम्यम् । औपम्यं नाम तद् यदन्येनान्यस्य सादृश्य-  
सधिकृत्य प्रकाशनम् । यथा दण्डेन दण्डकस्य, धनुषा धनुः-  
स्तम्भस्य, इषासिनारोग्यदस्येति ॥ ३७ ॥

त्वमेतद्गोत्र एतत्प्रवर एतद्वंशज इत्येवमादिनोपदेशेन बुध्यते इति । एतत्  
अवान्तरीयकत्वेनाप्तोऽपि प्रमाणमिति द्वितीयं मानसं ज्ञानं प्रमाणमाप्तोपदेशः ।  
यदाप्तेनोपदिश्यते वाक्येन स एवमिदमिदं नैवमित्येतद्रूपस्तदभिधायकवाक्यं  
श्रवणप्रत्यक्षं तद्वाक्यार्थादवगम्यते यत् तदवगमनं ज्ञानमेव मानसं न तु श्रावणम्  
इति प्रत्यक्षादन्य आप्तोपदेश इति ॥ ३६ ॥

गङ्गाधरः—अथोद्दिष्टमौपम्यमिति यत् तदाह—अथौपम्यमिति । वादे प्रतिष्ठा-  
स्थापनायां दृष्टान्तकरणार्थमनन्तरमौपम्यं श्रेयमित्यतस्त्वनुमानेऽन्तर्भूतमपि  
केनचिद्विशेषेण पृथगिह वादमार्गपदक्षाने प्रोच्यते । तच्चौपम्यं लक्षयति—  
औपम्यं नामेत्यादि । यदन्येन वस्तुनान्यस्य वस्तुनः सादृश्यं साधर्म्यं प्रत्यक्षानु-  
मानाप्तोपदेशैः प्रमाणैः पूर्वं प्रमाय यत् प्रकाशते तत् प्रकाशनमौपम्यं नामोच्यते ।  
यथा कश्चिद्विषक् कश्च पुरुषं दण्डसमस्तव्यगात्रं पश्यन् मनसा तर्कयति दण्ड-  
तुल्यस्तव्यगात्रत्वादस्य दण्डको नाम वातव्याधिः, धनुस्तुल्यस्तव्यगात्रं पश्यन्  
मनसा तर्कयति धनुःस्तम्भोऽस्य वातव्याधिः । प्राणाभिसरं वैद्यं पश्यन् मनसा  
तर्कयति यथा खल्विषासी धनुरादायेषु संयोज्य स्थूलेऽनतिविप्रकृष्टेऽनति-  
सन्निकृष्टे लक्ष्ये क्षिपन् कार्यं साधयति तथायं भिषक् साध्यरोगार्थमात्मवन्तं  
सोपचारकं सद्रव्यं चिकित्सन् तस्यारोग्यदो भवतीति मानसज्ञानविशेष  
औपम्यमनुमानविशेषः ततोऽनन्तरं तदनुव्यवस्यति । दण्डमिव गात्रं स्तम्भ-  
यतीत्ययं दण्डकः । धनुर्वन्नमयेद् यद् गात्रं स धनुःस्तम्भसंज्ञित इत्येवमादि ।  
परीक्षितमिदं गौतमेन लक्षणमुक्त्वा, तद्यथा—प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधन-  
मुपमानम् । अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानासिद्धिः । प्रसिद्धसाधर्म्यादुप-  
मानसिद्धेः यथोक्तदोषानुपपत्तिः । प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षसिद्धेः । नाप्रत्यक्षे गवये  
प्रमाणार्थम् उपमानस्य पश्याम इति । तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नाविज्ञपः ।  
इति । व्याख्यातञ्चैतत् सर्वं वात्स्यायनेन । प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्

चक्रपाणिः—यदन्येनेत्यादौ अन्येनेति प्रसिद्धेन । अन्यस्येत्यप्रसिद्धस्य । सादृश्यमधि-  
कृत्येति सादृश्यं प्रतिपाद्यं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रति कारणतया अधिकृत्य, यदा तु भट्टनयेन

उपमानमिति । प्रजातेन सामान्यात् प्रजापनीयस्य प्रजापनमुपमानमिति । यथा गौरेवं गवय इति । किं पुनरुपमानेन क्रियते ? यदा खल्वयं गवा समान-  
धर्म प्रतिपद्यते, तदा प्रत्यक्षतस्तमर्थं प्रतिपद्यत इति । सामान्यासम्बन्धप्रति-  
पत्तिरुपमानार्थ इत्याह, यथा गौरेवं गवय इत्युपमाने प्रयुक्ते गवा समानधर्मम्  
अर्थमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुपलभमानोऽस्य गवयशब्दः संज्ञेति संज्ञासंज्ञि-  
सम्बन्धं प्रतिपद्यत इति । यथा मुद्रस्तथा मुद्रपणी, यथा मापस्तथा मापपणी  
इत्युपमाने प्रयुक्ते उपमानात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यमानस्तामोपधिं भैषज्याय  
आहरति । एवमन्योऽप्युपमानस्य लोके विषयो बुभुत्सितव्य इति ।

तत्राह वादी । अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानासिद्धिरिति, अत्यन्त-  
साधर्म्यादुपमानं न सिध्यति । न चैवं भवति यथा गौरेवं गौरिति । प्राय-  
साधर्म्यादुपमानं न सिध्यति । न हि भवति यथानङ्गानेवं महिष इति । एकदेश-  
साधर्म्यादुपमानं न सिध्यति । न हि सर्व्वेण सर्व्वमुपमीयते इति सर्व्वमेव हि  
त्रल्वेकदेशसाधर्म्ययुक्तं भवति सर्व्वत्र सर्व्वमुपमानं भवतु न हि तथा भवतीति,  
तस्मादुपमानासिद्धिरिति । तत्र सिद्धान्तमाह । प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमानसिद्धः  
यथोक्तदोषानुपपत्तिरिति । न साध्यस्य कृत्स्नप्रायाल्पभावमाश्रित्योपमानं  
प्रवर्त्तते । किं तर्हि ? प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनभावमाश्रित्य प्रवर्त्तते ।  
यत्र चैतदस्ति न तत्रोपमानं प्रतिषेद्धुं शक्यम् । तस्माद्यथोक्तदोषो नोप-  
पद्यते इति । एवमुपमानसिद्धौ पुनराह वादी । अस्तु तर्हुपमानं परन्तु  
तदनुमानं नातिरिक्तमिति । कस्मात् ? प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षसिद्धेः । यथा धूमेन  
प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य बह्वेर्ग्रहणमनुमानमेवं गवा प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य गवयस्य  
ग्रहणमिति नेदमनुमानाद्विशिष्यते । तत्राह सिद्धान्तम् । अनुमानाद्विशिष्यते  
उपमानं यथा युक्त्या । नाप्रत्यक्षे गवये प्रमाणार्थमुपमानस्य पश्याम इति ।  
यदा ह्ययमुपयुक्तोपमानो गोदर्शी गवयं समानमर्थं पश्यति तदायं गवय इत्यस्य  
संज्ञाशब्दस्य व्यवस्थां प्रतिपद्यते । न चैवमनुमानमिति परार्थञ्चोपमानम् ।  
यस्य ह्युपमानमप्रसिद्धं तदर्थं प्रसिद्धोभयेन क्रियते इति । परार्थमुपमानमिति  
चेन्न स्वयमध्यवसायात् ? भवति च भोः स्वयमध्यवसायः । यथा गौरेवं गवय  
इति । नाध्यवसायः प्रतिषिध्यते । उपमाने तु तन्न भवति प्रसिद्धसाधर्म्यात्  
साध्यसाधनमुपमानमिति । न च यस्योभयं प्रसिद्धं तं प्रति साध्यसाधनभावो  
उपमानं व्याख्येयम्, तदा सादृश्यं प्रतिपाद्यतया अधिकृत्येति योजनीयम्, तेषां 'सादृश्यप्रतिपत्तिः'  
उपमानार्थः । न्याये च 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतीतिः' उपमानफलम्, तच्च प्रथमव्याख्यानाद् भवति;

विद्यते । यथा बलिवासवयोर्युद्धं बलिवासवयोरिवेति । एवमनुमानेऽन्त-  
र्भूतमपि विशेषान्तरमस्ति तदाह । तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नाविशेषः ।  
इति । वादे प्रतिष्ठास्थापनायां दृष्टान्ते तथेत्युपसंहारात् तथेति शब्देन  
समानधर्मोपसंहारादुपमानं सिध्यति नानुमानम्, अयश्चानयोर्विशेष इति ।  
गौतममतेन कपिलपतञ्जलिप्रभृतीनामुपमानस्यानुमानेऽन्तर्भावमतं न विरुद्धम्  
अभिप्रायभेदात् प्रामाण्यन्तूपमानस्य सर्वेषां सम्मतमिति ।

अथोपम्यमिदं न सादृश्यमात्रमग्निपुराणेऽग्निनार्थालङ्कारे प्रोक्तम्—सादृश्यं  
धम्मसामान्यमुपमा रूपकं तथा । सहोक्त्यर्थान्तरन्यासाविति स्यात्  
तच्चतुर्विधमिति । तच्च विवृतं तत्रैव । उपमा नाम सा या स्यादुप-  
मानोपमेययोः । सद्भावान्तरसामान्य-योगित्वेऽपि विवक्षितम् । सद्भावान्तर-  
सामान्याभावाद् यथा गौस्तथा गौरिति न स्यात् । स्यात् तु तव  
गौरिव मम गौरिति, तावकत्वमामकत्वसद्भावान्तरवत्त्वात्—किञ्चिदादाय  
सारूप्यं लोकयात्रा प्रवर्तते । समासेनासमासेन सा द्विधा प्रतियोगिनः ।  
प्रतियोगिन उपमेयस्य समासेनासमासेन सा द्विधा । विग्रहादभिधानस्य स  
अमासोऽन्यथोत्तरा । उपमाद्योतकपदेनोपमेयपदेन च । ताभ्याश्च विग्रहात्  
त्रिधा सा समासान्तिमा त्रिधा इति । यथा चन्द्रतुल्यमुखमिति । उपमाद्योत-  
कपदेन सह समासः । चन्द्रेण समकान्ति तवाननमित्युपमेयेन सह समासः  
चन्द्रसमानकान्ति । इहोभाभ्यां सह समास इति त्रिधा । चन्द्रेण तुल्यं मुख-  
मिति, चन्द्रतुल्यं मुखमिति, चन्द्रेण तुल्यमुखमिति द्वयोः समासत्वमसमासत्वञ्च  
इति । अथ धर्मभेदेनोपमा चाष्टादशधा । विज्ञेयमाणा उपमा भवन्त्यष्टा-  
दश स्फुटाः । यत्र साधारणो धर्मः कथ्यते गम्यतेऽपि वा । ते धर्म-  
वस्तुप्रधान्याधर्मयोस्तूपमे उभे । इति धर्मप्रधाना वस्तुप्रधाना चेति द्वे  
धर्मोपमे भवतः । सत्यं वचोऽमृतमिव । इति धर्मोपमा धर्मप्रधाना ।  
राजीवमिव ते वक्तुमिति वस्तुप्रधाना धर्मोपमा । ० । अथ परस्परोपमा । तुल्य-  
मेवोपमीयेते यथान्योन्येन धर्मिणौ । परस्परोपमा सा स्यात् प्रसिद्धेरन्यथा  
तयोः । विपरीतोपमा यस्माद्द्वयावृत्तेर्नियमोपमा । अन्यत्राप्यनुवृत्तेस्तु भवेच्च  
नियमोपमा । तवाननमिवाम्भोजमम्भोजमिव ते मुखम् । इति परस्परोपमा ।  
तवाननमिवोन्निद्रमरविन्दमभूदिदमिति विपरीतोपमा । पञ्च सर्वत्रोप-  
क्तं हि तत्र—“प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्” इति । दण्डेन दण्डकस्येति दण्डेन  
प्रसिद्धेनाप्रसिद्धस्य दण्डकस्य साधर्म्यमाप्तात् श्रुतवान् कुम्भकारकदण्डवद् विकारदर्शने सत्ययम्

मानमिह तूपमेयमिति विपरीतम् । अन्यस्माद्वावृत्तेनियमोपमा यथा । स्तनौ  
 विल्वफलसमौ स्थूलौ मुकटिनौ तव । न तु तालफलसमौ न पत्रकोरकोपमाविति  
 काठिन्याभावात् । अन्यत्राप्यनुवृत्तेश्च भवेच्च नियमोपमा । यथा—  
 कमलेनैव तुल्यं ते मुखं तुल्यौ स्तनौ मम । इति नियमोपमा द्विधा । ० ।  
 असमुच्चयोपमा । समुच्चयोपमाऽतोऽन्य-धर्मवाहुल्यकीर्तनात् । स्तनावम्भोज-  
 सदृशौ मालूरफलसन्निभौ इति । ० । व्यतिरेकोपमा यथा । रहोधर्मस्य साम्ये-  
 ऽपि वैलक्षण्यं विवक्षता । यदुच्यतेऽतिरिक्तत्वं व्यतिरेकोपमा तु सा । आहुर्मुखं  
 चन्द्रसममन्ये नाहं शशी क्षयात् इति । ० । अथ बहूपमा । यत्रोपमा स्याद् बहुभिः  
 सदृशैः सा बहूपमा । धर्माः प्रत्युपमानं चेदन्ये मालोपमैव सा । चन्दनोदक-  
 शीतांशु-चन्द्रकान्तादिभिः समा । स्पर्शेन त्वं सरोजाक्षि वीणाकोकिलभाषिणि ।  
 इति बहूपमा । ० । प्रत्युपमानं चेदन्ये धर्मास्तदा सा मालोपमा । कुचौ लकुच-  
 सन्निभौः रुचिरविल्वतुल्यौ शुभौ सुदादिमफलाकृती ज्वलयतो मनः कामिनाम्  
 इति । ० । अथ विक्रियोपमा । उपमानविकारेण तुलना विक्रियोपमा । यथा ।  
 पक्वमिवफलाभासावोष्ठौ ताम्बूलवर्जितौ । इति । ० । अथाद्भुतोपमा । त्रैकाल्या-  
 सम्भवि किमप्यारोप्य प्रतियोगिनि । कविनोपमीयते या प्रथ्यते साद्भुतोपमा ।  
 यथा—राकाचन्द्रमसो विधिः प्रतिदिनं कान्तां कलामुद्धरन्तैकैकां तव वक्तु-  
 चार्चवयवान् संवत्स्रं संनिम्ममौ । इति । ० । अथ मोहोपमा । प्रतियोगिन-  
 मारोप्य तदभेदेन कीर्तनम् । उपमेयस्य सा मोहोपमाऽसौ भ्रान्तिमद्वचः ।  
 यथा—पूर्णचन्द्रानने पूर्ण-चन्द्रं बुद्ध्वा तवाननम् । चकोराः परिधावन्ति युवानः  
 कामरूपिण इति । ० । अथ संशयोपमा । उभयोर्धर्मिणोस्तथ्यानिश्चयात्  
 संशयोपमा । यथा—कर्णिकालग्रभृङ्गं किं चञ्चलेन्दीवरद्वयम् । किमीक्षणद्वयं  
 लोलं तव वक्तुसरोवरे । इति । ० । अथ निश्चयोपमा । उपमेयस्य संशय-  
 निश्चयान्निश्चयोपमा । यथा—पद्ममेव विधुस्लानं फुल्लं कान्तोदये दिने ।  
 वितनोति तनोलक्ष्मीं लीनभृङ्गयुगं मुखमिति । ० । अथ वाक्यार्थोपमा । वाक्यार्थ-  
 नैव वाक्यार्थोपमाऽन्यस्योपमा मता । वाक्यार्थनान्यस्योपमा वाक्यार्थोपमा ।  
 यथा—नैकस्मिन् कमले भृङ्गद्वयं पिवति माक्षिकम् । खञ्जरीद्वयं नूनं  
 नृत्यतीह स्मितानने । इति । ० । अथात्मोपमा । स्वात्मनोपमात्मोपमा साधा-

असौ दण्डसंज्ञो विकार इति प्रत्येति । किंवा भट्टनयेन, प्रसिद्धं दण्डगतं साधर्म्यमप्रसिद्धदण्ड-  
 काव्यविकारसम्बन्धितया प्रत्येतीत्येवमन्यत्राप्युदाहरणे ज्ञेयम् । इप्वासिनेति । इप्सुमोक्षकेण, यथा  
 इप्सुमोक्षकेण लक्ष्येऽनतिविप्रकृष्टे नापराध्यते, तथाऽरोग्यदेन वैद्येन वैद्येगुणैरातुरं साधयता ॥ ३७ ॥



एणातिशायिनी । यथा—रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिवेति ।०। अथान्योपमा । उपमेयं यदन्यस्य तदन्यस्योपमा मता । यथा—दिवाकरेण संफुल्लमिव पद्मं सुखं तव । इति ।०। अथ गमनोपमा । यदुत्तरोत्तरं याति तदासौ गमनोपमा । यथा—नखानि विधुशङ्कया विरहिणी करेणाट्टणोत् ततः किशलयभ्रमात् करमतोऽक्षिपद् दूरतः । ततो वलयशिञ्जितं भ्रमरगुञ्जितं शङ्कया उहूरिति कुहूकुहूध्वनिभियापतन्मूर्च्छिता । इति ।०। इत्यष्टादशधा स्फुटोपमा व्याख्याताः ।

अथ स्फुटास्फुटपञ्चविधोपमामाह—प्रशंसा च नन्दा च कल्पिता सदृशी तथा । किञ्चित्च सदृशी ह्येया उपमा पञ्चधा पुनः । अन्यस्य प्रशंसया यदुपमीयते सा प्रशंसोपमा । मृणालाङ्गुरमत्तुं यन्न त्यजन्ति सरो मृगाः । तत्राब्जकुसुमायार्थी गत्वा न स्यात् प्रवञ्चितः ।०। एवमन्यस्य निन्दया यदुपमीयते सा निन्दोपमा । पद्मं बहुरजश्चन्द्र-क्षयट्टदी दिने दिने । ताभ्यां समं तव सुखं न तत् तत्त्वविदो विदुरिति ।०। कविना या तूपमा कल्प्यते सा कल्पितोपमा । सुखाब्जं दन्तकिञ्जल्कमोष्ठच्छदमलीक्षणम् । सौरभेणाकर्षति ते यूनां चित्तमळिं द्रुतमिति ।०। उपमानस्य सर्वधर्मैर्गण यदुपमेये सादृश्यं सा सदृश्योपमा । यथा—पद्मात्मिके तवाम्भोज-समं स्तनयुगं सुखम् । करद्वयं पादयुगं नेत्रयुगं मनोहरम् । इति । एषा पूर्णोपमा परैरुच्यते । या तूपमा पुनरुपमानगतानां धर्मणां किञ्चिद्धर्मैर्गण सादृश्यं स्यात् सा किञ्चित्सदृशी उपमा परैस्त्वेषा लुप्तोपमाभिधीयते । कान्त्या चन्द्रमसं धाम्ना सूर्यं धैर्येण वारिधिम् । राजन्ननुकरोषि त्वं जवेन मनसा ध्रुवमिति । किञ्चिदंशेन सादृश्यात् किञ्चित्सदृशीति । एषा त्रयोविंशतिधागिनोपमा प्रोक्ता । तेनान्योपमा नास्ति । यत्र कचिदन्या चोक्ता साऽनार्पत्वादग्राह्या । आभ्य उपमाभ्यो भिन्नं सादृश्यं रूपकादित्रयं नौपम्यमिति । तदुक्तञ्च । उपमानेन यत् तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते । गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद् विदुः । यथा—ताम्राङ्गुलिदलश्रेणि नखदीधीति केशरम् । ध्रियते मूर्द्धि भूपालेर्भवचरणपङ्कजमिति । उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमेव वा । उपमानोपमेययोरजातिमात्रभेदे गुणक्रियाभ्यामभेद इति तिरोभूतभेदा तूपमैव रूपकमिति तुल्यं लक्षणद्वयम् । सहोक्तिस्तु सादृश्यम् । सहोक्तिः सहभावेन कथनं तुल्यधर्मिणामिति । यथा—उभौ मध्वासव-क्षीरावुभौ चन्दनरूपिताविति, कृष्णाज्जुनयोः समधर्मिणोः सहभावेन कथनं सहोक्तिः । अथ अर्थान्तरन्यासः सादृश्यम् । भवेदर्थान्तरन्यासः सादृश्ये-

अथ संशयः । संशयो नामः सन्दिग्धेष्वर्थेष्वनिश्चयः । यथा

नोत्तरेण सः । इति । किंरूपाद् विशिष्टं कार्यं तत्राह—कारणसदृशं कार्य-  
मिति । इति व्याख्यातमप्यमिति ॥ ३७ ॥

गङ्गाधरः—एवं वादे प्रवर्तिते यः संशये इति संशय उद्दिष्टस्तमाह—  
अथ संशय इति । कः पुनः संशयो नामोच्यत इत्यत आह—संशयो  
नामेत्यादि । सन्दिग्धेषु समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्य-  
व्यवस्थातश्च विमृष्टेष्वर्थेषु अनिश्चयो विशेषापेक्षो विमर्गः संशयो नामाभि-  
धीयते । उक्तञ्चैतद् गौतमेन । समानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्य-  
व्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्गः संशय इति । व्याख्यातञ्चैतद् वात्स्यायनेन ।  
समानधर्मोपपत्तेर्विशेषापेक्षो विमर्गः संशय इति स्थाणुपुरुषयोः समानं  
धर्ममारोहपरिणाहौ पश्यन् पूर्वदृष्टञ्च तयोर्विशेषं बुभुत्समानः  
किंस्वित्यन्यतरन्नावधारयति । तदनवधारणं ज्ञानं संशयः । समानमनयोधर्मम्  
उपलभे, विशेषमन्यतरस्य नोपलभे ; इत्येषा बुद्धिरपेक्षया संशयस्य प्रवर्तिका  
वर्तते । तेन विशेषापेक्षो विमर्गः संशयः । अनेकधर्मोपपत्तेरिति समान-  
जातीयमसमानजातीयश्चानेकम्, तस्यानेकस्य धर्मस्योपपत्तेर्विशेषस्योभयथा  
दृष्टत्वात् । समानजातीयेभ्योऽसमानजातीयेभ्यश्चार्था विशिष्यन्ते । गन्धवत्त्वात्  
पृथिवी अत्रादिभ्यो विशिष्यते, गुणकर्मभ्यश्च । अस्ति च शब्दे विभागे खलु  
संयोगे त्वविशेषस्तस्मिन् द्रव्यं गुणः कर्म वेति सन्देहः । न हि शब्दो  
वैशेषिके नवसु द्रव्येषु विभक्तः कृतो न रूपादिषु सप्तदशसु गुणेषु न पञ्चसु  
उत्क्षेपणादिषु कर्मसु । विशेषस्य चोभयथा दृष्टत्वात् । किं द्रव्यस्य सतो  
गुणकर्मभ्यो विशेषः ? आहोस्विद् गुणस्य सत इति, अथ कर्मणः सतः ? इति  
विशेषापेक्षान्यतमस्य व्यवस्थापकं धर्मं नोपलभे इति बुद्धिरपेक्षया संशयस्य ।  
विप्रतिपत्तेरिति । व्याहतमेकार्थदर्शनं विप्रतिपत्तिः । व्याघातो विरोधो-  
ऽसहभाव इति । अस्त्यात्मेत्येकं दर्शनम् नास्त्यात्मेत्यपरं, न च सद्भावा-  
भावौ सहैकत्र सम्भवतः । न चान्यतरसाधको हेतुरुपलभ्यते । तत्र तत्त्वानव-

चक्रपाणिः—सन्देहलक्षणानुसन्दिग्धेष्वर्थेष्वित्यनेन सन्देहयोग्यं विषयं दर्शयति, अनेन च,  
न्यायोक्तात् “समानानेकधर्मोपपत्तेः” इति वचनात् विषयं संशयस्य च दर्शयति । संशय-

\* सन्देहलक्षणानुसन्दिग्धेष्विति चक्रवर्तः पाठः ।

धारणं संशयः । इति । उपलब्ध्यव्यवस्थातः खल्वपि सच्चोदकमुपलभ्यते तङ्गादिषु मरीचिषु वा अविद्यमानमुदकमिति । ततः कचिदुपलभ्यमाने तत्त्वव्यवस्थापकस्य प्रमाणस्यानुपलब्धेः किं सदुपलभ्यते उत असदिति संशयो भवति । अनुपलब्ध्यव्यवस्थातः सच्च नोपलभ्यते मूलक्रीलकोदकादि । असच्चानुपपन्नं विरुद्धं वा । ततः कचिदनुपलभ्यमाने तत्त्वव्यवस्थापकस्य प्रमाणस्यानुपलब्धेः किं सन्नोपलभ्यते उतासदिति संशयो भवति । विशेषापेक्षा अत्र पूर्ववत् । पूर्वः समानोऽनेकश्च धर्मा ज्ञेयस्य । उपलब्ध्यनुपलब्धी पुनर्जातस्थे । एतावता विशेषेण पुनर्वचनम् । समानधर्माधिगमात् समानधर्मापपत्तेर्विशेषस्मृत्यपेक्षो विमश इति । लक्षणमिदं परीक्षितं स्वयमेव । तद् यथा—समानानेकधर्माध्यवसायादन्यतरधर्माध्यवसायाद् वा न संशयः । विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च । विप्रतिपत्तौ च सम्प्रतिपत्तेः । अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः । तथात्यन्तसंशयस्तद्धर्मसातत्योपपत्तेः । यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विशेषापेक्षात् संशयेनासंशयो नात्यन्तसंशयो वा । यत्र संशयस्तत्रैवोत्तरोत्तरप्रसङ्ग इति । व्याख्यातञ्चैतत् सर्वं वात्स्यायनेन । तद् यथा—समानानेकधर्माध्यवसायादन्यतरधर्माध्यवसायाद् वा न संशय इति । समानस्य धर्मस्याध्यवसायात् संशयः स्यात् न धर्ममात्रात् । अथवा समानमनयोर्द्यद्धर्ममुपलभते इति धर्मेधर्मिग्रहणे संशयाभावः । इति । अथवा समानधर्माध्यवसायादर्थान्तरभूते धर्मिणि संशयोऽनुपपन्न इति । न जातु रूपस्यार्थान्तरभूतस्याध्यवसायादर्थान्तरभूते स्पर्शे संशय इति । अथवा नाध्यवसायादर्थविधारणादनवधारणज्ञानं संशय उपपद्यते, कार्यकारणयोः सारूप्याभावादिति । एतेनानेकधर्माध्यवसायादिति व्याख्यातम् । अन्यतरधर्माध्यवसायाच्च संशयो न भवति । ततो ह्यन्यतरावधारणमेवेति । विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च न संशयः । विप्रतिपत्तिमात्रादव्यवस्थामात्राद् वा न संशयो भवति । किं तर्हि, विप्रतिपत्तिमुपलभमानस्य संशयः । एवमव्यवस्थायामपीति । अथवाऽस्त्यात्मेत्येके नास्त्यात्मेत्यपरे मन्यन्त इत्युपलब्धेः कथं संशयः स्यादिति । तथोपलब्धिः अव्यवस्थिताऽनुपलब्धिश्चाव्यवस्थितेति विभागेनाध्यवसिते संशयोऽतो नोपपद्यत इति । विप्रतिपत्तौ च सम्प्रतिपत्तेः । याञ्च विप्रतिपत्तिं भवान् संशयहेतुं मन्यते, सा सम्प्रतिपत्तिः । सा हि द्वयोः प्रत्यनीकधर्मविषया, तत्र यदि लक्षणम्—‘अनिश्चयः’ इति ज्ञेयम् । अनिश्चयः पाक्षिकविरुद्धधर्मावमर्पकं ज्ञानम्, यथा—

विप्रतिपत्तेः संशयः, सम्प्रतिपत्तेरेव संशय इति । अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः न संशयः । यदि तावदियमव्यवस्थात्मन्येव व्यवस्थिता, व्यवस्थानादव्यवस्था न भवतीत्यनुपपन्नः संशय इति । अथ अव्यवस्थात्मनि न व्यवस्थिता । एवमतादात्म्यादव्यवस्था न भवतीति संशयाभाव इति । तथात्यन्तसंशयस्तद्धर्मसातत्योपपत्तेः । येन कल्पेन भवान् समानधर्मापपत्तेः संशय इति मन्यते, तेन खल्वत्यन्तसंशयः प्रसज्यते । समानधर्मापपत्तेरनुच्छेदात् संशयानुच्छेदः । नायमतद्धर्मा धर्मी विमृश्यमानो गृह्यते । सततन्तु तद्धर्मा भवतीति । ०। अस्य प्रतिषेधप्रपञ्चस्य सङ्क्षेपेणोद्धारः । यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विशेषापेक्षात् संशये नासंशयो नात्यन्तसंशयो वा । संशयानुपपत्तिः संशयानुच्छेदश्च न प्रसज्यते । कथम् ? यत् तावत् समानधर्माध्यवसायः संशयहेतुर्न समानधर्ममात्रमिति । एवमेतत् । कस्मादेवं नोच्यते इति ? विशेषापेक्ष इति वचनात् सिद्धेः । विशेषस्यापेक्षाकाङ्क्षा, सा चानुपलभ्यमाने विशेषे समर्था । न चोक्तं समानधर्मापेक्ष इति । समाने च धर्मे कथमाकाङ्क्षा न भवेत् । यद्ययं प्रत्यक्षः स्यात् । एतेन सामर्थ्येन ज्ञायते समानधर्माध्यवसायादिति । उपपत्तिवचनाद् वा समानधर्मापपत्तेः इत्युच्यते । न चान्या सद्भावसंवेदनादृते समानधर्मापपत्तिरस्ति । अनुपलभ्यमानसद्भावो हि विशेषो धर्मोऽविद्यमानवद् भवतीति । विषयशब्देन वा विषयिणः प्रत्ययस्याभिधानम् । यथा लोके धूमेनाग्निरनुमीयते इत्युक्ते धूमदर्शनेनाग्निरनुमीयते इति ज्ञायते । कथम् ? दृष्ट्वा हि धूममग्निरनुमिनोति नादृष्ट्वा । न च वाक्ये दर्शनशब्दः श्रूयते । अनुजानाति च वाक्यार्थप्रत्यायकत्वम् । तेन मन्यामहे विषयशब्देन विषयिणः प्रत्ययाभिधानं बोद्धानुजानाति । एवमिहापि समानधर्मशब्देन समानधर्माध्यवसायम् आहति । यदुक्तम् समानमनयोर्धर्ममुपलभत इति धर्मधर्मिग्रहणे संशयाभाव इति । पूर्वदृष्टविषयमेतत् । यावहमर्थो पूर्वमद्राक्षं तयोः समानं धर्ममुपलभे, विशेषं नोपलभे इति । कथन्तु विशेषं पश्येयं येनान्यतरप्रवधारयेयमिति । न चैतत् समानधर्मापलब्धौ धर्मधर्मिग्रहणमात्रेण निवर्तत इति । यच्चोक्तं नार्थान्तराध्यवसायादन्यत्र संशय इति । यो ह्यर्थान्तराध्यवसायमात्रं संशयहेतुमुपाददीत स एवं वाच्य इति । यत् पुनरेतत् कार्यकारणयोः सारूप्याभावादिति । कारणस्य भावाभावयोः कार्यस्य भावाभावौ कार्यकारणयोः सारूप्यम् । यस्योत्पादाद् यदुत्पद्यते यस्य चानुत्पादाद् यन्नोत्पद्यते

किमकालमृत्युरस्ति नास्तीति । दृष्टाश्चायुष्मत्लक्षणैरुपेताश्च

तत् कारणं, कार्यमितरत् इत्येतत् सारूप्यम् । अस्ति च संशयकारणे संशये चैतत् इति । एतेनानेकधर्माध्यवसायादिति प्रतिषेधः परिहृत इति । यत् पुनरेतत् उक्तं विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च न संशय इति । पृथक्प्रवादयोर्व्याहृतम् अर्थमुपलभे विशेषश्च नोपलभे येनान्यतरमवधारयेयमिति । तत् कोऽत्र विशेषः स्याद् येनैकतरमवधारयेयमिति । संशयो विप्रतिपत्तिजनितोऽयं न शक्यो विप्रतिपत्तिसम्प्रतिपत्तिमात्रेण निवर्त्तयितुमिति । एवमुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थाकृते वेदितव्यमिति । यत् पुनरेतत् विप्रतिपत्ताविति । विप्रतिपत्तिशब्दस्य योऽर्थस्तदध्यवसायो विगोपापेक्षः संशयहेतुस्तस्य च समाख्यानतरेण न निवृत्तिः । समानेऽधिकरणे व्याहृतार्थो प्रवादौ विप्रतिपत्तिशब्दस्यार्थः । तदध्यवसायश्च विगोपापेक्षः संशयहेतुर्न चास्य सम्प्रतिपत्तिशब्दे समाख्यानतरे योज्यमाने संशयहेतुत्वं निवर्त्तते । तदिदमकृतबुद्धिसम्मोहनमिति । यत् पुनरव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थाया इति । संशयहेतोरर्थस्य अप्रतिषेधादव्यवस्थाभ्यनुज्ञानाच्च निमित्तान्तरेण शब्दान्तरकल्पना व्यर्था । अव्यवस्था खलु व्यवस्था न भवति । अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वादिति न । अनयोरुपलब्ध्यनुपलब्ध्योः सदसद्विषयत्वं विगोपापेक्षं संशयहेतुर्न भवतीति प्रतिषिध्यते । यावता चाव्यवस्थात्मनि व्यवस्थिता न तावदात्मानं जहाति । तावता ह्यनुज्ञाता भवत्यव्यवस्था । एवमियं क्रियमाणापि शब्दान्तरकल्पना नार्थान्तरं साधयतीति । यत् पुनरेतत् । तथात्यन्त-संशयस्तद्धर्मसातत्योपपत्तेरिति । नार्थं समानधर्मादिभ्य एव संशयः । किं तर्हि ? तत्तद्विषयाध्यवसायाद् विशेषस्मृतिसंहितादित्यतो नात्यन्तसंशय इति । अन्यतरधर्माध्यवसायाद्वा न संशय इति, यंदुक्तं विगोपापेक्षो विमग्नः संशय इति वचनात् । विगोपश्चान्यतरधर्मः, न च तस्मिन्नाध्यवसीयमाने विगोपापेक्षा सम्भवतीति । यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तरप्रसङ्गः । यत्र यत्र संशयपूर्विका परीक्षा-शास्त्रे कथायां वा, तत्र तत्रैवं संशये परेण प्रतिषिद्धे समाधिर्वाच्यः इति । इति सव्वेपरीक्षाव्यापित्वात् संशयः परीक्षित इति । स्वयमुदाहरति—यथेत्यादि । अकालमृत्युरस्ति किं नास्तीति संशयः । कथमित्यत आह—

“स्थाणुर्वा पुरुषो वा” इति । दृष्टा-हीत्यादिना संशयोऽपत्तिसामग्रीमाह, तत्रायुष्यलक्षणोपेतानाम्

अनुपेताश्च तथाक्रियाः सक्रियाश्च पुरुषाः शीघ्रभङ्गाश्चिरजीवि-  
नश्च । तदुभयदृष्टत्वात् संशयः किमस्ति खल्वकालमृत्युस्त-  
नास्तीति ॥ ३८ ॥

अथ प्रयोजनम् । प्रयोजनं नाम यदर्थमारभ्यन्ते आरम्भाः ।  
तद् यथा यद्यकालमृत्युरस्ति ततोऽहमात्मानमायुष्यैरुप-  
चरिष्यामि; अनायुष्याणि च परिहरिष्यामि, कथं माम्  
अकालमृत्युः प्रसहेतेति प्रयोजनम् ॥ ३९ ॥

अथ सव्यभिचारम् । सव्यभिचारं नाम यद् व्यभि-

दृष्टाश्चेत्यादि । तदुभयदृष्टत्वाद् विप्रतिपत्तितोऽयं संशयः किमस्ती-  
त्यादि ॥ ३८ ॥

गङ्गाधरः—अथ संशये सति वादे प्रवर्त्तते न चासंशयवानित्यतः पुनर्जयाद्यर्थं  
चासंशयवानपि वादे प्रवर्त्तते ततः प्रयोजनमित्युक्तं यत् तदाह—अथ प्रयोजनम् ।  
वादे प्रवृत्तौ संशयवदपरमपि प्रयोजनमस्तीति तत् किमित्यत आह—प्रयोजनं  
नामेत्यादि । यदर्थं यत्कलायारम्भाः क्रिया आरभ्यन्ते तत् फलं प्रयोजनं  
नामोच्यते, तदुदाहरति—यद्यकालमृत्युरित्यादि । गौतमेनाप्युक्तम् । यमर्थमधि-  
कृत्य प्रवर्त्तते तत् प्रयोजनमिति । व्याख्यातश्च वात्स्यायनेन । यमर्थमाप्तव्यं  
हातव्यं बाध्यवसायं तदाप्तिहानोपायमनुतिष्ठति तत् प्रयोजनं वेदितव्यम्,  
प्रवृत्तिहेतुत्वात् । इममर्थमाप्स्यामि हास्यामि वेति व्यवसायोऽर्थस्याधिकारः ।  
एवं व्यवसीयमानोऽर्थोऽधिक्रियते इति ॥ ३९ ॥

गङ्गाधरः—अथ वादे प्रवर्त्तमाने यद् वाक्यं तस्य दोषविशेषात् सव्यभिचारं  
ज्ञेयं भवतीत्युद्दिष्टं सव्यभिचारमिति यत् तदाह—अथ सव्यभिचारमिति ।  
अनन्तरं सव्यभिचारं यत् किं नु खलु तदुच्यते इत्यत आह—सव्यभिचारं

अक्रियाणां शीघ्रभङ्गे तथा सक्रियाणाञ्च चिरजीवने दृष्टे अकालमृत्युरस्तीति बुद्धिः, एतद्विपर्यये  
चाकाले मृत्युर्नास्तीति बुद्धिः ॥ ३८ ॥

चक्रप्राणिः—यदर्थमिति यन्निमित्तम् । प्रसहेतेति मारयेदित्यर्थः । सव्यभिचारमित्यनेकान्तिकम्

चरणम् । यथा भवेदिदमौषधं तरिमन् व्याधौ यौगिकमथवा  
नेति ॥ ४० ॥

अथ जिज्ञासा । जिज्ञासा नाम परीक्षा । यथा भेषज-  
परीक्षोत्तरकालमुपदेक्ष्यते ॥ ४१ ॥

नामेत्यादि । यद्व्यभिचरणमनेकान्तवचनं क्वचित् तथा क्वचिदन्यथेति तत्  
सव्यभिचारं व्यभिचारेण सहितं वर्त्तमानम् । गौतमेनोक्तञ्च । अनैकान्तिकः  
सव्यभिचारः । व्याख्यातञ्चैतत् व्यभिचार एकत्राव्यवस्था, सह व्यभिचारेण  
वर्त्तते इति सव्यभिचारः । नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वात्, स्पर्शवान् कुम्भोऽनित्यो  
दृष्टः । न च तथा स्पर्शवान् शब्दस्तस्मादस्पर्शत्वान्नित्यः शब्द इति दृष्टान्ते  
स्पर्शवत्त्वमनित्यत्वञ्च धर्मौ न साध्यसाधनभूतौ दृश्येते स्पर्शवांश्चाणुर्नित्यश्चेति ।  
सव्यभिचारस्त्वस्पर्शत्वान्नित्यत्वे । आत्मादौ च दृष्टान्ते उदाहरणसाधर्म्यात्,  
साध्यसाधनं हेतुरिति । अस्पर्शत्वादिति हेतुर्व्यभिचरति । अस्पर्शा बुद्धिरनित्या  
चेति । एवं द्विविधेऽपि दृष्टान्ते व्यभिचारात् साध्यसाधनभावो नास्तीति  
ते तु लक्षणलक्ष्यत्वाभावादहेतुरिति । नित्यत्वमप्येकोऽन्त इत्येकान्तः ।  
अनित्यत्वमप्यनेकोऽन्तः । एकस्मिन्नन्ते विद्यते इत्यैकान्तिकः । विपर्ययादने-  
कान्तिकः उभयान्तव्यापकत्वादिति । हेतोर्दोषतया गौतमेन हेत्वाभासेषूक्तः ।  
इह तन्त्रे हेतुदोषत्वेऽपि हेतुमात्रदोषत्वाभावात् हेतुदोषत्वदन्यस्यापि दोष  
इत्यभिप्रायेण पृथगुक्त इति ख्यापनायोदाहरणं दर्शयति । यथेत्यादि ।  
तस्मिन् व्याधौ ज्वरादौ खल्विदमौषधं भवेदथ न वा भवेदिति त्वेकान्तत्वा-  
भावादनेकान्तमिति ॥ ४० ॥

गङ्गाधरः—सव्यभिचारज्ञानमुत्तवा वादे कर्त्तव्ये जिज्ञासा कर्त्तव्येति  
पूर्वमुद्दिष्टं जिज्ञासेति, तामाह—अथ जिज्ञासेति । अनन्तरं जिज्ञासा  
वादे कर्त्तव्या का पुनः सा जिज्ञासा इत्यत आह—जिज्ञासा नामेत्यादि ।  
परीक्षा तु जिज्ञासाभिधीयते । न हि प्रश्नमात्रे जिज्ञासा भवति प्रश्ने कृते-  
ऽकृते वा प्रमाणैस्तदुत्तरं सदसद्रूपेण ज्ञातुमिच्छा परीक्षैव जिज्ञासा-  
शब्दस्यार्थः । यथा भेषजपरीक्षोत्तरकालमुपदेक्ष्यते इति ॥ ४१ ॥

इत्यर्थः । अथवा नेति न भवति । अनैकान्तिकञ्चात्रौषधं यौगिकत्वायौगिकत्वाभ्यां संशय-  
जनकमेव । तेन, संशयेन सममेकता न शङ्कनीयाऽनैकान्तिकस्य । उत्तरकालमिति इहैव परीक्षा-

अथ व्यवसायः । व्यवसायो नाम निश्चयः । यथा वातिक  
एवायं व्याधिरिदमेवात्र भेषजश्च ॥ ४२ ॥

अथार्थप्राप्तिः । अर्थप्राप्तिर्नाम यत्रैकेनार्थेनोक्तेनापरस्य चार्थ-  
स्यानुक्तस्य सिद्धिः । यथा नायं सन्तर्पणसाध्यो व्याधिरित्युक्ते  
भवत्यर्थप्राप्तिरपतर्पणसाध्योऽयमिति । नानेन दिवा भोक्तव्यम्  
इत्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिर्निशि भोक्तव्यमिति ॥ ४३ ॥

गङ्गाधरः—परीक्षानन्तरं व्यवसायः कार्य इत्यत उद्दिष्टं व्यवसाय इति ।  
स उच्यते—अथ व्यवसाय इति । गुणतो दोषतो ज्ञातुमिच्छताऽनन्तरं  
व्यवसायः कर्तव्यः । कः पुनर्व्यवसाय इत्यत आह—व्यवसायो नाम निश्चय  
इति । गुणतो दोषतोऽर्थो निश्चीयते येन ज्ञानेन तन्निश्चयो ज्ञानम्, तेन हि  
ज्ञानेन बोधपूर्वकं कर्तुं वक्तुं वा पुमान् व्यवस्यतीति सा व्यवसाया-  
त्मिका बुद्धिः । यथा—वातिक एवायं व्याधिरिति निश्चयः, इह तु व्याधाविद-  
मेव भेषजमिति निश्चयो व्यवसायः ॥ ४२ ॥

गङ्गाधरः—अथैष निश्चयः प्रत्यक्षानुमानैतिह्यौपम्यैरेव किं स्यादित्यत  
उक्तम्—अर्थप्राप्तिरिति । न खलु प्रत्यक्षानुमानैतिह्यौपम्यमात्रेण निश्चयः  
स्यादर्थप्राप्तिश्च स्यात् तस्मादाह—अथार्थप्राप्तिरिति । अथानन्तरमर्थप्राप्तिः ।  
सा च कीदृशीत्यत आह—अर्थप्राप्तिर्नामेत्यादि । यत्र वाक्ये खल्वेकेनार्थेन  
उक्तेनापरस्यानुक्तस्य श्रुतिभिरनभिहितस्यार्थस्य सिद्धिर्भवति यथा साऽर्थ-  
प्राप्तिर्नाम । तदुदाहरति—यथेत्यादि । तिस्रैः पणीये विस्तरेण व्याख्यातेयमर्थ-  
प्राप्तिरर्थापत्तिरित्युच्यतेऽन्यैरिति ॥ ४३ ॥

प्रकरणे । किंवा रसायने “भेषजं द्विविधम्” इत्यादिना । अर्थप्राप्तिरित्यर्थापत्तिरित्यर्थः ।  
इह ‘उक्तेन’ इति वचनात् श्रुतार्थापत्तिरेव विवक्षिता, दृष्टार्थापत्तिरपि तु एतत्सामान्यत्वेनैव  
ज्ञेया । इयञ्चार्थापत्तिरन्यथोपपत्त्या न प्रमाणमिति न प्रमाणप्रकरणे पठिता, या तु दोषरहिता  
साऽनुमानान्तर्गतैवेति भावः । यो ह्यपतर्पणसाध्योऽपि न स्यात्, तं प्रति ‘नायं सन्तर्पणसाध्यः’  
इति वचनमेवासमर्थविशेषणतया न स्यादित्यर्थापत्तिर्नैत्यभिप्रायः, उभयासाध्यो हि ‘असाध्यः’  
इत्येतावदेव वक्तव्यं स्यात् । एवमन्यत्राप्युदाहरणे ज्ञेयम् ॥ ३९—४३ ॥



अथ सम्भवः । सम्भवो नाम यो यतः सम्भवति, स तस्य सम्भवः । यथा षड् धातवो हि गर्भस्य, व्याधेरहितम्, हितमारोग्यस्य ॥ ४४ ॥

अथानुयोज्यम् । अनुयोज्यं नाम यद् वाक्यं वाक्यदोषयुक्तं तदनुयोज्यमित्युच्यते । सामान्यव्याहृतैष्वर्थेषु वा विशेषग्रहणार्थं

गङ्गाधरः—ननु तर्हि प्रत्यक्षानुमानैतिह्यौपम्यार्थप्राप्तिभिरेव किं निश्चयः स्यादित्याकाङ्क्षायामुद्दिष्टं सम्भव इति । न खलु प्रत्यक्षादिभिरेव केवलैः निश्चयः स्यात् सम्भवेनापि निश्चयो भवतीत्यत आह—अथ सम्भव इति । कः पुनः सम्भव इत्यत आह—सम्भवो नामेत्यादि । यो यतः सम्भवति स तस्य सम्भव उत्पत्त्यादिषु सम्भावनाहेतुरिति । अविनाभाववृत्त्या संवद्धयोः समुदायसमुदायिनोः समुदायेनेतरस्य ग्रहणं सम्भवस्तदप्यनुमानमेव । यथा द्रोणस्य सम्भावना प्रस्थादिमन्तरेण न स्यादिति प्रस्थादिमानं द्रोणस्य सम्भवः । एवमेवाभिप्रेत्य स्वयमुदाहरति । यथा षड् धातवो गर्भस्य, व्याधेरहितं हितमारोग्यस्येति । षड् धातुः पुरुषः इह न केवलो गर्भस्य सम्भावनाहेतुः अदुष्टशुक्रशोणितगर्भाशयपुष्पकालाश्च हेतव इत्यतः षड् धातव इति बहुवचनान्तमुक्तम् । इदं गर्भस्योत्पत्तिसम्भावनाहेतुसम्भवोदाहरणम् । अहिताचरणं व्याधिसम्भावनाहेतुर्हितसेवनमारोग्यसम्भावनाहेतुः तिस्रैषणीयेऽस्य प्रामाण्यं व्याख्यातं विस्तरेण ॥ ४४ ॥

गङ्गाधरः—इत्येवं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः कृते निश्चये वादे यद्वाक्यं दुष्टं तदाह । अनुयोज्यमित्युद्दिष्टं यत् तदाह—अथानुयोज्यमिति । वादे यद्वाक्यमनुयोज्यं तज्ज्ञेयमित्यत आह—अनुयोज्यं नामेत्यादि । यद्वाक्यं वाक्यदोषयुक्तं तद्वाक्यमनुयोज्यमनुयोक्तुमर्हति शक्यते च वादिना । अनुयोगो हि दूषणवचनम् । वाक्यदोषा इहैव वक्ष्यन्ते न्यूनादयः । उदाहरिष्यन्ते च । द्वितीयमनुयोज्यमाह—सामान्येत्यादि । सामान्येनोक्तेषु स्वत्वर्थेषु

चक्रपाणिः—सम्भवति विद्यते अस्मिन्निति सम्भवः, कारणं हि अव्यक्तस्वजन्मकार्यमुक्तम् ।

यथा—सम्भवति स्वार्यां द्रोण इत्यादि, तत्समानमेतदप्युदाहरणं भवति ॥ ४४ ॥

चक्रपाणिः—अनुयोज्यान्तरमाह—सामान्येनेत्यादि । अननुयोज्यमाह अतो विपर्ययेणेति ।

तद्वाक्यमनुयोज्यम् । यथा संशोधनसाध्योऽयं व्याधिरित्युक्ते किं वमनसाध्योऽयं किं विरेचनसाध्य इत्यनुयुज्यते ॥ ४५ ॥

अथाननुयोज्यम् । अननुयोज्यं नाम अतो विपर्ययेण । यथा अयमसाध्यः ॥ ४६ ॥

अथानुयोगः । अनुयोगो नाम स यत् तद्विद्यानां तद्विदैरेव सार्द्धं तन्त्रे तन्त्रैकदेशे वा प्रश्नः प्रश्नैकदेशो वा ज्ञानविज्ञान-वचनप्रतिवचनपरीक्षार्थमादिश्यते । अथवा नित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञाते, परो यत् को हेतुरित्याह सोऽनुयोगः ॥ ४७ ॥

यद्वाक्यं विशेषार्थग्रहणार्थं तद्वाक्यमनुयोज्यमनुयोगार्द्धं भवति, तद् यथा—संशो-धनसाध्योऽयं व्याधिरिति वाक्यं सामान्येन संशोधनेनोक्तं तदनुयोज्यं भवति । किमयं व्याधिरिवमनसाध्योऽथवा विरेचनसाध्य इति विशेषग्रहणार्थमनुयुज्यते । इति ॥ ४५ ॥

गङ्गाधरः—तर्हि कीदृशवाक्यमननुयोज्यमित्यत उद्दिष्टमनुयोज्यं दर्शयति, अथाननुयोज्यमिति । अननुयोज्यं नामेत्यादि । अतोऽनुयोज्याद् व्याक्याद् विपर्ययेण न्यूनादिदोषाभावेन सविशेषवचनेन युक्तं यद् वाक्यं तदननुयोज्यं नाम । अनुयोगार्द्धं न भवति । यथा वमनसाध्योऽयं व्याधिरिति । वाक्य-प्रशंसायाम् अननुयोज्यं दर्शयिष्यते ॥ ४६ ॥

गङ्गाधरः—तर्हि कः पुनरनुयोग इत्यत उद्दिष्टमनुयोगमाह—अथानुयोग इति । अनुयोगः कीदृश इत्यत आह—अनुयोगो नामेत्यादि । तद्विद्यानां तत्तच्छास्त्रं विद्वांसो ये तेषां विदुषां तद्विदैरेव सार्द्धं तस्मिंस्तन्त्रे कृत्स्ने प्रश्नः । अथवा तत्तन्त्रैकदेशे कुत्रचित् स्थाने प्रश्नैकदेशो ज्ञानार्थं विज्ञानार्थं वचनप्रतिवचनार्थं परीक्षार्थं वा यः पूर्वमादिश्यते स प्रश्नादेशः प्रश्नैकदेशस्या-देशोऽनुयोगः । तत्रोत्तरं यद्वाक्यं न्यूनादिदोषयुक्तं सामान्योक्तं वा तत्र च यः प्रश्नः प्रश्नैकदेशो वादिश्यते सोऽप्यनुयोग इति । अथवा परेणोक्ते यत्परेण तत्र हेतुः पृच्छते सोऽप्यनुयोगः । यथा नित्यः पुरुष इत्युक्ते परः पृच्छति को हेतुरिति ॥ ४७ ॥

यथोक्तानुयोज्यप्रकरणस्योदाहरणविपर्ययेण ज्ञेयम् । अनुयोगमाह— इति, 'प्रश्नः' इति शब्देन

अथ प्रत्यनुयोगः । प्रत्यनुयोगो नाम अनुयोगस्यानुयोगः ।  
यथा अस्यानुयोगस्य पुनः को हेतुरिति ॥ ४८ ॥

अथ वाक्यदोषः । वाक्यदोषो नाम यथा खल्वस्मिन्नर्थे  
नूनमधिकमनर्थकमपार्थक्यं विरुद्धञ्च । नतानि विना प्रकृतोऽर्थः  
प्रणश्येत् ॥ ४९ ॥

तत्र न्यूनम् । प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानाम् अन्य-  
तमेनापि न्यूनं न्यूनं भवतीति । यद्वा बहुषदिष्टहेतुकमेकेन हेतुना  
साध्यते तच्च नूनम् ॥ ५० ॥

गङ्गाधरः—एवमनुयोक्ता यदि दुष्टं वाक्यं सामान्यार्थवाक्यं वा ब्रूते तदा  
पूर्वपक्षवादी किं कुर्यादित्यत उद्दिष्टं प्रत्यनुयोगमाह—अथ प्रत्यनुयोग-  
इति । कः प्रत्यनुयोग इत्यत आह—प्रत्यनुयोगो नामेत्यादि । अनुयोगस्य  
प्रत्यनुयोगः प्रत्यनुयोग उच्यते । यथास्यानुयोगस्य नित्यः पुरुष इति प्रति-  
ज्ञातेऽनुयोगः को हेतुरिति प्रश्नः । तत्र पुनः को हेतुरिति वचनं प्रति विपरीत-  
प्रश्नः प्रत्यनुयोगः । पुरुषनित्यत्वप्रतिज्ञायां यो भवान् पृच्छति को हेतुस्तत्-  
प्रश्ने किं कारणं भवत इति ॥ ४८ ॥

गङ्गाधरः—ननु तत्र के वाक्यदोषा इत्यत उद्दिष्टो वाक्यदोष उच्यते—अथ  
वाक्यदोष इति । वाक्यदोषो नामेत्यादि । स वाक्यदोषो नाम यथा  
यद् वाक्यमस्मिन्नर्थे नूनमस्मिन्नर्थेऽधिकमस्मिन्नर्थेऽनर्थकमस्मिन्नर्थेऽपार्थक्य-  
मस्मिन्नर्थे विरुद्धमित्येतन्न्यूनं चादयो दोषाः । कस्मादेते दोषा इत्यत आह—  
नैतानीत्यादि । हि यस्मादेता न न्यूनत्वादीनि अन्तरेण वाक्यस्य प्रकृतोऽर्थो  
न प्रणश्येदेतैः प्रकृतार्थप्रणाशादेते वाक्यस्य दोषा उच्यन्ते ॥ ४९ ॥

गङ्गाधरः—तत्र किं न्यूनमित्यत आह—प्रतिज्ञेत्यादि । प्रतिज्ञादीनां  
पञ्चानां वाक्यावयवानामन्यतमेनापि न्यूनं वाक्यं न्यूनं भवति । गौतमेन

यथोक्तशास्त्रेण पूर्णप्रश्नो गृह्यते, यथा अत्रैव “तत्र चेद् भिप ५ भिपजं पृच्छेद्” इत्यादिना यावत्-  
दुक्तम्, तत् संपूर्णं ज्ञेयम्, अत्रैव चैकदेशोऽपि प्रश्नस्य ज्ञेयः ॥ ४९—४८ ॥

चक्रपाणिः—वाक्यदोषानुदाहरति—वाक्येत्यादि । ‘अस्मिन्’ इति वचनेन च्छलहेत्वा-  
भासादिपदगृहीतानपि वाक्यदोषत्वेन दर्शयति । छलादयो हि वाक्यदोषा एव, परं पृथग्गृहीत-

अथाधिकम् । अधिकं नाम न्यूनविपरीतम् । यद्वायुर्वेदे  
भाष्यमाणे वार्हस्पत्यमौशनसमन्यद्वा यत्किञ्चिदप्रतिसम्बद्धार्थ-  
मुच्यते । यद्वा प्रतिसम्बद्धार्थमपि द्विरभिधीयते, तत् पुनरुक्तत्वा-  
दधिकम् । तच्च पुनरुक्तं द्विविधम् ; अर्थपुनरुक्तं शब्दपुनरुक्तञ्च ।  
तत्रार्थपुनरुक्तं यथा भेषजमौषधं साधनमिति । शब्दपुनरुक्तञ्च  
भेषजं भेषजमिति ॥ ५१ ॥

चोक्तम् । हीनमन्यतमेनाप्यत्रयवेन न्यूनमिति । प्रतिज्ञादीनामवयवानामन्य-  
तमेन हीनं न्यूनं निग्रहस्थानं साधनाभावे साध्यासिद्धेरिति । अपरञ्चाह—  
यद्वेत्यादि । बहूपदिष्टहेतुकमर्थं यद्वेकेन हेतुना साध्यते तदपि न्यून-  
मिति ॥ ५० ॥

गङ्गाधरः—अथाधिकं नाम न्यूनविपरीतमधिकम्, समन्तु प्रकृतमदोषं ततो  
न न्यूनपर्यायेण गृह्यते साम्यमिति । गौतमेन चोक्तम् । हेतूदाहरणाधिक-  
मधिकमिति । एकेन कृतकत्वादित्यनेन हेतुना सिद्धौ पुनरनित्यः पुरुषः  
कृतकत्वादुत्पत्तिधर्मकत्वात् इत्यादिषु द्वितीयहेतुद्वारांशेऽनर्थक्यमिति । एवं  
यद्वक्तव्यं तत्राप्रतिसम्बद्धार्थवचनं प्रतिसम्बद्धार्थस्य वा द्विरभिधानं तदप्यधिक-  
मिति त्रिविधमधिकम् । तदुदाहरति—यद्वायुर्वेदे भाष्यमाणे तदप्रतिसम्बद्धार्थं  
वार्हस्पत्यमौशनसं वा शास्त्राक्तमुच्यते तदाधिकम् । यच्चायुर्वेदे भाष्यमाणे  
यत् तत्र प्रतिसम्बद्धार्थं द्विरुच्यते तत् । पुनरुक्तं द्विविधम् । अर्थपुनरुक्तं शब्द-  
पुनरुक्तञ्च । तत्रार्थपुनरुक्तं भेषजमौषधं साधनमिति, शब्दपुनरुक्तञ्च भेषजं  
भेषजमिति । एतच्चानुवादादन्यत्र दोषारूपं भवति । गौतमेनोक्तमिदम्

त्वादिह नोच्यन्ते तथा शास्त्रान्तरोक्ताश्चापसिद्धान्तादयोऽनया भाषया सूच्यन्ते वाक्यदोषाः ।  
यद्वेत्यादौ यदा पुरुषस्य नित्यत्वेऽपि हेतव उक्ता अनादित्वादकृतकत्वाच्चिर्विकारत्वादिति च, तेषु  
यदि सकलहेत्वभिधानं प्रतिज्ञाय एकं हेतुं ब्रुवते, तदा प्रतिज्ञातार्थस्य न्यूनार्थत्वात् न्यूनं भवतीति ।  
ज्ञेयम्, यदा हेतुर्वक्तव्यः, तदा एक एव वक्तव्यो युज्यते, एकस्यापि हेतोः साध्यासाधनसम्बन्धात् ।  
तेन, तत्र बहुहेतुकथनमेवाधिकत्वाद्दोष एव भवतीति । प्रकृत इति साध्यत्वेन प्रतिज्ञातः ।  
वार्हस्पत्यमौशनसञ्च नीतिशास्त्रम् । अप्रतिसम्बद्धार्थमित्यनेन, वार्हस्पत्यमपि यदि धनैपणासि-  
धानप्रसङ्गेन प्रसङ्गागतं भवति, तदा स्तोकक्रमेणोच्यमानमायुर्वेदोपकारकत्वेन नाधिकमिति  
दर्शयति । पुनरुक्तदोषादिति दोषवतः पुनरुक्तादित्यर्थः । दोषवत्त्वञ्च यथा पुनरुक्तस्य, तथोक्तमेव ।

अथानर्थकम् । अनर्थकं नाम यद्वचनमक्षरग्राममात्रमेव स्यात् पञ्चवर्गवन्न चार्थतो गृह्यते ॥ ५२ ॥

अथापार्थकम् । अपार्थकं नाम यदर्थवच्च परस्परेण असंयुज्यमानार्थकम् । यथा तक्रचक्रवंशरक्तनिशाकरा इति ॥ ५३ ॥

अधिकात् पृथक् । शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् । इति व्याख्यातञ्चैतत् । अन्यत्रानुवादात् शब्दपुनरुक्तमथेपुनरुक्तं वा, नित्यः शब्दो नित्यः शब्द इति शब्दपुनरुक्तम् । अथेपुनरुक्तन्तु अनित्यः शब्दो निरुद्धधर्मको ध्वान इति । अनुवादे त्वपुनरुक्तं शब्दाभ्यासादर्थविशेषोपपत्तेः । यथा हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनमिति । अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् पुनरुक्तम् । उत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यमनुत्पत्तिधर्मकं नित्यमिति । इहोत्पत्तिधर्मकत्वादनित्य इत्युक्त्यर्थादापद्यतेऽनुत्पत्तिधर्मकं नित्यमिति तस्यार्थादापन्नस्यार्थस्याभिधायको योऽनुत्पत्तिधर्मकं नित्यमिति शब्दस्तेन स्वेन शब्देन पुनस्तदर्थस्य वचनमनुत्पत्तिधर्मकं नित्यमिति तच्च पुनरुक्तम् । अथेसम्प्रत्ययार्थं शब्दप्रयोगे स ह्यर्थोऽर्थापत्त्या प्रतीत इति ॥ ५१ ॥

गङ्गाधरः—अनर्थकन्तु वाक्यदोषमाह—अथानर्थकमिति । तदनर्थकं नाम वाक्यं यद् वाक्यं पञ्चवर्गवदक्षरग्राममात्रमेव स्यात् । कखगघङा इत्याद्यक्षरग्राममात्रमेव यथानर्थकं नाथेतो गृह्यते तथा भद कद सद लिद निदेत्येवमादिवाक्यमनर्थकं न चार्थतो गृह्यते । इति । गौतमेनाप्युक्तम् । वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् । यथा नित्यः शब्दः कचटतपा जङ्गवदशत्वात् झभञ्-घढधप्-वदिति । एवंप्रकारं निरर्थकम् । अभिधानाभिधेयानुपपत्तावर्थावगतेरभावाद् वर्णा एव क्रमेण निर्दिश्यन्त इति ॥ ५२ ॥

गङ्गाधरः—अपार्थकञ्च वाक्यदोषमाह—अथापार्थकमिति । अपार्थकं नामेत्यादि । तद् वाक्यमपार्थकं नाम यद् वाक्यमर्थवच्च परस्परेणासंयुज्यमानार्थकम्, परस्परेणान्वयहीनार्थकपदम् । यथा—तक्रचक्रवंशरक्तनिशाकरा इति । गौतमेनाप्युक्तम् । पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् । यत्रानेकस्य पदस्य

पञ्चवर्गवदिति कं ख ग घ ङादिवर्गसमुदयवत्, अत्र त्वभिधेयोऽर्थो न प्रतिभाति । अर्थवदिति प्रत्येकं पदरूपतया प्रसिद्धार्थम् । परस्परेणासंयुज्यमानमिति वाक्यरूपतयाऽर्थोऽप्रत्ययिकम् । चक्र-

अथ विरुद्धम् । विरुद्धं नाम यद् दृष्टान्तसिद्धान्तसमयै-  
र्विरुद्धम् । तत्र पूर्वं दृष्टान्तसिद्धान्तावुक्तौ । समयः पुनस्त्रिधा  
भवति । यथायुर्वैदिकसमयो याज्ञिकसमयो मोक्षशास्त्रिकसमय

वाक्यस्य वा पौर्वापर्यणान्वययोगो नास्तीत्यसम्बद्धार्थत्वं गृह्यते तत्-  
समुदायोऽर्थस्यापायादपार्थक्यमिति । यथा दशदाडिमं पटपूपाः कुण्डमजिनं  
पल्लवं पिण्डः । अथवा उरुकमेतत् कुमार्याः पार्यं तस्याः पिता अप्रतिशील  
इति ॥ ५३ ॥

गङ्गाधरः—विरुद्धञ्च वाक्यमाह—अथ विरुद्धम् । विरुद्धं नामेत्यादि ।  
तद्विरुद्धं नाम वाक्यं यद् वाक्यं दृष्टान्तसिद्धान्तसमयैर्विरुद्धं भवति । दृष्टान्त-  
विरुद्धं सिद्धान्तविरुद्धं समयविरुद्धञ्चेति त्रिविधं विरुद्धवाक्यम् । तत्रेत्यादि ।  
तत्र तेषु मध्ये दृष्टान्तसिद्धान्तावुक्ताविति इहैव पूर्वमुक्तौ यथा मूर्खविदुषां  
बुद्धिसाम्यं यो वर्ण्यं वर्णयति स दृष्टान्तः । यथाग्निरुष्ण इत्यादि । तद्-  
दृष्टान्तविपरीतमुच्यमानं वाक्यं दृष्टान्तविरुद्धम् । यथा वह्निरुष्णः सलिल-  
वदिति दृष्टान्तविरुद्धम् । सिद्धान्तश्चोक्तः—यः परीक्षकैर्वहुविधं परीक्ष्य  
हेतुभिः सापयित्वा स्थाप्यते निर्णयः स सिद्धान्तश्चतुर्विधः । सर्व्वतन्त्र-  
सिद्धान्तः प्रतितन्त्रसिद्धान्तोऽधिकरणसिद्धान्तोऽभ्युपगमसिद्धान्तञ्चेति ।  
तच्चतुर्विधसिद्धान्तविपरीतवचनं यद् वाक्यं तत् सिद्धान्तविरुद्धं वाक्यमिति ।  
यथा नास्ति निदानं व्याधीनामिति सर्व्वतन्त्रविरुद्धं वाक्यम् । सप्तेन्द्रियाणीति  
प्रतितन्त्रसिद्धान्तविरुद्धं न कापि तन्त्रे सप्तेन्द्रियाण्युक्तानि । यद्यपि सर्व्व-  
तन्त्रविरुद्धं तथापि क्वचित् पञ्चेन्द्रियाणि क्वचित् षड्विन्द्रियाणि तत्र तत्र  
स्वे स्वे तन्त्रे सिद्धानि न विरुद्धानि, सप्तेन्द्रियाणि न कापि प्रतितन्त्र  
सिद्धानि तस्मात् प्रतितन्त्रसिद्धान्तविरुद्धत्वेनेष्यते तद्वाक्यमेवं नास्ति निदानं  
व्याधीनामित्यपि बोध्यम् । आनुबन्धिकं कर्म मुक्तः कुरुते इति अधिकरण-  
सिद्धान्तविरुद्धम् । कार्यद्रव्यं प्रधानमिति वाक्यमभ्युपगमसिद्धान्तविरुद्धम् ।  
अथ समयविरुद्धमाह—समयः पुनरित्यादि । समयो नियमकरणम् । स च  
शास्त्रार्थवादे त्रिधा भवति । यथा आयुर्वैदिकादिभेदात् । तत्रायुर्वैदिकसमयो

इत्यादयो हि शब्दाः क्रियां विना वाक्यरूपार्थानभिधायका इत्यर्थः । विरुद्धे दृष्टान्तविरुद्धं यथा—

इति । तत्रायुर्वैदिकसमयश्चतुष्पादं भेषजमिति । याज्ञिकसमयः  
आलभ्या यजमानैः पशव इति । मोक्षशास्त्रिकसमयः सर्व-  
भूतेष्वहिंसेति । तत्र स्वसमयविपरीतमुच्यमानं विरुद्धं भवति ।  
इति वाक्यदोषाः ॥ ५४ ॥

यथा चतुष्पादं भेषजमिति । तत्राह दैवयुक्तिव्यपाश्रयमेव भेषजमिति ।  
आयुर्वैदिकसमयविरुद्धं यद्यप्यत्रापि पूर्वमुक्तम्—प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो  
दैवयुक्तिव्यपाश्रयैरिति तत्र, कृत्स्नभेषजवचनं वातादिशारीरदोषप्रशमनौषध-  
वचनत्वात् । याज्ञिकसमयः—आलभ्याः पशव इति, तद्विरुद्धन्तु न यक्षे पशव  
आलभ्या इति । मोक्षशास्त्रिकसमयस्तु सर्वभूतेष्वहिंसेति तत्र विरुद्धं यक्षे पु  
हिंसा कार्य्येति । स्वर्गादिसाधनत्वेन बन्धहेतुत्वात् इति । तत्र तत्र स्वसमय-  
विपरीतमुच्यमानं समयविरुद्धं भवतीति । साधारणविरुद्धमिहोक्तं गौतमेन  
विरुद्धत्वं हेतुदोष उक्तः स चाभ्युपगमसिद्धान्तविरुद्धः । तद् यथा—  
सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः । इति यो हेतुः सिद्धान्तमभ्युपेत्य तं  
सिद्धान्तं विरुणद्धि स तद्विरोधी हेतुर्विरुद्ध उच्यते । अभ्युपेतं हि सिद्धान्तं  
व्याहन्तीति । यथा—सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात् । अपेतो-  
ऽप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात् न नित्यो विकार इत्युपपद्यते । इत्येवं हेतु-  
व्यक्तेरपेतोऽपि विकारोऽस्तीत्यनेन स्वसिद्धान्तेन विरुध्यते । कथम् ?  
व्यक्तिरात्मलाभः । अपायः प्रच्युतिः । यद्यात्मलाभात् प्रच्युतो विकारोऽस्ति,  
नित्यत्वप्रतिषेधो नोपपद्यते । यद्व्यक्तेरपेतस्यापि विकारस्यास्तित्वं तत् खलु  
नित्यत्वमिति । नित्यत्वप्रतिषेधो नाम विकारस्यात्मलाभात् प्रच्युतेरुपपत्तिः ।  
यदात्मलाभात् प्रच्यवते तदनित्यं दृष्टम् । यदस्ति न तदात्मलाभात् प्रच्यवते ।  
अस्तित्वश्चात्मलाभात् प्रच्युतिरिति विरुद्धावेतौ सह सम्भवतः । इति । सोऽयं  
हेतुर्यत्सिद्धान्तमाश्रित्य प्रवर्तते, तमेव व्याहन्तीति विरुद्धो हेतुरिति ।  
नैतद्विरुद्धलक्षणं साधारणविषयं केवलहेतुविषयतयैव हेत्वाभासे गौतमेनोक्त-  
मिति । इति वाक्यदोषा व्याख्याताः ॥ ५४ ॥

यथा शीतं जलं तापकं तथा ज्वरोऽपीति । सिद्धान्तविरुद्धं यथा—वैद्यो ब्रूते—न च भेषजं  
रोगहरमिति । तथा यद्यप्यायुर्वेदे चतुष्पादमेव भेषजमिति सिद्धान्त एव, तथापि 'चतुष्पाद'-

अथ वाक्यप्रशंसा । वाक्यप्रशंसा नाम यथा खल्वस्मिन्नर्थे त्वनूनमनधिकमर्थवदानपार्थक्यमविरुद्धमधिगतपदार्थञ्चेति यत् तद्वाक्यमननुयोज्यमिति प्रशस्यते ॥ ५५ ॥

अथ च्छलम् । छलं नाम परिशठमर्थाभासमनर्थकं \* वाग्वस्तुमात्रमेव । तद् द्विविधं वाक्छलं सामान्यच्छलञ्च । तत्र

गङ्गाधरः—अथ वाक्यं कीदृशमदुष्टमित्यत आह—अथ वाक्यप्रशंसेति । वाक्यप्रशंसा नामेत्यादि । अस्मिन्नर्थे खल्विदं वाक्यमन्यनं निरुक्तन्यूनत्वदोषरहितमस्मिन्नेवार्थेऽनधिकमधिकत्वदोषहीनम् अस्मिन्नेवार्थेऽर्थवदानार्थक्यहीनम् तथास्मिन्नेवार्थेऽनपार्थक्यमपार्थक्यत्वदोषहीनम् । तथैवास्मिन्नर्थेऽविरुद्धं दृष्टान्तविरुद्धादिविरुद्धदोषरहितम् । न त्वेतावन्मात्रं वाक्यं प्रशंसन्ति पण्डिताः । तर्हि कीदृशं वाक्यमित्यत आह—अधिगतपदार्थञ्चेति । अधिगताः सम्यग्धातुमर्हाः पदार्था यत्र वाक्ये तत् । वाक्यमननुयोज्यमित्यस्मात् प्रशस्यते कुशलैर्न तन्यूनैकमपि गूढार्थकं वाक्यमननुयोज्यमपि प्रशस्यते दुर्व्याख्यातम् ॥ ५५ ॥

गङ्गाधरः—तथा सति प्रशस्तवाक्येऽपि वादी च्छलं करोतीत्यतश्छलमुद्दिष्टं यत् तदाह—अथ च्छलमिति । किं पुनश्छलमुच्यते इत्यत आह—छलं नामेत्यादि । छलं नाम तद् यत् परिशठमर्थाभासमनर्थकं वाग्वस्तुमात्रमेवेत्येतैः शब्दैर्योऽर्थोऽभिधीयते । उक्तञ्च गौतमेन । वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या च्छलमिति । व्याख्यातश्च वात्स्यायनेन—न सामान्यलक्षणे च्छलं शक्यमुदाहर्तुम्, विभागे तूदाहरणानि भवन्ति । विभागश्च । तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलञ्चेति । तेषां मध्ये—अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम् । तद् यथेहापि विभज्योदाहरति । तद् द्विविधमिति । वाक्छलं सामान्यच्छलञ्चेति । वाक्छले ह्युपचारच्छलस्य अविशेषाद् द्विविधं छलं वाक्छलं सामान्यच्छलञ्चेति । तत्र गौतमेनोक्तं संज्ञा समयकृता ज्ञेया । एवं याज्ञिकानाम् 'आलभ्य'संज्ञा समयकृता, तत्र यदि स्वसमयविपरीतमभिदधाति तदा समयविरुद्धो भवति । अननुयोज्यमिति नानुयोगार्हम् ॥ ५९—५५ ॥

चक्रपाणिः—छलमित्यादि । परिशठमिति वचनानुवृत्तम् । अर्थवदिवाभासोऽर्थभासः । एतदेव विवृणोति—अपार्थक्यमित्यादि । अपगतसमीचीनार्थत्वेन वाग्वस्तुमात्रमित्यर्थः । छलं



वाक्छलं नाम यथा कश्चिद् ब्रूयान्नवतन्त्रोऽयं भिषगिति । अथ भिषक् ब्रूयान्नाहं नवतन्त्र एकतन्त्रोऽहमिति । परो ब्रूयान्नाहं ब्रवीमि नव तन्त्राणि तवेति, अपि तु नवाभ्यस्तं ते तन्त्रमिति ।

वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात् । इति । न वाक्छलादुपचारच्छलं भिद्यते, तस्या अप्यर्थान्तरकल्पनाया अविशेषात् । यतः, धर्मविकल्प-निर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम् । अभिधानस्य धर्मो यथाथप्रयोगः । धर्मविकल्पोऽन्यत्र दृष्टस्य धर्मस्यान्यत्र प्रयोगः । तस्य निर्देशे धर्मविकल्प-निर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम् । यथा मञ्चाः क्रोशन्तीति मञ्चस्थेषु पुरुषेषूपचारस्तेनार्थसद्भावेन प्रतिषेधः क्रियते । मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति न मञ्चा इति । का पुनरत्रार्थविकल्पोपपत्तिः ? अन्यथाप्रयुक्तस्यान्यथार्थ-कल्पनं भक्त्या खलु लक्षणया प्रयोगे मञ्चाः क्रोशन्तीत्यत्र प्रधानेन मुख्यया वृत्त्याभिधया शक्त्या कल्पनं न मञ्चाः क्रोशन्ति मञ्चस्थाः पुरुषास्तु क्रोशन्तीति । उपचारविषयं छलमुपचारच्छलमुपचारानीतार्थः । सह-चरणादिनिमित्तेनातद्भावे तद्वदभिधानमुपचार इति । इहापि खल्वविशेषाभि-हितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना भवतीति वाक्छलमेव । मञ्चाः क्रोशन्तीत्युक्ते वक्तुरभिप्रेतोऽर्थो मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्तीत्युपचारात् । तदविशेषेण पदेन मञ्चा इत्यनेनाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायविषयमञ्चस्थपुरुषात् अर्थान्तरकल्पना मुख्यार्थमञ्चकल्पना वाक्छलमेव भवतीत्युपचारच्छलं वाक्छलमेव नातिरिक्तमिति ।

तत्र वाक्छलमुदाहरति—तत्र वाक्छलं नामेत्यादि । कश्चिद् ब्रूयान्नवतन्त्रो-ऽयं भिषगिति । तत्र नवतन्त्र इति पदेन नवाभ्यस्तं तन्त्रं यस्येति वक्तुरभि-प्रायविषयार्थादर्थान्तरं कल्पयित्वा भिषग् ब्रूयात्—नाहं नवतन्त्रः, एकतन्त्रो-ऽहमिति । एकमेव तन्त्रं ममेति । तत्रापि परः स्पष्टं तदर्थं ब्रूयात् । नाहं ब्रवीमि नव तन्त्राणि तवेति, अपि तु नवाभ्यस्तं ते तन्त्रमित्यब्रवम् । तत्रापि भिषक् अभिप्रेतादर्थान्तरार्थं कल्पयित्वा ब्रूयात्, न मया नवाभ्यस्तं

‘अभिप्रेतादर्थान्तरं परिकल्प्य परवचनोपघाताय प्रतिकल्प्यते । यदुक्तं न्याये—“वचनविघातो-ऽर्थविकल्प उपचारच्छलम्” इति । अत्र वाक्छलमेवोपचारच्छलं न्यायोक्तं सम्भवति । ‘सामान्य-शब्दोक्ते छर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलं, तेन, मञ्चाः क्रोशन्तीति अत्रापि ‘मञ्च’-

भिषग् ब्रूयान्न मया नवाभ्यस्तं तन्त्रम्, अनेकधाभ्यस्तं तन्त्रम् । इति वाक्छलम् । सामान्यच्छलं नाम यथा—व्याधि-  
प्रशमनायौषधमित्युक्ते परो ब्रूयात् सत् सत्प्रशमनायेति ।  
किं नु भवानाह ? सद्वोगः सदौषधं यदि च सत् सत्प्रशमनाय  
भवति तत्र सत्कासः सत्क्षयः सत्सामान्यात् कासः क्षयप्रशम-  
नाय भविष्यतीति । एतत् सामान्यच्छलम् ॥ ५६ ॥

तत्रमनेकधाभ्यस्तं तन्त्रम् । इति वाक्छलम् । अत्र समासेन नार्थविशेषो विग्रहे  
तु भवति विशेषः । नवाभ्यस्ते उपचारो नवशब्दस्य, तेन नवं नूतनमभ्यस्तं  
तन्त्रं यस्येति विग्रहः । तत्रोपचरितेऽर्थेऽर्थान्तरकल्पना मुख्यया वृत्त्या नव-  
शब्देन नवसङ्ख्या । तत आह—एकतन्त्रोऽहम् । इत्युपचारच्छलं वाक्छलमेवोदा-  
हरणेनानेन ज्ञापितम् । तत्राप्युपचरितार्थे नवाभ्यस्ते नवशब्दस्यार्थान्तरं  
कल्पयित्वा भिषगब्रवीत् । न नवाभ्यस्तं मे तन्त्रमपि त्वनेकधाभ्यस्तमिति  
वाक्छलमविशेषे शब्दे वाचि च्छलं वाक्छलमिति । एवमिह विनोपचारादपि  
वाक्छलं विद्यते । नवतन्त्रोऽयं भिषगिति नूतनतन्त्रोऽयमिति वक्तुरभिप्रायार्थः ।  
तत्र भिषगर्थान्तरं कल्पयित्वाह नाहं नवतन्त्र एकतन्त्रोऽहमेकसंहितामधीतवान् ।  
तत्र परो ब्रूयात् नाहं नव ते तन्त्राणीत्यब्रवं नूतनतन्त्रो भवानिति त्वन्नवम्  
इति । तत्रापि भिषगर्थान्तरं कल्पयित्वाह—न मे तन्त्रं नूतनं परन्त्वार्थं प्राचीनम् ।  
इति वाक्छलम् ।

अथ सामान्यच्छलमाह—सामान्यच्छलं नामेत्यादि । सम्भवदर्थस्याति-  
सामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना । तद् यथा—यथेत्यादि । व्याधिप्रशम-  
नायौषधमित्युक्ते परः सम्भवदर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थं कल्पयित्वा  
ब्रूयात् सत्सत्प्रशमनायेति भवानाहेति । सर्वं खलु सत् सत्तावच्चादित्यति-  
सामान्यं सत्ता तत्र सत्पदार्थः सम्भवति व्याधिषु चौषधेषु च । तदाह—  
सद्वोगः सदौषधमिति, तथाविधोऽर्थः खलु सत्प्रशमनाय सदित्येव चेदिष्ट-  
स्तदा सत्कासः सत्क्षयः सत्सामान्यात् । तर्हि किं कासस्ते क्षयप्रशमाय

शब्दो मुख्यः सन् मन्वे वर्तते, उपचारात् तु मञ्जस्थेषु पुरुषेषु, 'मञ्ज'शब्दप्रयोगे सति कथमचेतना  
मञ्जाः क्रोशन्तीति आक्षेपो वाक्छल एव प्रविशतीति भावः । अत्र वाक्छलमित्यादि वाक्यं  
सामान्यच्छलक्षणसंयुक्तं न्यायोक्तलक्षणमेव ज्ञेयम्, यथासम्भवं सामान्यशब्दोक्तेऽर्थे ह्यर्थान्तरस्यापि

अथ अहेतुः । अहेतुर्नाम प्रकरणसमः संशयसमो वर्णसमः

भविष्यतीत्यसम्भूताथकल्पना सामान्यच्छलमिति । गौतमेनाप्युक्तम् । सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूताथकल्पना सामान्यच्छलमिति । व्याख्यातञ्चैतद् वात्स्यायनेन । अहो खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्न इत्युक्ते कश्चिदाह—सम्भवति हि ब्राह्मणे साधारणे विद्याचरणसम्पत् इत्यस्य वचनस्य विधातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या असम्भूताथकल्पनया क्रियते । यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पत् सम्भवति तदा ब्राह्मणेऽपि सम्भवेत् ; ब्राह्मणेऽपि ब्राह्मणो ब्राह्मणत्वस्यातिसामान्यस्य योगात् । ततो ब्राह्मणेऽप्यस्त विद्याचरणसम्पन्न इति । यद्विवक्षितमथेमाप्नोति चातिशयमेति च तदपि सामान्यम् । यथा ब्राह्मणत्वं विद्याचरणसम्पदं कचिदामोति कचिदतिशयञ्चैति, तस्मात् सामान्यनिमित्तं छलं सामान्यच्छलमिति । एषां परिहारेण प्रत्यवस्थानमुन्नेयमिति । इति छलं व्याख्यातम् ॥ ५६ ॥

गङ्गाधरः—एवं वादे छलवचनं हेतुरप्यहेतुर्भवति ततोऽहेतुर्विज्ञेय इत्यत उद्दिष्टमहेतुरिति यत् तदाह—अथाहेतुरिति । अहेतुर्नामित्यादि । हेतुलक्षणाभावात् हेतुसामान्यात् हेतुवदाभासमानो हेतुखंडोरुच्यते । स च भिद्यते । अहेतुर्नामित्यादि । प्रकरणसमः संशयसमो वर्णसम इति त्रिविधोऽहेतुर्नाम । गौतमेन तु पञ्चविधो हेत्वाभास उक्तः । सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमातीतकाला हेत्वाभासाः इति । तेषां सव्यभिचारस्य हेतुदोषत्ववदन्यत्र च दोषत्वाद्धेतुमात्रदोषत्वाभावाच्च तथा विरुद्धस्य चातीतकालस्य च साधारणदोषत्वात् पृथगिहोक्तिः । वर्णसमस्तु साध्यसम एव । इहोक्तः संशयसमस्तु न गौतमेनोक्त इति विरोधो नाशङ्क्यः प्रतिषेधहेतुषु जातिमंज्ञेषु चतुर्विंशतौ संशयसमवर्णसमयोगौ तमेनाप्युक्तत्वात् । वात्स्यायनस्तु प्रकरणसमव्याख्याने प्रोवाच । यत्र समानो धर्मः संशयकारणं हेतुत्वेनोपादीयते स संशयसमः सव्यभिचार एवेति ततो न विरोधः । सर्वं तद्व्याख्यातमुत्तरव्याख्याने । ० ।

सामान्ययोगादर्थान्तरकल्पना सामान्यच्छलमिति । सत्सत्प्रशमायेति सत्ता सतः प्रशमः क्रियते इति । त इति तव मत इति कृत्वा वादी पूर्वपक्षं करोति, तेन, अविवक्षितेन सत्त्वसामान्येन प्रत्यवस्थानात् सामान्यच्छलं भवति ॥ ५६ ॥

धनक्रपाणिः—अहेतुरसाधकहेतुरित्यर्थः । प्रक्रियते साध्यत्वेनाभिक्रियत इति श्रुत्यस्या प्रकरणं

इति । तत्र प्रकरणसमो नामाहेतुः, यथान्यः शरीरादात्मा नित्य इति । परो ब्रूयाद् यस्मादन्यः शरीरादात्मा तस्मान्नित्यः । शरीरं ह्यनित्यमतो विधस्मिन्ना चानेन भवितव्यमित्येष चाहेतुः, न हि य एव पक्षः स एव हेतुरिति । संशयसमो नामाहेतुः पुनर्य एव संशयहेतुः स एव संशयच्छेदहेतुः । यथाऽयमायुर्वेदैकदेशम् ।

अथ प्रकरणसमं हेतुं दर्शयति । तत्र प्रकरणसमो नामाहेतुरिति । यस्माद्धेतुतः प्रकरणं चिन्त्यते निर्णयार्थमनेन कारणेनैवमिदमित्युपदिश्यते, हेतुः स प्रकरणसमो हेतुरहेतुरुच्यते साधकत्वाभावात् । उक्तञ्च गौतमेन । यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः इति । व्याख्यातश्च वात्स्यायनेन । विमर्शाधिष्ठानौ पक्षप्रतिपक्षावनवसितौ प्रकरणम् । तस्य चिन्ता विमर्शात् प्रभृति प्राङ्निर्णयात् यत् समीक्षणं सा जिज्ञासा यत्कृते स निर्णयार्थं प्रयुक्त उभयसाम्यात् प्रकरणमतिवर्त्तमानः प्रकरणसमो निर्णयाय न प्रकल्पते । विज्ञानन्तु अनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेरिति । अत्रानुपलब्धमान-नित्यधर्मकमनित्यं दृष्टं स्थाल्यादि । या तु विमर्शस्य विशेषापेक्षिता । उभयाविशेषानुपलब्धिश्च सा न प्रकरणं प्रवर्त्तयति । कथं ? विपर्यये हि प्रकरणनिवृत्तेः । यदि नित्यधर्मः शब्दे गृह्यते न स्यात् प्रकरणसमम् । यदि चानित्यधर्मो गृह्येत एवमपि निवर्त्तत प्रकरणसमम् । सोऽयं हेतुरुभौ पक्षौ प्रवर्त्तयन्नन्यतरस्य निर्णयाय न प्रकल्पते । इति । इह तूदाहरति—यथेत्यादि । अन्यः शरीरादात्मा नित्य इति पक्षे परो ब्रूयात् । इह खलु अस्मात् प्रकरणं चिन्त्यते । यस्मादित्यादि । शरीरादन्यत्तान्नित्य आत्मा । तत्र प्रकरणमिदं शरीरं ह्यनित्यमतः शरीराद् वैधर्म्यवानन्य इति शरीरान्यत्वं नित्यत्वमेव ततः प्रकरणसमो हेतुर्न हेतुर्भवति । कस्मादित्यत आह—न हीत्यादि । हि यतो य एव पक्षः स एव हेतुर्भवति । आत्मनित्यत्वं पक्षस्तदेव शरीरान्यत्वं हेतुरिति स्वस्थ स्थापनायां स्वस्य कारणत्वं न भवतीति । ० । अथ संशय-सममाह—संशयसमो नामाहेतुरिति । य एव संशयहेतुः स एव संशयच्छेद-

पक्षः, तेन समः प्रकरणसमः । अन्यः शरीरादात्मा नित्य इति प्रतिज्ञायां शरीरादन्यत्वं बोध्यम्, अतो विधस्मिन्नेति शरीरादनित्याद् विधस्मिन्ना नित्येनेत्यर्थः । य एव पक्ष इत्यनेनान्यत्वञ्च शरीरादात्मन इति सिद्धमिति दर्शयति, सति हि नित्यत्वे चेतनाधारस्य शरीरादन्यत्वमपि

आह, किं न्वयं चिकित्सकः स्यान्न वेति संशये परो ब्रूयात् यस्मादयमायुर्वेदैकदेशमाह तस्माच्चिकित्सकोऽयमिति, न च संशयच्छेदहेतुं \* विशेषयति । एव चाहेतुर्न हि य एव संशयहेतुः स एव संशयच्छेदहेतुर्भवति । स वर्यसमो नामाहेतुर्यो हेतुर्वर्या- विशिष्टः, यथा कश्चिद् ब्रूयादस्पर्शत्वाद् बुद्धिरनित्या शब्दवदिति ।

हेतुरिति समानधम्म एव हेतुत्वेन यत्र गृह्यते स संशयसमो हेतुरहेतुर्भवति । तदुदाहरति—यथेत्यादि । कश्चिद्वदति अयमायुर्वेदैकदेशमाह किं न्वयं चिकित्सकः स्यान्न वेति संशयः । कस्मात् ? कोऽप्यचिकित्सक आयुर्वेदैक- दर्शं कियन्तमंशमायुर्वेदस्य जानाति चिकित्सकोऽपि जानातीत्यतः संशयः । तत्र परो ब्रूयात् यस्मादित्यादि । आयुर्वेदैकदेशवक्तृत्वादयं चिकित्सक इति । एवं ब्रूवाणः परस्नु संशयच्छेदहेतुं न विशेषयति विज्ञेपा- भावात् संशयो नापैति । तस्मादेव हेतुरहेतुः । कस्मादित्यत आह— न हीत्यादि । गौतमेनाप्युक्तं जातिषु । सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात् संशयसमः इति । व्याख्यातश्च वात्स्यायनेन । अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् घटवदित्युक्ते हेतौ संशये न प्रत्यव- तिष्ठते । सति प्रयत्नानन्तरीयकत्वे अस्त्येवास्य नित्येन सामान्येन साधर्म्यम् ऐन्द्रियकत्वमस्ति च घटेनानित्येन । अतो नित्यानित्यसाधर्म्यादिनिवृत्तः संशय इति संशयसमस्योदाहरणं गौतमेन दर्जितं न तु संशयसमस्य लक्षणमिदम् उक्तम् । तस्मादिहोक्तोदाहरणेन सह विरोधो नाशङ्क्यः । एवं बहून्नुदा- हरणानि द्रष्टव्यानि समानानेकधर्मापपत्त्यादिहेतुभ्यः संशये । इति । ० । नन्वन्यः शरीरादात्मा नित्य इति प्रकरणसमो हेतुः साध्यसम एव कथं पृथक् उक्त इत्यत आह—स वर्यसमो नामाहेतुरित्यादि । यो हेतुर्वर्याविशिष्टः

सिध्यति । चाञ्चोक्तपक्षे तु शरीरमेव चेतनमनित्यञ्चेति, तं प्रत्युभयमपि साध्यम्, न साध्यं साधनं भवति, असिद्धत्वादिति भावः । अयमायुर्वेदैकदेशमाहेति आयुर्वेदैकदेशाभिधानं चिकित्सकाचिकित्सकगमकत्वेन संशयहेतुः, एकदेशकथनं हि शास्त्रानभ्यासेऽपि कुतश्चित् श्रवणादपि भवतीति भावः । न विशेषयतीति न संशयच्छेदहेतुं विशिष्टं दर्शयतीत्यर्थः, एष चाहेतुरिति यथोक्तो हेतुरहेतुः संशयाच्छेदक इत्यर्थः । वर्येन साध्येन दृष्टान्तोऽप्यसिद्धत्वेन सम इति वर्य-

तत्र वर्ण्यः शब्दो बुद्धिरपि वर्ण्यः, तदुभयवर्ण्यविशिष्टत्वाद्वर्ण्य-  
समोऽप्यहेतुः ॥ ५७ ॥

अथातीतकालम् । अतीतकालं नाम यत् पूर्वं वाच्यं तत्  
पश्चात् उच्यते, तत्कालातीतत्वादग्राह्यं भवतीति । परं वा  
निग्रहप्राप्तमनिष्टं परिगृह्य पक्षान्तरितं पश्चान्निगृहीते तत्  
तस्यातीतकालत्वान्निग्रहवचनमसमर्थं भवतीति ॥ ५८ ॥

स वर्ण्यसमा नामाहेतुः । वर्ण्यस्तु साध्यधर्मेण धर्मी दृष्टान्तश्च तयोरविशेषो  
हेतुर्वर्ण्यसमो हेतुरहेतुर्भवति । तदुदाहरति—यथेत्यादि । अस्पृशत्वाद्  
बुद्धिरनित्या शब्दवदिति । इहानित्यत्वधर्मेण वर्ण्यो दृष्टान्तः शब्दस्तथा  
नित्यत्वेनैव धर्मेण वर्ण्यो बुद्धिश्च तदुभयवर्ण्यविशिष्टत्वात् खल्वस्पृशत्वं हेतुः  
वर्ण्यसमः । अस्पृशत्वमप्यनित्यमिति । गौतमेनाप्युक्तम् । साध्यदृष्टान्तयोः  
साध्यधर्माद् वर्ण्यसम इति । साध्यसमश्चोक्तः । हेत्वाद्यवयवसामर्थ्ययोगी  
धर्म्मः साध्यः । तं दृष्टान्ते प्रसजतः साध्यसमः इति जातिषु, हेत्वाभासेषु  
च साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः । द्रव्यं छायेति साध्यम् ।  
गतिमत्त्वादिति हेतुः । साध्येनाविशिष्टः साधनीयत्वात् साध्यसमः । अयमप्य-  
सिद्धत्वात् साध्यवत् प्रज्ञापयितव्यः । साध्यं तावदेतत् किं पुरुषवच्छायापि  
गच्छति आहोस्विदावरकद्रव्ये संसर्पति ? आवरणसन्तानादसन्निधिसन्तानो-  
ज्यं तेजसो गृह्यते इति सर्पता खलु द्रव्येण यो यस्तेजोभाग आत्रियते तस्य  
तस्य सन्निधिरेवावच्छन्नो गृह्यते इति । आवरणन्तु प्राप्तिप्रतिषेध इति ।  
एष साध्यसमोऽपि वर्ण्यसम इत्यविरोधः । इति त्रयोऽहेतव एव हेतुमात्रदोषत्वाद्  
हेत्वाभासा इष्यन्ते एभ्यस्त्वपरे दोषा न हेतुमात्रस्येति पृथगुच्यते ॥ ५७ ॥

गङ्गाधरः—अतीतकालमित्युद्दिष्टं यत् तदाह—अथातीतकालमिति । अतीत-  
कालं नाम तत् यत् पूर्वं वाच्यं तत्पश्चादुच्यते । तदुक्तं कालातीतत्वादग्राह्यं  
भवतीति साधारणदोषः । एवं परं वा प्रतिवादिनं वादिनं वा निग्रहप्राप्तं  
समः, वर्ण्यः शब्द इति अस्पृशत्वयोगादनित्यत्वेन शब्दोऽपि साध्यः । न च साध्यो दृष्टान्तो  
भवति । उभयवर्ण्यविशिष्टत्वादित्युभयत्र दृष्टान्ते वर्ण्ये च वर्ण्यस्य साध्यस्य साध्यत्वेनाविशिष्ट-  
त्वादित्यर्थः ॥ ५७ ॥

चक्रपाणिः—यत् पूर्वं वाच्यं तत् पश्चादुच्यते इति, यथा—निगमनमभिधाय पश्चात् प्रतिज्ञा

अथोपालम्भः । उपालम्भो नाम हेतोर्दोषवचनम् । यथा पूर्वमहेतवो हेत्वाभासा व्याख्याताः ॥ ५६ ॥

निग्रहस्थानप्राप्तं न निगृह्य पक्षान्तरितं परिगृह्य पश्चान्निगृहीते तस्मिन् परे तस्य कालातीतत्वात् तत् निग्रहवचनं न समर्थं भवतीति । गौतमेनाप्युक्तं हेत्वाभासेषु । कालात्ययापदिष्टः कालातीतः । इति । व्याख्यातञ्चैतद्वात्स्यायनेन । कालात्ययेन युक्तो यस्यार्थस्यैकदेशोऽपदिश्यमानस्य स कालात्ययापदिष्टः कालातीत उच्यते । निदर्शनञ्च । नित्यः शब्दः संयोगव्यङ्ग्यत्वात् रूपवत् । प्राक् ऊर्द्धश्च व्यक्तेरवस्थितं रूपं प्रदीपघटसंयोगेन व्यज्यते । तथा च शब्दोऽप्यवस्थितो वीणादण्डसंयोगेन व्यज्यते, दारुपरशुसंयोगेन वा । तस्मात् संयोगव्यङ्ग्यत्वान्नित्यः शब्द इत्ययमहेतुः, कालात्ययापदेशात् । व्यञ्जकस्य संयोगस्य कालं न व्यङ्ग्यस्य रूपस्य व्यक्तिरत्येति । सति प्रदीपघटसंयोगे रूपस्य ग्रहणं भवति । न निवृत्ते संयोगे रूपं गृह्यते । निवृत्ते दारुपरशुसंयोगे दूरस्थेन शब्दः श्रूयते । विभागकाले सेयं शब्दव्यक्तिः, संयोगकालमत्येति । न च संयोगनिमित्ता भवति । कस्मात् ? कारणाभावाद्धि कार्यभावा इति । एवंमुदाहरणसाधर्म्यस्याभावादसाधनमयं हेतुहेत्वाभास इति । अवयवविपर्ययासवचनं न सूत्रार्थः । कस्मात् ? विपर्ययासेनोक्तो हेतुमुदाहरणसाधर्म्यात् तथा वैधर्म्यात् साधनं हेतुलक्षणं न जहाति । अजहद्धेतुलक्षणं न हेत्वाभासो भवति । अवयवविपर्ययासवचनमप्राप्तकालमिति निग्रहस्थानमुक्तम् । तदेवेदं किं पुनरुच्यते । इत्यतस्तन्न सूत्रार्थः । इति । हेतुभात्रविपर्ययोः कालातीतः स एवेह हेत्वाभासेऽभिहितः । साधारणविपर्ययस्तु तन्त्रेऽस्मिन् पृथगुक्तं कालातीतमिति न विरोधः ॥ ५८ ॥

गङ्गाधरः—एवं कालातीतानन्तरमुपालम्भो ज्ञेय इति तदुद्देशः कृतः उपालम्भः । अथोपालम्भ इति । उपालम्भो नाम स यद्यत् खलु हेतोर्दोषवचनं प्रत्यक्षादिहेतुरुपलब्धिकारणमुक्तं हेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनानि स्थापनायां यथावर्ण्यसमश्च विकल्पसमश्च साध्यसमश्च स चोपालम्भो बहुविधः । तद् यथा—प्रकरणसमश्च संशयसमश्च वर्णसमश्चावर्णसमश्चोत्कर्षसमश्चापकर्षसमश्च

उच्यते । निग्रहप्राप्तमिति निग्रहणीयं ज्ञातम् । हेतोर्दोषवचनमित्यनेन कालात्ययापदिष्टासिद्धयोरपीहानुक्तयोर्ग्रहणं कर्तव्यम् । उदाहरणार्थन्तु अहेतव उक्ताः । हेतुवदाभासन्त इति

अथ परिहारः । परिहारो नाम तस्यैव दोषवचनस्य परिहरणम् । यथा नित्यमात्मनि शरीरस्थे जीवलिङ्गान्युपलभ्यन्ते तस्यापगमान्नोपलभ्यन्ते तस्मादन्यः शरीरादात्मा नित्यश्च ॥६०॥

विकल्पसमश्च साध्यसमश्च साध्म्यसमश्च वैध्म्यसमश्च प्राप्तिरूपसमश्च प्राप्तिरूपसमश्च प्रसङ्गसमश्च प्रतिदृष्टान्तसमश्चानुत्पत्तिसमश्चाहेतुसमश्चार्थापत्तिसमश्चाविशेषसमश्चोपपत्तिसमश्चोपलब्धिसमश्चानुपलब्धिसमश्च नित्यसमश्चानित्यसमश्च कार्यसमश्चेति । तत्र यथा—पूर्वं हेत्वाभासा अहेतवस्त्रयो व्याख्यातास्त इहोदाहर्तव्या अपरे च ॥ ५९ ॥

गङ्गाधरः—तेषां दोषाणाञ्च परिहारः कतव्य इति तदनन्तरं परिहार उद्दिष्टमाह—अथ परिहार इति । परिहारो नामेति । तस्यैव दोषवचनस्य परिहरणमुद्धारः प्रत्यवस्थानमित्यनर्थान्तरमिति । इत्युपालम्भपरिहारौ जातिशब्देन गौतमेनोक्तौ । तत्र परिहारश्चोत्तरविशेषः । तद् यथा—गौतमोक्ता जातिः । साध्म्यवैध्म्यार्थ्यां प्रत्यवस्थानं जातिरिति । प्रयुक्ते हि हेतौ यः प्रसङ्गो जायते सा जातिः । स च प्रसङ्गः । साध्म्यवैध्म्यार्थ्यां प्रत्यवस्थानम् उपालम्भः प्रतिषेधश्चेति द्वयी जातिः । उदाहरणसाध्म्यार्थ् साध्यसाधनं हेतुरित्यस्योदाहरणसाध्म्येण प्रत्यवस्थानम् । यत्रोदाहरणवैध्म्यार्थ् साध्यसाधनं हेतुस्तस्योदाहरणवैध्म्येण प्रत्यवस्थानम् । प्रत्यनीकभावाज्जायमानोऽर्थ इत्यतो जातिरित्युच्यते । तद्विकल्पाज्जातिबहुत्वम् । तस्य साध्म्यवैध्म्यार्थ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्जातिबहुत्वम् । तद् विभज्यते । साध्म्यवैध्म्यार्थोत्कर्षापकर्षवर्णवर्णविकल्पसाध्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशय-प्रकरणहेत्वार्थापत्त्यविशेषोपपत्तुपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकाव्येसमाः । ताः खल्विमा जातयः स्थापनाहेतौ प्रयुक्ते चतुर्विंशतिः प्रतिषेधहेतव उपालम्भाः । एषां क्रमेण लक्षणान्युक्तानि गौतमेन तानि प्रकरणसमादिक्रमेण दर्शयन्ते । तद् यथा—उभयसाध्म्यार्थ् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमो हेतुरुपालभ्यते । उभयस्य पक्षद्वयस्य साध्म्यार्थ् पक्षप्रतिपक्षयोः प्रवृत्तौ प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमो हेतुः । यथा पूर्वपक्षवादी भाषते । अन्यः शरीरादात्मा नित्य इति । तत्र प्रक्रिया यस्मादन्यः शरीरादात्मा तस्मान्नित्यः । शरीरं हानित्यम् हेत्वाभासाः । यथा—‘नित्यमात्मनि’ इत्यादिना प्रकरणसमत्वेनोक्तहेतौ दोषमुद्धरति । नित्यम् इति सर्वदा । जीवलिङ्गानि प्रतिसन्धानस्मरणादीनि । तस्यापगमान्नोपलभ्यन्त इत्यनेन



अतो विधम्मणा चानेन भवितव्यमित्येष प्रकरणसमहेतुरिति हेतौ दूषणवचन-  
माह प्रतिपक्षवादी । तत्र तं दोषं परिहरति पूर्वपक्षवादी । यथेत्यादि ।  
नित्यं शरीरस्थे सत्यात्मनि जीवलिङ्गानि प्राणापानादीन्युपलभ्यन्ते ।  
तस्यात्मनः शरीरादपगमान्न जीवलिङ्गान्युपलभ्यन्ते तस्माच्छरीरादन्य आत्मा  
नित्य इति, न तु यस्मादन्यः शरीरादात्मा तस्मान्नित्य इति प्रकरणसमत्वदोषो  
हेतोः परिहृतः । इति । वात्स्यायनेनोदाहृतम् । उभयस्य पक्षद्वयस्य साधम्म्यात्  
पक्षप्रतिपक्षयोः प्रवृत्तौ प्रक्रिया । अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घट-  
वदिति पूर्वपक्षवादी स्वपक्षं प्रवर्त्तयति । द्वितीयस्तु तत्राह अनित्यः शब्दः  
प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति प्रयत्नानन्तरीयकत्वं कण्ठाग्रभिघातप्रयत्नानन्तरमभि-  
व्यक्तत्वं शब्दस्य यस्य प्रयत्नानन्तरीयत्वाभावः स नित्यः । नित्यवैधम्म्यात्  
अनित्य इति प्रकरणानतिवृत्त्या प्रत्यवस्थानम् । समानश्चैतद्वैधम्म्येऽपि  
उभयपक्षे साधम्म्यादनित्यत्वसाधनप्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसम इति । तत्र  
पूर्वपक्षवादी तं दोषं परिहरति । प्रतिपक्षात् प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुप-  
पत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः । उभयसाधम्म्यात् प्रक्रियासिद्धिं ब्रुवता प्रतिपक्षात्  
प्रक्रियासिद्धिरुक्ता भवति । यदुभयसाधम्म्यं तत्रैकतरः प्रतिपक्षः इत्येवं  
सत्युपपन्नः प्रतिपक्षो भवति । प्रतिपक्षोपपत्तेरनुपपन्नः प्रतिषेधो यतः प्रति-  
पक्षोपपत्तिः प्रतिषेधोपपत्तिश्चेति विप्रतिषिद्धमिति । तत्त्वानवधारणाच्च  
प्रक्रियासिद्धिर्विपर्यये प्रकरणावसानात् । तत्त्वावधारणे ह्यवसितं प्रकरणं  
भवतीति परिहार उक्तः । अथ संशयसमरंतु पूर्व यो दर्शितः । अय-  
मायुर्वेदैकदेशमाह किं न्वयं चिकित्सको न वेति संशये परो ब्रूयात्—यस्मात्  
अयमायुर्वेदैकदेशमाह तस्माच्चिकित्सक इति । अत्र हेतौ दूषणवचनमुक्तं  
न हि य एव संशयहेतुः स एव संशयच्छेदहेतुर्भवतीति संशयसम इति । तत्रायं  
परिहारः उक्तो गौतमेन । साधम्म्यात् संशये न संशयो वैधम्म्यादुभयथा  
वा संशयोऽत्यन्तसंशयप्रसङ्गो नित्यत्वानभ्युपगमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेध इति ।  
विशेषाद्वैधम्म्यादवधार्यमाणेऽर्थे पुरुष इति न स्थाणुपुरुषसाधम्म्यात् संशयो-  
ऽवकाशं लभते । एवं वैधम्म्याद्विशेषात् अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्  
अवधार्यमाणे शब्दस्यानित्यत्वे नित्यानित्यसाधम्म्यात् संशयोऽवकाशं न  
लभते । यदि वै लभेत, ततः स्थाणुपुरुषसाधम्म्यानुच्छेदादत्यन्तं संशय-  
प्रसज्यते । गृह्यमाणे च विशेषे नित्यसाधम्म्यं संशयहेतुरिति नाभ्युपगम्यते ।  
न हि गृह्यमाणे पुरुषस्य विशेषे स्थाणुपुरुषसाधम्म्यं संशयहेतुर्भवतीति

वान्स्यायनेन व्याख्यातमिति । तथैवात्र यस्मादायुर्वेदैकदेशमाह तस्मादयं चिकित्सक इति संशयसमो हेतुर्न भवति । नाचिकित्सको ह्यायुर्वेदैकदेशमाह यच्चापरः कश्चिदेकश्लोकादिकमाह स चायुर्वेदैकदेशोऽपि नाशेषविशेषेण तेन व्याख्यातुं शक्यते, तस्मात् स आयुर्वेदैकदेशमाहेति नेष्यते । यस्यादयमायुर्वेदैकदेशमशेषविशेषेण व्याख्यायाह तस्मादयमायुर्वेदैकदेशमाहेतीष्यते तस्मादयं चिकित्सक इति नास्त्यत्र संशय इति कथं संशयसमः स्याद्धेतुरिति परिहारः । अथ वर्ण्यसमस्तु यो दर्शितः । अनित्या बुद्धिः अस्पृशत्वाच्छब्दवदिति । वर्ण्यः शब्दोऽस्पर्शा बुद्धिश्च वर्ण्या तयोः सम एव हेतुरिति वर्ण्यसमो हेतुरहेतुस्तत्रायमुपालम्भ उक्तो गौतमेन । साध्यदृष्टान्तयोः धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यवर्ण्यविकल्पसाध्यसमा इति । तत्र स्थापनीयो वर्ण्यो विपर्ययादवर्ण्यः । तावन्तौ साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्ययस्य च तौ वर्ण्यवर्ण्यसमौ भवत इति अनित्या बुद्धिरिति बुद्धिर्वर्ण्या तस्यास्तु धर्मोऽस्पर्शत्वं दृष्टान्तश्च शब्दो वर्ण्यस्तस्य धर्मोऽप्यस्पर्शत्वं तयोर्वर्ण्ययोः समो हेतुरस्पर्शत्वधर्मकमस्पर्शत्वमिति वर्ण्याभ्यां समत्वाद्वर्ण्यसम इति । तत्र परिहारश्चायमुक्तो गौतमेन । किञ्चित् साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वधर्म्यादप्रतिषेधः । इति । अनित्या बुद्धिरस्पर्शत्वाद् यथा शब्द इत्यत्र यथा शब्दः स्पर्शाभावरूपेण स्पर्शनेन्द्रियग्राह्योऽप्यस्पर्शो न तथा स्पर्शनेन्द्रियग्राह्या चास्पर्शा बुद्धिरित्यतस्त्वस्पर्शत्वमात्रसाधर्म्याद्वैधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्न वर्ण्यसमतया प्रतिषेधः स्यात् । किञ्चित् साधर्म्याद्धूपमानं यथा शब्द इति । अथावर्ण्यसमश्च असाध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्च भवति । यथा अनित्या बुद्धिः अस्पर्शत्वाद् यथा शब्द इति । अत्र बुद्धिरनित्यत्वेन वर्ण्या शब्दश्चानित्यत्वेन वर्ण्यः । तदुभयमस्पर्शमस्पर्शत्वश्चास्पर्शमिति वर्ण्यासमः । गन्धादिरिहावर्ण्याश्चास्पर्शश्च तथाचास्पर्शत्वमप्यस्पर्शं दृष्टान्तश्चास्पर्शो रस इति । तदुभयसाध्यत्वाद्वर्ण्यसमो हेतुरस्पर्शत्वादिति । तस्य परिहारश्च । किञ्चित्साधर्म्यादुपमानाद्वैधर्म्यादुपसंहारसिद्धेः प्रतिषेध इति । अवर्ण्यस्तु गन्धादिगुणस्तत्र दृष्टान्तो रसः केवलस्पर्शगुणाभावेन किञ्चिद्धर्मणोपमानं तत्र वैधर्म्यादुपसंहारः । रसो रसनेन्द्रियग्राह्योऽस्पर्शो न तथा गन्ध इति सिध्दप्रतिवृत्तशरीरे चेतनाद्यभावादप्येव तत्कारणमुच्यते, यदपगमाच्च चेतयते मृतशरीरम् । तस्मात् अन्यत्वमात्मनः सिद्धम् । ततश्च शरीरादन्यत्वात् शरीरविधर्मत्वेन पूर्वव्युत्पादितेन नित्यत्वमपि सिध्यतीत्याह—नित्यइचेति ॥ ५८ - ६१ ॥

तस्मान्नावर्णप्रसम इति । अथोत्कर्षसमस्तु साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभय-  
 साध्यत्वाच्च भवति । दृष्टान्तधर्मसाध्येन समासक्तं कुर्वन् हेतुस्तत्कर्षसमो  
 भवति । यथा क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणयोगालोप्स्रवदिति । लोप्स्रवदं व  
 स्पर्शवानपि भवति । अथ न स्पर्शवानात्मा लोप्स्रवत् । क्रियावानपि लोप्स्रवत्  
 स्पर्शं न प्राप्नोतीति विपर्यये वा विशेषो वक्तव्यः । इत्युत्कर्षसमे क्रियाहेतु-  
 गुणयोगन्तु दृष्टान्तस्य लोप्स्रस्यापकर्षगुणगुरुत्वादिधर्म क्रियावदात्मना साध्येन  
 सह समासक्तं कुर्वन् द्वयोः क्रियाहेतुगुणेष्व्वात्मगुणश्चैतन्यमुत्कर्षस्तद् योगसम  
 इति । तस्य परिहारश्च किञ्चित्साधर्म्यादुपमाने वैधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्न  
 प्रतिषेध इति क्रियाहेतुगुणयोगे दृष्टान्तो लोप्स्रवदिति किञ्चित्साधर्म्यात् ।  
 पाञ्चभौतिकं हि लोप्स्रं तत्र वाय्वादीनि सक्रियाणि तद्वत्त्वात् सक्रियम् ।  
 आत्मा च सक्रियो मनसा सक्रियेण सह योगादिति वैधर्म्याद् यथा लोप्स्रं  
 क्रियाहेतुगुणयुक्तं न तथात्मेति उपसंहारसिद्धेरुत्कर्षसमतया हेतोः प्रतिषेधो  
 न युक्त इति । अथापकर्षसमश्च साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्च  
 भवति । साध्ये हि धर्माभावं दृष्टान्तात् प्रसक्तं कुर्वन् हेतुरपकर्षसमो भवति ।  
 क्रियावान् आत्मा क्रियाहेतुगुणयोगालोप्स्रवदिति लोप्स्रः क्रियावान् न तु  
 विभुर्दृष्टान्तः । आत्मा तु क्रियावान् विभुश्चाविभुर्भवतु । अपकर्षो ह्यविभुत्वं  
 लोप्स्रस्येति साध्ये क्रियावत्यात्मनि विभुत्वधर्माभावं दृष्टान्ताल्लोप्स्रात् प्रसक्तं  
 करोति क्रियाहेतुगुणयोग इत्येष हेतुस्तस्मादपकर्षसमः । तस्य परिहारश्च  
 किञ्चित् साधर्म्यादुपमाने वैधर्म्यादुपसंहारसिद्धेरप्रतिषेध इति । आत्मनः  
 क्रियावत्त्वे किञ्चित्साधर्म्यालोप्स्र उपमानं सिध्यति गुरुत्वादिभिर्गुणैर्लोप्स्रः  
 श्लेश्मवर्द्धनादिकर्मकृत् । आत्मा च चैतन्यादिगुणयोगाच्चेतनत्वादिकर्मकृदिति  
 साधर्म्यादुपमानात् । वैधर्म्यादविभुत्वविभुत्वाद् यथा लोप्स्रो न विभुर्न  
 तथात्मा भवत्यविभुरित्युपसंहारसिद्धेरपकर्षसमतया हेतोः प्रतिषेधो न युक्त  
 इति । अथ विकल्पसमोऽपि साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्च  
 भवतीति । यथा—साधनधर्मयुक्ते दृष्टान्ते धर्मान्तरविकल्पात् साध्यधर्म-  
 विकल्पं प्रसक्तं कुर्वन् हेतुर्विकल्पसमो भवति । यथा क्रियावानात्मा क्रिया-  
 हेतुगुणयोगालोप्स्रवदिति । क्रियाहेतुगुणयुक्तं किञ्चिद् गुरुद्रव्यं यथा लोप्स्रः ।  
 किञ्चिच्च लघुद्रव्यं यथा वायुः । एवं क्रियाहेतुगुणयुक्तं किञ्चित् क्रियावत्  
 यथा लोप्स्रः । किञ्चिदक्रियं यथात्मा । इति विकल्पसमत्परिहारे विज्ञेयो  
 वाच्यः । किञ्चित् साधर्म्यादुपमाने वैधर्म्यादुपसंहारसिद्धेरप्रतिषेध इति ।

किञ्चित्साधर्म्यादुपमाने वैधर्म्यादुपसंहारसिद्धेरप्रतिषेध इति । क्रिया-  
वानात्मा क्रियाहेतुगुणयोगालोप्स्रवदिति । लोप्स्रो गुरुः क्रियाहेतुगुणवान्  
वायुलंघुः क्रियाहेतुगुणवान् भवतु । आत्मा मनसा युक्तत्वेन सक्रियस्तदंशे  
लोप्स्रस्य गुरुत्वादिगुणयोगेन साधर्म्यादुपमानत्वे सिद्धे यथा लोप्स्रो यद्-  
गुणेन क्रियावान् न तथा तद्गुणेन क्रियावानात्मेति वैधर्म्यादुपसंहारसिद्धे-  
र्विकल्पसमतया हेतोः प्रतिषेधो न युक्त इति परिहारः । एवं साध्यसमोऽपि  
साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्च भवति । हेत्वाद्यवयवसामर्थ्ययोगी  
धर्मः साध्यः । तं साध्यं दृष्टान्ते प्रसजन् हेतुः साध्यसमो भवति । यथा  
क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणयोगालोप्स्रवदित्यत्र यदि यथा लोप्स्रस्तथा प्राप्त-  
स्तर्हि यथात्मा तथा लोप्स्र इति । साध्यश्चायं क्रियावानिति लोप्स्रोऽपि  
साध्य इति । अथ नैवम् । न तर्हि यथा लोप्स्रस्तथात्मेति साध्यसमो  
हेतुः । तत्र परिहारः । किञ्चित्साधर्म्यादुपमाने वैधर्म्यादुपसंहारसिद्धेः  
अप्रतिषेधः । साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः । यथा लोप्स्र इति किञ्चित्-  
साधर्म्यादुपमानं क्रियाहेतुगुरुत्वादिगुणवत्त्वेन क्रियावत्त्वात् । न तथा आत्मा  
गुरुत्वादिगुणयोगात् क्रियावान् परन्तु मनसा संयुक्तत्वात् क्रियावानिति  
वैधर्म्यादुपसंहारसिद्धेः । एवं यथा लोप्स्रस्तथात्मेति साध्यातिदेशेन यथात्मा  
तथा लोप्स्र इत्यनेन दृष्टान्तेऽप्युपपद्यमाने साध्यतमनुपपन्नं लोप्स्रस्य प्रतिष्ठा-  
भावादित्यतो न साध्यसमत्वं दोषो हेतोरिति । साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुप-  
संहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ । साधर्म्येणोपसंहारे  
साध्यधर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्येणैव प्रत्यवस्थानमविशेष्यमाणं स्थापना-  
हेतुतः साधर्म्यसमो हेतुः प्रतिषेधः । यथा—क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुण-  
योगालोप्स्रवत् । क्रियाहेतुगुणयुक्तो लोप्स्रो यथा क्रियावान् तथा चात्मा तस्मात्  
क्रियावान् । एवमुपसंहारे परः साधर्म्येणैव प्रत्यवतिष्ठते । निष्क्रिय आत्मा  
विशुनो द्रव्यस्य निष्क्रियत्वात् । यथाकाशम् । यथा विशु चाकारं निष्क्रियञ्च  
तथा चात्मा विशुस्तस्मान्निष्क्रियः । न चास्ति विशेषहेतुः । क्रियावत्  
साधर्म्यात् क्रियावता भवितव्यम्, न पुनरक्रियसाधर्म्यान्निष्क्रियेण  
भवितव्यमिति विशेषहेतुभावात् साधर्म्यसमो हेतुः प्रतिषेधः उपालम्भः ।  
इति । एवं वैधर्म्येणोपसंहारे साध्यधर्मविपर्ययोपपत्तेर्वैधर्म्येणैव प्रत्यव-  
स्थानमविशेष्यमाणं प्रतिष्ठापनाहेतुतो वैधर्म्यसमः प्रतिषेध उपालम्भः ।  
यथा—क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणयोगालोप्स्रवदिति । ३६ क्रियाहेतु-

गुणयुक्तो लोष्ट्रः परिच्छिन्नो दृष्टः, न च तथात्मा परिच्छिन्नः क्रियाहेतुगुण-  
युक्तस्तस्मान्न लोष्ट्रवत् क्रियावानिति । न चास्ति विशेषो हेतुः । क्रियावत्-  
साधर्म्यात् क्रियावता भवितव्यं, न क्रियावद्वैधर्म्येण निष्क्रियेण भवितव्यं  
विशेषहेत्वभावाद्वैधर्म्यसमः । वैधर्म्येण चोपसंहारे निष्क्रिय आत्मा  
विभुत्वात् । यथा लोष्ट्रः । क्रियावद् द्रव्यमविभु दृष्टम् न च तथात्मा  
भवत्यविभुस्तस्मान्निष्क्रिय इति वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानम् । निष्क्रियं द्रव्यम्  
आकाशं क्रियाहेतुगुणरहितं दृष्टं तथात्मा तस्मान्निष्क्रिय इति । न चास्ति  
विशेषहेतुः । क्रियावद्वैधर्म्येण निष्क्रियेण भवितव्यम्, न पुनरक्रिय-  
वैधर्म्येण क्रियावता भवितव्यमात्मनेति विशेषहेत्वभावाद्वैधर्म्यसमः ।  
अनयोः परिहारः । गोत्वाद् गोसिद्धिवत् तत्सिद्धिः । साधर्म्यमात्रेण वैधर्म्य-  
मात्रेण च साध्यसाधने प्रतिज्ञायमाने स्यादव्यवस्था सा तु धर्मविशेषेणोप-  
पद्यते । गोसाधर्म्याद् गोत्वाज्जातिविशेषाद् गौः सिध्यति न तु सास्नादि-  
सम्बन्धात् । ततो न साधर्म्यसमो हेतुरिति, न च वैधर्म्यसमोऽपि ।  
निष्क्रिय आत्मा विभुत्वात् क्रियावद् द्रव्यमविभु दृष्टं यथा लोष्ट्र इति वैधर्म्य-  
मात्रेण साध्यसाधने प्रतिज्ञायमाने स्यादव्यवस्था सा तु धर्मविशेषेणोप-  
पद्यते गोत्वाद् गोसिद्धिवत् । अश्वादिवैधर्म्याद् गोत्वादेव गोसिद्धिः, न तु  
गुणादिभेदात् । इति ।

अथ प्राप्त्यप्राप्तिसमौ । प्राप्य साध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्या अविशिष्ट-  
त्वादप्राप्या असाधकत्वाच्च प्राप्त्यप्राप्तिसमौ । हेतुः प्राप्य वा साध्यं  
साधयेदप्राप्य वा साधयेदिति । न तावत् साध्यं प्राप्य साधयेत् ।  
हेतोः प्राप्यामविशिष्टत्वादसाधकः स्यात् । द्वयोर्विद्यमानयोः प्राप्तौ सत्यां  
किं कस्य साधकं साध्यं वा भवति । अथाप्राप्य साध्यं साधको  
न भवति नाप्राप्तः प्रदीपः प्रकाशयतीति । प्राप्याः प्रत्यवस्थानं प्राप्तिसमः ।  
अप्राप्याः प्रत्यवस्थानमप्राप्तिसमः । यथायं ज्वरः सन्तापादिति । सन्तापो  
हतुर्ज्वरं प्राप्य न साधको भवति द्वयोरविशिष्टत्वात् । द्वावपि हि वर्तमान-  
त्वेनाविशिष्टौ किं ज्वरः साध्यः सन्तापः साधकः किं सन्तापः साध्यो ज्वरः  
साधकः । अयं सन्तापो ज्वरत्वादयं ज्वरो वा सन्तापादिति प्राप्तिसमः ।  
अप्राप्तिसमस्तु पूर्वरूपेण ज्वरो भविष्यतीति साध्यते । तत्र ज्वरमप्राप्य पूर्वरू-  
पाणि कथं भाविज्वरं साधयन्ति । न ह्यप्राप्तो दीपस्तमो हन्ति । ततो-  
ऽप्राप्तिसमो हेतुर्ज्वरो भविष्यति श्रमारतिप्रभृतिभ्य इति । अथानयोः परिहारः ।

घटादिनिष्पत्तिदृग्नात् पीडने चाभिचारादप्रतिषेधः । हेतुदूषणमुभयथा न युक्तम् । कर्तृकरणाधिकरणानि प्राप्य मृदं घटादिकार्यं निष्पादयन्ति । तथा हेतुः साध्यं प्राप्य साधयति । तस्मात् प्राप्तिरसमतया हेतोर्दूषणमसाधु । एवमप्राप्य साधकत्वेऽपि दूषणमसाधु । आभिचारिककर्मणा पीडने सति दृष्टमप्राप्य साधकत्वमिति तस्मादप्राप्तिरसमतया हेतोर्दूषणमसाधु । अथ प्रसङ्गसमप्रतिदृष्टान्तसमौ तु । दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ । साधनस्यापि साधनं वक्तव्यमिति प्रसङ्गे प्रत्यवस्थानं हेतौ दूषणं प्रसङ्गसमः । क्रियाहेतुगुणयोगी क्रियावान् लोप्सु इति हेतुर्नापदिश्यते । अनेन कारणेनैवमिति नोपदिश्यते । इति दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात् प्रसक्तिसमो हेतुः । न च हेतुमन्तरेण सिद्धिरस्तीति । ॥ प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तसमः । क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणयोगात् लोप्सुवदित्युक्ते प्रतिदृष्टान्त उपादीयते । क्रियाहेतुगुणयुक्तमाकाङ्क्षं निष्क्रियम् इति । कः पुनराकाङ्क्षस्य क्रियाहेतुगुणः । वायुना संयोगः संस्कारापेक्षः । वायुवनस्पतिसंयोगवदिति प्रतिदृष्टान्तसमः । ॥ तत्राद्यस्य परिहारः । प्रदीपादानप्रसङ्गनिवृत्तिवत् तद्विनिवृत्तिः । तयोः प्रसङ्गसम-प्रतिदृष्टान्तसमयोर्विनिवृत्तिः प्रदीपादानप्रसङ्गनिवृत्तिवत् । अथ के प्रदीपमुपाददते किमर्थं वेति पृष्ठः खल्वयं वक्तुम् अर्हति । दिदृक्षमाणाः प्रदीपमुपाददते दृश्यदृशेनार्थमिति । कस्मात् ते प्रदीपान्तरं नोपाददते अन्तरेणापि प्रदीपान्तरं दृश्यते प्रदीपः । तत्र यथा प्रदीपदर्शनार्थं प्रदीपान्तरग्रहणं निरर्थकं तथा क्रियाहेतुगुणयोगी क्रियावान् लोप्सु इत्यत्र दृष्टान्तस्य कारणापदेशो व्यथेः । इति । ॥ अथ दृष्टान्तः किमर्थमुच्यते । अप्रज्ञातस्य ज्ञापनार्थमिति । अथ दृष्टान्ते कारणापदेशः किमर्थं दृश्यते । यदि प्रज्ञापनार्थं प्रज्ञातो दृष्टान्तः स खलु लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्त इति । तस्य प्रज्ञापनार्थः कारणापदेशो निरर्थक इति प्रसङ्गसमतया हेतुदूषणमयुक्तमिति । ॥ प्रतिदृष्टान्तसमस्य परिहारोऽयम् । प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाहेतुदृष्टान्तः । प्रतिदृष्टान्तं ब्रुवता न विशेषहेतुरूपदिश्यते । अनेन प्रकारेण प्रतिदृष्टान्तः साधको न दृष्टान्त इति । एवं प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे सति नाहेतुदृष्टान्त इत्युपपद्यते । स च कथमहेतुर्न स्यात् ? यद्यप्रतिषिद्धः साधकः स्यादिति । इति प्रतिदृष्टान्तसमतया हेतुदूषणमयुक्तम् । ॥ अथानुत्पत्तिसमः । प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसम इति । उत्पत्तेः पूर्वं कारणाभावादनुत्पत्तिसमः । अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्युक्तेऽपर आह—प्रागुत्पत्तेः

अनुत्पन्ने शब्दे प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वे कारणं नास्ति । तदभावान्नित्यत्वं प्राप्तं नित्यस्य चोत्पत्तिर्नास्ति । इत्यनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानं हेतोर्दोषवचनम् उपालम्भोऽनुत्पत्तिसम इति ।०। अस्य परिहारस्तु । तथाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न कारणप्रतिषेध इति । तथाभावादुत्पन्नस्येति । उत्पन्नः खल्वयं शब्द इति भवति । प्रागुत्पत्तेः शब्द एव नास्ति । उत्पन्नस्य शब्दभावात्, शब्दस्य सतः प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वकारणमुपपद्यते कारणोपपत्तेश्चायुक्तोऽयं दोषः, प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादिति ।०। अथाहेतुसमः । त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः । इति । हेतुः साधनं, तत् साध्यात् पूर्वं पश्चात् सह वा भवेत् ; यदि पूर्वं साधनम् असति साध्ये कस्य साधनं स्यात्, अथ पश्चात् तदा चासति साधने कस्येदं साध्यमिति, अथ युगपत् साध्यसाधने द्वयोर्विद्यमानयोः किं कस्य साधनं किं कस्य साध्यमिति हेतुना न विशिष्यते । अहेतुना साधम्म्यात् प्रत्यवस्थानमुपालम्भः खलु हेतोर्दोषवचनमिदमहेतुसमाख्यं भवति । अस्य परिहारः । न हेतुतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः । इति । न त्रैकाल्यासिद्धिः, कस्मात् ? हेतुतः साध्यसिद्धेरिति । निर्व्वर्त्तनीयस्य निर्व्वर्त्तितः । विज्ञेयस्य विज्ञानम् । उभयं कारणतो दृश्यते । सोऽयं महान् प्रत्यक्षविषय इति । हेतुतो हि साध्यसिद्धिर्न हि हेतुमन्तरेण किमपि सिध्यति । यत्सिद्धौ यस्य साधनयोग्यता यस्य साध्ययोग्यता तत्तस्य साधनेन तत्साध्यं साध्यते । यदा येन यत् साध्यते तदा तत् तस्य साध्यमुच्यते तत् तस्य साधनञ्च । द्वयन्तु विद्यमानमपि स्वरूपेणैव वर्त्तते । न तु प्राक् साधनारम्भात् साध्यसाधनरूपेण द्वयं गृह्यते । यदा साधयितुमारभते तदा यत् साध्यते तत् साध्यत्वेन गृह्यते येन साध्यते तत् साधनत्वेन गृह्यते, इति हेतुतः साध्यसिद्धिस्तत्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिरिति । यत् त्व खलूक्तमसति साध्ये किं कस्य साधनमिति । यत् तु निर्व्वर्त्तते यच्च विज्ञायते तस्येति । प्रतिषेधानुपपत्तेश्च प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः । पूर्वं पश्चाद् युगपद्वा प्रतिषेध इति नोपपद्यते । प्रतिषेधानुपपत्तेः स्थापनाहेतुः सिद्ध इति ।०। अथार्थापत्तिसमः । अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेः अर्थापत्तिसम इति । अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदिति स्थापिते पक्षे अर्थापत्त्या प्रतिपक्षं साधयतोऽर्थापत्तिसमः स्यात् । यदि प्रयत्नानन्तरीयकत्वादनित्यसाधम्म्यादनित्यः शब्द इति, अत्रार्थादापद्यते नित्यसाधम्म्यात् नित्य इति । अस्ति ह्यस्य नित्येन साधम्म्यमस्पर्शत्वमिति । अथास्य परिहारः । अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वादनैकान्तिकत्वाच्चाार्था-

पत्तेः । इति । अनुपपाद्यसामर्थ्यमनुक्तमर्थादापद्यते इति ब्रुवतः पक्षहानेः  
 उपपत्तिरनुक्तत्वात् । अनित्यपक्षसिद्धावर्थादापन्नस्य नित्यपक्षस्य हानिरिति ।  
 अनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः, उभयपक्षसमाचेयमर्थापत्तिः । यदि नित्यसाधर्म्यात्  
 अस्पर्शत्वादाकाशवच्च नित्यः शब्दः अर्थादापन्नमनित्यसाधर्म्यात् प्रयत्ना-  
 नन्तरीयकत्वादनित्य इति । न चेयं विपर्ययमात्रादेकान्तेनार्थापत्तिः । न  
 खलु वै घनस्य ग्रावणः पतनमित्यर्थादापद्यते द्रवाणामपां पतनाभाव इति ।  
 अथाविशेषसमः । एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सवर्वाविशेषप्रसङ्गात् सद्भावोप-  
 पत्तेरविशेषसम इति । एको धर्मः प्रयत्नान्तरीयकत्वं शब्दघटयोरुपपद्यते ।  
 इत्यविशेषे उभयोरनित्यत्वे सर्वस्याविशेषः प्रसज्यते । कथम् ? सद्भावोप-  
 पत्तेः । एको धर्मः सद्भावः सर्वस्योपपद्यते, सद्भावोपपत्तेः सर्वस्याविशेष-  
 प्रसङ्गात् प्रत्यवस्थानमविशेषसमः । इत्युपालम्भः । तस्य परिहारः । कश्चित्  
 धर्मानुपपत्तेः कश्चिदोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः । इति । यथा साध्यदृष्टान्तयोः  
 एकधर्मस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्योपपत्तेरनित्यत्वधर्मान्तरमविशेषः, एवं  
 सर्वभावाणां सद्भावोपपत्तिनिमित्तधर्मान्तरमस्ति येनाविशेषः स्यात् । तथा  
 अनित्यत्वमेव धर्मान्तरं सद्भावोपपत्तिनिमित्तं भावानां सर्वत्र स्यादित्येवं  
 खल्वेव कल्प्यमाने अनित्याः सर्वे भावाः सद्भावोपपत्तेरिति पक्षः प्राप्नोति ।  
 तत्र प्रतिज्ञाथेन्यतिरिक्तमन्यदुदाहरणं नास्ति, अनुदाहरणश्च हेतुर्नास्ति इति  
 प्रतिज्ञैकदेशस्योदाहरणत्वमुपपन्नम् । न हि साध्यमुदाहरणं भवति । ततश्च  
 नित्यानित्यभावादनित्यत्वानुपपत्तिः । तस्मात् सद्भावोपपत्तेः सवर्वाविशेष-  
 प्रसङ्ग इति निरभिधेयमेतद्वाक्यमिति । सर्वभावाणां सद्भावोपपत्तेरनित्यत्व-  
 मिति ब्रुवताऽनुज्ञातं शब्दस्यानित्यत्वं तत्रानुपपन्नप्रतिषेध उपालम्भ इति ।  
 अथोपपत्तिसमः । उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः । यद्यनित्यत्वकारणत्वं  
 प्रयत्नानन्तरीयकत्वमुपपद्यते शब्दस्येत्यनित्यः शब्द इति, नित्यत्व-  
 कारणमप्युपपद्यतेऽस्यास्पर्शत्वमिति नित्यः शब्द इत्युपपद्यते । उभयस्य  
 अनित्यत्वानित्यत्वस्य कारणोपपत्त्या प्रत्यवस्थानं दूषणवचनमुपपत्तिसम इति ।  
 तस्य परिहारः । उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः । इति । उभयकारणोप-  
 पत्तेरिति ब्रुवता नानित्यत्वकारणोपपत्तेरनित्यत्वं प्रतिषिध्यते । यदि प्रति-  
 षिध्यते, नोभयकारणोपपत्तिः स्यात् । उभयकारणोपपत्तिवचनादनित्यत्व-  
 कारणोपपत्तिरभ्यनुज्ञायते । तदभ्यनुज्ञानादनुपपन्नः प्रतिषेधः । व्याघातात्  
 प्रतिषेध इति चेत् ? समानो व्याघातः । एकस्य नित्यत्वानित्यत्वप्रसङ्गं व्याहृतं



ब्रूवतोक्तः प्रतिषेध इति चेत् स्वपक्षपरपक्षयोः समानो व्याघातः । स च नैकतरस्य साधक इति । अथोपलब्धिसमः । निर्विष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसमः । इति । निर्विष्टस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्यानित्यत्वकारणस्याभावेऽपि वायुनोदनाद् दृक्शशाखाभङ्गजस्य शब्दस्यानित्यत्वमुपलभ्यते ; निर्विष्टस्य साधनस्याभावेऽपि साध्यधर्मोपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमुपालम्भ उपलब्धिसमः इति । तस्य परिहारः । कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेध इति । प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति ब्रूवता कारणत उपपत्तिरभिधीयते । न कार्यस्य कारणनियमः । यदि च कारणान्तरादप्युपपद्यमानस्य शब्दस्य तदनित्यत्वमुपपद्यते । किमत्र प्रतिषिध्यते ? न प्रागुच्चारणाद् विद्यमानस्य शब्दस्यानुपलब्धिः । कस्मात् ? आवरणाद्यनुपलब्धेः । यथा विद्यमानस्योदकादेरर्थस्यावरणादेरनुपलब्धिः । नैवं शब्दस्याग्रहणकारणेनावरणादीनानुपलब्धिः । गृह्यते चैतदस्याग्रहणकारणमुदकादिवन्न गृह्यते । तस्मादुदकादिविपरीतः शब्दोऽनुपलभ्यमान इति । अथानुपलब्धिसमः । तदनुपलब्धेरनुपलम्भाद् अभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमः इति । तेषामावरणादीनामनुपलब्धिर्नोपलभ्यते । अनुपलम्भान्नास्तीत्यभावोऽस्याः सिध्यति । अभावसिद्धौ हेत्वभावात् तद्विपरीतमस्तित्वावरणादीनामवधार्यते । तद्विपरीतोपपत्तेर्यत् प्रतिज्ञातं न प्रागुच्चारणाद् विद्यमानस्य शब्दस्यानुपलब्धिरित्येतन्न सिध्यति । सोऽयं हेतुरावरणानुपलब्धेरित्यावरणादिषु चावरणाद्यनुपलब्धौ च समयानुपलब्ध्या प्रत्यवस्थितोऽनुपलब्धिसमो भवति । तस्य परिहारः । अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः । आवरणाद्यनुपलब्धेरुपलब्धिर्नास्ति, अनुपलम्भादित्यहेतुः । कस्मात् ? अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेः । उपलम्भाभावमात्रत्वादनुपलब्धेः । यदस्ति तदुपलब्धेर्विषयः । अनुपलभ्यमानं नास्तीति प्रतिज्ञायते । सोऽयमावरणाद्यनुपलब्धेरुपलम्भाभावोऽनुपलब्धौ स्वविषये प्रवर्त्तमानो न स्वविषयं प्रतिषेधति । अप्रतिषिद्धा चावरणादुपलब्धिहेतुत्वाय कल्प्यते । आवरणादीनि तु विद्यमानत्वादुपलब्धेर्विषयास्तेषामुपलब्ध्या भवितव्यमिति । यत् तानि नोपलभ्यन्ते तदुपलब्धेः स्वविषयप्रतिपादिकाया अभावादनुपलम्भादनुपलब्धेर्विषयो गम्यते । न सन्त्यावरणादीनि शब्दस्य अग्रहणकारणानि । इति अनुपलम्भादनुपलब्धिः सिध्यति, विषयः स तस्येति । कथं तर्ह्यवस्तु स्याद्विषय इति ? ज्ञानविकल्पानाञ्च भावाभावसंवेदनादध्यात्मम् । अहेतुरित्यनुवर्त्तते । शारीरे शरीरिणां ज्ञानविकल्पानां भावाभावौ संवेदनीयौ ।

अस्ति मे संशयज्ञानं नास्ति मे संशयज्ञानमिति । एवं प्रत्यक्षानुमानागमस्मृति-  
ज्ञानेषु सेयमावरणाद्यनुपलब्धिरुपलब्ध्यभावः स्वसंवेद्यः, नास्ति मे शब्दस्य  
आवरणादुपलब्धिरिति नोपलभ्यन्ते शब्दस्याग्रहणकारणान्यावरणादीनीति ।  
तत्र यदुक्तं तदुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धिरिति, एतन्नोपपद्यते । इति । ॥ अथ  
नित्यसमः । नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः । अनित्यः शब्द  
इति प्रतिज्ञायते । तदनित्यत्वं किं शब्दे नित्यम् अथानित्यम् ? यदि तावत् सदा  
भवति धर्मस्य सदाभावाद्धर्मिणोऽपि सदाभाव इति नित्यः स्याच्छब्द  
इति । अथ न सर्वदा भवति, अनित्यत्वस्याभावान्नित्यः शब्दः । एवं नित्यत्वेन  
प्रत्यवस्थानान्नित्यसम इति । तस्य परिहारः । प्रतिषेध्ये नित्यमनित्य-  
भावादनित्येऽनित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः । इति । प्रतिषेध्ये शब्दं नित्यम्  
अनित्यभावादित्युच्यमानेऽनुज्ञातं शब्दस्यानित्यत्वम् । अनित्ये चानित्यत्वोप-  
पत्तेश्च नानित्यः शब्द इति प्रतिषेधो नोपपद्यते । अथ नाभ्युपगम्यते ।  
नित्यमनित्यभावादिति हेतुर्न भवति । इति हेत्वभावात् प्रतिषेधानुपपत्तिरिति ।  
उत्पन्नस्य निरोधादभावः शब्दस्यानित्यत्वं तत्र परिश्रानुपपत्तिः । सोऽयं  
प्रश्नः—तदा नित्यत्वं किं शब्दे सर्वदा भवति अथ न ? इत्यनुपपन्नः । कस्मात् ?  
उत्पन्नस्य यो निरोधादभावः शब्दस्य तदनित्यत्वम् । एवं सत्यधिकरणाधेय-  
विभागो व्याघातान्नास्तीत्यभावो वस्तुभूतः । नित्यमिति विरोधाच्चानित्यत्वम्  
अनित्यतात्त्वैकस्य धर्मिणो धर्मो विरुध्येते । न सम्भवतः । तत्र यदुक्तं  
नित्यमनित्यभावान्नित्य एव, तदवर्त्तमानार्थमुक्तमिति । ॥ अथानित्यसमः ।  
साधर्म्यात् तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसम इति । अनित्येन  
घटेन साधर्म्यादनित्यः शब्द इति ब्रुवतोऽस्ति घटेनानित्येन सर्वभावाणां  
साधर्म्यमिति सर्वस्यानित्यत्वमनिष्टं सम्पद्यते । सोऽयमनित्येन प्रत्यव-  
स्थानादुपलम्भादनित्यसम इति । तस्य परिहारः । साधर्म्यादसिद्धेः  
प्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्यसाधर्म्यात् । इति । प्रतिज्ञाद्यवयवयुक्तं वाक्यं  
पक्षनिर्वर्त्तकम् । प्रतिपक्षलक्षणः प्रतिषेधः । तस्य पक्षेण प्रतिषेध्येन साधर्म्यं  
प्रतिज्ञायोगः । तद् यद्यनित्यसाधर्म्यादनित्यत्वस्यासिद्धिः, साधर्म्यादसिद्धेः ।  
प्रतिषेधस्याप्यसिद्धिः प्रतिषेध्येन साधर्म्यादिति । दृष्टान्ते च साध्यसाधन-  
भावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य हेतुत्वात् तस्य चोभयथाभावान्नाविशेषः इति । दृष्टान्ते  
यः खलु धर्मः साध्यसाधनभावेन प्रज्ञायते, स हेतुत्वेनाभिधीयते ; स चोभयथा  
भवति । केनचित् समानः कुतश्चिद्विशिष्टः । सामान्यात् साधर्म्यं विशेषाच्च

वैधर्म्यम् । एवं साधर्म्यविशेषो हेतुर्नाविशेषेण साधर्म्यमात्रं वैधर्म्यमात्रं वा, साधर्म्यमात्रं वैधर्म्यमात्रञ्चाश्रित्य भवानाह—साधर्म्यमात्रं तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वावित्यत्र प्रसङ्गादनित्यसमः इति । एतदयुक्तमिति । अविशेषसमप्रतिषेधे च यदुक्तं तदपि वेदितव्यमिति । अथ कार्यसमः । प्रयत्नकार्यानेकत्वात् कार्यसमः इति । प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्यः शब्द इति, यस्य प्रयत्नानन्तरम् आत्मलाभस्तत् खल्वभूत्वा भवति । यथा—घटादिकार्यम्, अनित्यमिति न भूत्वा भवतीत्येतद् विज्ञायते । एवं व्यवस्थिते प्रयत्नकार्यानेकत्वादिति प्रतिषेध उच्यते । प्रयत्नानन्तरमात्मलाभश्च दृष्टो घटादीनाम् । व्यवधानापोहाच्चाभिव्यक्तिः व्यवहितानाम् । तत् किं प्रयत्नानन्तरमात्मलाभः शब्दस्याहो अभिव्यक्तिः ? इति विशेषो नास्ति । कार्यविशेषेण प्रत्यवस्थानमुपालम्भः कार्यसम इति । तस्य परिहारः । कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपलब्धेः । सति कार्यान्यत्वे अनुपलब्धिकारणोपपत्तेः प्रयत्नस्याहेतुत्वं शब्दस्याभिव्यक्तौ । यत्र प्रयत्नानन्तरमभिव्यक्तिस्तत्रानुपलब्धेः कारणं व्यवधानमुपपद्यते, व्यवधानापोहाच्च प्रयत्नानन्तरभाविणोऽर्थस्योपलब्धिलक्षणाभिव्यक्तिर्भवतीति । न तु शब्दस्यानुपलब्धिकारणं किञ्चिदुपपद्यते । यस्य प्रयत्नानन्तरं व्यवधानापोहाच्छब्दस्योपलब्धिलक्षणाभिव्यक्तिर्भवतीति, तस्मादुत्पद्यते शब्दो नाभिव्यज्यते । हेतोश्चेदनैकान्तिकत्वमुपपद्यते अनैकान्तिकत्वादसाधकः स्यादिति । यदि चानैकान्तिकत्वादसाधकम्, प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः । प्रतिषेधोऽप्यनैकान्तिकः, किञ्चित् प्रतिषेधति किञ्चिन्न प्रतिषेधति । तदनैकान्तिकत्वान्न साधकः प्रतिषेधः । अथवा शब्दस्यानित्यत्वपक्षे प्रयत्नानन्तरमुत्पादः, नाभिव्यक्तिरिति विशेषहेत्वभावः । नित्यत्वपक्षेऽपि प्रयत्नानन्तरमभिव्यक्तिः, नोत्पाद इति विशेषहेत्वभावः । सोऽयमुभयपक्षसमो विशेषहेत्वभाव इत्युभयमप्यनैकान्तिकमिति । सर्वत्रैवम् । सर्वत्र प्रकरणसमादिषु प्रतिषेधहेतुषु यत्राविशेषो दृश्यते तत्रोभयोः पक्षयोः समः प्रसज्यते इति । प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद् दोषः । योऽयं प्रतिषेधेऽपि समानो दोषोऽनैकान्तिकत्वमापद्यते, सोऽयं विप्रतिषेधे प्रतिषेधस्य प्रतिषेधे प्रतिषेधवत् समानो दोषोऽनैकान्तिकत्वमापद्यते । तत्रानित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति साधनवादिनः स्थापना प्रथमः पक्षः । प्रयत्नकार्यानेककार्यत्वात् कार्यसम इति दूषणवादिनः प्रतिषेधहेतुना द्वितीयः पक्षः, स च प्रतिषेध इत्युच्यते । तस्मिन् प्रतिषेधे पुनस्तस्य प्रतिषेधेऽपि समानो दोषोऽनैकान्तिकत्वं

अथ प्रतिज्ञाहानिः । प्रतिज्ञाहानिर्नाम सा प्राक् परिग्रहीतां प्रतिज्ञां पर्यनुयुक्तो यत् परित्यजति । यथा प्राक् प्रतिज्ञां कृत्वा नित्यः पुरुष इति, पर्यनुयुक्तस्त्वाह अनित्य इति ॥ ६१ ॥

तृतीयः पक्ष इति । एषा मतानुज्ञा वक्ष्यते । इति चतुर्विंशतिधा सपरिहारा उपालम्भा व्याख्याताः ॥ ६० ॥

गङ्गाधरः—नन्वेवं वादे वर्तमाने कस्य जयः कस्य पराजयो वा कथं भवतीत्यत आह—अथ प्रतिज्ञाहानिरित्यादि । यस्य प्रतिज्ञाहान्यादयो भवन्ति स पराजितो भवन् निग्रहं प्राप्नोतीति प्रतिज्ञाहान्यादीनि निग्रहस्थानानि भवन्ति । तानि बहून्यपि कतिचित् प्रतिज्ञाहान्यादीनि निर्दिश्य शेषाणि निग्रहस्थान-पदेनोच्यन्ते । तत्र का पुनः प्रतिज्ञाहानिरित्यत उच्यते—प्रतिज्ञाहानिः नामेत्यादि । यत् पूर्वं परिग्रहीतां प्रतिज्ञां साध्यवचनं पर्यनुयुक्तः खलु प्रत्यनुयुक्तः स्वानुयुक्तेन वादिना पुनरनुयुक्तः सन् परित्यजति स पूर्व-प्रतिज्ञातार्थपरित्यागः प्रतिज्ञाहानिर्नाम भवति । तामुदाहरति—यथेत्यादि । प्राक् प्रतिज्ञा कृता नित्यः पुरुष इति । तस्याः स्थापनायां वादिना पर्यनु-योगेनानुत्तरसमर्थः संस्तं प्रतिज्ञां परित्यजन्नाहानित्यः पुरुष इति । इति पूर्वप्रतिज्ञालागात् विरोधिप्रतिज्ञान्तरप्रदर्शनेन क्षापितम् । प्रतिज्ञाहानिरेव चतुर्द्धेति—प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासश्चेति । उक्तञ्च गौतमेन । प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिरिति । साध्यधर्मप्रत्यनीकेन धर्मेण प्रत्यवस्थिते खलूपालम्भे सति प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्यनुज्ञानन् प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञाहानिः । यथा—ऐन्द्रियक-त्वादनित्यः शब्दो घटवदिति प्रतिज्ञातेऽथापर आह—दृष्टमैन्द्रियकत्वं नित्ये सामान्ये लाकृतौ, कस्माच्छब्दो न नित्यः स्यादिति प्रत्यवस्थिते पूर्ववादी पुनराह, यदि नित्यं सामान्यमैन्द्रियकं तर्ह्यस्तु घटो नित्य इति प्रतिदृष्टान्त-धर्मं नित्यसामान्यस्य नित्यत्वं स्वदृष्टान्ते घटेऽभ्यनुज्ञां कृत्वा साधकस्य दृष्टान्तस्य नित्यत्वं प्रसक्तं कुर्वन्नित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वाद् यथा घटः । यथा घटः ऐन्द्रियकस्तथा शब्दस्तस्मादनित्य इत्यन्तं पक्षं जहत् प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञाहानिमात्रमुच्यते पक्षस्य प्रतिज्ञाश्रयत्वात् । स एवं प्रतिज्ञां हिला यद्यपरां प्रतिज्ञां करोति तदा प्रतिज्ञान्तरमुच्यते । तदुक्तं गौतमेन ।

अथाभ्यनुज्ञा । अभ्यनुज्ञा नाम सा य इष्टानिष्टाभ्युप-  
गमः ॥ ६२ ॥

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात् तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरमिति ।  
प्रतिज्ञातार्थोऽनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वाद् घटवदिति । तत्र यः प्रतिषेधः  
प्रतिदृष्टान्तं हेतुव्यभिचारो यथा—सामान्यं नित्यमैन्द्रियकमिति तस्मिंश्च  
प्रतिज्ञातार्थे प्रतिषिद्धे धर्मविकल्पादिति दृष्टान्तप्रतिदृष्टान्तयोः साधर्म्य-  
योगे धर्मभेदात् सामान्यमैन्द्रियकं सर्वगतम्, ऐन्द्रियकस्त्वसर्वगतो घट इति  
धर्मविकल्पात् । तदर्थं निर्देश इति साध्यसिद्धयर्थम् । यथा घटोऽसर्वगत  
एवं शब्दोऽप्यसर्वगतो घटवदेवानित्य इति ; तत्रानित्यः शब्द इति  
पूर्वप्रतिज्ञा । असर्वगत इति द्वितीया प्रतिज्ञा प्रतिज्ञान्तरमेतदपि प्रतिज्ञा-  
हानिविशेषः । अनित्यः शब्द इतिमात्रप्रतिज्ञात्यागो हि शब्दोऽसर्वगतो-  
ऽनित्य इत्युक्ते भवति । तर्हि कथं निग्रहस्थानमिदं प्रतिज्ञान्तरमिति ?  
प्रतिज्ञायाः साधनं न प्रतिज्ञान्तरं, किन्तु हेतुदृष्टान्तौ प्रतिज्ञायाः साधनम् ।  
तदेतदसाधनोपादानमनर्थकमित्यानर्थक्यान्निग्रहस्थानमिति । अथ हेतुप्रतिज्ञयो-  
र्विरोधे सति प्रतिज्ञायाः स्थापना न भवतीति तां प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञा-  
विरोधोऽपि प्रतिज्ञाहानिविशेषः । उक्तञ्च गौतमेन । प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः  
प्रतिज्ञाविरोध इति । गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति प्रतिज्ञा । रूपादितोऽर्थान्तरस्य  
अनुपलब्धेरिति हेतुः । द्वयोः परस्परं विरोधः । गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं तच्चोप-  
लभ्यते कथं रूपादिव्यतिरिक्तस्यानुपलब्धिरिति रूपादिगुणव्यतिरिक्तस्यानुप-  
लब्धिश्चेत् तर्हि कथं गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं भवतीति विरोधाद् गुणव्यतिरिक्तं  
द्रव्यमिति प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञाहानिविशेष एव । तत्र यदि प्रतिज्ञातार्थं  
निहते तदा प्रतिज्ञानिहवात् प्रतिज्ञात्यागो भवतीति । प्रतिज्ञासन्न्यास उच्यते ।  
उक्तञ्च गौतमेन । पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यास इति ।  
अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते परो ब्रूयात् सामान्यमैन्द्रियकं न  
चानित्यम्, एवं शब्दोऽप्यैन्द्रियको न चानित्यः इत्येवं प्रतिषिद्धेऽनित्यत्वपक्षे  
यदि ब्रूयात् कः खल्वाहानित्यः शब्द इति । सोऽयं प्रतिज्ञातार्थनिहवः ।  
प्रतिज्ञासंन्यास इति प्रतिज्ञात्यागविशेषः प्रतिज्ञाहानिरेवेति न विरोधः ॥ ६१ ॥

गङ्गाधरः—नन्वेवं वादः कः उच्यते इत्यत उद्दिष्टमभ्यनुज्ञेति । अथाभ्यनु-  
ज्ञेत्यादि । का पुनरभ्यनुज्ञेत्यत आह—अभ्यनुज्ञा नाम सेत्यादि । य

अथ हेत्वन्तरम् । हेत्वन्तरं नाम प्रकृतिहेतौ वक्तव्ये यद्-  
विकृतिहेतुमाह ॥ ६३ ॥

इष्टानिष्टाभ्युपगमः साभ्यनुज्ञा नामोच्यते । य इष्टं स्वपक्षं परेण प्रदर्शित-  
दोषत्वादनिष्टं कृत्वा परमतमभ्युपगच्छति साभ्यनुज्ञा मतानुज्ञा । तदुक्तं  
गौतमेन । स्वपक्षदोषाभ्युपगमात् परपक्षदोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा । प्रतिषेधं  
सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधप्रतिषेधे समानो दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा । यः परेण  
चोदितं दोषं स्वपक्षेऽभ्युपगम्य नोद्धृत्य वदति भवत्पक्षे समानो दोष  
इति, स स्वपक्षदोषाभ्युपगमात् परपक्षदोषं प्रसक्तं कुर्वन् परमतमनुजानातीति  
मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानमापद्यते इति ॥ ६२ ॥

गङ्गाधरः—ततो हत्वन्तरमाश्रयेदित्युक्तम् । हेत्वन्तरमिति तत् कीदृश-  
मित्यत आह—अथ हेत्वन्तरमिति । हेत्वन्तरं नामेत्यादि । प्रकृतिहेतौ वाच्ये  
यद्विकृतिहेतुमाह तद्धेतुन्तरं नामोच्यते । उक्तञ्च गौतमेन । अविशेषोक्त  
हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरमिति । एकप्रकृतीदं व्यक्तमिति  
प्रतिज्ञा । कस्मात् ? एकप्रकृतीनां विकाराणां परिमाणात्, मृतपूर्वकाणां  
शरावादीनां दृष्टं परिमाणं यावान् प्रकृतेर्व्यूहो भवति तावान् विकार इति ।  
दृष्टञ्च प्रतिविकारं परिमाणम् । अस्ति चेदं परिमाणं प्रव्यक्तम् । तदेक-  
प्रकृतीनां विकाराणां परिमाणात् पश्यामो व्यक्तमिदमेकप्रकृतीति । अस्य  
व्यभिचारेण परिहारः । नानाप्रकृतीनामेकप्रकृतीनाञ्च विकाराणां दृष्टं  
परिमाणमिति ; एवं प्रत्यवस्थिते स आह—एकप्रकृतिसमन्वये सति शरावादि-  
विकाराणां परिमाणदर्शनात् । सुखदुःखमोहसमन्वितं हीदं व्यक्तं परिमितं  
गृह्यते । तत्र प्रकृत्यन्तरसमन्वयाभावे सत्येकप्रकृतित्वमिति । तदिदमविशेषोक्ते  
हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषं ब्रुवतो हेत्वन्तरं भवतीति । सति च हेत्वन्तराभावे  
पूर्वस्य हेतोरसाधकत्वान्निग्रहस्थानम् । हेत्वन्तरवचने सति यदि हेत्वर्थ-  
निदर्शनो दृष्टान्त उपादीयते, नेदं व्यक्तमेकप्रकृतिकं भवति प्रकृत्यन्तरोपा-  
दानात् । अथ नोपादीयते हेत्वर्थस्यानिर्दिष्टस्य साधकभावानुपपत्तेरानर्थक्या-  
द्धेतोरनिवृत्तं निग्रहस्थानमिति ॥ ६३ ॥

चक्रपाणिः—इष्टानिष्टाभ्युपगमः, यथा—भवान् चौर इत्युक्त्या दोषं न परिहृत्य; भवानोप

अथार्थान्तरम् । अर्थान्तरं नाम एकस्मिन् वक्तव्येऽपरं यदाह । यथा ज्वरलक्षणे वाच्ये प्रमेहलक्षणमाह ॥ ६४ ॥

अथ निग्रहस्थानम् । निग्रहस्थानं नाम पराजय-प्राप्तिः, तच्च त्रिरुक्तस्य वाक्यस्याविज्ञानं परिषदि विज्ञान-

गङ्गाधरः—अर्थान्तरमुद्दिष्टं तदाह—अथार्थान्तरमिति । अर्थान्तरं नाम इत्यादि । एकस्मिन् वक्तव्येऽपरं यदाह तदर्थान्तरम् । यथा ज्वरलक्षणे वाच्ये प्रमेहलक्षणमाहेति । गौतमेनाप्युक्तम् । प्रकृतादर्थदप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम् इति । यथोक्तलक्षणे पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहे हेतुतः साध्यसिद्धौ प्रकृतायां ब्रूयात् । नित्यः शब्दोऽस्पृगत्वादिति हेतुः । हेतुर्नाम हिनोतैर्धातोस्तुनि-प्रत्यये कृदन्तपदम् । पदञ्च नामाख्यातोपसर्गेनिपाताः । अभिधेयस्य क्रियान्तरयोगाद्विशिष्यमाणरूपः शब्दो नाम क्रियाकारकसमुदायः, कारक-सङ्ख्याविशिष्टक्रियाकालयोगाभिधायि आख्यातम् । धात्वर्थमात्रञ्च कालाभि-धानविशिष्टम् । योगेष्वर्थादभिद्यमानरूपा निपाताः । उपसृज्यमानाः क्रिया-वद्योतका उपसर्गा इत्येवमादि यत्, तदर्थान्तरं वेदितव्यमिति ॥ ६४ ॥

गङ्गाधरः—यदुद्दिष्टं निग्रहस्थानं तदाह—अथ निग्रहस्थानमिति । किं पुनर्निग्रहस्थानमुच्यते तत् आह—निग्रहस्थानं नामेत्यादि । पराजयः प्राप्यते येन सा पराजयप्राप्तिर्निग्रहस्थानं नामोच्यते । तस्य विभागोऽविज्ञा-तार्थादिकम् । तदन्याह त्रिरुक्तस्येत्यादि । उक्तञ्च गौतमेन सामान्य-लक्षणम् । विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानमिति । विपरीता वा कुत्सिता वा प्रतिपत्तिर्विप्रतिपत्तिः । विप्रतिपद्यमानः पराजयमाप्नोति, निग्रहस्थानं खलु पराजयप्राप्तिः । अप्रतिपत्तिस्तारम्भविषये न प्रारम्भः । परेण स्थापितं वा न प्रतिषेधति, प्रतिषेधं वा नोद्धरति । असमासाच्च नैता एव निग्रह-स्थाने इति । तद्विकल्पान्निग्रहस्थानवहुत्वमिति । तयोर्विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योः विकल्पान्निग्रहस्थानवहुत्वमिति । नानाकल्पो विकल्पो विविधो वा कल्पो

चौर इति । एतद्वि वचनं स्वीयमनिष्टचौरत्वं परस्य चेष्टचौरत्वमप्यभ्यनुजानाति । तदेवं वचनं न्याये 'मतानुज्ञा'शब्देनोच्यते ॥ ६५—६४ ॥

चक्रपाणिः—निग्रहस्याभिभवस्य स्थानमिव स्थानं कारणमिति निग्रहस्थानम्, परिषदि विज्ञान-

वत्याम् । यद्वा अननुयोज्यस्यानुयोगोऽनुयोज्यस्य चाननुयोगः ।  
प्रतिज्ञाहानिरभ्यनुज्ञा कालातीतवचनमहेतुन्यूनमधिकं व्यर्थम्  
अनर्थकं पुनरुक्तं विरुद्धं हेत्वन्तरमर्थान्तरं निग्रहस्थानम् ।

विकल्प इति । तत्राविज्ञानमननुभाषणमप्रतिभाविक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनु-  
योज्योपेक्षणमित्येतदप्रतिपत्तिर्निग्रहस्थानम् । शेषस्तु विप्रतिपत्तिरिति ।

तद् विप्रतिपत्तिविकल्पान्निग्रहस्थानप्रविभागोऽयं त्रिरुक्तस्येत्यादिक-  
मर्थान्तरान्तम् । तत्र त्रिरुक्तस्येति । विज्ञानवत्यां परिपदि न तु सूत्रायां वादे  
प्रवर्तमानयोर्द्वयोरेकेण वादिना परिपदेन वा श्लिष्टशब्दगृह्यार्थशब्दाप्रतीतप्रयोग-  
दुर्व्वार्थार्थातिद्रुतोच्चारितादिशब्दैस्त्रिरुक्तस्य वाक्यस्याथेतोऽपरस्य वादिनो  
यन्न विज्ञानं भवति तत् खल्वविज्ञातार्थमुच्यते निग्रहस्थानम् । गौतमेन चोक्तम् ।  
परिपत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थमिति । यद्वाक्यं परिपदा  
प्रतिवादिना च त्रिरभिहितमपि न विज्ञायते, श्लिष्टशब्दमप्रतीतप्रयोगमति-  
द्रुतोच्चारितमित्येवमादिना कारणेन, तदविज्ञातमविज्ञातार्थमसामर्थ्य-  
संवरणाय प्रयुक्तमिति निग्रहस्थानमिति । अन्यच्चाह—यद्वेत्यादि । अननु-  
योज्यानुयोगः । प्रागुक्तं यद्वाक्यं वाक्यदोषयुक्तं तदनुयोज्यमननुयोज्यं  
नामातो विपर्ययेण तस्यानुयोगस्तद्विद्वैः सह दोषवत्तया भाषणमित्यननु-  
योज्यानुयोगः । गौतमेन चोक्तम् । निरनुयोज्यानुयोग इति । अनिग्रहस्थाने  
निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोग इति । निग्रहस्थानलक्षणस्य मिथ्या  
अध्यवसायादनिग्रहस्थाने निगृहीतोऽसीति परो ब्रुवन् निरनुयोज्यानुयोगात्  
निगृहीतो वेदितव्य इति । अनुयोज्यस्याननुयोगः । सदोषवाक्यं ब्रुवन्ननु-  
योज्यो यो भवति तस्याननुयोगो दोषवद्वाक्यवादितयानुयोगोपेक्षाकरणं तत्-  
कर्त्ता निग्राह्यो भवति । गौतमेन चोक्तम् । निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः  
पर्यनुयोज्योपेक्षणमिति । पर्यनुयोज्यो नाम निग्रहोपपत्त्या चोदनीयः, तस्य  
उपेक्षणं निग्रहस्थानं प्राप्तोऽसीति अननुयोगः । एतच्च कस्य पराजयः ? इत्यनु-  
युक्त्या परिपदा वचनीयमिति ।० प्रतिज्ञाहानिश्चतुर्विधा व्याख्याता ।  
कालातीतवचनं व्याख्यातम् । अहेतवो हेत्वाभासा व्याख्याताः । न्यूनादयः

वत्यामित्यनेन, यदि परिपत् तस्य त्रिरभिहितस्यार्थं विजानाति, प्रतिवादी च न जानाति, तदा तस्य  
निग्रहस्थानं भवति । अन्यानप्युक्तानेव निग्रहस्थानत्वेनाह—अननुयोज्यस्यानुयोग इत्यादि ।  
एते च व्याकृता एव । अत्र चाप्रतिभादयो न्यायोक्ता अन्तर्भावनीया बुद्धिमद्भिः, आयुर्वेदे



पङ्क्तोपा वाक्यस्य व्याख्याताः । हेतुन्तर व्याख्यातमर्थान्तरश्च । निग्रह-  
स्थानमिति । शेषश्च निग्रहस्थानं वेदितव्यम् । तद् यथा । अप्राप्तकालमप-  
सिद्धान्तोऽनुभाषणमज्ञानमप्रतिभाविक्षेपो मतानुज्ञा चेति । तत्राप्राप्तकाला-  
दिकमुक्तं गौतमेन । अवयवविपर्ययासवचनमप्राप्तकालमिति । प्रतिज्ञादीनाम्  
अवयवानां यथालक्षणमर्थवशात् क्रमः । तत्रावयवविपर्ययासेन व्यतिक्रमेण  
वचनमप्राप्तकालम् । असम्बद्धार्थकालं निग्रहस्थानमिति । सिद्धान्तमभ्यु-  
पेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः । कस्यचिदर्थस्य तथाभावं प्रतिज्ञाय  
प्रतिज्ञातार्थविपर्ययादनियमात् कथां प्रसञ्जयतोऽपसिद्धान्तो वेदितव्यः ।  
यथा न सदात्मानं जहाति न सतो विनाशो नासदात्मानं लभते नासत्  
उत्पद्यत इति सिद्धान्तमभ्युपेत्य स्वपक्षं व्यवस्थापयति । इति । अथाननु-  
भाषणमिति । विज्ञातस्य परिपदा त्रिरभिहितस्याप्यनुच्चारणमननुभाषणमिति ।  
विज्ञातस्य वाक्यार्थस्य परिपदा प्रतिवादिना च त्रिरभिहितस्य यदप्रत्युच्चारणं  
तदननुभाषणं नाम निग्रहस्थानम् । अप्रत्युच्चारयन् किमाश्रयं परपक्षप्रतिषेधं  
ब्रूयात् । इति । अविज्ञातश्चाज्ञानम् । विज्ञातार्थस्य परिपदा प्रतिवादिना  
च त्रिरभिहितस्य यदविज्ञानं तदज्ञानं निग्रहस्थानमिति, यत्र विज्ञातं तस्य प्रति-  
षेधं कथं कुर्यादिति । इत्यनुभाषणश्चाज्ञानश्चाविज्ञातार्थञ्चेति त्रयं त्रिरुक्त-  
स्येत्यादिना प्रथमोक्तं निग्रहस्थाने न संगृहीतं बोध्यम् ।०। उत्तरस्याप्रतिपत्तिः  
अप्रतिभा इति । प्रतिपक्षप्रतिषेध उत्तरम् । तद् यदा न प्रतिपद्यते तदा न गृहीतो  
भवति । मतानुज्ञा चोक्ताभ्यनुज्ञा नाम । इति निग्रहस्थानम् । विक्षेपश्च ।  
काव्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेप इति । यत्र कर्त्तव्यं व्यासज्य कथां  
व्यवच्छिनत्ति—इदं मे करणीयं विद्यात् तस्मिन्नवसिते करिष्यामीति विक्षेपो  
नाम निग्रहस्थानम् । एकनिग्रहावसानायां कथायां स्वयमेव कथान्तरं  
प्रतिपद्यत इति ।०। अयं वादस्तद्विद्यसम्भाषा नाम गौतमेन चोक्ता । ज्ञान-  
ग्रहणाभ्यासस्तद्विद्वैः सह संवादः इति । तदर्थमिति । प्रकृतं ज्ञायतेऽनेन  
इति ज्ञानमात्मविद्याशास्त्रं, तस्य ग्रहणमध्ययनधारणे, अभ्यासः सततक्रिया  
अध्ययनश्रवणचिन्तनानि । तद्विद्वैश्च सह संवाद इति प्रज्ञापरिपाकाथम् । परि-  
पाकस्तु संशयच्छेदनमविज्ञातार्थावबोधोऽध्यवसिताभ्यनुज्ञानमिति । सन्धाय  
वादः संवादः । तद्विद्वैः सह यैः संलापः काव्यस्तदुच्यते । तं शिष्यगुरु-  
सब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनसूयिभिरभ्युपेयात् । एतन्निगदेनैव नीतार्थम्  
इति । एष संवादः सन्धायसम्भाषा प्रागिहवाध्याये व्याख्याता । यदिदं

इति वादमार्गपदानि यथोद्देशमभि निर्दिष्टानि भवन्ति ॥६५॥

वादस्तु खलु भिषजां वर्त्तमानो वर्त्तेतायुर्वेद एव न त्वन्यत्र । तत्र हि वाक्यप्रतिवाक्यविस्तराः केवलाश्चोपपत्तयः सर्वाधिकरणेषु च । ताः सर्वाः सम्यगवेद्यावेद्य सर्वं वाक्यं ब्रूयात् । नाप्रकृतकमशास्त्रमपरीक्षितमसाधकमाकुलमज्ञापकं वा । सर्वञ्च हेतुमद् ब्रूयात्, हेतुमन्तो ह्यकुलुषाः सर्व एव मन्येत । पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः प्रतिकूलः परस्येति । तत्राह । प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे इति । तमभ्युपेयादित्यनुवर्त्तते । परतः प्रज्ञासुपादित्समानस्तत्त्वबुद्ध्युत्साप्रकाशनेन स्वपक्षमनवस्थापयन् स्वदर्शनं परिशोधयेदिति । अन्योन्यप्रत्यनीकानि च प्रावादुकानां दर्शनानि, स्वपक्षरागेण चैके न्याय्यमतिवर्त्तन्ते । तत्र । तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् इति । अनुत्पन्नतत्त्वज्ञानानामप्रहीणदोषाणां तदर्थं घटमानानामेतदिति । विद्यानिर्वेदादिभिश्च परेणाविज्ञायमानस्य ताभ्यां विगृह्य कथनम् । विगृहेति विजिगीषया न तत्त्वबुद्ध्युत्सयेति । तदेतत् विद्यापालनार्थं, न लाभपूजाख्यात्यर्थमिति । उद्दिष्टानां व्याख्यानं समापयति । इति वादमार्गपदानि यथोद्दिष्टमभि लक्ष्यकृत्य निर्दिष्टानि भवन्तीति ॥ ६५ ॥

गङ्गाधरः—ननु य एव वाद उक्तः स खलु भिषजां किं सर्वस्मिन्नेव शास्त्रे वर्त्तते न वेति, तत्राह—वादस्त्वित्यादि । भिषजामायुर्वेदशास्त्र एव वर्त्तमानो वर्त्तते नान्यत्र वर्त्ततेति । कस्मात् ? तत्र हीत्यादि । तत्रायुर्वेदे भिषजां चिकित्साक्रियासिद्धिप्रयोजनाय वाक्यप्रतिवाक्यविस्तरा वादमार्गपदार्थः कृत्स्नाश्चोपपत्तयो भवन्ति न चान्यत्र शास्त्रे । कुतः ? सर्वाधिकरणेष्वायुर्वेदज्ञो भिषक् । ताः सर्वाः प्रतिपत्तीः समीक्ष्य वाक्यं ब्रूयात् । न चाप्रकृतम् अशास्त्रमपरीक्षितमसाधकमाकुलमज्ञापकं वा ब्रूयादिति । सर्वञ्च हेतुमद् ब्रूयात् ।

तथाविधोपकारकत्वाभावात् तत्प्रपञ्चविषयमपि न प्रपञ्चितम्, न्यायविदाम्नु एतदनुक्तमपि सुगममेव, तत्त्ववेदिनाञ्च मनाक् प्रपञ्चोक्तमपि नालं ज्ञानायेत्यलं प्रपञ्चेनेति ॥ ६५ ॥

चक्रपाणिः—इदानीं यथोक्तवाद एवायुर्वेद आयुर्वेदाध्यायिभिः कर्तव्यः, एवम्भूतस्यैव वादस्य विवक्षितत्वं सम्यग्ज्ञानजनकत्वादित्याह—वाद इत्यादि । अथ किमत्र वादविषयाः सन्तीत्याह—

\* अन्यापकमिति चक्रसम्मतः पाठः ।

वादविग्रहाश्चिकित्सिते कारणभूताः, प्रशस्तबुद्धिर्वर्द्धकत्वात्  
सर्वारम्भसिद्धिं ह्यावहत्यनुपहता बुद्धिः ॥ ६६।६७ ॥

इमानि खलु तावदिह कानिचित् प्रकरणानि भिषजां  
ज्ञानार्थमुपदेक्ष्यामः । ज्ञानपूर्वकं कर्मणां समारम्भं प्रशंसन्ति  
कुशलाः । ज्ञात्वा हि कारणकरणकार्य्ययोनिकार्य्यकार्य्यफलानु-  
बन्धदेशकालप्रवृत्त्युपायान् सम्यगभिनिर्वर्त्तमानः कार्य्याभि-  
निर्वृत्ताविष्टफलानुबन्धं कार्य्यमभिनिर्वर्त्तयत्यनतिमहता यत्नेन  
कर्त्ता ॥ ६८।६९ ॥

हेतुमन्तो ह्यकलुषा विशदाः । चिकित्सिते सर्वे एव वादविग्रहाः कारण-  
भूताः । सर्वारम्भसिद्धिमित्यादि । हि यस्मादनुपहता प्रशस्ता बुद्धिः  
सर्वारम्भसिद्धिमावहति तस्मात् प्रशस्तबुद्धिर्वर्द्धकत्वाद् हेतुमन्तोऽकलुषा वाद-  
विग्रहाश्चिकित्सिते कारणभूता भवन्तीत्यर्थः । इति तद्विद्यसम्भाषा  
प्रदक्षिता ॥ ६६।६७ ॥

गङ्गाधरः—अथानुपहतबुद्धेः सर्वारम्भसिद्धिहेतुत्वप्रसङ्गात् ज्ञानपूर्वक-  
कर्मारम्भार्थं प्रकरणमाह—इमानीत्यादि । खलु पुनरिमानि तावदिह  
कानिचित् कारणादीनां ज्ञानप्रकरणानि कर्मणां चिकित्सादीनां सर्वेषामेव  
ज्ञानपूर्वकं समारम्भं कुशलाः प्रशंसन्ति । कुत इत्यत आह—ज्ञात्वा हीत्यादि ।  
हि यस्मात् कर्त्ता कारणादीन् ज्ञात्वा सम्यगभिनिर्वर्त्तमानः कार्य्याभिनिर्वृत्तौ  
सम्यक्क्रियमाणकार्य्यनिष्पत्तौ इष्टफलानुबन्धं कार्य्यमनतिमहता मध्यमा-  
अत्र हीत्यादि । सर्वोपकरणेषु सन्तीति शेषः । अव्यापकं ब्रूयादिति पूर्व्वेण सम्बन्धः ।  
वादो विग्रहः शरीरमेव येषां ते वादविग्रहाः जल्पभेदा वितण्डाभेदाश्च । प्रशस्तबुद्धिकर्तृत्वेन  
कथं वादश्चिकित्सायां भवतीत्याह—सर्व्वेत्यादिना । न केवलं चिकित्सासिद्धिं करोत्यनुपहता बुद्धिः,  
किन्तु सर्व्वारम्भसिद्धिं करोतीत्यर्थः ॥ ६६।६७ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति बुद्धेर्वर्द्धनकारणतद्विद्यसम्भाषाविध्यभिधानप्रसङ्गेनायुर्व्वेदोपयुक्तकारण-  
करणाद्यभिधायकान्यपि प्रकरणानि बुद्धिर्वर्द्धनान्यभिधातुं प्रतिजानीते—इमानीत्यादि । ज्ञान-  
पूर्व्वकमिति कर्त्तृकार्यानुगुणपदार्थज्ञानपूर्व्वकमित्यर्थः । यानि ज्ञात्वा क्रियमाणं कार्य्यं साधु  
भवति, तान्याह—ज्ञात्वेति । अभिनिर्वर्त्तमान इत्याभिमुख्येन वर्त्तमानः । इष्टमतादात्विकं फल-  
मनुबन्धश्च यस्य तदिष्टफलानुबन्धम् ॥ ६८।६९ ॥

तत्र कारणां नाम तद् यः ॐ करोति, स एव हेतुः स कर्त्ता ।

ऽल्पान्यतरेण प्रयत्नेनाभिनिर्व्वर्त्तयति सम्पादयति, तस्मात् क्षानपूर्व्वकं कर्मणां समारम्भं प्रजंसन्ति कुशलाः ॥ ६८।६९ ॥

गङ्गाधरः—ननु कारणादिकं किं तावेदित्यत आह—तत्रेत्यादि । तत्र कारणादिषु मध्ये कारणं नाम तत् यः करोति, स एव हेतुः स कर्त्तृति पर्यायः । कारकं प्रयोजक इत्यपि पर्यायान्तरं वाच्यम् । भगवान् पाणिनि-रप्युवाच—कारके स्वतन्त्रः कर्त्ता प्रयोजको हेतुश्चेति । करोतीति तत्-क्रियां फलरूपां निष्पादयति या क्रिया तत् कारकं, तदाश्रयो मुख्यं यत् तत् कारणं, स एव हेतुः स कर्त्ता । क्रिया पुनः प्रयोजनहेतवः फलं व्यापारश्च प्रयोजनं मुख्यं चरमफलं तच्च न धातुनोच्यते गम्यमानत्वात् । फलन्तु प्रयोजनहेतुर्व्यापारनिष्पादं धातुनोच्यते । व्यापारस्तु प्रयत्नजनिता चेष्टा, सा च धातुनोच्यते पञ्चविधा सम्भवत्यतो न हि सर्व्वेण धातुना पञ्चधा व्यापारो-ऽभिधातुं सम्भाव्यते । पञ्चधातिरिक्तस्तु व्यापारो नास्ति । चेतने तु प्रयत्नोऽपि व्यापारेणोपलक्ष्यते । उक्तं हि—आत्मजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत् कृतिः । कृतिजन्या भवेच्चेष्टा चेष्टाजन्यं भवेत् फलमिति । तदा प्रयत्न-श्चेच्छाप्युपलक्ष्यते व्यापारपदेन, तस्मात् साधारणत्वादिच्छाप्रयत्नौ न धातुना अभिधातुमिष्येते परन्तु कारणत्वात् गम्येते । तथा च एषिता यदिच्छन् क्रियायां प्रवर्त्तते तदीप्सिततमं कर्म, तच्च व्यापारनिष्पादं, पचनादौ विक्लित्यादि, फलं तदाश्रयः । एषिता प्रयतमानस्तत्क्रियायां प्रवर्त्तमानस्तत्फलमव्यवधानेन येन व्यापारेण साश्रयति तत् साधकतमं करणं, पाकादौ काष्ठाग्रादिव्यापारः । यस्तु तत्क्रियेषितुप्रयतमानप्रवर्त्तमानकर्त्तृकर्मणादिकं येन व्यापारेण आधारयति व्यापारवान् स आधारोऽधिकरणम्, पाकादौ स्थाल्यादिस्तण्डुलादेः धारणाव्यापारेणाधारः । एषिता प्रयतमानस्तत्क्रियाकर्मणा यद्व्यापारेण यमभिप्रैति तदनुमतिप्रकाशस्वीकारादिव्यापारवत् सम्प्रदानम्, दानादौ विप्रादेरनुमतिप्रकाशस्वीकारादिव्यापारः । यद्व्यापारेण भ्रवमपाये तद्व्यापारवत् तदपादानम्, पतनादौ पर्णादिवृक्षादिरवधित्वव्यापारवानपादानम् ।

चक्रपाणिः—उक्तानि कारणादीनि व्याकरोति तत्रेत्यादिना । ‘यद्’ इति ‘कारण’प्रत्ययसर्पात्-नपुंसकं, भवतीति करोति । तेन इह ‘कारण’शब्देन स्वतन्त्रकारणं ‘कर्त्तृ’लक्षणं श्रूयते ।

\* ‘यत्’ इति चक्रः ।

करणं पुनस्तद् यदुपकरणायोपकल्पते कर्त्तुः कार्य्याभि-  
निर्वृत्तौ प्रयतमानस्य ।

कार्य्ययोनिस्तु सा या विक्रियमाणा कार्य्यत्वमेवापद्यते ।

कार्य्यन्तु तद् यस्याभिनिर्वृत्तिं कर्त्ताभिसन्धाय प्रवर्त्तते ।

इत्येवमुक्तफलादिपञ्चविधधातुर्थावशिष्टव्यापारवान् कर्त्तृसंज्ञ एव नान्यसंज्ञः ।  
एतेन निष्पत्तिमात्रे कर्त्तृत्वं सर्वत्रैवास्ति कारके—व्यापारभेदापेक्षायां  
करणत्वादिसम्भवः—इति ख्यापितम् । इति कारणपटकमपि करणादेः पृथग्-  
ग्रहणादत्र कारणं कर्त्तृत्वं न करणादिकम् ।

क्रमिकं करणं लक्षयति—करणं पुनस्तदित्यादि । कार्य्याभिनिर्वृत्तौ  
प्रयतमानस्य कर्त्तृत्वं कार्य्याभिनिर्वृत्तौ यदुपकरणाय उपकाराय कल्पते  
तत् करणं साधकतमम् । वातादावुपयुक्तस्य मधुराद्यचेतनद्रव्यस्य वातादिहरणे  
तद्द्रव्यसम्पत्तिरूपकरणायोपकल्पते तस्याः करणत्ववारणाय प्रयतमानस्येति ।  
प्रयत्नस्तु चेतनाधातुलिङ्गं नाचेतने वर्त्तते, तेन भिषगादेः कर्त्तृत्विकित्साभि-  
निर्वृत्तौ प्रयतमानस्य भेषजशस्त्रादिकमुपकरणायोपकल्पते, इति भेषजशस्त्रा-  
दिकं करणम् ।

क्रमिकत्वात् कार्य्ययोनिं लक्षयति—कार्य्ययोमिस्त्वित्यादि । या  
विक्रियमाणा विकृतिमापद्यमाना कार्य्यत्वमापद्यते सा कार्य्ययोनिः । यथा—  
मधुरादिरसद्रव्याणि भुक्तानि पक्वानि रसरक्तादिरूपमापद्यन्ते, इति रस-  
रक्तादिकार्य्याणां योनिर्मधुरादिः । एवं वातादिज्वरादिकार्य्याणां योनिः  
इत्येवमादि ।

क्रमिकं कार्य्यमाह—कार्य्यन्तु तदित्यादि । यस्याभिनिर्वृत्तिमुत्-  
पत्तिं बुद्ध्यादिसमविषमयोगैरभिसन्धाय कर्त्ता प्रवर्त्तते, वाचा मनसा वा

करणं विवृणोति—करणं पुनरित्यादि । उपकरणायेति कर्त्तुः सम्पाद्यकार्य्ये सन्निहितं सहकारि-  
तया व्याप्रियते । कार्य्याभिनिर्वृत्ताविति कार्य्यनिर्वृत्तिमुद्दिश्य । यतमानस्येति यत्नं कुर्व्वन्तः ।  
एतेन यः कार्य्ये कारणान्तरप्रेरकः, स चात्र कर्त्ता 'कारण'शब्देनोच्यते, यत् तु कर्त्तृभूतव्यापारं  
साधकतमम्, तत् करणम् । कर्त्तृत्वञ्च वै तस्यैव मुख्यम्, यो हि बुद्धिप्रयत्नयुक्तत्वादितरकारण-  
प्रेरको भवति, अचेतने तु कर्त्तृत्वव्यपदेशः स्वातन्त्र्यविवक्षया भाक्तः ।

कार्य्यस्य योनिः समवायिकारणं कार्य्ययोनिः । येत्यादि । या योनिः कारणत्वेऽपि विक्रिय-

शरीरेण वा चेष्टते तत् कार्यम्, कर्तुं रीप्सिततमम् । यथा तण्डुलान् ओदनं पचति देवदत्त इत्यादि । अत्र तण्डुलाः कार्येयोनय ओदनस्तु कार्यं तस्य ह्यभिनिवृत्तिमवयवगैथिल्यरूपामभिसन्धाय देवदत्तः काष्ठाग्रिस्थाल्यारोपणादिषु प्रवर्त्तते । ननु ग्रामं गच्छति देवदत्त इत्यादौ न ग्रामो विक्रियमाणः किञ्चित् कार्यत्वमापद्यते तेन न कार्येयोनिः न वा ग्रामस्याभिनिवृत्तिमभिसन्धाय देवदत्तः पादस्पन्दनादौ प्रवर्त्तते तेन ग्रामः कार्यं नास्तु, कार्यं हि कर्मकारकम्, तत्र द्वितीया स्यात् ; तत् कथं ग्रामस्य कर्मत्वमिति चेन्न देवदत्तो हि पूर्वदेशसंयोगध्वंसपूर्वकोत्तरदेशसंयोगस्याभिनिवृत्तिमभिसन्धाय पादस्पन्दनादौ प्रवर्त्तते, इति स ग्रामसंयोगः कार्यं तदाश्रयत्वात् तु ग्रामस्य कर्मत्वमिति । पथि तु यः संयोगस्तस्याभिनिवृत्तावपि सिद्धायां तदाश्रयत्वान्न पथः कर्मत्वं न ह्यभिसन्धिर्देवदत्तस्य पथिसंयोगे परन्तु ग्रामसंयोगे एव ; अभिसन्धिर्हि प्रयोजनसिद्धौ चरमहेतुतया तद्वस्तुष्ठानम् । तण्डुलानोदनं पचति देवदत्त इत्यादौ तु तण्डुलानां शिथिलावयवरूपस्योदनस्याभिनिवृत्तिम् अवयवगैथिल्यस्य चाभिनिवृत्तिमभिसन्धाय कर्त्ता पचने प्रवर्त्तते इत्योदनः कार्यमवयवगैथिल्यश्च कार्यमिति कार्यद्वयं तेन शिथिलावयवत्वात् तु तण्डुलानां कर्मत्वमवयवगैथिल्यवत्त्वादोदनस्य च कर्मत्वमिति कार्यद्वयं बोध्यम् । विकार्यस्थले विकृतिर्द्विधा । प्रकृत्युच्छेदसम्भवरूपान्तरं गुणान्तरोत्पत्तिनिमित्तरूपान्तरञ्च । यथा—काष्ठं भस्म करोति । सुवर्णं कुण्डलं करोति । निर्वर्त्तनं चैकमेव कार्यं यथा पुत्रं प्रसूते । तेन रूपान्तरत्वं विकार्यत्वं धातुवैषम्यं विकार इति च स्वयमुक्तम् । निर्वर्त्तन्तु तद् यन्निर्वर्त्तते पूर्वमसज्जन्मना च प्रकाशते यत् तदित्यर्थः । आभ्यां परं प्राप्यं ग्रामं गच्छति चन्द्रं पश्यतीत्यादि । न च निर्वर्त्तनप्राप्ययोः कार्येयोर्योनिरस्ति विकार्यत्वाभावात् । परन्तु विकार्यस्यैव कार्यस्य योनिरस्तीति निष्कर्षः । ननु पयसान्नं भुङ्क्ते इत्यादौ पयसोऽपि गलाधःकरणरूपामभिनिवृत्तिमभिसन्धाय कर्त्ता जिह्वादिस्पन्दनाधःकरणजनकाकर्षणादिव्यापारे प्रवर्त्तते कथं पयसो न कार्यत्वमिति चेन्न कर्त्तुं हि तदन्नाधःकरणस्याभिनिवृत्तावभिसन्धिर्न पयोऽधःकरणाभिनिवृत्तौ परन्त्वन्नाधःकरणाभिनिवृत्त्युपकरणायोपकल्पते पयःसाहित्यमिति पयःकरणमिति ।

माणा रूपान्तरमापद्यमाना कार्यत्वमापद्यते कार्यरूपा भवतीत्यर्थः । तत्र घटस्य मृत्तिका कार्येयोनिः मृदेव अवस्थान्तरप्राप्या घटो भवति ।

कार्यफलं पुनस्तद् यत्प्रयोजनकार्याभिनिवृत्तिरिष्यते ।

क्रमिकत्वात् कार्यफलमाह—कार्यफलमित्यादि । यत्प्रयोजनकार्याभिनिवृत्तिः । यत् प्रयोजनं यस्य तत् यत्प्रयोजनम् । यत् प्रयोजनञ्च तत् कार्यञ्चेति; यत्प्रयोजनकार्यं तस्याभिनिवृत्तिः यत्प्रयोजनकार्याभिनिवृत्तिरिष्यते कर्त्रा तत्प्रयोजनन्तु तत् कार्यफलम् । प्रयोजनन्तु स्वयमुक्तमग्रे । यथा कार्यं धातुसाम्यं तस्य फलं सुखावाप्तिः प्रयोजनम् । एतदुदाहरणप्रदर्शनमात्रं न तु कृत्स्नफलनिर्देशः । तेन शुभकार्यं बुद्ध्यादिसमयोगनिमित्तसमप्रवृत्तिजनितं धातुसाम्यं धम्मेश्च शुभम् एवमशुभकार्यं बुद्ध्यादिविपमयोगनिमित्तविपमप्रवृत्तिजनितं धातुवैषम्यमधम्मेश्चाशुभमिति । प्रयोजनन्तु तयोः फलं सुखदुःखावाप्तिः । उक्तञ्च गौतमेन । प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलमिति । सुखदुःखसंवेदनं फलं, सुखविपाकं कर्म दुःखविपाकञ्च कर्म । तत् पुनर्देहेन्द्रियविषयबुद्धिषु सतीषु भवति ततो देहादिभिः सहानुबद्धं फलं भवति । तथा हि प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलमेतत् सर्वं भवति । तदेतत् फलमुपात्तं द्वेयं त्यक्तमुपादेयमिति । नास्याहानोपादानयोनिष्ठापर्यवसानं वास्ति । न खल्वयं फलस्य हानोपादानस्रोतसो ह्यन्ते लोकोऽस्ति । तदात्वेऽपवर्गप्राप्तेरिति । तदेतत् सुखदुःखं दुःखसंख्यैव मन्यमान आह—वाधनालक्षणं दुःखमिति । वाधना पीडा ताप इति । तयानुविद्धमनुपक्तमविनिर्भागेण वर्तमानं दुःखयोगाद् दुःखं जन्म । सोऽयं जन्मवान् सर्व्वं लोकं दुःखेनानुविद्धं गृहन्तमिति पश्यन् दुःखं जिहासुः जन्मनि दुःखदर्शी निर्व्विद्यते, निर्व्विण्णो विरज्यते, विरक्तो विमुच्यते । इति । प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः । मनोऽत्र बुद्धिरित्यभिप्रेतं, बुध्यतेऽनेनेति बुद्धिः । सोऽयमारम्भः शरीरेण वाचा मनसा च पुण्यः पापश्च दशविधः । तेऽयं प्रवृत्तिः कर्मोच्यते । तदुक्तं तिस्रैपणीये । कर्म बाण्डुमनःशरीरप्रवृत्तिरिति । तस्या हेतवस्तु प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः । प्रवर्त्तना प्रवृत्तिहेतुत्वम् । क्षातारं हि रागादयः प्रवर्त्तयन्ति पुण्यं पापे वा यत्र मिथ्या । तत् त्रैराश्यं रागद्वेषमोहाथान्तरभावात् । तेषां दोषाणां त्रयो राशयः, त्रयः पक्षाः रागो रजोगुणात्मकस्तस्य पक्षाः कामो मत्सरः स्पृहा लोभ इति । द्वेषश्च रजोगुणात्मकस्तस्य पक्षाः क्रोध ईर्ष्यासूया द्रोहोऽमर्ष इति । मोहस्तमोगुणात्मकस्तस्य पक्षा मिथ्याज्ञानं

अभिनिवृत्तिमभिसन्धायेति कर्त्तव्यताबुद्धिं स्थिरीकृत्य । 'कार्यफल'शब्देनेह तादात्मिकं

विचिकित्सा मानः प्रमाद इति त्रैराश्यान्नोपसङ्गहायन्ते । लक्षणस्य तर्ह्यभेदात् त्रित्वमनुपपन्नं, नानुपपन्नं रागद्वयमोहार्थान्तरभावात् । आसक्तिलक्षणो रागः, अमर्षलक्षणो द्वेषः, मिथ्याप्रवृत्तिलक्षणो मोह इत्यर्थान्तरत्वात् । यत्र रागद्वेयमोहास्तत्र कामादय उपनिपतन्ति तस्मान्नोपसङ्गहायन्ते ।

तत्राह वादी । नैकप्रत्यनीकभावात् । न स्वत्वर्थान्तरं रागादिकम् । कस्मात् ? एकप्रत्यनीकभावात् । तत्त्वज्ञानं सम्यङ्मतिराख्यं प्रज्ञा सम्बोध इत्येकमिदं त्रयाणां प्रत्यनीकं स्यात् । तत्रोत्तरम् । व्यभिचारादहेतुः । सति ह्यर्थान्तरभावे पृथिव्यां श्यामलोहितादय एकप्रत्यनीका एकेनैवाग्निसंयोगेन रूपैक्योनयः पाकजा इति व्यभिचारदर्शनादेकप्रत्यनीकभावादित्यहेतुः । ॥०॥ तेषां मोहः पापीयान् नामूढस्येतरोत्पत्तेरिति । मोहः पापः पापतरो वेति द्वावभिप्रेत्य पापीयानित्युक्तम् । कस्मात् ? नामूढस्येतरोत्पत्तेः । अमूढस्य रागद्वेषौ नोत्पद्येते । मूढस्य यथासङ्कल्पं तयोस्तपत्तिः । विषयेषु रञ्जनीयाः सङ्कल्पा रागहेतवः । कोपनीयाः सङ्कल्पा द्वेषहेतवः । उभये च सङ्कल्पा न मिथ्याप्रतिपत्तिलक्षणत्वान्मोहादन्ये । ताविमौ मोहयोनी रागद्वेषाविति । तत्त्वज्ञानाच्च मोहनिवृत्तौ रागद्वेषानुत्पत्तिरित्येकप्रत्यनीकभावानुपपत्तिः । एवं कृत्वा तत्त्वज्ञानाद् दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तरापायादपवर्ग इति गौतमेनोक्तं व्याख्यातमिति । प्राप्तस्तहि निमित्तनैमित्तिकभावादर्थान्तरभावो दोषेभ्य इति । अन्यच्च निमित्तम् अन्यच्च नैमित्तिकमिति दोषनिमित्तत्वाददोषो मोह इति प्राप्यते । न दोषलक्षणावरोधान्मोहस्य । प्रवर्त्तनालक्षणा दोषा इत्यनेन दोषलक्षणेनावरुध्यते दोषेषु मोहः । मृन्निमित्तो घटो मार्त्तिके मृदेवेतिवत्, तस्मान्नादोषो मोह इति । निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्च तुल्यजातीयानामप्रतिषेधः । द्रव्याणां गुणानां वा अनेकविधविकल्पो निमित्तनैमित्तिकभावे तुल्यजातीयानां दृष्ट इति । तत्र तत्त्वज्ञानं तस्मिंस्तज्ज्ञानम् । तच्च द्विविधं सत्यं सत्यानृतञ्च । तत्र सत्यं सर्व्वं सदानुप्रविष्टत्वात् । सत्यमपि तदेकं सदेव सत् सर्व्वमिदमसदिति ज्ञानं सत्यं तत्त्वज्ञानम् । अव्यक्ताख्यात्मादेतदन्तं प्रमेयं सर्व्वं सत्यञ्चानृतञ्चेति सत्यानृतं तत्त्वज्ञानम् अपि मिथ्याज्ञानं चरमफले मिथ्यात्वात् । आत्मन्यात्मबुद्धिर्घटे घटबुद्धिरित्येवमादिबुद्धिस्तत्त्वबुद्धिर्लौकिके न तु परमार्थतः । एतल्लोकविषये तत्त्वज्ञानस्य कारणं रजोऽनुबन्धं सत्त्वम् । तथाविधा बुद्धिर्विषये समययोगेन प्रवर्त्तयति मनः शरीरं वाचञ्च । तथा लौकिकतत्त्वबुद्ध्या प्रवर्त्तमानं मनः समयोगात्



श्रद्धां दयामस्पृहाश्चाशुभे कुर्वत् सद्वृत्ते पुरुषं प्रवर्त्तयति । वाक् च प्रवर्त्तमाना समयोगात् सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायश्च कुर्वती तथाविधं वाक्यं प्रवर्त्तयति वक्तुं पुरुषमिति । शरीरश्च तया समयोगयुक्तया प्रवर्त्तमानं दानं परित्राणं तीथादिपरिचरणादिकं करोति । इत्येवं वाङ्मनःशरीरप्रवृत्तिभिर्यजन-याजनोदिभिः सद्वृत्तकर्मभिर्धातुसाम्यमुत्पद्यते धर्मश्च । सत्त्वानुबन्ध-मन्तरेण या बुद्धिस्तामसी राजसी वा भवति सा मिथ्याबुद्धिरतत्त्वज्ञानं अतस्मिंस्तद्बुद्धिः । स्थाणौ पुरुषः शुक्तौ रजतं रज्ज्वां सर्प इत्येवमादिस्तया बुद्ध्या मिथ्यायोगायोगातियोगयुक्तया वाङ्मनःशरीराणि मिथ्यायोगा-योगातियोगैः प्रवर्त्तन्ते काव्येषु । ततस्तु मनः परद्रोहं परद्रव्याभिलाषं नास्ति-क्यश्च एवमादीनि कार्याणि करोति । वाक् च पुरुषानृतसूचनासम्बन्धवचनादीनि करोति । शरीरं हिंसास्तेयप्रतिपिद्धमैथुनादीनि करोति इत्येवमसद्वृत्त-कर्मभिर्धातुवैषम्यमधर्मश्चोत्पद्यते । तदिदं शुभश्च धातुसाम्यं पुण्यश्च अशुभं पुनर्धातुवैषम्यं पापञ्चेति द्विविधं द्वयमभिसन्धाय कर्त्ता तदभिनिवृत्तये वाङ्मनःशरीरैः प्रवर्त्तत इत्यस्मात् कार्यं तदुभयं द्विविधमुच्यते । एतद्द्वयं द्विविधं प्रवृत्तिरूपक्रियानिष्पन्नयज्ञादि काव्यजातधर्माधर्मजनितं फलमुवाच गौतमः । प्रवृत्तिदोषजनितोऽथः फलमिति । इह तु तत् काव्यमुच्यते । तत् तु वाङ्मनःशरीरप्रवृत्तिनिमित्तं शुभश्चाशुभश्च कर्म द्विविधं—सद्यःफलं कालान्तरफलञ्च । तत्र सद्यःफलं शुभं पानाशनं क्षुत्पिपासाहरं स्वस्थस्य धातु-साम्यकरं परिणामेन, न तत् कालान्तरमुच्यते । अशुभन्तु शस्त्रास्त्राद्यभिघाता-दिकं कर्मे सद्यःफलं धातुवैषम्यकरं सद्य एव धातुवैषम्यं भवतीति । तथा यागादिकं प्रवृत्तिनिमित्तं कर्मे शुभं कालान्तरेण धर्मं फलति । दुष्प्रवृत्ति-निमित्तं नित्यनैमित्तिककार्यक्रियात्यागादवैधकर्म कालान्तरेण पापं फल-तीति व्यवस्थितौ । गौतम उवाच । सद्यः कालान्तरे च फलनिष्पत्तेः संशयः । पचति दोग्धीति सद्यःफले ओदनपयसी । कर्षति वपतीति कालान्तरफलं शरयाधिगम इति । अस्ति चेयं क्रिया अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति । एतस्याः फले संशयः । किं सद्यः फलति कालान्तरे वेति ? तत्रोत्तरम् । न सद्यः, कालान्तरोपभोग्यत्वात् । अग्निहोत्रादिकार्यं न सद्यः फलति, कालान्तरो-पभोग्यत्वात् । स्वर्गः फलं श्रूयते, तच्चास्मिन् देहे भिन्ने देहभेदादुत्पद्यते इति, न सद्यः फलति । ग्रामादिकामानामारम्भफलमिवेति । तत्राह वादी । कालान्तरेणानिष्पत्तिर्हेतुनाशात् । ध्वस्तायां प्रवृत्तौ प्रवृत्तेः फलं न कारणम्

अन्तरेणोत्पत्तुमर्हति । न खलु वै विनष्टात् कारणात् किञ्चिदुत्पद्यत इति । तत्रोत्तरम् । प्राङ्निष्पत्तेरक्षफलवत् तत् स्यात् । यथा फलार्थिना वृक्षमूले सेवादिपरिकर्म क्रियते, तस्मिंश्च प्रध्वस्ते पृथिवीधातुरव्यातुना संगृहीत आभ्यन्तरेण तेजसा पच्यमानो रसद्रव्यं निर्व्वर्त्तयति । स द्रव्यभूतो रसो वृक्षानुगतः पाकविशिष्टो व्यूहविशेषेण सन्निविशमानः पर्णादिकलं निर्व्वर्त्तयति । एवं परिषेकादिकर्म चाथवत् । न च विनष्टात् फलनिष्पत्तिः । तथा प्रवृत्त्या संस्कारो धर्माधर्मलक्षणो जन्यते । स जातो निमित्तान्तरानुसंगृहीतः कालान्तरे फलं सुखदुःखं निष्पादयतीति । उक्तञ्चैतत् पूर्व्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिरिति । तथा च पचतीत्यादौ व्यापाररूपपाकेण विहित्तिमानोदनः फलं निष्पाद्यते तत्रोदनस्थविक्लेदः फलरूपः पाकः पाककार्यः । तथा यागादौ तत्तदितिकत्तव्यतारूपव्यापारेण जन्यते परमपुरुषाराधनं स्वेष्टफलसाधिनी सिद्धिः पुरुषदेहे संस्कारविशेषो धर्मा वैधक्रियाफलं कार्यारख्यं धात्वर्थः फलमवैधक्रियाफलमपि परमपुरुषानाराधनमनिष्टसाधिनी सिद्धिः पुरुषदेहे संस्कारविशेष एवाधर्मः कार्यारख्यं धात्वर्थः फलमिति तद्वर्त्तत एव विहित्तिवदोदने यजमानदेहे । तत्फलरूपं कार्यं कालान्तरे सुखदुःखं प्रकृतं फलं परलोके जनयति । यथा खल्वोदनस्था विहित्तिरोदनभोक्तुस्तृप्तिं जनयति सुखरूपम् । एवमुक्तं पुष्पदन्तेन—क कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते इति पुरुषाराधनमेव स्वर्गादिमुखासुखं फलति न तु प्रध्वस्तं कर्मेति । अत्र जिज्ञास्यम् । तदिदं धर्माधर्माख्यं फलं प्राङ्निष्पत्तेर्निष्पद्यमानं किमसदेव निष्पद्यतेऽथ प्राक् सत् ? तदेव निष्पद्यतेऽथवा प्राक् सदसत् । तदेव निष्पद्यते प्रवृत्तित इत्यत उक्तं गौतमेन । नासन्न सन्न सदसत् सदसतोर्वैधर्म्यादिति । प्राङ्निष्पत्तेर्निष्पत्तिधर्मकं धर्माधर्मरूपेण यत्तन्नासत् ; उपादाननियमात् । कस्यचिदप्युत्पत्तये किञ्चिदेवोपादेयं नानुपादाय किञ्चित् । न वा सर्व्वं सर्व्वस्येति । प्रागसद्भावे नियमो नोपपद्यते । न ह्युपादानमनुपपद्य प्रादुर्भावः कस्यचिज्जवति । तर्हि किं सत् ? न सत्, प्रागुत्पत्तेर्विद्यमानस्योत्पत्तिः अनुपपन्ना । तद्व्यस्त्येवेति । तर्हि प्रागुत्पत्तेः सदसत् ? न-सदसत्, सदसतोर्वैधर्म्यात् । सदित्यर्थाभ्यनुज्ञा । असदित्यर्थप्रतिषेधः । एतयोर्व्याघातो वैधर्म्यं यदस्ति तन्नास्तीति विभिन्नधर्मं तस्माद्वाघातादव्यतिरेकानुपपत्तिरेकभावासम्भव इति । तर्हि किमित्यत आह—उत्पादव्ययदर्शनाद्वुद्धि-सिद्धन्तु तदसत् । इति । यत् खलूक्तं प्रागुत्पत्तेः कार्यं नासदुपादाननियमात्

इति तस्मादुपादानभूतं किमप्यस्ति प्रागुत्पत्तेः कार्यस्योत्पादव्ययदर्शनात् । तदिदं तत् किं सदित्यत उक्तं—बुद्धिसिद्धन्तु तदसदिति । इदमस्योत्पत्तये समर्थं न सर्वमिति प्रागुत्पत्तेर्नियतकारणं कार्यं बुद्ध्या सिद्धमुत्पत्तिनियमदर्शनात् । तस्मादुपादाननियमस्योपपत्तिः । तस्मादुपादानं यद् यस्य तत् प्राक् कार्योत्पत्तेः स्वेन रूपेण सदपि कार्यरूपेणासदिति भाष्यते तत्तत्-कार्योपपत्तिरिति प्राग् घटोत्पत्ते-र्घटीयक्रियागुणव्यपदेशाभावात् । यथा मृदेव घटो भवति प्राग् घटोत्पत्ते-र्घटीयक्रियागुणव्यपदेशाभावान्मृदः । सती च मृन्मृदूरेण घटरूपेणासदिति । तच्च धर्माधर्मरूपेण वेदा एव नियतिर्विधावधकर्मभिर्निष्पद्यते । भाग्यं हि तस्मान्नियतिरुच्यते । इति । तत्राह वादी । आश्रयव्यतिरेकाद् वृक्ष-फलोत्पत्तिवदित्यहेतुः इति । वृक्षस्य मूलसेकादिपरिकर्म तज्जातश्च रस-रूपद्रव्यं तत्कार्यफलं पत्रादिकमित्युभयमेव वृक्षाश्रयम् । कर्म चेह शरीरे फलश्च स्वर्गादिकममुत्रेत्याश्रयस्य व्यतिरेकाद् भेदादहेतुर्दृष्टान्त इति । तत्राह सिद्धान्तम् । प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेध इति । प्रीतिरात्मप्रत्यक्षत्वाद् आत्माश्रया तदाश्रयमेव कर्म धर्माधर्मसंज्ञकं धर्माधर्मस्यात्मगुणत्वात् तस्मादाश्रयव्यतिरेकानुपपत्तिरिति । अत्रेदं प्रतिसन्धेयं यदिहात्माश्रया प्रीतिरुक्ता तदात्माश्रयमेव कर्म धर्माधर्मसंज्ञितमुक्तं स खल्व्वात्मा न खलु केवलः क्षेत्रज्ञः क्षेत्रज्ञाधिष्ठितमव्यक्तं वा महदुपाहितं प्रज्ञारूपं सुषुप्तिस्थानं वा स्वप्नस्थानं वा सूक्ष्मपञ्चमहाभूतोपाहितस्तैजसारूप्यः । स्थूलपञ्चभूतोपाहितो वा वैश्वानरारूप्यः । बृहदारण्यके छान्दोग्योपनिषदि च खल्विष्टापूर्त्तादिकर्म कृतवतो मृतस्य शरीरादिष्टपुरुषस्य भास्वररूपेणोत्थाय धूमादिक्रमेण सोमलोके सोमभावापन्नत्वश्रुतेः शरीराश्रयत्वाद्धर्माधर्मस्य । तस्मादात्मान्नमयः स्थूलपुरुष इष्यते । प्रीतिश्च स्थूलपुरुषे धर्माधर्मरूपं कर्म च स्थूलपुरुषे । सूक्ष्मशरीरी हि पुरुषो अग्रिमाणो देहान्तरमातिवाहिकमादाय शरीरमिदं त्यक्त्वा परलोकं गच्छति । तदुक्तं शरीरे । सूक्ष्मश्चतुर्भिः सहितः स आत्मा मनोजवो देहमुपति देहादिति । ततः पूर्वदेहवद्देहं प्राप्य तथैव स्थूलदेही भूत्वा परलोके सुखं वा दुःखं वा भुङ्क्ते । तत्रास्ति सोमलोकस्थस्य दिष्टस्य सम्बन्धप्रवाहः ज्योतिर्वत् । पुत्रादिषु सम्बन्धवत् । स्थूले हि पुरुषे सर्वं प्रतिष्ठितमुक्तमग्रे । शक्तिर्ब्रह्म गायत्रीरूपेण तथा परमपुरुषः परमात्मा पञ्च ब्रह्मपुरुषा विद्याविद्यारूपेण धर्माधर्मरूपेण परिणामिनियतिरूपेण कालश्च परिणामरूपेण क्षेत्रज्ञाव्यक्त्यादिपञ्चविंशतिस्तत्त्वानि च सर्वमतो वैधवैधकर्मणा सैव शरीरस्थान-

भिव्यक्ता। नियतिर्देवसंज्ञकदिष्टरूपेणाभिनिर्वर्तते शरीर इति नानुपादानौ धर्माधर्माविति । ननु तर्हि कार्यस्य धातुसाम्यस्य फलं सुखावाप्तिरारोग्यम्, धातुवैषम्यस्य फलं दुःखावाप्तिरारोग्यं विकारः । तदुक्तं प्राक् । विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते । सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव तु । इति । एवं वैधकर्मजकार्यस्य धर्मस्य फलं स्वर्गादिमुखावाप्तिः । अवैधकर्मजकार्यस्याधर्मस्य फलं दुःखावाप्तिः । कथं तर्हि धर्माधर्मकृत-पुत्रादिधनवान्धनदादौ श्वर्यानि श्वर्यशोकादिलाभः स्यादिति । तत्राहानुबन्ध-स्त्वित्यादि । यो भावः कार्यनिमित्त एव कार्यवशात् कार्यादुत्तरकालम् अवश्यम्भावितया तत्कार्यस्य कर्तारमनुवन्नाति शुभो वाप्यशुभो वा सोऽनु-बन्धः । उदाहरिष्यते । अनुबन्धस्तु खलवायुरिति । धातुसाम्यस्य कार्यस्य फलं सुखावाप्तिस्तत्कलानुबन्धस्तद्धातुसाम्यनिमित्तमेव धातुसाम्यादुत्तरकालम् अवश्यम्भावितया तं पुरुषं दीर्घायुरनुवन्नाति । तथा धातुवैषम्यस्य कार्यस्य फलं दुःखावाप्तिस्तत्फलानुबन्धस्तु तद्धातुवैषम्यनिमित्तमेव धातुवैषम्यात् उत्तरकालमवश्यम्भावितया तं पुरुषमयथावदायुरनुवन्नातीत्यनुबन्ध आयुः शुभं दीर्घं सुखञ्च । अशुभमयथावत्प्रमाणमायुर्दुःखञ्चेति । तथेह कृतकर्म-जनितधर्माधर्मस्य कार्यस्य फलं परलोके सुखदुःखावाप्तिस्तदुत्तरकाल-मवश्यम्भावितया तद्धर्माधर्मनिमित्तानि शुभपुत्रदारादौ श्वर्याद्यशुभपुत्र-दाराद्यनैश्वर्यादीनि भवन्त्यनुबन्धा इति । एतदुक्तं गौतमेन । आश्रय-व्यतिरेकाद् वृक्षफलवदिति दृष्टान्तोऽहेतुरिति प्रतिषेधो न भवति प्रीतेरात्माश्रय-त्वादिति यदुक्तं तत् । न पुत्रशत्रुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादिकलनिर्देशादिति । स्वर्गादिप्रीतिवत् पुत्रादिकांमनया यागादिकरणे स्वर्गादिवत् फलनिर्देशात् आश्रयत्वाभावात् फलस्य तन्न युक्तमिति । तत्राह सिद्धान्तम् । तत्सम्बन्धात् फलनिष्पत्तेस्तेषु फलवदुपचार इति । पुत्रादिसम्बन्धात् फलं प्रीत्यप्रीतिलक्षण-मुत्पद्यते ततः पुत्रादिषु फलवदुपचारः । यथान्ने प्राणशब्दोऽन्नं वै प्राणा इति । तद्धर्माधर्मनिमित्तमेव प्रवरावरमध्यजातिकुलादिषु पुनर्जन्म संदसत्पुत्र-शत्रुदारादौ श्वर्यानि श्वर्यादिकलाभादिकञ्च फलवदुपचारः फलानुबन्ध उक्तः । पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिरिति—पूर्वकृतधर्माधर्मनिमित्तात् तत् फलसुखदुःखयोरनुबन्धात् तदुत्पत्तिरित्यनुबन्ध एव पुत्रादिफलमुच्यते इति ।

अनुबन्धः खलु स, यः कर्त्तारमवश्यमनुबध्नाति कार्यार्थ-  
दुत्तरकालं कार्यनिमित्तः शुभो वाप्यशुभो वा भावः ।

देशस्त्वधिष्ठा म् ।

कालः पुनः परिणामः ।

प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा कार्यार्था, सैव क्रिया कर्म यतः  
कार्यसमारम्भश्च ।

तथा च कः पुनरनुबन्ध इत्यत आह—अनुबन्धः खल्वित्यादि । दृष्टार्थ-  
कर्मणः कार्यस्य फलमिह लोके भोग्यमनुबन्धश्चेह लोके भोग्यः, अदृष्टार्थ-  
कर्मणस्तु कार्यस्य फलं परलोके भोगावसानमनुबन्धस्तु जन्मान्तरभोग्यः ।  
अथ वैद्यानां व्यावृत्त्यर्थमृत्विगादीनाञ्च व्यावृत्त्यर्थं कर्त्तारमिति पदम् ।  
व्यभिचारप्रतिषेधार्थमवश्यमिति पदम् । कार्यार्थदुत्तरकालमित्यनेनावैगुण्येन  
समाप्तस्य कार्यस्येत्यर्थात् । व्यभिचारिकारणं व्यवच्छिन्नम् । अवलीयांसो  
निदानादयो यदि परस्परमप्रकर्षादनुबध्नन्ति न तदा विकाराभिनिवृत्तिः  
भवतीत्युक्तेः । कार्यनिमित्त इत्यनेन कार्यजन्यौ फलानुबन्धाविति ज्ञापितम्,  
न तु फलजन्योऽनुबन्ध इति ।

देशं निरूपयति—देशस्त्वित्यादि । अधिष्ठानमिति । अधितिष्ठत्यस्मिन्  
इत्यर्थेऽधिष्ठीयते यत् तदधिष्ठानं स देशः कर्मेणि ल्युट् । स चातुर आतुर-  
शरीरप्रदेशमनोरूपः । भूमिश्च । सा चानूपजाङ्गलसाधारणभेदात् त्रिधा ।

क्रमिकं कालमाह—कालः पुनः परिणामः । परिणामो व्याख्यात-  
स्तिस्त्वैपणीये ।

क्रमिकत्वात् प्रवृत्तिं लक्षयति—प्रवृत्तिरित्यादि । चेष्टेति वाङ्मनः-  
शरीराणां प्रवर्त्तनम् । कार्यार्थेति कार्यमर्थः फलं यस्याः सा कार्यार्था ।

कार्यफलं ज्ञेयम्, यथा—कुम्भकारस्य घटकरणे तन्मूल्यप्राप्तिः । अनुबन्धस्तवायतीयं फलम्,  
यथा—घटमूल्येन विनियोगः कुटुम्बपोषणादौ । अनुबध्नातीत्युत्तरकालं कर्त्तारमुपतिष्ठते शुभो  
वाप्यशुभो वेति, शुभस्य कार्यस्य शुभः, अशुभस्य कार्यस्याशुभः ।

देशस्त्वधिष्ठानमिति कार्यानुगुणोऽननुगुणो वा आधाररूपो देशः । परिणाम इति परिणामी-  
भूत्वादिरूपः कालः । तेन नित्यं कालं निरस्यति, अस्य पूर्वमसाधारणं कार्यं प्रत्यनपेक्षणीय-  
त्वात् । प्रवृत्तेश्चेष्टादिशब्दाः पर्याया एव लक्षणम् ।

उपायः पुनस्त्रयाणां कारणादीनां सौष्टवमभिसन्धानञ्च ॐ  
सम्यक् कार्यकार्यफलानुबन्धोपायवर्जानां तेषां । तद्धि

कार्यमुक्तम् । सैव क्रियेति भावकृदन्तत्वात् करणम्, कर्म्मन्ति च भावकृदन्त-  
त्वान् । उक्तञ्च पूर्वार्ध्याये संयोगे च विभागे चेत्यादिना । यत्र इति  
यत्नं न प्रयत्नः । स इच्छासमयोगान्मनस्यात्मप्रवृत्तिरूपः, तस्य समयोगात्  
तु बाह्यमनःशरीरप्रवृत्तिरूपोऽयं यत्नः । अतएवोक्तं पूर्वार्ध्याये । प्रयत्नादि  
कर्म्म चेष्टितमुच्यते इति । कार्यसमारम्भश्चेति कार्य्याणां समारम्भः ।  
गौतमेनाप्युक्तम् । प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः इति । व्याख्यातञ्चेदम् ।

क्रमिकत्वादुपायं लक्षयति—उपायः पुनरित्यादि । कारणादीनां कारण-  
करणकार्ययोनीनां सौष्टवं सुष्ठुत्वं साधुत्वमित्यर्थः । तेषामभिसन्धानञ्च ।  
ननु कुन एतद्द्वयमुपाय उच्यते इत्यत आह—कार्येत्यादि । कारणा-  
दीनां कार्यकार्यफलानुबन्धोपायवर्जानां सौष्टवं सम्यगभिसन्धानञ्च ।  
कार्य्याणां धातुसाम्यानां सम्यगभिनिर्व्वर्त्तक इत्यतोऽपि । कार्य्यस्य  
सम्यगभिनिर्व्वर्त्तकत्वादुपाय उच्यते । कारणं हि भिषग् धातुसाम्यं कार्य्यमभि-  
निर्व्वर्त्तेत्यति न सर्व्वं । यस्य तु सौष्टवं स्वगुणसम्पत्तिर्नास्ति स कथं व्याधिं  
सम्यक् प्रशमयेत् । इति भिषजः सौष्टवमुपायः । एवंसम्पदुपेतो भिषग्  
यद्यभिसन्धानं न कुरुते व्याधिप्रशमनाय, तत् कथं सुष्ठु वैद्योऽपि धातुसाम्यं  
कुर्यादिति भिषजस्तत्तत्कर्म्मकरणेऽभिसन्धानमुपायः । करणन्तु भेषजं  
शस्त्रादिकम् । तच्च कार्य्यं कार्य्यफलपनुबन्धश्च । धातुसाम्यं सुखावाप्तिं  
जीवितञ्च निर्व्वर्त्तयति । यदि तु तत् सौष्टवं स्वगुणसम्पत्तिर्न वर्त्तते तदा  
कथमातुरस्याक्लेशपूर्व्वकं धातुसाम्यादिकं कुर्यात् । यथा शस्त्रस्य सुधारत्वा-  
भावे च्छेदनमुख्यभावः सुधारत्वे च्छेदनमुख्यमित्येवमादि । एवं भेषजानामभि-  
सन्धानं बोध्यम् । वातादिवैषम्याणां कार्य्याणां योनिश्चायोगातिरिक्तयोगमिध्या-  
योगयुक्तकटादिः, ज्वरादीनां कार्य्याणां योनिर्धातुवैषम्यम्, धातुसाम्यादि-

उपायमाह—उपायः पुनरित्यादि । सौष्टवमिति सुष्ठुत्वं कर्त्तादीनां कार्य्यानुगुणयोगित्वमित्यर्थः ।  
अभिविधानञ्च सम्यगिति कारणादीनां कार्य्यानुगुण्येनावस्थानम्, यथा—भेषजस्य शिरोविरेचनकार-  
कस्य, तस्य पुनर्नसि च दानं कस्यचित्, कस्यचित् पुनः शिरसि च दानमित्यादि, यथा च—पटकारणानां  
तन्त्रादीनां पटवापनयोग्यतयावस्थानम् । एतदुपायरूपं सौष्टवमभिविधानञ्च कार्य्यादित्रिकरहिता-

\* अभिविधानञ्चेति चक्रः ।

कार्यारणामभिनिर्वर्त्तकमित्यतस्तूपायः । कृते नोपायार्थोऽस्ति,  
न च विद्यते तदात्वे, कृताच्चोत्तरकालं फलम्, फलाच्चानुबन्ध इति ।

कार्यार्थदिकं नाभिनिर्वर्त्तयति । धातुवैषम्यस्य सौष्टवमदारुणत्वादिकं तदभिसन्धानञ्च । सुखसाध्यत्वेन व्याधेः प्रशमने कर्त्तव्ये तथात्वेनाभिसन्धानमुपायः, तच्च भिषगादीनामभिसन्धानं भिषजा कार्यं न कार्ययोनेः । चिकित्सायान्तु भिषजां कार्यस्य धातुसाम्यस्य योनिर्हेतुसाम्यं तस्य सौष्टवं तदभिसन्धानञ्च । तद्व्याधेर्हेतुविपरीतसेवनम्, स्वस्थवृत्तसेवनञ्च धातुसाम्यादिकमभिनिर्वर्त्तयति । इति कार्यस्य धातुसाम्यस्य सौष्टवं विकारप्रशान्त्यादि । कार्यफलस्य सुखावाप्तेः सौष्टवं मनोबुद्ध्यादितुष्टिः । अनुबन्धस्यायुपः सौष्टवं प्राण-संयोग इत्यतोऽप्युपायः । अनुबन्धस्यायुपः सौष्टवमभिसन्धानञ्च । चिरव्याधेश्चिर-चिकित्सया शान्तिं निर्वर्त्तयतीत्यायुपः सौष्टवमभिसन्धानञ्चोपायः । एवं देशकालक्रियाणां सौष्टवं तदभिसन्धानञ्च सुखेनारोग्यमभिनिर्वर्त्तयतीत्युपायः । उपायानामपि सौष्टवमभिसन्धानञ्चारोग्यसुखमभिनिर्वर्त्तयति । न चोपाय-सौष्टवस्योपायत्वेन तत्सौष्टवरूपस्योपायस्यापि सौष्टवमुपायः स्यात् । तथा तत्सौष्टवमप्युपायः स्यादित्येवमनवस्थानं वाच्यम् । सर्वत्र सर्वोपायसौष्टव-स्यानुपायत्वात् । यथासम्भवं हि कारणादीनां सौष्टवाभिसन्धानयोरुपायत्व-मिति ज्ञेयम् । ननु उपायविषयः क इत्यत आह—कृत इत्यादि । कृते निष्पादिते सति नोपायार्थ उपायस्य प्रयोजनं नास्ति । ननु तदात्वे क उपायोऽस्तीत्यत आह—न च विद्यते तदात्वे इति । तदात्वे तत्क्रियानिष्पत्त्यत्ययकाले तु नोपायार्थो विद्यते । निष्पद्यते हि क्रिया तदुपायपूर्वकमेव । ननु कृते सति कुतो नोपायार्थोऽस्ति ? कृतादुत्तरकालं फलमभिनिर्वर्त्तं भवति, वर्त्तते चानुबन्धद्वयमुपायार्थो हि दृश्यते सिद्ध इत्यत आह—कृताच्चोत्तरकालमित्यादि । कृताच्चोत्तरकालं फल-ञ्चानुबन्धश्चोपायार्थो विद्यते । कार्यकार्यफलानुबन्धवर्जानां कारणादीनां त्रयाणां कार्यभिनिर्वर्त्तकभावो ह्युपायः, कार्यफलानुबन्धाभिनिर्वर्त्तकानि कारणादीनि न तूपाय इति । ननु कार्यफलानुबन्धयोः सौष्टवमभिसन्धानञ्च

नाञ्च कारणादीनां ज्ञेयमित्याह—कार्येत्यादि । उपायस्य स्वरूपान्तरमाह—कार्यारणामभिनिर्वर्त्तक इत्यतस्तूपाय इति । असत्युपाये कारणादीनि कार्यं न कुर्वन्तीत्यर्थः । अथ कथं कार्योदिपु उपायत्वं न सम्भवतीत्याह—कृत इत्यादि । उपायो हि कार्यकारकः, तत्र कृते कार्य उत्पन्ने नोपायार्थो-

एतद्दृशविधमग्रे परीक्ष्यं परीक्ष्य, ततोऽनन्तरं कार्यार्था  
प्रवृत्तिरिष्टा । तस्माद्विषक् कार्यं चिकीर्षुः प्राक् कार्य-  
समारम्भात् परीक्षया केवलं परीक्ष्यम् परीक्ष्य कर्म समारभेत  
कर्त्तुम् ॥ ७० ॥

उपाय उक्तस्तत् कथं कृते सति नोपायार्थोऽस्तीति चेन्न कार्यफलानुबन्धयोः  
सौष्ठवाभिसन्धाने हि पुनर्भवाभावरूपं कार्यमभिनिर्वर्त्तयतस्ते च कृते सति  
कार्ये न वृत्ते, वृत्ते च कर्त्तव्यात् पूर्वमेव, प्रयोगकाले हि यदि प्रवृत्तिसौष्टवं  
भवति तदैव कार्यफलानुबन्धयोः सौष्टवं भवतीति क्रियायाः पूर्वमेवोपायाथ  
इति ख्यापितम् । ज्ञात्वा हीत्यादि सूत्रार्थं कारणादिमुपदिश्य तेषां  
ज्ञानपूर्वकक्रियाकर्त्तव्यतायां सम्यग्भिनिर्वर्त्तमानकार्य्याभिनिर्वृत्तौ चेष्ट-  
फलानुबन्धं कार्यमभिनिर्वर्त्तयत्यनतिमहता प्रयत्नेन कर्त्तव्यम् ।

यत् फलमुक्तं तथा कर्त्तव्यतां व्याकरोति—एतद्दृशविधेत्यादि इष्टेत्यन्तं  
। इत्—शास्त्रीयकर्मकरणविषयमिदं वचनम् । तथाविधा प्रवृत्तिस्तिष्टा ।  
अप्यभिनिर्वर्त्तयमानकार्य्याभिनिर्वृत्तौ कर्त्तुंरनतिमहता प्रयत्नेनेष्टफलानु-  
बन्धकार्य्याभिनिर्वर्त्तकत्वात् । तत्रायुर्वेदीयकर्मकरणे विधिमाह—तस्मा-  
दित्यादि । तस्मादुक्तप्रकारेण प्रवृत्तेरिष्टत्वात् । कार्यं चिकित्सार्थं वमनादि-  
कार्यं चिकीर्षुः कर्त्तुमिच्छुर्भिषक् कार्यसमारम्भात् तद्वमनादिकार्य्य-  
समारम्भात् पूर्वं परीक्षया आप्तोपदेशेन प्रत्यक्षानुमानाभ्यां केवलं कृत्स्नं  
परीक्ष्यं परीक्षणीयं भावं परीक्षयाथानन्तरं कर्म वमनादिकार्य्यनिष्पादन-  
व्यापारं कर्त्तुं समारभेतेति ॥ ७० ॥

। इति, न हि कृतं पुनः क्रियते, तेन कार्यगतमप्युपायत्वं न पुनः कार्योत्पादे स्वीकुर्मः । तथा  
अनुत्पन्ने कार्ये नोपायरूपता भविष्यतीत्याह—न च विद्यते तदात्वे इति, तदात्वे कार्यमिति  
शेषः, तदात्वे कार्योत्पत्तेः पूर्वं कार्यमेव नास्ति, तेन न तदात्वेऽप्युपायत्वं कार्यस्यास्ति इति ।  
यदा च कार्यं एवोपायत्वम् उपायेऽपि उत्तरकालीनत्वेन नास्ति, तदा कार्योत्तरकालजयोः  
फलानुबन्धयोरपि उपायार्थो नास्तीत्याह—कृताचोत्तरकालमित्यादि । उपसंहरति—एतदि-  
त्यादि ॥ ७० ॥



तत्र चेद्भिषग् अभिषग् वा भिषजं कश्चिदेवं खलु पृच्छेत् ।  
 वमनविरेचनास्थानानुवासनशिरोविरेचनानि प्रयोक्तुकामेन  
 भिषजा कतिविधया परीक्षया कतिविधमेव परीक्ष्यम् ; कश्चात्र  
 परीक्ष्यविशेषः, कथञ्च परीक्षितव्यं, किंप्रयोजना च परीक्षा, क  
 च वमनादीनां प्रवृत्तिः, क च निवृत्तिः, प्रवृत्तिनिवृत्तिसंयोगेन \*  
 च किं नैष्ठिकं, कानि च वमनादीनां भेषजद्रव्याण्युपयोगं  
 गच्छन्तीति ।

स एवं पृष्टो यदि मोहयितुमिच्छेत्, ब्रूयादेत्  
 बहुविधा हि परीक्षा तथा परीक्ष्यविधिभेदः । कतमेन विधि-

गङ्गाधरः—परीक्षया केवलं परीक्ष्यं परीक्ष्येति यदुक्तं तत्र प्रष्टव्यान्याह—  
 तत्रेत्यादि । तत्रेत्युक्तविधौ, चेद् यदि । वमनादीनि कायचिकित्सादि-  
 साधारणत्वादुक्तानि । शल्यादिषु प्राङ्नियतकर्माणि स्वनया दिगैव उन्ने-  
 यानि । परीक्ष्यविशेषः परीक्षणीयानां प्रभेदः । कथञ्च केन प्रकारेण  
 परीक्ष्यं परीक्षितव्यं परीक्ष्येत । किंप्रयोजना किं प्रयोजनमस्याः सा,  
 परीक्षायाः किं प्रयोजनमित्यर्थः । क च कस्मिन् वस्तुनि वमनादीनां प्रवृत्तिः  
 कर्त्तव्यता । क च वमनादीनां निवृत्तिर्कर्त्तव्यता । वमनादीनां प्रवृत्तिनिवृत्ति-  
 संयोगेन वमनादीनां क च कर्त्तव्यता चाकर्त्तव्यता चेति । तत्र किं नैष्ठिकं  
 किं कर्त्तव्यं व्यवस्थितं स्यात् । कानि च वमनादीनां भेषजद्रव्याणि उप-  
 योगश्च गच्छन्तीति चेद्भिषक् अभिषग् वा भिषजं पृच्छेत् तदा ।

स एवमित्यादि—एवमुक्तप्रकारेण पृष्टः स भिषक् यदि प्रष्टारं मोहयितुं  
 मुग्धं कर्त्तुमिच्छेत्, तदैव प्रष्टारं ब्रूयात् । किं ब्रूयादित्यत आह—बहुविधे-  
 त्यादि । तथेति बहुविधः परीक्ष्यभेदः । भवानाख्यायमानं मां कतमेन विधिभेद-

चक्रपाणिः—सम्प्रत्युक्तं कारणादिदशकं वैद्योग्युक्तं सिपगादिदृष्टान्तेन दर्शयितुं 'तत्र चेद्'  
 इत्यादि प्रकरणमारभते । अभिषग्वेति किञ्चिद्भिषगित्यर्थः । कतिविधं परीक्ष्यमिति कति-  
 प्रकारं परीक्षणीयम् । प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणसंयोग इति प्रवृत्त्यनुगुणनिवृत्त्यनुगुणयोर्लक्षणयो-  
 रेकत्र मेलके । नैष्ठिकमिति निष्ठा निश्चयस्तद्भवं नैष्ठिकं निश्चयेन कर्त्तव्यमित्यर्थः ।

\* प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणसंयोगे इति चक्रवर्तः पाठः ।

भेदप्रकृत्यन्तरेण भिन्नया परीक्ष्य केन वा विधिभेदप्रकृत्यन्तरेण परीक्ष्यस्य भिन्नस्य भेदाग्रं वा पृच्छति भवान्, आख्यायमानम् । वेदानां \* भवतो न्येन विधिभेदप्रकृत्यन्तरेण भिन्नया परीक्षया अन्तेन वा विधिभेदप्रकृत्यन्तरे ॥ परीक्ष्यस्य भिन्नस्याभिलषितमर्थं श्रोतुर्हमन्येन परीक्षाविधिभेदेनान्येन वा विधिभेदप्रकृत्यन्तरेण परीक्ष्य भित्त्वार्थमाचक्षाण इच्छाश्च प्रपूरयेयमिति । स यदुत्तरं

प्रकृत्यन्तरेण प्रकारविशेषाणां प्रकृतिविशेषेण भिन्नस्य खलु परीक्ष्यस्य भेदाग्रं पृच्छति, केन वा प्रकारभेदानां प्रकृत्यन्तरेण भेदकथम्मान्तरेण भिन्नस्य परीक्ष्यस्य भेदाग्रं भेदसङ्ख्यापरिच्छेदं पृच्छति । इदानीं वा अन्येन एकप्रकारेण विधिभेदप्रकृत्यन्तरेण प्रकारविशेषाणां योनिविशेषेण भिन्नया परीक्षया परीक्ष्यस्याभिलषितमर्थं श्रोतुर्भवतोऽहमिच्छां पूरयेयमिति । अन्येन वा अपरेण वा विधिभेदप्रकृत्यन्तरेण प्रकारविशेषाणां योनिविशेषेण भिन्नस्य परीक्ष्यस्य वस्तुनोऽभिलषितमर्थं श्रोतुर्भवत इच्छामहं पूरयेयमिति । अथवान्येन तद्विन्नेन एकेन परीक्षाविधिभेदेन परीक्षाप्रकारविशेषाणां योनिविशेषेण अन्येन वा भवदीयां अपरप्रकारेण विपरीतेनापरेण वा विधिभेदप्रकृत्यन्तरेण प्रकारविशेषाणां योनिविशेषेण परीक्ष्यं वस्तु भित्त्वा भेदं कृत्यार्थं परीक्ष्यस्याधम् आचक्षाणो ब्रूवन् भवत इच्छाश्च पूरयेयमिति ब्रूयादेनमिति पूर्व्वेण सम्बन्धः ।

यदि नोहयितुमिच्छेदिति यदि विगृह्यमभाषाप्रवृत्तत्वेन मोहयितुमिच्छेदित्यर्थः । तथेति बहुविधः इत्यर्थः । विधिरूपो भेदो विधिभेदः, तस्य प्रकृत्यन्तरमिति कारणान्तरम् । भेदाग्रमिति भेदपरिमाणम् । भेदपरिमाणञ्चेति भेदसंख्यापरिच्छेद एव ज्ञेयः । आख्यायमानम् इति छेदः । किमर्थं पुनः पृच्छतीत्याकाङ्क्षयामाह—नेदानीमित्यादि । भवतोऽन्यथा श्रोतुम् अभिलषितमर्थमहमन्यथाचक्षाणो न भवत इच्छां पूरयेयम् । तेन त्वमेव तावत् विशेषयित्वा पृच्छेति वाक्यार्थः । यदा तु 'वेदानीं न पूरयेयम्' इति च पाठः, तदा वेदानीमित्यग्रे आचक्षाण इच्छां न पूरयेयमिति योजना । किंवा चेति पूर्व्वेण युज्यते । तेन कतमेन विधिभेदप्रकृत्यन्तरेणाख्यायमानं भवानिच्छति, केन वा विधिभेदप्रकृत्यन्तरेणाख्यायमानमिच्छतीति योज्यम् । इदानीमित्यादि तु पूर्व्ववदाशङ्कायां वचनम्, एतद्विशेषप्रच्छकोऽधिकश्रयाकुलो भवतीति

\* नेदानीमिति वा पाठः ।

ब्रूयात् तत् परीक्ष्योत्तरं वाच्यं स्याद् यथोक्तञ्च प्रतिवचनविधि-  
सवेक्ष्य सम्यक् । यदि तु न चैनं मोहयितुमिच्छेत् प्राप्तु  
वचनकालं मन्येत कामसम्भै ब्रूयादाप्तमेव निखिलेन ॥ ७१ ॥

द्विविधा तु खलु परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानञ्च । एतत् तु  
खलु द्वयमुपदेशश्च परीक्षा स्यात् एवमेषा द्विविधा परीक्षा, त्रिविधा  
वा सहोपदेशेन । दशविधन्तु परीक्ष्यं, कारणादि यदुक्तमग्रे,

एवं मोहवचनेनोक्तः स प्रष्टा यदुत्तरं ब्रूयात् तदुत्तरं वाक्यं परीक्ष्य यथोक्तञ्च  
प्रतिवचनविधिं प्रत्युत्तरप्रकारं सम्यगवेक्ष्य विविच्य उत्तरं वाच्यं स्याद्  
भिषजा । यदीत्यादि—यदि तु भिषक् तथापूर्वं पृष्ट एनं प्रष्टारं मोहयितुं  
न चेच्छेत् । वचनकालमुत्तरवचनकालन्तु प्राप्तं यदि च मन्येत तदा कामं  
यथाभिलषितं पृष्टार्थमाप्तमेवाप्तवचनमेवाखिलेन कृत्स्नेनास्मै प्रष्ट्रे भिषजे वाप्य-  
भिषजे ब्रूयात् स्पष्टम् ॥ ७१ ॥

गङ्गाधरः—तत्रोक्तप्रश्नस्योत्तरमाप्तमेव निखिलेन दर्शयितुमाह—द्विविधे-  
त्यादि । कतिविधया परीक्षया कतिविधं परीक्ष्यमित्यन्तर्गततया भाषितं  
कतिविधा परीक्षेत्येतं प्रश्नमुत्तरयति—द्विविधा तु खलु परीक्षा । ननु किं  
द्वैविध्यमित्यत आह—ज्ञानवतामित्यादि । ज्ञानवतामाप्तोपदेशेन वस्तुषु ज्ञानवतां  
प्रत्यक्षमनुमानं वा । कस्यचित् प्रत्यक्षं कस्यचिदनुमानमुपमानादीनामनयो-  
रन्तर्भावात् । तद्वर्जितं तिस्रैः पणीये । ननु अज्ञानवतां कतिधा परीक्षेत्यत  
आह—एतत् त्रित्यादि । एतत् तु द्वयमिति प्रत्यक्षमनुमानमुपदेशश्च इति परीक्षा-  
त्रयम् । एवमनेन प्रकारेण एषा द्विविधा परीक्षा सहोपदेशेन त्रिविधा

भावः । परीक्ष्यस्थार्थं भवतः श्रोतुमभिलषितमन्यथा आचक्षाण इति योजना । तत् समीक्ष्येति  
तद् वचनं समीक्ष्य यदौपाधिकं भवति, तद् यथोक्तं प्रतिवचनमित्यत्रैवाध्याये विगृह्य-  
सम्भाषाविधावुक्तम् । अवेद्योत्तरं वाक्यं पक्षान्तरवाक्यम् । पक्षान्तरमाह—सम्यगित्यादि । सम्यग्  
यदि तु ब्रूयादिति यदि सन्धायसम्भाषां ब्रूयात् । प्राप्तमित्युचितम्, अनुचिते तु वचनकाले सन्ध्यादौ  
न वक्तव्यमेव । आप्तमेवेति यथार्थमेवेत्यर्थः ॥ ७१ ॥

चक्रपाणिः—तदेव यथार्थमुत्तरं पूर्वश्लेषेण यथाक्रमेणाह—द्विविधेत्यादि । ज्ञान-  
वतामित्याप्तोपदेशरूपशास्त्रजनितज्ञानवताम् । पक्षान्तरं परीक्षात्रैविध्यमाह—एतद्वीत्यादि ।  
एतद् परीक्षाया द्वैविध्यं त्रैविध्यञ्च त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीय एव व्याख्यातम् ।

तदिह भिपगादिषु संसार्य्य सन्दर्शयिष्यामः । इह कार्य्यप्राप्तौ कारणं भिपक्, करणं पुनर्भेपजं, कार्य्ययोनिर्धातुवैपम्यम्, कार्य्यधातुसाम्यम्, कार्य्यफलं सुखावाप्तिः, अनुबन्धस्तु खलवायुः, देशो

वा परीक्षा । इति कतिविधा परीक्षेत्यस्य प्रश्नस्योत्तरम् । ० । कतिविधं परीक्षयमिति प्रश्नस्योत्तरमाह—दशविधन्तु परीक्षयमिति । वमनादिकं प्रयोक्तृकामस्य दशविधं परीक्ष्यं न तु जगति दशविधमेवेति । ननु चिकित्सायां किं किं तद्दशविधं परीक्षयमित्यतस्तत्तद् दर्शयितुमाह—कारणादीत्यादि । कारणकरणकार्य्ययोनिकार्य्यकार्य्यफलानुबन्धदेशकालप्रवृत्त्युपाया इति दशकं यद्यत्र उक्तं जगति साव्वंशास्त्रिककार्य्यारम्भेऽभिहितं तद् दशविधं परीक्षयम् । ननु तद् दशविधमायुर्वेदे चिकित्सायां किंवा किं भवतीत्याकाङ्क्षायामाह—तदिहेत्यादि । तत् कारणादिदशकं इहायुर्वेदशास्त्रे चिकित्सासमारम्भे भिपगादिषु संसार्य्य संसरणं कृत्वा सन्दर्शयिष्यामः । इहेत्यादि । इहायुर्वेदशास्त्रे कार्य्यप्राप्तौ चिकित्स्यप्राप्तौ कारणं चिकित्साकर्त्ता भिपक्, करणं पुनर्भेपजमिति युक्तियुक्तं गुणवच्चतुष्पादं भेपजं यद्यप्युक्तं तथाप्यत्र भिपजः कारणत्वेन पृथगुक्त्या भिपगितरद् द्रव्यातुरोपस्थातार इति गुणवत् त्रिपादम् । कार्य्ययोनिरिह धातुवैपम्यम्, ज्वरादीनां कार्य्याणां योनितात् । वातादिधातुवैपम्यं हि कार्य्यत्वं ज्वरादित्वमापद्यते । सव्वेचैव हेतुवैपम्यं कार्य्ययोनिः । कालबुद्धीन्द्रियार्थानां वैपम्यमयोगातिथोगमिथ्यायोगास्तैर्वातादिवैपम्यं कार्य्यं भवति । धातुसाम्यकरणन्तु ज्वरादिषु चिकित्सायाः कार्य्यम् । सुखावाप्तिः फलं कार्य्यस्य धातुसाम्यस्य निष्पादं फलं सुखावाप्तिः । स्वस्थस्य धातुसाम्यमेव कार्य्यस्य रक्षणस्य योनिः कार्य्यं धातुसाम्यरक्षणं फलं सुखानुवृत्तिः । कार्य्यस्य धातुसाम्यरक्षणस्य फलं निष्पादं सुखस्यानुवर्त्तनम् । इति । अनुबन्धस्तु खलवायुर्जीवितमित्यर्थः । भूमिरानूपादिरूपा आतुरः

भिपगादिषु संसार्य्येति भिपगादीनि चोपयुक्तान्युदाहरणानि कृत्वा । धातुवैपम्यमिति, विपमतां गता धातव एव हि विपमामवस्थां परित्यज्य समावस्थामापद्यमाना आरोग्याख्यस्य धातुसाम्यस्य समवायिवारणतया कार्य्ययोनितामापद्यन्ते । सुखावाप्तिरित्यारोग्यावाप्तिः । उक्तञ्च—“सुखसंज्ञकमारोग्यम्” इति । आयुश्चानुबन्धरूपम् । यद्यप्येतद् रोगिगतम् न वैद्यगतम्, तथापि वैद्येन काङ्क्षितत्वाद् वैद्यगतमेव तद्विज्ञेयम् । तेनानुबन्धलक्षणं कर्त्तारमभिप्रेतौति

भूमिरातुरश्च, कालः पुनः संवत्सरश्चातुरावस्था च, प्रवृत्तिः  
प्रतिकर्मसमारम्भः, उपायस्तु भिषगादीनां सौष्टवमभि-  
सन्धानञ्च सम्यक् । इहाप्यस्योपायस्य विषयः पूर्व्वेणैवोपायविषयेण  
व्याख्यातः । इति कारणादीनि दशसु भिषगादिषु संसार्य  
सन्दर्शितानि, तथैवानुपूर्व्वम् । एतदशविधं परीक्ष्यमुक्तञ्च ॥ ७२ ॥

चेति व्याधितः स्वस्थश्च पुरुषः । संवत्सर इत्यनेन तदन्तर्गतक्षणमुहूर्त्तदिन-  
पक्षमासचूर्त्तानां ग्रहणं बोध्यम् । आतुरावस्था चेति । आतुरस्यावस्था  
नानाविधा, स्वाभाविकी वैकारिकी च । तत्र स्वाभाविकी जैश्ववात्यपौगण्ड-  
कैशोरयौवनमध्यमस्थाविद्यतिस्थाविर्यरूपा । तत्रापि स्वाभाविकी दौर्व्वल्या-  
दौर्व्वल्यसत्त्वबहुलरजोबहुलतमोबहुलब्राह्मसत्त्वादिवातलादिसमवातादित्वरूपा  
च, वैकारिकी तु साध्यासाध्यकृच्छ्रसाध्यदारुणातुर्यवलमांसादिक्रियादि-  
रूपा प्रवृत्तिः । प्रतिकर्मसमारम्भ इति तत्तद्व्याधिप्रतिकारारम्भो भिषजः ।  
उपायं दर्शयति—उपाय इत्यादि । भिषगादीनां सौष्टवं सुष्ठुत्वं सम्यगभि-  
सन्धानञ्च । ननुपायस्य भिषगादीनां सौष्टवस्य सम्यगभिसन्धानस्य च  
वमनादिकार्यप्राप्तौ विषयः क इत्यत आह—इहाप्यस्येत्यादि । इह वमनादि-  
कार्यप्राप्तौ अस्य भिषगादीनां सौष्टवस्याभिसन्धानस्य चोपायस्य विषयः  
पूर्व्वेणैवोपायविषयेण कार्यकार्यफलानुबन्धेत्यादिना व्याख्यातः । तथा च  
धातुसाम्ये कार्ये कृतवमनादौ कर्मणि नोपायार्थोऽस्ति वमनादिकर्म-  
करणकालेऽपि नोपायार्थोऽस्ति । कृताच्च वमनादित उत्तरकालं सुखावाप्तिः  
आद्युश्च नोपायार्थोऽस्ति परन्तु कर्त्तव्ये सति वमनादिकर्मणि भिषगादीनां  
सौष्टवं सम्यगभिसन्धिश्चास्ति इति कर्मणः प्राक्कालो विषय इत्यर्थः ।  
उपसंहरति । इति कारणादीनीत्यादि । तथैवानुपूर्व्वमिति कारणाद्यानु-  
पूर्व्वम् । परीक्ष्यं समापयति—एतदित्यादि । इति कतिविधं परीक्ष्यमिति प्रश्न-  
स्योत्तरम् ॥ ७२ ॥

यदुक्तम्, तदुपपन्नम् । कर्त्ता ह्यत्र भिषक् । तेनातुरगतमप्यायुर्भिषगपेक्षितत्वेन भिषज एव  
फलमिति ज्ञेयम् । प्रतिकर्म चिकित्सा । इहाप्यस्य इत्यादि, अत्रापि कार्यफलानुबन्धव्यतिरिक्तानां  
सौष्टवमभिधानञ्च यथोक्तन्यायेनोपाय इति दर्शयति ॥ ७२ ॥

तस्य यो यः परीक्ष्यविशेषो यथा यथा च परीक्षितव्यः, स तथा तथा च व्याख्यास्यते ।

कारणं भिषगित्युक्तमग्रे, तस्य परीक्षा, भिषङ् नाम स यो भेषति यः सूत्रार्थप्रयोगकुशलो यस्य चायुः सर्वथा विदितं यथावत् । स च सर्वधातुसाम्यं चिकीर्षन्

गङ्गाधरः—अथ कश्चात्र परीक्षाविशेषः कथञ्च परीक्षितव्य इति प्रश्न-  
द्वयस्योत्तरं दर्शयितुमाह—तस्येत्यादि । तस्य दशविधस्य परीक्ष्यस्य यो यः  
कारणादिः प्रत्येकं परीक्ष्यविशेषः स व्याख्यास्यतेऽत ऊर्द्धं तस्य च यो  
यः कारणादिर्यथा यथा परीक्षितव्यः स तथा तथा च व्याख्यास्यते ।  
यागादौ चेद् दशविधं यथा—यजमानः कर्त्ता कारणम् । करणमृत्तिग्  
याजिकद्रव्यादिकम् । कार्य्ययोनिर्यजमानशरीरस्थनियतिरूपः परमात्मा  
पुरुषः । कार्य्य धर्मः । नियतिरूपः पुरुष एव यागादिक्रियाभिर्विक्रियमाणो  
धर्मरूपेण निष्पद्यते । धर्मस्य कार्य्यस्य फलं स्वर्गप्राप्तिः । अनुबन्धः  
पुनर्जन्मपुनर्दारधनवान्धवादिप्राप्तिः । देशो याजिकदेशः । कालः स स तत्तद्  
यागादिक्रियारम्भः । उपायस्तु यजमानादीनां सौष्टवं तदभिसन्धानञ्चेति ।  
एवं वैधेतरकर्मणि चाधर्मकार्य्यं काम्यकर्मफलत्यागो मोक्षः इति ।

कारणमित्यादिना भिषगादीनां परीक्षा । भिषङ्नामेत्यादि । यो भेषतीति भिष  
रुग्जये सौत्रधातुरौणादिकप्रत्ययेन व्युत्पन्नार्थः यः सूत्रार्थप्रयोगकुशलः प्रकरणात्  
आयुर्वेदीयसूत्रार्थप्रयोगयोर्दक्षः यस्य चायुर्यथावत् सर्वथा विदितं, पूर्वत्रा-  
सिद्धीयविधेरनित्यत्वात् क्तान्तप्रयोगेऽपि कर्त्तरि षण्ठी, स भिषक् नाम भवति ।  
स च भिषक् चिकित्साकार्य्यप्राप्तौ कारणं सति धातुवैषम्ये सर्वधातुसाम्यं

चक्रपाणिः—कश्च परीक्ष्यविशेषः कथञ्च परीक्षितव्य इति प्रश्नद्वयोत्तरं दातुमाह—तस्येत्यादि ।  
यो यो विशेष इति कारणादीनां यो यः कर्त्तृत्वादिः सजातीयद्वेत्वादेः तथा विजातीयाच्च  
भेषजादेर्विशेष इत्यर्थः । यथा परीक्षितव्य इत्यस्योदाहरणम्, “कचिदहमस्य” इत्येवंग्रन्थवक्ष्य-  
माणं ज्ञेयम् । भिषज्यति चिकित्सति । सर्वथेति हिताहितसुखदुःखतया । यथावत् सर्वधातु-  
साम्यमित्यादिना, धातुसाम्यस्य चात्र कारणं भिषक् न केवलं परेण परीक्षणीयः, किन्त्वात्मना

आत्मानमेवादितः परीक्षेत । तद् यथा—गुणिषु \* गुणतः  
कार्य्याभिनिर्वृत्तिं पश्यन् कच्चिदहमस्य कार्य्यस्याभिनिर्वृत्तने  
समर्थोऽस्मि न वेति । तत्रैते भिषग्गुणाः, यैरुपपन्नो भिषग्  
धातुसास्याभिनिर्वृत्तने समर्थो भवति । तद् यथा—पर्य्यवदात-  
श्रुतता परिदृष्टकर्मता दाक्ष्यं शौचं जितहस्तता उपकरणवत्ता  
सर्वेन्द्रियोपपन्नता प्रकृतिज्ञता प्रतिपत्ताभिज्ञता चेति ॥ ७३ ॥

करणं पुनर्भेषजम् । भेषजं नाम तद् यदुपकरणायोपकल्प्यते,

चिकीषन् क्तु भिच्छन् आदितः प्रथमत आत्मानं स्वं परीक्षेत । ननु कथं  
भिषगात्मानं परीक्षेतेत्यतस्तद्यथेत्युक्तवाह—गुणिष्विति । गुणिषु पुरुषेषु धातु-  
वैषम्यव्याधिषु साम्यरक्षणेषु वा वैद्यः स्वस्य गुणतः कार्य्याभिनिर्वृत्तावस्य  
कार्य्यस्य व्याधिनिवृत्तिरूपस्याभिनिर्वृत्तने कच्चिदहं समर्थो भविष्यामि न  
वेत्येवं पश्यन्नात्मानमादौ परीक्षेत । एतदातुरीयैतद्व्याधिरूपधातुवैषम्यनिवृत्ति-  
रूपस्य कार्य्यस्याभिनिर्वृत्तनेऽहं समर्थो भवामि वा न वेति रूपेण स्वं परीक्षेत ।  
ननु के वैद्यगुणा इत्यत आह—तत्रेत्यादि । यैरिति गुणैः । एतेन वक्ष्यमाण-  
गुणवत्तायां भिषजोऽवश्यं साध्यव्याधिनिवृत्तिकरणे सामर्थ्यमिति ख्यापितम् ।  
गुणानाह—तद् यथेत्यादि । पर्य्यवदातश्रुततादयो गुणा दशप्राणायतनिके  
व्याख्याताः ॥ ७३ ॥

गङ्गाधरः—चिकित्सायां करणस्य भेषजस्य परीक्ष्यविशेषस्य यथा  
परीक्षितव्यत्वं तद्वक्तुं करणं भेषजं लक्षयति—करणमित्यादि । करणं पुन-  
र्भेषजमित्यत्र इत्युक्तमग्रे तस्य परीक्षेति पूर्व्ववचनस्यान्वयः । एवं परत्रापि सर्व्वत्र  
बोध्यम् । भेषजं नाम तदित्यादि । यत् विषमधातूनां धातुसास्याभिनिर्वृत्तौ  
प्रयतमानस्य भिषज उपकरणायोपकल्प्यते तद् भेषजं नाम । न चात्र शुक्ति-

प्यात्मानं स च परीक्षयेदिति दर्शयति । अथ कथमात्मानं परीक्षयेदित्याह—गुणेष्विति, आत्मानं  
गुणयोगतया परीक्षयेदित्यर्थः । गुणत इति हेतौ पञ्चमी । कच्चिदिति च्छाप्रकाशने । प्रति-  
पत्तिरूपज्ञायामापदि झटिति कर्त्तव्यकरणम् ॥ ७३ ॥

चक्रपाणिः—विशेषतश्चोपायान्तेभ्य इत्यनेन, कार्य्ययोनिप्रवृत्तिदेशकालोपायेभ्योऽन्यद् यद् यत्

\* गुणेष्विति चक्रः ।

भिपजो धातुसाभ्याभिनिर्वृत्तौ प्रयतमानस्य विशेषतश्चोपाया-  
न्तैभ्यः । तद् द्विविधं व्ययाश्रयभेदात्, दैवव्यपाश्रयं युक्तिव्यपा-  
श्रयञ्चेति । तत्र दैवव्यपाश्रयं मन्त्रौषधिमणिसङ्गलवत्युप-  
हारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासदानस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादि ।  
युक्तिव्यपाश्रयं संशोधनोपशमने चेष्टाश्च दृष्टफलाः । एतच्चैव  
भेजमङ्गभेदादपि द्विविधमेव भवति, अद्रव्यभूतं द्रव्यभूतं

युक्तं षोडशगुणं चतुष्पादं भेजमिति यदुक्तं तत् । भिपजः कर्तृत्वेन  
पृथगुक्तावपि स्वस्य सामर्थ्यासामर्थ्याभ्यामनुपकरणत्वात् । ननु योन्यादिभ्यो  
भेदाच्च यद्भिपजः कार्य्याभिनिर्वृत्तौ प्रयतमानस्योपकरणायोपकल्प्यते तद्  
भेजं नामेति कारणादीनां सौष्टवं सम्यगभिसन्धानञ्चेति भिपज उपकरणायोप-  
कल्प्यते तेनोपायान्ता अपि करणं भवत्विति मनसि कृत्वाह—विशेषतश्चेत्यादि ।  
उपायान्तेभ्यो विशेषतश्च । उपायान्तेभ्योऽष्टभ्यः कार्य्यकर्तृर्यदुपकरणायोप-  
पद्यते तद् पुनर्भेजं करणमभिधीयते । कार्य्ययोनिर्हि कार्य्यत्वेनाभिनिर्वृत्तैते,  
तेन कार्य्याभिनिर्वृत्ताविति कार्य्यपदेन व्यवच्छिद्यते । कार्य्यफलमपि च कार्य्य-  
मेव कार्य्यानुबन्धश्च कार्य्यजन्यः शुभाशुभरूपः कार्य्यान्तर एवेति । तद्भेजं  
विभजते—तदित्यादि स्फुटम् चेष्टाश्च दृष्टफला इत्यनेनादृष्टफलं चेष्टा दैवव्यपा-  
श्रयरूपा । एतच्चैवेत्यादि । एतच्छब्देन संशोधनोपशमने चेष्टानां परामर्श-  
वारणायाह—भेजमिति । तेन एतदैवयुक्तिव्यपाश्रयं द्विविधं भेजमङ्गभेदादपि  
द्विविधमेव । तद्विदुषोति—अद्रव्यभूतमित्यादि । सूचीकटाहन्यायेनाल्पत्वात्

कर्तृरुपकरणं भवतीति तत् करणम् इति दर्शयति । कार्य्ययोनिर्हि लोके विचार्य कस्मैतया  
साधकतमात् करणात् पृथगुच्यते । प्रवृत्त्युपाययोश्च कर्तृकरणादिधर्मत्वेन न करणसंज्ञा । देश-  
कालौ तु न साधकतमौ । तेन उपायान्तेभ्यो यथोक्तविशेषेण यत् कर्तृरुपकरणं भवति; तत्  
करणम् । अत्र व्यपाश्रयद्वैविध्ये च सत्त्वावजयोऽपि भेजमवरुद्धं ज्ञेयम्—सत्त्वावजयो हि  
दृष्टद्वारोपकारी युक्तिव्यपाश्रये, तथा अदृष्टद्वारोपकारी तु दैवव्यपाश्रये प्रविशति । अत एवोक्तं  
युक्तिव्यपाश्रयव्याकरणे—“चेष्टाश्च दृष्टफलाः” इति । चेष्टाशब्देन मनश्चेष्टापि सत्त्वावजय-  
लक्षणा गृह्यते । पुनरौषधस्य प्रकारान्तरद्वैविध्यमाह—अङ्गभेदादित्यादि । अङ्गं शरीररूपं  
स्वरूपमिति यावत् । तेन स्वरूपभेदादित्यर्थः । द्रव्यभूतं द्रव्यरूपम्, एवमद्रव्यरूपम् । उपायाभि-



चेति । तत्र अद्रव्यभूतं तद् यदुपायाभिप्लुतम् । उपायो नाम भयदर्शनविस्मापनक्षोभणहर्षणभर्तृसन-बन्धनस्वप्नसंवाहनादिः अमर्त्यो \* भावविशेषो यथोक्ताः सिद्धुपायाश्चेति । यत् तु द्रव्यभूतं वमनादिषु योगमुपैति तस्याप्येषा परीक्षा । इदमेव-प्रकृति एवंगुणमेवंप्रभावमस्मिन् देशे जातमस्मिन् ऋतावेवंप्रतिलोमतन्त्रयुक्त्या तद्रव्यभूतं लक्षयति । तत्रेत्यादि । यदुपायाभिप्लुतम् उपायोपेतं यत् तद्रव्यभूतम् । यथा लङ्घनादिकं भयप्रदर्शनाद्यर्थम् । दण्डो-त्तोलनादिकरणादिकं कर्मम् । प्रसङ्गसङ्गत्यात्रैवोपायं निर्दिशति । लक्षणन्तु पूर्वमुक्तम् उपायो नामेत्यादि । अमर्त्योऽमानुषिको व्यापारः । यथोक्ता यस्मिन् व्याधौ ये सिद्धुपायास्ते च इति एतदुपायाभिप्लुतं भयप्रदर्शनादिनिमित्तं दण्डोत्तोलनादिकं कर्म अद्रव्यभूतं भेषजं भवति, तस्य च परीक्षा नोपपद्यते इत्यतः प्राग्द्रव्यभूतादिदं निर्दिष्टमल्पत्वात् । ० । परीक्ष्यत्वाद् द्रव्यभूतमाह—यत् त्वित्यादि । तस्य संशमनस्य द्रव्यभूतस्यापिशब्दात् वमनादिषु यौगिकस्य द्रव्यभूतस्य च एषातः परं वक्ष्यमाणा परीक्षा । का परीक्षेत्यत आह—इदमेवमित्यादि । एवंप्रकृति ईदृशयोनिकम् । एवंप्रभावमीदृशाचिन्त्यक्रियम् ।

प्लुतमिति उपायव्याप्तम् उपायग्रहणगृहीतमिति यावत् । एवमन्ये भयादयोऽमूर्त्तभावा न साक्षादारोग्यकारणानि भवन्ति, किं तर्हि शरीरस्थितानेव वातादीन् तथा कुर्वन्ति समत्वेनोत्पेद्यमानान् । न ह्यमूर्त्तानि मूर्त्तानां शरीरधातूनामुत्पत्तौ समवायिकारणानि भवन्ति, भेषजन्तु द्रव्यभूतं समशरीरोत्पादे समवायिकारणं भवत्येव । तेन द्रव्यसारोग्यं प्रति साधकतमत्वं साधु, अमूर्त्तानाम् उपायादीनां न भेषजवत् साधकतमत्वमिति कृत्वा द्रव्यजन्य एव धातुसास्ये तेषामुपायत्वं युक्तम् । एवं सूक्ष्मया बुद्ध्या भयादीनामुपायत्वम्, स्थूलया तु बुद्ध्या भेषजव्यवहारश्च आचार्याभिमतो द्विविधभेषजेऽर्थेऽद्रव्यभूतभयादिग्रहणादुच्यते । न केवलमद्रव्यभूतं भेषजमुपाय-व्याप्तम्, किन्तु अन्येऽपि परिचारकग्रहणगृहीता एवेत्याह—यथोक्ताः सिद्धुपायाश्चेति । यथोक्ताः सिद्धुपायाश्च परिचारकादयोऽत्र दशविधपरीक्ष्ये तु साक्षादनुक्ता उपायाभिप्लुता एवेत्यर्थः । किंवा उपायाभिप्लुतमिति उपायमिश्रितम् । तत्र भयाद्यमूर्त्तभेषज एव यथोक्ताश्चोपायाः कारणादि-सौष्टवसम्यग्भिविधानरूपा अद्रव्यभूतभेषजपक्षगृहीता इत्यर्थः । तेन भयादिषु च तथा उपाय-शब्दाभिधेयेषु च - अद्रव्यभूतभेषजशब्दप्रयोगो भवतीति दर्शयति । ये तु, उपायान्ताभि-प्लुतम् इति पठन्ति, ते देशकालावेव अद्रव्यभूतभेषजम् इति वदन्ति । वदन्ति च—द्रव्य-

गृहीतमेवंनिहितमेवमुपस्कृतसनया च सात्रया युक्तमस्मिन्  
व्याधावेवंविधस्य च पुरुषस्यैतावन्तं दोषमपकर्षत्युपशमयति  
वा । यदन्यदपि चैवंविधं भेषजं भवेत् तच्चानेनान्येन वा  
विशेषेण युक्तमिति ॥ ७४ ॥

कार्ययोनिर्धातुवैषम्यम्, तस्य लक्षणं विकारागमः, परीक्षा  
त्वस्य विकारप्रकृतेश्चोनातिरिक्तलिङ्गावेक्षणं विकारस्य च साध्या-  
साध्यमृदुदारुणलिङ्गविशेषावेक्षणमिति ॥ ७५ ॥

एवंनिहितम् ईदृशरूपेण ईदृशस्थाने स्थापितम् । एवमुपस्कृतमीदृशप्रयत्नेन  
भूषितम् । वमनादुपयोगगतसंशमनोपगतभेषजैर्भ्योऽन्येषां परीक्षार्थमाह—  
यदन्यदपीत्यादि । शस्त्रक्षारादिकं यदन्यदपि भेषजं तदनेनोक्तनान्येन  
सुधारदुर्धारत्वादिरूपेण वा एषा भेषजपरीक्षा ॥ ७४ ॥

गङ्गाधरः—क्रमिकत्वात् कार्ययोनिपरीक्षार्थमाह—कार्ययोनिर्धातुवैषम्यम्,  
अत्रापि इत्युक्तमग्रे इत्यस्यान्वयः । तस्य धातुवैषम्यस्य विकारागम इति  
विकारो धातुवैषम्यमिति यदुक्तं तदत्र न विवक्षितं, परन्तु तस्य कार्यं ज्वरादि-  
रूपं तस्यागम उत्पत्तिः । परीक्षेत्यादि । अस्य धातुवैषम्यतो विकारागमस्य  
परीक्षा तु विकारस्य ज्वरादेः प्रकृतेर्योनिर्वातादिशरीरमलस्य रसादिधातूप-  
धातोश्च रजस्तमसोर्मानसमलयोः सत्त्वस्य च दृष्यस्य ऊनातिरिक्तलिङ्गावेक्षणम् ।  
ऊनलक्षणावेक्षणेन धातूनां हासतो व्याधिजन्म, अतिरिक्तलक्षणावेक्षणेन  
धातूनां वृद्धितो व्याध्यागमोऽनुमीयते । विकारस्य च धातुवैषम्यजनितस्य  
ज्वरादेः साध्यत्वादिलिङ्गविशेषावेक्षणञ्चेति प्रकारेण कार्ययोनिपरीक्षा  
कार्या ॥ ७५ ॥

शब्देन क्वाथकल्कादुपयोजनीयं द्रव्यं 'द्रव्यम्' उच्यते इति । एतच्च मनोहारि । अनेन चान्येनेति  
साधनमूतेन च एवंप्रकृत्या इत्यादिनोक्तेन तथा साध्येन च एवंविधस्य पुरुषस्य इत्यादिनोक्तेन  
विशेषेण युक्तममूदित्यर्थः ॥ ७४ ॥

चक्रपाणिः—तस्य लक्षणं धातुवैषम्यं प्रत्युपपन्नमित्यर्थः । विकारप्रकृतेरिति विकारस्य  
प्रकृतेर्दोषस्येत्यर्थः ॥ ७५ ॥

कार्यं धातुसाम्यं, तस्य लक्षणं विकारोपशमः, परीक्षा  
त्वस्य रुगुपशमनं स्वरवर्णयोगः शरीरोपचयो वलवृद्धिरभ्यव-  
हाय्याभिलाषो रुचिराहारकाले कालेऽभ्यवहृतस्य चाहारस्य  
सम्यग्ज्वरणं, निद्रालाभो यथाकालं वैकारिकाणां स्वप्नानाम्  
अदर्शनं सुखेन च प्रबोधनं वातमूत्रपुरीषरेतसां मुक्तिः  
सर्वाकारैर्मनोबुद्धीन्द्रियाणाञ्चाव्यापत्तिरिति ॥ ७६ ॥

कार्यफलं सुखावाप्तिः, तस्य लक्षणं मनोबुद्धीन्द्रियशरीर-  
तुष्टिः ॥ ७७ ॥

अनुबन्धस्तु खत्वायुः, तस्य लक्षणं प्राणः सह  
संयोगः ॥ ७८ ॥

गङ्गाधरः—कार्यमित्यादि । कर्तुः कार्यमत्र धातुसाम्यमिति यदुक्तमग्रे  
तस्य लक्षणं विकारोपशमः ज्वरादुपशमः । तस्य ज्वरादिविकारोपशमस्य  
परीक्षा तु रुगुपशमनमित्यादि रुगुपशमनं यातनोपशमनं, यातनोपशमनादिना  
ज्वरादुपशमोऽनुमीयते, ज्वरादुपशमनेन धातुसाम्यं धातुवैषम्याभावोऽनु-  
मीयते । सुखेन प्रबोधनं ज्ञेयेष्वर्थेषु सुखेन ज्ञानं भवति सुखेन च वातादीनाम्  
अधोवातादीनां मुक्तिस्तथागः । अव्यापत्तिः सम्पत् । इत्येवं प्रकारेण  
कार्यपरीक्षा कार्य्या ॥ ७६ ॥

गङ्गाधरः—परीक्ष्यविशेषश्च कार्यफलं कथं परीक्षितव्यमित्यत आह—कार्य-  
फलमित्यादि । इत्युक्तमग्रे इत्यप्यत्र योज्यम् । तस्याः सुखावाप्तेर्लक्षणम् अनुमान-  
करणं मनसश्च बुद्धीन्द्रियाणाञ्च शरीरस्य च तुष्टिः परितोषः । शरीरान्तर्गतत्वेन  
कर्मेन्द्रियाणामनुपादानान्न न्यूनता । इत्थं कार्यफलं परीक्षितव्यम् ॥ ७७ ॥

गङ्गाधरः—नन्वनुबन्धः कथं परीक्षितव्य इत्यत आह—अनुबन्ध इत्यादि ।  
अत्रापि इत्युक्तमग्रे इति योज्यम् । तस्यायुषो लक्षणं प्राणैः संयोगः । प्राणाः

चक्रपाणिः—सर्वाकारैरिति सर्वशुभलक्षणैः । सुखावाप्तिरित्यात्मगुणसुखप्राप्तिः । प्राणैः  
सह संयोग इति प्राणलक्षणत्रायुना योग इत्यर्थः । तेन प्राणशब्दस्यायुषो भिन्नार्थत्वाल्लक्षणयो-  
र्भेदः ॥ ७६—७८ ॥

देशो भूमिरातुरश्च । तत्र भूमिपरीक्षा आतुरपरिज्ञानहेतोर्वा  
स्यात् औषधपरिज्ञानहेतोर्वा । तत्र तावदियं खलु आतुरपरिज्ञान-  
हेतोः । तद् यथा—अयं कस्मिन् भूमिदेशे जातः संवृद्धो  
व्याधितो वा, तस्मिंश्च भूमिदेशे मनुष्याणामिदमाहारजातमिदं  
विहारजातमिदमाचारजातमेतावच्च बलमेवंविधं सत्त्वमेवंविधं  
सात्म्यम् एवंविधो दोषः भक्तिरियमिमं व्याधयो हितमिदमहित-  
मिदमिति † । औषधपरिज्ञानहेतोस्तु कल्पेषु भूमिपरीक्षा  
वक्ष्यते ॥ ७६ ॥

पञ्च प्राणाख्यादयो वायवस्तैः सह संयोगस्तस्य लिङ्गं श्वासोच्छ्वासस्पन्दन-  
वचनादिकं श्वासादिना प्राणैः संयोगोऽनुमीयते तेन चायुरनुमीयते । आयुषो-  
ऽभावमात्रं हि म्रियते मृत्युश्च प्राणवियोगेनानुमीयते प्राणवियोगश्च श्वासाद्य-  
भावेनानुमीयते इत्यमायुः परीक्षितव्यम् ॥ ७८ ॥

गङ्गाधरः—ननु परीक्ष्यविशेषश्च देशः कः कथञ्च परीक्षितव्य इत्यत आह—  
देश इत्यादि । ननु भूमिस्तु देशः किमर्थं परीक्ष्यते इत्यत आह—तत्रेत्यादि ।  
तत्र भूम्यातुरयोर्मध्ये भूमिपरीक्षा आतुरपरिज्ञानहेतोः स्यात् । औषधपरिज्ञान-  
हेतोश्च स्यात् । वा-द्वयं प्रत्येकप्राधान्यार्थम् । नन्वातुरपरिज्ञानहेतोर्भूमिपरीक्षा  
कथं कार्य्या इत्यत आह—तत्रेत्यादि । आतुरपरिज्ञानहेतोर्भूमिपरीक्षेत्यर्था-  
ल्लभ्यते । परीक्षा परीक्षणचिह्नम् । तद् यथेत्यादि । अयमातुरो योऽयं  
दृश्यते कस्मिन्नित्यस्य संवृद्ध इत्यनेन व्याधित इत्यनेन च सम्बन्धः ।  
आहारादिज्ञानेन रोगाणां कारणज्ञानं व्याधितानां क्रियासहसासहसादि-  
परिज्ञानञ्च भवति । विहारः परिस्पन्दनव्यापारः । आचारो वैधवैधक्रियाहेतूप-

चक्रपाणिः—क्रमप्राप्तं देशमाह—देश इत्यादि ।—आतुरशब्देनेह शङ्क्यमानातुर्यतया  
स्वस्थवृत्तोपदर्शनीयः स्वस्थोऽपि ग्राह्यः । सोऽपि हि परीक्ष्यत एव स्वस्थवृत्तप्रयोगार्थम् । परि-  
शब्दो विशेषार्थः । तेन आतुरस्य सकलदेशकृतविशेषेण ज्ञानमातुरपरिज्ञानम् । एवं भेषज-  
परिज्ञानेऽपि देशकृतविशेषज्ञानं परिज्ञानं बोद्धव्यम् । समृद्ध इति चर्द्धितः । एवंविधं सात्म्य-  
मित्योक्तसात्म्यमित्यर्थः । इदं हितमित्यनेन च देशापेक्षया विपरीतगुणसात्म्यं द्रूते । प्रायो-

\* समृद्ध इति चक्रः ।

† इतः परं “प्रायोगहणेन” इति चक्रेणाधिकं पठ्यते ।

आतुरस्तु खलु कार्यदेशः, तस्य परीक्षा आयुषः प्रमाणज्ञानहेतोर्वा भवति बलदोषप्रमाणज्ञानहेतोर्वा । तत्र तावदियं बलदोषप्रमाणज्ञानहेतोः, दोषप्रमाणानुरूपो हि भैषज्य-प्रमाणविशेषो बलप्रमाणविशेषापेक्षो भवति । सहसा ह्यति-

वासादिव्यापारः । भक्तिरियं भजनशीलता । इत्यातुरपरिज्ञानहेतोर्भूमि-परीक्षा । शेषस्याह—औषधेत्यादि । कल्पेषु कल्पस्थानेषु ॥ ७९ ॥

गङ्गाधरः—इति भूमिदेशपरीक्षामुक्त्वातुरदेशपरीक्षामाह—आतुरस्त्वित्यादि । नन्वातुरः कथं देशो भवति, कस्य देशत्वादित्यत आह—कार्यदेश इति । कार्यस्य धातुसाम्यस्य देशः स्थानं तस्मादातुरो देश उच्यते । आतुरस्य परीक्षापि द्विधा, तदाह—तस्येत्यादि । तस्यातुरस्य परीक्षा एका आयुषः प्रमाणज्ञानहेतोः स्यात्, द्वितीया आतुरस्य बलदोषप्रमाणज्ञानहेतोः स्यात् । वा-द्वयं प्रत्येकप्राधान्यार्थम् । प्रतिलोमतन्त्रयुक्त्वातुरस्य बलदोषप्रमाणज्ञानहेतोः परीक्षामाह—तत्र तावत् इत्यादि । बलदोषप्रमाणज्ञानहेतोरातुरस्य परीक्षेत्यर्थात् लभ्यते । ननु कुतो हेतोरातुरस्य बलदोषप्रमाणं ज्ञायते इत्यत आह—दोषेत्यादि । हि यस्मात् कर्तु-र्भिषजः कार्यभिनिर्वृत्तौ भैषज्ये प्रयोक्तव्ये भैषज्यस्य प्रमाणविशेषो दोष-प्रमाणानुरूप आतुरबलप्रमाणापेक्ष एव युक्तः कार्यभिनिर्वृत्तिकरो भवति न तु दोषानुरूपो व्याधितस्य बलानपेक्षो वा । कुत इत्यत आह—सहसेत्यादि । हि

ग्रहणेनेति च्छेदः, प्रायोग्रहणेन न एकान्ततः परीक्षेत इति योजना, प्रायःशब्देन च, देशेनाहाराद्यनुमानं निश्चितं किन्तु प्रायो भवतीति दर्शयति । कल्पेष्विति मदनादिकल्पेषु, तत्र यद्यपि प्रथम एव तु कल्पे भूमिपरीक्षा वक्तव्या, तथाप्यत्र कल्पेष्विति यदप्यतिदेशेन कथनाद् बहुवचनं कृतम्, तदुत्तरकल्पवक्तव्यान्यपि हि द्रव्याण्यपि यथोक्त एव देशे ग्राह्याणीति दर्शनार्थम् ॥ ७९ ॥

चक्रपाणिः—भूमिरूपं देशमभिधायातुरमाह—आतुरस्तु खल्वित्यादि । कार्यदेश इति कर्तव्यधातुसाम्याधार इत्यर्थः, बलस्य दोषस्य च प्रमाणं बलदोषप्रमाणम् । इयमित्यग्रे “तस्मादातुरं परीक्षेत,” इत्यादिग्रन्थवक्ष्यमाणा । अथ किमर्थं बलदोषपरीक्षा शरीरस्य कर्तव्येति प्रकरणार्थः । बलप्रमाणविशेषापेक्ष इति ;—यदि बलवच्छरीरं भवति, तदैव दोषप्रमाणापेक्षया

वलमौपधमपरीक्षकप्रयुक्तमल्पवलमातुरमतिपातयेत् । न हि अति-  
वलान्याग्नेयसौम्यवायवीयान्यौपधान्यग्निचारशस्त्रकर्मणि वा  
शक्यन्तेऽल्पवलैः सोढुम्, असह्यातितीक्ष्णवेगित्वाद्धि सद्यःप्राण-  
हराणि स्युः । एतच्चैव कारणमवेक्षमाणा हीनवलमातुरमविषाद-  
करैः मृदुसुकुमारप्रायैरुत्तरोत्तरयुरुभिरविभ्रमैरनात्ययिकैश्चोपचरन्ति

यस्मात् अतिवलमातुरस्य वलमतिक्रान्तमतिशयवलवर्दीपधमपरीक्षकप्रयुक्तम्  
आतुरस्य वलं न परीक्ष्य भिषजा मूढेन प्रयुक्तमल्पवलमातुरमतिपातयेत् मारयेद्  
वा मृतकल्पं वा कारयेत् । अल्पवलमौपधन्वतिवलमातुरं न पातयेत् न वा  
व्याधिसाधकं भवति इत्यतोऽनात्ययिकत्वात् तन्नादाबुदाहृत्याचार्य्य आदौ आत्य-  
यिकत्वात् तु अतिवलभेजस्याल्पवलमातुरे प्रयोगदोषं प्रदर्शितवान् । नन्वाग्नेयः  
पुरुषोऽल्पवलोऽपि सौम्यमौपधमतिवलमपि सोढुं शक्नोतीति कुतोऽल्पवल-  
मातुरम् अतिवलमौपधमतिपातयेदित्यत अतिवलौपधस्याल्पवलमातुरे प्रयोगोदा-  
हरणमाह—न ह्यतीत्यादि । हि यस्मात् आग्नेयानि वा सौम्यानि वा वायवीयानि  
वाप्यौपधानि यद्यतिवलानि भवन्ति तदा तानि कानिचिदप्यतिवलान्यौप-  
धानि नाल्पवलैः पुरुषैः सोढुं शक्यन्ते, न चाग्निकारशस्त्रकर्मणि वाल्पवलैः  
सोढुं शक्यन्ते । अल्पवलानाम् अग्न्याद्यसहस्रप्रदर्शनन्तु प्रसङ्गात् शिष्टज्ञानार्थं  
बोद्धव्यं न तेनासङ्गतम् । ननु तानि कानिचिदपि कुतो न सोढुं शक्यन्ते  
अल्पवलैरित्यत आह—असह्यातीत्यादि । असह्यत्वादतिवलान्यौपधानि अल्प-  
वलेषूपयोजितानि तेषां सद्यःप्राणहराणि स्युरतितीक्ष्णवेगित्वाद्ग्निकारशस्त्र-  
कर्मणि चाल्पवलेषूपयुक्तानि तेषां सद्यःप्राणहराणि स्युरित्यर्थः । तस्मादातुरस्य  
वलदोषप्रमाणं ज्ञातव्यम् । आतुरस्य वलदोषप्रमाणज्ञानफलमाह—एतच्चैवेत्यादि ।  
एतच्चैव उक्तं तावत् कारणमवेक्षमाणा भिषजः हीनवलमातुरं तदातुराणाम्  
अविषादकरैर्मृदुसुकुमारप्रायैर्मृदुवीर्य्यसेवनसौख्यवाहुल्यैश्च पूर्व्वं वीर्य्यतः सौकु-

महौपधप्रमाणं भवति । विपर्य्ययेण व्याकरोति—अल्पवले रोगिणि अपरीक्षकप्रयुक्तमेवातिमात्रं  
भवेत्तीत्युक्तम्, न तु परीक्षकप्रयुक्तम् । प्राणहराणि स्युरिति अल्पवल इत्यर्थः । अविषादकरं  
शरीरमनसोरग्लानिकरम्, उत्तरोत्तरं प्रमाणलक्षणगुरुत्वं येषां तैः । तेन दुर्बले यदि  
महादोषः, स च भूममात्रभेजसंध्यस्तथापि तदात्वव्यापत्तिभयान्न सहसा भेजमूयस्त्वं कर्त्तव्यम्,  
किन्तुत्तरोत्तरमभ्यासवशाद् वलमपेक्ष्य भेजमूयस्त्वं कर्त्तव्यमिति दर्शयति । अविभ्रमैरिति

औषधैः, विशेषतश्च नारीः ; ता ह्यनवस्थितमृदुविवृतविकृव-  
हृदयाः प्रायः सुकुमारा अवलाः परमसंस्तभ्याश्च† । तथा बलवति  
बलवद्वाधिपरिगते स्वल्पबलमौषधमपरीक्षकप्रयुक्तमसाधकमेव  
भवति । तस्मादातुरं परीक्षेत प्रकृतितश्च विकृतितश्च सारतश्च

माय्यतश्च लघुभिरारभ्योत्तरोत्तरं गुरुभिर्वीर्यतः सौकुमाय्यतश्च गुरुभिः-  
अविभ्रमैः देहमनसोविशिष्टभ्रमकरत्वाभावैरनात्ययिकैरत्ययकरत्वाभावैश्चौषधैः  
उपचरन्ति, न त्वतिवलैराग्नेयादिभिरौषधैरग्निकारशस्त्रकर्मभिश्च । अल्पवलेषु  
अविषादकराद्यौषधोपचरणप्रसङ्गात् जातिमात्रेणाल्पबलत्वाद्वा स्त्रीणां तदौषधो-  
पचरणमाह—विशेषतश्चेत्यादि । विशेषतो नारीश्चाविषादकरैर्मृदुसुकुमार-  
प्रायैरुत्तरोत्तरं गुरुभिरविभ्रमैरनात्ययिकैश्चौषधैरुपचरन्त्येतच्चैव कारण-  
मवेक्षमाणा भिषजः । कुत इत्यत आह—ता इत्यादि । हि यस्मात् ता नाय्यौ-  
ऽनवस्थितमृदुविवृतविकृवहृदयाः अनवस्थितं न क्षणमप्येकरूपेणावस्थितं मृदु  
च विवृतं न संवृतं गोपनबुद्ध्या नावृतं विकृवं विशिष्टभयशीलं हृदयं षडङ्गाङ्ग-  
विज्ञानेन्द्रियतदर्थसगुणात्ममनसां स्थानं यासां तास्तथा । कृव पृभये इति  
कृवधातो रूपं विकृवम् । प्रायः बाहुल्येन सुकुमाराः प्रायोऽवलाश्च अल्पवलाः  
परमसंस्तभ्याः परमस्तम्भनीयाः न तु संशोधनीयास्तस्मादवलास्तु नारीः  
विशेषतोऽविषादकराद्यौषधैरुपचरन्ति एतत् कारणमवेक्षमाणा भिषज इति ।  
ननु हीनबलं बलवदौषधं प्रयुक्तमेवं व्यापत्तिं करोतु बलवन्तश्चाल्पबलमौषधं  
किं युक्तं न वेत्यत आह—तथेत्यादि । बलवति पुरुषेऽल्पबलव्याधिमति  
बलवद्वाधिपरिगते चाल्पवले वा असाधकं व्याधिनिवृत्तेरसाधकम् ।  
तस्मात् उक्तकारणात् आतुरं बलदोषप्रमाणज्ञानहेतोः प्रकृतितश्चेत्यादितो

पाककालेऽप्यविकारिकैः । अनात्ययिकैरिति न महाविपत्तिकरैः । यथोक्तगुणभेजं विशेषेण  
स्त्रीणां कर्त्तव्यमित्याह—विशेषत इत्यादि । हृदयशब्देन हृदयस्थं मन इति ज्ञेयम् । मृदुवृत्तम्  
अगम्भीरम् । विकृवं स्तोकल्लेशाभिभवनीयम् । अनेन च दुर्वलचेतस्त्वमुक्तम् । पर-  
संस्तभ्याः न स्वयमात्मानं सदवचनात् स्तम्भयन्ति । तथेत्यादिनाऽल्पप्रमाणभेजदोषमाह—बल-  
वद्व्याधिपरिगते इति वचनेनः य एव बलवान् व्याधिर्वलवत्, स दुर्बालभेजसाध्यः, यस्तु  
बलवतोऽप्यबलः, सोऽल्पभेजसाध्य एव परीक्षाहेतुमभिधाय यथा शरीरं परीक्षणीयं तदाह—

संहननतश्च प्रमाणतश्च सात्त्व्यतश्च सत्त्वतश्चाहारशक्तितश्च  
व्यायामशक्तितश्च वयस्तश्चेति बलप्रमाणविशेषग्रहण-  
हेतोः ॥ ८० ॥

तत्रेमान् प्रकृत्यादीन् भावाननुव्याख्यायामः । तद्  
यथा—शुक्रशोणितप्रकृतिं कालगर्भाशयप्रकृतिं मातुराहार-  
विहारप्रकृतिं महाभूतविकारप्रकृतिश्च गर्भशरीरमपेक्षते । एता

दशकतः परीक्षेत । प्रकृत्यादिज्ञानेनातुरस्य बलप्रमाणज्ञानं भवति, बलदोष-  
प्रमाणज्ञानेनातुरबलप्रमाणापेक्षो दोषप्रमाणानुरूपो भेदप्रमाणविशेषः कल्प-  
यितुं शक्यते भिपजेति बोध्यम् ॥ ८० ॥

गङ्गाधरः—ननु प्रकृत्यादयः कीदृशा इत्यत आह—तत्रेमानित्यादि ।  
तत्रादौ पुरुषाणां प्रकृतिं विवृणोति—तद् यथेत्यादि । शुक्रेत्यादि । मनुष्याणा-  
मित्यर्थात् बोध्यम् । तेन मनुष्याणां गर्भशरीरं शुक्रशोणितप्रकृतिं यादृशपुरुषस्य  
यादृशशुक्रं यादृशनार्या यादृशशोणितं तयोर्था प्रकृतिः । मातुः काल-  
गर्भाशयप्रकृतिं मातुः कैशोरयौवनतारुण्यप्रौढ्याद्यावस्थिककाले गर्भाशयस्य  
या प्रकृतिः । मातुराहारविहारप्रकृतिं गर्भाधाने सति मातुर्देयदाहारो-  
ऽभ्यवहरणं यथा यथा च विहारस्तयोर्था प्रकृतिः । महाभूतविकाराः शौक्रा  
आर्त्तवा आहारद्रव्यरसजा आत्मजाश्च वातादयश्चत्वारश्चतुर्विधास्तेषामाकाशस्य  
च या या प्रकृतिः, तां तां प्रकृतिमपेक्षते । यथाशुक्रं यथार्त्तवं यथाकाल-  
गर्भाशयानुरूपं मातुराहारविहारानुरूपञ्च महाभूतविकारानुरूपञ्च गर्भशरीरम्

तस्मादित्यादि । बलप्रमाणविशेषग्रहणहेतोर्इत्यत्र देहबलं दोषबलञ्च सामान्येन गृह्यते । येन  
विकृतिः शरीरज्ञानं दोषबलज्ञानहेतोर्भवति, तदेव “प्रकृत्यादीनां विकृतिवर्जानाम्” इत्यादिना  
बध्यति । किंवा बलं शरीरं बलमेवोच्यते, तत्र च विकृतिबलेनापि शरीरबलं बुध्यत इति कृत्वा  
इह सामान्येनोक्तम्, उत्तरत्र तु विकृत्या दोषप्रमाणं प्रायो विज्ञायत इति कृत्वा “विकृतिबल-  
त्रैविध्येन दोषबलत्रैविध्यमनुमीयते” इत्युक्तम् । प्रकृतिमिति स्वभावम् । एतानि तु शुक्रादीनि  
शुक्रशोणिते वा । यादृगवस्थो दोषस्तादृगर्थे प्रकृतिर्भवति, यथा शुक्रशोणितमेलककाले यो दोष-  
वत्कटो भवति स प्रकृतिमारभते, एवं गर्भाशयस्थश्च दोषः । मातुराहारविहारौ तत्कालीनौ यदोष-  
करणस्वभावौ, सा च प्रकृतिर्गर्भशरीरे भवति । एषु च प्रकृत्यारम्भकेषु कारणेषु यद्बलवद्भवति  
कारणान्तरवृत्तिञ्च, तदेव प्रकृत्यारम्भकं भवति । कालादयश्च शुक्रशोणितमेव कुर्वन्तः प्रकृतिजनका



हि येन येन दोषेण एकेन अधिकेन समेन वा अनुबध्यन्ते  
तेन तेन दोषेण गर्भोऽनुबध्यते । सा सा दोष-  
प्रकृतिरुच्यते सर्वमनुष्याणां गर्भादिप्रवृत्ता । तस्मात्  
श्लेष्मलाः प्रकृत्या केचित् पित्तलाः केचिद्वातलाः केचित्  
समधातवः केचिद् भवन्ति । तेषां लक्षणानि व्याख्या-  
स्यामः ॥ ८१ ॥

श्लेष्मा हि स्निग्धश्लक्ष्णमृदुमधुरसारसान्द्रमन्दस्तिमित-  
गुरुशीतविज्जलाच्छः । तस्य स्नेहात् श्लेष्मलाः स्निग्धाङ्गाः,  
श्लक्ष्णत्वात् श्लक्ष्णाङ्गाः, मृदुत्वाद् दृष्टिसुखसुकुमारावदाताङ्गाः,

अपेक्षते । हि यस्मात् गर्भशरीरापेक्षणीयास्तु एताः शुक्रशोणितप्रकृतिकाल-  
गर्भाशयप्रकृतिमात्राहारविहारप्रकृतिमहाभूतविकारप्रकृतयो भवन्ति । येन  
येन एकेनाधिकेन समेन वा दोषेण वातपित्तकफरूपेणानुबध्यन्ते, तेन तेनैकेना-  
धिकेन समेन वा दोषेण गर्भोऽनुबध्यते तदारब्धत्वात् तदाकरत्वाच्च । तस्मात्  
स्वप्रकृतिशुक्रशोणिताद्यनुबन्धकदोषानुबन्धत्वात् सा सा स्वप्रकृतिशुक्र-  
शोणिताद्यनुबन्धकदोषप्रकृतिर्मनुष्याणां गर्भादिप्रवृत्ता उच्यते, तस्मात् तेन तेन  
दोषेण प्रकृतिव्यपदेशात् केचित् प्रकृत्या श्लेष्मलाः केचित् प्रकृत्या पित्तलाः  
केचित् प्रकृत्या वातलाः केचित् समधातवः प्रकृत्या भवन्ति । एषां स्वस्थत्वम्  
आतुरत्वञ्च स्वास्थ्यचतुष्के व्याख्यातं तथा रोगानीकविमाने व्याख्यातम् ॥ ८१

गङ्गाधरः—श्लेष्मा हीत्यादि । सारं प्रसादरूपं, विज्जलः पिच्छिलः, अच्छः  
वैमल्यवान् । श्लेष्मणः प्रतिगुणतः श्लेष्मलानां लक्षणान्याह—तस्य स्नेहादि-  
त्यादि । तस्य श्लेष्मणः । तस्येत्यस्य सर्वत्रैवान्वयः । श्लक्ष्णाङ्गा अकर्कशाङ्गाः,  
दृष्टिसुखसुकुमारावदाताङ्गाः दर्शने सुखजनकं सुकुमारं मृदुभूतमवदातं

भवन्तीति । तन्त्रान्तरे शुक्रशोणितगतदोषेणैव प्रकृत्युत्पादो दर्शितः । गर्भादिप्रवृत्तेति गर्भस्यादि-  
मेलके प्रवृत्ता । समैर्दोषैर्वृद्धैर्गर्भजन्मैव न भवति इति विकृतदोषत्रयं प्रकृतेरारम्भकमिति  
ज्ञेयम् । प्रकृतिविकारश्च सूत्रस्थान एव व्याकृतः ॥ ८०।८१ ॥

चक्रपाणिः—मृदुत्वं जलकृतम्, जलञ्चावदातमिति मृदुत्वादेवावदातत्वम् । अशीघ्रशब्दः

माधुर्यात् प्रभूतशुक्रव्यापत्याः, सारत्वात् सारसंहत-  
स्थिरशरीराः, सान्द्रत्वादुपचितपरिपूर्णसर्वाङ्गाः, मन्दत्वान्मन्द-  
चेष्टाहारव्यहाराः, स्तैमित्यादशीघ्रास्मक्षोभविकाराः, गुरु-  
त्वात् साराधिष्ठितगतयः, शैत्यादल्पक्षुत्तृष्णासन्तापस्वेददोषाः,  
विज्जलत्वात् सुश्लिष्टसारसन्धिवन्धनाः, तथाच्छत्वात् प्रसन्न-  
दर्शनाननाः प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वराश्च भवन्ति । त एवंगुण-  
योगात् श्लेष्मला बलवन्तो वसुमन्तो विद्यावन्त ओजस्विनः  
शान्ता आयुष्मन्तश्च भवन्ति ॥ ८२ ॥

निर्मलमङ्गं येषां ते तथा । प्रभूतानि बहूनि शुक्रव्यापत्यानि येषां  
ते तथा । सारसंहतस्थिरशरीराः सारं बहुसारात्मकं संहतं निविडं  
स्थिरम् अचलं शरीरं येषां ते तथा । उपचितपरिपूर्णसर्वाङ्गाः उपचितानि  
समृद्धानि परिपूर्णानि अहीनानि सर्वाणि अङ्गानि येषां ते तथा ।  
मन्दचेष्टाहारव्याहाराः मन्दा अल्पाश्चेष्टा क्रियाश्चाहाराश्च व्याहाराः वाचश्च  
येषां ते तथा । अशीघ्रास्मक्षोभविकाराः अंशीघ्रं चिरेण कालेन आरम्भः शरीर-  
वाक्मनःप्रवृत्तिः क्षोभो मनसोऽकस्मात् क्षुब्धता विकारो मनसो वा शरीरस्य  
वा वैषम्यं येषां ते तथा । साराधिष्ठितगतयः सारेणाधिष्ठिताः प्रमत्त-  
गजेन्द्राणामिव गतयो येषां ते तथा । अल्पक्षुत्तृष्णासन्तापस्वेददोषा इति  
दोषपदेन दोषजव्याधावपि तृष्णादीनामल्पत्वमिति ख्यापितम् । विज्जल-  
त्वात् पैच्छिल्यात् । सुश्लिष्टसारसन्धिवन्धनाः सुष्ठु श्लिष्टानि संयुक्तानि सार-  
रूपेण सन्धीनां बन्धनानि येषां ते तथा । प्रसन्नदर्शनाननाः प्रसादरूपेण दर्शनं  
वस्तूनां दृष्टिराननश्च येषां ते तथा । प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वराः प्रसन्नौ च  
स्निग्धौ वर्णस्वरौ येषां ते तथा । वर्णप्रसादः स्निग्धवर्णत्वं प्रसन्नस्वरता श्रुत-  
मधुरस्वरता चेत्यर्थः । त एवंगुणयोगादिति ते श्लेष्मलाः पुरुषा एवमुक्त-  
गुणयोगात् । बलवन्त इति बलं विपुलतया वर्तते येषां ते बलवन्तः ।

आरम्भादिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । सारगतयो न स्वल्पन्ति, अधिष्ठितगतयः सर्व्वेण पादेन  
महीमाक्रमन्ति । अवस्थितगतयः अवस्थितत्वेन पादगतिर्भवति । प्रसन्ने दर्शनानने यस्य स  
तथा । वसुमत्त्वादि प्रकृतिरूपं यद् भवति, तत् प्रकृतिभावाज ज्ञेयम् ॥ ८२ ॥

पित्तमुष्णं तीक्ष्णं द्रुतं विस्त्रमम्लं कटुकञ्च । तस्यौष्ण्यात्  
 पित्तला भवन्त्युष्णासहाः, शुष्कसुकुमारावदातगात्राः, प्रभूत-  
 पिप्लुव्यङ्गतिलकपिडकाः, क्षुत्पिपासावन्तः, क्षिप्रवलिपलित-  
 खालित्यदोषाः, प्रायो मृदुकपिलाल्पश्मश्रुलोमकेशाः ; तैक्ष्ण्यात्  
 तीक्ष्णपराक्रमास्तीक्ष्णामयः प्रभूताशनपानाः बलेशासहिष्णवः  
 दन्दशूकाः ; द्रवत्वाच्छिथिलमृदुसन्धिवन्धमांसाः प्रभूतसृष्ट-  
 स्वेदमूत्रपुरीषाः ; विस्त्रत्वात् प्रभूतपूति-❁-कक्षास्यशिरःशरीर-  
 गन्धाः ; कटुम्लत्वादल्पशुक्रव्यवायापत्याः । त एवंगुणयोगात्  
 पित्तला मध्यवला मध्यायुषो मध्यज्ञानविज्ञानवित्तोपकरणवन्तश्च  
 भवन्ति ॥ ८२ ॥

ओजस्विन इति ओजो बलहेतुधातुविशेषस्तद्वन्तः । आयुष्मन्त इति  
 दीर्घायुष्मन्तः, एतेनायुःप्रमाणज्ञानहेतोरतुरपरीक्षायामातुरस्य बलदोषप्रमाण-  
 ज्ञानेषु प्रकृतितः परीक्षापेक्षत्वात् पूर्वं बलदोषप्रमाणज्ञानहेतोरतुरपरीक्षा उच्यते  
 इति ज्ञापितम् ॥ ८२ ॥

गङ्गाधरः—पित्तप्रकृतिकानां लक्षणार्थमाह—पित्तमित्यादि । द्रुतं द्रवम्,  
 विस्त्रमामगन्धि । तस्येति पित्तस्य, उष्णासहाः उष्णं सोढुमशक्ताः, शुष्क-  
 सुकुमारावदातगात्राः शुष्कं निःस्नेहमथच सुकुमारमवदातञ्च निर्मलं गात्रं  
 येषां ते तथा । प्रभूतपिप्लुव्यङ्गतिलकपिडकाः प्रभूता बहुलाः मुखव्यङ्गाः  
 पिप्लवः शरीरदेशे व्यङ्गास्तिलकास्तिलकालकाः पिडकाश्च येषां ते तथा ।  
 क्षुत्पिपासावन्तः अधिकक्षुत्तृष्णावन्तः । तैक्ष्ण्यादित्यादि स्पष्टम् । द्रवत्वाद्  
 इत्यादि च स्पष्टम् । विस्त्रत्वादित्यादि । प्रभूतपूतयो दुष्टाः कक्षादीनां गन्धा येषां  
 ते तथा । कटुम्लत्वादित्यादि स्पष्टम् । त एवमित्यादि मध्यानि ज्ञानं शास्त्रज्ञानं  
 विज्ञानं तदर्थनिश्चयः वित्तं धनम् उपकरणं दोलाश्चगजादि, तानि सन्ति येषां  
 तेषाम् ॥ ८३ ॥

चक्रपाणिः—दन्दशूकाः पुनःपुनर्भक्षणशीलाः ; प्रभूताशनस्तु बहुभक्षणत्वेन । पूतिर्वक्षः-

\* प्रभूतपूतिवक्षःकक्षेत्यादि पाठः चक्रसम्मतः ।

वातस्तु खलु रुन्लघुचलवहुशीघ्रशीतपरुषविशदः । तस्य  
रौक्ष्याद्वातला रुन्नापचिताल्पशरीराः प्रततरुन्नामभिन्नसक्त-  
जर्जरस्वरा जागरुकाश्च भवन्ति । लघुत्वाल्लघुचपलगतिचेष्टाहार-  
विहाराः, चलत्वादनवस्थितसन्ध्यन्निभ्रू हन्वोष्ठजिह्वाशिरःरक्न्ध-  
पाणिपादाः, बहुत्वाद् बहुप्रलापकण्डराशिराप्रतानाः, शीघ्रत्वात्  
शीघ्रसमारम्भन्नोभविकाराः शीघ्रवासरगावरागाः श्रुतग्राहिणः  
अल्पस्मृतयश्च, शीतत्वाच्छीतासहिष्णवः प्रततशीतकोद्वेपक-  
स्तम्भाः, पारुण्यात् परुषकेशश्मश्रुलोमनखदन्तवदनपाणि-  
पादाः, वैश्यात् स्फुटताङ्गावयवाः सततसन्धिश्चदगामिनश्च  
भवन्ति । त एवंगुणयोगाद्वातलाः प्रायोऽल्पबलाश्चाल्पायुष-  
श्चाल्पापत्याश्चाल्पसाधनाश्चाल्पधनाश्च भवन्ति ॥ ८४ ॥

गङ्गाधरः—वातप्रकृतिलक्षणार्थमाह—वातस्त्वित्यादि । रुक्षादिविशदान्तो  
द्वन्द्वस्ततः परं मतर्थीयोऽचप्रत्ययः । तस्येति वातस्य । रुक्षमपचितं कृशमल्पं ह्रस्वं  
शरीरं येषां ते तथा । प्रततेत्यादि । प्रततं निरन्तरं विस्तरेण वा रुक्षः कर्कशः  
क्षामः क्षीणः भिन्नो भङ्गरूपः सक्तोऽव्यक्तः जर्जरः असंहतः स्वरो येषां ते तथा,  
जागरुकाश्च भवन्ति । लघुत्वात् लाघवात् लघु शीघ्रं चपला चञ्चलरूपा गतिश्च  
चेष्टा चाहारश्च विहारश्च येषां ते तथा, लघुचपलयोः सव्वत्रान्वयः । अनवस्थिताः  
अस्थिराः सन्ध्यादयो येषां ते तथा, बहुत्वादिति विच्छेदस्वभावात्, शीघ्रत्वात्  
शीघ्रकरत्वात् शीघ्रसमारम्भादयः अचिरात् समारम्भादयस्त्रासादयश्च, श्रुत-  
ग्राहिणः श्रुतमात्रं ग्रहीतुं धारयितुं शीलं येषां ते तथा, अल्पस्मृतयश्चेत्यचिर-  
स्थायिस्मृतयः, शीतासहिष्णवः शीतं सोढुमशीलाः, प्रततं शीतकं गैत्यम्  
उद्वेपक उत्कम्पता स्तम्भश्च येषां ते तथा, परुषाः निःस्नेहत्वेन स्वराः केशादयो  
येषां ते तथा, स्फुटिताः पाटिता अङ्गावयवा येषां ते तथा, सततं गमने  
प्रभृतिषु गन्धो येषां ते तथा । प्रततः प्रसृतः । भिन्नो भग्नपात्रध्वनिसमः । मन्दो हीनः ।  
सक्तो वद्धः । सततसन्धिश्चदगामिन इति सन्धिस्फुटनश्चदवन्तः ॥ ८३।८४ ॥

\* इतः परं मन्द इत्यधिकः पाठः क्वचित् ।

संसर्गात् संसृष्टलक्षणाः, सर्वगुणसमुदितास्तु समधातवः ।  
इत्येवं प्रकृतितः परीक्षेत ॥ ८५ ॥

विकृतितश्चेति । विकृतिरुच्यते विकारः । तत्र विकारं हेतु-  
दोषदूष्यप्रकृतिदेशकालबलविशेषैर्लिङ्गतश्च परीक्षेत । न ह्यन्तरेण  
हेत्वादीनां बलविशेषं व्याधिबलविशेषोपलब्धिः । यस्य हि व्याधे-  
र्दोषदूष्यप्रकृतिदेशकालसाम्यं भवति महच्च हेतुलिङ्गबलम्,  
सं व्याधिर्बलवान् । तद्विपर्ययश्चाल्पबलः, मध्यबलस्तु दोषदूष्या-  
दीनामन्यतमसामान्याद्धेतुलिङ्गमध्यबलत्वाच्चोपलभ्यते ॥ ८६ ॥

सन्धयः शब्दायन्ते येषां तथाविधं गन्तुं शीलं येषां ते सततसन्धिशब्दगामिनः,  
प्रायेणाल्पबलाः क्वचिन्मध्यमबला अपि भवन्ति । शेषमेवं स्पष्टम् ॥ ८४ ॥

गङ्गाधरः—संसृष्टत्वात् कफादीनां द्विकाः संसर्गात् संसृष्टलक्षणा उक्त-  
कफादीनां लक्षणानां तत्तद्दोषप्राकृतलक्षणाः । सर्वगुणसमुदितास्तु  
सर्वेषां वातपित्तकफानां प्रकृतिस्थानां सर्वे गुणाः समुदिता येषां ते  
तथा ॥ ८५ ॥

गङ्गाधरः—क्रमिकत्वात् विकृतितश्चातुरस्य परीक्षां दर्शयति—विकृतित-  
श्चेत्यादि । विकृतिरुच्यते विकार इति । विकारोऽत्र धातुवैषम्यनिमित्तो  
ज्वरादिः । न तु धातुवैषम्यं ज्वरादितोऽनुमेयत्वेनाप्रत्यक्षत्वात् । हेतुना दोषेण  
दूष्येण प्रकृत्या देशेन कालेन बलेन लिङ्गतश्च परीक्षेत । कुतो हेत्वादिविशेषैः  
लिङ्गतश्च परीक्षेत विकृतिमिति ? अत आह—न हीत्यादि । हेत्वादीनां  
बलविशेषमन्तरेण यस्माद्वाधिवलविशेषोपलब्धिर्न भवति । कुत इत्यत आह—  
यस्येत्यादि । तद्विपर्ययः दोषदूष्यादीनामसाम्यम् । दोषदूष्यादीनामन्यतम-  
सामान्याद्धेतुलिङ्गमध्यबलत्वाच्च । हेतुरसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगादिः ॥ ८६ ॥

चक्रपाणिः—सर्वगुणसमुदिता इति सर्वप्रकृतियुक्ताः प्रशस्तगुणयुक्ताः—यदुक्तं वाग्भटे—  
“समधातुः समस्तासु श्रेष्ठः” इति । यदि च प्रशस्तगुणता न स्यात्, न तदा श्रेष्ठत्वं स्यात् ।  
साम्यस्थिताश्च दोषाः साम्यप्रभावादेव गुणान् परान् कुर्वन्ते, न दोषान् इति ज्ञेयम् । साम्यं  
भवतीति परस्परतुल्यगुणता भवति । महच्च हेतुलिङ्गबलमिति हेतवो लिङ्गानि च बलवन्ति

\* बल इत्यधिकः पाठः कचिद दृश्यते ।

सारतश्चेति । साराण्यष्टौ पुरुषाणां बलमानविशेषज्ञानार्थम्  
उपदिश्यन्ते त्वग्-रक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रसत्त्वानीति ।

तत्र स्निग्धश्लक्ष्णवृद्धप्रसन्नसूक्ष्माल्पगम्भीरसुकुमारलोमा स-  
प्रभेव च त्वक् त्वक्सारारणाम् । सा सारता सुखसौभाग्यैश्वर्योप-  
भोगवृद्धिविद्यारो-यप्रहर्षणान्यायुश्चानित्वरमाचष्टे ॥ ८७ ॥

कर्णाक्षिमुख-जिह्वानासौष्ठपाणिपादतल-नख-ललाट-मेहनं  
स्निग्धरक्तवर्णं श्रीमद् भ्राजिष्णु रक्तसारारणाम् । सा सारता  
सुखमुद्धतां मेधां मनस्वित्वं सौकुमार्यमनतिबलमुष्णासहिष्णुतां  
चाचष्टे ॥ ८८ ॥

शङ्खललाटकृकाटिकानिगण्डहनुग्रीवास्कन्धोदर-कक्ष-वक्षः-  
पाणिपादसन्धयरत्न स्थिरगुरुशुभमांसोपचिता मांससारारणाम् ।  
सा सारता क्षमां धृतिमलौल्यं वित्तं विद्यां सुखमाज्जवं बल-  
मारोग्यमायुश्च दीर्घमाचष्टे ॥ ८९ ॥

गङ्गाधरः—सारतः परीक्षामाह—सारतश्चेत्यादि । सत्त्वं मनः, न तु सत्त्व-  
गुणः तदाश्रयत्वात् । तत्रेत्यादि स्पष्टम् । सा सारतेत्यादि स्पष्टार्थम् । आयु-  
श्चानित्वरम् अगत्तरमायुश्चाचष्टे व्यनक्ति ॥ ८७ ॥

गङ्गाधरः—रक्तसारारणां पुंसां स्निग्धरक्तं श्रीमद् भ्राजिष्णु च कर्णादिकम् ।  
उद्धतां विपुलां मेधाम् । अनतिवर्णं मध्यबलम् ॥ ८८ ॥

गङ्गाधरः—शङ्खो ललाटकदेशः, ललाटो ललाटस्य मध्यमदेशः । कृकाटिका  
घाटा । एते शङ्खादयः स्थिरा गुरुवश्च शुभाश्च मांसोपचिताश्च भवन्ति । वर्णं  
दीर्घम् अतुलम्, आयुश्च दीर्घम् ॥ ८९ ॥

मूयांसि च । अन्यतमसामान्यादिति दोषादीनां सामान्ये केनचित् केनचिदसामान्ये सति  
इत्यर्थः ॥ ८५।८६ ॥

चक्रपाणिः—सारतश्चेत्यादौ सारशब्देन विशुद्धनरो धातुरुच्यते । सप्रभेति प्रभायुक्ता ।  
त्वक्सारारणामिति च्छेदः । तथैवं सारता किं करोतीत्याह—सा सारतेत्यादि । एवमन्यत्रापि  
सारतेति व्याख्यातव्यम् ॥ ८७ ॥

वर्णस्वरनेत्रकेशलोमनखदन्तौष्ठमूत्रपुरीषेषु विशेषेण स्नेहः  
मेदःसाराणाम् सा सारता वित्तैश्चर्यसुखोपभोगदैन्याज्ज्वं  
सुकुमारोपचारताञ्चाचष्टे ॥ ६० ॥

पाष्णिगुल्फजान्वरत्निजत्रुचिवुकशिरःपर्वस्थूलाः स्थूलास्थि-  
नखदन्ताश्चास्थिसाराः । ते महोत्साहाः क्रियावन्तः क्लेशसहाः  
सारस्थिरशरीरा भवन्त्यायुष्मन्तश्च ॥ ६१ ॥

मृद्वङ्गा बलवन्तश्च स्निग्धवर्णस्वराः स्थूलदीर्घवृत्तसन्धयश्च  
मज्जसाराः । ते दीर्घायुषो बलवन्तः श्रुतविज्ञानवित्तापत्य-  
सम्मानभाजश्च भवन्ति ॥ ६२ ॥

सौम्याः सौम्यप्रेक्षिणः क्षीरपूर्णलोचना इव प्रहर्षबहुलाः  
स्निग्धवृत्तसारसमसंहतशिखरदशनाः प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वराः  
भ्राजिष्णवो महास्फिचश्च शुक्रसाराः । ते स्त्रीप्रियाः प्रियोपभोगाः \*  
बलवन्तः सुखारोग्यवित्तैश्चर्यसम्मानापत्यभाजश्च भवन्ति ॥ ६३ ॥

गङ्गाधरः—मेदःसाराणां वर्णादिषु स्नेहः, वित्तं धनादि, ऐश्वर्यं  
प्रभुता ॥ ९० ॥

गङ्गाधरः—अस्थिसाराः स्थूलपाण्ड्यादयः स्थूलास्थिदन्ताश्च । तेऽस्थि-  
सारा महोत्साहादिमदादयः सारस्थिरशरीराः साररूपेण स्थिरमचलं शरीरं  
येषां ते तथा ॥ ९१ ॥

गङ्गाधरः—मज्जसारास्तु मृद्वङ्गादयः । स्थूलाश्च दीर्घाश्च वृत्ताश्च सन्धयो  
येषां ते तथा । ते मज्जसाराः श्रुतमधीतं विज्ञानादिकश्च भजन्ते ॥ ९२ ॥

गङ्गाधरः—शुक्रसारास्तु सौम्या इत्यादयः । प्रहर्षबहुला मैथुनबहुलाः ।  
स्निग्धाश्च वृत्ताश्च सारभूताश्च समाश्च संहताश्च शिखरदशना येषां ते तथा ।  
स्त्रीप्रियाः स्त्रीणां प्रियाः ॥ ९३ ॥

चक्रपाणिः—श्रीमदिति शोभायुक्तम् । अरत्निः कफोणिका । शिखरदशना शोभनदशनाः ।

\* स्त्रीप्रियोपभोगा इति चक्रः ।

स्मृतिमन्तो भक्तिमन्तः कृतज्ञाः प्राज्ञाः शुचयो महोत्साहा  
दक्षा धीराः समरविक्रान्तयोधिनस्त्यक्तविपादाः सुव्यवस्थितगति-  
गम्भीरबुद्धिचेष्टाः कल्पनाभिनिवेशिनश्च ॥ सत्त्वसाराः, तेषां  
स्वलक्षणैर्गुणा व्याख्याताः ॥ ६४ ॥

तत्र सर्वैः सारैरुपेताः पुरुषा भवन्त्यतिवलाः परमसुख-  
युक्ताः क्लेशसहाः सर्वारम्भेष्व्वात्मनि जातप्रत्ययाः कल्याणाभि-  
निवेशिनः स्थिरसमाहितशरीराः सुसमाहितगतयः सानुनाद-  
स्निग्धगम्भीरमहानिस्वनाः सुखैश्वर्यवित्तोपभोगसम्मानभाजो  
मन्दजरसो मन्दविकाराः प्रायस्तुल्यगुणविस्तीर्णापत्याश्चिर-  
जीविनश्च ॥ ६५ ॥

गङ्गाधरः—स्मृतिमन्त इत्यादि । समरविक्रान्तयोधिनः समरे मल्लयुद्धे वा  
शस्त्रास्त्रयुद्धे वा वागयुद्धे वा व्यवहारयुद्धे वा विक्रान्ताः सन्तो योद्धुं शीलं  
येषां ते तथा । सुव्यवस्थिता गतिगम्भीरा बुद्धिचेष्टा च येषां ते सुव्यवस्थित-  
गतिगम्भीरबुद्धिचेष्टाः । कल्पनाभिनिवेशिनः कल्पनायां कल्पनीकरणेऽभि-  
निवेशशीलाः । तेषां स्वलक्षणैः स्मृतिमत्तादिभिर्गुणाः कर्माणि व्याख्याताः ।  
स्मृतिमत्तादिकार्याणि स्मृत्यादीनि भवन्तीत्यर्थः ॥ ६४ ॥

गङ्गाधरः—एतैः सारैर्वलभेदान् दर्शयति—तत्रेत्यादि । सर्वारम्भेषु  
सर्व्वसु क्रियासु समर्थत्वेनात्मनि प्रत्ययशालिनः । कल्याणे शुभेऽभि-  
निवेशिनः । स्थिरं समाहितं संहतं शरीरं येषां ते तथा । सुसमाहितगतयः सुष्ठु  
समाहिता गतिर्येषां ते तथा । सानुनादस्निग्धगम्भीरमहानिस्वनः अनुनादेन  
सह वर्त्तमानः स्निग्धो गम्भीरश्च महान् निस्वनो येषां ते तथा, प्रतिध्वनिजनक-  
स्निग्धगम्भीरमहानादा इत्यर्थः । मन्दा अल्पा जरा येषां ते तथा । मन्द-  
विकारा अल्परोगवन्तः । प्रायस्तुल्यगुणा विस्तीर्णा येषां तान्यपत्यानि येषां  
ते तथा ॥ ६५ ॥

स्त्रीप्रिय उपभोगः संभोगो येषां ते तथा । समरे विक्रम्य योधयन्तीति समरविक्रान्तयोधिनः ।  
अवस्थिता इति परिस्थिताः । तुल्यगुणविस्तीर्णापत्या इति जनितात्मसदृशापत्याः । प्रायः-

• कल्याणाभिनिवेशिनश्च इति पाठान्तरम् ।



अतो विपरीतास्त्वसाराः । मध्यानां मध्यैः सारविशेषैर्गुण-  
विशेषा व्याख्याताः । इति साराण्यष्टौ पुरुषाणां बलप्रमाण-  
विशेषज्ञानार्थमुपदिष्टानि भवन्ति ॥ ६६ ॥

कथं नु शरीरमात्रदर्शनादेव भिषगत्र मुह्येदयमुपचितत्वाद्  
बलवानयमल्पबलः कृशत्वादयं महाबलवान् महाशरीरत्वादय-  
मल्पशरीरत्वाद् दुर्बल इति । दृश्यन्ते ह्यल्पशरीराः कृशाश्चैके  
बलवन्तः, तत्र पिपीलिकाभारवहनवत् सिद्धिः । अतश्च सारतः  
परीक्षा इत्युक्तमेव ॥ ६७ ॥

संहननतश्चेति । संहननं संहतिः \* संयोजनमित्येकोऽर्थः ।  
तत्र समसुविभक्तास्थि सुवद्धसन्धि सुनिविष्टमांसशोणितं सुसंहतं

गङ्गाधरः—अतोऽष्टसारेभ्यो विपरीता भिन्नलक्षणयुक्ता असाराः । मध्यैः  
सारविशेषैरेकद्विसारलक्षणेतरसारलक्षणैर्मध्यानां मध्यसाराणां गुणविशेषाः  
तदेकद्विसारगुणेतरगुणविशेषा व्याख्याताः । एतेन असारा अल्पबला अल्पायुषश्च  
भवन्ति । मध्यसारा मध्यबला मध्यायुषश्च भवन्ति इति बोध्यम् ॥ ६६ ॥

गङ्गाधरः—एतदष्टसारादीनामतिबलादिवचने संशयमाह—कथमित्यादि ।  
बलवानिति उपचितबलवान्, महाबलोऽतिशयबलवान्, दुर्बलः क्षीणबलः,  
अल्पबलस्तु स्वाभाविकाल्पत्वात् भेदः । मोहं दर्शयितुमुत्तरमाह—दृश्यन्ते  
ह्यल्पेत्यादि । अतश्च शरीरमात्रदर्शनादेवातिबलादीनां ज्ञानाभावात् सिद्धि-  
र्भवति सारतः परीक्षा इत्युक्तम् । सारतः परीक्षां विना पिपीलिकाभारवहनं  
न हि शरीरमात्रदर्शनात् महाबलज्ञानेन भवति ॥ ६७ ॥

गङ्गाधरः—अथ संहननतश्चातुरपरीक्षामाह—संहननतश्चेत्यादि । संहननं  
विपरीतुं तत्पर्यायमाह—संहननमिति । समसुविभक्तेत्यादि । समं यथा-  
योग्यं सुष्ठु विभक्तमस्थि यत्र तत्, सुष्ठु बद्धाः सन्धयो यत्र तत्, सुष्ठु निविष्टे  
शब्देन नियमनं निषेधयति । मध्यानामिति स्तोकसाराणाम् । मध्यैः सारविशेषैरिति ये यत्र  
सम्भवन्ति सारास्तथा सारमूतैरित्यर्थः । उपचितत्वादिति स्थूलत्वात् । महाशरीरत्वादिति

शरीरमित्युच्यते । तत्र सुसंहतशरीराः पुष्पा चलवन्तो  
विपर्ययेणाल्पवलाः प्रवरावरमध्यत्वात् संहननस्य मध्य-  
वला भवन्ति ॥ ६८ ॥

प्रमाणतश्चेति । शरीरप्रमाणं पुनर्यथास्वेनाङ्गुलिप्रमाणेन  
उपदिश्यते, उत्सेधविस्तारायामैर्यथाक्रमम् । तत्र पादौ चतु-  
र्दशाङ्गुलौ, जङ्घे त्र्यष्टादशाङ्गुले षोडशाङ्गुलिपरिधिपे च, जानुनी  
चतुरङ्गुले षोडशाङ्गुलिपरिधिपे च, त्रिंशद्दशाङ्गुलिपरिधिवष्टा-

मांसशोणिते यत्र तत् सुसंहतं शरीरम् । सुसंहतशरीरमुणमाह—तत्रेत्यादि ।  
चलवन्त इति अल्पमध्यवलभिन्नवलाः । विपर्ययेण असुसंहतशरीरा  
असुसंहननन्तु सुसंहननभिन्नरूपं किञ्चित्संहतशरीरत्वात् । प्रवरावर-  
मध्यत्वात् संहननस्य प्रवरः सुसंहननलक्षणवत्ता, अवरस्तद्विपर्ययलक्षणवत्ता न  
सुसंहननलक्षणवत्ता नामसंहननलक्षणवत्ता ताभ्याश्च मध्यत्वात् मध्यमवला  
भवन्ति इति युक्तिः ॥ ९८ ॥

गङ्गापरः—अथ प्रमाणतः परीक्षामाह—प्रमाणतश्चेत्यादि । यथास्वेन स्व-  
स्वाङ्गुलिप्रमाणेन । उत्सेध इत्युच्यते, विस्तार इति विस्तीर्णत्वात्, आयाम इति  
दैर्घ्यात् । स्वेन स्वेनाङ्गुलीमानेन पादौ चतुर्दशाङ्गुलौ । सुश्रुते तु स्वैरङ्गुलिमानैः  
पादाङ्गुलप्रदेशिन्यौ द्वाङ्गुलायते । प्रदेशिन्यास्तु मध्यमानामिकाकनिष्ठाः  
यथोत्तरं पञ्चमभागहीनाः । चतुरङ्गुलायते पञ्चाङ्गुलविस्तृते प्रपदपादतले । पञ्च-  
चतुरङ्गुलायतविस्तृता पाणिश्चतुर्दशाङ्गुलायतः पाद इति सुश्रुतः । जङ्घे त्र्यष्टा-  
दशाङ्गुले, षोडशाङ्गुलिपरिक्षिपे षोडशाङ्गुलिपरिणाहे । अष्टादशाङ्गुला जङ्घा  
इति सुश्रुतः । किन्तु चतुर्दशाङ्गुलपरिणाहानि पादगुल्फजङ्घाजानुमध्यानीति  
वचनेन विरोधेऽपि दीर्घायुष्टव्याघाताभावो बोध्यः । जानुनी चतुरङ्गुले

अतिप्रमाणशरीरत्वात् । पिपीलिकाभारहरणवदिति स्वल्पा पिपीलिका यथा सारशरीरस्वेन महान्तं  
भारं नयन्ति, तथान्ये कृशशरीराश्चेत्यर्थः । सङ्घात इति निविडसन्धान इत्यर्थः ॥ ८८—९८ ॥

चक्रपाणिः—प्रमाणतश्चेत्यादिना प्रशस्तं प्रमाणमङ्गावयवानामित्याह । पादौ उत्सेधेन  
चत्वारि, विस्तारेण षट्, दैर्घ्येण चतुर्दशाङ्गुलानीति यथाक्रमं भवतः । जङ्घा जान्वध उच्यते ।

दशाङ्गुलावूरु, षडङ्गुलिदीर्घौ वृषणावष्टाङ्गुलिपरिणाहौ, शेफः  
षडङ्गुलिदीर्घं पञ्चाङ्गुलिपरिणाहम्, द्वादशाङ्गुलिपरिणाहो भगः,  
षोडशाङ्गुलिविस्तारा कटी, दशाङ्गुलं वस्तिशिरः, द्वादशाङ्गुल-  
मुदरं दशाङ्गुलिविस्तीर्णञ्च, दशाङ्गुलिविस्तीर्णो द्वादशाङ्गुलायामे  
पार्श्वे, द्वादशाङ्गुलं स्तनान्तरम्, द्वाङ्गुलं स्तनपर्यन्तम्, चतु-  
र्विंशत्यङ्गुलविशालं द्वादशाङ्गुलोत्सेधमुरः, त्र्यङ्गुलं \* हृदयम्,  
अष्टाङ्गुलौ रक्न्धौ, षडङ्गुलावंसौ, षोडशाङ्गुलौ बाहू, पञ्चदशा-

षोडशाङ्गुलपरिणाहे । त्रिंशदङ्गुलिपरिक्षिपौ त्रिंशदङ्गुलिपरिणाहौ ऊरू, अष्टा-  
दशाङ्गुलौ दैर्घ्ये ऊरू भवतः । द्वात्रिंशदङ्गुलपरिणाहावूरु इति सुश्रुतो मिलितोरु-  
द्वयाभिप्रायेण जङ्घायामसमावूरु इति सुश्रुतः । षडङ्गुलिदीर्घौ वृषणौ  
अष्टाङ्गुलपरिणाहौ । द्वाङ्गुलानि वृषणचिवुकदशननासापुटभगकणमूलनयना-  
न्तराणि । शेफः षडङ्गुलिदीर्घं पञ्चाङ्गुलिपरिणाहम् । शेफः शिरः । चतुरङ्गु-  
लानि मेहनवदनान्तरनासाकर्णललाटग्रीवोच्छ्रायदृष्टान्तराणि इति सुश्रुतः ।  
द्वादशाङ्गुलिपरिणाहो भगः । भग इति स्त्रीलिङ्गम् । द्वादशाङ्गुलानि भगविस्तार-  
मेहननाभिहृदयग्रीवास्तनान्तरमुखायाममणिवन्धकोष्ठस्थौल्यानीति सुश्रुतः ।  
षोडशाङ्गुलिविस्तारा कटी, (अष्टादशाङ्गुलमाना) तत्प्रमाणा स्त्रीश्रोणिरिति ।  
दशाङ्गुलं वस्तिशिरः । वस्तिशिर इन्द्रवस्तिः । इन्द्रवस्तिपरिणाहांसपीठकूर्प-  
रान्तरायामः षोडशाङ्गुल इति सुश्रुतः । द्वादशाङ्गुलमुदरं दशाङ्गुलिविस्तारम् ।  
दशाङ्गुलिविस्तीर्णं द्वादशाङ्गुलायामे पार्श्वे । पार्श्वे इति द्वे पार्श्वे प्रतिपार्श्वम्  
उक्तमानं बोध्यम् । द्वादशाङ्गुलं स्तनान्तरम् । स्तनान्तरं स्तनतटम् । द्वाङ्गुलं  
स्तनपर्यन्तम् स्तनान्तदेशः । चतुर्विंशत्यङ्गुलविशालं द्वादशाङ्गुलोत्सेधमुर  
इति वक्षः । तत्र त्र्यङ्गुलं हृदयम्, हृदयं जीवात्मधारणस्थानम् । सुश्रुतश्च  
अष्टादशाङ्गुलविस्तीर्णमुर इत्याह । अष्टाङ्गुलौ स्कन्धौ । प्रतिस्कन्धमष्टाङ्गुलम् ।

परिक्षेपः परिणाहः । जानुजङ्घोरुसन्धिपरिणाहपरिमाणञ्च यदुच्यते, तन्मध्यस्थानस्य, तेन सह  
परिणाहमानेषु जङ्घादिषु मध्यस्थानमेतत् ज्ञेयम् । कट्या उत्सेधपरिमाणं नोक्तम्, तस्या उत्सेधस्य  
ऊर्ध्वादिसन्धित्वेन तस्याः पृथगुत्सेधप्रमाणस्य अविद्यमानत्वात् । प्रवाहुरंसादूर्ध्वोक् कफोणि-

ङ्गुलौ पाणी, हस्तौ द्वादशाङ्गुलौः, कक्षावष्टाङ्गुलौ, त्रिकं द्वादशाङ्गुलोत्सेधम्, अष्टादशाङ्गुलोत्सेधं पृष्ठम्, चतुरङ्गुलोत्सेधा द्वाविंशत्यङ्गुलिपरिणाहा शिरोधरा, चतुर्विंशत्यङ्गुलिपरिणाहमाननम्, पञ्चाङ्गुलमास्यम्, चिवुकौष्ठकर्णादिमध्यनासिकाललाटं चतुरङ्गुलम्, पङ्कजलोत्सेधं † द्वाविंशदङ्गुलिपरिणाहं शिर इति पृथक्त्वेनाङ्गावयवमानमुक्तम् ।

पङ्कजलान्सौ । अंसो भुजस्योपरिभागः, स च प्रत्येकं पङ्कजुलः । पोङ्गुलौ बाहू । प्रतिबाहु पोङ्गुलमानम्, तेन द्वाविंशदङ्गुलिमानौ भुजाविति सुश्रुतो द्विबाहुमानं मिलितं लिखितवान् । पञ्चदशाङ्गुलौ पाणी । पाण्योः प्रत्येकं पञ्चदशाङ्गुलिमानम् । हस्तौ द्वादशाङ्गुलौ । पाणिं वर्जयित्वा हस्तः द्वादशाङ्गुल इति सपाणिः सप्तविंशत्यङ्गुलः, स च सबाहुत्त्रयश्चत्वारिंशदङ्गुलः । सुश्रुतस्तु सपाणिहस्ताभिप्रायेण चतुर्विंशत्यङ्गुलो हस्त इत्युक्त्वा तत्र मणिवन्धकूर्पेरान्तरं पोङ्गुलम् । तलं पङ्कजुलदीर्घं चतुरङ्गुलविस्तारम् । अङ्गुलपञ्चाङ्गुले प्रदेशिन्यनामिके । इति । मध्यमावधितलदेशतोऽधस्तात् अर्द्धाङ्गुलावधि प्रदेशिनीति प्रदेशिनीदेशे तलमङ्गुलपङ्कजुलं अङ्गुष्ठान्मूलप्रदेशिन्यन्तरालं द्विपञ्चाङ्गुलमङ्गुष्ठमूलञ्च मणिवन्धदूर्ध्वमर्द्धाङ्गुलमिति प्रदेशिन्यग्रपर्यन्तं कूर्परावधिहस्तश्चतुर्विंशत्यङ्गुल इति सुश्रुताभिप्रायः । तत्र सार्द्धत्रयङ्गुलौ कनिष्ठाङ्गुष्ठौ । मध्यमाङ्गुली पञ्चाङ्गुलेति चोक्तम् । कक्षावष्टाङ्गुलौ । प्रतिकक्षमष्टाङ्गुलमानम् । कक्षोऽंसाधोभागः । त्रिकं द्वादशाङ्गुलोत्सेधम् । त्रिकं कट्यधस्त्रयस्थिकस्थानम् । अष्टादशाङ्गुलोत्सेधं पृष्ठम् । चतुरङ्गुलोत्सेधा द्वाविंशत्यङ्गुलिपरिणाहा शिरोधरा । अत्र शिरोधरा ग्रीवा । चतुर्विंशत्यङ्गुलिविस्तारपरिणाहं मुखग्रीवमिति सुश्रुतः । अतएव चतुर्विंशत्यङ्गुलिविस्तारपरिणाहमाननमिति बोध्यम् । तत्र पञ्चाङ्गुलमास्यम् । चिवुकेत्यादि । चिवुकं चतुरङ्गुलम्, ओष्ठौ चतुश्चतुरङ्गुलौ, कणौ चतुश्चतुरङ्गुलौ, अक्षिमध्यदेशौ चतुश्चतुरङ्गुलौ, नासिका चतुरङ्गुला, ललाटं चतुरङ्गुलमित्यर्थः । तत्र पर्यन्तः । प्रपाणिः कपोण्यधस्तात् । त्रिकमिति गुदस्फिककटीकपालार्द्धपर्यन्तम् । चिवुकञ्च ओष्ठश्च कणौ च अक्षिमध्यञ्च नासिका च ललाटञ्च प्रति प्रति चतुरङ्गुलम् । पङ्कजलोत्सेधं शिर

• दशाङ्गुलालित्यन्यः पाठः ।

† पोङ्गुललोत्सेधमिति चक्रः ।

केवलं पुनः शरीरमङ्गुलिपर्वणि चतुरशीतिस्तदायाम-  
विस्तारसमं सममुच्यते । तत्रायुर्वलमोजःसुखमैश्वर्यं वित्ता-  
नीष्टाश्चापरे भावा भवन्त्यायत्ताः प्रमाणवति शरीरे, विपर्यय-  
स्त्वतो हीनेऽधिके वा ॥ ६६ ॥

श्रवणापाङ्गान्तरं पञ्चाङ्गुलम् । त्रिभागाङ्गुलिविस्तारा नासापुटमर्यादा । नयन-  
त्रिभागपरिणाहा तारका । नवमस्तारकांशो दृष्टिः । पङ्कजुलोत्सेधं द्वात्रिंशदङ्गुल-  
परिणाहं शिरः । तत्र सुश्रुत उवाच । केशान्तमस्तकान्तरमेकादशाङ्गुलम् ।  
मस्तकादवटुकेशान्तो दशाङ्गुलः । कर्णावदन्तरं चतुर्दशाङ्गुलमिति ।

अङ्गप्रमाणमुपसंहरति—केवलं पुनरिति । एकीकृत्य कृत्स्नं शरीरं  
पुनरङ्गुलिपर्वणि चतुरशीतिः । सुश्रुते तु सविंशमङ्गुलिशतं पुरुषायाम-  
इतीति । तत्राङ्गुलितोऽत्र पर्वणो दैर्घ्याद्भेदोऽस्तीति न विरोधः । तदायाम-  
विस्तारसममिति तच्चतुरशीतिपर्वमितं शरीरमायामविस्ताराभ्यां समं तुल्यं  
सममुच्यते, दैर्घ्ये च चतुरशीतिपर्वमितं प्रसारे च चतुरशीतिपर्वमितमिति  
भावः । तत्र प्रमाणवति समसंज्ञे शरीरे आयुर्दीर्घायुः इष्टाश्चापरेऽशोकादयो  
भावा आयत्ता अधीना भवन्तीत्यर्थः । विपर्ययस्तु हीने उक्तप्रत्यङ्गप्रमाणतो  
हीनप्रमाणे अधिकप्रमाणे च शरीरेऽल्पायुरादयो भवन्ति । प्रत्यङ्गप्रमाणं यस्य  
नोक्तरूपं किन्तु केपाश्चिदङ्गानामुक्तमानं केपाश्चिदङ्गानां नोक्तमानं हीनमधिकं  
वा तादृशशरीरे मध्यायुरादयः स्युः । सुश्रुतेऽप्युक्तं—पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्  
नारी तु षोडशे । समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् । देहः स्वैरङ्गुलै-  
रेव यथावदनुकीर्तितः । युक्तः प्रमाणेनानेन पुमान् वा यदि चाङ्गना । दीर्घ-  
मायुरवाप्नोति वित्तञ्च महदृच्छति । मध्यमं मध्यमैरायुर्वित्तं हीनैस्तथावरम् ।  
इति । अत्र हीनैरिति उक्तप्रमाणत्यागैर्न्यूनैरधिकैर्वैत्यर्थो लभ्यते । एवम्  
इति पृष्ठमनु ग्रीवाया उपरि ज्ञेयम् । केवलमिति पादतलात् प्रभृति शिरःपर्यन्तं चतुरशीत्यङ्गुलं  
भवति, एवं सार्द्धत्रिहस्तप्रमाणशरीरत्वं स्वहस्तेन शरीरस्य भवति । अत्र च प्रत्ययवचोत्सेधेन  
चतुरशीत्यङ्गुलादधिकं यत् शरीरं भवति, तदवयवामामवयवान्तरदैर्घ्यानुप्रविष्टानां ग्रहणोक्तं । तेन  
प्रत्ययवयवदैर्घ्यमानेन न चतुरशीत्यङ्गुलं गणनीयं किन्तु समुद्रितमेव शरीरम् । तत्र पादस्याङ्गुलानि  
चत्वारि, जङ्घाया अष्टादश, जानुनश्चत्वारि, शिरसः षट्, एवं चतुरशीत्यङ्गुलानि घटन्ते । सुश्रुतेन  
समं योऽत्र मानविरोधः, सोऽत्राङ्गुलिमानभेदात् क्षमयितव्यः । तत्र हि सविंशमङ्गुलिशतं पुरुष-  
मानमुक्तम् । तेन तत्राङ्गुलिमानमेवाल्पं ज्ञेयम् । आयामविस्तारसममिति यथोक्तप्रत्ययवचयायाम-

सात्त्यतश्चेति । सात्त्यं नाम तद् यत् सात्त्येनोपयुज्य-  
मानमुपशेते । तत्र ये घृतक्षीरतैलमांसरससात्त्याः सर्व्वरस-  
सात्त्याश्च, ते बलवन्तः क्लेशसहाश्रिरजीविनश्च भवन्ति ।

अन्यदप्यायुष्मतां लक्षणमुक्तं सुश्रुतेन । तद् यथा । महापाणिपादपाश्व-  
पृष्ठस्तनाग्रदशनवदनस्कन्धललाटं दीर्घाङ्गुलिपर्व्वोच्छ्वासप्रेक्षणवाहुं विस्तीर्ण-  
भ्रूस्तनान्तरोगस्कं ह्रस्वजङ्घामेढग्रीवं गम्भीरसत्त्वस्वरनाभिमुच्चैर्वद्धस्तन-  
मुपचितमहारोमशकणं पश्चान्मस्तिष्कं स्नातानुलिप्तं मूर्द्धानुपूर्व्व्या विशुष्यमाण-  
शरीरं पश्चाच्च विशुष्यमाणहृदयं पुरुषं जानीयाद् दीर्घायुः खल्वयमिति ।  
तमेकान्तेनोपक्रमेत । एभिर्लक्षणेर्विपरीतैरल्पायुर्मिश्रैर्मध्यमायुरिति । भवन्ति  
चात्र । गृहसन्धिसिरास्त्रायुः संहताङ्गः स्थिरेन्द्रियः । उत्तरोत्तरसुक्षेत्रो यः  
स दीर्घायुरुच्यते ॥ गर्भात् प्रभृत्यरोगो यः शनैः समुपचीयते । शरीरज्ञान-  
विज्ञानैः स दीर्घायुः समासतः ॥ मध्यमस्यायुषो ज्ञानमत ऊढ निबोध मे ।  
अधस्तादक्षयोर्यस्य लेखाः स्युर्व्यक्तमायताः । द्वे वा तिस्रोऽधिका वापि पादौ  
कर्णौ च मांसलौ । नासाग्रमूर्द्धं च भवेद्दूढं लेखाश्च पृष्ठतः । यस्य स्युस्तस्य  
परममायुर्भवति सप्ततिः ॥ जघन्यस्यायुषो ज्ञानमत ऊढं निबोध मे । ह्रस्वानि  
यस्य पर्व्वणि मुमहञ्चापि मेहनम् । तथोरस्यवलीढानि न च स्यात् पृष्ठ-  
मायतम् । ऊढं च श्रवणे स्थानान्नासा चोच्चा शरीरिणः । हसतो जल्पतो  
वापि दन्तमांसं प्रदृश्यते । प्रक्षते यश्च विभ्रान्तं स जीवेत् पञ्चविंशतिम् ॥  
इति । एतानि च लक्षणानि न चानेनाचार्य्येणोक्तानि अङ्गप्रमाणतः परीक्षा-  
प्रकरणत्वात् ॥ ९९ ॥

गङ्गाधरः—क्रमिकत्वात् परीक्षामाह—सात्त्यतश्चेत्यादि । सात्त्यं नाम-  
त्यादि । सात्त्येन सततोपयोगेन यदुपशेते उत्तरकालानुबन्धेन सुखमावहति  
तत् सात्त्यम् । द्रव्यविशेषसात्त्यात् बलविशेषं दर्शयति—तत्रेत्यादि । घृतादि-  
सात्त्याः पुरुषाः सात्त्यनिमित्तत इति वक्ष्यमाणेनान्वयात् बलवन्त इत्यादयो

विस्तारयुक्तम् । किंवा, यावदायामेन चतुरशीत्यङ्गुलम्, तावद् यदि विस्तृतबाहुद्रव्यप्रमाणेन  
विस्तारेण च शरीरं भवति, तदा आयामविस्तारसमं भवति । तत्रेति यथोक्तप्रमाणवति शरीर  
इति योजनीयम् । हीन इति हीनप्रमाणे । एवमधिक इति अधिकप्रमाणे ॥ ९९ ॥

चक्रपाणिः—सात्त्यतश्चेत्यत्र 'सात्त्य'शब्देन औक्तिकसात्त्यमुच्यते, प्रकृतिसात्त्यादीनां

रुक्षसात्म्याः पुनरेकरससात्म्याश्च ते प्रायेणाल्पवलाश्चाक्लेश-  
सहाश्चाल्पायुषोऽल्पसाधनाश्च भवन्ति । व्यामिश्रसात्म्याश्च ये,  
ते मध्यवलाः सात्म्यनिमित्ततो भवन्ति ॥ १०० ॥

सत्त्वतश्चेति । सत्त्वमुच्यते मनः । तच्छरीरस्य तन्त्रकमात्म-  
संयोगात् । तत् त्रिविधं बलभेदेन प्रवरं मध्यममवरमिति । अतश्च  
प्रवरमध्यावरसत्त्वाश्च पुरुषा भवन्ति । तत्र प्रवरसत्त्वाः सत्त्वसाराः  
सारेषूपदिष्टाः ; स्वल्पशरीरा ह्यपि ते निजागन्तुनिमित्तासु

भवन्ति इत्यर्थः । सात्म्यनिमित्तत इत्यनेन संहननादिनिमित्ततो बलं व्यव-  
च्छिद्यते । रुक्षसात्म्याः पुनरित्यनेन ये इत्यनुवर्त्तते । ये रुक्षसात्म्या ये  
चैकरससात्म्यास्ते प्रायेणाल्पवलादयः स्युः, सात्म्यनिमित्तत इत्यप्यत्र योज्यम् ।  
प्रायेणेत्यनेन कदाचिदपि मध्यवलादयोऽपि भवन्ति, अल्पसाधना अल्पक्रिया-  
निर्वाहकाः सुतरामल्पवलादित्वात् । व्यामिश्रसात्म्याश्चेति च-शब्दः पुनरर्थः ।  
व्यामिश्रसात्म्याः मिश्रितघृताद्यन्यतमसात्म्या रुक्षसात्म्याश्चैकरससात्म्या वा ते  
मध्यवला मध्यक्लेशसहा मध्यायुषो मध्यसाधना इत्यर्थादेव ज्ञेयम् ॥ १०० ॥

गङ्गाधरः—क्रमिकत्वात् सत्त्वतश्चातुरपरीक्षां दर्शयति—सत्त्वतश्चेत्यादि ।  
सत्त्वमुच्यते मन इत्यादि । तदिति मनः शरीरस्य तन्त्रकं नियामकं, कुत इत्यत  
आह—आत्मसंयोगात्, आत्मना सह मनसो नित्यसंयोगात् । तन्मनस्त्रिविधं  
बलभेदेनेति । बलभेदमाह—प्रवरमित्यादि । प्रवरबलं मनः, मध्यमबलं मनः,  
अवरबलं मन इति त्रिविधम् । अतः प्रवरादिमनस्तः प्रवरसत्त्वा मध्यसत्त्वा अवर-  
सत्त्वाश्च पुरुषा भवन्ति । प्रवरसत्त्वादीन् क्रमेण लक्षयति—तत्रेत्यादि । प्रवर-  
सत्त्वाः प्रवरं प्रवरबलं सत्त्वं येषां ते तथा, ते सत्त्वसाराः सारेष्वप्यसु मध्ये स्मृति-  
मन्तः इत्यादिनोपदिष्टाः । ननु ते ज्ञायन्ते च कैः कर्मभिरित्यत आह—स्वल्पे-  
त्यादि । हि यस्मात् स्वल्पशरीरा अपि ते प्रवरसत्त्वाः पुरुषा महतीष्वपि पीडासु

भेषजादिपरीक्षयैव परीक्षितत्वादिति ज्ञेयम् । अल्पसाधना इत्यल्पभेषजाः, एकरससात्म्यानां  
पञ्च रसा असाल्पत्वेनापथ्या इति भावः ॥ १०० ॥

चक्रपाणिः—तन्त्रकमिति प्रेरकं धारकञ्च । ते सारेषूपदिष्टा इति—य एव सत्त्वसारास्त एव

महतीष्वपि पीडास्त्वयथा दृश्यन्ते सत्त्वगुणवैशेष्यात् । मध्य-  
सत्त्वास्तु अपरानात्मन्युपनिधाय ॐ उपष्टम्भयन्त्यात्मनात्मानं  
परैर्वापि संस्तभ्यन्ते । हीनसत्त्वास्तु नात्मना न च परैः सत्त्वबलं  
प्रतिगृह्यन्ते उपष्टम्भयितुम् । महाशरीरा ह्यपि ते स्वल्पानामपि  
वेदनानामसहा दृश्यन्ते, सन्निहितभयशोकलोभमोहमाना रौद्र-  
भैरवद्विष्टवीभत्सविकृतसंकथास्वपि च पशुमानुपमांसशोणितानि  
चावेक्ष्य विपादवैवर्ण्यमूच्छोन्मादभ्रमप्रपतनानामन्यतममवाप्नु-  
वन्त्यथवा मरणमिति ॥ १०१ ॥

अव्यथा नातिपीडावन्तो दृश्यन्ते । निजागन्तुनिमित्तास्त्वितिपदेन मानसपीडासु  
स्वयथा दृश्यन्ते इति ख्यापितम् । ननु कुतस्तथा दृश्यन्ते इत्यत आह—सत्त्व-  
गुणवैशेष्यादिति । सत्त्वस्य मनसः सारत्वे गुणविशेषवत्त्वात् । अन्यथा तत्सारत्वं  
न स्यात् । मध्यसत्त्वानां लक्षणान्याह—मध्यसत्त्वास्त्वित्यादि । अपरान्  
स्वेतरान् पुरुषान् आत्मनि स्वस्मिन् उपनिधाय आत्मीकृत्यात्मना  
मनसात्मानं स्वमुपष्टम्भयन्ति अवरोधयन्ति मध्यसत्त्वाः पुरुषा अथवा परैः  
स्वेतरैः पुरुषैस्तदात्मनि उपनिधाय आत्मीभूय वा संस्तभ्यन्ते अवरोधयन्ते । हीन-  
सत्त्वास्तु पुरुषा आत्मना न स्वेनापि न वा परैरर्थात् स्वमनःकल्पितप्रबोधन-  
व्यापारैः प्रबोधनव्यापारवद्भिः परैर्वा सह बलं मनोबलम् उपष्टम्भयितुमात्मन्यव-  
रोद्धुं न प्रतिगृह्यन्ते प्रबोधदानेन न स्वीकार्यन्ते । ननु कैस्ते क्षायन्ते इत्यत  
आह—महाशरीरा ह्यपीत्यादि । हि यस्मात् महाशरीरा अपि हीनसत्त्वाः  
पुरुषास्तास्वपि निजागन्तुनिमित्तास्त्वल्पासु पीडासु च मध्ये अल्पानामपि  
वेदनानामसहा असहनशीला दृश्यन्ते, तथा हीनसत्त्वाः पुरुषाः सन्निहित-  
भयादयः स्युः । तथा रौद्रभैरवादिषु विपादाद्यन्यतममवाप्नुवन्ति । तथा  
पशुमानुपाणां मांसशोणितानि चावेक्ष्य विपादाद्यन्यतममवाप्नुवन्ति ; अथवा  
रौद्रादिषु मरणं पशुमानुपमांसाद्यवेक्ष्य च मरणं प्राप्नुवन्ति । ननु सत्त्वसारतः

प्रवरा इति ज्ञेया इत्यर्थः । सत्त्वगुणवैशेष्यादिति सत्त्वगुणेन संस्तम्भितवेदनाविकारत्वादव्यथा  
इव दृश्यन्त इत्यर्थः । परात्मन्युपनिधायेति परं वेदनासहं दृष्ट्वा, 'चेदयं वेदनासहस्तदाहमपि

\* परात्मनि उपनिधाय इति चक्रसम्मतः पाठः ।



आहारशक्तितश्चेति । आहारशक्तिरभ्यवहरणशक्त्या जरण-  
शक्त्या च परीक्ष्या, वलायुषी ह्याहारायते ॥ १०२ ॥

व्यायामशक्तितश्चेति । व्यायामशक्तिरपि कर्मशक्त्या  
परीक्ष्या, कर्मशक्त्या ह्यनुमीयते वलं त्रिविधम् ॥ १०३ ॥

वयस्तश्चेति । कालप्रमाणापेक्षिणी \* हि शरीरावस्था वयो-  
ऽभिधीयते । तद्वयो यथावस्थानभेदेन त्रिविधम्—वालं मध्यं  
एवातुरपरीक्षया सत्त्वसाराभावे सत्त्वसारलक्षणात्पत्न मध्यमसत्त्वत्वे सत्त्वतः  
परीक्षा सिध्यति कथं पुनः सत्त्वतः परीक्षा विहिता इति चेन्न सत्त्वस्य सहज-  
प्रवरावरमध्यत्वानां सारवचनेनैव लाभेऽपि जातोत्तरकाल प्रवरावरमध्यम-  
वलत्वज्ञानस्यापि वलदोषप्रमाणज्ञानहेतुत्वलाभायोक्तञ्च । इति सत्त्वतः परीक्षा  
व्याधितस्य ॥ १०१ ॥

गङ्गाधरः—अथ क्रमिकत्वादाहारशक्ति आतुरपरीक्षामाह—आहारशक्ति-  
श्चेति । आहारशक्तिरभ्यवहरणशक्तिर्भोजनशक्तिस्तया, जरणशक्त्या च परीक्ष्या  
परीक्षितव्यानुमेया तथा चाधिकाभ्यवहरणशक्त्याधिकवलायुषी अनुमेये,  
मध्यमाभ्यवहारशक्त्या मध्यमवलायुषी अनुमेये, अल्पाहारशक्त्या अल्प-  
वलायुषी चानुमेये भवतः ; इत्यभिप्रायेणाह—वलायुषी इत्यादि । वलं त्रिविधं  
प्रवरं मध्यममवरञ्च, आयुश्च त्रिविधं दीर्घं मध्यममल्पञ्च बोध्यम् ॥ १०२ ॥

गङ्गाधरः—क्रमिकत्वाद् व्यायामशक्तितश्चातुरपरीक्षामाह—व्यायामशक्ति-  
श्चेति । कर्मशक्त्या क्रियानिष्पादनव्यापारेण व्यायामशक्तिरपि परीक्ष्या,  
कर्मशक्त्या हि यस्मात् त्रिविधं प्रवरमध्यमावरभेदेन त्रिविधं वलमनुमीयते  
न त्वायुरादिकमिति मन्तव्यम् ॥ १०३ ॥

गङ्गाधरः—क्रमिकत्वाद् वयस्तश्चातुरपरीक्षामाह—वयस्तश्चेत्यादि । शरीरा-  
वस्था वयोऽभिधीयते चेत् तदातुर्ग्यावस्थापि वयो भवतीति तद्वारणायाह  
वेदनासहो भवामि इति कृत्वा वेदनां सहत इत्यर्थः । जरणशक्त्या च इतिवचनात् यो बहु  
भुङ्क्ते परिणमति च, असावाहारशक्तिमानिहोच्यते, न तु गुणपरिमाणोऽत्र गृहीतः । कर्म भार-  
वहनादि, तत्र शक्तिः कर्मशक्तिः ॥ १०१—१०३ ॥

चक्रपाणिः—वयःस्वरूपमाह—कालेत्यादि । कालप्रमाणविशेषापेक्षिणीति कालप्रमाणविशेषेण

\* कालप्रमाणापेक्षिणी इत्यत्र कालप्रमाणविशेषापेक्षिणी इति चक्रः ।

जीर्णमिति । तत्र बालमपरिपक्वधातुमजातव्यञ्जनं सुकुमारम्  
अक्लेशसहसम्पूर्णवलं श्लेष्मधातुप्रायमापोऽशवर्षं, विवर्द्धमान-  
धातुगुणं पुनः प्रायेणानवस्थितसत्त्वमात्रिंशद्वर्षमुपदिष्टम् । मध्यं  
पुनः समत्वागतवलवीर्य्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणवचन-  
विज्ञानसर्वधातुगुणं वलस्थितमवस्थितसत्त्वमविशीर्य्यमाणधातु-  
गुणं पित्तधातुप्रायमापष्टिवर्षमुपदिष्टम् । अतः परं हीयमान-  
धात्विन्द्रियवलवीर्य्य-पौरुषपराक्रमग्रहणधारण-स्मरणवचनविज्ञानं  
भ्रश्यमानधातुगुणं वातधातुप्रायं क्रमेण जीर्णमुच्यते आवर्ष-

कालप्रमाणापेक्षणीति विशेषणम् । त्रिविधं व्याकरोति—बालमित्यादि । तत्र  
बालं वयो द्विविधमित्यभिप्रायेणाह—तत्रेत्यादि । अपरिपक्वधातुं सर्वतोभावेन  
अपेक्षरसरक्तमांसादिधातुं तथा अजातव्यञ्जनं जातोत्तरकालजव्यञ्जनानि इमंशु-  
प्रभृतीनि न जातानि यत्र तदजातव्यञ्जनम् । सुकुमारं सुष्ठुक्रौमार्य्यशालि ।  
श्लेष्मधातुप्रायं श्लेष्मप्रधानशरीरम् । ईदृशमापोऽशवर्षं बालं वय एकं,  
ततः षोडशाब्दमारभ्य त्रिंशद्वर्षपर्य्यन्तं विवर्द्धमानधातुगुणं प्रायेणानवस्थित-  
सत्त्वं बालं वयस्तरुणं यौवनमुपदिष्टम् । तच्च न श्लेष्मप्रायं न वा पित्त-  
प्रायम् । मध्यवय आह—मध्यमित्यादि । समत्वागतं विवर्द्धमानवलादिधातुगुण-  
परित्यागेन समत्वं स्थिरत्वमागता वलादयो यत्र तत् तथा । ग्रहणमर्थतो ग्रहणं,  
धारणं शब्दतः, वलस्थितं वलेन स्थितं न हीयमानवलम् । अवस्थितसत्त्वं  
न त्वनवस्थितं मनः । अविशीर्य्यमाणधातुगुणम् अक्षीयमाणधातुगुणं पित्तधातुप्रायं  
पित्तबहुलम् एवंभूतं त्रिंशद्वर्षादूर्ध्वं पष्टिवत्सरपर्य्यन्तं मध्यं वय उपदिष्टम् ।  
अतः परं पष्टिवर्षत ऊर्ध्वं हीयमाना धात्वादयो यत्र तत् तथा । भ्रश्यमानधातु-  
गुणं धातूनां क्रमेण वर्द्धमानवलादिधातुगुणा भ्रश्यमाना भवद्भ्रंशा  
यत्र तत् तथा । धातवः क्षीयन्ते विवर्द्धमानगुणैर्हीनाश्च भवन्तीति हीय-

या गतिर्भवतीत्यर्थः । यथास्थूलभेदेनेतिवचनात्, बालबालत्तराद्यवस्थाभेदादधिकमपि वयो  
भवतीति दर्शयति । बालो द्विविधः—अपरिपक्वधातुः आ षोडशवर्षात्, तथा वर्द्धमानधातुः आ  
त्रिंशत्तमात् । तदेतयोर्वालयोरुपयुक्तत्वेन भेदमाह—तत्रेत्यादि । षोडशवर्षीयबालोऽल्पभेषजमृद-  
भेषजत्वादिना शास्त्रे वक्तव्यः, तदूर्ध्वं बालोऽपि नाल्पभेषजत्वादिना तथोपचर्य्यते । क्रमेणेति

शतम् । वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमेतस्मिन् काले सन्ति  
चाधिकोनवर्षशतजीविनो मनुष्याः । तेषां विकृतिवज्जैः  
प्रकृत्यादिवलविशेषैरायुषो लक्षणतश्च प्रमाणमुपलभ्य वयस्त्रित्वं

मानधात्वित्यनेन न पौनरुक्त्यम् । वायुमायं वायुबहुलं क्रमेण जीर्णं वय उच्यते  
आवर्षशतम् । ननु वर्षशतादूर्ध्वं किं न वय इत्यत आह—वर्षशतमित्यादि ।  
आयुषः प्रमाणं खलु वर्षशतमेवास्मिन् काले कलियुगे इत्यन्ये तन्न शतायुर्वै  
पुरुषः, शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्वेत्यादिश्रुतीनां सर्व्वयुगायुर्विपयत्वात् ।  
अस्मिन् काले इत्यस्मिन् कल्पे, कालोऽल्परूपः इत्यपरे । वस्तुतस्तु आयुषः  
प्रमाणं खलु वर्षशतम् । तस्य प्रत्यक्षतः प्रमाणमाह—अस्मिन् काले सन्तीत्यादि ।  
अस्मिन् काले चरकाधिष्ठितकालो यस्तस्मिन् कालेऽधिका वर्षशतजीविनो  
मनुष्याः सन्तीति चरकस्य प्रत्यक्षदृष्टं प्रमाणं बोध्यम् । विस्तरेण सद्वृत्त-  
फलव्याख्यानेनैतद् व्याख्यातम् । ननु येषां न वर्षशतमायुस्तेषां वयसस्त्रैविध्यं  
कथं विभक्तव्यमित्यत आह—तेषामित्यादि । तेषां परीक्षणां मनुष्याणां  
विकृतिवज्जैः प्रकृत्यादिवलविशेषैः प्रकृतिसारसंहननप्रमाणसात्म्यसत्त्वाहार-  
शक्तिव्यायामशक्तिवयोभिः पूर्व्वोक्तैर्वलविशेषैरायुषः प्रमाणमुपलभ्य लक्षणतश्च  
जातिसूत्रीयोक्तलक्षणतश्चायुषः प्रमाणं यस्य यत् तदुपलभ्य वयस्त्रित्वं वयसः

नैकैरेव पष्ठिवर्षादूर्ध्वं धात्वादिहानिरिति दर्शयति । अस्मिन् काल इति कलौ । अथाधिक-  
वर्षजीविनां कथं वयस्त्रित्वं विभक्तव्यमित्याह—तेषामित्यादि । प्रकृत्याद्या दश परीक्षया अत्रैव  
“प्रकृतिसार” इत्यादिनोक्ताः । तत्र “विकृतिवज्जैः” इत्यनेन विकृतेः परित्यागः कृतः । तेन  
प्रकृतिसारादीनां बलविशेषैः प्रवरावरमध्यभेदभिन्नप्रकृत्यादिभेदेन कृतैः प्रवरावरमध्यरूपैरायुषः  
प्रमाणं प्रवरावरादुपलभ्य वयस्त्रित्वं विभजनीयम् । एतेन यस्य प्रकृतिबलमुत्तमं श्लेष्मप्रकृतेः  
समप्रकृतेर्वा, तस्यायुर्दीर्घं भवति, हीने तु प्रकृतिबले हीनम् । एवं सारादावपि ज्ञेयम् । एवञ्च  
यः प्रकृत्यादीनां सर्व्वेषामेवोत्तमेन बलेन युक्तः, स शताधिकं जीवति । तेन तस्य विंशतिवर्षो-  
धिकं शतं यद्यायुरुपलभ्यते, तदा पूर्व्वोक्तवयोविभागानुमानादापट्त्रिंशद्वर्षाणि स बालो  
भवति, द्विसप्ततिवर्षश्च स मध्यः, शेषे तु वृद्धः । यस्तु प्रकृत्यादीनां मध्यमत्वेनाल्पायुरशीति-  
वर्षोऽवधार्यते, स पञ्चविंशतिवर्षाणि बालः, पञ्चाशतं मध्यः, अतो वृद्ध इत्यादि विभजनीयम् । न  
केवलं प्रकृत्यादिना आयुरवधार्यम्, किन्तु आयुर्लक्षणेऽपि शरीरप्रतिबद्धैः शारीरे वक्तव्यैरित्याह—  
आयुषो लक्षणतश्चेति । आयुर्लक्षणेनापि वयोऽवधार्य बाल्यादिविभागः कर्त्तव्यः इत्यर्थः,

विभजेत् । एवं प्रकृत्यादीनां विकृतिवर्जानां भावानां प्रवरा-  
वरमध्यविभागेन बलविशेषं विभजेत् । विकृतिबलत्रैविध्येन  
दोषबलं त्रिविधमनुमिमीते । ततो भैषज्यस्य तीक्ष्णमृदुमध्य-  
विभागेन त्रैविध्यमेव विभज्य यथादोषं भैषज्यमवधारयेत् ।  
आयुषः प्रमाणज्ञानहेतोः पुनरिन्द्रियस्थाने जातिसूत्रीये च  
लक्षणान्युपदेक्ष्यन्ते ॥ १०४ ॥

त्रैविध्यं विभजेत् । विकृत्या तु नायुषः प्रमाणमुपलभ्यते स्वाभाविकं,  
परन्तरिष्टलक्षणेनासाध्यत्वमुपलभ्यते । एवं प्रकारेण वयस्तथातुरं परीक्ष्यातुरस्य  
बलप्रमाणविज्ञानं दर्शयति—एवमित्यादि । एवमुक्तप्रकारेण विकृतिवर्जानां  
प्रकृत्यादीनां प्रकृतिसारसंहननप्रमाणसाम्ये सत्त्वाहारशक्तिव्यायामशक्तिवयसां  
भावानां प्रवरावरमध्यविभागेनातुरस्य बलविशेषं प्रवरावरमध्यरूपं बलं  
विभजेत् । इत्यातुरस्य बलप्रमाणविज्ञानहेतोः परीक्षा दर्शिता । ०। दोषप्रमाण-  
विज्ञानहेतोरातुरपरीक्षां दर्शयति—विकृतीत्यादि । विकृतेर्विकारस्य धातुवैषम्य-  
निमित्तस्य ज्वरादिवर्जलत्रैविध्येन त्रिविधबलेन तत्र विकारं हेतुदोषदृष्टेत्यादौ  
पूर्वोक्तेन यस्य हीत्यादिनोक्तेन त्रिविधं प्रवरावरमध्यभेदेन त्रिधा दोष-  
बलं वातपित्तकफानां प्रवरावरमध्यबलमनुमिमीते भिषगिति ज्ञेयः । ततो  
दोषाणां प्रवरावरमध्यबलानुमानात् भैषज्यस्य तीक्ष्णमृदुमध्यविभागेन त्रैविध्यं  
विभज्य यथादोषं प्रवरबलदोषे तीक्ष्णभैषज्यम् अवरबलदोषे मृदुभैषज्यं  
मध्यबलदोषे मध्यभैषज्यमवधारयेत् । इत्यातुरस्य बलदोषप्रमाणविज्ञानहेतोः  
परीक्षा दर्शिता । ०। अथातुरस्यायुःप्रमाणविज्ञानहेतोः परीक्षां दर्शयति—आयुष  
इत्यादि । अत्रातुरस्य परीक्षेत्यनुवर्तते । तेनायुषः प्रमाणविज्ञानहेतोरातुरस्य

अर्थश्च स्तोत्रन्यूनाधिकशतायुषां धाल्यादिविभागः कर्तव्यः । येषान्तु चिंशतिवर्षादि परमायुषो  
'मानम्', न तेषां तदनुमानेन वयोभेदः, ते ह्यप्राप्तमध्यावस्था एव त्रियन्ते । प्रकृत्यादिविभागेन  
शरीरबलपरीक्षासुक्तमुपसंहरति—एवमित्यादि । दोषबलन्तु यथा शरीररूपदेशपरीक्षया परी-  
क्ष्यम्, तदाह—विकृतिबलेत्यादि । शरीरबलदोषबलपरीक्षार्थं शरीरपरीक्षां प्रति ज्ञानमभिधाय  
पुनरायुःप्रमाणज्ञानार्थं शरीरपरीक्षामतिदिशति—आयुषं इत्यादि । इन्द्रियेष्विति इन्द्रियस्थाना-  
ध्यायेषु । तत्रेन्द्रिये षण्णादिविकृत्या रिष्टरूपहसितमायुर्ज्ञातव्यम्, जातिसूत्रीये शरीरे च जन्म-  
प्रतिबद्धैः लक्षणैर्दर्शायुर्ज्ञातव्यम् ॥ १०४ ॥

कालः पुनः संवत्सरश्चातुरावस्था च द्विधा । तत्र संवत्सरो द्विधा त्रिधा षोढा द्वादशधा । भूयश्चातः प्रविभज्यते तत्तत्-कार्यमभिसमीक्ष्य । तत्र खलु तावत् षोढा प्रविभज्य कार्यमुप-देक्ष्यते । हेमन्तो ग्रीष्मो वर्षाश्चेति शीतोष्णवर्षलक्षणास्त्रयः ऋतवो भवन्ति । तेषामन्तरेष्वितरे साधारणलक्षणास्त्रयः ऋतवः प्रावृट्शरद्वसन्ता इति । प्रावृट्ति प्रथमः प्रवृष्टेः काल-

परीक्षा पुनरिन्द्रियेषु इन्द्रियस्थानेऽरिष्टेषु जातिसूत्रीये चाध्याये लक्षणान्युप-देक्ष्यन्ते । इत्यातुरस्य परीक्ष्यविशेषस्य यथा परीक्षितव्यत्वं तदुक्तं भवति ॥१०४

गङ्गाधरः—अथ कारणादिषु परीक्ष्येषु मध्ये देशानन्तर्यात् परीक्ष्यविशेष-कालो यथा परीक्षितव्यस्तदाह—कालः पुनरित्यादि । चशब्दः समुच्चये । द्विधेति अयनभेदात् । तयोः प्रयोजनाभावात् तस्याशितीये चोक्तत्वात् प्रति-नियतफलोक्तत्वाच्चात्र द्विविधत्वं न विवृत्य त्रिधात्वादिकं विवृणोति—भूयश्चात इत्यादि । भूय इति तस्याशितीये सर्वमुक्तं भूयो बहुलश्चात्र प्रविभज्यते । त्रिधादिप्रतिनियतकार्यं वक्ष्यमाणं षोढात्वप्रविभागे । त्रिधा धर्मस्यावान्तरत्वात् साधारणत्वाद् वा त्रिधात्वं दर्शयति—हेमन्त इत्यादि । हेमन्तादयस्त्रयो योग-रूढाः, यौगिकत्वं दर्शयति—शीतोष्णेत्यादि । अत्र क्रमान्वयो बोध्यः । शीत-लक्षणो हेमन्तः उष्णलक्षणो ग्रीष्मः वर्षलक्षणा वर्षा इति त्रयः ऋतवः । तेषां हेमन्तग्रीष्मवर्षाणामन्तरेष्वभ्यन्तरेषु—इतरे संज्ञान्तराः साधारणलक्षणा मन्दशीतलक्षणा शरत्, मन्दोष्णलक्षणो वसन्तः, मन्दवर्षलक्षणा प्रावृट् इति त्रयः ऋतव इति । त्रिषु च मन्दशीतोष्णवर्षलक्षणत्वम् । ननु ते के इत्यतः प्रतिलोमतन्नुत्तयाह—प्रावृट्शरद्वसन्ता इति । एतेन कार्तिकादय-श्चत्वारो मासा हेमन्तः शीतलक्षणः । फाल्गुनादयश्चत्वारो मासा ग्रीष्म-उष्णलक्षणः । आपादादयश्चत्वारो मासा वर्षा वर्षलक्षणाः । तेषामन्तर्गता साधारणलक्षणा नातिशीतनात्युष्णरूपा हेमन्तान्तर्गता शरत् कार्तिका-

चक्रपाणिः—देशपरीक्षां समाप्य कालपरीक्षामाह—काल इत्यादि । संवत्सरोऽयनभेदेन द्विविधः, शीतोष्णवर्षभेदेन त्रिविधः, ऋतुभेदेन षोढा, मासभेदेन द्वादशधा, पक्षभेदाच्चतुर्विंश-तिधा, प्रहरादिनाऽनेकधेति ज्ञेयम् । तत्तत् कार्यमित्ययनादिना संपाद्यं कार्यमित्यर्थः ।

स्तस्यानुबन्धो हि वर्षाः । एवमेते संशोधनमधिकृत्य षड्

ग्रहायणौ द्वौ मासौ मन्दशीतोष्णौ । एवं साधारणलक्षणो नातिशीतनात्युष्ण-  
रूपो ग्रीष्मान्तर्गतो वसन्तः फाल्गुनचैत्रमासौ मन्दोष्णशीतलक्षणौ । एवं नाति-  
शीतनात्युष्णरूपा वर्षान्तर्गता प्राष्ट् आपादश्रावणौ द्वौ मासौ मन्दवर्षलक्षणौ ।  
तदितरे च द्विशो मासा हेमन्तग्रीष्मवर्षसंज्ञा एव न त्वन्यसंज्ञाः । तेषामन्तरेष्विति  
वचनेन कात्तिकाग्रहायणयोर्हेमन्तसंज्ञावत् शरत्संज्ञा, फाल्गुनचैत्रयोर्ग्रीष्म-  
संज्ञावत् वसन्तसंज्ञा, आपादश्रावणयोर्वर्षसंज्ञावत् प्राष्ट्संज्ञा, न तु शरदादि-  
संज्ञैव न हेमन्तादिसंज्ञेति शरदादिसंज्ञया हेमन्तादिसंज्ञानां बाधितत्व-  
वचनाभावात् । ननु कथं प्राष्ट्बुध्यते इत्यत आह—प्राष्ट्द्वितीत्यादि ।  
प्राक् षट् षष्ठेः काल इति पृषोदरादिवात् प्राष्ट् इत्यभिप्रायेणाह  
प्रथम इति ; अथवा प्रः प्रकृष्टो षष्ठेः काल इति पृषोदरादिवात्  
ऋकारागमेऽपि प्राष्ट् ; इत्यभिप्रायेणाह प्रष्ट्ः काल इति । नन्वत्र प्राष्टपि  
साधारणत्वं किमित्यत आह—तस्येत्यादि । तस्य प्रष्ट्ः कालस्यानुबन्धोऽनु-  
रूपेण बन्धो वर्षा इति । नातिशीतनात्युष्णत्वात् साधारणत्वं ख्यापितम् ।  
ननु तस्याशित्तये पूर्वमुक्तं हेमन्तशिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरद् इति, षडृतव  
उक्ता अत्र त्वन्यथा कथमुच्यते इत्यत आह—एवमेते इत्यादि । एवमनयोक्त-  
रीत्या एते शरद्धेमन्तवसन्तग्रीष्मप्राष्ट्वर्षाख्या ये षडृतवो विभज्यन्ते ते  
संशोधनमधिकृत्यैव न तु चर्यामधिकृत्य ; चर्यामधिकृत्य पुनरुक्तास्तस्याशित्तये  
हिमशिशिरादयः षड्विंशति भावः । ननु संशोधनं यदेवमुक्तेषु षट्सर्वेषु  
विधीयते तदा तदात्मकत्वादेव हिमशिशिरादिरूपेण विभक्तेष्वपि तत् संशोधनं  
सम्पद्यते न ह्येवं विभक्ताः षडृतवस्तथाविभक्तषडृतवतिरिक्तः कालो हि न  
साधारण इति अनतिशीतोष्णवर्षः । प्राष्टपं विभजते—प्राष्ट्द्वितीत्यादि । ‘प्रथमप्रष्ट्ः’-शब्देन  
आपादश्रावणाभ्यामुच्यते । एतच्च द्विमासत्वमृतुभेदकमादि कृत्वा शेषमासद्विकेन वर्षादयो यथाक्रमं  
ज्ञेयाः । अथवा ऋतुक्रमो न रसोत्पत्त्यादौ, किन्तु शरीरशोधने प्रवृत्तावेवेति दर्शयता ‘संशोधन-  
मधिकृत्य’ इत्युक्तम्, एवमेव च क्रमं सिद्धौ वक्ष्यति—‘प्राष्ट् शुक्रनभौ ज्ञेयौ शरदूर्जसर्गा पुनः ।  
तपस्यश्च मधुरचैव वसन्तः शोधनं प्रति’ । अस्मिन् ऋतुक्रमे शिशिरो नास्ति । ये तु षडृतवते—  
गङ्गाया दक्षिणे कूले वर्षा बहु भवति, तेन, तत्र प्राष्ट्द्वितीयादिः । गङ्गोत्तरकूले शीतं बहु भवति,  
तेन, तत्र हेमन्तशिशिरौ भवतः । उक्तं हि काश्यपेन—यत्—‘भूयो वर्षति पर्जन्यो गङ्गाया  
दक्षिणे जलम् । तेन प्राष्ट्द्वितीयादिषु ऋतुषु तेषां प्रकल्पिता । गङ्गाया उत्तरकूले हिमवद्गुह्यसङ्गमे  
भूयः शीतमन्तस्तेषां वसन्तशिशिरावृत्तौ’ इति । एतच्च न, कत्र ‘संशोधनमधिकृत्य’ इति वचनात् ।

विभज्यन्तै ऋतवः । तत्र साधारणलक्षणेष्वृतुषु वमनादीनां प्रवृत्तिर्विधीयते निवृत्तिरितरेषु च । साधारणलक्षणा हि मन्द-शीतोष्णवर्षत्वात् सुखतमाश्च भवन्ति अविकल्पकाश्च शरीरौषधानाम् । इतरे पुनरत्यर्थशीतोष्णवर्षत्वाद् दुःखतमाश्च भवन्ति विकल्पकाश्च शरीरौषधानाम् ॥ १०५ ॥

संवत्सरातिरिक्तोऽस्तीति चेन्न तेषु षट्सु ऋतुषु न संशोधनविधिरेव चर्या-विधिनिषेधौ तु सम्भवतः । ननु किं हेमन्तशिशिरादितया विभक्तेषु संशोधन-विधिनिषेधौ न सम्भवत इत्यत आह—तत्रेत्यादि । साधारणलक्षणेष्वृतुषु अर्थात् त्रिषु शरद्वसन्तप्रावृट्संज्ञकेषु इतरेषु हेमन्तमात्रसंज्ञग्रीष्ममात्रसंज्ञवर्षामात्र-संज्ञकेषु निवृत्तिर्निषेधौ विधीयते इत्यन्वयः । एतौ तु न हेमन्तशिशिरादितया विभक्तेषु त्रिषु त्रिषु सम्पदेते । तथा विभागो हि सहःसहस्यौ हेमन्तः, तप-स्तपस्यौ शिशिरः, मधुमाधवौ वसन्तः स्यात् ; शुक्रशुची तु ग्रीष्मः, नभोनभस्यौ वर्षाः, अश्वशुक्कार्त्तिकौ शरदिति त्वयनदिनावधि बोध्यम् । तथा विभक्ताना-मन्यान्त्यानामृतूनामादिमादिमगास-सहितादिमादिमर्त्त्वन्तिमान्तिम-मासरूप-द्विमासात्मको ह्येवं विभक्त ऋतुरिति । ननु कथं साधारणलक्षणेषु वमना-दीनां प्रवृत्तिर्विधीयते निवृत्तिरितरेष्वित्यत आह—साधारणेत्यादि । मन्दे-त्यादि । मन्दशब्दोऽल्पवचनः, शीतादिषु प्रत्येकमन्वीयते । सुखतमाः सुख-जनकतमाः प्राणिनां सम्वन्धे भवन्ति । शरीरौषधानां प्राणिनां शरीराणाम् अविकल्पका भावान्तराकल्पकाः औषधानाञ्चाविकल्पकाः संशोधनार्थं कृतौषधानां गुणान्तराकल्पकाः । हि यस्मात् तस्मात् साधारणलक्षणेषु वमनादीनां प्रवृत्तिर्विधीयते । इतरे पुनरिति हेमन्तमात्रादिसंज्ञकास्तु त्रयं ऋतवोऽत्यर्थशीतोष्णवर्षत्वात् । पौषमाघात्मकहेमन्तोऽत्यर्थशीतत्वाद् दुःखतमः, वैशाखजैष्ठ्यरूपौ ग्रीष्मस्त्वत्यर्थोष्णत्वाद् दुःखतमः, भाद्राश्विनरूपास्तु वर्षा अतिवर्षत्वाद् दुःखतमा भवन्तीति । तथात्वाच्च शरीरौषधानां विकल्पकाश्च ते भवन्ति । प्राणिनां शरीराणां भावान्तरकल्पकाः औषधानां संशोधनार्थं

यदि देशकृतोऽयं भेदः स्यात्, तदा तमेव भेदकं ब्रूयात्, न संशोधनम् । तेन, काश्यपोक्तदेस-भेदेन प्राबुद्धादिक्रमो न तावदिहाभिमतः । अविकल्पकाश्च शरीरौषधानामिति, न शरीरस्य कृत्रिमता आपतितगुणेन भेदकास्तथौषधस्य च न प्रमाणोऽक्रोषापेक्षभेदकारका इत्यर्थः, विकल्पकाश्च

तत्र हेमन्ते ह्यतिमात्रशीतोपहतत्वाच्छरीरमसुखोपपन्नं  
भवत्यातिशीतवाताध्मातमतिदारुणीभूतमवरुद्धोपश्च ॐ । भेषजं  
पुनः संशोधनार्थमुष्णस्वभावमतिशीतोपहतत्वान्मन्दवीर्यत्वम्  
आपद्यते । तस्मात् तयोः योगे संशोधनमयोगायोपपद्यते  
शरीरमपि च वातोपद्रवाय ॥ १०६ ॥

ग्रीष्मे पुनर्भृशोष्णोपहतत्वाच्छरीरमसुखोपपन्नं भवत्युष्ण-  
कृतौषधानां गुणान्तरकल्पकाश्च भवन्तीति यस्मात् तस्माद्गमनादीनां निवृत्ति-  
रितरेषु विधीयते इति ॥ १०५ ॥  
गङ्गाधरः—ननु कथं हेमन्तादयो दुःखतमा विकल्पकाश्च शरीरौषधानां  
भवन्तीत्यत आह—तत्रेत्यादि । तेषु हेमन्तग्रीष्मवर्षाख्येषु त्रिषु ऋतुषु मध्ये हेमन्ते  
पौषमाघरूपे हि यस्मात् शरीरमतिमात्रशीतोपहतत्वात् असुखोपपन्नम् अतिशीत-  
वाताध्मातमतिमात्रशीतवाताभ्यां युतम् अतिदारुणीभूतमतिरौक्ष्यककेशादि-  
मत्तया कठिनीभूतम् अवरुद्धोपम् अवरुद्धवातकफादिकं भवति इत्यतिमात्र-  
शीतोपहतत्वादिकं शरीरविकल्पकलोपदग्नेन तैश्चासुखोपपन्नत्वं दुःखतमलोप-  
दग्नेनम् । औषधानां विकल्पकत्वं दर्शयति—भेषजं पुनरित्यादि । संशोधनार्थ-  
मित्यनेन संशमनार्थमपि भेषजम् अतिशीतोपहतं मन्दवीर्यं स्यादिति सूच्यते ।  
न तु तत् प्रतिपिध्यते । ननु मन्दवीर्यत्वे लौषधानां का हानिरित्यत आह—  
तस्मादित्यादि । तस्मात् शरीरस्य शीतवाताध्मातवातिदारुणीभूतत्वावरुद्ध-  
दोषत्वादौषधस्य शीतोपहतत्वेन मन्दवीर्यत्वापन्नत्वाच्च तयोः प्राणिनां शरीरौष-  
धयोः संयोगे उपसेवनेन संयोगे संशोधनं वमनादिक्रिया अयोगाय अप्रवृत्तये  
उपपद्यते । नन्वयोगे का हानिरित्यत आह—शरीरमपि चेत्यादि । वातोपद्रवो  
वातजनित उपद्रवः ॥ १०६ ॥

गङ्गाधरः—हैमन्तिकसंशोधने दोषं दर्शयित्वा ग्रैष्मिकसंशोधने दोषं  
दर्शयति—ग्रीष्मे पुनरित्यादि । भृशोष्णलोपहतत्वात् । शरीरं ग्रीष्मात्मका-  
शरीरौषधानामिति यदात्यधिकत्वेनावश्यकर्तव्या भवन्ति वमनादयोः तदौषधस्य कृत्रिमगुणोप-  
धानेन यथावश्यकमाणेन, तथा शरीरस्य च विकल्पका भवन्ति ॥ १०५ ॥

चक्रपाणिः—यथा हेमन्तादपु दुःखमत्त्वं भवति, तदाह—तत्र हेमन्त इत्यादि । आषाढ-

\* आषाढदोषमिति चक्रसम्मतः पाठः ।



वातातपाध्मातमतिशिथिलमत्यर्थप्रविलीनदोषम् । भेषजं पुनः  
संशोधनार्थमुष्णस्वभावमेवात्युष्णानुगमनात् तीक्ष्णतरत्वम्  
प्रापद्यते । तस्मात् तयोः संयोगे संशोधनमतियोगायोपपद्यते  
शरीरमपि पिपासोपद्रवाय ॥ १०७ ॥

वर्षासु तु मेघजालावतते गूढार्कचन्द्रतारे धाराकुले वियति  
भूमौ पङ्कजलपटलसंवृतायामत्यर्थोपक्लिन्नशरीरेषु भूतेषु  
विहतस्वभावेषु च केवलेष्वौषधग्रामेषु तोयानुगतमारुतोपहतेषु

ऽसुखोपपन्नम् उष्णवातातपाध्मातम् उष्णाभ्यां वातातपाभ्यां युक्तम् अति-  
शिथिलम् अत्यर्थं प्रविलीनदोषं प्रकर्षेण विलयनवन्तो द्रवीभावमापन्ना दोषा  
यत्र तत् तथा भवति । इति ग्रीष्मस्यासुखतमलप्रदर्शनं शरीरविकल्पकत्वोप-  
दर्शनञ्च । भेषजविकल्पकत्वं दर्शयति—भेषजं पुनरित्यादि । संशोधनार्थ-  
मित्यनेन संशमनाथेऽक्तमौषधं तीक्ष्णं भवतीति बोध्यम् । ननु कुतः इत्यत  
आह—उष्णस्वभावमिति । संशोधनार्थं भेषजमुष्णस्वभावं न हि तत्स्वभावं  
विना संशोधनसमर्थं भवति तस्मात् तीक्ष्णतरत्वमुष्णानुगमनादापद्यते उष्णं  
तद्भेषजमिति भावः । तीक्ष्णतरत्वापन्नत्वे भेषजात् का हानिरित्यत आह—  
तस्मादित्यादि । तस्मात् ग्रीष्मे उष्णाधिकस्वभावे शरीरस्योष्णवातातपा-  
ध्मातत्वातिशयित्यात्यर्थप्रविलीनदोषत्वात् उष्णस्वभावेन संशोधनाथेभेषजस्य  
तदुष्णानुगमनेन तीक्ष्णतरत्वापन्नत्वाच्च । तयोः शरीरसंशोधनाथौषधयोः  
संयोगे उपसेवनेन संयोगे संशोधनं वमनादिक्रिया अतियोगायातिप्रवृत्तये  
उपपद्यते । नन्वतियोगात् का हानिरित्यत आह—शरीरमपीत्यादि । पिपासया  
सहोपद्रवो वक्ष्यमाणस्तस्यै उपपद्यते इत्यन्वयः ॥ १०७ ॥

गङ्गाधरः—पारिशेष्यात् वर्षासु संशोधनदोषमाह—वर्षासु तित्यादि ।  
मेघानां जालैः समूहरवतते व्याहृत एव गूढा अव्यक्ता दिवाकौ निशि  
चन्द्रस्ताराश्च यत्र तस्मिन् धाराकुले मेघवर्षेण जलानां धाराभिराकुले व्याप्त  
च वियति नभोमण्डले सति सत्याश्च भूमौ पङ्कजलानां पटलैः संवृतायां सुतरां  
तत् एव सत्सु च भूतेषु प्राणिषु अत्यर्थोपक्लिन्नशरीरेषु विहतस्वभावेषु च ।

दोषमिति अतिवृद्धदोषम् । योरिति दशोक्तम् शरीरभेषजयोः । तोदस्य तोयदानुगतमारुतस्य

संसर्गाद् गुरुप्रवृत्तानि \* वमनादीनि भवन्ति गुरुसमुत्थान-  
तमानि च शरीराणि । तस्माद्वमनादीनां निवृत्तिर्विधीयते  
वषन्तैष्वृतुषु न चेदात्ययिके कर्म ॥ १०८ ॥

आत्ययिके पुनः कर्मणि काममृतुं विकल्प्य कृत्रिम-  
गुणोपधानेन यथर्तुगुणविपरीतेन भेषजं संयोगसंस्कारप्रमाण-

केवलेषु कृत्स्नेषु औषधग्रामेषु औषधसमूहेषु तोयानुगतमारुतोपहतेषु मेघैर्घृष्टं  
तोयमनुगतेन मारुतेन उपहतेषु सत्सु संसर्गादुपसेवनेन तथाभूतप्राणिशरीरे  
तथाभूतौषधसंयोगात् गुरुप्रवृत्तानि वमनाद्यौषधानि भवन्ति तेषां शरीर-  
लाघवकरी प्रवृत्तिर्भवति वमनादीनामिति भावः । तेन तु का हानिरित्यत  
आह—गुरुसमुत्थानतमानि चेत्यादि । गुरोर्गौरवगुणस्य समुत्थानं यत्र  
तद् गुरुसमुत्थानम् अतिशयेन तथेति गुरुसमुत्थानतमानि शरीराणि । तस्मा-  
दुक्तात् ऋतुत्रये दोषात् वर्षाभागान्तेषु वर्षासु पूर्वभागं प्रावृट्कालं विहायोत्तर-  
भागरूपवर्षान्तेषु त्रिष्टुतुषु तेन हेमन्तमात्रग्रीष्ममात्रवर्षामात्रेषु ऋतुषु त्रिषु  
वमनादीनां निवृत्तिर्विधीयते । नन्वेतेषु वर्षाभागान्तेष्वृतुषु त्रिषु यद्यात्ययिको  
व्याधिरूपघते संशोधनसाध्यश्च भवति तत्र तदापि किं वमनादिप्रवृत्तिर्न  
विधीयते इत्यत आह—न चेदात्ययिके कर्मणि । आत्ययिके हठादत्ययकरे  
अलसकादिके चेद् यदि वमनादिकर्म न स्यात् तदा तेषु त्रिषु वर्षान्तेषु ऋतुषु  
वमनादीनां निवृत्तिर्विधीयते ॥ १०८ ॥

गङ्गाधरः—ननु तर्हि यद्यात्ययिके व्याधौ वमनादिकर्म विधीयते तेषु  
त्रिष्ववृष्टुषु तदा तत्तद्वृतुषु प्रवृत्तवमनादीनामयोगादयो दोषा भवन्तु तैश्च  
वातोपद्रवादियुक्तं शरीरं भवतु इत्याशङ्कयामाह—आत्ययिके पुनरित्यादि ।  
आत्ययिके तु कर्मण्यपि वर्षाभागान्तेषु त्रिष्टुतुषु न साधारणलक्षणे त्रिष्टुतु-  
ष्विव संशोधनार्थं भेषजं प्रयोजयेत् । परन्तु वर्षाभागान्तं तं तमात्ययिक-  
कर्मार्तपन्नम् ऋतुं कामं यथाभिलाषं यत् संशोधनमभिमतं युक्तत्वेन भवति  
तथाविधरूपेण विकल्प्य विशेषेण तदातुरव्याधिवलदेहवलाद्यनुसारेण विविच्य  
संशोधनार्थं प्रयोक्तव्यं भेषजं तद्घटकद्रव्याणां संयोगस्य संस्कारस्य च  
च संसर्गः । तस्माद् गुरुप्रवृत्तीनीति गुरोर्यथा न सुखकारिणी प्रवृत्तिर्भवति, तथात्रापीत्यर्थः ।

\* तोयतोयदानुगतमारुतसंसर्गाद् गुरुप्रवृत्तीनीति चक्रसम्मतः पाठः ।

विकल्पेनोपपाद्य प्रमाणवीर्य्यसमं कृत्वा ततः प्रयोजयेदुत्तमेन  
यत्नेनावहितः ॥ १०६ ॥

आतुरावस्थास्वपि च कार्याकार्यं प्रति कालाकालसंज्ञा,  
तद् यथा—अस्यामवस्थायामस्य भेषजस्याकालः कालः पुनरस्य  
इति । एतदपि हि भवत्यवस्थाविशेषेण, तस्मादातुरावस्थास्वपि  
कालाकालसंज्ञा । तस्य परीक्षा मुहुःमुहुरातुरस्य सर्व्ववस्था-

प्रमाणस्य च विशेषतो यथर्तुगुणविपरीतेन हेमन्ते उष्णगुणेन ग्रीष्मे शीतगुणेन  
वर्षासु लाघवगुणेन कृत्रिमगुणोपाधानेन कल्पनेन उपपाद्य निम्माय प्रमाण-  
वीर्य्यसमं तदौषधं तत्तद्वतुना सह प्रमाणवीर्य्याभ्यां समं कृत्वाऽवहितोऽवधान-  
वान् भिषक् उत्तमेन यत्नेन न त्वहेलया प्रयोजयेत् । इत्येवंप्रकारेणातुरस्य  
परीक्षा संवत्सरकालतः कार्या ॥ १०९ ॥

गङ्गाधरः—अथातुराणामवस्था च काल इति यदुक्तं ततश्चातुरपरीक्षां  
दर्शयति—आतुरावस्थास्वपीत्यादि । आतुरस्यावस्थासु ज्वरादौ सामत्व-  
निरामत्वजीर्णत्ववैषम्याद्याख्यासु कार्य्यं प्रति भेषजविशेषस्य कालाकालसंज्ञा  
अकार्य्यं प्रति च कालाकालसंज्ञा । तां तां विवृणोति—तद् यथेत्यादि ।  
अस्यामवस्थाया यथा ज्वरादौ व्याधौ सामत्वावस्थायाम् अस्य भेषजस्य मुख्य-  
भेषजस्याकालः, कालः पुनरस्य तोषपेयादिसंस्कारकतया गौणभेषजस्य ।  
इत्येवं चिकित्सितादिषु यस्यां यस्यामवस्थायां यद् यद् भैषज्यं विधातव्यं  
तस्यां तस्यामवस्थायां तस्य तस्य भेषजस्य कालोऽकालस्तु तदितरेषाम्  
इत्युन्नेयम् । निगमयति प्रतिज्ञां—तस्मादित्यादि । तस्य कालाकालस्य परीक्षा ।

किंवा बहुप्रतिविधेयप्रवृत्तीनि गुरुप्रवृत्तीनि । गुरुसमुत्थानानीति संशोधनक्लिष्टानि शरीराणि ।  
तदा महता प्रयत्नेन चिरेण कालेन प्रकृतिं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । वर्षाभागान्तेष्विति हेमन्तग्रीष्म-  
वर्षासु । हेमन्तादिष्वप्यात्ययिकव्याधौ संशोधनं दर्शयन्नाह—न चेदित्यादि । विकल्प्येति  
अल्पगुणयुक्तं कृत्वा । कृत्रिमगुणोपाधानं यथा—शीते शीतप्रतीकारार्थमुष्णकरणम् । उक्तञ्च  
अन्यत्र—“शीते शीतप्रतीकारमुष्णे चोष्णनिवारणम् । कृत्वा कुर्व्यान् क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं  
न ह्यपयेत्” । ऋतौ प्रतीकारं दर्शयित्वा भेषजप्रतीकारमाह—भेषजमित्यादि । संयोगविकल्पः  
यथा—शीते त्रिवृताया उष्णेन गोमूत्रेणालोढनम् । प्रमाणविकल्पः यथा—अयोगप्रतीकारार्थम्  
अतिमात्रत्रिवृद्धानमित्यादिकः । अत्र च प्रमाणविकल्पस्तथा कर्त्तव्यः यथा विरुद्धप्रमाणभेषज-

विशेषवेक्षणं यथावद्भेदजप्रयोगार्थम् । न ह्यतिपतितकाल-  
मप्राप्तकालं वौषधमुपयुज्यमानं यौगिकं भवति । कालो हि  
भैषज्यप्रयोगपर्याप्तिमभिनिर्वर्त्तयत्येव ॥ ११० ॥

प्रवृत्तिस्तु प्रतिकर्मसमारम्भः । तस्य लक्षणं भिष-  
गौषधातुरपरिचारकाणां क्रियासमायोगः ॥ १११ ॥

मुहुर्मुहुस्त्वित्यादि स्पष्टम् । कुत आतुरस्य सर्वत्रावस्थावेक्षणं यथावद्भेदजप्रयो-  
गार्थम् । मुहुर्मुहुः कार्यं तदवेक्षणं विनापि किं भेदजप्रयोगो यथावन्न युज्यते  
इत्यत आह—न ह्यतीत्यादि । अतिपतितकालपतीतकालमप्राप्तकालं वा भेदजमुप-  
युज्यमानं न यस्माद्यौगिकं सम्पन् योगाय भवति परन्तु कालात्ययेऽप्राप्तकाले  
वा उपयोगान्ने पजमयोगातियोगमिथ्यायोगेभ्यो भवतीति भावः । ननु कस्मात्  
कालात्ययेऽप्राप्तकाले वाप्युपयुज्यमानं भेदजं न यौगिकं भवतीत्यत आह—कालो  
हीत्यादि । भैषज्येत्युपलक्षणमायुर्वेदशास्त्रत्वात् तेन सर्वेषामपि प्रयोगस्य  
पदर्याप्तिं सर्वतोभावेनाप्तिं योगमभिनिर्व्वर्त्तयति जनयति युक्त्या भूतानां  
परिणामकारणत्वादित्युन्नेयम् । इति कालपरीक्षा दर्शिता ॥ ११० ॥

गङ्गाधरः—अथ कारणादिषु दशसु परीक्ष्यविशेषेषु कालानन्तर्यात् परीक्ष्य-  
विशेषः प्रदर्श्यते । प्रवृत्तियेथा परीक्षितव्या तथा दर्शयति—प्रवृत्तिस्त्वित्यादि ।  
प्रतिकर्मणो व्याधिप्रतिकारस्य लङ्घनादुत्पत्त्यादेः समारम्भः सम्यक् चाङ्गमनः-  
शरीराणां प्रवृत्तिभिरुपक्रमः । तस्य विज्ञानार्थमाह—तस्य लक्षणमित्यादि ।  
भिषगादीनां चतुर्णां पादानां क्रियाणां समायोगः समवायः । भिषगाद्यन्यतम-  
क्रियायोगाभावे प्रवृत्तिहानिः इत्यवगम्यते चतुष्पादोपादानेन । इत्युक्तं यथा  
परीक्ष्यविशेषः प्रवृत्तिः परीक्षितव्या तत् ॥ १११ ॥

मेलकः कालः स्यात्, तथा, संयोगविकल्पश्च कर्तव्यः, यथा विरुद्धवीर्य्यभेदजमेलकः कालः  
स्यादिति दर्शयन्नाह—प्रमाणवीर्य्यसमं कृत्वेति । आतुरावस्थालक्षणकालमाह—आतुरेत्यादि ।  
तत्रोदाहरणम्—नवज्वरे न कपायकालः, अतिक्रान्तपट्टहे च कपायकाल इत्यादि । भैषज्य-  
प्रयोगपर्याप्तिमिति भेदजप्रयोगसाध्यसिद्धिमित्यर्थः ॥ १०६—११० ॥

चक्रपाणिः—कालमभिधाय क्रमेण प्राप्तां प्रवृत्तिमाह—प्रवृत्तिस्त्वित्यादि । प्रतिकर्म  
चिकित्सा ॥ १११ ॥

उपायस्तु भिषगादीनां सौष्ठवमभिसन्धानञ्च सम्यक् ।  
तस्य लक्षणं भिषगादीनां यथोक्तगुणसम्पद्भिर्देशकालप्रमाण-  
सात्म्यक्रियादिभिश्च सिद्धिकारणैः सम्यगुपपादितस्यौषधस्याव-  
चारणमिति ॥ ११२ ॥

एवमेते दश परीक्ष्यविशेषाः पृथक् पृथक् परीक्षितव्या  
भवन्ति । परीक्षायास्तु खलु प्रयोजनं प्रतिपत्तिज्ञानम् । प्रतिपत्ति-  
र्नाम यस्तु विकारो यथा प्रतिपत्तव्यस्तस्य तथानुष्ठानज्ञानम् ।

गङ्गाधरः—अथ परीक्ष्यविशेषश्चोपायो यथा परीक्षितव्यस्तथा दर्शयति—  
उपायस्त्वित्यादि । भिषगादीनां कारणादीनां चतुर्णाम् । तस्येत्यादि । भिषगा-  
दीनां भिषगौपधातुरपरिचारकाणां यथोक्तगुणसम्पद्भिः खुड्डीकचतुष्पादो-  
क्तानां गुणानां सम्पद्भिः । आदिपदेन प्रकृत्यादिपरीक्षणानां ग्रहणम् ।  
सम्यगुपपादितस्य सम्यगुपकल्पितस्योपयुज्यमानस्य चौषधस्यावचारणमुप-  
सेवनम् । तेन चानुमीयते भिषगादीनां सौष्ठवमभिसन्धानञ्चेति ॥ ११२ ॥

गङ्गाधरः—अथ कश्चात्र परीक्ष्यविशेषः कथञ्च परीक्षितव्य इति प्रश्नद्वयस्य  
उत्तरार्थं कृतां, तस्य यो यः परीक्ष्यविशेषो यथा यथा परीक्षितव्यः स तथा  
तथा व्याख्यास्यते इति । प्रतिज्ञां, समाप्तमुपसंहरति—एवमित्यादि । एते दश  
कारणादिरूपा भिषगादयो दश परीक्ष्यविशेषाः, इति कश्चात्र परीक्ष्यविशेष इति  
प्रश्नस्योत्तरसमाप्तिवचनम् । पृथक् पृथक् परीक्षितव्या इति कथञ्च परीक्षितव्या  
इति प्रश्नस्योत्तरवचनसमाप्तिवचनमिति । ० । अथ किंप्रयोजना च परीक्षेति  
प्रश्नस्योत्तरमाह—परीक्षायास्त्वित्यादि । प्रतिपत्तिज्ञानमिति । ननु का प्रति-  
पत्तिरित्यत आह—प्रतिपत्तिर्नामेत्यादि । प्रतिपद्यतेऽनेनेति प्रतिपत्तिः शास्त्रं,  
तदिह विवक्ष्यते—य इत्यादि । यो विकारो यथा प्रतिपत्तव्यः शास्त्रतो-  
वा प्रत्यक्षानुमानाभ्यां विज्ञातव्यस्तस्य विकारस्य तथानुष्ठानं तदुपयोगिभि-  
रुपक्रमादिभिरुपाचरणं ज्ञायतेऽनेनेति तथानुष्ठानज्ञानं शास्त्रं, तच्छास्त्रस्य  
ज्ञानं प्रयोजनं संशोधनं कामयमाना भिषजः परीक्ष्य परीक्षायामिति यद्व्याख्यानं

चक्रपाणिः—परीक्षिष्टमुपायमाह—उपाय इत्यादि । यथोक्तगुणसम्पद्भिरित्यनेन सौष्ठव-  
मुक्तम् ॥ ११२ ॥

चक्रपाणिः—दशेत्यादिना तु सम्यगभिविज्ञानं भूते । किंप्रयोजना परीक्षेत्यस्योत्तरम्—

यत्र खलु वमनादीनां प्रवृत्तिर्यत्र च निवृत्तिस्तद्व्यासतः  
सिद्धिषु उत्तरकालमुपदेक्ष्यते सर्व्वम् । प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणसंयोगे  
खलु गुरुलाघवं सम्प्रधार्य्य सम्यगध्यवस्येदन्यतरनिष्ठायाम् ।  
सन्ति हि व्याधयः शास्त्रेषूत्सर्गापवादैरुपक्रमं प्रति निर्दिष्टाः ।  
तस्माद् गुरुलाघवं सम्प्रधार्य्य सम्यगध्यवस्येदित्युक्तम् ॥ ११३

तन्न योक्तिकं तच्छास्त्रज्ञानेन हि संशोधनकाले यदि कारणादीनां ज्ञानं न  
फलति तदा कथं संशोधयेदिति । तस्मात् कर्म्मणि कृता प्रतिपाद्यप्रतिपत्तिः  
प्रतिपत्तव्योऽर्थस्तस्य ज्ञानं तदिह प्रसङ्गात् आबुर्व्वेदे यो विकारो यथा  
प्रतिपत्तव्यस्तस्य व्याधेस्तथानुष्ठानस्य ज्ञानं प्रतिपत्तिज्ञानमिति किंप्रयोजना  
परीक्षेति प्रश्नस्योत्तरम् ।

अथ क च वमनादीनां प्रवृत्तिः क च निवृत्तिरिति प्रश्नद्वयस्योत्तरमाह—यत्र  
खल्वित्यादि । सिद्धिषु सिद्धिस्थाने । इति क च वमनादीनां प्रवृत्तिः क च  
निवृत्तिरिति प्रश्नद्वयस्योत्तरम् । अथ प्रवृत्तिनिवृत्तिसंयोगेन किं नैष्टिकमिति  
प्रश्नस्य उत्तरमाह—प्रवृत्तीत्यादि । एकस्मिन् पुरुषे वमनादीनां प्रवृत्तिलक्षणं  
वमनादिसाध्यरोगो निवर्त्तते वर्त्तते चापरो वमनानर्द्धरोगोऽस्तु वमनादीनां तत्र  
प्रवृत्तिनिवृत्त्योर्लक्षणयोः संयोगो मिश्रस्तदा तत्र गुरुलाघवं प्रवृत्तिलक्षणस्य किं  
गौरवं निवृत्तिलक्षणस्य लाघवम्, किं निवृत्तिलक्षणस्य गौरवं प्रवृत्तिलक्षणस्य  
लाघवमिति सम्प्रधार्य्य प्रवृत्तिलक्षणस्य गौरवं निवृत्तिलक्षणस्य लाघवं यदि  
सम्प्रधार्य्यते तदा, यदि वा निवृत्तिलक्षणस्य गौरवं प्रवृत्तिलक्षणस्य लाघवं  
सम्प्रधार्य्यते तदा, तदन्यतरनिष्ठायां गुरुलक्षणस्यैकस्य निश्चये सम्यग् लघु-  
लक्षणादीं प्रवृत्तिमुत्सृज्य गुरुलक्षणादीं प्रवृत्तिमवधार्य्य व्यवस्येत् । ननु लघु-  
लक्षणादीं प्रवृत्तिं यदुत्सृजेत् तत् कथं विज्ञेयं तत् आह—सन्ति हीत्यादि । हि  
यस्मात् शास्त्रेषु व्याधय उपक्रमं प्रति उत्सर्गापवादैस्त्यागोपादानैर्निर्दिष्टाः ।  
सम्प्रधार्य्येत्यादिवाक्यार्थं द्रष्टव्यं तस्मादित्यादि ॥ ११३ ॥

परीक्षायास्त्वित्यादि । प्रतिपत्तिशब्दार्थं विभजते—यथेत्यादि । प्रतिपत्तव्य इत्यनुष्ठानेन योजयि-  
तव्यः । 'क च वमनादीनां प्रवृत्तिः, क च निवृत्तिः' इत्यस्योत्तरमतिदेशेनाह—यत्र चित्यादि । 'प्रवृत्ति-  
निवृत्तिलक्षणसंयोगे किं नैष्टिकम्' इत्यस्योत्तरम्—प्रवृत्तीत्यादि । अध्यवस्येदित्यध्यवसायं कुर्यादि-  
त्यर्थः । अन्यतरनिष्ठायाम् इत्यन्यतररूपावस्थायाम् । अत्र गुरुलाघवे ज्ञाते गुरुप्रतिक्रियानिश्चयो-

यानि तु खलु वमनादिषु भेषजद्रव्याण्युपयोगं गच्छन्ति  
तान्यनुव्याख्यास्यामः । तद् यथा—फलजीमूतकैश्चाकुधामार्गव-  
कुटजकृतवेधनफलानि, फलजीमूतकैश्चाकुधामार्गवपुष्पपत्राणि,  
आरग्वध-वृक्षक-मदन-खादुकण्टकपाठा पाटला-शार्ङ्गंष्टा-मूर्ध्वा-  
सप्तपर्णा-नक्तमालपिचुमर्दपटोल-सुषवीगुडूची-चित्रकसोमवल्क-  
शतावरीद्वीपिशिशुमूलकषायैश्च, मधुकमधूककोविदारकवर्षु-  
दार-नीप-निचुलविम्बीशणपुष्पीप्रत्यक्पुष्पी-सदापुष्पीकषायैश्च ।

गङ्गाधरः—कानि च वमनादीनां भेषजद्रव्याणि उपयोगं गच्छन्तीति  
प्रश्नस्योत्तरमाह—यानि तित्यादि । फलेत्यादि । फलं मदनफलम् । जीमूतकं  
घोषकभेदः । इक्ष्वाकुस्तित्तालावुः । धामार्गवः पीतघोषकभेदो वायकत्वान्नेहापा-  
मार्गः । कुटजः स्वनामप्रसिद्धः । कृतवेधनं जोत्स्निका श्वेतघोषकस्तेषां फलानि ।  
फलं मदनं । जीमूतकः क्षुद्रघोषकः । इक्ष्वाकुस्तित्तालावुः । धामार्गवो घोषकः  
पीत एषां पुष्पपत्राणि । एतेन फलजीमूतकैश्चाकुधामार्गवाणां फलपुष्पपत्राणि,  
कुटजकृतवेधनयोः फलानि । आरग्वधः शोनालुः । वृक्षकः कुटजः । मदनं  
मदनवृक्षः । खादुकण्टकः वैकट्यतः । पाठा आकनादिः । पाटला पाटलि-  
मूलम् । शार्ङ्गंष्टा रक्तगुञ्जा । मूर्ध्वा सूचिमुखी । सप्तपर्णाः सप्तच्छदः । नक्त-  
मालो नाटाकरञ्जः । पिचुमर्दो निम्बः । पटोलम् । सुषवी पर्णासभेदः ।  
गुडूची च्छिन्नरुहा । चित्रकं स्वनामख्यातम् । सोमवल्कः श्वेतखदिरः ।  
शतावरी शतमूली । द्वीपि व्याघ्री । शिशुः शोभाञ्जनस्तस्य मूलम् । एषां कषायैः  
तानि । मधुकं यष्टीमधु । मधूकं गुडपुष्पम् । कोविदारः श्वेतकाञ्चनः ।  
कवर्षुदारो रक्तकाञ्चनः । नीपः कदम्बः । निचुल इज्जलः । विम्बी विम्ब-  
फलम् ओष्ठोपमाफलमिति यावत् । शणपुष्पी घण्टारवा । प्रत्यक्पुष्पी अपामार्गः ।

ऽनुक्तोऽपि ज्ञायते । तेन शास्त्रान्तरे गुरुव्याधिप्रतीकारनिष्ठायामध्यवसायं कुर्यादिति साक्षात् कृतः ।  
एतमेव गुरुव्याधिप्रतीकारं लघुव्याधिष्वुत्पादकवचनभङ्गान्तरेणाह—संति हीत्यादि । सगन्धध्व-  
स्येदिति, उत्सर्गलघुं परित्यज्यापवादगुरुमुपक्रम्यतथाध्यवस्येत् । “बलवन्तमुपद्रवम्” इत्यादिना हि  
दुर्बलं परित्यज्य बलवन्तिकिसामभिधास्यति ॥ ११३ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति कानि च वमनादिषु भेषजद्रव्याणि संयोगं गच्छन्तीत्यस्योत्तरं—  
यानित्यादि । शार्ङ्गंष्टा गुञ्जा । सोमवल्कः खदिरः । द्वीपी कण्टकारी, द्वीपिशररिति पाठे

एलाहरेणुप्रियङ्गु-पृथ्वीकाकुस्तु-वुस्तगरनलदहीचेरतालीशोशीर-  
कपायैश्च, इक्षुकारडेदिवजुवालिकादर्भपोटगलतगरकालकृत-  
कपायैश्च, सुमनासौमनस्यायनीहरिद्रादारुहरिद्रावृश्चीरपुनर्नवा-  
महासहाजुद्रसहाकपायैश्च, शाल्मलीशाल्मलकभद्रपण्यैरापण्यु-  
पोदिकोदाल-धन्वन-राजादनोपचित्रागोपी-शृङ्गाटिका-कपायैश्च,  
पिप्पली-पिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गचेरसर्प-फाणित-क्षीर-क्षार-  
लवणोदकैश्च, यथालाभं यथेष्टं वाप्युपसंस्कृत्यवर्त्तिक्रियाचूर्णावलेह-  
स्नेहकपायसांसरसयवागूयूपकाम्बलिकक्षीरोपधेयान् सोदकान्

सदापुष्पी रक्ताकः । एला स्थूलैला । हरेणुः रेणुका । प्रियङ्गुः खनामा । पृथ्वीका  
सूक्ष्मैला । कुस्तुस्वुरुः खनामख्यातस्तदभावे धनीयकम् । तगरं तगरपादिकम् ।  
नलदं जटामांसी । द्वीचैरं वालकम् । तालीगं तालीगपत्रम् । उशीरं वीरणमूलम् ।  
एपां कपायैश्च । इक्षुकाण्डं काण्डेक्षुर्नटा इति लोके । इक्षुवालिका स्वागडिका ।  
दर्भ उल्लयामूलम् । पोटगलो होगलः । तगरं तगरपादुका । कालः कृष्णागुरु । एतैः  
कृतकपायैः । एपां यथालाभं कपायैश्च । सुमना गालतीपुष्पम् । हरिद्रा । दारु-  
हरिद्रा । वृश्चीरः श्वेतपुनर्नवा । पुनर्नवा रक्तपुनर्नवा । महासहा मापपर्णी ।  
क्षद्रसहा मुद्रपर्णी । एपां यथालाभं कपायैश्च । शाल्मली शाल्मलवृक्षः ।  
भद्रपर्णी गाम्भारी । ऐरापर्णी हस्तिपर्णी हस्तिकर्णपलाश इति लोके ।  
उपोदिका कलम्बी । उदालः काञ्चनः । धन्वनः धाउनीवृक्षः । राजादनं पियाल-  
भेदः । उपचित्रा भाण्डी दन्ती वा । गोपी श्यामालता । शृङ्गाटिका शिङ्गड़ा ।  
एपां कपायैश्च । पिप्पल्यादीनामुदकैश्च यथालाभं यथेष्टं यथाभिलषितं वा एतैः  
कपायैः फलजीमूतकादीनां फलपुष्पपत्राणि कुटजकृतवेधनयोः फलानि च  
उपसंस्कृत्य भावयित्वा पक्वा वा वर्त्तिक्रियां चूर्णं वा अवलेहं वा स्नेहं वा घृतादिकं  
कपायं वा मांसरसं वा यवागूं वा यूपं वा काम्बलिकं वा क्षीरोपधेयं वा

शताचरी देया । विडलो वेतसः, शणपुष्पी घण्टारवा, सदापुष्पी रक्ताकः । कालकृतो कासमहः ।  
पोटगलो होगलः । सुपवी कारवेल्लकः । सुमना जाती । सौमनस्यायनी जातिकलिका जाति-  
कोपो वा । शाल्मलिको रोहड़कः, स्वल्पशाल्मलिर्वा । भद्रपर्णी भादाली । एलापर्णी रास्ना ।



अन्यांश्च भक्ष्यप्रकाराननुविधाय यथाहं वमनार्हाय दद्याद्विधि-  
वद्वमनम् । इति कल्पसंग्रहो वमनद्रव्याणाम् । कल्पस्तद्वेषां  
विस्तरेणोत्तरकालमुपदेक्ष्यते ॥ ११४ ॥

विरेचनद्रव्याणि तु श्यामात्रिवृच्चतुरङ्गुलतिल्वकमहा-  
वृक्षसतलाशङ्खिनीदन्तीद्रवन्तीनां क्षीरमूलत्वक्पत्रपुष्पफलानि  
यथायोगं तैस्तैः क्षीरमूलत्वक्पत्रपुष्पफलैर्विकृतिविक्लिप्तैः,  
अज-गन्धाश्व-गन्धाजशृङ्गी-क्षीरिणी-नीलिनी-क्लीतक-कषायैश्च,  
प्रकीर्यादकीर्यामसूरविदलाकम्पित्वकविडङ्ग-गवाक्षीकषायैश्च,  
पीलुपियालसृङ्गीका-काश्मर्यपरुषवदर-दाडिमामलक-हरीतकी-

मोदकान् वा अन्यांश्च भक्ष्यविशेषपूपादिप्रकारान् अनुविधाय । कल्पसंग्रहः  
वर्त्तिक्रियादिरूपाणां कल्पानां संग्रहः संक्षेपः । उत्तरकालं कल्पस्थाने ॥ ११४ ॥

गङ्गाधरः—वमनानन्तर्याद्विरेचनद्रव्याणि यानि उपयोगं यान्ति  
तान्याह—विरेचनेत्यादि । श्यामा श्याममूला त्रिवृत् । त्रिवृत् रक्तमूला  
त्रिवृत् । चतुरङ्गुलः शोनालुः । तिल्वको लोध्रः । महावृक्षः स्नुही । सप्तला  
शङ्खिनीभेदः । शङ्खिनी शङ्खपुष्पी । दन्ती नागदन्ती । द्रवन्ती क्षुद्रदन्ती ।  
एषां क्षीरमूलादीनि यथायोगं तैस्तैरजगन्धादिकषायैस्त्रिवृदादीनां क्षीर-  
मूलादिषु विकृतिविक्लिप्तैर्यस्य यत् किञ्च यच्चकिञ्च कल्पनेनायुक्तं तैरुपसंस्कृत्य  
वर्त्तिक्रियादीन् विविधान् योगान् यथाहमनुविधाय विरेचनार्हाय विरेचनं  
दद्यादिति पिण्डार्थः । तत्र विकृतिज्ञानाह—अजगन्धेत्यादि । अजगन्धा  
यमानी । अश्वगन्धा स्वनामख्याता । अजशृङ्गी मेपशृङ्गी । क्षीरिणी स्वनाम-  
ख्यातवृक्षः । नीलिनी नीलवृद्धा । क्लीतकं यष्टीमधु । एषां यथालाभं कषायैः ।  
प्रकीर्या नाटाकरञ्जः । उदकीर्या करञ्जः । असूरविदला श्याममूला त्रिवृत् ।  
कम्पित्वकः कमलागुड्डीति लोके । विडङ्गं क्रिमिशत्रुः । गवाक्षी गोरक्षकर्कटी ।  
एषां कषायैर्यथालाभम् । पीलुपियालेत्यादि । वृश्चीरः श्वेतपुनर्नवा । पुनर्नवा  
उद्दालो बहुवारः । गोपी शारिवा । वर्त्तिक्रिया वर्त्तिरूपदीर्घभक्ष्यकरणम् । तत्र 'आरग्वधादि'  
'मध्वादि' पृथग्वर्गकरणं प्रायः समानगुणतां विच्छेदपाठेन दर्शयितुं कृतम् । कल्पनं कल्पः प्रयोग  
इत्यर्थः । उत्तरकालमिति कल्पस्थाने ॥ ११४ ॥

चक्रपाणिः—विकृतिर्द्रव्यान्तरसंयोगः । अविकृतिः केवलप्रयोगः । तेन विकृतिविक्लिप्तैः

विभीतिकवृश्चौरपुनर्नवाविदारिगन्धादिकषायैश्च, सीधुसुरा-  
सौवीरक-तुषोदक-मैरेयमेदकमदिरामधुमधूलकधान्यास्लकुवल-  
वदरखज्जूरककर्कधुभिश्च, दधिदधिमण्डोदरिवाद्भिश्च, गोमहि-  
ष्यजावीनाश्च क्षीरमूत्रैर्यथालाभं यथेष्टं वाप्युसंस्कृत्य वर्त्तिक्रिया-  
चूर्णावलेहस्नेह-कषाय-मांसरसयूषकास्त्रलिकयवापूक्षीरोपधेयान्  
मोदकानन्यांश्च भक्ष्यविकारान् विविधांश्च योगाननुविधाय  
यथाहं विरेचनार्हाय दद्याद् विरेचनम् । इति कल्पसंग्रहो विरेचन-  
द्रव्याणाम् । कल्पस्त्वेषां विस्तरेणोत्तरकालमुपदेक्ष्यते ॥ ११५ ॥

आस्थापनेषु तु भूयिष्ठकल्पानि द्रव्याणि यानि योगमुप-  
यान्ति तेषु तैष्ववस्थान्तरेष्वातुराणां तानि द्रव्याणि नामतो  
विस्तरेणोपदिश्यमानान्यपरिसङ्ख्येयानि भवन्त्यतिबहुत्वात्, इष्ट-  
श्चानतिसंक्षेपविस्तरोपदेशस्तन्त्रे, तत्रैवेष्टश्च केवलं ज्ञानम्,  
तस्माद्रसत एव तान्यनुव्याख्यास्यामः ॥ ११६ ॥

रक्ता । विदारिगन्धादिर्दशकः । एषां कषायैर्यथालाभम् । सीधुसुरेत्यादि । कुवलं  
वृहद्वदरम् । इति विरेचनद्रव्याणां कल्पसंग्रहः । उत्तरकालं कल्पस्थाने ॥ ११५ ॥

गङ्गाधरः—अथ क्रमिकत्वादास्थापनस्य यानि द्रव्याण्युपयोगमृच्छन्ति  
तान्याह—आस्थापनेष्वित्यादि स्पष्टम् । ननु नामतो विस्तरेणोपदेशेऽपरि-  
संख्येयानि भवन्त्यास्थापनद्रव्याणि तेन किमित्यत आह—इष्टश्चेत्यादि । अनति-  
संक्षेपविस्तरोपदेशो हि सर्व्वभीष्टः । नामतो विस्तरेणास्थापनद्रव्याणां यौगि-  
कानामुपदेशेऽतिविस्तरोपदेशः स्यादिति भावः । नन्वतिविस्तरेण किं भयम्,  
ज्ञानार्थो ह्युपदेशः स चानतिसंक्षेपविस्तरतश्चेत्तदा कथं कृत्स्नं ज्ञानं स्यादित्यत

इति संयुक्तायुक्तैरित्यर्थः । क्षीरिणी दुग्धिका । क्षीतकं यष्टीमधु । मसूरविदला श्यामलता ।  
प्रथमन्तु श्यामा श्याममूला त्रिवृदेवोक्ता ॥ ११५ ॥

चक्रपाणिः—भूयिष्ठकल्पानीति बहुप्रयोगाण्यभिप्रायप्रयोज्यानि च । इष्टश्चानतिसंक्षेपविस्तरोप-  
देश इत्यनतिसंक्षेपविस्तरतः शास्त्रे कथनमिष्टम्, इष्टञ्च केवलं ज्ञानमनतिसंक्षेपविस्ताराभि-  
भावेऽपि, यदुक्तम्—“तस्यापि यथा सामान्येनावस्थाज्ञानं भवति, तदपीष्टम्” ग्रन्थकर्तुः श्रोतुश्च

रससंसर्गसमवायविकल्पविस्तरौ ह्येषामपरिसङ्ख्येयः, सम-  
वेतानां रसानामंशांशबलविकल्पातिबहुत्वात् । तस्माद् द्रव्याणा-  
ञ्चैकदेशसमुदाहरणार्थं रसेष्वनुविभज्य रसैकैकत्वेन \* च नाम-  
लक्षणार्थं षड्वास्थापनस्कन्धा रसतोऽनुविभज्य व्याख्यास्यन्ते । यतः

आह—तत्रैवेत्यादि । तत्र नामतो विस्तरपदेशे इष्टं केवलं कृत्स्नं ज्ञान-  
मास्थापनीययोगिकद्रव्यज्ञानम्, तदेवानतिसंक्षेपविस्तरपदेशेनापि यथा भवति  
तथोपदेशे का हानिः इत्यभिप्रेत्याह—तस्मादित्यादि । नामतो विस्तरपदेशे-  
ऽतिबहुत्वेनास्थापन-द्रव्याणामपरिसंख्येयतयातिविस्तरपदेशस्यानभीष्टत्वादसत  
एव तदतिविस्तरपदेशफलककृत्स्नास्थापनद्रव्यज्ञानजनकरसोपदेशादेव तानि  
आस्थापने योगिकानि कृत्स्नानि द्रव्याण्यनुव्याख्यास्यामः ॥ ११६ ॥

गङ्गाधरः—रससंसर्गसमवायेत्यादि । तत्रापि हि यस्मात् तेषां द्रव्याणां  
रससंसर्गसमवायविकल्पविस्तरौऽपरिसङ्ख्येयः समवेतानां संसृष्टानां रसानाम्  
अंशांशानां हीनहीनतरहीनतममध्यमध्यतरमध्यतमाधिकाधिकतराधिकतमादंश-  
शतो बलविकल्पेनातिबहुत्वात् । तस्मात् रससंसर्गसमवायविकल्पविस्तर-  
स्याप्यपरिसङ्ख्येयत्वाद् द्रव्याणाञ्चैकदेशसमुदाहरणार्थं योगिकास्थापनीय-  
कृत्स्नद्रव्याणां ज्ञानजनककतिचिद्द्रव्योदाहरणार्थं रसेषु मधुरादिषु षट्सु-  
विभज्य अनुरसं विभज्य रसैकैकत्वेन प्रधानतमैकेन रसेन नामलक्षणार्थं  
नामार्थं लक्षणार्थञ्च षड्वास्थापनस्कन्धा रसत आस्थापनरय वृक्षस्येव स्कन्धावृह-  
च्छाखाः षड्वास्ततस्तेभ्योऽनुविभज्य व्याख्यास्यन्तेऽर्थात् आस्थापनोपयोगीनि  
इत्यर्थः । तस्मादसत एवेति रसं प्राधान्येनोद्दिश्य रसाश्रयद्रव्यस्यानतिसंक्षेपविस्तारपदेशेन  
इत्यर्थः । तानीत्यास्थापनोपयोगीनि द्रव्याणि । अत्र च रसद्वारा निर्देशेऽपि रससंसर्गस्याति-  
बहुत्वेन च कृत्स्नद्रव्यनिर्देशवद् रससंक्षेपता स्यादिति कृत्वा षड्भी रसैर्निर्देशः कर्तव्यः ॥ ११६ ॥

चक्रपाणिः—आस्थापनोपयोगीनि द्रव्याणि दर्शयन्नाह—रसेत्यादि । उदाहरणार्थमिति मधुरादि-  
रसस्याधारभूतस्य द्रव्यस्योदाहरणार्थम्, रसेष्वनुविभज्येति रसेषु मधुरादिषु द्रव्याणामेकदेशसाधार-  
तयोपदिश्येत्यर्थः । रसैकैकत्वेनेति रससंसर्गत्वेन । नामलक्षणार्थं षड्वास्थापनस्कन्धा इति  
साक्षादुक्तानां जीवकादीनां नामार्थम्, तथा अनुक्तानां मधुरादिद्रव्याणां तज्जातीयत्वेन लक्षणे-  
नास्थापनयोगिद्रव्यसमूहा व्याख्यास्यन्त इति । किंवा नामलक्षणार्थमिति नामज्ञानार्थम् । समूह-  
रसतोऽनुविभज्येति अनुक्तञ्च मधुरादिरसतया निर्दिश्येत्यर्थः ।

\* रसैकैकत्वेन इति चक्रसम्मतः पाठः ।

षड्विधसास्थापनमेकरसमित्याचक्षते मेषजस्तद् दुर्लभतमं  
संस्मृष्टरसभूयिष्ठत्वाद् द्रव्याणाम् । तस्मान्मधुराणि मधुरप्रायाणि  
मधुरप्रभावप्रायाण्यपि च मधुरस्कन्धे मधुराण्येव कृत्वोपदेक्ष्यन्ते ।  
तथेतराणि द्रव्याण्यपि । तद् यथा—जीवकर्षभकौ जीवन्ती  
वीरा तामलकी काकोली क्षीरकाकोली ॐ मुद्गपर्णी माषपर्णी

द्रव्याणि । ननु कुतस्तथा व्याख्यास्यन्ते इत्यत आह—यत इत्यादि । एको  
रसो यत्र तदेकरसम् । तत्त्विति एकरसमास्थापनं दुर्लभतमं कुत इत्यत  
आह—संस्मृष्टेत्यादि । तस्मादित्यादि । तस्मात् द्रव्याणां संस्मृष्टरसभूयिष्ठत्वेन  
एकरसद्रव्याणां दुर्लभतमत्वेन एकरसास्थापनस्य दुर्लभतमत्वात् । मधुराणि  
यानि द्रव्याणि मधुरप्रायाणि च यानि द्रव्याणि मधुरप्रभावप्रायाण्यपि च  
यानि द्रव्याणि तानि सर्वाणि मधुराणि कृत्वा मधुरस्कन्धे आस्थापने  
उपदेक्ष्यन्ते । तथेतराणि अम्लादीनि द्रव्याणि उपदेक्ष्यन्ते, अम्लानि च यानि  
द्रव्याणि अम्लवहुलानि च यानि द्रव्याणि अम्लप्रभावप्रायाण्यपि च यानि  
द्रव्याणि तानि सर्वाणि द्रव्याणि अम्लानि कृत्वा अम्लस्कन्धे आस्थापने  
उपदेक्ष्यन्ते । एवं लवणानि लवणवहुलानि लवणप्रभावप्रायाणि लवणस्कन्धे  
लवणानि कृत्वा, कटुकानि कटुकवहुलानि कटुकप्रभाववहुलानि च  
कटुकस्कन्धे कटुकानि कृत्वा, तिक्तानि तिक्तवहुलानि तिक्तप्रभाववहुलानि  
तिक्तस्कन्धे तिक्तानि कृत्वा, कषायाणि कषायवहुलानि कषायप्रभाव-  
वहुलानि कषायस्कन्धे कषायाणि कृत्वोपदेक्ष्यन्ते इति प्रतिज्ञा । ० ।  
तथोपदिशति—तद् यथेत्यादि । जीवकर्षभकावित्यादि । वीरा क्षीरकाकोली ।

अथ मधुरादिरसेन द्रव्यगणनिर्देशः—मधुरादिरसेन मधुरादिरसद्रव्यगणनिर्देशो मधुरादेयक-  
रसस्यैव द्रव्यस्य संग्रहो यथा परैराख्यायते, तथास्माभिरपीक्यते, किन्तु यदपि रसान्तरे  
सत्यपि मधुरादिप्रधानम्, यद् वा द्रव्यं मधुरादिकार्यकारि विपाकप्रभावात्, तदपि मधुरादिगण  
एवास्माभिः पठनीयमिति दर्शयन्नाह—यत् त्वित्यादि । आस्थाप्यतेऽनेनेति आस्थापनं  
जीवकादि द्रव्यम् । एकरसमिति शुद्धैकरसम् । मधुरप्रायाणीत्युक्तमधुररसानीति । एव-  
मम्लस्कन्धादिष्वम्लादीन्यपि बोधयानीति 'तथेतराणि' इतिपदेन दर्शयति । भीरुं जालान्धरं

शालपर्णी पृश्निपर्णी शणपर्णी \* मेदा महामेदा कर्कटशृङ्गी  
 शृङ्गाटिका छिन्नरुहा च्छत्रातिच्छत्रा श्रावणी महाश्रावणी सहदेवा  
 विश्वदेवा शुक्ला क्षीरशुक्ला वलातिवला विदारी क्षीरविदारी  
 महासहा क्षुद्रसहर्ष्यगन्धा अश्वगन्धा पयस्या वृश्चीरपुनर्नवावृहती-  
 कण्टकारिकैरण्डमोरटश्वदंष्ट्रासंहर्षाशतावरीशतपुष्पामधूकपुष्पी-  
 यष्टीमधुमधूलिकाः, सृङ्गीका-खज्जूरपरुषकात्मगुप्ता-पुष्करबीज-  
 कशेरुकराजकशेरुकराजादन-कतककाश्मर्यशीतपात्रयोदनपाकी-  
 तालखज्जूरमस्तकेच्चिचुवालिकादर्भकुशकाशशालिगुन्द्रेत्कटक-  
 शरमूल-राजक्षवकपर्यप्रोक्ताः, द्वारदा भारद्वाजी वनत्रपुष्पभीरुपत्री  
 कर्कटीशृङ्गी कौकडाशृङ्गी । शृङ्गाटिका शृङ्गाटकः । छत्रातिच्छत्रे प्रसिद्धे,  
 शताह्वा-मधुरिके इति परे । श्रावणी श्वेतमुण्डेरी । महाश्रावणी रक्त-  
 मुण्डेरी । सहदेवा पीतपुष्पदण्डोत्पला । विश्वदेवाऽरुणपुष्पदण्डोत्पला । शुक्ला  
 शुक्लवर्णा निःक्षीरा विदारी । क्षीरशुक्ला स्वल्पक्षीरा विदारी । वला श्वेतवला ।  
 अतिवला गोरक्षतण्डुला । विदारी निःक्षीरभूमिकुष्माण्डः । क्षीरविदारी बहु-  
 क्षीरभूमिकुष्माण्डः । महासहा श्वेतकुरुवकः । क्षुद्रसहा रक्तकुरुवकः । ऋष्यगन्धा  
 वृद्धदारकः ऋषिजाङ्गलिकी वा । अश्वगन्धा स्वनामख्याता । पयस्या अर्कपुष्पी ।  
 वृश्चीरः श्वेतपुनर्नवा । पुनर्नवा रक्तपुनर्नवा । मोरटः कर्णमोरटः । संहर्षा वन्दाकः ।  
 मधूकपुष्पी मधूकभेदः । मधूलिका मर्कटहस्ततृण इति ख्यातः । कशेरुकश्चिञ्चा-  
 इकः । राजकशेरुः कशेरुरेव । राजादनं पियालः । कतको निर्मलः । शीतपाकी  
 काकोलीप्रभेदः । ओदनपाकी नीलझिण्टी । तालमस्तकं खज्जूरमस्तकञ्च  
 इत्यन्वयः । दम्ब उलूमूलम् । शालिः हैमन्तिकधान्यमूलम् । गुन्द्रा गुडूची ।  
 राजक्षवकः क्षववृक्षः । ऋष्यप्रोक्ता पीतवला । द्वारदा पालङ्कशाकः । भारद्वाजी  
 शाकम् । असनपर्णी अपराजिता । मधुपर्णी विकङ्कतम् । छत्रा कोकिलाक्षः । अतिच्छत्रा  
 अरुणकोकिलाक्षः । महाश्रावण्यलम्बुपा । शुक्ला शर्करा । क्षीरशुक्ला त्रिवृत् । क्षुद्रसहा  
 कुमारी । ऋष्यगन्धा ऋष्यजाङ्गलिकी, वलाभेदो वा । मोरटं मूर्च्छा । संहर्षा वन्दाकः । मधूक-  
 पुष्पी मधूकभेदः । मधूलिका मर्कटहस्ततृणम् । राजादनं घेन्चुलिकीति ख्यातम् । कशेरुः  
 चिञ्चोइकः । राजकशेरुः कशेरुभेदः । शीतपाकी शीतला । ओदनपाकी नीलझिण्टी । ऋष्य-

\* शणपर्णीत्यत्र असनपर्णीति, ततः परं मधुपर्णीति, दारु च, इत्यधिकं कचिद दृश्यते ।

हंसपादी काकनासिका कुलिङ्गाक्षी क्षीरवल्ली ॐ कपोतवल्ली  
गोपवल्ली मधुवल्ली सोमवल्ली चेति । एषामेवंविधानाञ्चान्येषां  
मधुरवर्गपरिसंख्यातानामौषधद्रव्याणां छेद्यानि खण्डश्लेदयित्वा  
भेद्यानि चाणुशो भेदयित्वा प्रक्षाल्य पानीयेन सुप्रक्षालितायां  
स्थाल्यां समावाप्य पयसाद्धौदकेनाभ्यासच्य साधयेद् द्रव्या  
सततमवधृयेत् । तदुपयुक्तं भूयिष्मभसि गतरसेष्वौषधेषु  
पयसि चानुपदग्धे स्थालीमपहृत्य परिस्त्रुतं पूतं पयः सुखोष्णं  
घृततैलवसामज्जलवणफाणितोपहितं वस्तिं वातविकारिणे  
विधिज्ञो विधिवद् दद्यात् । सुशीतन्तु मधुसर्पिर्भ्यामुपसंस्कृत्य  
पित्तविकारिणे दद्यात् । इति मधुरस्कन्धः ॥ ११७ ॥

वनकार्पासी । वनत्रपुपी वन्यस्वल्पत्रपुपः । अभीरुपत्री स्वल्पशतावरी । हंस-  
पादी थुलकुङ्गी । काकनासा केरुदुटी । कुलिङ्गाक्षी पेटिका । क्षीरवल्ली क्षीरलता ।  
कपोतवल्ली सूक्ष्मा । गोपवल्ली अनन्तमूलम् । मधुवल्ली यष्टीमधुभेदः ।  
सोमवल्ली सोमलता । एषामेवंविधानामन्येषाञ्च मधुरवर्गपरिसंख्यातानाम्  
आस्थापनस्यौषधस्य द्रव्याणां मध्ये यानि च्छेद्यानि च्छेत्तमर्हाणि तानि  
खण्डश्लेदयित्वा । भेद्यानि यानि च भेत्तुमर्हाणि तानि अणुशो भेदयित्वा पानी-  
येन प्रक्षालयाद्धौदकेन पयसाष्टगुणेन काथत्वादासिच्य साधयेत् पचेत् । गतरसेषु  
औषधेषु—चतुर्भागावशिष्टे तु द्रव्यं गतरसं भवेत्—इति चतुर्थावगेषे पयसि  
गतजलदुग्धे चानुपदग्धे तदुपयुक्तं स्थालीमपहृत्य सुपरिस्त्रुतं वस्त्रेण पूतं तत्  
सुखोष्णं पयो दुग्धं घृतादिभिरनुरूपैरुपहितं वस्तिं वस्तिमध्ये पूरयित्वा वात-  
विकारिणे दद्यात् । सुशीतन्तु तद् दुग्धं घृतादुपहितं न कृत्वा मधुसर्पिर्भ्यामुप-  
संस्कृत्य पित्तविकारिणे वस्तिं दद्यात् । इति मधुरस्कन्ध आस्थापनवस्तिः ॥ ११७ ॥

प्रोक्ता बलाभेदः । द्वारदा शाकतरुः । भारद्वाजी वनकार्पासी । वनत्रपुपी बृहत्फला गोडुम्या ।  
अभीरुपत्री शतावरीभेदः । कुलिङ्गाक्षी पेटिका, कुलिङ्गापाठपक्षे उच्यते । क्षीरवल्ली क्षीरलता ।  
कपोलवल्ली कण्डक्षेजु इति ख्याता । कपोतवल्ली सूक्ष्मैला । सोमवल्ली सोमलता । गोपवल्ली  
अनन्तमूलम् । मधुवल्ली यष्टीमधुभेदः ॥ ११७ ॥

\* कपोलवल्लीत्यधिकः पाठः कचिद ।

आम्रााम्रातकलकुचकरमईवृक्षाः श्लाम्लवेतसकुवलवदरदाडिम-  
मातुलुङ्गकरीरका-७-मलक + तित्तिङ्गीकशीतकदन्तशठैरावतक-  
कोशाम्रधन्वनानां फलानि, पत्राणि चाश्मन्तकचाङ्गेरीणां चतु-  
र्विधानाञ्च अम्लिकानां द्वयोश्च कोलयोश्चासशुष्कयोर्द्वयोश्च  
शुष्काम्लिकयोर्ग्राम्यारण्ययोः । आसवद्रव्याणि च सुरासौवीरक-  
तुपोदकमैरैय-मेदकमदिरामधुशुक्त-सीधुदधिमण्डोदश्विच्चान्या-  
श्लादीनि च । एषामेवंविधानाञ्चान्येषामम्लवर्गपरिसङ्ख्यातानाम्  
अपधद्रव्याणां छेद्यानि खण्डश्लेदयित्वा भेद्यानि चाणुशो  
भेदयित्वा द्रवैः स्थितानि ‡ अवसिच्य साधयित्वोपसंस्कृत्य  
यथावत् तैलवसा-§-मज्जलवणफाणितोपहितं सुखोष्णं वस्तिं  
वातविकारिणे विधिज्ञो विधिवद् दद्यात् । इत्यम्लस्कन्धः ॥११८॥

गङ्गाधरः—अथ क्रमिकत्वादम्लस्कन्धास्थापनद्रव्याण्याह—आम्रेत्यादि ।  
वृक्षाम्लं किञ्चिन्मधुरमांसलफलं तित्तिङ्गीकम् । करीरो मरुजद्रुमः । तित्तिङ्गीक-  
मम्लाधिकं तित्तिङ्गीकम् । शीतकं चालित्रफलम् । दन्तशठो जम्बीरः । ऐरा-  
वतकः अम्लनागरङ्गः । कोशाम्रः उडिआम्रः । धन्वनः धन्वनवृक्षः । एषां फलानि ।  
अश्मन्तकानां चाङ्गेरीणां पत्राणि चतुर्विधानामम्लिकानाञ्च पत्राणि द्वयोश्च  
कोलयोः शुष्कयोर्द्वयोश्च शुष्काम्लिकयोर्ग्राम्यारण्ययोः पत्राणि । आसव-  
द्रव्याणि च सुरादीनि ग्रान्युक्तानि । एषामेवंविधानामन्येषामम्लवर्गपरि-  
संख्यातानामौषधद्रव्याणां मध्ये छेद्यानि खण्डश्लेदयित्वा भेद्यान्यणुशो  
भेदयित्वा सुरादिषु द्रवेषु स्थितानि तैः सुरादिभिर्द्रवैः साधयित्वा पक्त्वा

चक्रपाणिः—अम्लस्कन्धे नन्दीतकः कर्परनन्दी । शीतकोऽम्युलोडकः । ऐरावतो नागरङ्गम् ।  
अम्लिका कन्दप्रधाना कामरूपे प्रसिद्धा, अम्लिकाभेद एवेत्याहुः । द्वयोश्चेत्यादि । द्रवैः स्थिरा-  
णीति द्रवमज्जनात् स्थिरमूतानीत्यर्थः ॥ ११८ ॥

\* करीरक इत्यत्र गण्डीर इत्यन्यः पाठः ।

† इतः परं नन्दीतक इत्यधिकः पाठः केषुचिद् ग्रन्थेषु दृश्यते ।

‡ स्थिराणीति चक्रः ।

§ इतः परं मस्तु इत्यधिकः पाठः कश्चित् ।

सैन्धवसौवर्चलकालविडपात्रयकुप्यवालकैलमौलकसामुद्र-  
रौमकौद्भिदौपरपाटेयकपांशुजान्येवंप्रकाराणि चान्यानि लवण-  
वर्गपरिसंख्यातानि । एतान्यम्लोपहितान्युष्णोदकोपहितानि वा  
स्नेहवन्ति सुखोष्णं वस्तिं वातविकारिणे विधिज्ञो विधिवद्  
दद्यात् । इति लवणस्कन्धः ॥ ११६ ॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीचव्यचित्रकशृङ्गवेरमरिचा-  
जमोदार्द्रकविडङ्गकुस्तुबुरुषीलुतैजस्विन्येलाकुण्ठभल्लातकास्थि-  
हिङ्गुद्रुकिलिममूलकसर्पणाम्, लसुनकरञ्जशिग्रुशिग्रुकखर-  
पुष्पभूसृण-सुमुखसुरसाज्जककाण्डीरकालमालकपर्णासक्षवक-  
फणिज्भक्तचारमूत्रपित्तानाञ्च । एवंविधानाञ्चान्येषां कटुक-  
चतुर्भागशिष्टमुपसंस्कृत्य यथावद्यथायोग्यं तैलादुपहितं सुखोष्णं वस्तिं  
वातविकारिणे दद्यात् । इत्यम्लस्कन्ध आस्थापनवस्तिः ॥ ११८ ॥

गङ्गाधरः—अथ क्रमिकत्वाल्लवणस्कन्धास्थापनद्रव्याण्याह—सैन्धवेत्यादि ।  
सैन्धवादीनि लवणानि देशविशेषे प्रसिद्धानि एतानि एवंविधान्यन्यानि  
लवणवर्गपरिसंख्यातानि अम्लोपहितानि उष्णोदकोपहितानि वा स्नेहवन्ति  
घृततैलादियुक्तानि सुखोष्णं तद्द्रवरूपं वस्तिं वातविकारिणे दद्यात् । इति  
लवणस्कन्ध आस्थापनवस्तिः ॥ ११९ ॥

गङ्गाधरः—अथ क्रमिकत्वात् कटुकस्कन्धास्थापनद्रव्याण्याह—पिप्पली-  
त्यादि । शृङ्गवेरं शुष्कं शुण्ठीति यावत्, आर्द्रकस्य पुनः पाठात् । तेजस्विनी  
तेजिनी । द्रुकिलिमो देवदारुः । मूलकं सर्पपं सर्पपद्वयं शिग्रुत्रयम् । खरपुष्पं खरा-  
शिनी अपामार्गो वा । भूसृणं गन्धतृणम् । सुमुखः पर्णासभदः । सुरसस्तुलसी-  
भेदः । अज्जकः श्वेततुलसी । काण्डीरः मञ्जिष्ठा । कालमालः कुण्ठतुलसी ।  
पर्णासः क्षुद्रपर्णासः । क्षवको राजक्षवकः । फणिज्जको गन्धपर्णासः । क्षारो  
दग्धभस्मकृतः क्षारः । मूत्रं गवादिमूत्रम् । पित्तं मत्स्यादिपित्तम् । एषामेवं-

चक्रपाणिः—कूप्यादयो लवणभेदा देशान्तरप्रसिद्धाः । तेन देशान्तरीयात् तदर्थं ज्ञातव्याः ।

\* पाक्येत्यनन्तरम् आनूप इत्यधिकः पाठः ।



वर्गपरिसङ्ख्यातानामौषधद्रव्याणां छेद्यानि खण्डशश्छेदयित्वा  
भेद्यानि चाणशो भेदयित्वा गोमूत्रेण साधयित्वोपसंस्कृत्य  
यथावन्मधुतैललवणोपहितं सुखोष्णं वस्तिं श्लेष्मविकारिणे  
विधिज्ञो विधिवद् दद्यात् । इति कटुकस्कन्धः ॥ १२० ॥

चन्दननलद-कृतमालनक्तमाल-निम्बतुम्बुरु-कुटजहरिद्रा-  
दारुहरिद्रामुस्त-मूर्वाकिराततिक्तक-कटुरोहिणी-त्रायमाणकरी-  
राणाम्, करवीरकैवुककठिल्लकवृषमधुपर्णीकर्कोटकवार्त्ताकुक्कश-  
काकमाचीकारवेल्लकाकोडुम्बरिकासुपव्यतिविपा-पटोल-कूणक-  
पाठागुडूची-वेत्राग्रवेतसविकङ्कत-वकुल-सोमवल्कसप्तपर्णसुमनो-  
ऽर्कावल्गुजवरा-तगरागुरुहीवेरोशीराणाम् । एवंविधानाश्चान्येषां

विधानाश्चान्येषां कटुकवर्गपरिसङ्ख्यातानाम् अष्टगुणेन काथत्वात् गोमूत्रेण  
साधयित्वा चतुर्भागशिष्टं काथं मधुतैलसैन्धवोपहितं सुखोष्णं वस्तिं  
श्लेष्मविकारिणे दद्यात् । इति कटुकस्कन्ध आस्थापनवस्तिः ॥ १२० ॥

गङ्गाधरः-क्रमिकत्वात् तिक्तकस्कन्धास्थापनद्रव्याण्याह-चन्दनेत्यादि ।  
चन्दनं रक्तचन्दनम् । नलदमुशीरं जटामांसीत्यन्ये । कृतमालः शोनालुः । नक्त-  
मालो नाटाकरञ्जः । तुम्बुरु स्वनामख्यातं तदभावे धन्याकम् । करीरो मरुजद्रुमः ।  
कैवुकः कैँउ इति लोके । कठिल्लकः कारवेल्वः । मधुपर्णी लतापुटकी गुडूची  
वा । कर्कोटकः कौकरोल इति लोके । वार्त्ताकुः स्वनामख्यातः । कर्कशः  
कम्पिल्लः । काकमाची स्वनामख्याता । कारवेल्ल इति बृहत्कारवेल्लः ।  
काकोडुम्बरिका कोठोडुम्बरः । सुपवी वन्यकारवेल्वः । अतिविपा आतइप इति  
लोके । पटोलं दीर्घपटोलम् । कूणकं पटोलम् । पाठा अम्बुष्ठा । वेतसः स्वनामा ।  
विकङ्कतः वैँच इति लोके । वकुलं स्वनाम । सोमवल्कः श्वेतखदिरः । सुमनो  
मालती । अर्कः । अवल्गुजः सोमराजी । वरा त्रिफला । एषामेवंविधानाश्च

रोमका रमानदीभवा । (कटुकवर्ग) तेजस्विनी तेजोवती । किलिमं देवदारु । तिक्तवर्गे कर्कशः

तिक्तवर्गपरिसङ्ख्यातानामौषधद्रव्याणां छेद्यानि च खण्डशः  
छेदयित्वा भेद्यानि चाणुशो भेदयित्वा प्रक्षाल्य पानी-  
येनाभ्यासिच्य साधयित्वोसंस्कृत्य यथावन्मधुतैलवणोपहितं  
सुखोष्णं वस्तिं श्लेष्मविकारिणे विधिज्ञो विधिवद् दद्यात् ।  
शीतन्तु मधुसर्पिर्भ्यामुपसंसृज्य पित्तविकारिणे विधिज्ञो विधि-  
वद् दद्यात् । इति तिक्तस्कन्धः ॥ १२१ ॥

प्रियङ्गुनन्ताम्रास्थ्यम्बुण्डकीकटुङ्गलोध्रमोचरससमङ्गाधातकी-  
पुष्पपद्मापद्मकेशरजम्बाम्रप्लक्षवटकपीतनोदुम्बराश्वत्थभल्ला-  
तकास्थ्यश्मन्तकशिरीष† शिंशपासोमवल्कतिन्दुकानाम्, पियाल-  
वदरखदिर-सप्तपर्णाश्वकर्णस्यन्दनार्जुनासनारिमेदैलवालुकपर-  
पेलवकदम्ब-शल्लकीजिङ्गिनीकाशकशेरुकाराजकशेरुकाकट्फल-  
वंशपद्मकाशोकानाम्, शालधवसर्ज्जभूज्जर्जासनखरपुष्पाशम-

अन्येषां तिक्तवर्गपरिसङ्ख्यातानाम् । पानीयेनेति अष्टगुणेन साधयित्वा चतु-  
र्भागावशिष्टं मधुतैलसैन्धवोपहितं सुखोष्णं कफविकारिणे, शीतन्तु मधु-  
सर्पिर्भ्यां युक्तं पित्तविकारिणे वस्तिं दद्यात् । इति तिक्तस्कन्ध आस्थापन-  
वस्तिः ॥ १२१ ॥

गङ्गाधरः—अथ क्रमिकत्वात् पारिजेण्याच्च कपायस्कन्धास्थापनद्रव्याण्याह—  
प्रियङ्गित्यादि । प्रियङ्गुनन्तमूलम् । आम्रफलास्थि । अम्बुण्डकी पाठा । कटुङ्ग-  
इयोनाकः । धातकीपुष्पम् । पद्मा पद्मचारिणी ब्राह्मणयष्टी । पद्मकेशरं पद्म-  
किञ्जल्कः । अश्वकर्णो लताशालः । स्यन्दनो नेमिस्तिनिश इति ख्यातः । असनः  
पीतशालः । अरिमेदो विट्खदिरः । एलवालुकः तेजवलः । परिपेलवः कैवर्त्त-  
मुस्तकः । शल्लकी शल्लकीवृक्षः । जिङ्गिनी मञ्जिष्ठा । काशः । कशेरुश्चिञ्चूया ।  
राजकशेरुः कशेरुवेव । कट्फलम् । वंशो वेणुः । पद्मकं पद्मकाष्ठ । अशोकः

पटोलभेदः । कपायवर्गो सप्तपर्णः पियालशालः । परिपेलवं कैवर्त्तमुस्तकम् । जिङ्गिनी स्वनामख्याता ।

माठीकवरकतुङ्गाजकर्णाश्वकर्णस्फूर्जकविभीतककुम्भीक-पुष्कर-  
बीजविसमृणालतालखज्जूरतरुणी-ॐ-नाम् । एवंविधानाश्चान्येषां  
कषायवर्गपरिसङ्ख्यातानासौषधद्रव्याणां छेद्यानि च खण्डशश्छेद-  
यित्वा भेद्यानि चाणुशो भेदयित्वा प्रक्षाल्य पानीयेनाभ्यासिच्य  
साधयित्वोपसंस्तृज्य यथावन्मधुतैललवणोपहितं सुखोष्णं  
वस्तिं श्लेष्मविकारिणे विधिज्ञो विधिवद् दद्यात् । शीतन्तु  
मधुसपिभ्यामुपसंस्तृज्य पित्तविकारिणे विधिवत् दद्यात् । इति  
कषायस्कन्धः ॥ १२२ ॥

तत्र श्लोकाः ।

षड् वर्गाः परिसङ्ख्याता य एतै रसभेदतः ।

आस्थापनमभिप्रेत्य तान् विद्यात् सार्वयौगिकान् ॥

खनामख्यातः । शालः शालकाष्ठम् । धवः । सज्जो धूनकः । भूज्जो भूज्ज-  
ग्रन्थिः । असनः कृष्णासनः । खरपुष्पा खरमञ्जरी अपामार्ग इति ख्यातः । शमी  
गौडकौटा । माठीको देवदारुः । वरको वोरधान्यम् । तुङ्गः पुन्नागवृक्षः ।  
अजकर्णोऽसनभेदः । अश्वकर्णो वृहश्छालकाष्ठम् । स्फूर्जकस्तिन्दुकः ।  
कुम्भीकः कट्फलः । तरुणी घृतकुमारी । एषामेवंविधानामन्येषाञ्च कषायवर्ग-  
परिसङ्ख्यातानाम् । इति कषायस्कन्ध आस्थापनवस्तिः ॥ १२२ ॥

गङ्गाधरः—उपसंहरति—तत्र श्लोका इत्यादि । षड् वर्गा इति । सार्व-

माठीको देवदारुः । अजकर्णः शालभेदः । कुम्भी कुम्भीक इति ख्याता । विसं करहाटः ।  
मृणालं मृणालनाडिका । तालखज्जूरतरुणामिति तालखज्जूरवृक्षाणामित्यर्थः । तत्र च स्कन्धेषु  
यद् द्रव्यं स्कन्धद्वये पठ्यते, तदुभययुक्तत्वेन उभयत्रापि योगीति ज्ञेयम् ॥ ११९—१२२ ॥

चक्रपाणिः—सार्वयौगिकानिति सर्वेष्ववास्थापनसाध्येषु रोगेषु वातव्याधिज्वरगुल्मादिषु

सर्व्वशो हि प्रणिहिताः सर्व्वरोगेषु जानता ।  
 सर्व्वान् रोगान् नियच्छन्ति येभ्य आस्थापनं हितम् ॥  
 येषां येषां प्रशान्त्यर्थं ये ये न परिकीर्त्तिताः ।  
 द्रव्यवर्गा विकाराणां तेषां ते परिकोपकाः ॥  
 इत्येते पङ्कास्थापनस्कन्धा रसेनानुविभज्य व्याख्याता  
 भवन्ति ॥ १२२ ॥

एभ्यो भिषग् बुद्धिमान् परिसङ्ख्यातमपि यद् द्रव्यम्  
 श्रयौगिकं मन्येत, तत्तदपकर्षयेच्च । यद् यच्चानुक्तमपि च यौगिकं

यौगिकान् सर्व्वरोगहरास्थापनयोगोपगान् । ननु कुतः साव्वयौगिकांस्तान्  
 विद्यादित्यत आह—सर्व्वशो हीत्यादि । येभ्यो रोगेभ्य आस्थापनं हितं  
 हि यस्मात् तान् सर्व्वान् रोगान् जानता वैदेन सर्व्वरोगेषु सर्व्वशः सर्व्वे  
 सर्व्वे एते पङ्क्ताः प्रणिहिता नियच्छन्ति, तस्मात् तान् पङ्क्तांस्थापनम्  
 अभिप्रेत्य साव्वयौगिकान् विद्यात् । मधुरादिस्कन्धादीनां वातादिविकारेषु  
 यद्विधानमुक्तं तदितरेष्वविधिमाह—येषां येषामित्यादि । इत्येते पङ्क्तिपु-  
 संहारः ॥ १२२ ॥

गङ्गाधरः—अथ परिसङ्ख्यातमधुरादिवर्गाणां मध्ये यद् द्रव्यं यद्रोगविशेषे

यथोक्तद्रोपसम्बन्धे सति यौगिकानित्यर्थः । एतदेव विवृणोति—सर्व्वशो हीत्यादि । सर्व्वश इति  
 समस्तवर्गेणाद्वर्गेण यथालाभेन वा । इदानीं सर्व्ववर्गाणां सर्व्वस्थापनसाध्यरोगेषु यौगिकत्वं  
 यदुक्तम्, तत्र ऊवरे कटुकवर्गेणास्थापनं पित्तकरत्वात् ऊवरं वर्द्धयति, कफमेव हरति । तेन  
 दोषविशेषेणास्थापनविशेषार्थं सर्व्वगणानां यौगिकत्वमेतदुक्तम्, किन्तु सामान्येन सर्व्वस्थापन-  
 रोगहितत्वम्, दोषविशेषेषु तु तन्नामनुगुणवर्गस्य प्रयोगस्य निषेध एवेति दर्शयन्नाह—येषामित्यादि ।  
 येषामिति वातादिविकाराणामुक्तानामिह । तत्र वातहरस्कन्धः न कफप्रशान्त्यर्थमुक्तः, तेन  
 कफवर्द्धकः । एवमम्लादिवर्गेष्वपि ज्ञेयम् । किंच साव्वयौगिकानित्यनेनोक्तानां वर्गाणां  
 समांसध्यासयोगेन सकलास्थापनसाध्यरोगहरत्वमुच्यते, न प्रत्येकम् । प्रत्येकन्तु वर्गाणां साध्यत्वेन  
 अनुक्तरोगकर्म्मत्वमुच्यते 'तेषाम्' इत्यादिना ॥ १२२ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रत्युक्तवर्गेषु व्याध्यादिपर्यालोचनया यौगिकत्वमपेक्ष्य यौगिकप्रक्षेपमयौगिको-  
 द्हरणञ्च दर्शयन्नाह—तेभ्य इत्यादि । 'बुद्धिमान्' इति पदेन, बुद्धिमत्तैव प्रक्षेपोद्धारौ गणे कर्त्तव्यौ,

मन्येत, तत् तद् दद्याद् । वर्गमपि वर्गेणोपसंस्त्रजेदेकमेकेनानेकेन  
वा युक्तिं प्रमाणीकृत्य । प्रचरणमिव भिन्नुकस्य बीजमिव च कर्ष-  
कस्य सूत्रं बुद्धिमतामल्पमपि चानल्पज्ञानाय भवति । तस्माद्  
बुद्धिमतामूहापोहवितर्काः, मन्दबुद्धेस्तु यथोक्तानुगमनमेव  
श्रेयः । यथोक्तं हि मार्गमनुगच्छन् भिषक् संसाधयति  
कार्यमनतिमहत्त्वात् ० अनतिह्रस्वत्वादुदाहरणस्येति ॥ १२३ ॥

यौगिकं न भवति, तद्वर्जनमपरिसङ्ख्यानान्येपाश्च यौगिकानामुपादानं  
वर्गान्तरस्य तत्तद्रोगयौगिकत्वे वर्गान्तरसंसर्जनश्च विधातुमाह—एभ्य इत्यादि ।  
बुद्धिमतां सूत्रानुसारेणोहस्तर्कः अपोहस्तर्केणैकं निश्चित्यान्यस्य वर्जनमाभ्यां  
वितर्क इदं युक्तमिदमयुक्तमिति तत्त्वातत्त्वबुद्धिः । एते श्रेय इत्यस्य वचन-  
विपरिणामेन श्रेयांस इत्यर्थः । मन्दबुद्धेस्तु यथोक्तानुगमनमेव श्रेय इत्यन्वयः ।  
कुतस्ते श्रेयांसस्तच्च श्रेय इत्यत आह—यथोक्तं हीत्यादि । हि यस्मात्  
यथोक्तं मार्गं भिषगनुगच्छन् उदाहरणस्यानतिमहत्त्वादनतिह्रस्वत्वात् कार्यं  
संसाधयति ॥ १२३ ॥

माल्पबुद्धीनां तद्वापोहकरणे सामर्थ्यमिति दर्शयति । युक्तिं प्रमाणीकृत्येति ऊहं प्रमाणीकृत्येत्यर्थः ।  
प्रचरणं भिक्षामूलं तण्डुलादि पात्रस्थम् । ननु मन्दबुद्धेः कथं यथोक्तानुगमनम् ? यथोक्तम्  
अयौगिकमूहेन बुद्धिमन्तः प्रपद्यन्ते, तत्रैव तन्मन्दधीः प्रयुज्जानो न कथमनर्थमावहेदित्याह—  
यथोक्तं हीत्यादि । अनतिमहत्त्वाद् वा निपातयतीत्यनेन, मन्दबुद्धिर्यथोक्तमाचरति ऊहं विना  
न चातिव्यापद् भवतीति दर्शयति । यतः शास्त्रे हि यो विधिर्यत्रोक्तः, स प्रायो यौगिक एव भवति,  
तत्र तत्रापि शरीरादिभेदेन यौगिकः, तत्रापि स्तोकमात्रेण यौगिक इत्यर्थः । अनतिह्रस्वत्वादुदा-  
हरणस्येति शास्त्रे उदाहरणस्य विधेरनतिसङ्क्षेपादित्यर्थः । एतेन स्तोकं रोगसाधनोदाहरणं  
स्यात्, ऊहमेव वा भवतु, तदा मन्दबुद्धिः साक्षादुदाहरणविषयाज्ञानात् स्वयम् ऊहाक्षमत्वाच्च न  
रोगशान्तिलक्षणं कार्यं कर्तुं क्षमः स्यात् । यतो हुज्जदाहरणानि यदूनि । तेन तैरेवोदाहरणात्मक-  
प्रयोगैस्तत्साध्यत्वेनोक्तव्याधीन् साधयतीति युजम् । इमौ चावापोद्धारौ गणेषु मध्ये गणोक्तद्रव्ये  
प्रायो ज्ञेयौ । यदुक्तं सुश्रुते—“गणोक्तमपि यद् द्रव्यं भवेद् व्याधावयौगिकम् । तद्भरेत्  
प्रक्षिपेत् तु यन्मन्येद् यौगिकन्तु तद्” इति । ये तु संयोगमहिम्ना कार्यकारकाः प्रयोगा  
अगस्त्यहरीतक्यादयः, तेष्ववापोद्धारौ न कर्तव्यौ । एवमेव चार्थमभिप्रेत्योक्तं सुश्रुते—“एष  
चागमसिद्धत्वात् तथैव फलदर्शनात् । मन्त्रवत् संप्रयोक्तव्यो न मीमांस्यः कथञ्चन” ॥ १२३ ॥

\* अनतिमहत्त्वाद्वा निपातयतीति चकष्टतः पाठः ।

अतः परमनुवासनद्रव्याण्यनुव्याख्यास्यन्ते । तच्चानुवासनन्तु स्नेह एव । स्नेहस्तु द्विविधः, स्थावरात्मको जङ्गमात्मकश्च । तत्र स्थावरस्नेहस्तैलमतैलश्च । तद्वयं तैलमेव कृत्वोपदेक्ष्यते सर्वं तैलप्राधान्यात् । जङ्गमात्मकस्तु वसा मज्जा सर्पिरिति । तेषां तैलवसामज्जसर्पिषाश्च यथापूर्वं श्रेष्ठम् । वातश्लेष्म-  
विकारेष्वनुवासनीयेषु, यथोत्तरं पित्तविकारेषु, सर्व एव वा सर्वेष्वपि च योगमायान्ति संस्कारविधिविशेषादिति ॥ १२४ ॥

शिरोविरेचनद्रव्याणि पुनरपामार्गपिप्पलीमरिचविडङ्ग-  
शिग्रु-शिरीषकुस्तुम्बुरु-विल्वजमोदावार्त्ताकीपृथ्वीकैलाहरेणुका-  
फलानि च, सुरससुमुखकुठेरकगण्डीरककालमालकपर्णासन्धवक-  
फणिष्ककहरिद्राशृङ्गवेरमूलकलसुनतर्कारीसर्पपत्राणि च,  
अर्कालर्ककुण्ड-नागदन्तीवचापामार्ग-श्वेता-ज्योतिष्मती-गवाक्षी-

गङ्गाधरः—अथ क्रमिकत्वादनुवासनस्य यानि द्रव्याणि योगमृच्छन्ति  
तान्याह—अतः परमित्यादि । तैलं तिलप्रभवरस्नेहः । अतैलं सर्पपादिप्रभवः  
स्नेहः । तत्र तैलातैले स्नेहद्वये उपदेष्टव्ये सर्वं तैलमतैलश्च तैलप्राधान्यात्  
तैलमेव कृत्वोपदेक्ष्यते । सर्वं स्पष्टम् ॥ १२४ ॥

गङ्गाधरः—पारिशैष्यात् शिरोविरेचनस्य यानि द्रव्याणि योगमृच्छन्ति  
तान्याह—शिरोविरेचनेत्यादि । गण्डीरः समठः । तर्कारी जयन्ती । अलर्कः

चक्रपाणिः—क्रमप्राप्तमनुवासनद्रव्यमाह—अतः परमित्यादि । तत्र तैलमिति तैलभूतं सर्पप-  
स्नेहादि । तैलप्राधान्यादिति स्थावरस्नेहेषु तिलतैलस्यैव प्राधान्यात् । एतेन तैले यो विधिः,  
स सर्पपादौ श्लोद्धव्यः, 'तैल'शब्देन तु सर्पपादीनामिह ग्रहणम् । तिलभवस्नेहस्य प्राधान्य-  
प्रख्यापनार्थं 'तैल'शब्देन सर्पपादीनां ग्रहणं भवत्येव । यदुक्तं सुश्रुते—“निष्पत्तेस्तद्गुणत्वाच्च  
तैलत्वमितरेष्वपि” इति ॥ १२४ ॥

चक्रपाणिः—पारिशैष्याच्छिरोविरेचनान्याह—शिरोविरेचनेत्यादि । फलानि चेति 'च'कारेण  
तैलं तैलं द्रव्यमङ्गोपयोगञ्च दर्शयति । तेन शिग्रोर्वक्ष्यमाणे त्वगुपयोगश्च भवति । एवमन्यग्रापि

गण्डीरावाक्पुष्पीवृश्चिकालीवयःस्थातिविषामूलानि च, हरिद्रा-  
शृङ्गवेरमूलकलशुनकन्दाः, लोध्रमदनसंसर्पणनिम्बार्कपुष्पाणि  
च, देवदांर्वगुरु-सरल-शल्लकी-जिङ्गिन्यसन-हिङ्गु-निर्यासाश्च,  
तेजस्विनीवराङ्गेद्गुदीशोभाञ्जनवृहतीकण्टकारिकात्वगिति । शिरो-  
विरेचनं सप्तविधं फलपत्रमूलकन्दपुष्पनिर्ग्यासत्वगाश्रयभेदात् ।  
त्वणकटुतिक्तकषायाणि चेन्द्रियोपशयानि तथापरायनुक्ता-  
न्यपि द्रव्याणि यथायोगविहितानि शिरोविरेचनार्थमुपदिशन्ति  
इति ॥ १२५ ॥

तत्र श्लोकाः ।

लक्षणाचार्यशिष्याणां परीक्षाकारणञ्च यत् ।

अध्येयाध्यापनविधिः सम्भाषाविधिरेव च ॥

श्वेताकः । श्वेता श्वेतापराजिता । ज्योतिष्मती घोषकः । गण्डीरपुष्पी वृहत्-  
समठः । वृश्चिकाली विछातिः । हरिद्राशृङ्गवेरमूलकलशुनानां मूलवत्  
कन्दाश्चेति पुनरुक्तम् । लोधादीनां पुष्पाणि देवदांर्वादीनां निर्ग्यासश्च,  
तेजस्विनी लतापुटकी इत्यादीनां त्वक् । इति फलपत्रमूलकन्दपुष्पनिर्ग्यास-  
त्वगाश्रयभेदतः सप्तविधं शिरोविरेचनं लवणादीनि चत्वारि न मधुराम्लानि  
इन्द्रियोपशयानि ॥ १२५ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थमुपसंहरति—तत्र श्लोका इत्यादि । लक्षणं तन्त्रं,  
बुद्धिमानित्यादिना तन्त्रपरीक्षाकारणं चिह्नम् । ततोऽनन्तरमाचार्य

उदाहार्यम् । सुमुखादयः पर्णासभेदाः । गण्डीरपुष्पी समठः । वयःस्था ग्राही । वराङ्गं  
गुडत्वक् । इन्द्रियोपशयानीत्यनेन यानि लवणादीनि नेन्द्रियोपचातकानि, तान्येव शिरोविरेचने  
योज्यानि । तथापराणीति मधुराम्लकषायाणि शिरोविरेचने योगिकानि ॥ १२५ ॥

चक्रपाणिः—संग्रहे लक्षणाचार्यशिष्याणामिति शास्त्राचार्यशिष्याणां परीक्षा । लक्षणं हि  
शास्त्रमुच्यते । कारणञ्च यदिति शास्त्रादिपरीक्षाकारणञ्च यदित्यर्थः,—“एतदेवस्मृतं शास्त्रम्

पङ्क्तानि च पञ्चाशद् वादमार्गपदानि च ।

पदानि दश चान्यानि कारणादीनि तत्त्वतः ॥

सम्प्रश्नश्च परीक्षादेर्नवको वमनादिषु ।

भिपग्जितीये रोगाणामध्याये सम्प्रकीर्तितः ॥ १२६ ॥

बहुविधमिदमुक्तमर्थजातं बहुविधवाक्यविचित्रमर्थकान्तम् ।

बहुविधशुभशब्दसन्धियुक्तं बहुविधवादनिसूदनं परेषाम् ॥

इमां मतिं बहुविधहेतुसंश्रयां विजज्ञिवान् परमतवादसूदनीम् ।

निलीयते परवचनावमर्दने न शक्यते परवचनैश्च मर्दितुम् ॥

परीक्षेतेत्यादिनाचार्यपरीक्षाकारणम् । अध्यापने कृतबुद्धिरित्यादिनाध्यापन-  
विध्यन्तर्गतं शिष्याणां परीक्षाकारणम् । तत्रायमध्ययनविधिरित्यादिना  
अध्येयस्याध्ययनस्य विधिः । भावे कृत् । अथाध्यापनविधिरित्यादिनादौ शिष्य-  
परीक्षावचनानन्तरमेवंविधमध्ययाधिनिमित्यादिनाध्यापनविधिः । सम्भाषा-  
विधिमत ऊङ्ठे मित्यादिना सम्भाषाविधिः । इमानि तु खल्वित्यादिना पङ्क्-  
तानि पञ्चाशत्, चतुश्चत्वारिंशद्वादमागेषदानि । कारणादीनि दशपदानि  
तत्त्वतः । वमनादिषु परीक्षादेर्नवकोः सम्प्रश्नश्च ॥ १२६ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायं प्रशंसति । बहुविधमित्यादि । इदमेतदध्यायार्थतया  
यद्बहुविधमर्थजातमुक्तं तद्बहुविधवाक्यविचित्रम् । अथेकान्तमर्थतो मनोरमम् ।  
बहुविधशुभशब्दसन्धियुक्तं परेषां बहुविधवादनिसूदनं किं फलमित्यत आह—  
इमामित्यादि । इमामेतदध्यायार्थस्याध्ययनतो जातां मतिं बहुविधहेतुसंश्रयां  
परमतवादसूदनीं विजज्ञिवान् भिपक् परवचनावमर्दने निलीयते । परवचनैश्च

भमल इवादित्यः” इत्यादि शास्त्रपरीक्षाकारणम् । आचार्यपरीक्षाकारणम् “एवंविधो ह्याचार्यः”  
इत्यादि ; शिष्यपरीक्षाकारणन्तु “अध्याप्यमध्यापयन् ह्याचार्यः” इत्यादि । अध्येयमध्येतस्यम्,  
तस्य विधिरध्ययनविधिरेव ॥ १२६ ॥

चक्रपाणिः—इदमुक्तमर्थजातमिति लक्षणाचार्यशिष्यपरीक्षारूपमर्थजातमुक्तम् । अर्थकान्त-  
मिति : यथासम्बद्धान्यतादिना-गुणेन कमनीयार्थं भवति तथोक्तमित्यर्थः । शब्दस्य वाक्ययोजनं



दोषादीनान्तु भावानां सर्वेषामेव हेतुना ॐ ।

मानात् समस्तमानानि निरुक्तानि विभागशः ॥ १२७ ॥

इत्यग्निवेशकृतै तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते रोगभिषग्-

जितीयं विमानं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

मर्दितुं न शक्यते इति । अध्यायं प्रशस्य स्थानार्थमाह । दोषार्थमाह—दोषादीनामित्यादि ॥ १२७ ॥

अध्यायं समापयति—अग्निवेशेत्यादि । विमानस्थानग्रन्थसङ्ख्या त्रयोविंशत्यधिकं श्लोकानां सहस्रम् । ० ।

इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ

तृतीयस्कन्धे विमानस्थानजल्पे रोगभिषग्जितीय-

विमानजल्पाख्याष्टमी शाखा ॥ ८ ॥

शब्दसन्धिः । दोषादीनामित्यादिना विमानस्थानार्थसंग्रहं करोति । हेतुमदित्युपपत्तिमत् यथा भवति, तथा दोषादिमानादित्यर्थः, निरुक्तानीति निरुक्तोक्तानि । निरुक्तिश्च—दोषादयो विशेषेण मीयन्त एभिरिति विमानानि ॥ १२७ ॥

इति चरकचतुराननश्रीमच्चक्रपाणिदत्तप्रणीतायुर्वेददीपिकायां चरकतात्पर्यटीकायां  
रोगभिषग्जितीयविमानव्याख्या नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

समाप्तमिदं विमानस्थानम् ।

॥ श्रीः ॥

# चरक-संहिता।

शारीरस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातः कतिधापुरुषीयं शारीरं व्याख्यास्यामः,  
इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—अथ खलु हेतुलिङ्गौपधनानं स्वस्थानुरपरायणमायुर्वेदं धातु-  
वपम्यनिवृत्तिधातुसाम्यरक्षणार्थमुक्तवान् । तत्र धातुवैपम्यज्ञानार्थं निदान-  
स्थानं धातुवैपम्यनिवृत्तिधातुसाम्यरक्षणार्थं विमानस्थानं रसादिविमान-  
ज्ञानार्थमुक्तवा चिकित्साधिकरणशरीरीयतावद्भावज्ञानस्य तत्र हेतुत्वात् तावत्  
शरीरीयभावज्ञानार्थमधुना शारीरस्थानमारभते । तत्र वेदाधिकरणतया  
पूर्वाध्याये पुरुष उक्तः सत्त्वमात्मेत्यादिना । तस्य पुरुषस्य सव्वैभाव-  
प्रतिष्ठानस्य शारीरमानसोभयव्याधिचिकित्साविषयत्वेन शारीरेषु भावेषु  
प्राधान्यात् प्रथमतस्तद्भेदादिज्ञानहेतुं कतिधापुरुषीयं शारीरमध्यायमाह—

चक्रपाणिः—निदानस्थाने ज्ञातहेत्वादिना तथा विमाने प्रतीतरसदोपमानेन कर्तव्यचिकित्साधि-  
करणं शरीरं ज्ञातव्यं भवति । यतोऽप्रतिपक्षेऽनेपविशेषतः शरीरं न शरीरविज्ञानाधीना चिकित्सा  
साध्वी भवति, अतः शरीरं कारणोत्पत्तिस्थितिवृद्ध्यादिविशेषैः प्रतिपादयितुं शारीरं स्थानम्  
उच्यते । अत्रापि चात्यन्तदुःखोपरममोक्षकारणचिकित्सोपयुक्तपुरुषभेदादिप्रतिपादकतया प्रधानत्वेन

कतिधा पुरुषो धीमन् धातुभेदेन भिद्यते ।  
 पुरुषः कारणं कस्मात् प्रभवः पुरुषस्य कः ॥  
 किमज्ञो ज्ञः स नित्यः किं किमनित्यो निदर्शितः ।  
 प्रकृतिः का विकाराः के किं लिङ्गं पुरुषस्य च ॥  
 निष्क्रियश्च स्वतन्त्रश्च वशिनं सर्व्वगं विभुम् ।  
 वदन्त्यात्मानमात्मज्ञाः क्षेत्रज्ञं साक्षिणं तथा ॥  
 निष्क्रियस्य क्रिया तस्य भगवन् विद्यते कथम् ।  
 स्वतन्त्रश्चेदनिष्ठासु कथं योनिषु जायते ॥  
 कशी यद्यसुखैः कस्माद् भावैराक्रम्यते बलात् ।  
 सर्व्वाः सर्व्वगतत्वाच्च वेदनाः किं न वेत्ति सः ॥  
 न पश्यति विभुः कस्माच्छैलकुड्यतिरस्कृतम् ।  
 क्षेत्रज्ञः क्षेत्रमथवा किं पूर्व्वमिति संशयः ॥

अथात इत्यादि । अथात इत्येतयोः पूर्व्वोक्तं व्याख्यानं श्रेयम् । कतिधा-  
 पुरुषीयमिति । एतदध्यायादौ कतिधा पुरुषो धीमन्नित्यादिवाक्यस्थकतिधा  
 पुरुष इत्यथमधिकृत्य कृतोऽध्याय इति, तं कतिधापुरुषीयमध्यायम् । शारीर-  
 मिति । शरीरं पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकं चेतनाधिष्ठानभूतमुक्तं तस्य  
 इदमिति शारीरं, शरीरवृत्तं यावद्वस्तु तदेवाधीयते यत्रेत्यध्यायत्वेन व्यपदिश्यते ।  
 अत्र षष्ठी आधाराधेयतासम्बन्धे समवायसम्बन्धे वा । आत्वादिसर्व्वतत्त्वसम-  
 वायोऽपि पुरुष इति सर्व्वेषां परस्परं तत्त्वानां समवायात् ॥ १ ॥

कतिधापुरुषीयोऽध्यायोऽभिधीयते । कतिधेति कतिप्रकारः । पुरुष इत्यनेन चाविक्षेपेण  
 पुरुषशब्दाभिधेयोऽर्थोऽभिधीयते । यतः स्वादयश्चेतनापष्टाः इत्यादिना, तथा चतुर्विंशतिक-  
 भेदभिक्षश्च कर्मपुरुष एव शरीरी वाच्यः । चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः इत्यनेनात्मैव  
 शरीररहितः पुरुषशब्दार्थत्वेन वाच्यः । पुरुषधारणाद्धातुः । तेन, धातुभेदेनेति पुरुषधारणार्थ-  
 भेदेन । धीमक्तिरिति विशेषेण य एव धीमान्, स एव पुरुषभेदादिकमिमं वक्ष्यमाणं सुसूक्ष्मं ब्रह्म  
 समर्थं इति दर्शयति । पुरुषः कारणं कस्मादिति कस्माद्धेतोः पुरुषः संसारे प्रधानं स्थायिककारणम्  
 इत्यर्थः । प्रभवत्यस्यादिति प्रभवः कारणम् । योनिष्विति जातिषु । सर्व्वा इति परपुरुष-

ज्ञेयात् चेन्नाह ० विना पृथक् ज्ञेयज्ञो हि न युज्यते ।  
 ज्ञेयश्च यदि पूर्व स्यात् ज्ञेयज्ञः स्यादशाश्वतः ॥  
 सान्निभूतश्च कस्यायं कर्त्ता ह्यन्यो न विद्यते ।  
 स्यात् कथं वा विकारस्य विशेषो वेदनाकृतः ॥  
 अथ चार्त्तस्य भगवंस्तिष्ठणां कां चिकित्सति ।  
 अतीतां वेदनां वेद्यो वर्त्तमानां भविष्यतीम् ॥  
 भविष्यत्या असम्प्राप्तिरतीताया अनागमः ।  
 साम्प्रतिकया अपि स्थानं नास्त्यर्त्तेः संशयो ह्यतः ॥  
 कारणं वेदनानां किं किमधिष्ठानमुच्यते ।  
 क चेता वेदनाः सर्वानि वृत्तिं यान्त्यशेषतः ॥  
 सर्ववित् सर्वसन्न्यासी सर्वसंयोगनिःसृतः ।  
 एकः प्रशान्तो भूतात्मा कर्लिङ्गैरुल्लभ्यते ॥ २ ॥  
 इत्यग्निवेशस्य वचः श्रुत्वा मतिमतां वरः ।  
 सर्वं यथावत् प्रोवाच प्रशान्तात्मा पुनर्वसुः ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—तत्र प्रश्नाः । कतिधा पुरुष इत्यादयस्त्रयोविंशतिः प्रश्ना यथा-  
 स्वम् उत्तरवचनव्याख्यानात् प्राक् व्याख्यास्यन्ते ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—इतीत्यादि । इति त्रयोविंशतिप्रश्नबोधकमग्निवेशस्य शिष्यवरस्य  
 वचः श्रुत्वा मतिमतां वरः प्रशान्तात्मा शान्तमना जीवन्मुक्तः पुनर्वसुर्नाम  
 मुनिगुरुः सर्वं त्रयोविंशतिकं प्रश्नं यथावत् यथाविधि याथाव्ययं प्रोवाच  
 उत्तरवचनेन व्याख्यातवान् ॥ ३ ॥

गता अपि । क्षेत्रज्ञ आत्मा । क्षेत्रमव्यक्तवर्जितं सर्वं वक्ष्यमाणम् । ज्ञेयमित्यादि—अस्ति  
 क्षेत्रे क्षेत्रज्ञानाभावात् क्षेत्रज्ञत्वमुपपद्यते इति भावः । साक्षिमृत इति साक्षिसदृशः । विशेषो  
 वेदनाकृत इति पुत्रादिज्ञानरूपवेदनाजनितो हर्षादिविशेष इत्यर्थः । तिसृणामिति अतीतानागत-  
 वर्त्तमानानां दुःखरूपाणां मध्ये कां चिकित्सति । अतीतामित्यादौ 'किं' शब्दोऽध्याहार्यः । तेन  
 किमतीतां चिकित्सति, किं वर्त्तमानाम्, किंवा भविष्यन्तीमिति याज्यम् । स्थानं नास्तीति

\* ज्ञेयं क्षेत्रमिति चक्रः ।

खादयश्चेतनाधातु-षष्ठास्तु पुरुषः \* स्मृतः ।

चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः ॥

गङ्गाधरः—ननु कस्य प्रश्नस्योत्तरतया किं व्याख्यातवानित्यतः प्रथम-  
प्रश्नस्योत्तरमाह—खादय इत्यादि । अत्राग्निवेशः प्रथमाध्याये सर्वाधिष्ठान-  
तया सर्व्वक्रियाधिकरणतया च पुरुष उक्तः स खलु धातुभेदेन कतिधा  
भवतीत्यभिप्रेत्य प्रथममिदं पृष्टवान् । कतिधा पुरुषो धीमन् धातुभेदेन भिद्यते  
इति अस्यार्थः ;—हे धीमन् गुरो महर्षे ! पुरुषः कतिधा भिद्यते एतावन्मात्र-  
प्रश्ने पुरि शरीरे वासित्वादात्मा पुरुषः कतिधा धातुभेदेन भिद्यते इत्येवं  
गम्यते । तथा पूर्वाध्यायोक्तः—सत्त्वमात्मा शरीरश्च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत् ।  
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्व्वं प्रतिष्ठितम् ॥ स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधि-  
करणं स्मृतम् । वेदस्यास्येत्यनेन—यः पुरुषः स धातुभेदेन कतिधा भिद्यते  
इत्यपि गम्यते । तत्र कतिधा पुरुष एतावन्मात्रप्रश्ने नरसुरासुरपशुपक्षि-  
कीटपतङ्गवृक्षतृणाद्यशीतिलक्षयोनिप्राणिनां प्रत्येकशो विधा प्रश्नः स्यात्  
तद्वारणायोक्तं धातुभेदेनेति । एतादृशप्रश्ने हेतुकैकपुरुषस्य धातुभेदेन कतिधात्व-  
मिति ज्ञापितम् । अथात्र धातुधारणपोषणोपादानहेतुरारम्भक्रोऽर्थः । पुरीष-  
मूत्रवातादयो धारणहेतवो धातवः । रसादयः पोषणहेतवो धातवः । ओजः-  
प्रभृतयो धारणपोषणयोर्हेतवो धातवः, सर्व्वे ते चोभयार्थक्राः परस्परान्वयादिति  
धातवः सर्व्वेपामिति न तत्प्रश्नः । मिथः संयुक्तसत्त्वात्मशरीरसमुदायात्मकः  
पुरुषो धातुभेदेन कतिधेति प्रश्नमभिप्रेत्योत्तरयति—खादय इत्यादि । षड्-  
धातुक एकधातुकश्चतुर्व्विंशतिधातुकश्चेति धातुभेदेन त्रिविधः पुरुषो भवतीति  
ज्ञापयितुं प्रथमं षड्धातुकं विष्टुणोति । खादयश्चेतनाधातु-षष्ठास्तु पुरुषः स्मृतः  
इति, षड्धातुक एकविधः पुरुषः । खमाकाशं शब्दतन्मात्ररूपं तदादिग्रंथां  
वाय्वादीनां स्पर्शतन्मात्रादिरूपाणां न पूर्व्वपूर्व्वभूतानुप्रविष्टरूपाणाञ्च ते

क्षणिकत्वेन चिकित्सायाः प्रवृत्तियोग्यकालावस्थानं नास्ति । वेदनानां कारणमधिष्ठानञ्च यद्यपि  
दीर्घजीवितीयेऽप्युक्तम्, तथापीह प्रकरणवशाद्विशेषप्रतीत्याकाङ्क्षया च विशिष्टाः पुनः प्रश्नाः ।  
प्रश्नार्थाश्चामी उत्तरतन्त्रेणाचार्य्येण प्रपञ्चनीया इति तदैव व्याकरणीयाः ॥ १—३ ॥

चक्रपाणिः—खादय इत्यादि । खादयः खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा इति षड्यभाषाः ।  
चेतनापष्टा इत्यत्रैव चेतनाशब्देन चेतनाधारः समनस्क आत्मा गृह्यते । खादिग्रहणेन

\* चेतनापष्टा धातवः इति पाठान्तरम् ।

खादयः किं पञ्च खं वायुर्ज्योतिरापो भूरिति किं वा खादीनि नव द्रव्याणीत्यत उक्तं चेतनाधातुपष्टा इति तद्विशेषणं पष्टेतिपदम् । चेतनाधातुः पष्टो यत्र ते तथा चेतनाधातुपष्टाः खादयः समस्तरूपेण स्मृतो न तु व्यस्तरूपेणेति पङ्क्थातुक एकविधः पुरुषः । चेतना खलु सा महानिर्व्वाणारूपलये व्यदव-  
शिष्यते शक्तिब्रह्म । सा चेतनाशक्तिर्मूलप्रकृतिः सर्वात्मा चैतन्यकारिणी तच्चेतनाधातुरव्यक्ताख्य आत्मा, खादयः पञ्च महाभूतानि, शब्दमात्राकाशः स्पर्शमात्रावायु रूपमात्रज्योती रसमात्रा आपो गन्धमात्रा पृथिवीति पङ्क्थातुकः पुरुषो लोके विश्वरूपः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्राणिनामन्तरात्मा स्वप्न-  
स्थानः । उक्तं मुण्डकोपनिषदि । अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रमूर्यो दिशः श्रोत्रे वाग्वितनाश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी हेतप सर्वभूतान्तरात्मा । इति । एष मूर्क्षरूपः सर्वभूतानां स्वप्नस्थानो भूतात्मा लोके । बृहन्माण्डुक्योपनिषदि चोक्तः । तद् यथा—स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविक्लिभुक् तैजसो द्वितीयः पादः । इति । अस्य सप्ताङ्गानि पञ्चमहाभूतानि तेजो द्विधाभूतमेकं मूर्द्धापरं चक्षुः श्रोत्रमाकाशं वायुः प्राण आपो वस्तिः पृथिवी देह आत्मा चाव्यक्तं स्वप्ने प्रविक्लिभोगे चास्य खल्वेकोनविंशतिमुखानि । तद् यथा—पञ्च प्राणाः पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि मूर्क्षमाणि श्रोत्रादीनि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च मूर्क्षमाणि पात्र्यादीनि । मूर्क्षश्च मनोऽहङ्कारो महांश्चित्तञ्चेति । एतत्समुदायात्मकः पङ्क्थातुकः पुरुषः प्राणिनां स्वप्नस्थानस्तैजसो नाम भूतात्मा । नन्वेते पङ्क्थातवः किं प्रसिद्धा एवानुपादाना एतत्पङ्क्थातुक एवैकविधः किं पुरुषो नान्योऽस्तीत्यत आह—  
चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः । इति । यस्य धारणपोषणोपादान-  
हेतुर्यः स तस्य धातुः । चेतना सर्वचैतन्यहेतुरचिन्त्यानन्तप्रभाववती मूल-  
प्रकृतिः शक्तिः ब्रह्म, या महानिर्व्वाणेऽवशिष्यते । तच्चेतनाशक्त्युपादानः चेतनाधातुर्य एकः खल्वद्वितीयः सोऽपि पुरुषसंज्ञकः स्मृतः । पुरि व्याकृता-  
व्याकृतशरीरे वसतीति वसेरौणादिकः कच्प्रत्ययः पुरुषः । कथमेनं चेतना-  
शक्तिरुपाददाविति चेत् तदुक्तं तैत्तिरीयोपनिषदि । असद् वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत । तदात्मानं स्वयमकुरुत तस्मात् तत् सुकृतमुच्यते ॥ इति ।  
चेन्द्रियाणि खादिमयान्यवरुहानि । अथ च वैशेषिकदर्शनपरिगृहीतः चिकित्साशास्त्रविषयः पुरुषः । अथमेव पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः इत्यनेन सुश्रुतेनाप्युक्तः । स्मृतः इति परिभाषया पूर्वोच्चार्याणामप्ययं पुरुषशब्दवाच्योऽभिप्रेतो नास्मत्कल्पित इति दर्शयति । पुरि

अस्य मन्त्रस्यानुवाकः । यद् वै तत्सुकृतं रसो वै सः । रसं हेतुवायं लब्ध्वानन्दी भवति ॥ उ सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति, स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वेदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च । तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च तपच्चाभवत् ॥ ( यदिदं किञ्च ) निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च निलयनञ्चानिलयनञ्च विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च सत्यञ्च अनृतञ्च । सत्यमभवत् । यदिदं किञ्च तत् सर्वं सत्यमित्याचक्षते ॥ इति । अस्य ब्राह्मणश्छान्दोग्योपनिषदि । तद् यथा— असदेवेदमग्र आसीत् तत् सदासीत् तत् सदभवदित्युक्त्वा चाब्रवीत् । सदं सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तद्वैक आहुः ॥ असदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायेतेति कुतस्तु खलु सौम्यैवं स्यात् ॥ इति होवाच कथमसतः सदजायेतेति सत् त्वेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् इति । तदेक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत् तेजोऽसृजत तत् तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृज्यत ॥ तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्विद्यति च पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते ॥ ता आप ऐक्षन्त बहु स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त ॥ तस्माद्यत्र क्व च वषेति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यन्न एव तदध्यन्नाद्यं जायते ॥ सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेन आत्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ॥ तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य ॥ नामरूपे व्याकरोत् तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामप्यकरोत् ॥ इति । अत्रासद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायेतेति यदुक्तं तत्रासत्पदेन सद्वोक्तं छान्दोग्योपनिषदि । तत्र प्रावादुका विप्रतिपद्यन्ते । असद्वा इदमित्यसत्पदेनासदेव शून्यमेव तस्मादसतः सज्जायेतेति कथमसत्पदेन सदुच्यते इति । तत्र सिद्धान्त उक्तश्छान्दोग्योपनिषदि । कुतस्तु खलु सौम्यैवं स्यात् । कथमसतः शून्यतः खल्ववस्तुतः सद्वस्तु जायेतेति । न हि खपुष्पात् फलं जायते इति । एतच्च कपिलेन साङ्ख्ये परीक्षितम् । तद् यथा । शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति । विनाशस्य वस्तुधर्मत्वादिति, तदपवादमात्रमबुद्धानाम् । असद् वै शून्यं तत्त्वं यथार्थं न तु सत् । स हि भावो विनश्यति विनाशस्य वस्तुधर्मत्वात् । तस्मात् अवस्तु खल्वसत् तन्न विनश्यति न हि ब्रह्म विनाशीति यदुच्यते तदबुद्धानामपवादमात्रमिति । तत्राहुः प्रावादुकाः । उभयपक्षसमानक्षेमत्वादयमपीति । सत् शरीरे शक्ते इति व्युत्पत्त्या य आत्मा पुरुषश्चेन्नोच्यते, तमाह—चेतनेत्यादि । अत्र पुरुषः इति कर्त्तव्ये यत् पुरुषसंज्ञकः इति करोति, तेन चेतनाधातुरूपः पुरुषश्चित्सायामनगिद्वतः,

एवाग्र आसीदिति पक्षे तत् सद् ब्रह्मज्ञाने प्रयोजनं निर्व्वर्णं मुक्तिः प्रदीप-  
निर्व्वर्णवदसद्भावः क्षेमः । असदेवाग्र आसीदिति पक्षेऽपि तथेति समानक्षेम-  
त्वादयम् अन्यसत्पक्षोऽस्माकं कथमबुद्धानामपवादमात्रमिति । तत्राह सद्वादी ।  
अपुरुषार्थत्वमुभयथा । सत्पक्षे यदि निर्व्वर्णं मुक्तिर्दीपनिर्व्वर्णमिष्यते तदा न  
पुरुषार्थो भवति । अर्थो हि वस्तु । तथैवासत्पक्षेऽपि । तथा निर्व्वर्णं मुक्तिः  
अपुरुषार्थो भवतीत्युभयथा न निर्व्वर्णं पुरुषार्थो भवति । पुरुषस्य मुख्यः  
प्रयोजनीभूतोऽर्थो वस्तु पुरुषार्थो न खल्वस्तु पुरुषार्थो भवतीति । प्रकृतवस्तु-  
रूपेणाभिन्नपत्तिर्निर्व्वर्णम् । तस्माद् यदि शून्यमसदेव तत्त्वं भवति तस्मात्  
अवस्तुतो न कतुसिद्धिः स्यात्, असतः खल्ववस्तुतः सदजायतेति न सिध्प्रति ॥  
भावे तद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात् कुतस्तरां तत्सिद्धिः । भावे खलु  
सद्ब्रह्मणि वस्तुनि तद्योगेन वस्तुसिद्धियथा मृद्योगेन घटादिनिष्पत्तिः ।  
अभावे खल्वसति ब्रह्मण्यवस्तुनि तद्योगाभावात् कुतस्तरां वस्तुनिष्पत्तिः  
स्यात् उपादाननियमादिति कपिलः ।

अक्षपादेनाप्युक्तम् । अभावाद् भावोत्पत्तिर्नाऽनुपमृद्य प्रादुर्भावात् । असतः  
सदुत्पत्तिर्न भवति अनुपमृद्य कारणं प्रादुर्भावप्रसङ्गात् । उपमृदैव वीजमद्भुर  
उत्पद्यते । ननु नष्टाद्वीजादद्भुरो जायते तस्मान्न सतः सदुत्पत्तिरिति । तत्र  
सिद्धान्तः—क्रमनिर्देशादप्रतिषेध इति । नष्टाद् वीजादद्भुरो जायत इति हेतोः  
सतः सदुत्पत्तेः प्रतिषेधो न । कस्मात् ? क्रमनिर्देशात् । उपमृदैप्रादुर्भावयोः  
पौर्व्वोपमृद्यनियमः क्रमः । तन्निर्देशाद् अभावाद् भावानामुत्पत्तिरेव तत्प्रतिषेधो  
न भवति । क्रमश्चायम् । व्याहृतव्यूहानाम् अवयवानां पूर्व्वेनिवृत्तौ व्यूहान्तराद्  
द्रव्यनिष्पत्तिर्नाभावात् । वीजावयवाः कुतश्चिन्निमित्तात् प्रादुर्भूतक्रियाः  
पूर्व्वव्यूहं जहति व्यूहान्तरश्चापद्यन्ते । इति व्यूहान्तरादद्भुर उत्पद्यते । इति ।  
तत्राहुः प्रावादुकाः । असदिति अस्तीति सत् न सदसदिति वस्तूनामभाव एव  
प्रतिपद्यते । नासदभावः सद्भवतीति । तत्राह गौतमः—सर्व्वमभावो भावेऽप्यत-  
रेतराभावसिद्धेरिति । गोरभावोऽश्वो भावः तथाश्वभावो गोभाव इति भावेऽप्यु-  
मध्येऽन्योन्याभावसिद्धेः सर्व्वं वस्तु ह्यभावः । न चावस्तुरूपोऽभाव उपपद्यते ।  
भावादन्य इत्यभाव इति चेत् तत्रापि अन्यशब्देन भावादन्यत्वाश्रयः खलु भाव-  
मन्तरेण न सम्भवति न खल्वस्तु भावादन्यत्वं नाम पृथक्त्वं गुणमाश्रयितुमर्हति ।  
किन्तु शास्त्रान्तरव्यवहारानुरोधादिहाप्यथं पुरुषशब्देन संज्ञित इति दर्शयति, चिकित्साविषयस्तु  
पङ्धातुक एव पुरुषः । अत एव तत्र 'संज्ञित'ग्रहणं न कृतम् । अयञ्च पुरुषशब्दो



एवञ्च भावानामसंज्ञा यद्यभाव उच्यते तदपि भावावत्तन्मवस्तु चाभाव इत्यभिप्रायेणोक्तमभावाद्भावोत्पत्तिर्नेति गौतमेन । तत्र ह्यवस्तुन्यभावशब्दप्रयोगः कृत इति । तथा च द्विविधो भवति अभावो वस्तुभूतश्चावस्तुभूतश्च । तत्रासत्पदस्थनञा नावस्तुभूताभाव उच्यते उपादानोपमर्दनासम्भवेन सदुत्पत्त्यनुपपत्तेः । तस्माद् वस्तुभूत एव अभाव इह नञा प्रतिपद्यते ।

तत्रोक्तं कणादेन वैशेषिके शास्त्रे असद्वा इदमग्र आसीदिति स्मृत्वा । क्रियागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत् । सदसत् । सतः क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरभावात् । सच्चासत् । यच्चान्यदसदतः तदसदिति पूर्वार्धायां दर्शितं व्याख्यातञ्च । तस्मात् तेजोऽवन्नादिभ्यः सद्ग्रोऽन्यदसदिति । वस्तुविशेषः । तद्यथोक्तं श्वेताश्वतरोपनिषदि । कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुषेति चिन्ता । संयोग एषां न तु आत्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोरिति । कालादीनामेकैकस्मादेषां जन्माद्यभावाच्च कालादन्यतमं ब्रह्मेति चिन्ता, तथैषां संयोगः संघातो न ब्रह्म । आत्मभावात् । आत्मा हि नेशः सुखदुःखहेतोरिति । तर्हि किं कारणं ब्रह्मेत्यत उक्तम् । ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् । यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येक इति । ते ब्रह्मवादिनो ध्यानयोगानुगता देवस्यात्मा या शक्तिः प्राक्सर्गात् स्वगुणः प्रभावैः निगूढा क्रियागुणव्यपदेशरहिता आसीत् तां ब्रह्म अपश्यन् । तस्या हेतुस्य एव सर्वेषां जन्मजीवनप्रतिष्ठानाधिष्ठानसुखासुखवर्त्तनानि भवन्ति नान्यस्मात् एकस्मात् कस्माच्चिदपीति । देवस्तु स यः एकः कालादीनि कारणान्यधितिष्ठति तस्य देवस्यात्मा शक्तिर्ब्रह्म । नान्यदेवस्य न वा तस्य देवस्यात्मनः स्वस्य शक्तिर्ब्रह्म । ज्ञानवलक्रियाशक्त्यादिव्यवच्छेदार्थमात्मेति । तस्माद् देवस्य शक्तिरिति नोक्तम् । वायुरिव प्रभावाख्या शक्तिस्तद्विशिष्टाऽतिसूक्ष्मपरमव्योमरूपा शक्तिश्चेति द्वयमपि शक्तिरूपेणैकमेवासीत् न तु विजातीयद्वैतं ब्रह्मादेः आलोककृत् प्रभावस्तद्विशिष्टरूपञ्चेति द्वयं यथा रूपत्वेनैकमेव वस्तु न तु विजातीयद्वैतं न हि रूपादन्य आलोककृत् प्रभावस्तथा शक्तेर्न पृथक् प्रभावाख्या शक्तिरित्यत उक्तमेकमेवाद्वितीयमिति । तद्वितीयमेकमसत् क्षीरवत् । क्षीरं यथा स्नेहांशे भवत्यपरिणामि चाविकारि स्नेहातिरिक्तद्रवांशे गवादावपि पङ्कधातुसमुदाये यद्यपि वर्त्तते, तथापि सर्वप्रधाने नर एव विशेषेण वर्त्तते । तेन नातिप्रसिद्धो गवादौ पुरुषशब्दः ।

तु परिणामि तत् विक्रियमाण दधितक्रादि भवति रनेहस्तु घृतनयनीतरूप एव वर्त्तते न तु विवर्त्तते, तद्वदतिगृह्णपरमव्योमरूपा मुख्यांशशक्तिर्न परिणामिनी न च विक्रियते । प्रभावाख्या तु गुणांशभूता शक्तिः परिणामिनी ततो विक्रियते । इत्येवमेका शक्तिरेव सत् खल्वसद्ब्रह्म । ततो वै सद्जायतेति ।

यथा तदसत् एव सतः सद्जायत तदुक्तं छान्दोग्योपनिषदि । तदेक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत् तेजोऽमृजतेत्यादि । तत् सदेवासद्ब्रह्म खलु शक्तिः सव्वेकाल-नया प्रभावाख्याया शक्त्या महानिर्वाणारूपं प्रलयं कृत्वैकैवा द्वितीया स्वप्रभाव-गुणनिगृह्णा सती क्रियागुणव्यपदेशरहितैव प्रसूप्तेवासीत् । तन्महानिर्वाणे सव्वेकालनाशक्तेश्चक्रवद् भ्रमणस्वरूपत्वात् क्रमेण तदत्यये सव्वसर्जनाशक्त्यद्वैके प्रथमतो रञ्जनाशक्तिरुद्रिक्ता भवति यदा तदा निशावसाने प्रसुप्तोत्थितपुरुष इव सा शक्तिर्ब्रह्म प्रसुप्तोत्थितैव सती अहं बहु स्याम् । कथमिति प्रजायेयाहं प्रजाः प्रसूयेयेति ऐक्ष्णालोचयन । तयालोच्य रञ्जनाशक्तिपरिणामरूपं तेजो-ऽमृजन । लोहितमिवाभासमानं लोहितवर्णस्याकररूपं न तु लोहितं तेजः सव्वेपां ज्योतिषामाकररूपं ज्योतिश्चक्षुरिव चक्षुरमृजन । अथ तत् तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति । तदपोऽमृजतेति । तत् तेजोऽहं बहु स्यां प्रजायेयेत्यालोच्य स्वस्यैकादशांशैकांशं विकुर्व्वेदपोऽमृजत । ता आपः शुक्ला इवाभासाः शुक्लवणस्य आकररूपा न तु शुक्लाः । तथा रसरूपाः सव्वरसानामाकररूपा अमृतरूपा आप इवापः सव्वसामपामाकररूपा न त्वापः । तत्रैयं शुक्तिः । तस्मात् इत्यादि । यस्मात् तेजस एवादौ जाता आपस्तस्मादिदानीं यत्रकुत्रचित् पुरुषः शोचति शोकात् तेज उद्रिक्तं भवति । तदुद्रेकात् पुरुषः स्विद्यति यम्मेवान् भवतीति तेजस एवापोऽधिजायन्ते इति । अथ ता आप ऐक्षन्ते बहु स्याम प्रजायेमहीति । तदन्नममृजन्तेति ता आपो वयं बहु स्याम प्रजायेमहीत्यालोच्य स्वैकादशांशैकांशं विकुर्व्वेत्योऽन्नममृजन्त । तदन्नं वृष्णमिवाभासं कृष्णवर्णस्याकरभूतं न तु कृष्णवर्णं गन्धवदाभासं सव्वगन्धाकरभूतं न तु गन्धवती पृथिवी । तच्चाद्यमाद्यमिवाद्यानां सव्वेपामाकररूपं न त्वाद्यमिति । तेषामेपां तेजोऽवन्नानां मेलने सति लोहित-शुक्लकृष्णवदाभासमाना हिरण्यवर्णवदाभासा सैवाजा शक्तिर्ब्रह्मातिपरमसूक्ष्म-ध्वनिमती परमसूक्ष्मव्योमरूपा गायत्री वागेव देवताविरभूत् । सा शक्ति-प्रभावतेजोऽवन्नानीति पञ्चात्मिकाऽनन्ताचिन्त्यप्रभाववती । एवमुक्तं वायवीये । शक्तिः प्रथमसम्भूता गायत्री सा पदोत्तमेति । इत्येतत् तेजोऽवन्नतन्मय-

गायत्रीति चतुष्कं सदजायत तस्मादसत एव सतः शक्तिब्रह्मतः । इत्येतत्  
तु यत् सत् गायत्राख्यं तदात्मानं स्वयमकुर्वन्त्यतः स्वयम्भूर्नामैषः । सुष्ठु अयः  
शुभावहो विधिर्येस्मात् सरवयः, तत् स्वयं तस्मात् स्वयत्वात् सुकृतं पुण्यमुच्यते ।  
अत एव शिव इत्याख्यायते । यथेनं परमात्मानमकुरुत तत् सत् छान्दोग्ये-  
ऽप्युक्तम् । गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च । वाग् वै गायत्री । वाग् वै  
सर्वं भूतं गायति च त्रायते चेति । तद् व्याख्यातं कूर्मरूपिणा भगवता  
विष्णुना नारदादिभिः पृष्टेन । तद् यथा—या सा माहेश्वरी मूर्तिर्दान-  
रूपातिलालसा । अनन्या निष्कले तत्त्वे संस्थिता तु स्वतेजसा । व्योमसंज्ञा  
परा काष्ठां सेयं हेमवतो सती । शिवा सर्वगताऽनन्ता गुणातीता मुनिष्कला ।  
एकानर्कावभागस्था ज्ञानरूपातिलालसा । स्वाभाविकी च तन्मूला प्रभा भानो-  
रिवामला । सेयं करोति सकलं तस्याः कार्यमिदं जगत् । चतस्रः शक्तयो  
देव्या स्वरूपत्वेन निम्मताः । शान्तिविद्या प्रातिष्ठा च निवृत्तिरिति ताः  
स्मृताः । चतुर्व्यूहस्तनो देवः प्रोच्यते परमेश्वरः ॥ इति । एवं परमव्योमरूपं  
चतुर्व्यूहं परमात्मानं शिवं कृत्वा यथा बभूव तदुक्तमुपमन्युना । तच्छिवस्य  
शिवायाश्च साम्यञ्चेतत् स्वभावतः । यथा शिवस्तथा देवी यथा देवी तथा  
शिवः । नानयोरन्तर विद्याच्चन्द्रचान्द्रकयोरेथा । चन्द्रो न खलु भात्येष यथा  
चन्द्रिकया विना । न भाति विद्यमानोऽपि तथा शक्त्या विना शिवः । शक्तो  
यथा शिवो नित्यं शक्तो मुक्ता च देहिनाम् । आद्या सेका परा शक्तिश्चिन्मयी  
शिवसंश्रया । यामाहुरखिलैस्तस्य तैस्तेरनुगुणैर्गुणैः । समानधाम्मेणीमेव  
शिवस्य परमात्मनः । शिवेच्छया परा शक्तः शिवतत्त्वैकतां गता । ततः  
परिस्फुरत्यादौ सर्गं तैलतिलादिवत् ॥ इति । इत्येवं हिरण्यवदाभासमानया  
गायत्रा सहैकीभावादेव परमव्योमपरमात्मा स्वयः सुकृतं शिवो हिरण्यकोपः  
पुरुषः । गायत्री ह्यस्य ज्योतीरूपेण भाति तथास्य हृदये परव्योमरूपे पञ्च  
देवमुपयः सन्ति । पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरोर्ध्वदेशे तदभ्यन्तरे हृदये चात्मा भूत्वा  
वर्त्तते ॥ तदुक्तं मुण्डकोपनिषदि । हिरण्यमय परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।  
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुरिति । आपो हि रसस्तद्-  
वत्त्वाद् गायत्री च रसस्तदेकीभावाच्च शिवोऽपि रसस्तदाह—यद्वैतत् सुकृतं रसो  
वै स इत्यादि । यदेव सुकृताख्य एष आत्मा स्वयः पुरुषः स गायत्राख्य-  
रसवत्त्वाद् रस उच्यते । रसत्वेन किं करोति, तदाह—रसं हेतवायमित्यादि ।  
लोके योगी सुपुस्तथायं पुरुषः समाधौ सुपत्नौ च सर्वेषां पृथिव्यादीनां

मनसि न्ये मनसश्च विज्ञान आत्मनि लये शुद्धसत्त्वरूपेण महत्तत्त्वेन  
चेतसा विशिष्ट आत्मा खल्वेनं रसं तुरीयं परमात्मानं शिवं लब्ध्वा-  
नन्दी भवन्ति ।

अत्र जिज्ञासा । को हेवान्यान् कः प्राण्यादानन्दो न स्याद् यदेष  
आकाश इति । रस एक आनन्दीभवत्ययम् इति द्वयोर्मध्ये क एवान्यात्  
प्रीतः स्यान् कः प्रीणनः स्यादिति, यद् यस्मादेष रस आकाशः परमव्योम  
तत्र प्रीत्यसम्भवादानन्दो न स्यादिति । तत्रोत्तरम् । एष हेवानन्दयतीति  
आनन्दहेतुत्वस्य प्रयोजकत्वस्य व्यपदेशादानन्दो रस एव परमात्मा परव्योम  
ब्रह्मेति व्यजानादित्युक्तमिति । इत्येष परमात्मा हिरण्यकोप आत्मपट्क  
आदिपुत्र्यो ब्रह्मयोनिताद् ब्रह्म चेतनाधातुरेकः पुरुषस्त्रिपात् । तत्र शिरो-  
ग्रीवं दशाक्षरं स्वः पादः, तज्जातानां पञ्चब्रह्मपुरुषमहाविष्णुक्षेत्रब्रह्मणानां  
चेतनाधातुनाञ्चानेकेषां पुरुषाणां निलयनं कण्ठादधस्ताच्चतुर्विंशत्यङ्गुलं पर-  
व्योम ब्रह्म भुवर्लोको द्वितीयः पादः । ततोऽधस्तात् पश्चादक्षरं लपरव्योम्नि  
तेषां मेलनेनैकीभूतः संहतरूपश्चेतनाधातुरव्यक्तनामापि पुरुषसंज्ञकः स्मृतः  
इति । सर्वभूतमयस्तृतीयः पादो भूर्लोकः । ननु के तेऽनेके चेतनाधातुकाः  
पुरुषाः कथमुदपन्नन्तेति ? उच्यते । उक्तं छान्दाग्योपनिषदि । यद्दृशितं सेयं  
देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे  
व्याकरवाणीति । तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति । इति सा तदसद्वै-  
सद्ब्रह्मशक्तिरियं तेजोऽवन्नोपाहिता गायत्रीदेवता । हन्त खल्विमास्तेजो-  
ऽवन्नाख्यास्तिस्रो देवता अनेन परव्योम्ना परमात्मना जीवेन पुरुषेणाहम्  
अनुप्रविश्य सव्वपां नामरूपे व्याकरवाणीतैक्षत । कथमिति चेत् ? तदोच्यते ।  
तासां तेजोऽवन्नाख्यानां तिसृणां देवतानामेकैकां देवतां ताभिस्तिसृभिर्देवताभिः  
मिलिताभिर्न्यूनादंशतस्त्रिवृतां त्रिवृतां त्रात्मिकां त्रात्मिकाञ्च करवाणीति  
तैक्षत आलोचयत् । ततस्तथा चकार । यथा चकार तदुक्तं तैत्तिरीयोप-  
निषदि । उ सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽस्तप्यत । स तपस्तप्त्वा  
इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च । तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य  
सच्च त्यचाभवत् । निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च निलयनञ्चानिलयनञ्च विज्ञान-  
ञ्चाविज्ञानञ्च सत्यञ्चानृतञ्च । सत्यमभवत् । यदिदं किञ्च तत् सत्यम्  
इत्याचक्षत इति । उ भो य आत्मा स्वयः सुकृतं रस आकाश आनन्द  
इत्येतैर्नामभिर्य उक्तः परमव्योमपुरुषः शिवः शिवया परमया शक्त्यैकीभूतः

सोऽहं बहु स्यां प्रजायेयेत्यकामयत् । तथा कामयित्वा तपोऽतप्यत् । ज्ञानमयं तपोऽकुरुत् । स तपस्तप्त्वा सर्व्वमिदमसृजत् । कथम् ? यदिदं किञ्च भूर्भुवर्लोकस्थं तत्सृष्ट्वा परावरं सृज्यमानस्त्वनुप्राविशत् । तच्च सृज्यमानं सर्व्वमनुप्रविश्य सच्च त्यचाभवत् । सत् कल्याणं वस्तु, त्यत् कल्याण-विपरीतं, कल्याणमेव तदिति द्विविधमभवत् । तत् सच्च त्यच्च निरुक्ताऽनि-रुक्तादिद्वन्द्वरूपम् । एतदुक्तं मुण्डकोपनिषदि । यः सर्व्वज्ञः सर्व्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नञ्च जायत इति । यः स परम-व्योम परमात्मा स सर्व्वज्ञः सर्व्वं ह वै जानाति, स सर्व्ववित् सर्व्वविद्यावान् । तस्य ज्ञानं सा परा गायत्री तन्मयमेव तपः । तत् तपः कुर्व्वतस्तस्मात् परमात्मत एतत् पञ्चब्रह्म सर्व्वेषां नाम च रूपञ्चान्नञ्चादत्र जायते । तद् यथा निरुक्तादिकमभवत् तद् व्याख्यातमुपमन्युना वायवीयेः इवेताश्व-तरोपनिषदुक्तम् । न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाप्यग्निकश्च दृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चेति मन्त्रं स्मृत्वा, तद् यथा—ज्ञानक्रियाचिक्रिपाभिस्तिष्ठभिः स्वीयशक्तिभिः । शक्तिमानीश्वरः शश्वद्विश्वं व्याप्यावतिष्ठते । ज्ञानशक्तिस्तु कार्य्यं तत्कारणं करणं तथा । प्रयोजनञ्च तत्त्वेन बुद्धिरूपाध्यवस्यति । इदमित्थमिदं नेत्थं भवेदित्यभिमानिका । इच्छाशक्तिर्महेशस्य नित्या कार्य्यनियामिका । अथेच्छया क्रियाशक्तिर्यथाध्यवसितं धिया । कल्पयत्यखिलं कार्य्य-क्षणात् सङ्कल्परूपिणी । यया शक्तिसमुत्थाना शक्तिः प्रसवधर्मिणी-शक्त्या परमया नित्या प्रसृते सकलं जगत् । एवं शक्तिसमायोगा-च्छक्तिमानुच्यते शिवः । शक्तिशक्तिमदुत्थन्तु शक्तं जैवमिदं जगत् । यथा न जायते पुत्रः पितरं मातरं विना । तथा भवं भवानीञ्च विना नैव चराचरम् । परमात्मा शिवः प्रोक्तः शिवा चैव प्रकीर्त्तिता । पिता महेश्वरो ज्ञेयः शिवा मातेति कीर्त्त्यते । तस्माच्छक्तिमयं सर्व्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् । शिवाद्यवनिपत्यन्तं यया तत्तमिदं जगत् । ततः शिवाख्याया शक्तिः शक्त्या शक्तिसमुत्थया । तस्यां वै क्षोभ्यमाणायामादौ नादः समुद्भूतः । नादाद् विनिःसृतो विन्दुविन्दोरोमित्यभूद् ध्वनिः । सा तु माहेश्वरी जाता शुद्धविद्या महोदया । सा वाचामीश्वरी शक्तिर्वर्गीशाख्या तु शूलिनः । या सा वर्ण-स्वरूपेण मातृकेति विजृम्भते । तत्तद्वर्णमयो देवो बभूवादौ सदाशिवः । अथातन्तसमायोगात् कलां मायामवासृजत् । नियतिञ्च कलाविद्याकालञ्च

गुणपूर्व्या । मायानः पुनरेवाभूदव्यक्तं त्रिगुणान्मकम् । त्रिगुणावृततोऽव्यक्ताद्  
विचिक्ताः स्युस्त्रयो गुणाः । सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रैवर्ग्यात्मखिलं जगत् ।  
गुणेभ्यः क्षोभ्यमाणेभ्यो गुणेशात् तु त्रिशूलिनः । अभवन् महदादीनि तत्त्वानि  
च यथाक्रमम् । तेभ्यः स्युरण्डपिण्डानि ह्यसङ्ख्यानि शिवाज्ञयेति ॥

व्याख्यानम् इदञ्चानुव्याख्यातम् । योऽसौ स्वयः सुकृतमानन्दः  
परमव्योम परमात्मा शिवः स्वयम्भूर्ब्रह्मयोनिः स ईश्वरस्तिष्ठभिर्ज्ञानशक्ति-  
श्चिकीर्षाशक्तिर्नाम यद्वेच्छाशक्तिः क्रियाशक्तिरित्येताभिः शक्तिभिर्विशिष्टः  
शश्वच्छक्तिमान् ताभिः विश्वं व्याप्यावतिष्ठते । कथमित्यत आह—ज्ञानशक्ति-  
स्त्वित्यादि । तस्य ज्ञानशक्तिः सा या यन्कार्यमिदं निखिलं कर्त्तव्यं याव-  
न्निर्व्वर्णाख्यं प्रलयमस्मिन् सगं भविष्यत् तत् सर्व्वं तथा तत्प्रयोजनं यत् तथा  
तस्य यत् कारणं तथा तस्य यत् कर्णं तत् सर्व्वमेकदवाध्यवस्यतीत्यध्यवसाया-  
त्मकबुद्धिरूपा । न च सा पुनःपुनरिदं सर्व्वमध्यवस्यति ; तस्मात् सा नित्या ।  
नेयं गुणरूपा सत्त्वादिगुणयोगाभावात् । १ । अथास्य महेशस्य सा चिकीर्षा-  
शक्तिर्वा खल्विदमित्थं भवेदिदं नेत्यं भवेदित्येवमभिमानिका कार्य्यनियामिकै-  
वेच्छाशक्तिरेकदैवैवं नियमयति न पुनःपुनरित्यतो नित्या नैषा गुणविशेषः  
सत्त्वादिगुणयोगाभावादिति । अथास्य महेशस्य सा क्रियाशक्तिर्वा खलु धिया  
तया ज्ञानशक्त्या यद्यथाऽध्यवसितं तदेवेच्छया शक्त्या यथा नियमितं तत् कार्य्य-  
मखिलं क्षणात् कल्पयति निष्पादयतीति सङ्कल्परूपिणीति । क्षणात् कल्पयति  
न तु पुनःपुनस्तस्मात् नित्या । नेयं क्रियाख्यः पदार्थो रजोयोगाभावात् प्रवृत्तेः ।  
रजो हि लोके प्रवर्त्तयति । यया परमया शक्त्या गायत्र्या खलु तद्गायत्रीशक्ति-  
समुत्थाना नित्या क्रियाशक्तिः प्रसवधर्म्मिणी सकलं जगत्प्रसृते सा परमाशक्तिः  
नित्यैवोच्यते । एवंप्रकारेण शक्तिसमायोगाच्छिवः परमात्मा शक्तिमानुच्यते  
न तु क्रियावान् । तस्मात् तच्छक्तिशक्तिमदीश्वरसमुत्थमिदं जगत् शाक्तश्च  
शैवश्चोच्यते । मातापितरौ विना यथा पुत्रो न जायते तथा भवं भवानीश्च  
विना चराचरं न भवतीति । शिवश्च सर्व्वेषामात्मनामात्मेति परमात्मा-  
भिधीयते शिवा चैव सर्व्वेषामात्मनामात्मा परमात्मनश्चात्मेति परमात्मा  
प्रकीर्त्तिता । निखिलस्य पिता महेश्वरो ज्ञेयः, शिवा तु मातेति कीर्त्त्यते ।  
तस्मात् स्थावरजङ्गमं सर्व्वं जगच्छक्तिमयम्, यतः शिवाद्यवनिपर्य्यन्तमिदं जगत्  
यया शक्त्या तत् व्याप्तम्, नास्ति हि जगति किञ्चिच्छक्तिहीनमिति । एवं  
तिसृभिः शक्तिभिर्यथा सृजते जगत् तदाह—ततः शिवाख्येत्यादि । या शिवाख्या

गायत्री नाम परमाशक्तिस्तेजोऽवगोपाहिता तस्यां गायत्र्यां तद्गायत्री-  
समुत्थया क्रियाशक्त्या तेजोऽवन्नांशेन क्षोभ्यमाणायां संञ्चाल्यमानायां सत्यां  
तद्गायत्रीस्थानि तेजोऽवन्नानि परस्परं प्रवेद्यमानानि त्रिवृन्ति त्रिवृन्ति भूत्वा  
गायत्र्याः परमव्योमरूपायाः क्रियदंशे स्थितानि परममृक्षमध्वनिरूपाण्यभि-  
व्यक्तानि भूत्वा किञ्चित् स्थूलो नादो ध्वनिरादौ समुद्गतोऽभूत् । ततस्तया  
शक्तिसमुत्थयैव क्रियाशक्त्या क्षोभ्यमाणान्नादात् परिणमतस्तु विन्दुरेक-  
विन्दुरूपो नादो विनिःसृतोऽभूत् । इति नादः सद्भिन्दुस्त्यत् । तच्च द्वय-  
मनिरुक्तं निर्व्वचनरहितम् । ततस्तयैव क्रियाशक्त्या क्षोभ्यमाणाद्भिन्दोः  
परिणमत ॐमिति ध्वनिरभूत् । तत् सत् । निरुक्तश्चाकारोकारमकारै-  
र्योगाद्भिन्दुनादाभ्यां युक्तम् । सा खल्वियं नादविन्दुयुक्ताकारादिवणत्रय-  
ध्वनिरूपा माहेश्वरी शिवसम्बन्धिनी महोदया शुद्धविद्या परमा विद्या ब्रह्म-  
विद्या नाम जाता । सा च शूलिनः शिवस्य परमात्मनो वागीशाख्या शक्ति-  
र्यतो वाचामीश्वरी । सा या पुनरकारादिवर्णस्वरूपेण मातृकेति विजृम्भते  
अभिव्यज्यत इति । तन्मातृकावर्णं सर्व्वं त्यदेवानिरुक्तश्च निर्व्वचनाभावात् ।  
इत्येवमेवा शुद्धविद्या वागीश्वरी देवी लोके नारायणस्य दक्षिणपार्श्वाच्चतु-  
र्भुजैर्ब्रह्मणा सह मूर्त्तिमती सरस्वती नाम्नाविर्भव । तथा चाभिधीयते ।  
पञ्चाशल्लिपिभिर्विभक्तमुखदोःपन्मध्यवक्षःस्थलाम्, भास्वन्मौलिनिवद्धचन्द्र-  
शकलामापीनवक्षोरुहाम् । मुद्रामक्षगुणं सुधाढ्यकलसं विद्याञ्च हस्ताम्बुजै-  
र्विभ्राणां विशदप्रभां त्रिनयनां वाग्देवतामाश्रये ॥ इति । इत्येतत् परमविद्याद्य-  
वनिपर्य्यन्तानां निरुक्तानामनिरुक्तानाञ्च निलयनञ्चानिलयनञ्च तस्यैव  
परमव्योम्नः परमात्मनश्चतुरशीतिभागकल्पनया त्रिधा भागः कल्पितः क्रिया-  
शक्त्या । तत्रोर्द्ध्वं दशभागा मध्यं चतुर्विंशतिर्भागा अधस्तात् पञ्चाशद्भागा  
इति । तत्रोर्द्ध्वं दशभागं शिरोग्रीवमनुत्तमतमः स्वर्लोको निरुपाधिप्रसिद्धः केवल-  
ज्योतिः स्वरूपस्य परमामृतस्य गायत्र्या निलयनमितरेषामनिलयनं बलृप्तं  
प्रसिद्धं तद्दशभागतोऽधस्तादेतत् परमविद्याद्यवनिपर्य्यन्तानां निलयनं क्रिया-  
शक्त्या कल्पितमनिलयनञ्च यस्य यदिति । तत्र परमव्योम्नि दशभागादधस्ताद्  
हृदयरूपे पञ्चदेवसुपयो ये सन्ति तेषामूर्द्ध्वं सुषिद्वाराद्बहिस्तत्परमविद्याविशिष्टं  
परमव्योम सदाशिवो नाम प्रसिद्धः प्रथमो ब्रह्मपुरुषः । तद्विज्ञानं नाम सत् ।  
ततः सा शुद्धविद्या क्रियाशक्त्या क्षोभ्यमाणा तेजोऽवन्नविकारपरिणामेन तत्  
परमविद्याविपरीता त्वविद्या नाम कला माया विद्या तदकारादिवर्णसंयोगाद्

ऋग्विद्या धातुमानिपदिकप्रत्ययागमादिरूपध्वनिरूपा बभूवेति, सा परमा विद्या कलां मायामविद्यामवाप्तुमिच्छति । तदाश्रयश्च परमव्योम पूर्वसुपि-  
 द्वाराद्विहिरुग्वेदो नामाभूदिति द्वितीयो ब्रह्मपुरुषः । ततः सुप्तिष्ठन्त-  
 पदरूपध्वनिर्येजुर्विद्या बभूव । तद्विद्याश्रयः परमव्योमैव यजुर्वेदो नाम  
 दक्षिणसुपिद्वाराद्विहिरुग्वेदो नामाभूत्, स तृतीयो ब्रह्मपुरुषः । ततः सङ्गीतभूत-  
 वाक्यरूपध्वनिः सामविद्या बभूव, तदाश्रयश्च परमव्योम पश्चिमसुपिद्वारा-  
 द्विहिरुग्वेदो नाम चतुर्थो ब्रह्मपुरुषो बभूव । ततो वाक्यभूतध्वनि-  
 रूपाऽथर्वविद्या सेतिहासपुराणा बभूव । तदाश्रयश्च परमव्योमैवोत्तर-  
 सुपिद्वाराद्विहिरुग्वेदो नाम पञ्चमो ब्रह्मपुरुष इति । इत्येते चत्वार ऋग्वेदादयस्तविद्या ब्रह्मपुरुषा अविदैत्र विधिभिर्नियम-  
 करणान्नियतिनामानः सह पङ्क्तिरङ्गैरुच्यन्ते । एतत् साङ्गचतुर्वेदविद्या  
 त्वविद्या तदाश्रयाश्चत्वारो वेदाश्च विज्ञानविपरीतविज्ञानरूपा अविज्ञानमुच्यन्ते ।  
 तच्च त्यदेवाभिधीयते । इति कलाविद्या माया नियतिञ्चावाप्तुमिच्छति ।  
 इत्येवं परमाभूतरूपं तेजोऽवन्मेलनेन मधुररसवदाभासमानं रसमाश्रिता गायत्री  
 विद्याविद्यावाचो बभूव । तद्विद्याविद्यावागाश्रयाः पञ्च ब्रह्मपुरुषा ये,  
 तेषां य ऊर्द्धसुपिद्वारपालः सदाशिवः सोऽस्य शिवस्य परमात्मन उदानो  
 नाम प्राणः । स एव लोके त्रिगुणविशेषयोगादेव आकाशोऽभूदयश्च वायु-  
 रभूत् । पुरुषेऽपि यद्वृद्धं तस्योर्द्धसुपिद्वारे उदानो नाम प्राणोऽभूदिति ।  
 पूर्वसुपिद्वारपालोऽस्य प्राणः । लोके स एष आदित्यः । पुरुषे च स  
 प्राणश्च चक्षुश्च । दक्षिणसुपिद्वारपालो यजुर्वेदः शिवस्य व्यानो नाम प्राणः,  
 स लोके चन्द्रमाः पुरुषे व्यानश्च श्रोत्रञ्चेति । अथ पश्चिमसुपिद्वारपालः  
 सामवेदः शिवस्यापानो नाम प्राणः । स लोकेऽग्निः पुरुषेऽपानश्च वाक्चेति ।  
 अथोत्तरसुपिद्वारपालोऽथर्ववेदः शिवस्य समानो नाम प्राणः । लोके  
 पर्जन्यः पुरुषे समानश्च मनश्चेति । अथैषामेवं वीर्यादीनि यथाभवंस्तद्वत्—  
 छान्दोग्योपनिषदि मधुब्राह्मणे । असौ वा आदित्यो देवमधु इत्यादिनोक्तं  
 तत् प्रतिसंस्कृत्य लिख्यते । असौ परमात्मा शिव आदिभूतत्वादादित्यः  
 खलु देवानां साध्यवसुरुद्रादित्यमरुद्गणानामुपजीवनपञ्चामृतमयार्कमण्डला-  
 करामृतरूपरसाश्रय इत्यतो देवमधु । तस्य परमव्योमः परमात्मनः शिवस्य  
 ऊर्द्धाङ्गं शिरोग्रीवं दशाङ्गुलं द्यौरनुत्तमतमः स्वर्लोक एव मधुकोपालम्वन-  
 तिर्यग्भूतो वंशः । तस्मादधस्ताच्चतुर्विंशत्यङ्गलिमितं परमव्योमैवान्तरीक्षं



भुवर्लोकस्वपूपाकारो मधुकोपः पञ्चच्छिद्रवत्त्वात् । तस्य मरीचयस्तु पुत्राः पञ्च ब्रह्मपुरुषास्तत्र पञ्चदिश्या रश्मयो मधुक्षरणार्थं नाड्यः । तेषां पञ्चानां ब्रह्मपुरुषाणां यशस्तेज इन्द्रियवीर्यान्नानि खल्वेवं बभूवुः । तत्र । ये ते ऊर्द्धा रश्मयस्ता एवास्योर्द्धा मधुनाड्यः । गुह्या एवादेशा विद्याद्याः शक्तयो मधुकर्त्यः । ब्रह्मैव सदाशिवः पुष्पम् । ता गायत्रीस्था आपोऽमृता रसः । ता वात्र ते गुह्या आदेशभूता एतद्ब्रह्म सदाशिवमभिलक्ष्यीकृत्यातपन् । अभितप्तस्य तस्य सदाशिवस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमभवत् । अद्भ्यश्च रसः परिणमन्नम्ल इव रसोऽन्नमाद्यमजायत । तद् यद् ऊर्द्धं मधुनाडीभिरक्षरत् तत् तदादित्यं शिवमभितोऽश्रयत् मण्डलरूपेणावृणोत् तद्वात्र तत् । यदेतद् आदित्यस्य मण्डलमध्ये समन्निगुणयोगात् क्षोभत इव लक्ष्यते इति । १ । एवं येऽस्य प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुक्षरणनाड्यः । ऋचो मधुकर्त्य ऋग्वेद एव पुष्पम्, ता गायत्रीस्थास्तेजोऽवन्नान्तर्गता आपोऽमृता रस एव पुष्परस रसः । ता एवैता ऋचो मधुकर्त्य एतद्ग्वेदमभि लक्ष्यीकृत्यातपन् । अभितप्तस्य तस्य ऋग्वेदस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमभवत् । रसश्च परिणमन् लवण इवान्नमाद्यमजायत । तद् यत् प्राचीभिर्नाडीभिरक्षरत् तत्तदादित्यं शिवमभितो मण्डलरूपेणाश्रयत् । तदेतदादित्यस्य मण्डले रजोगुणयोगाच्छोहितं रूपं सद् वर्तते । २ । एवं येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुक्षरणनाड्यः । यजूंष्येव मधुकर्त्यो यजुर्वेद एव पुष्पम्, ता अमृता आपः । तान्येव यजूंष्येत यजुर्वेदमभि लक्ष्यीकृत्यातपन् । अभितप्तस्य तस्य यजुर्वेदस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमभवत् । रसश्चापां परिणमन् क्रडुक इवान्नमाद्यम् अजायत । तद् यद् दक्षिणमधुनाडीभिरक्षरत् तत्तदादित्यं शिवमभितो मण्डलरूपेणाश्रयत् । तदेव सत्त्वगुणयोगाच्छुक्लं रूपं सत् एतदादित्यस्य मण्डले वर्तते इति । ३ । अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुक्षरणनाड्यः । सामान्येव मधुकर्त्यः सामवेदः पुष्पम् । ता अमृता आपः । तान्येवैतानि सामानि, एतं सामवेदमभि लक्ष्यीकृत्यातपन् । अभितप्तस्य तस्य सामवेदस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमभवत्पाञ्च रसः परिणमन् तिक्त रस इवान्नमाद्यम् अजायत । तद् यत् प्रतीचीभिर्नाडीभिरक्षरत् तत्तदादित्यं शिवमभितोऽश्रयत् । तदेवैतदादित्यस्य मण्डले तमोगुणबहुलरजोगुणयोगाच्छग्रासरूपं सद् वर्तते । ४ । अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुक्षरणनाड्यः । अथर्वान्द्विरसा मधुकर्त्य इतिहासपुराणं पुष्पम् । ता अमृता आपः । ते वा एते-

अध्वर्वाङ्गिरसा एतदितिहासपुराणमपि लक्ष्यीकृत्यातपत् । अभितप्तस्य तस्येतिहासपुराणस्य यज्ञस्तेज इन्द्रियं वीर्यमभवदपाञ्च रसः परिणमन् कषायः इवान्नमाद्यमजायत । तद् यदुदीचीभिर्नाडीभिरक्षरत् तत्तदादित्यं शिवमभितो मण्डलरूपेणाश्रयत् । तदेतदादित्यस्य मण्डले तमोगुणयोगात् परमकृष्णरूपं सद् वर्तत इति । ५ । पञ्चामृतज्योतिर्मयमण्डलं तस्य स्वयम्भुवः परमात्मन आद्यस्यादित्यस्य ।

एवं सदाशिवाख्यमहाभूतादीन् पञ्च ब्रह्मपुरुषान् सृष्ट्वासौ स्वयम्भूः परमात्मा वृत्ताजाः सन् महानिर्वाणप्रलये यत्तमस्तत्तमोनुदोऽभूत् । तदुक्तं मनुना । ततः स्वयम्भूर्भगवान् अव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् । महाभूतादिवृत्ताजाः प्रादुरासीत् तमोनुद इति । परमव्योम्निः शिवस्य दशभागादधस्ताच्चतुर्विंशतिभागमध्ये त्वेवंप्रकारेण मण्डलवानसावादिरादित्योऽनुत्तमतमो भुवर्लोको उच्यते । ततस्तदधस्तात् पञ्चाशद्भागो सत्यञ्चानृतञ्च सत्यम् अभवदिति । तद्व्याख्यातं त्रायवीये । कलाविद्या कालञ्च गुणपुरुषाविति । कलाविद्या माया न तु महामाया । कालं महाविष्णुम् । गुणं प्रधानाख्यं ब्रह्माणं पुरुषं क्षेत्रज्ञं विष्णुं कलाविद्याऽवासृजत् । तद् यथा । तत्परमव्योम्नोऽधस्तात् परमव्योम्नि विद्याविद्यामयपञ्चब्रह्मपुरुषावृते सा क्रियाशक्तिरेषां पञ्चब्रह्मपुरुषाणां परमविद्या पुरुष त्रिधा कृत्वा ऋग्यजुःसामवेदेषु प्रवेशयाञ्चक्रे तथायव्वेदस्य शान्तिर्षोष्टिकाभिचारिकानंशान् क्रमेण । ततस्त्रयी बभूव । ततस्त्रयी चैकीभूय सदेकं बभूव । सच्चार्द्धेन महाविष्णुः नाम कालो बभूवापगार्द्धेन चिद्बभूव । स खलु चेततीति चेतनावान् स च प्रसादांशेन क्षेत्रज्ञ आत्मा विष्णुर्बभूव स चानन्दतीत्यानन्द इत्यादौ सत् ततः चित् तत आनन्द इति सच्चिदानन्दो विष्णुः क्षेत्रज्ञः परमव्याम्नोऽधोऽक्षे जातत्वात् अधोक्षजः । चित्प्रसादो गुणांशस्तु प्रधानं नाम ब्रह्मा । एवमेतत् सत्यं नाम सत् । इति पञ्चब्रह्मपुरुषादिसत्यान्तं न चेतनाधातुपरमपुरुषादतिरिच्यते तात्स्थ्यादेः भुवर्लोको द्वितीयः पादः । इत्यस्मादधस्तात् पञ्चाशदङ्गुलपरव्योमात्मकश्चेतनाधातुस्तत् प्रधानं क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं कालेन संक्षोभ्य सञ्चाल्य सङ्कोच्य परिणमयन् सत्त्वरजस्तमोगुणान् पृथक् कृतानुप्रविश्य समसत्त्वरजस्तम इति लक्षणमव्यक्तं नाम बभूव । तच्च चेतनाधातुपुरुषानुप्रविष्टत्वाच्चेतनाधातुरुच्यते । क्षेत्रज्ञाधिष्ठितत्वाच्च क्षेत्रज्ञ उच्यते । एतस्माच्च सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः पङ्कधातुकः पुरुषो विश्वरूपो बभूव । यज्जःपुरुषीये प्राग् दर्शितम् ।

गुणेभ्यः क्षोभ्यमाणेभ्यो गुणेशात् तु त्रिशूलिनः । अभवन् महदादीनि तत्त्वानि च यथाक्रमम् ॥ इति । तद् यथा—त्रिगुणलक्षणादव्यक्तान्महान् महतो-  
 ऽहङ्कारोऽहङ्काराद् भूतादेस्तामसात् क्रमेण शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं  
 रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रञ्च महाभूतं वभूव । एते शब्दमात्रखादयः पञ्च  
 धातवश्चेतना षष्ठधातुरिति षड्धातुः पुरुषस्तस्य मुखानि राजसा-  
 दहङ्कारात् तैजसाख्याद् दशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते । सात्त्विकादहङ्काराद्वैकारि-  
 काख्यान्मनोऽजायताधिदेवताश्चैषामित्येवश्चाकाशः कियदंशो दिक्कालयुक्तः  
 स्थूलो वभूव । तस्य स्पर्शमात्रे वायावनुप्रवेशाद् द्विगुणो वायुर्वभूव । शब्दश्च  
 शीतस्पर्शश्च । तस्य द्विगुणस्य वायो रूपमात्रे तेजस्यनुप्रवेशात् तेजस्त्रिगुणं  
 वभूव । तस्य रूपश्च लोहितम् । स्पर्शश्चोष्णोऽभूत् । अथ तत् तेजो रस-  
 तन्मात्रमनुप्राविशत् । तेनापः शब्दशीतस्पर्शशुक्लवर्णद्रवरसगुणा जाताः । ता  
 आपो गन्धतन्मात्रं प्राविशन् । तेन शब्दखरस्पर्शकृष्णवर्णसाधारणरसगन्ध-  
 गुणा पृथिवी वभूव । इति पञ्चभूतानि स्थूलानि दशेन्द्रियाणि मनो-  
 ऽहङ्कारो महांश्चित्तञ्चेत्येकोनविंशतिर्मुखानि । उक्तञ्च मनुना । यो-  
 ऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः । सर्व्वभूतमयोऽचिन्त्यः स  
 एव स्वयमुद्भू ॥ इति । एष चतुर्विंशतितत्त्वमयलोकात्मकः षड्धातुः पुरुषः  
 पुनर्लौके द्विविधः शरीरी पुरुषो वभूव समस्तश्च व्यस्तश्च । तत्र समस्तो  
 नारायणो महाब्रह्मा व्यस्ताः सूक्ष्मशरीरिणोऽपरिसङ्ख्येयाः । तदुक्तं मनुना ।  
 सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः । अप एव ससज्जादौ  
 तासु बीजमवासृजत् । तदण्डमभवद्धैर्म सहस्रांशुसमप्रभम् । तस्मिन् जज्ञे  
 स्वयं ब्रह्मा सर्व्वलोकपितामहः । आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।  
 ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः । यत् तत् कारणमव्यक्तं नित्यं  
 सदसदात्मकम् । तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्तते । तस्मिन्नण्डे  
 स भगवानुपित्वा परिवत्सरम् । स्वयमेवात्मनो ध्यानात् तदण्डमकरोद् द्विधा ।  
 ताभ्यां स शकलाभ्याञ्च दिवं भूमिञ्च निर्म्ममे । मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां  
 स्थानञ्च शाश्वतम् । उद्वहोऽत्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम् । मनसश्चाप्य-  
 हङ्कारमभिमन्तारमीश्वरम् । महान्तमपि चात्मानं सर्व्वानि त्रिगुणानि च ।  
 विषयाणां ग्रहीतृणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च । तेषान्वययवान् सूक्ष्मान्  
 पणामप्यमितौजसाम् । सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्व्वभूतानि निर्म्ममे । यन्मूर्त्य-  
 वयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट् । तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्त्ति

मनीषिणः । तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्म्मपिः । मनश्चावयवैः  
 मूर्क्षयैः सर्व्वभूतकृदव्ययम् । तेषामिदन्तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम् ।  
 मूर्क्षमाभ्यो मूर्त्तिमात्राभ्यः सम्भवत्यव्ययाद् व्ययम् । आद्याद्यस्य गुणन्त्वेपा-  
 मत्रामोति परः परः । यो यो यावत्तिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः । सर्व्वेषान्तु  
 स नामानि कर्म्माणि च पृथक् पृथक् । वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च  
 निर्म्ममे । कर्म्मात्मनाञ्च देवानां सोऽसृजत् प्राणिनां प्रभुः । साध्यानाञ्च गणं  
 मूर्क्षं यज्ज्चैव सनातनम् । अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् । दुदोह यज्ञ-  
 सिद्धयर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् । कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहां-  
 स्तथा । सरितः सागरान् जैलान् समानि विषमाणि च । तपो वाचं  
 रतिञ्चैव कामांश्च क्रोधमेव च । सृष्टिं चकार चैवेमां स्रष्टुमिच्छन्निमाः  
 प्रजाः । कर्म्मणाञ्च विवेकार्थं धर्म्माधर्म्मा<sup>१</sup> व्यवेचयत् । द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः  
 सुखदुःखादिभिः प्रजाः । अपव्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्द्धानान्तु याः स्मृताः ।  
 ताभिः सार्द्धमिदं सर्व्वं सम्भवत्यनुपूर्व्वशः । यन्तु कर्म्माणि यस्मिन् स  
 न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः । स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनःपुनः । हिंसा-  
 हिंसे मृदुक्रूरे धर्म्माधर्म्मावृतानृते । यद् यस्य योऽदधात् सगं तत् तस्य  
 स्वयमाविशत् । यथर्त्तु लिङ्गानृत्रतवः स्वयमेवर्त्तु पर्य्यये । स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते  
 तथा कर्म्माणि देहिनः । लोकानान्तु विष्टद्वयं मुखवाहूरुपादतः । ब्राह्मणं  
 क्षत्रियं वैश्यं शूद्रञ्च निरवर्त्तयत् ।० इत्येवं मूर्क्षमसगं कृत्वा स्थूलसगं यथा  
 कृतवांस्तथा दर्शयिष्यते । इति गायत्र्यादेस्तत्पञ्चात्मकपृथिव्यन्तं चतुष्पाद् ब्रह्म ।

तत्र परमव्योमपरमात्मादेस्तत्पञ्चात्मकपृथिव्यन्तः पुरुषस्त्रिपात् । तत्रै-  
 तत्पञ्चात्मकपृथिव्यादिमहाविष्णुलोकान्तोऽष्टलोकी अनुत्तमतमा भूः प्रथमः  
 पादः । तत्र भूर्भुवःस्वर्गहजेनतपःसत्या इति सप्त लोकाः । तत्र द्विविधः  
 सत्यलोकः—अनृतसत्यः ऋतसत्यश्च । तत्रैतत्तपोलोकाद्दृष्टं ब्रह्मलोक-  
 पैकुण्डकैलासाद्यव्यक्तात्मलोकपर्य्यन्तः सत्यलोकोऽनृतसत्यलोकः प्राकृतप्रलये  
 नाशात् । तत ऊर्द्धं प्रधानक्षेत्रज्ञकालानां लोक ऋतसत्यः प्राकृत-  
 प्रलये स्थायित्वात् इत्येवमभिप्रायेण लिङ्गपुराणेऽष्टलोकी भूपाद उक्तः ।  
 भूर्लोकः प्रथमे पादे भुवर्लोकस्ततः परम् । स्वर्लोकश्च महर्जनतपःसत्यास्ततः  
 परम् । विष्णुलोकस्ततश्चोर्द्धं पुनरावृत्तिदुर्लभः । ऊर्द्धं कौमारलोकश्च  
 सव्वक्त्रद्विसमन्वितः । रुद्रलोकस्ततश्चोर्द्धं कैवल्यस्थानमुत्तमम् । इति  
 विष्णुलोकाद्दृष्टं पञ्चब्रह्मरूपस्थानं कौमारलोकोऽनुत्तमतमो भुवर्लोको

ततश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः ।

सनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी ॥ ४ ॥

द्वितीयः पादः । ततो रुद्रलोकोऽनुत्तमतमः स्वर्लोक इति महाव्याहृतिवाच्यः त्रिपात् पुरुषः । सहस्रशीर्षः सहस्राक्षः सहस्रपात् । तस्य स्वाङ्गलीमानेन चतुरशीत्यङ्गलं परमव्योमरूपमव्याकृतं वपुरधस्तात् पञ्चाशदङ्गलिमितभूमिलोकसहितं तत ऊर्ध्वं चतुर्विंशत्यङ्गलिमितभुवर्लोकं सर्वतोऽथ ऊर्ध्वं पूर्वतो दक्षिणतः पश्चिमत उत्तरतोऽभ्यन्तरतो बाह्यतश्चावृत्य तत ऊर्ध्वं दशाङ्गलं स्वर्लोकः शिरोग्रीवमत्यतिष्ठदतिशयेनावरणाभावेन केवलरूपतया श्रेष्ठत्वेन अतिष्ठदिति । एतावांश्चतुरशीत्यङ्गलिमात्रं महिमा महत्त्वं ततो ज्यायां सदा शिवादेतदन्तेभ्यः सर्वेभ्यो वृहत्तया वृद्धतमः । यतोऽस्य त्रिपादस्य पुरुषस्य द्वौ पादौ विश्वा भूतानि भूर्भुवर्लोकौ स्वयं स्वर्लोकं तृतीयपादे अमृतमयी गायत्री ज्योतिःस्वरूपा चतुर्थः पाद इति । इवेताश्वतरोपनिषदि पुरुषसूक्ते चोक्तम् । सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमिं सर्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गलम् । एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति । अथास्य नारायणस्य दक्षिणपार्श्वार्द्रजोगुणमाश्रित्य प्रधानं चतुर्मुखो ब्रह्मा भूत्वा सरस्वत्या सहाविरभूत् । वामपार्श्वार्द्र तु क्षेत्रज्ञः पुरुषः सत्त्वगुणमाश्रित्य चतुर्भुजो विष्णुर्भूत्वा लक्ष्म्या सहाविरभूत् ।

नन्विमे यावन्तः स्थूलशरीरिणो दृश्यन्ते किमेते न पुरुषा इत्यत आह— ततश्चेत्यादि । यो योऽसौ षड्धातुकः सूक्ष्मशरीरी पुरुषस्ततः षड्धातुकात् सूक्ष्मशरीरिपुरुषाच्चतुर्विंशतितत्त्वमयात् तच्चतुर्विंशतिधातुभेदेन चतुर्विंशतिकः चतुर्विंशत्या तत्त्वैर्निवृत्तः पुरुषः स्मृतः । स चतुर्विधो जरायुजोऽण्डजः स्वेदज उद्भिज्जश्चेति, ते पुनस्त्रिविधा देवनरतिर्यग्ग्योनिजभेदात् । तेषां सर्गे उक्तो मनुना । द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् । अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः । तपस्तप्त्वाऽसृजद् यन्तु स स्वयं पुरुषो विराद् । तं मां वित्तास्य सव्यस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः । इत्यादिना देवनरतिर्यग्ग्योनिजस्थूल-

षड्धातुरूपमेव पुरुषं पुनः सांख्यदर्शनभेदाच्चतुर्विंशतिकभेदेनाह— पुनश्चेत्यादि । चतुर्विंशतिकमेव विभजते—मन इत्यादि । यद्यपि षड्विंशतितत्त्वमयोऽयं पुरुषः सांख्यैरुच्यते, यदाह— “मूलप्रकृतातरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः” इति । तथापीह प्रकृतिव्यतिरिक्तद्वोदासीनं पुरुषमव्यक्तत्वाधर्म्यात् अव्यक्तायां प्रकृतावेव

लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च ।

सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते ॥

शरीरिप्रजामर्ग उक्तः । इति त्रिविधः पुरुषः स्मृतः । कानि तानि चतुर्विंशति-  
स्तत्त्वानीत्यन आह—मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकीति । तत्सूक्ष्म-  
देवे यदाहङ्कारिकं मनो यान्याहङ्कारिकाणि दशेन्द्रियाणि ये च स्वादिगुणाः  
पञ्च शब्दादयः पञ्चभूताहङ्कारमहदव्यक्तानीत्यष्टौ चेति चतुर्विंशतिनिष्पन्न-  
स्थूलदेही पुरुषः । तत्र क्रमेण मनःप्रभृतीनां लक्षणानि—लक्षणं मनस इत्यादिभि-  
र्वक्ष्यन्ते । अष्टधातुकीति अष्टभिर्धातुभिः निष्पन्ना प्रकृतिरष्टधातुकी । वक्ष्यते  
चात्रैव । स्वादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः । भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकारा-  
श्चैव षोडशेति ॥ ४ ॥

गङ्गावरः—तत्र क्रमेण मनःप्रभृतीनि लक्षयति—लक्षणं मनस इत्यादि ।  
पूर्वमिन्द्रियोपक्रमणीये यदुक्तम् । तत्रातीन्द्रियं पुनर्मनः सत्त्वसंज्ञकं चेत्  
इत्याहुरेके तदर्थ्यात्मसम्पदायत्तचेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणामिति । तत्  
पुनरुच्यमतोऽनुमानार्थं लिङ्गमाह—लक्षणमिति । लक्षणमनुमितिकरणम् ।  
च-शब्दो यौगपद्यार्थम् । युगपज्ज्ञानस्याभावो भाव एव मनसो लक्षणम् ।  
तेन ह्यात्मना स्वाभिमतार्थं ग्रहीतुं प्रवर्तितं मनस्तदर्थग्रहणार्थं तदर्थग्राहकम्  
इन्द्रियं यदानुधावति तदा तदिन्द्रिये मनोयुक्तं तदर्थं गृह्णाति न चेत्यर्थं  
ग्रहीतुमिन्द्रियान्तरं प्रवर्तते । इति तदितरेन्द्रियार्थजज्ञानस्याभावस्तदैव भव-  
तीति मनसो युगपज्ज्ञानस्याभावो भावश्च लिङ्गम् । यदि ज्ञानस्याभावो  
मनसो लक्षणं नोच्यते तदा चाक्षुषज्ञानसद्भावकाले यथा मनोऽस्तीत्यनुमीयते  
तथा तदैव मनो नारतीत्यनुमितिप्रसङ्गः श्रावणादिज्ञानानां तदैवाभावात् ।  
इति । यदि ज्ञानस्य भावो मनसो लक्षणं नोच्यते तदा मनो नास्तीत्येव  
सदानुमितिः स्यात् । ज्ञानस्य भावाभावयोर्युगपद्भावे मनोऽस्तीति सदैवानु-  
मितिः सिध्यति । नन्वात्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षं विना न तथा ज्ञानमुत्पद्यते मनो-  
प्रक्षिप्य अव्यक्तशब्देनैव गृह्णाति । तेन चतुर्विंशतिकपुरुष इत्यविरुद्धम् । उदासीनस्य हि सूक्ष्मस्य  
भेदप्रतिपादनमिहानतिप्रयोजनमिति न कृतम् । दशेन्द्रियाणीति पञ्च बुद्धेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्र-  
याणि । अष्टधातुकीति स्वादिपञ्चकबुद्धव्यक्ताहङ्काररूपा । वक्ष्यति हि—स्वादीनि बुद्धिरव्यक्त-  
महङ्कारस्तथाऽष्टमः । इति ॥ ४ ॥

चन्द्रपाणिः—अत्र चतुर्विंशतिके प्रथमोद्दिष्टं मनो लक्षयितुमाह—लक्षणमित्यादि । यथा

वैदृत्यात् \* मनसो ज्ञानं सान्निध्यात् तु प्रवर्त्तते ।

अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ ॥

मात्रात्, कथं ज्ञानस्याभावो भाव एव च मनसो लक्षणं भवतीत्यत आह—  
सतीत्यादि । हि यस्मादात्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे सति मनसो वैदृत्याद् व्यासक्ती-  
भावान्न ज्ञानं प्रवर्त्तते मनसः सान्निध्यात् तु ज्ञानं प्रवर्त्तते तस्माज्ज्ञानस्याभावो  
भाव एव च मनसो लक्षणमिति । नन्वस्ति मनः सन्ति चेन्द्रियाणि पञ्च सन्ति  
च पञ्चार्था एषां सान्निध्येऽपि तान् पञ्चैवार्थान् यद्यात्मा लिप्सति न कथं  
पञ्चैवेन्द्रियाणि युगपत् तान् गृह्णन्तीत्यत आह—अणुत्वमित्यादि । मनसो-  
ऽणुत्वेऽप्यनेकत्वं चेत् तदा युगपन्मनःपुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थान् पञ्च ग्रहीतुं  
प्रभवन्ति, यथा सुमनःपरमाणवो बहुषु पतन्तो युगपत् सौरभं कुर्वन्ति  
तद्वदित्यत आह—अथ चैकत्वमिति । अणुत्वं सूक्ष्मत्वं परिमाणमेकत्वं सङ्घेति  
द्वौ गुणौ मनसः प्रसिद्धौ स्मृतौ । द्वाभ्यामाभ्यां गुणाभ्यां मनसोऽनेकेन्द्रियेषु  
युगपत् प्रवृत्तिर्न सम्भवति । महदेकन्तु युगपदनेकेषु सूर्य इव प्रवर्त्तितुं  
प्रभवति न चाणु चैकमिति । सर्व्वमिदमुक्तमिन्द्रियोपक्रमणीये पूर्व्वम्—न  
चानेकत्वं, नाप्येकं हेतुककालमनेकेषु प्रवर्त्तते, तस्मान्नैककाला सर्व्वेन्द्रिय-  
प्रवृत्तिरिति । ननुक्तं तिस्रैः पणीये—तत्रैकं स्पर्शनेन्द्रियं सर्व्वेन्द्रियाणामिन्द्रिय-  
व्यापकं चेतःसमवायि, स्पर्शनेन्द्रियव्यापकमपि चेत इति । तत् कथं न  
पञ्चस्विन्द्रियेषु युगपत् प्रवर्त्तते मन इति चेन्न, तद्धि व्यापकत्वं मनसो-  
ऽणुत्वैकत्वाभ्यां क्रमेण सर्व्वगामित्वं न यौगपदेन । तस्मात् न ज्ञानानि

ज्ञानस्याभावो ज्ञानस्य भावश्च मनोऽगारुको भवति, तदाह—सतीत्यादि । वैदृत्यान्मनस इति  
इन्द्रियेणासंयोगात्, सान्निध्यादिति इन्द्रियेण मनसः सम्बन्धात् । एवं मन्यते—यदा युग-  
पदिन्द्रियार्था इन्द्रियैः संयुज्यन्ते तदा कचिदिन्द्रियार्थं ज्ञानं भवति, कचिन्न भवतीति इष्टम् ।  
तेन, इमौ ज्ञानभावाभावौ ज्ञानकारणान्तरं दर्शयतः, यच्च तत्कारणान्तरम्, तन्मनः । तत्कारणं  
मनोरूपं यद्यान्मवद् युगपत् सर्व्वेन्द्रियव्यापकं स्वीक्रियते, किंवा, अनेकसंख्यमिन्द्रियवत्  
स्वीक्रियते, तदा पुनरपि युगपदिन्द्रियार्थसम्बन्धे पञ्चभिर्ज्ञानैर्वितत्यं विभुना वा मनसा, अनेकैर्वा  
मनोभिर्युगपदधिष्ठितत्वादिन्द्रियाणाम् । न च भवन्ति युगपज्ज्ञानानि । तस्माद् युगपज्-  
ज्ञानानुदयाल्लिङ्गान्मनोऽणुरूपमेकञ्च सिध्यतीत्याह—अणुत्वमित्यादि ।

चिन्त्यं विचार्यमूह्यश्च ध्येयं सङ्कल्प्यमेव च ।

यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत् सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम् ॥

इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसस्त्वस्य ॐ निग्रहः ।

ऊहो विचारश्च ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते ॥

युगपद् भवन्ति । नन्वात्मा शब्दादीन् पञ्चैवार्थान् न चेष्टिष्यति, तर्हि मनस इन्द्रियेषु प्रवृत्त्यभावाज् ज्ञानं किं न प्रवर्तते इत्यत आह—चिन्त्यमित्यादि । चिन्तया यज् जायते तच्चिन्त्यम् । विचार्य विचारेण विविधतर्केण यज् जायते तद्विचार्य वितर्क्यम् । ऊहेन तर्केण यज् जायते तदूहं तर्क्यम् । ध्येयमर्थेभ्यो वहिरिन्द्रियाणि निवर्त्य मनो यच्चिन्तयति तत् ध्येयं ध्यानीयं । चिन्त्यन्तु सेन्द्रियेण मनसा ध्येयम् । सङ्कल्प्य मनो यत् सम्यक् कल्पयति विचारेण तत् सङ्कल्प्यम् । एवमन्यत् यत्किञ्चिदिन्द्रियानपेक्षं मनसो ज्ञेयं मुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नमानचेतनाद्युत्तिस्मृत्यहङ्कारभिनं तत् सर्वं मनसोऽर्थसंज्ञकं न तु केवलमर्थसंज्ञकमिति शब्दादीनां तत्संज्ञत्वात् । ननु च कथं मनसोत्पद्यते ज्ञानमित्यत आह—इन्द्रियाभिग्रह इत्यादि । इन्द्रियाभिग्रह इन्द्रियमभिमुखीभूय तदिन्द्रियग्रहणम् आत्मना बुद्ध्याध्यवसितमभीप्सितमर्थं ग्राहयितुं प्रेरितस्य मनसस्तदर्थग्राहकमिन्द्रियमभिमुखीभूय यद् ग्रहणं तदिन्द्रियस्य तदेकं मनसः कर्म ।

मनोगुणमभिधाय मनोविषयमाह—चिन्त्यमित्यादि । चिन्त्यं कर्तव्यतया अकर्तव्यतया यन्मनसा चिन्त्यते । विचार्यमुपपत्त्यनुपपत्तिभ्यां यद् विमृश्यते । ऊहश्च यत् सम्भावयता ऊहते 'एवमेतद् भवति' इति । ध्येयं भावनाज्ञानविषयम् । सङ्कल्प्यं गुणवत्तया द्रोपवत्तया चावधारणविषयम् । यत्किञ्चिदित्यनेन सुखाद्यनुक्तविषयावरोधः । मनसो ज्ञेयमिति इन्द्रियनिरपेक्षमनोग्राह्यम् । एते च मनोऽर्थाः शब्दादिरूपा एव । तेन पष्ठार्थकल्पनया न चतुर्ध्वंशतिसंख्यातिरेकः, सुखादयस्तु शब्दादिव्यतिरिक्ता मनोऽर्था बुद्धिभेदग्रहणेनैव ग्राह्याः । मनोविषयमभिधाय मनःकर्मोह—इन्द्रियेत्यादि । इन्द्रियाभिग्रह इन्द्रियाधिष्ठानं मनसः कर्म, तथा स्वस्य निग्रहो मनसः कर्म । मनो ह्यनिष्टविषयप्रसृतं मनसैव नियाम्यते । मनश्च गुणान्तरयुक्तं सद् विषयान्तराश्रित्यमयतीत्याहुरेकं । यदुक्तम्—'विषयप्रचणं चित्तं धृतिश्रंशान्न शक्यते । निवन्तुमहितादर्थोद् धृतिर्हि नियमात्मिका ॥' इति । तेन धृत्या कारणमृतया मन आत्मानं नियमयतीति न स्वात्मनि क्रियाविरोधः । मनःकर्मन्तरमाह—ऊहो विचारश्चेति । अत्रोह आलोचनज्ञानं निर्विकल्पम्, विचारः सङ्कल्पनं हेयोपादेयतया विकल्पनम् । चतुर्ध्वंशं हि विकल्पकारणं सांख्या मन्यन्ते । तत्र बाह्यमिन्द्रियरूपम्, आभ्यन्तरान्तु मनोऽहङ्कारो बुद्धिश्चेति



इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते ।

कल्प्यते मनसाप्यूच्छं गुणतो दोषतो यथा ॥

जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका ।

व्यवस्यते तया वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम् ॥ ५ ॥

ततोऽर्थं गृहीत्वा तस्य तदर्थग्रहणान्निवृत्तिर्निग्रहः कर्म । ततोऽनन्तरमात्मना कृतो मनसैवोह इदमिदं वाऽथ नेदं वा भवतीत्येवं वितर्कः । ततोऽनन्तरं तदर्थस्य विचारः । यदेवं स्यात् तदेदं स्यान्नेदमेवम्, यत इदमेवं तत् इदन्विदमित्येवं विचारात् परं बुद्धिः प्रवर्ततेऽयं खलु घट इति । कथमिन्द्रियाभिग्रहः स्यादित्यत आह—इन्द्रियेणेत्यादि । हि यस्मात् समनस्केनात्म-प्ररितमनसा सहैवेन्द्रियेण तदिन्द्रियार्थो गृह्यतेऽतः स इन्द्रियाभिग्रहः न तु मनोऽनपेक्षेण । ऊर्द्धं तदर्थग्रहादूर्द्धं ततो निवृत्त्य स एवार्थो गुणतो दोषतो वा यत् कल्प्यते ऊहपूर्वकविचारः क्रियते । इदमेवमिदं ग्राह्यमिदं नैवमतो हेयमिदञ्चैवमित्यत उपेक्ष्यमित्येवं कल्पयित्वा विचार्यानन्तरं यो निश्चयः स्यादिदं ग्राह्यमिदं हेयमिदमुपेक्ष्यमित्येवं निश्चयलक्षणा या बुद्धिर्जायते सा निश्चयात्मिका बुद्धिरुच्यते । येयं तत्र विषये निश्चयात्मिका बुद्धिर्जायते, तया बुद्ध्या वक्तुं वा कर्तुं वा यद्व्यवस्यते गृह्यते वा त्यज्यते वाप्युपेक्ष्यते वा तद् बुद्धिपूर्वकं व्यवस्यते इति निश्चयात्मकबुद्धिपूर्वकव्यवसायकरणबुद्धिः निश्चयबुद्धेः फलं प्रमाबुद्धिस्तद्व्यवसायकरणबुद्धिलक्षणं यस्याः सा बुद्धिः त्रितयम् । तत्रेन्द्रियाण्यालोचयन्ति निर्विकल्पेन गृह्णन्तीत्यर्थः, मनस्तु सङ्कल्पयति हेयोपादेय-तया सङ्कल्पयतीत्यर्थः, अहङ्कारोऽभिमन्यते 'ममेदमहमत्राधिकृतः' इति मन्यत इत्यर्थः, बुद्धिः अध्यवस्यति त्यजाम्येनं दोषवन्तमुपाददाम्येनं गुणवन्तमित्यध्यवसायं करोतीत्यर्थः । ऊहस्तु यद्यपि बाह्यचक्षुरादिकर्म, तथापि मनोऽधिष्ठानमस्तीति मनःकर्मतयोक्तः । वचनं हि "सान्तः-करणा बुद्धिः सर्व्वं विषयमवगाहते यस्मात् । तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि" ॥ इति । ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते इति ऊहविचारानन्तरं बुद्धिरध्यवसायं करोतीत्यर्थः । अहङ्कारव्यापारश्च अभिमननमिहानुक्तोऽपि बुद्धिव्यापारेणैव सूचितो ज्ञेयः । बुद्धिर्हि त्यजाम्येनमुपाददामीति वाध्यवसायं कुर्व्वती अहङ्काराभिमत एव विषये भवति । तेन बुद्धिव्यापारेणैव अहङ्कारव्यापारो गृह्यते । बुद्धौ हि सर्व्वकरणव्यापारार्पणं भवति । यदुक्तम्—“एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः । कृत्स्नं पुरुषार्थं प्रकाशय बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥”

एतदेवोहविचारपूर्वकत्वं बुद्धेर्विवृणोति—इन्द्रियेणेत्यादि । गृह्यते इति ऊहमात्रेण निर्दिक्त्वेन गृह्यते । गुणत इत्युपादेयतया, दोषत इति हेयतया । बुद्ध्यध्यवसायं

व्यवसायात्मिका प्रमाणमुच्यते । इत्येव ज्ञानस्य भाव एतद्विषययेण ज्ञानस्य  
अभाव एव च मनसो लक्षणं तेनानुमेयं मन एकम् । ननु येयं बुद्धिरात्मेन्द्रियाथः  
मनःसन्निकषादुत्पद्यते सा किमुपादाना मनश्चेदं किमुपादानमिति चेत् सत्यम् ।  
योऽसौ षड्धातुः पुरुष उक्तः स खल्वेवमुक्तः । यदव्यक्तं नामात्मा महान्  
नाम जीवश्चाहङ्कारश्च तत् सात्त्विकाहङ्काराद्वैकारिकाभिधानाज्जातं मनस्तैज-  
साख्यराजसाहङ्कारसहायात् सात्त्विकाच्चाहङ्काराज्जातानि दशेन्द्रियाणि  
भूतादिनामतामसाहङ्कारजानि शब्दतन्मात्राकाश-स्पर्शतन्मात्रवायु-रूपतन्मात्र-  
तेजो-रसतन्मात्रजल-गन्धतन्मात्रभूमय इत्येतानि महाभूतानि पञ्चेत्येतदहङ्का-  
रादिसप्तदशकं महाश्चेत्यष्टादशतत्त्वविशिष्टोऽव्यक्ताख्य आत्मा चेतनाधातुस्तत्र  
च दिक्कालाभ्यां विशिष्ट आकाशस्तदाकाशानुप्रविष्टवायुर्वाय्वनुप्रविष्टतेजस्तत्-  
तेजोऽनुप्रविष्टजलं तज्जलानुप्रविष्टभूमिरिति खादयः पञ्च चेति षड्धातवः,  
एकीभूतः षड्धातुः पुरुषः प्रत्यगात्मा भूतात्मा चोच्यते । सूक्ष्मदेही बीजधर्मा  
स एव परलोकादवक्रम्य गर्भाशयगतं शुक्रशोणितसंयोगं प्राप्याव्यक्तात्  
आत्मनः सत्त्वादिगुणान् विकुर्वाण आत्मान्तरं सृजतीत्यव्यक्तमात्मात्मान्तर-  
मारभते । तथा महान् स्वगतसत्त्वादीन् विकुर्वाणो निश्चयात्मिकां बुद्धिमार-  
भते । अहङ्कारश्च स्वगतसत्त्वादीन् विकुर्वाणोऽविद्याबुद्धिमारभते । आकाशादयश्च  
पञ्च पञ्चाकाशादीनारभन्ते । इत्यष्टप्रकृतिधातुभ्योऽष्टौ जायन्ते । तथा मनः  
स्वास्मिकसत्त्वादीन् गुणान् विकुर्वाणं विशिष्टमपरं सत्त्वगुणबहुलत्रिगुणं  
सत्त्वसंज्ञकं मन आरभते । आहङ्कारिकाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि तान्यात्म-  
कृतान्येकैकाधिकपञ्चभूतान्यनुप्रविश्य पञ्च श्रोत्रादीनि बुद्धीन्द्रियाण्यारभन्ते ।  
तानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि चात्मकृतानि पञ्चाकाशादीन्यनुप्रविश्य पञ्च  
कर्मेन्द्रियाणि हस्तादीन्यारभन्ते । पञ्चार्थाश्च शब्दादयः शब्दादीनारभन्ते ।  
इत्येवं चतुर्विंशत्या धातुभिर्निष्पन्नः पुरुषोऽन्नमयो देवनरादियोनिषु जायत  
इति । तदिदं मनःप्रकृतिकं मनो ह्यभौतिकं चिन्त्याद्यनियतविषयं  
भौतिकानीन्द्रियाणि शब्दादिनियतविषयाणि । हस्तपादादिशरीरञ्च भौतिक-  
मिति दशेन्द्रियाणि शरीरञ्च खादिषु पञ्चसु द्रव्येषु संगृहीतानि तत् सेन्द्रिय  
शरीरं शरीरमुक्तं मनस्तु पृथक् द्रव्यमुक्तं सूक्ष्मदेही त्वात्मा द्रव्यमुक्तमिति  
सत्त्वमात्मा शरीरञ्चेति त्रयं संयुक्तं पुरुषश्चतुर्विंशतिक उक्तः क्रियाधिकरणश्च  
इति ।

वेवृणोति—जायत इत्यादि । विषये तत्रेति मनसा कल्पिते विषये । निश्चयात्मिकेति स्थिर-

ननु द्रव्यगुणकर्मसमवायसामान्यविशेषा इति पदेव पदार्था उक्ताः, के पुनः पदार्था महदहङ्काराहङ्कारिकदशेन्द्रियाणीति चेत् ? सत्यम् । द्रव्यादयस्तु ये षट् पदार्था उक्ताः, न ते पदेव पदार्थाः न त्वन्ये पदार्थाः सन्तीत्येवं नियमे-  
नोक्ताः, तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तविधिमाश्रिता इत्येतन्मात्रमुक्तं शास्त्रोक्तलौकिक-  
विध्याश्रयणं तत्षट्पदार्थज्ञानेन भवतीति च ख्यापितम् । वैशेषिके कणादेन च  
तत्षट्पदार्थतत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसमुक्तमन्ये पदार्था न सन्तीति नोक्तम् । निःश्रेयस-  
वचनेनाप्रमेयपदार्थाः सन्तीति ज्ञापितम् । गौतमेनाक्षपादेनापि प्रमाणादि-  
षोडशपदार्थतत्त्वज्ञानात् निःश्रेयसाधिगमवचनेन अप्रमेयपदार्थाश्च सन्तीत्येतज्-  
ज्ञापितं, न तु प्रमाणादिभ्योऽन्ये पदार्था न सन्तीत्युक्तमत एव कपिलेन साहच-  
र्योक्तं न षट्पदार्थनियमस्तद्वोधाच्च मुक्तिः । षोडशादिष्वप्येवम् । न वयं  
वैशेषिकादिवत् षट्पदार्थवादिन इत्येवमुक्तमिति प्रमेयातिरिक्ता अप्रमेयपदार्था  
अपि सन्तीति तत्त्वम् । ननु तर्हि किं महदादिकमप्रमेयमिति चेन्न । षट्सु  
यन्नवद्रव्यमुक्तं तत्कारणभूतम्, कारणभूतद्रव्यग्रहणेन कार्यभूतस्यापि देहेन्द्रिय-  
विषयात्मकादेर्ग्रहणम्, तत्रात्मा कारणभूतः कार्यभूतश्च । कारणभूतमव्यक्त-  
मात्मा, कार्यभूतः सूक्ष्मदेहो । तत्राव्यक्तं सूक्ष्मदेहनः परम इति परात्मा ततः  
प्रत्यगात्मा सूक्ष्मदेही तद्ग्रहणेन महदादीनां ग्रहणात् प्रमेयत्वं न त्वप्रमेयत्वमुक्तम् ।  
अव्यक्तात् परमस्त्वात्मषट्कः परमव्योमपुरुषः सर्वपरमात्मा । तथा चोक्तं  
कठोपनिषदि । इन्द्रियभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसश्च परा बुद्धि-  
बुद्धेरात्मा महान् परः । महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः । पुरुषान्न परं  
किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिरिति । मनस्तु गतिमेनाप्युक्तम् । युगपज्-  
ज्ञानानुत्पत्तिः मनसो लिङ्गमिति । व्याख्यातञ्च वात्स्यायनन । मनसः  
स्मृत्यादिषु लिङ्गेषु सत्सु खाल्यदं युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्लिङ्गं भवति । अतीन्द्रिय-  
निमित्ताः स्मृत्यादयः करणान्तरानिमित्ता भावतुमर्हन्तीति । युगपच्च खल-  
घ्राणादीनामिन्द्रियाणां गन्धादीनाञ्चार्थानामात्मनश्च सन्निकर्षेषु सत्सु युगपज्-  
ज्ञानानि नोत्पद्यन्ते । तेनानुमीयते, अस्ति तदिन्द्रियसंयोगिसंहकारि-  
निमित्तान्तरमव्यापि । यस्यासन्निधेर्नोत्पद्यते ज्ञानं, सन्निधेश्चोत्पद्यत  
इति । मनःसंयोगानपेक्षस्य हीन्द्रियाथेसन्निकर्षस्य ज्ञानहेतुत्वे युगपदुत्पदेन्न  
स्वरूपा अध्यवसायरूपेत्यर्थः । व्यवस्यतीत्यनुष्ठानं करोति उदयुक्तो भवतीत्यर्थः, बुद्धयध्यव-  
सितमर्थं वक्तुं कर्तुं वाऽनुतिष्ठतीति यावत् । बुद्धिपूर्वकमित्यनेन, यदेव बुद्धिपूर्वकमनुष्ठानम्,  
तदेवैवंविधं भवति, नोन्मत्ताद्यनुष्ठानमिति दर्शयति ॥ ५ ॥

मानानीति । इदञ्च भाष्यं व्याचक्षते । अतीन्द्रियाणि मनोबुद्ध्यादीनि । तन्निमित्ताः स्मृत्यादयः स्मृतिधृतिप्रभृतय उत्पद्यन्ते । तस्मात् मनोव्यतिरिक्त-  
करणान्तरबुद्धिनिमित्ता अपि सम्भवन्ति तस्मात् तत्रातिप्रसङ्गवारणाय युग-  
पदिति लक्षणमिति । न हि युगपज्ज्ञानोत्पत्त्यनुत्पत्ति करणान्तरनिमित्तं  
सम्भवति, सम्भवति च मनस एवेति । कथमिति चेत् तद् दर्शयति—युगपत्  
चेत्यादि । चकारः पुनरर्थे । तेन घ्राणादीनां पञ्चानामिन्द्रियाणां गन्धादीनाञ्च  
पञ्चानां तेषां घ्राणाणामर्थानाञ्च युगपत् तु सन्निकर्षेषु सान्निध्येषु सत्सु अपि  
युगपदेककालं घ्राणजरासनचाक्षुषस्वाचश्रावणानि ज्ञानानि नात्पद्यन्ते, तेन  
युगपत्पञ्चविधज्ञानानुत्पादेनानुमीयते । तत्तद्घ्राणादीन्द्रियसंयोगि तत्तदि-  
न्द्रियाणां स्वस्वाथग्रहणे स्वस्वार्थं प्रति धावने च सहकारि किमपि नियन्तु वस्तु  
स्वत्वेकमण् च सर्व्वेन्द्रियव्यापकस्पर्शनेन्द्रियसमवेतत्वेन व्यापकमपि युगपत्  
पञ्चस्वव्यापकं निमित्तान्तरमस्तीति लनुमीयत इत्यन्वयः । कथमनुमीयत  
इत्यत आह—यस्येत्यादि । यस्य निमित्तान्तरस्यासन्निधानात् तत्तदिन्द्रियार्थ-  
सन्निकर्षेऽपि सति तत्तदिन्द्रियज्ञं तत्तदर्थज्ञानं नात्पद्यते । यस्यैव  
निमित्तान्तरस्य सन्निधानात् तु तत्तदिन्द्रियार्थसन्निकर्षे च सति तत्तदिन्द्रियज्ञं  
तदर्थज्ञानमुत्पद्यते । तदेवकमण्परिमाणञ्च तदिन्द्रियसंयोगि सहकारि नियन्तु  
चाव्यापि च निमित्तान्तरं मन एवोच्यते । कस्मादेवमित्यतो हेतुं दर्शयति—  
मनःसंयोगेत्यादि । यदि तु तथाविधं तदिन्द्रियसंयोगि मनो नात्रात्तेष्यत  
मनःसंयोगानपेक्षमेवेन्द्रियमग्रहीष्यदर्थं ग्रहीतुञ्चाधाविष्यदिति तदिन्द्रियाथ-  
सन्निकर्षो मनःसंयोगानपेक्ष एव तत्तदर्थज्ञानमजनयिष्यदिति ज्ञानस्य हेतुः  
तत्तदिन्द्रियसन्निकर्षो न मनःसंयोगापेक्ष इति चेत् तदा युगपदुत्पदेरन् ज्ञानानि  
पञ्चेति । तस्मात् तदिन्द्रियसंयोगिसहकारिनिमित्तान्तरं तत्तदिन्द्रियाणां  
तत्तदर्थं धावनग्रहणयोनियन्तुप्रेरकमण्परिमाणमेकमेवासर्व्वव्यापि सर्व्वत्रगामि  
मनोऽस्तीत्यनुमीयते । तस्य खलु मनस एकत्वाणुत्वाभ्यां युगपदनंकेषु गन्तुमसा-  
मर्थ्यादव्यापित्वात् इन्द्रियाणां युगपदर्थेषु धावनग्रहणे च सहकारितया संयोगि-  
प्रयोजकाभावात्त युगपदिन्द्रियाणां सन्निधाने सत्स्वप्यथेषु धावनार्थं ग्रहणा-  
र्थञ्च प्रवृत्तिर्भवति । तस्मान्न युगपज्ज्ञानोत्पत्तिर्भवतीति ज्ञानयोगपञ्चानुत्पत्ति-  
मनसो लिङ्गं भवति । नैवं बुद्ध्या सम्भवति निष्क्रियत्वात् तदिन्द्रियसंयोगाय  
गन्तुमसामर्थ्यात् । न चात्मतश्चैवं भवति मनःक्रिययोपचरितक्रियया स्पर्शने-  
न्द्रियं गन्तुमात्मनोऽसम्भवात् । यत्र ह्यात्मा वर्त्तते तत्र तु नास्ति स्पर्शनेन्द्रिय-

स्थानं त्वक् खलु मनःपर्यन्तमेवास्ति । त्वगिति मनोमयकोषे हि मनो मनो-  
ऽभ्यन्तरे विज्ञानमयः कोपस्तत्र विज्ञानं तन्मध्ये त्वानन्दमय आत्मा क्षेत्रज्ञाधि-  
ष्ठिताऽव्यक्ताख्यः । इति वात्स्यायनव्याख्या ।

चरकवचनैकवाक्यत्वेनापरो व्याचष्टे । ज्ञानं ज्ञानोत्पत्तिरनुत्पत्तिर्ज्ञाना-  
नुत्पत्तिर्द्वयमेतद् युगपदिति युगपज्ज्ञानस्याभावभावौ मनसो लिङ्गमिति ।  
अस्मिन् मूत्रे स्वयमक्षपादो मनसः परीक्षार्थं सूत्राण्युवाच । ज्ञानायोग-  
पद्मादेकं मनः । न युगपदनेकक्रियोपलब्धेः । अलातचक्रदर्शनवत् तदुपलब्धि-  
राशुसञ्चारात् । यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु । इति । व्याख्यातानि च वात्स्याय-  
नेन । अस्ति खलु ज्ञानायोगपद्मपेकैकस्येन्द्रियस्य यथाविषयं करणस्यैक-  
प्रत्ययनिवृत्तौ सामर्थ्यान्न तदेकत्वे मनसो लिङ्गम् । यत् तु खल्विद-  
मिन्द्रियान्तराणां विषयान्तरेषु ज्ञानायोगपद्ममिति तल्लिङ्गम् । कस्मात् ?  
सम्भवति खलु वै बहुषु मनःसु इन्द्रियमनःसंयोगयोगपद्ममिति ज्ञानायोगपद्मं  
स्यात्, न तद्भवति । तस्माद्विषयप्रत्ययपर्यायादेकं मन इति ।

तत्राह वादी - न युगपदनेकक्रियोपलब्धेरिति । अयं खल्वध्यापकोऽधीते  
व्रजति कमण्डलुं धारयति पन्थानं पश्यति शृणोत्यरण्यजान् शब्दान् विभ्यद्-  
ध्याल्लिङ्गानि बुभुत्सते स्वरति च गन्तव्यं स्थानीयमिति क्रमस्याज्ञानाद्  
युगपदेताः क्रिया इति प्राप्तं मनोबहुत्वमिति । तत्रोत्तरम् । अलातचक्र-  
दर्शनवत् तदुपलब्धिराशुसञ्चारादिति । आशुसञ्चारादलातचक्रस्य सम्भ्रमतो  
विद्यमानक्रमो न गृह्यते । क्रमस्याग्रहणादविच्छेदबुद्ध्या चक्रवद्बुद्धिर्भवति ।  
तथा बुद्धीनां क्रियाणाञ्चाशुवृत्तित्वाद् विद्यमानक्रमो न गृह्यते, क्रमस्याग्रहणाद्  
युगपत् क्रिया भवन्तीत्यभिमानो भवति । किं तु क्रमस्याग्रहणाद् युगपत्-  
क्रियाभिमानः ? किमथ युगपद्भावादेव युगपदनेकक्रियोपलब्धिरिति ? नात्र  
विशेषप्रतिपत्तेः कारणमुच्यते । इत्युक्तमिन्द्रियान्तराणां विषयान्तरेषु पर्यायेण  
बुद्ध्यो भवन्तीति, तच्चाप्रत्याख्येयमात्मप्रत्यक्षत्वात् । अथापि दृष्टश्रुतार्थानि  
चिन्तयतां क्रमेण बुद्ध्यो वर्तन्ते न युगपत्, अनेनानुमातव्यमिति । वर्णपदवाक्य-  
बुद्धीनां तदर्थबुद्धीनाञ्चाशुवृत्तित्वात् क्रमस्याग्रहणम् । कथम् ? वाक्यस्थेषु  
वर्णेषु खलूच्चार्यमाणेषु प्रतिवर्णं तावच्छवर्णं भवति । श्रुतं वर्णमेकमनेकं  
वा पदभावेन स प्रतिसन्धत्ते, प्रतिसन्धाय पदं व्यवस्यति, पदव्यवसायेन  
स्मृत्वा पदार्थं प्रतिपद्यते, पदसमूहप्रतिसन्धानाच्च वाक्यं व्यवस्यति,  
सम्बन्धांश्च पदार्थान् गृहीत्वा वाक्यार्थं प्रतिपद्यते, न चासां क्रमेण वर्तमानानां

बुद्धीनामाशुचित्वात् क्रमो गृह्यते । तदेतदनुमानमन्त्रं बुद्धिक्रियायौग-  
पद्याभिमानस्येति । न चास्ति मुक्तमंत्रया युगपदुत्पत्तिबुद्धीनाम्, यया मनसो  
बहुत्वमेकशरीरेऽनुमीयेतेति ।

एकञ्च महदेकदा बहून् व्याप्तुमर्हति मूर्धन्यवदिति । तत्राह—यथोक्तहेतु-  
त्वाच्चाणु । इति । अणु मन एकञ्चेति धर्म्मसमुच्चयो ज्ञानायौगपद्यात् । महत्त्वे  
मनसः सर्व्वेन्द्रियसंयोगाद् युगपद्विषयग्रहणं स्यात् तस्मादेकमणु च मन इति  
तत्त्वम् । कणादेनापि वैशेषिकन्याये प्रोक्तम् । आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य  
भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम् । सत्यप्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे यस्य संयोगाद्  
इन्द्रियेण ज्ञानस्य भाव उत्पत्तिः स्याद् यस्य वियोगादिन्द्रियेण ज्ञानस्याभावो-  
ऽनुत्पत्तिः स्यात्, तन्मन इति, आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षसद्भावसमकाल-  
ज्ञानोत्पत्त्यनुत्पत्ती मनसो लक्षणमित्यर्थः ।

नन्वेवंलिङ्गं मनः कथं द्रव्यं भवति, तन्नित्यमनित्यं वेत्यन आह—तस्य  
द्रव्यत्वानित्यत्वे वायुना व्याख्याते । वायुर्यथा व्याख्यातः खल्वाहङ्कारिकत्वाद्  
द्रव्यवत्त्वेन द्रव्यं क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च सूक्ष्मस्तथाहङ्कारिकत्वान्मनोऽप्यद्रव्य-  
वत्त्वेन क्रियागुणवत्त्वाच्च द्रव्यं सूक्ष्मञ्च व्याख्यातम् । एवं वायुर्यथा चाद्रव्य-  
वत्त्वेन नित्यत्वं व्याख्यातं तथा मनसोऽप्यद्रव्यवत्त्वान्नित्यत्वं व्याख्यातमिति ।  
गुणक्रियावत्समवायिकारणं द्रव्यमिति ह्युक्तं तद्रव्यवदित्यं तत्कार्य्यमिदं  
मनः । तद् द्रव्यरहितत्वं नित्यत्वम् । क्रियागुणवत्समवायिकारणाभावान्नित्यं मन  
इत्यर्थः । अणुत्वं प्रसिद्धमाशुसञ्चारात् । ननु मनो द्रव्यं नित्यमणु च भवन्  
प्रतिक्षणं सात्त्विकादिविभिन्नरूपदर्शनात् किमेकैकस्मिन् पुरुषेऽनेकमित्यन  
आह—प्रयत्नायौगपद्याज् ज्ञानायौगपद्याच्चैकम् । मन एकैकैस्मिन् पुरुषे खल्वेक-  
मेव भवति । कस्मात् ? प्रयत्नायौगपद्याज् ज्ञानायौगपद्याच्च । ननु एकं चेन्मनः  
स्यात् तथापि युगपदेव तस्य बहवः प्रयत्नाः सम्भवन्ति । यथार्क एक एव सर्व्वं यदा  
प्रकाशयति तदैव तापयति तदैव जगतः स्नेहान् शोषयति । तथा किञ्चिद्वस्तु  
स्मरतु किञ्चिज्ज्ञानातु कचिन्मुह्यतु चेति । इत्यत आह—तदभावादणु मनः,  
तस्य मनसो विशुद्धेऽपि अणत्वं सूक्ष्मत्वं, कस्मात् ? तदभावात् । प्रयत्नज्ञानयोः  
यौगपद्याभावात् । यदि प्रयत्नयौगपद्यं ज्ञानयौगपद्यं वा प्रत्यक्षमज्ञायिष्यत तदा  
महन्मनोऽभविष्यत् इति । ॥ कपिलेनाप्युक्तं साङ्ख्यसंहितायाम् । उभयात्मकश्च  
मनः । बुद्धिकर्म्मोभयात्मकमेकं मनः स्याद् बुद्धीन्द्रियश्च कर्म्मन्द्रियञ्चेति ।  
तत्रायं संशयः । किं नु खलु मन एकमनेकं वेति ? तत्राह—गुणपरिणाम-

भेदान्नानात्मवस्थावत् । अस्मिन्नेकैकस्मिन् खलु पुरुषे प्रयत्नज्ञानयोरयोग-  
पद्यान्मनस एकत्वेऽपि गुणपरिणामभेदात् सत्त्वादिगुणानां परिणाम-  
विशेषेणैकैकस्य नानात्वेन नानात्मवस्थावत् । प्रतिक्षणं ह्यास्मिन्नस्मिन् पुरुषे-  
ऽवस्था यथा परिणमति तदवस्थाभेदेन स स एकैकः पुरुषस्तत्तदावास्थको  
नात्वा भवति ; यथा बालपौगण्डयुवकिशोरमध्यस्थाविररूपः । तथा प्रतिक्षणं  
मनः सत्त्वादिपरिणामे सात्त्विकं ब्राह्मसत्त्वं देवसत्त्वमार्गसत्त्वमित्येवमादिकं,  
राजसञ्च तामसञ्चैवं बोध्यम् ।

ननु ज्ञानक्रिययोरयोगपद्यान्मनस एकत्वं नानुमीयते व्यभिचारात् ;  
एकं ह्यापि महद् बहूनि वस्तूनि व्याप्नोति यथार्कः ; एवमेवैकमपि मनोऽनेके-  
ष्विन्द्रियेषु व्याप्य प्रवर्तितुं प्रसज्यत इत्यत आह—न व्यापकत्वं मनसः  
करणत्वादिन्द्रियेण वा । मनसो न व्यापकत्वं सर्वेन्द्रियव्यापकस्पर्शनेन्द्रिय-  
समवायेन चेत्तरतु व्यापकमपि क्रमेण स्पर्शनेन्द्रियवत्मेना सर्वदेहगाम्यपि  
न युगपत् सर्वदेहगामि व्यापकम् । कस्मात् ? करणत्वात् । करणं हि  
कर्त्रधीनं नानेककर्म युगपत् कर्तुमेकं प्रभवति, कर्तुरेकत्वात् । नन्वेकोऽपि  
कर्त्ता दीर्घदेहानेकान् युगपत् कर्तुं प्रभवत्येवेत्यत आह—इन्द्रियत्वाद्वा ।  
इन्द्र लिङ्गमित्यर्थे निपातनादिन्द्रियम् । इन्द्रस्यात्मनो लिङ्गमित्यतो मनो  
न व्यापकम् । तेन सर्वेन्द्रियव्यापकत्वेऽपि स्पर्शनेन्द्रियस्य तत्समवायेन  
मनसो न सर्वव्यापकत्वमिति । एतेनैवं स्थापितम्—अणूत्वादकत्वाच्च मनो  
न व्यापकं, न ह्यणुं चैकमेककालमनेकेषु प्रवर्तितुं प्रभवतीति भावः ।  
ननु मनोऽभ्यन्तरेन्द्रियं कथमस्य वहिरिन्द्रियेषु योगः स्यादित्यत आह—  
सक्रियत्वाद्गतिश्रुतेः । अव्यापकमपि मनः सर्वेन्द्रियव्यापकस्पर्शनेन्द्रिय-  
समवायेन सर्वेन्द्रियेषु स्वाभिमतार्थग्रहणायात्मना प्रेरितं गन्तुं प्रभवति  
सक्रियत्वात् । मनसः सक्रियत्वञ्च गतिश्रुतेः । छान्दोग्योपनिषद् हुक्ताम् ।  
उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच । स्वप्नान्तं मे सौम्यं विजानीहि ।  
यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम स सौम्यं तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति  
तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते । एवं ह्यपीतो भवति । स यथा शकुनिः सूत्रेण  
प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्र नायतनं लब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयते । एवमेवं  
खलु सौम्यं तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते  
प्राणबन्धनं हि सौम्यं मन इति । पतित्वेत्युक्त्या गतिमेनसः श्रूयते । ननु  
मनसोऽणत्वेन सक्रियत्वं कथमुपपद्यते ? क्रिया ह्यवयविनां दृश्यते मनस्त्वणु

निरवयवमित्यत आह—न निर्भागत्वं तद्योगाद् घटवत् । मनसो निर्भागत्वं  
 निरवयवत्वं नास्ति । कस्मात् ? घटवत् तद्योगात् । यथा खल्वेकस्या एव  
 मृत्तिकायाः कपालमालाद्वययोगान्न निर्भागत्वं तथा मनसोऽप्येकस्याहङ्कारस्य  
 तैजससहितसात्त्विकाहङ्कारस्याणूद्वयस्य योगात् तदुभयात्मकत्वेन न निर्भागत्वम्,  
 अणुत्वञ्च सक्रियत्वञ्च वत्तत एव । नन्वेवमहङ्कारभेदद्वययोगाद् यदि  
 सावयवाणुत्वं तदा नित्यत्वं नास्तीत्यत आह— नाणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः ।  
 अणुपरिमाणस्य परमाणुयोगान्न नित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः । परमाणूद्वय-  
 कार्यं ह्यणु शास्त्रे श्रूयते । तत्र वादी—न निर्भागत्वं कार्यत्वात् । परमाण-  
 कार्यत्वादेणुपरिमितस्य न निर्भागत्वमपि सभागत्वमेव । अणुपरिमितस्य  
 अनित्यतायामुपपत्त्यन्तरमाह— तद्रूपनिबन्धनान् प्रत्यक्षनियमः । तेषामणूनां  
 परमाणुघटितानां रूपनिबन्धनं हि प्रत्यक्षं भवति न हि परमाणुघटितानू-  
 परिमितरूपं विना प्रत्यक्षं भवति, परमाणुरूपस्य प्रत्यक्षयोग्यताभावात् ।  
 ननु न भवतु परमाणुपरिमाणं चतुर्विधपरिमाणमध्ये तदभावादित्यत आह—  
 न परिमाणचतुर्विध्यं द्वाभ्यां तद्योगात् । अणु दीवं महत् ह्रस्वमिति  
 चतुर्विधं परिमाणं न । द्वाभ्यां परमाणूभ्यां योगात् तदणु भवति । तच्च  
 परमाणुपरिमाणमाधिकं परिमण्डलम् । तद्योगादणु च दोषञ्च महच्च  
 ह्रस्वञ्चेति पञ्चविधं मानम् । नन्वणुपरिमितस्य चेदनित्यता स्यात् तदा  
 स्थिरत्वाभावात् कथं प्रत्यभिज्ञानं भवतीत्यत आह—अनित्यत्वेऽपि स्थिरता-  
 योगात् प्रत्यभिज्ञानं सामान्यस्य । पार्थिवाद्यणूनामनित्यत्वेऽपि कनिकाळं  
 स्थिरत्वयोगात् सामान्यस्य घटाद्यारम्भकस्य पार्थिवाद्यणोः प्रत्यभिज्ञानं भवति ।  
 यो योऽसौ तत्र मार्त्तिकघटारम्भकः परमाणूद्वयरूपोऽणुः स स एवायं मार्त्तिक-  
 घटारम्भकः पार्थिवः परमाणुरिति सामान्यस्य प्रत्यभिज्ञानं भवति । नन्वेवं  
 कतिकालस्थिरतायामणूनां परमाणूद्वयप्रत्यभिज्ञानं शब्दप्रत्यभिज्ञानवदपलापितं  
 भवति वस्तुतोऽस्थिरत्वात् इत्यत आह—न तदपलापस्तस्मात् । तस्मात्  
 १ इत्यनित्यत्वेऽप्यणूनां कतिकालावस्थानाद् वस्तुतोऽस्थिरत्वोऽपि चिरस्थिरत्व-  
 योगात् तत्प्रत्यभिज्ञानस्यापलापो न भवति । ननु प्रत्यभिज्ञा खलु तादात्म्य-  
 रूपेण भवति कथं सामान्यस्य प्रत्यभिज्ञा स्यात् ? यो हि पूर्वानुभूतः स  
 एवान्यस्मिन् काले तद्रूपेण प्रत्यभिज्ञायत इति ? तत्राह—नान्यनिर्गृहीतरूपत्वं  
 भावप्रतीतेः । सामान्यन्तु तत्तद्भिन्नस्य तद्वतधर्मरूपं न तत्रान्यनिर्गृहीतरूपत्वं  
 तदभिन्नरूपत्वं न सामान्यम् । कस्मात् ? भावप्रतीतेः । तस्य भावेन धर्मेणान्यस्य



प्रत्ययात् । यैः पार्थिवपरमाणुभिरारब्धाणुभिरारब्धस्तव घटस्तैः पार्थिवपरमाणुभिरारब्धाणुभिरारब्धोऽयं घट इति द्विपरमाणुरूपस्य सामान्यस्य धर्मेस्याभिन्नस्यैव प्रत्ययादन्यनिवृत्तिरूपत्वं सामान्यं नेति बोध्यम् । ननु यदि सामान्यं समानत्वं तदा भेदाभावादेकस्य तद्घटादेः प्रत्यभिज्ञानं नास्तु, यथा सोऽयं घट इति सादृश्यञ्च न सामान्यं भवतु ; योऽसौ चन्द्रस्तदिदं मुखम् इति प्रत्यभिज्ञानापत्तेरित्याकाङ्क्षायामाह—न तत्त्वान्तरं सादृश्यं प्रत्यक्षोपलब्धेः । तत्त्वान्तरं सादृश्यं न सामान्यम् । तद्भावस्तत्त्वं तत्त्वान्तरं तद्वर्मान्तरं यत् सादृश्यं तन्न सामान्यम् । कस्मात् ? प्रत्यक्षोपलब्धेः । दृश्यते हि प्रत्यक्षं न गोगजयोः सादृश्यं, सादृश्यं पुनर्गौगवययोरिति । तद्वर्मान्तरं गोलगवयत्वभिन्नं तदाकाररूपं धर्मान्तरमिह सादृश्यं न सामान्यम् । तच्च न प्रत्यभिज्ञायत इति । योऽसौ चन्द्रस्तदिदं मुखमित्येवं प्रत्यभिज्ञानं न भवति, सोऽयं घट इत्येवं प्रत्यभिज्ञानन्तु भवत्येवेति । अथ निजशक्त्यभिव्यक्तिर्वा वैशिष्ट्यात् तदुपलब्धेः । न सामान्यमित्यनुवर्तते । निजशक्त्यभिव्यक्तिर्वा सामान्यं नाभिधीयते किन्तु तद्भिन्नस्य तद्वत्तदधर्मवत्त्वमिति । निजस्य स्वस्य स्वस्य गुणकर्मप्रभावरूपायाः फलसाधनहेतुभूतायाः शक्तेरभिव्यक्तिर्न सामान्यम् । शक्त्या हि कार्यत्वमापद्यते । यथा घटाद्यारम्भकद्वाराण्यैः स्वस्वशक्त्या घटादित्वेन परिणम्यते । न तु शक्तिं विनेति शक्त्यभिव्यक्तिर्न सामान्यम् । कस्मात् ? तद्वशिष्ट्यात् तदुपलम्भात् । स्वस्वशक्तेर्विशिष्टरूपतयैव कार्यैर्बहिर्व्यक्तेरुपलम्भात् कार्येषु घटादिषु न स्वरूपेण शक्तिरुपलभ्यते । ननु तर्हि प्रत्यभिज्ञानं किं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धरूपस्य सामान्यस्य भवतीत्याशङ्कयामाह—न संज्ञासंज्ञिसम्बन्धोऽपि । यत् सामान्यस्य प्रत्यभिज्ञानमुक्तं तत् सामान्यं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धोऽपि न । कस्मात् ? अपिशब्दात् पूर्वहेतोः । वैशिष्ट्यात् तदुपलब्धेरिति । घटादिः संज्ञा तद्वाच्यघटादिवस्तुसंज्ञितयोः सम्बन्धो वाच्यवाचकभावः । स च न प्रत्यभिज्ञायां सामान्यम् । घटाद्यारम्भकाणां परमाणुसमारब्धद्वाराणुकानां विशेषरूपेण घटादिसंज्ञाया उपलम्भात् । ननु घटादिसंज्ञानां घटादिवस्तुवाचित्वसम्बन्धो नित्य एव ततः सोऽयं घट इति प्रत्यभिज्ञानं भवति कथं न संज्ञासंज्ञिसम्बन्धस्य सामान्यस्य प्रत्यभिज्ञानं स्यादित्यत आह—न सम्बन्धनित्यतोभयानित्यत्वात् । संज्ञया सह संज्ञिनः सम्बन्धस्य वाच्यवाचकभावस्य न नित्यतास्ति कस्मादित्यत आह—उभयानित्यत्वात् । उभयं हि संज्ञा च संज्ञि च न नित्यं कथं तयोः

सम्बन्धो नित्यः स्यात् ? किन्तु यत्पदेन यद्वाच्यं तद्वाच्यवाचकत्वं प्रसिद्धं यावत् सर्गस्थितिः पुनः सर्गेऽपि तथैव वाच्यवाचकत्वं भावप्यनीत्येवं नित्यत्वे-  
 ऽपि महाप्रलये वाच्यासद्भावाद् वाचकस्य चासद्भावात् तयोः सम्बन्धस्यापि नाशात् । एवं सम्बन्धानित्यत्वे सम्बन्धस्य सामान्यस्य न प्रत्यभिमानं स्यादिति-  
 त्वाह—नातः सम्बन्धो धर्मिग्राहकमानाभावान् । अतः संज्ञासंज्ञुभयानित्यत्वेन संज्ञासंज्ञिनोः सम्बन्धस्यानित्यत्वात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धो न प्रत्यभिज्ञायां सामा-  
 न्यम् । कस्मात् ? धर्मिग्राहकमानाभावात् । सम्बन्धस्य धर्मिवाचकत्वे तद्ग्राहक-  
 मानाभावात् । न हि घटादिपदवाच्यघटादिवस्तुनो घटत्वादिधर्मिवाचकः सम्बन्धः प्रमाणसिद्ध इति । ननु यद्यत्परमाणुसमारब्धद्व्यणुकैर्यद्यद्घटादिकं वस्तु समारभ्यते तत्समवायिकारणसंयोगात् समवाय एव स आरम्भ उच्यते । सैव समानप्रसवात्मिका जातिः सामान्यम्, असमानप्रसवात्मिका जातिश्चोच्यते विशेष इति धर्मिणो घटादेर्धर्मिवाचक एव सम्बन्धोऽस्तीत्यन आह—न सम-  
 वायोऽस्ति प्रमाणाभावात् । वस्तूनां समवायिकारणसंयोगात् कार्यत्वमापद्य-  
 मानत्वे योज्यवावयविभावः समवायः सा जातिः समानप्रसवात्मिका चासमान-  
 प्रसवात्मिका चेति द्विधा, जन्म सामान्यं विशेषश्चास्ति न च त समवायः, संज्ञासंज्ञिनोर्वाच्यवाचकभावः समवायः सम्बन्धोऽस्ति । कस्मात् ? प्रमाणा-  
 भावात् । नन्वस्ति प्रत्यक्षम् अनुमानञ्च प्रमाणमित्यत आह—उभयत्राप्यन्यथा-  
 सिद्धेन प्रत्यक्षमनुमानं वा । वहिरिति शब्दे तद्वाच्यवस्तु न दृश्यते । न वा वहिश्चदे दहनादिलिङ्गेन वहिरनुमीयते, इत्युभयत्राप्यन्यथासिद्धेः प्रकारान्तरेण संज्ञासंज्ञिनोः समवायासिद्धेन प्रत्यक्षं नानुमानञ्च नाप्तोपदेशश्च । बोधस्तु तत्र सामयिकः । इत्युक्तम् । ननु भो देवदत्त इत्युक्ते स एवाभिमुखीभूय प्रत्युत्तरं दत्त इत्यतोऽनुमीयते समवायेन स शब्दस्तत्रास्तीत्यत आह—नानुमेयत्वमेव क्रियया नेदिष्टस्य तत्तद्वतोरेवापरोक्षप्रतीतिः । भो देवदत्त इत्युक्ते प्रत्युत्तरदातृपुरुषे देवदत्तशब्दोऽस्तीति तस्य नानुमेयत्वमेव । कस्मात् ? नेदिष्टस्यान्तिकस्थस्य तज्जन्यस्य क्रियया तत्तद्वतो घटादिपदतत्पदवस्तुनोरपरोक्षप्रतीतिः प्रत्यक्ष-  
 प्रतीतिः । घटादिवस्तुनि च घटादिपददर्शनाभावात् । प्रत्येकमपि नास्ति । इत्यतो मनसो निर्भागत्वं नास्ति । वैकारिकाहङ्कारारब्धद्व्यणुकमानात् तु सभाग-  
 त्वेऽपि न तद्भागाद्वयविश्लेषोऽस्ति यावत् प्राकृतप्रलयं तयोर्विश्लेषे परमाणु-  
 भावे द्व्यणुकनाशः स्यादित्यतस्तदाहङ्कारिकं मनो नित्यमिति कणादकपिला-  
 भ्याम् आहङ्कारिकं कारणभूतं मनः परीक्षितं नित्यमेकमणु च मन इति ।

द्रव्येषु यन्मनः कणादेनोक्तं तत्कारणद्रव्याणामुद्देशे न तु कार्यद्रव्येषु । तद्रव्याणां सजातीयारम्भकत्वञ्चोक्तं तेन तदाहङ्कारिकमनसः कार्यमिदं मन इह तन्त्रे पुनर्व्वेसुनात्रेयेणोपदिष्टं चतुर्व्विंशतिके पुरुषे । तदुत्पत्त्युपदेशे खुड्डीका-गर्भावक्रान्तिशरीरे वक्ष्यते । आत्मजानि यानि तानि यथा—तासु तासु योनिपूत्यत्तिराधुरात्मज्ञानं मन इन्द्रियाणि प्राणापानावित्यादि । तत्रात्मा पङ्धातुः पुरुषस्तस्माज्जातं मन इदं तत्स्थमाहङ्कारिकं मनः शुक्रशोणितसंयोगं गर्भाशयगतमवक्रम्य तेन पङ्धातुकेनात्मना प्रथमं यानि पञ्च महाभूतानि सृज्यन्ते तत्र या पृथिवी गन्धमात्रा तस्या अणिष्ठभागनैकीभूय मन इदमारभते । ततो भौतिकं किन्तु भूतांशत आहङ्कारिकमनोऽंशबाहुल्याच्च मनःसंज्ञं द्रव्यम् । तदुक्तं छान्दोग्योपनिषदि । त्रिवृत्करणश्रुतौ । अन्नमशितं त्रेश विधीयते । तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मन इति अन्नमयं हि सोम्यं मन इति । ( तन्न भूतात् पृथग् द्रव्यवचनात् । त्रिवृत्करणश्रुतौ हुतम् येनान्नमशितं तस्य मनो जातोत्तर-कालमन्नेन पुष्यति न तु गर्भस्य जायमानस्य मन आरभ्यते इति । गर्भारम्भे ह्यात्मा गर्भाशयमवक्रम्य शुक्रशोणितसंयोगमनुप्रविश्य सत्त्वकरणो मनो विकुर्वाणो यथा पञ्च महाभूतानि सृजति तथा सत्त्वरजस्तमांसि तांस्त्रीन् सत्त्वबहुलान् गुणांस्त्वाहङ्कारिकमनोऽनुप्रविश्येदं स्थूलं मनः सृजति इत्यात्मजं मनः । ) सत्त्वं तादृदं मनोऽपि मनसारब्धत्वान्मनोमयत्वान्मनःसंज्ञमुक्तं कार्यद्रव्यं देहेन्द्रियविपर्ययपृथिव्यादिकार्यद्रव्यवत् । ( वक्ष्यते ह्यतुल्यगोत्रीये । रूपाद्विरूपप्रभवः प्रसिद्धः कर्मात्मकानां मनसो मनस्त इति । ) तथैकमण चानित्यं ज्ञानायोगपचलिङ्गं न तु नित्यं मृतस्य बुद्धिमनइन्द्रियादीनां नाशात् पञ्चानामात्मस्थानां भूतानामवशेषत्वात् । तद्वक्ष्यति चातुल्यगोत्रीये । भूतानि चत्वारि च कर्मजानि यान्यात्मलीनानि विशन्ति गर्भम् । स बीजधर्मा ह्यपरापराणि देहान्तराण्यात्मनि याति याति । इति । तथात्रापि वक्ष्यते । शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम् । पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते । इति । ये तु मनो नित्यमाहुस्ते सूक्ष्मदेहिस्थमाहङ्कारिकमनोऽभिप्रेत्य ये चानित्यमाहुस्ते तन्मनोजातं चतुर्व्विंशतिकपुरुषस्थं मनोऽभिप्रेत्यैवेत्येवं न विदित्वा प्रमत्ता विवदन्ते । इति । उभयमेवेदं मन एकमणु च ज्ञानायोगपचलिङ्गमभौतिकञ्च । गौतमेनाक्षपादेनोक्तं प्रथमसूत्रस्य भाष्ये वात्स्यायनेन व्याख्यातम् । इन्द्रियस्य वै सतो मनस इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदेशो

एकैकाधिकयुक्तानि स्वादीनामिन्द्रियाणि तु ।

पञ्च कर्मानुमेयानि येभ्यो बुद्धिः प्रवर्तते ॥

धर्मभेदात् । भौतिकानीन्द्रियाणि नियतविषयाणि सगुणानाञ्चैवामिन्द्रिय-  
भाव इति मनस्त्वभौतिकं सर्वविषयञ्च नास्य सगुणस्येन्द्रियभाव इति ।  
नति चेन्द्रियार्थसन्निकर्षे सन्निधिमसन्निधिञ्चास्य युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिकारण-  
मिति । परीक्षितञ्च पूर्वमुपदर्शितम् ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—ननु मनो दशेन्द्रियाणीति यदुक्तं तत्र मन इदमुक्तं, दशेन्द्रियाणि  
पुनः कानीत्यत आह—एकैकाधिकयुक्तानीत्यादि । येभ्य इन्द्रियेभ्यः पञ्चभ्यो  
बुद्धिः प्रवर्तते तान्याहङ्कारिकाणि चेतनाधातुपुरुषस्थानि पञ्च बुद्धेरिन्द्रियाणि  
स्वादीनामात्मजानामाकाशादीनामेकैकभूताधिकपञ्चभूतयुक्तानि भूतप्राधा-  
न्याद्भौतिकानि चतुर्विंशतिके पुरुषे भवन्ति । तान्यप्रत्यक्षाणि कर्मानु-  
मेयानि स्वस्वकर्मणा शब्दग्रहणादिनाऽनुमेयानि भवन्ति । यतः शब्दं  
मृगोमि श्रोत्रेण शब्दं गृह्णन्नित्यतोऽनुमीयतेऽस्ति मे श्रवणेन्द्रियमित्येवमादिरूपे-  
णानुमेयानि । एकैकाधिकयुक्तानीति वचनेन पञ्चाधातुपुरुषस्थानामाहङ्कारिकाणां  
पञ्चानां बुद्धीन्द्रियाणां चतुर्विंशतिके पुरुषे स्वात्मजाकाशादेरैकाधिक-  
पञ्चभूतयोगेन विशिष्टापूर्वपाञ्चभौतिकत्वमुक्तं तेन पञ्चानां सक्रियत्वमुप-  
पन्नमात्मजाकाशादेरैकभूतयुक्तत्वे हि श्रोत्रस्य निष्क्रियत्वं प्रसज्यते ।  
स्वादीनामित्यात्मजानामिति मन इन्द्रियादीनामात्मजत्ववचनात् । न तु  
पितृजमातृजरसजानामिति । तथात्वे हि शरीरावयवानां पितृजादीनामिव  
श्रोत्रेन्द्रियादीनां स्वस्वकर्मबुद्ध्यानुपपत्तिप्रसङ्गः स्यात् । यच्च साङ्ख्ये  
कपिलेनोक्तम्—न भौतिकानीन्द्रियाण्याहङ्कारिकत्वश्रुतेरिति, तत्पञ्चाधातु-  
पुरुषस्थानामिन्द्रियाणां भौतिकत्वसंशयमभिप्रेत्योक्तं न तु चतुर्विंशतिकराशि-  
पुरुषस्येन्द्रियाण्यभिप्रेत्य । चतुर्विंशतिकपुरुषस्येन्द्रियाभिप्रायेण तु पुन-  
रुक्तम् । न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहङ्कारिकत्वश्रुतेः । श्रुतिर्हि—एतस्मा-  
ज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य  
धारिणीति । तद्रूपनिबन्धनात् प्रत्यक्षनियमः । तदाहङ्कारिकेन्द्रियाणां

चक्रपाणिः—मनोऽभिधायेन्द्रियाण्यभिधत्ते, अत्रापि ज्यायस्त्वाद् बुद्धीन्द्रियाणि प्रागाह—  
एकैकेत्यादि । स्वादीनां मध्ये एकैकेन भूतेन युक्तानीन्द्रियाणि पञ्च चक्षुरादीनि । एकैकाधिक-

श्रोत्रादीनां रूपनिवन्धनाद् आकाशादेरकैकाधिकपञ्चभूतमयरूपनिवन्धनात् प्रत्यक्षनियमः, श्रवणेन शब्दप्रत्यक्षं त्वचा स्पर्शप्रत्यक्षं चक्षुषा रूपप्रत्यक्षं रसनेन रसप्रत्यक्षं घ्राणेन गन्धप्रत्यक्षं नखन्येनान्यस्येति नियमः । इति । न तेजोऽपसर्पणात्तैजसं चक्षुर्वृत्तितस्तत्सिद्धेरिति । प्राप्तार्थप्रकाशल्लिङ्गाद् वृत्तिसिद्धिः । भागगुणाभ्यां तत्तान्तरवृत्तिः किन्तु तत्ता तदेकशोभूता सम्वद्धार्थं सर्पतीति । नक्तञ्चराणां रात्रौ चक्षुपस्तेजोऽपसर्पणात् तैजसं चक्षुर्न भवति वृत्तितो रूपग्रहणात् तत्सिद्धेस्तैजसत्वसिद्धेः । वृत्तिसिद्धिस्तु प्राप्तार्थप्रकाशल्लिङ्गात् न त्वप्राप्तार्थस्य । चक्षुर्हि रूपं प्राप्तं प्रकाशयति न रसं गन्धं वान्यमिति । कथमेवं वृत्तिः ? भागगुणाभ्यां तत्तान्तरवृत्तिः । आरम्भकाणां भूतानां भागेनैकैकाधिकेन तद्वर्णनेनापरेषां गुणाभिभवाच्च तद्वभूतगुणेन तत्तान्तरवृत्तिः पृथक् पृथगर्थो वृत्तिः । किन्तु तत्ता तस्य भावस्तदेकशोभूता तत्तदेकैकभूताधिकपञ्चभूतारब्धतासम्वन्धार्थं यो गुणो यस्मिन्निन्द्रिये सम्वन्धस्तं गुणमर्थं ग्रहीतुं सर्पतीति । इति साङ्ख्यमतेन तुल्यम् । सुश्रुतेऽपि । भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वर्दे वर्ण्यन्ते तथेन्द्रियार्थाः । भवति चात्र । इन्द्रियेणेन्द्रियार्थान्तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः । नियमात् तुल्ययोनित्वान्नान्ये नान्यमिति स्थितिः ॥ इति । गौतमेनाप्युक्तम् । घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः । पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानीति । व्याख्यातश्च वात्स्यायनेन । जिघ्रत्त्यनेनेति घ्राणं गन्धं गृह्णातीति । रसयत्यनेनेति रसनं रसं गृह्णातीति । चष्टेऽनेनेति चक्षुः रूपं गृह्णातीति । स्पृशत्यनेनेति स्पर्शनं त्वक् तदुपचारः स्थानादिति । शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं शब्दं गृह्णातीति । एवं समाख्यानिव्वचनसामर्थ्याद् बोध्यं स्वविषयग्रहणलक्षणानीन्द्रियाणीति । भूतेभ्य इति । नानाप्रकृतीनामेषां सतां विषयनियमो नैकप्रकृतीनाम् । सति च विषयनियमे स्वविषयग्रहणलक्षणत्वं भवति । कानि पुनरिन्द्रियकारणानि भूतानीति ? पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानीति संज्ञाशब्दैः पृथगुपदेशो भूतानां सुवचं कार्यं भविष्यति । इति । तत्र । कृष्णसारे सत्युपलम्भाद् व्यतिरिच्य चोपलम्भात् संशयः । किमाव्यक्तिकानीन्द्रियाणि आहोस्विद्भौतिकानीति ? कृष्णसारं हि भौतिकं तस्मिन्ननुपहते रूपोपलब्धिर्व्यतिरिच्य चोप-

पदेन, पञ्चापि पाञ्चभौतिकानि, परन्तु चक्षुषि तेजोऽधिकमित्याद्युक्तं सूचयति । कर्मानुमेयानीति कार्यानुमेयानि । कार्यं चक्षुर्दृष्ट्यादि । येभ्यो बुद्धिः प्रवर्तते इति, यानि बुद्धोन्द्रियाणि,

लब्धिरिति । व्यतिरिच्य कृष्णसारमवस्थितस्य विषयस्योपात्मो न कृष्ण-  
सारप्राप्तस्य । न चाप्राप्यकारित्वमिन्द्रियाणामिति । तदिदमभौतिकत्वे  
विभुत्वात् सम्भवति । एवमुभयधर्म्मोपलब्धेः संशयः । तत्राभौतिकानीन्द्रिया-  
णीत्याह । कस्मात् ? महदणुग्रहणात् । महदिति महत्तरं महत्तमञ्चोपलभ्यते ;  
यथा न्यग्रोधपर्वनादि । अण्वित्यणुतरमणुतमञ्चगृह्यते ; यथा—मूच्यग्रधानादि ।  
तदुभयमुपलभ्यमानं चक्षुषो भौतिकत्वं बाधते । भौतिकं हि यावत् तावद्  
व्याप्नोति । अभौतिकन्तु विभुत्वात् सव्यव्यापकमिति । न महदणुग्रहणमात्राद्  
अभौतिकत्वं विभुत्वञ्चेन्द्रियाणां शक्यं प्रतिपत्तुम् । इदं खलु—रश्म्यर्थ-  
सन्निकर्षात् तद्ग्रहणम् । तयोमहदणुग्रहणम् चक्षरश्मेरर्थस्य च सन्नि-  
कर्षविशेषाद् भवति ; यथा—प्रदीपरश्मेरर्थस्य चेति । रश्म्यर्थसन्निकर्षश्चाना-  
वरणलिङ्गः । चाक्षुषो हि रश्मिः कुड्यादिभिरावृतमर्थं न प्रकाशयति ;  
यथा—प्रदीपरश्मिरिति । अनावरणानुमेयत्वे सतीदमाह । तदनुपलब्धेरहेतुः ।  
रूपस्पर्शशब्दवद्भि तेजो महत्त्वादनेकद्रव्यवत्त्वाद् रूपवत्त्वाच्च तदुपलब्धिरिति ।  
प्रदीपवत् प्रत्यक्षत उपलभ्येत ; चक्षुषो रश्मिर्यदि स्यादिति । नानुमीय-  
मानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतुः । सन्निकर्षप्रतिषेधार्थेनावरणेन लिङ्गे-  
नानुमीयमानस्य रश्मेर्या प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिः नासावभावं प्रतिपादयति ;  
यथा चन्द्रमसः परभागस्य, पृथिव्याश्चाधोभागस्येति । द्रव्यगुणधर्म्मभेदात्  
चोपलब्धिनियमः । भिन्नः खल्वयं द्रव्यधर्म्मो गुणधर्म्मश्च । महदनेकद्रव्य-  
वच्च विभक्तावयवमाप्यं द्रव्यं प्रत्यक्षतो नोपलभ्यते, स्पर्शस्तु शीतो गृह्यते ।  
तस्य द्रव्यस्यानुबन्धात् हेमन्तशिशिरौ कल्प्येते । तथाविधमेव च तैजसं द्रव्य-  
मनुद्भूतरूपं सह रूपेण नोपलभ्यत, स्पर्शस्त्वस्योष्मा चोपलभ्यते, तस्य  
द्रव्यस्यानुबन्धात् ग्रीष्मवसन्तौ कल्प्येते । यत्र त्वेपा भवति । अनेक-  
द्रव्यसमवायाद् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः । यत्र रूपश्च द्रव्यञ्च तदाश्रयः  
प्रत्यक्षत उपलभ्यते रूपविशेषस्तु यद्भावात् कचिद्रूपोपलब्धिः यद-  
भावाच्च द्रव्यस्य कचिदनुपलब्धिः, स रूपधर्म्मोऽयमुद्भवानुद्भवः समाख्यात  
इति । अनुद्भूतरूपश्चार्थं नायनो रश्मिः, तस्मात् प्रत्यक्षतो नोपलभ्यत इति ।  
दृष्टश्च तेजसो धर्म्मभेदः । उद्भूतरूपस्पर्शवत् प्रत्यक्षं तेजः, यथा आदित्यरश्मयः ।

तानीमानि पञ्चेति दर्शयति । यद्यपि च सांख्ये आहङ्कारिकाणीन्द्रियाणि, यदुक्तम्—“सात्त्विक  
एकादशकः प्रवर्तते वैकृतावहङ्कारात्” इति, तथापि मत्तभेदाद् भौतिकत्वमिन्द्रियाणां ज्ञेयम् ।

उद्भूतरूपमनुद्भूतरूपज्ञञ्च प्रत्यक्षम् । यथा प्रदीपरश्मय इति । उद्भूत-  
 रूपमनुद्भूतरूपमप्रत्यक्षं यथा अवादिसंयुक्तं तेजः । अनुद्भूतरूपस्पर्शा-  
 ऽप्रत्यक्षश्चाक्षुषो रश्मिरिति । कर्मकारितश्चेन्द्रियाणां व्यूहः पुरुषार्थतन्त्रः ।  
 यथा चेतनस्यार्थो विषयोपलब्धिभूतः सुखदुःखोपलब्धिभूतश्च कल्प्यते,  
 तथेन्द्रियाणि व्युद्धानि । विषयप्राप्तयश्च रश्मेश्चाक्षुषस्य व्यूहः । रूपस्पर्शा-  
 नभिव्यक्तिश्च व्यवहारप्रवृत्त्यर्थः । द्रव्यविशेषे च प्रतिघातादावरणोपपत्ति-  
 र्व्यवहारार्था । सर्वद्रव्याणां विश्वरूपो व्यूहः । इन्द्रियवत् कर्मकारितः  
 पुरुषार्थतन्त्रः । कर्म तु धर्माधर्मभूतं चेतनस्योपभोगार्थमिति । अव्यभि-  
 चाराच्च प्रतीघातो भौतिकधर्मः । यथावरणोपलम्भादिन्द्रियस्य द्रव्यविशेषे  
 प्रतीघातः, स भौतिकधर्मो न भूतानि व्यभिचरति । नाभौतिकं प्रतिघात-  
 धर्मकं दृष्टमिति । अप्रतिघातस्तु व्यभिचारी । भौतिकाभौतिकयोः समान-  
 त्वादिति । यदपि मन्यते प्रतिघाताद्भौतिकानीन्द्रियाण्यप्रतिघातादभौति-  
 कानीति प्राप्तम् । दृष्टश्चाप्रतिघातः काचाब्ध्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः ।  
 तन्न युक्तम्, कस्मात् ? यस्माद् भौतिकमपि न प्रतिहन्यते । काचाब्ध्रपटल-  
 स्फटिकान्तरितप्रकाशात् प्रदीपरश्मीनाम् । स्थाल्यादिषु पाचकस्य  
 तेजसोऽप्रतिघातः । उपपद्यते चानुपलब्धिः कारणभेदादिति । मध्यन्दिनोल्का-  
 प्रकाशानुपलब्धिवत् तदनुपलब्धिः । इति । यथानेकद्रव्येण समवायाद्  
 रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिरिति, सत्यप्युपलब्धिकारणे मध्यन्दिनोल्काप्रकाशो  
 नोपलभ्यते आदित्यप्रकाशेनाभिभूतः । एवं महदनेकद्रव्यवत्त्वाद् रूपविशेषाच्चोप-  
 लब्धिरिति, सत्यप्युपलब्धिकारणे चाक्षुषो रश्मिर्नोपलभ्यते निमित्तान्तरतः ।  
 तच्च व्याख्यातम् अनुद्भूतरूपस्पर्शद्रव्यस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरिति ।  
 अत्यन्तानुपलब्धिश्चाभावकारणात् ।

यो हि ब्रवीति—लोष्ट्रप्रकाशो मध्यन्दिन आदित्यप्रकाशाभिभवान्नोप-  
 लभ्येतेति तस्यैतत् स्यात् । न रात्रावप्यनुपलब्धेः । अप्यनुमानतोऽनुपलब्धि-  
 रिति । एवमत्यन्तानुपलब्धेर्लोष्ट्रप्रकाशो नास्ति, न त्वेवं चक्षुषो रश्मिरिति ।  
 उपपन्नरूपा ज्ञेयम् बाह्यप्रकाशानुग्रहाद्विषयोपलब्धेः अनभिव्यक्तितोऽनुप-  
 लब्धिः । बाह्येन प्रकाशेनानुगृहीतं चक्षुर्विषयग्राहकम्, तदभावेऽनुप-

किंवा औपचारिकमेतत् भौतिकत्वमिन्द्रियाणां ज्ञेयम् । उपचारवीजञ्च यद्गुणभूविष्टं यदिन्द्रि-  
 यं गृह्णाति, तत्तद्भेदमुच्यते । चक्षुस्तेजो गृह्णाति, तेन तेजसमुच्यते इत्यादि ज्ञेयम् ।

हस्तपादं गुदोपस्थं ० जिह्वेन्द्रियमथापि च ।

कर्मैन्द्रियाणि पञ्चैव पादौ गमनकर्मणि ॥

लब्धिः । सति च बाह्यप्रकाशानुग्रहे शीतस्पर्शोपलब्धौ च सत्यां तदाश्रयस्य द्रव्यस्य चक्षूषा न ग्रहणं रूपस्यानुद्भूतत्वात् । सेयं रूपानभिव्यक्तितो रूपाश्रयस्य द्रव्यस्यानुपलब्धिर्दृष्टा । तत्र यदुक्तं तदनुपलब्धेरहेतुरिति, तदुक्तम्, कस्मात् ? पुनरभिभवोऽनुपलब्धिकारणं चाक्षुषस्य रश्मेर्नोच्यते इति । अनभिव्यक्तौ चाभिभवात् । बाह्यप्रकाशानुग्रहनिरपेक्षायाञ्चेति चार्थः । यद्रूपमभिव्यक्तमुद्भूतं बाह्यप्रकाशानुग्रहश्च नापेक्षते तद्विषयोऽभिभवः, विपर्ययेऽभिभवाभावात् अनुद्भूतरूपत्वाच्चानुपलभ्यमानं बाह्यप्रकाशानुग्रहाच्चोपलभ्यमानं नाभिभूयत इति । एवमुपपन्नश्चास्ति चाक्षुषो रश्मिरिति । नक्तं नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनात् । दृश्यन्ते हि नक्तं नयनरश्मयो नक्तञ्चराणां वृषदंशप्रभृतीनाम्, तेन जेपस्यानुमानमिति । जातिभेदवदिन्द्रियभेद इति चेत् ? धर्ममात्रञ्चानुपपन्नम्, आवरणस्यार्थप्राप्तिप्रतिषेधार्थस्य दर्शनादिति । प्राप्तार्थग्रहणमप्राप्यग्रहणनिरासश्च पूर्वमिन्द्रियोपक्रमणीये दर्शितमिति । भौतिकत्वमिन्द्रियाणां स्थूलशरीरे सर्व्वसम्मतं दर्शितमिति ।

नन्वेवं भवन्तु पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि कानि पुनरपरानि पञ्च यत उक्तं दशेन्द्रियाणीति ; तत आह—हस्तपादमित्यादि । हस्तपादगुदोपस्थजिह्वमिति पञ्च कर्मैन्द्रियाणि । एवञ्चदेन बाह्यतो दृष्टानां हस्तपादादीनाम् अनेकत्वं व्यावृत्तम् । हस्तादीनि हि पञ्चैवाहङ्कारिकाणीन्द्रियाणि तेषामेकैकमेव स्थूलशरीरारम्भे प्रथमत आत्मकृतानि पञ्चभूतांशविशेषमनुप्रविश्यैकैकहस्तपादादिकं भवदेव शुक्रशोणितादिकारणान्तरसहयोगेन योनिविशेषधर्मनियमाद् विषाणिपादादिरूपेणैवाङ्गविशेषो जायते तस्मात् पञ्चैव कर्मैन्द्रियाणि न त्वतिरिक्तानि । वक्ष्यन्ते चात्रात्मकार्याणि तासु तासु योनिषु उत्पत्तिरायुरात्मज्ञानं मन इन्द्रियाणि प्राणापानावित्यादीनि । तत्रापि धर्माधर्मनिमित्तं हस्तादीनां बाह्यतोऽभिव्यक्त्यनभिव्यक्ती देवनरादिदेहे भवत इति । प्राप्यङ्गत्वादिकवचनं हस्तपादं गुदोपस्थमिति । उपस्थस्त्वनियतलिङ्गं सामान्यरूपः, न तु पुलिङ्गं स्त्रीलिङ्गं क्लीबलिङ्गं वा रूपादिवत् । शुक्रादि-

अथ कर्मैन्द्रियाण्याह—हस्तावित्यादि । हस्तावेकं पादौ चैकमिन्द्रियमेकरूपकर्मकर्तृ तथा ।

\* हस्तौ पादौ गुदोपस्थे इति चक्रवर्तः पाठः ।



पायूपस्थौ विसर्गार्थौ हस्तौ ग्रहणधारणौ ।

जिह्वा वागिन्द्रियं वाक् च सत्या ज्योतिस्तमोऽनृता ॥ ६ ॥

महाभूतानि खं वायुरग्निराणः क्षितिस्तथा ।

शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥

बीजाधिकादिनिमित्ततो वहिःशरीरे शिश्नादिरूपेणाभिव्यज्यते । अन्यथा प्राग् व्यक्तीभावात् पुंसवनेन पुत्रजननानुपपत्तिः; सूक्ष्मदेही तु न स्त्री न पुमान् न नपुंसकमिति । कर्माणि चैषागाह—पादावित्यादि । गमनकर्मणि पादौ वर्तते इति प्राधान्यान्मनुष्याभिप्रायेण । विसर्गार्थं पुरीषस्य विसर्गकर्मणि पायुः । मूत्ररेतसोर्विसर्गकर्मण्युपस्थौ वर्तते । हस्तौ ग्रहणधारणे कर्मणि । जिह्वा तातस्थ्या जिह्वास्थमिन्द्रियं वाचि कर्मणि वर्तते । वाक् च द्विधा सत्या अनृता च, तत्र सत्या ज्योतिः प्रकाशकत्वात् । अनृता तमो मोहजनकत्वात् । यद्यपि तेजोमयी वाक् तथापि सत्त्वतमोयोगा सत्यानृता भवति । इतीन्द्रियाणि दशोपदिष्टानि भवन्ति ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—अथैषामर्थानाञ्च प्रकृतीराह—महाभूतानीत्यादि । यानि भूतादितस्तामसादहङ्कारादादौ भूतानि तेषामितरेभ्यः कार्येभ्यो भूतेभ्यो बृहत्त्वान्महाभूतेतिसंज्ञा । तानि कीदृशानीत्यत आह—शब्द इत्यादि । तद्गुणाः क्रमेण तेषां खादीनां गुणाः शब्दादय एव पञ्च । शब्दमात्रगुण आकाशः स्पृश-मात्रगुणो वायू रूपमात्रगुणोऽग्निस्तेजः रसमात्रगुणा आपो गन्धमात्रगुणा क्षिति-रिति । तयानभिव्यक्तः शब्द इहोपदिष्टः, सगुणमेव द्रव्यमुत्पद्यते न तु निर्गुण-मिति ख्यापितं, तेनाकाशादुत्पत्तिकालेऽनभिव्यक्ता आकाशादीनां मृदुलघ-सूक्ष्म-श्लक्ष्ण-शीत-रूक्ष-खरविशदतीक्ष्णोष्ण-द्रवस्निग्ध-मन्दसरसान्द्रपिच्छिलगुरु-कठिनस्थिरस्थूला विंशतिर्गुणाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धसहचरिता नोपदिष्टाः शब्दादिसाहित्येनानभिव्यक्ताः सन्तीति ख्यापनार्थं पूर्वार्ध्यायेऽभिहितम् । सार्था गुर्वादय इति न त्वर्था गुर्वादय इत्युक्तम् । खादीन्येतानि पञ्च प्राणा उच्यन्ते । इत्याहङ्कारिकाणि मनो दशेन्द्रियाणि चत्येकादश सात्त्विकात् गुदोपस्थे चैकैकम् । वाच उपादानहानार्थं भेदमाह—वाक् चेत्यादि । ज्योतिरिव ज्योतिर्धर्म-कर्तृत्वेन उभयलोकप्रकाशकारित्वात् । एतद्विपर्ययेण तमः, अनृता सत्यविपर्ययेणेति ॥ ६ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति उद्देशक्रमानुरोधादभिधातव्यार्थानां प्रकृतिग्रहणगृहीतपञ्चभूतपञ्चगुण-तथा पराधीनत्वादष्टधातुप्रकृतिगृहीतादिभूतान्येव तावदाह—महाभूतानीत्यादि । शब्दादयो यथा-

तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे ।

पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणेषु स्मृतः ॥ ७ ॥

वैकारिकात् अहकारान्मनोऽभूत्, तेजसाद्राजसाद् वैकारिकसहायात् तु दगेन्द्रियाणि वभूवुः, ततः खादिभ्यः पञ्चार्थाः शब्दादयः पूर्वपूर्वभूतानुप्रवेशाच्च पञ्च भूतानि वभूवुः इति । तदुक्तं गुण्डकोपनिषदि । दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरः परतः परः । एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणीति । एतदेवाभिप्रेत्याह—तेषामित्यादि । तेषां खादीनां मध्ये पूर्वः खनामा धातुः दिक्कालसंयोगात् किञ्चित् स्थलो भूत्वा किञ्चिदभिव्यक्तशब्द एको गुणो यस्य स एकगुणः । किञ्चिदभिव्यक्तशब्दैकगुण आकाशोपादानाकाशः शुद्ध एव न मिश्रः । परे परे धातौ वाय्वादौ गुणवृद्धिः । खापेक्षया वायौ गुणवृद्धिर्वाय्वपेक्षया तेजसि गुणवृद्धिस्तेजोऽपेक्षयाप्सु गुणवृद्धिर्जलापेक्षया क्षितौ गुणवृद्धिः । ननु परे परे धातौ खाद्यपेक्षया कथं गुणवृद्धिः स्यात् कियद् गुणवृद्धिर्वा स्यादित्यत आह—पूर्वं इत्यादि । गुणेषु खापेक्षया परपरगुणेषु स्पर्शादिमत्सु वाय्वादेषु पूर्वः पूर्वपूर्वः खादिः धातुः क्रमशः स्मृतः अनुप्रविष्टत्वेन स्मृतः । ननु किं पूर्वपूर्वधातुः स्वस्वगुणं विहाय सूर्यशमात्रेणानुप्रविष्टः किमथ सगुण एवेत्यत आह—पूर्वगुणश्चैवेति । निरुक्तः शब्दादिर्यो यो यस्य यस्य पूर्वस्य पूर्वस्य गुणः स स चैव क्रमशो गुणेषु तत्र तत्र परे परे स्पर्शादिगुणमात्रवातादौ धातौ अनुप्रविष्टत्वेन स्मृतः । एवकारेण खादीनां पूर्वपूर्वधातूनामनभिव्यक्तगुणाभिव्यक्तिव्यवच्छेदः । खं हि पूर्व न परं वाय्वादिश्च पूर्वपूर्वापेक्षया परः परपरापेक्षया तु पूर्व इति । तथा च खं शब्दैकगुणं शुद्धं भूतमस्ति । वायुः शब्दस्पर्शगुणस्तेन द्विगुणो

संख्यं खादीनां नैसर्गिका गुणाः ज्ञेयाः । यस्तु गुणोत्कर्षोऽभिधातव्यः, स हि अनुप्रविष्टभूतसम्बन्धादेव । तेन पृथिव्यां चतुर्मूर्तप्रवेशात् पञ्चगुणत्वम् । एवं जलाद्रावपि चतुर्गुणत्वादि ज्ञेयम् ।

नैसर्गिकं गुणमभिधाय भूतान्तरप्रवेशकृतं गुणमाह—तेषामित्यादि । एकगुणः पूर्व इति पूर्वो धातुस्वरूपः शब्दैकगुणः । पुल्लिङ्गता च खादीनां धातुरूपतादुद्दिश्यीकृतत्वात्, उक्तं हि—खाद्यश्चेतनापष्टा धातवः इति । यथा यथा च परत्वम् तथा तथा च गुणवृद्धिः यथासंख्यम् । ननु एतावताप्येकगुणत्वद्विगुणत्वादि न नियमेन ज्ञायते, को गुणः क्व भूत

मिश्रो भवति । ज्योतिः शब्दस्पर्शरूपगुणं तेन त्रिगुणं मिश्रं भूतं भवति । आपः शब्दस्पर्शरूपरसगुणास्तेन चतुर्गुणाः मिश्राश्च भवन्ति । क्षितिः शब्दादि-  
पञ्चगुणा मिश्रा च भवति । इत्येवं पञ्चभूतान्यव्यक्ताज्जात आत्मा महान्स्तद्-  
विशेषश्चित्तमहङ्कारश्चेति त्रयस्तथाहङ्कारिकाणि मनोदशेन्द्रियाणीत्येकोनविंशति-  
मुखः शब्दमात्राद्यात्मकानि पञ्च भूतानि सप्तधा चाङ्गानीति सप्ताङ्गोऽन्तःप्रज्ञः  
प्रविविक्तभुक् स्वप्नस्थानोऽन्तरात्मा तैजसो नाम पङ्कधातुः पुरुषः । तत्रा-  
व्यक्ताख्यश्चेतनाधातुः शेषाणि पञ्च महाभूतानीति पङ्कधातव इति । मनुनापि  
अनुप्रवेशेन पूर्वपूर्वस्य परपरधातौ मिश्रत्वमुक्तम् । तद् यथा—मनः सृष्टिं  
प्रकुर्वते चोद्यमानं सिसृक्षया । आकाशं जायते तस्मात् तस्य शब्दगुणं विदुः ।  
आकाशात् तु विकुर्वाणात् सव्वगन्धवहः शुचिः । बलवान् जायते वायुः स वै  
स्पर्शगुणो मतः । वायोरपि विकुर्वाणाद् विरोचिष्णु तमोनुदम् । ज्योति-  
स्तपद्यते भास्वत् तद्रूपगुणमुच्यते । ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः  
स्मृताः । ताभ्यो गन्धगुणा भूमिस्त्येषा सृष्टिरादितः । इत्यस्मात् पूर्वमुक्तम् ।  
आद्याद्यस्य गुणांस्त्वेवामवाप्नोति परः परः । यो यो यावत्तिथश्चैषां स स तावद्-  
गुणः स्मृतः ॥ इत्युक्तम् । एवं मुण्डककाठकोपनिषदि च—एतस्माज्जायते प्राणो  
मनोबुद्धीन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी । इत्युक्तम् ।  
एषां शब्दगुणस्यानभिव्यक्तत्वात् तद्गुणस्याकाशस्यानुप्रवेशेऽपि शब्दस्याभि-  
व्यक्त्यभावाद् द्वात्मकादिवाय्वादिषु द्वित्रिचतुःपञ्चगुणा उक्ताः, कणादेन  
वैशेषिके तु नोक्ताः । स्पर्शवान् वायुश्चलः, तेजो रूपस्पर्शवत्, रूपरसस्पर्शवत्य  
आपो द्रवाः, रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवीति । तथा स्पर्शश्च वायोलिङ्गम्,  
तेजसो रूपम्, अपां रसः, पृथिव्या गन्ध इति । द्वात्मकादिषु शब्दानभिव्यक्त-  
त्वान्न कणादेनोक्तम् । मन्वादिभिस्तु नागुणं द्रव्यमुत्पद्यते इति ज्ञापनार्थं  
शब्दगुण आकाश उपदिष्ट इति न विरोध इति ॥ ७ ॥

इत्याह—पूर्वं इत्यादि । गुणिषु खादिषु धातुषु पूर्वो गुणः क्रमेण यथासंख्यं वर्तते, न केवलं  
पूर्वः, किन्तु पूर्वस्यापि यो गुणः, स च पूर्वगुण उत्तरे भूते वर्तते । तेन खे पूर्वपूर्वः शब्द-  
गुणो वर्तते, वायौ तु स्पर्शः क्रमप्राप्तः पूर्वो भवति, पूर्वगुणश्च शब्द इति द्विगुणत्वम् । एवमग्न्यादौ  
च ज्ञेयम् । गन्धस्तूत्तरगुणान्तराभावात् न पूर्वो भवति, तथापि “गन्धश्च तद्गुणाः” इति ग्रन्थे  
तद्गुणाः इतिपदापेक्षया गन्धस्य पूर्वत्वं कल्पनीयम् । किंवा पूर्व इति च्छत्रिणो गच्छन्तीति-  
न्यायेनोक्तम्, तेन, अपूर्वोऽपि गन्धः क्रमागतः पृथिव्यां ज्ञेयः ॥ ७ ॥

खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम् ।

आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम् ॥

लक्षणं सर्वमेवेतत् स्पर्शनेन्द्रियगोचरः \* ।

स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयः स्पर्शो हि सविपर्ययः ॥ ८ ॥

**गङ्गाधरः**—एवं पूर्वपूर्वानुप्रवेगे द्विगुणादित्वेऽपि यो योऽपरगुणऽभिव्यज्यते तज्जापनार्थमाह—खरेत्यादि । पूर्वपूर्वानुप्रविष्टानां भूजलानिलतेजसां खरत्वादिकं क्रमेण लिङ्गमनुमानकरणमसाधारणम् । आकाशस्य सर्वथैवामिश्रस्याप्रतीघातोऽप्रतिहननमस्पर्शनमिति यावत् लिङ्गं दृष्टम् । न गुणान्तरमभिव्यक्तमाकाशस्येति पृथगत्र वचनमिदं सर्वदाप्यमिश्रभूतखरजापनार्थम् । अमिश्राणान्तु भूजलानिलतेजसां खरद्रवचलोष्णत्वानि गुणा अनतिव्यक्तत्वेन सन्तोऽप्यनभिव्यक्तत्वान् लिङ्गानि, मिश्रत्वे त्वभिव्यक्तत्वात् लिङ्गानि । अप्रतीघातस्त्वाकाशस्य सूक्ष्मत्वाच्छब्दस्यानैन्द्रियकत्वेऽपि ऐन्द्रियकत्वेन लिङ्गम् । अमिश्राणां स्वादीनां शब्दादयो गुणा अनैन्द्रियका आप्तोपदेशगम्यत्वेन लिङ्गानि भवन्त्यपि ऐन्द्रियकलिङ्गेनानुमानं शिष्याणां सर्वेषाञ्च नुगममित्यतः शब्दादीनां लिङ्गत्वाभिधानं न कृत्वा खरत्वादीनां मिश्रभूस्यादीनाम् अमिश्राकाशाद्यनुमानार्थं लिङ्गत्वमुपदिष्टमिति । स्थूलभूतैः सूक्ष्मभूतानां कार्यैरनुमानं भवति । साहचर्येऽप्युक्तम् । अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधः, स्थूलात् पञ्चतन्मात्रस्येति ।

ननु खरत्वादीनां कस्येन्द्रियस्य ग्राह्यत्वमित्यत आह—लक्षणमित्यादि । एतत् खरद्रवचलोष्णत्वाप्रतीघातं सर्वं भूजलानिलतेजोगुणानां लक्षणं स्पर्शनेन्द्रियगोचरः । ननूक्तं यद्-यदात्मकमिन्द्रियं तत्तदात्मकमेवार्थं विशेषादनुधावतीति । तेन खरद्रवचलोष्णत्वानि स्पर्शविशेषान् स्पर्शनेन्द्रियं गृह्णातु आकाशस्याप्रतीघातस्तु न स्पर्शभेदः स च कथं गृहीयात् ? न च स्पर्शविशेषोऽप्रतीघातो वक्तुं शक्यते शुद्धे गगने तदसत्त्वात् न चामिश्रम्

**चक्रपाणिः**—भूतानामसाधारणं लक्षणमाह—खरेत्यादि । अप्रतीघातोऽप्रतिहननं अस्पर्शत्वमिति यावत्, स्पर्शवद्गतिविघातकं भवति, नाकाशः, अस्पर्शवत्त्वात् । सर्वमेवेतदिति खरत्वादि । स्पर्शनेन्द्रियगोचरमिति स्पर्शनेन्द्रियज्ञेयम् । कथमेतत् सर्वं स्पर्शनेन्द्रियज्ञेयमित्याह—स्पर्शनेत्यादि । सविपर्यय इति संस्पर्शाभाव इत्यर्थः । यदिन्द्रियं यद्

\* स्पर्शनेन्द्रियगोचरम् इति चक्रपाणिः ।

आकाशं वाय्वादिवदस्ति इत्याशङ्क्य आह—स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेय इति । विपर्ययः स्पर्शविपर्ययः स चास्पर्शोऽप्रतीघात एव सोऽपि स्पृश्यानां स्पर्शानुपलब्ध्या स्पर्शनेन्द्रियेण विज्ञायते । यथा गृहे यदस्ति तत् दृश्यते, यन्न दृश्यते तन्नास्तीति उच्यते इति । नन्वेवमस्त्वाकाशीयः शब्दोऽपि स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयोऽस्त्विति चेन्न, आकाशीयो हि शब्दो न खरद्रवादिस्पर्शविपर्ययः । स्वार्थविपर्ययो हि इन्द्रियेण गृह्यते न सर्व्व इति, सुतरां स्पर्शनेन्द्रियेणापि न गृह्यते । वायव्यस्तु शब्दोऽनुप्रविष्टाकाशस्याव्यक्तशब्दत्वेनाव्यक्त एव तस्मान्न श्रोत्रेण न वा स्पर्शनेन गृह्यते । तैजसाप्यपार्थिवास्तु शब्दा द्वाणुकवदनुप्रविष्टवायोस्तेजसि प्रवेशेन त्रसरेणुवत् तैजसः शब्दोऽथ तत्तेजोऽनुप्रवेशादपां शब्दस्तज्जलानुप्रवेशाच्च भौमशब्दश्च न तेजोऽम्बुभूमिष्वभिव्यज्यते तेन न श्रोत्रेण गृह्यन्ते न वा स्पर्शनेन्द्रियेण । श्रोत्रं हि गगनाधिकपञ्चभूतमयं स्थूलं स्थूलेऽभिव्यक्त शब्दं गृह्णाति न त्वनभिव्यक्तं यद्यद्रूपं तत्तद्रूप्येणाथं गृह्णातीति नियमात् । स्पर्शनेन्द्रियस्तु स्पर्शं गृह्णाति न शब्दमिति । एवं चक्षुरादिकं पूर्व्वपूर्व्वभूतगुणं न गृह्णातीति । अथ अनभिव्यक्तशब्दमात्रगुणमाकाशमप्रतिहननीयामूर्त्तिमन्निर्ममनप्रवेशलक्षणम् । स्पर्शमात्रगुणः प्रतिहननलक्षणो वायुः, रूपमात्रगुणं प्रतिहननीयमूर्त्तिमत् तेजः, रसमात्रगुणाः प्रतिघातयोग्यमूर्त्तिमत्य आपः, गन्धमात्रगुणा प्रतिघातयोग्यमूर्त्तिमती क्षितिरिति । तत्र दिक्कालयोगाद् विशेषरूप एषोऽप्रतिघातलक्षण आकाशो निष्क्रमणप्रवेशलक्षणो भवति । तस्य वायावनुप्रवेशादाकाशवायुयोगाद् द्वाात्मको वायुर्यदा भवति, तदा तत्र शब्दः पूर्व्वतस्तु विशिष्टोऽनभिव्यक्त एव वर्त्तते स्पर्शश्च शीतश्चलश्च भवति । तस्य च द्वाात्मकस्य धायोस्तेजस्यनुप्रवेशाद् वायुर्ज्योतिःसंयोगाद् यदा त्राात्मकं तेजो भवति, तदा तत्राकाशवायुशब्दाभ्यां विशेषश्चानभिव्यक्तश्चैव शब्दो भवति, स्पर्शश्चोष्णो भवति रूपश्च लोहितमिति । तस्य च त्राात्मकस्य तेजसोऽप्सु अनुप्रवेशात् खवायुज्योतिर्जलानां संयोगाच्चतुरात्मकं जलं यदा भवति, तदा तत् खवायुज्योतिषां शब्दतो विशिष्टश्चानभिव्यक्त एव शब्दो भवति, स्पर्शश्च गृह्णाति, तत् तस्याभावमपि गृह्णाति । तेन आकाशस्यास्पर्शत्वं स्पर्शेन्द्रियग्राह्यमिति युक्तम् । द्रवत्वं चलत्वञ्च सांख्यमते स्पर्शनग्राह्यत्वात् स्थूलभूतवातधम्मः स्पर्श एव । यद्वि स्पर्शनेन गृह्यते तत् सर्व्वं स्पर्शो महामूतवातपरिणाम एव । एतानि खादीनि च सूक्ष्माणि तन्मात्ररूपाणि ज्ञेयानि । स्थूलभूतानि तु खादीनि तत्र विशेषतया सूक्ष्मरूपाणि च तन्मात्राणि अविशेषतयोक्तानि । वचनं हि—“तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः । एते स्मृताः

गुणाः शरीरे गुणिनां निर्दिष्टाश्चिह्नमेव च ।

अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः ॥ ६ ॥

शीतो द्रवत्वञ्चाभिव्यज्यते, रूपञ्च शुद्धं भवति । रसश्च साधारणरूप-  
आव्यक्त एव । तस्य च चतुरात्मकस्य जलस्य भूमावनुप्रवेशात् पञ्चानां  
खादीनां संयोगेन पञ्चात्मिका भूमिर्यदा भवति, तदा तत्र स्वययुज्योति-  
जलानां शब्दतो विशिष्टाव्यक्तश्चैव शब्दो भवति, स्पर्शश्च स्वरः, कृष्णञ्च  
रूपं, रसश्च जलरसाद्विशिष्टाव्यक्तश्च भवति, गन्धश्च साधारण एव किञ्चित्-  
स्थूलो भवति ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—गुरुत्वादयस्तु गुणाः केषां कुतो वा जायन्ते इत्यत आह—गुणाः  
शरीर इत्यादि । शरीरे पञ्चभूतविकारसमुदाये तच्छरीरारम्भकाणां गुणिनाम्  
आकाशादीनां गुणा एव गुर्वादयश्चिह्नं निर्दिष्टा आत्रेयभद्रकाप्यीये पार्थि-  
व्यादिक्रमेण पृथगुक्ताः, शरीरविचयशरीरे च वक्ष्यन्ते । तत्रेमे शरीरधातु-  
गुणाः संख्यासामर्थ्यकराः । तद् यथा । गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमन्द-  
तीक्ष्ण-स्थिरसर-मृदुकठिन-विशदपिच्छिलश्लक्ष्णस्वरमृक्षमस्थूलसान्द्रद्रवा इति ।  
आत्रेयभद्रकाप्यीये चोक्ताः । तद् यथा । सर्व्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमिति कृत्वा  
तत्र द्रव्याणि गुरुस्वरकठिनमन्दस्थिरविशदसान्द्रस्थूलगन्धगुणबहुलानि पार्थि-  
वानीति । १ । तेन पार्थिवद्रव्यारम्भकभूमेः पञ्चात्मिकाया गुरुकठिनमन्दस्थिर-  
विशदसान्द्रस्थूला इति सप्त गुणाः शेषचतुर्भूतसंसर्गतः कार्य्यगुणा अभि-  
व्यज्यन्ते ये प्रागनभिव्यक्ता आसन् । शब्दस्वरस्पर्शकृष्णरूपास्फुटंरसाः पूर्व्वभूत-  
संसर्गजाः, गन्धश्चाव्यक्तो यो नैसर्गिकः स पूर्व्वतो विशिष्टाव्यक्त एव  
साधारणः पार्थिवे पाञ्चभौतिके ते शब्दादय उदात्तादिदशविधशब्दविविध-  
स्पर्शरूपरसगन्धा व्यज्यन्ते । ततस्ते गुणा भूमेश्चिह्नम् । द्रवस्निग्धशीतमन्दसर-  
सान्द्रमृदुपिच्छिलरसगुणबहुलान्याप्यानीत्यनेनोक्ताः अपां स्निग्धमन्दसरसान्द्र-  
मृदुपिच्छिलाः षड् गुणाः शेषभूतसंसर्गात् पाञ्चभौतिकेऽभिव्यज्यन्ते । ये  
प्रागनभिव्यक्ता अप्स्वासन् । शब्दस्पर्शरूपगुणास्तु पूर्व्वभूतसंसर्गजा विशेषेण  
विशेषाः शान्ता घोराश्च सूक्ष्माश्च इति । तेन इहापि खादीनि 'तन्मात्र'शब्देनोक्तानि सूक्ष्म-  
त्वेन बोद्धव्यानि ॥ ८ ॥

चक्रपाणिः—भूतानां सूक्ष्माणां शरीरस्थानां लिङ्गान्तराण्याह—गुणा इत्यादि । गुणाः  
शब्दादयः । गुणिनामिति सूक्ष्मरूपभूतानामेव । गुणग्रहणात् शब्दादयश्च व्यक्ताः सूक्ष्माणां

उदात्तादिशब्दविविधस्पर्शरूपरसविशेषाः कार्य्यगुणा जायन्ते । ततस्ते गुणा अपां चिह्नमेव । २ । एवमुष्णतीक्ष्णमृक्षमलघुरुक्षविशदरूपगुणवहुलान्याग्नेयानि इत्यनेनोक्तास्तैजसद्रव्यारम्भे तेजसस्तीक्ष्णमृक्षमलघुरुक्षविशदगुणाः शेषभूत-संसर्गादभिव्यज्यन्ते, पाञ्चभौतिके तैजसे द्रव्ये ये प्रागनभिव्यक्तास्तेजस्यासन् । शब्दोष्णस्पर्शौ तु पूर्वभूतसंसर्गजौ, तत्र शब्दो नानाविधोऽभिव्यज्यते तथोष्णश्च । रूपञ्च नैसर्गिकं लोहितं पूर्वभूतसंसर्गजं श्वेतादिनानाविधं जायते । ततस्ते तेजसो लिङ्गम् । ३ । तथा लघुशीतरुक्षखरविशदमृक्षमस्पर्शगुण-वहुलानि वायव्यानीत्यनेनोक्ताः पाञ्चभौतिकवायव्यद्रव्यारम्भे वायोलघु-शीतरुक्षखरविशदसूक्ष्माः पट् गुणाः शेषभूतसंसर्गादभिव्यज्यन्ते ये प्राग-अनभिव्यक्ता वायावासन् । स्पर्शस्तु नैसर्गिकः पूर्वभूतसंसर्गाच्छीतश्चलश्च जायते पुनर्विविध एव जायते । शब्दश्चाव्यक्तः पूर्वभूतसंसर्गजः पुनर्विविध एव जायते । ततस्ते गुणा वायोधिहमिति । ४ । एवं मृदुलघुमृक्षमृक्षशब्द-गुणवहुलान्यान्तरीक्ष्याणीत्यनेनोक्ताः पाञ्चभौतिकान्तरीक्ष्यद्रव्यारम्भेऽन्त-रीक्षादेव मृदुलघुमृक्षमृक्षणाः शेषभूतसंसर्गादभिव्यज्यन्ते ये प्रागनभिव्यक्ता अन्तरीक्ष आसन् । शब्दो नैसर्गिकः कार्य्यभूतो दशविध एव जायते इति, ततस्ते गुणा आकाशस्य चिह्नमिति । ५ । नैते गुणा इन्द्रियारम्भकेषु आत्मजखादिषु वर्तन्ते । न चैकैकाधिकपञ्चखाद्यारम्भेऽपीन्द्रियेषु नान्ये गुणाः संसर्गतो-ऽभिव्यज्यन्ते यथा द्वात्मकादिषु परस्परानुप्रवेशाभावात् । परस्परसंयोगात् तु परस्परानुग्रहाद् भूयसाल्पगुणावजयाच्च खादेकैकगुणशब्दादिरेव श्रोत्रादिषु स्थूलरूपेण जायते । तस्मान्नान्ये गुणा इन्द्रियाणामर्था भवन्ति ।

के पुनरर्था इत्यत आह—अर्था इत्यादि । यथा पञ्चमहाभूतारब्धेष्विन्द्रियेषु पाञ्चभौतिकशब्दादयः सन्ति तथा पाञ्चभौतिकेषु द्रव्येष्वान्तरीक्ष्यवायव्य-तैजसाप्यपार्थिवेषु ये शब्दादयः कार्य्यभूता विशेषास्तेऽर्था इन्द्रियाणां विषया गोचराश्च उच्यन्ते न तु महाभूतस्था एकद्वयाद्यात्मकभूतस्था वा, इन्द्रियाणः तथाभावाभावात् । तस्मान्न ते शब्दादय इन्द्रियैर्गृहीतुं शक्यन्ते । अत एव कार्य्यभूतशब्दादीनामिन्द्रियार्थत्वं न कारणभूतशब्दादीनां, तस्मादतीन्द्रियत्वं तेषाम् । अत एवोक्तम् रसनार्थो रस इति पूर्वार्ध्याये, तथात्रेयभद्रकाप्यीये च—यं पुनः पञ्चानामिन्द्रियार्थानां जिह्वावैषयिकं भावमाचक्षते इति । कणादेनापि शरीरस्थानां भूतानां लक्षणं भवन्तीति वाक्यार्थः । अर्थानाह—अर्था इत्यादि । अर्थशब्देन तु ये शब्दादयो विशेषास्ते स्थूलखादिरूपा एव ज्ञेयाः । तेन आकाशपरिणाम एव शब्दः, वातपरिणामः

वशेषिके कारणगुणनिर्देशे रूपरसगन्धस्पर्शा इत्यादिमूत्रे शब्दो न निदिश्य  
कार्यस्य शब्दस्य परीक्षायाम् श्रवणेन्द्रियग्राहो योऽर्थः स शब्द इति । एवं  
स्पर्शनार्थः स्पर्शश्चक्षुरर्थो रूपं घ्राणार्थो गन्ध इति । गौतमेनाक्षपादेनाप्युक्तम् ।  
घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्छोत्राणीन्द्रियाणीति भूतेभ्यः । पृथिव्यापस्तेजो वायु-  
राकाशमिति भूतानि । गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थः । इति ।  
तत्र भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यमिति व्याख्यातं वात्स्यायनेन । दृष्टो  
हि वाय्वादीनां भूतानां गुणविशेषोऽभिव्यक्तिनियमः । वायुः स्पर्शव्यञ्जकः,  
तेजो रूपव्यञ्जकम्, आपो रसव्यञ्जिकाः, पार्थिवं किञ्चिद्द्रव्यं कस्यचिद्  
द्रव्यस्य गन्धव्यञ्जकम् । अस्ति चायमिन्द्रियाणां भूतगुणविशेषोपलब्धि-  
नियमः । तेन भूतगुणविशेषोपलब्धेर्मन्यामहे भूतप्रकृतिकानीन्द्रियाणि, नाध्यक्त-  
प्रकृतीनीति । गन्धादयः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थः इत्युपदिष्टम् । उद्देशश्च  
पृथिव्यादीनां सर्वगुणत्वे समान इत्यत आह—गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां  
स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्यप्तेजोवायूनां पूर्वं पूर्वमपोह्य चाकाशस्योत्तरः । वात्स्या-  
यनेन व्याख्यातम् । न स्पर्शपर्यन्तानामिति विभक्तिविपरिणामः । गन्धा-  
दीनां स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्यप्तेजोवायूनां यथाक्रमं गुणाः—पृथिव्या गन्धोऽपां  
रसस्तेजसो रूपं वायोः स्पर्शः आकाशस्योत्तरशब्दः, इत्येवं पञ्चमहाभूतानां  
पञ्च गुणाः । तेषां गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां पूर्वं पूर्वमपोह्य च पृथिव्यप्तेजो-  
वायूनां गुणाः, पृथिव्या रसरूपस्पर्शशब्दाश्च, अपां रूपस्पर्शशब्दाश्च गुणास्तेजसः  
स्पर्शशब्दौ, वायोः शब्दश्चेति । पञ्चगुणा पृथिवी, चतुर्गुणा आपः, त्रिगुणं  
तेजः, द्विगुणो वायुरेकगुण आकाशः । इति । न सर्वगुणानुपलब्धेः । नायं  
पञ्चचतुस्त्रिद्वेकगुणनियोगः साधुः पृथिव्यादीनाम् । कस्मात् ? सर्वगुणा-  
ऽनुपलब्धेः । यस्य भूतस्य ये गुणा न ते तदात्मकेनेन्द्रियेण सर्वं उपलभ्यन्ते ।  
पार्थिवेन हि घ्राणेन न शब्दपर्यन्ता गृह्यन्ते । गन्ध एवैको गृह्यते । एवं  
शेषेष्वपीति । कथं तर्हि मे गुणा नियोक्तव्या इति । एकैकइयेनोत्तरोत्तर-  
गुणसद्भावादुत्तरोत्तराणां तदनुपलब्धिः । गन्धादीनामेकैको यथाक्रमं  
पृथिव्यादीनामेकैकस्य गुणः । अतस्तदनुपलब्धिः । तेषां तयोस्तस्य चानुप-

स्पर्श इत्यादि ज्ञेयम् । शब्दादिग्रहणे आकाशादिग्रहणं यत्, तत् आकाशादिपरिणाम एव शब्दादय  
इत्युक्तमेव । एतेन यच्छ्रोत्रग्राह्यम्, तत् सर्वमाकाशं शब्दश्च । यत् स्पर्शेन गृह्यते, तत् सर्वं  
वायुः स्पर्शश्चैत्यादि ज्ञेयम् ॥ ९ ॥



लब्धिरिति, घ्राणेन पार्थिवेन न रसरूपस्पर्शशब्दानां, रसनेन रूपस्पर्शशब्दानां, चक्षुषा स्पर्शशब्दयोः, त्वचा शब्दस्येति । एकैकभूताधिकपाञ्चभूतात्मकत्वात् इन्द्रियाणाम् । कथं तर्हि अनेकगुणानि भूतानि गृह्यन्ते इति—संसर्गाच्चाप्यनेकगुणग्रहणम् । अवादिसंसर्गाच्च पृथिव्यादिषु रसादयो गृह्यन्ते । एवं सति नियमस्तर्हि न प्राप्नोति, संसर्गस्यानियमात् । चतुर्गुणा पृथिवी त्रिगुणा आपो द्विगुणं तेज एकगुणो वायुरेवं नियमश्चोपपद्यते । कथम् ? अनुप्रविष्टं ह्यपरं परेण । पृथिव्यादीनां पूर्वं पूर्वमुत्तरोत्तरेणानुप्रविष्टम्, अतः संसर्गनियम इति । तच्चैतद्भूतसृष्टौ वेदितव्यम् । तथा चोक्तमाकाशानुप्रवेशाद्वायुर्नैसर्गिकस्पर्शगुणः पुनः शब्दैकगुण इति द्विगुणः, एवं नैसर्गिकरूपगुणं तेजो द्विगुणवायोः अनुप्रवेशात् सांसर्गिकद्विगुणमिति त्रिगुणं, तथा नैसर्गिकरसगुणा आपः त्रिगुणतेजोऽनुप्रवेशात् सांसर्गिकत्रिगुणा इति चतुर्गुणा आपः, एवं नैसर्गिकगन्धगुणा पृथिवी चतुर्गुणाऽवनुप्रवेशात् नैसर्गिकचतुर्गुणा इति पञ्चगुणा पृथिवीति । इदं त्रिसूत्री प्रतिपादितं प्रत्याचष्टे । न पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् । उक्तरूपेण भूतानां गुणनियमो न, कस्मात् ? पार्थिवस्य द्रव्यस्य आप्यस्य च प्रत्यक्षत्वात् । महत्त्वानेकद्रव्यत्वाद् रूपाच्चोपलब्धिरिति । तैजसमेव द्रव्यं प्रत्यक्षं स्यात् न पार्थिवमाप्यं वा रूपाभावात् । तैजसवत् तु पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वान्न संसर्गादनेकगुणग्रहणं भूतानाम् । इति । भूतान्तररूपकृतञ्च पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वं ब्रूवतः प्रत्यक्षो वायुः प्रसज्येत । नियमे वा कारणमुच्यतामिति । रसयोर्वा पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् । पार्थिवे रसः पङ्क्तिविधः, आप्ये मधुर एवेति । न चैतत् संसर्गाद्भवितुमर्हति । रूपयोर्वा पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् तैजसरूपानुगृहीतयोः, संसर्गे हि व्यङ्ग्यमेव रूपम् । न व्यङ्ग्यमस्ति । इति । एकानेकविधत्वे च पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वादूपयोः, पार्थिवं हरितलोहितपीताद्यनेकविधं रूपम्, आप्यन्तु शुक्लमप्रकाशकम्, न चैतदेकगुणानां संसर्गे सत्युपलभ्यत इति । उदाहरणमात्रञ्चैतत्, अतः परं प्रपञ्चः । स्पर्शयोर्वा पार्थिवतैजसयोः प्रत्यक्षत्वात् पार्थिवोऽनुष्णाशीतः स्पर्शः, उष्णस्तेजसः प्रत्यक्षः ; न चैतदेकगुणानामनुष्णाशीतस्पर्शेन वा वायुना संसर्गेणोपपद्यते । इति । अथवा पार्थिवाप्ययोर्द्रव्ययोर्व्यवस्थितगुणयोः प्रत्यक्षत्वात् चतुर्गुणं पार्थिवं द्रव्यं त्रिगुणमाप्यं प्रत्यक्षम् ; तेन तत्कारणमनुमीयते । तथाभूतं भूतमिति । तस्य कार्यं लिङ्गं कारणभावाद्धि कार्यभाव इति । एवं तैजसवायवयोर्द्रव्ययोः प्रत्यक्षत्वात् गुणव्यवस्थायास्तत्कारणे द्रव्ये व्यवस्थानुमानमिति । [ दृष्टश्च

विवेकः । पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् पार्थिवं द्रव्यमवादिभियुक्तं प्रत्यक्षतो  
 गृह्यते । आप्यञ्च त्रिभिः । पराभ्यां तैजसम् । वायव्यमाकाशेन । न  
 चैकैकगुणं गृह्यते इति । निरनुमानन्तनुप्रविष्टं ह्यपरं परेणेत्येतदिति । नात्र  
 लिङ्गमनुमापकं गृह्यत इति । येनैतदेवं प्रतिपदेमहि । यच्चोक्तम् अनुप्रविष्टं  
 ह्यपरं परेणेति । भूतसृष्टौ वेदितव्यं न साम्प्रतमिति नियमकारणाभावाद्  
 अयुक्तम् । दृष्टन्तु साम्प्रतमप्यपरं परेणानुप्रविष्टमिति, वायुनानुप्रविष्टं तेजं  
 इति । अनुप्रविष्टत्वं योगः । स च द्वयोः समानो वायुनानुप्रविष्टत्वात् स्पष्टः  
 वत् तेजः, न च तेजसानुप्रविष्टत्वाद् रूपवान् वायुरिति नियमकारणं नास्तीति ।  
 दृष्टञ्च तैजसेन स्पष्टेन वायव्यस्पर्शस्याभिभवाद् ग्रहणमिति । न च तेनैव  
 तस्याभिभव इति । तदेवं न्यायविरुद्धं प्रवादं प्रतिषिध्य सर्व्वगुणानुप-  
 लब्धेरिति चोदितं समाधीयते । पूर्व्वपूर्व्वगुणोत्कर्षात् तु तत् तत्प्रधानम् ।  
 अस्मान्न सर्व्वगुणोपलब्धिः । घ्राणादीनां पूर्व्वपूर्व्वगुणोत्कर्षात् तत्तत्प्रधानम् ।  
 का प्रधानता ? विषयग्राहकत्वम् । को गुणोत्कर्षः ? अभिव्यक्तौ समर्थत्वम् ।  
 यथा बाह्यानां पार्थिवाप्यतैजसानां द्रव्याणां पञ्चगुणचतुर्गुणत्रिगुणानां न  
 सर्व्वगुणव्यञ्जकत्वम्, गन्धरसरूपोत्कर्षात् तु यथाक्रमं गन्धरसरूपव्यञ्जकत्वम्,  
 एवं घ्राणरसनचक्षुषां न सर्व्वगुणग्राहकत्वम् । गन्धरसरूपोत्कर्षात् तु यथाक्रमं  
 गन्धरसरूपग्राहकत्वम् । तस्माद् घ्राणादिभिर्न सर्व्वेषां गुणानामुपलब्धिरिति ।  
 यस्तु प्रतिजानीते गन्धगुणत्वाद् घ्राणं गन्धं गृह्णाति एवं रसनादिष्वपीति ।  
 तस्य यथागुणयोगं घ्राणादिभिर्गुणग्रहणं न प्रसज्यते इति किं कृतं पुन-  
 र्व्यवस्थानम् ? किञ्चित् पार्थिवमिन्द्रियं न सर्व्वानि । कानिचिद्राप्य-  
 तैजसवायव्यान्तरीक्ष्याणीन्द्रियाणि, न सर्व्वानि । तद्व्यवस्थानन्तु भूयस्त्वात् ।  
 अथ निर्व्वृत्तिसमर्थस्य प्रविभक्तस्य द्रव्यस्य संसर्गे पुरुषसंस्कारिते भूयस्त्वम् ।  
 दृष्टो हि प्रकर्षे भूयस्त्वशब्दः । प्रकृष्टो यथा विषयो भूयानित्युच्यते । यथा  
 पृथगर्थक्रियासमर्थानि पुरुषसंस्कारवशाद्विषयमणिप्रभृतीनि द्रव्याणि निर्व्वृ-  
 त्तन्ते, न सर्व्वं सर्व्वार्थम् । एवं पृथग्विषयग्रहणसमर्थानि घ्राणादीनि निर्व्वृत्तन्ते  
 न सर्व्वविषयग्रहणसमर्थानीति । भूयस्त्वं हि शरीरारम्भाय भूतैः पञ्चभिः  
 इन्द्रियाण्यारभ्यन्ते तेषां भूतानामेकैकस्य भूतस्य भूयस्त्वात् तद्व्यवस्थानं  
 नियतविषयग्रहणव्यवस्थानं भूम्यधिकपञ्चभूतारब्धं घ्राणं भूमिगुणेन शेष-  
 गुणाभिभवाद् गन्धमेव गृह्णाति, एवमेवाधिकपञ्चभूतारब्धरसनमवगुणेनाधिकेन  
 शेषगुणपरिभवाद् रसमेव गृह्णाति नान्यमर्थम् । तथा तेजोऽधिकपञ्चभूतारब्धं

या यदिन्द्रियमाश्रित्य जन्तोर्वृद्धिः प्रवर्तते ।

याति सा तेन निर्देशं मनसा च मनोभवा ॥

चक्षुस्तेजोगुणेनाधिकेन शेषभूतगुणाभिभवाद् रूपमेव गृह्णाति नेतरमथम् । वाय्वधिकपञ्चभूतारब्धं स्पर्शनं वायुगुणेनाधिकेन शेषभूतगुणावजयात् स्पर्शमेव गृह्णाति नेतरमथम् । तथाकाशाधिकपञ्चभूतारब्धं श्रोत्रमाकाशगुणेन भूयसा अशेषभूतगुणावजयात् शब्दमेव गृह्णाति नान्यमर्थमिति तदारम्भकद्रव्याणां भूयस्त्वात् तद्विषयग्रहणनियमव्यवस्थानं विरुद्धगुणसमवाये भूयसाल्पमवजीयते इति । तर्हि कथं तत्तद्भूतारब्धद्रव्यग्रहणे नियमः । अस्तु तदारम्भकभूतानामेकैकस्य भूतस्य भूयस्त्वात् तु । तेषां गुणानां ग्रहणे तु कथं नियमः स्यादिति । सगुणानामिन्द्रियभावात् । येषां भूतानामेकैकभूताधिकानामिन्द्रियरूपेणाभिनिवृत्तिः स्यात् तेषां सगुणानामेव भूतानामिन्द्रियभावः स्यात् न तु निर्गुणानां, ते हि गुणाः कार्यनिवर्त्ताहे शक्तिरूपाः । तेन घ्राणं स्वेन गन्धेन शक्तिभूतेन समानार्थकारिणा सह बाह्यं गन्धं गृह्णातीति । एवं शेषाणामपि । तेन च स्वस्वगुणान् घ्राणादीनि गन्धादीन् न गृह्णन्ति । स्वगुणेन स्वगुणसहयोगाभावात् तु तेनैव तस्याग्रहणाच्च । स्वगुणेन स्वगुणस्य ग्रहणाभावाच्च । सगुणानामिन्द्रियभावः ।

तत्राह वादी—न शब्दगुणोपलब्धेः । स्वगुणान्नोपलभन्त इन्द्रियाणीति न । शब्दगुणोपलब्धेः । उपलभ्यते हि शब्दः स्वगुणः श्रोत्रेणेति । तत्रोत्तरम् । तदुपलब्धिरितरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात् । येन शब्देन गुणेन सहितमाकाशं श्रोत्रमिन्द्रियं भवति न स शब्द उपलभ्यते श्रोत्रेण । कर्णावपिधाय यज्ज्वालाशब्दं शृणोति तत्पाणिपिधानेन ब्रह्मस्थशब्दश्रोत्रयोरितरेतरवैधर्म्यात् तदुपलब्धिरिति । यच्चक्षुर्निपीडने ज्योतिर्दृश्यते तच्चक्षुर्ज्योतिर्न चक्षुषो रूपमिति । न स्वगुणग्रहणमिन्द्रियाणामस्तीति ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—अथ शरीरे ये गुणास्ते यदि गुणानां चिह्नं निर्दिष्टा अपरे बुद्ध्यादयस्तु गुणा न शरीरे कस्य गुणास्ते चिह्नानि वा भवन्ति ? उच्यते । प्रकृतिश्चाष्टधातुकीत्युक्तम् । तत्र षड्धातुपुरुषस्था ये स्वादयः पञ्च गुणाः पञ्च धातवस्तत्प्रकृतिका आत्मजाः पञ्च ये स्वादयः शरीरे तेषां विकारा दजेन्द्रियाणि

चक्रपाणिः—सम्प्रति प्रकृतिगणसंविष्टायाः बुद्धेरुपदर्शनार्थं तस्या बुद्धेर्वृत्तिभेदात् ज्ञानविशेषरूपाण्याह—येत्यादि । यदिन्द्रियमाश्रित्य इति यदिन्द्रियप्रणालिकामाश्रित्य महच्छब्दाख्यस्य

भेदात् कार्येन्द्रियार्थानां बह्वो वै बुद्ध्यः स्मृताः ।

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानामेकैकसन्निकर्षजाः ॥

अर्थाश्च पञ्च दर्शिताः । शरीरस्य प्रकृतयः पञ्च पितृजादीनि त्रिधा भूतानि  
वक्ष्यन्ते चतुर्विंशतिकपुरुषे प्रकृतय इहोपदेष्टव्यास्तत्र पटुधातुर्यश्चेतनां धातुः  
अव्यक्ताख्यस्तस्य महदादिगन्धमात्रपृथिव्यन्तैकोनविंशतिमुखानि, तत्र यदाह-  
ङ्कारिकं मनस्तस्मान्मनोऽन्तरं यज्जायते तद् दर्शितं मनो दशेन्द्रियाणीत्यनेन ।  
यः पुनस्त्राव्यक्तमात्मा स पुनरात्मकृतानि पञ्च भूतान्यादाय सप्ताङ्गमात्मा-  
न्तरमारभते । जागरितस्थानं वह्निःप्रबलं वैश्वानराख्यं भूतात्मानम् । तथा  
तत्पङ्कधातुस्य पटुचेतनाधातुस्थो यो महान् स त्रिधाबुद्धिमारभते, धीधृति-  
स्मृतिभेदेन । यथाहङ्कारः स पुनरभिमानलक्षणमहङ्कारं गर्वाख्यमज्ञानमारभते ।  
इति पङ्कधातुपुरुषस्थापटुधातुनिष्पन्ना प्रकृतिरप्यष्टधा पञ्च खादय आत्म-  
न्तःस्तद्भूतोपाधिक आत्मा त्रिधाबुद्धिरहङ्कारश्चेति । तत्र बुद्धिश्चाहङ्कारश्च  
बुद्धिरुच्यते । सा पुनर्वाङ्माभ्यन्तरे पङ्कविधिरूपेण प्रवर्तते तदुक्तं प्राक्  
पञ्चेन्द्रियबुद्ध्यश्चक्षुर्बुद्ध्यादिकास्ताः पुनरिन्द्रियेन्द्रियार्थसत्त्वात्मसन्निकर्षजाः  
क्षणिका निश्चयादिमकाश्चेति, इह चोक्ता मनोऽर्थसन्निकर्षजा पट्टी बुद्धि-  
स्तासां यथा निर्देशो लोके सिद्धस्तदाह—या यदिन्द्रियमित्यादि । जन्तोर्या  
प्रत्यगात्मस्था बुद्धिः सा बुद्धिर्यदिन्द्रियमाश्रित्य व्यक्ता सती प्रवर्तते, सा  
बुद्धिस्तेनेन्द्रियेण निर्देशं याति । यथा चक्षुर्बुद्धिः श्रवणबुद्धिः स्पर्शन-  
बुद्धी रसनबुद्धिर्घ्राणबुद्धिरिति । इह पञ्चेन्द्रियाणीत्युक्तेरिन्द्रियपदेन मनो-  
ऽभिधानादाह—मनसा चेति । मनोभवा आत्ममनोऽर्थसन्निकर्षजा या बुद्धिः  
सा मनसा निर्देशं याति; मानसबुद्धिरित्युच्यते । मूलभूता तु बुद्धिः  
प्रत्यगात्मस्थेति सप्ता बुद्ध्यः । आसां पक्षां बुद्धीनां कार्येन्द्रियार्थानां  
पार्याणां मिन्द्रियार्थानां घटपटादिस्थानां शब्दस्पर्शादीनां भेदादात्मेन्द्रिय-  
ानांऽर्थानामेकैकसन्निकर्षजाः श्रवणबुद्ध्यादिकास्ता बुद्ध्यो बह्व एव स्मृताः ।

बुद्धितत्त्वस्य वृत्तिविशेषरूपाणि ज्ञानानीन्द्रियप्रणालिकया भवन्ति, तदिन्द्रियजन्यत्वेनैव तानि  
व्यपदिश्यन्ते—चक्षुर्बुद्धिः श्रोत्रबुद्धिरित्यादीनि । मनोभवा च बुद्धिश्चिन्त्य-  
निर्दिश्यते मनोबुद्धिरिति व्यपदिश्यत इति ।

इन्द्रियमनोभेदेन पटुत्वं बुद्धीनां प्रतिपाद्यं बुद्धिबहुत्वं व्युत्पादितं चतुर्विंशतिकमुपसंहरति—  
इन्द्रियार्थस्य च भेदात् तत्त्वसंख्येन भिद्यमाना बह्वो बुद्ध्यो—महामूतानि इत्यादिना अर्थ एवाश्रयम्

अङ्गुल्यङ्गुष्ठतलजस्तन्त्रीवीणानखोद्भवः ।

दृष्टः शब्दो यथा बुद्धिर्दृष्टा संयोगजा तथा ॥

बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्याद् योगधरं परम् । मथम् ।

चतुर्विंशतिको हेतुः सतः पुरुषसंज्ञकः ॥ १० ॥

घटीयशब्दश्रवणबुद्धिः घटीयस्पर्शस्पर्शनबुद्धिरित्येवमादयः भूयसा  
सृताः । तत्रात्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षा द्विविधः समविद्रव्याणां  
यदाहङ्कारबुद्ध्याभिभूयते धीधृतिस्मृतिबुद्धिस्तदा बुद्धेरयोगातियो  
अर्थसन्निकर्षो भवति । यदा नाभिभूयते तदा समयो  
भवति । ततो बाङ्मनःशरीरप्रवृत्तेरयोगातियोगमिथ्यायोगसम  
आसां बहुत्वे दृष्टान्तमाह—अङ्गुल्यङ्गुष्ठेत्यादि । अङ्गुष्ठ  
तद्ग्रहणेन शेषा अङ्गुलिशब्दं नीच्यन्ते । तन्त्रीवीणानखोद्भव  
यथाङ्गुल्यङ्गुष्ठतलजो बहुविधो दृष्टः श्रुतस्तथा संयोगजा आत्  
मेकैकसन्निकर्षजा बुद्धिः कार्येन्द्रियार्थानां भेदाद् बहुवि  
कुत एवं स्यादित्यत आह—बुद्धीत्यादि । बुद्धेरिन्द्रियाणां  
योगधरं स्वभावं विद्यात् । बुद्धेर्यथाविधेनेन्द्रियेण मनसा  
तथाविधरूपेण प्रवृत्तिर्भवति । इत्येषा चतुर्विंशतिक  
बुद्धिरनित्या उत्पत्तिधर्मकत्वात् । पङ्धातुपुरुषस्था म  
च नित्या यावन्निर्वाणं स्थायित्वात् । एवं चतुर्विंशतिः तत्रोत्तरम् ।  
उत्पत्तिधर्मकत्वात् । उत्पत्तिधर्मकत्वं पुनःपुनरिह जन्मशी  
तत्पङ्धातुपुरुषस्य पुनःपुनरुत्पत्तिधर्मकत्वं नारायणादेव यज्ज्वाला-  
पत्तेः । तस्मात् पङ्धातुः पुरुषो नित्यः निर्वाणपदव्यन्त रवैधर्म्यात्  
सुखदुःखप्रपञ्चेन हि तत्कार्येण कारणं ज्ञानमपि बहु भवति । इदानीं र

आत्मेत्यादि । आत्मा अव्यक्तम् । एकैकेति प्रत्येकम् । बुद्धेरनेकात्मादिमे  
अङ्गुलीत्यादि । तेन दृष्टान्तेन शब्दद्वयमाह—अङ्गुल्यङ्गुष्ठतलजशब्द ए

मध्यमाङ्गुल्याः करेण संयोगाद् जायमानशब्द उच्यते, तन्तो वीणाशब्द ए  
प्रकृतिश्चाष्ट्या ॥ १० ॥ वर्णयन्ति । एतेन यथा शब्दो अङ्गुलाद्यन्यतमवैकल्ये  
धातवस्तत्प्रकृतिका आत्मैक्येऽपि न भवतीति दर्शयति । अत्र च बुद्धिर्दृष्टेन्द्रियाणि

चक्राणि—सम्प्रति प्रकृतिगणसंविष्टायङ्गारोपजीवितैवात्मादिसम्बलितेयं बुद्धिः ज्ञानविशेष-  
रूपाण्याह—येत्यादि । यदिन्द्रियमाश्रित्य तस्य चोक्तत्वात् परमव्यक्तं कार्यं तत्र महच्छब्दाख्यस्य

भेदात् तानायां तद्दर्शितम् । ये त्वेवं न विदन्ति ते केचिद् बुद्धिर्नित्येति वदन्तः  
 आत्मेन्द्रियरनित्येति वदन्तो विवदन्ते । तथा केचित् पुरुषो नित्य इति  
 केचिदनित्यः पुरुष इति वदन्तो विवदन्ते इति । तद्द्वयमसम्भक्त्वा  
 अर्थाश्च पञ्च द हि बुद्धिर्गौतमेन । तद् यथा—बुद्धिरूपलब्धिवर्जानमित्यनर्थान्तरम् ।  
 वक्ष्यन्ते चतुर्विंशसाधर्म्यात् संशयः । विषयप्रत्यभिज्ञानात् । साध्यसमत्वादहेतुः ।  
 अव्यक्ताख्यस्तस्मिन् ग्रहणात् । प्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्गः । क्रमवृत्तित्वाद् युगपद-  
 द्वारिकं मनस्तस्य अनभिज्ञानञ्च विषयान्तरव्यासङ्गात् । न गत्यभावात् । इति ।  
 यः पुनस्तत्राव्यक्तञ्च वात्स्यायनेन सर्व्वम् । तद् यथा—कर्मकाशसाधर्म्यात् बुद्धिः  
 न्तरमारभते । जा नित्या वेति संशयः । अस्पर्शवत्त्वं ताभ्यां ताभ्यां समानो धर्मः  
 तत्पङ्कधातुस्थपष्ट बुद्धौ विशेषश्चोपजनापायधर्मवत्त्वं विपर्य्ययश्च यथास्वमनित्य-  
 स्मृतिभेदेन । यथास्यां बुद्धौ नोपलभ्यते । तेन संशयः । इति । अनुपपन्नरूपः खल्वयं  
 इति पङ्कधातुपुरुषत्ववर्जशरीरिणां हि प्रत्यात्मवेदनीयाऽनित्या बुद्धिः सुखादिवत् ।  
 तस्मात्तद्भूतोपायिवित्तिर्ज्ञास्यामि जानामि अज्ञासिपमिति । न चोपजनापायावन्तरेण  
 बुद्धिरुच्यते । सक्तः । ततश्च त्रैकाल्यव्यक्तेरनित्या बुद्धिरित्येतत् सिद्धम् । प्रमाण-  
 पञ्चेन्द्रियबुद्धयश्चक्षुः । शास्त्रेऽप्युक्तम्—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम् । युगपज-  
 ष्ठिका निश्चयातिर्मनसो लिङ्गमित्येवमादि । तस्मात् संशयप्रक्रियानुपपत्तिरिति ।  
 स्तासां यथा निर्देशलभ्यार्थन्तु प्रकरणम् । एवं हि पश्यन्तः प्रवदन्ति साक्षाः  
 प्रत्यगात्मस्था बुद्धिः ऋणभूता बुद्धिर्नित्येति । साधनं प्रचक्षते । विषयप्रत्यभिज्ञानात् ।  
 बुद्धिस्तेनेन्द्रियेण ऋणभूता बुद्धिर्नित्या । विषयप्रत्यभिज्ञानात् । किं पुनरिदं  
 बुद्धौ रसनबुद्धिर्ग्राह्यं ? यं पूर्व्वमज्ञासिपमर्थं तमिमं जानामीति ज्ञानयोः समानेऽर्थे  
 ज्ञानभिधानादाह—मनां प्रत्यभिज्ञानम् । एतच्चावस्थिताया बुद्धेरुपपन्नम् । नानात्वे तु  
 सा मनसा निर्देशं नापवर्गिषु प्रत्यभिज्ञानानुपपत्तिः । नान्यज्ञातमन्यः प्रत्यभि-  
 प्रत्यगात्मस्थेति सप्तसाध्यसमत्वादहेतुः । इति । यथा खलु नित्यत्वं बुद्धेः साध्यम् एवं  
 त्रैकाल्याणामिन्द्रियार्थापीति । किं कारणम् ? चेतनधर्मस्य करणेऽनुपपत्तिः ।  
 तानाऽर्थानामेकैकसन्निवयं ज्ञानं दर्शनमुपलब्धिवर्धः प्रत्ययोऽध्यवसाय इति । चेतनो  
 बुद्धितत्त्वस्य वृत्तिविशेषरूपं प्रत्यभिज्ञानातीति । तस्यैतस्मात् हेतोर्नित्यत्वं युक्तमिति ।  
 व्यपदिश्यन्ते—चक्षुर्बुद्धिः युगमे तु चेतनस्वरूपं वचनीयम् । नानिर्दिष्टस्वरूपमात्मान्तरं  
 निर्दिश्यते मनोबुद्धिरिति व्यद्वेगादीनां योगं मेलकं धरतीति योगधरम् । अन्यत्वं हि प्रकृतिरूपं पुरुषार्थ-  
 इन्द्रियमनोभेदेन पट्टमेलकं भोगसम्पादकं सृजति । एवं व्युत्पादितं चतुर्विंशतिकमुपसंहरति—  
 इन्द्रियार्थस्य च भेदात् तत्त्वसंज्ञानं चन्द्रियप्रत्यभिज्ञानं महाभूतानि इत्यादिना अर्थ एवाश्रयम्

ज्ञानमस्तीति प्रतिपत्तुम् । ज्ञानञ्चेद् बुद्धेरन्तःकरणस्याभ्युपगम्यते, चेतन-  
 स्येदानीं किं स्वरूपं को धर्मः किं तत्त्वम् । ज्ञानेन बुद्धौ वर्तमानेनायं चेतनः  
 किं करोतीति । चेतयत इति चेन्न ज्ञानादर्थान्तरवचनम् । पुरुषश्चेतयते  
 बुद्धिर्जानीतीति नेदं ज्ञानादर्थान्तरमुच्यते । चेतयते जानीते बुध्यते उपलभते  
 पश्यतीत्येकोऽयमर्थ इति । बुद्धिर्ज्ञापयतीति चेत्, अङ्गा जानीते पुरुषो  
 बुद्धिर्ज्ञापयतीति सत्यमेतत् । एवञ्चाभ्युपगमे ज्ञानं पुरुषस्येति सिद्धं भवति,  
 न बुद्धेरन्तःकरणस्येति । प्रतिपुरुषञ्च शब्दान्तरव्यवस्थाप्रतिज्ञाने प्रतिषेध-  
 हेतुवचनम् । यच्च प्रतिजानीते, कश्चित् पुरुषश्चेतयते कश्चिद् बुध्यते कश्चिदुप-  
 लभते कश्चित् पश्यतीति पुरुषान्तराणि खल्विमानि चेतनो बोद्धोपलब्धा  
 द्रष्टेति, नैकस्यैते धर्मा इति । अत्र कः प्रतिषेधहेतुर्वाच्य इति । अर्थस्याभेद  
 इति चेत् समानमभिन्नार्था एते शब्दा इति । तत्र व्यवस्थानुपपत्तिरित्येवं चेत्  
 मन्यते, समानं भवति ; पुरुषश्चेतयते बुद्धिर्जानीते इत्यत्राप्यर्थो न विभिद्यते ।  
 तत्रोभयोश्चेतनत्वादन्यतरलोप इति । यदि पुनर्बुध्यतेऽनेनेति बोधनं बुद्धिर्मन-  
 एवोच्यते, तच्च नित्यम् । अस्तु एतदेवं, न तु मनसो विषयप्रत्यभिज्ञानान्नित्य-  
 त्वम् । दृष्टं हि करणभेदे ज्ञातुरेकत्वात् प्रत्यभिज्ञानम् । सव्यवृष्टस्येतरं प्रत्यभि-  
 ज्ञानमिति चक्षुर्वत् । प्रदीपवच्च प्रदीपान्तरदृष्टस्य प्रदीपान्तरेण प्रत्यभिज्ञान-  
 मिति, तस्माज् ज्ञातुरयं नित्यत्वे हेतुरिति । यश्च मन्यते बुद्धेरवस्थिताया यथा-  
 विषयं वृत्तयो ज्ञानानि निश्चरन्ति, वृत्तिश्च वृत्तिमतो नान्येति । न युगपद-  
 ग्रहणात् । वृत्तिवृत्तिमतोरनन्यत्वे वृत्तिमतोऽवस्थानाद् वृत्तीनामवस्थानमिति ।  
 यानीमानि विषयग्रहणानि, तान्यवतिष्ठन्ते इति बुद्धिर्निस्त्या विषयप्रत्यभि-  
 ज्ञानादिति हेतुः साध्यसमत्वादहेतुर्न भवति युगपदग्रहणात् । वृत्तिमद्वृत्त्योर्गुण-  
 पदग्रहणाभावात् । इति । तत्राह—वृत्तिवृत्तिमतोरनन्यत्वे वृत्तिमतोऽवस्थानात्  
 वृत्तीनामवस्थानमिति यानीमानि विषयग्रहणानि तान्यवतिष्ठन्त इति  
 युगपद्विषयग्रहणं प्रसज्यत इति । प्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्ग इति । अतीते  
 प्रत्यभिज्ञाने वृत्तिमानप्यतीत इत्यन्तःकरणस्य विनाशः प्रसज्यते, विपर्यये  
 च नानात्वमिति । अविशु चैकं मनः पर्यायेणेन्द्रियैः संयुज्यते इति । क्रमवृत्ति-  
 त्वाद् युगपदग्रहणम् । इन्द्रियार्थानां वृत्तिवृत्तिमतोर्नानात्वमिति मनस

कथनेनोच्यते । “या यदिन्द्रियमाश्रित्य” इत्यादिना तु स्फुटोपलभ्यमाना बुद्धिवृत्तिभेदा उच्यन्ते ।

बुद्धग्रहणरत्नमात्राण्यव्यक्तानि तु सूक्ष्माणि नोक्तानि, तानि सर्वोप्येव “बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानाम्”

इत्यादि ग्रन्थे ‘पर’शब्देनोच्यन्ते । तेन योगधरं परमिन्नेत्यर्थः न । स्वीक्रियते । बुद्धीत्यादि-  
 रूपाण्याः ।

इति यदिन्द्रियप्रणालिकामाश्रित्य

रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान् ।

ताभ्यां निराकृताभ्यान्तु सत्त्वबुद्ध्या ॐ निवर्त्तने ॥

एकत्वाविभुताभ्यां क्रमेण तत्तदिन्द्रिये वृत्तिलादयुगपदग्रहणमिति । एकत्वे प्रादुर्भावतिरोभावयोरभाव इति । अनभिधानञ्च विषयान्तरव्यासङ्गात् । अनभिधानमनुपलब्धिः । अनुपलब्धिश्च कस्यचिदर्थस्य विषयान्तरव्यासक्तैर्मनस्युपपद्यते वृत्तिवृत्तिमतोर्नानात्वात् । एकत्वे ह्यनर्थको व्यासङ्गः इति । विभुत्वे चान्तःकरणस्य पर्यायेणेन्द्रियैः संयोगः, न गत्यभावात् । विभुत्वेन इन्द्रियाणि सर्वाणि प्राप्तान्यन्तःकरणेनेति प्राप्तस्यार्थस्य गमनाभावः । तत्र क्रमवृत्तिलाभावादयुगपदग्रहणानुपपत्तिरिति । गत्यभावाच्चैकत्वप्रतिषेधस्तस्माद् बुद्धिर्न नित्या येयं चाक्षुषादिबुद्धिरूपेण प्रवर्त्तते, परन्तु स्थिरा । सुवर्णकुण्डलवत् । सुवर्णकुण्डलरूपेण प्रवर्त्तते, कुण्डलविनाशे सुवर्णमवतिष्ठते । तथा बुद्धिरात्मन इन्द्रियार्थसन्निकर्षात् प्रवर्त्तते सन्निकर्षाभावे बुद्धिरवतिष्ठते इति ।

एवञ्च चतुर्विंशतिं भावानुत्त्वा चतुर्विंशतिकमुपसंहरति—चतुर्विंशतिक इत्यादि । हि यस्मादेव पङ्क्थात्पुरुषजनितमनोदशेन्द्रियपञ्चार्थभूतात्मा बुद्धिरहङ्कारपञ्चभूतानीति चतुर्विंशत्या निष्पन्नः पुरुषसंज्ञको मतः, पुरि ह्यन्नमयेऽस्मिञ्छरीरे वासात् । एष वहिःप्रक्षो जागरितस्थानः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभृग् वैश्वानरः प्रथमः पाद आत्मा माण्डूक्योपनिषदुक्तस्तस्य पञ्च भूतान्यात्मस्थितानि सप्ताङ्गानि । छान्दोग्योपनिषदि चोक्तानि तेजोद्विधाग्निर्नामादित्यश्च । तत्राग्निर्मूर्द्धा सुतेजो नाम । आदित्यश्चक्षुर्विश्वरूपो नाम । वायुः प्राणः पृथग्वर्त्मा नाम । आकाशः सन्दोहो बहुलो नाम । आपो वस्ती रयिर्नाम । पृथिवी पादौ प्रतिष्ठा नाम । उरो वेदिरिति । मनो दशेन्द्रियाणि पञ्च प्राणाश्चित्तं बुद्धिरहङ्कार इत्येकोनविंशतिर्मुखानि, एभिर्वहिः स्थूलान् विषयान् शुद्धं । मृतस्यैव नश्यति । परलोके चैवमेवोत्पद्यते पुनश्चेह खल्वेवमेवरूपेण जायते, इति । तस्मात् केचिन्नित्यमाहुरपरे चानित्यमाहुः ॥१०॥

राज्ञाधरः—तत्राग्निवेशः प्रपच्छ, पुरुषः कारणं कस्मादिति । तत्रोत्तरमाह—

महदादयः सप्तोच्यन्ते । एवं चतुर्विंशतिको राशिर्भवति । परत्वञ्ज-शानेम् इति । वचनं पञ्चमेव ॥ ३० ॥ तत्तथागादचतनं चेतनावदिव लिङ्गम् । प्रलयोदयाविति जीवितमरणे । पारम्पर्यमिति शरीरपरम्पराम् । चिकित्सा चेति नैष्टिकी आत्यन्तिकदुःखेषु चिकित्सा मोक्षसाधना ज्ञातव्या । किञ्चनेत्यनेनानुक्तमपि कृत्स्नं ज्ञेयमवरुणद्धि ।



रजस्तमोभ्यामित्यादि । रजस्तमोभ्यां संयुक्तस्यास्य चतुर्विंशतिकस्य पुरुषस्यायमेतद्रूपेण संयोगोऽनन्तवान् न तन्तवान् । तर्हि किमस्य संयोगोऽयं नित्य इत्यत आह—ताभ्यामित्यादि । ताभ्यां रजस्तमोभ्यां निराकृताभ्यां निःशेषेण निरस्ताभ्यां सत्त्वोद्रेके सति सत्त्वबुद्ध्या तत्त्वज्ञानेनायं संयोगोऽस्मात् पुरुषान्निवर्त्तते । ननु सति च कारणे पङ्धातुपुरुषे कथं निवर्त्तते इति चेत्, तदोच्यते । न खलु कारणे सति कार्यनाशः स्यात् तस्मात् कार्यनाशादनुमीयते कारणमपि पङ्धातुपुरुषस्य पङ्धातुसंयोगोऽपि सत्त्वबुद्ध्या निवर्त्तते । सोऽपि सति कारणं न नश्यति तस्मादनुमीयते, पङ्धातुसंयोगस्य कारणं चेतनाधातुसंयोगो नश्यति सत्त्वबुद्धैव । चेतनाधातूनां संयोगनाशे निःशेषेण निवर्त्तते न पुनरावर्त्तते । रजस्तमोनिराकरणेन धर्माधर्मविनाशात् । इति । अस्य भूतात्मनश्च कारणं पङ्धातुः पुरुषो भूतात्मैव स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पाद उक्तो माण्डूक्योपनिषदि । तस्यापि सप्ताङ्गानि—यानि शब्दतन्मात्रादीनि पञ्चमहाभूतानि तानि हि तेजोद्विधाग्निश्चन्द्रसूर्यरूपश्चैकः । तदुक्तं मुण्डकोपनिषदि । अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्वितताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी हेतुः सर्वभूतान्तरात्मा । इति लोके । पुरुषे तु मुखान्येकोनविंशतिश्च—पञ्चतन्मात्राणामेकैकाग्रधिकानि पञ्चमहाभूतात्मकानि प्राणाः पञ्च मनो दशेन्द्रियाणि त्वाहङ्कारकाणि चेतोऽहङ्कारमहान्तश्चेति । स्वप्ने प्रविविक्ते विषयान् भुङ्क्ते इति । अस्य कारणं चेतनाधातुरव्यक्तं नाम जीवोपाधिः सुषुप्तिस्थानः प्राज्ञः । यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न च कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तिस्थानमेकीभूतः प्रज्ञानघन आनन्दमयश्चेतोमुख आनन्दभुक् प्राज्ञरतृतीयः पाद आत्मा इत्युक्तो माण्डूक्योपनिषदि । सुषुप्तौ सर्वाणि मनसि लीयन्ते मनः प्रज्ञान आत्मनि तामसे महत्तत्त्वे तामसस्तु राजसे महत्तत्त्वे राजसस्तु सात्त्विके महति । सात्त्विकस्तु महान्तश्चेत् उच्यते, सा प्रज्ञा प्रज्ञावान् प्राज्ञो ह्ययमात्मा परेऽक्षरे परमात्मनि शिवे तुरीयपादे संप्रतिष्ठति । रसो वै रसं हेतुवायं लब्धवानन्दी भवतीति । चतुष्पादत्वाद् युगपदप्रज्ञः । माण्डूक्योपनिषदि । नान्तःप्रज्ञं न वहिःप्रज्ञं कथनेनोच्यते । “या यद्विन्द्रियमाश्रित्य” इत्यादिना तु स्पष्टोपलभ्यमाना बुद्ध्याः प्राज्ञः बुद्ध्याहङ्कारतन्मात्राण्यव्यक्तानि तु सूक्ष्माणि नोक्तानि, तानि सर्वाण्येव “बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थोनाम्” इत्यादि ग्रन्थे ‘पर’शब्देनोच्यन्ते । तेन योगधरं परमिन्द्रियं स्वीक्रियते । बुद्धीत्यादि-

अत्र कर्म फलः चात्र ज्ञानञ्चात्र प्रतिष्ठितम् ।

अत्र मोहः सुखं दुःखं जीवितं मरणं स्वता ॥

एवं यो वेद तत्त्वेन स वेद प्रलयोदयौ ।

पारम्पर्यं चिकित्सा च ज्ञातव्यं यच्च किञ्चन ॥

नोभयतः प्रक्षं न प्रक्षं नाप्रक्षं न प्रधानघनमव्यपदेश्यम् अव्यवहार्यमेकालम्-  
प्रत्ययसारं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते इति । मनुनाप्नुक्तम् । यो-  
ऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते । यः करोति तु कर्माणि स  
भूतात्मा उच्यते बुधैः । जीवसंशोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् । येन  
वेदयते सर्वं सुखं दुःखञ्च जन्ममु । तावुभौ भूतसम्पृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव  
च । उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः । प्रशासितारं सर्वेषामणीयांस-  
मणोरपि । रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात् तं पुरुषं परम् । एतमेके वदत्यग्निं  
मुमुक्षुः प्रजापतिम् । इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् । एष सर्वाणि  
भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य भूतिभिः । जन्ममृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ।  
इति । अत्र भूतात्मा जागरितस्थानः स्वप्नस्थानश्चेति द्विविध एव विवक्षितः इति ।

अथैवं त्रिविधे पुरुषे कः पुरुषो म्रियते, मृत्वा च कः परलोकं याति,  
तत्र च सुखं वा दुःखं वा को भुङ्क्ते, कश्च पुनरिह जायते, इत्याशङ्काह—  
अत्रेत्यादि । यदुक्तं पूर्वाध्याये । सत्त्वमात्मा शरीरञ्च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत् ।  
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् । स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं  
स्मृतम् । वेदस्यास्य—इत्यनेनोक्तं तत्र सर्वं प्रतिष्ठितमिति यदुक्तं तदेवम् ।  
अत्र चतुर्विंशतिके पुरुषे कर्म कर्मफलादिकं प्रतिष्ठितमित्येवं यो जनो  
वेद स लोकानां प्रलयोदयौ जीवनमरणे वेद को जीवति को म्रियते तद् वेत्ति-  
एष हि म्रियमाणे नरादौ पट्टधातुके लीयते पुनश्च परलोके भुक्त्वा भोगमिह

पुनश्चतुर्विंशतिकरूपे पुरुषे कर्मफलानि दर्शयन् दोषहीने पुरुषे कर्मफलाद्यभावमर्थोऽ-  
दर्शयति—अत्रेत्यादि । अत्रेति यथोक्तसमुदायपुरुषे । कर्मैत्यदृष्टम् । फलमित्यदृष्टफलम् ।  
स्वता ममताज्ञानम् । यद्यपि चतुर्विंशतिकतत्त्वातिरिक्तस्योदासीनस्यैव चेतना, तथापि  
तच्चेतनया प्रकृतिरपि चेतनामापद्य चेतनैव भवतीति युक्तमत्र ज्ञानम् इति । वचनं  
हि—“तस्मात् तत्संयोगाच्चेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।” प्रलयोदयाविति जीवितमरणे ।  
पारम्पर्यमिति शरीरपरम्पराम् । चिकित्सा चेति नैष्टिकी आत्यन्तिकदुःखेषु चिकित्सा मोक्ष-  
साधना ज्ञातव्या । किञ्चनेत्यनेनानुक्तमपि कृत्स्नं ज्ञेयमवरुणद्धि ।

भास्तमः सत्यमनृतं वेदः कर्म शुभाशुभम् ।

न स्यात् कर्ता वेदिता च पुरुषो न भवेद् यदि ॥

नाश्रयो न सुखं नार्त्तिर्न गतिर्नागतिर्न वाक् ।

न विज्ञानं न शास्त्राणि न जन्म मरणं न च ॥

ज्ञायमानेऽप्येष एवोदेतीति । तत्रापि—शरीरं सत्त्वसंज्ञश्च व्याधीनामाश्रयो  
मतः । तथा सुखानामिति यत् सुखदुःखाश्रयो मनः शरीरश्चोक्तं कथं तर्हि  
चात्र मोहः सुखं दुःखमिति संगच्छत इति चेत् तदोच्यते । सत्त्वमात्मा  
शरीरञ्चेत्यत्रात्मा चेतनाधातुः पुरुषोऽव्यक्तं नाम मनः स्थूलपुरुषे यत् तत्  
सत्त्वं महादादिकं शेषं सर्वं शरीरं, तदुक्तं पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकं  
चेतनाधिष्ठानभूतं शरीरमिति । तदव्यक्ताख्यस्यात्मनो भोगायतनमिदं सर्वं  
यच्छरीरं तदेव चतुर्विंशतिकः पुरुषस्तस्मादत्र सर्वं सुखदुःखादिकं प्रतिष्ठितम्  
इति नासङ्गतमुक्तम् । तत्रापि पृच्छति—यद्यव्यक्ताख्य एवात्मा सर्वकारणम्,  
तर्हि सत्त्वात्मशरीरसमुदाय एष पुरुषः कस्मात् कारणं भवतीति ; तत्रोत्तरं  
माह—पारम्पर्यमित्यादि । पारम्पर्यं परम्पराभावो भावानां लोकेऽतिष्ठति  
यच्च किञ्चन ज्ञातव्यं भाः प्रकाशो दिनादिरूपस्तमो रात्रादिरूपं सत्या-  
नृतादिकञ्चेत्येतानि न युर्यदि स आत्मा चेतनाधातुरेवंभूतचतुर्विंशतिकः  
पुरुषो न भवेत् । सर्वं ह्यस्मिन् पुरुषे प्रतिष्ठितं यच्च किञ्च लोकेऽस्ति ।  
तस्मादेतत् पुरुषतत्त्वविज्ञानेन लौकिकं सर्वं ज्ञातं भवति । दृढदारण्यकोप-  
निपदि चैवंमुक्तं याज्ञवल्क्येन मैत्रेयीं भार्ययां प्रति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः  
श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि । आत्मनो हि दर्शनेन श्रवणेन  
मन्त्रा विज्ञानेन सर्वं विदितं भवतीति । न वा अरे पत्युः कामाय पतिः  
प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवतीति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्य  
इत्यादुक्तेस्तत्रायमात्मशब्देनोक्तो न त्वव्यक्तमात्मा नापि परमात्मा । पत्यादिभि-  
स्तत्प्रियत्वाभावात् । यस्मादत्रैव मोहसुखदुःखजीवितमरणस्वतादिकं प्रतिष्ठितं  
न त्वव्यक्ते तस्मादयं चतुर्विंशतिकः पुरुषो यदि न भवेत्, तदा नाश्रयो  
न शरीरं स्यात् न सुखं स्यान्नात्तिदुःखं स्यात् नास्मात् परलोके गतिः स्यान्न

“पुरुषः कारणं कस्माद्” इति प्रश्नस्योत्तरं—भास्तम इत्यादि । भाः प्रतिभा । तमो  
मोहः । पुरुष इह प्रकरणे आत्माभिप्रेतः । आश्रयः शरीरम् । गतिश्च प्रयोजनानु-  
सन्धानाद् भवति । एवमागतेरपि । कारणं पुरुषस्तस्मादिति भास्तमआदौ कारणं पुरुष इत्यर्थः ।

न बन्धो न च मोक्षः स्यात् पुरुषो न भवेद् यदि ।

कारणं पुरुषस्तस्मात् कारणज्ञैरुदाहृतः ॥ ११ ॥

न च कारणमात्मा स्यात् खादयः \* स्युरहेतुकाः ।

न चैषु सम्भवेज्ज्ञानं न च तैः स्यात् प्रयोजनम् ॥

तत आगतिः स्यात् । न च वाग् यदिदं वक्ति विनापनार्थमुच्यते यया । वागभावे विज्ञानं न स्यादुपदेशासामर्थ्यात् । न च शास्त्राणि वेदादीनि स्युः । न जन्म स्यात् कः पुनर्जायेत, न च ततो मरणञ्च स्यादजातस्य मरणाभावात् । न च संसारे प्रधानादिभिः पाञ्चैवैन्धो वा भवेत् तत्त्वज्ञानान्मोक्षो वा स्याद् यत्र मोक्षे स्वता परमात्मरूपता स्यात् । तस्मादेव चतुर्विंशतिकः पुरुषः कारणं कारणज्ञैर्महर्षिर्भिरुदाहृतः ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—अथेदं तर्हि भवतु तदाह—न चेत्यादि । यः खल्वव्यक्तोऽख्य-  
इचेतनाधातुरात्मा स तु तर्हि कारणं न स्याद् यदेव चतुर्विंशतिकः पुरुषः  
कारणं स्यात् । कैर्भावैस्तदायं स्यात् पञ्चभिर्भूतैरेवायं राशिः पुरुषः स्यात् ।  
खादयः पञ्च मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः पञ्च बुद्धग्रहकाराविति त्रयोविंशतिक एव  
पुरुषो भवति । नास्त्यात्मेति चेत् तर्हि चाकाशादयः कस्माज्जायन्ते इति चेदुच्यते,  
तत्राह—खादयः स्युरहेतुका इति । ते खादयस्त्रयोविंशतिर्भावा अहेतुका नित्या  
एव सन्ति इति, तत्रोत्तरम्—न चैषु सम्भवेदित्यादि । एषु त्रयोविंशतौ भावेष्वचेत-

एतदेव भा-आदिकारणत्वमात्मन इत्याह—न चेदित्यादि । एवं मन्यते—भास्तमसी धर्माधर्म-  
जन्ये, धर्माधर्मौ चास्त्यात्मनि निराश्रयौ न भवितुमर्हतः । तथा सत्यं धर्मजनकतया  
व्यादेयम्, अनृतञ्चाधर्मजनकतयानुपादेयम् । एतच्चात्मनि स्थिरेऽसति धर्माधर्मजनकत्वं  
नास्ति । ततश्च सत्यासत्यभेदोऽप्यकिञ्चित्करत्वाच्चास्ति । एवं शुभाशुभकर्मण्यपि वाच्यम्,  
तथा कर्ता च कारणप्रतिसन्धाता न भवति, प्रतिसन्धातुरात्मनोऽभावादित्यर्थः, तथा बोद्धा च  
पूर्वापरावस्थाप्रतिसन्धातैव भवति । शरीरञ्चात्मनो भोगायतनं नात्मानं विना भवति । एवं  
सुखादावप्यात्मनः कारणत्वमुज्जेयम् । विज्ञानं शास्त्रार्थज्ञानम्, शास्त्राणि प्रतिसन्धात्रा आत्मनैव  
कृतानि । न चैषु सम्भवेज्ज्ञानमिति—आत्मानं ज्ञातारं विना न भा-आदिष्वज्ञानेषु ज्ञानं भवेत्,  
ज्ञातुरात्मनोऽभावादित्यर्थः । न च तैः स्यात् प्रयोजनमिति, भा-आदीनामात्मार्थत्वेनास्त्यात्मनि  
भा-आदुत्पत्तेः प्रयोजनं न स्यात्, प्रयोजनाभावाच्चोत्पादो न स्यात्, सर्वेषामेव हि भावानामात्मस्थौ

\* न चेत् कारणमात्मा स्यात् भादयः इति चक्रः ।

मृदण्डचक्रैश्च कृतं कुम्भकारादृतै घटम् ।

कृतं मृत्तृणकाष्ठैश्च गृहकाराद् विना गृहम् ॥

यो वदेत् स वदेद् देहं सम्भूयकरणैः कृतम् ।

विना कर्त्तारसंज्ञानाद् युक्त्यागमवहिष्कृतः ॥

कारणं पुरुषः सर्वैः प्रमाणैरुपलभ्यते ।

येभ्यः प्रमेयं सर्वेभ्य आगमेभ्यः प्रतीयते ॥ १२ ॥

नेप् मध्ये कस्मादपि भावादस्य देवनरादिपुरुषस्य चैतन्यादिज्ञानं न सम्भवेत् । सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैर्युक्तस्वात्मा खल्वव्यक्ताख्यश्चैतन्ये कारणं चेतनत्वात् तत् सर्वं विस्तरेण पूर्वाध्याये—निर्विकारः परस्वात्मेति वचनव्याख्याने दर्शितम् । ज्ञानाभावे सति न च पुरुषस्य धर्मार्थकाममोक्षात्मकं प्रयोजनं स्यात् । त्रयोविंशतिसंघाते चैतन्यादिज्ञानं भवेदित्यादिवादवचनश्च पूर्वाध्याये विस्तरेण दर्शितम् । तत्रापि युक्तिवाधादाह—मृदण्डेत्यादि । यस्तु कर्त्तुः कुम्भकारादृतै मृदण्डचक्रैः सम्भूय कृतं घटं वदेत्, एवं गृहकर्त्तुर्गृहकाराद् विना मृत्तृणकाष्ठैः सम्भूय कृतं गृहं यो वा वदेत्, स खलु युक्त्यागमवहिष्कृत एवाज्ञानादप्रमाणात् देवनरादिसगस्य कर्त्तारमात्मानं विना करणैस्त्रयोविंशत्या भावैः सम्भूय कृतं देहं पुरुषं वदेन्न तु चतुर्विंशतिकं पङ्क्थातुकञ्च पुरुषं वदेत् । पुरुषस्तु खल्वव्यक्ताख्य आत्मा चेतनाधातुः कारणं पङ्क्थातुचतुर्विंशतिकयोः कर्त्तारं सर्वैः प्रमाणैस्तरूपलभ्यते । येभ्य आगमादिभ्य आप्तोपदेशादिभ्यः प्रमाणैः प्रमेयं द्रव्यगुणकर्मसमवायाः सामान्यविशेषभूता इति सर्वं प्रतीयते नत्प्रमेयमितोऽधिकम् । आगमेभ्य इत्यादिशब्दलोपः । तिस्रैः पणीये पूर्वाध्याये च विस्तरेण दर्शितम् ॥ १२ ॥

धर्मधर्मो' पुरुषभोगोपादकौ, असति भोक्तरि भोक्ष्येनापि न भवितव्यं कारणाभावात् । आत्मानं विना शरीरानुपादे दृष्टान्तद्वयं प्रमेयगौरवादाह—कृतं मृदण्डेत्यादि । सम्भूयकरणैः कृतमित्यात्मनिर्पेक्षैर्मूर्तैः कृतमित्यर्थः । युक्त्या अनुमानरूपया आगमेन च रहितो युक्त्यागमवहिष्कृतः । प्रत्यक्षज्ञानं नोक्तम्, तस्यात्मानं प्रति प्रायोऽयोन्यत्वात् । सर्वैः प्रमाणैरिति प्रत्यक्षादिभिः । येभ्य इति करण एवापादानविवक्षया पञ्चमी । आगमेत्यन्ति बोधयन्तीति आगमाः प्रमाणान्येव । अन्ये त्वागमप्रमाणाभ्यां शास्त्राण्येव ध्रुवते ॥ ११।१२ ॥

\* क्वचित् प्रमीयते इति पाठः ।

न ते तत्सदृशास्त्वन्ये पारम्पर्यसमुत्थिताः ।  
 सारूप्याद् ये त एवेति निर्दिश्यन्ते नरास्त्रगाः ॥  
 भावास्तेषां समुद्यो निरीशः सत्त्वसंज्ञकः ।  
 कर्त्ता भोक्ता न स पुमानिति केचिद् व्यवस्थिताः ॥  
 तेषामन्यैः कृतस्यान्ये भावैर्भावा नराः फलम् ।  
 भुञ्जते सदृशाः प्राप्तं यैरात्मा नोपदिश्यते ॥

शङ्गाधरः—तत्राह पुनः—न ते तद्वित्यादि । आदिपुरुषः सिद्ध एव चेतनस्तस्मात् तु ये सारूप्यात् समानरूपत्वेन चेतनाच्चेतना इत्येवं समधर्माणो जायन्ते ते तस्मादन्ये तत्सदृशाः पारम्पर्यसमुत्थिता न ते त एवेति निर्दिश्यन्ते । निर्दिश्यन्ते यथा नरान्नरा जायन्ते गोगौ रश्वाद्भ्य इत्येवमादयो भावाः सारूप्यात् पारम्पर्यसमुत्थितास्तत्सदृशा अन्ये । न तु त एवेति । तेषां निरीशो-  
 ऽव्यक्ताख्यात्महीनसमुदायस्त्रयोविंशतिकः सत्त्वसंज्ञकः पुरुष उच्यते । सो-  
 ऽव्यक्ताख्यः पुमान् न कर्त्ता न च भोक्ता भवतीति केचिदप्यो व्यवस्थिता इति । तेन चैतन्यादिज्ञानादिकमव्यक्तस्यैव तत्पारम्पर्यसमुत्थितानाञ्च सिद्ध-  
 मिति । तत्रोत्तरमाह—तेषामित्यादि । यैरेवं सदृशरूपेण पारम्पर्य-  
 समुत्थानाद्भावानां चेतनजातत्वाच्चेतनत्वं सिद्धं नित्यश्चात्मा चेतनो नास्ति  
 समुदायस्तु पुरुषः कर्त्ता भोक्ता भवति, तेषां गते अन्यैर्भावैः कृतस्य

चक्रपाणिः—निरात्मवादिमतमुत्थापयति—न ते इत्यादि । अस्मिन् शरीरे ते क एव पृथिवी-  
 जलादयो भावाः, ये त एवेति व्यपदिश्यन्ते । ते न भवन्ति पूर्वानुभूता नानु भवन्तीत्यर्थः ।  
 यदि ते न भवन्ति, कथं तर्हि 'ते' इत्यभिधानमित्याह—तत्सदृशास्त्वन्ये पूर्वसदृशा इत्यर्थः ।  
 पारम्पर्यसमुत्थिता इति सदृशसन्तानव्यवस्थिताः । सारूप्यादिति सदृशरूपत्वान् । तेषां  
 समुद्य इति क्षणभङ्गिनां मेलक इत्यर्थः । निरीश इति स्यादथात्मरहितः । सत्त्वसंज्ञक इति  
 प्राणिसंज्ञकः । केचिदिति बौद्धाः । बौद्धा हि निरात्मकं क्षणिकज्ञानादिसमुदायमात्रं शरीर-  
 मिच्छन्ति । अभिसन्धानञ्च क्षणिकानामपि ज्ञानानां कार्यकारणाभावाच्चैव सन्तता-  
 विच्छन्ति । एतद् दूषयति—तेषामित्यादि । तेषां ज्ञानसन्तानवादिनाम्, अन्येन कृतस्यौदन-  
 पाकदेः फलमज्ञादि अन्ये भुञ्जते इति प्राप्नोति । एतच्चासङ्गतम् । यतः फलं भोक्ष्यामीति  
 कृत्वा भाविफलप्रत्याशया प्रवृत्तिर्युक्ता, न त्वन्दस्य भोग्यतां फलस्य पश्यन् कश्चित् प्रवर्त्तते,  
 योऽपि सूपकारादिः परार्थं प्रवर्त्तते, सोऽपि परार्थेन स्वार्थं साधयितुकाम एवेति भावः ।

कारणान्यान्यता \* दृष्टा कर्त्ता भोक्ता स एव तु ।

कर्त्ता हि करणैर्युक्तः कारणं सर्वकर्मणाम् ॥

निमेषकालाद् भावानां कालः शीघ्रतरोऽत्यये ।

भग्नानाञ्च पुनर्भावे † कृतं नान्यमुपैति च ॥

कर्मणः फलं प्राप्तमन्ये सदृशा भावा नरा भुञ्जते । यदि मनोबुद्ध्याहङ्कार-  
दङ्गेन्द्रियपञ्चभूतानां स्वस्वकृतस्य कर्मणः फलं प्राप्तं तत्समुदायः पुरुषो  
भुङ्क्ते न तु मनःप्रभृतिः स्वस्वकृतकर्मफलं भुङ्क्ते, तर्हि दवदत्तादि-  
नराज्जाताः पुत्रपौत्रादयः पारम्पर्यसमुत्था अनित्या यावज्जीवन्ति  
तावन्तं कालं प्राप्तं तत्तत्कालपरिणतस्वस्वकृतकर्मफलं भुञ्जते स्वस्वायुषो-  
ऽधिककालपरिणम्यकर्मफलन्तु न प्राप्तं न च तद् भुञ्जते न च तत्  
समुदायोऽस्ति कोऽप्येको नित्यो भावो यो ह्यप्राप्य फलं भुङ्क्ष्यते । तर्हि  
तत्कृतकर्मणः परिणम्यमानस्य फलमन्ये नरा भुञ्जते इति । अस्तु चैव-  
मिति चेत् तदाह—कारणेत्यादि । कर्त्तुः क्रियानिष्पत्तौ कारणानामन्यान्यता  
भिन्नभिन्नता दृष्टा यथा कर्त्ता मनसा मनुते बुद्ध्या बुध्यते चक्षुषा पश्यति श्रोत्रेण  
शृणोतीत्येवं कारणानां भिन्नभिन्नता दृष्टा, भोक्ता तु स एव कर्त्ता । कस्मात् ?  
कर्त्ता हीत्यादि । हि यस्मात् कर्त्ता करणैर्युक्तः सन् सर्वकर्मणां कारणं  
नित्यत्वात् । ननु तर्हि यत्करणेन यत् करोति तत्फलमन्येन किं न  
प्राप्नोतीत्यत आह—निमेषेत्यादि । भावानाम् अत्यये कालस्तु निमेषकाला-  
दपि शीघ्रतरः । निमेषकालो यथा शीघ्रं गच्छति ततोऽपि शीघ्रं  
भावानामत्ययं कालः करोति तथातिशीघ्रं भग्नानां तेषां पुनर्भावे कालो

परमतं दूषयित्वा स्वमतमाह—करणेत्यादि । करणस्य शरीरस्य परिणामिनोऽन्यान्यता  
दृष्टा । कर्त्ता चात्मा, स एव न विनाशीत्यर्थः । अत्रैव दृष्टान्तमाह—कर्त्ता हीत्यादि । यथानेक-  
शिल्पवित् कर्त्ता करणैर्वासी-आयसीसंज्ञक्यन्त्रादिभिः काष्ठपाटन-लौहघटनादि करोति, तथात्मापि  
इह इत्यर्थः । अथायमात्मसद्भावः स्थिरोऽस्तु, शरीरारम्भकाणां का गतिरित्याह—निमेषेत्यादि ।  
भावानामिति शरीरादिभावानाम् । अत्यय इति विनाशे, शरीरस्य स्वाग्निपच्यमानस्य निमेष-  
कालादपि शीघ्रं विनाशो भवतीत्यर्थः । अमीपाञ्च भावानां भग्नानां न पुनर्भावः पुनरागमनं  
नास्तीति । तेन, येन शरीरेण यत् कृतम्, तच्छरीरं तत्फलं न प्राप्नोतीत्युक्तं भवति । अथ

\* करणान्यान्यता इति चक्रः ।

† भग्नानां न पुनर्भावः इति पाठान्तरम् ।

मतं तत्त्वविदामेतद् यस्मात् तस्मात् स कारणम् ।

क्रियोपभोगे भूतानां नित्यः पुरुषसंज्ञकः ॥

अहङ्कारः फलं कर्म देहान्तरगतिः स्मृतिः ।

विद्यते सति भूतानां कारणे देहमन्तरा ॥ १३ ॥

प्रभवो न ह्यनादित्वाद् विद्यते परमात्मनः ।

पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः ॥ १४ ॥

निमेषकालाच्छीघ्रतरः सन् कृतमेव भग्नं तमेवोपैति न त्वन्यम्, तथा पुरुषो येन करणेन यत् कर्म कुरुते तत्फलं तेनैव कर्त्ता प्राप्नोति न त्वन्यमुपैति । इति तत्त्व-विदां मतं, यस्मात् स कर्त्ता तस्मात् भूतानां क्रियोपभोगे नित्यः पुरुषसंज्ञकः कारणम् । भूतानां प्राणिनां देहमन्तरा देहमध्ये तस्मिन् पुरुषसंज्ञके कारणे सति वर्त्तमानेऽहङ्कारः कर्मणः फलं धर्माधर्मरूपं तज्जनकं कर्म च देहान्तर-गतिर्भरणं स्मृतिश्च जातिस्मरणं विद्यते न त्वसति पुरुषे सर्वमेतद् वर्त्तते । इति द्वितीयप्रश्नस्योत्तरमिति ॥ १३ ॥

**गङ्गाधरः**—अत्राग्निवेशः पप्रच्छ, प्रभवः पुरुषस्य क इति । एष त्रिविधः पुरुषः कस्मात् प्रभवति उत्पद्यते उत्पत्तिकारणं क इत्यस्य प्रश्नस्योत्तरमाह—प्रभवो नेत्यादि । परमात्मन इति महतः परमव्यक्तमिति कठोपनिषदि श्रवणादिह जागरितस्थानात् स्वप्नस्थानाच्चात्मनः परमः श्रेष्ठ आत्मा परमात्मा नेह तुरीय आत्मा परमात्मा । त्रिविधपुरुषप्रभवप्रश्नस्योत्तरप्रस्तावादिति चेन्नानादित्वादिति हेतोरसम्भवात् । श्वेताश्वतरोपनिषदि चाव्यक्तस्य त्रिगुणलक्षणस्य प्रभवश्रवणाच्च । तद् यथा । स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिर्धः कालकारो गुणी मा भवन्वेवम् । ततः किमित्याह—कृतं कर्म यागादि न फलरूपतयाऽन्यमुपैति । एवं सति देवदत्तेन कृतेन शुभकर्मणा न यज्ञदत्तादयोऽपि सुखभाजः स्युः, तस्मात् क्षणभङ्गिशरीरादतिरिक्तः कर्मकर्त्ता तत्फलभोक्ता चास्तीति भावः । क्रियोपभोग इति क्रियायां तत्फलभोगेऽपि । भूतानामिति प्राणिनाम् । आत्मसंज्ञावे हेत्वन्तरमाह—अहङ्कार इत्यादि । एतेऽहङ्कारादयः स्थिर एव परमात्मनि सन्ति पूर्वोपरकालावस्थायिवस्तुधर्मत्वादिति भावः । देहमन्तरेति देहं विना देहांतिरिक्तकालेऽप्यहङ्कारो भवतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

**चक्रपाणिः**—“प्रभवः पुरुषस्य कः” इत्यस्योत्तरम् । अनादीत्यादि । प्रभवः कारणम् । राशि-संज्ञक इति पदं धातुरूपसमुदायश्चतुर्विंशतिराशिरूपः । मोहेच्छाद्वेषजनितकर्मजः मोहेच्छाद्वेष-



आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज् ज्ञानं तस्य प्रवर्तते ।

करणानामवैमल्यादयोगाद् वा न वर्तते ॥

सर्व्वविद् यः । प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिवन्धहेतुरिति । न च पुरुषप्रभवप्रश्नेऽप्यप्रस्तुतः परमात्मप्रभवप्रश्नः । चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञक इत्यत्र चेतनाधातुत्वेन परमात्मनोऽवरोधात् । तस्मात् परमात्मन आत्मयोनेः स्वयम्भुवः प्रभव उत्पत्तिकारणं न विद्यते । कस्मात् ? अनादि-त्वादकारणत्वात् । न हि परमात्मनः परमव्योम्नः प्रभवकारणम् अस्ति । शक्तिर्हि मूलं ब्रह्म सर्गकाले तेजोऽवन्नानि सृष्ट्वा तदुपाहिता सती गायत्री भूत्वा स्वयमेव शान्तिविद्या प्रतिष्ठा निवृत्तिश्चेति चतस्रः शक्तयो भूत्वा चतुर्व्यूहः परमव्योमरूपः परमात्मा शिवो बभूवेति तस्यानादित्वात् प्रभवकारणं किमपि नास्तीति । स एव परमात्मा पुनरेवं क्षेत्रज्ञप्राज्ञतैजस-वैश्वानररूपश्च स्वयं बभूवेति संहतरूपचेतनाधातुपुरुषस्य पङ्क्थात्पुरुषस्य प्रभवं केचित् परमात्मानमाहुरपरे प्रभवं नाहुः । राशिसंज्ञस्तु पुरुषो मृतस्य पङ्क्थात्पुरुषे लीयते परलोकञ्च याति ततः पुनर्मोहेच्छाद्वेषकृतकर्मफल-धर्माधर्माज्जायते तासु तासु योनिषु तैस्तैर्वीजैरिति मोहेच्छाद्वेषकर्मज उच्यते । इति तृतीयप्रश्नोत्तरम् ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—तत्राग्निवेशः पप्रच्छ, किमज्ञो ज्ञः स इति । स पुरुषः किमज्ञो-ऽथ ज्ञ इति । तत्रोत्तरमाह—आत्मा ज्ञ इत्यादि । इहात्मा जागरितस्थानः चतुर्विंशतिकः पुरुषः । स तु ज्ञः । न परमात्मा । कस्मात् ? मूलभूतज्ञो हि परमात्मा ज्ञानशक्तिमत्त्वाज्ज्ञानाख्यगुणवत्त्वात् । तस्य त्रिगुणजातगुणाभावेन निर्गुणत्व-वचनात् । ज्ञः कालकारो गुणीति हुयक्तम् । क्रमेण तदनुप्रवेशात् पञ्चब्रह्म-पुरुषकालक्षेत्रज्ञप्रधानाख्याः तत्समुदायरूपमव्यक्तश्च चेतनाधातुः पुरुषो ज्ञः । तदव्यक्तानुप्रवेशाच्च प्रज्ञया विशिष्टत्वात् प्राज्ञः सुषुप्तिस्थानोऽपि ज्ञस्त्रिगुण-जातज्ञानरूपमहत्तत्त्वविशिष्टत्वात् । तत्प्रज्ञारब्धश्च पङ्क्थात् पुरुषः स्वप्नस्थानो महद्ब्रह्मज्ञानवत्त्वेनान्तःप्रज्ञत्वाज् ज्ञः । तत्पङ्क्थात्पुरुषारब्धस्तु चतु-र्विंशतिकः पुरुष आत्मा जागरितस्थानोऽपि ज्ञः । महद्ब्रह्मज्ञानसम्भव-कर्मजः । मोहान्दि भावेषु इच्छा द्वेषश्च भवति, ततः प्रवृत्तिः, प्रवृत्तेर्धर्माधर्मौ, तौ च शरीरं जनयतो भोगार्थम् ॥ १४ ॥

क्रपाणिः—“किमज्ञो ज्ञः” इत्यस्योत्तरम्—आत्मेत्यादि । करणानीह मनोबुद्धीन्द्रियाणि ।

पश्यतोऽपि यथादर्शे संक्लिष्टे नास्ति दर्शनम् ।

तद्वज्जले ॐ वा कलुषे चेतस्युपहते तथा ॥

करणानि मनो बुद्धिर्बुद्धिकर्मैन्द्रियाणि च ।

कर्तुः संयोगजं कर्म वेदना बुद्धिरेव च ॥

धीधृतिस्मृतिरूपज्ञानवत्त्वेन बहिःप्रवृत्ताज् ज्ञः । तस्य ज्ञानं चेतनाधीधृति-  
स्मृत्यहङ्काररूपं करणैर्योगात् प्रवर्त्तते बहिर्नानारूपेणाभिव्यज्यते ज्ञत्वेऽपि  
करणानामवैमल्यादनैर्ममत्वाद्योगाद् वा न तज् ज्ञानं बहिः प्रवर्त्तते ।

कस्मात् ? तत्राह—पश्यतोऽपीत्यादि । हि यस्मादादर्शे संक्लिष्टे मलिते स्वं  
पश्यतो जनस्य दर्शनं प्रतिमूर्त्तेर्न भवति, यथा यद्वत् कलुषे चाविले जले स्वं  
पश्यतो जनस्य प्रतिमूर्त्तेर्दर्शनं नास्ति, तथा चेतसि मनस्युपहते ज्ञस्य ज्ञानस्य  
प्रवृत्तिर्नास्ति । मनो हि सर्वकरणानां प्रयोजकत्वात् प्रधानं तस्मिन्नुपहते  
हि शेषाणि करणानि न स्वातन्त्र्येणार्थेषु प्रवर्त्तितुं प्रभवन्ति । इन्द्रियार्थ-  
भूतमनसां न ज्ञानं तत् पूर्वाध्याये निर्विकारः परस्वात्मेति श्लोकव्याख्याने  
दर्शितम् । कानि पुनः करणानि ज्ञानसाधने भवन्तीत्यत आह—करणानी-  
त्यादि । इह चतुर्विंशतिकादित्रिविधपुरुषस्य जागरितस्थानादेः प्रत्यगात्मनः  
प्रकरणात् तच्चतुर्विंशतिभावान्तर्गतमनोबुद्धिभौतिकदशेन्द्रियाणि करणानि, तत्र  
बुद्धिपदेन सुषुप्तिस्थानस्य प्राज्ञस्य प्रज्ञा तज्जातहङ्काराख्या बुद्धिः स्वप्न-  
स्थानस्य तैजसस्यात्मनः इति द्विधा बुद्धिरवरुद्धा । तत्र जागरितस्थानस्य  
वैश्वानरस्यात्मनो विद्याबुद्धिमहत्तत्त्वजातबुद्धिस्त्रिधा धीः धृतिः स्मृतिश्चाहङ्कारः  
जाता बुद्धिरभिमानलक्षणा । गर्वबुद्धिर्याहङ्कारबुद्धिः अयोगादिजातबुद्धिः ।  
महतो जातो योऽहङ्कारस्तस्य पर्यायः—अज्ञानमविद्याहम्मतिरभिमानता च ।  
तज्जातो योऽहङ्कारस्तस्य पर्यायः—गर्वोऽभिमानोऽहङ्कार इति । एतच्चतुर्विध-  
बुद्धिरात्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षाद् बहुविधा प्रवर्त्तते । तदुक्तं प्राक् । भेदात्  
न वर्त्तते ज्ञानमिति योजना । ननु यद्ययमात्मा ज्ञः, तत् किमित्यस्य सर्वज्ञानं न भवतीत्याह—  
पश्यतोऽपीति चक्षुष्मतोऽपीत्यर्थः । तत्त्वमिति दर्शनविशेषणम् । तेन, स्थाने दपणे जले वा  
दर्शनं भवदप्ययथार्थग्राहितया न तत्त्वरूपं भवतीत्यर्थः । चेतसीत्युपलक्षणम् । तेन चक्षु-  
त्वाद्युपहते इति ज्ञेयम् ।

प्रकरणप्रस्तावात् ज्ञाने कर्मणि वेदनायाञ्च यावत्करणमात्मनस्तदाह—करणानीत्यादि ।

\* तत्त्वं जले इति चक्रः ।

नैकः प्रवर्तते कर्तुं भूतात्मा नाश्नुते फलम् ।

संयोगाद् वर्तते सर्वं तस्मृते नास्ति किञ्चन ॥

न हेतुको वर्तते भावो वर्तते नाप्यहेतुकः ।

शीघ्रगत्वात् स्वभावात् तु भावो \* न व्यतिवर्तते ॥ १५ ॥

कार्म्येन्द्रियार्थानां बह्व्यो वै बुद्ध्यः स्मृताः । आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानामेकैक-  
सन्निकर्षजाः इति । कुत एषां करणसंघेत्यत आह—कर्तुं रित्यादि । कर्तुः  
करणैरेभिः सह संयोगजं कर्म भवति हस्तपादादीनां पञ्चानां कर्माण्युक्तानि  
ग्रहणादीनि, श्रोत्रादीनां कर्माणि शब्दादिग्रहणानि । मनसः कर्मं  
दशेन्द्रियाभिगमनचिन्तातर्कविचारादीनि । बुद्धिकर्म तु हानोपादानो-  
पेक्षान्यतमावधारणादिकं समयोगादितः । वेदना सुखदुःखसंवेदनम् । बुद्धिः  
बहुविधा—श्रावणी स्वाची चाक्षुषी चेत्येवमादिः । कर्तुंश्चतुर्विंशतिकपुरुषस्य  
करणैर्मनोबुद्ध्यादिभिः सह संयोगजेति लिङ्गविपरिणामाद् योजना ।

ननु कर्तुरेव कर्म किं न स्यादित्यत आह—नैक इत्यादि । एको भूतात्मा  
स्वत्वात्मकतपश्चभूतोपाधिरव्यक्ताख्यात्मारब्धप्रत्यगात्मपुरुषो न कर्तुं क्रियां  
न निष्पादयितुं प्रवर्तते फलञ्च नाश्नुते नाप्नोति विना करणैः तथा  
स्वभावात् । करणैः सह संयोगात् तु भूतात्मनः सर्वं कर्मवेदनाबुद्धिश्चेत्येतत्  
सर्वं वर्तते । कस्मान्नैकः प्रवर्तते इत्यत आह—न हेतुक इत्यादि । हि  
यस्मादिह सर्गावस्थायामेकः केवल एको भावो न वर्तते विनान्यसंयोगं,  
नाप्यहेतुकोऽपि भावो वर्तते । सर्वो हि भावो ह्यनेकभावमेलनेनैकरूपो  
हेतुश्च वर्तते । न च शीघ्रगत्वात् स्वभावाद् व्यतिवर्तते । शीघ्रगतस्वभावं

संयोगजमिति कर्मणा वेदनया बुद्ध्या च योज्यम् । नाश्नुते फलमेक इति योज्यम् । एक इति  
निष्करणः । संयोगाद् वर्तते इति करणसमुदायादुपपद्यते । तस्मृते इति संयोगं विना ।

अत्रैव सामग्रीजन्यत्वे 'सर्वकार्याणामुपपत्तिमाह—न ह्येक इत्यादि । एको भावः  
कारणरूपः सहकारिकारणान्तररहितो न कार्यकरणे वर्तते इत्यर्थः । एवं तावदेककारणं  
कार्यं न वर्तते । कार्यञ्च हेतुं विना न भवतीत्याह—वर्तते नाप्यहेतुक इति । हेतुं विना  
उत्पत्तिधर्मो न वर्तते न भवतीत्यर्थः । तेन, करणयुक्तात्मजन्यं कार्यं न केवलादात्मनो हेतु-  
रूपाद् भवतीत्युक्तं भवति । अथ हेतुं विना चेद्भावो न भवतीति, तत् किमभावेऽपि शारीराणां  
भावानां हेत्वपेक्षा, न चेत्याह—शीघ्रगत्वादि । शीघ्रगत्वात् स्वभावात् लक्षितोऽभावो न स्वभावं

अनादिः पुरुषो नित्यो विपरीतस्तु हेतुजः ।

सदकारणवन्नित्यं दृष्टं हेतुमदन्यथा ॥

व्यतिक्रम्य न वर्त्तते । शीघ्रगतस्वभावो हि नैकस्य भवति विनान्यसंयोगम् । तस्मात् कर्तुः करणसंयोगात् सर्वं कर्मादिकं वर्त्तते तत् तु संयोगमृते किमपि कर्मादिकं नास्तीति । इति चतुर्थप्रश्नोत्तरम् ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—अथ तत्राग्निवेशः पप्रच्छ । स नित्यः किं किमनित्यो निदर्शित इति । यदिदानीं सर्गावस्थायां न हेतुको वर्त्तते भावो वर्त्तते नाप्यहेतुकः । शीघ्रगत्वात् स्वभावात् तु भावो न व्यतिवर्त्तते, तर्हि स पुरुषः किं नित्योऽथ किमनित्यो निदर्शित इति । एवं पृष्ठो गुरुराह—अनादिरित्यादि । यः पुरुषोऽनादिरहेतुक आदिहेतुभूत आदिः पुरुष एव नास्ति यस्य सोऽनादिः पुरुषो नित्यः । विपरीतस्तु हेतुज इति हेतुहेतुभूतपुरुषजः पुरुषो विपरीतोऽनित्य इति । तत्र यथा सदकारणवन्नित्यमिति—असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत । तदात्मानं स्वयमकुर्वत् तस्मात् तत् सकृत्तमुच्यते, इति य आत्मपट्क आदिः परमः पुरुष उक्तस्तद्वत् तत् सदकारणवदनादिः पुरुषस्तत्तन्नित्यं दृष्टम् । विपरीतस्तु हेतुजो यथा—हेतुमदन्यथा । तदादिपुरुषहेतुकं यद्यत्तदन्यथा न नित्यम् इति । अथवा अनादिरादिहेतुः पुरुषो यस्य नास्ति स आत्मपट्कः परमपुरुषः परमात्मा नित्यः । यतः सदकारणवन्नित्यं यद्यत् सदस्तु अकारण तत् सर्वं नित्यम् । असदेवासत् प्राक् सर्गाद् यदासीत् तन्नित्यम् । सर्गे सैव शक्तिर्नाम सत् तेजोऽभवदापोऽभवदन्नञ्चाभवत् तत् सदपि चाकारणं, तत्रयोपाधिर्गायत्री च सदकारणं, तस्मान्नित्यं सैव स्वयं परमात्मात्मपट्कः पुरुषोऽभवत् अनादिरेव तस्मान्नित्यः । विपरीतस्तु हेतुजः । यो यो हेतुजः पञ्चब्रह्मपुरुषादिः स स विपरीतोऽनित्यः । यतो दृष्टं हेतुमदन्यथा । यत् सत् हेतुमत् तत् व्यतिवर्त्तते 'शीघ्रगत्व'स्वभावं न त्यजतीत्यर्थः । तेन, अहेतुक एवाभावो भवति, भावस्तु सहेतुकः । उक्तं हि—“उत्पत्तिहेतुर्भावानां न निरोधेऽस्ति कारणम्” इति । किंवा, शीघ्रगत्वाद्स्थिरत्वादभावो नावस्थान्तरमात्मनाशं प्रति गच्छतीति ग्रन्थार्थः ॥ १५ ॥

चक्रवाणिः—“स नित्यः किमनित्यः” इत्यस्योत्तरम्—अनादिरित्यादि । अनादिः पुरुषोऽत्यक्तरूपत्वादान्मशब्दाभिधेयः । विपरीत इत्यादिमान् राशिरूपः पुरुष इत्यर्थः । अप्रैवानादेर्नित्यत्वं शास्त्रान्तरसम्मतमप्याह—सदित्यादि । सदिति त्रिविधसमये प्रमाणगम्यभावरूपम् । एतेन, प्रागभावस्याकारणवतोऽप्यभावरूपतयाऽनित्यत्वं न व्यभिचारकम् । हेतुजमन्यदपि भावरूपमिति योजनीयम् । तेन, हेतुजस्यापि प्रध्वंसस्य विनाशित्वं परिहृतं भवति ।

तदेव भावादग्राहं नित्यत्वान्न \* कुतश्चन ।

भावाज् ज्ञेयं तदव्यक्तमचिन्त्यं व्यक्तमन्यथा ॥

अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः ।

तस्माद् यदन्यत् तद्व्यक्तं वक्ष्यते चापरं द्वयम् ॥

व्यक्तमैन्द्रियकञ्चैव गृह्यते तद् यदिन्द्रियैः ।

अतोऽयत् पुनरव्यक्तं लिङ्गं ग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥ १६ ॥

अन्यथा नित्यतोऽन्यथाऽनित्यं दृष्टम् । तत् सत् किमनुमानग्राह्यमित्यत आह—  
तदेव भावादग्राह्यमिति । तत् सत् खलु भावादग्राह्यम् । किमिदमग्राह्यमित्यत  
आह—नित्यत्वादित्यादि । तत् सदकारणवत् कुतश्च भावान्न ज्ञेयं नित्यत्वात्  
इत्युच्यते भावादग्राह्यमिति । तदव्यक्तमचिन्त्यं मनसा चिन्तितुमशक्यम् ।  
अन्यथा व्यक्तं यद्भावाज् ज्ञेयं चिन्तितुं शक्यं तद् व्यक्तमिति । तथाचात्म-  
पट्कः परमात्मा सदाशिववेदादयः पञ्च ब्रह्मपुरुषाः कालो नाम महाविष्णुः  
क्षेत्रज्ञो नाम विष्णुः प्रधानं नाम ब्रह्मा चेत्येते पुरुषाश्चेतनाधातुकाः कुतश्चन  
भावान्न ज्ञेया अचिन्त्याश्च, तस्मादव्यक्ताख्याः साङ्ख्ययोगाधिगम्याः । ततो-  
ऽन्यथा तु सर्वं व्यक्तम् ।

तत् किं तावदित्यत आह—अव्यक्तमित्यादि । परमात्मादि-प्रधानान्त-  
समुदायोऽव्यक्तं नामात्मा च क्षेत्रज्ञाधिष्ठितत्वात् क्षेत्रज्ञश्च शाश्वद्वर्त्तते इति  
शाश्वतो विभवात् सव्वगतत्वात् विभुः अव्ययत्वादव्ययश्चेत्येकोऽर्थः । ननु  
कुतश्च भावाज् ज्ञेयं चिन्त्यं यत् तद्व्यक्तं कथमव्यक्तं भवति ? अनुमान-  
गम्यत्वात् तु व्यक्तमेवेत्यत आह—तस्मादित्यादि । तस्मात् क्षेत्रज्ञाधि-  
ष्ठितात् क्षेत्रज्ञादन्यद् यद्व्यक्तमित्यस्मात् तद्भावाज् ज्ञेयत्वेन व्यक्तमप्यव्यक्तम्  
उच्यते । तदप्यव्यक्तं व्यक्तमपरं द्वयं वक्ष्यते—व्यक्तमित्यादि । ऐन्द्रियकञ्चैव  
व्यक्तं, किं नु खल्वैन्द्रियकम् ? गृह्यते तद् यदिन्द्रियैरिति । इन्द्रियैर्द्यद् गृह्यते

अथ किं तन्नित्यत्वमित्याह—तदेवेत्यादि । भावादुत्पत्तिधर्मकात् । तन्नित्यत्वं न कुतोऽपि  
भावाद् भवति । नित्यत्वं हि न कुतोऽपि भवति । ततश्चात्मनो भावं प्रति निर-  
पेक्षत्वात् सर्वेभ्यो भावेभ्योऽप्यग्रे नित्यत्वं सदेव । तदेवस्मृतं नित्यमव्यक्तं ज्ञेयम् । अचिन्त्यम्  
इत्यव्यक्तविशेषणम् । अव्यक्तञ्च मूलप्रकृतिः । व्यक्तमन्यथेति प्रकृतेरन्यतमकार्यं महदादिकम्  
अनित्यम् । आकाशमपि विकाररूपतयाऽनित्यमेव । उदासीनपुरुषस्तु नित्य एवाव्यक्तश्च तदेवैव  
लक्षित इत्युक्तमेव । पुनः प्रकारान्तरेण व्यक्ताव्यक्तार्थमाह—वक्ष्यत इत्यादि । अपरं द्वयमिति

तदैन्द्रियकमुच्यते, तद्व्यक्तम् । अतोऽन्यत् पुनरनैन्द्रियकमव्यक्तम् । अनैन्द्रिय-  
कन्तु लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियं क्षेत्रज्ञो नामात्मा हि लिङ्गग्राह्योऽतीन्द्रियश्च ।  
पृथक् प्रधानादि-परमात्मान्तं सर्वमतीन्द्रियं न लिङ्गग्राह्यमित्यत एवैवमव्यक्तम्  
अव्यक्तं न तत् सर्वं सुषुप्तिस्थानश्चात्मा प्राज्ञो लिङ्गग्राह्योऽतीन्द्रियश्चाव्यक्तम्  
उच्यते । उक्तन्तु प्रश्नोपनिषदि—यथा सौम्य सौख्यं यण वयांसि वासो-  
वृक्षं संप्रतितिष्ठन्ते । एवं ह वै सर्वं परमात्मनि सम्प्रतितिष्ठते । पृथिवी च  
पृथिवीमात्रा चापश्चाम्प्रात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा  
चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यश्च श्रोत्रश्च श्रोतव्यश्च घ्राणश्च घ्रातव्यश्च  
रसश्च रसयितव्यश्च त्वक् च स्पर्शयितव्यश्च हस्तौ चादातव्यश्चोपस्थश्चानन्दयि-  
तव्यश्च पायुश्च विसृज्येयितव्यश्च पादौ च गन्तव्यश्च बुद्धिश्च बोद्धव्यश्चाहङ्कार-  
श्चाहङ्कार्यश्च चित्तश्च चेतयितव्यश्च तेजश्च विद्योतयितव्यश्च घ्राणश्च विधारयि-  
तव्यश्चेति । एष हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा  
पुरुषः । स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतितिष्ठते परमेवाक्षरं प्रतिप्रद्यते । स यो  
ह वै तदश्रोत्रमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते सौम्य स सर्वज्ञः सर्वो  
भवति तदेव श्लोकः । विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रति-  
तिष्ठन्ति यत्र । तदक्षरं वेदयते यस्तु सौम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेश । इति ।  
एवञ्च स्वप्नस्थानोऽप्यात्मा पङ्कधातुः पुरुषो भूतात्मा खलु शब्दतन्मात्रादि-  
पञ्चभूतोपाधिरव्यक्तात्मनारब्धस्तेजसो नामात्मा लिङ्गग्राह्योऽतीन्द्रियश्चेति  
अव्यक्तात्मोच्यते । तदुक्तञ्च प्रश्नोपनिषदि—अथ हैनं पिप्पलादं सौख्यं-  
यणो गार्ग्यः पप्रच्छ, भगवन्नेतस्मिन् पुरुषं कानि स्वपन्ति कान्यस्मिन् जाग्रति  
कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति कस्यैतत् सुखं भवति कस्मिन् तु सर्वं सम्प्रति-  
ष्ठिता भवन्तीति । तस्मै स होवाच । यथा गार्ग्यं मरीचयोऽर्कस्यास्तं  
गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डले एकीभवन्ति ताः पुनः पुनरुदयतः प्रच-  
रन्त्येवं ह वै तत् सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति । तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति  
न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न  
विस्तृजते नेयते । स्वापतीत्याचक्षते । प्राणाग्रय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति ।  
गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहाय्यपचनो यद् गार्हपत्यात् प्रणीयते  
प्रणयनादाहवनीयः प्राणः । यदुच्छ्वासनिश्वासावेतावाहुती समं नयतीति  
प्रकारान्तरं व्यक्ताव्यक्तद्वयम् । लिङ्गग्राह्यमित्यनुमानग्राह्यम् । अतीन्द्रियमित्यनेन चेन्द्रियग्रहणायोग्यं यत्  
केनापि शब्दादिलिङ्गेन गृह्यते, तदव्यक्तम् । किन्तु यन्नित्यानुमेयं मनोऽहङ्कारादि तदेवाव्यक्तम् ॥१६॥

खादीनि बुद्धिर्व्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः ।

भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश ॥

समानः । मनोऽहरवयजमान इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति । अत्रैव देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति । यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति । यत् श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति । देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनःपुनः प्रत्यनुभवति । दृष्टश्चादृष्टश्च श्रुतश्चाश्रुतञ्चानुभूतञ्चाननुभूतश्च सर्वं पश्यति सर्वं पश्यति । इति स्वप्नस्थानः । अत्र समानोच्छ्वासनिश्वासाभ्यामनुमीयतेऽयं स्वपितीति । चतुर्विंशतिकस्य मनसि दशेन्द्रियाणि लीयन्ते, प्राणाः पञ्च जाग्रतीति । तद्विशिष्टः पट्धातुः पुरुषो देवः स्वप्ने मनसा स्वप्नान् पश्यति । इति । तद्धिं जागरितस्थानस्त्वेव चतुर्विंशतिको भूतात्मा किमैन्द्रियकत्वाद् व्यक्तोऽभिधीयते, न च व्यक्तः ? यतो लिङ्गग्राह्यश्चातीन्द्रियश्च मनोदशेन्द्रियाणि लिङ्गग्राह्याणि दशितानि स्वस्वकर्माणि लिङ्गानि खरद्रवचलोष्णामतिघातलिङ्गानि भूम्यादीनि पञ्च भूतानि । तेषां गन्धादयोऽर्थाः स्वकाव्यगन्धादि लिङ्गानि । लिङ्गान्येषां व्यक्तान्येन्द्रियकाणि । इति पञ्चमप्रश्नोत्तरम् ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—तत्राग्निवेशः पप्रच्छ, प्रकृतिः का विकाराः के इति । यतः

सम्भूत एव चतुर्विंशतिकोऽतीन्द्रियो लिङ्गग्राह्यश्च तेषां चतुर्विंशतेः सम्भवहेतुषु का प्रकृतिर्नाम धातुर्विकाराश्च के धातव इति । तत्रोत्तरमाह—खादीनि इत्यादि । उद्दिष्टं पूर्वं प्रकृतिश्चाष्टधातुकीति लोके पुरुषे च भूतानामष्टौ प्रकृतयः खादीन्युक्तानि पूर्व्वम् । महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा । शब्दः स्पर्शश्च रूपश्च रसो गन्धश्च तद्गुणाः । इति । तानि खादीनि शब्दमात्रगुण आकाशः स्पर्शमात्रगुणो वायूरूपमात्रगुणं तेजो रसमात्रगुणा आपो गन्धमात्रगुणा क्षितिरित्येतानि । बुद्धिर्महत्तत्त्वं जीवात्मा विषमत्रिगुणलक्षणा विद्याबुद्धिः प्रज्ञा । अव्यक्तन्तु शक्तिब्रह्मगायत्रीश्वरविद्याविद्यात्मकपञ्चब्रह्मपुरुषकालक्षेत्रप्रधानानीत्येतत्समुदायात्मकं समत्रिगुणलक्षणं संहतरूपम् । अहङ्कारोऽहमित्यभिमानहेतुर्मलिनविषमत्रिगुणलक्षणस्त्वविद्याबुद्धिः । स चेह गणनायां खमपेक्ष्याष्टमो न सर्गे । सर्गे ह्यव्यक्तमहदहङ्कारस्ववायुज्योतिरवभूमय इति । इत्यष्टधातुकी भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा पूर्वं प्रकृतिश्चाष्टधातुकीत्युक्तम् । विकाराश्चैव षोडशेति यदिहोद्दिष्टम्, तान् विकारानाह—

चक्रपाणिः—“प्रकृतिः का विकाराः के” इत्यस्योत्तरम्—खादीनीत्यादि । खादीनि सूक्ष्म-

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च ।

समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः ॥

इति क्षेत्रं समुद्दिष्टं सर्वमव्यक्तवर्जितम् ।

अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृषयो विदुः ॥ १७ ॥

बुद्धीन्द्रियाणीत्यादि । इति षोडश विकारा इति संज्ञिता धातव इति चतुर्विंशतिको विश्वरूपो भूतात्मा लोके पुरुषे तु तैजसाख्य आत्मा स्वप्नस्थानः सूक्ष्मशरीरी । एतैश्चतुर्विंशत्या निष्पन्नश्चतुर्विंशतिको राशिपुरुषो वैश्वानर आत्मा जागरितस्थानः । तत्रात्मकृतसत्त्वरजस्तमांसि स्वस्थमाहङ्कारिकं मनोऽंशेन प्रवेश्य तैः संयुक्तं सत्त्वसंज्ञकं मनः सृजति आहङ्कारिकाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाण्येतान्यात्मकृतानि खादीन्येकैकाधिकानि पञ्चोपादायैतानि श्रोत्रादीनि सृजन्ति । पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च पञ्च कर्मेन्द्रियाणि सृजन्ति । पञ्च च तानि खादीनि स्वस्वशब्दादीनि परस्परेणानुग्रहाच्छब्दादीनि सृजन्तीति विकारसंज्ञकाः षोडशधातवः । इति चतुर्विंशतिधातुकाधिष्ठानभूतं शरीरमिदं शुक्रशोणितमात्राहारजभूतेभ्यो जायते, तद्वक्ष्यते विस्तरेणेति । ननुक्तमव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञ इति, तत्राव्यक्तं नाम यतस्तदुक्तं स आत्मा क्षेत्रज्ञो नाम कस्मादित्यत आह—इति क्षेत्रमित्यादि । इत्युक्तं सर्वमव्यक्तवर्जितं क्षेत्रं समुद्दिष्टम् । अव्यक्तमिहाव्यक्तपुरुषः सत्त्वादित्रिगुणसाम्योपाधिः पुरुषोऽव्यक्तं तत्रोपाधिरपि त्रिगुणसाम्यं क्षेत्रमुक्तं भगवद्गीतायां त्रयोदशाध्याये । इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते । एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञमिति तद्विदुः । क्षेत्रज्ञश्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत् तज्ज्ञानं मतं मम । महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च । इन्द्रियाणि दशैकश्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः । इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः ।

सूतखादीनि तन्मात्रशब्दाभिधेयानि । बुद्धिर्महच्छब्दाभिधेया । अव्यक्तं मूलप्रकृतिः । अहङ्कारो बुद्धिविकारः, स च त्रिविधो भूतादिस्तैजसो वैकारिकश्च । सूतानां स्थावरजङ्गमानां प्रकृतिर्भूतप्रकृतिः । तत्र चाव्यक्तं प्रकृतिरेव परम् । बुद्ध्यादयस्तु स्वकारणविकृतिरूपा अपि स्वकार्यापेक्षया प्रकृतिरूपा इह प्रकृतित्वेनोक्ताः । यदुक्तम्—“मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त” इति । विकारानाह—विकारा इत्यादि । ‘एव’शब्दो भिन्नकर्मप्रधारणे, तेन, विकारा एव षोडश परं न प्रकृतयः ; बुद्धेरिन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि । पञ्चार्था इति स्थूलाः



जायते बुद्धिरव्यक्ताद् बुद्ध्याहमिति मन्यते ।

परं खादीन्यहङ्कार उपादत्ते यथाक्रमम् ॥

एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतमिति । तस्मादिहाव्यक्तं त्रिगुणसाम्यं न तु पुरुषाधिष्ठितत्रिगुणसाम्यसमुदायरूपमिति । तत् त्रिगुणसाम्यमत्राव्यक्तं क्षेत्रं गीतायां कृष्णाभिप्रेतमित्यविरोधः । अत आह—अव्यक्तमस्येत्यादि । अस्य क्षेत्रस्य त्रिगुणसाम्यरूपाव्यक्तमहदादेः तदन्तस्य क्षेत्रस्य ज्ञातारमव्यक्तस्य पुरुषं क्षेत्रज्ञमृषयो विदुस्तत्क्षेत्रज्ञाधिष्ठितत्वात् तत्क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं कालानुप्रविष्टं प्रधानमभिव्यक्तसमत्रिगुणमित्येतत्समुदायोऽप्यव्यक्तमपि क्षेत्रज्ञमृषयो विदुः इत्यत उक्तमव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञ इति । बुद्धीन्द्रियाणि सार्थानि मनः कर्मेन्द्रियाणि च । अहङ्कारश्च बुद्धिश्च पृथिव्यादीनि चैव हि । अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः क्षेत्रस्यास्य निगद्यते । ईश्वरः सर्वभूतस्थः सन्नसन् सदसच्च यः । इत्युक्तं याज्ञवल्क्यसंहितायामिति ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—ननु चतुर्विंशतिकस्य पुरुषस्य धातुषु याऽष्टधातुकी प्रकृतिरुक्ता तत्राष्टौ याः प्रकृतयस्ताः किं प्रसिद्धाः सन्तीत्यत आह—जायते इत्यादि । यदिदमव्यक्तं कालानुप्रविष्टक्षेत्रज्ञाधिष्ठितप्रधानत्रिगुणसाम्यलक्षणं तस्मादव्यक्तात् तत्त्रिगुणवैषम्यलक्षणस्तस्याव्यक्तस्यैकादशांशस्यैकांशो महान् नाम प्रथमं बुद्धिर्जायते । मनो मतिमेहानात्मेत्यादिपर्याया विद्याबुद्धिः जायते । सा च त्रिविधा सात्त्विकी राजसी तामसी च । तत्र सात्त्विकी विद्याप्रज्ञा चित्तमित्युच्यतेऽव्यक्तस्य न तु प्राज्ञतैजसवैश्वानराणां, तथा सात्त्विक्या विद्याबुद्ध्या दिक्कालाभ्याश्च विशिष्टं तदनुप्रविष्टं यावदव्यक्तं तावान् समुदायः प्राज्ञो नामात्मा बभूवेति आत्मात्मान्तरमारभते कालः कालान्तरमारभते

आकाशादयः शब्दादिरूपाः, गुणगुणिनः परमार्थतो भेदो नास्त्येवास्मिन् दर्शने । एनमेव प्रकृतिविकारसमूहं क्षेत्रक्षेत्रज्ञभेदेन विभजते—इतीत्यादि । अव्यक्तवर्जितमिति प्रकृत्युदासीनवर्जितम्, प्रकृतेश्चोदासीनपुरुषचैतन्येन चैतन्यमस्त्येव ॥ १७ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति महाप्रलयानन्तरं यथा आदिसर्गे बुद्ध्यादुत्पत्तादो भवति, तदाह—जायत इत्यादि । बुद्ध्याहमिति मन्यत इति बुद्धेर्जातिनाहङ्कारेणाहमिति मन्यत इत्यर्थः । खादीनीति खादीनि सूक्ष्माणि तन्मात्ररूपाणि तथैकादशेन्द्रियाणि । वचनं हि—“प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः” इति । यथाक्रममिति तस्मादहङ्कारादुत्पद्यते क्रमेण, तत्र वैकृतात् सात्त्विकादहङ्कारात् तैजससहायादेकादशेन्द्रियाणि भवन्ति, भूतादेस्त्वहङ्कारात् तामसात् तैजस-

ततः सम्पूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते ।

पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भावैर्वियुज्यते ॥

दिग् दिगन्तरमारभते । ततस्तथा विषमत्रिगुणलक्षणया बुद्ध्या खलु मनसा तदव्यक्तमहं सर्व्वकर्त्तृति विपर्य्ययरूपेण स्वं मन्यते । इति मलिनविषम-  
त्रिगुणलक्षणोऽहमिति विपर्य्ययाभिमन्ता दिक्कालविशिष्टोऽहङ्कारो महता  
सहितादव्यक्ताज्जायते इत्यव्यक्तस्य द्वितीयं कार्य्यम् ।

महत एकादशांशस्यैकांशरूपः क्षेत्रज्ञानुप्रविष्ट एव । स च त्रिविधः । विषम-  
मलिनसत्त्वबहुलः सात्त्विको वैकारिको नाम । तादृशरजोबहुलस्तैजसो नाम  
राजसः । तादृशतमोबहुलस्तामसो भूतादिर्नामिति । तत्रादौ भूतादिरहङ्कारः तत्परं  
यथाक्रमं क्रमेण सत्त्वोद्रेकात् सत्त्वबहुलं शब्दमात्रगुणमाकाशमुपादत्ते । रजोबहुलं  
स्पर्शमात्रगुणं वायुम् । सत्त्वरजोबहुलं रूपमात्रगुणं तेजः । सत्त्वतमोबहुला  
रसमात्रगुणा आपः । तमोबहुलां गन्धमात्रगुणाञ्च पृथिवीमिति । ततो  
वैकारिको नामाहङ्कारस्तैजससहायाद् युगपदेव पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च कर्म्म-  
न्द्रियाणि बुद्धिकर्म्मोभियात्मकं मनश्चोपादत्ते । महदादेरतदन्तानामधिदेवताश्च  
उपादत्ते । तासां देवतानां ब्रह्मा महान्तं प्राविशदहङ्कारमीश्वरः प्राविशत्  
प्राविशच्च मनश्चन्द्रमाः श्रोत्रं दिशं स्पर्शनं वायुश्चक्षुः सूक्ष्मे आपो रसनं घ्राणं  
क्षितिः पायुं मित्रः प्रजापतिरुपस्थं हस्तमिन्द्रः पादं विष्णुरग्निराचमिति ।  
इत्येवं प्राज्ञ आत्माऽहङ्कारेण मनो दशेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानि स्रष्टाऽहङ्कारादि-  
सप्तदशकं लिङ्गं शरीरमादायात्मानमारभ्य पुनः पञ्चानां महाभूतानामाकाशं  
क्रियन्तं दिक्कालाभ्यां संयोज्याकाशं स्रष्टा तं वायौ प्रवेश्य द्वात्मकं वायुं  
स्रष्टा तं तेजसि प्रवेश्य त्रात्मकं तेजः स्रष्टा तदप्सु प्रवेश्य चतुरात्मिका अपः स्रष्टा  
ताः पृथिवीं प्रवेश्य पञ्चात्मिकां पृथिवीं स्रष्टा तानि पञ्च भूतान्यनुप्रविश्य  
पद्व्यातुः सर्व्वसम्पूर्णाङ्गः सन् जातो लोकोऽभ्युदित उच्यते । याज्ञ-  
वल्क्यसंहितायाश्च । बुद्धेरुत्पत्तिरव्यक्तात् ततोऽहङ्कारसम्भवः । तन्मात्राणि  
ह्यहङ्कारादेकोत्तरगुणानि च । शब्दः स्पर्शश्च रूपश्च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ।

सहायात् पञ्च तन्मात्राणि । यदुक्तम्—“सात्त्विक एकादशकः प्रवर्त्तते वैकृतादहङ्कारात् ।  
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादभयम्” इति । तत इति आहङ्कारिककार्यानन्तरं  
तन्मात्रेभ्य उत्पन्नस्थूलभूतसम्बन्धात् । सम्पूर्णसर्वाङ्गो जात इति आदिसर्गो जातः ।  
एवमादिसर्गे प्रकृतेर्महदादिसर्गे दर्शयित्वा महाप्रलये प्रकृताव्यक्तरूपायां बुद्ध्यादीनां

यो यस्मान्निःसृतश्चैषां स तस्मिन्नेव लीयते । यथात्मानं सृजत्यात्मा तथा वः कथितो मया । विपाकात् त्रिप्रकाराणां कर्मणामीश्वरोऽपि सन् । सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणास्तस्यैव कीर्त्तिताः । रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवद् भ्राम्यते हि सः । इति । लोकवदन्नमयोऽयं पुरुष एतस्यात्मानं भूमितत्त्वबहुलं पञ्च-भूतात्मकम् । तस्यान्नस्यात्मन आत्मा प्राणमयः पुरुषस्तस्य प्राण एव शिरो व्यानो दक्षिणः पक्षः समान उत्तरः पक्ष आकाश आत्मा पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा । तस्यात्मन आकाशस्यान्तरात्मा मनोमयस्तस्य यजुरेव शिरः ऋग्दक्षिणः पक्षः सामोत्तरः पक्ष आदेश आत्माऽथर्वान्निरसः पुच्छं प्रतिष्ठा । तस्यात्मन आदेशस्य अन्तरात्मा विज्ञानमयस्तस्य श्रद्धैव शिरः सत्यं दक्षिणः पक्ष ऋतमुत्तरः पक्षो योग आत्मा महः पुच्छं प्रतिष्ठा । तस्यात्मनो योगस्यान्तरात्मानन्दमयः तस्य प्रियमेव शिरो मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्ष आनन्द आत्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा । एष चेतनाधातुरव्यक्तमात्मेति ख्यापितम् । तस्यात्मन आनन्दस्यान्तरात्मा हिरण्यमयः पुरुषः परमात्मा शिवस्तस्य तेजः शिरः आपो दक्षिणः पक्षोऽन्नमुत्तरः पक्षो गायत्रीशक्तिरात्मा शक्तिरसद् ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्युन्नेयम् । भवति चात्र कठोपनिषदि श्लोकः । हिरण्ये परे कोपे विरजं ब्रह्म निष्कलम् । तच्छभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुरिति ।

एष पटुर्धातुः पुरुषः खलु यावत् प्रलयं वृत्तते न नश्यति पुनः-पुनर्जायते ततो नारायणस्यास्यादित्यस्य देहादुत्क्रान्तौ प्राकृतप्रलये प्रकृतौ स्थिते काले क्षेत्रज्ञे प्रधानस्य गुणसाम्ये द्विपरार्द्धकाले पुनर्भावैर्वियुज्यते । तदुक्तं मनुना । एवं सर्वं स सृष्टेर्दं माश्वाचिन्त्यपराक्रमः । आत्मन्यन्तर्द्वधे भूयः कालं कालेन पीडयन् । यदा स देवो जागर्त्ति तदेदं चेष्टते जगत् । यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति । तस्मिन् स्वपति तु स्वस्थे कर्म्मर्त्मानः शरीरिणः । स्वकर्मभ्यो निवर्त्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति । शुगपत् तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन् महात्मनि । तदायं सर्वभूतात्मा सुखं

लयमाह—पुरुष इत्यादि । इष्टैर्भावैरिति पुरुषस्य भोगार्थमिष्टैर्बुद्ध्यादिभिः । अन्ये तु एवंभूतसर्गमत्रजन्मनि, बुद्ध्यादिवियोगाच्च मरणे प्रवृत्ते । तत्र, जन्ममरणयोर्बुद्ध्यादीनां विद्यमानत्वात् । उक्तं हि—“अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न विमुक्तपूर्वः । नैवेन्द्रियैर्नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहङ्कारविकारदोषैः” इति । तथान्यत्राप्युक्तम्—“पूर्वोत्पन्न-मसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् । संसरति निरुपभोगं भोगैरधिवासितं लिङ्गम्” इति ।

अव्यक्ताद् व्यक्तां याति व्यक्तादव्यक्तां पुनः ।

रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत् परिवर्तते ॥

येषां द्वन्द्वे परासक्तिरहङ्कारपराश्च ये ।

उदयप्रलयौ तेषां न तेषां ये त्वतोऽन्यथा ॥ १८ ॥

स्वपिति निवृत्तः । तमोऽयन्तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः । न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्च्छितः । यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थासु चरिष्णु च । समाविशति संस्पृष्टदा मूर्त्तिं विमुञ्चति । एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम् । संजीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्यय इति ।

तर्हि पुनर्न कदापि किं जायते इत्यत आह—अव्यक्तादित्यादि । उक्तरूपेण अव्यक्ताद् व्यक्तां याति, पुनः कल्पान्ते प्रलये व्यक्तादव्यक्तां याति । एवं प्रकारेण रजस्तमोभ्यामाविष्ट एष पुरुषश्चक्रवत् परिवर्तते भ्राम्यति यावत् त्रिगुणसाम्यलक्षणप्राकृतप्रलयम् । उक्तञ्च भगवद्गीतायाम् । सहस्रयुगपथ्यन्तमहर्षद् ब्रह्मणो विदुः । रात्रिं युगसहस्रान्तां तेष्वहारात्रविदा जनाः । अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे । रात्रागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंघके । भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते । रात्रागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे । परस्तस्मात् तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः । यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति । अव्यक्तोऽक्षर इत्याहुस्तमाहुः परमां गतिम् । यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम । पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया । यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् । इति । नन्वेवं चक्रवत् परिवर्तनं केषां भवति ततो निवृत्तिर्वा केषां कुतः स्यादित्यत आह—येषां द्वन्द्व इत्यादि । येषां देवनरादीनां द्वन्द्वे खलु सविपर्यये द्वये द्वये सुखदुःखे इच्छाद्वेषे इत्यादौ परा परमा आसक्तिरासङ्गः, तस्मात् महाप्रलय एव प्रकृतौ लयः, तदादिसर्ग एव प्रकृतेर्महदादिस्फुरिति । एतमेव प्रपञ्चं लयञ्च प्रकृतेराह—अव्यक्तादित्यादि । अव्यक्तादिति प्रकृतेः, व्यक्तामिति महदादिमहामृतपर्यन्तप्रपञ्चरूपतां याति । व्यक्तात् महदादिमहामृतपर्यन्तप्रपञ्चाद्यवस्थातः पुनरव्यक्तरूपतां याति ;—महाप्रलये हि महामृतानि तन्मात्रेषु लयं यान्ति ;—तन्मात्राणि तथेन्द्रियाणि चाहङ्कारे लयं यान्ति, अहङ्कारो बुद्धौ, बुद्धिश्च प्रकृताविति लयक्रमः । अथञ्च लयक्रमो मोक्षेऽपि भवति । परन्तु तं पुरुषं प्रति पुनः सर्गं नारभते प्रकृतिः । अयं संसारः कुतो भवतीत्याह—रज इत्यादि । अत्रिष्टो युक्तः । चक्रवत् परिवर्तत इति पुनःपुनर्लयसर्गाभ्यां युज्यते । द्वन्द्व इति रजस्तमोरूपे

प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः ।

इन्द्रियान्तरसञ्चारः प्रेरणं धारणाश्च यत् ॥

देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा ।

दृष्टस्य दक्षिणेनाक्षणा सव्येनावगमस्तथा ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः ।

बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मनः ॥

ये चाहङ्कारपरा अविद्यामूढास्तेषामुदयप्रलयौ कल्पे कल्पे जन्ममरणे भवतः ।  
ये ततोऽन्यथा द्वन्द्वानासक्ता अहङ्कारविवर्जितास्तेषां नोदयप्रलयौ पुनरिह  
जन्ममरणे न भवतः, संसारान्निवृत्तिर्भवतीति । इति पण्डप्रश्नस्योत्तरम् ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—तत्राग्निवेशः पप्रच्छ, किं लिङ्गं पुरुषस्य चेति । ननु यदुक्तं  
व्यक्तमैन्द्रियकञ्चैव गृह्यते तद् यदिन्द्रियैः । अतोऽन्यत् पुनरव्यक्तं लिङ्ग-  
ग्राह्यमतीन्द्रियमिति, पुरुषस्य तल्लिङ्गं किमिति ? तथा पृष्टः पुनर्व्वसुखाच्च—प्राणा-  
पानावित्यादि । प्राण उच्छ्वासोऽपानो निश्वास इति । निमेषाद्या निमेषोन्मेषा-  
कृतिस्वरवर्णविशेषात्मज्ञानानि तासु तासु योनिषूत्पत्तिश्च । जीवनमायुः  
यावज्जीवति, मनसो गतिश्चिन्त्यादौ विषये । इन्द्रियान्तरसञ्चारो मनसः,  
यदर्थग्रहणायैकस्मिन्निन्द्रिये मनः सञ्चरति तदिन्द्रियसञ्चारतोऽन्यस्मिन्निन्द्रिये  
मनसो यः सञ्चारः स इन्द्रियान्तरसञ्चारः । प्रेरणं तदिन्द्रिये मनसो यद् यच्च ।  
तत्रैवेन्द्रिये धारणं स्थिरतयावस्थानकरणम् । स्वप्ने च मनसो देशान्तर-  
गतिः । पञ्चत्वग्रहणं मरणम् । दक्षिणेनाक्षणा दृष्टस्य सव्येनाक्षणावगमस्तथा  
सव्येन दृष्टस्यार्थस्य दक्षिणेनाक्षणावगमः । इच्छा च द्वेषश्च सुखश्च दुःखश्च  
प्रयत्नश्च चेतना च धृतिर्बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारश्चेत्येतानि प्रत्यगात्मनि वर्त्तमानानि  
परमात्मनः प्रत्यगात्मनः परमस्यात्मनोऽव्यक्तस्य लिङ्गानि न तु परमपुरुषस्य  
परमात्मनो लिङ्गानि तस्याप्रमेयस्य लिङ्गाभावात् । उक्तं हि श्वेताश्व-  
तरोपनिषदि । निष्क्रियं निर्गुणं शान्तं निरवदं निरञ्जनम् ।

मिथुने, अहङ्कारपरा इति अहङ्कारान्ममेदमित्यादि मिथ्याज्ञानपराः । उदयप्रलयौ जन्ममरण, किंवा  
ल्यसर्गौ । अतोऽन्यथेति रागद्वेषविमुक्ता निरहङ्काराश्च ये, तेषां नोदयप्रलयौ भवतः ॥ १८ ॥

चक्रपाणिः—“किं लिङ्गं पुरुषस्य च” इत्यस्योत्तरम्—प्राणापानावित्यादि । प्राणापानावुच्छ्वास-  
निश्वासाः । निमेषाद्या इति ‘आद्य’शब्दग्रहणेन उन्मेषाद्याः प्रेक्षणविशेषा गृह्यन्ते । मनसो

अमृतस्य परं सेतुर्दग्धेन्धनमिवानलमिति—आश्रये इति पूर्वमन्त्रस्थेन  
अन्वयः । निरञ्जनं निर्लिङ्गमिति । गौतमेनाप्युक्तम् । इच्छाद्वेषमुखदुःख-  
प्रयत्नज्ञानान्यात्मनो लिङ्गानि । कणादेनापि वैशेषिकेऽप्युक्तम् । प्राणा-  
पानौ निमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरसञ्चारा बुद्धिः सुखदुःखेच्छाद्वेष-  
प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि । प्रवृत्तिनिवृत्ती प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र लिङ्गमिति ।  
यज्ञदत्त इति सन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावात् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते । सामान्यतो  
दृष्टाच्चाविशेषः । तस्मादागमिकम् । अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नाग-  
मिकम् । यत् दृष्टमन्नम् अहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्त इति द्रष्टृत्वात् प्रत्यक्षवत् ।  
देवदत्तो गच्छति यज्ञदत्तो गच्छतीत्युपचाराच्छरीरप्रत्ययः । ममेतिप्रत्ययस्य  
याथाथ्यात् । सन्दिग्धस्तूपचारः । अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्र  
अभावादर्थान्तरमात्मस्वरूपं प्रत्यक्षं यत्र प्रत्यये स प्रत्ययार्थान्तरप्रत्यक्षः ।  
सन्दिग्धस्तूपचारः । न तु शरीरविशेषाद् यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोर्ज्ञानविशेषः ।  
अहमिति मुख्ययोग्याभ्यां शब्दवद्व्यतिरेकाद् व्यभिचाराद्विज्ञेयसिद्धेरगमिकम् ।  
तेनाहमिति । सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविज्ञेयपादैकात्म्यम् । यथाकाशकाल-  
दिशः । व्यवस्थातो नाना । तस्याभावादव्यभिचारः । इति सूत्राणि क्रमेण  
व्याख्यातानि । तद् यथा । ननु प्राणापानादिकमात्मनो लिङ्गं किं दृष्टमथानु-  
मानिकमागमिकं वेति । तत्राह । प्रवृत्तिनिवृत्ती प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र  
लिङ्गम् । प्रत्यगात्मनि दृष्टे लिङ्गे परत्र स्वप्नस्थानमुषुप्तिस्थानाव्यक्तेषु लिङ्गं  
सर्व्वभागमिकं न दृष्टं न बानुमानिकम् । कस्मात् ? यज्ञदत्त इति सन्निकर्षे  
प्रत्यक्षाभावात् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते । प्रत्यगात्मनि हि यज्ञदत्त इति सन्निकर्ष  
दृष्टं प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिकं परत्र प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते । तद्धि  
किमानुमानिकमित्यत आह—सामान्यतो दृष्टाच्चाविशेषः । प्रत्यगात्मनि यथा  
यज्ञदत्त इति सन्निकर्षे दृष्टं लिङ्गं तत् सामान्यतो दृष्टाच्च परत्र नानुमानिकं  
यथा प्रत्यगात्मा प्राणिति चापानिति निमिषतीत्येवमादि दृश्यते न तथा  
परात्मा, तस्मात् सामान्यतो दृष्टाच्चानुमानिकमपि प्रत्यगात्मपरात्मनोरविशेषः ।  
तस्मादागमिकमिति । प्रत्यगात्मपरात्मनोरविज्ञेयपादागमिकं परत्रात्मनि प्राणा-  
पानादिकं लिङ्गम् । यदि तुल्यं लिङ्गं न स्यादुभयोरविशेषो न स्यादिति ।

तत्राह वादी—अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम् । त्वं देवदत्तोऽहं  
यज्ञदत्त इति व्यतिरेकादविज्ञेयभावात् प्रत्यगात्मपरात्मनोरप्यविज्ञेयभावात्  
गतिरिति मनसा पाटलिपुत्रादिगमनरूपा । इन्द्रियान्तरसञ्चारोऽपि मनस एव, यथा—क्षुः

नागमिकमिति । तर्हि किमित्यत आह—यद्दृष्टमन्नमन् देवदत्तोऽहं यन्नदत्त इति द्रष्टृत्वात् प्रत्यक्षवत् । येन मयान्नं दृष्टं सोऽहमयं देवदत्तः स एवाहं यन्नदत्त इति द्रष्टृत्वात् परात्मनः प्रत्यक्षवद्विज्ञं प्राणापानादिकं न प्रत्यक्षं तस्मादनागमिकं न भवति । अस्तु तर्हि च प्रत्यक्षवद्भावेन सामान्यतो दृष्टादानुमानिकं देवदत्तो यन्नदत्त इति भेदेन प्रत्ययस्तु यो भवति स खलु देवदत्तो गच्छति यन्नदत्तो गच्छतीत्युपचारात् शरीरप्रत्ययः । यतो देवदत्तो यन्नदत्त इति भेदेन प्रत्ययोऽविशेषेऽपि परात्मनः शरीरे उपचारात् । अन्यथा देवदत्तो गच्छतीति प्रत्ययो न स्यादात्मनो गत्यभावादिति । कस्मादुपचारः ? ममेति प्रत्ययस्य याथाार्थ्यात् । मम शरीरमिति प्रत्ययस्य याथाार्थ्यात् । देवदत्तो गच्छतीति देवदत्तशब्दार्थस्यात्मनः शरीरे उपचार इति । तत्राह । सन्दिग्धस्तूपचारः । आत्मनः शरीरे तूपचारः सन्दिग्धः । मम देवदत्तस्य शरीरमिति गच्छतीत्युक्तेः शरीरे किमुपचारः । अहं जानामि चेच्छामीत्यादौ किमात्मन्युपचारः । तत्राह । अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राभावादर्थान्तरमात्मरूपं प्रत्यक्षं यत्र प्रत्यये स प्रत्ययार्थान्तरप्रत्यक्षः । अहं देवदत्त इति प्रत्ययस्य प्रत्यगात्मनि भावात् । परत्रात्मन्यभावात् प्रत्यगात्मनः स्वरूपं परात्मनः स्वरूपमर्थान्तरं न त्वनर्थान्तरं तयोर्यत्र प्रत्यये प्रत्यक्षं स प्रत्ययः प्रत्ययार्थान्तरप्रत्यक्षः । तत्राह । सन्दिग्धस्तूपचारः । न तु शरीरविशेषाद् यन्नदत्तविष्णुमित्रयोर्ज्ञानविशेष इति । प्रत्यगात्माहं जानामीतीच्छति प्रत्यगात्मनि ज्ञानेच्छादिमत्त्वात् । गच्छामि तिष्ठामीति गमनादिक्रियावत्त्वाच्छरीरे चोपचारस्तु सन्दिग्धः किं प्रत्यगात्मनि किं शरीरे चोपचारो न तु शरीरविशेषाद् यन्नदत्तविष्णुमित्रयोर्ज्ञानविशेषस्ततः स्यात् । शरीरभेदेन तत् प्रत्यगात्मनो यन्नदत्तविष्णुमित्रतया तु ज्ञानविशेषः स्यात्, तस्मात् अहमिति मुख्ययोग्याभ्यां शब्दवद्व्यतिरेकाद् व्यभिचाराद्विशेषसिद्धेरागमिकम् । प्रत्यगात्मनि अहमिति मुख्यप्रवृत्त्या शरीरे योग्यया प्रवृत्त्याहमिति शब्दवत् । आप्तोपदेशवत् । जातिगुणक्रिया यदृच्छासङ्कोते मुख्यया प्रवृत्त्याप्ता उपदिशन्ति । व्यतिरेकादनुपदेशाज्जात्यादिषु गमनादीनां व्यभिचाराद्विशेषसिद्धेरात्मनः प्राणापानादिकं लिङ्गमागमिकं तेनाहमिति । तेन मुख्यया प्रवृत्त्या ब्राह्मणोऽहमिति । यदृच्छाप्रवृत्त्या देवदत्तोऽहमिति यन्नदत्तोऽहमिति जात्याकृतिव्यक्तिसमुदाये मुख्या वृत्तिरतेन परात्मनि त्वहमिति प्रत्ययः । न चानेकत्वमात्मनः । सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषादैकात्म्यम् । परित्यज्य मनः स्पर्शनमधितिष्ठतीत्यादि, प्रेरणञ्च तथा धारणञ्च मनस एवेति इदम् । देशान्तर-

प्रत्यगात्मनि देवदत्ते यशदत्ते विष्णुमित्रादौ च सुखदुःखज्ञानादीनां निष्पत्तिः परात्मन एवैकस्माद्विज्ञेपेण भवतीत्येक एवात्मा यथाकाशकालदिशः एकात्मिका इति । परन्तु । व्यवस्थातो नाना । उपाधिमत्त्वे जन्ममरणादिव्यवस्थातो नाना । प्रतिपुरुषमेकैक आत्मेति ।

ननु बुद्धीच्छादयो मनसो गुणा न त्वात्मगुणा इति चेन्नेत्युवाच कणादः । कस्मात् ? परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणा मनसो गुणाः । अप्रत्यक्षत्वात् । इति । प्रत्यगात्मनो बुद्ध्यादयो गुणाः, परत्रात्मन्यव्यक्ते समवायात् प्रत्यगात्म-प्रत्यक्षत्वाच्चात्मगुणा न मनसो गुणाः, अप्रत्यक्षत्वात् मनःप्रत्यक्षत्वाभावात् । पूर्व्वमुक्त-मरिमंस्तन्त्रे । आत्मना चेन्द्रियैर्यत् स्वयमुपलभ्यते तत् प्रत्यक्षम् । इच्छाद्वेषसुख-दुःखप्रयत्नबुद्धय आत्मप्रत्यक्षाः शब्दादयस्त्रिन्द्रियप्रत्यक्षा इति । भ्रान्ता अनृपयो मानसप्रत्यक्षानाहुरिच्छाद्वेषादीन् । कथं विज्ञायते परत्रात्मनि बुद्धीच्छादीनां समवायः ? उच्यते—कारणगुणपूर्व्वकस्तु कार्य्यगुणो दृष्ट इति । आत्मनः कार्य्यं प्रत्यगात्मनि बुद्धीच्छादयो गुणा दृश्यन्ते, यद्यस्य कारणेऽव्यक्तात्मन्येते बुद्धीच्छादयो नावर्तिष्यन्ताथ कार्य्यं प्रत्यगात्मनि नावर्तिष्यन्निति । कार्य्यान्तराभावाच्च । कारणगुणातिरिक्तकार्य्यगुणान्तराभावाच्च कार्य्यद्रव्य इति । गौतमेनापि ज्ञानस्येन्द्रियाथेभूतमनोगुणत्वं निरस्यात्मनो गुणो ज्ञानमुक्तं तत् पूर्व्वार्ध्यायं निर्व्विकारः परत्वात्मेति श्लोकव्याख्याने दक्षितम् । स्मरणा-दयो गुणाश्चात्मन एव गौतमेनोक्ताः । तद् यथा । स्मरणन्त्वात्मनो ज्ञात्वाभाव्यात् । व्याख्यातश्च वात्सनायनेन । आत्मन एव स्मरणं, न बुद्धि-सन्ततिमात्रस्य । तु शब्दोऽवधारणे । कथं ? ज्ञात्वाभाव्यात् । ज्ञ इत्यस्य स्वभावः स्वो धर्मः, अयं खलु ज्ञास्यति जानात्यज्ञासीदिति त्रिकालविषयेण अनेकेन ज्ञानेन सम्बध्यते । तच्चास्य त्रिकालविषयं ज्ञानं प्रत्यात्मवेदनीयम् । ज्ञास्यामि जानामि अज्ञासिपमिति वर्त्तते । तद् यस्यायं स्वो धर्मस्तस्य स्मरणं न बुद्धिप्रबन्धमात्रस्य निरात्मकस्येति । स्मृतिहेतूनामयौगपद्याद् युग-पदस्मरणमित्युक्तम् । सा च स्मृतिः केभ्य उत्पद्यते, इत्यत उक्तं गौतमेन । प्रणिधान-निबन्धाभ्यास-लिङ्ग-लक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रित-सम्बन्धानन्तर्य्य-वियोगैककार्य्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयाथिल-क्रियाराग-धर्माधर्मनिमित्तेभ्यः । सुस्मृपेया मनसो धारणं प्रणिधानं, सुस्मृर्षितलिङ्ग-चिन्तनश्चार्थस्मृतिकारणम् । निबन्धः खल्वेकग्रन्थोपयमोऽर्थानाम् । एको गतिः स्वप्न इति च्छेदः । पञ्चत्वग्रहणं मरणज्ञानम् । सव्येनावगम इति सव्येनाक्षणा, स एवायं



तस्मात् \* समुपलभ्यन्ते लिङ्गान्येतानि जीवतः ।

न मृतस्यात्मलिङ्गानि तस्मादाहुर्महर्षयः ॥

ग्रन्थोपयताः खल्वर्था अन्योन्यस्मृतिहेतव आनुपूर्व्येतरथा वा भवन्तीति । धारणा शास्त्रकृतो वा प्रज्ञातेषु वस्तुषु स्मर्त्तव्यानामुपक्षेपो निवन्ध इति । अस्य अभ्यासस्तु समाने विषये ज्ञानानामभ्यासवृत्तिरभ्यासजनितः संस्कार आत्मगुणो-  
ऽभ्यासशब्देनोच्यते, स च स्मृतिहेतुः समान इति । लिङ्गं पुनः संयोगि-  
समवाय्येकार्थसमवायिविरोधि चेति । संयोगि यथा—धूमोऽग्नेः । समवायि  
यथा—गोर्विषाणम् । एकार्थसमवायि यथा—पाणिः पादस्य, रूपं स्पर्शस्य ।  
विरोधि यथा—अभूतं भूतस्येति । लक्षणं पञ्चवयवरथं गोत्रस्य स्मृतिहेतुः ।  
विदानामिदं गर्गाणामिदमिति । सादृश्यं चित्रगतं प्रतिरूपकम्; देवदत्त-  
स्येत्येवमादि । परिग्रहात् । स्वेन वा स्वामी स्वामिना वा स्वः स्मर्यते । आश्रयात् ।  
ग्रामण्या तदधीनं स्मरति । आश्रितात् । तदधीनेन ग्रामण्यमिति । सम्बन्धात् ।  
अन्तेवासिना गुरुं स्मरति, ऋत्विजा याज्यमिति । आनन्तर्यात् । इति  
करणीयेष्वर्थेषु । वियोगात् । येन विप्रयुज्यते तद्वियोगप्रतिसंवेदी भृशं स्मरति ।  
एककार्यात् । कर्त्रन्तरदर्शनात् कर्त्रन्तरे स्मृतिः । विरोधात् । विजिगीषमाणयोः  
अन्यतरदर्शनाद् अन्यतरः स्मर्यते । अतिशयात् । येनातिशय उत्पादितः ।  
प्राप्तेः । यतो येन किञ्चित् प्राप्तमप्राप्तं वा तमभीक्ष्णं स्मरतीति । व्यवधानात् ।  
कोशादिभिरसिप्रभृतीनि स्मर्यन्ते । सुखदुःखाभ्यां, तद्धेतुः स्मर्यते । इच्छा-  
द्वेषाभ्यां यमिच्छति यश्च द्वेष्टि तं स्मरति । भयात् । यतो विभेति । अर्थित्वात् ।  
येनार्थी भोजनेनाच्छादनेन वा । क्रियायाः । रथेन रथकारं स्मरति ।  
रागात् । यस्यां स्त्रियां रक्तो भवति तामभीक्ष्णं स्मरति । धर्मात् । जात्यन्तर-  
स्मरणम्, इह चातीतश्रुतावधारणमिति । अधर्मात् । प्रागनुभूतदुःखसाधनं  
स्मरति । न चैतेषु निमित्तेषु युगपत् संवेदनानि भवन्तीति युगपदस्मरणमिति ।  
निदर्शनञ्चेदं स्मृतिहेतूनां न परिसङ्ख्यानमिति । इत्यादि गौतमोक्तं पूर्वार्धाध्याये  
विस्तरेणोक्तं दर्शितम् ।

ननु प्राणापानादिकं देवदत्तादिपुरुषस्य दृश्यते कथं परमात्मनो  
लिङ्गमित्यत आह—तस्मादित्यादि । तस्मात् परमात्मन एव अव्यक्तादात्मन

दक्षिणाक्षिदृष्टो घट इत्यवगम इत्यर्थः । चेतनां ज्ञानमात्रम् । बुद्धिस्तृहापोहज्ञानम् । अथ

शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम् ।

पञ्चभूताश्चेपत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते ॥ १६ ॥

एतानि लिङ्गानि जीवतो देवदत्तादेः समुपलभ्यन्ते, न तु मृतस्य । तस्मादात्मलिङ्गानि खल्वेतानि महर्षय आहुः । न नूच्यते देवदत्तस्येदं शरीरमिति मृतस्य न कथमेतानि लिङ्गानि ? तत्राह—शरीरं हीत्यादि । हि यस्मात् । तस्मिन्नात्मनि शरीराद् गते तच्छरीरं शून्यागारमचेतनं भवति । ननु तर्हि शरीरं मृतस्य किंरूपं वर्त्तते ? इत्यत आह—पञ्चेत्यादि । शरीरा-  
रम्भकाणां शुक्रशोणितमात्राहारात्मजानां चतुर्विधानां पञ्चानां भूतानामव-  
शेषत्वात् आत्मस्य पञ्चभूतानां शरीरान्निर्गतत्वे शेषतया स्थितत्वात् पञ्चत्वं गतं  
शरीरमुच्यते । तस्मात् प्राणापानादीनि परमात्मनो लिङ्गानीति । यावदवस्थ-  
संहितायाञ्च । अहङ्कारः स्मृतिर्मेधा द्वेपो बुद्धिः सुखं धृतिः । इन्द्रियान्तर-  
सञ्चार इच्छा धारणजीविते । स्वर्गः स्वप्नश्च भावानां प्रेरणं मनसो गतिः ।  
निमेषश्चेतना यत्र आदानं पाञ्चभौतिकम् । यत एतानि दृश्यन्ते लिङ्गानि  
परमात्मनः । तस्मादस्ति परो देहादात्मा सर्व्वग ईश्वरः ॥ इति सप्तम-  
प्रश्नोत्तरम् ॥ १९ ॥

कथमेतान्यात्मानं गमयन्तीत्याह—यस्मादित्यादि । जीवत इति पञ्चभूतारिक्तात्मसंयुक्तत्वं ।  
पञ्चयन्तु यद्यपि जीवतो न भवति, किन्तु मृतस्यैव, तथापि पञ्चत्वं मृतशरीरे दृश्यमानं  
विपर्य्ययात् पञ्चत्वाभावाद् जीवच्छरीरलिङ्गं भवतीति ज्ञेयम् । अत्रैवादाहृताश्च प्राणापानादयो  
न भूतमात्रे भवन्ति, निरात्मकेष्विष्टकमृतशरीरादिष्वदर्शनात् । न च मन एव भूतातिरिक्तात्मा  
भवितुमर्हति । यतस्तस्यापि करणरूपस्य प्रेरणादर्थज्ञानं कर्त्तव्यम् । नापीन्द्रियाण्यात्मत्वेन  
स्वीकर्त्तुं पाठ्यन्ते । यतः, तथा सति इन्द्रियाणीन्द्रियान्तरोपलब्धार्थं न प्रतिसन्धातुं समर्थानि  
भवन्ति । अस्ति चेन्द्रियान्तरोपलब्धार्थप्रतिसन्धानम्, यथा—सुरभिचन्दनं स्पृशामि । तस्मात्  
मन इन्द्रियभूतातिरिक्तात्मा तिष्ठतीति ज्ञेयम् । अत्र यद्यपि 'बुद्धि'शब्देन चेतनापृतिस्मृत्यहङ्काराः  
प्राप्यन्त एव, तथापि बुद्धिप्रकरणत्वेन पृथक्पृथगात्मकत्वेन पुनःपुनः पृथगुपात्ताः । तथा हि  
चेतनागुणत्वेन चेतना खादिभूतातिरिक्तधर्मेणात्मानं गमयति । पृतिस्तु नियमात्मिका नियन्तारम्  
आत्मानं गमयति । बुद्धिस्तु ऊहापोहयोरेकं कारणं गमयत्यात्मानम् । स्मृतिस्तु पृथ्वीभूतार्थ-  
स्मरणकर्त्तारं स्थायिनमात्मानं गमयतीत्यनुसरणीयम् । आत्माधिष्ठात्रभावे शरीरे प्राणाद्यभाव-  
माह—शरीरमित्यादि । शून्यागारमिव शून्यागारं यथाऽधिष्ठातृशून्यम्, एवं मृतशरीरमपि ।  
पङ्धातुकं शरीरम्, तत्र पष्ठे आत्मनि गते पञ्चभूतात्मकं शरीरं भवति, तेन पञ्चत्वं गतम्  
उच्यते ॥ १९ ॥

अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयिता परः ।

युक्तस्य मनसा तस्य निर्दिश्यन्ते विभोः क्रियाः ॥

चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्त्ता निरुच्यते ।

अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपि नोच्यते ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—तत्राग्निवेशः पूर्व्वं पप्रच्छ, निष्क्रियञ्चेत्यादि । भो भगवन् यदि परमात्मन एतानि प्राणापानादीनि कार्याणि लिङ्गानि भवन्ति, कथमेतानि परमात्मनोऽव्यक्ताद्भवितुमर्हन्ति । यतः । आत्मना आत्मानं निष्क्रियं वदन्ति स्वतन्त्रश्च वशिनश्च सर्व्वगश्च विशुश्च क्षेत्रज्ञश्च तथा साक्षिणश्च वदन्ति । तत्रायं सन्देहः । तद् यथा—निष्क्रियस्येति । तस्यात्मनोऽव्यक्तस्य निष्क्रियस्य भो भगवन् कथं क्रिया विद्यते । यया क्रियया प्राणापानादीनि निष्पाद्यन्ते-ऽव्यक्तेन । स चात्मा स्वतन्त्रश्चेत् तदा कथमनिष्टासु योनिषु जायते न त्विष्टासु योनिष्वेकान्तेन । एवं यदि स आत्मा वशी भवति तर्हि च कस्माद्धेतोः असुखैर्भावैः स आत्मा बलादाक्रम्यते । दुःखद्वेषी ह्यात्मा नात्मना वशित्वाद् दुःखैर्बलादाक्रान्तो भवितुं अर्हति । यदि च सर्व्वगश्चात्मा तदा सर्व्वगतत्वात् सर्वाः सर्व्वस्थाः वेदनाः किं स न वेत्ति । स पुनर्विभुः सर्व्वव्यापी कस्माद्धेतोः शलकुड्यातिरस्कृतं वस्तु न पश्यति । स चात्मा क्षेत्रज्ञस्तत्र संशयः । किं क्षेत्रज्ञः पूर्व्वम्, अथ क्षेत्रं पूर्व्वम् ? क्षेत्रं जानातीति क्षेत्रज्ञः खलु क्षेत्राज्ज्ञेयात् पूर्व्वं न युक्तो भवति क्षेत्राभावे कथं क्षेत्रं जानातीति युक्तं भवति ; तर्हि पूर्व्वं यदि क्षेत्रं स्यात् तदा क्षेत्रज्ञोऽशाश्वतः स्यात्, प्रागसत्त्वात् इति । साक्षिणश्चात्मानमाहुरिति यत् तत् कस्यायं साक्षिभूतः स्यात् ? हि यस्मादात्मनोऽन्यः कोऽपि कर्त्ता न विद्यते स्वयं कर्त्ता स्वयञ्चैव तत्क्रियायां किं साक्षी भवतीति सप्त प्रश्ना आत्मानमधिकृत्य कृताः, तेषामुत्तराणि क्रमेण पुनर्व्वसुखाच । तत्र निष्क्रियस्य क्रिया तस्य भगवन् विद्यते कथमिति प्रश्नश्चोत्तरमाह—अचेतनमित्यादि । मनस्तु अचेतनं क्रियावच्च तस्य चेतयिता पर आत्माऽव्यक्ताख्यः क्षेत्रज्ञः । स हि चैतन्ये कारणमुक्तः । सत्त्वयोगेन तस्य ज्ञानप्रवृत्तेः । स्वेन चेति तेन तेन मनसा क्रियावता युक्तस्य तस्य परस्य विभोरात्मनः क्रिया निर्दिश्यन्ते । रथो गच्छतीतिवत् । तर्हि चेतनैरश्वैर्युक्तस्याक्रियस्य रथस्य सक्रियत्वाद्

चक्रपाणिः—‘निष्क्रियस्य क्रिया तस्य कथम्’ इत्यस्योत्तरम्—अचेतनमित्यादि । चेतयिता पर इति पर आत्मा चेतयिता परं न तु साक्षात् क्रियावान् । ननु यदेतत् कथं तस्य क्रियेत्याह—

यथा कर्तृत्वं गौणं तथात्मनः कर्तृत्वं किं गौणमिति तत्राह—चेतनावान्  
 इत्यादि । अतो यतश्चेतनावानात्मा मनःक्रिययोपचरितक्रियावान् मनश्चेतयित-  
 त्वान् मुख्यस्ततः कर्त्तात्मा निरुच्यते चैतन्याग्नीनत्वात् क्रियायाः । मनस्तु क्रिया-  
 वेदं पि अचेतनत्वात् कर्त्ता नोच्यते । विना हि चैतन्यं मनः क्रियावदपि  
 किञ्चित् न कर्तुं प्रभवतीति । उक्तञ्च मुण्डकोपनिषदि श्वेताश्वतरोपनिषदि  
 च । द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिपश्यताते । तयोरन्यः पिप्पलं  
 स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति । इति । तथा च अव्यक्तमात्मा महानस्य  
 जीवात्मा । तत् सात्त्विको महानेव मनः कायस्तयोः समानं वृक्षं तत्र  
 अव्यक्ताख्ये यः क्षेत्रज्ञः पुरुषः स एकः सुपर्णः । अपरो विषमत्रिगुणरूपो महान् ।  
 द्वावेतौ सुपर्णौ सयुजौ नित्यसंयुक्तौ सखायौ शरीररूपं समानमेकं वृक्षं परि-  
 पश्यताते । तयोमध्येऽन्य एकः समत्रिगुणपुरुषः सुप्तौ समाधौ च परेऽक्षरे  
 परमात्मनि तुरीये शिवे सम्प्रतितिष्ठते रसो वै स परमात्मा तश्च रसं हेतुवायं  
 लब्धवानन्दी भवति आनन्दमयः संश्चेतसा महता मुखेनानन्दं पिप्पलं फलं  
 स्वादु अत्ति । अन्यो महानात्मा जीवस्तु तत्फलमनश्नस्तत्फलभोगक्रियामभि-  
 चाकशीति पश्यति । परमात्मा शिवो महेश्वरस्तदुपपश्यत्यनुमन्यते न तु भुङ्क्ते ।  
 एतदुक्तं भगवद्गीतायाम् । सुप्तौ समाधौ च भोक्ता प्राज्ञ आत्मानन्दमयो  
 विष्णुरनुभोक्तानुमन्ता परमात्मा शिव इति । तद् यथा—उपद्रष्टानुमन्तानुभोक्ता  
 भर्त्ता महेश्वरः । परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः पर इति । स्वप्ने  
 चायं क्षेत्रज्ञः एकः सुपर्णः पङ्धातुभूतात्मा तैजसोऽपरः सुपर्णः सूक्ष्मं शरीरं  
 समानं वृक्षं परिपश्यति वर्त्तते । तेनाव्यक्तेन चेतनेनाधिष्ठितत्वात् पङ्धातु-  
 श्चेतने आहङ्कारिकं मनश्चेतयति स्वेन चेति तेन मनसा युक्तश्च क्रियावान्  
 भवति । स एकोनविंशत्या मुखैः पञ्चमहाभूतैः प्राणरेकादशेन्द्रियैरहङ्कार-  
 बुद्धिभ्याश्च प्राविविक्तं फलं प्रकृतिजगुणं भुङ्क्ते प्राब्रह्मस्तत् फलमनश्नस्तद्-  
 भुक्तिक्रियामभिचाकशीति । अत्राप्युपद्रष्टानुमन्तानुभोक्ता परमात्मा शिवः । एवं  
 जागरितस्थानो वैश्वानरो भूतात्मा तत्प्राज्ञात्माधिष्ठितत्वाच्चेतनः क्रियावत्  
 अचतनं मन आहङ्कारिकमनाजातं मनः चेतयति तन्मनःसंयोगात् क्रियावान्  
 भवति । स सप्ताङ्ग एकोनविंशत्या मुखैः स्थूलान् प्रकृतिजा १ गुणान् पिप्पलं  
 युक्तस्येत्यादि । आत्माधिष्ठितस्यैव मनसः क्रिया उपचारादात्मनः क्रियेत्युच्यते इत्यर्थः । एतत्  
 एवोपपादयति चेतनेत्यादि—चेतनेन ह्यात्मनाधिष्ठितं मनः क्रियासु प्रवर्त्तते, चेतनानधिष्ठितं  
 मनः क्रियासु न प्रवर्त्तते । तेन यत्कृता सा क्रिया, स एव क्रियावानिति व्यपदेष्टुं युज्यते

यथास्वेनात्मनात्मानं सर्वः \* सर्वासु योनिषु ।

प्राणैस्तन्त्रयते प्राणी न ह्यन्योऽन्यस्य † तन्त्रकः ॥ २१ ॥

फलं भुङ्क्ते । क्षेत्रज्ञः पश्यति । अत्राप्यनुद्रष्टानुमन्तानुभोक्ता परमात्मा महेश्वरः शिव इति । तदुक्तं भगवद्गीतायां त्रयोदशाध्याये । प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्वानादी हुभवावपि । विकारांश्च गुणान्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् । कार्य-कारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते । पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते । पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् । कारणं गुणसंज्ञोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु । उपद्रष्टानुमन्तानुभोक्ता भर्ता महेश्वरः । परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः । इति । इति निष्क्रियस्य क्रिया तस्य भगवन् विद्यते कथमिति प्रश्नस्योत्तरमिति ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—अथ स्वतन्त्रश्चेदनिष्टासु कथं योनिषु जायत इति प्रश्नस्योत्तरं-माह—यथास्वेनेत्यादि । न खलु स्वस्य तन्त्रः स्वतन्त्रः स यः स्वेतराप्रयुज्यः सन् स्वेतरप्रयोजकः कर्ता । तर्हि क इह स्वतन्त्रः । प्राणी सर्वः प्राणभृत् । यथास्वेन स्वमनतिक्रम्य स्वेन स्वेनात्मना सर्वासु योनिषु प्राणैस्तन्त्रयते न त्वन्यस्य तन्त्रकोऽन्य इति । तस्मादनिष्टासु योनिषु जायते । नैकान्तेनेष्टासु इति । याज्ञवल्क्यसंहितायाश्च । निःसरन्ति यथा लोह-पिण्डात् तप्तात् स्फुलिङ्गाः । सकाशादात्मनस्तद्वदात्मानः प्रभवन्ति हि । तत्रात्मा हि स्वयं किञ्चित् कर्म किञ्चित् स्वभावतः । करोति किञ्चिदभ्यासाद्धर्माधर्मौ-भयात्मकम् । निमित्तमक्षरः कर्ता द्रष्टा ब्रह्म गुणी वशी । अजः शरीरग्रहणात् स जात इति कीर्त्तयते । इत्यादि । तत्र प्रश्नाः क्रमेण । यदेवमेव स कथं प्राणयोनिषु जायते इति, परत्र च कथं भावैरनिष्टैः संप्रयुज्यते ? तत्रोत्तरम् । अन्त्यपक्षिस्थावरतां मनोवाक्कायकर्मजैः । दौषैः प्रयाति जीवोऽयं भवं योनि-

न त्वचेतनं मनः, तत्पराधीनक्रियत्वेन परमार्थतः क्रियावदपि कर्तृत्वेन नोच्यत इति वाक्यार्थः । नोच्यते कर्तृ इति शेषः ॥ २० ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति स्वतन्त्रत्वेऽप्यनिष्टयोनिषु गमनं प्राणाक्षिप्तं समादधाति—यथा-स्वेनेत्यादि । सर्वासु नरगोहस्तिष्ठीटादियोनिषु । प्राणैस्तन्त्रयते प्राणैर्योजयति, आत्मनैवायं धर्माधर्मसहायेनात्मानं सर्व्वयोनिषु नयति, न परप्रेरितो याति, यतोऽन्यः पुरुषोऽस्य प्रेरको नास्ति ईश्वरा इवात् । किंवा सत्यपि ईश्वरे तस्यापि कर्मपराधीनत्वात् । इदमेव चास्यानिष्ट-

\* नयति सर्व्वयोनिषु इति चक्रः ।

† अन्यस्येत्यत्र अस्त्यस्य इति चक्रः ।

वशी तत् कुरुते कर्म यत् कृत्वा फलमश्नुते ।

वशी चेतः समाधत्ते वशी सर्वं निरस्यति ॥ २२ ॥

देही सर्वगतो ह्यात्मा स्वे स्वे संस्पर्शनेन्द्रिये ।

सर्वाः सर्वाश्रयस्थास्तु नात्माऽतो वेत्ति वेदनाः ॥ २३ ॥

शतेषु च । अनन्ताश्च यथा भावाः शरीरेषु शरीरिणाम् । रूपाण्यपि तथैवेह  
सर्व्वेयोनिषु देहिनाम् । इत्यादि ॥ २१ ॥

**गङ्गाधरः**—अथ वशी यद्यसुखैः कस्माद्भावैराक्रम्यते बलादिति प्रश्नस्योत्तर-  
माह—वशी तदित्यादि । न खलु यः स्ववशे वर्त्तते स वशी, तर्हि कः पुनर्वशी  
नामोच्यते ? स वशी यस्तु तत् कर्म कुरुते यत् कर्म कृत्वा तस्य कम्मणः  
फलं स्वयमेवाश्नुते नान्योऽश्नुते । प्रज्ञया प्रज्ञापराधेन च सदसत्कर्मणायात्मा  
करोति तत्र सत्कर्मकर्त्ता तादृशवशी तत्कृतकर्मफलेन सुखेन बलात्  
आक्रम्यते । असत्कर्मकर्त्ता च वशी तत्कर्मफलेन दुःखेन बलादाक्रम्यते ।  
यस्तु चेतः समाधत्ते स वशी, यश्च सर्व्वं निरस्यति सोऽपि सर्व्वसंन्यासी  
वशी, स स नासुखैर्भावैर्बलादाक्रम्यत इति ॥ २२ ॥

**गङ्गाधरः**—नन्वेवं चेदात्मा सर्व्वगतः सर्व्वगतत्वाच्च सर्वाः सर्व्वेषां वेदनाः

योनिगमने स्वातन्त्र्यम्—यद् - अनिष्टयोनिगमनहेत्वनिष्टकारणे स्वातन्त्र्यम्, अनिष्टकारणारब्ध-  
स्वकर्मणैवायमनिच्छन्नपि नीयत इत्यनिष्टयोनिगमनं भवति । स्वातन्त्र्यञ्च यथोक्तं भवति ॥ २१ ॥

**चक्रपाणिः**—“वशी यद्यसुखैः कस्माद् भावैराक्रम्यते” इत्यस्योत्तरम्—वशीत्यादि । वशी  
स्वेच्छाधीनप्रवृत्तिः इष्टेऽनिष्टे वात्मा, तेन वशी सन् अयं तानि कर्माणि करोति शुभान्यशुभानि  
वा आपातफलरागाद्, यानि कृत्वा तत्कर्मप्रभावात् शुभेनाशुभेन वा योगमाप्नोति । एतेन,  
कर्तव्ये कर्मण्यस्य वशित्वम्, कृतकर्मफलन्ववस्थानिच्छतोऽपि भवति । तेन, तत्प्रति नास्य  
वशित्वम् । अन्यदपि वशित्वफलमाह—वशी चेतः समाधत्त इति । अनिष्टेऽर्थे वशी सन् अयं  
मनो निवर्त्तयति । यदि ह्ययं वशी न स्यात्, न मनो निवर्त्तयितुं शक्नुयात् । अपरमपि  
वशित्वगमकं कर्माह—वशी सर्व्वं निरस्यतीति । वशी सन्नयं मोक्षार्थप्रवृत्तः सर्व्वारम्भं  
शुभाशुभफलं त्यजतीत्यर्थः । इह ‘स्वातन्त्र्य’ परात्मना ईश्वरादिना प्रेरितप्रवृत्तिरुच्यते । वशी  
तु स्वयमपि प्रवर्त्तमान इच्छावशात् प्रवर्त्तते, न प्रेरितप्रवृत्तिरूपत्वेन ईप्सिते वर्त्तते इति स्वातन्त्र्य-  
वशित्वयोर्भेदः ॥ २२ ॥

**चक्रपाणिः**—“सर्वाः सर्व्वगतत्वाच्च वेदनाः किं न वेत्ति सः” इत्यस्योत्तरमाह—देहीत्यादि ।  
सर्व्वगत इति सर्व्वगतोऽपि । संस्पर्शनेन्द्रिय इति संस्पर्शयुक्ते शरीरे वेदनाः सुखदुःखरूपा

विभुत्वमत एवास्य यस्मात् सर्वगतो महान् ।

मनसश्च समाधानात् पश्यत्यात्मा तिरस्कृतम् ॥

नित्यानुबन्धं मनसा देहकर्मानुपातिना ।

सर्वयोनिगतं विद्यादेकयोनावपि स्थितम् ॥ २४ ॥

किं न वेत्तीति प्रश्नस्योत्तरमाह—देहीत्यादि । हि यस्मात् सर्वगतोऽप्यात्मा देही रजस्तमोभ्यां मुग्धः स्वे स्वे संस्पृशेनेन्द्रिये स्वस्वसर्वा वेदना वेत्ति अतो देहितात् सर्वाश्रयस्थास्तु सर्वा वेदना न वेत्ति । एवमेवोक्तं स्मृतिशास्त्रे याज्ञवल्क्येन । वेत्ति सर्वगतां कस्मात् सर्वगोऽपि न वेदनाम् । सर्वाश्रयां निजे देहे देही विन्दति वेदनामिति ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—तर्हि कथं विभुः स्यादात्मा, विभुश्च चेत् कस्माच्छैलकुड्यतिरस्कृतं न पश्यतीत्यभिप्रेत्याह, न पश्यति विभुः कस्मात् शैलकुड्यतिरस्कृतमिति । तत्रोत्तरम्—विभुत्वमत एवेत्यादि । यस्मात् सर्वगतो महान् आत्मा एव विभुत्वमस्य न तु देहितात् । देहित्वे तु शैलकुड्यतिरस्कृतं न पश्यति । तर्हि देहित्वे कथं सर्वगत आत्मा स्यादित्यत आह—मनसश्चेत्यादि । अयमात्मा मनसः समाधानाद् योगे वर्तमानः समाधिं कुर्वन्नात्ममनसोः संयोगविशेषात् शैलकुड्यादिभिस्तिरस्कृतं सर्वं पश्यतीति सर्वगतस्तदा स्यात् । कथमेक-देहस्थः सर्वं मनसः समाधानात् पश्यतीत्यत आह—नित्यानुबन्धमित्यादि ।

वेत्ति, सर्वाश्रयस्थास्तु न वेत्तीति योजना । यस्मात् सर्वगतोऽयमात्मा स्वकीय एव स्पर्शन्वति शरीरे परं वेदना वेत्ति । तेन सर्वाश्रयस्थाः सर्ववेदना न वेत्तीति वाक्यार्थः । सर्वाश्रयस्था इति सर्वपरशरीरगताः । परशरीरे चात्मा स्वकर्मापार्जितेन्द्रियाभावाद् विद्यमानोऽपि न लभते सुखदुःख । स्वे स्वे शरीर इति वक्तव्ये, यत् संस्पृशेनेन्द्रिये इति करोति, तेन स्वशरीरेऽपि केशनखादौ स्पर्शनेन्द्रियं नास्ति, तत्र नात्मा किञ्चिदुपलभत इति दर्शयति ॥ २३ ॥

चक्रपाणिः—“न पश्यति विभुः कस्माद्” इत्यादिप्रश्नस्योत्तरं वक्तुं प्रवृत्तो विभुत्वसाधकार्थ-गुणहेतुप्राप्त्या विभुत्वमेव तावदात्मनः साधयति—विभुत्वमित्यादि । विभुत्वं सर्वगतपरिमाण-योगित्वम् । अत एवेत्युक्तसर्वगतत्वात् । एतदेव स्पष्टार्थं साक्षाद् ब्रूते—यस्मादित्यादि । सर्वगतत्वं सर्वतोऽप्युपलभ्यमानत्वेन सर्वगताकाशादिपरिमाणस्याप्यस्ति, तेन, तद्व्यवच्छेदार्थं ‘महान्’ इति पदम्, महापरिमाणयोगिद्रव्यं विभुरुच्यत इति फलति । विभुत्वं व्युत्पाद्यं कुड्यादि-तिरोहितात्मज्ञानं नैकान्तं भवतीति दर्शयन्नाह—मनसं इत्यादि । समाधानं समाधिः । अनेन योगिनः समाधिवलात् तिरोहितमपि पश्यन्तीति दर्शयति । ये तु तिरोहितं न पश्यन्ति,

आदिर्नास्त्यात्मनः क्षेत्र-पारम्पर्यमनादिकम् ।

अतस्तयोरनादित्वात् किं पूर्वमिति नोच्यते ॥ २५ ॥

देहिनात्मानं देहकर्मणुपातिना मनसा शरीरविशेषकर्मफलविशेषयोरनुरूपेण पतनशीलेन मनसा नित्यानुबन्धं न कदापि वियुक्तं तन्मनःसमाधानाद्देहि-  
र्विषयतो निवृत्तौ प्रसाराभावेनैकीभूतत्वादेकयोनावपि स्थितं सर्व्वयोनिगतं  
विद्यात् । ततः सर्व्वगतत्वं ततो विभुत्वञ्चेति ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—तदेवं विभुत्वान्मनसः समाधानात् सर्व्वं क्षेत्रं जानाति यतस्ततः  
क्षेत्रज्ञस्तत्रायं संशयः । क्षेत्रज्ञः क्षेत्रमेतयोः किं पूर्व्वम् । क्षेत्रज्ञश्चेत् पूर्व्वं कथं  
क्षेत्रं जानाति क्षेत्राभावात् । यदि क्षेत्रं पूर्व्वं ततः परं क्षेत्रज्ञस्तदा क्षेत्रज्ञो न  
ज्ञो भवति प्रागवर्त्तनाच्छब्दवर्त्तनाभावात् । इति प्रश्नस्योत्तरमाह—  
आदिरित्यादि । आत्मनः क्षेत्रज्ञस्यादिः प्रथमनिर्देशो नास्ति किमवधिरात्मास्ति  
क्षेत्राणाञ्च पारम्पर्य्यमव्यक्तान्महान् महतोऽहङ्कार इत्येवं परम्परमुत्पत्तिस्तस्यापि  
आद्यभावादनादिकं तत् पारम्पर्य्यम् । तयोरुभयोरत एवविधादनादित्वात् पूर्व्वं  
किमिति नोच्यते । यद्यप्येवमनादित्वं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोस्तथापि यथा खलवादि-  
संगेऽव्यक्तं नामात्मा बभूव यथा चाव्यक्तान्महदादिक्षेत्रं बभूव तत्-  
पारम्पर्य्यादौ क्षेत्रज्ञोऽव्यक्तं नामात्मा बभूव न क्षेत्रज्ञो नाम । ततः परं  
तस्मादव्यक्तात् क्षेत्रं यदा बभूव तस्य ज्ञानात् क्षेत्रज्ञो नाम बभूव । इति ।  
क्षेत्रज्ञत्वस्याभावेनाव्यक्तं प्रागासीत् ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते क्षेत्रज्ञनामं तु क्षेत्रे जाते  
बभूवेति ॥ २५ ॥

तत्रायुपपत्तिमाह—नित्येत्यादि । सर्व्वयोनिगतमप्यात्मानं मनसानुबन्धगतम् एकयोनावपि स्थितं  
विद्यादिति योज्यम् । देहानुवर्त्तकेन कर्मणा अनुपात आत्मना सम्बन्धो यस्य तेन, मनसा  
देहकर्मणुपातिना । एतेन यद्यप्यात्मा कुड्यादितिरोहितस्तथापि यदस्योपलब्धिधोसाधनं मनः,  
तस्यैकस्मिन्नेव शरीरे व्यवस्थितस्य व्यवधानात् “न पश्यत्ययं तिरस्कृतम्” इत्युक्तं भवति ॥ २४ ॥

चक्रपाणिः—“क्षेत्रज्ञः क्षेत्रमथवा” इत्यादिप्रश्नस्योत्तरम्—आदिरित्यादि । क्षेत्रपारम्पर्य्य-  
मिति क्षेत्रस्याव्यक्तवर्जितस्य महदादित्रयोविंशतिकस्य परम्परासन्ततेरनादित्वेनैव “क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरिदं  
प्रथमम्” इति व्यपदेशो नैव भवतीत्यर्थः । ननु यदि क्षेत्रपरम्पराप्यनादिस्तदात्मवदुच्छेदं  
नाप्नोति, यदनादिस्तन्नित्यं भवति, यथास्मेति दृष्टम् ; ब्रूमः—अनादित्वेऽपि यत् स्वरूपेण  
एवानादि, तत्रोच्छिद्यते, यथा आत्मा । यत् तु उच्छिद्धिधर्मकं बुद्ध्यादि, तदुच्छिद्यत एव, सन्तानस्तु,  
परमार्थतः सन्तानिभ्योऽतिरिक्तं नास्त्येव, यदनादिः स्यात् । तेन, सन्तानवादिवं भाक्तमेव ।  
किञ्चैवम्भूतस्य बुद्ध्यादिसन्तानस्योच्छेदे मोक्षप्रतिपादक आगम एव प्रमाणत्वेन ज्ञेयः ॥ २५ ॥



ज्ञः साक्षीत्युच्यते नाज्ञः साक्षी ह्यात्मा ह्यतः स्मृतः ।

सर्वो भावो हि सर्वेषां भूतानामात्मसाक्षिकः ॥ २६ ॥

नैकः कदाचिद् भूतात्मा लक्षणैरुपलभ्यते ।

विशेषोऽनुपलभ्यस्य तस्य नैकस्य विद्यते ॥

गङ्गाधरः—तर्हि क्षेत्रज्ञानाद् यच्च किञ्चित् करोति तत् सर्वं जानातीति साक्षिणमात्मानमाहुस्तत्र संशयः । साक्षिभूतश्च कस्यायं कर्त्ता ह्यन्यो न विद्यत इति । यस्मादात्मैव कर्त्ता न चान्यो महदादिः कोऽपि कर्त्ता, तस्मात् कस्य साक्षिभूतोऽयमात्मा भवतीति । तत्रोत्तरमाह—ज्ञः साक्षीत्यादि । यो जानाति स ज्ञः सुतरां साक्षीत्युच्यते, ज्ञस्त्वात्मा तत आत्मैव साक्षी न त्वज्ञो महदादिः । कस्य साक्षीत्यत आह—भूतानां सर्वेषां यस्मात् सर्वो भाव आत्मसाक्षिक आत्मैव यस्य साक्षी । यत उक्तम् । द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिपश्यताते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति । एकः क्रियां करोति तत् पिप्पलं च फलं स्वादु अत्ति अपरस्तदभिचाकशीति पश्यतीति, स आत्मा ज्ञः साक्षी । उक्तञ्च मनुना । योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते । यः करोति तु कर्म्मणि स भूतात्मोच्यते बुधैरिति ॥ २६ ॥

गङ्गाधरः—अथैवं साक्षी क्षेत्रज्ञश्चेदात्मा द्रष्टा न तु भोक्ता, तर्हि, स्यात् कथं वाऽविकारस्य विशेषो वेदनाकृत इति । आत्मा सर्वभूतेषु निर्विशेषो निर्विकारः कथं तस्याविकारस्य वेदनाकृतविकारेण विशेषो भवति, य एवास्मिन् देवदत्ते स एव यज्ञदत्तादिषु । तत्र देवदत्तो येन सुखी स्यान्न तेन

चक्रपाणिः—“साक्षिभूतश्च कस्यायम्” इत्यस्योत्तरम्—ज्ञ इत्यादि । ज्ञो ज्ञानवान् साक्षीति लोके कथ्यते, न त्वज्ञः पापाणादिः । तेन, न, ज्ञत्वेनासत्यन्यस्मिन् कर्त्तरि ‘साक्षी’ इत्युच्यते इति वाक्यार्थः । सर्वेषामिति खादीनाम्, सर्वे भावा इति मूलधर्मा दर्शनयोग्याः । आत्मसाक्षिका इति आत्मोपलभ्यमानाः ॥ २६ ॥

चक्रपाणिः—“कथञ्चाविकारस्य” इत्यादिप्रश्नस्योत्तरम्—नैक इत्यादि । अविकारस्य परमात्मनो

\* सर्वे भावा हि सर्वेषां भूतानामात्मसाक्षिकाः इति चक्रवर्तः पाठः ।

संयोगः पुरुषस्येष्टो विशेषो वेदनाकृतः ।

वेदना यत्र नियता विशेषस्तत्र तत्कृतः ॥ २७ ॥

चिकित्सति भिषक् सर्वास्त्रिकाला वेदना इति ।

यया युक्त्या वदन्त्येके सा युक्तिरुपधार्यताम् ॥

यश्च तत् इत्येवं प्रश्नस्योत्तरमाह—नैक इत्यादि । भूतात्मा भूतानामात्मा यदा खल्वेकः केवलो भवति न तदा लक्षणैरुपलभ्यते लक्षणाभावात् । अनुप-  
लभ्यस्यानुमानेनोपलब्धिरहितस्य तस्यैकस्य केवलस्य सर्वत्रैव विशेषो न  
विद्यते । संयोगः पुरुषस्यात्मन इतरैर्महदादिभिः सह योगो वेदनाकृतो  
विशेषः । कथम् ? वेदनेत्यादि । यत्र पुरुषे वेदना सुखदुःखात्मिका नियता  
एकान्तेन विद्यते तत्र वेदनाकृतो विशेष आत्मनि वर्तते । इत्येवं निर्विशेषस्य  
आत्मनः पुरुषस्य चतुर्विंशतिकत्वावस्थां गतस्य वेदनाकृतो विशेष इति ॥ २७ ॥

गङ्गाधरः—एवं वेदनाकृतविशेषविशिष्टस्य राशित्वावस्थिकस्य वेदनाभि-  
वर्त्तित्वे, संशयमाह—अथ चार्त्तस्य भगवंस्तिष्ठणां कां चिकित्सति । अतीतां  
वेदनां वैद्यो वर्त्तमानां भविष्यतीम् । भविष्यन्त्या असम्प्राप्तिरतीताया  
अनागमः । साम्प्रतिक्या अपि स्थानं नास्त्यर्त्तः संशयो ह्यतः । अथेत्यादि ।  
अथैवं वेदनाभिरार्त्तस्य पुरुषस्य तिसृणामर्त्तीनां कामत्ति भिषक् चिकित्सति ।  
किमतीतां वेदनां चिकित्सति अथवा वर्त्तमानां वेदनामथवा भविष्यन्तीमिति ।  
तिसृष्वपि चिकित्सा नोपपद्यते । कस्मात् ? भविष्यन्त्या वेदनाया असम्प्राप्तिः  
उत्पत्तिर्नास्ति कथं चिकित्सति ? अतीतायाश्च वेदनाया अनागम आगमनं

वेदनाकृतो विशेषो नास्त्येव, यत्र तु वेदनाकृतो विशेषः, स राशिरूपः परमानन्दव्यतिरिक्त एवेति  
वाक्यार्थः । भूतानामधिष्ठाता आत्मा भूतात्मा, अयमेको भूतव्यतिरिक्तो न लक्षणैः प्राणापाना-  
दिभिरुक्तैरुपलभ्यते । कृतो नोपलभ्यत इत्याह—विशेष इति । एकस्य भूतरहितस्य, यत्  
आत्मनो विशेषो वेदनादिनोपलभ्यत एव, तेन अनुपलब्धिरत्र प्रमाणमित्यर्थः । संयोगपुरुष-  
श्चतुर्विंशतिकः । नन्वेवमपि चतुर्विंशत्यन्तर्निविष्टस्य भूतात्मनो वेदनाकृतविशेषेण भवितव्यम्,  
यतः, समुदायधर्मः समुदायिनामेव भवति, यथा मापराशेर्गुरुत्वं प्रत्येकं मापाणामेव गौरवेण  
भवतीत्याह—वेदनेत्यादि । वेदना सुखदुःखरूपा । यत्र बुद्ध्यादिसमूहे नियता व्यवस्थिता  
वेदना, तत्कृतो दैन्यहर्षादिविशेषोऽपि तत्रैव नियतः, तत्रैव बुद्ध्यादिशौ वर्त्तते, नात्मनीति भावः ।  
बुद्ध्यादिगतेनैव गुणत्रयपरिणामरूपेण सुखदुःखादिना सुखदुःखादिमानेवायमात्मा, तदसम्बन्धात्  
सुखदुःखादिमान् भवति ॥ २७ ॥

पुनस्तच्छिरसः शूल उवरः स पुनरागतः ।  
 पुनः स कासो वलवांश्छर्दिः सा पुनरागता ॥  
 एभिः प्रसिद्धवचनैरतीतागमनं मतम् ।  
 कालश्चायमतीतानामर्त्तीनां पुनरागतः ॥  
 तमर्त्तिकालमुद्दिश्य भेषजं यत् प्रयुज्यते ।  
 अतीतानां प्रशमनं वेदनानां तदुच्यते ॥ २८ ॥  
 आपस्ताः पुनरागुर्या ॥ याभिः शस्यं पुरा हतम् ।  
 तथा प्रक्रियते सेतुः प्रतिकर्म तथाश्रये ॥  
 पूर्वरूपं विकाराणां दृष्ट्वा प्रादुर्भविष्यताम् ।  
 या क्रिया क्रियते सा च वेदनां हन्त्यनागताम् ॥ २९ ॥

नास्ति कान्तु चिकित्सति । साम्प्रतिकया वर्त्तमानाया अत्तरपि शीघ्रगतः-  
 स्वभावात् स्थानं क्षणमपि स्थितिर्नास्ति क्षणे क्षणे नश्वरत्वात् । अतो हि  
 संशय इति प्रश्नः । तस्योत्तरमुवाच—चिकित्सतीत्यादि । भिषक् त्रिकालाः  
 सर्वा वेदनाश्चिकित्सतीत्येके यथा युक्त्या वदन्ति, सा युक्तिमेतत् उपधायताम् ।  
 अतीतानां वेदनानां तत् प्रशमनमुच्यते । पुनस्तच्छिरसः शूलमभूद् यच्छिरः-  
 शूलं पूर्वरूपमभूदित्येवमादिभिर्लोके प्रसिद्धवचनैरतीतानामागमनं मतम्  
 सर्वेषां सम्मतम् । अत एवातीतानामर्त्तीनां स कालः पुनरागतस्तं कालमुद्दिश्य  
 यद् भेषजं प्रयुज्यते तदतीतानां वेदनानां प्रशमनं चिकित्सोच्यते ॥ २८ ॥

गङ्गाधरः—इत्यतीतवेदनाचिकित्सायां युक्तिं दर्शयित्वा भविष्यद्वेदना-  
 चिकित्सायां युक्तिं दर्शयति—आपस्ता इत्यादि । याभिरद्भिः पुरा शस्यं  
 हतं ता आपः पुनरागुरागमन् । यथाधुना ताभिरद्भिः शस्यं न हनिष्यते  
 तथा सेतुः प्रक्रियते, तथा रोगाणां शारीरमानसानामाश्रये शरीरे मनसि च  
 यथा व्याधिभिः पूर्वं पीडितो जनस्तथा न पीडयिष्यतेऽधुनेत्येवं प्रतिकर्म  
 चिकित्सा क्रियते । तद् यथा—पूर्वरूपमित्यादि । विकाराणां पूर्वरूपं

चक्रपाणिः—‘अथ वाचस्य’ इत्यादिप्रश्नस्योत्तरमाह—चिकित्सतीत्यादि । अतीतवेदनाचिकित्सां  
 न मुख्या, किन्तु लोकसिद्धोपचारेणोच्यते इति वाक्यार्थः । प्रसिद्धवचनैरिति लोकप्रसिद्धवचनैः

पारम्पर्यानुबन्धस्तु दुःखानां विनिवर्तते ।

सुखहेतूपचारेण सुखश्चापि प्रवर्तते ॥

न समा यान्ति वैषम्यं विषमाः समतां न च ।

हेतुभिः सदृशा नित्यं जायन्ते देहधातवः ॥

युक्तिमेतां पुरस्कृत्य त्रिकालां वेदनां भिषक् ।

हन्तीत्युक्ता चिकित्सा सा नैष्ठिकी या विनोपधाम् ॥ ३० ॥

दृष्ट्वा प्रादुर्भविष्यतां विकाराणां या क्रिया क्रियते सा क्रिया चिकित्साऽनागतं भविष्यन्तीं वेदनां हन्तीति ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः—अथ वर्त्तमानवेदनाचिकित्सायां युक्तिं दर्शयति—पारम्पर्य-  
त्यादि । दुःखानां वर्त्तमानानां व्याधीनां शीघ्रगलस्वभावेऽपि भावानां  
प्रतिक्षणं भङ्गे पूर्वभावस्य हेतवो यादृशाः समा विषमा वा त उत्तरावस्थामपि  
पूर्वभावेणैवारभमाणा आरम्भका नश्यन्तीति पूर्वभावस्य पारम्पर्यानुबन्धो  
विनिवर्तते सुखहेतूपचारेण सुखश्चानुवर्तते विषमपूर्वभावहेतुनाशात् सम-  
भावेन पूर्वभावोत्पादनाद् वर्त्तमानानां वेदनानां चिकित्सा क्रियते । कुत इत्यत-  
आह—न समा इत्यादि । देहधातवो नित्यं हेतुभिः सदृशा जायन्ते । न  
समा देहधातवो वैषम्यं यान्ति समहेतुभिः । विषमा देहधातवश्च विषम-  
हेतुभिर्न समतां यान्ति । तस्माद्वातुवैषम्ये साम्यहेतुक्रिया क्रियते इति ।  
युक्तिमित्यादि । एतामुक्तां युक्तिं पुरस्कृत्य भिषक् त्रिकालां वेदनां हन्तीति—  
प्रतिकर्म चिकित्सा । आश्रय इति शरीरे । पूर्वरूपमित्यादिना अनागतवेदनाचिकित्सां  
समर्थयते । पूर्वरूपं यद्यपि भविष्यतामेव भवति रोगाणाम्, तथापि ‘भविष्यताम्’ इति पदेन,  
भूतेऽपि व्याधौ यानि रूपाणि भवन्ति, तानि निराकरोति । उक्तं हि—“प्राक् सन्तापादपि चैनं  
सन्तापार्त्तमनुब्रूयन्ति” इत्यनेन रोगावस्थायामपि पूर्वरूपसदभावः । एवमतीतानागतवेदना-  
चिकित्सा व्युत्पादिता । वर्त्तमानचिकित्सामपि दर्शयन् पारमार्थिकं मतमाह—पारम्पर्येत्यादि ।  
पारम्पर्यानुबन्धः सन्तानन्यायेनानुबन्धः । दुःखानामिति रोगाणाम् । सुखहेतूपचारेण इत्यारोग्य-  
हेतुचिकित्सासेवया । सुखमित्यारोग्यम् । एवं मन्यते यत्—चिकित्सा सुखहेतुः सेव्यते, तदा  
दुःखहेतुसेवाभावात् दुःखं नोत्पद्यते, उत्पन्नञ्च दुःखं रोगरूपं क्षणभङ्गित्वेन स्वयमेव नश्यति । सुख-  
हेतुसामिध्यात् सुखमारोग्यमुत्पद्यते । तेन चिकित्सया अनागतं दुःखं हेतुप्रतिबन्धात् निरुध्यते  
सुखञ्च जन्यते इति सिद्धान्तः । एतदेवाह—न समा इत्यादि । समाश्च विषमाश्च क्षणभङ्गित्व-  
स्वभावाच्च वैषम्यावस्थां साम्यावस्थां वा यान्तीत्यर्थः । हेतुभिः सदृशा इति समहेतोः समा, अथ

उपधा हि परो हेतुर्दुःखदुःखाश्रयप्रदः ।

त्यागः सर्वोपधानाश्च सर्वदुःखव्यपोहकः ॥

कोषकारो यथा हंशूनुपादत्ते वधप्रदान् ।

उपादत्ते तथार्थेभ्यस्तृष्णामज्ञः सदातुरः ॥

यस्त्वग्निकल्पानर्थान् ज्ञो ज्ञात्वा तैभ्यो निवर्त्तते ।

अनारम्भादसंयोगात् तं दुःखं नोपतिष्ठते ॥ ३१ ॥

त्रिकालवेदनाचिकित्सोक्ता । सा तु नैष्ठिकी चिकित्सा या चिकित्सा उपधां विना । इच्छाद्वेपात्मिका हि तृष्णैवोपाधिः । तदिच्छाद्वेपरूपोपाधिविनाशिनी या चिकित्सा सा नैष्ठिकी निष्ठां निश्चित्य स्थित्यर्थमपुनर्भावाथ या सा नैष्ठिकी मोक्षसाधिनी ॥ ३० ॥

गङ्गाधरः—कस्मात् ? उपधा हीत्यादि । हि यस्यात् । दुःखदुःखाश्रय-  
प्रदः परो हेतुरुपधा । इहायत्र सुखानां नश्वरत्वाद् विविधदुःखहेतुपुनर्जन्मकारण-  
त्वाच्च ज्ञानवद्भिर्दुःखपक्षे प्रक्षेपात् सर्वाणि सुखान्यपि दुःखान्युच्यन्ते । तेन  
सुखदुःखोभयात्मकं दुःखं तदुभयात्मकदुःखाश्रयशरीरग्रहणश्च प्रददाति यः  
परो हेतुः सा खलु उपधैव इच्छाद्वेपात्मिका तृष्णा । अत एव सर्वोपधानां  
निखिलेच्छाद्वेपाणां त्यागः सर्वदुःखानां शारीरमानससुखदुःखानां व्यपोहकः  
नाशकः । उपधा कथं दुःखदुःखाश्रयं प्रददातीत्यत आह—कोपकार इत्यादि । यथा  
कोपकारः कीटः स्वस्यैव वधप्रदानं शून् मृत्राण्युपादत्ते तथैवाज्ञः पुरुषः स्वस्यैव  
वधप्रदानं तृष्णामिच्छाद्वेपरूपामर्थेभ्य उपादत्ते सदातुरश्च भवति । कं पुनर्दुःखं  
नोपतिष्ठत इत्यत आह—यस्त्वित्यादि । यस्तु ज्ञः पुरुषोऽग्निकल्पानर्थान् ज्ञात्वा

विषमहेतोश्च विषमाः । एतच्चिकित्साप्राभृतीयेऽध्याये प्रपञ्चितमेव । चिकित्साप्रस्तावेन सकल-  
दुःखहारिणीं चिकित्सां मोक्षफलमाह—चिकित्सा सेत्यादि । निष्ठा अत्यन्तदुःखमोक्षरूपा, तदर्थं  
भूता नैष्ठिकी । विनोपधामिति तृष्णां विना, तृष्णाशून्या प्रवृत्तिः मोक्षफला भवतीत्यर्थः ॥ २८—३०

चक्रपाणिः—परो हेतुरिति मूलकारणम् । दुःखरूपेणैव दुःखाश्रयः शरीरम् । भोगतृष्णया  
हि प्रवर्त्तमानो धर्माधर्मान् दुःखशरीरोत्पादकानुपादत्ते । सर्वोपधात्यागात् तु न रागद्वेषाभ्यां  
कचित् प्रवर्त्तते । अप्रवर्त्तमानश्च न धर्माधर्मानुपादत्ते, एवमनागतधर्माधर्मोपरमः, उपात्त-  
धर्माधर्मयोस्तु अनुरागशून्यस्योपभोगादेव क्षयः । तेन, सर्वथा कर्मक्षयात् दुःखशरीराभाव इति  
भावः । अत्रैव तृष्णायां दुःखकारणत्वे दृष्टान्तमाह—कोपकार इत्यादि । कोपकारः स्वनामप्रसिद्धः

धीधृतिस्मृतिविभ्रंशः सम्प्राप्तिः कालकर्मणाम् ।

असात्म्यार्थागमश्चेति ज्ञातव्या दुःखहेतवः ॥

तेभ्योऽर्थेभ्यो निवृत्तते तं च पुरुषं त्यक्तकर्माणं क्रियाया अनारम्भात् कर्मफलैः सह संयोगाभावात् दुःखं सुखदुःखयोगात् दुःखं पुनर्जन्म नोपतिष्ठते इति ॥ ३१ ॥

गङ्गाधरः—अथ भोः पूर्वमुक्तं कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च । द्वायाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रह इति : तद्विवरणञ्च तिस्रैः पणीये प्रोक्तम्, इह तु दुःखदुःखाश्रयप्रदो हेतुरपथा तृष्णा प्रोक्तस्तर्हि पृच्छामि, कारणं वेदनानां किमिति ? तत्रोत्तरं विस्तरेणोक्तमनुवादरूपं नातो भवति पुनरुक्तमिति । तद् यथा—धीधृतीत्यादि । पूर्वं बुद्धेरयोगातियोगमिथ्या-योगभेदेन यस्त्रिविधो योग उक्तस्तत्र बुद्धिस्त्रिविधा धीधृतिस्मृतिभेदेन, स च त्रिविधो योगो विभ्रंश इति धीधृतिस्मृतिविभ्रंश एकः । सम्प्राप्तिः कालकर्मणामिति । पूर्वं कालस्यायोगातियोगमिथ्यायोगभेदात् त्रिविधः कालस्य यो योग उक्तः, तत्र कालशब्देन शीतोष्णवर्षलक्षणः कालविशेषः कालविशेष परिणतभावश्च विवक्षितः स चात्र व्यज्यते कालकर्मणां सम्प्राप्तिः अयोगातियोगमिथ्यायोगरूपोऽसम्यग्योगः । इति द्वितीयः । असात्म्यार्थागमश्चेति । असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग इन्द्रियार्थायोगातियोगमिथ्यायोगरूपोऽसम्यगिन्द्रियार्थयोगः इति त्रयो दुःखहेतवो ज्ञातव्या न तु सुखदुःखोभयात्मकदुःख-

कीटः । सदातुर इति सदा संसारदुःखगृहीतः । अनारम्भादिति रागद्वेषपूर्वकारम्भविरहान् । असंयोगादिति आरम्भशून्यत्वेन धर्माधर्मोच्छेदकृतात् शरीरासंयोगात् । शरीराभावे च निराश्रयमकारणकं दुःखं न भवतीति भावः ॥ ३१ ॥

चक्रपाणिः—“कारणं वेदनानां किम्” इत्यस्योत्तरमाह—धीधृतीत्यादि । अयञ्ज्ञार्थः प्रकरणागतत्वाद्ध्यमानो न पुनरुक्ततामावहतीति । धीधृतिस्मृतयः पुनः प्रज्ञाभेदाः । गृते च क्षिप्यव्युत्पत्त्यर्थं प्रज्ञाभेदत्वेनान्यथा व्युत्पादयता इहोच्यन्ते । संप्राप्तिः कालकर्मणामिति कालस्य संप्राप्तिस्तथा कर्मणश्च सम्प्राप्तिः । कर्मसम्प्राप्तिः पच्यमानकर्मयोगः । कालसम्प्राप्तिग्रहणेन चेह ये कालव्यक्तास्ते गृह्यन्ते, नावश्यं कालजन्याः ; यतः स्वाभाविकानपि कालजन्यान् तथा तृतीयकादीनप्यासात्म्येन्द्रियार्थादिजन्यान् कालजत्वेनैवेहाभिधास्यति । कर्मजास्तु प्रज्ञापराभजन्या एवेह कर्मजन्यत्वेन विशेषेण क्षिप्यव्युत्पत्तिनिमित्तं पृथक् क्रियन्ते, कालव्यक्तत्वेन कर्मजा इह कालसम्प्राप्तिजन्येभ्यो रोद्धव्याः । प्रज्ञापराभावरोधाच्च यथा कर्मजानाम्, तथा प्रथमाध्याय एवोक्तम् । किञ्चाचार्य्येणोन्मादनिदाने

विषमाभिनिवेशो यो नित्यानित्ये हिताहिते ।

ज्ञेयः स बुद्धिविभ्रंशः समं बुद्धिर्हि पश्यति ॥

विषयप्रवलं \* चित्तं धृतिभ्रंशान्न शक्यते ।

नियन्तुमहितादर्थान् धृतिर्हि नियमात्मिका ॥

हेतवः । वक्ष्यते ह्यत्रैव सुखहेतुर्मतस्त्वेकः समययोगः सुदुर्लभ इति । ननु कोधीभ्रंश इत्यत आह—विषमेत्यादि । हिताहिते नित्यानित्ये च कर्मणि काले चार्थे च बुद्धेर्यो विषमाभिनिवेशोऽयोगातियोगमिथ्यायोगरूपः स बुद्धिविभ्रंशो ज्ञेयः । अनेन बुद्धिभ्रंशेन यथाविहितकर्मण्यथावज्ज्ञानं भवति तेन धर्मविरुद्धसुखजनकं भावमिच्छति धर्म्यकर्मजसुखजनकं भावं द्वेष्टीत्येवं तृष्णा भवति । तया तृष्णया विषमवाङ्मनःशरीरप्रवृत्तिर्भवति ततो व्याधिः भवतीत्युक्तस्तिष्यणीये कम्म वाङ्मनःशरीरप्रवृत्तिरित्यादिना । साध्वी बुद्धिः खलु हि यस्मात् समं पश्यति हिताहिते नित्यानित्ये कर्मणि काले चार्थे च समययोगस्तस्मिंस्तदेवमेव पश्यति तद् यथार्थदर्शिनी बुद्धिः । अनेन बुद्धिसमयोगेन यथाविहितकर्मणि यथावज्ज्ञानं भवति । तेन धर्म्यकर्मजसुखमिच्छत्यधर्म्यकर्मजसुखं द्वेष्टीत्येवं तृष्णा भवति, तया तृष्णया धर्म्याणि कर्माणि कर्त्तुं समा वाङ्मनःशरीरप्रवृत्तिर्भवति । तत आरोग्यं सुखञ्चेह परत्र च भवति । काले चार्थे च धीभ्रंशो दर्शयिष्यते परिणामासात्म्येन्द्रियार्थसंयोगश्चेति ।

अथ का धृतिः कश्च धृतिभ्रंश इत्यत आह—विषयप्रवलमित्यादि ।

स्वयमेवोक्तम् यत्—“प्रज्ञापराधात् समूते व्याधौ कर्मज आत्मनः” इत्यादि । तथा जनपदोद्ध्वंसनीये च विमाने पुनरुक्तम्—“वायवादीनाञ्च वैगुण्यमुत्पद्यते, तस्य मूलमधर्मस्तमूलं वा पूर्वकृतं कर्म, तयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव” इति । तस्मादिह ‘सम्प्राप्तिः कालकर्मणाम्’ इत्यनेन कालजन्या गदा नोच्यन्ते किन्तु कालव्यक्ताः ।

धीविभ्रंशं विवृणोति—विषमेत्यादि । विषमाभिनिवेशोऽयथाभूतत्वेनाध्यवसानम्—नित्येऽनित्यमिति । एवं हितेऽहितमहिते च हितमिति या बुद्धिः, स बुद्धिभ्रंशः । अथ कथमयं बुद्धिविभ्रंशशब्देनोच्यत इत्याह—“समं बुद्धिर्हि पश्यति” उचिता बुद्धिः समं यथाभूतं यस्मात् पश्यति, तस्मादसमदर्शनं बुद्धिविभ्रंश उचित एवेत्यर्थः ।

धृतिभ्रंशमाह—विषयेत्यादि । विषयप्रवणं विषयेषु सङ्गतम् । नियन्तुमिति व्यावर्त्तयितुम् ।

\* विषयप्रवणमिति बहुषु ग्रन्थेषु पाठः ।

तत्त्वज्ञाने स्मृतिर्यस्य रजोमोहावृतात्मनः ।

भ्रश्यते स स्मृतिभ्रंशः स्मर्त्तव्यं हि स्मृतौ स्थितम् ॥ ३२ ॥

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम् ।

प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम् ॥

विषयेषु प्रबलं चिन्त्यसङ्कल्पादिषु बलवच्चित्तमहितादर्थात् कर्मणः कालादर्थान् नियन्तुं निग्रहीतुं न पुंसां शक्यते । इति विषय-प्रबलचित्तनिग्रहासामर्थ्यं धृतिभ्रंशो धृतेरयोगातियोगमिथ्यायोगरूपः । का पुनः धृतिरित्यत आह—धृतिर्हि नियमात्मिकेति । विषयप्रबलचित्तनिग्रह-कारिणी शक्तिर्धृतिः । धीभ्रंशाद्विषयकर्मणि प्रवर्त्तमानं चित्तं धृत्या नियम्यते । धृतिभ्रंशात् तु विषयकर्मणीच्छा भवति । यत आपाततः सुखं स्याद् यतो दुःखं स्यात् तत्र न द्वेषो भवतीत्येवं तृष्णा भवति । तथा तृष्णया विषयवाङ्मनःशरीरप्रवृत्तिर्भवति ततो व्याधिः स्यात् । धृत्या तन्मनोनिग्रहे विषयप्रवृत्त्यभावादारोग्यं सुखञ्च भवति । अथ कः पुनः स्मृतिभ्रंशः का च स्मृतिरित्यत आह—तत्त्वज्ञान इत्यादि । यस्य रजोमोहावृतात्मनो रजस्तमो-ऽभिभूतचेतसः पुरुषस्य तत्त्वज्ञाने तस्मिंस्तदित्येवं यथार्थज्ञाने स्मृतिभ्रंश्यते, स स्मृतिभ्रंशः, स्मृत्ययोगातियोगमिथ्यायोगरूपः । कुत इत्यत आह—स्मर्त्तव्यं हि स्मृतौ स्थितमिति । यत्किञ्चित् स्मर्त्तव्यं स्मृतिविषयं तत् स्मृतावभ्रष्टायां स्थितमित्येवं स्मृतिसमयोगाद् धीधृतिभ्रष्टः कर्मसु विषयेषु प्रवर्त्तमानो यथार्थ स्मृत्वा ततो निवर्त्तते, नाशुभं कर्म करोति । स्मृतिभ्रंशे तत्र तथात्वेन ज्ञानाभावेऽयथार्थसुखमिच्छति यथार्थसुखं द्वेष्टीत्येवं तृष्णा भवति, तथा तृष्णया विषयवाङ्मनःशरीरप्रवृत्तिर्भवति, ततो व्याधिर्भवति । स्मृत्या तत्र यथार्थ-स्मरणाद् अयथार्थाकरणादारोग्यं सुखञ्च भवतीति ॥ ३२ ॥

गङ्गाधरः—इत्येवं धीधृतिस्मृतिभ्रंशाद् यद्भवति तदाह—धीधृतीत्यादि ।

धृतिर्हि नियमात्मिकेति, यस्मात् धृतिरकार्यप्रसक्तं मनो निवर्त्तयति स्वरूपेण, तस्मान्मनोनियमनं कर्तुमशक्ता धृतिः स्वकर्मभ्रष्टा भवतीत्यर्थः ।

स्मृतिभ्रंशं विवेचयति—तत्त्वज्ञाने स्मृतिर्यस्य भ्रश्यत इति योजना । ‘स्मर्त्तव्यं हि स्मृतौ स्थितम्’ इति स्मर्त्तव्यत्वेन सम्मतस्यार्थस्य स्मरणं प्रशस्तस्मृतिधर्मः । तत्र तत्त्वज्ञानस्य शिक्षायां स्मर्त्तव्यत्वेन स्मर्त्तव्यस्य यदस्मरणम्, तत् स्मृत्यपराधाद् भवतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

चक्रपाणिः—एवं बुद्ध्यादिभ्रंशत्रयरूपप्रज्ञापराधत्वेन दर्शयन्नाह—धीत्यादि । ‘सर्वदोष’-



उदीरणं गतिमतामुदीर्णानाञ्च निग्रहः ।  
 सेवनं साहसानाञ्च नारीणाञ्चातिसेवनम् ॥  
 कर्मकालातिपातश्च मिथ्यारम्भश्च कर्मणाम् ।  
 विनयाचारलोपश्च पूज्यानाञ्चाभिधर्पणम् ॥  
 ज्ञातानां स्वयमर्थानामहितानां निषेवणम् ।  
 परमौन्मादिकानाञ्च प्रत्ययानां निषेवणम् ॥  
 अकालादेशसञ्चारो मैत्री संक्लिष्टकर्मभिः ।  
 इन्द्रियोपक्रमोक्तरय सद्वृत्तस्य च वर्जनम् ॥  
 ईर्ष्यामानभयक्रोध-लोभमोहसदभ्रमाः ।  
 तज्जं वा कर्म यत् क्लिष्टं क्लिष्टं यद् देहकर्म च ॥

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः पुरुषो यदशुभं कर्म कुरुते वाङ्मनःशरीरप्रवृत्तिं कुरुते, तं प्रज्ञापराधं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणमिति । एवं धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टश्च सन् यत् कालार्थानामयोगातियोगमिथ्यायोगयुक्तं कर्म कुरुते तमपि प्रज्ञापराधमाह— उदीरणमित्यादि । गतिमतां सूत्रपुरीपादीनामप्रवृत्तानामुदीरणं प्रवर्त्तनम् । इति कर्मकालातियोगः । तेषामेवोदीर्णानां प्रवर्त्तमानानां निग्रहोऽप्रवर्त्तनं कर्मकाला-योगः । साहसादीनां सेवनमपि कर्मकालातियोगः । एवं यद्यत्कर्मणो यः कालस्तस्यातिपातोऽतिक्रमः । तथा कर्मणां मिथ्यारम्भोऽप्यथाविधिनारम्भः । विनयाचारलोपश्च पूज्यानाञ्चाभिधर्पणम् । स्वयं ज्ञातानामर्थानामहितानां सेवनम् । औन्मादिकानां प्रत्ययानामुन्मादबुद्धिकराणां हेतूनां सेवनम् । अकाले चादेशे च सञ्चारः । संक्लिष्टकर्मभिर्मैत्री मित्रताकरणम् । इन्द्रियोपक्रमणीयोक्त-सद्वृत्तस्य वर्जनम् । ईर्ष्यादयः ईर्ष्यादिजञ्च यत् क्लिष्टं कर्म न त्वक्लिष्टं, यदुक्तं हेतावीष्युः फले नेष्युरित्यादिकमक्लिष्टम् । देहकर्म च यत् क्लिष्टम् ।

शब्देन वातादयो रजस्तमसी च गृह्यन्ते । कर्मकालातिपातश्चिकित्साकालातिवर्त्तनम् । मिथ्यारम्भ इति मिथ्यायोगः, अयोगातियोगमिथ्यायोगरूपः । विनयाचारलोपेनैव प्राप्तमपि यत् पुनः पूज्यानामभि-धर्पणाद्यभिधीयते, तद्विशेषेण प्रकोपख्यापनार्थमुदाहरणार्थञ्च । संक्लिष्टकर्मभिरिति पतितैः ।

यच्चान्यदीदृशं कर्म रजोमोहसमुत्थितम् ।  
 प्रज्ञापराधं तं शिष्टा ब्रुवते व्याधिकारणम् ॥  
 बुद्ध्या विषमविज्ञानं विषमञ्च प्रवर्त्तनम् ।  
 प्रज्ञापराधं जानीयान्मनसो गोचरं हि तत् ॥ ३३ ॥  
 निर्दिष्टा कालसम्प्राप्तिर्व्याधीनां हेतुसंग्रहे ।  
 चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीनां यथा पुरा ॥  
 मिथ्यातिहीनलिङ्गाश्च वर्षान्ता रोगहेतवः ।  
 जीर्णभुक्तप्रजीर्णान्न-कालाकालस्थितिश्च या ॥

अनुक्तमुपसंहति—यच्चान्यदित्यादि। बुद्ध्या विषमविज्ञानमिति धीधृतिस्मृतिभिः  
 बुद्धिभिः। एतं यावन्तं प्रज्ञापराधं तन्मनसो गोचरं विषयं जानीयात् इति  
 धीधृतिस्मृतिविभ्रंशो बुद्धेरयोगातियोगमिथ्यायोगरूप उदाहृतः ॥ ३३ ॥

गङ्गाधरः—अथ क्रमिकत्वात् सम्प्राप्तिः कालकर्मणामुदाह्रियते—निर्दिष्टा  
 कालसम्प्राप्तिरित्यादि। दीर्घजीवितीयाध्याये व्याधीनां हेतुसंग्रहे काल-  
 बुद्धीन्द्रियार्थानामिति वचने कालसम्प्राप्तिः कालस्यायोगातियोगमिथ्यायोग-  
 रूपा निर्दिष्टा, व्याधिहेतुरेकस्तत्र तस्य विवरणं पित्तादीनां चयप्रकोपप्रशमा  
 चर्मादिषु यथा निर्दिष्टाः, तिस्रैषणीये च मिथ्यायोगातियोगहीनयोगलिङ्गा  
 वर्षान्ताः काला रोगहेतवो निर्दिष्टाः, जीर्णान्नस्य कालाकालस्थितिर्या,  
 भुक्तान्नस्य भुक्तमात्रान्नस्य या कालाकालस्थितिः, प्रजीर्णान्नस्य जर्णा-

लिष्टमिति निन्दितम्। संक्षेपेण प्रज्ञापराधं दर्शयन्नाह—बुद्धेः इत्यादि। विषममित्यनुचितम्, विषमं  
 विज्ञानं स्वरूपत एव प्रज्ञापराधः। विषमप्रवर्त्तनञ्च ‘प्रज्ञापराध’शब्देनोच्यते। मनसो गोचरं  
 तदिति, तद् विषमप्रवर्त्तनं विषमज्ञानञ्च मनःकार्यं प्रज्ञाविषयत्वेन मनसो गोचरमित्यर्थः।  
 विषमप्रवर्त्तनञ्च मनसो गोचरत्वेन उपचारादुक्तम्, विसदृशमनोविषयज्ञानाद् विषमवाग्देहप्रवृत्ति-  
 रूपं भवति ॥ ३३ ॥

चक्रपाणिः—व्याधीनां कालसम्प्राप्तिमाह—निर्दिष्टेत्यादि। व्याधिसंग्रह इति क्रियन्तः-  
 शिरसीये “चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीनां यथाक्रमम्। भवन्त्येकैकशः पट्सु कालेष्वग्रागमादिषु” ॥  
 इत्यनेन यथा हुज्जदाहरणेन च। तेन कालसम्प्राप्तिर्व्याधीनां चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीनां पुरा  
 निर्दिष्टा इति योज्यम्। उदाहरणान्तरमाह—मिथ्येत्यादि। जीर्णादौ जीर्णान्नस्यत्रयविशिष्टस्य

पूर्वमध्यापराह्णाश्च रात्र्या यामास्त्रयश्च ये ।  
 येषु कालेषु नियता ये रोगास्ते च कालजाः ॥  
 अन्येदुष्णको द्व्यहग्राही तृतीयकचतुर्थकौ ।  
 स्वे स्वे काले प्रवर्तन्ते काले हेयपां वलागमः ॥  
 एते चान्ये च ये केचित् कालजा विविधा गदाः ।  
 अनागतै चिकित्स्यास्ते चलकालौ विजानता ॥ ३४ ॥

रम्भान्नस्य पच्यमानस्य या कालाकालस्थितिः, पूर्वाह्नः कफस्य मध्याह्नः  
 पित्तस्यापराह्णः पवनस्य तथा रात्र्याः पूर्वाह्नेयामादृद्धं मध्याह्ने च शेषार्द्धयामात्  
 ये यामास्त्रयः कफपित्तवातानां काला उक्ताः, तत्र येषु कालेषु ये दोषास्तेषु  
 कालेषु तज्जा ये रोगा नियतास्ते रोगाः कालजाः, एवमन्येदुष्णकादयो ये रोगाः  
 स्वे स्वे काले प्रवर्तन्ते वेगागमश्चैवामन्येदुष्णकादीनां स्वे स्वे काले भवतीति  
 कालसम्प्राप्तिर्व्याधिहेतुः, एते चान्ये च ये केचिद्विधाः कालजा गदास्तेषां  
 चलकालौ विजानता भिषजा खल्वनागते भविष्यति वेगागमकाले पूर्व्वं ते

अन्नस्य कालः, तथा अन्नस्याकालोऽजीर्णवस्थालक्षितः । प्रजीर्णञ्च विदग्धम् । रात्रेः  
 यामास्त्रयश्च य इति, त्रयो भागाः पूर्व्वरात्रमध्यरात्रपररात्ररूपाः, न तु यामः प्रहर इति ज्ञेयम् ।  
 अन्यत्रापि च भागत्रये यामत्रिभागं कृत्वा अभिधानशास्त्रे त्रियामा निशा अभिधीयते । तेषु  
 कालेष्विति जीर्णान्नकालादिषु जीर्णं अपराह्णे रात्रिशेषे च वातिका गदाः, भुक्तमात्रे पूर्वाह्णे पूर्व्व-  
 रात्रे च कफजा गदाः, प्रजीर्णं मध्याह्ने मध्यरात्रे च पित्तजा गदा नियता रोगा ज्ञेयाः । अन्ना-  
 काले चाजीर्णलक्षणे भोजनात् त्रयो दोषा भवन्तीति ज्ञेयम् । किंवा जीर्णभुक्तप्रजीर्णकाला  
 इति च्छेदः, ते च जीर्णवस्थायुक्ताश्चकालाः पूर्व्ववदेव ज्ञेयाः, तथा 'कालस्थितिश्च या' इति  
 धोजना, 'कालस्थिति'शब्देन बाल्यादिवयस्त्रैविध्यमुच्यते । तत्र बाल्ये श्लैष्मिकाः, यौवने  
 पैत्तिकाः, वार्द्धक्ये वातिका गदा वर्द्धन्त इति ज्ञेयम् । विषमज्वरानपि कालविशेषप्रवर्त्तमानत्वेन  
 कालजे दर्शयन्नाह—अन्येदुष्णक इत्यादि । द्व्यहग्राही चतुर्थकविपर्य्ययः । वक्ष्यति हि—  
 'विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्य्ययः । मध्येऽहनी ज्वरयत्यादावन्ते च मुञ्चति ॥' कथं स्वकीय एव  
 काले प्रवर्त्तनमित्याह—काले हेयपां वलागमः इति, उक्त एव काले यस्माद् चलवन्तो भवन्ति,  
 तस्मात् तत्रैव सञ्जातवलाः सन्तो व्यज्यन्त इत्यर्थः ।

एतेषां चिकित्साकालक्रममाह—एते चेत्यादि । 'अन्ये च' इत्यनेनान्येऽपि कालविशेषप्रादु-  
 र्भाविणः शोथकुष्ठादीन् सूचयति ॥ ३४ ॥

कालस्य परिणामेन जरामृत्युनिमित्तजाः ॥

रोगाः स्वाभाविका दृष्टाः स्वभावो निष्प्रतिक्रियः ॥

निर्दिष्टं दैवशब्देन कर्म यत् पौर्वदेहिकम् ।

हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते ॥ ३५ ॥

चिकित्स्या भवन्ति । इति कालशब्देन सोऽपि कालो गृह्यते । ये पुनर्जरा-  
मृत्यादयोऽप्यनिमित्तजाः स्वाभाविका रोगा दृष्टास्तेऽपि कालस्य परिणामेन  
भवन्तीति कालजा उच्यन्ते । यौवनान्ते कालपरिणामेन जरा भवति, जरान्ते  
कालपरिणामेन मृत्युर्भवति । क्रमेणाहारकालपरिणामे मध्याह्नादिषु क्षुधा  
भवति, कालपरिणामे च निद्रा भवतीत्येवमादि । स्वभावो हि निष्प्रतिक्रियः ।  
स्वाभाविकव्याधेः प्रतिक्रिया नास्ति । ननु पूर्वार्ध्याये कालस्य त्रिविधयोग एव  
कालसम्प्राप्तिरुक्ता पुनरिह कर्मणां सम्प्राप्तिः, किं त्रिविधकारणादतिरिक्तं  
कारणमित्याशङ्क्याह—निर्दिष्टमित्यादि । दैवशब्देन पौर्वदेहिकं कर्मज-  
फलरूपं धर्माधर्मरूपं कर्म यन्निर्दिष्टं तद्विह कर्मशब्देनोच्यते । तेनेह  
जन्मनि यत् कर्म तत् प्रज्ञापराधजं प्रज्ञापराधारूपं पूर्वदेहेऽपि प्रज्ञापराधादेव  
अधर्म्यकर्म यद्यपि तथापि तत् कर्मफलं कालेन परिणतं रोगाणां हेतुरूप-  
लभ्यते । न तु सद्यः । इह देहे कृतं कर्म प्रज्ञापराधाद् यद् यद् भवति तद्विहैव  
जन्मनि यत् फलति तत् प्रज्ञापराधजत्वात् प्रज्ञापराधारूपं, यत् परलोके  
फलिष्यति तत् परजन्मनि कालान्तरे परिणामात् फलतीति काल एवाभिधीयते

चक्रपाणिः—स्वाभाविकानपि कालपरिणामव्ययमानतया इह कालजेऽवरोधयितुमाह—

कालस्येत्यादि । जरामृत्युरूपाग्निमित्तज्जाता जरामृत्युनिमित्तजाः, 'मृत्यु'शब्देनेह युगानुरूपायुः-  
पर्यवसानभवः कालमृत्युर्ग्राह्य । किंवा, जरामृत्योर्योगिनिमित्तम्, तस्माज्जाता जरामृत्यु-  
निमित्तजाः, जरामृत्युनिमित्तञ्च प्राणिनां साधारणं देहनिवर्तकमृतस्वभावोऽदृष्टञ्च । अथ  
स्वाभाविकानां का चिकित्सेत्याह—स्वभावो निष्प्रतिक्रिय इति । साधारणचिकित्सया रसायन-  
वर्जं जरा न प्रतिक्रियते, रसायनेन तु प्रतिक्रियत एव । तेन, “अस्य प्रयोगाच्छयवनः सुवृद्धो-  
ऽमृतं पुनर्युवा” इत्यादिरसायनप्रयोगेण समं न विरोधः । किंवा, स्वाभाविका जरादयो रसायन-  
जनितप्रकर्षादन्तरकालं पुनरवश्यं भवन्तीति निष्प्रतिक्रियत्वेनोक्ताः । सम्प्रति कर्मसम्प्राप्तिकृतमपि  
गदं कालविशेषव्ययमानतया दर्शयन्त्याह—निर्दिष्टमित्यादि । कालेनेति पच्यमानतालक्षितेन  
कालेन युक्तं सत् कर्म कारणं भवतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

\* जरामृत्युनिमित्तजाः इति चक्रवृत्तः पाठः ।

न हि कर्म महत् किञ्चित् फलं यस्य न भुज्यते ।

क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगाः प्रशमं यान्ति तत्क्षयात् ॥ ३६ ॥

अत्युग्रशब्दश्रवणाच्छ्रवणात् सर्वशो न च ।

शब्दानाञ्चातिहीनानां भवन्ति श्रवणाज्जडाः ॥

परुषोद्गीषणाशस्ताप्रियव्यसनसूचकैः ।

शब्दैः श्रवणसंयोगो मिथ्यायोगः स उच्यते ॥

न तु प्रज्ञापराध इति । ननु ततो यदि रोगो न स्यात् तदा न कारणं भवत्वित्यत आह—न हीत्यादि । हि यस्मात् । न खल्वेवंभूतं किञ्चित् महत् कर्म विद्यते यस्य कर्मणः फलं न भुज्यते । सर्वकर्मसंन्यासेऽपि फलं ब्रह्मलोक-प्राप्तिः । “ब्रह्माणं कर्मसंन्यासाद्वैराग्यात् प्रकृतेः परम् । ज्ञानात् कैवल्य-माप्नोति” इति योगाभ्यासजातज्ञानस्य फलमप्यस्तीति तत्त्वमिति । तर्हि चैतत्-कर्मजव्याधिवत् पौर्वदेहिककर्मजो व्याधिः किं साध्यासाध्यभावे तुल्य इत्यत आह—क्रियाघ्ना इत्यादि । पौर्वदेहिककर्मजा रोगाः क्रियाघ्नास्तत्तद्व्याध्युक्त-क्रियाभिर्न शाम्यन्ति । तर्हि किमसाध्या इत्यत आह—प्रशमं यान्ति तत्क्षयात् । तत्कारणभूतकर्मक्षयात् ते कर्मजा रोगाः प्रशमं यान्तीति कालकर्मणां सम्प्राप्तिर्दर्जिता ॥ ३४—३६ ॥

गङ्गाधरः—अथासात्स्यागमश्चेति यो रोगहेतुरुक्तस्तं दशयति—अत्युग्र-शब्दश्रवणादित्यादि । धीवृत्तिस्मृतिविभ्रंशाद् यद्यपि अत्युग्रशब्दश्रवणादीनि कुर्वन्ति प्रज्ञापराधजानि तथापि मेघादीनामत्युग्रशब्दश्रवणादीनि प्रज्ञापराध-व्यतिरेकादपि भवन्तीति पृथगुक्तानि । ननु पूर्वमुक्तम् इन्द्रियार्थानाम् अयोगोऽतियोगो मिथ्यायोगश्चेति त्रिविधो हेतुसंग्रहः, इह तु शब्दा-दीनामत्युग्रादीनां श्रवणादिरतियोगोऽथ सर्वशो न च श्रवणादि, अतिहीन-शब्दादिश्रवणादि, तथा मिथ्यायोगश्चेति चतुर्विधो हेतुरुक्त इति विरुध्यत

चक्रपाणिः—कर्मणः फलसम्बन्धिनियममाह—न हीत्यादि । ‘महत्’ इति विशेषणेन किञ्चित् महत् कर्म, प्रायश्चित्तवाधनीयफलं ददात्यपि फलमिति दर्शयति । कर्मजानामचिकित्सत्वं माह—क्रियाघ्ना इत्यादि । तत्क्षयादिति कर्मक्षयात् । कर्मक्षयश्च कर्मफलोपभोगादेव भवति ॥ ३६ ॥

चक्रपाणिः—क्रमागतससात्मेन्द्रियार्थसंयोगं विवृणोति—अत्युग्रेत्यादि । सर्वशो न चेति

असंस्पर्शोऽतिसंस्पर्शो हीनसंस्पर्श एव च ।  
 स्पृश्यानां संग्रहेणोक्तः स्पर्शनेन्द्रियबाधकः ॥  
 यो भूतविषवातानामकालेनागतश्च यः ।  
 स्नेहशीतोष्णसंस्पर्शो मिथ्यायोगः स उच्यते ॥  
 रूपाणां भास्वतां दृष्टिर्विनश्यति हि दर्शनात् ।  
 दर्शनाच्चातिसूक्ष्माणां सर्वशश्चाप्यदर्शनात् ॥  
 द्विष्टभैरववीभत्स-दूरातिक्लिष्ट-८-दर्शनात् ।  
 तामसानाञ्च रूपाणां मिथ्यासंयोग उच्यते ॥  
 अत्यादानमनादानमोकसात्म्यादिभिश्च यत् ।  
 रसानां विषमादानमल्पादानञ्च दूषणम् ॥  
 अतिमृद्वतितीक्ष्णानां गन्धानामुपसेवनम् ।  
 असेवनं सर्वशश्च घ्राणेन्द्रियविनाशनम् ॥

इति चेन्न । पूर्वं यदुक्तं “योगो मिथ्या न चानि च” इति । न च योगः  
 खलु द्विविधः सर्वशो योगाभावो हीनयोगश्च नवो द्वयर्थग्रहणात् । असंस्पर्शो  
 हीनसंस्पर्शश्च स्पर्शायोगः । अतिमृदुदर्शनं सर्वशोऽदर्शनञ्च रूपायोगः ।  
 रसानामनादानमल्पादानञ्च रसायोगः । ओकसात्म्यादिभिर्यद् विषमादानं तद्-  
 रसमिथ्यायोगः । गन्धानां सर्वशोऽसेवनमतिमृदुसेवनञ्च गन्धायोगः,

सर्वयोप्रशब्दाश्रवणात् । स्पृश्यानामिति स्पृश्यत्वेनोक्तानां शास्त्रेऽभ्यङ्गोत्सादनादीनाम् ।  
 भूताः सविषक्रिमिषिशाचादयः । यो भूतविषवातानां संस्पर्शः, तथाकालेनागतः स्नेहशीतोष्ण-  
 संस्पर्शश्चेति योजना । तत्राकाले स्नेहसंस्पर्शो यथा—अजीर्णं कफवृद्धिकाले अभ्यङ्गस्पर्श उष्णे  
 चोष्णस्पर्शोऽकालेनागतो ज्ञेयः । सर्वशश्चाप्यदर्शनमिति भास्वतां सूक्ष्माणाञ्च सर्वथादर्शनात् ।  
 अतिक्लिष्टमिति नेत्रप्रत्यासन्नम् । तामसानां रूपाणाञ्च दर्शनात् विनश्यति दृष्टिरिति सन्धन्धः ।  
 मिथ्यायोगः स इति द्विष्टभैरवादिभिरुक्तः । अतिमृदुदर्शनञ्च मिथ्यायोग एव ज्ञेयः । ओकसात्म्या-

पूतिभूतविषद्विष्टा गन्धा ये चाप्यनार्त्तवाः ।  
 तैर्गन्धैर्ग्राणसंयोगो मिथ्यायोगः स उच्यते ॥  
 इत्यसात्म्यार्थसंयोगस्त्रिविधो दोषकोपणः ।  
 असात्म्यमिति तद्विद्याद् यन्न याति सहात्मताम् ॥ ३७ ॥  
 मिथ्यातिहीनयोगेभ्यो यो व्याधिरुपजायते ।  
 शब्दादीनां स विज्ञेयो व्याधिरैन्द्रियको बुधैः ॥  
 वेदनानामशातानाम् ॥ इत्येते हेतवः स्मृताः ।  
 सुखहेतुर्मतस्त्वेकः समयोगः सुदुर्लभः ॥ ३८ ॥

अतितीक्ष्णानां गन्धानां सेवनमतिरोगः, पूतिगन्धादिसेवनं मिथ्यायोग इति ।  
 इति त्रिविधोऽसात्म्यार्थसंयोगो दोषकोपणः । यत् तु सहात्मतामात्मीभावं  
 न याति तदसात्म्यं विद्यादिति ॥ ३७ ॥

गङ्गाधरः—एष खल्वसात्म्येन्द्रियार्थयोगजो व्याधिः किं शारीरो मानसो  
 वेत्यत आह—मिथ्येत्यादि । शब्दादीनां मिथ्यायोगातियोगायोगहीनयोगेभ्यो  
 यो व्याधिर्जायते स ऐन्द्रियकव्याधिः शारीर एव । शरीरं हि चेतनाधिष्ठान-  
 भूतं पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकं, न त्विह गौतमोक्तं चेष्टेन्द्रियार्थाश्रय-  
 शरीरं विवक्षितं, तत्र पृथगेन्द्रियार्थयोगग्रहणात् ।

ननु ज्ञातव्या दुःखहेतव इति यदुक्तं तत् किं सुखदुःखोभयरूपवेदनहेतव इत्यत  
 आह—वेदनानामित्यादि । अशातानामसुखानां वेदनानामित्येते हेतवः स्मृताः

दिभिरिति विपमादानमिति सम्बन्धः । ओकसात्म्यादिवैषम्ये राशिदोषवर्जप्रकृत्यादिसप्तक-  
 दोषा ग्रहीतव्याः । त्रिविध इति अयोगातियोगमिथ्यायोगरूपः । असात्म्यत्वं दर्शयति—असात्म्य-  
 मित्यादि । सहेति मिलितं शरीरेण । आत्मताम् अविकृतरूपतां न याति । एतेन, यदुपयुक्तं  
 प्राकृतरूपोपघातकं भवति, तदसात्म्यमिति । इत्यमसात्म्यार्थजस्य व्याधेरिन्द्रियद्वारभूतत्वेन्द्रियकत्वं  
 दर्शयन्नाह—मिथ्येत्यादि । हीनयोगेनेह अयोगो ग्राह्यः । ऐन्द्रियक इति इन्द्रियद्वारभूतः ।  
 दुःखरूपवेदनाहेतुं प्रपञ्च्य उक्तमुपसंहरति—वेदनानामित्यादि । असात्म्यानामिति दुःखानाम् ।  
 अथ सुखरूपवेदनाहेतुः क इत्याह—सुखेत्यादि । समयोग इति कालबुद्धीन्द्रियार्थानां सम्यग्योगः ।  
 सुदुर्लभ इति कालादिसम्यग्योगस्य विरहत्वेन सुदुर्लभत्वात् । प्रायो हि कालादीनां मध्ये

नेन्द्रियाणि न चैवार्थाः सुखदुःखस्य हेतवः ।

हेतुस्तु सुखदुःखस्य योगो दृष्टश्चतुर्विधः ॥

सन्तीन्द्रियाणि सत्यार्था योगो न च न चास्ति रुक् ।

न सुखं, कारणं तस्माद् योग एव चतुर्विधः ॥ ३६ ॥

नास्मेन्द्रियमनोबुद्धि-गोचरं कर्मणादि । -

सुखं दुःखं यथा यच्च बोद्धव्यं तत् भावान् शरीरम् च तदुच्यते ॥ ४० ॥

न तु सुखानाम् । कः पुनः सुखहेतुरित्यत आह—सुखहेतुरिति । एकः सुदुर्लभः कालबुद्धीन्द्रियार्थानां समययोगः सुखहेतुर्मतः आरोग्यहेतुरित्यत आह—॥ ३८ ॥

गङ्गाधरः—ननु कालादय एव हेतवः कथं तेषां योगा हेतव उक्ता इत्यत आह—नेन्द्रियाणीत्यादि । सुखदुःखस्य हेतवो नेन्द्रियाणि न चार्था न च कालो न बुद्धिः । तर्हि के हेतवः ? तत्राह—सुखदुःखस्य हेतुस्तु चतुर्विधो योगो दृष्टः । तस्मात् ? सन्तीत्यादि । यस्मादिन्द्रियाणि सन्ति सन्ति चार्थास्तेषां योगो न यदि भवति रुक् च नास्ति सुखञ्च नास्ति । एवं कालोऽस्ति पुरुषोऽस्ति योगो नास्ति न चास्ति रुक् न चास्ति सुखम् । तथा बुद्धिः अस्ति बोद्धव्यञ्चास्ति योगो नास्ति रुक् च सुखञ्च नास्तीति बोध्यम् । तस्मात् चतुर्विध योग एव सुखदुःखस्य कारणमिति ॥ ३९ ॥

गङ्गाधरः—ननु सुखदुःखस्यानुभवे कारणमात्मेन्द्रियमनोबुद्धयो न कथं सुखदुःखस्य हेतव इत्यत आह—नास्मेत्यादि । न खल्व्वात्मादिगोचरं सुखं अन्यतरेणाप्ययोगादिना पुरुषः सम्बध्यते । तेन च नित्यातुरा एव पुरुषा भवन्ति, 'अनातुरारोगानामयादि' स्वस्थव्यपदेशः पुरुषाणां क्रियत इति भावः ॥ ३७, ३८ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति सम्यग्योगस्योपादेयतां दर्शयितुमयोगादीनां हेयतां दर्शयितुं योगमेव चतुर्विधं कारणत्वेन दर्शयन्नाह—नेन्द्रियाणीत्यादि । ननु कथमिन्द्रियार्थयोः सुखदुःखकारणत्वेन उपलभ्यमानयोरप्यकारणत्वमित्याह—सन्तीत्यादि । योगो न चेति इन्द्रियार्थयोः सम्बन्धो न च, न सुखमिति च्छेदः । इन्द्रियार्थयोर्योगाभावे अकारणत्वेन, सति तु योगे कारणत्वेन योग एवान्वयत्यतिरेकाभ्यां कारणसवधार्यत इति भावः । अयञ्च योग इन्द्रियार्थवधिभूतस्य स्पष्ट-त्वेनोक्तः । तेन, प्रज्ञाकालयोरपि बोद्धव्यः । एतच्चेन्द्रियमर्थञ्चानुपादेयं कृत्वा चतुर्विध-योगस्य कारणत्वं योगानामेव हेयोपादेयत्वेन दर्शनार्थं कृतम् ॥ ३९ ॥

चक्रपाणिः—परमार्थतस्त्वात्मेन्द्रियमनोबुद्धयर्थोदृष्टान्धेव तथायुक्तानि सुखदुःखकारणानीति दर्शयन्नाह—नास्मेत्यादि । गोचर इन्द्रियार्थः । कर्म अदृष्टम् । तत्र आत्मानं विना नोष्णादौ



स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शः स्पर्शो मानस एव ।

द्विविधः सुखदुःखानां वेदनानां प्रवर्तः ॥ ४१ ॥

इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुखदुःखं प्रवर्तते ।

तृष्णा च सुखदुःखानां कारणं प्रवर्तते ॥

योगेभ्यो :

दुःखं वा कम्म विनविज्जेयेमथं सहात्मादीनां कम्मणि योगे सति हि यच्च यथासुखं यच्च यथुःखं तत् तथा बोद्धव्यमुच्यते ॥ ४० ॥

गङ्गाधरः—तत् कम्मे किं भवति, तदाह—स्पर्शनेन्द्रियेत्यादि । सुखदुःखानां वेदनानां प्रवर्तको हि द्विविधः । बाह्यार्थग्रहणे स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्श एकः प्रवर्तकः । मनोबुद्धार्थग्रहणे मानसः स्पर्श एव च द्वितीयः ॥ ४१ ॥

गङ्गाधरः—एवं वेदनानामपि प्रवर्तकत्वमस्ति, तदाह—इच्छेत्यादि । इच्छा द्वेषश्चेत्युभयात्मिका तृष्णा सुखदुःखात् प्रवर्तते इति तृष्णाप्रवर्तिका वेदना, पुनस्तृष्णा च सुखदुःखानां कारणं प्रवर्तकोच्यते । इति परस्परं कारणं

सुखदुःखं भवतः । इन्द्रियादीनाञ्च सुखदुःखकारणत्वं स्पष्टमेव । कर्मापि च शुभं सुखकारणम्, अशुभञ्च दुःखकारणम् । यद्यात्मादय एव कारणम्, तत् किमर्थं कालाद्य-योगातियोगादय इहोच्यन्ते इत्याह—यथेत्यादि । यद् बोद्धव्यं सुखदुःखं यथा बोद्धव्यं कार्यवशात् भवति, तथैवोच्यते नान्यथा, सात्म्यासात्म्येन्द्रियार्थजन्यत्वेन सुखदुःखे प्रतीयमाने चिकित्सायामुपयुक्ते भवतः, नात्मादिजन्यत्वेन । आत्मादिजन्यत्वेनेह सुखदुःखे अभिधीयते, न ह्यात्मादयो सुखदुःखहेतुतया प्रतिपद्यन्ते, किन्त्वसात्म्येन्द्रियार्थयोगादय एव दुःखहेतवस्त्यज्यन्ते, सुखहेतवः सात्म्येन्द्रियार्थयोगादयस्तूपादीयन्ते इति भावः ॥ ४० ॥

चक्रपाणिः—इदानीं सकलकारणव्यापकं योगं स्फुटपादयितुमैन्द्रियकं मानसस्पर्शं दर्शयितुमाह—स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्श इति । अर्थेनेन्द्रियाणां सम्बन्धः स्पर्शनेन्द्रियकृतो भवति, चक्षुरादीन्यपि स्पृष्टमेवार्थं जनयन्ति, यदि ह्यस्पृष्टमेव चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं वा वेत्ति, तदा विदूरमपि गृह्णीयात् न च गृह्णाति । तस्मात् स्पृष्टत्वमिन्द्रियाणां प्रतिपद्यते, मानसस्तु स्पर्शश्चिन्त्यादिना अर्थेन समं सूक्ष्मोऽस्त्येव । येन मनः किञ्चिदेव चिन्तयति, न सर्वम् । तेन, यन्मनसा स्पृश्यते, तदेव मनो गृह्णातीति स्थितिः ॥ ४१ ॥

चक्रपाणिः—सुखदुःखोत्पत्तिक्रममाह—इच्छेत्यादि । सुखादिच्छारूपा तृष्णा, दुःखाच्च द्वेष-रूपा तृष्णा प्रवर्तते । इयञ्चोत्पन्नतृष्णा ईप्सितेऽर्थे प्रवर्तयन्ती द्विष्टे च निवर्तयन्ती, प्रवृत्ति-

उपादत्ते हि सा भावान् वेदनाश्रयसंज्ञकान् ।

स्पृश्यते नानुपादानो नास्पृष्टो वेत्ति वेदनाः ॥ ४२ ॥

वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः ।

केशलोमनखाग्रान्न-मलद्रवगुणैर्विना ॥ ४३ ॥

वीजाङ्गूरवत् । कस्मादेवं तथाह—उपादत्त इत्यादि । हि यस्मात् सा खल्विच्छाद्वेपात्मिका तृष्णा वेदनाश्रयसंज्ञकान् भावान् शरीरमनांसि उपादत्ते, तस्मात् सुखदुःखानां वेदनानां कारणं तृष्णा । ननु च तृष्णा वेदनाश्रयसंज्ञकान् भावानुपादत्ते न तु वेदनानाश्रयान् । स्पर्शनेन्द्रियेण संस्पर्शो मानसस्पर्शश्च सुखदुःखात्मकवेदनाप्रवृत्तेः केशादिच्छेदनादितो न कुतः सुखदुःखानुभवः स्यादित्यत आह—स्पृश्यत इत्यादि । स्पर्शनेन्द्रियेण शरीरस्थेन मनसा चानुपादानस्तृष्णानुपादानको भावो न स्पृश्यते । स्पर्शनेन्द्रियेणास्पृष्टश्च भावो न सुखदुःखात्मिका वेदना वेत्ति ॥ ४२ ॥

गङ्गाधरः—तर्हि वेदनाश्रयसंज्ञका वेदनानामधिष्ठानानि के भावारतृष्णया तृपादत्ता इत्यत आह—वेदनानामित्यादि । मनः सेन्द्रियश्च देहो वेदनानां सुखदुःखानामधिष्ठानमाश्रय इति । किमधिष्ठानमुच्यते इति प्रश्नस्योत्तरम् । ननु सेन्द्रियो देहश्चेद्वेदनाश्रयः कथं केशादिच्छेदनादिषु न सुखदुःखसंवेदनं स्यादित्यत आह—सेन्द्रियो देह इति । केशलोमनखाग्रानि तथाक्षमलद्रवाणां विण्मूत्राणां गुणैर्विना देहसंज्ञः । न हि केशादिस्तृष्णोपादानं, तृष्णोपादानन्तु स्पर्शनेन्द्रियं मनश्च, केशादिव्यतिरिक्तं देहं सेन्द्रियं स्पृशति न केशादीन् स्पृशति । तस्मात् केशादयो न वेदनां विदन्ति केशादिव्यतिरिक्तो देहः सेन्द्रियो वेदनां वेत्तीति । गौतमेनाप्येवमुक्तम् । आप्रनखात् इत्यादि ॥ ४३ ॥

निवृत्तिविषयस्य सुखदुःखहेतुतामपेक्ष्य सुखदुःखे जनयतीति वाक्यार्थः । यथोक्ततृष्णायाः सुखदुःखहेतुत्वं दर्शयन्नाह—उपादत्ते हीत्यादि । वेदनाश्रयसंज्ञकानिति वेदनाकारणत्वेनोक्तान् कालाद्ययोगादिरूपान् । अथ तृष्णा चेत् सुखदुःखकारणम्, तत् किमिन्द्रियार्थेनापरेण कारणेनेत्याह—स्पृश्यत इत्यादि । अनुपादान इति अविद्यमानार्थरूपे स्पर्शकारणे, अर्थं विना नार्थस्य स्पर्शा भवति । अथ न भवत्यर्थस्पर्शस्ततः किमित्याह—‘नास्पृष्टो वेत्ति वेदनाः’ इति । अर्थस्पर्शान्न्यः सन् न सुखदुःखे अनुपपन्नत्वादेव वेत्तीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

चक्रपाणिः—वेदनानां किमधिष्ठानमित्यस्योत्तरमाह—वेदनानामित्यादि । देहः सेन्द्रिय इत्यनेन निरिन्द्रियो देहो केशलोमादिको निरस्तः । तदेव स्पष्टार्थं विवृणोति—केशेत्यादि ।

योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्त्तनम् ।

मोक्षो निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्त्तकः ॥

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्त्तते ।

सुखं दुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे ॥

निवर्त्तते तदुभयं वशित्वञ्चोपजायते ।

सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः ॥ ४४ ॥

**गङ्गाधरः—**अथ यदि सुखदुःखात्मिका वेदना तर्हि कालबुद्धीन्द्रियाधानां त्रिविधयोगात् दुःखप्रवृत्तिस्तच्चिकित्सया धातुवैषम्यनिवृत्तौ तज्जदुःखनिवृत्तिः सुखस्य प्रवृत्तिः, प्रवृत्तस्य च सुखस्य कालबुद्धीन्द्रियार्थसमयोगाद्वातुसाम्य-स्थितिस्तज्जसुखस्य च स्थितिरिति सुखात्मिका वेदना तु दुःखानुबन्धा न चिकित्सया निवर्त्तते । इत्याशङ्क्य प्रागग्रिवेश उवाच—क चैता वेदनाः सर्वा निवृत्तिं यान्त्यशेषत इति । सर्वाः सुखदुःखात्मिका वेदनाः क च चिकित्सायामशेषतो निवृत्तिं यान्तीति । तत्रोत्तरमाह—योगे मोक्षे चेत्यादि । सर्वासां सुखदुःखात्मिकानां वेदनानामशेषतोऽवर्त्तनं निवृत्तिर्योगे भवति मोक्षे च भवति । कः पुनर्मोक्षो योगश्चेत्यत आह—मोक्षो निवृत्तिर्निःशेषेति । निःशेषा निवृत्तिः सुखदुःखात्मिकाया वेदनाया मोक्षस्तस्य मोक्षस्य प्रवर्त्तको योग इति । कथमिति ? आत्मेत्यादि । आत्मादिसन्निकर्षात् सुखं प्रवर्त्तते दुःखञ्च । सम्यक् सन्निकर्षात् सुखमसम्यक्सन्निकर्षात् दुःखं प्रवर्त्तते । तत्रात्मस्थे स्थिरे मनसि सत्यनारम्भाद्वाचा शरीरेण मनसा च प्रवृत्तेरभावात् तदुभयं सुखञ्च दुःखञ्च निवर्त्तते योगसिद्धस्य सशरीरस्य जीववतः पुरुषस्य वशित्वञ्चोपजायते । वशी हि स यश्चेतः समाधत्ते यश्च सर्वं निरस्यति, न तु स वशी यः कर्म कृत्वा तत्फलं स्वयं भुङ्क्ते । तं योगज्ञा ऋषयो योगं विदुरिति

किंवा, इन्द्रियाण्यपि प्राधान्यख्यापनार्थं पृथग् वेदनाश्रयत्वेन सेन्द्रियग्रहणेनोच्यन्ते । वेदनाया देहेन्द्रियगतत्वं तदाधारत्वेन प्रतीयमानत्वाज्ज्ञेयम् । द्रवं सूत्रम् । गुणाः शब्दादयः । शरीरगता एते हि केशादयो न वेदनाधारा इत्यनुभव एव प्रमाणम् । या तु सूत्रपुरीषगता वेदना ग्रहणी-सूत्रकृच्छ्रादौ वक्तव्या, सा सूत्रपुरीषाधारशरीरप्रदेशस्यैव बोध्या ॥ ४३ ॥

**चक्रपाणिः—**क चैता वेदनाः सर्वा इत्यस्योत्तरम्—योग इत्यादि । योगः “अनारम्भाद्” इत्यादिग्रन्थे वक्ष्यमाणः । मोक्षोऽत्यन्तशरीरोच्छेदः । निःशेषेति न पुनर्भवति, एतेन योगेन निवृत्ता

पातञ्जले दर्शनं योगशासने चोक्तः । योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । तदा द्रष्टुः  
स्वरूपेऽवस्थानम् । वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः । प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-  
निद्रा-स्मृतयः । प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि । विपर्ययो मिथ्याज्ञान-  
मतद्रूपप्रतिष्ठम् । शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः । अभावप्रत्यया-  
लम्बना वृत्तिर्निद्रा । अनुभूतविषयासम्प्रमोपः स्मृतिरिति वृत्तयः । अभ्यास-  
वैराग्याभ्यां तन्निरोधः । तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः । स तु दीर्घकाल-  
नैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः । दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकार-  
संज्ञा वैराग्यम् । तत् परं पुरुषख्यातेर्युगवैतृष्ण्यमिति ।

मुद्राण्येतानि वेदव्यासेन व्याख्यातानि । तद् यथा । योगः समाधिः, स च  
सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः । क्षिप्रं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः ।  
तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योगपक्षे वर्तते । यस्त्वेकाग्रे  
मनसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति क्षिणोति च क्लेशान् कर्मवन्धनानि च श्लथयति  
निरोधमभिसुखं करोति स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते । स च तर्कानुगतो  
विचारानुगत आनन्दानुगतः अस्मितानुगतः इत्युपरिष्ठात् प्रवेदयिष्यामः । सर्व-  
वृत्तिनिरोधे त्वसम्प्रज्ञातः समाधिस्तस्य लक्षणाभिधित्सयेदं मूत्रं प्रवर्त्तते । ० ।  
योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । १ । इति । सर्वशब्दाग्रहणात् सम्प्रज्ञातोऽपि योग  
आख्यायते । चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम् । प्रख्यारूपं  
हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टमैश्वर्यविषयोपगं भवति । तदेव  
तमसानुविद्धमधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं भवति । तदेव प्रक्षीणमोहावरणं  
सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्माज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति ।  
तदेव तमोऽनुविद्धरजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं  
धर्ममेघध्यानापगं भवति तत् परं प्रख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः । चित्ति-  
शक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च सत्त्वगुणाधिका  
चेयम् ; अतो विपरीता विवेकख्यातिरित्यतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं  
निरुणद्धि । तदवस्थं संस्कारोपगं भवति । स निर्वर्जः समाधिः । न च तत्र  
किञ्चित् सम्प्रज्ञायते इत्यसम्प्रज्ञातः । द्विविधः स योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति ।  
तदवस्थे चेतसि विषयाभावात् स्वरूप इत्यारोपितम् । बुद्धिबोधात्मा पुरुषः  
किंस्वभाव इति । ० । तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् । १ । स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चित्ति-  
निवृत्ता वेदना भवतीति सूचयति । मोक्षप्रवर्त्तक इति मोक्षकारणम् । किंवा, 'योगमोक्षो निवर्त्तकौ'  
इति पाठः, तदा, अस्मिन् पक्षे यद्यपि योगमोक्षयोर्वेदानिबर्त्तकत्वं 'योगे मोक्षे च' इत्यादिनां

शक्तिर्यथा कैवल्ये ; व्युत्थानचित्ते तु सति तथापि भवती न तथा । ०। कथं तर्हि ?  
दर्शितविषयत्वाद् । वृत्तिसारूप्यमितरत्र । ३। व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयस्तद्विशिष्ट-  
वृत्तिः पुरुषः । तथा च सूत्रम् । एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनमिति । चित्तम्  
अयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमित्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिनः ।  
तस्माच्चित्तवृत्तिनिरोधे पुरुषस्यानादिसम्बन्धो हेतुः । ताः पुनर्निरोद्धव्या बहुल्ये  
सति चित्तस्य । ०। वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः । ४। क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचये  
क्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः ; गुणविकारविरोधिन्य अक्लिष्टाः क्लिष्टप्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टाः ।  
क्लिष्टच्छिद्रेषु अप्यक्लिष्टा भवन्ति । अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा अप्यक्लिष्टा इति । तथा-  
जातीयकसंस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते, संस्कारैश्च वृत्तय इति । एवं वृत्तिसंस्कार-  
चक्रमनिशमावर्त्तते । तदेवम्भूतं चित्तमवसिताधिकारमात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते  
प्रलयं वा गच्छतीति । ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च पञ्चधा वृत्तयः । ०। प्रमाण-विपर्यय-  
विकल्प-निद्रा-स्मृतयः । ५। तत्र । प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि । ६। इन्द्रिय-  
प्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तुपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य  
विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम् । फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्ति-  
निरोधः । सम्प्रति संवेदी पुरुष इत्युपरिष्ठादुपपादयिष्यामः । अनुमेयस्य  
तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धो यस्तद्विषया सामान्य-  
विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम् । यथा देशान्तरप्राप्तेर्गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्र-  
वत् । विन्ध्यश्चाप्राप्तेरगतिः । आप्ते न दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्त-  
तया शब्देनोपदिश्यते । शब्दात् तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः शब्दार्थो न वक्तुर्न  
द्रष्टुरनुमितार्थः स आगमः पुत्रते, मूलवक्तरि तद्दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवः  
स्यात् । ०। विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् । ७। स वा कस्मान्न प्रमाणम् ?  
यतः प्रमाणेन बाध्यते, भूतार्थविषयत्वात् प्रमाणस्य ; तत्र प्रमाणेन बाधनम्  
अप्रमाणस्य दृष्टम् । तद् यथा—द्विचन्द्रदर्शनं सद्विषयेणैकचन्द्रदर्शनेन  
बाध्यते । सोऽयं पञ्चविधो भवत्यविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च  
क्लेशा इति । एत एव स्वसंज्ञाभिस्तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति ।  
एते चित्तमलप्रसङ्गेनाभिधीयन्ते । ०। शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः । ८।  
स न प्रमाणोपारोही विपर्ययोपारोही च ; वस्तुशून्यत्वेऽपि शब्दज्ञानमाहात्म्य-  
निबन्धनो व्यवहारो दृश्यते । तद् यथा—चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति । यदा चित्तिः  
श्लोकार्द्धेन उक्तम्, तथापि योगमोक्षयोरिह कर्तृ तथा वेदनानिवृत्तिं दर्शयति, इति न पौनरुक्त्यम् ।  
यथा योगो वेदानानिवर्त्तको भवति, यश्च योगस्तमाह—आत्मेत्यादि । अनारम्भादिति

एव पुरुषस्तदा किमत्र केवलो व्यपदिश्यते । भवति च व्यपदेशवृत्तिः । तथा प्रतिपिद्धवस्तुधर्मा निष्क्रियः पुरुषस्तिष्ठति । बाल्यः स्थास्यति स्थित इति गतिनिवृत्तौ धात्वर्थमात्रं गम्यते । तथाऽनुत्पत्तिधर्मा पुरुष इति उत्पत्तिधर्मस्याभावमात्रं गम्यते, न पुरुषान्वयी धर्मः, तस्माद्विकल्पितः स धम्मस्तेन चास्ति व्यवहार इति । ० । अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिनिद्रा । ९ । सा च सम्प्रबोधे प्रत्ययमर्शः प्रत्ययविशेषः । कथम् ? सुखमहमस्वाप्सं प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञा मे विशारदीकरोति, दुःखमहमस्वाप्सं श्रान्तं मे मनो भ्रमत्यनवस्थितम् । गार्हं मृदोऽहमस्वाप्सं गुरुणि मे गात्राणि क्लान्तञ्च चित्तमलसं मथितमिव तिष्ठतीति । स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्ययमर्शो न स्यात् । असति प्रत्ययानुभवे तदाश्रिताः स्मृतयश्च तद्विषया न स्युस्तस्मात् प्रत्ययविशेषो निद्रा, सा च समाधावितर-प्रत्ययवन्निरोद्धव्येति । ० । अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः । १० । किं प्रत्ययस्याहोस्विद्विषयस्येति । आत्मोपरक्तप्रत्ययो ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासस्तथा-जातीयकं संस्कारमारभते । स संस्कारः स्वव्यञ्जकाञ्जनस्तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणो-भयात्मिकां स्मृतिं जनयति । तत्र ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः सा च द्वयी भवति—भावितस्सर्त्तव्या चाभावितस्सर्त्तव्या च ; स्वप्ने भावित-स्सर्त्तव्या, जागरितसमये त्वभावितस्सर्त्तव्येति । सर्वाः स्मृतयः प्रमाणविपर्यय-विकल्पनिद्रास्मृतीनामनुभवात् सम्भवन्ति । सर्वाञ्चैता वृत्तयः सुखदुःख-मोहात्मिकाः ; सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः । सुखानुशयी रागः, दुःखानुशयी द्वेषः, मोहः पुनरविदेति । एताः सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्याः । आसां निरोधे सम्प्रज्ञातो वा समाधिर्भवति, असम्प्रज्ञातो वेति । ० । अथासां निरोधे क उपायः । अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः । ११ । चित्तनदी नाम उभयतोवाहिनी । वहति कल्याणाय वहति पापाय । या तु केवल्य-प्राग्भवा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा । संसारप्राग्भवा अवि-वेकविषयनिम्ना पापवहा । तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते । विवेक-दर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यते इति उभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः । ० । तत्र स्थितौ यत्रोऽभ्यासः । १२ । चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः तदर्थं प्रयत्नो वीर्यमुत्पिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः । ० । स तु दीर्घ-कालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः । १३ । दीर्घकालासेवितः तपसा ब्रह्म-विषयोपादानार्थं मनसोऽनवस्थानात् । आत्मस्थे मनसीति विषये निवृत्ते केवलात्मज्ञानस्थे स्थिर इत्यचले आत्मज्ञानप्रसक्त एवेति यावत् । तदभयमिति सुखदुःखम् । योगधर्मान्तर-

आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां हृन्दतः क्रिया ।

दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम् ॥

चक्षुष्य विद्यया श्रद्धया च सम्पादितः सत्काराख्यो दृढभूमिर्भवति । व्युत्थान-  
संस्कारेण द्रागित्येवानभिभूतविषय इत्यर्थः । ० । दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य  
वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् । १४ । स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्यमिति दृष्टविषये वितृष्णस्य  
स्वर्गादिप्रकृतिलयत्नप्राप्तेः । आनुश्रविकविषये वितृष्णस्य दिव्यादिव्य-  
विषयसम्प्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसङ्गान्नवलादनल्प-  
भोगात्मिका हेयोपादानशून्या वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् । ० । तत् परं पुरुषख्याते-  
षु णवैतृष्ण्यम् । १५ । दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषदग्नेनाभ्यासात्  
तच्छुद्धिः । प्राग् विवेकध्यायिनस्तद्वुद्धिगुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मोभ्यो विरक्त  
इति द्वयं वैराग्यम् । तत्र यदुत्तरं यज्ज्ञानप्रसाधनमात्रं यस्योदये प्रत्युदित-  
ख्यातिरेवं मन्यते प्राप्तं प्रापणीयं क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाश्छिन्नः श्लिष्टपर्व्व  
भवसंक्रमो यस्य अविच्छेदात् जनित्वा म्रियते मृत्वापि जायते । यस्यैव परा काष्ठा  
वैराग्यं तस्यैवान्तरीयकं कैवल्यमिति । अथोपायद्वयेन निरुद्धचित्तवृत्तेः  
कथमुच्यते सम्प्रज्ञातः समाधिरिति । ० । वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानु-  
गमात् सम्प्रज्ञातः । १६ । वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः, सूक्ष्मो विचारः,  
आनन्द आल्लादः एकात्मिका संवित् अस्मिता । इति रूपचतुष्टयानुगमात्  
चतुर्विधः समाधिः । तत्र प्रथमः सवितर्कः समाधिः, द्वितीयो वितर्किणः  
सविचारः, तृतीयो विचारवितर्किणः सानन्दः, चतुर्थस्तद्वितर्कविचारानन्दिनो-  
ऽस्मितामात्र इति । सर्व्व एते सालम्बनाः समाधयः सम्प्रज्ञाताख्याः । अथ  
असम्प्रज्ञातसमाधिः किमुपायः किंस्वभावो वेति । ० । विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्व्वः  
संस्कारविशेषोऽन्यः । १७ । सर्व्ववृत्तिप्रत्यस्तसमये संस्कारविशेषो निरोधश्चित्तस्य  
समाधिरसम्प्रज्ञातः । तस्य परं वैराग्यमुपायः । सालम्बनोऽभ्यासस्तत्साधनाय  
न कल्प्यत इति विरामप्रत्ययो निर्व्वस्तुक आलम्बनीक्रियते । सर्व्वार्थ-  
शून्यस्तदभ्यासपूर्व्व चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्व्वर्जः ।  
समाधिरसम्प्रज्ञातः इति ॥ ४४ ॥

गङ्गाधरः—ननु वशित्वमेव किं योगसमाधितो जायते न तदन्यदित्यत आह—

सम्प्राप्तिमाह—वशित्वमित्यादि । वशित्वं वक्ष्यमाणमष्टविधमैश्वर्य्यबलम् । ‘सशरीरस्य’ इतिपदेन  
शरीरेण सहैव वशित्वं भवतीति दर्शयति ॥ ४४ ॥

चक्रपाणिः—आवेश इत्यादि । आवेशः परपुरप्रवेशः । चेतसो ज्ञानमिति परचित्तज्ञानम् ।

इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम् ।

शुद्धसत्त्वसमाधानात् तत् सर्वमुपजायते ॥ ४५ ॥

आवेशश्चेत्यादि । शुद्धसत्त्वसमाधानात् रजस्तमोभ्यां विनिर्मुक्तमनः-  
समाधानात् तदावेशादिकं सर्वमुपजायते । तद् यथा । शुद्धमनःसमाधानेन  
स्वाध्यायार्थग्रहणान्निवृत्तस्य मनस आत्मनि स्थिररूपेणावस्थितौ व्याधिरस्त्यान-  
संशय-प्रमादालस्य-विरति-भ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानां चित्तस्य  
विक्षेपाणामन्तरायाणामभावात् प्रत्यगात्माधिगमाच्च चेतस आवेशाद्यष्ट-  
विधं योगिनामैश्वरमीश्वरभावाधिगमे बलं भवति । योगिनां हि त्रयोविंशतिः  
सिद्धयः ; पञ्च क्षुद्रसिद्धयः, दश गुणप्रधानाः सिद्धयः, अष्टौ ब्रह्मप्रधानाः  
सिद्धयः । त्रिकालक्षतमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता । अग्रार्काम्बुविषादीनां  
स्तम्भश्चाप्यपराजयः । इति पञ्च क्षुद्राः सिद्धयः । अस्मिन् देहेऽनूर्म्मिवत्त्वं  
दूरश्रवणदर्शनं मनोजवित्वं कामरूपं परकायप्रवेशः स्वेच्छामृत्युर्देवक्रीडानु-  
दर्शनं यथासङ्कल्पसिद्धिराशासिद्धिरव्याहतगतिः । इति दश गुणप्रधानाः  
सिद्धयः । अणिमा महिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं कामाव-  
शायिता च । इत्यष्टौ ब्रह्मप्रधानाः सिद्धयः । तासां साधारणकार्यत्वेनेदमष्ट-  
विधमैश्वरं बलं योगिनामुक्तम् । आवेशश्चेतस इति समाधिद्विविधः  
सवीजो निर्वीजश्च । तत्र वक्ष्यमाणैः सतामुपासनादिभिः शुद्धे मनसि  
मनसः परशरीरावेशादिकारी समाधिः सवीजः । तद् यथा । बन्धकारण-  
गैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः । लोलीभूतस्य मनसो-  
ऽप्रतिष्ठितस्य शरीरे कर्माशयवशाद्बन्धः प्रतिष्ठा । तस्य कर्मेणो बन्धकारणस्य  
गैथिल्यं समाधिवलाद्भवति । प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य समाधिजमेव ।  
कर्मबन्धक्षयात् स्वचित्तस्य प्रचारसंवेदनाच्च योगी चित्तं स्वशरीरान्निष्कृष्य  
शरीरान्तरेषु निक्षिपति । निक्षिप्तं चित्तञ्चेन्द्रियाण्यनुपतन्ति यथा मधुकर-  
राजं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविश्यमानमनुविशन्ते तथेन्द्रियाणि पर-  
शरीरावेशे चित्तमनुविधीयन्ते इति ।

अर्थानां ज्ञानमिति । पातञ्जले । प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्ट-  
ज्ञानम् । भुवनज्ञानं सूक्ष्मं संयमात् । चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् । ध्रुवे तद्गतज्ञानम् ।

अर्थानां छन्दतः क्रियेति अर्थानां छन्दतः करणम् । इष्टिरतीन्द्रियदर्शनम् । श्रोत्रमतीन्द्रिय-  
श्रवणम् । स्मृतिः सर्वभावतत्त्वस्मरणम्, कान्तिरमानुषी कान्तिः । इष्टतज्ज्ञानदर्शनमिति



नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् । हृदये चित्तसंवित् । इति । व्यासभाष्यञ्चैषाम् । ज्योति-  
ष्मती प्रवृत्तिरुक्ता, मनसः तस्या य आलोकस्तं योगी न्यस्य सूक्ष्मे व्यवहिते  
विप्रकृष्टे वाऽर्थेऽर्थमधिगच्छति । सूर्ये संयमात् भुवनज्ञानम् । सूर्यमण्डलस्थाः  
सप्त लोकाः, तत्र मेरोः उदीचीप्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येव भूर्लोकः । मेरुपृष्ठा-  
दारभ्य ध्रुवात् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरीक्षलोकः । तत्परं स्वर्लोकः पञ्चविधः ।  
माहेन्द्रस्तृतीयश्चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकस्त्रिविधो ब्रह्मलोको जनतपःसत्य-  
भेदात् । चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् । चन्द्रे संयमं कृत्वा ताराव्यूहं विजानीते । ध्रुवे  
तद्गतिज्ञानम् । ध्रुवे संयमं कृत्वा तासां ताराणां गतिं विजानीयात् । नाभि-  
चक्रे संयमं कृत्वा कायव्यूहं विजानीयात् । हृदये चित्तसंवित् । यदिदमस्मिन्  
ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानम् । तस्मिन् संयमाच्चित्तसंवित्  
इत्यादि । छन्दतः क्रिया । स्वेच्छया कर्मकरणं भवति । यथा पातञ्जले ।  
कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमात् लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् । यत्र काय-  
स्तत्राकाशं तस्यावकाशदानात् कायस्य । तेन सम्बन्धः प्राप्तिः । तत्र कृत-  
संयमो जित्वा तत्सम्बन्धं लघुतूलादिषु आ परमाणुभ्यः समापत्तिं  
लब्ध्वा जितसम्बन्धो लघुर्लघुत्वाच्च जले पादाभ्यां विहरति । ततस्तूर्णनाभि-  
तन्तुमात्रे विहृत्य रश्मिषु विहरति । ततो यथेष्टमाकाशे गतिरस्य  
भवति । इत्येवमादिस्वेच्छया गमनादिक्रियाशक्तिः । दृष्टिर्दिव्यचक्षुर्भवति ।  
मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् । शिरःकपाले छिद्रं प्रभास्वरं ज्योतिस्तत्र  
संयमात् सिद्धानां द्यावापृथिव्योरन्तरालचराणां दर्शनम् । इत्यादि । श्रोत्र-  
मिति । दिव्यं श्रोत्रं भवति । श्रोत्राकाशयो रन्ध्रसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम् ।  
सर्वश्रोत्राणामाकाशः प्रतिष्ठा सर्वशब्दानाञ्च । तदुक्तम् । तुल्यदेश-  
श्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषां भवतीति ; तच्चैतदाकाशस्य लिङ्गम् । अना-  
वरणञ्चोक्तम् । तथामूर्त्तस्यानावरणदर्शनाद् विभुत्वमपि प्रख्यातमाकाशस्य ।  
शब्दगुणानुमितं श्रोत्रं, वधिरावधिरयोरेकः शब्दं न गृह्णाति अपरो गृह्णाति  
तस्मात् श्रोत्रमेव शब्दविषयं, श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धे कृतसंयमस्य योगिनो  
दिव्यं श्रोत्रं प्रवर्तते इति । स्मृतिरिति । वक्ष्यते तत्रैव—वक्ष्यन्ते कारणान्यष्टौ  
इत्यादिना । कान्तिरवान्तरमणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ।  
रूपलावण्यवज्रसंहननत्वादिकः कायसम्पदिति कान्तिर्भवति । इष्टतश्चाप्यदशनम्  
यदेच्छति तदा दर्शनयोग्य एव न दृश्यते, यदा चेच्छति तदा दृश्यते । किंवा आवेशश्चेतस  
इति परचेतसः प्रवेशः, ज्ञानमिति सर्वमतीतानागतादिज्ञानम् । शेषं पूर्ववत् । ऐश्वरमिति

मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्मसंचयात् ।  
 त्रियोगः कर्मसंयोगैः ॐ अपुनर्भव उच्यते ॥ ४६ ॥  
 सतामुपासनं सम्यगसतां परिवर्जनम् ।  
 व्रतचर्योपवासश्च नियमाश्च पृथग्विधाः ॥  
 धारणां धर्मशास्त्राणां विज्ञानं विजने रतिः ।  
 विषयेष्वरतिर्मोक्षे व्यवसायः परा धृतिः ॥

इति । स्वेच्छयान्तर्द्धानं भवति । पातञ्जले । कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्य-  
 शक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्द्धानम् । कायरूपसंयमात् रूपस्य  
 ग्राह्यशक्तिं प्रतिवध्नाति, ग्राह्यशक्तिस्तम्भे सति चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्द्धान-  
 मुत्पद्यते योगिनः । एतेन शब्दाद्यन्तर्द्धानमुक्तं वेदितव्यमिति । इत्यष्टविधमैश्वरं  
 बलं योगिनां शुद्धसत्त्वसमाधितः तत् सर्वमुपजायत इति ॥ ४५ ॥

गङ्गाधरः—ननु योगो मोक्षप्रवर्तक इत्युक्तं यत्, तत्र मोक्षः कीदृश इत्यत  
 आह—मोक्ष इत्यादि । रजस्तमोऽभावात् ततो बलवत्कर्मणां धर्माधर्माणाञ्च  
 संक्षयात् । तथा कर्मणां नित्यनैमित्तिककाम्यानां संयोगैर्वियोगो मोक्षो-  
 ऽपुनर्भव उच्यते ॥ ४६ ॥

गङ्गाधरः—नन्वेवं मोक्षस्य प्रवर्तके योगे स्मृतिर्या जायते सा कथं विज्ञायत  
 इत्यत आह—सतामुपासनमित्यादि । व्रतचर्यो चान्द्रायणादिव्रताचरणम् ।  
 उपवासः, व्रहादिनियमात् । नियमाश्च दशविधाः पृथक् । धर्मशास्त्राणां  
 धारणमभ्यासः । विज्ञानं प्रमाणेन प्रमाज्ञानम् । विजने निर्वर्जने स्थाने  
 स्थितौ रतिः । विषयेषु रत्यभावः । मोक्षे व्यवसायः । मोक्षसाधनकर्मसु

योगप्रभावादुपासैश्वर्यकृतम् । शुद्धसत्त्वसमाधानादिति नीरजस्तमस्कस्य मनस आत्मनि  
 सम्यगाधानात् ॥ ४५ ॥

चक्रपाणिः—अथ कथं मोक्षो भवति, कश्चेत्याह—मोक्ष इत्यादि । बलवत्कर्मसंक्षयादिति  
 अवश्यमोक्तव्यफलस्य कर्मणः क्षयात् । सर्वसंयोगैरिति सर्वैरात्मसम्बन्धिभिः शरीरबुद्धग्रहङ्गारा-  
 दिभिः ; न पुनः शरीरादिसम्बन्धो भवतीत्यपुनर्भवः ॥ ४६ ॥

चक्रपाणिः—प्रस्तावान्मोक्षोपायमाह—सतामित्यादि । परा धृतिरिति चलितमनोनियमनम् ।

\* सर्वसंयोगैरिति चक्रः ।

कर्मणां समारम्भः कृतानाञ्च परिक्षयः ।

नैष्कर्म्यमनहङ्कारः संयोगे भयदर्शनम् ॥

मनोबुद्धिसमाधानमर्थतत्त्वपरीक्षणम् ।

तत्त्वं स्मृतेरुपस्थानात् सर्वमेतत् प्रवर्तते ॥

प्रवर्तनम् । परा धृतिर्धैर्यमिति । कर्मणां नित्यनैमित्तिककाम्यानां स्वभावात्  
अनारम्भः, कृतानाञ्च कर्मणां फलक्षयात् क्षयः । नैष्कर्म्यं गृहाश्रमान्निष्क्रम-  
णम् । अनहङ्कारो गर्वत्यागः । लोकानां संयोगे सङ्गमे भयमिव दृश्यते इति ।  
मनोबुद्धिसमाधानम् मनःसमाधानं बुद्धेश्च समाधानं समाधिः । उक्तं  
पातञ्जले । देशबन्धश्चित्तस्य धारणा । तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।  
तदेवाथमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः । त्रयमेकत्र संयमः । इति  
व्याख्यातानि वेदव्यासेनैतानि ।

यत्र नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्द्धज्योतिषि नासाग्रे जिह्वाग्रे इत्येवमादिषु  
देशेषु बाहे वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इव बन्धो धारणा । तत्र  
प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । तस्मिंश्च देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता  
सादृश्यप्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् । तदेवाथमात्रनिर्भासं स्वरूप-  
शून्यमिव समाधिः । ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्य-  
मिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात् तदा समाधिः इत्युच्यते । त्रयमेकत्र संयमः ।  
( तदेतद्धारणाध्यानसमाधि ) एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते ।  
तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति । अथेतत्त्वपरीक्षणम् । अर्थानां  
वस्तूनां तत्त्वेन याथार्थ्येन परीक्षासामर्थ्यम् । तत्त्वं सर्वत्र याथार्थ्यमित्येतत्  
सतामुपसनाद्येतदन्तं सर्वं स्मृतेरुपस्थानादुपस्थित्याः प्रवर्तते न त्वेकैकमात्रं

कर्मणाम् असमारम्भ इति अनागतधर्माधर्मसाधनानामकरणम् । कृतानाञ्च परिक्षय इति  
जन्मान्तरैः कृतानां कर्मणां फलोपभोगात् परिक्षयः । नैष्कर्म्यं संसारनिष्क्रमणेच्छा । अनहङ्कार इति  
ममेदमहमस्मीत्यादिबुद्धिवर्जनम् । संयोग इति आत्मशरीरादिसंयोगे । मनोबुद्धिसमाधानमिति  
मनोबुद्धिप्रोत्थानसमाधानम् । सर्वमेतदिति “कर्मणामसमारम्भः” इत्यादुक्तम् । तत्त्वस्मृतिः  
आत्मादीनां यथामृतानुस्मरणम्, सा च आत्मा शरीरादुत्पत्त्यर्थः शरीरादयश्च तदधीनमावा

स्मृतिः सत्सेवनादौश्च धृत्यन्तैरुपलभ्यते ।

स्मृत्या स्वभावं भावानां स्मरन् दुःखात् प्रमुच्यते ॥ ४७ ॥

वच्यन्ते कारणान्यष्टौ स्मृतिरैरुपजायते ।

निमित्तरूपग्रहणात् सादृश्यात् सविपर्ययात् ॥

प्रवर्त्तते । तर्हि स्मृतेः उपस्थितिः कैर्विज्ञायते इत्यत आह—स्मृतिरित्यादि । सत्सेवनादिधृत्यन्तैर्लिङ्गैः स्मृतिरस्योपस्थितोपलभ्यते । कर्मणां नारम्भादीनि स्मृत्युपस्थितैर्लिङ्गान्यपि नोपलब्ध्ये प्रभवन्त्येकान्तेन । दुरात्मनां कर्म-  
त्यागात् । कृतकर्मसंक्षयस्तु परोक्षः । क्रोधादिनापि गृहान्निष्क्रामन्ति । अनहङ्कारः स्वाभाविकश्च दृश्यते । लोकसमवायोऽनेकजः स्वभावान्न सङ्गते । मनोबुद्धिसमाधानमतीन्द्रियत्वादज्ञेयम् । अथेतत्त्वपरीक्षणञ्च विद्वद्भिर्दृश्यते । बहुभिर्धार्मिकैस्तत्त्वं सेव्यत इति तस्माद्धृत्यन्तैरित्युक्तम् । एवं स्मृत्या योगी भावानां स्वभावं स्वरूपं स्मरन् दुःखात् सुखदुःखोभयात्मकदुःखाज्जन्मनः प्रमुच्यते न पुनर्भवत ॥ ४७ ॥

गङ्गाधरः—ननु कुतः स्मृतिर्भवतीत्यत आह—वक्ष्यन्त इत्यादि । निमित्त-  
ग्रहणात् दृष्टश्रुतानुभूतेषु स्मरणं भवति । यथायं मधुरं भापते मम पुत्रोऽप्येवमिति दूरस्थं पुत्रं स्मरति । तथा रूपग्रहणात् स्मरणं भवति दृष्टश्रुतानुभूतानाम् । यथायं सुन्दरस्तथा मे पुत्र इति स्मरति । सादृश्याद् दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणं भवति । यथा—यथायं ते गौस्तथा मे द्वौ गावौ स्त इति स्मरति । सविपर्ययादसादृश्याद् दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणं भवति । यथेयं दुग्धवती ते

इत्यादिकस्मरणरूपतया स्मृतिः । अथ स्मृतिः कथं दुःखप्रमोपे कारणमित्याह—स्मृत्येत्यादि । स्वभावमिति प्रत्यात्मनियतरूपम् । गुरुवचनादि प्रथमप्रतिपन्नमात्मादीनां रूपं परस्परभिन्नं परस्परानुपकारकत्वेन व्यवस्थितं स्मरन् न कचिदपि प्रवर्त्तते, अप्रवर्त्तमानश्च न दुःखेन प्रकृतिजन्येन युज्यत इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

चक्रपाणिः—इदानीं स्मृतिप्रस्तावात् स्मृतिकारणान्याह—वक्ष्यन्त इत्यादि । निमित्तग्रहणं कारणज्ञानम्, कारणं हि दृष्ट्वा कार्यं स्मरति । रूपग्रहणमाकारग्रहणम् । यथा—वने गवयं दृष्ट्वा गां स्मरति । सादृश्याद् यथा—पितुः सदृशं पुरुषं दृष्ट्वा पितरं स्मरति । सविपर्ययादिति अत्यर्थवैसादृश्यादपि स्मरणं भवति । यथा—अत्यर्थकुरूपं दृष्ट्वा अत्यर्थसुरूपं स्मरति प्रति-

सत्त्वानुबन्धाद्भ्यासाज् ज्ञानयोगात् पुनःश्रुतात् ।

दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणात् स्मृतिरुच्यते ॥ ४८ ॥

एतत् तदेकमयनं मुक्तैर्मोक्षस्य दर्शितम् ।

तत्स्मृतिवत्त्वं येन गता न पुनरागताः ॥

अयनं पुनराख्यातमेतद् योगस्य योगिभिः ।

संख्यातधर्म्मैः सांख्यैश्च मुक्तैर्मोक्षस्य चायनम् ॥ ४९ ॥

गौतमं तथा मे सा गौरिति स्मरति । सत्त्वानुबन्धाद्दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणं भवति । यथा मनसा शिवं स्मरति । अभ्यासात् पुनःपुनरावृत्त्या दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणं भवति । यथा वेदानभ्यस्तान् स्मरति । ज्ञानयोगाद् योगादित उत्पन्नज्ञानात् सर्वेषां दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणं भवति । यथा योगिनः स्मरन्ति । पुनःश्रुताच्च दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणं भवति । यद् विस्मृतं तत् पुनः श्रुत्वा श्लोकादिकं स्मरतीति स्मरणात् स्मृतिरुच्यते ॥ ४८ ॥

गङ्गाधरः—नन्वेवं स्मृत्या स्वभावं स्मरन् किं दुःखात् प्रमुच्यते नान्यकारणादित्यत आह—एतदित्यादि । मुक्तैर्जीविभिस्त्वदेतदेकं मोक्षस्यायनं पन्थाः स्मृतिर्दर्शितम् । नन्वस्ति खलु सर्वस्यैव स्मृतिः कुत्रचिदेकस्य अपरस्यान्यत्रैवं सर्वस्यैव किं मोक्षः स्यादित्यत आह—तत्त्वस्मृतिवत्त्वमित्यादि । येन योगेन तत्त्वस्मृतिमेव बलं गता ये प्राप्तास्ते योगिनः शरीरं त्यक्त्वा पुनरिह नागतौ न जाता इति । ननु योगेन क्रीदशी स्मृतिभूला बलमैश्वरं भवति तत्त्वस्मृतिस्तु प्रायशो जने वृत्ते । यतस्तस्मिंस्तर्दितं तत्त्वं प्रायशो जनाः स्मरन्ति । एषा गौरेषोऽथ एष वृक्ष इत्येवमादि । यद् यथा तत् तथा स्मरन्ति

योगिनम् । सत्त्वानुबन्धादिति मनसः प्रणिधानात्, स्मर्त्तव्यस्मरणाय प्रणिहितमनाः स्मर्त्तव्यं स्मरति । अभ्यासादिति अभ्यस्तमर्थमभ्यासबलादेव स्मरति । ज्ञानयोगादिति तत्त्वज्ञानयोगात् । उपजाततत्त्वज्ञाने हि तद्वत्त्वादेव सर्वं स्मरति । पुनःश्रुतादिति श्रुतोऽप्यर्थः विस्मृतः पुनरेकदेशं श्रुत्वा स्मर्यते । स्मृतिकारणमभिधाय स्मृतिरूपमाह—दृष्टेत्यादि । दृष्टं प्रत्यक्षोपलक्षणम् । श्रुतत्वागमप्रतीतम् । तेन सर्वपूर्वश्रुतानुभूतावरोधः । क्वचित् ‘स्मरणं स्मृतिरुच्यते’ इति पाठस्तत्रापि नार्थभेदः ॥ ४८ ॥

चक्रपाणिः—एवं स्मृतिं सामान्येन प्रतिपाद्य तत्त्वस्मृतेर्भोक्षसाधकत्वं दर्शयन्नाह—एतदित्यादि । एकमयनमिति श्रष्टः पन्थाः, मुक्तैरिति जीवन्मुक्तैरिति ज्ञेयम्, सर्वथा मुक्तानां शरीराभावेनोप-

सर्वं कारणवद् दुःखमस्वनित्यमेव च ।

न चात्मा कृतकं ० तद्धि तत्र चोत्पद्यते स्वता ॥

यावन्नोत्पद्यते सत्या बुद्धिर्नैतदहं यया ।

नैतन्मम च विज्ञाय ज्ञः सर्वमतिवर्त्तते ॥

न च मुच्यन्ते इति चेत्, सत्यम् । तत्त्वं द्विविधं परमार्थतस्तत्त्वं लोकतस्तत्त्वञ्च । इदन्तु लौकिकं तत्त्वं तस्मिंस्तदिति । पारमार्थिकं तत्त्वन्तु प्रकृतिज्ञानम् । यथा यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद् रूपं यच्छुक्लं तदपां यत् कृष्णं तदन्नस्यापापादग्नेरग्नित्वं विकारो नामधेयं ग्रीणि रूपाणीत्येव सत्यमित्येवं सर्वेषां प्रकृतिज्ञाने या मूलप्रकृतिस्तां यत् स्वरति योगेन सा तत्त्वस्मृतिरैश्वरं बलम्, तथा स्मृत्या भावानां स्वभावं स्वरूपं स्वरत्नं दुःखात् प्रमुच्यते इति । यथैषा स्मृतिर्मोक्षस्यैकमयनं तथा योगिभिर्योगस्याप्ययनमेतत् स्मृतिरूपमाख्यातम् । साङ्ख्यैश्च सङ्ख्यातधर्मैर्विज्ञातधर्मैर्मुक्तैर्जीविर्बुद्धिर्मोक्षस्य चायनमेतत् तत्त्वस्मृतिरूपमाख्यातमिति ॥ ४९ ॥

गङ्गाधरः—तत् तत्त्वं कीदृशमित्यत आह—सर्वमित्ति । सर्वमिदं कारणवत् कार्यं न तु कारणं तस्माद् विविधदुःखहेतुत्वाद् दुःखम् । कस्मात् ? यतोऽस्वम् । नात्मा । आत्मा हि भूमा । भूमैव सुखं नाल्पे सुखम् । तर्हि कुतोऽस्वमिति । यस्यादनित्यमेव चेदं सर्वं न चानित्य आत्मा । कस्मात् ? कृतकं तद्धि । हि यस्मात् तत् सर्वं कृतकमतश्चानित्यमतोऽस्वमतो दुःखम् इत्येवं तत्र योगे तत्त्वेन स्मृतौ च जातायां स्वता खलु सर्वकारणभूतात्मता उत्पद्यते । प्रत्यगात्मभावं विहाय प्रकृतिभूतात्मताभिव्यज्यते इति । ननु चैवं स्मृतिः कियत्कालं नोत्पद्यते, तत्राह—यावदित्यादि । यावत् सा सत्या दर्शकः स्वभावात् । तत्त्वस्मृतिबलमिति तत्त्वस्मृतिरूपबलम् । किंवा, तत्त्वस्मृतिर्बलं यत्र मोक्षसाधनमार्गे तत् तत्त्वस्मृतिबलमिति । येनेति, येन यथा । गता इति मोक्षं गताः । न पुनरागता इति मुक्तिं याताः न पुनरागच्छन्ति ॥ ४९ ॥

चक्रपाणिः—इदानीं सङ्क्षेपेण संसारहेतुमज्ञानम्, तथा मोक्षहेतुश्च सत्यगज्ञानं दर्शयन्नाह—सर्वमित्यादि । सर्वं कारणवदिति सर्वमुत्पद्यमानं बुद्धग्रहङ्कारशरीरादि । दुःखमिति दुःखहेतुरेव । अस्वमिति सर्वं कारणवदेवात्मव्यतिरिक्तं परमार्थतः । न चात्मकृतकमिति न चात्मनोदासीनेन कृतम् । तत्रेति कारणवति बुद्धिशरीरादौ । स्वतेति ममता 'ममेयं बुद्धिः'

\* न चात्मकृतकमिति चक्रः ।

तस्मिंश्चरमसंन्यासे समूलाः सर्ववेदनाः ।

समज्ञानविज्ञानात् \* निवृत्तिं यान्त्यशेषतः ॥ ५० ॥

बुद्धिर्नोत्पद्यते तावदेवं तत्त्वस्मृतिवत् नोत्पद्यते इत्यथादवगम्यम् । का पुनः सत्या बुद्धिस्तस्मिंस्तदिति तु सत्याबुद्धिः सर्वस्यैव प्रायेण वृत्तेत इत्यत आह— नैतदहमित्यादि । यया बुद्ध्या खल्वेतन्नाहमिति ज्ञायते मम चैतन्नेति च विज्ञायते सा सत्या बुद्धिर्विद्याबुद्धिर्मूलप्रकृतिज्ञानम् । न तु तस्मिंस्तदिति ज्ञानं सत्या बुद्धिरियं हि मिथ्याबुद्धिः । द्विविधा हि मिथ्याबुद्धिः प्रधानमिथ्या-बुद्धिः स्थाणौ पुरुष इति श्रुक्तौ रजतमिति । तत्त्वमिथ्याबुद्धिस्तु तस्मिंस्तदिति तत्त्वबुद्धिः । तथा सत्यया बुद्ध्या सर्वं विज्ञायातिवृत्तेतं योगी । तस्मिंस्तदिति तत्त्वबुद्ध्या प्रधानमिथ्याबुद्धिरपैति सत्यया तत्त्वबुद्ध्या मिथ्यातत्त्वबुद्धिस्तस्मिं-स्तदिति बुद्धिरपैति । तथा तत्त्वबुद्ध्या रागद्वेषमोहा दोषा अपयन्ति दोषा-पायात् प्रवृत्तिरपैति प्रवृत्त्यपायाद् दुःखं सुखदुःखात्मकमपैति दुःखापायात् । तु सर्वमतिवृत्त्य मूलप्रकृतिभूतकारणमात्मा भवति न पुनर्जायत इति । ततः किं स्यादित्यत आह—तस्मिन्नित्यादि । तस्मिन् सर्वातिवृत्तेने चरमसंन्यासे सर्ववेदनाः शारीरमानससुखदुःखात्मिका आधिभौतिका-ध्यात्मिकाधिदैविकरूपाः समूला धर्माधर्मसंहिताः समज्ञानविज्ञानादशेषतो निवृत्तिं यान्तीति । क चैता वेदनाः सर्वा निवृत्तिं यान्त्यशेषत इति प्रश्नस्योत्तरमिति ।

अत्रैवान्वीक्षिकीशासने गौतमेनोक्तं सपरीक्षणम् । तद् यथा— ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाभावः । प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देनानुवादो निन्दाप्रशंसोपपत्तेः । अधिकाराच्च विधानं विद्यान्तरवत् । समारोपा-दात्मन्यप्रतिषेधः । सुषुप्तस्य स्वप्नदर्शने क्लेशाभावादपवर्गः । न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य । न क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात् । प्रागुत्पत्तेरभावानित्यत्ववत् स्वाभाविकेऽप्यनित्यत्वम् । अणुश्यामतानित्यत्ववद्वा । न सङ्कल्पनिमित्तत्वाच्च रागादीनाम् । व्याख्यातान्येतानि वात्स्याय-नेन । ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाभाव इति । ऋणानुबन्धान्नास्त्यपवर्गः । इत्यादिरूपा । अथ कियन्तं कालमियं भ्रान्त्या स्वतोत्पद्यते इत्याह—यावत् इत्यादि । सत्या बुद्धिः सम्यग् ज्ञानम् । यया सत्यया बुद्ध्या । नैतद्बुद्ध्याहं, किन्तु भिन्न एवाहम्,

\* असंज्ञानविज्ञाना इति चक्रधृतः पाठः ।

जायमानो ह व ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते। ब्रह्मचर्येण ऋपिभ्यो यज्ञेन दवेभ्यः प्रजया पितृभ्य इति अत्र सम्प्रदाने चतुर्थी। ब्रह्मचर्यादिभिर्ऋणैः ऋष्यादिभ्य ऋणवान् जायते इति ऋणानि। तेषामनुबन्धः स्त्रकर्मभिः सम्बन्धः। कर्मसम्बन्धवचनात्। जरामर्त्यं वात्र तत् सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपौर्णमासौ चेति। जरया ह वा एष एतस्मात् सत्राद्विमुच्यते मृत्युना ह वै चेति। ऋणानुबन्धादपवर्गानुष्ठानकालो नास्तीत्यपवर्गाभावः। क्लेशानुबन्धान्नास्त्यपवर्गः। क्लेशानुबन्धश्च जायते। नास्य क्लेशानुबन्धविच्छेदो गृह्यते। प्रवृत्त्यनुबन्धान्नास्त्यपवर्गः। जन्मप्रभृत्ययं यावत् प्रायणं चाग्न्युद्विशरीरारम्भेणाविमुक्तो गृह्यते। तत्र यदुक्तम्—दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्ग इति तदनुपपन्नमिति। अत्राभिधीयते—यत् तावदृणानुबन्धादिति ऋणैरिव ऋणैरिति। “प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देनानुवादो निन्दाप्रशंसोपपत्तेः।” ऋणैरिति नायं प्रधानशब्दः। यत्र स्वत्वेकः प्रत्यादेयं ददाति, द्वितीयश्च प्रतिदेयं गृह्णाति तत्रास्य दृष्टत्वात् प्रधानमृणशब्दः। न चैतदिहोपपद्यते। प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देनायमनुवादः ऋणैरिव ऋणैरिति। प्रयुक्तोपमञ्चैतत्। अग्निर्माणवक इति। अन्यत्र दृष्टशायमृणशब्द इह प्रयुज्यते। यथाग्निशब्दो माणवके। कथं गुणशब्देनानुवादः? निन्दाप्रशंसोपपत्तेः। कर्म्मलोपे ऋणीव ऋणादानान्निन्द्यते। कर्म्मनुष्ठाने च ऋणीव ऋणप्रतिदानात् प्रशस्यते। जायमान इति गुणशब्दो विपर्ययेऽनधिकारात्। जायमानो ह वै ब्राह्मण इति च शब्दो गृहस्थः सम्पद्यमानो जायमान इति। यदायमाश्रमस्थो जायते तदा कर्म्मेभिरधिक्रियते। मातृतो जायमानस्यानधिकारात्। यदा तु मातृतो जायते कुमारो न तदा कर्म्मेभिरधिक्रियते, अर्थिनः शक्तस्य चाधिकारात्। अर्थिनः कर्म्मेभिरधिकारः कर्म्मविधौ कामयोगस्मृतेः। अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्येवमादि शक्तस्य च प्रवृत्तिसम्भवात्। शक्तस्य कर्म्मभिरधिकारः प्रवृत्तिसम्भवात्। शक्तः खलु विहिते कर्म्मेणि प्रवर्त्तते, नेतर इति। उभयाभावस्तु प्रधानशब्दार्थे मातृतो जायमाने कुमार इति। उभयमर्थिता शक्तिश्च न भवतीति। न भिद्यते च लौकिकाद्वाक्याद् वैदिकं वाक्यं, प्रेक्षापूर्वकारिपुरुषप्रणीतत्वात्। तत्र लौकिकस्तावदपरीक्षकोऽपि न जातमात्रं कुमारमेवं तथा नैतद् बुद्ध्यादि मम, किन्तु प्रकृतेः प्रपन्न इति विज्ञाय। जस्तत्त्वसाक्षात्कारवान्। सर्व्वमतिवर्त्तत इति सर्व्वं बुद्ध्यादि त्यजति। चरमसंन्यास इति पश्चाद्भाविसकलकर्म्मसंन्यासे। प्रथमं हि



ब्रूयाद्—अधीष्व यजस्व ब्रह्मचर्यं चर इति । कुत एवमृषिरुपपन्नानवद्यवादी उपदेशार्थेन प्रयुक्त उपदिशति ? न खलु वै नर्त्तकोऽन्धेषु प्रवर्त्तते । न गायनो वधिरेष्विति । उपदिष्टार्थविज्ञानश्चोपदेशविषयः । यश्चोपदिष्टमर्थं विजानाति तं प्रत्युपदेशः क्रियते, न चैतदस्ति जायमानकुमारक इति । गाहस्थ्यस्य लिङ्गञ्च मन्त्रब्राह्मणं कर्म्मभिर्वदति । यच्च मन्त्रब्राह्मणं कर्म्मभिर्वदति, तत् पत्रादिसम्बन्धादिना ब्रह्मचर्यगाहस्थ्यलिङ्गादिनोपपन्नम् तस्माद् गृहस्थोऽयं जायमानोऽभिधीयते इति । अथित्स्य चाविपरिणामे जरामर्य्यवादोपपत्तेः । यावच्चास्य फलेनार्थित्वं न विपरिणमते न निवर्त्तते, तावदनेन कर्म्मनुष्ठेयमित्युपपद्यते । जरामर्य्यवादरतं प्रतीति । जरया ह वा इत्यायुपस्तुरीयभागेण प्रव्रज्यावचनम् । जरया ह वा एष एतस्माद्विमुच्यते इति । आयुषस्तुरीयं प्रव्रज्यायुक्तं जरेत्युच्यते । तत्र हि प्रव्रज्या विधीयते । अत्यन्तजरासंयोगे जरया ह वा इत्यनर्थकम् । अशक्तो विमुच्यते इत्येतदपि नोपपद्यते । स्वयमशक्तस्य बाह्यां शक्तिमाह । “अन्तेवासी वा जुहुयाद् ब्रह्मणा स परिक्रीतः । क्षीरहोता वा जुहुयाद्धनेन स परिक्रीतः” इति । अथापि विहितं वानुष्ठेयं । कामाद्वार्थः परिकल्प्येत इति विहितानुवचनं न्याय्यमिति । ऋणवानिवाऽस्वतन्त्रो गृहस्थः कर्म्मसु प्रवर्त्तते इत्युपपन्नं वाक्यस्य सामर्थ्यम् । फलस्य हि साधनानि प्रयत्नविषयो न फलम्, तानि सम्पन्नानि फलाय कल्पन्ते । विदितञ्च जायमानम्, विधीयते च जायमानम् ; तेन यः सम्बध्यते सोऽयं जायमान इति । प्रत्यक्षविधानाभावादिति चेन्न, प्रतिषेधस्यापि प्रत्यक्षविधानाभावादिति । प्रत्यक्षतो विधीयते गाहस्थ्यं ब्राह्मणेन । यदि चाश्रमान्तरमभविष्यत्, तदपि व्यधास्यत प्रत्यक्षतः । प्रत्यक्षविधानाभावान्नास्त्याश्रमान्तरमिति न, प्रतिषेधस्य प्रत्यक्षविधानाभावात् । न प्रतिषेधो वै ब्राह्मणेन प्रत्यक्षतो विधीयते । न सन्त्याश्रमान्तराणि एक एव गृहस्थाश्रम इति प्रतिषेधस्य प्रत्यक्षतोऽश्रवणादयुक्तमेतदिति । ० । अधिकाराच्च विधानं विद्यान्तरवत् । ० । यथा शास्त्रान्तराणि स्वे स्वेऽधिकारे प्रत्यक्षतो विधायकानि, नार्थान्तराभावात् एवमिदं ब्राह्मणं गृहस्थशास्त्रं स्वे स्वेऽधिकारे प्रत्यक्षतो विधायकं नाश्रमान्तराणामभावादिति । ऋग् ब्राह्मणश्चापवर्गाभिधार्य्यभिधीयते । ऋचश्च ब्राह्मणानि चापवर्गाभिधायीनि भवन्ति । ऋचश्च तावत् “कर्म्मभिर्मृत्युमृषयो निषेदुः मोक्षोपयोगित्वेन गुरुवचनात् क्रियासन्न्यासः कृत एव, परं स्वानुभवविरक्तेन न कृतः, अभ्यासादुद्भूतेन साक्षाद्दृष्टभावस्वभावेन यः सर्वसन्न्यासः क्रियते, तत्र समूलाः सर्ववेदना ज्ञानादयश्च

प्रजावन्तो द्रविणमिच्छमानाः । अथापरे ऋषयो मनीषिणः परं कर्मभ्यो-  
ऽमृतत्वमानशुः । न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।  
परेण नाकं विहितं गुहायां विभ्राजते यद् यतयो विशन्ति । वेदाहमेतं पुरुषं  
महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वा तिमृत्युमेति नान्यः  
पन्था विद्यतेऽयनाय ।”

अथ ब्राह्मणानि । त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति । प्रथमस्तप  
एव, द्वितीयो ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासः, तृतीयोऽत्यन्तमात्मन आचार्यकुले-  
ऽवसादनम् । सर्व्व एवैते पुण्यलोका भवन्ति । ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ।  
एतमेव प्रव्रजिनो लोकमभीप्सन्तः प्रव्रजन्तीति । अथो खल्वहुः । काममय  
एवायं पुरुष इति । स यथाकामो भवति तथा क्रतुर्भवति । तथा तत्  
कर्म कुरुते । यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते । इति कर्मभिः संसरणमुक्त्वा  
प्रकृतमन्यदुपदिशन्तीति तु कामयमानो योऽकामो निष्काम आत्मकामो  
भवति, न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ।  
इति । तत्र यदुक्तम्—ऋणानुबन्धादपवर्गाभाव इत्येतदयुक्तमिति । ये चत्वारः  
पथयो देवयाना इति चातुराश्रम्यश्रुतेरैकाश्रम्यानुपपत्तिः । फलाधिनेश्चेदं  
ब्राह्म जरामर्य्यं वा एतत् सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चेति । कथम् ?  
समारोपादात्मन्यप्रतिषेधः । प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां साव्वेवेदसं  
हुत्वात्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेदिति श्रूयते । तेन विजानीमः  
प्रजावित्तलोकैषणाभ्यश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्य्यं चरन्तीति । एषणाभ्य-  
श्चाव्युत्थितस्य पात्रचयान्तानि कर्माणि नोपपद्यन्त इति । नाविशेषेण  
कर्तुः प्रयोजकफलं भवतीति चातुराश्रम्यविधानाच्चेतिहासपुराणधर्म-  
शास्त्रेष्वैकाश्रम्यानुपपत्तिः । तदप्रमाणमिति चेन्न । प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेन  
इतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते । ते वात्र ते अथर्व्वार्ङ्गिरस इतिहास-  
पुराणमभ्यतपन्नित्यादि । इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदमिति । तस्मात्  
) अयुक्तमेतदप्रामाण्यमिति । अप्रामाण्ये च धर्मशास्त्रस्य प्राणभृतां व्यवहार-  
लोपालोकोच्छेदप्रसङ्गः । द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चाप्रामाण्यानुपपत्तिः । य एव  
• मन्त्रब्राह्मणद्वयैः प्रवक्तारश्च, ते खल्वितिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति ।

शारीरोपरमादेव उपरमन्ते । समूला इति सकारणाः, कारणज्ञ बुद्ध्यादयः । संज्ञा आलोचनं निर्व्वि-  
कल्पकम् । ज्ञानं सविकल्पकम् । विज्ञानं बुद्धप्रवसायः । किंवा संज्ञया नामोल्लेखेन ज्ञानम्,  
विज्ञानं शास्त्रज्ञानम् । तत्त्वज्ञानमपि हि मोक्षं जनयित्वा निवर्त्तत एव कारणाभावात् ॥ ५० ॥

विषयव्यवस्थानाच्च यथाविषयं प्रामाण्यम् । अन्यो मन्त्रो ब्राह्मणस्य विषयो-  
ऽन्यश्चेतिहासपुराणधर्मशास्त्राणामिति । यश्चो मन्त्रब्राह्मणस्य लोकवृत्त-  
मितिहासपुराणस्य । लोकव्यवहारव्यवस्थानं धर्मशास्त्रस्य विषयः । तत्रैकेन  
सर्व्वव्यवस्थात इति । यथाविषयमेतानि प्रमाणानीन्द्रियादिवदिति । यत्  
पुनरेतत्क्लेशानुबन्धस्याविच्छेदादिति । सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभावा-  
दपवर्गः । इति । यथा सुषुप्तस्य खलु स्वप्नादर्शने रागानुबन्धः सुखदुःखानु-  
बन्धश्च विच्छिद्यते तथापवर्गेऽपीति । एतच्च ब्रह्मविदो मुक्तात्मनो रूपमुदा-  
हरन्तीति । यदपि प्रवृत्त्यनुबन्धादिति । न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीन-  
क्लेशस्य । प्रक्षीणेषु रागद्वेषमोहेषु प्रवृत्तिर्न प्रतिसन्धानाय । पूर्व्वसन्धिस्तु  
पूर्व्वजन्मनिवृत्तौ पुनर्जन्म । तच्चादृष्टकारितं तस्यां प्रहीणायां पूर्व्वजन्माभावे  
जन्मान्तराभावोऽप्रतिसन्धानमपवर्गः । कर्मवैकल्यप्रसङ्ग इति चेन्न । कर्म-  
विपाकप्रतिसंवेदनस्याप्रत्याख्यानात् । पूर्व्वजन्मनिवृत्तौ पुनर्जन्म न  
भवतीत्युच्यते, न तु कर्मविपाकप्रतिसंवेदनं प्रत्याख्यायते । सर्व्वानि पूर्व्व-  
कर्माणि ह्यन्ते जन्मनि विपच्यन्त इति । न क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात् ।  
नोपपद्यते क्लेशानुबन्धविच्छेदः, कस्मात् ? क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात् ।  
अनादिरियं क्लेशसन्ततिः । न चानादिः शक्य उच्छेत्तुमिति । अत्र कश्चित्  
परिहारमाह । प्रागुत्पत्तेरभावानित्यत्ववत् स्वाभाविकेऽप्यनित्यत्वम् । यथा-  
ऽनादिः प्रागुत्पत्तेरभाव उत्पन्नेन भावेन निवर्त्यते, एवं स्वाभाविकी क्लेश-  
सन्ततिरनित्येति । अपर आह । अणुश्यामताऽनित्यत्ववद्वा । अनादिरणु-  
श्यामतेति हेत्वाभावादयुक्तम् । अनुत्पत्तिधर्मं नित्यमिति नात्र हेतुरस्तीति ।  
अयन्तु समाधिः । नासङ्कल्पनिमित्तत्वाच्च रागादीनाम् । कर्मनिमित्तत्वादित-  
रेतरनिमित्तत्वाच्चेति समुच्चयः । मिथ्यासङ्कल्पेभ्यो रज्जनीयकापनीयमोह-  
नीयेभ्यो रागद्वेषमोहा उत्पद्यन्ते । कर्म च सत्त्वनिकायनिर्व्वर्त्तकम् ।  
नैयमिकान् रागद्वेषमोहान् निर्व्वर्त्तयति नियमदशेनात् । दृश्यते हि क्वाश्चित्  
सत्त्वनिकायो रागवहुलः कश्चिद् द्वेषवहुलः कश्चिन्मोहवहुल इति । इतरेतर-  
निमित्ता च रागादीनामुत्पत्तिः । मूढो रज्यति मूढः कुप्यति । रक्तो मुह्यति कुपितो  
मुह्यति । रक्तः कुप्यति कुपितो रज्यति । सर्व्वमिथ्यासङ्कल्पानां तत्त्वज्ञाना-  
दनुत्पत्तिः । कारणानुत्पत्तौ कार्यानुत्पत्तेरिति । रागादीनामत्यन्तमनुत्पत्ति-  
रिति । अनादिश्च क्लेशसन्ततिरित्युक्तम् । इमे सर्व्वे खलवाध्यात्मिका भावा  
अनादिना प्रवर्त्येन प्रवर्त्तन्ते शरीरादयः । न जातत्र कश्चिदनुत्पन्नपूर्व्वः प्रथमत

उत्पद्यते अन्यत्र तत्त्वज्ञानात् । न चैवं सत्यनुत्पत्तिधर्मकं किञ्चिद्व्याय-  
धर्मकं प्रतिज्ञायते इति । कर्म च सत्त्वनिकायनिर्वृत्तैकम् । तत्त्वज्ञान-  
कृतान्मिथ्यासङ्कल्पविघाताच्च रागादुत्पत्तिनिमित्तं भवति, सुखदुःखासंवित्ति-  
फलन्तु भवतीति । इत्येवं सिद्धस्त्वपवर्गः प्रमाणप्रमेयाणां तत्त्वज्ञानान्मिथ्या-  
ज्ञानादीनामुत्तरोत्तरापायाद्भवति । तत् तु तत्त्वज्ञानं प्रमाणप्रमेयेषु तेषु तेषु यत्  
तथा तथा ज्ञानं तन्न, वस्तुतस्तत्त्वज्ञानम् । यतः । स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाण-  
प्रमेयाभिमानः । यथा स्वप्ने विषया न सन्त्यथ चाभिमानो भवति एवं प्रत्यक्षा-  
दीनि प्रमाणानि न सन्ति न चात्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभाव-  
फलदुःखानि प्रमेयाणि सन्त्यथ च प्रमाणप्रमेयाभिमानो भवति । अनृतान्यप्येतानि  
सत्यान्यभिमन्यन्ते । मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा । एषु प्रमाणप्रमेयेषु  
तथा तथा ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं ततोऽपैति प्रधानं मिथ्याज्ञानम् अतस्मिंस्तदिति यथा  
खल्वपुरुषे स्थाणौ पुरुष इति । स्थाणौ स्थाणूरिति च स्वप्नविषयाभिमानवदभि-  
मानस्तत्त्वमपि मिथ्याज्ञानं सत्यात् तत्त्वज्ञानादपैति । अत एव तत्त्वप्रधान-  
भेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्विविध्योपपत्तिः । स्थाणौ स्थाणूरिति तत्त्वं मिथ्याज्ञान-  
मपुरुषे स्थाणौ पुरुष इति प्रधानं मिथ्याज्ञानमिति द्विविधं मिथ्याज्ञानमुपपद्यते ।

कथं तत्त्वज्ञानमुत्पद्यत इति ? समाधिविशेषाभ्यासात् । समाधिस्तु  
प्रत्याहृतस्येन्द्रियेभ्यो मनसो धारकेण प्रयत्नेन धार्यमाणस्यात्मना संयोग-  
स्तत्त्वबुद्धत्वाविशिष्टः । सति हि तस्मिन्निन्द्रियार्थेषु बुद्ध्यो नोत्पद्यन्ते,  
तदभ्यासवशात् तत्त्वबुद्धिरुत्पद्यते । यदुक्तम्—सति हि तस्मिन्निन्द्रियार्थेषु  
बुद्ध्यो नोत्पद्यन्ते । इत्येतत् । “नार्थविशेषप्रावल्यात् ।” अनिच्छतोऽपि बुद्धयस्त-  
पत्तेर्नैतद् युक्तम् । कस्मात् ? अर्थविशेषप्रावल्यात् । बुद्धस्तमानस्यापि बुद्धरूपत्ति-  
दृष्टा । यथा स्तनयितुश्चदप्रभृतिषु ; तत्र समाधिविशेषो नोत्पद्यते । “क्षुधा-  
दिभिः प्रवर्त्तनाच्च ।” क्षुत्पिपासाभ्यां शीतोष्णाभ्यां व्याधिभिश्चानिच्छतो-  
ऽपि बुद्ध्यः प्रवर्त्तन्ते । तस्मादैकाग्रानुपपत्तिरिति । ततस्त्वेतत् समाधि-  
युत्थाननिमित्तं समाधिप्रत्यनीकञ्च, सति त्वेतत् । “पूर्वकृतफलानुगन्धात्  
तदुत्पत्तिः ।” पूर्वकृतो जन्मान्तरोपचितस्तत्त्वज्ञानहेतुधर्मप्रविवेकफलानुगन्धो  
योगाभ्याससामर्थ्यम् । निष्फले ह्यभ्यासे नाभ्यासा आदियेरन् । दृष्टं हि  
लौकिकेषु कर्मस्वभ्याससामर्थ्यम् । प्रत्यनीकपरिहारार्थञ्च । “अरण्यगुहा-  
पुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ।” योगाभ्यासजनितो धर्मो जन्मान्तरेऽप्यनु-  
वर्त्तते । प्रचयकाष्टागते तत्त्वज्ञानहेतौ धर्मो प्रकृष्टायां समाधिभावनायां तत्त्व-

ज्ञानमुत्पद्यत इति । दृष्टश्च समाधेनाथविशेषमादल्याभभवः । नाहमेतत्  
 अश्रौषं नाहमेतदज्ञासिपमन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह लोकिरु इति । यद्यर्थ-  
 विशेषमात्र्यादनिच्छतोऽपि बुद्धरूपात्तरनुहायते । “अपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्गः ।”  
 मुक्तस्यापि बाह्यार्थसामर्थ्याद् बुद्धय उत्पदंरन्नाति । “न निष्पन्नावश्य-  
 म्भावित्वात् ।” कम्मेवशान्निष्पन्नशरीरे चेष्टेन्द्रियार्थाश्रये निमित्तसद्भावाद  
 अवश्यम्भावी बुद्धीनादुत्पादः । न च प्रबलोऽपि सन् बाह्यार्थं आत्मनो बुद्धेरु-  
 पादे समर्थो भवति । “तस्येन्द्रियेण संयोगाद्बुद्धरूपादे सामर्थ्यं दृष्टमिति ।”  
 “तदभावश्चापवर्गे ।” तस्य बुद्धिनिमित्ताश्रयस्य शरीरेन्द्रियस्य धर्माधर्माभावात्  
 अभावोऽपवर्गे इति । तत्र यदुक्तम्—अपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्ग इति तदुक्तम् ।  
 तस्मात् सत्त्वदुःखविमोक्षोऽपवर्गे । यस्मात् सत्त्वदुःखबीजं सत्त्वदुःखायतनञ्च  
 अपवर्गे विच्छिद्यते, तस्मात् सत्त्वेण दुःखेन विमुक्तिरपवर्गे । न निर्वर्जिं  
 निरायतनञ्च दुःखमुत्पद्यत इति । “तदथ यमनियमाभ्यासात्मसंस्कारो योगात्  
 चाध्यात्मविध्युपायैः ।” “तस्यापवर्गस्याधिगमाय यमनियमाभ्यासात्मसंस्कारः ।  
 यमः समानमाश्रमिणां धम्मसाधनम्, नियमस्तु विशिष्टः, तयोरभ्यासः ।  
 आत्मसंस्कारः पुनरधम्महानं धर्मापचयश्च । योगशास्त्राच्चाध्यात्मविधिः  
 प्रतिपत्तव्यः । स पुनरासनं प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं धारणेति । इन्द्रिय-  
 विषयेषु प्रसङ्गानाभ्यासो रागद्वेषप्रहाणार्थः । उपायस्तु योगाचारविधानमिति ।  
 इत्येवं जातादात्मादिषु प्रमेयेष्वप्रमेयपरात्मरूपतत्त्वज्ञानात् तु । “दुःखजन्म-  
 प्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तरापायादपवर्गः ।” तत्रात्माद्यपवर्ग-  
 पथ्यन्तप्रमेये मिथ्याज्ञानमनेकप्रकारकं वर्तते । आत्मनि तावन्नास्तीति । अनात्म-  
 न्यात्मेति । दुःखे सुखमिति । अनित्ये नित्यमिति । अत्राणे त्राणमिति । सभये  
 निर्भयमिति । इत्येवमादिमिथ्याज्ञानात् प्रतिकूलेषु रागोऽनुकूलेषु द्वेषः । राग-  
 द्वेषाधिकाराच्चासूत्रेण्यभायालोभादयो दोषा भवन्ति । दोषैः प्रयुक्तः शरीरेण  
 प्रवर्त्तमानो हिंसास्तेयप्रतिपद्धमैथुनादीन्याचरति । वाचाऽनृतपरुषसूचना-  
 सम्वन्धवचनादीनि । मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सानास्तिक्यञ्चवमादीनि ह  
 सेयं पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्मायेति प्रज्ञापराधाद् भवति । अथ शुभा ।  
 शरीरेण दानं परित्राणं परिचरणञ्च वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायश्च मनसा  
 दयामस्पृहां श्रद्धाञ्चेति । सेयं धर्माय बुद्धिसमयोगाद् भवति । तत्र प्रवृत्ति-  
 साधनौ धर्माधर्मौ प्रवृत्तिशब्देनोक्तौ । यथान्नसाधनाः प्राणाः । अन्नं वै  
 प्राणिनः प्राणा इति । सेयं प्रवृत्तिः कृत्स्नतस्याभिपूजितस्य जन्मनः

करणम् । जन्म पुनः शरीरेन्द्रियबुद्धीनां निष्कार्यविशिष्टः प्रादुर्भावः । तस्मिन् सति दुःखं, तत् पुनः प्रतिकूलवेदनीयं बाधना पीडा ताप इति । इमे मिथ्याज्ञानादयो दुःखान्ता धर्मा अविच्छेदेन प्रवर्तमानाः संसार इति । यदा तु तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानमपैति तदा मिथ्याज्ञानापाये दोषा अप-  
यन्ति । दोषा गये प्रवृत्तिरपैति । प्रवृत्त्यगये जन्मापैति । जन्मापाये दुःखमपै-  
तीति । दुःखापाये चात्यन्तिकोऽपवर्गो निःश्रेयसमिति ।

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः । “यत्र तु निष्ठा यत्र तु पथ्यवसानं सोऽयं तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ।” तेन दुःखेन जन्मनाऽत्यन्तं त्रिमुक्तिरपवर्गः । कथ-  
मुपात्तस्य जन्मनो हानमन्यस्य चानुपादानम् । एनामवस्थामपथ्यन्तामपवर्गं वेदयन्तेऽपवर्गवेदः । तदभयमजरममरं ब्रह्मक्षेमप्राप्तिरिति । “बाधनालक्षणं दुःख-  
मिति ।” बाधना पीडा ताप इति नयानुविद्धमनुपक्तमनिर्भागेण वक्तव्यं दुःख-  
योगाद् दुःखमिति जन्म सोऽयं सर्वलोकं सुखदुःखात्मकदुःखेनानुविद्धं दृहन्त-  
मिति पश्यन् दुःखं जिहासुर्जन्मनि दुःखदर्शी निर्विघ्नं निर्विघ्णो विरज्यते  
विरक्तो विमुच्यते । इति गौतमेन आन्वीक्षिकीशास्त्रे सपरीक्षोऽपवर्गो उक्तः ।

छान्दोग्योपनिषदि ब्राह्मणम् । अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्  
समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते तदभयमजरममृत-  
मिति होवाच तद् ब्रह्मेति स उत्तमः पुरुष इति । तत्र शारीरकसूत्रम् ।  
सम्प्रदाविर्भावः स्वेन शब्दात् । मुक्तः प्रतिज्ञानात् । एवमप्युपन्यासात्  
पूर्वभावादविरोधं वादरायणः । व्याख्यातान्येतानि । अथ य एष सम्प्रसादो-  
ऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते  
इति । परं ज्योतिः उप समीपे सम्पद्य परव्योमशिवपरमात्मरूपेणाविर्भावः  
क्षेत्रज्ञस्यात्मनः सम्प्रसादस्य स्यात् । कस्मात् ? स्वेन शब्दात् स्वेन रूपेणेति  
शब्दात् । परमात्मा हि परमव्योमशिवश्चित्सम्प्रसादांशोपाहितः क्षेत्रज्ञो  
भूतस्तस्य स्वं रूपं परव्योमैवेति । तथाहि सः । मुक्तः प्रतिज्ञानात् ।  
पूर्वं प्रजापतिः प्रतिज्ञातवान् । तद् यथा—स इन्द्रः समित्पाणिः पुनरेवेयाय ।  
तं ह प्रजापतिरुवाच । मघवन् यच्छन्ति हृदः प्रात्राजीः किमेवेच्छ न  
पुनरागम इति । स होवाच । स्वप्ने खल्वयं भगव एव सम्पत्त्यात्मानं जानात्यय-  
महमस्मीति । नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र योग्यं  
पश्यामीति । एवमेवैष मघवन्निति होवाच । एतन्त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि ।  
नो एवान्यत्रैतस्मात् । वसापराण पञ्च वर्षाणीति प्रतिज्ञाय प्रजापतिना

दक्षेणोक्त इन्द्रः । सहापराणि पञ्च वर्षाण्युवास । तान्येकशतं सम्पेदुरेतत् । तद् यदाहुरेकशतं ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास । तस्मै होवाच । मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना । तदस्यामृतस्याशरीरस्य आत्मनोऽधिष्ठानम् आत्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्याम् । न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिः अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रियौ स्पृशतः । अशरीरं वायुरभ्रं विदुः स्तनयिन् । अशरीराण्येतानि । तद् यथैतान्यमुष्मादाकाशात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते । एवमेवैव सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः, स तत्र पर्येतीति, स उत्तमः पुरुषः परव्योम शिवः परमात्मा केवलस्तत्र तत्स्वरूपेण सम्प्रसादः पर्येति परिवर्तत इति । तत्र चित्ति तन्मात्रत्वेन तदात्मकत्वात् इत्यौडुलोमिः । चित्ति चिन्मात्रेऽर्थं पश्यवसीरुद्धानः सम्प्रसादः स्वेन रूपेण चिन्मात्ररूपेणाभिनिष्पद्यते । कस्मात् ? तदात्मकत्वात् । चेतनाविशिष्टश्चित् परमव्योमरूपः परमात्मा सम्प्रसादोऽपि, स एष स्थूलचित्सम्प्रसादांशोपाहितस्ततस्तदात्मक इत्यौडुलोमिरुवाच । आत्मा प्रकरणात् । स्वेनेतिपदेनात्मा परः पुरुषः परव्योमैवाभिधीयते । ऐन्द्रवैरोचनिकविद्यायामात्मन एवाधिकारः । कस्मात् प्रकरणात् ? मुक्ति-प्रकरणात् । लोकानामात्मा हि वद्धस्तस्य मुक्तिः प्रकरणात् । ननु चित्सम्प्रसादरूपः क्षेत्रज्ञो लोकानामात्मा प्रधानादितत्त्ववद्धरूप एवास्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन निर्व्वन्धचित्सम्प्रसाद-रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्येवं कथं नोच्यत इति चेन्न स तत्र पर्येतीत्युक्तेः । पर्यायो हि परिवर्तनं रूपस्येति । शिवरूपेणाभिर्भावाच्चित्सम्प्रसादरूपपरिवर्तनमिति । ननु कथं स्वेनेतिपदेन लोकानामात्मनः क्षेत्रज्ञस्यात्मा विज्ञायते शिवः परं ज्योतिस्तु ततोऽतिरिक्तं श्रयते । तद् यथा । अथ यदतः परो दिव्यो ज्योतिः । दीप्यतेऽपि स्वतः पृष्ठेऽपि सर्व्वतः पृष्ठेऽपि । तथा । एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पुरुषः । पादोऽस्य सर्व्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीत्यत आह—अविभागेन दृष्टत्वात् । स्वेनेति स्वपदेन तज्ज्योतिषैकी-भावापन्नो लोकानामात्मनश्चित्सम्प्रसादस्य क्षेत्रज्ञस्य विष्णोरात्मा शिव उत्तमपुरुषः । क्षेत्रज्ञस्य तस्य वद्धस्य मुक्तिप्रकरणात् । भूम्यादित्रिपादस्य तस्यार्द्धाङ्गभूतायां गायत्र्यां दिवि परमस्वर्लोके तत् त्रिपात्पुरुषस्य मूर्द्धि दशाङ्गले तज्ज्योतिरेवामृतम् तस्यास्तदविभागेन दृष्टत्वात् । न तु तदङ्ग-

भूताया गायत्र्याः पृथग्रूपेण दृष्टत्वादतिरिक्तम् । यथाग्निस्तु रूपादिशक्तिमान् ।  
 तस्या रूपादिशक्तेरालोकादिकृतप्रभादिरग्नेरपृथगेव दृश्यते न तु पृथगिति ।  
 ननु स्वेन रूपेणेति किं स्वीयेन ब्रह्मणा ज्योतिषाऽथवास्वेनात्मनेत्यत आह—  
 ब्राह्मणजैमिनिरुपन्यासादिभ्यः । ब्रह्मण इदमादेशभूतं रूपं तेन ब्रह्मण आदेश-  
 भूतेन परमव्योमरूपेण शिवेन क्षेत्रज्ञस्य स्वेनात्मना रूपेणेति जैमिनिराह ।  
 कुतः ? उपन्यासादिभ्यः । उपन्यासादयो हि च्छान्दोग्ये कृताः । स उत्तमः  
 पुरुषः स तत्र पश्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यौनैर्वा शक्तिभिर्वा  
 त्रयस्यैर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवाय-  
 मस्मिञ्छरीरे प्राणे युक्तः । अथ यत्रैतदाकाशमनुविसरणं चक्षुः । स चाक्षुषः  
 पुरुषो दर्शनाय चक्षुः । अथ यो वै हेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम् ।  
 अथ यो वै हेदमभिव्याहराणीति स आत्माऽभिव्याहाराय वाक् । अथ यो  
 वै हेदं शृण्वानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् । अथ यो वै हेदं मनवानीति  
 स आत्मा मनोमननाय । मनोऽस्य दैवं चक्षुः । स वा एष एतेन दैवेन  
 चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् मनुते यत्र ते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा  
 आत्मानमुपासते । तस्मात् तेषां सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे कामाः स सर्वांश्च  
 कामान्नाप्नोति सर्वांश्च कामान् । यस्तमात्मानमनुवेद्य विजानातीति होवाच  
 प्रजापतिरित्युपन्यासः । आदिना । स एवाधस्तात् स उपरिष्ठादित्यादि-  
 सर्ववैगतादिरूपोपदेशः । मुण्डके च । यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं  
 तपः । तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नञ्च जायत इति व्यपदेशश्च । इति कर्तृ-  
 रूपेण शिवस्यैवोपन्यासादिभ्य इति बोध्यम् । उभयमतेऽप्यविरोधं दर्शयति  
 एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं वादरायणः । एवमौडुलोमिनोक्त-  
 प्रकारेण जैमिनिनोक्तादुपन्यासादिहेतोः पूर्वभावात् । चित्सम्प्रसादस्य  
 क्षेत्रज्ञस्य पूर्वभावश्चेतनाविशिष्टः परमव्योमैव परमात्मा हेतुस्तस्मात् तत् पूर्व-  
 परमव्योमस्वरूपेणाभिनिष्पत्तेरुभयमतेऽप्यविरोधमाह वादरायण ऋषिः ।  
 एषां मतावलम्बी वात्स्यायन उवाच । नित्यं सुखमात्मनो मोक्षेऽभिव्यज्यते ।  
 तेनाभिव्यक्तेनात्यन्तं युक्तः सुखी भवतीत्येके मन्यन्ते इति । व्याख्यायते  
 चेदम् । सम्प्रसादः क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुष इत्येकोऽर्थः । एष समन्निगुणावृतस्तु-  
 अव्यक्ताख्यः स महता जीवेनोपाहितः प्राज्ञः स जीवः । स य एष सम्प्रसादः  
 कारणतोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिर्दिव्यज्योतिरूपसम्पन्नं यदा स्वेन  
 रूपेणाभिनिष्पद्यते तदा नित्यं सुखमभिव्यज्यते । तेनाभिव्यक्तेन नित्येन



सुखेन युक्तः स रक्तः सुखी भवतीत्येते मन्यन्ते । लोके हि यत् सुखं भविष्यत्युच्यते तत् सुखं न नित्यम् । तेषां प्रमाणाभावादनुपपत्तिर्न प्रत्यक्षं नानुमानं नागमो वा विद्यते । नित्यं सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षेऽभिव्यज्यत इति ।

व्याख्यायते चेदं भाष्यम् । नित्यं सुखमात्मनः क्षेत्रज्ञस्य मोक्षे सत्यमिव व्यज्यते इति तेनाभिव्यक्तेन नित्यसुखेन युक्तोऽत्यन्तं सुखी भवतीति ये केचिदाहुस्तेषां तन्नित्यसुखाभिव्यक्तौ प्रमाणाभावादनुपपत्तिः । प्रमाणं हि तत्र प्रत्यक्षं नास्ति न चानुमानमर्थापत्तिः सम्भवोऽभावो वास्ति । नाप्यागम आप्तोपदेश ऐतह्यञ्चास्ति । नित्यं सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षेऽभिव्यज्यते इति यदुच्यते, तत्रापि नित्यस्याभिव्यक्तिः संवेदनं तस्य हेतुवचनम् । अस्य च भाष्यं स्वयमाह—नित्यस्याभिव्यक्तिः संवेदनं ज्ञानमिति । तस्य हेतुर्वाच्यः यतस्तदुत्पद्यत इति । इदञ्च व्याख्यायते । मोक्षे क्षेत्रज्ञस्यात्मनोऽणुपरिमाणस्य शिवरूपेणाभिनिष्पत्तौ महत्त्वपरिमाणं यथा व्यज्यते तथा तस्य यन्नित्यं सुखमभिव्यज्यत इत्युक्तं तन्नित्यस्य सुखस्योत्पत्त्यभावादभिव्यक्तिः संवेदनं ज्ञानं भवतीत्यर्थश्चेत् तदा तस्य ज्ञानस्योत्पत्तौ हेतुर्वाच्य इति जन्यज्ञानादतिस्तदा तस्य शिवरूपेणाभिनिष्पत्ताविति दोषस्तत्र । सुखवन्नित्यमिति चेत् संसारस्थस्य मुक्तेन विशेषः । यथा मुक्तः सुखेन तत् संवेदनेन च सन् नित्येनोपपन्नस्तथा संसारस्थोऽपि प्रसज्यते इत्युभयस्य नित्यत्वात् इति । भाष्यञ्च व्याख्यायते । मोक्षे सुखयुक्तनित्यपरमपुरुषरूपेणाभिनिष्पद्यते इति परमपुरुषस्य नित्यत्वेन सुखस्यापि नित्यत्वं तस्य ज्ञानस्यापि नित्यत्वमिति चेत् तदा संसारस्थस्य मुक्तेन पुरुषेण सह विशेषो नास्ति । यथा मुक्तः सन् नित्येन सुखेन नित्येन च तत्सुखसंवेदनेनोपपन्नः स्यात् तथा संसारस्थोऽपि पुरुषो नित्यसुखनित्यसंवेदनोपपन्नः प्रसज्यते । कस्मात् ? उभयस्य नित्यत्वात् । सर्व्वस्यैव पुरुषस्य संसारस्थस्यात्मा बद्धोऽपि नित्य एव तस्य सुखं नित्यं तत्संवेदनञ्च नित्यं यावन्महाप्रलयं वृत्तेते इति भावः । तदिष्टापत्तौ दोषमाह—अभ्यनुज्ञाने च धर्माधर्मफलेन साहचर्य्यं यौगपदं गृह्येत । यदिददुत्पत्तिस्थानेषु धर्माधर्मफलं सुखं दुःखं वा संविद्यते पर्यायेण इति । भाष्यञ्च व्याख्यायते । अभ्यनुज्ञाने मुक्तसंसारस्थयोस्तुल्यतस्वीकारे । धर्माधर्मफलेन संसारस्थस्य सुखदुःखेन स्वीयनित्यसुखस्य साहचर्य्यं यौगपदं गृह्येत । नित्यसुखस्यात्मस्थस्य धर्माधर्मफलसुखदुःखयोः साहचर्य्यं यौगपद्यञ्च भवतु । न चात्मस्थनित्यसुखेन धर्माधर्मफलसुखदुःखयोः साह-

चर्यं यौगपदं वा वर्तते । कस्मात् ? यद् यस्मादिदमुत्पत्तिस्थानेषु संसारेषु जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजयोनिषु जातेन पुरुषेण धर्माधर्मफलं सुखं दुःखं वा पर्यायेण क्रमेण संविद्यते ज्ञायते न तु युगपत् । परस्परविरोधात् । तत आत्मस्थनित्यसुखं धर्मफलमनित्यसुखं युगपत् संविद्यतां तथाऽनित्यसुखम् अधर्मफलं दुःखञ्च युगपत् संविद्यतामिति । नित्यसंवेदनंऽपि दोषमाह— तस्य च नित्यसंवेदनस्य च सहभावो यौगपदं गृहेत । न सुखाभावो नानभिव्यक्तिरस्ति । उभयस्य नित्यत्वात् अनित्ये हेतुरलम् इति । भाष्यञ्च व्याख्यायते । धर्माधर्मफलसुखदुःखस्य तस्य च नित्यसुखस्य नित्यसंवेदनस्य च सहभावः साहचर्यं यौगपदं गृहेत । संसारस्थस्यात्मनः स्वस्थनित्यसुखस्य स्वस्थनित्यज्ञानस्य च धर्मजसुखेनाधर्मजदुःखेन सह क्रमाद् यौगपदं साहचर्यं भवतु । तदिष्टापत्तौ दोषमाह—नत्यादि । आत्मनस्तु न सुखाभावोऽस्ति नित्यसुखवत्त्वात् । नाध्यनभिव्यक्तिरसंवेदनमस्ति क्षेत्रक्षेत्रेण नित्यज्ञानवत्त्वात्, कस्मात् ? उभयस्य नित्यत्वात् । उभयस्यात्मस्थस्य सुखस्य तत्संवेदनस्य नित्यत्वात् । अनित्ये सुखदुःखे नित्यत्ववचनं यदि क्रियते तदा हेतुर्धर्माधर्मफलं व्यर्थं भवति । अत्र मोक्षे नित्यगुणाभिव्यक्तिवादी भाषते यत् तदाह । अथ मोक्षे नित्यस्य सुखस्य सवेदनमनित्यम् ; यत उत्पद्यते स हेतुर्वाच्यः । आत्ममनःसंयोगस्य निमित्तान्तरसहितस्य हेतुत्वं । इति । भाष्यञ्च व्याख्यायते । मोक्षे यन्नित्यं सुखं संविद्यते नत्वं संवेदनमनित्यं यतस्तत्संवेदनमुत्पद्यते स च हेतुरयं वाच्यः । को हेतुरित्यन आह— आत्मेत्यादि । निमित्तान्तरैः सहितस्य मनःसंयोगस्य मोक्षे नित्यसुखसंवेदनोत्पत्तौ हेतुत्वं वक्तव्यं मयेति ।

तद् दूषयति । आत्ममनःसंयोगो हेतुरिति चेत्, एवमपि तस्य सहकारिनिमित्तान्तरसहितस्य हेतुत्वमिति चेत् तदा तदात्ममनःसंयोगस्य सहकारिनिमित्तान्तरवचनमिति धर्मस्य कारणवचनम् । इति । अस्य व्याख्या । आत्ममनःसंयोगो नित्यसुखसंवेदनोत्पत्तौ हेतुरिति एवमपि तस्यात्ममनःसंयोगस्य निमित्तान्तरसहितस्य हेतुत्वमिति चेत् तदा तदात्ममनःसंयोगस्य सहकारिसहकारिनिमित्तान्तरं यद् वक्ष्यते तद् धर्मस्य कारणत्वं भवतां वक्तव्यम् । तेन धर्मसहितस्यात्ममनःसंयोगस्य मोक्षे नित्यसुखसंवेदनोत्पत्तौ हेतुत्वमिति चेत् तदा तत्र दोषमाह—यदि धर्मो निमित्तान्तरं तस्य हेतुर्वाच्यो यत उत्पद्यत इति । योगसमाधिजस्य कार्यावसायविरोधात् प्रज्ञये

संवेदननिवृत्तिः । इति । भाष्यञ्च व्याख्यायते । मोक्षे नित्यसुखसंवेदनोत्पत्तौ खल्व्वात्ममनःसंयोगस्य हेतुत्वे यदि सहकारिनिमित्तान्तरं धर्म्मो भवता वाच्यः तदा तस्य धर्म्मस्य हेतुर्वाच्यो भवता यतो धर्म्म उत्पद्यते इति । वैधं कर्म्म वाच्यं तत् कर्म्मयोगसमाधिरूपं तज्जस्य धर्म्मस्य कार्यावसायविरोधात् । मोक्षे कार्याणां सर्वेषामवसानं भवति तस्य तदा विरोधात् प्रक्षये धर्म्मस्य कार्यस्य क्षय तद्धर्म्मजन्यस्य नित्यसुखसंवेदनस्यापि निवृत्तिः स्यादिति ।

अत्र यत् सुखवन्नित्यवादी भाषते, तदाह—यदि योगसमाधिजो धर्म्मो हेतुस्तस्य कार्यावसायविरोधात् प्रक्षये संवेदनमत्यन्तं निवर्त्ततेति संवेदने चाविद्यमाने नाविशेषः । इति । भाष्यञ्च व्याख्यायते । मोक्षे नित्यसुखसंवेदनोत्पत्तौ योगसमाधिजो धर्म्मो हेतुस्तस्य योगसमाधिजस्य धर्म्मस्य मोक्षे सर्वे कार्यावसायविरोधात् प्रक्षये तत् संवेदनं यद्यत्यन्तं निवर्त्ततेति तदा संवेदने चाविद्यमाने मोक्षे सुखवन्नित्यस्वरूपः स्यात् संसारस्थस्तु धर्म्माधर्म्मफलसुखदुःखसंवेदीत्यतो मुक्तसंसारस्थयोर्नाविशेषस्तुल्यत्वं भवतीति । अत्राह वादी—यदि धर्म्मक्षयात् संवेदनोपरमः, नित्यं सुखं न संविद्यते इति किं विद्यमानं न संविद्यतेऽथाविद्यमानमिति ? नानुमानं विशिष्टेऽस्तीति । व्याख्यायते चेदम् । मोक्षे योगसमाधिजधर्म्मक्षयात् संवेदनोपरमे सति यदि नित्यं सुखं न संविद्यते संवेदनाभावान्न ज्ञायते इति तर्हि तन्नित्यं सुखं विद्यमानं किं न संविद्यतेऽथवा तन्नित्यसुखमविद्यमानं न संविद्यते इति त्वनुमानं विशिष्टे मोक्षे सुखवन्नित्यस्वरूपे लिङ्गाभावान्नास्तीति ।

अत्राह प्रतिवादी । अप्रक्षयश्च धर्म्मस्य निरनुमानः, उत्पत्तिधर्म्मकत्वाद् योगसमाधिजो धर्म्मो न क्षीयते इति नास्त्यनुमानम् । उत्पत्तिधर्म्मकम् अनित्यमिति विपर्ययस्य त्वनुमानम् । इदञ्च भाष्यं व्याख्यायते । धर्म्मस्य अप्रक्षयो न प्रक्षयोऽस्ति तस्मान्निरनुमान इति सूत्रं, तस्य विवरणमाह—उत्पत्तिधर्म्मकत्वाद्धेतोर्न योगसमाधिजो धर्म्मः क्षीयत इत्यतो मोक्षे सुखवन्नित्यस्वरूपे नित्यसुखस्य नास्त्यनुमानं लिङ्गाभावात् । कथमुत्पत्तिधर्म्मको योगसमाधिजो धर्म्मो न क्षीयते इत्यत आह—उत्पत्तिधर्म्मकं सच्चमनित्यमिति । योगसमाधिजधर्म्माद्विपर्ययस्य धर्म्मस्य त्वनुमानं नश्वरत्वञ्च, योगसमाधिजो धर्म्म उत्पत्तिधर्म्मकत्वेऽपि नित्य इति बोध्यम् । कथमनुमानं स्याद्विपर्ययस्येत्यत आह—यस्य तु संवेदनोपरमो नास्ति तेन संवेदनहेतुर्नित्य इत्यनुमेयम् । इदञ्च भाष्यं व्याख्यायते । यस्योत्पत्तिधर्म्मकस्य सुखस्य संवेदनोपरमो

नास्ति तेन उपरमासद्भावेन संवेदनस्य हेतुत्पत्तिधर्मकोऽपि धर्मो नित्य इत्यतो योगसमाधिजधर्माद्विपर्ययधर्ममनुमेयं संवेदनात् तत्कारणात् । इति ।

तत्राह वादी । नित्ये च मुक्तसंसारस्थयोरविशेष इत्युक्तम् । यथा मुक्तस्य नित्यं सुखं तत्संवेदनहेतुश्च । संवेदनस्य तूपरमो नास्ति कारणस्य नित्यत्वात्, तथा संसारस्थस्यापीति । व्याख्यायते चेदम् । नित्ये चेति । यस्योत्पत्तिधर्मकस्य सुखस्य संवेदनोपरमो नास्ति तेनोपरमाभावेन तस्य सुखस्य संवेदनहेतौ नित्ये सति मुक्तसंसारस्थयोरविशेष इति यत् पूर्वमुक्तं तदेव भवतीति भावः । कथमिति चेत् तदोच्यते—यथेत्यादि । यथा मुक्तस्य नित्यं सुखं तन्नित्यसुखसंवेदनहेतुश्च नित्यस्तस्य हि संवेदनस्योपरमो नास्ति तत्कारणस्य योगसमाधिजधर्मस्य नित्यत्वात् । तथा संसारस्थस्याप्यात्मनः सुखं नित्यं तत्स्थं धम्मजञ्च सुखमनित्यमपि तस्य संवेदनोपरमाभावेन तत्संवेदनहेतोस्तत्पत्तिधर्मकस्यापि धर्मस्य नित्यत्वमिति मुक्तसंसारस्थयोः अविशेष इत्युक्तम् । एवं सति यत् फलितं तदाह—एवं सति धर्माधर्मफलेन सुखदुःखसंवेदनेन साहचर्यं गृह्यतेति । व्याख्यायते चेदं भाष्यम् । एवं प्रकारेण मुक्तसंसारस्थयोरविशेषे सति धर्माधर्मफलेन सुखदुःखेन तत्संवेदनेन च नित्यसुखस्य साहचर्यं योगपदं गृह्यतेति पूर्वमुक्तं भवति सम्पन्नम् । अत्राशङ्क्य दोषमाह—शरीरादिसम्बन्धः प्रतिबन्धहेतुरिति चेन्न, शरीरादीनामुपभोगार्थत्वाद् विपर्ययस्य चाननुमानात् । व्याख्यायते चेदं भाष्यम् । संसारस्थस्य धर्माधर्मफलेन सुखदुःखेन तत्संवेदनेन च नित्यसुखसंवेदनस्य साहचर्ययोगपदग्रहणे शरीरादिसम्बन्धः शरीरेन्द्रियमनोऽहङ्कारमहत्तत्त्वसम्बन्धः प्रतिबन्धक इति चेन्न । कस्मात् ? शरीरादीनाम् आत्मनो उपभोगार्थत्वात् । आत्मनो ह्युपभोगार्थाः शरीरादय आत्मना हि धर्माधर्मफलं सुखदुःखमुपभुज्यते शरीरादिभिर्विपर्ययस्य च धर्माधर्माभ्यासजन्यस्य नित्यसुखस्य चोपभोगः क्रियते तस्य त्वननुमानादनुमानाभावात् । अत्र नित्यसुखाभिव्यक्तिवादी त्वाह । स्यादेतत् संसारस्थस्य शरीरादिसम्बन्धो नित्यसुखसंवेदनहेतोः प्रतिबन्धकस्तेनाविशेषो नास्तीति । व्याख्यायते चेदम् । “एतत् स्यात् ।” किं स्यादित्यत आह—संसारस्थस्य आत्मनः शरीरादिसम्बन्धो नित्यसुखसंवेदनहेतोर्योगसमाधिजधर्मस्य प्रतिबन्धकस्तेन मुक्तसंसारस्थयोरविशेषो नास्ति, योगसमाधिस्तु सशरीरस्यैव भवति तज्जधर्मस्तु नित्यसुखसंवेदनस्य हेतुः शरीरादिसम्बन्धाभावे उत्पद्यते इति ।

एतद् दूषयति । एतच्चायुक्तं शरीरादय उपभोगार्थास्ते भोगप्रतिबन्धं करिष्यन्तीत्यनुपपन्नं, न चास्त्यनुमानमशरीरस्यात्मनो भोगः कश्चिदस्तीति । व्याख्यायते चेदं भाष्यम् । ये तु भोगार्थास्ते पुनर्भोगप्रतिबन्धका इति वचनम् अनुपपन्नमित्यतः शरीरादिसम्बन्धो नित्यसुखसंवेदनहेतोः प्रतिबन्धक एतच्च वचनमयुक्तम् । कस्मात् ? “यतो न चास्तीत्यादि ।” यतोऽशरीरस्य शरीरादिसंयोगशून्यस्यात्मनोऽनुमानं नास्ति तस्य कश्चिद्भोगोऽस्तीति च नानुमानं स्यादिति । अत्राशङ्क्य आह—इष्टाधिगमार्था प्रवृत्तिरिति चेन्न, अनिष्टोपरमार्थत्वात् । भाष्यञ्चेदं व्याख्यायते । इच्छाविषयीकृतस्य सुखस्यार्थं लोकः प्रवृत्तते न त्वनिष्टाधिगमार्थम्, इष्टं हि सुखं यत् पुनरनश्यति तस्मान्नित्यसुखार्थं मोक्षसाधनोपायान् कुरुते इति चेन्न । कस्मात् ? अनिष्टोपरमार्थत्वात् । अनिष्टोपरमार्था हि प्रवृत्तिरिति दुःखं मोक्षे तदुपरमः स्यादित्यर्थः । मोक्षे नित्यसुखाभिव्यक्तिवादी भाषते । इदमनुमानमिष्टाधिगमार्थो मोक्षोपदेशः प्रवृत्तिश्च सुमुक्षूणां नोभयमनर्थकमिति । व्याख्यायते चेदं भाष्यम् । इदमनुमीयते । मोक्षोपदेश आचार्यैर्यत् क्रियते स मोक्षोपदेश इष्टवस्त्वधिगमार्थ एव न त्वनिष्टनिवृत्तिमात्रार्थः । इष्टभिन्नम् अनिष्टमिष्टञ्च सुखं प्रह्लादकरत्नादिति दुःखं प्रह्लादहरत्वात् । तद्दुःखात्यन्तनिवृत्तिमन्तरेण केवलं सुखं न भवति सुखाभावे दुःखोदयो दुःखाभावे सुखोदय इति प्रतिनियमादनिष्टोपरमे त्विष्टाधिगम एव भवति तस्मादिष्टाधिगमार्थश्च सुमुक्षूणां योगादिषु प्रवृत्तिरित्यतो मोक्षोपदेशः प्रवृत्तिश्चेत्पुनर्यत् न निरर्थकमिति तर्को युक्त्यपेक्षस्तदनुमानमिति ।

एतदपि वादी दूषयति । एतच्चायुक्तमनिष्टोपरमार्थो मोक्षोपदेशः प्रवृत्तिश्च सुमुक्षूणामिति । एतत् पूर्वोक्तमिष्टाधिगमार्थो मोक्षोपदेशः प्रवृत्तिश्च सुमुक्षूणामिति यदनुमानं तदयुक्तम् । कस्मात् ? यतः अनिष्टोपरमार्थो मोक्षोपदेशः प्रवृत्तिश्च सुमुक्षूणामित्यनुमानम् नानर्थकमुभयम् । इष्टभिन्नमनिष्टमिष्टं सुखम् अनिष्टं दुःखं तदुपरमे नियमतो नित्यसुखं स्यादिति न यौक्तिकम् । कथम् इत्यत आह—नेष्टमनिष्टेनाननुविद्धं सम्भवतीतीष्टमप्यनिष्टं सम्पद्यते । अनिष्टहानाय घटमान इष्टमपि जहात्यविवेकहानस्याशक्यत्वादिति । व्याख्यायते चेदं भाष्यम् । इष्टं सुखं सुखजनकश्च यद् यत् तत् सर्वमनिष्टेन दुःखेन दुःखजनकेन वा भावेनाननुविद्धमनुविद्धमिन्नं न सम्भवति सर्वम् इष्टमनिष्टेनाननुविद्धमेव भवति । इत्यत इष्टमप्यनिष्टं भवति । दृश्यते च । अनिष्टहानाय दुःखदुःखजनकभावत्यागाय यद् घटते तत्र बुद्धिमानिष्टमपि जहाति । यथाश्वमेधादि-

निर्वाहार्थम् अश्वरक्षणायेष्टं पुत्रं नियुज्य युद्धे कश्चित् स पुत्रो हन्यते परेणेति । नन्वेवं नास्तु भवत्वेवम् । नानिष्टमिष्टेनानुविद्धं सम्भवतीत्यनिष्टमपीष्टं सम्पद्यते । इष्टाय घटमानोऽनिष्टमपि जहातीति । इत्यत आह । अविवेकहानस्य अशक्यत्वादिति । विवेकस्य सदसद्विवेचनाया अभावहानस्य त्यागस्य अशक्यत्वात् । अविवेचनानुविद्धो हि विवेकः । विवेचना हि सर्व्वः कर्मराम्भे सम्यक् कर्त्तुं न शक्यते नाविवेचनया किमप्यारभ्यते, किन्तु विवेचनया कर्त्तव्येऽपि सम्यग्विवेचनाकरणासामर्थ्यादिष्टाय घटमानो बुद्धिमाननिष्टम् अपि जहाति । अपरञ्चाह । दृष्टातिक्रमश्च देहादिषु तुल्यः, यथादृष्टमनित्यं सुखं परित्यज्य नित्यं सुखं कामयते । एवं देहेन्द्रियबुद्धीरनित्या दृष्ट्वा अतिक्रम्य मुक्तस्य नित्यदेहेन्द्रियबुद्धयः कल्पितव्याः । साधीयश्चैवं मुक्तस्य चैकात्म्यं कल्पितं भवतीति । इदञ्च भाष्यं व्याख्यायते । सुखस्य देहादिषु दृष्टातिक्रमः तुल्यः कथम् इत्यतो देहादिषु दृष्टातिक्रमस्तुल्यतां दर्शयति—यथेत्यादि । अनित्यं सुखं दृष्टं परित्यज्यादृष्टं नित्यं सुखं कामयते मुमुक्षुरिति सुखे दृष्टातिक्रमः । एवं देहेन्द्रियबुद्धयोऽप्यनित्या दृश्यन्ते दृष्टास्ता अतिक्रम्य मुक्तस्य नित्य-देहेन्द्रियबुद्धयो भविष्यन्त्यः कल्पितव्याः स्युर्नित्यसुखभोगार्थमिति । तेषां कल्पनामपेक्ष्य त्वमेव साधीयो भवति, यदस्माभिर्मुक्तस्य चैकात्म्यं परम-पुरुषेण सदैकात्मीभावः कल्पितो भवतीति सर्व्वसंयोगनिःसृतो मुक्तो भवतीति भावः ।

अत्राशङ्क्य दूषयति । उत्पत्तिविरुद्धमिति चेत् समानम्, देहादीनां नित्यत्वं प्रमाणविरुद्धं कल्पयितुमशक्यमिति समानं सुखस्यापि नित्यत्वं प्रमाणविरुद्धं कल्पयितुमशक्यमिति । व्याख्यायते चेदं भाष्यम् । उत्पत्तिविरुद्धमिति चेत् समानमिति सूत्ररूपं उत्पत्तिविरुद्धत्वं देहादेर्नित्यत्वं तेन न दृष्टातिक्रमः सुखेन तुल्यः । तत्र दोषमाह । समानमित्यादि । तस्य विवरणमाह—देहादीनामित्यादि । देहेन्द्रियबुद्धीनामुत्पत्तिविरुद्धं नित्यत्वं प्रमाणविरुद्धं प्रत्यक्षादिविरुद्धं कल्पयितुं न शक्यमिति तेन समानं, सुखस्यापि उत्पत्तिविरुद्धं नित्यत्वं प्रमाण-विरुद्धं प्रत्यक्षादिविरुद्धं कल्पयितुं न शक्यमिति । अथ तेषां प्रमाणाभावात् अनुपपत्तिर्न प्रत्यक्षं नानुमान नागमो वा विद्यते इति यदुक्तं तत्प्रत्यक्षानुमान-प्रमाणाभावं दर्शयित्वागमाभावं दर्शयति—आत्यन्तिके च संसारदुःखाभावे सुखवचनादागमे सत्यविरोधः । यद्यपि च कश्चिदागमः स्यात् । मुक्तस्य आत्यन्तिकं सुखमिति । इदञ्च भाष्यं व्याख्यायते । मोक्षे जाते आत्यन्तिके

संसारदुःखाभावे नितरां सुखवचनं क्रियत इत्यतः सत्यप्यागमे मोक्षे नित्य-  
सुखस्य न विरोधः । तद् यथा—यद्यपीत्यादि । यद्यपि मुक्तस्यात्यन्तिकं  
सुखमित्यागमः कश्चिद् वर्त्तते, तत्रापि न विरोधोऽस्ति । कथमित्यत आह—  
सुखशब्द आत्यन्तिके दुःखाभावे प्रयुक्त इत्येवमुपपद्यते । दृष्टो हि दुःखाभावे  
सुखशब्दप्रयोगो बहुलं लोके इति । भाष्यन्त्वेतत् स्पष्टम् । तत्रापि दुःखाभावः  
प्रतियोगित्वात् सुखमेवेति चेन्न दुःखभिन्नमन्यद् वस्तु सुखमिवास्ति तदेव  
परमपुरुषरूपत्वं दुःखाभाव उच्यते ।

अत्र पुनः सुखाभिव्यक्तिवादी भाषते । नित्यसुखरागस्याप्रहाणे मोक्षाभि-  
गमाभावो रागस्य बन्धसमाज्ञानात् । यद्ययं मोक्षे नित्यं सुखमभिव्यज्यते  
इति नित्यसुखरागेण मोक्षाय घटमानो न मोक्षमधिगच्छेन्नाधिगन्तुमर्हेति, बन्ध-  
समाज्ञातो हि राग इति । भाष्यञ्चेदं व्याख्यायते । यदि मोक्षे सुखशब्द-  
प्रयोगो दुःखाभावे भवति तदा नित्यसुखरागस्याप्रहाणे मोक्षाधिगमाभावा-  
पत्तिः । रागस्य बन्धसमाज्ञानात् । इदं स्वयं विवृणोति । मोक्षे नित्यं  
सुखमभिव्यज्यत इति नित्यसुखकामनया यद्ययं मोक्षाय घटमानो योग-  
समाधिषु प्रवृत्तो मोक्षे सुखं नाधिगच्छेत् तदा मोक्षमधिगन्तुं नार्हति । बन्ध-  
समाज्ञातो हि रागस्तस्य वर्त्तते बन्धे समाज्ञातो नियुक्त इति । कथं मोक्षमधि-  
गन्तुं नार्हतीत्यत आह—न च बन्धने सत्यपि कश्चिन्मुक्त इत्युपपद्यते । इति  
प्रहाणे नित्यसुखरागस्याप्रतिकूलत्वम् । इदञ्च व्याख्यायते भाष्यम् । बन्धने  
बन्धकारणे रागादौ सति कश्चिदपि मुक्त इति नोपपद्यते । इति हेतोर्माक्षे  
नित्यसुखाभिव्यक्तौ सत्यां नित्यसुखरागस्य प्रहाणे सति न प्रतिकूलत्वं  
नित्यसुखरागस्य मोक्षे सम्भवति । एतदपि दूषयितुमाह—अथास्य  
नित्यसुखरागः प्रहीयते तस्मिन् प्रहीणे नास्य नित्यसुखरागः प्रतिकूलो  
भवतीति । मोक्षे दुःखजन्मात्यन्तविमुक्तौ खल्वनेकस्यास्य मुक्तस्य नित्यसुख-  
रागः स्वयमेव तस्माद् प्रहीयते सुखे ह्यनुरज्यते दुःखार्त्त एव दुःखाभावे तु  
नानुरज्यते सुखायेति । तस्मिन् नित्यसुखरागे प्रहीणे सति नास्य मोक्षे नित्य-  
सुखरागो भवति प्रतिकूल इति । वात्स्यायनभाष्यं समाप्तम् ।

इत्थञ्च सम्प्रसादस्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पत्तौ मोक्षे शिव एव भवति न पृथग्  
वर्त्तते । क्षेत्रज्ञस्यात्मा हि शिवः क्षेत्रज्ञोपाधिमुक्षात् स एव शिवो भवति, जलं  
यथा महाजलाशये पतितं तज्जलेनैकं भवतीति । इति निःशेषनिवृत्तिर्माक्षस्तत्र  
सुखदुःखोभयनिवृत्तौ मुक्तस्य ब्रह्मरूपत्वे यदि न नित्यसुखमभिव्यज्यते सुख-

दुःखोभयस्य निवृत्तिश्च स्यात् तदा तैत्तिरीयोपनिषदुक्तम्—यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चनेति मन्त्रेण ब्रह्मण आनन्द उक्तः, स खल्वानन्दो नित्यस्तन्नित्यानन्दवान् पुरुष उत्तमः पुरुष ईश्वरः । पानञ्जले हीश्वर उक्तः । क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः । अस्य व्यासकृतभाष्यम् । अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति ? क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर इति । अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकः, तदनुगुणवासना आशयः । ते च मनसि वर्त्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते । स हि तत्फलस्य भोक्ता इति । यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते । यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः । कैवल्यं प्राप्ताः सन्ति च बहवः केवलिनः । ते हि त्रीणि छित्वा बन्धनानि कैवल्यं प्राप्ताः । ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी, यथा मुक्तस्य पूर्व्वेवन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य । यथा प्रकृतिलीनस्योत्तरवन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य । स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः । योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्तो निर्निमित्तो वेति । तस्य शास्त्रं निमित्तम् । शास्त्रं पुनः किं निमित्तं प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम् । एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोरनादिः सम्बन्धः । एतस्मात् एतद्भवति । सदैवेश्वरः सदैव मुक्तः इति । तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तं न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते । यदेवातिशयि यस्मात् तदेव तस्मात् काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः । न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति । कस्मात् ? द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्तु इति । एकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वं प्रसक्तम् । द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत्कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति । अर्थविरुद्धत्वात् । तस्माद्यस्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तमैश्वर्यं स ईश्वरः स च पुरुषविशेषः । सर्व्वेभ्यः पुरुषेभ्य उत्तम इत्युत्तमपुरुषः । एतदुत्तमपुरुषरूपेणाभिनिष्पत्तौ सम्प्रसादस्य मोक्षे यदानन्दवत् स्वरूपता स आनन्दो नाभिव्यज्यते मोक्षे नित्यमेव ताद्रूप्येण वर्त्तत इति । नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तौ इति ।

ननु तर्हि सुखदुःखोभयनिवृत्तिश्चेदपवर्गे ततः कथं सङ्गच्छते तल्लक्षणं यत् पुनः कपिलेन साङ्ख्यसंहितायामुक्तं मोक्षलक्षणम् । अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः । १ । अथशब्दोऽधिकारार्थो मङ्गलश्चास्योच्चारणात्



पुरुषाणां भवताति । अथाधिक्रियतेऽत्यन्तपुरुषार्थः । पुरुषस्य राशि-  
संज्ञकस्य स्थूलदेहिनः संसारदुःखसिन्धुमग्नस्यात्यन्तोऽर्थः प्रयोजनं मुख्य-  
फलं त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिः । त्रिविधं दुःखमाधिभौतिकमाध्यात्मिकमाधि-  
दैविकञ्च । पूर्वं व्याख्यातम् । तस्यात्यन्ता या निवृत्तिरप्रवृत्तिः साऽत्यन्त-  
पुरुषार्थः । अन्तं नाशमतिक्रान्ता या सात्यन्ता, अत्यन्ता चासौ निवृत्तिश्चेति  
अत्यन्तनिवृत्तिः, त्रिविधदुःखस्यात्यन्तनिवृत्तिरपुनर्भवप्रवृत्तिः । अत्यन्तोऽन्तम्  
अतिक्रान्तः पुरुषार्थ इत्यत्यन्तपुरुषार्थो मोक्ष इत्यर्थः । अत्यन्तनिवृत्तिरिति  
अन्तपदव्यावृत्तिमाह, न दृष्टात् तत्सिद्धिनिवृत्तेरप्यनुवृत्तिदर्शनात् । २ । दृष्टात्  
दुःखनाशकाद् धनपुत्रकलत्रादिकादर्थान्त् सुखप्राप्तौ सत्यां त्रिविधदुःखनिवृत्तौ  
जातायां तत्सिद्धिस्तस्यास्त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तेः सिद्धिर्न भवति ।  
कस्मात् ? निवृत्तेरपि त्रिविधस्य दुःखस्य पुनरनुवृत्तिदर्शनात् । धनपुत्र-  
कलत्रादिवदश्वमेधादिकमपि वैधं कर्म दृष्टमेव तज्जनितस्वर्गादिकमदृष्टमपि  
च्युतं न त्वत्यन्तं ततः पुनरिह संसरणात् त्रिविधदुःखानुवृत्तिर्भवतीति ।  
अत्यन्तपदव्यावृत्तिः स्वयं कृता । अत्यन्तपुरुषार्थ इत्यत्यन्तपदव्यावृत्तिं  
दर्शयति—प्रात्यहिकक्षुत्प्रतीकारवत् तत्प्रतिकारचेष्टनात् पुरुषार्थत्वम् । ३ ।  
प्रत्यहोत्पन्नक्षुधायाः प्रतीकारार्थं निवृत्त्यर्थं चेष्टा भोजनादिवत् । आधिभौति-  
कादित्रिविधस्य दुःखस्य पारलौकिकस्य चैहिकस्य च प्रतीकारार्थं निवृत्त्यर्थं  
नित्यनैमित्तिककाम्याश्वमेधादिकर्महिताहाराचारसदृष्टादिचेष्टनात् तत्तत्-  
त्रिविधदुःखनिवृत्तेः पुरुषार्थत्वं न त्वत्यन्तपुरुषार्थत्वम् । तत्तत्कर्मफलस्वर्गादि-  
सुखस्य नश्वरत्वेन नाशे सति तत्रिविधदुःखस्य पुनरनुवृत्तेः । ४ ।

ननु दृश्यते कस्यचिद्रसायनसेवनाच्छारीरत्रिविधदुःखानामत्यन्तनिवृत्तिः  
केषाञ्चिद्विदितसेविनां त्रिविधान्यतरस्य दुःखस्यात्यन्तनिवृत्तिः सा किमत्यन्त-  
पुरुषार्थ इत्यत आह । सर्वसम्भवात् सम्भवेऽपि सत्त्वासम्भवाद्धेयः प्रमाण-  
कुशलैः । ४ । रसायनसेवनात् कर्मान्तराद्वा सर्वेषां मनःशरीराधिष्ठानानां  
त्रिविधानां दुःखानामत्यन्तनिवृत्तेरसम्भवात् प्रमाणकुशलैः प्रज्ञानदक्षैस्त्रिविधा-  
न्यतमदुःखस्य शारीरमानसान्यतरत्रिविधस्य चात्यन्तनिवृत्तिरूपोऽत्यन्त-  
पुरुषार्थो हेयस्त्याज्यः शेषदुःखसद्भावात् । सम्भवेऽपि सोमरसायनादिसेवना-  
दत्युत्कटतपोभ्यो वा बहुब्रह्मायुष्कालपर्यन्तं कस्यचिच्छारीरमानसं त्रिविध-  
दुःखानां निवृत्तेः सम्भवेऽपि पुनरपायित्वेन तेषां निवृत्तेः सत्त्वासम्भवाच्चिरं  
वत्तेनसम्भवाभावात् सोऽपि पुरुषार्थो हेयः प्रमाणकुशलैरिति । त्रिविधेति पद-  
व्यावृत्तिः । अत्यन्तैत्यस्य च व्यावृत्तिः । ५ ।

ननु तर्हि कोऽत्यन्तपुरुषार्थ इत्यत आह—उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः । ५ । उत्कर्षादत्यन्तत्वादपि मोक्षस्य त्वत्यन्तपुरुषार्थत्वम् । कस्मात् ? सर्वोत्कर्षश्रुतेः । इदेताश्चतरोपनिषदि मन्त्रः । न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत् समश्चाप्यधिकश्च दृश्यते इति समातिशयाभावः श्रूयते । इत्यादि । ॥

ननुत्कर्षान्मोक्षस्य चेदत्यन्तपुरुषार्थत्वं तर्हि त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिः किं दुःखाविद्धसुखमत्यन्तपुरुषार्थ इति चेन्न । अविशेषश्रोभयोः । ६ । त्रिविधदुःखदुःखाविद्धसुखयोरुभयोश्च न विशेषोऽस्ति । सुखस्य नश्वरत्वेन काले स्वर्गादिसुखनाशे पुनर्दुःखप्राप्तेः सुखस्यापि दुःखमध्ये प्रक्षेपात् । सम्प्रसादस्य क्षेत्रज्ञस्य परव्योमशिवरूपेण निष्पत्तौ स्वस्वरूपाभावात् तद्वतनित्यसुखस्य अप्यभावात् कुत्रस्थनित्यसुखमभिव्यज्येतेति । तस्मान्नानन्दाभिव्यक्तिर्भुक्तिरिति तत्त्वम् ।

नन्वेवमशेषतो वेदनानिवृत्तौ सत्यां स योगी कीदृशः सन् जीवन् विचरतीति चेत् तदोच्यते । तैत्तिरीयोपनिषदि हुतम् । आनन्दमयो कोपानन्तरमनुप्रश्नः । उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य कञ्चन गच्छति ? आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य किञ्चित् समश्नुते ? इति प्रश्नः । विद्वान् ब्रह्मज्ञः । अस्योत्तरमुक्तं तत्रैव । असद् वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत । तदात्मानं स्वयमकुरुत तस्मात् तत् सुकृतमुच्यते । इति । यद्वै तत् सुकृतं रसो वै स रसं हेतुवायं लब्धानन्दीभवति । को हेतुवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष हेतुवानन्दयति । यदा हेतुवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनादये निरुक्ते निलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथ सोऽभयं गतो भवति । यदा हेतुवैष एतस्मिन्तदु दारमन्तरं कुरुतेऽथ तत् सभयं भवति । तदुभयं विदुषो मन्वानस्य । तदप्येष श्लोको भवति । भीषा वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । भीषाऽस्मादग्निश्चन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम इति । व्याख्यायते चेयं श्रुतिः । क्रियागुणव्यपदेशरहितमसदेवेदं सर्वमग्र आसीत् । तत् स्वगुणनिगूढा शक्तिर्ब्रह्म प्राक् सृष्टेः क्रियागुणव्यपदेशरहितासीत् । सर्गं प्रथमतस्तेजोऽसृजत । तत् तेजोऽसृजत् ता आपोऽन्नमसृजन्त । तास्तिस्रो देवतास्तेजोऽवन्नाख्या अनुप्रविश्य परा सा शक्तिर्ब्रह्म सा खल्वजा तेजोऽवन्नानि भूत्वा तान्यनुप्रविश्य लोहितशुक्लकृष्णवदाभासमाना वाग्देवी सरस्वती दुर्गा नाम गायत्री अतीन्द्रियध्वनिरूपा बभूवेति सा सदजायत । सैवाङ्गिज्ञेन घनीभूय परमव्योमरूपस्तदतीन्द्रियध्वनिमान् शिवो बभूव सोऽजः । एष परमात्मा पुरुषो नासन्न सत् । असच्च

सदसच्च । तमात्मानं स्वयं सुष्ठु अयः शुभावहविधिर्यस्मात् तं शिवमकुरुत । तस्मात् स्वयत्वात् तदात्मानं शिवं सुकृतमुच्यते । यद्वै यदेव तत् सुकृतं परमात्माख्य ब्रह्म रसो वै सः । स रस एव । प्रथमादिसर्वामृताश्रयत्वात् । तं रसमानन्दस्थे क्षेत्रज्ञे स्थितं तद्विष्णोः परमं परं ज्योतिःस्वरूपं शिवं प्रथमा-मृतवन्तमयं योगमास्थितः पुरुषो विद्वान् योगे लब्धानन्दीभवति । अमृतरसो हि सुखकरस्तद्व्याप्ते सुखवान् भवति ।

अत्र स्वयमाशङ्कते । को हेतवेत्यादि । तद्वत्सरूपानन्दमयलाभे क एवान्यात् प्रीतः स्यात् क एव प्राप्यात् प्राणकर्म्म स्याद् यत एष आकाश आकाश-भूतवदाकाश एव निर्लिप्त इति आनन्दोऽस्य न स्यादिति प्रश्नः । उत्तरयति । एष हेतवानन्दयति । यत एष आनन्दमयस्य क्षेत्रज्ञस्थितः शिवः समाधि-योगस्थितं पुरुषं जीवोपाधिमहत्तत्त्वोपाहितं प्राज्ञं क्षेत्रज्ञमानन्दयति महत्तत्त्वाख्यया विद्यया तमानन्दं भुञ्जानो जीवोपाधिः समाधिस्यः क्षेत्रज्ञ आनन्दीभवति न कैवल्यमेति । नन्वेव एकान्तत एव किमानन्दीभवति अनेकान्ततो वेत्यत आह—यदा हेतवेत्यादि । हि यस्मादेव जीवोपाधिः क्षेत्रज्ञः पुरुष एतस्मिञ्छरीरे अदृश्ये चानाश्रये निरुक्ते स्वत्वानन्दमये निलयने भयश्शून्यं यथा स्यात् तथा प्रतिष्ठामालम्ब्य स्थितिं लभतेऽथ तदनन्तरकालं सोऽभयं गतो भवति । यदा हि यस्मादेव जीवोपाधिः क्षेत्रज्ञो विद्वान् । एतस्मिञ्छरीरे तद इति । उभो द्रष्टीपदन्तरं त्रिगुणेनेपद्व्यवहितं तत् परमात्मानं कुरुते-ऽथानन्दमयस्य द्रव्यवधानाद्विदुषोऽपि तस्य भयं भवति । एतद्भयमभयभयं विदुषो मन्वानस्य भवति ।

ननु कुत आनन्दमये निलये प्रतिष्ठां गतस्य भयं भवतीत्यत आह—तदप्येष इत्यादि । अस्मात् सर्वभयङ्कराद्द्रुदादेव भीषा भयेन वातः पवते सततं गच्छन् सशोपयति । यस्माद् भीषा सूर्य उदेति । यस्माद् भीषा चन्द्रोऽग्निश्च उदेति । पञ्चमो मृत्युर्लोकानामन्तकाले नयनार्थं धावतीति । तस्मात् सर्वशासनात् शिवाद्भयं प्रतिष्ठां गतस्य कुतो भयं भवति तस्माद् व्यवधाने कथं नान्यस्माद्भयं स्यादित्यर्थः । नन्वेतदानन्दस्य को विचार इत्यत एतत्श्लोकानन्तरं तत्रैव तैत्तिरीयोपनिषदि । सैवानन्दस्य मीमांसा भवति । युवाध्यात्मसु युवाध्यापक आशिष्ठो द्रिष्टो बलिष्ठः । तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् । स एको मानुषानन्दः । ते ये शतं मानुषानन्दाः । स एको मनुष्यगन्धर्वानाम् आनन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वानामानन्दाः । स

एको देवगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देव-  
 गन्धर्वाणामानन्दाः स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः । श्रोत्रियस्य  
 चाकामहतस्य । ते ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः स एक  
 आयानंजानां देवानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमायान-  
 जानां देवानामानन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवानपयन्ति ।  
 श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एको देवा-  
 नामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवानामानन्दाः स एक  
 इन्द्रस्यानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः स एको  
 वृहस्पतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं वृहस्पतेरानन्दाः स  
 एकः प्रजापतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः  
 स एको ब्रह्मण आनन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । स यश्चायं पुरुषे  
 यश्च पश्वादौ यश्चासावादित्ये स एकः स य एवंवित् । तदप्येष श्लोको भवति ।  
 यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति  
 कुतश्चेति । अत्र ब्रह्मण इति यः पुरुषश्चायं पुरुषे क्षेत्रज्ञे वर्त्तते यश्च पश्वादि-  
 देवान्तेषु सर्वेषु वर्त्तन्ते य आदित्येऽस्मिन् सूर्ये वर्त्तते स एकः परः पुरुषो  
 ब्रह्म शिव एव तस्येयमानन्दस्य मीमांसा । एतं ब्रह्मणः शिवस्यानन्दं विद्वान्  
 कुतश्च न न विभेतीति जीवन्मुक्तस्य युक्तस्यानन्दमीमांसा । नन्वेवमस्य  
 तस्माल्लोकात् प्रेत्य किञ्चित् समश्नुत इति प्रश्नस्योत्तरमेतदनन्तरमुक्तम् ।  
 अस्माल्लोकात् प्रेत्यैतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामत्येतं प्राणमयमात्मानमुप-  
 संक्रामत्येतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामत्येतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामत्येत-  
 मानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति इति । अस्माल्लोकात् प्रेत्येति प्रकर्षेण गत्वा  
 न तु मृत्वा । तदेव तत्रैवोक्तं पुनः । स यश्चायं पुरुषे यश्च पश्वादौ यश्चासावादित्ये  
 स एकः स य एवंवित् । अस्माल्लोकात् प्रेत्य एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्येत  
 प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्येत मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्येत विज्ञानमयमात्मान-  
 मुपसंक्रम्येतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्येमान् लोकान् काममप्यनुपसञ्चरन्नेतत्  
 सामगायन्नास्ते इति । इमानन्नमयादीन् लोकान् स्वेच्छया कामी संन-  
 विचरन्ति । इति । ननु मृत्यार्यं किं स्यादितो वा कथं गच्छतीत्यतस्तदाह—  
 च्छान्दोग्योपनिषदि । “तदयं इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासीत तेऽर्चिष-  
 मभिसंभ्रवन्त्यर्चिषोऽहरहं आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षान् यानुदङ्ङ्हेति  
 पण्मासांस्तान् । मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याचन्द्रमसं चन्द्रमसो

अतः परं ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते ।

निःसृतः सर्वभावेभ्यश्चिह्नं यस्य न विद्यते ॥

विदुःशतं स तत्पुरुष एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्थाः इति ।” प्रश्नोप-  
निषदि । “हृदि ह्येष आत्माऽत्रैतदेकशतं नाडीनाम् । तासां शतं शतमेकैकस्यां  
द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्ति । आसु व्यानश्चरति ।  
अथैकयोद्ध उदानः । पुण्येन पुण्यं लोकं जयति पापेन पापमुभयाभ्यामेव  
मनुष्यलोकमिति ।” अथ स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्व-  
क्रामति । तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते, तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति  
चक्षुषो वा मूर्धो वाऽहन्येभ्यो वा शरीरदेहेभ्य इति योगिनो विद्यया  
पुण्यं वान्वधान् गच्छति पापे शत्रून् गच्छति विहीनपुण्यपापाः हृदयाग्रं  
ज्वलितमर्चिषमभिलक्ष्य सम्भवन्ति ते चक्षुरादितोऽहनि निष्क्रम्य दिनमभि-  
सम्भवन्ति दिनात् शुक्लपक्षं शुक्लपक्षादुत्तरायणमुत्तरायणात् संवत्सरं  
संवत्सरादादित्यमिति अग्निलोकमादित्याच्चन्द्रमसमिति वायुलोकं चन्द्रमसाद्  
विदुःशतमिति वरुणलोकम् । तत्र गतान् खल्वेतान् तपःश्रद्धादियुक्तान्  
क्षेत्रज्ञान् तत्पुरुषः सदाशिवो ब्रह्म गमयति । नैते पुनरावर्तन्ते । गीतायाश्च ।  
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्म-  
विदो विदुरिति । अग्निर्ज्योतिर्हृदयाग्रज्वलनज्योतिरभिप्रयान्ति । तस्मादहरहः  
शुक्लं पक्षं शुक्लपक्षादुत्तरायणमित्यादिक्रमेण तत्र देवयाने पथि प्रयाता  
ब्रह्मविदो ब्रह्म गच्छन्तीति विदुः । भ्रान्ता आहुर्दिवादिषु मरणे फलमिदम् ।  
तत्र श्रुतिविरोधात् । इति देवयानः पन्था उक्तः । दौर्वाससोपनिषदि च  
पाशुपतयोगे । चतुर्विंशशृङ्गे योग एष वै पञ्चविंशकः । षड्विंशश्च तथा  
क्षीयो ह्यध्यक्षः सप्तविंशकः । अष्टाविंशश्च पुरुषस्त्रिंशः पुरुषलोकधृक् । यं  
विदित्वा न शोचन्ति शिवं तं कथयामि ते । ऊनत्रिंशं तदा विद्याञ्ज्ञान-  
तत्त्वार्थचिन्तकः । त्रिंशकन्तु तदा ज्ञात्वा अमृतत्वाय कल्पते । इति पाशुपतयोग  
इति । इति द्वाविंशप्रश्नस्योत्तरम् ॥ ५० ॥

गङ्गाधरः—अत्र पुनरग्निवेशः पप्रच्छ । सर्व्ववित् सर्व्वसंन्यासी सर्व्व-  
संयोगनिःसृतः । एकः प्रशान्तो भूतात्मा कैर्लिङ्गैरुपलभ्यते इति । तत्रोत्तर-  
माह—अतः परमित्यादि । सोऽयं बद्धो भूतात्मा यः पुनःपुनरिह जायते स  
सत्यबुद्धेरुत्पत्तौ सर्व्ववित् सन् सर्व्व संन्यस्य ब्रह्मभूतः सन् नोपलभ्यते ।

गतिर्ब्रह्मविदां ब्रह्म तच्चाक्षरमलक्षणम् ।

ज्ञानं \* ब्रह्मविदाश्चात्र नाज्ञस्तज् ज्ञातुमर्हति ॥ ५१ ॥

प्रत्यक्षेणानुमानेनाप्तोपदेशेन वा सर्व्वथा नोपलभ्यते । तदा ह्यप्रमेयं भवति प्रमाणैरङ्गोयत्नात् । कस्मान्नोपलभ्यते ? सर्व्वं हेतुतत् कार्य्यं लिङ्गं लिङ्गेनानुमेयं स्यादित्यत आह—निःसृत इत्यादि । सोऽयं मुक्तो ब्रह्मभूतः सर्व्वभावेभ्यो निःसृतो यस्मात् तस्मात् तस्य नोपलब्धिरस्ति । कस्मात् ? यस्मात् तस्य चिह्नं लिङ्गमनुमितिसाधनं न विद्यते । ततः स कथमुपलभ्येत ? सर्व्व-  
भावान्निःसरणान्न तस्य किमपि कार्य्यं करणश्च विद्यते ततो लिङ्गश्च नास्तीति । तर्हि नास्तु लिङ्गग्राह्यः ज्ञानान्तरविज्ञेयोऽपि किं न स्यादित्यत आह—  
गतिरित्यादि । ब्रह्मविदां गतिर्ब्रह्मैव तच्चावलक्षणमक्षरश्च । अत्र ब्रह्मविदां योगिनां यत्सांख्यज्ञानयोगज्ञानं तज्ज्ञानङ्गोयत्नश्चास्ति मानसग्राह्यत्वन्तु नास्ती-  
त्यस्मादज्ञस्तद्ब्रह्म न ज्ञातुमर्हति । अत्रेयमाशङ्क्य । यदेवमात्मा कथं स खलु पुनः  
वध्यते केन वा बन्धनेनेति ? तत्रोच्यते । यदुक्तं लैङ्गे नवमाध्याये—सनत्-  
कुमार उवाच । कथं पशुपतिर्देवः पशवः के प्रकीर्त्तिताः । कैः पाशैस्ते  
निबद्धाश्च विमुच्यन्ते च ते कथम् । शैलादिरुवाच । ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च  
देवदेवस्य धीमतः । पशवः परिकीर्त्त्यन्ते संसारवशवर्त्तिनः । तेषां पतित्वाद्  
भगवान् रुद्रः पशुपतिः स्मृतः । अनादिनिधनो धाता भगवान् प्रभुरव्ययः ।  
मायापाशेन बध्नाति पशून्स्तान् परमेश्वरः । स एव मोचकस्तेषां ज्ञानयोगेन  
सेवितः । अविद्यापाशवद्धानां नान्यो मोचक इष्यते । तप्यते परमात्मानं  
शङ्करं परमेश्वरम् । चतुर्विंशतितत्त्वानि पाशा वै परमेष्ठिनः । पाशेभ्यो  
मोचयत्येष शिवो जीवानुपासितः । निबध्नाति पशून्नेकश्चतुर्विंशतिपाशकैः ।  
स एव भगवान् रुद्रो मोचयत्यपि सेवितः । दशेन्द्रियमयैः पाशैरन्तःकरण-  
सम्भवैः । भूततन्मात्रपाशैश्च पशून् बध्नाति च प्रभुः । इन्द्रियार्थमयैः पाशै-  
र्वध्नात्येव शिवः प्रभुः । पाशमुक्ता भवन्त्येते परमेश्वरसेवनात् । भज इत्येव  
धातुर्वै सेवायां परिकीर्त्तितः । तस्मात् सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिशब्देन भूयसी ।  
ब्रह्मादीन् स्तम्भपर्य्यन्तान् पशून् बद्ध्वा महेश्वरः । त्रिभिर्गुणमयैः पाशैः कार्य्यं  
कारयति स्वकम् । दृढेन भक्तियोगेन पशुभिः समुपासितः । मोचयत्येव  
तान् सद्यः शङ्करः परमेश्वरः । भजनं भक्तिरित्युक्ता वाङ्मनःकायकर्मभिः ।

सर्वकल्याणहेतुत्वात् पाशच्छदपटीयसी । सर्व्वेः सर्व्वग इत्यादि शिवस्य गुणचिन्तनम् । रूपोपादानचिन्ता वा मानसं भजनं विदुः । वाचिकं भजनं धीराः प्रणवादिजपं विदुः । वाचिकं भजनं सद्भिः प्राणायामादि कथ्यते । धर्म्मार्धर्म्ममयैः पाण्डेवैर्द्वानां देहिनामयम् । मोचकः शिव एवैको भगवान् परमेश्वरः । चतुर्विंशतितत्त्वानि मायाकस्मंगुणा इति । विषया इति कीर्त्यन्ते पाशा जीवनिबन्धनाः । तैर्वद्धाः शिवभक्तैर्गव मुच्यन्ते सर्व्वदेहिनः । पञ्चक्रे शर्मयैः पाण्डैः पशून् वध्नाति शङ्करः । स एव मोचकस्तेषां सम्यग् भक्त्या हुत्रपासितः । अविद्यामस्मितां रागं द्वेषश्च द्विपदां वराः । वदन्त्यभिनिवेशश्च क्लेशान् पाशत्वमागतान् । तमो मोहो महामोहस्तामिस्र इति पण्डिताः । अन्धतामिस्रमित्याहुरविद्यां पञ्चधा स्थिताम् । तान् जीवान् मुनिशार्दूलाः सर्व्वार्थैवापि विद्यया । शिवो मोचयति श्रेयान् नान्यः कोऽपीह मोचकः । अविद्यां तम इत्याहुरस्मितां मोहमित्यपि । महामोहमिति प्राहू रागं योगपरायणाः । द्वेषं तामिस्रमित्याहुरन्धतामिस्रमित्यपि । तथैवाभिनिवेशश्च मिथ्याज्ञानं विवेकिनः । तमसोऽष्टविधा भेदा मोहस्याष्टविधाः स्मृताः । महामोहप्रभेदाश्च बुधैर्देश विचिन्तिताः । अष्टादशविधं प्राहुस्तामिस्रश्च विचक्षणाः । अन्धतामिस्रभेदाश्च तथाष्टादशधा स्मृताः । अविद्यया न सम्बन्धो ज्ञानदातुः शिवस्य च । सर्व्वज्ञस्य तु मोहेन नातीतो नाप्यनागतः । भवेद्भाग्येण देवस्य शम्भोरङ्गजशासिनः । कालेषु त्रिषु सम्बन्धस्तस्य द्वेषेण न भवेत् । मायातीतस्य देवस्य स्थाणोः पशुपतेर्विभोः । तथैवाभिनिवेशेन सम्बन्धो न कदाचन । शङ्करस्य शरण्यस्य शिवस्य परमात्मनः । कुशलाकुशलैस्तस्य सम्बन्धो नैव कस्मिन् इत्यादि । एतदुपदेशेन प्रथमं परमात्मा शिवश्चित् सम्प्रसादं क्षेत्रज्ञमात्मानं मायया वध्नाति ततो ज्ञानविपर्य्ययैः पञ्चभिरविद्यादिभिर्वध्नाति न तु स्वभावधर्म्माधर्म्मादिभिः । अविद्याद्यज्ञानेन बद्धस्तु कस्माणि कुर्व्वस्तत्फलान् धर्म्माधर्म्मेण पुनर्वध्यते । तदुक्तं साङ्ख्ये—“ज्ञानान्मुक्तिः बन्धो विपर्य्ययाद् ।” विपर्य्ययाद् बन्ध इति ज्ञानविपर्य्ययादज्ञानात् क्षेत्रज्ञस्यात्मनो बन्धः स्वभोग्यदुःखहेतुमनःशरीरसंयोगः स्यात् ।

ननु कतिविधो ज्ञानविपर्य्यय इत्यत आह । विपर्य्ययभेदाः पञ्च । क्षेत्रज्ञस्य पुरुषस्यात्मनो मनःशरीराभ्यां बन्धस्य स्वभोग्यवेदनाहेतोः संयोगस्य कारणं यज्ज्ञानविपर्य्ययमज्ञानं तस्य भेदाः प्रकाराः पञ्च भवन्ति । ते योगशासने पातञ्जले प्रोक्ताः । तद् यथा—अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः । तत्र

अविद्याक्रमादनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिः । अस्मिता  
 त्वात्मनात्मनोरेकताप्रत्ययः । स च शरीराद्यतिरिक्त आत्मा नास्तीत्येवं  
 रूपम् । तेनानात्मन्यात्मख्यातिरविद्याऽस्मितातः पृथगेव नास्तिक्यज्ञानरूपा  
 ह्यस्मिता रागोऽनुरज्जनव्यापारः । स चेच्छाहेतुः । द्वेपस्तद्विपर्ययः । अभि-  
 निवेशो मरणादित्रासः । इति । रूपैः सप्तभिरात्मानं वध्नाति प्रधानं कोपकार-  
 वद्विमोचयत्येकरूपेण । ज्ञानैश्वर्यवैराग्यधर्माज्ञानानैश्वर्यवैराग्याधर्माणी-  
 त्यष्टौ प्रधानस्य रूपाणि प्रसिद्धानि । तत् तु प्रधानं स्वभावान्नियत्या यदृच्छया  
 चैव सर्गादौ परमात्मन्यनुप्रविष्टं क्षेत्रज्ञमाश्रित्य वत्तते । तथा वत्तमानं स्वभा-  
 वादिभिरेव कालतोऽभिव्यक्तसत्त्वादित्रिगुणलक्षणमव्यक्तं नाम भवति । तत्-  
 क्षेत्रज्ञानुप्रविष्टसमन्निगुणलक्षणमव्यक्तं प्रथमं प्रकृतिवद् आत्मा क्षेत्रज्ञः । स  
 पुनर्येनात्मानं मनुते स महान् मतिविद्या बुद्धिमेनः क्षेत्रज्ञस्येति स जीवो नामात्मा  
 तेन विशिष्टमव्यक्तं प्राणो नामात्मेति क्षेत्रज्ञस्य द्वितीयो बन्धो महता स च प्राण-  
 स्तया बुद्ध्याहमिति मन्यते तयाहम्मत्या विशिष्टः स आत्मा धीधृतिस्मृत्यहङ्कार-  
 लिङ्गः स्यात् । इत्यहङ्कारबन्धस्तृतीयः पुनरहङ्कारादुत्पन्नैः पञ्चभिर्महाभूतैः क्रमे-  
 णास्य बन्धो भवति । एवं महदादिभिः सप्तभी रूपैः प्रधानं क्षेत्रज्ञमात्मानं वध्नाति  
 कोपकारकीटवत् । स पुनराहङ्कारिकैर्दशभिरिन्द्रियैर्मनसा स्थूलभूतैश्च वध्यते  
 इति । एवम्भूतस्य बृहतो लोकस्य पुरुषस्य यद्यणोरणीयोरूपो नारायणेन  
 ब्रह्मणा सूक्ष्मदेहसर्गे संयोज्यते तदा स क्षेत्रज्ञः सूक्ष्मदेही निर्व्विशेषः स चतु-  
 र्योनिज एपोऽमुकोऽहमसावहमित्येवमभिमन्यते वध्यते च सप्तभिरैश्वर्या-  
 दिभिर्महतो रूपैरहङ्कारोऽभिमन्ता चेश्वरश्चेति धीधृतिस्मृतिभ्रंशरूपा बुद्धि-  
 रैश्वर्यादिसप्तविधा सत्यविद्यादिपञ्चधैकजीवोपाधिमत आत्मनः क्षेत्रज्ञस्य  
 लिङ्गमिति, तत्र रागादिभिः क्रिया वेदोक्ता वाङ्मनःशरीरैः खल्वारभ्यते  
 सम्यगसम्यक् च तत्सम्यगसम्यगारम्भाद् धर्माधर्माभ्यां पुनःपुनः कोपकार-  
 वन्निजकृतेन सूत्रेण वध्यते इति । वद्धश्चानित्यसुखदुःखात्मकवेदनां भुङ्क्ते ।  
 यदा सम्यग्बुद्ध्या वाङ्मनःशरीरैर्वैधावैधकर्माणि द्वेषान्नारभ्यन्ते तदा सर्व-  
 कर्मानारम्भादात्मानं वद्धं क्षेत्रज्ञं समबुद्धिरूपं प्रधानं विमोचयतीति अना-  
 रम्भादसंयोगात् तं दुःखं नोपतिष्ठत इति । नन्वेवं यद् वध्यते क्षेत्रज्ञस्तद्वन्धनं  
 स्वभावादेव भवति क्रमेण प्रधानाव्यक्तमहदहङ्कारादिष्वनुप्रवेशो नाज्ञानादिति  
 चेत् तत्राह । न स्वभावतो वद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः ।०। स्वभावतो वद्धः  
 सन् क्षेत्रज्ञो भूत्वा प्रधानेन वद्धो यदव्यक्तमनुप्रविश्यानन्दमय आत्मा



अभूत् तस्य मोक्षसाधनोपदेशो न विधीयते कैरप्याचार्यैः । स्वभावस्यानपायित्वात् ।

अत्राह वादी । स्वभावस्यानपायित्वादननुष्ठानमप्रामाण्यम् ।०। स्वभावस्य अपायशीलत्वाभावात् स्वभावतो वद्धस्य मोक्षार्थमनुष्ठानाविधानमप्रामाण्यं न प्रमाणसिद्धमपि त्वनुष्ठानोपदेशः कर्त्तव्य इति । तत्रोत्तरमाह । नाशक्योपदेश-विधिरुपदिष्टेऽप्यनुपदेशः ।०। अशक्ये शक्त्यसाध्ये फले साधनार्थमुपदेशकरणं न युज्यते । कस्मात् ? यत् उपदिष्टेऽप्यनुपदेशः । अशक्यफलसाधनोपाये तूपदिष्टेऽप्यनुपदेशो भवति साधने शक्त्यभावादिति । अत्राशङ्कते—शुक्लपटवद्-बीजवच्चेति ।०। यथा स्वभावसिद्धस्य पदानां शुक्लस्य रागविधानादपायः स्याद् यथा बीजानामङ्कुरकारित्वस्वभावस्याग्निदाहादिनापायः स्यात् तथा स्वभावतो वद्धस्य क्षेत्रज्ञस्य प्रधानेन वद्धस्य बन्धापाये बन्धापाय इति चेत्, तत्राह—शक्त्युद्भवानुद्भवाभ्यां नाशक्योपदेशः ।०। स्वभावस्यापायहेतुभूतकर्मसाधने शक्तिरुद्भवति वा नोद्भवति इति अशक्ये साधनोपदेशो न क्रियते । ननु तर्हि किं क्षेत्रज्ञस्यात्मनः प्रधानेन बन्धः कालतः स्यादित्यत आह—न काल-योगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात् ।०। प्रधानानुप्रविष्टस्याव्यक्ताख्य-स्यात्मनो न कालयोगतो बन्धः स्यात् । कस्मात् ? व्यापिनो नित्यस्य कालस्य सर्वसम्बन्धात् । तर्हि किं देशयोगतो बन्ध इत्यत आह—न देशतोऽप्यस्मात् ।०। देशयोगतोऽपि न पुरुषबन्धः । कस्मात् ? अस्मात् व्यापिनो नित्यस्य देशस्य सर्वसम्बन्धात् । न हि दृश्यन्ते खादयो देशेन बद्धाः । तर्हि किमवस्थातो बन्धः स्यादित्यत आह । नावस्थातो देहधर्मत्वात् तस्याः ।०। यादूप्येण यदा वर्तते तादूप्येण वृत्तिरवस्था । तद्योगतो न पुरुषबन्धः स्यात् । कस्मात् ? देहधर्मत्वात् तस्याः । तस्या अवस्थाया देहधर्मत्वात् पुरुषस्य बन्धायोग्यत्वात् ।

ननु शरीरविशेषेणात्मनो विशेषोपलब्धिरतः कथं देहधर्मेणावस्थया न पुरुषबन्धः स्यादित्यत आह—असङ्गोऽयं पुरुष इति ।०। आकाशवदतिविशद-त्वादसङ्गोऽयं पुरुषो भौतिकशरीरीयावस्थया बद्धः न शक्यते, तर्हि किं कर्मणा पुरुषो बध्यत इत्यत आह—न कर्मणाऽन्यधर्मत्वादतिप्रसक्तेश्च ।०। पुरुषस्य बन्धो न कृतेन शुभाशुभकर्मफलेन भवति कर्मणोऽन्यधर्मत्वादात्मनोऽन्यस्य भूतात्मनो धर्मं वाङ्मनःशरीरकृतकर्मफलं कर्म । तच्छरीरागतत्वेनात्मनो यदन्यधर्मेण कर्मणा बन्धः स्यात् तदाऽतिप्रसङ्गः स्यात् सर्वस्य सर्वधर्मेण

वन्धः सम्भवति । अन्यधर्मत्वे कर्मणो दोषमाह—विचित्रभोगानुपपत्तिरन्य-  
 धर्मत्वे ।०। कर्मणोऽन्यधर्मत्वे पुरुषस्य तत्कर्मजविचित्रभोगानुपपत्तिः  
 स्यात् । विचित्रभोगो हि लोकेऽस्मिन्नमुष्मिंश्च नानाविधभोग इति । प्रकृति-  
 निवन्धनाच्चेन्न तस्या अपि पारतन्त्र्यम् ।०। प्रकृतिनिवन्धनाच्चेत् पुरुषस्यात्मनो  
 विचित्रभोगः स्यादिति चेन्न, यस्मात् तस्या अपि पारतन्त्र्यम् । अचेतन-  
 त्वादस्वातन्त्र्यम् । पारतन्त्र्यं चेत् तदा कथं प्रकृतेः पुरुषेण योगः स्यादित्यत  
 आह—न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादते ।०। नित्यम्  
 अविच्छेदेन शुद्धं निर्मलत्वं बुद्धत्वं मुक्तत्वं स्वभावो यस्य तस्य नित्यशुद्ध-  
 बुद्धमुक्तस्वभावस्यात्मनश्चैतन्यहेतोः परमपुरुषस्य तद्योगात् क्षेत्रज्ञेन योगादते  
 क्षेत्रज्ञस्य प्रकृतियोगो न भवति । तद्धि किमविद्यया क्षेत्रज्ञस्य वन्धः स्यादित्यत  
 आह—नाविद्यातोऽप्यवस्तुना वन्धायोगात् ।०। क्षेत्रज्ञस्यात्मनो नाविद्यया वन्धः  
 स्यात् । कस्मात् ? अवस्तुना वस्तुनो वन्धस्यायोगात् । यथा शशविषाणेन  
 वेधो न भवति । अविद्या ह्यवस्तु वस्तु चात्मेति । नन्वविद्या नावस्तु भवतीति  
 चेत् तदाह—वस्तुत्वे सिद्धान्तहानिः ।०। अविद्याया वस्तुत्वे स्वीकृते त्रिगुण-  
 वैषमात्मिकायास्तस्याः कार्याणामहङ्कारादीनां सर्वेषां वस्तुत्वे नित्यत्वप्रसङ्गात्  
 सर्वेषां जगतामनित्यत्वसिद्धान्तस्य हानिः स्यात् । तत्र क्षेत्रज्ञवदविद्याया  
 अपि नित्यत्वमनादित्यमिति चेत्, तत्र दोषमाह—विजातीयद्वैतापत्तिश्च ।  
 अविद्याया वस्तुत्वे प्रकृतिवदन्यवस्तुत्वे विजातीयद्वैतापत्तिः सजातीय-  
 द्वैतत्वन्तु न द्वैतत्वं स्यात् । तत्रापि । विरुद्धोभयरूपा चेत् ।०। विरुद्धं सच्चा-  
 सच्च तदुभयात्मिकैवैका विद्या भवतीति चेत्, न तावदपदार्थाप्रतीतेः ।०। परस्पर-  
 विरुद्धधर्मसदसदुभयात्मिका त्वविद्या भवतीति चेन्न । कस्मात् ? तावत्  
 अपदार्थाप्रतीतेः । सदसदात्मिकायास्तस्याः कार्यस्य तावदपदार्थस्यासदंशी-  
 भूतस्याप्रतीतेः । वस्तुभूतसदंशात्मकत्वेन प्रतीतेः सदात्मिकैवाविद्या । तद्धि  
 चाविद्या न पदसु पदार्थेषु कोऽपि पदार्थस्तत्राह—न वयं पदपदार्थवादिनो  
 वैशेषिकादिवत् ।०। न खलु पदेव पदार्था इति नियमः, पदपदार्थादप्यतिरिक्त-  
 पदार्थदर्शनात् । पदपदार्थाः प्रमेयाणि तेभ्योऽतिरिक्तं प्रमेयमप्यस्ति । तस्माद्  
 अविद्या नापदार्थो न चावस्तु । न च पदसु पदार्थेषु किमपि । तस्मान्न पदार्थ-  
 प्रतीतिः पदार्थत्वादविद्यायाः । तद्धि द्रव्यगुणादिपदार्थानियमे किमयौक्तिकं  
 यत् तत् पदार्थत्वेन संगृह्यत इत्यत आह—अनियमत्वेऽपि नायौक्तिकस्य संग्रहो-  
 ऽन्यथा वालोन्मत्तादिसमलम् ।०। द्रव्यगुणकर्मादिपदार्थनियमाभावादपि न

खलु युक्त्यसिद्धं स्वच्छया यत् तत् किमपि संगृह्यते । परन्तु यौक्तिकस्य पदार्थस्य संग्रहः क्रियते । न तु अस्ति खपुष्पमस्ति शशविपाणमित्येवमलोकस्य संग्रहः क्रियते । अन्यथा यदि यौक्तिकस्य संग्रहमात्रं न कृत्वा यौक्तिका-यौक्तिकस्य संग्रहः क्रियते, तदा वालोन्मत्तादीनां खपुष्पशशविपाणादिवचन-समं यथा तथोक्तिकरणं स्यात् ।

ननु पुरुषस्यानादिकाय्येभूतविषयवासनोपरागाद् बन्धः स्यादित्याशङ्क्या-  
माह—नाऽनादिविषयोपरागनिमित्तकोऽप्यस्य ।०। अस्य खलु क्षेत्रज्ञस्य पुरुषस्य  
अनादिना प्रवाहरूपेण कार्य्यभूतेन विषयेण भोग्येनोपरागनिमित्तकोऽपि बन्धो  
न भवति । यथा जवादिकुसुमादुपरागेण स्फटिकादिषु रक्ततादिरिति ।  
कस्मात् ? न बाह्याभ्यन्तरयोरुपरज्योपरञ्जकभावोऽपि देशव्यवधानात् श्रुघ्न-  
पाटलिपुत्रस्थयोरिव ।०। बाह्यानां सदसद्भावानामिन्द्रियविषयाणां तृष्णा-  
जनकानामाभ्यन्तरस्य क्षेत्रज्ञस्य देशव्यवधानात् महदहङ्कारमनोमनोमयप्राण-  
प्राणमयान्नमयैर्देशैर्व्यवधानादुपरज्योपरञ्जकभावो न सम्भवति यथा श्रुघ्नपाटलि-  
पुत्रयोर्वहुदेशव्यवधानान्नोपरज्योपरञ्जकता सम्भवति । नन्वस्ति सान्नित्यं  
विषयात्मनोर्यथेन्द्रियाणामन्तःशरीरस्थानां बाह्येष्वर्थेषु सान्निध्याद् ग्रहणं  
भवतीत्याशङ्क्यामाह—द्वयोरेकदेशलब्धोपरागान्न व्यवस्था ।०। यदिन्द्रियाणा-  
मर्थेषु सन्निकर्षवदात्मनो बाह्येषु विषयेषु सन्निकर्षाद् विषयोपरागेणात्मनो  
बन्ध उच्यते, तदात्मन एकदेशेनैव बन्धः स्यादेकदेशेन मुक्त एव वर्त्तते इत्येकदेश-  
लब्धोपरागाद्द्वयोर्वन्धमोक्षयोर्योगपदं भवतीत्यतो व्यवस्था न भवति ।

ननु तर्हि चादृष्टवशाद् बन्धः स्यादित्याशङ्कते । अदृष्टवशाच्चेत् । पुरुष-  
बन्धः स्यादित्युच्यते तदा । न द्वयोरेककालयोगादुपकार्य्योपकारकभावः ।  
आत्मा क्षेत्रज्ञो यदि तददृष्टवशाद्बद्ध एतद्राशिपुरुषरूपेण जायते, तदा तयो-  
र्द्वयोरात्माऽदृष्टयोरेककालयोगाभावादुपकार्य्योपकारकभावो न स्यात् न हेतुक-  
कालमात्मा चादृष्टश्च वर्त्तते । पूर्वं यदि नात्माऽवर्त्तिष्यन्न तदात्मा नित्यो-  
ऽभविष्यत् । अदृष्टत्वात्मना वद्धेन राशिपुरुषरूपेण भूत्वा कृतस्य वैधावैध-  
कर्मणः फलं धर्माधर्ममुच्यते । तस्यादृष्टस्य चात्मबन्धे तु नास्त्युपकारकता ।  
तत्राशङ्कते । पुत्रकर्मैवत् इति चेत् । पुत्रेणोपकार्य्यं तस्य पुत्रस्य संस्कार-  
कर्म । पुत्रस्य तदधिकरणत्वात् । पुत्रो हि संस्कार्य्यस्तं पुनः संस्कार-  
उपकुर्वते । बीजगर्भादिदोषापनयादिति पुत्रकर्मणोरुपकार्य्योपकारकभाव-  
वदात्मादृष्टयोर्जनकजातयोरुपकार्य्योपकारकत्वमस्त्येवेति चेत् । नास्ति हि तत्र

स्थिर एकात्मा यो गर्भाधानादिना संस्क्रियते । पुत्रकर्मवदुपकार्योपकारक-  
भावोऽस्त्यात्मादृष्टयोरिति चेन्न । कस्मात् ? अस्ति हीत्यादि । हि यस्मात्  
तत्र पुत्रकर्मणि स्थिर एक एवात्मा य आत्मा गर्भाधानादिना संस्क्रियते ।  
न तु गर्भाधानादिना कर्मणा संस्कृतः पुत्र एवात्मा तत्पुत्ररूपत्वेन स्थिरत्वं  
व्याहन्यते । तथात्मनोऽदृष्टेन न स्थिरत्वं व्याहन्यते ।

ननु गर्भाधानादिसंस्कारैर्गुणान्तरमुत्पद्यते तेनोपनयनादिना वेदाध्यय-  
नादिक्षमत्वेन विशिष्टरूपो द्विजो भवतीति नास्ति तत्रैकात्मस्थिरतेति चेत्  
तत्राह—स्थिरकार्यसिद्धेः क्षणिकत्वम् ।०। वद्धस्यादृष्टवशतो जातत्वे क्षणिकत्वं  
स्यात् । कस्मात् ? संस्कारसंस्कार्ययोरुपकारकोपकार्यत्वेऽपि यवनाद्यन्नादि-  
सेवने पूर्वसंस्कारलोपे पुनः संस्कार्यत्वविधानात् संस्कारस्य स्थिरकार्य-  
सिद्धेः तद्वददृष्टस्यापि नाशे बन्धस्य नाशात् प्रतिक्षणं बन्धतन्नाशयोरपत्तिः  
स्यादिति । अत्रोत्तरमाह वादी । न प्रत्यभिज्ञावाधात् ।०। पुत्रकर्मणोरिवात्मा-  
दृष्टयोरुपकार्योपकारकभावे स्थिरकार्यसिद्धेर्बन्धस्य क्षणिकत्वं न ।  
कस्मात् ? प्रत्यभिज्ञावाधात् । यथा योऽसौ पुत्र उपनीतः स एवायं  
यवनाद्यन्नादिदोषात् पुनरुपनीयते इति पुनरुपनयनकर्मणि प्रत्यभिज्ञया  
कार्यस्योपनयनस्यास्थिरत्वस्य वाधात् । तथात्मा योऽसौ कृतेन केनचित्  
कर्मफलेन वद्धः, स एवायं तत्कर्मफलनाशेऽप्यपरकर्मफलेन बध्यते । इति  
प्रत्यभिज्ञया कार्यस्य फलानुबन्धिकर्मणोऽस्थिरत्वस्य वाधात् । ननु यद्-  
वस्त्रं शुक्लमहं पर्यधां तदेवेदं कृष्णमलिनमिति रजकेन कृतस्य वस्त्रसंस्कारस्य  
शुक्लगुणाधानस्य नाशदर्शनात् कार्यार्थाणां स्थैर्यस्यासिद्धेर्बन्धस्यादृष्टकृतस्य  
क्षणिकत्वं तददृष्टस्य नाशात् इत्याशङ्कयामाह । श्रुतिन्यायविरोधाच्च ।०।  
श्रुतिर्हि । असद् वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायतेति । तस्य च्छान्दोग्ये  
ब्राह्मणः । असदेवेदमग्र आसीत् तत् सदासीत् । तत् सदभवदिति । पुनश्च  
प्रदुक्तं सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तद्धेतुक आहुः । असदेवेद-  
मग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायेतेति । तत्र न्यायः । कुतस्तु  
खलु सौम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति सत्त्वेव सौम्येदमग्रं  
आसीदेकमेवाद्वितीयमिति, असत्पदेन सदेव वस्तु तस्मात् सतो जन्म न त्वसतः ।  
खल्ववस्तुतो वस्तुनः सतो जन्मेति श्रुतिन्याययोर्विरोधाच्चात्मनोऽदृष्टतो  
बन्धस्य न क्षणिकत्वं सत्कार्यत्वेनादृष्टस्य नित्यत्वात् । नन्वसद्वा इदमग्र  
आसीत् ततो वै सदजायतेत्यस्य मन्त्रस्य सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्

इति श्रुतेः । असदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायेतेति श्रुत्या सह विरोधात् क्षणिकत्वमेव संशेते इत्याकाङ्क्षायामाह । दृष्टान्ताऽसिद्धेश्च । ० । पुत्रकर्मवदिति दृष्टान्तेन चादृष्टवशादात्मनो बन्धस्य क्षणिकत्वस्यासिद्धेश्च । नादृष्टवशादात्मनो बन्धस्य क्षणिकत्वमिति । दृश्यते ह्युपनयनसंस्कारो न नवज जीवं वृत्ते विवाहादिना न नश्यति यवनाद्यन्नादिदोषाच्च पापापनयनार्थं पुनरुपनीयते, न तु पूर्वोपनयनं नश्यति । अन्यथा पुनरुपनयने पोद्गशादि-वर्षात्यये व्रात्यत्वापत्तिरिति । अत्र सिद्धान्तमाह । युगपज्जायमानयोर्न कार्यकारणभावः । ० । नियतपूर्ववर्त्ति हि कारणं, पश्चादुत्पद्यते कार्यमिति युग-पदेककालं जायमानयोर्द्वयोर्न कार्यकारणभाव उपपद्यते विनिगमना-भावात् । तस्मादुपनयनसंस्कारो यदा क्रियते तदैव न स वेदाध्ययनाद्यधिकारी भवति कृतोपनयनस्तु भवतीति न युगपज्जायमानौ तावुपनयनवेदाध्ययनाद्य-धिकारी । तद्वद्भावस्त्वत्र नास्ति यदा हि पुरुषो न वध्यते न तदा शुभाशुभ-फलकर्माणि करोति वद्ध एव करोति, तत् कथं कर्मफलेनादृष्टेन पूर्वो-प्रसिद्धेन बन्धः स्यादिति भावः ।

ननु कस्मान्न युगपज्जायमानयोः कार्यकारणभाव इत्यत आह । पूर्वोपाये उत्तरायोगात् । ० । पूर्वोपाये पूर्वस्य प्रकृतिभूतकारणस्यापाये सत्युत्तरस्य कार्यस्यायोगात् । कारणस्यापायकाले हि कार्योत्पत्तिने तु कारणोत्पत्ति-काले, तस्माद् युगपज्जायमानयोर्न कार्यकारणभाव इति । ननु वध्यमानः कर्माणि कुर्वते शुभाशुभानीति यौगपदे कार्यकारणभावः सम्भवतीत्यत आह । तद्भावे तदयोगादुभयव्यभिचारादपि न । ० । तद्भावे यदा कारणं जायते तदा तस्य कार्यस्यायोगात् । उभयव्यभिचारादपि । यद्यस्य कारणमुच्यते तत् तस्य कार्यं कथं न स्यादित्युभयस्य कार्यत्वमुभयस्य कारणत्वं व्यभि-चरतीत्यतो न युगपज्जायमानयोः कार्यकारणभाव इति । ननु तर्हि कारणस्य पूर्ववर्त्तित्वनियमे यो यस्य पूर्ववर्त्ती स तस्य किं हेतुरित्यत आह । पूर्व-भावमात्रेणानियमः । ० । अन्यथा यदि सिद्धिर्भवति तदा स पूर्ववर्त्ती न कारण-त्वेन नियम्यते । यत् पूर्ववर्त्तिनं विना कार्यं न नियमतः सिध्यति तत् तस्य कारणमिति न पूर्ववर्त्तित्वमात्रेण नियम इति । यथा रासभाभावेऽन्येनापि घटार्थं मृदानयनं भवतीति न रासभो घटोत्पत्तौ नियतकारणमिति । ननु तर्हि पारत्रिकगतिविशेषात् किं बन्धः स्यादित्यत आह । न गतिविशेषात् । ० । पारत्रिकगतिविशेषान्न बन्धः । कस्मात् ? निष्क्रियस्य तदसम्भवात् । ० ।

निष्क्रियस्य क्षेत्रज्ञस्य गतेरसम्भवात् । ननु श्रूयते पञ्चविधा गतिरित्याशङ्क्याह । गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत् ।०। यथा घटादुपाधिमानाकाशश्चलति तथात्मनो गतिर्जीवोपाधियोगात् । तस्माद् विपर्ययाद् बन्ध इति निष्कर्षः । इति चतुर्विधबुद्धियोगात् पुरुषस्य बन्ध उक्त इति । नन्वेवं बद्धः पुरुषः कथं पुनः पुनर्जायते लोके मृत्वा च परलोकं गच्छति । तत्र कारणं बीजभूतं यत् तत् खलूक्तं प्रश्नोपनिषदि—संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणश्चोत्तरश्च । तद् ये ह वै तदिष्टापूर्त्तं कृतमित्युपासते । ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजायन्ते त एव पुनरावत्तेन्ते । तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते । एष ह वै रयियः पितृयानः इति । मुण्डकोपनिषदि च । पुषा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशाक्तमवरं येषु कम्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं पुनरेवापि यन्ति । अविद्यायामन्तरे वत्तेमानाः स्वयंधीराः पण्डितम्मन्यमानाः । जडून्यमाना परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः । अविद्यायां बहुधा वत्तेमाना वयं कृतार्था इत्यभिनन्दन्ति वालाः । यत्कस्मिणो न प्रवेदयन्ति रागा तेनातुराः क्षीणलोकाश्चरन्ते । इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः । नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति । इति । छान्दोग्योपनिषदि च । स जातो यावदायुषं जीवति तं प्रेतदिष्टमितोऽग्र्य एव हरन्ति यत एवेतो यतः सम्भूतो भवति । तं प्रेतदिष्टं प्रेतस्य मृतस्य दिष्टं भाग्यं तं पुरुषं श्मशाने अग्रये दाहाद्येमेव बान्धवैर्नीत्वा यैरग्निभिर्दह्यमानं तेऽग्र्य इतो हरन्ति । ततः प्रेतशरीराद्दह्यमानाद् दिष्टं भाग्यं भास्वरपुरुषरूपे उत्तिष्ठति । तदुक्तं बृहदारण्यके च । स जीवति यावज्जीवत्यथ यदा म्रियते । अर्धेनमग्रयो हरन्ति तस्याग्निरेवाग्निर्भवति । समित् समित् धूमो धूमोऽर्धिरर्धिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः पुरुषं जुह्वति, तस्या आहुत्याः पुरुषो भास्वरवर्णो भवति इति । स एव दिष्टपुरुषो धूमादिकमभिसम्भवंश्चान्द्रमसं लोकं प्रतिपद्यते । उक्तञ्च गीतायाम् । धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः पुष्पासा दक्षिणायनम् । तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्यागी प्राप्य निवत्तेते इति । अत्र योगी इष्टापूर्त्तादिकर्मयोगीति । उक्तञ्च छान्दोग्ये । अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्तं दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति । धूमाद् रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान् पङ्क्तिक्षिणैति मासांस्तान्नैति संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चान्द्रमसमेव सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति । तस्मिन् यावत् सम्पातमुपित्वाऽथैतमेवाध्वान् पुनर्निवत्तेन्ते यथैत-

आकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवति अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षेति । त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते । अतो वै खलु दुर्निष्पत्तरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति । तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत् ते रमणीयं योनिमापदेरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा । अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत् ते कपूयां योनिमापदेरन् शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा । अथैतयोः पथो न कतरेण च न । तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्त्तानि भूतानि भवन्ति जायस्य त्रियस्वेति । एतत् तृतीयं स्थानं तेनासौ लोके न सम्पूय्यते । तस्माज्जुगुप्सेति । तदेष श्लोको भवति । स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिवंश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैते । पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरंस्तैरिति ।

ते धूममभिसम्भवन्तीति । तेषां पुण्यवताश्चापुण्यवताश्च मृत्वा स्वर्लोकं वा नरकं वा गतानां चिताग्नौ दाहतः शरीरादुत्थिता दिष्टपुरुषाः धूममभिसम्भवन्ति । इत्येवं चन्द्रलोकमभिसम्भवन्तो भवन्ति । सोमो राजा देवानामन्नम् । तस्मिन् यावत् सम्पातमिति । तस्मिंश्चन्द्रमण्डले स्वर्ग-नरकगतानां पुरुषाणां पुण्यपापफलभोगाद् यावत् पुनरिह सम्पातः स्यात् तावत् तत्रोषित्वाऽथानन्तरमेतं पन्थानं निवर्त्तन्ते । यथा खल्वितो लोकाद् गत-स्तथैव क्रमेणागतः स्याच्चन्द्रलोकादाकाशमित्यादि । तद् यथोक्तं छान्दोग्ये वृहदारण्यके च । उद्दालकगौतमं प्रति प्रवाहणो जैवलिनर्म राजोवाच । असौ वाव दुर्गलोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समित् रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुहति तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति । पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समित् अभ्रं धूमो विदुर्दक्षिर्ऋतश्चानिरङ्गारा ह्यादिन्यौ विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमं राजानं जुहति तस्या आहुतेर्वर्षं सम्भवति । पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः सम्बत्सर एव समित् आकाशो धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तर्दिशो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वपं जुहति तस्या आहुतेरन्नं सम्भवति । पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित् प्राणो धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुहति तस्या आहुते रेतः सम्भवति । योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समित् यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा

विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेगभः सम्भवति । इति पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवक्षसः सम्भवन्तीति । स उल्वावृतो गर्भो दश वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते । स जातो यावदायुषं जीवति । इति । ऊर्ध्वपिणो मनुष्या यज्ञेन तेन तृप्यन्ति देवाः अथो वर्पन्ति । तद् यथा । असौ वावेत्यादि । देवाः श्रद्धां जुह्वतीति लोके ये देवास्ते मनुष्याणां श्रद्धाम्, अन्नं सम्भवतीत्यन्ते बोध्याः । पुरुषो वावेत्यादौ देवाः शारीराः सूक्ष्मरूपेण शरीरमिदमास्थाय वर्तन्ते । तेन पुरुषो यदन्नमस्ति तद्देवा जुह्वति पुरुषे अग्नौ रेतः शुक्रं स्त्रीपुरुषयोर्ब्रह्मं न त्वात्तवम् । स्त्रीद्वयसम्भोगेऽपि अनस्थिपुत्रोत्पत्तौ स्त्रीशुक्रार्त्तवसंयोगात् न त्वात्तवद्वयसंयोगात् । एवं योषा वावेत्यादौ च देवाः शारीरा एव योषायां पुरुषो यद् रेतः सिञ्चति तद् देवाः शारीरास्तस्यां योषायामग्नौ जुह्वतीति बोध्यम् । इति । उक्तञ्च मनुना स्मृतिशास्त्रे । यद्याचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः । तैरेव चावृतो भूतैः सर्गे सुखमुपाश्नुते । यदि तु प्रायशोऽधर्मं सेवते धर्ममल्पशः । तैर्भूतैः स परित्यक्तो यामीः प्राप्नोति यातनाः । यामीस्ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकल्मषः । तान्येव पञ्च भूतानि पुनरप्येति भागशः । पञ्चभ्य एव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम् । शरीरं यातनार्थमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम् । तेनानुभूय ता यामीः शरीरेणेह यातनाः । तास्वेव भूतमात्रासु प्रलीयन्ते विभागशः । सोऽनुभूयाऽसुखोदकान् दोषान् विषयसङ्गजान् । व्यपेतकल्मषोऽभ्येति तावेवोभौ महौजसौ । यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः । योऽस्यात्मनः कारयित्वा तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते । जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् । येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखञ्च जन्मसु । तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च । उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः । इति । धर्मकर्मफलभोगं स्वर्गं खल्विन्द्रलोकादौ सुखं धार्मिको भुङ्क्ते अधर्मफलभोगं यामीः यातना दुःखं यमलोके पापी भुङ्क्ते । तयोः शरीरदाहे शरीरात् समुत्थितभाग्यपुरुषश्चन्द्रलोके वर्तते । यदा तयोः स्वर्गनरकभोगावसानं भवति पुनरिह जन्मग्रहणकाल उपतिष्ठति तदा चतसृभिराहुतिभिः स भाग्यपुरुषः पुरुषे स्त्रियाञ्च रेतोरूपो भवति । यस्य यो भाग्यपुरुषस्तस्य जन्मग्रहणायैह रेतोरूपो भूत्वा योषायां पुंसा निपिक्तः स्वसम्बन्धवता तेन स्वर्गस्थेन नरकस्थेन वा भोगावसानवताऽवक्रान्त एकान्ततो गर्भरूपेणाभिनिष्पद्यते । इति ॥ ५१ ॥



तत्र श्लोकः ।

प्रश्नाः पुरुषमाश्रित्य त्रयोविंशतिरुत्तमाः ।

कतिधापुरुषीयेऽस्मिन् निर्णीतास्तत्त्वदर्शिना ॥ ५२ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शरीरस्थाने

कतिधापुरुषीयं शारीरं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थसंग्रहाथमाह—तत्र श्लोक इति । प्रश्ना इत्यादि ।  
पुरुषमाश्रित्य पुरुषविषये त्रयोविंशतिरुत्तमाः प्रश्नास्तस्मिन् कतिधापुरुषीये-  
ऽध्याये तत्त्वदर्शिनात्रेयेण पुनर्व्वसुना निर्णीता इति ॥ ५२ ॥

अध्यायश्च समापयति—अग्नीत्यादि । पूर्व्ववत् सर्व्व व्याख्यातमिति ।

इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ चतुर्थस्कन्धे

शारीरस्थानजल्पे कतिधापुरुषीयशारीरनामप्रथमाध्याय-

जल्पाख्ये प्रथमशाखा ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—‘सर्व्वविद्’ इत्यादिप्रश्नस्योत्तरम्—अतःपरमित्यादि । ब्रह्ममूत इति प्रकृत्यादि-  
रहितः । ‘चिह्नं यस्य न विद्यते’ इत्यनेन मुक्तात्मनः प्राणापानाद्यात्मलिङ्गाभावाद्गमकं चिह्नं  
नास्त्येवेति दर्शयति । न क्षरत्यन्यथात्वं न गच्छतीत्यक्षरम् । अविद्यमानं लक्षणं यस्येत्यलक्षणम् ।  
एतस्यैव मोक्षस्येतरपुरुषाज्ञेयतां दर्शयति—ज्ञेयमित्यादि । ब्रह्मविदामेवात्र मनः प्रत्येति,  
नाज्ञानामहङ्कारादिगृहीतानामित्यर्थः । संग्रहो व्यक्तः ॥ ५१।५२ ॥

इति चरकचतुराननश्रीचक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्व्वेददीपिकायां चरकतात्पर्य्यटीकायां

शारीरस्थाने कतिधापुरुषीयं शारीरं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

## द्वितीयोऽध्यायः ।

अथातोऽतुल्यगोत्रीयं शारीरं व्याख्यास्यामः,  
इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अतुल्यगोत्रस्य रजःक्षयान्ते रहोविस्मृष्टं मिथुनीकृतस्य ।  
किं स्याच्चतुष्पात्प्रभवञ्च षड्भ्यो यत् स्त्रीषु गर्भत्वमुपैति पुंसः ॥२

गङ्गाधरः—अथैवं वद्धः पुरुषो यः षड्धातुकः स पुनःपुनर्यदिह जायते  
मनुष्ययोनां विविधरूपस्तत् कथं कुतः कारणाज्जायते तद्विज्ञानार्थमतुल्यगोत्रीयं  
शारीरमारभते—अथात इत्यादि । अतुल्यगोत्रस्येतिवाक्यस्थातुल्यगोत्रेति-  
पदमधिकृत्य कृतः शारीरोऽध्याय इत्यतुल्यगोत्रीयः शारीरोऽध्यायः । शेष  
पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—अथ प्रश्नः—अतुल्यगोत्रस्येत्यादि । यो यया न तुल्यो गोत्रः  
स तस्या अतुल्यगोत्रः । अपत्यं पौत्रप्रभृतिगोत्रमिति पाणिनिः । अतुल्य-  
गोत्रस्य पुरुषस्यातुल्यगोत्राया नार्या मासं पूर्वेसञ्चितरजसो मासान्ते  
प्रवृत्तस्य त्रिरात्रादूर्द्ध्वं क्षयोऽल्पत्वं भवति, तस्यान्तेऽल्पत्वरूपेणानुवन्धे षोडश-  
रात्रपट्यन्तं तथा सह मिथुनीकृतस्य मैथुनमापन्नस्य रहोविस्मृष्टं षड्भ्यो  
रसेभ्यः प्रभवं चतुष्पाद् वाद्यवादिसक्रियचतुर्भूतात्मकसम्पूर्णमूर्त्तिमत् यत्  
सर्व्वाम्बु स्त्रीषु गर्भत्वमुपैति तत् किं स्यादिति प्रश्नः । यत् सर्व्वाम्बु स्त्रीषु  
गर्भत्वमुपैतीत्युक्त्या ख्यापितम्, पितृयानेन प्रत्यागतबीजधातुदिष्टाधिष्ठित-  
षड्धातुप्रभवचतुष्पाद्वातुविषयोऽयं प्रश्नः । न तु बीजधातुदिष्टानधिष्ठित-  
षड्धातुप्रभवधातुविषयो यन्न गर्भत्वमापद्यते इति । नन्वतुल्यगोत्रस्येति

चक्रपाणिः—पूर्वाध्याये शरीरस्यादिसर्गं आध्यात्मिकनैष्ठिकमोक्षरूपचिकित्सायुक्तं उक्तः,  
सम्प्रति गर्भादिसर्गमभिधातुमतुल्यगोत्रीयोऽभिधीयते । अतुल्यगोत्रस्येति स्त्रिया अतुल्यगोत्रस्य  
पुंसः । तुल्यगोत्रीयके हि मैथुनेऽधर्मो भवति धर्मशास्त्रेषु निषिद्धत्वात् । रजःक्षयान्ते इति  
रजःप्रवृत्त्यन्ते । 'अन्ते'-इतिपदेन रजःप्रवृत्त्यर्थं निषेधयति । रहोविस्मृष्टमिति विजने विस्मृष्टम् ।  
शुक्रविस्मृष्टं विजन एव प्रतिबन्धकलजाभावात् सम्यग् भवतीति 'रहः' इत्यनेन दर्शयति ।  
मिथुनीकृतस्येत्यनेन सम्यग्मैथुनप्रयोगं दर्शयति, विपरीतसुरतादींश्च निषेधयति । चतुष्पात् पद-

शुक्रं तदस्य प्रवदन्ति धीरा यद् धीयते गर्भसमुद्भवाय ।

वाय्वग्निभूस्यवगुणपादवत् तत् पङ्क्त्यो रसेभ्यः प्रभवश्च तस्य ॥ ३

वचनेन परजायायां मिथुनीकृतस्य रहोविष्टविषये किमयं प्रश्नो न तु स्वजायायामतुल्यगोत्रत्वाभावादिति ? नैवं, शास्त्रे हि धर्म्यविषयं प्रष्टुं पृच्छति चोपदेष्टा चोपदिशति, न त्वधर्म्यविषयम् । धर्म्यं हि वैधं कर्म भवत्यवैधमधर्म्यम् । तत्र वैधं स्वल्पमनल्पमवैधमित्यनल्पानामवैधानां प्रश्नश्च उत्तरश्च न युज्यते । स्वल्पस्यापि वैधस्य ज्ञानेनानल्पानामवैधानां ज्ञान-सिद्धेः । तस्मादयं धर्म्यविषय एव प्रश्नः । धर्म्यो हि मिथुनीभावः पुंसः स्वजायायां, न परजायायामिति । ननु जाया पुंसस्तुल्यगोत्रा न त्वतुल्यगोत्रा कथमतुल्यगोत्रस्येत्युपपद्यते इति चेत् ? तत्र ब्रूमः । शास्त्रे धर्म्यस्य प्रष्टृणा-मुपदेष्टृणाञ्चेयं रीतिः, यत्र वर्त्तमानावस्थया प्रश्न उत्तरं वा न युज्यते तत्र पूर्ववस्थयैव प्रश्न उत्तरं वा क्रियते । यथा मनुरूपादिशत् । असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः । सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने । इत्यत्र पितुः सगोत्रावज्जेनेन मातुः सपिण्डावज्जेनसिद्धौ पुनर्मातुरसपिण्डेति वचनानर्थक्यम्, न च मातृपदेन तात्पर्यानुपपत्तितो लक्षणया मातामह उच्यते । पश्यति हि त्वाचार्यः । अस्ति मातृशब्दश्चास्ति मातामहशब्दश्चेति । माता-महसग्रासपिण्डा चासगोत्रा च या पितुरित्येवं मुख्याथपदं नोक्त्वा यदसपिण्डा च या मातुरित्युक्तं तेन न लक्षणया मातामहे तात्पर्यम् । किं तर्हि ? मातुः वर्त्तमानावस्थया तूपदेशानुपपत्तौ पूर्ववस्थयैवोपदेशः कृतः । प्राग् विवाहात् मातुर्या सपिण्डा सा वजं नीयेति । एवमत्रापि । प्राग् विवाहाद् या न तुल्य-गोत्रा सा विवाहे तुल्यगोत्राप्यतुल्यगोत्रा तदितरा त्वधर्म्येति । तस्याः प्राग् विवाहादतुल्यगोत्रस्य पत्युर्जायाया रजःक्षयान्त इत्यर्थे इति प्रश्नः ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—अस्योत्तरमाह—शुक्रमित्यादि । अतुल्यगोत्रेण पुंसा रजः-क्षयान्ते मिथुनीभूतेन स्त्रियां गर्भसमुद्भवाय रहोविष्टं यद्धीयते तदस्य पुंसः प्रभवत्वे उत्तरग्रन्थे व्यक्ते । अत्र शिष्यप्रश्नतया निवेशितो ग्रन्थः अज्ञशिष्याथार्थाचार्यसम्मतिमात्रार्थो ज्ञेयः । तेन यः शिष्यश्चतुष्पदां विशेषं जानाति, स कथं शुक्रशब्दाभिधेयं वेत्तीति न वाच्यम् ॥ ११२ ॥

चक्रपाणिः—प्रश्नस्योत्तरं—शुक्रमित्यादि । धीयत आरोप्यत इत्यर्थः । वाय्वादिपादवन्ति वक्तव्ये यद् गुणपदमधिकं करोति, तेन प्रशस्तगुणवतामेव वाय्वादीनां विशुद्धशुक्रारम्भकत्वमिति

संपूर्णदेहः समये सुखञ्च गर्भः कथं केन च जायते स्त्री ।

गर्भं चिराद् विन्दति सप्रजापि भूत्वाथवा नश्यति केन गर्भः ॥४

शुक्रासृगात्माशयकालसम्पद् यस्योपचाराश्च हितैस्तथाथैः ।

गर्भश्च काले च सुखी सुखञ्च संजायते संपरिपूर्णदेहः ॥ ५ ॥

शुक्रं पितृयानेन प्रत्यागतबीजशतधिष्ठितं षड्सम्भवं वाय्वादिवचतुर्भूतरूप-  
चतुष्पाच्च धीराः प्रवदन्ति । वाय्वादीनां चतुर्णां पादानां गुणवन्न तु वैगुण्य-  
युक्तम् । वैगुण्ययुक्तन्तु यच्छुक्रं तस्य गर्भहेतुत्वाभावान्न प्रकृतं शुक्रमुच्यते ।  
आकाशस्य तु सर्वद्रव्यारम्भे वाय्वादिवद्धेतुत्वेऽपि व्यापदभावात् तस्येह पाद-  
त्वेनोक्तिर्न कृता, सम्पदुपेतशुक्रस्य प्रश्नविषयत्वात् ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—इत्येवमुक्तवन्तं गुरुं पुनरग्रिवेशः पप्रच्छ—सम्पूर्णदेह इत्यादि ।  
ननु गर्भः केन हेतुना सम्पूर्णदेहः सन् समये यथाकाले सुखञ्च यथा स्यात् तथा  
कथं केन प्रकारेण केन हेतुना च जायते इति । एवं स्त्री सप्रजापि सापत्यापि  
पुनः केन हेतुना चिराद् विन्दति बहुकालमतीत्य गर्भं गृह्णाति ? अथवा केन  
हेतुना गर्भो भूत्वा नश्यति । इति त्रयः प्रश्नाः ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—एषामुत्तरमाह—शुक्रासृगित्यादि । यस्य जनिष्यमाणस्य गर्भस्य  
आरम्भकाणां शुक्रासृगात्माशयकालानां सम्पद् वर्त्तते । शुक्रसम्पत् शुक्रदोषा-

दर्शयति । वाय्वादिषु शुक्रारम्भकेषु 'पाद'व्यपदेशेन सव्यपां तुल्यशुक्रारम्भकत्वं दर्शयति ।  
आकाशान्तु यद्यपि शुक्रे पाञ्चभौतिकेऽस्ति, तथापि न पुरुषशरीरान्निर्गत्य गर्भाशयं गच्छति, किन्तु  
भूतचतुष्टयमेव क्रियावद् याति, आकाशान्तु व्यापकमेव तत्रागतेन शुक्रेण सम्पद् भवति ।  
तेन आकाशस्य गमनाभावादिह गर्भाशयगमनाभिधानप्रस्तावे शुक्रगतत्वेनानभिधानम् ।  
अन्यत्रापि च भूतानां गमनप्रस्तावे आकाशं परित्यक्तमेव । यथा—“भूतैश्चतुर्भिः सहितः  
सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहाद्” इति । शुक्रञ्च षड्साहारोत्पन्नमेव विशुद्धं भवतीति  
कृत्वोक्तम्—“षड्भ्यो रसेभ्यः” इत्यादि । यत् तु मधुरस्य शुक्रजनकत्वम् अम्लादीनाञ्च  
शुक्रविघातकत्वमुच्यते, तदत्यर्थोपयोगादिति ज्ञेयम् ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—सम्पूर्णदेहः कथं जायते इत्येकः प्रश्नः, समये कथं जायते इति द्वितीयः, सुखं  
कथं जायते इति तृतीयः । सप्रजापि इत्यवन्ध्यापि सती कथं चिरेण गर्भं विन्दति ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—पश्चानां प्रश्नानामुत्तरं—शुक्रेत्यादि । 'सम्पत्'शब्दः शुक्रादिभिः प्रत्येकमभि-  
सम्बध्यते । शुक्रासृगाशयानामुष्णत्वं सम्पद्, आत्मनस्तु शुक्रदोषितयोगाधिष्ठानुः शुभजीवकर्म-

योनिप्रदोषान्मनसोऽभितापाच्छुक्रास्त्रगाहारविहारदोषात् ।  
 अकालयोगाद् बलसंचयाच्च गर्भं चिराद् विन्दति सप्रजापि ॥६॥  
 असृङ् निरुद्धं पवनेन नाय्या गर्भं व्यवस्यन्त्यबुधाः कदाचित् ।  
 गर्भस्य रूपं हि करोति तस्यास्तदास्त्रगस्त्रावि विवर्द्धमानम् ॥ ७ ॥

भावः । असृक्सम्पदार्त्तवदोषाभावः । आत्मसम्पत् आत्मनः पुनर्भव-  
 हेतुशुभदिष्टकलोन्मुखीभावः । आशयसम्पत् स्त्रिया गर्भाशयदोषाभावः ।  
 कालसम्पत् शुभतिथिनक्षत्रकरणयोगादिनर्त्तयुगादिभावः । तथा हितैरर्थैर्मातुः  
 आहारविहारैरुपचारा यस्य गर्भस्य जायमानस्य, स हि गर्भः काले सुखी परि-  
 पूर्णदेहः सन् सुखं यथा स्यात् तथा जायते । अन्यथा तन्यथा स्यात् इति प्रथम-  
 प्रश्नोत्तरम् । केन स्त्री गर्भं चिराद् विन्दति सप्रजापीति प्रश्नस्योत्तरमाह—  
 योनिप्रदोषादित्यादि । योनिप्रदोषो विंशतिर्योनिव्यापदो वक्ष्यन्ते । मनो-  
 ऽभितापाद् धननाशादितो मनस्तापात् । शुक्रादिदोषात् । अष्टौ रेतोदोषा  
 वक्ष्यन्ते । असृग्दोषा असृग्दराधिकारे वक्ष्यन्ते । आहारदोषा गर्भव्याघाता-  
 हाराः । विहारदोषा व्यायामादयः । अकालयोगात् अपत्ये जातेऽपि पुनर्वह-  
 कालं पुंसम्भोगाभावे पुनः पुंसम्भोगोऽप्यकालयोगः । बलसंचयाद् व्याध्या-  
 दिभिः स्त्रिया दौर्वल्यात् । सप्रजापि स्त्री चिरकालानन्तरं पुनर्गर्भं विन्दतीति ।  
 गर्भो भूत्वा केन हेतुना नश्यतीति प्रश्नस्योत्तरमाह—असृङ् निरुद्धमिति । पवनेन  
 स्वहेतुभिर्विगुणेन वायुना निरुद्धं नाय्या असृगार्त्तवं कदाचिदबुधा गर्भं  
 व्यवस्यन्ति, वस्तुतो न च स हि गर्भः । कस्मादबुधा एवं व्यवस्यन्ति,  
 तत्राह—गर्भस्येत्यादि । हि यस्मात् तस्याः पवनरुद्धार्त्तवाया अस्त्रावि

युक्तत्वं सम्पत्, कालस्य त्वनतितीक्ष्णत्वादि सम्पत्, उपचारो गर्भिण्युपचारः । काल इति नवमे  
 दशमे च मासे । यदुक्तम्—“कालः पुनर्नवमं मासमुपादाया दशमाद्” इति । सुखीति व्याधिना  
 केनचित् न ग्रस्तः । सुखमित्यङ्गशेन ॥ ५ ॥

चक्रपाणिः—अकालयोगादिति ऋतुकालातिक्रमे पुरुषेण संयोगात्, ऋतुकालश्च षोडशरात्रं  
 यावत् । यदुक्तं—“षोडश दिवसा ऋतुकालः” इति । सुश्रुते तु द्वादशरात्रं ऋतुकाल उक्तः ।  
 ‘भूत्वाथवा नश्यति केन गर्भः’ इत्यस्योत्तरम्—असृगित्यादि । पवनेनेति दृष्टपवनेन कृते  
 असृङ्निरोधे गर्भभ्रमो भवतीत्याह—गर्भस्य रूपम् इत्यादि । गर्भाशये हि विवर्द्धमानं रुधिरं

तदग्निसूर्यश्रमरोषशोकैः \* उष्णान्नपानैरथवा प्रवृत्तम् ।

दृष्ट्वाष्ट्रोकं न च गर्भमज्ञाः † केचिन्नरा भूतहृतं वदन्ति ॥ ८

ओजोऽशनानां रजनीचराणामाहारहेतोर्न शरीरमिष्टम् ।

गर्भं हरेयुर्यदि ते न मातुर्लब्धावकाशा न हरेयुरोजः ॥ ९ ॥

कन्यां सुतं वा सहितौ पृथग् वा सुतौ सुते वा तनयान् बहून् वा ।  
कस्मात् प्रसूते सुचिरेण गर्भमेकोऽभिवृद्धिञ्च यमेऽभ्युपैति ॥ १०

यदात्तवमसृक् तद्विबुद्धमानं गर्भस्य रूपं करोति । तदस्त्रावि तस्या नाय्या  
आर्त्तवमसृक् पुनर्यद्यग्निसन्तापादिभिर्हेतुभिरथवोष्णान्नपानैर्हेतुभिः प्रवृत्तं भवति  
तदा केचिदज्ञा एकं केवलमसृक् दृष्ट्वा गर्भञ्च न दृष्ट्वा भूतहृतं गर्भं वदन्ति ।  
ननु तर्हि ते कस्मादेवं वदन्तोऽज्ञा भवन्ति, यतो गर्भस्य रूपं पश्यन्ति  
ततस्तत्सृक्स्त्रावमात्रं पश्यन्ति गर्भाकारं न दृष्ट्वा भूतहृतवचनेन किमपि  
भवन्तीत्यत आह—ओजोऽशनानामित्यादि । रजनीचराणां राक्षसादीनाम्  
ओजोऽशनानामाहारहेतुरोज एवेष्टं न तु शरीरमिष्टम् । ते खल्वोजोऽशना  
रजनीचरा यदि गर्भस्य मातुर्लब्धावकाशा अवकाशं लब्ध्वा अनिष्टं गर्भं  
हरेयुस्तदा नौजश्च हरेयुरिति ॥ ५—९ ॥

गङ्गाधरः—अथाग्निवेशः पृच्छति—कन्यामित्यादि । भगवन् गुरो कस्मात्  
हेतोः स्त्री कन्यां दुहितरं प्रसूते, कस्मात् सुतं पुत्रं वा प्रसूते, सहितौ दुहितापुत्रौ  
कस्मात् प्रसूते, पृथग् वा कस्मात् प्रसूते, कस्मात् सुतौ द्वौ पुत्रौ प्रसूते, द्वे सुते वा

प्रभावात् गर्भलिङ्गानि कानिचिद्दर्शयतीत्यर्थः । असृगेवमिति असृगेव परम् । न च गर्भ-  
संज्ञमिति न गर्भं ग्रन्थाद्याकारकम् ॥ ६—८ ॥

चक्रपाणिः—मृतेन गर्भाहरणे हेतुमाह—ओजोऽशनानामित्यादि । ओजोऽष्टविन्दुकमश्नन्ती-  
त्योजोऽशनाः । यदि त्वोजोऽशना अपि गर्भं हरेयुस्तदा मातुर्नितरामाहारभूतमोजो लब्धावकाशत्वेन  
हरेयुः । लब्धावकाशा इति प्राप्तगर्भिण्यभिगमनकारणाः ॥ ९ ॥

चक्रपाणिः—कन्यामित्यादि प्रश्नाष्टकम् । कन्यां कथं प्रसूत इति प्रथमः, सुतं पृथग्  
वेति द्वितीयः, सहितौ कन्यासुतौ वेति तृतीयः, सुतौ सहितौ इति चतुर्थः । सुते सहिते इति पञ्चमः,

\* शोकैरित्यत्र रोगैस्तथा असृगेकमित्यत्र असृगेवमिति वा पाठः ।

† गर्भमज्ञा इत्यत्र गर्भसंज्ञमिति पाठान्तरम् ।

रक्तेन कन्यामधिकेन पुत्रं शुक्रेण तेन द्विविधीकृतेन ।

वीजेन कन्याश्च सुतश्च सूते यथास्ववीजान्यतराधिकेन ॥ ११ ॥

शुक्राधिकं द्वैधमुपैति वीजं यस्याः सुतौ सा सहितौ प्रसूते ।

रक्ताधिकं वा यदि भेदमेति द्विधा सुते सा सहिते प्रसूते ॥ १२

कस्मात् प्रसूते, कस्माद्वा बहुस्तनयान् युगपत् प्रसूते, कस्माद्वा सुचिरात् कालात् प्रसूते, कस्माद्वा यमे यमके जायमाने तयोरेकोऽभिष्टुद्धिमभ्युपैति ? इति नव प्रश्नाः ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—अथैषां क्रमेणोत्तराण्याह—रक्तेनेत्यादि । रक्तेन स्त्रिया आर्त्तवेन पुंसः शुक्रादधिकेन कन्यां प्रसूते इति कन्यां कस्मात् प्रसूते इत्यस्योत्तरम् । पुत्रं शुक्रेण स्त्रीरक्तादधिकेन प्रसूते इति कस्मात् सुतं प्रसूते इत्यस्योत्तरम् । तेन तादृशरूपेण द्विविधीकृतेन वीजेन मैथुनतः प्रच्युते ये शुक्रशोणिते वीजरूपे वायुनान्तर्गर्भाशये द्विविधीकृते तयोर्वीजयोर्यथास्वम् अन्यतराधिकेन, रक्ताधिकेन भागेन कन्यां शुक्राधिकेन भागेन सुतमिति कन्यापुत्ररूपं यमकं प्रसूते इति कस्मात् सहितौ कन्यापुत्रौ प्रसूते इत्यस्योत्तरम् । सुश्रूतेऽप्युक्तम् । वीजेऽन्तर्वायुना भिन्ने द्वौ जीवौ कुक्षिमागतौ । यमावित्यभिधीयेते धर्मेतरपुरःसराविति ॥ यथास्ववीजान्यतराधिकेनेति वायुनान्तरद्विविधीकृतेन रक्ताधिकेन वीजेन कन्यां पृथगेकां प्रसूते ; शुक्राधिकेन तु पुत्रं पृथगेकं प्रसूते इति कस्मात् पृथग्वा कन्यां सुतश्च प्रसूते इत्यस्योत्तरम् । यस्या वीजं शुक्राधिकं शुक्राधिकमेव सत् द्वैधं वायुनान्तः-द्विविधीकृतमुपैति सा स्त्री सहितौ यमकरूपेण सुतौ द्वौ प्रसूते इति सुतौ वा कस्मात् प्रसूते इत्यस्योत्तरम् । यस्या वीजं रक्ताधिकं भवति तदेव रक्ताधिकमेव यदि द्विधा भेदमुपैति, तदा सा सहिते युगलरूपेण सुते द्वे प्रसूते इति

तनयान् बहून् वेति पष्टः, सुचिरेण कथं स्त्री प्रसूत इति सप्तमः ; यमे युग्मे कथमेकोऽभिष्टुद्धिम् अभ्युपैतीत्यष्टमः ॥ १० ॥

चक्रपाणिः—रक्तेनेत्यादय उत्तरम् । अधिकेनेति पदं रक्तेन शुक्रेण च योजनीयम् । द्विविधी-कृतेन द्विखण्डीकृतेन । यथास्ववीजान्यतरे भागेऽधिकं यत्, तेन वीजेन । एतेन, यदि द्विविधे भागे एकत्र रक्तमधिकम्, अपरत्र शुक्रम्, एष विभागो भवति, तदा सुतौ भवत इत्युक्तं भवति ।

भिनत्ति यावद् बहुधा प्रयत्नः शुक्रार्त्तवं वायुरतिप्रवृद्धः ।

तावन्यपत्यानि यथाविभागं कर्मात्मकान्यस्ववशात् प्रसूते ॥१३

आहारसामोति यदा न गर्भः शोषं समामोति परिस्रुतिं वा ।

तं स्त्री प्रसूते सुचिरेण गर्भं पुष्टो यदा वर्षगणैरपि स्यात् ॥१४

कर्मात्मकत्वाद् विषमांशभेदाच्छुक्रासृजं वृद्धिमुपैति कुक्षौ ।

एकोऽधिको न्यूनतरो द्वितीय एवं यमेऽप्यभ्यधिको विशेषः ॥१५

कस्मात् सुते सहिते प्रसूते इत्यस्योत्तरम् । अतिप्रवृद्धो वायुरन्तः प्रपन्नो यावद् बहुधा त्रिधा चतुर्धा पञ्चधेत्येवमादिरूपं यावद् बहुधा शुक्रार्त्तवं रक्ताधिकं वा शुक्राधिकं वा किञ्चिद्रक्ताधिकं किञ्चित्शुक्राधिकमित्येवं भिनत्ति, तावन्ति अपत्यानि यथाविभागं रक्ताधिका यावन्तो भागास्तावतीः कन्याः, शुक्राधिका यावन्तो विभागास्तावतः पुत्रान्, पृथग्वा अस्ववशात् परवशात् धर्माधर्मवशात् कर्मात्मकानि तेषाञ्च कर्मतोऽपि प्रसूते इति कस्मात् तनयान् वहून् वा प्रसूते इत्यस्योत्तरम् । गर्भः सम्भवन् कुक्षौ यदा मातुराहारं नामोति तदा तदाहारजरसपोष्यो गर्भः स्वपोषकरसाभावतः शोषं समामोति परिस्रुतिं स्नावं वामोति । तच्चापृष्टमप्युक्तम् एककार्यत्वात् आहाराभावफलकथनार्थम् । स शोपमापन्नो गर्भः पुनः क्रमेणाहारजरसपुष्टो यदा वर्षगणैरपि यावत्ता कालेन भवति तदा प्रसूतो भवतीत्यतस्तं शोपमापन्नं गर्भं स्त्री सुचिरेण प्रसूते इति कस्मात् प्रसूत सुचिराच्च गर्भमित्यस्योत्तरमिति । कुक्षौ गर्भाशये । शुक्रासृजं कर्मात्मकत्वात् पूर्वजन्मकृतशुभाशुभकर्मफलानुसारतः वायुना च विषमांशतो भेदाद् द्विभागीकृतत्वात् एको भागोऽधिकः सन् वृद्धिमुपैति द्वितीयो भागो न्यूनतरः स्यादिति, यमेऽप्यभ्यधिकोऽन्यतरन्यूनधिको विशेषः इति कस्मादेकोऽभिवृद्धिश्च यमेऽभ्युपैतीत्यस्योत्तरम् ॥ ११—१५ ॥

यावद् बहुधा भिनत्तीति यावतीं बहुसंख्यां करोतीति चतुःपञ्चादिरूपम् । प्रपन्न आगतः शुक्रार्त्तवं वायुरिति सम्वन्धः । यथाविभागमिति यथा शुक्ररक्तविभागो भवति, तथा कन्याः सुताश्च स्ववीजाधिक्यापेक्षया भवन्तीति । कर्मात्मकानि अस्ववशात् कर्माधीनत्वेन । आहारमित्यादौ गर्भिण्या आहाराप्राप्त्या गर्भस्याहाराप्राप्तिः । शुक्रासृजोऽर्थः स्थूलसूक्ष्मरूपो विषमांशभेदो भवति, स तु जायमानगर्भकर्मवशादेव भवतीत्याह— कर्मात्मकत्वादिति ॥ ११—१५ ॥



कस्माद् द्विरेताः पवनेन्द्रियो वा संस्कारवाही नरनारिपण्डः ।  
 वक्त्री तथेर्ष्याभिरतिः कथं वा सञ्जायते वातिकपण्डको वा ॥ १६ ॥  
 बीजात् समांशादुपतप्तबीजात् स्त्रीपुंसलिङ्गी भवति द्विरेताः ।  
 शुक्राशयं गर्भगतस्य हत्वा करोति वायुः पवनेन्द्रियत्वम् ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—अतः परमपि पृच्छति—कस्मादित्यादि । कस्माद् द्विरेताः क्लीवं स्यात् ? कस्मात् पवनेन्द्रियोऽशुक्रः पुमान् स्यात् ? कस्मात् संस्कारवाही वाजीकरणभेजसंस्कारेणैव पुंस्त्वान् अन्यथा पुंस्त्वहीनो भवति ? कस्मान्नरनारिपण्डः नरस्य नार्याश्चायं नरनारिः स चासौ पण्डश्चेति नरनारिपण्डः, पुरुषपण्डः स्त्रीपण्डश्च स्यात् ? कस्मात् पुरुषो वक्त्री मुश्रुते आसेक्यः स्यात् ? कथमीर्ष्याभिरतिरीर्ष्यकः मुश्रुतेऽभिहितः स्यात् ? कथं वातिकपण्डको वा जायते ? इत्यष्टौ प्रश्नाः ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—तेषां क्रमेणोत्तराण्याह—बीजादित्यादि । द्विविधो हि द्विरेता नपुंसकम् ; एकस्तु समांशात् बीजात् शुक्रशोणितात् भवति द्वितीयस्तु उपतप्तबीजात् वातादिदोषेण जनकबीजशुक्रशोणितोपतापात् । स्त्रीपुंसलिङ्गी योनिशिश्नोभयाभावेन साधारणचिह्नवान् । द्विरेताः शोणितश्च शुक्रश्च द्वे रेतसी यस्य स तथा । पुमांस्तु शुक्रैकरेताः स्त्री तु शोणितैकरेता इति कस्माद्द्विरेता इत्यस्योत्तरम् । गर्भगतस्य पुत्रस्य शुक्राशयं विगुणो वायुः कर्मवशात् हत्वा पवनेन्द्रियत्वं तस्य पुत्रस्य पवनेन्द्रियत्वं शुक्रधातुरहितत्वं करोति । पवनेन्द्रियसंज्ञा प्रसिद्धा

चक्रपाणिः—कस्मादित्यादि प्रश्नाष्टकम् । नरपण्डो नारिपण्डश्च नरनारिपण्डौ । बीजादिति शुक्रशोणितात् । उपतप्तबीजादिति उपतप्तबीजजनकबीजभावात् । स्त्रीपुंसलिङ्गीति स्त्रीपुरुषसाधारणनासिकाचक्षुरादिलिङ्गयुक्तः, यानि तु स्त्रीपुंसयोरसाधारणान्युपस्थध्वजस्तनश्मश्रुप्रभृतीनि, तानि चास्य न भवन्तीति । असाधारणानि लिङ्गानि वृद्धेन शुक्रमेण रक्तेन वा जन्यानि । इह समरक्तशुक्रारब्धे तु नास्त्यन्यतरवृद्धिरिति नोपस्थध्वजादिविशेषलिङ्गभवनम् । द्विधा स्त्रीत्वपुरुषत्वोपजनकत्वे स्थितं रेतो यस्य स द्विरेताः ; किंवा स्त्रीपुंसलिङ्गीति स्त्रीपुंसयोर्यद्विङ्गमुपस्थध्वजरूपम् तद्व्युक्त एव स्त्रीपुरुषलिङ्गी, उत्तरकालभावीन्यस्य स्तनशुक्रप्रभृतीनि न भवन्ति । अस्मिन् पक्षे बीजोपतापेनोत्तरकालभावित्वादिप्रतियन्धः कर्मवशादेवेति ब्रूयते ; किंवा उपस्थध्वजौ सौ, तौ गर्भसमकालमेव भवतः, स्तनादि तूत्तरकालभावितया दुर्वलम्, बीजोपतापेनापि न दलवतोऽपस्थध्वजयोर्बोधः, किंतु दुर्वलानामेव स्तनादीनामिति । यत्र समांशे शुक्रशोणिते

शुक्राशयद्वारविघटनेन संस्कारवाहं हि करोति वायुः ।

मन्दाल्पबीजावलावहर्षौ क्लीबौ च हेतुर्विकृतिद्वयस्य ॥ १८ ॥

मातुर्व्यवायप्रतिघेन वक्त्री स्याद् बीजदौर्वल्यतया पितुश्च ।

ईर्ष्याभिभूतावपि मन्दहर्षावीर्ष्यारतेरेव वदन्ति हेतुम् ॥ १९ ॥

इति ; कस्मात् पवनेन्द्रियः स्यादित्यस्योत्तरम् । कर्मवशाद् वायुर्विशुणः सन् गर्भे शुक्राशयस्य द्वारविघटनेन दूषणेन पुत्रं संस्कारवाहं हि करोतीति ; कस्मात् संस्कारवाही स्यादित्यस्योत्तरम् । मातापितरौ सम्भोगकाले मन्दाल्पबीजौ मन्दमतीक्ष्णशक्तिकमल्पमल्पमात्रश्च बीजं शोणितं शुक्रञ्चेत्युभयं ययोस्तौ, अवलौ नास्ति वलं वीर्यं ययोस्तौ तथा, अहर्षौ नास्ति हर्षो मैथुनार्थं लिङ्गाङ्गमस्पन्दनरूपौ ययोस्तौ, क्लीबौ क्लैव्यदोषदुष्टबीजौ, स्त्रीपुरुषौ विकृतिद्वयस्य नरपण्डस्य नारीपण्डस्य च हेतुरिति ; कस्मान्नरनारिपण्ड इत्यस्योत्तरम् । मातुः स्त्रिया यद्व्यवाये प्रतिघोऽनिच्छा तद्व्यवायजः पुत्रो वक्त्री स्यात्, पितुश्च बीजस्य शुक्रस्य दौर्वल्यतया हेतुना पुत्रो वक्त्री स्यात् । एष सुश्रुते त्वासेक्यसंज्ञक उक्तः, तद् यथा । पित्रोरत्यल्पबीजत्वादासेक्यः पुरुषो भवेत् । स शुक्रं प्राश्य लभते ध्वजोच्छ्रायमसंशयमिति । व्याख्यातञ्चैतत् । मातापित्रोरत्यल्पबीजत्वादासेक्यः पुरुषो भवेत् । स यस्मात् अन्यपुरुषं निजमुखे व्यवायं कारयित्वा तत् सिक्तं शुक्रं

भवतः, तत्र संयोगमहिम्नैव बीजांशे तापो भवतीति ज्ञेयम् । पवनेन्द्रियं विवृणोति—शुक्राशय-  
मित्यादि । शुक्राशयं शुक्रस्थानम् । पवनेन्द्रियत्वं पवनशुक्रत्वम् । शुक्रहीनपवनस्य चेदं  
शुक्रत्वम्—यद् व्यवायकाले शुक्रसदृशरूपतया प्रवर्तनम् तद्वायुरेव परं व्यवायकाले याति ।  
शुक्राशयद्वारेत्यादि संस्कारवाहिविवरणम् । द्वारविघटनेनेति द्वारदूषणेन । संस्कारेण वाजी-  
करणादिना परं यस्य शुक्रमदुष्टद्वारं सत् प्रवर्तते स संस्कारवाहः । अत्र च संस्कारवाहेण  
सुश्रुतोक्ता आसेक्यसौगन्धिककुम्भीका अन्तर्भावनीयाः । यतः, एतेऽपि संस्कारविशेषेणापि शुक्रं  
यजन्ति, यदुक्तं तत्र—“पित्रोरत्यल्पबीर्यत्वादासेक्यः पुरुषो भवेत् । स शुक्रं प्राश्य लभते  
ध्वजोच्छ्रायमसंशयम् । यः पूतियोन्यां जायेत स सौगन्धिकसंज्ञकः । स योनिशोफसोर्गन्ध-  
मात्राय लभते बलम् । स्वे गुदेऽब्रह्मचर्याद् यः स्त्रीषु पुंघनं प्रवर्तते । कुम्भीकः स तु विज्ञेयः”  
इति । मन्देत्यादि—मन्दवेगमल्पबीजं ययोस्तौ । तथा अवलाविति निसर्गबलरहितौ । अहर्षा-  
विति अनुत्साही । क्लीबाविति दुष्टबीजौ । अत्र यथोक्तगुणा स्त्री स्त्रीपण्डस्य, यथोक्तगुणः  
पुरुषस्तु पुरुषपण्डस्य हेतुरिति विज्ञेयम् । एतौ त्वबीजौ ज्ञेयौ, यदुक्तं सुश्रुते—“अशुक्रत्वेन  
पण्डकः” इति । मातुर्व्यवायप्रतिघेनेति व्यवायकाले विषमाङ्गन्यासेन प्रतिष्ठितं यस्य शुक्रं

वाय्वग्निदोषाद् वृषणौ तु यस्य नाशं गतौ वातिकपण्डकः सः ।  
इत्येवमष्टौ विकृतिप्रकाराः कर्मात्मकानामुपलक्षणीयाः ॥ २० ॥

प्राश्य ध्वजोच्छ्रायं शिशनोद्गमं लभते, तस्मादासेक्य इति संज्ञा । अस्य पर्यायः मुखयोनिरिति च । कश्चिदिमं वक्रिणं कुम्भीकमाह । सुश्रुते ह्युक्तं—स्वे गन्धेऽब्रह्मचर्याद् यः स्त्रीषु पुं वत् प्रवर्तते । कुम्भीकः स तु विज्ञेय ईर्ष्यकं शृणु चापरमिति । व्याख्यातञ्चैतत् । यः पुरुषः स्वे गुदे स्वकीयपायौ अब्रह्मचर्यात् अन्यपुरुषस्य व्यवायात् अन्यपुरुषं स्वे गुदे व्यवायं कारयित्वा पश्चात् पुं वत् लब्धपुंस्त्वलः सन् स्त्रीषु व्यवायार्थं स्वयं प्रवर्तते स कुम्भीकः कुम्भीकनामा पण्डः । केचित् तु स्त्रीषु विषये तासां स्त्रीणां स्वे गुदे पशुवत् पृष्ठभागेऽनुद्गम-शीलेन शिशनेनाब्रह्मचर्यात् क्लैव्यरससंजातत्वात् प्रवृत्त्य पश्चात् तेन ध्वजोद्गमे जाते तासु स्त्रीषु पुं वत् प्रवर्तते स कुम्भीक इत्याहुः । एतत्कुम्भीकोत्पत्ति-हेतुः काश्यपेनोक्तः । अरजस्कां यदा नारीं श्लेष्मरेता व्रजेदृतौ । अन्यसक्ता भवेत् प्रीतिर्जायते कुम्भी तत् सदेति ; इति वक्री कथं स्यादित्यस्योत्तरम् । ईर्ष्याभिभूतौ सन्तौ दम्पती मन्दहर्षौ भवतस्तावेव द्वौ ईर्ष्यारतेः पुत्रस्य हेतुं वदन्ति । सुश्रुते हि—दृष्ट्वा व्यवायमन्येषां व्यावाये यः प्रवर्तते । ईर्ष्यकः स तु विज्ञेयः पण्डकः—इति । व्याख्यातञ्चैतत् । अयं दृग्योनिरप्युच्यते इति ईर्ष्याभिरतिः कथं स्यादित्यस्योत्तरम् । यस्य गर्भारम्भकाले वाय्वग्निदोषात् वृषणावण्डकोपौ नाशं गतौ स वातिकपण्डक इति ; कथं वातिकपण्डको वा जायत इत्यस्योत्तरमिति । उपसंहरति—इत्येवमित्यादि । कर्मात्मकानामशुभ-कर्मफलविशेषहेतुकानाम् उपलक्षणीया इति वचनेन प्राधान्यादेतदष्टविधत्वं पुं पाण्ड्यम् उक्तम् । अन्यदपि बोध्यम् । उक्तञ्च सुश्रुते । यः पूतियोनौ जायेत स सौगन्धिकसंज्ञितः । स योनिशेषसौगन्धमाग्राय लभते बलम् ॥ यो भाय्याया-मृतौ मोहादङ्गनेव प्रवर्तते । ततः स्त्रीचेष्टिताकारो जायते पण्डसंज्ञितः ॥ अङ्गनेव स्त्रीवदुत्तानीभूय विपरीतबन्धेन । स स्त्रीचेष्टिताकारः स्त्रीचेष्टावान् स्त्रीजना-कारश्च । इति पुं पाण्ड्यानि । अथ स्त्रीपाण्ड्यमप्युक्तं सुश्रुतेन । ऋतौ

गर्भाशयं नियमात्रोपैति स 'वक्री'त्युच्यते । वीजदौर्बल्यतया पितुर्वक्री स्यादिति योजना । परव्यवायं दृष्ट्वा प्रासध्वजोच्छ्रायो व्यवायासक्तो भवति, स ईर्ष्यारतिः । यदुक्तं सुश्रुते—“दृष्ट्वा व्यवायमन्येषां व्यवाये यः प्रवर्तते । ईर्ष्यकः स तु विज्ञेयः” इति । कर्मात्मकानामितिपदेन एते क्लैव्यभेदाः प्राक्तनकर्मबलादेव प्रायो भवन्तीति दर्शयति ॥ १६—२० ॥

गर्भस्य सद्योऽनुगतस्य कुक्षौ स्त्रीपुंनपुंसामुदरस्थितानाम् ।

किं लक्षणं कारणमित्येतं किं सरूपतां येन च यात्ययत्यम् ॥२१॥

निष्ठीविका गौरवमङ्गसादस्तन्द्राप्रहर्षौ हृदयव्यथा च ।

तृप्तिश्च बीजग्रहणश्च योन्या गर्भस्य सद्योऽनुगतस्य लिङ्गम् ॥२२॥

पुरुषवद्वापि प्रवर्त्तताङ्गना यदि । तत्र कन्या यदि भवेत् सा भवेन्नरचेष्टिता ॥  
आसेक्यश्च सुगन्धी च कुम्भीकश्चेर्ष्यकस्तथा । सरेतसस्तमी ज्ञेया अशुक्राः  
पण्डसंज्ञिताः । अनया विप्रकृत्या तु तेषां शुक्रवहाः सिराः । हर्षात्  
स्फुटत्वमायान्ति ध्वजोच्छ्रायस्ततो भवेत् ॥ आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः  
समन्वितौ । स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः ॥ यदा नाट्यर्गानुपे-  
यातां वृषस्यन्त्यौ कथञ्चन । मुञ्चन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमनस्थिस्तत्र जायते ।  
ऋतुस्त्राता तु या नारी स्वप्ने मैथुनमावहेत् । आर्त्तव वायुरादाय कुक्षौ गर्भं  
करोति हि । मासि मासि विवर्द्धते गर्भिण्या गर्भलक्षणम् । कललं  
जायते तस्या वज्जितं पैतृकैर्गुणैः । सर्पवृश्चिककुष्माण्ड-विकृताकृतयश्च ये ।  
गर्भास्तेते स्त्रियाश्चैव ज्ञेयाः पापकृता भृशम् । इति । आसेक्यादयः पुरुष-  
दोषाः स्त्रीदोषाश्च । अनस्थिरल्पकोमलास्थिः । कललं सिंघाणमख्यम् ।  
पैतृकैर्गुणैः केशश्मश्रुलोमनखास्थिसिरास्त्रायुधमनीरेतःप्रभृतिभिः । सर्प-  
वृश्चिकादिरूपस्तु मनुष्ये पापाचर्येण भवति ॥ १७—२० ॥

गङ्गाधरः—अतः परं गर्भस्य लक्षणादिकं पृच्छति—गर्भस्येत्यादि । सद्यो-  
ऽनुगतस्य तत्क्षणमेव कुक्षौ सम्भवतो गर्भस्य किं लक्षणमित्येकः प्रश्नः ।  
उदरस्थितानां स्त्रीपुंनपुंसकानां किं लक्षणमिति द्वितीयः प्रश्नः । स्त्रीपुं-  
नपुंसामिति समासान्तविधेरनित्यत्वेन नपुंसशब्दः सान्त इति बोध्यम् ।  
गर्भस्योत्पत्तौ येन च कारणेनापत्यं सरूपतां समानरूपतां याति तच्च कारणं  
किमिति तृतीयः प्रश्नः ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—क्रमेणैषामुत्तराण्याह—निष्ठीविकेत्यादि । निष्ठीविका ष्ठीवनं  
मुखेन स्वल्पोद्विरणम् । गौरवमङ्गस्य । अङ्गसादोऽङ्गावसन्नता श्रान्तत्वमिव । तन्द्रा  
निद्रावत् क्लान्तिः । अप्रहर्षो ग्लानिः । हृदयव्यथा पीडेव हृदये । तृप्तिर्योन्याः ।

चक्रपाणिः—गर्भस्येत्यादि पञ्च प्रश्नाः । सद्योऽनुगतस्येति सद्योगृहीतस्य । कारणमित्यादि—  
कारणं किं तत्, येन कारणेन सरूपतां सादृश्यमपत्यं गर्भो यातीत्यर्थः । अयञ्च पञ्चमः प्रश्नः ॥ २१ ॥

सव्याङ्गचेष्टा पुरुषार्थिनी स्त्री स्त्रीस्वप्नपानाशनशीलचेष्टा ।

सव्याङ्गगर्भा ॐ न च वृत्तगर्भा सव्यप्रदुग्धा स्त्रियमेव सूते ।

पुत्रं ततो लिङ्गविपर्ययेण व्यामिश्रलिङ्गा प्रकृतिं तृतीयाम् ॥ २३

बीजग्रहणश्च शुक्रशोणितयोर्वन्धः सुरतान्ते च्युत्यभावः । सद्योऽनुगतस्य तत्क्षण-  
माधीयमानस्य गर्भस्यैतलिङ्गम् । सुश्रुतेऽप्युक्तं—तत्र सद्योगृहीतगर्भाया लिङ्गानि  
श्रमो ग्लानिः पिपासा सक्थिसदनं शुक्रशोणितयोरवबन्धः स्फुरणश्च  
योनेरिति । इति प्रथमप्रश्नोत्तरम् ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—सव्याङ्गचेष्टेत्यादि । या गर्भवती स्त्री पूर्वं सव्याङ्गचेष्टा  
सव्येन वामेनाङ्गेन क्रियामारभते पुरुषार्थिनी पुरुषसङ्गं काङ्क्षिणी स्त्रीस्वप्नपाना-  
शनशीलचेष्टा स्त्रीलोकस्य निद्रावत् पानवत् अशनवत् शीलवत् स्वप्नपानाशन-  
शीलेषु चेष्टा क्रिया यस्याः सा तथा । सव्याङ्गगर्भा सव्यपाश्वर्ग गर्भस्थिति-  
रूपा न च वृत्तः वृत्तुलरूपो गर्भो यस्या दीर्घगर्भा इत्यर्थः । सव्यप्रदुग्धा  
स्तनयोदुग्धस्य प्रकाशारम्भे प्रथमं सव्यस्तने दुग्धं यस्याः सा तथा ।  
स्त्रियमेव कन्यामेव सा सूते न तु पुत्रमिति । ततो लिङ्गविपर्ययेण सव्याङ्ग-  
चेष्टादिलिङ्गतो विपर्ययलिङ्गेन पुत्रं प्रसूते । व्यामिश्रलिङ्गा सव्यासव्याङ्ग-  
चेष्टा स्त्रीपुंसार्थनाभावा स्त्रीपुंसोभयस्वप्नपानाशनशीलचेष्टा सव्यासव्यगर्भा  
न वृत्तगर्भा न दीर्घगर्भा युगपत्स्तनद्वयदुग्धा या स्त्री सा तृतीयां प्रकृतिं  
नपुंसकं सूते इत्यर्थः । सुश्रुतेऽप्युक्तं—तत्र यस्या दक्षिणे स्तने प्राक् पयोदर्शनं  
भवति, दक्षिणाक्षिमहत्त्वञ्च, पूर्वञ्च दक्षिणं सक्थ्युत्कर्षति । बाहुल्याच्च पुत्राम-  
धेयेषु द्रव्येषु दौर्हृदमभिध्यायति, स्वमेषु चोपलभते पद्मोत्पलकुमुदाम्रातका-  
दीनि पुत्रामान्येव, प्रसन्नमुखवर्णता च भवति, तां ब्रूयात् पुत्रमियं  
जनयिष्यतीति । तद्विपर्यये कन्याम् । यस्याः पार्श्वद्वयमुन्नतं पुरस्तान्निर्गतमुदरं  
प्रागभिहितलक्षणञ्च तस्या नपुंसकमिति विद्यात् । यस्या मध्ये निम्नं द्रोणी-  
प्रभूतमुदरं सा युग्मं प्रसूयत इति । इति द्वितीयप्रश्नोत्तरम् ॥ २३ ॥

चक्रपाणिः—बीजग्रहणं शुक्रस्य ग्रहणम् । स्त्रीस्वप्नेत्यादि—स्त्रीविहितां स्वप्नपानाशनशील-  
चेष्टा । सव्येन पार्श्वेन आत्तो गृहीतो गर्भो यया सा सव्याङ्गगर्भा । किंवा सव्याङ्गगर्भेति पाठः ।  
न च वृत्तगर्भेति दीर्घगर्भेत्यर्थः । सव्यस्तने प्रकृष्टं दुग्धं यस्याः सा सव्यप्रदुग्धा । व्यामिश्र-

\* सव्याङ्गगर्भेति चक्रधृतः पाठः ।

गर्भोपपत्तौ तु मनः स्त्रिया यं जन्तुं व्रजेत् तत्सदृशं प्रसूते ॥२४॥  
 गर्भस्य चत्वारि चतुर्विधानि भूतानि मातापितृसम्भवानि ।  
 आहारजान्यात्मकृतानि चैव सर्वस्य सर्वाणि भवन्ति देहे ॥२५॥  
 तेषां विशेषाद् बलवन्ति यानि भवन्ति मातापितृकर्मजानि ।  
 तानि व्यवस्येत् सदृशत्वहेतुं \* सत्त्वं यथानूकमपि व्यवस्येत् ॥२६॥

गङ्गाधरः—गर्भोपपत्तौ गर्भोत्पत्तिसङ्गकाले स्त्रिया मनस्तु यं जन्तुं प्राणिनं  
 व्रजेत् तत्प्राणिसदृशमपत्यं सा सूते । सुश्रुतेऽप्युक्तम् । पूर्वं पश्येदतुस्माता यादृशं  
 नरमङ्गना । तादृशं जनयेत् पुत्रं भर्तारं दर्शयेदत इति ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—अपत्यस्य मातापितृसमरूपत्वे कारणान्तरञ्चाह—गर्भस्ये-  
 त्यादि । देहे देहविषये सर्वस्य गर्भस्यैव कारणानि मातापितृसम्भवानि  
 आहारजानि आत्मकृतानि चैव सर्वाणि समस्तानि चतुर्विधानि चत्वारि  
 वाय्वादीनि भूतानि न त्वन्यतमैकद्वित्रिविधानि न वा पञ्चविधानि एवकारेण  
 व्यवच्छेदात् । आकाशान्तु न मातृसम्भवत्वेन पितृसम्भवत्वेन आहार-  
 सम्भवत्वेनात्मसम्भवत्वेन च चतुर्विधम् ; परन्त्विकारत्वेन चतुष्कमेवैकविधं,  
 ततो न चतुर्विधं पञ्च भूतानीति मनसि क्लृप्तं चत्वारि भूतानीति । तेषां  
 चतुर्विधानां चतुर्णां भूतानां मध्ये मातृपितृकर्मजानि शोणितजानि चत्वारि,  
 लिङ्गा च सव्यदक्षिणादिचेष्टा इत्यादिना ज्ञेया । प्रकृतिं तृतीयामिति नपुंसकम् । गर्भोप-  
 पत्तावित्यादिना सारूप्यमाह—गर्भोपपत्तौ बीजग्रहणकाले मनी यं जन्तुं व्रजेत् यं प्राणिनं  
 मनसा ध्यायेत् । एतच्च बीजग्रहणकालीनं मनसानुष्ठानं प्रभावादेव चिन्त्यमानसदृशमपत्यं  
 करोतीति ज्ञेयम् । किंवा तत्कालीनचिन्तयैव बीजं चिन्त्यमानसदृशरम्भशक्तिकं क्रियते ।  
 दृष्टञ्च मानसानामपि भावानां भूतविशेषकरणे शक्तिविशेषः । यथा सङ्कल्पः शुक्रोदीरणं करोति,  
 तथा दोहदाप्राप्तौ तच्चिन्तया गर्भविकृतिः, ईर्ष्याभयादीनामोजःशुक्रक्षयकर्तृत्वमित्यादि । एतदेव  
 च सादृश्यकारणं पश्यता पुनर्वक्तव्यम्,—“यथा—या या यथाविधं पुत्रमाप्तासीदित्युपादाय सा  
 सा तांस्तान् जनपदान् मनसानुक्रमेद्” इति । जन्तुनुष्ठानं सादृश्यकारणमभिधाय सादृश्य-  
 कारणान्तरमाह—गर्भस्येत्यादि । चत्वारि चतुर्विधेऽपि निर्विशेषमाकाशं वर्ज्यित्वा भूतानि । चतु-  
 र्विधानीति विवृणोति—गातेत्यादि । मातृसम्भवानि रक्तगतानि, पितृसम्भवानि शुक्रगतानि ।  
 आहारजानि तु शुक्रशोणितोत्तरकालं मातुराहारसम्भूतरसजानि । आत्मकृतानीति  
 आत्मप्रतिबद्धकर्मवशप्रसूतानि ज्ञेयानि । तत्र शुभकर्मणा सदृशरूपजनकानि, अशुभकर्मणा

\* सदृशत्वलिङ्गमिति वा पाठः ।

कस्मात् प्रजां स्त्री विकृतां प्रसूते हीनाधिकाङ्गीं विकले ।  
देहात् कथं देहमुपैति चान्यमात्मा सदा कैरनुवध्यते च ॥२७॥

शुक्रजानि चत्वार्य्यात्मजानि चत्वारि तानि त्रिविधानि भूतानि वाय्वादीनि विशेष-  
पाद् बलवन्ति भवन्ति, तानि मातृजानि पितृजानि कर्मजानि च वाय्वादीनि  
विशेषतो बलवन्ति स्युस्तानि सदृशत्वहेतुं व्यवस्येत् । मातृशोणितिकबलवद्वाय्वा-  
दीनि कर्मजसहितानि मातृसदृशत्वहेतुं पितृशुक्रियबलवद्वाय्वादीनि कर्मज-  
सहितानि पितृसदृशत्वहेतुं व्यवस्येत् । यथानूकं गर्भारम्भकाले मातृपितृसत्त्वानू-  
रूपं सत्त्वं मनश्च मनःसदृशत्वहेतुं मातृसत्त्वानूकसत्त्वं मातृसदृशत्वहेतुं पितृ-  
सत्त्वानूकसत्त्वं पितृसदृशत्वहेतुं व्यवस्येत् । एतेन यस्य यस्य सत्त्वानूकसत्त्वं भवति  
तत्सदृशसत्त्वश्च तस्य भवतीति ख्यापितम् । इति तृतीयप्रश्नोत्तरम् ॥ २५।२६ ॥

गङ्गाधरः—अथ पुनः पृच्छति—कस्मादित्यादि । कस्माद्धेतोः स्त्री प्रजां  
प्रजायते इति प्रजा तामपत्यरूपां विकृतां प्रसूते । ननु प्रकृतिरात्मा तदितरत्  
सर्वं विकृतं किं तस्य प्रश्न इत्यतस्तत्प्रश्ननिरासार्थं विकृतत्वं विवृणोति  
भाष्येण । हीनाधिकाङ्गीं हीनाङ्गीं तथाधिकाङ्गींश्च विकलेन्द्रियाश्च प्रजां विकृतां

तु विसदृशरूपजनकानीति ज्ञेयम् । यानि त्वात्मनि सूक्ष्माणि भूतानि आतिवाहिकरूपाणि,  
तानि सर्वसाधारणत्वेनाविशेषसादृश्यकारणानीति नेह बोद्धव्यानि । तत्र एवं चतुर्विधानां  
सादृश्ये किं सादृश्यकारणं किमभूतं वेत्याह—तेषामित्यादि । ‘विशेषपाद्’ इतिपदेन सर्वोपेयव  
सादृश्यकारणानि भवन्ति, किन्तु यानि बलवन्ति, तानि विशेषपाद् भूयिष्ठसादृश्यं जनयन्तीति  
दर्शयति । अत्र चाहारभूतानां प्राक्तनकर्मपेक्षयैव सादृश्यकारणत्वं भवतीति कृत्वा नाहारजानां  
ग्रहणं कृतम्, तेन कर्मजेष्वेवाहारजातानामवबोधो ज्ञेयः । पूर्व्वस्तु ‘आहारजानि’ इति पदेन तेषां  
विद्यमानतामात्रमुक्तं ज्ञेयम् । किंवा मातृजादीनि हि मात्रादिभिः सदृशं कुर्वन्ति, न त्वाहार-  
जातानि आहारसदृशं कुर्वन्ति । तेन तेषामिहानुपादानम् । तथा हुपत्तराध्याये—‘यानि खल्वस्य  
रसजानि’ इत्यादिना प्राणानुबन्धादीनि वक्तव्यानि, न च तानि सादृश्यरूपतयेह भवितुमर्हन्तीति  
इह नोक्तानि । सादृश्यहेतुमभिधाय मनःसादृश्यहेतुमाह—सत्त्वमित्यादि । अनूकं प्राक्तनाव्यवहिता  
देहजातिः । तेन यथानूकमिति यो देवशरीरादव्यवधानेनागत्य भवति, स देवसत्त्वो भवति,  
यः पशुशरीरादेति, स पशुसत्त्वो भवतीत्यादि । अपिशब्दात् कर्मसम्बन्धं जातिसम्बन्धञ्च  
दर्शयति । तेन कर्मवशादेव सत्त्वं राजसं तामसं सात्त्विकं भवति, तथा मानुषादिजात्यनुरूपञ्च  
भवति ॥ २२—२६ ॥

चक्रपाणिः—कस्मादित्यादिना विकलेन्द्रियान्वेत्यन्तेन एकः प्रश्नः । तत्र ‘विकृताम्’ इत्यस्य  
विवरणम्—हीनेत्यादि । देहादित्यादि द्वितीयः । सदा कैरनुवध्यते इति तृतीयः । ये तु

बीजात्मकर्मशयकालदोषैर्मातुस्तदाहारविहारदोषैः ।  
 कुर्वन्ति दोषा विविधानि दुष्टाः संस्थानवर्णोन्द्रियवैकृतानि ॥२८॥  
 वर्षासु काष्ठाश्मघनाभ्युवेगास्तरोः सरित्छोतसि संस्थितस्य ।  
 यथैव कुर्युर्विकृतिं तथैव गर्भस्य कुक्षौ नियतस्य दोषाः ॥२९॥  
 भूतैश्चतुर्भिः सहितः स सूक्ष्मैः ॐ मनोजवो देहमुपैति देहात् ।  
 कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमरित रूपम् ॥३०॥

कस्मात् स्त्री सूते इत्यर्थः । इत्येकः प्रश्नः । आत्मा कथं देहादेकस्मादन्यं  
 देहमुपैतीति द्वितीयः प्रश्नः । कैश्च भावैरात्मा सदा नित्यमनुबध्यते इति  
 तृतीयः प्रश्नः ॥ २७ ॥

गङ्गाधरः—क्रमेणैषामुत्तराण्याह—बीजात्मेत्यादि । बीजं शुक्रं शोणितञ्च ।  
 आत्मा पदं धातुः सूक्ष्मदेही । कर्म पूर्वकृतं शुभाशुभदिष्टम् । आशयो गर्भाशयः  
 योनिरित्यर्थः । कालः सत्यत्रेताद्वापरकलिसम्बन्धिसंवत्सरीयपट्टहो-  
 रात्रक्षणमुहूर्त्तादिः शुभाशुभो नित्यगस्तथा चावस्थिकश्च वाल्ययौवन-  
 वार्द्धक्यादिः ; तेषां दोषा वाच्यास्तैः । मातुश्च दोषैस्तदाहारविहारदोषैराहित-  
 गर्भाया आहारविहारदोषैः । दोषा वातपित्तकफाः शारीरा रजस्तमश्च मानसदोषौ ।  
 एते दोषा दुष्टाः सन्तः विविधानि संस्थानस्यावयवसंस्थाया वणस्य इन्द्रिया-  
 णाञ्च वैकृतानि विकृतत्वानि कुर्वन्ति । अत्र दृष्टान्तमाह—वर्षास्वित्यादि ।  
 तरोवृक्षस्य । कुक्षौ नियतस्य गर्भस्य । इति प्रथमप्रश्नोत्तरम् ॥ २८।२९ ॥

गङ्गाधरः—भूतैरित्यादिना द्वितीयप्रश्नोत्तरम् । स केवलश्चेतनाधातुरात्मा  
 महद्देहकारसूक्ष्माकाशादित्रयोविंशत्या सूक्ष्मैस्तत्त्वैः सूक्ष्मदेही क्रियाचद्भिः  
 द्वित्रिचतुःपञ्चात्मकैर्वाय्वादिभिश्चतुर्भिर्भूतैः सहितो भूतात्मा अग्रिमाणस्तत्-  
 'विकृताम्' इति पदेन कुरूपाम्, 'हीनाधिकाङ्गीम्' इति पदेन च हीनाद्वादिरूपामेव कुरूपातिरिक्तां  
 न्ति, तेषां मते प्रश्नभेदः स्यात् ; तथा अध्यायान्ते च वक्ष्यमाणसंख्या अतिरिक्ता भवति ।  
 आत्मीयकर्म आत्मकर्म । आशयो गर्भाशयः । दोषो वैगुण्यम् । अश्मघनानि पाषाणखण्डाः ।  
 वेगाः काष्ठादीनां त्रयाणाम् ॥ २७—२९ ॥

चक्रपाणिः—द्वितीयप्रश्नस्योत्तरम्—भूतैरित्यादि । सुसूक्ष्मैरित्यनेन चातीन्द्रियत्वं दर्शयति ।  
 आकाशस्येहक्रियत्वेन मनोगतिरेव भूतसहिता 'गति'शब्देनोच्यते इति दर्शितं भवति । देहात्

\* सुसूक्ष्मैरिति चक्रवर्तः पाठः ।



स सर्वगः सर्वशरीरभृच्च स विश्वकर्मा स च विश्वरूपः ।

स चेतनाधातुरतीन्द्रियश्च स नित्ययुक् सानुशयः स एव ॥ ३१ ॥

कालमेव निश्चितमातिवाहिकं देहमस्माद्देहाद् देहं विहाय मनोजवो मनोवेगेनैव उपैति । मनोजवो मनसो जवो वेगो यस्य स मनोजव एवोपैति । कस्मात् तन्न दृश्यत इत्यत आह—कर्मात्मकत्वात् । तस्यास्माद्देहाद्देहान्तरं गच्छतो भूतात्मनो रूपं पूर्वकृतकर्मफलसम्बन्धात् वाय्वादिभिस्तत्कालमेव कृत्वात् आतिवाहिकं वायुभूतनिराश्रयं सूक्ष्मभूतमयं रूपं, रूप्यते यत् तद् रूपं शरीरम् दिव्यं प्राप्तिरसिद्धिजनितमैश्वर्यविवेकविशेषं दर्शनं चक्षुर्विना न दृश्यं दर्शनयोग्यमस्ति । इति देहादन्यदेहगमनमुत्तवा आत्मा सदा कैरनुवधयते चेति प्रश्नस्योत्तरमाह—स सर्वग इत्यादि । स आत्मा सर्वगश्चेतनाचेतनसर्वगतः । सर्वगश्चाकाशमित्यत आह—सर्वशरीरभृच्च । महदादिसूक्ष्माकाशादिस्थूलपर्वततत्त्वाद्यचेतनसुरासुरनरवानरादिचेतनाद्यतिस्थूलसर्वशरीरधारी । ननु तस्य च तत् तत्सर्वशरीरं कोऽन्यः कुरुते इत्यत आह स—विश्वकर्मेति । विश्वं चराचरं सर्वं कर्म कार्यं यस्य स विश्वकर्मा । नन्वेवमस्तु तस्मादात्मनोऽन्यत् किमिदं सर्वं शरीरम्, यतोऽयं सर्वशरीरभृद्विश्वकर्मा च इत्याशङ्कयामाह—स च विश्वरूपः । विश्वं सर्वं महदादिकं चराचरं रूपं यस्येति वाक्येऽपि तथात्वात् । विश्वत्वेन रूप्यते यः स विश्वरूपः । ननु स च क इत्यत आह—स चेतनाधातुरिति । चेतना चित् स्वयं प्रकाशते स्वप्रकाशेनान्यच्च प्रकाशयति सत्त्वादियोगेन प्राणिषु चैतन्यहेतुः । नन्वेवम्भूतः किं न दृश्यो भवतीत्यत आह—अतीन्द्रियश्चेति । स चेन्द्रियाणि पञ्च श्रोत्रादीन्यतिक्रान्तः । ननु मनसापि किं इति त्रियमाणदेहात् । देहमित्युत्पद्यमानदेहम् । कर्मात्मकत्वादिति कर्माधीनत्वात् । तेन कर्म धर्माधर्मरूपं यदेनं भोगार्थं नयति, तदेव देहमुपयातीत्युक्तं भवति । अथ गच्छन् किमित्ययं नोपलभ्यते त्रियमाणपुरुषादित्याह—न त्वित्यादि । तस्यात्मन आतिवाहिकशरीरयुक्तस्य दृश्यं रूपं नास्तीति सूक्ष्मरूपत्वादिति भावः । अथ किं सर्वं एदैवं न पश्यन्तीत्याह—दिव्यं चिना दर्शनमिति । दिव्यं दर्शनं दिव्यचक्षुः । तेन योगिन एव पश्यन्त्येनमिति दर्शयति ॥ ३० ॥

चक्रपाणिः—अस्यैवातिवाहिकशरीरयुक्तस्यात्मनो धर्मान्तराण्याह—स सर्वग इत्यादि । सर्वशरीरभृदिति सर्वशरीराणि भक्तुं योग्यः । विश्वकर्मकरणक्षमो विश्वकर्मा । विश्वरूपताञ्च नरपश्वादिशरीररूपतया कर्मवशाद् भजत इति विश्वरूपः । नित्यं बुद्ध्यादिभिर्युज्यत इति नित्ययुक् । सहानुशयेन रागादिना वर्तत इति सानुशयः ॥ ३१ ॥

रसात्ममातापितृसम्भवानि भूतानि विद्याद् दश षट् च देहे ।  
 चत्वारि तत्रात्मनि संश्रितानि स्थितस्तथात्मा च चतुर्षु तेषु ॥३२॥  
 भूतानि मातापितृसम्भवानि रजश्च शुक्रश्च वदन्ति गर्भे ।  
 आप्याय्यते शुक्रमसृक् च भूतैर्यैस्तानि भूतानि रसोद्भवानि ॥३३॥

न ग्राह्य इत्यत आह—स नित्ययुक् । नित्यं मोक्षात् पूर्वपर्यन्तमविच्छेदेन सत्त्वानुरूपाणि ध्रुवन्ति इति नित्ययुक् । तेन सत्त्वाद्युपाधिमत्त्वेऽपि परात्मनो वैश्वानराद्यवस्थायामपि श्रोत्रादिष्वेन्द्रियाग्राह्यत्वम् । योगे शुद्धसत्त्वात्मकेन तु मनसा ग्राह्यत्वं ख्यापितम् । तदुक्तं व्यासेन । नैवासौ चक्षुषा ग्राह्यो न च शिष्टैरपीन्द्रियैः । मनसा तु प्रसन्नेन गृह्यते मूढमदगिभिरिति ॥ सुतरामयं सानुशयः । वैश्वानराद्यवस्थायां सत्त्वाद्युपाधिमान् सानुशयः रागाद्यनुवृत्तिशाली । एवम्भूतस्य चेतनाधातोः पदधातुरूपस्य रसात्ममातापितृसम्भवानि चतुर्विधानि चत्वारि वाय्वादीनि भूतानीति दश षट् चेति षोडशविधानि स्थूलदेहारम्भकाणि भूतानि निर्विकारत्वान्निष्क्रियत्वादेकविधमेवाकाशं न गण्यत इति साधारणानि विद्यादिति । दशेन्द्रियाणि पञ्चभूतानि पञ्चार्था इति विंशतितत्त्वात्मको देह इत्यर्थः । तत्र यानि चत्वारि वाय्वादीनि भूतानि आत्मनि संश्रितानि यथा तथा आत्मा च तेषु स्वाश्रितेषु चतुर्षु वाय्वादिषु स्थित इति । मातापितृसम्भवानि भूतानि वाय्वादीनि चत्वारि तु रजश्च शुक्रश्च गर्भे वदन्ति, रजस्तु खल्वानेयं पाञ्चभौतिकं शुक्रन्तु सौम्यं पाञ्चभौतिकमिति । तद्रजःस्थानि चत्वारि मातृजानि शुक्रगतानि चत्वारि पितृजानि । गर्भे मिथःसंयुक्तं रजः शुक्रश्च पैर्मातृकृताहारजरसगतैश्चतुर्भिर्भूतैराप्याय्यते तानि चत्वारि भूतानि रसोद्भवानि

चक्रपाणिः—आतिवाहिकशरीररूपभूतचतुष्टयव्यापकत्वकरणार्थं शरीरे यानि सम्भवन्ति भूतानि, तान्येवाह—रसामेत्यादि । एतानि भूतानि सारूप्यहेतुप्रस्तावोक्तान्यपि प्रकरणवशात् यथा वक्तव्यरजःशुक्राद्यनुक्तप्रतिपादनार्थञ्च पुनरुच्यन्ते । आत्मनि संश्रितानीति आत्मकर्म्मणात्मन्यातिवाहिकदेहरूपतया यानि वद्वानि । स्थितस्तथात्मेति तेषु देहान्तरादिक्रियार्थं स्थितः । या गतिर्देहान्तरादिनात्मनः, सा तदभूतव्यवस्थितस्योच्यते, न व्यापकस्य तस्य सर्वत्र सर्वगतत्वादित्यर्थः ॥ ३२ ॥

चक्रपाणिः—मातापितृसम्भवानीति रजश्च शुक्रमिति यथासंख्यं मातापितृसम्भवानीति ॥ ३३ ॥

भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि यान्यात्मलीनानि विशन्ति गर्भम् ।  
स बीजधर्मा अपरापराणि देहान्तराण्यात्मनि याति याति ॥३४॥

रूपाद्विरूपप्रभवः \* प्रसिद्धः कर्मात्मकानां मनसो मनस्तः ।

भवन्ति ये त्वाकृतिबुद्धिभेदा रजस्तमः कर्म च तत्र हेतुः ॥३५॥

इति त्रिविधानि चत्वारि भूतानि, चत्वारि तु कर्मजानि पूर्वजन्मकृतशुभाशुभ-  
कर्मफलानुरूपेणात्मस्थभूतजानि, चत्वारि वाय्वादीनि तु भूतानि यानि आत्म-  
लीनानि सूक्ष्मदेहस्थानि चत्वारि भूतानि गर्भाशये मिथःसंयुक्तशुक्रशोणितात्मकं  
गर्भं विशन्ति तानि चत्वारि वाय्वादीनि पूर्वकर्मानुरूपेण जनयन्ति तानि  
कर्मजानि । नारायणाख्येन ब्रह्मणा सूक्ष्मदेहनिर्माणकाले नियतिवशेन  
कालपरिणामेन नियतिविशेषतो जन्मजन्मकृतकर्मधर्माधर्मरूपं भवति ।  
ननु कस्मात् तानि गर्भं प्रविशन्तीत्यत आह—स इत्यादि । हि यस्मात् स सूक्ष्मदेही  
भूतात्मा बीजधर्मा बीजं यथैवाङ्कुरं जनयति तथा स सूक्ष्मदेही भूतात्मा स्थूलान्  
जनयतीति बीजधर्मा अपरापराणि देहान्तराणि चेतनाधातावात्मनि याति  
सति तेन सहैव याति । सुश्रुते चोक्तम् । क्षेत्रज्ञ इत्यारभ्य धाता वक्ता योऽसा-  
वित्येवमादिभिः पर्यायवाचकैर्नामभिरभिधीयते । दैवसंयोगादक्षयोऽव्ययो-  
ऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्वक्षं सत्त्वरजस्तमोभिर्देवासुरैरपरैश्च भावैर्वायुनाभि-  
प्रेर्यमाणो गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते । इति ।

ननु कथं बीजधर्मा बीजमिवाङ्कुरं किं वा जनयतीत्यत आह—  
रूपादित्यादि । कर्मात्मकानां पूर्वकृतशुभाशुभकर्मफलधर्मानु-

चक्रपाणिः—आत्मलीनानीति नित्यात्मसम्बद्धानि । आत्मलीनभूतानां धर्मान्तरमाह—स  
बीजधर्मेत्यादि । आत्मलीनभूतसन्तानो बीजस्वरूपः, बीजं हि स्वसदृशमङ्कुरं करोति । तेन  
अयमप्यात्मलीनो भूतसन्तानः सदृशं देहरूपं भूतान्तरसङ्गं कुर्वन् बीजधर्मा भवति । सा बीज-  
धर्मिणीति वा पाठः, तदा सा भूतसन्ततिरित्यध्याहार्यम् । आत्मनीति मनोयुक्तात्मनि । यातीति  
गच्छति सति । याति गच्छति देहान्तराणीति योजना । आत्मनश्च गमनं मनोगमनमे-  
परापराणीति वा पाठः । तदा पराणि श्रेष्ठानि देवादिशरीराणि, अपराणि अश्रेष्ठानि किम्यादि-  
शरीराणीति योजनीयम् ॥ ३४ ॥

चक्रपाणिः—नन्वपरिदृश्यमाना भूतचतुष्टयी मनःप्रवृत्तिरुक्ता किमर्थं स्वीकर्तव्या, यतः परि-  
दृश्यमानमेवेदं पाद्भौतिकं शरीरं शुक्रशोणितकारणमस्तु, इत्याह—रूपाद्वित्यादि । रूप्यत इति

\* रूपाद्विरूपप्रभव इति चक्रः ।

वद्वात्मस्थपञ्चभूतानां रूपाद्विरूपप्रभवो विशिष्टरूपोत्पत्तिः प्रसिद्धः । तद् यथा—अदुष्टशुक्रस्य पुंसोऽदुष्टशोणितगर्भाशयया स्त्रिया सह संसर्गं गच्छतः शुक्रं गर्भाशयगतमार्तवेन संयुक्तमसौ परलोकादवक्रम्य प्रविश्य पूर्वं स्वस्मिन् स्थितादाकाशादाकाशं सृजति वायोर्वायुं तेजसस्तेजोऽद्भ्योऽपो भूमेर्भूमिमिति, तैः पञ्चभिरुपहितश्चात्मात्मानं जनयति वैश्वानराख्यम् । तेषामेकैकाधिक-पञ्चभूतानि चाहङ्कारिकश्रोत्रादीन्यनुप्रवेशयन् एतानि श्रोत्रादीनि स्थूलानि पञ्चेन्द्रियाणि सृजति । तथा तैर्भूतैः पञ्चकर्म्मैन्द्रियाण्येवं स्वीयस्वीयरूपतो विशिष्टापूर्वरूपप्रभवो मनस्तश्च विक्रियमाणान्मनसः खल्वस्मिन् स्थूलदेहे मनसः सत्त्वात् सत्त्वं रजसो रजस्तमसस्तमः सृजति । तेष्वहङ्कारिकमनः-प्रवेशात् सत्त्वसंज्ञकस्थूलमनसो विशिष्टापूर्वरूपप्रभवो भवति प्रतिपुरुषं भेदेन । तथा प्रतिपुरुषे ये लाकृतिबुद्धिभेदाः स्थूलदेहे आकृतिविशेषाः बुद्धिविशेषाश्च तत्र विरूपाकृतिबुद्धिभेदेषु रजस्तमःकर्म च सदसत्कर्मकृतशुभाशुभफलजनक-संस्कारविशेषौ धर्माधर्मौ च मिलित्वा हेतुः, न तु हेतवः पृथक् पृथगिति । नित्यं मनोयुक्तत्वेन त्रिगुणयोगः रूपापितः इति देहात् कथं देहमुपैति चान्य-मात्मेति द्वितीयप्रश्नोत्तरम् ॥ ३०—३५ ॥

रूपं भौतिकं शरीरम् । तेन अभौतिकाच्छरीराद् भौतिकं शरीरं भवतीत्यागमप्रसिद्धम् । तेन आगमादेव साङ्ख्यदर्शनरूपादातिवाहिकशरीरात् तदुक्तं शरीरमुत्पद्यते इति वाक्यार्थः । यद्यपि शुक्ररजसी कारणे, तथापि यद्वैवातिवाहिकं सूक्ष्मशूतरूपशरीरं प्राप्नुतः, तदैव ते शरीरं जनयतः, नान्यद्वा । यदि शुक्रशोणितमातिवाहिकशरीरनिरपेक्षं गर्भं जनयति, तदा जीवाधिष्ठानेन जनयेत्, न तु जनयति । तस्मादात्मस्थसुक्ष्मभूतादेव बीजरूपात् शुक्रशोणितयुक्ताद् गर्भजन्मेति । एतच्चात्मस्थभूतं मातापितृजभूतेन समं शरीरकारणं कर्मवशादेव भवतीत्याह—कर्मैति । कर्मात्म-कानामिति कर्मकारणकानाम् । किंवा रूपवत्तत्तुभ्यो रूपवान् पट उत्पद्यते इति प्रसिद्धम् । तेन आतिवाहिकशरीरादेव शरीरेण भवितव्यम्, कारणसदृशं कार्यं भवति । तत्तत्त्वात्मधर्मिणं सूक्ष्माणामात्मस्थितभावानां सिद्धिमिति भावः । अथ मनः सात्त्विकराजसतामसभेदात् भिन्नं कृतस्तत्र पुरुषे भवतीत्याह—मनसो मनस्त इति । पूर्वजन्मन्यवस्थितं यादृक् मनः तस्मादिह जन्मन्यपि तादृगैव मनो भवति । उक्तञ्चान्यत्र—“जन्म जन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः । तेनैवाभ्यासयोगेन तत्त्वैवाभ्यस्यते पुनः” इति । तत्रापि मन-उत्पत्तौ कर्मात्मकानाम् इति योज्यम् । तेन कर्मवशादेव मनोभेदो भवति । नन्वेवं सति आत्मस्थसूक्ष्मभूतात्मरूप-रूपवेनैकरूपेणैव शरीरेण सर्वप्राणिनां भवितव्यमित्याह—भवन्तीत्यादि । आकृतिः संस्थानम् । रजस्तमसी अनेकतरतमादिभेदभिन्ने तथा कर्म चानेकधा भिन्नम्, सत्यभिन्ने सूक्ष्मभूतरूप-कारणे भेदकारणं न भवतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

अतीन्द्रियैस्तेरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः ।

न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहङ्कारविकारदोषैः ॥ ३६ ॥

रजस्तमोभ्यान्तु मनोऽनुबद्धं ज्ञानं \* विना तत्र हि सर्वदोषाः ।

गतिप्रवृत्त्योस्तु निमित्तमुक्तं मनः सदोषं बलवच्च कर्म ॥ ३७ ॥

गङ्गाधरः—अथात्मा सदा कैरनुबध्यते चेति तृतीयप्रश्नोत्तरमाह—  
अतीन्द्रियैरित्यादि । तैरतिसूक्ष्मरूपैर्वाय्वग्निपाथोधरणीतिचतुर्भूतैः अतीन्द्रियैः सह आत्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः सर्वदैव युक्त इत्यर्थः । ननु तद्वि-  
किमेतैरेव नान्यैर्युक्त इत्यत आह—न कर्मणेत्यादि । कर्मणा धर्मा-  
धर्माभ्यामात्मा न वियुक्तरूपः । मनोमतिभ्याश्च नैवात्मा वियुक्तरूपः । न  
चाप्यत्मा अहङ्कारविकारदोषैर्वियुक्तरूपः । अहङ्कारश्च विकाराश्च पञ्चेन्द्रियाणि  
च पञ्चार्थाश्च दोषाश्च तैस्तथा, अपि त्वात्मा मिश्रातिसूक्ष्मपञ्चभूतधर्मा-  
धर्ममनोबुद्ध्याहङ्कारश्रोत्रादिपञ्चबुद्धीन्द्रियपञ्चकर्मैन्द्रियपञ्चशब्दाद्यर्थदोषैः सदा  
युक्त इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

गङ्गाधरः—ननु दोषा अत्र किं वातादय इत्यत आह—रज इत्यादि ।  
रजस्तमोभ्यामनुबद्धं मनः सत्त्वसंज्ञकं न तु सत्त्वसात्रम् । नीरजस्तमसि शुद्ध-  
सत्त्वे मनसि सात्त्विकमहत्तत्त्वरूपा विद्या बुद्धिर्नाम ज्ञानमुद्रिक्तं भवति, तद्विना  
सर्वदोषा ज्ञेयाः । तस्माद् बलवत् सदोषं मनो बलवच्च कर्म पूर्वकृतकर्मज-  
धर्माधर्मासम्बन्धात्मकतपश्चभूतम् एकदेहादतिर्देहान्तरे प्रवृत्तिर्या तयो-  
र्निमित्तमुक्तमिति तृतीयप्रश्नोत्तरम् ॥ ३७ ॥

चक्रपाणिः—आत्मा सदा कैरनुबध्यत इत्यस्योत्तरम् । अतीन्द्रियैरिति बीजधर्मित्वेनोक्तैः ।  
अहङ्कारविकारा एव दोषाः । अयं सूक्ष्मभूताद्यनुबन्धो मनस एवेत्याह—रज इत्यादि । रज-  
स्तमोभ्यां मनः सर्वैर्भूतादिभिरनुबद्धं भवति । अत्रैव हेतुः ज्ञानादित्यादि । ज्ञानादिति तत्त्व-  
ज्ञानात् । तत्त्वज्ञानं विना मनः सर्वैर्दोषैर्युक्तं भवति । तत्त्वज्ञानात् तु निर्दोषं भवतीत्याह ।  
सदोपत्वे मनसः किं भवतीत्याह—गतीत्यादि । गतिर्देहान्तरगमनम् । प्रवृत्तिर्धर्माधर्म-  
क्रियासु प्रवृत्तिः । सदोपत्वे मनः संसारहेतुर्भवतीति वाक्यार्थः । गतिप्रवृत्त्योर्हेतुवन्तरमाह—  
बलवच्च कर्मैत्यादि । बलवदिति नियमविपाकम् । फलवदिति वा पाठः, तत्रापि स एवार्थः ।  
नियतं कर्मफलं कर्मबलादेव भवति । अत्र प्रश्नोत्तरेषु यदधिकमुच्यते गतिप्रवृत्त्योः इत्यादिना,  
तत् प्रकरणवशादेव ज्ञेयम् ॥ ३६।३७ ॥

\* ज्ञानादिति चक्रः ।

रोगाः कुतः संशमनं किमेपां हर्षस्य शोकस्य च किं निमित्तम् ।  
 शरीरसत्त्वप्रभवा विकाराः कथं न शान्ताः पुनरापत्तेयुः ॥ ३८ ॥  
 प्रज्ञापराधो विषमास्तदर्थो हेतुस्तृतीयः परिणामकालः ।  
 सर्व्वामयानां त्रिविधा च शान्तिर्ज्ञानार्थकालाः समयोगयुक्ताः ॥ ३९ ॥  
 धर्म्याः क्रिया हर्षनिमित्तमुक्तास्ततोऽन्यथा शोकवशं नयन्ति ।  
 शरीरसत्त्वप्रभवास्तु दोषाः ॥ तयोरवृत्त्या न भवन्ति भूयः ॥ ४० ॥

गङ्गाधरः—अतः परं विकृताङ्गप्रसवप्रसङ्गेन विकारादीन् पृच्छति—रोगा इत्यादि । कुतो हेतो रोगा विकारा धातुवैषम्यरूपा भवन्तीत्येकः प्रश्नः । पूर्व्व वेदनाहेतुप्रश्नः कृतस्तेन गर्भस्थस्य रोगहेतुप्रश्नासिद्धेर्न पुनरुक्तः । श्लोकस्थाने कालबुद्धीन्द्रियार्थानामित्येतेनोक्तो व्याधिहेतुर्नाशिवेशपट्टः, परन्तु तत्रकारणोक्तः । इत्येतत्प्रकारेण भिन्नभिन्नत्वान्न पुनरुक्तदोषः । एपां रोगाणां किं संशमनम् इति द्वितीयः प्रश्नः । हर्षस्य शोकस्य च किं निमित्तम् इति तृतीयः प्रश्नः । शरीरसत्त्वप्रभवाः शरीरा मानसाश्च विकाराः शान्ताः सन्तः कथं पुनर्नापत्तेयुर्नागच्छेयुरिति चतुर्थः प्रश्नः ॥ ३८ ॥

गङ्गाधरः—क्रमेणैषामुत्तराण्याह—प्रज्ञापराध इत्यादि । प्रज्ञापराध एकः । विषमास्तदर्थस्तेषां प्रज्ञाहेतूनां श्रोत्रादीनामर्थाः शब्दादयः पञ्च, विषमा अयोगाति-योगमिथ्यायोगयुक्ता द्वितीयः । परिणामकालः कालपरिणामः पटुत्वहोरात्र-पूर्व्वकृताशुभकर्मस्वभावरूपस्तृतीयः । सर्व्वामयानां हेतुः । इति रोगाः कुत इत्यस्योत्तरम् । अथ सर्व्वामयानां त्रिविधा शान्तिः का त्रिविधेत्यत आह—ज्ञानेत्यादि । ज्ञानं बुद्धिरथः शब्दादिः कालः परिणामस्ते समयोगयुक्ताः इति त्रिविधा सर्व्वामयानां शान्तिः । इति संशमनं किमेपामित्यस्योत्तरम् ॥ ३९ ॥

गङ्गाधरः—हर्षस्य शोकस्य च किं निमित्तमित्यस्योत्तरमाह—धर्म्या

चक्रपाणिः—‘रोगाः कुतः’ इत्येकः प्रश्नः । ‘संशमनं किम्’ इति द्वितीयः । ‘हर्षस्य किं निमित्तम्’ इति तृतीयः । ‘शोकस्य किं निमित्तम्’ इति चतुर्थः । शरीरसत्त्वप्रभवा विकाराः कथं न शान्ताः पुनरापत्तेयुः’ इति पञ्चमः । एवं संग्रहवक्ष्यमाणं पटुत्रिशकं प्रश्नानां पूर्य्यते ॥ ३८ ॥

चक्रपाणिः—प्रज्ञापराधादयः प्रकरणवशात् पुनरुच्यन्ते । परिणामकाल इति कालपरिणाम इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

चक्रपाणिः—धर्म्या धर्मसाधनाः, ताश्च हर्षकारणधर्मकर्तृत्वेन कारणं भवति । ततोऽन्य-

\* दोषा इत्यत्र रोगा इति चक्रः ।

रूपस्य सत्त्वस्य च सन्ततिर्या नोक्तस्तदादिर्न हि सोऽस्ति कश्चित् ।  
तयोरवृत्तिः क्रियते पराभ्यां धृतिस्मृतिभ्यां परया धिया च ॥४१॥

इत्यादि । धर्म्या धर्मार्थाः क्रिया ह्यस्य निमित्तमुक्ताः । ततोऽन्यथा धर्म्य-  
क्रियातोऽन्यथा अधर्म्याः क्रियाः शोकवर्गं नयन्ति । इति हर्षस्य शोकस्य च  
किं निमित्तमित्यस्योत्तरम् । अथ शरीरसत्त्वप्रभवाः शरीरप्रभवा दोषा वातपित्त-  
कफाः, सत्त्वप्रभवा मनःप्रभवा दोषा रजश्च तमश्चेति पञ्च शारीरमानसा दोषा-  
स्तयोः शारीरदोषमानसदोषयोरवृत्त्या वृत्तेनाभावेन भूयः पुनर्न ते शारीर-  
मानसदोषजा रोगा भवन्ति ततो न च पुनर्जन्म भवति ॥ ४० ॥

गङ्गाधरः—ननु किं तर्हि सर्वेषामेव शारीरमानसदोषाणामवर्त्तनेन पुनः  
कल्पान्तरेऽपि न भविष्यतीत्यत आह—रूपस्येत्यादि । रूपस्य रूप्यते यत् तद् रूपं  
शरीरं तस्य । सत्त्वस्य मनसश्च । सन्ततिरपरापस्त्वेन सन्तानप्रदानं या तदादि-  
स्तस्या आदिर्हेतुर्नोक्तः । कुत इत्यत आह—न हीत्यादि । हि यस्मात् स शरीर-  
सत्त्वसन्ततेरादिर्न कश्चिदस्ति । अनादिर्हि शरीरसत्त्वसन्ततिः, सा वर्त्तत एव  
कस्यचिद्धर्मवशात् शरीरसत्त्वदोषावृत्त्या शरीरसत्त्वप्रभवा रोगा न भूयो भवन्ति ।  
न तु सर्वेषां युगपदिति भावः । ननु शरीरसत्त्वदोषावृत्तिः कुतः स्यादित्यत  
आह—तयोरित्यादि । तयोः शरीरसत्त्वदोषयोरवृत्तिरसद्भावः पराभ्यामुत्-  
कृष्टाभ्यां धृतिस्मृतिभ्यां चित्तस्य केवलब्रह्मात्मदेशवन्धरूपधारणा-ब्रह्मविशेष-  
रूपमहदादिभावनारूपस्मृतिभ्यां परया श्रेष्ठया च धिया बुद्ध्या क्रियते, न तु  
पूर्वाभ्यस्तश्लोकादिवस्तुस्मरणात् आपाततः क्रोधादिधारणात् गोब्राह्मणादि-  
भक्तिशीलया बुद्ध्या तासां पूर्वतनसाधनावस्थिकत्वात् ॥ ४१ ॥

यति अधर्म्याः क्रियाः । तयोरवृत्त्येति शरीरमनसोः सन्तानोच्छेदात् । मोक्षे हि शरीरमनसो  
निवर्त्तते । ततः सर्वथा रोगसन्ताननिवृत्तिर्भवति ॥ ४० ॥

चक्रपाणिः—ननु यद्यस्य निवृत्तिर्भवति, तदादिमद् भवति, तत् किं शरीरमनःसन्ततिरादिमती,  
येन तस्या निवृत्तिर्वास्तविकी रोगनिवृत्तिकारणमुच्यते इत्याह—रूपस्येत्यादि । रूपस्य शरीरस्य ।  
रूपं हि शरीरं रूप्यमाणत्वेन रूपशब्देनोच्यते, यथा—“रूपाद्भि रूपप्रभवः” इत्यत्रोक्तम् । नोक्त  
इत्यागमेपु । कुतो नोक्त इत्याह—न हि सोऽस्तीति । न हि सोऽस्ति स्वभावादेवेति नोक्त  
इत्यर्थः । अथ येयमनादिमती शरीरमनःसन्ततिः, तत् कथं तस्या निवृत्तिरित्याह—तयोरित्यादि ।  
तयोरिति शरीरसत्त्वयोः सन्तन्यमानयोः । पराभ्यामिति श्रेष्ठाभ्याम् । धृत्यादयस्तु यथा मोक्ष-  
कारणम्, तथोक्तं कतिधापुरुषीये । अनादिरपि च शरीरसन्ततिर्यथा विनश्यति, तथा च  
तत्रैवोक्तम् ॥ ४१ ॥

सत्याश्रये वा द्विविधे यथोक्ते पूर्व्वं गदेभ्यः प्रतिकर्मनित्यम् ।  
जितेन्द्रियं नानुपतन्ति रोगास्तत्कालयुक्तं यदि नास्ति दैवम् ॥४२  
दैवं पुरा यत् कृतमुच्यते तत् तत् पौरुषं यत् त्विह कर्म दृष्टम् ।  
प्रवृत्तिहेतुर्विषमः स दृष्टो निवृत्तिहेतुस्तु समः स एव ॥ ४३ ॥

गङ्गाधरः—तत्र पूर्व्वविस्थायां साधनमाह—सत्याश्रये वेत्यादि । सति  
द्विविधे यथोक्ताश्रये शरीरे मनसि च गदेभ्यः पूर्व्वं रोगोत्पत्तेः पूर्व्वं नित्यं  
प्रतिकर्म प्रतिक्रिया यस्य तं प्रतिकर्मनित्यं तथा जितेन्द्रियं जितसत्त्वसंज्ञं  
जितमनोदोषरजस्तमसं पुरुषं रोगाः शारीरमानसदोषजा व्याधयो नानु-  
पतन्ति नानुगच्छन्ति । नन्वेवमेव पुरुषं रोगाः किं नानुपतन्त्येव किं  
कदाचिदनुपतन्ति वेत्यत आह—तत्कालेत्यादि । तत्कालयुक्तं तत्काल-  
परिणतं पूर्व्वकृतकर्मजसंस्कारविशेषधर्म्मार्धधर्म्मरूपादृष्टं यदि नास्ति न  
वर्त्तते, तदा उक्तं पुरुषं रोगा नानुपतन्त्येव इति दृढम् ॥ ४२ ॥

गङ्गाधरः—ननु दैवं किमित्यत आह—दैवमित्यादि । पुरा पूर्व्वजन्मनि कृतं  
यत् कर्म तद् दैवमुच्यते । यत् तु कर्म इह जन्मनि कृतं तत् कर्म मानुषं पौरुषं  
दृष्टमुच्यते । स उभयजन्मकृतकर्मजः संस्कारविशेषः विषमोऽयोगातियोग-  
मिथ्यायोगयुक्तश्चेत् तदा प्रवृत्तिहेतुः शरीरपरिग्रहार्थकर्मरम्भाय प्रवर्त्तनं  
स्यात् । समस्तु समययोगयुक्तस्तु स उभयजन्मकृतकर्मजसंस्कारविशेष एव  
निवृत्तिहेतुर्गदोत्पत्तेर्निवृत्तौ हेतुः समययोग एवेति ॥ ४३ ॥

चक्रपाणिः—प्रकारान्तरेण शारीरमानसरोगाणां चिकित्सां शास्त्रे व्यवहियमाणामाह—  
सत्येत्यादि—आश्रयशब्देन शरीरमनसौ गृह्येते । पूर्व्वं गदेभ्य इत्यनुत्पत्तेरूपेण रूपेण । प्रति-  
कर्मनित्यमनागतचिकित्सानित्यम् । जितेन्द्रियमित्यनेन च रोगहेतुमज्ञापराधासात्मेन्द्रियार्थ-  
वर्जनं दर्शयति, प्रतिकर्मनित्यतया चाशक्यपरिहारकालकृतदोषचिकित्सां दर्शयति । तत्काल-  
युक्तमिति तत्कालावश्यं रोगकर्तृतया पच्यमानम् । एतेन बलवद्दैवमवश्यं रोगं ददातीति  
दर्शयति ॥ ४२ ॥

चक्रपाणिः—प्रकरणाद् दैवाख्यं कर्म तदनुपपन्नं पुरुषकारमप्याह—दैवमित्यादि । तेन प्रकरणा-  
लुभ्यमानतया जनपदोद्भूतसमीयोक्तकर्मलक्षणेन समं न पौनरुक्त्यम् । पुरेति जन्मान्तरे । इहेति  
इह जन्मनि । प्रवृत्तिहेतुरिति रोगप्रवृत्तिहेतुः । विषम इति अधर्म्मरूपं दैवम्, रोगजनकश्च  
पुरुषकारः । समस्तु दैवं धर्म्मरूपम्, रोगपरिपन्थी च पुरुषकारः । स इति पु'लिङ्गनिर्देशस्तु



हैमन्तिकं दोषचयं वसन्ते प्रवाहयन् ग्रैष्मिकमभ्रकाले ।  
 घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु ॥ ४२  
 नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः ।  
 दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ॥ ४५ ॥  
 ज्ञानं तपस्तत्परा च योगे यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगाः ।  
 मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्धि + सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः ॥ ४६

गङ्गाधरः—ननु कथं गदेभ्यः पूर्वं प्रतिकर्मनित्यः स्यादित्यत आह—  
 हैमन्तिकमित्यादि । हैमन्तिकं हैमन्तर्त्तौ<sup>१</sup> दोषसञ्चयं वसन्ते आशु सम्यक्  
 प्रवाहयन् निर्हरन्, ग्रैष्मिकं ग्रीष्मकाले दोषसञ्चयमभ्रकाले प्राष्टकाले  
 आशु सम्यक् प्रवाहयन्, वार्षिकं वर्षाकाले दोषसञ्चयं घनात्यये शरदि  
 आशु सम्यक् प्रवाहयन् पुरुषो जातु कदाचिन्न ऋतुजान् रोगान् प्राप्नोति ॥ ४४ ॥

गङ्गाधरः—ननु तर्हि किमाहारविहारजान् रोगान् प्राप्नोतीत्यत आह—  
 नर इत्यादि । हिताहारविहारसेवी विषयेषु असक्तोऽनासक्तः सन् समीक्ष्य  
 सम्यक् कार्याकार्यहिताहितत्वेन कर्त्तव्यं दृष्ट्वा कर्त्तुं शीलं यस्य स समीक्ष्य-  
 कारी, दाता सदानशीलः, समः समदर्शी सर्वभूतेषु, सत्यपरः सत्यवागादि-  
 क्रियः, क्षमावान्, आप्तोपसेवी गुरुद्वसिद्धमहर्ष्यादिसेवी अरोगो भवतीति  
 दृढम् ॥ ४५ ॥

गङ्गाधरः—नन्वित्येवंमात्रतोऽरोगाः किं भवन्ति न वेत्यत आह—ज्ञान-  
 मित्यादि । ज्ञानं भावानां तत्त्वज्ञानं तपो योगे तत्परा च यस्यास्ति तं पुरुषं  
 रोगाः कदाचिदपि नानुपतन्ति उत्तरकालं नागच्छन्ति । इत्थञ्च निवृत्त्यर्थं  
 कर्मणि धर्माधर्मरूपतया तथा पुरुषकारस्य प्रत्यवमर्षाज्ज्ञेयः । अन्ये तु—“प्रवृत्तिहेतुः” इत्यनेन  
 संसारप्रवृत्तिहेतुरिति, तथा “निवृत्तिहेतुः” इत्यनेन मोक्षहेतुरिति च वर्णयन्ति ॥ ४३ ॥

चक्रपाणिः—अथ कालकृतदोषनिमित्तरोगपरिहारस्य प्रतिकर्मणः कर्त्तव्यतामाह—हैमन्तिक-  
 मित्यादि । वसन्त इति चैत्रं । अश्रकाल इति श्रावणे । घनात्यय इति मार्गशीर्षे । यदुक्तम्—  
 “माघवप्रथमे मासि” इत्यादिना “प्रवाहयेत्” इत्यनेन यथायोग्यतया वमनादिनेति ज्ञेयम् ॥ ४४ ॥

चक्रपाणिः—हेत्वितररोगाभावकारणमाह—नर इत्यादि । सम इति भूतेषु समचित्तः । सुखानु-  
 बन्धमिति लिङ्गविपरिणामात् मत्या वचसा च योज्यम् । तेन चात्मनः कर्मण्युत्तरकालीनसुखः

तत्र श्लोकः ।

इहान्निवेशस्य महार्थयुक्तं षट्त्रिंशकं प्रश्नगणं महर्षिः ।

अतुल्यगोत्रे भगवान् यथावन्निर्णीतवान् ज्ञानवि वर्द्धनार्थम् ॥४७॥

इत्यन्निवेशकृतै तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतै शारीरस्थाने

अतुल्यगोत्रीयशारीरं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

कर्तव्यं यद्यत् तत्तदुपसंहारेणाह—मतिरित्यादि । सुखाः पुबन्धीति पदं लिङ्ग-  
विपरिणामेन सर्वत्र योज्यम् । तेन सुखानुबन्धिनी चिन्त्यसङ्कल्पादि-  
विषया मन्त्रिविधेया, वचश्च सुखानुबन्धि विधेयम्, कर्म च सुखानुबन्धि  
विधेयम्, सत्त्वं मनश्च सुखानुबन्धि विधेयम्, ऊहापोद्वादिवृद्धिश्च विशदा  
निर्ममला सुखानुबन्धिनी च विधेयेति बोध्यम् ॥ ४६ ॥

गङ्गाधरः—अथाध्यायार्थमुपसंगृह्णाति—तत्र श्लोक इत्यादि । महार्थं महा-  
प्रयोजनं प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुत्वात् । षट्त्रिंशकं प्रश्नगणम् । \* अतुल्यगोत्रस्येत्या-  
दिनैकः प्रश्नः । सम्पूर्णदेह इत्यादिना षट् प्रश्नाः । कन्यां सुतं त्रेत्यादिना  
नव प्रश्नाः । कस्माद् द्विरेता इत्यादिनाष्टौ प्रश्नाः । गर्भस्य सद्योऽनुगतस्येत्या-  
दिना त्रयः प्रश्नाः । कस्मात् प्रजार्जित्यादिना त्रयः प्रश्नाः । रोगाः कुत  
इत्यादिना चत्वारः प्रश्नाः । इति षट्त्रिंशकं प्रश्नगणं महर्षिः पुनर्व्वर्त्तुमुनिः  
अतुल्यगोत्रे अतुल्यगोत्रीयेऽध्याये ॥ ४७ ॥

अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि ।

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरक्तकविराजविरचिते चरकजलपकल्पतरौ शारीरस्थान-  
जल्पे चतुर्थेस्कन्धे अतुल्यगोत्रीयशारीरजलपाख्या द्वितीयशाखा ॥ २ ॥

फलानि शुभानि गृह्यन्ते । सत्त्वं क्रियेच्च स्वायत्तं मनः । विशदा बुद्धिरिति न कश्मला बुद्धिः ।  
बुद्धिश्चेह ऊहापोहवती विवक्षिता । मतिस्तु स्मृतिचिन्तादिः । ज्ञानं तत्प्रज्ञानम् । शेषं सुगम-  
मिति ॥ ४५—४७ ॥

इति चरकचतुरासनश्रीमच्छङ्खपाणिद्वयविरचितायामायुर्व्वेददीपिकायां चरकतात्पर्यटीकायाम्  
शारीरस्थाने अतुल्यगोत्रीयशारीरं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

\* अत्र टीकाद्वये षट्त्रिंशत्प्रश्नगणस्य असमञ्जसतथेयं विचारितम् । तद् यथा—  
अतुल्यगोत्रस्येत्यत्रैकः प्रश्नः, सम्पूर्णदेह इत्यत्र पञ्च, कन्यां सुतं त्रेत्यत्र नव, कस्माद् द्विरेताः  
इत्यत्राष्टौ, गर्भस्य सद्योऽनुगतस्य इत्यत्र षड्, कस्मात् प्रजार्जित्यादिना त्रयः, रोगाः कुत इत्यत्र  
चत्वारः । इति षट्त्रिंशत्प्रश्नगणः ।

## तृतीयोऽध्यायः ।

अथातः खुड्डीकागर्भावक्रान्तिं शारीरं व्याख्यास्यामः,  
इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

पुरुषस्यानुपहतरेतसः स्त्रियाश्चाप्रदुष्टयोनिशोणितगर्भा-  
शयाया यदा च भवति संसर्ग ऋतुकाले यदा चानयोस्तथैव

गङ्गाधरः—अथ सम्पूर्णदेह इत्यादिप्रश्नोत्तरे शुक्रासृगात्माशयकालसम्प-  
दित्यादिना यद्गर्भाभिनिवृत्तिरुक्ता, तद् यथा स्यात् तदुपदेष्टुं खुड्डीकागर्भाव-  
क्रान्तिं शारीरमारभते—अथात इत्यादि । अथोक्तादनन्तरं, खुड्डीकाशब्दोऽल्प-  
वचनः । गर्भावक्रान्तिमिति लोकान्तरादवाधस्ताद् गर्भावक्रान्तिमधिकृत्य कृतं  
शारीरमिति तद्विलुकि युक्तवद्वाक्तिवचने इति । सर्व्वमन्यत् पूर्व्ववद्  
व्याख्येयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—पुरुषस्येत्यादि । वातादिकृतशुक्रदोषा अष्टौ वक्ष्यन्ते । तैर्दोषै-  
रनुपहतमदुष्टं रेतः शुक्रं यस्य तस्य पुरुषस्य । योनिशोणितगर्भाशयानां  
दोषाश्च वक्ष्यन्ते । तैर्दोषैर्न प्रदुष्टा योनिश्च शोणितश्च गर्भाशयश्च यस्यास्तस्याः  
स्त्रियाः । एवम्भूतयोः स्त्रीपुरुषयोरपत्योत्पत्तिहेतुकर्मपरिणामे गर्भो न  
भवतीति ख्यापनायाह—यदा चेत्यादि । अनयोः स्त्रीपुरुषयोस्तथा-

चक्रपाणिः—पूर्व्वोध्याये शुक्रशोणिते गर्भकारणत्वेनोक्ते, न तु कृत्स्नं गर्भकारणमुक्तम्, अतः  
सम्पूर्णगर्भकारणाभिधानार्थं खुड्डीकागर्भावक्रान्तिरुच्यते । खुड्डीकामित्यल्पाम् । गर्भस्यावक्रान्ति-  
मेलक उत्पत्तिरिति यावत् ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—पुरुषस्येत्यादि । अनुपहतरेतसः इति शब्देनैव पुरुषस्य इति लभ्यते । यतः  
पुरुषस्यैव रेतसो गर्भजनकत्वमुक्तम् । तेन 'पुरुषस्य' इति पदेन, य एव सम्पूर्णधातुः पुरुष-  
शब्देन वाच्यो बालव्यतिरिक्तः, तं ग्राहयति । 'स्त्रियाश्च' इति पदमर्थलब्धं सत् यौवनवर्ती स्त्रियं  
लभयति । संसर्गो मैथुनम् । ऋतौ पुष्पदर्शने प्रशस्तकाल ऋतुकालः । तेन ऋतुमात्र-  
मादित्रग्रहं निषेधयति । यतः रजस्वलाभिगमनमलक्ष्मीसुराणाम् इत्यादिना त्रग्रहं निषेधः ।  
आर्त्तवदर्शनञ्च शरदाद्यनुसाधर्म्याद् ऋतुशब्देनोच्यते । यथा—ऋतावुसानि बीजानि प्ररोहन्ति,  
तथा आर्त्तवदर्शनात् ऋतौ शुक्ररूपं बीजमुसमिति ऋतुसामर्थ्यम् । न केवलमेवम्भूतः

युक्तयोः संसर्गे तु शुक्रशोणितसंसर्गम् अन्तर्गर्भाशयगतं  
जीवोऽवक्रामति सत्त्वसम्प्रयोगात् तदा गर्भोऽभिनिर्व्वर्त्तते ।  
स सात्त्व्यरसोपयोगादरोगोऽभिवर्द्धते सम्यगुपचारैश्चोपचर्य-

युक्तयोरदुष्टयोर्निशोणितगर्भाशयानुपहृतेतसोः स्त्रीपुरुषयोर्युक्तयोर्दुक्तकाले  
संसर्गे सति अन्तर्गर्भाशयगतं गर्भाशयान्तर्निविष्टं शुक्रशोणितसंसर्गं तयोः  
स्त्रीपुरुषयोरपत्योत्पत्तिहेतुकर्मपरिणामे तदपत्यस्य च जन्मग्रहणहेतुकर्मपरि-  
णामे च परस्परसंसृष्टशुक्रशोणितं सत्त्वसम्प्रयोगात् तदात्मनि नित्यानु-  
बन्धस्य मनसो जवेन वायुनाभिप्रेर्यमाणो जीवः सूक्ष्मदेहवान् विश्वरूपो  
भूतात्मा यदावक्रामति परलोकादवाधस्ताज्जन्मक्षेत्रे क्रामति तदा गर्भोऽभि-  
निर्व्वर्त्तते जायते ।

ननु स्त्रीपुंससंयोगकाले किञ्चिदेव शुक्रशोणितमन्तर्गर्भाशये संसर्गमेति  
कथं गर्भोऽभिवर्द्धते इत्यन आह—स सात्त्व्येत्यादि । स गर्भः सात्त्व्यं य  
आहाररसो मातुरात्मना धातुना सहैकीभूत आरोग्याय सम्पद्यते, तदाहारः  
सात्त्व्यीभूतस्तदुपयोगाद् गर्भेण्या अरोगो निर्व्विकारो गर्भोऽभिवर्द्धते ।  
असात्त्व्यरसोपयोगात् तु सविकार एव वर्द्धते न त्ररोग इत्यभिप्रेतं देन ख्यापि-  
तम् । तदसात्त्व्यरसविशेषोपयोगाद् गर्भे स्थितौ चोत्तरकालश्च रोगवद्भावेन  
वर्द्धते शरीरमिति । एवं सात्त्व्यरसोपयोगमात्रादेव किमेवं स्यादित्यत आह—  
सम्यगुपचारैरित्यादि । सात्त्व्यरसद्रव्याणां सम्यगुपचारैः सात्त्व्यरसद्रव्याणां

संसर्गरूप एव गर्भकारणम्, किंवा जीवाधिष्ठाने सतीत्याह—यदेत्यादि । तथा युक्त इति अदुष्ट-  
रेतसः पुरुषस्य, अदुष्टयोर्न्यादेः स्त्रियाश्च संसर्गे । अयञ्चार्थः ‘पुरुषस्य’ इत्यादिनव लब्धोऽपि  
पुनः शुक्रशोणितसंसर्गम् इत्यादिग्रन्थे वक्ष्यमाणोऽपि कर्मविध्यर्थमनूद्यते । तेन न पौनरुक्त्यम् ।  
किंवा ‘पुरुषस्य’ इत्यादिना पूर्वं, मैथुनात् प्रागनुपहृतेतस्त्वादुक्तम्, ‘तथा युक्ते च’ इत्यनेन  
मैथुनसमयेऽपि शुक्रयोर्न्यादीनामदुष्टिरुच्यते । मैथुनकाले हि द्विर्प्यादिना शुक्रद्वयः सम्भाव्यते ।  
शुक्रशोणितसंसर्गमिति शुक्रशोणितमेलकम् । ‘अन्तः’ इत्यनेन गर्भाशयवाह्यगतं संसर्गमकारणं  
गर्भस्य निषेधयति । जीवशब्देन चेतनाधातुरात्मा, न त्वात्मा व्यापकः । तत् कथमयमव-  
क्रामतीत्याह—सत्त्वेत्यादि । सत्त्वसम्प्रयोगादिति मनोगमनादित्यर्थः । तद् यथोक्तम्,—“युक्तस्य  
मनसा तस्य निर्दिशन्ति मनःक्रियाः” इति । यद्यप्यात्मा विमुत्वेन सत्त्वगतत्वेन न याति, तथापि  
यत्रास्य कर्मवशान्नमनो याति, तत्रैव चैतन्योपलब्धेरात्मापि गतः इति व्यपदिश्यत इति भावः ।  
अथैवमुत्पन्नो गर्भः कथमभिवर्द्धते, कथं वा जायत इत्याह—सम्यगुपचारैरिति, गर्भहितकरैरित्यर्थः ।

साणः । ततः प्रातःकालः सर्वेन्द्रियोपपन्नः परिपूर्णसर्व-  
शरीरो बलवर्णसत्त्वसंहननसम्पदुपेतः सुखेन जायते समुदाया-  
देषां भावानाम् ॥ २ ॥

मातृजश्चायं गर्भः पितृजश्चात्मजश्च सात्म्यजश्च रसज-  
श्चास्ति च सत्त्वसंज्ञमौपपादुकमितिहोवाच भगवानात्रेयः ॥ ३ ॥

कालसम्पन्नगुणानां मात्रया काले समयोगेनाभ्यवहारैर्विहाराणाञ्च शयनासना-  
दीनां समयोगेनाचरणैरुपचर्यमाणं आचर्यमाणः स गर्भः तत् प्रसिद्ध-  
कालं प्राप्तः सर्वेन्द्रियोपपन्नः परिपूर्णसर्वाङ्गावयवो बलवर्णसत्त्वसंहननसम्प-  
दुपेतः सन् एषां मात्रादीनां भावानां समुदायात् सुखेन जायते न त्वेकैकस्मादेषां  
भावानामिति प्रतिज्ञा । असम्यगुपचारैस्तूपचर्यमाणोऽप्राप्तकालोऽसर्वेन्द्रियोप-  
पन्नोऽपरिपूर्णसर्वाङ्गावयवो बलवर्णसत्त्वसंहननसम्पदुपेतः कृच्छ्रेण जायते ।  
इति चार्थप्राप्त्या लभ्यतेऽर्थः ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—के भावास्ते येषां समुदायाद् गर्भो जायत इत्यत आह—  
मातृजश्चायमित्यादि । मातृशब्देनाप्रदुष्टयोनिशोणितगभाशया स्त्री पितृ-  
शब्देनानुपहृतरताः पुमानभिधीयते । सत्त्वं मन औपपादुकमात्मनः शरीर-  
ग्रहणे साधकतमत्वेनोपपत्तिकरम् इति । इतिह पारम्पर्योपदेशम् ॥ ३ ॥

प्रातःकाल इति प्राप्तप्रसवकालः प्रसवकालो नवमदशममासौ । परिपूर्णशरीर इति अव्यङ्गोप-  
चितदेहः । सम्पच्छब्दो बलादिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । समुदायादिति सम्यङ्मेलकात् ।  
'पुषाम्' इत्यनेन पुरुषस्येत्यादिग्रन्थोक्तान् रेतोवर्तमानसत्त्वसात्म्यरससम्यगुपचारान् प्रत्यव-  
गृह्णाति ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—एतदेव समुदायप्रभवत्वं गर्भस्य प्रत्यकं मात्रादिगर्भकारणमुत्पादनेन दर्शयन्नाह—  
मातृजश्चेत्यादि । सात्म्यजश्चेत्यत्र सात्म्यशब्देन रसव्यतिरिक्तं रूपादि, उपचाराच्च सात्म्या  
आद्याः । सात्म्यरसस्तु 'रस' इत्यनेनैव गृहीतः । औपपादुकमिति आत्मनः शरीरान्तर-  
सम्यन्धोत्पादकम् । एतच्च व्याकृतमेव पूर्वम् । तत्र यद्यपि 'पुरुषस्यानुपहृतरेतसः' इत्यनेन पितृव  
प्रथममुक्तं, तथापि मातृप्रथमतां दर्शयितुं 'मातृजश्चायम्' इति प्रथमं कृतम् । अत्र माता च गर्भे  
प्रधानं कारणम् ; येन आसेकात् प्रभृति प्रसवपर्यन्तं मातुरेव गुणदोषावत्र विदधाति गर्भः ।  
प्रथमतस्तु पुरुषस्य मैथुनस्वातन्त्र्यात् तथा शरीरधारकप्रधानास्थिकारणत्वाच्चाग्नेभिधानं  
कृतम् ॥ ३ ॥

नेति भरद्वाजः । किं कारणम् ? न हि माता न पिता नात्मा  
न सात्मा, न त्वन्नपानभक्ष्यलेह्योपयोगा गर्भं जनयन्ति, न च  
परलोकादेत्य गर्भं सत्त्वसंज्ञकमवक्रामति ॥ ४ ॥

यदि हि मातापितरौ गर्भं जनयेताम्, भूयस्यश्च स्त्रियः  
पुमांसश्च भूयांसः पुत्रकामाः ; तै सर्वे पुत्रजन्माभिसन्धाय  
मैथुनमापद्यमानाः पुत्रानेव जनयेयुर्दुहितृर्वा दुहितृकामाः ।  
न च काश्चित् स्त्रियः केचिद्वा पुरुषा निरपत्याः स्युरपत्यकामाश्च  
परिदेवेरन् ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—भगवदात्रेयस्येमां प्रतिज्ञां श्रुत्वा भरद्वाजः कुमारशिरा नेत्युवाच ।  
गर्भा मात्रादिभ्यो जायत इत्येवं न । तत्र प्रश्नः—किं कारणमिति । तत्र  
कारणमाह—न हीत्यादि । हि यस्मान्माता न गर्भं जनयति न पिता नात्मा  
न सात्मा, नान्नपानभक्ष्यलेह्योपयोगाश्च गर्भं जनयन्ति, न च सत्त्वं परलोका-  
देत्य गर्भमवक्रामतीति ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—कस्मादेवमित्यत आह—यदि हीत्यादि । हि यस्मात् पुत्रकामा  
इत्यस्य स्त्रियः पुमांसश्चेत्युभयाभ्यामन्वयो यथालिङ्गं चकारेण ज्ञापितः ।  
अपत्यकामाः परिदेवेरन् मथुनं गच्छेयुः स्त्रियः सर्वाः पुमांसश्च सर्वे न च  
काश्चित् स्त्रियः पुरुषा वा केचिन्निरपत्या न स्युरिति । दृश्यन्ते हि बह्व्यः स्त्रियः  
पुमांसश्च बहवोऽपत्यकामा मैथुनं गता निरपत्यास्तस्मान्न माता न पिता गर्भं  
जनयति ॥ ५ ॥

चक्रपाणिः—पूर्वपक्षोद्घारेण सिद्धान्तं ग्राहयितुं मात्रादिकारणानामकारणत्वं भरद्वाजः प्रति-  
जानीते—नेतीति । यदि हीत्यादिना, मात्रादीनामकारणत्वे हेतुं द्रूते ; किंवा अनेनैव मात्रा-  
दीनामकारणत्वं भरद्वाजेन प्रतिज्ञातम् ; 'तत् किं कारणम्' इति हेतुप्रश्नः । ततः 'न हि माता'  
इत्यादि हेतुकथनम् ; अस्य चायमर्थः—यतो मात्रादयो गर्भकारणत्वे न प्रत्यक्षा गृह्यन्ते, ततो  
न मात्रादयो गर्भकारणम् ; यदि हीत्यादिना तु उपपत्तिविरोधोऽपि मात्राद्यकारणत्वे नास्तीति  
दर्शयति ; तेन न प्रौरुक्तम् । मैथुनधर्मो व्यवायः । पुत्रकामाः पुत्रानेव जनयेयुः, दुहितृकामा  
दुहितृर्वा जनयेयुरिति योजना । न तु काश्चित् स्त्रिय इत्यत्र मैथुनमापद्यमाना एव स्त्रियः पुरुषाश्च न  
परिदेवेरन् वेति योजना । मातापित्रधीनत्वेन गर्भस्य यदैवेच्छन्त्यपत्यम्, तदैव मैथुनमापद्य-  
मानाः सापत्याः स्युः ; ततश्च सर्वापत्यत्वे न केचित् परिदेवेरन्नित्यर्थः ॥ ४१५ ॥

न चात्मात्मानं जनयति । यदि ह्यात्मात्मानं जनयेत् जातो वा जनयेदात्मानमजातो वा जनयति, तच्चोभयथाप्ययुक्तम् । न हि जातो जनयति सत्त्वात्, न चैवाजातो जनयेत् सत्त्वात् \*, तस्मादेषोभयथाप्यनुपपत्तिस्तिष्ठतु । अथ तावदेतद् यद्ययमात्मानं शक्तो जनयितुं स्यात् न त्वेनमिष्टास्वेव कथं योनिषु जनयेत् वशिनमप्रतिहतगतिं कामरूपिणं तेजोवलवर्णसत्त्वसंहननसमुदितमजरमरुजममरमेवंविधं ह्यात्मात्मानमिच्छन्नित्यतो वा भूयः ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—तर्हि चात्मा गर्भं जनयेदित्यत आह—न चात्मा आत्मानं जनयतीति । कथमित्यत आह—यदीत्यादि । हि यस्मात् । आत्मा यद्यात्मानं जनयेत् तदायं प्रश्नः—आत्मा जातो वात्मानं जनयेदजातो वात्मानं जनयेदिति । तच्चोभयथानुपपन्नमिति दर्शयति—न हीत्यादि । हि यस्मादात्मा जात आत्मानं न जनयति, सत्त्वात् सद्भावादस्ति ह्येवात्मा नास्ति चात्मनो जन्मेति । तर्हि चाजातो जनयतीति चेत्, तदप्ययुक्तम् । कस्मात् ? न चैवाजातो जनयति सत्त्वात् । आत्मा सत्त्वादजातः कथं पुनः सन्तमेवात्मानं जनयेदिति ? सतो जन्मासम्भवादिति । तस्मादेषा योभयथानुपपत्तिः सा तिष्ठतु । अपरञ्च तावदेतत् । किं तावदित्यत आह—यद्ययमित्यादि । अयमात्मा यद्यात्मानं जनयितुं शक्तः स्यात् तदा त्वेनमात्मानं न कथमिष्टासु योनिषु जनयेत् । वशिनमित्येवमादिश्चात्मानमिच्छन्नतो भूयो रूपं वेच्छन् न कथमात्मानं जनयेदिति । दृश्यते चान्यथा । तस्मादात्मा गर्भं न जनयतीति ॥ ६ ॥

चक्रपाणिः—आत्मजत्वं गर्भस्य निषेधयति—न चात्मेत्यादि । आत्मानं न जनयतीत्यर्थः । सत्त्वादिति जन्यस्यात्मनो विद्यमानत्वात्, न च विद्यमानो जन्यते इत्यर्थः । असत्त्वादिति कारणभूतस्यात्मनोऽजातपक्षेऽसत्त्वान्न कारणत्वमुपपन्नमित्यर्थः । अत्रैव दूषणान्तरमाह—तिष्ठत्वित्यादि । योनिष्विति जातिषु ; अतो वा भूय इति यथोक्तगुणयुक्तादप्यधिकं दृक्कादिपरमर्द्धितुल्यम् इत्यर्थः ॥ ६ ॥

\* जनयत्यसत्त्वात् इति चक्रः ।

असात्म्यजश्चायं गर्भः । यदि हि सात्म्यजः स्यात् तर्हि सात्म्यसेविनामेवैकान्तेन व्यक्तं प्रजा स्यात् । असात्म्योपसेविनश्च निखिलेनानपत्याः स्युस्तच्चोभयमुभयत्रैव दृश्यते ॥ ७ ॥

न रसजश्चायं गर्भः । यदि हि रसजः स्यान्न केचित् स्त्रीपुरुषेष्वनपत्याः स्युर्न हि कश्चिदस्त्येषां योरसान् नोपयुङ्क्ते । श्रेष्ठरसोपयोगिनां चेद्गर्भा जायन्ते इत्यभिप्रेतम्, इत्येवं सति आजौरभ्र-मार्गमायूररस-गोक्षीरदधिघृत-मधु-तैल-सैन्धवेक्षुरस-मुद्गशालिभृतानामेकान्तैः प्रजा स्यात् । श्यामाकवरकोदालक-कोरदूषककन्दमूलभक्ष्याश्च निखिलेनानपत्याः स्युस्तच्चोभय-मुभयत्रैव दृश्यते ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—सात्म्यजश्चान्नादिकं गर्भं जनयतीति चेत्, तदपि न युक्तम्, कथमित्यत आह—असात्म्यजश्चायं गर्भ इति । कस्मान्नायं गर्भः सात्म्यज इत्यत आह—यदि हीत्यादि । तत्र व्यभिचारं दर्शयति । तच्चोभयमित्यादि । तच्चोभय-मुभयत्र दृश्यते । सात्म्यसेविनोऽपि निरपत्याः केचित्, केचित् सापत्याः ; असात्म्यसेविनश्च केचित् सापत्याः, केचिन्निरपत्या दृश्यन्ते ; तस्मान्न सात्म्यजश्चायं गर्भ इति ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—रसजश्चायं गर्भ इति चेत्, तत्रोच्यते—न रसजश्चायं गर्भ इति । कथं न रसज इत्यत आह—यदि हीत्यादि । एषां मध्ये यो जनो रसान् नोप-युङ्क्ते तादृशः कोऽपि नास्ति, कथं तर्हि निरपत्याः स्युः ? सर्व एव सापत्या भवेयुरिति । तत्र रसशब्देन श्रेष्ठरसश्चेद्विवक्ष्यते तर्हि चाजरसादिभिः श्रेष्ठरसैः पुष्टा एकान्तेन सापत्याः स्युर्न निरपत्याः स्युः । दृश्यन्ते च केचित् सापत्याः केचित् निरपत्या इति । अश्रेष्ठरसश्यामाकादिभक्ष्याश्च निखिलेनानपत्या न दृश्यन्ते, दृश्यन्ते च केचित् सापत्याः केचिन्निरपत्या इति तदुभयमुभयत्र दृश्यते इति ॥ ८ ॥

चक्रपाणिः—तच्चोभयमिति सप्रजत्वमनपत्यत्वञ्च । उभयत्रेति सात्म्यसेविन्यसात्म्यसेवि-न्यपि । यो रसान् नोपयुङ्क्ते इति रसश्चेत् गर्भकारणम्, तच्च सर्व एव स्त्रीपुरुषाः



न खल्वपि परलोकादेत्य सत्त्वं गर्भमवक्रामति । यदि हि एनमवक्रामेन्नास्य किञ्चिदेव पौर्वदेहिकं स्यादविदितमश्रुतमदृष्टं वा । स च तच्च किञ्चिदपि न स्मरति तस्मादेवैतद् ब्रूयहे । अमातृजश्चायं गर्भोऽपितृजश्चानात्मजश्चासात्म्यजश्चरसजश्च न चास्ति सत्त्वमौषपादुकमितिहोवाच भरद्वाजः ॥ ६ ॥

नेति भगवानात्रेयः । सर्वेभ्य एभ्यो भावेभ्यः समुदितैभ्योऽभिनिर्व्वर्त्तते गर्भः । मातृजश्चायं गर्भः, न हि मातुर्विना गर्भोप-

गङ्गाधरः—अथास्ति च सत्त्वमौषपादुकमिति यदुक्तं तदप्ययुक्तम् । कथमित्यत आह—न खल्वपीत्यादि । न खलु सत्त्वसंबन्धं परलोकादेत्य गर्भमवक्रामति । कस्मादित्यत आह—यदि हीत्यादि । हि यस्माद् यदि सत्त्वमेनं गर्भमवक्रामेत्, तदास्य पुरुषस्य पौर्वदेहिकं किञ्चिदविदितमश्रुतमदृष्टं वा न स्यात् । किन्तु स किञ्चिदपि न स्मरति । तस्मादित्यादि निगमनम् ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—इति यद्भरद्वाज उवाच तत्रोत्तरमाह—नेति भगवानात्रेय इति । कस्माद्भरद्वाजवचनं न ? तदाह—सर्वेभ्य इत्यादि । प्राक् प्रतिज्ञातमेषां भावानां समुदायाद् गर्भो जायते इति । तस्मादेभ्यो मात्रादिभ्यः सर्वेभ्यः समुदितेभ्यो भावेभ्यो गर्भोऽभिनिर्व्वर्त्तते, न त्वेकैकस्मात् । तस्मान्मातृजश्चायं सेवन्ते । तेन सर्वं एव सापत्याः स्युरिति भावः । अथ रसजो गर्भ इत्यस्य 'श्रेष्ठरसः' इत्यर्थो वर्ण्यते; तत्रापि दूषणान्तरमाह—श्रेष्ठमित्यादि ॥ ७।८ ॥

चक्रपाणिः—“अस्ति च सत्त्वमौषपादुकम्” इति यदुक्तम्, तद् दूषयति—न खल्वपीत्यादि । पौर्वदेहिकमिति पूर्वदेहानुभूतम् । अविदितमदृष्टं वेति इह जन्मनि पूर्वदेहानुभूतं नाविदितम् अदृष्टं वा स्यात् । विदितं प्रत्यक्षव्यतिरिक्तप्रमाणोपलब्धम् । दृष्टं प्रत्यक्षोपलब्धम्, एतद्विपर्ययात् अविदितमदृष्टं विज्ञेयम् । न च किञ्चिदपि स्मरतीति न च पूर्वजन्मानुभूतं स्मरतीत्यर्थः । एवं मन्यते—यन्मनः पौर्वदेहिकमनुभवति, तच्चेह जन्मन्यप्यनुवर्त्तते, यथा यत् तेन जन्मान्तरानुभूतम्, तदिह जन्मन्यपि तथैव स्मरति । यथा—देवदत्तो बाल्यानुभूतं यौवने स्मरति, न चायं तथा स्मरति । तेन न पूर्वापरजन्मन्येकं सत्त्वमिति । तस्मादित्यादिना दूषणदूषितमत्यर्थं पुनर्निगमे दर्शयति ॥ ९ ॥

चक्रपाणिः—भरद्वाजानुमतम् आत्रेयवचसा दूषयति—नेतीत्यादि । समुदितेभ्य इति वचनात् प्रत्येकं मात्रादीनामितरकारणनिरपेक्षाणां गर्भकारणत्वं निषेधयति । तेन मात्रादिसांनिध्येऽपि

पत्तिः स्यात्, न च जन्म जरायुजानाम् । यानि तु खल्वस्य गर्भस्य मातृजानि यानि चास्य मातृतः सम्भवतः सम्भवन्ति तान्यनु-  
व्याख्यास्यामः । तद् यथा—त्वक् च लोहितश्च मांसश्च मेदश्च  
नाभिश्च हृदयश्च क्लोम च यकृच्च ग्रीवा च वुक्नौ च वस्तिश्च  
पुरीषाधानश्चामाशयश्च पक्वाशयश्चोत्तरगुदश्चाधरगुदश्च चुद्रान्त्रश्च  
स्थूलान्त्रश्च वपा च वपावहनञ्चेति मातृजानि ॥ १० ॥

गर्भः, न पित्रादिकारणमन्तरेण । यद्यमातृजश्चायं गर्भ इत्युच्यते, तर्हि  
किञ्चः ? न हि मातृर्भूते गर्भस्य धारणादुत्पत्तिः स्यात् । अपरश्च जरायु-  
जानां जन्म च न मातृर्भूते स्यात् । कस्मादित्यत आह—यानि त्वित्यादि ।  
यानि खल्वस्य गर्भस्य जरायुजस्य जातोत्तरकालं मातृजानि मातुरार्त्तव-  
प्रकृतीनि । मातृतः सम्भवतोऽस्य गर्भस्य यानि मातृशोणितात् सम्भवन्ति  
तान्यनुव्याख्यास्याम इति ; तद् यथा त्वगित्यादि । वपा हृदयस्थमेदः ।  
नैतानि पितृतो बाहाररसतो वा जायन्ते ॥ १० ॥

गर्भकारणान्तरजीवावक्रमाद्यभावाद् गर्भोत्पादो युक्त एव । न च सामग्रीजन्ये कार्ये एकदेशस्य  
अजनकत्वेनाकारणत्वम् । एवं सति तन्तूनामपि पटकारणानां कारणान्तरासाक्षिभ्ये पटाजनकत्वेन  
अकारणत्वं स्यादिति भावः । इदमेव मात्रादिजन्यत्वं गर्भस्य यत्—मात्रादिव्यतिरेकेणानुत्पाद्य-  
मानत्वम् । एवंविधमेव मातृस्तावत् कारणत्वमाह—‘मातृजश्चायं गर्भः’ इति । गर्भोत्पत्ति  
मातुः कारणत्वं दर्शयित्वा जरायोरपि जन्मनि कारणत्वमाह—जन्मेत्यादि । जरायुरमरा, येन  
वेष्टिता मनुष्यादयः प्रजायन्ते । जरायुणा वेष्टिता जायन्ते इति जरायुजा मनुष्यादयः ।  
संस्वेदजानां मशकादीनाम् उद्भिजादीनां भेकादीनाञ्च मातरं विनापि जन्म भवति । अण्डजानामपि  
च यद्यपि माता कारणं भवत्येव जन्मनि, तथापि जरायुजमानुषस्येह प्रकरणेऽभिप्रैतत्वेनाण्डजान्  
विहाय जरायुजानाम् इति कृतम् । किंवा जरायुजस्याभिव्यक्तिरूपे जन्मनि यावदभिव्यक्ति  
येथा माता कारणं भवति, न तथा अण्डजे । तत्र हि जन्मादावण्डोत्पत्तिः । तत्रैव हि  
माता कारणम्, न जन्मन्यभिव्यक्तिरूपे । यत् तु ‘पितरं विना न जरायुजानां जन्म’ इति  
वक्ष्यति, तत् जरायुजोत्पादे पितुरवश्यापेक्षणीयत्वोपदर्शनार्थम् । अण्डजास्तु मत्स्यादयः  
पितरं विनापि ऋतुविशेषप्राप्तैव भवन्तीति भावः । मातृजानीत्यस्य विवरणम्—यान्यस्य मातृतः  
सम्भवतः सम्भवन्तीति । सम्भवतो गर्भस्य यानि मातृत इति मातुरागताद् शोणितात् सम्भवन्त्युत्प-  
द्यन्ते, तानि मातृजानि त्वगादीनि अनुव्याख्यास्याम इति योजना । एवमन्यत्रापि यानि त्वित्यादि-

पितृजश्चायं गर्भः । न हि पितृवृत्ते गर्भोत्पत्तिः स्यान्न च  
जन्म जरायुजानाम् । यानि खल्वस्य गर्भस्य पितृजानि यानि  
चास्य पितृतः सम्भवतः सम्भवन्ति तान्यनुव्याख्यास्यामः ।  
तद्वयथा—केशश्मश्रुनखलोमदन्तास्थिशिरास्त्रायुधमन्यः शुक्र-  
मिति पितृजानि ॥ ११ ॥

आत्मजश्चायं गर्भः । गर्भात्मा ह्यन्तरात्मा यस्तमेनं जीव  
इत्याचक्षते । शाश्वतमरुजमजरममरमक्षयमभेद्यमच्छेद्यमलोड्यं  
विश्वरूपं विश्वकर्माणामव्यक्तमनादिमनिधनमक्षरमपि । स  
गर्भाशयमनुप्रविश्य शुक्रशोणिताभ्यां संयोगमेत्य गर्भत्वेन जन-  
यत्यात्मनात्मानम्, आत्मसंज्ञा हि गर्भे, तस्य पुनरात्मनो जन्म

गङ्गाधरः—तर्हि पितृजश्चायं कथं स्यादित्यत आह—पितृजश्चायमित्यादि ।  
यानि तु खल्वस्य पितृतो जातस्य गर्भस्य पितृजानि जायमानस्य च यानि  
तेषाञ्च जन्म न स्यादिति । तानि केशादीनि पितृशुक्रजानि न च मातु-  
रार्त्तवजान्यथवाहाररसजानि ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—कथमात्मज इत्यत आह—आत्मजश्चेत्यादि । योऽन्तरात्मा  
स गर्भस्यात्मा तमेनमन्तरात्मानं जीव इत्याचक्षते । योऽयं जायते स जीवतीति ।  
किं जीव इत्यत आह—शाश्वतमिति । एष ह्यशाश्वतो मरणशीलत्वात् ।  
योऽन्तरात्मा शुक्रशोणिताभ्यां सह आत्मानं स्वमेव गर्भत्वेन गर्भरूपेण  
जनयति । कुतो गर्भस्यात्मत्वमित्यत आह—आत्मसंज्ञा हि गर्भे इति । हि

ग्रन्थो व्याख्येयः । मातृजत्वञ्च त्वगादीनामागमगम्यमेव । पुरीपाधानं पक्काशयः, उत्तरगुदाधरगुदौ  
शुद्धोत्तराधरभागौ, वपावहनं तैलवर्त्तिकेति ख्यातम् ॥ १० ॥

चक्रपाणिः—शुक्रमिति विच्छिद्य पाठेन, शुक्रस्य सर्व्वधातुसारस्योपादेयतां दर्शयति ॥ १.१ ॥

चक्रपाणिः—आत्मज इत्यादिना आत्मजत्वं व्युत्पादयति; 'अन्तरात्मोच्यते' इत्यनेन, गर्भ-  
कारणसूतमात्मानं पद् धातुसमुदायवद् 'आत्म'शब्दाभिधेयाद् व्यावर्त्तयति; आचक्षत इति आगमेपु;  
शाश्वतादिशब्दैर्मुच्यते दृढाः, अलोड्यमित्यलोभ्यम्; गर्भत्वेन जनयत्यात्मानमिति गर्भस्वरूपो  
यः पद् धातुरात्मा, तं जनयतीत्यर्थः; गर्भस्यात्मशब्दाभिधेयतामाह—'आत्मसंज्ञा हि गर्भे' इति ;

अनादि-सत्त्वान्नोपपद्यते । तस्मादजात एवायमजातं गर्भं जनयति  
जातोऽप्यजातं च गर्भं जनयति । स चैव गर्भः कालान्तरेण  
वाल्लयुवस्थविरभावानवाप्नोति । स यस्यां यस्यामवस्थायां  
वर्त्तते तस्यां तस्यां जातो भवति, या त्वस्य पुरस्कृता तस्यां  
जनिष्यमाणश्च । तस्मात् स एव जातश्चाजातश्च युगपद्भवति  
तस्मिंश्चैतदुभयं सम्भवति जातत्वञ्चैव जनिष्यमाणत्वञ्च ।  
स जातो जन्यते । स चैवानागतैष्ववस्थान्तरेष्वजातो जनयति  
आत्मनात्मानम् । सतो ह्यवस्थान्तरगमनमात्रमेव हि जन्म चोच्यते  
यस्मात् गर्भे गर्भाशये गर्भस्यात्मसंज्ञा स्वसंज्ञा । ननु तर्हि किमात्मा जात  
इत्यत आह—तस्य पुनरित्यादि । तस्यात्मनः पुनस्तस्यात्मनस्तु जन्म नोप-  
पद्यतेऽनादिसत्त्वात् अनादिच्चात् सत्त्वाच्च । तस्माज्जन्मानुपपत्तितः स  
आत्मा अजात एवाजातं गर्भं जनयति । इति तु न चैवाजातो जनयति  
सत्त्वादित्यस्योत्तरम् । न हि जातो जनयति सत्त्वादित्यस्योत्तरमाह—जातोऽप्य-  
जातमित्यादि । जातोऽयमात्मा स्वमेव जातं गर्भं जनयति । स चाजात एवात्मा  
गर्भं गर्भत्वावस्थामापन्नः । वालेत्यादिस्थूलावस्थाप्रदर्शनं शिष्याणां स्फुट-  
बोधाथम्, वस्तुतः प्रतिक्षणमवस्थान्तरं प्राप्नोति शीघ्रगतस्वभावेन क्षणभङ्गात्  
जगतः । यस्यां यस्यां वाल्ययौवनादौ तस्यां तस्यां वाल्ययौवनादौ, या तु अस्य  
जातस्य या त्ववस्था पुरस्कृता अग्रे कृता आगामिनी, तस्यामवस्थायां स वालो  
वा युवा वा जनिष्यमाण इति, तस्मात् स वालो वालत्वेन जातश्च युवत्वादिना  
तु अजातश्चेति युगपज्जातत्वमजातत्वञ्च इत्युभयं तस्मात् तस्मिन् वाले एत-  
ज्जातत्वं जनिष्यमाणत्वञ्चैतदुभयं सम्भवति, स च वालो जातः क्रमेण युवा जन्यते  
जायते आत्मना तूपाद्यते इति द्वयर्थः । कथं जातो जन्यत इत्यत आह—  
स चैवेत्यादि । स एव च वालोऽनागतेषु भविष्यत्सु युवस्थविरादिभावेषु  
अवस्थान्तरेषु आत्मानमात्मना जनयति स्वेनैव स्वं युवादिकं जनयति ।  
तस्येत्यनेन परमात्मानं न जनयति; तस्यानादित्वाज्जन्म नोपपद्यते तस्मादजात एवायम्  
अजातं गर्भं जनयतीति पक्षोऽत्र योज्यः । अथाजातः सन् गर्भावस्थरूपो जात उच्यते;  
एवमजातत्वं जातत्वञ्चात्मनि द्वयमपि व्यपदिश्यते । एतदेवात्मनि जातत्वमजातत्वञ्च दर्शयितुं  
दृष्टान्तार्थं गर्भं एव जातत्वमजातत्वं दर्शयति—स चैवेत्यादि । पुरस्कृतेत्यग्रे भविष्यन्ती ।

तत्र तत्र च वयसि तस्यां तस्यामवस्थायाम् । यथा—सतामेव शुक्रशोणितजीवानां प्राक् संयोगाद्गर्भत्वं न भवति । तच्च संयोगाद्भवति । यथा सतस्तस्यैव पुरुषस्य प्रागपत्यात् पितृत्वं न भवति तच्चापत्याद्भवति । तथा सतस्तस्यैव गर्भस्य तस्यां तस्यामवस्थायां जातत्वमजातत्वञ्चोच्यते ॥ १२ ॥

न तु खलु गर्भस्य मातुर्न पितुर्नात्मनः सर्वभावेषु यथेष्ट-कारित्वमस्ति । ते किञ्चित् स्ववशात् कुर्वन्ति किञ्चित् कर्म-

नन्ववस्थान्तरप्राप्तिरियं, कथं जायते वा जन्यते वा इत्यत आह—सत इत्यादि । संतश्च प्राक्सिद्धस्यावस्थान्तरगमनमेव जन्मोच्यते, न त्वन्यद् रूपम् । तत्र उदाहरणमाह—यथेत्यादि । वीजधर्मा सूक्ष्मदेही जीवः । सतां वर्तमानानां शुक्र-शोणितजीवानां संयोगात् । अत्र दृष्टान्तमाह—यथेत्यादि । तच्चेति पितृत्वम् । इति भगवदत्रेयेण प्रोच्य भरद्वाजोक्तं न हि जातो जनयति सत्त्वात्, न चैवा-जातो जनयति सत्त्वात् । तस्मादुभयथाप्यनुपपत्तिरिति दूषणं प्रत्युक्तम् ॥१२॥

गङ्गाधरः—यद्ययमात्मानं शक्तो जनयितुं स्यादित्यादि भरद्वाजदूषणं प्रतिवक्तुमाह—न तु खल्वित्यादि । यथेष्टकारित्वं स्वेच्छानुरूपकारित्वम् । ननु

यथा बालस्य युवत्वावस्थाऽजाता जन्यत इति च, तथा अजातो जनयत्यात्मात्मानमिति च शब्द-प्रयोगसमर्थनमात्रमेतद् विवक्षाभेदात् बोद्धव्यम् । अनेन चात्मावस्थाभेदकृतजातत्वसमर्थनेन 'जातो वा' इत्यादिग्रन्थकृतपूर्वपक्षः शब्दप्रयोगसमर्थनतया परिहृतः ; परमार्थतस्तु नित्यत्वेनाजात एवात्मा आत्मनोऽजातावस्थां गर्भादिरूपां जनयति ; तेन नासतः कारणत्वम्, सतो वा जन्यत्वम् इति पक्षः स्थिर एव । सतो हीत्यादिना सत्कार्यपक्षं सांख्यमतं दर्शयति ; किंवा, वयोभेदेन जन्म, तदेवावस्थान्तरगमनमिति दर्शयति ; तस्यां तस्यामवस्थायामिति च्छेदः । पितृत्वमिति पितृत्वेन व्यपदिश्यत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

चक्रपाणिः—यदुक्तम्,—यद्यात्मा आत्मानं जनयति, तदा वशित्वादिगुणयुक्तं जनयेदिति ; सत्रोत्तरमाह—न तु खल्वित्यादि । गर्भस्य सर्वभावे न मात्रादीनां यथेष्टकारित्वमिति योज्यम् । अत्र च यद्यप्यात्मैव प्रकृतः तथापि तुल्यसमाधानत्वेन मातापितरवपि व्युत्पादितौ । यतो ह्यात्मनः सर्वभावेषु यथेष्टकारित्वेन दृष्ट्योनिगमनादिप्रसक्तिः समाधीयते, तथा मातापित्रोरपि यथेष्टकारित्वेन पुत्रानेव जनयेयुरित्यादिपूर्वपक्षः परिहृतो भवति । अथ कृत एवात्मादीनां यथेष्टकारित्वं क्वचिन्न भवतीत्याह—ते किञ्चिदित्यादि । किञ्चिदिति न सर्वम् । अत्र मातापितरौ स्ववशौ मैथुनं गर्भकारणं

वशात् क्वचिच्चैषां करणशक्तेर्भवति क्वचिन्न भवति । यत्र सत्त्वादिकरणसम्पत् तत्र यथावलमेव यथेष्टकारित्वमतोऽन्यथा विपर्ययः । न च करणदोषादकरणमात्मा गर्भजनने

तर्हि कथङ्कारं कर्तृत्वमस्तीत्यत आह—ते किञ्चिदित्यादि । ते माता च पिता च जीवश्चैते किञ्चित् कर्म स्ववशात् कुर्वन्ति, किञ्चित् शोकमोहादिकं कर्मवशात्, क्वचित् कार्ये एषां मातापितृजीवानां करणानां मनोबुद्ध्यादीनां शक्तेर्भवति, कार्यं क्वचिच्च कार्यं शक्तितो न भवति । सत्त्वादिकरणसम्पत् मनः-प्रभृतीनां रजस्तमोऽनुबन्धनिर्मुक्तत्वादिः । अतोऽन्यथा यत्र सत्त्वादिकरणव्यापत् तत्र विपर्ययो न यथेष्टकारित्वमिति । ननु तर्हि करणानां मनोबुद्ध्यादीनां रजस्तमःप्रभृतिदोषादात्मा न कारणं भवत्विति चेदाह—न चेत्यादि ।

सात्मपरसत्त्वादिकं चाचरतः, गर्भस्य जीवाधिष्ठानादौ तु कर्माधीने परवशी ; तथा आत्मापि गर्भस्य चैतन्ये तथा धर्माधर्मक्रियानुष्ठाने स्ववशः, कर्मजन्ये हृद्योन्यादिगमने धर्माधर्मपराधीन एव । तेन कर्माधीनेऽपि विषये न मात्रादीनां यथेष्टकारित्वम् । यथेष्टकारित्वमपि मात्रादीनां क्वचिद् दर्शयन्नाह—क्वचिच्चैषामित्यादि । करणमुपकरणं साधनोपाय इति यावत् । सर्वं मनोभादि प्रधानं येषाम्, तानि सत्त्वादीनि मनहन्द्रियशुक्रदोषितादीनि ; यथावलमिति यथाकर्म, यल-शब्देनेहादृष्टमुच्यते । एतेन यत्र मात्रादीनां पुत्रेच्छायामिष्टयोनिषु गमनादिकरणशक्तिर्भवति, कर्म चानुगुणं भवति, तत्रेप्सितपुत्रादिष्विष्टयोनिगमनादि कार्यं भवति, यदि तत्र विशुद्धशुक्रः पुरुषो भवति, स्त्री च विशुद्धयोन्याशयत्वादिगुणयुक्ता, पुत्रजननञ्च कर्म तयोर्बलवत्, तदा पुत्रजन्मामिसन्वाय मैथुनमापद्यमानौ ईप्सितं पुत्रं जनयतः, तथा आत्मापि विशुद्धसत्त्वादिगुणयुक्तः शुभकर्मवान् तत्काले हृष्टां योनिमनुष्यायति, तदाभीष्टयोनिगमनं सम्पादयत्यात्मन ह्यादि यथेष्टकारित्वोदाहरणं ज्ञेयम् । अतोऽन्यथा इति सत्त्वादिकरणाशक्तौ विगुणे च दैवे विपर्यय इति न यथेष्टकारित्वम् ; किंवा क्वचिच्च मैथुनादौ पित्रादीनां न स्ववशत्वम् । तत् किमिति जीवोपक्रमादावपि न स्ववशत्वमेषां भवति ? इत्याह—क्वचिच्चैषामित्यादि । क्वचिदेव कार्यं यस्मात् किञ्चित् करणं मात्रादीनां शक्तम्, न सर्वत्र, तेन सर्व्वेष्वेव गर्भस्य भावेषु न शक्तमिति भावः । यत्रापि चैते मात्रादयः स्ववशाः सन्तः कुर्वन्ति, तत्रापि स्वीय-स्वीयकरणायुक्ता एव कुर्वन्तीत्याह—यत्र सत्त्वेत्यादि । यथावलमिति यथाशक्ति । अनेन च मात्रादयो गर्भस्य येषु विशेषेषु शक्ताः, तेषु सत्त्वादिकरणसम्पत्तौ यथेष्टकारिणो भवन्ति, नाशक्यद्विषये उपहतोपकरणा वा यथेष्टकारिणो भवन्तीति दर्शयति । अतोऽन्यथा विपर्यय इत्यस्य चार्थोऽग्रे व्याकृतः । ननु सत्त्वादिकरणदोषाच्चेदयमात्मा गर्भं न जनयति तथाविधं, हन्त

सम्भवति । दृष्टञ्च चेष्टा योनिरैश्वर्यं मोक्षश्चात्मविद्भिरात्मायत्तम् ।  
न ह्यन्यः सुखदुःखयोः कर्त्ता न चान्यतो गर्भो जायते जायमानः,  
न चाङ्कुरोत्पत्तिरबीजात् ॥ १३ ॥

कुतोऽत्रात्मा करणदोषवत्त्वेऽपि नाकारणमित्यत आह—दृष्टञ्चेत्यादि । कस्माच्च  
चेष्टादिकमात्मायत्तं दृश्यते इत्यत आह—न ह्यन्य इत्यादि । हि यस्मा-  
दात्मतोऽन्यः कश्चिद्भावः । ननु कथमन्यो न कर्त्तव्यत आह—न चान्यत  
इत्यादि । अन्योऽप्यात्मतो यः कर्त्तव्यते सोऽपि जायमानो न चात्मतोऽन्यतो  
जायते । ननु कथं नान्यतः स कर्त्ता जायमानो जायते इत्यत आह—  
न चाङ्कुरेत्यादि । बीजं विना न चाङ्कुरोत्पत्तिरिति, तथा च बीजं चेतनावान्  
आत्मा तस्माज्जायमानोऽन्यश्चेतनः कर्त्ताभिधीयते उपचारात् । परन्तु  
तत्रापि कर्त्तृत्वे आत्मैव बीजं तस्मादात्मा सुखदुःखयोः कर्त्ता तस्माच्च  
सुखदुःखहेतुः कर्म शुभाशुभमात्मायत्तं शुभाशुभकर्मफलादिष्टानिष्टयोनिरैश्वर्यं  
मोक्षश्च शुभकर्ममेत इत्यत आत्मायत्तमेव चेष्टादिकमतो नात्मा करणदोषादकारणं  
गर्भजनने सम्भवतीति बोध्यम् ॥ १३ ॥

तर्ह्यकारणमेवायमात्मा, कारणं हि यद्भवति, तत् करोत्येव कार्यमित्याह—न चेत्यादि ।  
करणदोषादकुर्वन् गर्भं कदाचिदात्मा न गर्भजनने कारणं भवतीति न, अपि तु  
भवत्येव कारणम् । एवं मन्यते—मृदाद्यभावात् घटमकुर्वन्नपि कुम्भकारः कारणमेव घटस्य  
भवति, घटजननशक्तियुक्तत्वात्, तथा आत्मापि करणदोषादकुर्वन्नपि तथाविधं गर्भं तज्जनन-  
शक्तत्वेन भूयोदृष्टत्वात् कारणमेव भवति । तथेष्टयोनिगमने प्रसक्तिरपि प्रोद्भाविता, आत्मनः  
कारणत्वेन सा कच्चिद् भवतीत्यपि दर्शयन्नाह—दृष्टञ्चेत्यादि । आत्माधीना योनिः पुरुषं  
प्रति दृष्टा योनिः, तथा ऐश्वर्यादयश्चात्माधीना दृष्टा, यथोक्तं कतिधौपुषीये—“आवेशश्चेतसो  
ज्ञानम्” इत्यादिना । आत्मनः कारणत्वे हेत्वन्तरमाह—न ह्यन्य इत्यादि । हि यस्मादात्मनो-  
ऽन्यः सुखदुःखयोः कर्त्ता नास्ति, अत आत्मैव सुखदुःखसाधनेन्द्रियकर्मशरीरादिकर्त्ता । तेन  
आत्मा कारणं गर्भस्य सुखदुःखाद्याधारस्येति भावः । अथ भूतान्येव कस्मात् संयोगवशात् चेतना-  
सुखादिकारणानि न भवन्तीत्याह—न चान्यत इत्यादि । अन्यत इति विजातीयत्वात् । जायमान  
इत्युत्पद्यमानः । सदृशमेव कारणात् कार्यमुत्पद्यते । येन न शणस्याङ्कुरोत्पत्तिर्नारिकेलबीजादिति  
कार्यत्वेनाभिमतङ्कुरस्य बीजादुत्पत्तिः ; तेन गर्भस्य यच्चैतन्न्यं तदचेतनेभ्यो न भवति, किन्तु  
चेतनाधातोरात्मन एवेति दर्शयति ॥ १३ ॥

यानि खल्वस्य गर्भस्यात्मजानि यानि चास्यैवात्मतः सम्भवतः सम्भवन्ति तान्यनुव्याख्यास्यामः । तद् यथा—तासु तासु योनिपूत्पत्तिरायुरात्मज्ञानं मन इन्द्रियाणि प्राणापानौ प्रेरणं धारणमाकृतिस्वरवर्णविशेषाः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ चेतना धृतिबुद्धिः स्मृतिरहङ्कारः प्रयत्नश्चेत्यात्मजानि ॥ १४ ॥

सात्म्यजश्चायं गर्भः । न ह्यसात्म्यसेवित्वमन्तरेण स्त्रीपुरुषयोः बन्धत्वमस्ति गर्भे वाऽनिष्टो भावः । यावत् खल्वसात्म्य-

गङ्गाधरः—नन्वेवमात्मनोऽन्यतोऽपि तानि जायन्ते यानि तु खल्वस्य गर्भस्यात्मजानीत्यतस्तान्याह—यानीत्यादि । जातोत्तरकालमप्यात्मजानि सम्भवतो गर्भाशये जायमानस्य गर्भस्य च यानि चात्मजानि तानि चानुव्याख्यास्याम इत्यर्थः । आयुः दीर्घेहस्वादिरूपं शुभाशुभकर्मफलान्, आत्मज्ञानं स्वज्ञानम्, मनः सत्त्वसंज्ञकमिथ्याहङ्कारिकान्मनसः पूर्वकृतकर्मसहितात्मनः । एवमाहङ्कारिकेन्द्रियेभ्यो नित्यस्वानुबन्धेभ्यो नित्येभ्यो भूतेभ्यः पुनः कर्मात्मकेभ्यस्तद्विरूपाण्यनित्यानीन्द्रियाणि बोध्यम् । प्रेरणं मनःप्रभृतीनां स्वस्वविषये, धारणं मनसि धारणा चिरस्थितिरित्यर्थः । आकृतिविशेषः स्वरविशेषो वर्णविशेषश्चात्मकार्य एव शुक्रच्युतिकालिकप्रकारविशेषरसविशेषादिकरणसम्पत्तिसहायाद् भवति, न तु शुक्रादिप्रकारविशेषकार्यः । तस्मादिष्टस्वेव योनिषु वशिनमित्यादिकश्चात्मानमात्मा न जनयति । तस्मादेवात्मजश्चायं गर्भ इति ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—गर्भस्यात्मजत्वं स्थापयित्वा सात्म्यजत्वं स्थापयति—सात्म्यजश्चायमित्यादि । अयं गर्भस्तु सात्मज एव न त्वसात्मजः । कुतो नासात्मजः सात्मजश्च भवतीत्यत आह—न हीत्यादि । हि यस्मात् असात्म्यसेवित्वं विना स्त्रीपुंसयोर्वन्धनत्वं नास्ति, गर्भेषु वाप्यनिष्ठभावो नास्ति

चक्रपाणिः—एवमात्मजत्वं गर्भस्य व्युत्पाद्यात्मजान् विशेषेणाह—यानीत्यादि । प्रेरणं धारणञ्चेन्द्रियाणामेव । अत्र च तत्तद्देवादि-पदवादियोगमनपरत्वे धर्माधर्मजन्ये धर्माधर्मस्यापि जनकत्वेनात्मैव मूलकारणमुच्यते । आत्मज्ञानप्राणापानादौ तु मनःकारणत्वेऽप्यात्मैव व्यवधानेन कारणम् ॥ १४ ॥

चक्रपाणिः—सात्म्यजश्चेत्यादिना सात्म्यजत्वं व्युत्पादयति, असात्म्यसेवां गर्भोपघातिनीं



सेविनां स्त्रीपुरुषाणां त्रयो दोषाः प्रकुपिताः शरीरमुपसर्पन्तो न शुक्रशोणितगर्भाशयोपघातायोपपद्यन्ते तावत् समर्था गर्भजन-  
नाय भवन्ति । सात्म्यसेविनां पुनः स्त्रीपुरुषाणामनुपहतशुक्र-  
शोणितगर्भाशयानामृतुकाले सन्निपतितानां जीवस्थानवक्रमणाद्  
गर्भा न प्रादुर्भवन्ति । न हि केवलं सात्म्यज एवायं गर्भः समु-  
दायोऽत्र कारणमुच्यते ॥ १५ ॥

यानि तु खल्वस्य गर्भस्य सात्म्यजानि यानि चास्य  
सात्म्यतः सम्भवतः सम्भवन्ति तान्यनुव्याख्यास्यामः । तद्  
तस्मात् सात्मजो गर्भो न त्वसात्मजः । अत्रासात्मसेविनस्त्वखिलेनानपत्याः  
स्युरिति यदाशङ्कितं तन्न । कुत इत्यत आह—यावत् खल्वित्यादि ।  
तस्मादसात्मसेविनां शरीरोपसर्पद्भिरपि प्रकुपितैरपि त्रिभिर्दोषैः शुक्रशोणित-  
गर्भाशयोपघाताभाववतां सापत्यत्वम् । शुक्रशोणितगर्भाशयोपघातवतान्तु अन-  
पत्यत्वमिति नासात्मसेविनां निखिलेनानपत्यत्वम् । एवं सात्मसेविनाम्  
ऐकान्तेन व्यक्तं प्रजा स्यादिति यदुक्तं तदपि न युक्तम् । कुत इत्यत आह—  
सात्मसेविनां पुनरित्यादि । सन्निपतितानामिति व्यवयमापन्नानाम् ।  
यदि सात्मसेविनामनुपहतशुक्रशोणितगर्भाशयानामृतुकाले व्यवयवतामपि  
स्त्रीपुरुषाणां जीवस्यावक्रममन्तरेण न गर्भा भवन्ति, तर्हि कथं सात्मजश्चायम्  
उच्यते इत्यत आह—न हीत्यादि । केवलमिति एकस्मात् सात्म्यादेव गर्भो  
जायते इति नोच्यते, किमुच्यते इत्यत आह—समुदाय इत्यादि । समुदायो  
मातापित्रात्मसात्मप्रससत्त्वानामेषां समुदाय इत्यर्थः । जीवस्थानवक्रमे सात्मजम्  
एव सेवमानानां न गर्भा भवन्ति । जीवस्थोपक्रमे तु भवन्तेति सात्म्यसेविनाम्  
ऐकान्त्येन व्यक्तं प्रजा न स्यादिति बोध्यम् । नन्वेतावतापि सात्म्यस्य  
कस्मात् कारणत्वमिष्यते जीवस्यावक्रमस्येध्यतामिति चेन्न । गर्भाणां सात्म्यस्य  
कारणत्वमन्तरेण सात्म्यजान्यपि यानि तानि न प्रादुर्भवन्ति ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—ननु कानि च तानि सात्म्यजानीत्यत आह—यानीत्यादि ।  
गर्भस्य जातोत्तरकालं यानि तु सात्म्यजानि तानि सात्म्यतः सम्भवतो  
दर्शयन् सात्म्यसेवाया गर्भं प्रति कारणत्वं द्रष्टव्यं, सात्म्यसेविनामपि प्रभावधलोत्पत्तिं दर्शयन्

यथा—आरोह्यमनालस्यमलोलुपत्वमिन्द्रियप्रसादः स्वरवर्णवीज-  
सम्पत् प्रहर्षभूयस्त्वच्चेति सात्म्यजानि ॥ १६ ॥

रसजश्चायं गर्भः । न हि रसादृतै मातुः प्राणयात्रापि स्यात्,  
किं पुनर्गर्भजन्म । न चैवास्यासम्यगुपयुज्यमाना रसा गर्भ-

गर्भाशये जायमानस्यास्य च यानि सात्म्यजानि तान्यनुव्याख्यास्यामः । वीजस्य  
सम्पत् शुक्रशोणितदोषाभावः । प्रहर्षभूयस्त्वं मैथुने दुःखशून्यसुखोत्कर्षः ।  
तस्मात् सात्म्यजश्चायं गर्भो न त्वसात्म्यज इति ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—सात्म्यजत्वं स्थापयित्वा गर्भस्य रसजत्वं स्थापयति—रसज-  
श्चेत्यादि । ननु कस्माद् रसजश्चायं गर्भ इत्यत आह—न हीत्यादि । प्राणयात्रा  
प्राणयापना । मातुः प्राणयात्रां विना कथं गर्भस्य जन्मसम्भव इत्यभिप्रेत्याह—  
किमित्यादि । तत्रापि रसोपयोगिस्त्रीपुरुषावभिप्रेत्य स्त्रीपुरुषाणां रसानुपयोगि-  
ज्ञाभावेन सर्व्वेषामेव सप्रजत्वापत्तिवारणाय श्रेष्ठरसापयोगस्य गर्भहेतुत्वे कल्पिते  
श्रेष्ठरसाजादिमांसरसादिसेविभिन्नानां श्यामाकादिसेविनां निखिलेन  
अनपत्यत्वं यदाशङ्कितं तत्र । कुत इत्यत आह—न चैवेत्यादि । अस्य  
स्त्रीपुरुषोभयस्यासम्यगुपयुज्यमाना अश्रेष्ठा रसा नैव गर्भमभिनिर्व्वर्त्तयन्ति,  
असम्यग्रससेविनां हि स्त्रीपुरुषाणां त्रयो दोषाः प्रकुपिताः शरीरमुपसपेन्तो न  
यावत् शुक्रशोणितगर्भाशयोपघाताय सम्पद्यन्ते तावत् तद्वत्सानुरूपगर्भजननाय  
भवन्ति इति । असम्यग्रसोपयोगिनां शरीरं सर्पद्भिरपि प्रकुपितैस्त्रिभिर्दोषैरनुप-  
हतशुक्रशोणितगर्भाशयानां सापत्यत्वम् । तदुपहतशुक्रशोणितगर्भाशयानान्तु

‘असात्म्यसेविनश्च निखिलेनानपत्याः स्युः’ इति पूर्व्वपक्षं परिहरति ; सात्म्यसेविनां पुनरित्या-  
दिना तु ग्रन्थेन ‘सात्म्यसेविनामेकान्तेन प्रजा स्यात्’ इति यदुक्तम्, तत् परिहरति ; सन्निपति-  
ज्ञानामिति व्यवयमापन्नानाम् । अत्र स्वरवर्णौ सात्म्यजत्वेनोक्तौ ; तेन द्वावप्यत्र कारणमिति  
ज्ञेयम् ॥ १५।१६ ॥

चक्रवाणिः—प्राणयात्रापि स्यादिति गर्भाधारभूताया मातुरपि प्राणस्थितिरित्यर्थः । न चैव-  
मसम्यगुपयुज्यमाना इत्यादिना, ‘असात्म्यरसोपयोगस्य गर्भोपघातित्वं’ दर्शयति ; असात्म्यरसोप-  
योगिनां प्रभावेण जननं यत्, तदसात्म्यसेविप्रजाभवनन्यायतुल्यमिति नेह पुनर्दक्षितम् । समुदयो-

मभिनिर्वृत्तयन्ति । न च केवलं सम्यगुपयोगादेव रसानां गर्भाभिनिर्वृत्तिर्भवति समुदायोऽप्यत्र कारणमुच्यते ॥ १७ ॥

यानि तु खल्वस्य गर्भस्य रसजानि यानि चास्य रसतः सम्भवतः सम्भवन्ति तान्यनुव्याख्यास्यामः । तद् यथा— शरीरस्याभिनिर्वृत्तिरभिवृद्धिः प्राणानुबन्धस्तृप्तिः पुष्टिस्तमाह— श्वेति रसजानि ॥ १८ ॥

निरपत्यत्वमित्यस्मात् श्यामाकादुपयोगिनां न निखिलेनानपत्यत्वमिति । एव छागादिश्रेष्ठरसोपयोगिनामैकान्त्येन प्रजा स्यादिति यदुक्तं तदपि न युक्तम् । कुत इत्यत आह—न च केवलमित्यादि । केवलं श्रेष्ठाजादिरसानामुपयोगादेव गर्भाभिनिर्वृत्तिश्च न भवति जीवस्यानवक्रमात् । न हि केवलं रसज एवायं गर्भ इत्युच्यते । किमुच्यते कारणमित्यत आह—समुदाय इत्यादि । तथा च जीवस्यानवक्रमे श्रेष्ठरसोपयोगिनामपि न गर्भः स्यात् जीवावक्रमे तु स्यादित्यतो हेतोरजादिश्रेष्ठरसोपयोगिनामेकान्तेन गर्भो न भवतीति बोद्धव्यम् । नन्वेवम् अस्त्वात्मा कारणं कुतो रसः कारणमुच्यते इति चेन्न । रसं विना शरीराभिनिर्वृत्त्यभिष्टद्धादीनां रसकार्य्याणां गर्भस्य जातोत्तरकालं गर्भाशये जायमानस्य चासम्भवात् ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—ननु कानि रसकार्य्याणीत्यत आह—यानि त्वित्यादि । यानि जातोत्तरकालं गर्भस्य रसजानि रसतः सम्भवतो गर्भाशये जायमानस्य यानि च रसजानि तान्यनुव्याख्यास्यामः—तद् यथेत्यादि । शरीरस्याभिनिर्वृत्तिरुत्पत्तिः । शुक्रशोणितयोरपि रसजत्वात् । अभिवृद्धिः क्रमेण परिमाणवृद्धिर्दैर्घ्येण स्थौल्येन च । प्राणानुबन्धः उत्तरोत्तरबलश्वासनिश्वासादिहेतुमुत्पत्तिः । पुष्टिर्मध्यकालेऽपि दीर्घत्वाद्यभिवृद्धिं विनापि पोषणं शरीरस्य । इत्येवं प्रकारेण रसजश्चैवायं गर्भो न त्वरसज इति ॥ १८ ॥

ऽप्यत्र कारणमित्यनेन तुल्यसम्यग्रससेविनाच्चापत्यभवने कारणं धर्मादि दर्शयति । अभिनिर्वृत्तिः अङ्गप्रत्यङ्गव्यक्तता । वृद्धिस्तु दैर्घ्येण वृद्धिः । प्राणानुबन्धः इति बलानुबन्धः । पुष्टिरुत्पत्तिः । उत्साहो धलम् । 'इति'शब्दः प्रकारे । तेन एवंप्रकाराण्यन्यान्यपि वर्णादीनि रसजानीति दर्शयति । एवं पूर्वत्रापि 'इति'शब्दो व्याख्येयः । यदा तु 'इति'शब्दश्च परिसमाप्त्यर्थः, तदाप्याविष्कृता रसजानां परिसमाप्तिर्ज्ञेया । तेन अनाविष्कृता वर्णादयोऽपि रसजा लभ्यन्ते ॥ १७।१८ ॥

अस्ति खल्वपि सत्त्वमौपपादुकं यज्जीवस्पृक् शरीरेण ॥ अभि-  
संवधाति, यस्मिन्नप्रगमनपुरस्कृतै शीलमस्य व्यावर्त्तते, भक्ति-  
विपर्ययस्यते, सर्वेन्द्रियाण्युपतप्यन्ते, बलं हीयते, व्याधय आप्या-  
द्यन्ते, यस्माद्धीनः प्राणान् जहाति, यदिन्द्रियाणामभिग्राहकश्च  
मन इत्यभिधीयते, तत् त्रिविधमाख्यायते शुद्धं राजसं तामस-  
ञ्चेति । येनास्य खलु मनो भूयिष्ठं तेन द्वितीयाधामाजातौ

गङ्गाधरः—इति रसजलं गर्भस्य स्थापयित्वा सत्त्वजत्वं स्थापयति—  
अस्तीत्यादि । न खल्वपि परलोकादेत्य सत्त्वं गर्भमवक्रामति इति यदुक्तं  
तत्र । यस्मादस्ति खलु सत्त्वं मनोऽप्यौपपादुकमिति । कथमौपपादुकमित्यत  
आह—यत् सत्त्वं जीवस्पृक् जीवात्मानं नित्यं स्पृशत् शरीरेणाभिसम्बधाति,  
तद्दिना हि जीवात्मनः शरीराभिसम्बन्धो न स्यात् । यस्मिन् सत्त्वे अप-  
गमनं शरीरात् स्वनिर्गमनं, पुरोऽग्रे कृतं येन तस्मिन् आसन्नमरणस्यास्य शील  
स्वभावो व्यावर्त्तते विपरीतो भवति, भक्तिभंजनशीलता विपर्ययस्यते विपर्ययो  
भवति । उपतप्यन्ते सर्वेन्द्रियाणि शक्त्यादिना हीयन्ते । यस्माद्धीनः प्राणी ।  
तदिन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां स्वार्थग्रहणाय प्रेरकं यत् तन्मन इत्यभिधीयते ।  
तत् त्रिविधमाख्यायते शुद्धं केवलसत्त्वात्मकं राजसं रजोगुणवहुलं तामसं  
तमोगुणवहुलम् । इत्यस्मादस्ति खल्वपि सत्त्वमौपपादुकमिति । न तु न चास्ति  
सत्त्वमौपपादुकमिति । अत्र तु नास्य किञ्चित् पौर्वदेहिकं स्यादविदितमश्रुत-  
मदृष्टं वा स च किञ्चिदपि न स्मरतीति यदाशङ्कितं तदप्ययुक्तम् । कुत इत्यत  
आह—येनास्पेत्यादि । येन सत्त्वाद्यन्यतमेन गुणेनास्य मनुष्यस्य मनो भूयिष्ठं

चक्रपाणिः—अस्तीत्यादिना मनस औपपादुकमाक्षिप्तं समादधाति । 'अपि' शब्दोऽवधारणे ।  
अत्र च 'यज्जीवं स्पृक्शरीरेणाभिसंबधाति' इत्यादिना मनसो धर्मकथनस्यैवौपपादुकसाधनं भवति,  
मनोव्यतिरेकेणैतदुच्यमानधर्माणामसिद्धेः । नित्यमात्मानं स्पृशतीति स्पृक् । शरीरमातिवाहिकं  
शरीरम् । तेन स्पृक्शरीरेण कारणभूतेन जीवमात्मरूपमभिसंबधाति भोगायतनशरीरेणेति शेषः ।  
आतिवाहिकशरीरसद्भावश्च "मृतैश्चतुर्भिः सहितः" इत्यनेन प्रतिपादितः । किंवा 'जीवमात्मानं  
स्पृक्शरीरेण' इति स्पर्शवता शरीरेण यन्मनोऽभिसंबधाति तदौपपादुकमस्तीति योजना । एवं  
मन्यते—यदि मनोऽत्रात्मनः शरीरसम्बन्धे न स्वीक्रियते, तदा व्यापकत्वादात्मनः सर्वत्रव्योप-  
लब्ध्या भवितव्यम् । न च भवति । तथा यत्र स्पर्शवति शरीरे मनः प्रतिबद्धं भवति, तत्रैवायं

\* जीवं स्पृक्शरीरेणेति चक्रः ।

सम्प्रयोगो भवति । यदा तु तेनैव शुद्धेन संयुज्यते तदा जाते-  
रतिक्रान्तायाश्च स्मरति । स्मार्त्तं हि ज्ञानमात्मनस्तस्यैव मनसो-  
ऽनुबन्धादनुवर्त्तते, यस्यानुवृत्तिं पुरस्कृत्य पुरुषो जातिस्मर  
इत्युच्यते इति सत्त्वमुक्तम् ॥ १६ ॥

यानि खल्वस्य गर्भस्य सत्त्वजानि यानि चास्य सत्त्वतः

तद्गुणभूयिष्ठेन तेन मनसा द्वितीयायामाजातौ द्वितीयजन्मपर्यन्तं सम्प्रयोगः  
अस्य मनुष्यस्य भवति । तद्गुणमनोऽनुवृत्तिद्वितीयजन्मपर्यन्तं भवति । यदा  
तु तेनैव मनसा शुद्धेन केवलसत्त्वगुणात्मकेन संयुज्यतेऽयं पुरुषस्तदाति-  
क्रान्ताया अतीतायाः पूर्वस्या अपि जातेर्जन्मनः स्मरति । स्मरतेः कस्मिणि  
पृष्ठी । न तु राजसेन न वा तामसेन मनसा यदि संयुज्यते । कुत इत्यत आह—  
स्मार्त्तं हीत्यादि । हि यस्मादात्मनो ज्ञानं स्मार्त्तं स्मृत्या वर्त्तते । एतमेवार्थं  
ध्याकरोति । तस्यैव शुद्धसत्त्वात्मकस्य मनस आत्मनोऽनुबन्धादनुवर्त्तते । यस्य  
ज्ञानस्यानुवृत्तिं पुरस्कृत्य अग्रे कृत्वा पुरुषो जातिस्मरः पूर्वजन्मस्मरणशील  
इत्यभिधीयते इति । तस्मान्नास्य किञ्चित् पौर्वदेहिकं स्यादविदितमश्रतमदृष्टं  
वा, स च किञ्चिदपि न स्मरतीति यदुक्तं तन्न । नन्वेवमस्त्वात्मनो गुणवतः  
सत्त्वोद्वेकेण गर्भावक्रमो न तु सत्त्वसंप्रयोगादिति चेन्न, मनःकार्याणां शील-  
शौचादीनामसम्भवात् ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—ननु कानि सत्त्वकार्याणीत्यत आह—यानीत्यादि । जातोत्तर-

शुखाङ्गपलभते । 'सृष्टि'विशेषणेन शरीरस्य सूत्रनखकेशादौ मनोगमनाभावादात्मनोऽनुपलब्धिं  
दर्शयति । अपगमनपुरस्कृत इति देहान्तरगमनापायमुखे । भक्तिरिच्छा । यस्माद्धीन इति मनसा  
त्यक्तः । येनेति यथामूलेन सात्त्विकेन राजसेन तामसेन वा मनसा मनो शूयिष्ठमित्यभिप्रायः ।  
द्वितीयायां वा जाताविति द्वितीयजन्मनि, जन्मान्तरे यादृशं मनः, तादृशमेव जन्मान्तरे प्रायो  
भवतीत्यर्थः । केचित् तु, 'तेन न द्वितीयायाम्' इति पठन्ति । अत्रापि प्रायो द्वितीये जन्मनि  
तुल्येन मनसा योगो न भवति, कदाचित् तु भवतीत्यर्थः । यदुक्तम्—'नास्य किञ्चित् पौर्व-  
देहिकमविदितं स्याद्' इति, तत् पौर्वदेहिकं ज्ञानं क्वचिद् भवतीति दर्शयन्नाह—यदा त्वित्यादि ।  
शुद्धेनेति विशुद्धसत्त्वगुणेन । तस्यैवेति वक्ष्यमाणेन यस्येत्यनेन सम्बध्यते । योनियन्त्र-  
पीडायास्पि हि उद्भूतेन तमसा विप्लुतं मनो नातिक्रान्तजन्मगतं स्मरति, यस्तद्भूतसत्त्वस्तमसा  
नाभिभूयते, स स्मरत्येवातिक्रान्तजन्मानुभूतमिति भावः । पुरस्कृत्येति कारणत्वेनावधार्यं ।  
अयञ्च मनोधर्मसमूह इन्द्रियोपक्रमोक्तोऽपि पुनरिह प्रकरणवशादुच्यमानो न पुनरुक्तदोषमावहति ।

सम्भवतः सम्भवन्ति तान्दुव्याख्यास्यासः । तद् यथा—भक्तिः शीलं शौचं द्वेषः स्मृतिर्मोहस्त्यागो मात्सर्यं शौर्यं भयं क्रोधस्तन्त्रोत्साहस्तैक्ष्ण्यं माद्वं गाम्भीर्यमनवस्थितत्वमित्येव-  
मादयश्चान्ये ते सत्त्वजा विकारा यानुत्तरकालं सत्त्वभेदमधि-  
कृत्योपदेक्ष्याम इति सत्त्वजानि । नानाविधानि तु खलु सत्त्वानि  
तानि सर्वाण्येकपुरुषे भवन्ति । न च भवन्त्येककालम् । एकन्तु  
प्रायोऽनुवृत्त्याह ॥ २० ॥

कालं यानि सत्त्वजानि यानि च जायमानस्य । शीलं शीलता । तैक्ष्ण्यं तीव्र-  
स्वभावः । माद्वं मृदुस्वभावः । गाम्भीर्यमचञ्चलत्वम् । उत्तरकालं महत्यां गर्भावि-  
क्रान्त्यां शारीरे । ननु सत्त्वमुक्तं त्रिविधं शुद्धं राजसं तामसमिति । तत्  
त्रिकमेवैकैकस्मिन् पुरुषे किमथवा प्रत्येकमित्यत आह—नानेत्यादि । एककालं  
युगपत् । ननु यदेककालं न भवति शुद्धं राजसं तामसञ्च मनस्तर्हि कथं मनः-  
संश्लेष्यते सत्त्वं रजस्तमश्चाख्यायताम् अथवा सत्त्वमयं, रजोमयं तमोमय-  
श्चाख्यायतां त्रिविधमेव ततो भवति न तु नानाविधमित्यत आह—एकन्तु  
इत्यादि । सत्त्वमेकं प्रायोऽस्य सत्त्वगुणादेरैकगुणबहुलत्वेनानुवृत्त्या सात्त्विकं  
वा राजसं वा तामसं वाह । तस्मान्न खल्वपि परलोकादेत्य सत्त्वं गर्भ-  
मवक्रामतीति न वाच्यम् ॥ २० ॥

यद्यपि सत्त्वस्य गर्भजनकत्वं साक्षान्नोक्तम्, तथापि सत्त्वस्य यदुपपादकत्वं गर्भं प्रति, तेनैव सत्त्वस्य  
गर्भजनकत्वं प्रतिज्ञातं मन्तव्यम् । तेन 'यानि खल्वस्य गर्भस्य सत्त्वजानि' इत्यादिना गर्भे सत्त्वज-  
भावकथनमुपपन्नमेव, गर्भकारणत्वकथनमपि च । सत्त्वस्योपपादकत्वभाषया कारणत्वं यदुक्तम्,  
तद्वदेहान्तरगमनरूपधर्मस्य गर्भकारणत्वातिरिक्तस्य प्रतिपादनीयम् । नानाविधानीति नानाविध-  
सात्त्विकराजसतामसवृत्तिभिन्नानि । तान्येकंपुरुषे भवन्तीत्यनेन एक एव पुरुषः कदाचिद्धर्म-  
क्रियायां सात्त्विको भवति, कदाचित् कामचिन्तायां राजसः, कदाचित् मोहे तमोमय इति  
दर्शयति । एकदैव सात्त्विकादयो धर्मा न भवन्ति, किन्तु पर्यायेण भवन्ति । ननु यदेकपुरुष  
एव सर्व्वं सात्त्विकादयो भवन्ति, तत् कथमयं सात्त्विक इत्यादिव्यपदेशा भवन्तीत्याह—  
एकन्वित्यादि । प्रायोऽवृत्त्येति भूयिष्ठा यस्य सात्त्विका वृत्तयो भवन्ति स सात्त्विकः, यस्य राजस्यो  
वृत्तयो भवन्ति स राजस उच्यते इत्यादि । एतदेव पूर्व्वमुक्तम्,—'यद्गुणान्नाभीक्ष्णं पुरुषमनु-  
वर्त्तते सत्त्वम्, तद्गुणमेवोपदिशन्ति बाहुल्यानुशयाद्' इति ॥ १९।२० ॥

एवमयं नानाविधानामेषां गर्भकराणां भावानां समुदाया-  
दभिनिर्व्वर्त्तते गर्भः । यथा कूटागारं नानाद्रव्यसमुदायात्, यथा  
वा रथो नानारथाङ्गसमुदायात् । तस्मादेतद्वोचाम—मातृज-  
श्चायं गर्भः पितृजश्चात्मजश्च सात्म्यजश्च रसजश्चास्ति च सत्त्व-  
सौपपादुकमितीतिहोवाच भगवानात्रेयः ॥ २१ ॥

भरद्वाज उवाच । यद्ययं नानाविधानामेषां गर्भकराणामेव

गङ्गाधरः—अथोपसंहरणप्रतिष्ठातार्थमाह—एवमित्यादि । एवमुक्तप्रकारेण  
अयं गर्भो नानाविधानां मातापित्रात्मसात्म्यरससत्त्वानां समुदायात्  
समस्तादभिनिर्व्वर्त्तते न व्यस्तात् । अत्र दृष्टान्तमाह—यथेत्यादि । कूटागारं  
जेन्ताकगृहम् । तस्मान्मात्रादिपट्कतो गर्भाभिनिर्व्वर्त्तनादेतद् वक्ष्यमाणं वयम्  
अवोचाम । किमित्यत आह—मातृजश्चायमित्यादि । स्पष्टम् ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—अत्रापि भगवदात्रेयोक्ते प्रतिवचने सति पुनरपि भरद्वाजः  
कुमारशिराः । स पूर्व्वप्रतिपक्षो भरद्वाज उवाच, किमिति प्राह—यद्ययमित्यादि ।

चक्रपाणिः—एवं मात्रादिकारणव्युत्पादनेन गर्भस्य समुदायप्रभवतां व्युत्पादितां दृष्टान्तेन  
द्रव्यमाह—एवमयमित्यादि । कूटागारं वत्तुलाकारं गृहं जेन्ताकस्वेदप्रतिपादितम्, अन्ये तु  
चक्षादिकृतं सञ्चारगृहं कूटागारमाहुः । अत्र प्रकरणे यद्यपि मात्रादीनां सर्व्वेषां समुदितानामेव  
गर्भं प्रति कारणत्वम्, तथापि मातापित्रात्मसत्त्वानि विहाय सात्म्यरसयोरेव कारणत्वव्युत्पादने  
यत् 'समुदायोऽप्यत्र कारणम्' इत्युक्तम्, तत्रैवं मन्यते—अत्र यथा मात्रादयश्चत्वारोऽवश्यं  
गर्भप्रतिपादकमूलाः, न तथा सात्म्यो रसो वा । येन शुक्रशोणितसंस्वात्मसंसर्गादेवं गर्भो भवति,  
नावश्यं गर्भमेलके सात्म्यरसयोरपेक्षा, गर्भमेलकोत्तरकालं सात्म्यरसाभ्यां गर्भस्य पुष्ट्यादयो  
जन्यन्ते । तेन सात्म्ये रसे चावश्यं समुदायमपेक्ष्यं दर्शयति । यत्रैव 'समुदायोऽप्यत्र कारणम्,  
इत्युक्तम्, मात्रादयस्तु परस्परसमुदायमपेक्षमाणा अपि नावश्यं सात्म्यरससमुदायमादिगर्भमेलके-  
ऽपेक्षन्त इति पुनस्तत्र समुदायापेक्षित्वं नोक्तम् । 'समुदायादेपां भावानाम्' इत्यनेन ग्रन्थेन,  
यत् परस्परसमुदायापेक्षित्वं मात्रादीनां चतुर्णाम्, तदुक्तमेव । यद्यपि गर्भं प्रत्यविशेषेण  
सात्म्यरसयोरपि कारणत्वम् 'सात्म्यजश्चायं रसजश्चायम्' इत्यनेनोक्तम्, तद् गर्भमेलकोत्तरकालं  
कारणत्वेन, तथा मातापित्रोरपि विशुद्धशुक्रशोणितोत्पादहेतुतया पारम्पर्य्येण कारणत्वादिति  
ज्ञेयम् ॥ २१ ॥

चक्रपाणिः—पुनर्भरद्वाजः पृच्छति—यद्ययमित्यादि । कथं सन्धीयत इति कया परिपाट्या

भावानां समुदायादभिनिर्वर्तते गर्भः, कथमयं सन्धीयते ? यदि चापि सन्धीयते, कस्मात् समुदायप्रभवः सन् गर्भो मनुष्यविग्रहेण जायते ? मनुष्यश्च मनुष्यप्रभव उच्यते । तत्र चेदिष्टमेतद् यस्मान्मनुष्यो मनुष्यप्रभवः, तस्मादेव मनुष्यविग्रहेण जायते । यथा गौर्गोप्रभवः यथा चाश्वोऽश्वप्रभव इत्येवं यदुक्तमग्रे समुदायात्मक इति तदयुक्तम् । यदि च मनुष्यो मनुष्यप्रभवः कस्माज्जड़ान्धकुब्जकुत्रमूकमिन्मिनत्रामनव्यङ्गोन्मत्तकुण्डकिलासिभ्यो जाताः पितृसदृशरूपा न भवन्ति ?

अयं गर्भ इत्यन्वयः । कथमयमित्यत्रापि गर्भ इत्यनुवर्तते । कथं केन प्रकारेणायं गर्भो हेतुसमुदायान्मिलतीत्यर्थः । तत्र सव्वदा सव्वंपामपत्यदर्शनाभावेन यदापत्योत्पत्तिहेतुकर्म परिणमति तदा मात्रादिहेतुसमवायः स्यात् । ततश्च यद्यपि सन्धीयते तर्हि कस्मात् समुदायप्रभवो मात्रादिषट्कप्रभवः सन् गर्भो मनुष्यविग्रहेण मनुष्याकारेण जायते । तत्र यदि मनुष्यो मनुष्यप्रभव इत्यतो मनुष्यविग्रहेण जायते इति तर्हि कस्माच्च मनुष्यो मनुष्यप्रभव उच्यते । तत्र च मनुष्यो मनुष्यप्रभव इति वचने चेद् यदेतदिष्टं भवन्निस्तत् किमित्यत आह—यस्मादित्यादि । मनुष्यप्रभव इति पितृरूपान्मनुष्यात् प्रभवो न तु मातृमनुष्यात् । अत्र दृष्टान्तो यथा गौरित्यादि । एवमुक्तप्रकारे सति तदयुक्तं मात्रादिषट्कसमुदायज इति वचनं यदुक्तं तदयुक्तम् । ननु कस्मात् तदयुक्तमित्यत आह—यदि चेत्यादि । तर्हि कस्मादित्यादि । कुब्रूः कुभापी । मूको वाग्-रहितः । मिन्मिनः सानुनासिकवचनः । वामनो ह्रस्वः । मनुष्यप्रभवत्वान्मनुष्यविग्रहेण भवतु । मातापित्रनु रूपेण जड़ादिभ्यश्च जाताः कस्माज्जड़ादयः पितृसदृशरूपा न भवन्तीति विप्रतिपत्तिरेका ।

मिलतीत्यर्थः । मनुष्यविग्रहेण जायत इति मनुष्यजातो कस्मान् मनुष्यविग्रहेणैव जायत इत्यर्थः । 'समुदायात्मक' इति यदुक्तम्, तदयुक्तमित्यत्र मात्राद्यतिरिक्तजातिकयनेन तथा जातेरेव मनुष्यादिरूपायाः यल्लवकारणत्वेन यथोक्तमात्रादिसमुदायप्रभवत्वं न युक्तमिति भावः । दूषणान्तरमाह—यदि चेत्यादि । जड़ो जड़बुद्धिः । मिन्मिनः सानुनासिकः । पितृसदृशरूपा इत्यत्र पितृशब्देन मातापितरौ ग्राह्यौ । कारणसदृशरूपत्वेन च चेन्मनुष्या भवन्ति, ते जड़ादिरूपकारणजाता भवि



अथात्रापि बुद्धिरेवं स्यात् स्वेनैवायमात्मा चक्षुषा रूपाणि वेत्ति, श्रोत्रेण शब्दान्, घ्राणेन गन्धान्, रसनेन रसान्, स्पर्शनेन स्पर्शान्, बुद्ध्या बोद्धव्यमित्यनेन हेतुना जडादिभ्यो जाताः पितृ-सदृशा भवन्ति । अत्रापि प्रतिज्ञाहानिदोषः स्यात् । एवमुक्ते ह्यात्मा सत्स्विन्द्रियेषु ज्ञः स्यात् असत्स्वज्ञः, यत्र चैतदुभयं सम्भवति ज्ञत्वमज्ञत्वञ्च स विकारप्रकृतिकश्चात्मा ॐ निर्विकारश्च । यदि च दर्शनादिभिरात्मा विषयान् वेत्ति, निरिन्द्रियो दर्शनादि-

अपराश्चाह—अथात्रापीत्यादि । आत्मा स्वेनैवात्मन एव चक्षुरादिना रूपादीन् वेत्तीत्येवमेव रूपेण आत्मा जडैर्नैव स्वेन गभस्तेन जातो जडो भवतीतीष्ट्रापत्तौ च मात्रादिसमुदायप्रभव इति प्रतिज्ञायाश्च हानिर्भवति । ननु कस्मात् पूर्वंप्रकारेष्ट्रापत्तौ प्रतिज्ञा हीयते इत्यत आह—एवमुक्ते ह्यात्मेत्यादि । जडादिभ्यः पितृभ्यो जाता जडादयो भवन्तीत्येवमुक्ते सति । हि यस्मात् सत्सु वत्तेमानेष्विन्द्रियेष्व्वात्मा तु ज्ञः स्यात् असत्स्विन्द्रियेष्व्बुद्धः स्यात्, तच्चापीष्टं चेत् तर्हि यत्रैतत् ज्ञत्वमज्ञत्वञ्चेत्युभयं सम्भवति, स चात्मा विकारप्रकृतिकश्च निर्विकारश्च भवतु । तत्रापि यदि चेत्यादि । तर्हि धारणसदृशत्वेन जडरूपाः स्युरिति भावः । अत्र जडादिवहूदाहरणकरणं पक्षस्य बहूदाहरणसिद्धत्वेन दृढत्वप्रतिपादनार्थम् । कृतं पूर्वंपक्षसमाधानमाशङ्कते—अथात्रेत्यादि । स्वेनैवेति आत्म-कर्मोपाज्जितेनैव । तेन इन्द्रियाणि यस्मादात्मजान्युक्तानि, न तु मातापितृरूपमनुष्मजान्यानि, ततश्च पित्रोरेन्द्रियं प्रत्यकारणत्वे न तदिन्द्रियसदृशानीन्द्रियाण्यपेक्ष्यैव भवन्तीति भावः । स्वेनैवेत्यादि श्रोत्रादिभिरपि सम्यध्यते । जडादिभ्योजाता इत्यत्र आदिशब्दः प्रकारवाची । तेन कुञ्जकुण्ड्यादीनां ग्रहणम् । कुञ्जत्वकुण्डवाद्याधारभूतं हि शरीरं नात्मजम्, किन्तु माता-पितृजमेव । ततश्च कुञ्जादिजातस्य कुञ्जादिप्रसङ्गेनैवापकृतत्वं तदवस्थमेव । आशङ्कितं समा-धानं दूषयति—अत्रापीत्यादि । प्रतिज्ञादोषः स्यादिति, 'आत्मा ज्ञः' इत्यादिना आत्मनो ज्ञत्व-प्रतिज्ञायाः, तथा 'निर्विकारः परस्त्वात्मा' इत्यादिना निर्विकारत्वप्रतिज्ञायाः कृताया दोषः स्यादिति भावः । असत्स्वज्ञ इत्यनेन कदाचिदज्ञत्वात् प्रतिज्ञातज्ञत्वम् व्याहतम्, इन्द्रियाधीन-त्वेन ज्ञत्वमात्मनः पराधीनं सप्त वास्तवं स्यादिति भावः । यत्रेत्यादिना सविकारत्वं साधयति । ज्ञत्वपरित्यागेनाज्ञत्वे प्रकृतेरयथाभूतत्वेन विकारो भवतीति भावः । सविकार इति 'विकारवान्' इत्यर्थो मनुष्यलोपाज्जयेयः । आत्मन इन्द्रियाधीनत्वेन ज्ञत्वे दूषणान्तरमाह—यदि चेत्यादि ।

\* स विकारप्रकृतिकश्चात्मा इत्यत्र स विकारश्चात्मा इति चक्रेतः पाठः ।

विरहादज्ञः स्यात् अज्ञत्वादकारणमकारणत्वाच्चात्मास्मेति वाग्-  
वस्तुमात्रमेतद्वचनमनर्थकं स्यादितिहोवाच भरद्वाजः ॥ २२ ॥

आत्रेय उवाच । पुरस्तादेतत् प्रतिज्ञातं सत्त्वं जीवस्पृक्-  
शरीरेण अभिसंबध्नातीति । यस्मात् तु समुदायप्रभवः सन्  
स गर्भो मनुष्यविग्रहेण जायते मनुष्यो मनुष्यप्रभव इत्युच्यते  
तद् वक्ष्यामः ॥ २३ ॥

भूतानां चतुर्विधा योनिर्भवति जराथ्वण्डस्वेदोद्भिदः ।  
तासां खलु चतसृणामपि योनीनामेकैका योनिरपरिसंख्येयभेदा  
भवति भूतानामाकृतिविशेषपरिसंख्येयत्वात् । तत्र जरायु-  
निरिन्द्रियत्वेनापलानक्षत्वाच्च अकारणत्वमकारणत्वाच्चात्मास्य गर्भः स्यादिति,  
तस्मात् मात्रादिसमुदायाद्गर्भो भवतीति प्रतिष्ठाहानिदोषः स्यात् । नन्वस्तु गर्भः  
सोऽज्ञात्मा निरिन्द्रियस्तु यः स्यादिति तु वाग्वस्तुमात्रमेतद्वचनमनर्थकं स्यात्  
सेन्द्रियो निरिन्द्रियः सर्वः प्राणी सात्मा वस्तुत इतिहोवाच स कुमारशिरा  
भरद्वाजः ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—अत्रापि विप्रतिपत्तावात्रेय उवाच । किमुवाचेत्यत आह—  
पुरस्तादित्यादि ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—तद्वक्ष्याम इति यत् तदाह—भूतानामित्यादि । भूतानां  
प्राणिनाम् । योनीनामपरिसंख्येयभेदेषु हेतुमाह—भूतानामाकृतीत्यादि ।  
अज्ञत्वादकारणमिति, अज्ञत्वादकारणं शरीरप्रेरणादौ न कारणं स्यादित्यर्थः । अकारणत्वाच्च \*  
मास्मेति शरीरप्रेरणादौ बुद्धिनिष्पादेऽकारणत्वाद् या चेतनाचेतनपञ्चभूतातिरिक्ता चैतन्यधार्यात्म-  
शब्दवाच्या इत्यर्थः । वाग्वस्तुमात्रमित्यर्थरहितशब्दमात्रमेतत् यदुच्यते—ज्ञात्मा स्वेन चक्षुषा  
रूपं पश्यतीत्यादि ॥ २३ ॥

चक्रपाणिः—आत्रेयः समादधाति—पुरस्तादित्यादि । एतच्च 'कथमयं सन्धीयते' इत्यस्योत्तरम् ।  
सर्वं शुक्रार्त्तवसन्धानकारणमित्यर्थः ॥ २३ ॥

चक्रपाणिः—भूतानामिति प्राणिनाम् । योनिर्जातिः । यद्यपि योनिशब्दः कारणवचनः,  
तथापि जराय्वादिरूपयोनिजाता अपि जराय्वादय एवोच्यन्ते कार्ये कारणोपचारात् । आकृतिः  
संस्थानम्, तस्या विशेषाः परस्परविसद्वशाकृतय एव नरकरितुरगादिरूपाः । सम्भावियोनिभेदं

\* अज्ञत्वात् कालपूर्वशरीरप्रेरणाविति पाठान्तरम् ।

जालामण्डजानां प्राणिनामेतै गर्भकरा भावा यां यां योनिमापद्यन्ते तस्यां तस्यां योनौ तथातथारूपा भवन्ति । तद् यथा—कनकरजतताम्रत्रपुसीसान्यासिच्यमानानि वै तेषु तेषु मधूच्छिष्टविम्बेषु \* । तानि यदा मनुष्यविम्बमापद्यन्ते तदा मनुष्यविग्रहेण जायन्ते । तस्मात् समुदायप्रभवः सन् स गर्भो मनुष्यविग्रहेण जायते मनुष्यो मनुष्यप्रभव इत्युच्यते तद्योनित्वात् ॥ २४ ॥

तत्र चतसृषु योनिषु चतुषु वा जरायवादियोनिषु मध्ये जरायुजानां प्राणिनामण्डजानाञ्च प्राणिनां न तु स्वेदजानामुद्भिज्जानाञ्च गर्भकरा गर्भ-कारकाः शुक्रशोणितादयो भावा यां यां मनुष्यगोगजाश्वखरादिकां योनिम् आपद्यन्ते, तस्यां तस्यां मनुष्यगोगजाश्वखरादिकायां योनौ तथातथारूपा मनुष्यगोगजाश्वखरादिरूपा भवन्ति । ननु केन प्रकारेण तथातथारूपा भवन्तीत्यत आह—तद् यथेत्यादि । त्रपुरत्र वज्रम् । तेषु तेषु मनुष्यगोगजाश्व-खरादिरूपेषु मधूच्छिष्टविम्बेषु मधुमलनिर्मितविग्रहाकरेषु आसिच्यमानानि द्रुतकनकादीनीव तथातथारूपा भवन्ति । एतच्च भाष्यरूपेण विवृणोति—तेष्वित्यादि । तेषु मनुष्यगोगजाश्वखरादिविम्बेषु मध्ये मनुष्यविम्बं मधुमलनिर्मितमनुष्यविग्रहाकरं कनकादीन्यापद्यन्ते तदा मनुष्यविग्रहेण जायन्ते आसिच्यमानानि द्रुतकनकादीनीति शेषः । तस्मात् मनुष्यविम्बरूप-योनिम् आपन्नत्वात् । तद्योनित्वात् मनुष्यविग्रहाकरविम्बत्वात् ॥ २४ ॥

द्वर्शयित्वा योग्यानुकारो भवति, तदाह—तत्रेत्यादि । गर्भेत्यादि । गर्भकरा भावाः शुक्रादयः । मधूच्छिष्टविग्रहेष्विति सिक्थकेन मृत्तिकायां निर्मितसञ्चकरूपविग्रहेषु । मनुष्य-विम्बमिति मनुष्याकारं सिक्थककृतसञ्चकम् । कनकादिबहुद्रव्योदाहरणम्, यथा कनका-दीनां घट्टनामपि मनुष्यसञ्चकसिक्थकस्थानां मनुष्याकृतिजनकत्वम्, तथा शुक्रादीनामपि यद्गुणां मनुष्ययोनिपतितानां मनुष्यविग्रहकर्तृत्वमिति साधर्म्योदाहरणाथम् । समुदायात्मकः सन्निति यद्यपि समुदायजन्यः, तथापि योनिरूपकारणमहिम्ना स्वयोनिसदृश एव भवति, नान्य-योनिसदृशः । न च कारणधर्मः पर्यनुयोगमर्हति । तेन शुक्रादिसमुदायोऽपि कारणं भवति, मातापितरौ विशेषेण गर्भस्य सजातीयत्वे कारणं भवत इति न कदाचित् क्षतिः । तद्योनित्वा-दिति विशेषेण मनुष्यस्य कारणत्वात् ॥ २४ ॥

यच्चोक्तं यदि च मनुष्यो मनुष्यप्रभवः कस्मान्न जडादिभ्यो जाताः पितृसदृशरूपा भवन्तीति । तत्रोच्यते यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति, तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते, नोपजायते चानुप-  
तापात् तस्मादुभयोरुपपत्तिरपि । अत्र सर्वस्य चात्मजानीन्द्रि-  
याणि तेषां भावाभावहेतुर्देवम्, तस्मान्नैकान्ततो जडादिभ्यो  
जाताः पितृसदृशरूपा भवन्ति ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—द्वितीयदोषमुद्धरति—यच्चोक्तं यदि चेत्यादि । तस्य सिद्धान्तमाह—तत्रोच्यत इत्यादि । हि यस्मात् । यस्य यस्याङ्गावयवस्येत्यादि । तस्मात् तत्तदवयवबीजे बीजाभागानुपतापानुपतापाभ्यामङ्ग-  
विकृत्यविकृतिजननात् तदुभयोपपत्तिर्विकृताविकृतयोरुभयोरुपपत्तिरपि भवति । अत्र विकृताविकृतोभयोपपत्तौ च सर्वस्य पुरुषस्यात्मजानीन्द्रियाणि । तेषामिन्द्रियाणां भावाभावहेतुर्विकृताविकृतसद्भावाभावानां हेतुर्देवं पूर्वजन्म-  
कृतं कर्म तस्मादिन्द्रियाभावभावयोर्देवस्य हेतुत्वात् एकान्ततो जडादिभ्यो  
जाताः पितृसदृशरूपा न भवन्ति । तस्मात् यदि च मनुष्यो मनुष्यप्रभवः  
कस्मान्न जडादिभ्यो जाताः पितृसदृशरूपा भवन्तीति न वाच्यम् ॥ २५ ॥

चक्रपाणिः—बीज इति शुकशोणिते । बीजस्याङ्गप्रत्यङ्गनिर्वर्त्तको भागो बीजभागः । उभयोप-  
पत्तिरप्यत्रेति पितृसदृशा भवन्ति न भवान्त चेत्यर्थः । आत्मजानीति आत्मप्रतिबद्धकर्मजानि ।  
भावाभावहेतुर्देवमिति इन्द्रियभावे इन्द्रियजनकं शुभम्, इन्द्रियाभावे चाशुभं देवं हेतुरित्यर्थः ।  
उपसंहरति—तस्मादित्यादि । एवं मन्यते—मनुष्यबीजं हि प्रत्यङ्गबीजभागसमुदायात्मकं स्वसदृश-  
प्रत्यङ्गसमुदायरूपपुरुषजनकम् । आत्मजानि इन्द्रियाणि च भोगसाधनानि आत्मप्रतिबद्धकर्मा-  
धीनानि । तेन पिता यदि कुष्ठश्चपि भवति, बीजं न दुष्टं भवति कुष्ठाधानत्वगादिजनकम्, ततो  
निष्कृष्टान्येव त्वगादीन्यनुपतप्तत्वगादिवीजात् सदृशानि जायन्ते, यदा त्वतिवृद्धकुष्ठतया पित्रो-  
र्वीजमपि कुष्ठजनकदोषदुष्टं भवति, तदा दुष्टत्वगादिवीजभागात् कुष्ठदुष्टैव त्वम् जायते । यदुक्तम्,—  
“स्त्रीषु सयोः कुष्ठदोषाद् दुष्टशीणितशुकयोः । यदपत्यं तयोर्जातं ज्ञेयं तदपि कुष्ठितम्” इति । एवं  
कुष्ठिनो यदि हेतुबलाद् बीजे कुष्ठजनको दोषो भवति, तदा कुष्ठिनोऽपि कुष्ठवदपत्यं भवति ।  
अन्धत्वादाविन्द्रियोपघातरूपे दुर्देवमेव कारणम् । तच्चान्धापत्येऽप्यवश्यमस्ति । तेन यदान्धे-  
ऽपत्येऽप्येवं पितृपूषघातकमशुभं भवति, तदा काकतालीयन्यायादन्धजातोऽप्यन्धो इत्यते । एवं  
कुष्ठजादौ जडादौ च न्यायेयम् ॥ २५ ॥

न चात्मा सत्स्विन्द्रियेषु ज्ञोऽसत्सु वा भवत्यज्ञः । न ह्यसत्त्वः  
कदाचिदात्मा । सत्त्वविशेषाच्चोपलभ्यते ज्ञानविशेष इति ॥ २६

भवन्ति चात्र ।

न कर्तुरिन्द्रियाभावात् कार्य्यज्ञानं प्रवर्तते ।

यैः क्रिया वर्तते या तु \* सा विना तैर्न वर्तते ॥

गङ्गाधरः—अथात्मा सत्स्विन्द्रियेष्वित्यादिना यदुक्तं तदपि न वाच्यम्  
कुत इत्यत आह—न चेत्यादि । न चाज्ञो भवत्यात्मेत्यन्वयः । कुतोऽसत्-  
स्विन्द्रियेष्वत्मा नाज्ञो भवतीत्यत आह—न ह्यसत्त्व इत्यादि । कदाचिदपि  
काले आत्मा हि यस्मान्नासत्त्वो मनोऽनुबन्धरहितो न भवति । तर्हि किं  
सर्व्वदा सत्त्वरूपः सत्त्ववानित्यत आह—सत्त्वविशेषाच्चेति । यदा यदा  
यादृशसत्त्ववान् आत्मा भवति तदा तदा तस्मादेव सत्त्वविशेषाज् ज्ञानविशेष उप-  
लभ्यते तस्यात्मन इति । वृक्षाद्यचेतनेऽपि ह्यात्मान्तश्चेतनोऽभ्यन्तरज्ञ इति  
सूचितम् ॥ २६ ॥

गङ्गाधरः—तथाविधार्थं दर्शयति वेदप्रमाणेन—भवन्ति चात्रेत्यादि । न  
कर्तुरित्यादि । इन्द्रियाभावात् कर्तुः कार्य्यज्ञानं न प्रवर्तते इति । तर्हि किम्  
इन्द्रियसद्भावेन कार्य्यज्ञानप्रवर्तने कर्तुः कार्य्यक्रियाभिनिवृत्तिः स्यादित्यत  
आह—यैरित्यादि । यैर्हेतुभिर्या क्रिया वर्तते तैर्हेतुभिर्विना सा न वर्तते इति ।

चक्रपाणिः—या चाज्ञत्वप्रसक्तिरात्मन्युक्ता, तत्राह—न चेत्यादि । इन्द्रियभावे तथेन्द्रिया-  
भावेऽपि नित्यं ज्ञानवानेवात्मा इति प्रतिज्ञार्थः । न ह्यसत्त्वः कदाचिदित्यत्र 'हि'शब्दो हेतौ ।  
तेन यस्मात् सर्व्वदा समनस्क एवात्मा । तेन बाहेरिन्द्रियाभावेऽप्यन्तःकरणमनोयोगात् नित्यमात्मा  
मनःकरणको ज्ञानवानेवायमित्यर्थः । यत्चेतद् बाह्यविषयगतं ज्ञानम्, तत् सत्त्वस्येन्द्रियाधिष्ठान-  
विशेषाद् भवति । तेन इन्द्रियाभावे इन्द्रियजन्यं विशिष्टं ज्ञानं न भवति । यत् तु केवल-  
मनोजन्यमात्मज्ञानम्, तद् भवत्येव सर्व्वदा । तस्माद् यन्नित्यभावि मनःसन्निधिमात्रजन्यमात्म-  
ज्ञानम्, तत् सदैवास्ति ॥ २६ ॥

चक्रपाणिः—न चास्य ज्ञानजननशक्तिः पराहता भवतीत्याशयेनाह—न कर्तु रित्यादि । कार्य्य-  
ज्ञानमिति कार्य्यप्रवृत्तिजनकबाह्यविषयज्ञानम् । तेन निर्व्विषयं ज्ञानमात्मन इन्द्रियाभावे भवतीति

\* या क्रिया वर्तते भावैरिति चक्रसम्मतः पाठः ।

जानन्नपि मृदोऽभावात् कुम्भकृत् प्रवर्तते ।  
 शृणुया ॥ वेदमध्यात्ममात्मज्ञानबलं महत् ॥  
 इन्द्रियाणि च सङ्निप्य मनः संगृह्य चञ्चलम् ।  
 प्रविश्याध्यात्ममात्मज्ञः स्वे ज्ञाने पर्यवस्थितः ॥  
 सर्वत्र विहितज्ञानः सर्वभावान् परीक्षते ।  
 गृहीष्व वेदमपरं भरद्वाज विनिर्णयम् ॥  
 निवृत्तेन्द्रियवाक्चेष्टः सुप्तः स्वप्नगतो यदा ।  
 विषयान् सुखदुःखे च वेत्ति नाज्ञोऽप्यतः स्मृतः ॥

ननु कस्मादिन्द्रियसद्भावेन कर्तुः कार्यज्ञानप्रवृत्तौ न क्रियाभिनिवृत्तिः  
 इत्यत आह—जानन्नपीत्यादि । कुम्भकृत् सेन्द्रियो जानन्नपि कुम्भं कर्तुं मृदो-  
 ऽभावात् मृत्तिकाया अभावात् न च कुम्भं कर्तुं प्रवर्तते प्रभवति । इत्यश्वात्मा यद्  
 यदिन्द्रियवान् भवति तत्तदिन्द्रियकार्यज्ञानवान् भवतीति । तथाचाध्यात्मम्  
 आत्मानमधिकृत्य वेदं शृणुयाः वेदमाहात्मज्ञानबलं महदिति । आत्मनो  
 ज्ञानमेव बलं महद्बलम् । नन्वात्मज्ञानबलं कुतो भवतीत्यत आह—  
 इन्द्रियाणीत्यादि । श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि शब्दश्रवणादितः सङ्निप्य निवर्त्य  
 चञ्चलं नानाविधविषयाभिलाषि मनः स्वार्थचिन्त्याचिन्त्यादितः संगृह्य निवर्त्य  
 अध्यात्ममात्मनि अधिकृत्य स्वे ज्ञाने आत्मज्ञाने प्रविश्यात्मज्ञः पर्यवस्थितः  
 सर्वत्रोभावेनावस्थितः सन् सर्वत्र चराचरे विहितज्ञानः कृतज्ञानः सन्  
 सर्वज्ञः सन् सर्वभावान् चराचरान् परीक्षते विजानीते । इत्युत्तवात्रेयः  
 स्वगुरुभरद्वाजसिद्धान्तनिर्दग्धवेदं दर्शयति—गृहीष्वेत्यादि । निवृत्तेत्यादि ।  
 निवृत्ताः श्रोत्रादिपञ्चबुद्धीन्द्रियाणि वाक् चेष्टा यस्य स सुप्तः स्वप्ना-  
 स्मृत्यति । भावैरित्यत्र 'यैः' इति शेषः । वर्तते उत्पद्यते । अत्रैव दृष्टान्तमाह—जानन्नपीत्यादि ।  
 घटं कर्तुं जानन्नपीत्यादि योज्यम् । मृदो मृत्तिकाया अभावात् । आत्मनो ज्ञत्वे साधनान्तरमाह—  
 धृत्यतामित्यादि । आत्मानमधि अध्यात्मम्, तदभवमध्यात्मम् । आत्मनो ज्ञानस्य बलमात्म-  
 ज्ञानबलम् । सङ्निप्येति विषयेभ्यो ज्ञावर्त्य, मनः सङ्निप्येति मनोऽप्यात्मन्यतिरिक्तविषयान् निगृह्य ।  
 चञ्चलमिति स्वभावः । स्वे ज्ञाने इति आत्मज्ञाने । सर्वभावान् परीक्षते इति विनापीन्द्रियैः  
 समाधियलादेव यस्मात् सर्वज्ञो भवति, तस्मान्नस्वभाव एव निरिन्द्रियोऽप्यात्मा ।

\* श्रूयतामिति चक्रः ।

नात्मा ज्ञानादृते चैको ज्ञातुं किञ्चित् प्रवर्तते \* ।

न हेतुको वर्तते भावो वर्तते नाप्यहेतुकः ॥

तस्माज्ज्ञः प्रकृतिश्चात्मा द्रष्टा कारणमेव च ।

सर्वमेतद् भरद्वाज निर्णीतं जहिसंशयम् ॥ २७ ॥

वस्थां गतः विषयान् सुखदुःखे च वेत्ति । एतच्चोदाहरणप्रदर्शनमात्रं तेन अपिशब्दात् सुषुप्तिमापन्नोऽपि सुखमात्रं वेत्ति । समाध्यवस्थायामात्मानश्च वेत्तीत्यतोऽपि हेतोर्वात्माऽज्ञो न स्मृतः । ननु समाध्यवस्थायामपि किमात्मा नाज्ञो भवति इत्यत आह—नात्मा ज्ञानादित्यादि । ज्ञानादृते एकः केवल आत्मा ब्रह्मरूपः किञ्चिज्ज्ञातुं न प्रवर्तते ज्ञानाभावात् किमपि ज्ञातुं कर्तुं वा प्रभवति । ननु कस्मान्न ज्ञातुं प्रवर्तते न वा कर्त्ते मित्यत आह—न हेतुक इत्यादि । एको भावो हि यस्मान्न सर्वावस्थायां वर्तते अहेतुकश्च भावो नापि वर्तते । भवतीति भावः उत्पत्तिशीलः, उत्पत्तिश्च सतो ह्यवस्थान्तरगमनं तस्मात् तेजोऽवन्नादिः सर्वो भावः सहेतुकस्तथा च वैकारिकाद्यहङ्कारयोगेण केवलस्यात्मनो विश्वरूपाद्यवस्थागमनं जन्मोच्यते स्वयमेव तथाभूतत्वात् । तथाभूतश्चात्मा भाव एव द्रव्यमध्ये पठितः, न हेतुको वर्ततेऽनादिरपि नाप्यहेतुकः तस्माज्ज्ञः प्रकृतिश्च महदादीनां, न तु विकारः जवाकुसुमादिप्रतिविम्बविम्बित-विमलस्फटिकोपलवत् सूर्यकरनिशाकरकरतिमिरापरक्तगगनवद्वा वैकारिकाद्यहङ्कारादिविम्बितो ह्यात्मा द्रष्टा न तु भोक्ता सर्वजगतां कारणमेव, केवलस्त्वात्मा मुक्तः स्वयम्भुवि भगवति हिरण्यगर्भे लीनो भवति, सोऽपि परमव्योमरूपाव्याकृतदेही दृढतपुरुषः परः पुरुषस्तदतिरिक्तकेवल-

अपरमपि लौकिकं निरिन्द्रियस्य ज्ञानसद्भावोदाहरणमाह—गृहीप्तेत्यादि । स्वप्नगतान् स्वप्नदर्शनावस्थायां प्राप्ताम् । आत्मज्ञानविषयज्ञानयोर्विशेषमाह—आत्मेत्यादि । आत्मज्ञानात् नित्यात् विना । किञ्चिज्ज्ञानं विषयजम् । एकमसहायम् । न वर्तते इन्द्रियादिकारणरूपसहायं विना नोत्पद्यते । आत्मज्ञानञ्च नित्यमेव साङ्ख्येऽप्युक्तम् ;—“चिच्छक्तिपरिणामिनी” इत्यादिना “आत्मनः” इत्यन्तेन । अत्रोपपत्तिमाह—न हेतुको वर्तते भाव इति । भाव उत्पत्तिधर्मा एकः सन् कारणरहितः सन् न वर्तते । तेनोपपद्यते । तथा भावः कारणजन्यत्वे सत्यपि अहेतुक इति अकर्तृको न वर्तते, किन्तु कुम्भकारादिष्ठितान्येव मृच्चक्रादीनि प्रवर्तन्ते । तस्माद्विषयज्ञानान्यपि इन्द्रियमनोऽयैस्तथा चात्मना जन्यन्ते इति भावः । उपसंहरति—तस्मादित्यादि । अत्र चात्मनो

तत्र श्लोकौ ।

हेतुर्गर्भस्य निर्वृत्तौ वृद्धौ जन्मनि चैव यः ।

पुनर्व्वसुमतिर्या च भरद्वाजमतिश्च या ॥

प्रतिज्ञा प्रतिषेधश्च विशदश्चात्मनिर्णयः ।

गर्भावक्रान्तिमुद्दिश्य खुड्डीकां संप्रकाशितम् ॐ ॥ २८ ॥

इत्यग्निवेशकृतै तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतै शारीरस्थाने खुड्डीका-  
गर्भावक्रान्तिशारीरं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

ब्रह्मभागाधुना सर्गस्थितौ सद्भावो नास्तीति सर्व्वसम्मतम् । न हेतुको वर्त्तते  
भावो वर्त्तते नाप्यहेतुक इति । अत एवाह—सर्व्वमेतदित्यादि । जहि-  
संशयमिति जहिस्तम्भ इत्यादिवत् समासः ॥ २७ ॥

गङ्गाधरः—अथाध्यायसंग्रहार्थमाह—तत्रेत्यादि । हेतुस्तित्यादि स्पष्टम् ॥ २८

अध्यायं समापयति—अग्रीत्यादि । इति खुड्डीकेत्यादि ।

इति वैद्य श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ शारीर-  
स्थानजल्पाख्ये चतुर्थस्कन्धे खुड्डीकागर्भावक्रान्ति-  
शारीरजल्पाख्या तृतीयशाखा ॥ ३ ॥

ज्ञत्वाज्ञत्वं प्रसक्तोपपादितम् । सविकारत्वमात्मनः नित्यज्ञानयल \* साधनेन परिहृतमिति न पृथक्  
परिहृतम् । भरद्वाजशब्देनेह नात्रेयगुरुच्यते, किन्तु अन्य एव भरद्वाजगोत्रः कश्चित् । तेन  
संशयच्छेदनमात्रेयेणोपपन्नमेव ॥ २७ ॥

चक्रपाणिः—संग्रहे हेतुशब्दो गर्भादिषु जन्मान्तेषु सम्यध्यते । प्रतिज्ञानिषेधो भरद्वाजकृतो  
ज्ञेयः । तत्साधनञ्च यदात्रेयस्य, तद् विशदश्चात्मनिर्णयः इत्यनेनोक्तम् । 'तद्' इति सामान्येन  
मात्रादि प्रत्यवमर्पयन्नुक्तम् ॥ २८ ॥

इति चरकचतुराननश्रीमच्चक्रपाणिदत्तचिरचितायामयुर्व्वेददीपिकायां चरकतात्पर्य्यटीकायां  
: शारीरस्थाने खुड्डीकागर्भावक्रान्तिशारीरं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

\* तत् प्रकाशितमिति चक्रः ।

\* नित्यज्ञानवत्त्वसाधनेन इति पाठान्तरम् ।



## चतुर्थोऽध्यायः ।

अथातो महतीगर्भावक्रान्तिशारीरं व्याख्यास्यामः,  
इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

यतश्च गभः सम्भवति यस्मिंश्च गर्भसंज्ञा यद्विकारश्च गर्भो  
यया चानुपूर्व्याभिनिर्वर्तते कुक्षौ यथास्य वृद्धिहेतुर्यतश्च  
अस्याजन्म भवति यतश्च जायमानः कुक्षौ विनाशं प्राप्नोति यतश्च  
कात्स्थेनाविनश्यन् विकृतिमापद्यते तदनुव्याख्यास्यामः ॥ २ ॥

मातृतः पितृत आत्मतः सात्म्यतो रसतः सत्त्वत इत्येतैभ्यो

गङ्गाधरः—अथ गभस्य कारणानां विनिश्चयानन्तरं गर्भसंज्ञादिज्ञानार्थं  
महतीं गर्भावक्रान्तिं शारीरमारभते—अथात इत्यादि । ऊर्द्धात् परलोकादेत्य  
गर्भत्वेनाव जीवलोके क्रम्यते आत्मनेति गर्भावक्रान्तिः । तामधिकृत्य कृतं शारीर-  
मिति तद्धितलुकि युक्तवदव्यक्तिवचने । अस्य महत्त्वं यतो गर्भसम्भवः यस्मिंश्च  
गर्भसंज्ञा यद्विकारश्च गर्भो यया चानुपूर्व्याभिनिर्वर्तते गर्भः कुक्षावित्येव-  
मादुप्रपदेशवत्त्वात् । पूर्वाध्यायस्य यतो गर्भसम्भवस्तस्यैव प्रपञ्चमात्रेण  
खुड्वाकलमेतदपेक्ष्य । अन्यच्च सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—यतश्चेत्यादिकाः प्रतिज्ञाता व्याख्यातुमारभ्यन्ते । यतश्च गर्भः  
सम्भवतीति प्रतिज्ञार्थं व्याचष्टे ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—मातृत इत्यादि । तस्य गर्भस्य यतो यतो मात्रादितः सम्भवतः  
स्तान् मातृजादीनवयवान् त्वक् च लोहितञ्चेत्यादिना मातृजानवयवान्,  
केशश्मश्रूनखेत्यादिना पितृजान्, ताम्र ताम्र योनिपूत्पत्तिरित्यादिनात्मजान्,  
आरोग्यमनालस्यमित्यादिना सात्म्यजान्, शरीराभिनिर्वृत्तिरभिवृद्धिः

चक्रपाणिः—सुदृढीकागर्भावक्रान्तिप्रपञ्चत्वान्महत्या गर्भावक्रान्तेरनन्तरमभिधानम् । यत इति  
यतः कारणात् । यद्विकार इति यन्मय इत्यर्थः । ययानुपूर्व्या येनानुक्रमेणेत्यर्थः । कात्स्थेन  
अविनश्यन्निति मरणमगच्छन्निति ॥ १।२ ॥

चक्रपाणिः—‘मातृतः’ इत्यादिना ‘सम्भवति’ इत्यन्तेन चोक्तञ्च मातृजादय एव प्रोक्ता इति  
वाक्यार्थः फलति । अयञ्च वाक्यार्थो यद्यपि पूर्वाध्याय एवोक्तः ‘मातृजश्चायम्’ इत्यादिना, तथापि

भावेभ्यः समुदितैभ्यो गर्भः सम्भवति । तस्य ये येऽवयवा यतो यतः सम्भवतः सम्भवन्ति, तान् विभज्य मातृजादीन् अवयवान् पृथक् पृथगुक्तमग्रे । | शुक्रशोणितजीवसंयोगे कुक्षि-  
गतौ गर्भसंज्ञा भवति । गर्भस्त्वन्तरीक्षवाय्वग्नितोयभूमि-  
विकारश्चेतनाधिष्ठानभूतः । एवमनयैव युक्त्या पञ्चमहाभूत-  
विकारसमुदायात्मको गर्भश्चेतनाधात्वधिष्ठानभूतः । स ह्यस्य  
पण्डो धातुरुक्तः ॥ ३ ॥

इत्यादिना रसजान्, भक्तिः शीलं शौचमित्यादिना सत्त्वजान् विभज्य विभागशो निदिश्य, अग्रे खड्गीकागर्भावक्रान्तौ । इति यतश्च गर्भः सम्भवतीति प्रतिष्ठा-  
तार्थी व्याख्यातो भवति । अथ यस्मिंश्च गर्भसंज्ञा तदनुव्याख्यास्याम  
इति प्रतिष्ठातार्थं व्याख्यातुमाह—शुक्रेत्यादि । कुक्षिगते गर्भाशयगते । सुश्रुते-  
ऽप्युक्तं—शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसम्पृच्छितं गर्भं इत्युच्यत  
इति । इति यस्मिंश्च गर्भसंज्ञेति प्रतिष्ठातार्थी व्याख्यातो भवति । अयं  
गर्भस्तु यद्विकारस्तदनुव्याख्यास्याम इति यत् प्रतिष्ठातं तद् व्याख्यायते—  
गर्भस्त्वित्यादि । अन्तरीक्षादिपञ्चभूतविकारोऽयं गर्भस्तत्रान्तरीक्षमेकविधम्  
अकर्मात्मकत्वात् । सक्रियत्वात् तु वाय्वादीनि स्वस्वरूपाद्विरूपमूर्त्तीनि षोडश-  
विधानि—तत्रात्मजानि चत्वारि, वाय्वादीनि अमिश्राणि पूर्वकृतकर्मफलानु-  
वद्धानि । मातृजानि चत्वारि, पितृजानि चत्वारि, रसजानि चत्वारि, इति पाञ्च-  
भौतिकानि द्वादश मिश्राणि । चेतनाधिष्ठानभूत इति आत्मनो विकारा-  
भावादात्माधिष्ठानभूत एव न त्वात्मविकार इत्यर्थः । उपसंहरन्निममर्थमाह—  
एवमनयेत्यादि । स हीत्यादि । हि यस्मात् स चेतनः क्षेत्रज्ञ आत्माऽस्य

प्रश्नक्रमविशुद्धयसुरोधात् पुनरिह कृतः । येन प्रथमं कारणम्, तदनु कार्यरूपो धर्मोऽभिधेय इति  
क्रमेण प्रश्नः शोभते । यत् तु “शुक्रशोणितसंसर्गमन्तर्गर्भाशयगतम्” इत्यादिना, ‘गर्भोऽभिनिर्व्वर्त्तते’  
इत्यन्तेनोक्तम्, तत्र अयमसौ ‘गर्भ’शब्दाभिधेयोऽर्थ इति नामिहितमेव । तेन न गर्भसंज्ञाभि-  
धेयार्थव्याकरणं पुनरुक्तमेव । कुक्षिगत इति कुक्ष्येकदेशगतगर्भाशयगतं । संयोग इति सस्यग-  
योगे । तेन जीवस्यातिवाहिकशरीरेण योगः संगृह्यते, न त्वात्मनो व्यापकत्वेन यो योगो गर्भ-  
जनकः । एवंभूतसंयोगो यद्यपि कुक्षावेव भवात्, तथापि सिद्धमेवार्थं शिष्यं प्रतिपादयितुं ‘कुक्षिगते’  
इति पदं कृतम् । गर्भस्त्वित्यादि । गर्भारम्भकाप्यपि भूर्यादीनि परित्यज्यान्तरिक्षमादौ कृतं

यया चानुपूर्व्याभिनिर्वर्त्तते कुक्षौ तदनुव्याख्यास्यामः ।  
 गते पुराणे रजसि, नवे चावस्थिते, पुनः शुद्धस्नातां स्त्रियमव्या-  
 पन्नयोनिशोणितगर्भाशयामृतुमतीमाचक्ष्महे । तथा सह  
 तथाभूतया यदा पुमानव्यापन्नबीजो मिश्रीभावं गच्छति  
 तस्य हर्षोदीरितः परः शरीरधात्वात्मा शुक्रमृतोऽङ्गादङ्गात्  
 जीवस्य पट्टो धातुर्क्तः, पञ्च चान्तरीक्षादयो धातवः । इत्येतत्पट्टधातु-  
 सम्भवस्तु गर्भः । इति यद्विकारश्च गर्भस्तदनुव्याख्यास्याम इति प्रतिज्ञातार्थो  
 व्याख्यातो भवति ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—अथ यया चानुपूर्व्या गर्भोऽभिनिर्वर्त्तते कुक्षौ तदनुव्याख्या-  
 स्याम इति प्रतिज्ञातार्थं स्मारयति—यया चानुपूर्व्येत्यादि । गते पुराणे  
 रजसीत्यादि । पुराणे क्रमेण मासेन सञ्चितं रजः पुराणमुच्यते, तस्य प्रवृत्त्या  
 गतेऽतीते त्रिरात्रान्ते चतुर्थे दिने नवे नूतने रजसि अवस्थिते पुनः शुद्धस्नाताम्  
 ऋतुस्नाताम् अव्यापन्नयोनिमव्यापन्नशोणितामव्यापन्नगर्भाशयां । योनिव्यापदः  
 शोणितदोषा गर्भाशयदोषाश्च वक्ष्यन्ते । तथाभूतया अव्यापन्नयोनिशोणित-  
 गर्भाशयया तया त्रिया सह अव्यापन्नबीजोऽप्रदुष्टशुक्रः पुमान् । शुक्रदोषाश्च  
 वक्ष्यन्ते योनिव्यापदध्याये । मिश्रीभावं मैथुनम् । तस्यर्चुमत्या त्रिया सह  
 संसर्गं गच्छतः पुंसो मैथुनजहर्षोदीरितः प्रेरितः परः श्रेष्ठश्चरमः शरीर-

वक्ष्यमाणभूतग्रहणानुरोधात् । वक्ष्यति हि—“योऽन्तरिक्षं पूर्वतरमन्येभ्यो गुणेभ्य उपादत्ते”  
 इत्यादि । चेतनाधिष्ठानभूत इति आत्मनो भोगायतनस्वरूप इत्यर्थः । ‘चेतना’शब्देन आत्मोच्यते ।  
 किंवा ‘भूत’शब्दः सादृश्ये, चेतनाधिष्ठानमिव शरीरमित्यर्थः । न तु परमार्थतो निराश्रयस्यात्मनो  
 भोगायतनत्वव्यतिरेकेण शरीरमाश्रयो भवति । अनया युक्तेति अनया भूतविकाररूपया योजनया  
 पञ्चमहाभूतसमुदायात्मको भवति, अनया युक्ता कतिधापुरुषीयोक्तश्चतुर्विंशतिको भवति, तथा  
 मातृजादिरूपचिन्तया मात्रादिसमुदायात्मको भवतीत्यर्थः । न चैतेषां पक्षाणां विरोधोऽस्ति ।  
 यतः मातृजादिव्यपदेशोऽपि पञ्चमहाभूतविकारत्वमविरुद्धमेव, येन मातृजादयोऽप्यस्य महाभूत-  
 विकारा एव । उक्तं हि—“रसात्ममातापितृसम्भवानि । भूतानि विद्यात् दश पट् च देहे” इति ।  
 चतुर्विंशतिकत्वेऽपि च पञ्चमहाभूतात्मकरूपतैव तत्र प्रपञ्चिता । स हीत्यादि—अस्येति गर्भस्य ॥ ३

चक्रपाणिः—गत इति निवृत्ते । पुराण इति ऋतुकालातिक्रमसञ्चिते । नवे चावस्थित इति  
 वचनेन नवेऽप्यनवस्थिते गर्भकारणत्वं नास्तीति दर्शयति । शुद्धस्नातामित्यनेन शुद्धस्नातैव स्त्री  
 गम्या, नास्नाता, अशुद्धत्वादिति दर्शयति । ‘स्त्यायत्यस्यां’ गर्भ इति ‘स्त्री’ । अनेन बन्ध्यां

सम्भवति । स तथा हर्षभूतैनात्मनोदीरितश्चाधिष्ठितवीजधातुः पुरुषशरीरादभिनिष्पद्योदितेन पथा गर्भाशयमनुप्रविश्यार्त्तवेन संसर्गमेति ।

तत्र पूर्वं चेतनाधातुः सत्त्वकरणो गुणग्रहणाय पुनः धात्वात्मा शारीरधातुरूप आत्मा पूर्वजन्मन्यात्मकतदिष्टानुप्रविष्टशुक्रभूतः शुक्राख्योऽङ्गादङ्गान्तरे तदङ्गादङ्गान्तरे क्षरितः सम्भवति । सुश्रुतेऽप्युक्तं—सोम्यं शुक्रमार्त्तवमानेयमितरेषामप्यत्र भूतानां सान्निध्यमस्त्यगुना विशेषेण परस्परोपकारात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च । तत्र स्त्रीपुंसयोः संयोगे तेजः शरीराद्वायुरुदीरयति । ततस्तेजोऽनिलसन्निपाततः शुक्रं च्युतं योनिमभिपतिपद्यते संसृज्यते चार्त्तवेनेति । स तथेति तथर्चुमत्या स्त्रिया सह संसर्गगतस्य पुंसो मैथुनजहर्षभूतैनात्मना उदीरितः प्रच्युतश्चाधिष्ठितवीजधातुः पितृयानेन सोमलोक्रगतो दिष्टरूपं बीजं ततः प्रत्यागतं पुनः । अधिष्ठितं यं धातुं सोऽधिष्ठितवीजश्चासौ धातुश्चेत्यधिष्ठितवीजधातुः । कर्त्तरि क्तः । स परः शारीरधात्वात्मा शुक्रभूतः पुरुषशरीरादभिनिष्पद्योदितेनोक्तेन पथा योनिरन्ध्रेण गर्भाशयमनुप्रविश्याऽप्रदुष्टेन नवेनार्त्तवेन संसर्गमेति । सुश्रुतेऽप्युक्तं—ततोऽग्नीषोमसमयोगात् संसृज्यमानो गर्भो गर्भाशयमनु प्रतिपद्यते । इति ।

तथा प्रकारेणार्त्तवेन संसृष्टे शुक्रे सति कथं गर्भः स्यादित्यत आह—तत्रेत्यादि । तत्र तथाविधरूपेणात्तवसंसृष्टशुक्रे चेतनाधातुरात्मा सत्त्वकरणो मनःकरणः सूक्ष्मशरीरेणाभिसंवद्धेन मनसा करणेन वेगवान् गुणग्रहणाय निरस्यति । क्रतुमतीमित्यत्र प्रशंसायां मतुप् । तथा सहेति तथा स्त्रिया । तथाभूतयेति तादृगृतुयुक्त्या । हर्षः प्रीतिविशेषः । तेनोदीरितः प्रेरितः । पर इति सारः, किंवा परकालोत्पन्नः परः । शुक्रं हि सर्वधातुभ्यः परमुत्पद्यते । शरीरधात्वात्मा इति शरीरधातुरूपः । शुक्रभूत इति शुक्रस्वरूप एवाङ्गादङ्गात् सम्भवति व्यज्यते । तेन नाङ्गेभ्यः शुक्रमुत्पद्यते, किन्तु शुक्ररूपतयैव स्थितं व्यज्यते । वचनं हि—“सर्वत्रानुगतं वेहे शुक्रम्” इति । हर्षभूतेनेति हर्षरूपेणात्मना उदीरितश्चाधिष्ठितश्चेत्यनेन, उदीरणकाले तथा निःसरणकालेऽपि हर्षमयाधिष्ठानं शुक्रस्य गर्भाशयप्राप्तिकारणं दर्शयति—यदि शुक्रप्रवृत्तिकाले पुरुषो हर्षरहितः स्यात्, न तदा सम्यक् शुक्रप्रवृत्तिः तथा वेगविधातान्न गर्भाशयप्रवृत्तिर्भवति । बीजरूपो धातुर्वीजधातुः शुक्रमिति । संसर्गं सम्यङ्मूर्च्छनम् ।

सत्त्वं मनः कर्णं यस्य स सत्त्वकरणः । आत्मा निष्क्रियत्वेन क्रियावता मनसा यत् कार्यं करोति, तच्च कार्यं मनसा क्रियमाणमप्यचेतनेन चेतनावत् आत्मन एवोच्यते । वचनं

प्रवर्तते । स हि हेतुः कारणं निमित्तमक्षरं कर्त्ता मन्ता  
बोधयिता बोद्धा द्रष्टा धाता ब्रह्मा विश्वकर्मा विश्वरूपः पुरुषः  
प्रभवोऽव्ययो नित्यो गुणी ग्रहणं प्राधान्यमव्यक्तं जीवो ज्ञः  
प्रकुलश्चेतनावान् प्रभुश्च भूतात्मा चेन्द्रियात्मा चान्तरात्मा चेति ।  
स गुणोपादानकालेऽन्तरीक्षं पूर्वतरमन्येभ्यो गुणोभ्य उपादत्ते ।

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखबुद्धिस्मृतिधृतिग्रहणाय वायुनाभिप्रेर्यमाणः प्रवर्तते  
तत्रार्त्तवसंसृष्टशुक्रं गर्भाशयं प्रविश्यावतिष्ठते । अस्य चार्त्तवसंसृष्टशुक्र-  
प्रवर्त्तनेन च बीजधर्मणः सूक्ष्मदेहस्यापि नित्यानुबन्धस्य प्रवृत्तिरुक्ता भवति ।  
उक्तं ह्यतुल्यगोत्रीये—भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि यान्यात्मलीनानि विशन्ति  
गर्भे । स बीजधर्मा ह्यपरापराणि देहान्तराण्यात्मनि याति याति ॥ इति । ननु  
तदप्रदुष्टार्त्तवसंसृष्टशुक्रं चेतनाधातुः को यो गुणग्रहणाय पूर्वं प्रवर्तते इत्यत  
आह—स हीत्यादि । स चेतनाधातुर्हि यस्मात् हेतुः सर्वकर्मसु हेतुर्हि  
पूर्ववर्त्ती । ननु स निष्क्रियः कथं हेतुः स्यादित्यत आह—कारणमिति ।  
कारयतीति कारणं प्रयोजकः, स्वयं किञ्चिदपि न करोति सत्त्वादींस्तु कुर्वन्तः  
प्रेरयति । अत एव निमित्तम् । नन्वस्य हेतुः क इत्यत आह—अक्षरं न  
क्षरतीत्यक्षरम् । अनादेस्तस्य हेतुर्नास्तीति भावः । अत एव कर्त्ता । ननु  
सत्त्वादिः क्रियाकारकः कथं न कर्त्ता इत्यत आह—मन्तेति । मतिमान्  
मननशील इत्यर्थः । ननु मननन्तु सत्त्वं करोति कथं मन्ता स्यादित्यत आह—  
बोधयितेति, सत्त्वादिकाश्चेतयिता । ननु स्वयं किं न बुध्यते इत्यत  
आह—बोद्धेति । ननु तर्हि किं क्रियाः कारयति फलं न भुङ्क्ते इत्यत  
आह—द्रष्टेति । क्रियाद्रष्टा न तु क्रियाकर्त्ता क्रियाफलभोक्ता वा, अत एव  
धाता ब्रह्मेत्यादिपर्यायवाच्यः । प्रकुल इति प्रगतः कुलं वंशं प्राप्तः स प्रकुलः ।  
प्रभुः शक्तिमान् । भूतात्मा भूतानां प्राणिनामात्मा स्वभावस्थस्तैजसाख्य आत्मा,  
इन्द्रियात्मा इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनामात्मा स्वस्वक्रियाहेतुः । अन्तरात्मा  
सुषुप्तिस्थानः प्राज्ञः । एनं विना हि न गर्भनिर्माणं सम्भवतीति पूर्वमयं प्रवर्त्तते ।

हि—“चेतनावान् यत्तत्रात्मा ततः कर्त्ता निरुच्यते ।” गुणग्रहणायेत्यत्र ‘गुण’शब्देन, गुण-  
गुणिनोरभेदोपचारात् गुणवन्ति भूतान्युच्यन्ते । किंवा गुणोऽप्रधानम्, प्रधानं ब्रह्मा, तद्-  
व्यतिरिक्तानि च भूतानि गुणाः । कस्मादात्मा भूतानि गृह्णात्यप्रधानरूपाणीत्याशङ्क्यामात्मनः  
प्राधान्यव्यापकान् पर्यायानाह—स हीत्यादि । न क्षरतीत्यक्षरम् । गुणी भूतरूपगुणवानित्यर्थः ।

यथा प्रलयात्यये सिस्तुचुभूतान्यक्षरभूतः सत्त्वोपादानं ०  
पूर्वतरसाकाशं सृजति, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून्  
वाय्वादींश्चतुरः ; तथा देहग्रहणेऽपि प्रवर्त्तमानः पूर्वतर-  
साकाशमेवोपादत्ते, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून्  
वाय्वादींश्चतुरः । सर्व्वमपि तु खल्वेतद् गुणोपादानमण्णा  
कालेन भवति ॥ ४ ॥

नन्वयमार्त्तवसंसृष्टे शुक्ले पूर्वं प्रवर्त्तमानः किं कुरुते इत्यत आह—स इत्यादि ।  
स हेत्वादिपर्यायवाच्यश्चेतनाधातुः सत्त्वकरणः पूर्व्वमार्त्तवसंसृष्टशुक्ले प्रविष्टो  
गुणग्रहणाय प्रवर्त्तमानः गुणोपादानकाले सत्त्वं रजोबाहुल्येन विकुर्व्वन् रजो-  
बहुलेन तेन अन्येभ्यो गुणिभ्यो वाय्वादिभूतेभ्यः पूर्व्वतरं पूर्व्वतममन्तरीक्षं  
शब्दगुणवदप्रतीयातलक्षणं स्वसहचरबीजधर्ममूक्षमदेहस्थाकाशं निष्क्रियं  
संसृज्य सरूपमेव शब्दगुणमप्रतीयातलक्षणमाकाशमुपादत्ते सृजति । अत्र  
दृष्टान्तमाह—यथेत्यादि । प्रलयात्यये प्रलयावसाने भूतानि प्राणिनः  
सिस्तुक्षुरक्षरभूतो ब्रह्मा नारायणाख्यः सुप्तोत्थितः प्रतिबुद्धः पूर्वं सत्त्वं  
मनः सदसदात्मकं सृष्ट्वा सत्त्वोपादानं तन्मनःप्रकृतिकं पूर्व्वतरमाकाशं सृजति ।  
ततः क्रमेणेत्यादि स्पष्टम् । नन्वेवमन्तरीक्षादिभूतोपादानं किर्याद्भिः  
कालैरित्यत आह—सर्व्वमपि तित्यादि । एतदन्तरीक्षादिपञ्चभूतरूपेण  
शब्दादिगुणोपादानमणुना परमाणुकालेन भवत्यात्मन इति ॥ ४ ॥

गृह्णाति भूतानीति ग्रहणम् । एतैः पर्यायैरात्मनोऽभिधेयस्थेतरपदार्थोपकार्यत्वेनाश्रयत्वं प्रसिद्धं  
दर्श्यते । पूर्व्वतरं प्रथममेव । अन्येभ्यो गुणेभ्य इति वाय्वादिभ्यः । अत्र गर्भे भूतग्रहणक्रमे  
दृष्टान्तमाह—यथेत्यादि । प्रलयस्य महाप्रलयस्यात्यये इति सर्ग इत्यर्थः । सिस्तुक्षुरिति स्रष्टु-  
मिच्छुः । भूतानि आकाशादीनि । सत्त्वोपादान इति मनःकरणः । महाप्रलये हि विकारस्य  
प्रकृतौ लयात् प्रकृतिपुरुषावेव परमव्यक्तरूपौ तिष्ठतः । ततश्च सर्गारम्भे प्रकृतेर्महदादिः प्रपञ्च  
उत्पद्यते क्रमेण । तत्र प्रथममाकाशमुत्पद्यते, ततो वाय्वादीनि व्यक्तानीति सांख्यसिद्धान्तः ।  
आकाशस्य जन्यत्वं सांख्यमतेनैव ज्ञेयम् । देहग्रहणेऽपीति गर्भस्वरूपग्रहणेऽपीति । उपादत्त  
इति शुक्लशोणितगतमाकाशमाकाशमयतया स्वीकरोति । व्यक्ततरगुणानिति आकाशमेकगुणमपेक्ष्य  
शब्दस्पर्शगुणो वायुव्यक्ततरः, तमपेक्ष्य शब्दस्पर्शरूपगुणं तेजोव्यक्ततरमित्यादि । अयञ्च भूत-

स तु सर्वगुणवान् गर्भत्वमापन्नः प्रथमे मासि संमूर्च्छितः

गङ्गाधरः—एवं सर्वगुणवान् गर्भत्वमापन्नः सन् वक्ष्यमाणक्रमेणान्नमय एष स्थूलश्वेतुर्विशतिधातुकः पुरुषो भवति । उक्तञ्चैवं तैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मानन्दवल्याम्—तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः-सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्रे रापः, अग्न्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम्, अन्नाद् रेतः, रेतसः पुरुषः, स एवात्र यः पुरुषोऽन्नरसमयः । तस्येदमेव शिरोऽयं दक्षिणः पक्षोऽयमुत्तरः पक्षोऽयम् आत्मा इदं पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति । अन्नाद्वै प्रजा जायन्ते, याः काश्च पृथिवीं श्रिताः । अथान्नेन जीवन्ति अथैनदपि यन्तः । अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठं, तस्मात् सर्वोपधुच्यते । सर्वं वै ते अन्नमाप्नुवन्ति, येऽन्नं ब्रह्मोपासते । अन्नाद् भूतानि जायन्ते जातान्यन्नेन वर्द्धन्ते । अद्यतेऽस्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते । तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमया-दन्योऽन्तरात्मा प्राणमयस्तेनैव पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुष-विधताम् । अन्वयं पुरुषविधः । तस्य प्राण एव शिरो व्यानो दक्षिणः पक्षः अपान उत्तरः पक्ष आकाश आत्मा । पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति । प्राणं देवा अनुप्राणन्ति मनुष्याः पशवश्च ये । प्राणो हि भूतानामायु-स्तस्मात् सर्वायुपमुच्यते । सर्वमेव त आयुयेन्ति ये प्राणं ब्रह्मोपासते । प्राणो हि भूतानामायुस्तस्मात् सर्वायुपमुच्यते । तस्यैव एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः । तेनैव पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः । तस्य यजुरेव शिर ऋग्दक्षिणः पक्षः सामोत्तरः पक्ष आदेश आत्मा अथर्वान्निरसः पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति । यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन ॥ तस्यैव एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञान-मयः । तेनैव पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः । तस्य श्रद्धैव शिर ऋतं दक्षिणः पक्षः सत्यमुत्तरः पक्षो योग आत्मा महः पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति । विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च । विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्मज्येष्ठमुपासते । विज्ञानं

ग्रहणक्रम आगमसिद्ध एव, नात्र युक्तिस्थाविधा हृदयङ्गमास्ति । एतच्च भूतग्रहणं लघुनैव कालेन भवतीति दर्शयन्नाह—सर्वमित्यादि ॥ ४ ॥

ब्रह्म चेद्वेद तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति । शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान् कामान्  
 समश्नुते । तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्मा-  
 द्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध  
 एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः । तस्य प्रियमेव शिरो मोदो  
 दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्ष आनन्द आत्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष  
 श्लोको भवति । असन्नेव भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति  
 ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः । तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य  
 इति । आनन्द आत्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यनेन ख्यापितं हिरण्मयः पुरुषः  
 एतस्मात् पञ्चमात् कोपात् परः पष्ठः कोप इति । तथा च । तस्माद्वा एतस्मा-  
 दानन्दमयादन्योऽन्तर आत्मा हिरण्मयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष  
 पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः । तस्यान्नमेव  
 शिर आपो दक्षिणः पक्षस्तेज उत्तरः पक्ष सद्ब्रह्मगायत्री शक्तिरात्मा ।  
 असद्ब्रह्मशक्तिः पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति । हिरण्मये परे  
 कोपे विरजं ब्रह्म निष्कलम् । तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो  
 विदुः ॥ असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत । तदात्मानं स्वयमकुरुत  
 तस्मात् तं सुकृतमुच्यते ॥ तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्येति । यद्वैतत्  
 सुकृतं रसो वै सः । रसं हेतुवायं लब्धवानन्दीभवति । को हेतवान्यात् कः  
 प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष हेतवानन्दयतीति । इति  
 तद्धेतुत्वव्यपदेशाद्विरण्मयः पुरुषोऽप्यानन्दः सद्ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा । स आनन्दो  
 ब्रह्मेति व्यजानादित्युक्तमत आनन्दमयत्वमिति । समाधौ सुषुप्तौ चैष  
 यमानन्दयति स आनन्दतीत्यानन्द आत्मानन्दमयस्यात्माऽभिहित इति ।  
 अथ तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेः  
 आपोऽग्न्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, इत्येतं वेदं स्मृत्वा मनुस्वाच । तस्य  
 सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसृप्तः प्रतियुध्यते । प्रतियुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ।  
 मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया । आकाशं जायते तस्मात् तस्य शब्दं  
 गुणं विदुः ॥ आकाशात् तु विकुर्वाणात् सर्वगन्धवहः शुचिः । बलवान्  
 जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः ॥ वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु  
 तमोनुदम् । ज्योतिस्तत्पद्यते भास्वत् तद्रूपगुणमुच्यते ॥ ज्योतिषश्च विकुर्वाणा-  
 दापो रसगुणाः स्मृताः । अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिस्त्येषां सृष्टिरादितः ॥  
 इति द्वितीयादिकल्पे यद्वा अव्यक्तं नामात्मा स एवैष आदित्यो नारायणो



सर्वधातुकलुपीकृतः ॥ खोटभूतो भवत्यव्यक्तविग्रहः सदसद्वि-  
नाम ब्रह्मात्मा एतस्मान्मनो विक्रियमाणमाकाशं ससज्जति द्वितीयादिकल्पे  
पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशमनोऽहङ्कारमहान्त इत्यष्टौ प्रकृतय आत्मा नवमी प्रकृति-  
रिति भगवद्गीतायामुक्तम्—भूमिरापोऽनिलो वह्निः खं मनो बुद्धिरेव च ।  
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ अपरेयं महाबाहो जीवभूता सनातनी ।  
सूलप्रकृतिरुद्दिष्टा ययेदं धार्यते जगत् ॥ इति । एतच्चोक्तम् । मातृजश्चायं गर्भ  
इत्यादिना, मात्रादिजानि पञ्चभूतानि मनोऽहङ्कारो महानात्मा चेति नव  
प्रकृतयः । स्थूलपुरुषस्य चतुर्विंशतिकस्य दशेन्द्रियाण्यर्थाश्च पञ्चेति पञ्चदशात्म-  
शब्देन संगृहीतानीति चतुर्विंशतिः प्रकृतयस्तत्र विकृतिभूताः षोडश प्रकृतयः  
प्रकृतिभूता अष्टौ प्रकृतय इति । इत्थं गर्भत्वमापन्नः प्रथमे मासि सम्मूर्च्छितः  
स्यात् । सुश्रुते च—“सौम्यं शुक्रमार्त्तवमाग्नेयमितरेषामप्यत्र भूतानां सान्निध्य-  
मस्त्यणुना विशेषेण परस्परोपकारात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च । तत्र स्त्री-  
पुंसयोः संयोगे तेजः शरीराद्वायुरुदीरयति ततस्तेजोऽनिलसन्निपाताच्छुक्रं च्युतं  
योनिमभिप्रतिपद्यते संसृज्यते चार्त्तवेन ततोऽग्नीषोमसंयोगात् संसृज्यमानो गर्भो  
गर्भाशयमनुप्रतिपद्यते । क्षेत्रज्ञो वेदयिता स्पृष्टा घ्राता द्रष्टा श्रोता रसयिता पुरुषः  
स्रष्टा गन्ता साक्षी धाता वक्ता योऽसावित्येवमादिभिः पर्यायवाचकैर्नामभि-  
रभिधीयते दैवसंयोगादक्षयोऽव्ययोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्वक्षं सत्त्वरज-  
स्तमोभिर्देवासुरैरपरैश्च भावैर्वायुनाभिप्रेर्यमाणो गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते ।  
तत्र शुक्रबाहुल्यात् पुमानार्त्तवबाहुल्यात् स्त्री साम्यादुभयोर्नपुंसकमिति । ऋतुस्तु  
द्वादशरात्रं भवति दृष्टार्त्तवः । अदृष्टार्त्तवाप्यस्तीत्येके” इत्यारभ्य “तत्र प्रथमे मासि  
कललं जायते । द्वितीये शीतोष्णानिलैरभिप्रपच्यमानानां महाभूतानां सङ्घातो  
घनः सञ्जायते । यदि पिण्डः पुमान्, स्त्री चेत् पेशी, नपुंसकञ्चेद्वर्द्धमिति ॥”  
तथा चात्र प्रथमे मासि प्रथमतः शुक्रशोणितयोः सम्यङ्मेलनं ततः  
सर्वधातुकलुपीकृतः । सर्वेषां शुक्रगाणां शोणितगानामात्मगानाश्च रस-  
गानाश्च धातूनां वाय्वादीनां भूतानामकलुषभावः कलुषभावः क्रियते स्म  
इत्याविलीकृतो भवति । ततोऽनन्तरन्तु खोटभूतः स्त्यानरूपः श्लेष्मवद्  
भवति । तदा त्वव्यक्तविग्रहः पिण्डाद्याकाराव्यक्तिसमसद्भूताङ्गावयवः सत्

चक्रपाणिः—सर्वधातुकलनीकृत इति अव्यक्तसर्वधातुतया कलनीकृतः । ‘धातु’शब्देन  
च भूतान्युच्यन्ते । किंवा रसादिधातुबीजानि । खोटः श्लेष्मा । तेन खोटभूत इति श्लेष्मभूत

\* सर्वधातुकलनीकृतः इति चक्रघृतः पाठः ।

भूताङ्गावयवः । द्वितीये मासि घनः सम्पद्यते पिण्डः पेश्यवर्तुदं  
वा । तत्र घनः पुरुषः, स्त्री पेशी, अवर्तुदं नपुंसकम् । तृतीये मासि  
सर्वेन्द्रियाणि सर्वाङ्गावयवाश्च यौगपदेनाभिनिर्व्वर्त्तन्ते ।  
तत्रास्य केचिदङ्गावयवा मातृजादीनवयवान् विभज्य पूर्व्वमुक्ता  
यथावत् । सहाभूतविकारप्रविभागेन त्विदानीमस्य तांश्चैवाङ्गा-  
वयवान् कांश्चित्, पर्यायान्तरेणापरांश्चानुव्याख्यास्यामः ॥ ५ ॥

सूक्ष्मदेहस्याङ्गावयवः असत्स्थूलदेहभावाङ्गावयवः एतदुभयभूताङ्गावयवरूपः  
इत्येवं कललं प्रथमे मासि पूर्णे सति भवति । ततो द्वितीये मासि  
स गर्भसमापन्नो घनः कठिनः स्यात् । स च त्रिविधः पिण्डः पेशी वाप्यवर्तुदं  
वा । तत्र घनः पिण्डो ग्रन्थराकारश्चेत् पुरुषो भवति । पेशी चेत्  
स्त्री भवति । अवर्तुदं वर्तुलाकारश्चेन्नपुंसकमिति । अथ तृतीये मासि  
इत्यादि । अभिनिर्व्वर्त्तन्ते इति तृतीयमासस्य पूर्व्वार्द्धे हस्तपादशिरसां पञ्च  
पिण्डका अभिनिर्व्वर्त्तन्तेऽङ्गप्रत्यङ्गविभागश्च सूक्ष्मो भवति । शेषार्द्धे तु  
सर्व्वान्द्विन्द्रियाणि सर्वाङ्गावयवाश्च व्यक्तास्मा भवन्तीत्यर्थः । चतुर्थमासस्य  
पूर्व्वार्द्धे प्रव्यक्ततरूपेण भवन्ति इत्यभिप्रायभेदेन तृतीये मासि सर्व्वेन्द्रियाणि  
सर्वाङ्गावयवाश्च यौगपदेनाभिनिर्व्वर्त्तन्ते इति स्वयमस्मिंस्तन्त्रे लिखितवान् ।  
सुश्रुतस्तु “तृतीये हस्तपादशिरसां पञ्च पिण्डका निर्व्वर्त्तन्तेऽङ्गप्रत्यङ्गविभागश्च  
सूक्ष्मो भवतीति । चतुर्थे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्ततरो भवति । गर्भ-  
हृदयप्रव्यक्तभावात् चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति । कस्मात् तत्स्थानत्वात् ।  
तस्माद् गर्भश्चतुर्थे मास्यभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति । द्विहृदयाश्च नारी द्वैहृद-  
यिनीमाचक्षते” इति लिखितवान् । तत्रास्येत्यादि । तत्र सर्व्वेन्द्रिय-  
सर्वाङ्गावयवेषु मध्येऽस्य गर्भस्य केचित् लगादय एवाङ्गावयवाः पूर्व्व  
खुण्डीकागर्भावक्रान्तिनारीरे, इदानीन्त्वस्य गर्भस्य महाभूतविकारप्रविभागेन

इत्यर्थः । अन्यक्तविग्रह इत्यस्य विवरणम्—सदसद्भूताङ्गावयव इति विद्यमानाधिष्ठमानाङ्गावयव  
इत्यर्थः । अङ्गानाञ्च बीजरूपतया स्थितत्वे सत्त्वम्, अव्यक्तभावाच्चासत्त्वम् । किञ्च सदसद्भूताङ्गावयवो  
घनः सम्पद्यते इति योजना । घनः कठिनः । पिण्डो ग्रन्थराकारः । पेशी दीर्घमांसपेश्याकारः । अवर्तुदं  
वर्तुलान्तम् । अङ्गानि दिग्भ्रमृतीनि तदवयवाश्चेत्यङ्गावयवाः । यौगपदेनेतिवचनेन “कुमारस्य  
शिरः पूर्व्वमभिनिर्व्वर्त्तते” इत्यादिवक्ष्यमाणान्येकैकीयमतानि निषेधयति । यौगपदेन हि सर्व्वान्द्वि-

मातृजादयोऽप्यस्य महाभूतविकाराः, तत्रास्याकाशात्मकं शब्दः श्रोत्रं लाघवं सौक्ष्म्यं विवेकश्च ॥ वाय्वात्मकं स्पर्शः स्पर्शनं रौक्ष्यं प्रेरणं धातुव्यूहनं चेष्टाश्च शारीर्यः । अग्रात्मकं रूपं दर्शनं प्रकाशः पक्तिरौष्ण्यश्च । अवात्मकं रसो तांश्चैवाङ्गावयवान् त्वगादीन् पर्यायान्तरेण नामान्तरेणापरांश्चाङ्गावयवाननु-  
व्याख्यास्यामः ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—तत् किमित्याह—मातृजादयोऽपीत्यादि । मातृजास्त्वगादयो येऽङ्गावयवाः खण्डिकायामुक्तास्तत्र त्वगादिषु ये शब्दलाघवसौक्ष्म्यशुषिरादयस्तत् सर्वं शौणितिकाकाशात्मकम् । एवं पितृजाश्च येऽङ्गावयवाः केशश्मश्रूनखादय उक्तास्तेषु च ये शब्दलाघवसौक्ष्म्यविवेकास्तत् सर्वं पितुः शुक्रगाकाशात्मकम् । एवमात्मजाश्च येऽङ्गावयवा इन्द्रियादय उक्तास्तेषु मध्ये श्रोत्रेन्द्रियं स्वर-विशेषश्चात्मजाकाशात्मकम् । वाय्वात्मकमित्यादि । चत्वारि त्वगिन्द्रियादीनि वाय्वाद्यात्मकानीन्द्रियाणि तत्र स्पर्शने स्पर्शश्चक्षुषि रूपः, रसने रसो, घ्राणे गन्धश्च वाय्वाद्यात्मकाः । पञ्च कर्मेन्द्रियाणि चात्मजपञ्चभूतात्मकानि तेषु लाघवादीनि च सात्म्यजाश्च ये त्वारोग्यादयस्तेषु मध्ये इन्द्रियप्रसादस्तु य उक्तस्तत्र श्रोत्रेन्द्रियप्रसादः सात्म्यरसगाकाशात्मकः । तथा रसजा ये शरीराभिनिवृत्त्यभिष्टुद्धी उक्ते, तयोः शब्दलाघवसौक्ष्म्यशुषिराभिनिवृत्त्यभि-ष्टुद्धी, एतद्व्यं रसगताकाशात्मकम् । एवं सत्त्वजा ये भक्ष्यादयस्तेषु यथा-सम्भवं शब्दादिगाम्भीर्यादिकं सत्त्वकार्यमिति केचित् । एवं वाय्वात्मक-मिति । त्वगादिमातृजाङ्गावयवेषु स्पर्शरौक्ष्यधातुव्यूहनचेष्टा इत्येतत् सर्वं मातृशौणित्यवाय्वात्मकम् । पितृजकेशादिषु च तत् सर्वं पितुः शुक्रगतवाय्वा-त्मकम् । आत्मजेन्द्रियादिषु चात्मगतवाय्वात्मकं स्पर्शनमिन्द्रियं प्राणापान-चेष्टाप्ररणं रौक्ष्याकृतिरित्येतत् सर्वम् । स्पर्शनेन्द्रियप्रसादस्तु सात्म्यीय-वाय्वात्मकम् । शरीराभिनिवृत्तिस्तदभिष्टुद्धिश्च तयोः स्पर्शरौक्ष्य-धातुव्यूहनशरीरचेष्टाश्च सर्वं रसजवाय्वात्मकम् । अग्रात्मकमित्यादि । मातृजत्वगादिषु रूपं प्रकाश औष्ण्यश्च मातृशौणितिकाग्रात्मकम् । निवृत्तिरिति सिद्धान्तः । केचिदिति न सर्वं । तत्र मातृजाद्यङ्गकथनेन शब्दादयो य इह भूतविकारत्वेन वक्ष्यन्ते, ते न सर्वं प्रोक्ताः, किञ्च केचिदेव त्वगादयः । पर्यायान्तरेणैतद्वचनात् ये मातृजादयः

रसनं शैत्यं मार्दवः स्नेहः क्लेदश्च । पृथिव्यात्मकं गन्धो घ्राणं  
गौरवं स्थैर्यं मूर्तिश्च । एवमयं लोकसम्मितः पुरुषः । यावन्तो  
हि लोके भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो  
लोके तांते ब्रह्मास्तेवं द्रष्टुमिच्छन्ति ॥ ६ ॥

पितृजकेशादिषु च पितुः शुक्रगताग्रात्मकं तत् त्रयम् । आत्मजेन्द्रियादिषु  
दर्शनं चक्षुरिन्द्रियं तद्गतरूपं पक्तिः वर्णविशेष आत्मगताग्रात्मकम् ।  
चक्षुरिन्द्रियप्रसादः वर्णो बीजसम्पन्नः सात्म्यीयानेयम् । शरीर-  
रूपं रूपाभिवृद्धिश्च प्रकाशशौण्ड्याहारजरसगाग्रात्मकम् । अथ मातृज-  
त्वगादिषु रसः शैत्यं मार्दवः स्नेहः क्लेदश्चेति सर्वं मातृशोणितगतावात्मकम् ।  
एवं पितृजकेशादिषु च तत् सर्वम् । आत्मजेन्द्रियादिषु च रसनमिन्द्रियं  
रसनगतरसः आकृतिः स्नेहमार्दवौ चात्मगतावात्मकम् । सात्म्यगतावात्मकन्तु  
रसनप्रसादः । रसगतावात्मकन्तु शरीराभिनिवृत्त्यभिवृद्धयोः । शरीररस-  
शैत्यमार्दवस्नेहक्लेदा इति सर्वम् । अथ मातृजत्वगादिषु गन्धगौरव-  
स्थैर्यमूर्त्तय इत्येतत् सर्वं मातृशोणितीयपृथिव्यात्मकम् । तथा पितृज-  
केशादिषु तत्सर्वं शुक्रगतपृथिव्यात्मकम् । आत्मजेन्द्रियादिषु घ्राण-  
मिन्द्रियं तद्गतगन्धगौरवस्थैर्यमूर्त्तयश्चेत्येतत् सर्वमात्मगतपृथिव्यात्मकम् ।  
घ्राणेन्द्रियप्रसादस्तु सात्म्यगतपृथिव्यात्मकः । शरीरगतगन्धगौरवस्थैर्यमूर्त्तय-  
श्चेत्येतत् सर्वं रसगतपृथिव्यात्मकमिति । एवं शेषाः पाञ्चभौतिककाव्य-  
गुणा बोध्याः । अस्य गर्भस्यात्मपञ्चभूतात्मकत्वेनाङ्गावयवानुत्तवा शेषार्थोप-

‘त्वक् च लोहितञ्च’ इत्यादिनोक्ताः, त इह न साक्षाद् वक्तव्याः, किन्तु ये त्वग्गता मूर्त्ति-  
स्नेहमार्दवादयः, ते मृतजन्यत्वेनोच्यमानास्त्वचोऽभिधायका भवन्ति । एवं शोणितगतमृतविकार-  
कथनेन शोणितकथनं ज्ञेयम् । त्वगादयो मृतविकारा वक्ष्यमाणा इति विकारसमुदायरूपा एव ।  
भङ्गानाञ्च मातृजरूपेण यदभिधानम्, तत् मात्राधीनत्वप्रतीत्यर्थम् । पुनश्चेह मृतजन्यत्वेनाभि-  
धानमङ्गानां क्षये वा वृद्धौ वा सत्यां तत्कारणभूतोपयोगप्रतिपेक्षाभ्यां वृद्धिक्षयजननज्ञानार्थम् ।  
यदङ्गं यदमृतप्रभवम्, तदङ्गं तदमृतप्रधानेन द्रव्येण वर्द्धते, क्षीयते च तद्विपरीतेन । लाघवं  
यद्यपि वायौ पठन्ति,—“रुक्षः शीतो लघुश्चैव” इत्यादिना, तथापि आकाशात्लाघवं प्रधानं ज्ञेयम्,  
तेन इहाकाशविकारे पठन्ति । आकाशं हि अत्यर्थसूक्ष्मत्वाच्चातिलघु । विरेको विच्छेदः । धातु-  
व्यूहं धातुरचना धातुवर्द्धनञ्च । इत्येतेऽनेनेति दर्शनं चक्षुरिन्द्रियम् । मूर्त्तिः काठिन्यम् ।

एतदमृतविकारमयत्वं शरीरस्य लोकमयस्य चेति यजज्ञानम्, तन्मोक्षस्यापि परमाभीष्टस्य

एवमस्येन्द्रियाण्यङ्गावयवाश्च यौगपदेनानभिनिर्व्वर्त्तन्ते  
अन्यत्र तेभ्यो भावेभ्यो येऽस्य जातस्योत्तरकालं जायन्ते ।  
तद् यथा—दन्ता व्यञ्जनानि व्यक्तीभावस्तथा युक्तानि चापरा-  
ण्येषा प्रकृतिः, विकृतिः पुनरतोऽन्यथा । सन्ति खल्वस्मिन्  
गर्भे केचिच्च नित्या भावाः, सन्ति चानित्याः केचित् । तस्य ये  
संहारार्थं जंगत्सम्मितत्वमाह—एवमित्यादि । एतच्च प्रपञ्चेन व्याख्यास्यते  
स्वयमेव ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—उपसंहरति—एवमस्येन्द्रियाणीत्यादि । अन्यत्र विनेत्यर्थः ।  
ये दन्तादयो वक्ष्यमाणाः । दन्ताः ; व्यञ्जनानि स्तनाधःकुन्तलश्मश्रुकक्ष-  
लोमाकृतिविशेषाश्च । व्यक्तीभावो बुद्ध्यादीनां रूपादीनां वाक्यादीनां  
शुक्रादीनां लोमादीनामित्येवमादीनाम् । तथा युक्तानि चापराणि गमनधावना-  
दीनि । एषा प्रकृतिरवैकारिकी । ननु जातदन्तोऽपि जायते इत्यत आह—  
विकृतिरित्यादि । अथास्मिंस्तृतीयमासशेषार्द्धे प्रव्यक्तोन्मुखे तूपस्थे  
शुक्राधिके पुमान् रक्ताधिक्ये स्त्री द्वयोः साम्ये तु नपुंसकमिति यदुक्तं तत् किं  
कारणं भवतीति लोकसाम्यं दर्शयन्नाह—एवमयमित्यादि । एवमयमिति पञ्चभूतविकारमय-  
त्वेन लोकसम्मित इति लोकतुल्यः । इह च भूतविकारमयत्वञ्च यच्छरीरस्योक्तम्, तेन  
भूतविकारमयत्वमधिकृत्य सादृश्यमुक्तम् । लोकपुरुषयोः साम्यमाध्यात्मिकम्, लोकपुरुषयोः  
साम्यं पुरुषविचये वक्तव्यम्, तदिहानुक्तमपि “यावन्तो हि” इत्यविशेषणाभिधानेन सूचितं  
ज्ञेयम् । तेन यावन्तो भावविशेषा आध्यात्मिका वा अन्तरात्मसत्त्वाहङ्कारादयो भौतिका वा  
भूतज्ज्ञेयादयो, ते पुरुषगता लोकेनापि समाना इति ज्ञेयम् । एतच्च लोकपुरुषयोः साम्यं पुरुष-  
विचये वक्तव्यं भविष्यति । एतच्च लोकपुरुषयोः सामान्यकथनं मुमुक्षूणामेवोपयुक्तमिति  
दर्शयन्नाह—बुधास्त्वेवमित्यादि । बुधाः सम्यग्ज्ञानवन्तो मोक्षयुक्ता इति यावत् । लोकपुरुष-  
सामान्यकथनञ्च मोक्षार्थमेवेति पुरुषविचये स्वयमेव वक्ष्यति ॥ ५ । ६ ॥

चक्रपाणिः—प्रकृतिं तृतीयमासभवामिन्द्रियाण्यङ्गमभिनिर्व्वृत्तिमुपसंहरति—एवमस्येत्यादि ।  
युगपदेव यौगपद्यमित्यभिधानम् इन्द्रियैरपि सर्वाङ्गमभिनिर्व्वृत्तेः समकालतोपदर्शनार्थम् । किं  
दन्तादयोऽपि तृतीयमासे भवन्तीत्याशङ्क्याह—अन्यत्रेत्यादि । व्यञ्जनानि इमंश्रुस्तनादीनि ।  
व्यक्तीभावः शुक्ररजसोराविर्भावः । तथा युक्तानीति जातोत्तरकालत्वेन स्थूलमांसादीनि । एषा  
प्रकृतिरिति इन्द्रियाण्यङ्गानि च युगपद् भवन्ति, दन्तादयश्च जातस्यापि विरेण भवन्तीत्येवंरूपो  
भनुप्यस्वभाव इत्यर्थः । अन्यथेति कदाचित् सदन्त एव जायते इत्यादिका विकृतिर्मनुष्यस्य ।  
कस्माद् दन्तादयो गर्भादिजायमानत्वेन नित्यत्वेन नोच्यन्त इत्याह—सन्तीत्यादि । ‘खलु’शब्दो

एवाङ्गावयवाः सन्तिष्ठन्ते, त एव स्त्रीलिङ्गं पुरुषलिङ्गं नपुंसक-  
लिङ्गं वा विभ्रति ॥ ७ ॥

ततः स्त्रीपुरुषयोरे वैशेषिका भावाः प्रधानसंश्रया गुण-  
संश्रयाश्च, तेषां यतो भूयस्त्वं ततोऽन्यतरभावः । तद् यथा—

नियमत एव किं व्यभिचारतो वेत्यत आह—सन्तीत्यादि । नित्यास्ते ये सूक्ष्म-  
शरीरस्था एवाङ्गावयवाः सन्तिष्ठन्ते, अनित्या आजन्म मरणान्तं पुनःपुनरा-  
गमापायिनः पुरीपादयः केशादयश्च । य एवाङ्गावयवाः सन्तिष्ठन्ते संस्थावन्तस्त  
एवाङ्गावयवाः स्त्रीलिङ्गादिकं विभ्रति, न त्वसंस्थानवन्तः ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—तत इत्यादि । ततस्तस्माद्धेतोः स्त्रीपुरुषयोर्मधुनकाले ये वैशेषिका  
भावाः प्रधानसंश्रयाः पुरुषाश्रिताः पुत्रकराः स्त्रीसंश्रिताः कन्याकराः गुण-  
संश्रयाः स्त्रीगताः पुत्रकराः पुरुषसंश्रयाः कन्याकरा ये भावविशेषास्तेषां भावानां  
मध्ये यतो यदीयभावविशेषाणां भूयस्त्वं ततो भूयसा निर्भावविशेषयोरन्यतरभावः  
स्त्रीपुरुषकर इति ज्ञेयः । ननु ते के वैशेषिका भावा इत्यत आह—तद् यथेत्यादि ।

हेतौ । नित्या इति यावच्छरीरभाविणः करचरणादयः । अनित्याश्च न यावच्छरीरभाविणी  
दन्तादयः । एतेन अनित्यत्वभावाद् दन्तादीनां गर्भादिजायमानत्वान्न नित्यत्वम् । विकृतिरिति  
अनित्यत्वयुक्तमित्यर्थः । अथ नित्यानित्येषु मध्ये के स्त्रयादिलिङ्गं विभ्रतीत्याह—तस्येत्यादि ।  
सन्तिष्ठन्त इति यावच्छरीरं तिष्ठन्ति नित्याः सन्तीति यावत् । एतेन य एव नित्या उपस्थादयः,  
त एव स्त्रीलिङ्गतां पुंलिङ्गतां वा विभ्रति । तत्रोपस्थरूपो नित्यो भावः स्त्रीलिङ्गं शेषश्च, उपस्थ-  
लिङ्गाकाररहितञ्च रन्ध्रमात्रं नपुंसकलिङ्गं भवति । किंवा स्त्रिया यलिङ्गं स्तनादि, पुरुषस्य वा  
श्मश्रुप्रभृति, नपुंसकस्य वा स्त्रीपुंससमानाकारत्वं जातोत्तरकालभावि, तदपि य एव नित्या भावा  
उरःकपोलप्रभृतयः, त एव कालवशाद् विभ्रतीति वाक्यार्थः । उर एव हि स्तनारम्भकवीजयुक्तं  
स्त्रिया उत्तरकालं स्तनवद् भवति । एवं कपोल एव श्मश्रुवीजयुक्तः श्मश्रुवान् भवति । न  
तद्व्युक्तम् । यतः स्तनश्मश्रुप्रभृतीनां बीजं चेदस्ति शरीरे, तत् किं गर्भात् प्रभृति स्तनादि न  
जायत इति चेत् ? न, यतो बीजमहिमायम्, य उत्तरकाल एव कार्यं करोति । अथयान  
प्रतिममपि धान्यादि बीजं प्रस्तरे बाङ्कुरं जनयति । न च स्वभावमुपालम्भमर्हति । यदैवाङ्गा-  
वयवाः सन्ति, तदैव स्त्रयादिलिङ्गं विभ्रतीत्यादिपाठपक्षे तु व्यक्त एवार्थः । अथ कुमारे शुक्रादौ  
कारणे स्त्रयादिविशेषो भवतीत्याह—वैशेषिका इति । वैशेषिका विशिष्टाः परस्परव्यावृत्ता इति  
यावत् । प्रधानसंश्रया इति आत्मसंश्रयाः । गुणसंश्रया इति शुक्रशोणितगतभूतसंश्रयाः ।  
गुणशब्देन हि भूतान्युच्यन्ते । 'यतः' इति सप्तम्यां तसिल् । तेन यस्मिन् वैशेषिकभावे भूयस्त्वं

क्लैव्यं भीरुत्वमवैशारद्यं मोहोऽवस्थानमधोगुरुत्वमसंहननं  
शैथिल्यं माद्वं गर्भाशयबीजभागस्तथा युक्तानि चापराणि  
स्त्रीकराणि, अतो विपरीतानि पुरुषकराणि, उभयभागावयवानि  
नपुंसककराणि । यस्य यत्कालमेवेन्द्रियाणि सन्तिष्ठन्ते तत्-

क्लैव्यं स्त्रियाः पुरुषस्य वा मैथुने दृष्यताभावः, भीरुत्वञ्च । अवैशारद्यं मैथुनविद्या-  
विरहः । मोहो मुग्धता । अवस्थानं विश्रामो रताभ्यन्तरे । अधोगुरुत्वमधःकायाव-  
सादपूर्वकसुरतम् । असंहननं शरीरदृढताभावः । शैथिल्यमुपस्थशिथिलता । माद्वं  
मृदुभावः । गर्भाशयबीजयोर्भागो गर्भाशयस्य भागो वामभागः, बीजस्य भागः  
शोणिताधिक्यम् । तथा युक्तानि चापराणीति स्त्रीपुरुषयोः स्त्रीचेष्टिता-  
कारादीनि । अतो विपरीतानि अक्लैव्यमभीरुत्वं वशारद्यममोहोऽनवस्थानमधो-  
लघुत्वं संहतीभावः शैथिल्याभावस्तीव्रत्वं गर्भाशयस्य दक्षिणभागः शुक्राधिक्यं  
स्त्रीपुंसयोः पुंश्चेष्टिताकारादीनि च । उभयभागावयवानि कस्यचित् क्लैव्यं  
कस्यचिदक्लैव्यं कस्यचिदभीरुत्वं कस्यचिदवैशारद्यं कस्य-  
चिद्वैशारद्यं कस्यचिन्मोहः कस्यचिदमोहः कस्यचिदवस्थानं कस्यचिदनवस्थानं  
कस्यचिच्छैथिल्यं कस्यचिदशैथिल्यं कस्यचिन्माद्वं कस्यचिदमाद्वं  
गर्भाशयस्य मध्यमभागः बीजयोः शुक्रशोणितयोः समभाग इति । तथा पुरुषस्य  
स्त्रीचेष्टिताकारः स्त्रियाः पुंश्चेष्टिताकार इत्येवमादीनि ।

यस्य यत्कालमित्यादि । तृतीयमासशेषार्द्धमारभ्य चतुर्थमासस्य  
पूर्वार्द्धं यावत् यत्कालमेव यस्य गर्भस्येन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि बुद्धीन्द्रियाणि  
दैववशाद् भवति, ततो भावादन्यतरस्य स्त्रीरूपस्य पुरुषस्य वा गर्भस्य उत्पत्तिर्भवति । यदि  
स्त्रीकरा भावा क्लैव्यादयो सूयांसो भवन्ति, तदा स्त्री जायते, विपर्यये पुमानित्यर्थः । अवैशारदं  
मोहः । शैथिल्यमनिविडसंयोगता, यथा—दृढशणतन्तुविरलवापितपटस्य शैथिल्यम् माद्वन्तु  
निविडसंयोगस्यापि सहजावयवमाद्वम्, यथा—पटसूत्रे निरन्तरवापितपटस्य मृदुत्वम् ।  
क्लैव्याद्यनवस्थानपर्यन्तं प्रधानसंश्रयम्, शेषं गुणसंश्रयम् । तथा युक्तानीत्यनेन, योनिबीज-  
भागादीनि ग्राहयति । एतेन अधोगुरुत्वादयो रक्ताधिक एव भवन्तीति ज्ञेयम् । तेन “रक्तेन  
कन्यामधिकेन” इति यदुक्तम्, तदनेन समं न विरुद्धं भवति । विपरीतान्यक्लैव्यादीनीत्यर्थः ।  
उभयभागावयवा इति स्त्रीपुरुषकारका अवयवाः । नपुंसककरणीति नपुंसकनिर्देशोऽव्यक्त-  
गुणाभिप्रायेण ; तेन प्रथमं नपुंसककरणीति अव्यक्तगुणसन्देहाभिप्रायेण प्रयुक्तम्, ततः कानि  
तानीत्यपेक्षया विशेषपरिग्रहादुभयभागावयवा इति पुल्लिङ्गेन निर्देशो ज्ञेयः । सन्तिष्ठन्त इति

कालमेवास्य चेतसि वेदनानिवन्धं प्राप्नोति । तस्मात् तदा प्रभृति गर्भः स्पन्दते प्रार्थयते च जन्मान्तरानुभूतमिह यत् किञ्चित् तद् द्वैहृदय्यमाचक्षते वृद्धाः ।

मातृजञ्चास्य हृदयं मातृहृदयेनाभिसम्बद्धं रसाहारिणीभिः\* संवाहिनीभिः । तस्मात् तयोस्ताभिर्भक्तिः सम्पद्यते । तच्चैव कारणमवेक्षमाणा न द्वैहृदय्यविमानितं गर्भमिच्छन्ति कर्तुम् । विमानने ह्यस्य विनाशो दृश्यते गर्भस्य विकृतिर्वा । पायवादीनि च कर्म्मन्द्रियाणि सन्तिष्ठन्ते संस्थावन्ति भवन्ति, तत्कालमेवास्य गर्भस्य प्रानक्रिययोर्वहिः प्रव्यक्तत्वाच्चेतसि मनसि वेदनानिवन्धं सुखदुःखनिवन्धं ज्ञानं कर्म्म च भावं प्राप्नोति । एष गर्भ इति शेषः । तस्मात् इन्द्रियसंस्थानेन वेदनानिवन्धप्राप्तिस्तदा तत्कालात् प्रभृति सुखाय स्पन्दते दुःखापनोदनाय प्रार्थयते च सुखार्थं दुःखापनोदनाय, जन्मान्तरानुभूतमिह किञ्चिन्न तु सर्वमिति । तं गर्भं द्वैहृदय्यं द्वे हृदये सम्बद्धे अस्य तत् तथा मातृहृदयेन गभहृदयस्य सम्बन्धात् ।

ननु कस्माद् द्वैहृदय्यमाचक्षते वृद्धा इत्यत आह—मातृजञ्चेत्यादि । अस्य गर्भस्य यस्मान्मातृजं हृदयं तस्मान्मातृहृदयेनाभिसम्बद्धम् । तन्मातृरसहारिणीभिर्मातुराहारजरसवाहिनीभिः संवाहिनीभिर्भ्रमनीभिः, ताभिस्तयोर्मातृगर्भयोर्भक्तिर्भजनं सम्पद्यते । तच्चैव मातुराहारजरसवाहिनीभिर्भ्रमनीभिर्मातृगर्भयोर्भक्तिमेव कारणमवेक्षमाणाः पश्यन्तो भिषजो द्वैहृदय्यविमानितं अभिनिर्वर्त्तन्ते । वेदना सुखदुःखोपलब्धिः ; निवन्धं प्राप्नोतीतीन्द्रियोदयादेः समकालमेव सुखदुःखज्ञो भवतीति वाक्यार्थः । तस्मादिति सुखदुःखसम्बन्धात् । सुखोत्पादनार्थं दुःखपरिहारार्थञ्च स्पन्दते चलति, तथा प्रार्थयते च सुखहेतून् जन्मान्तरानुभूतानित्यर्थः ; तद्गर्भहृदयप्रार्थनायुक्तं मातृहृदयं द्वैहृदयम् ; वृद्धा इति ज्ञानवृद्धा आचक्षते ; द्विहृदयस्य भावो द्वैहृदयम्—मातृहृदयं गर्भहृदयेन समं हृदयद्वयं भवति । ननु गर्भहृदयेन समं हृदयद्वयं भवति ; कथं गर्भहृदयं सम्यग् भवतीत्याह—मातृजमिति । मातृकारणकर्तृवज्रम् ; रसवाहिनीभिरिति गर्भपोषणार्थीभिः मातृहृदयगर्भनाडीप्रतिवद्धाभी रसवाहिनीभिः ; एतेन यद् गर्भः प्रार्थयते, तत्प्रार्थनया रसवाहिनीभिः हृदयमागतया मातापि तावत् प्रार्थनावती भवति ; एवं मातृप्रार्थनयापि गर्भः प्रार्थनावान् भवति । तयोरिति मातृगर्भयोः ; भक्तिरिच्छा ; ताभिरिति रसवाहिनीभिः ; सम्पद्यत इति मातृहृदयाद् गर्भहृदयमित्यर्थः ।



समानयोगक्षेमा हि तदा भवति केपुचिदर्थेषु माता । तस्मात् प्रियहिताभ्यां गर्भिणीं विशेषेणोपचरन्ति कुशलाः । तस्या द्वैहृदय्यस्य च विज्ञानार्थं लिङ्गानि समासेनोपदेक्ष्यामः ॥ ८ ॥

द्वैहृदय्यप्रतिकूलाहारविहाराचरितं गर्भं कर्तुं नेच्छन्ति । कस्मात् ?—विमानने हीत्यादि । हि यस्माद्विमानने द्वैहृदयगर्भाभिलपितानाचरणेऽस्य गर्भस्य विनाशो विकृतिर्वा दृश्यते । तस्मात् तदा द्वैहृदय्यकाले माता द्वैहृदयिनी गर्भिणी गर्भेण सह समानयोगक्षेमा केपुचिदर्थेषु गर्भानुपघातकरेषु भावेषु गर्भाभिलपितानुकूलस्वानुकूलाहारविहारादियोगेन क्षेमा मङ्गला भवति । तस्मात् प्रियहिताभ्यां गर्भाभिलाषेण तदभिलपितेन हितेन च गर्भवतीं कुशला वैद्या उपचरन्ति । सुश्रुतेऽप्युक्तम्—चतुर्थे सवर्षाद्गर्भप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्ततरो भवति । गर्भहृदयप्रव्यक्तभावात् चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति । कस्मात् ? तत्स्थानत्वात् । तस्माद्गर्भश्चतुर्थे मास्यभिप्रायमिन्द्रियाथषु करोति । द्वैहृदयाश्च नारीं द्वैहृदयिनीमाचक्षते । द्वैहृदय्यविमाननात् कूब्जं कुण्ठं खञ्जं जडं वामनं विकृताक्षमनक्षं वा नारी सुतं जनयति । तस्मात् सा यद् यदिच्छेत् तत् तस्यै दापयेत् । लब्धदोहदा हि वीर्यवन्तं चिरायुपञ्च पुत्रं जनयति । भवन्ति चात्र । इन्द्रियार्थांस्तु यान् यान् सा भोक्तुमिच्छति गर्भिणी । गर्भावाध-भयात् तांस्तान् भिषगाहृत्य दापयेत् ॥ सा प्राप्तदोहदा पुत्रं जनयेत् गुणान्वितम् । अलब्धदोहदा गर्भे लभेतात्मनि वा भयम् । येषु येष्विन्द्रियार्थेषु द्वैहृदे वै विमानना । प्रजायेत सुतस्यार्त्तिस्तस्मिंस्तस्मिंस्तथेन्द्रिये ॥ राजसन्दर्शने यस्या दोहदं जायते स्त्रियाः । अर्थवन्तं महाभागं कुमारं सा प्रसूयते । दुकूलपट्टकौपेय-भूषणादिषु दोहदात् । अलङ्कारैपिणं पुत्रं ललितं सा प्रसूयते । आश्रमे संयतात्मानं धम्मशीलं प्रसूयते । देवताप्रतिमायान्तु प्रसूते पार्षदोपमम् । दर्शने व्यालजातीनां हिंसाशीलं प्रसूयते । गोधामांसाशने पुत्रं सुपुष्टुं गर्भस्य विनाशो विकृतिर्येति—महता इच्छाविघातेन विनाशः स्वल्पेन च विकृतिः, किंवा गर्भेच्छा-पूर्विका मातुरिच्छा, तद्विघातेन विनाशो गर्भस्य, सा हीच्छा विहता साक्षाद् गर्भसंगन्धितया सुकुमारतरं गर्भं वातप्रकोपाद् विनाशयति ; या तु मातुरिच्छा विहता, सा मातरि वातक्षोभं जनय-तीति समानयोगक्षेमे गर्भेऽपि मनाग् विकृतिजननाद् विकृतिं जनयति ; एतदेव दर्शयति—समान-योगक्षेमा हीत्यादि । योगः सुखहेतुयोगः ; क्षेमः प्रत्यवायपरीहारः, एतौ योगक्षेमौ मातुर्गर्भेण समानौ भवतः । केपुचिदर्थेष्विति च चनादनुल्ययोगक्षेमता च क्वचिद् भवतीति दर्शयति ; तेन नावश्यं मातुर्विकाराः क्षुदादयो गर्भे विकृतिमावहन्ति, गर्भस्य वा मातरीति ; गर्भिणीं विशेषेणेति-

उपचारसम्बोधनं ह्यस्य ज्ञाने दोषज्ञानञ्च लिङ्गतः ॐ,  
तस्मादिष्टो लिङ्गोपदेशः ; तद् यथा—आर्त्तवाददर्शनमास्यसंस्त्रवण-  
मनन्नाभिलाषश्छर्द्दिरोचकोऽस्तकामता च विशेषेण । श्रद्धा-  
प्रणयनञ्चोच्चावचेषु भावेषु गुरुगात्रत्वं चक्षुषोर्लानिरालस्यं स्तन्यं  
धारणात्मकम् । गवां मांसे च वलिर्न सर्व्वक्लेशसहं तथा । माहिष  
दोहदाच्छूरं रक्ताक्षं लोमसंयुतम् । वराहमांसात् स्वमालुं शूरं सज्जनयेत्  
सुतम् । मार्गाद्विक्रान्तजङ्घालं सदा वनचरं सुतम् । समराद्विग्रमनसं  
नित्यभीतञ्च तैत्तिरात् । अतोऽनुक्तेषु या नारी समभिध्याति दोहदम् ।  
शरीराचारशीलैः सा समानं जनयिष्यति । कम्मणा चोदितं जन्तोर्भवितव्यं  
पुनर्भवेत् । यथा तथा दैवयोगाद्दोहदं जनयेद्धृदि ॥ इति । गर्भिण्या आहार-  
विहाराद्यनुत्कर्षेण गर्भस्यानतिचिरपोषणाच्चतुर्थमासस्य पूर्व्वार्द्धकालाभि-  
प्रायेण लिखितवान् सुश्रुतः । अस्य तन्त्रस्य तु कृती गर्भिण्या आहार-  
विहाराद्यनुत्कर्षेण गर्भप्रपुष्ट्या तृतीयमासस्य शेषार्द्धकालाभिप्रायेण सर्व्वेन्द्रिय-  
सर्व्वज्ञावयवाभिनिवृत्तिं द्वैहृदय्यादिकं लिखितवानित्यतो न तन्त्रद्वयविरोधः ।  
ननु कथं गर्भिणीं प्रियहिताभ्यां भिषज उपचरेयुरित्यत आह—तस्या  
इत्यादि । तस्या द्वैहृदयिन्या गर्भिण्या द्वैहृदय्यस्य च गर्भस्य ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—नन्वनयोर्लिङ्गोपदेशेन किं स्यादित्यत आह—उपचारेत्यादि ।  
हि यस्मादस्य द्वैहृदय्यस्य गर्भस्य लिङ्गतो ज्ञाने सति उपचारसम्बोधनं द्वैहृदयिन्या  
गर्भिण्या आहारविहारादीनामुपचारस्य सम्यक् बोधः स्यात्, दोषज्ञानञ्च स्यात्,  
तस्मादुपचारस्य सम्यगसम्यग्ज्ञानहेतुत्वात् तयोर्विज्ञानार्थं लिङ्गानां समासेनोपदेश  
इष्ट इति—आर्त्तवेत्यादि । आर्त्तवाददर्शनमिति । प्रथममासावधि लिङ्गान्येतानि  
प्रायेण भवन्ति । गर्भिणीगर्भयोरुपचारार्थं तृतीयमासि लिखितवान् न तु तृतीय-  
मास्येव भवन्तीमानि नान्यमासीति । छर्द्दिरोचकतो वमनम् । विशेषेणाम्लेषु  
कामता श्रद्धेत्यर्थः । उच्चावचेषु उच्चैश्च नीचैश्च भावेषु प्रणयनं प्रणयः ।  
वचनादगर्भिण्यपि स्त्री ऋतुकाले प्रियहितोपचारणीया ; यदुक्तम्—“सहचर्य्यश्चैनां प्रियहिताभ्यां  
सततमुपचरेयुः” इत्यादि ॥ ७।८ ॥

चक्रपाणिः—उपचारसाधनं यथोचितोपचारकरणम् ; अस्येति गृहीतस्य तथा द्वैहृदयस्य च ; तत्र  
गृहीतगर्भोपचारो यथा—“शङ्किता चेत् गर्भमापन्ना क्षीरमनुपस्कृतं काले काले पिबेत्” इत्यादि ।

\* उपचारसाधनं ह्यस्याज्ञाने दोषः । ज्ञानञ्च लिङ्गतः । इति चक्रसम्मतः पाठः ।

स्तनयोः, ओष्ठयोः स्तनमण्डलयोश्च काष्णाम् अत्यर्थम् । श्वयथुः  
पादयोरोषल्लोमराज्युद्गमो योन्याश्चाटालत्वमिति गर्भे  
पर्यागते रूपाणि भवन्ति ॥ ६ ॥

सा यद् यदिच्छेत् तत्तदस्यै दद्यादन्यत्र गर्भोपघातकरेभ्यो  
भावेभ्यः । गर्भोपघातकरास्त्वमे भावाः ; तद् यथा—सर्वमति-  
गुरुष्णातीक्ष्णं दारुणाश्च चेष्टाः, इमांश्चान्यानुपदिशन्ति वृद्धाः ।  
देवतारक्षोऽनुचरपरिरक्षणार्थं न रक्तानि वासांसि विभृयात् न

चक्षुषोर्गानिः । आलस्यं निद्रार्त्तता । स्तनयोः स्तन्यं प्रकाशते । ओष्ठयोः काष्णम्  
स्तनमण्डलयोः चक्षुषयोश्च काष्णम् अत्यर्थमेव पूर्वं स्यात् । पादयोरेव श्वयथुर्नान्यत्र ।  
ईषदल्पः रोमराजीनामुद्गमः । योन्याश्चाटालत्वं विस्तृतयोनिता । गर्भे पर्यागते  
सर्वतोभावेन समागते । तेन प्रथममासि इषद्रूपेण लिङ्गान्येतानि भवन्ति ।  
द्वितीयमासे मध्यमरूपेण तृतीयमासे पूर्णरूपेण । सुश्रुतेऽपि—स्तनयोः कृष्ण-  
मुखता रोमराज्युद्गमस्तथा । अक्षिपक्ष्माणि चाप्यस्याः सम्मील्यन्ते विशेषतः ॥  
अकामतश्छद्दयति गन्धादुद्विजते शुभात् । प्रसेकः सदनश्चापि गर्भिण्या  
लिङ्गमुच्यते ॥ तदाप्रभृत्येव व्यायामं व्यायामपतर्पणमतिकर्षणं दिवास्वप्नं  
रात्रिजागरणं शोकं यानारोहणं भयमुत्कटुकासनञ्चैकान्ततः स्नेहादिक्रियां  
शोणितमोक्षणश्चाकाले, वेगविधारणञ्च न सेवेत । दोषाभिघातैर्गर्भिण्या यो  
यो भागः प्रपीड्यते । स स भागः शिशोस्तस्य गर्भस्थस्य प्रपीड्यते ॥  
इति ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—सा यद् यदिच्छेदित्यादि । सा द्विहृदयिनी गर्भवती ।  
अन्यत्रेति विना इत्यर्थः । इमे वक्ष्यमाणातिगुर्वादयः । सर्वमित्यादि ।  
इमानिति वक्ष्यमाणान् । देवतेत्यादि । रक्तवर्णवसनां हि नारी सकलजन-

द्विहृदयोपचारञ्चात्रैव वक्ष्यति ; ज्ञानमिह गर्भस्य द्विहृदयस्य च ज्ञानम् ; अस्लकामता विशेषेणेति  
च्छेदः । श्रद्धा इच्छा ; उच्चावचेप्सविति उच्चनीचेपु, भक्षणीयत्वेन कृतेषु चाकृतेषु चेत्यर्थः ; ईषत्  
पादयोः श्वयथुः ; चाटालत्वं सविवृतत्वम् ; तेन एतानि च लक्षणानि तृतीयमासयुक्तानि च  
द्विहृदयस्य च लिङ्गानि भवन्तीति ज्ञेयम् ॥ ९ ॥

चक्रपाणिः—दारुणाश्चेष्टाः व्यायादिक्राः ; देवतारक्षोऽनुचरेभ्यः परिरक्षणम् । यदित्यादि ।

मदकराणि मद्यान्यभ्यवहरेत् न यानमधिरोहेत् । न मांस-  
मश्नीयात् सर्वेन्द्रियप्रतिकूलांश्च भावान् दूरतः परिवर्जयेत् ।  
यच्चान्यदपि किञ्चित् स्त्रियो विदुः । तीव्रायान्तु खलु प्रार्थ-  
नायां काममहितमप्यस्यै हितेनोपसंहितं प्रदद्यात् प्रार्थनाविलया-  
र्थम् ॥ १० ॥

अथ चतुर्थे मासे स्थिरत्वमापद्यते गर्भः, तस्मात् तदा  
गर्भिणी गुरुगात्रत्वमापद्यते । विशेषेण पञ्चमे मासे गर्भस्य  
मनोरमा भवति देवतादिभिरपि ग्रहीतुमिष्टा स्यादिति भावः । मद्यसोत्स्या-  
पुनर्नारी गर्भिणी न मदकराणि मद्यान्यभ्यवहरेत् । यच्चान्यदपीति मैथुनादिकं  
यच्च स्त्रियो विदुः तदपि परिवर्जयेत् । ननु विघ्नप्रार्थनायां किं कर्तव्य-  
मित्यत आह—तीव्रायामित्यादि । कामं यथाभिलषितमहितमपि हितेनोप-  
संहितं मिश्रितमस्यै गर्भिण्यै दद्यात् । किमथमित्याह—प्रार्थनाविलयार्थं  
पुनःप्रार्थनानिवारणार्थम् । नन्वहिताप्रदानेन किं स्यादित्यत आह—प्रार्थने-  
त्यादि । हि यस्मात् अहितप्रार्थनायाः सन्धारणादप्राप्ता इति । इति तृतीय-  
मासीयगर्भव्याख्यानम् ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—अथ चतुर्थे इत्यादि । चतुर्थ मास चतुर्थमासस्य शेषाद्ध,  
यस्यास्त्वाहारादुत्कर्षस्तस्यास्तु गर्भः पूर्वार्द्धे वा । विशेषेणेत्यादि । विशेषेण  
यच्चान्यत् स्त्रियः गर्भकालासेन्यत्वेन विदुः, तदपि वर्जयेत् ; वदन्ति हि स्त्रियः—“न गर्भिणी  
कूपमवलोकयेत्, न नदीपारं यायात्” इत्यादि ; वृद्धस्त्रीवचनमप्यागममूलमेव, इह तु विस्तर-  
भयाद् दर्शितमिति भावः । प्रार्थना इति याज्ञा, तस्यास्तु तीव्रत्वं बलवदिच्छाजन्यमेव ; हितोपहित-  
मिति हितेन युक्तम् ; किंवा कल्पनया हितम् ; प्रार्थनाया विनयनं विस्फोटनम्, तदर्थम् ; स्फोटना य  
प्रार्थितलाभेनैवापचाति ; प्रार्थनाविनयने दोषमाह—प्रार्थनेत्यादि । प्रार्थनायाः सम्यग्धरणं  
प्रार्थनासन्धारणम् ; एतच्च स्तोत्रकर्मणापि प्रार्थनादाने सति भवति, यथोक्तविधिना वा हितदाने  
सति इच्छा मनाक् समग्रा वा खण्डिता भवति ; इच्छाविवातश्च मनःक्षोभकरभयादिकत्वाद्  
वातप्रकोपको भवति ; आपद्यमानस्येत्यनेन गर्भस्यातितरुणत्वेन मनागपि वातक्षोभासहत्वं  
दर्शयति । वैरूप्यविनाशविकल्पस्तु वातप्रकोपप्रकर्षापकर्षकृतो ज्ञेयः ॥ १० ॥

चक्रपाणिः—तृतीयमासानुपूर्व्या कथनप्रस्तावागतं गर्भस्य विशेषमभिधाय यथाक्रममागतं चतुर्थ-

\* हितोपहितं प्रदद्यात् प्रार्थनाविनयनार्थम् इति चक्रसम्मतः पाठः ।

मांसशोणितोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः, तस्माद् गर्भिणी तदा कार्यमापद्यते । विशेषेण षष्ठे मासे गर्भस्य बलवर्णोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः, तस्मात् तदा गर्भिणी बलवर्णहानिमापद्यते । विशेषेण सप्तमे मासे सहसा सर्वभावैराप्यायते गर्भः, तस्मात् तदा गर्भिणी कान्ततमा \* भवति । अष्टमे मासे गर्भश्च मातृतो गर्भतश्च माता रसहारिणीभिः संवाहिनीभिः मुहुर्मुहुरोजः परस्परत आददाति, गर्भस्य

इति विवृणोति—अधिकमन्येभ्यो मासेभ्य इति प्रथममासावध्युपचयात् । तस्माद्गर्भस्य पूर्वपूर्वमासतः पञ्चमे मासेऽधिकमांसशोणितोपचयात् तदा पञ्चमे मासे कार्यमापद्यते गर्भिणी । मनश्च प्रतिबुद्धतरं भवति पञ्चमे । इति सुश्रुतोक्तं विशेषेणेति पदेन बोध्यम् ।

एवं षष्ठे च मासे । विशेषेणेति पदेन षष्ठे बुद्धिः प्रतिबुद्धतरेति सुश्रुतोक्तं बोध्यम् । तथा सप्तमे सर्वान्नप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्ततर इति सुश्रुतोक्तं तु सर्वभावैः शरीरे यावन्तो भावा बलवर्णकान्तिबुद्धिसर्वान्नप्रत्यङ्गविभागादयस्तावद्भिर्भावैः सहसाप्यायते वद्धेते । कान्ततमा अतिशयेन मनोरमा भवति । अष्टमे मासे इति । अष्टमे मासे रसहारिणीभिः संवाहिनीभिर्धमनीभिर्गर्भश्च मातृतो मुहुर्मुहुरोजो बलहेतुं धातुविशेषमाददाति । माता च गर्भिणी च गर्भतो मुहुर्मुहुरोज आददाति इति गर्भगर्भेभ्योः परस्परत ओजोग्रहणं मुहुर्मुहुः मासानुपूर्वमाह—चतुर्थं इत्यादि । स्थिरत्वमिति निविद्वत्त्वम् । अत एव निविद्धेन गुरुतरेण गर्भेणाक्रान्ता गर्भिणी गुरुगात्रा भवतीति युक्तम् ।

अधिकमन्येभ्य इत्यनेन मासान्तरेष्वपि स्तोकक्रमेण मांसादिवृद्धिं जनयति । येन शारीरेण भावेन गर्भं उपचीयते, तेन गर्भिणी ह्रियते इति युक्तमेव । यतो गर्भमांसादिपोषणेनैव क्षीण आहाररसो न मातुर्मांसादि सम्यक् पोषयति । बलवर्णयोरुपचयो बलवर्णोपचयः । किंवा उपचयो धातुपुष्टिः । सर्वभावैरिति मांसशोणितादिभिः । सप्तमे गर्भं आप्याय्यते, पूर्वेषु तु मासेषु न सर्वैः । युगपदिति शेषः । सर्वकारैरिति सर्वमांसशोणितादिजन्यरूपैः । कान्ततमेति हीनतमा । अष्टम इत्यादि । रसवाहिनीभिरिति मातृहृदये गर्भनाड्याञ्च सम्बद्धाभी रसवाहिनीभिः । परस्परत ओज आददाते इति मातुरोजो गर्भं आदत्ते, गर्भस्य चोजो माता आदत्ते ।

सम्पूर्णत्वात्\* । तस्मात् तदा गर्भिणी मुहुर्मुहुर्मुदा युक्ता भवति  
मुहुस्मुहुश्च ग्लाना, तथा च गर्भः । तस्मात् तदा गर्भस्य जन्म  
व्यापत्तिमन्त्रव्यधिकसोजसोऽनवस्थितत्वात् । तच्चैवार्थमभि-  
समीक्ष्य षष्ठं मासमगणयमित्याचक्षते कुशलाः । तस्मिन्नेक-

रसवहनाङ्गीभिर्भवति । कस्मात् ? गर्भस्य सम्पूर्णत्वात् । तस्माद्गर्भगर्भिण्योः  
परस्परतो मुहुर्मुहुरोजोग्रहणान् मुहुर्मुहुर्मुदा युक्ता, यदा गर्भतो गर्भिणी  
रसवहनाङ्गीभिरोजो गर्भस्य गृह्णाति तदा हर्षयुक्ता भवति । गर्भश्च ग्लानो  
भवति । मुहुस्मुहुर्ग्लानो यदा गर्भो मातृतो रसवहनाङ्गीभिरोजो गृह्णाति  
तदा गर्भिणी क्षीणहर्षा भवति । तथा च गर्भः - तद्वच्च गर्भो मुदा युक्तो मुहुर्मुहु-  
र्भवति मुहुर्मुहुर्ग्लानो भवति । तस्माद् गर्भगर्भिण्योः परस्परतो मुहुर्मुहुरोजो-  
ग्रहणेन मुहुर्मुहुर्हर्षाहर्षात् सवलदुर्वलत्वाच्च तदाष्टमे मासे गर्भस्य जन्म  
अधिकं व्यापत्तिमद्भवति प्रायोऽल्पायुष्मादिदोषं भवति । कस्मात् ? ओजसो-  
ऽनवस्थितत्वात् । प्राणायतनं ह्योज उक्तम् । तच्च व्यापद्दोषमर्थमभिसमीक्ष्य  
गर्भस्याष्टममासमगणयमित्याचक्षते कुशलाः । तस्मिन्नाष्टमे मासे खल्वेक-

ओजोऽनवस्थाने हेतुमाह—गर्भस्यासम्पूर्णत्वादिति, यस्माद् गर्भोऽसम्पूर्णः, तस्मादनिष्पन्नाश्रयं  
गर्भोऽनवस्थितं भवति । मातुरोजो गर्भं गच्छतीति यदुच्यते, तद्गर्भोऽज एव मातृसम्बद्धं  
सत् मात्रोज इति व्यपदिश्यते । गर्भस्यासम्पूर्णत्वादिति हेतुः । सम्पूर्णात्वे मातृदेहतस्तस्यैजसो  
गमने अमङ्गतिः स्यात्, तथा यथा गर्भोऽजसो मातर्यैवस्थानसमये जन्म गर्भमरणकरं भवति,  
तथा मातुरोजसो गर्भोऽस्थाने सति यद् गर्भजन्म, तत्र मातुरपि मरणं स्यात् । न चतदिष्टम् ।  
येनोभयथापि गर्भस्यैवात्र मरणमुच्यते, न मातुः, 'तदा गर्भस्य जन्म व्यापत्तिमद् भवति'  
इति वचनेन । जतृकुण्डेऽपि, अष्टमेऽपि जन्म गर्भविनाशायैव न मातुर्दक्षितम् । यदुक्तम्—  
'स्त्रीगर्भावन्योन्यस्य ओजसी हरतोऽष्टमे । तस्मात् तदा सूतिका गर्भविनाशायैव' इति । अन्ये  
तु वर्णयन्ति यत्—'सत्यपि मातुरोजसो गर्भगमने जन्माष्टवशादेव गर्भस्यैव मरणाय भवति,  
न मातुः ।' सुश्रुतव्याख्यातारस्तु—'अष्टममासे नैकं तभागत्वाच्च गर्भस्य सत्यप्यौजोऽनवस्थाने  
तुल्ये गर्भस्यैव नाशो न मातुः' इति वर्णयन्ति । गर्भिणी मुहुर्मुहुर्मुदा युक्ता भवतीति  
गर्भोऽजोगात् हर्षयुक्ता भवति, ओजोविगमात् तु मुहुर्मुहुर्ग्लाना भवतीति योज्यम् । तथा  
गर्भ इति गर्भिणीवद्गर्भोऽपि मुहुर्मुहुर्मुदा युक्तो भवति, मुहुर्मुहुर्ग्लानो भवति । तस्मादिति  
पूर्वोक्तं गर्भव्यापत्तिहेतुं साक्षाद् द्रष्टे । ओजसोऽनवस्थितत्वादिति । एतच्च व्याकृतमेव । अष्टम-  
मासस्य विशेपान्तरमाह—तच्चैवेत्यादि । तच्चैवार्थमिति गर्भव्यापत्तियुक्तमर्थम् । अगणयमिति

\* असम्पूर्णत्वात् इति चक्रः ।

दिवसातिक्रान्तेऽपि नवमं मासमुपादाय प्रसवकालमित्याहुरा  
द्वादशमासात् ॐ । एतावान् प्रसवकालः, वैकारिकमतः परं कुक्षौ  
स्थानं गर्भस्य । एवमयमनयानुपूर्व्याभिनिर्वर्तते कुक्षौ ॥११॥

मात्रादीनान्तु खलु गर्भकराणां भावानां सम्पदस्तथा  
वृत्तसौष्ठवान्मातृतश्चैवोपस्नेहोपस्वेदाभ्यां कालपरिणामात्

दिवसातिक्रान्तेऽतीतैकदिने सति द्वितीयदिनमारभ्य नवममासमादाय प्रसव-  
काला आ द्वादशमासावित्याहुरिति । इह द्वादशशब्दः सम्पूर्णष्टमं गणयित्वा  
यो द्वादशो भवति तत्र विवक्षितो, न पुनरेकदिवसातिक्रमेष्टमं पूर्णं मत्वा  
तदुत्तरं चतुर्थो मासो द्वादशः । एतावान् कालः प्रसवस्य प्रकृतः । अतः परं  
गर्भस्य कुक्षौ स्थानं स्थितिर्वैकारिकमिति । सुश्रुते हुक्तम्—नवमदशमै-  
कादशद्वादशसु मासेषु प्रसूयतेऽतः परं वैकारिकमिति । एवमित्यादि । यथा  
चानुपूर्व्या निर्वर्तते कुक्षावित्यस्य व्याख्यानोपसंहारः ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—अथ यश्चास्य गर्भस्य कुक्षौ वृद्धिहेतुरित्यस्य व्याख्यानमाह—  
मात्रादीनामित्यादि । गर्भकराणां भावानां मात्रादीनां मातापित्रात्म-  
सात्म्याहाररससत्त्वानां सम्पदोऽवैगुण्यात् तथा मातृवृत्तसौष्टवाद् यथाविधि-  
वर्त्तनात् मातृतश्चैवोपस्नेहोपस्वेदाभ्यां मातृगर्भाशयस्नेहेन यः स्नेहस्तथा  
तदुष्मणा यः स्वेदस्ताभ्यां स्नेहभावितभाण्डस्थस्य वस्तुनस्तत्स्नेहोष्मभ्यामिव ।

न गणनया गर्भिण्यां प्रतिपादनीयम् । यदि हि गर्भिणी गण्यमानमष्टमं मासं गर्भजन्म व्यापत्ति-  
करं शृणुयात्, ततो भीता स्मात्, तदभयाच्च गर्भस्य वातक्षोभात् व्यापत् स्यादिति भावः ।  
तस्मिन्निति अष्टमे मासि । ‘आ दशमाद्’ इति वचनं प्रशस्ततरप्रसवकालाभिप्रायेण । सुश्रुते  
द्वादशमासपर्यन्तं सम्यक् प्रसवकालाभिधानं स्तोकदोषयोरेकादशद्वादशमासयोरेवालपदोप-  
त्वेनादोषपक्ष एव निक्षेपाद् बोद्धव्यम् । दत्तमुत्तरमुपसंहरति—एवमित्यादि ॥ ११ ॥

चक्रपाणिः—‘यश्चास्य वृद्धिहेतुः’ इति प्रशस्योत्तरं—मात्रादीनान्तु इत्यादि । ‘आदि’ग्रहणात्  
पित्रात्मसात्म्यसत्त्वानि “मातृजश्चायं पितृजश्चायम्” इत्यादिग्रन्थोक्तानि गृह्यन्ते । वृत्तस्य  
मातुराचाररूपस्य सौष्टवं श्रेष्ठं वृत्तसौष्टवम् । ‘मातृतः’ इतिपदं वृत्तसौष्टवेन तथा उपस्नेहोप-  
स्वेदाभ्याञ्च सम्बध्यते । रससात्म्यसौष्टवन्तु मात्रादिसम्पदा लब्धमेव । उपस्नेहो मातृनिष्पन्न-  
सम्बन्धः । उपस्वेदः शरीरस्योष्मणा परं गर्भस्य स्वेदनम् । उपस्वेदश्च गर्भवृद्धिकरो भवत्येव ।

स्वभावसंसिद्धेश्च कुक्षौ वृद्धिं प्राप्नोति । मात्रादीनामेव तु खलु-  
गर्भकराणां भावानां व्यापत्तिनिमित्तमस्याजन्म भवति ॥ १२ ॥

ये त्वस्य कुक्षौ वृद्धिहेतुसमाख्याता भावास्तेषां विपर्ययादुदरे  
विनाशमापद्यतेऽथान्यचिरजातः स्यात् । यतस्तु कार्त्तुस्येन  
अविनश्यन् विकृतिमापद्यते तदनुव्याख्यास्यामः । यदा स्त्रिया  
दोषप्रकोपणान्यासेवमानाया दोषाः प्रकुपिताः शरीरमुपसर्पन्तः  
शोणितगर्भाशयोपघातायोपपद्यन्ते, न च कार्त्तुस्येन शोणित-  
एवं कालपरिणामात् कालेन परिपाकात् । स्वभावसंसिद्धेश्च । तदा तदा  
वृद्धिस्वभावसिद्धेः गर्भः कुक्षौ वृद्धिं प्राप्नोति इति यच्चास्य वृद्धिहेतुरित्यस्य  
व्याख्यानम् । अथ यतश्चास्याजन्म भवति तद् व्याख्यायते । मात्रादीनामेव  
क्षित्यादि । मातापित्रात्मसात्प्राहाररससत्त्वानां गर्भकराणां भावानां  
व्यापत्तिनिमित्तं दोषनिमित्तमस्य गर्भस्याजन्म न जन्म भवति ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—अथ यतश्च जायमानः कुक्षावित्यादिना पूर्वप्रतिज्ञातं  
स्मरन्नाह—ये त्वस्येत्यादि । तद् यथा—यदेत्यादि । स्त्रिया वातादिदोष-  
प्रकोपणान्यासेवमानायाः प्रकुपिता दोषाः शरीरमुपसर्पन्तः शोणिताशय-  
गर्भाशयोरुपघातायोपपद्यन्ते तदा जायमानो गर्भ उदरे विनाशं प्राप्नोति,  
अथवा स गर्भो चिरकालाज्जायते । इति । यतस्त्रित्यादि । तत्र दोषा  
यथा भण्डजानां पक्षतेरुपस्वेदनं वृद्धिकरं दृष्टम् । कालपरिणामादिति यथा यथा कालप्रकर्षः,  
तथा तथा वर्द्धते गर्भः । वृद्धिहेत्वन्तरमाह—स्वभावसंसिद्धेइचेति, स्वभावेनैव कर्मजन्मेन गर्भो  
भवति वर्द्धिष्णुरित्यर्थः । कर्मणा हि भोगलक्षणशरीरनिर्व्वर्त्तकेनारभ्यमाणं गर्भशरीरं वर्द्धिष्णु-  
स्वभावमेवारब्धम्, तेन वर्द्धत एव ।

“कुतश्चास्याजन्म भवति” इत्यस्योत्तरं—मात्रेत्यादि । व्यापत्तिनिमित्तमिति व्यापत्तिकारणम्,  
तत्र मातुर्व्यापच्छोणितगर्भाशयादिदृष्टिः, पितुर्व्यापच्छुक्रदृष्टिरित्याद्यनुसरणीयम् ॥ १२ ॥

चक्रपाणिः—“यतश्च जायमानः” इत्यादिप्रश्नस्योत्तरम्—ये त्वस्येत्यादि । वृद्धिहेतुसमाख्याता  
भावाः, “मात्रादीनान्तु खलु गर्भकराणां भावानां सम्पदः” इत्यादिग्रन्थोक्ताः । अथवाप्यचिरजात  
इति यदा मात्रादीनां सर्वथा दोषवरचे विपर्ययोऽपि भवति, तदा विनाशमापद्यते गर्भः । यदा  
तेषां दोषवत्तायामसम्यग्विपर्ययो भवति, तदा अचिरजातो व्यापद्यत इति ज्ञेयम् ।

अवशिष्टस्य प्रश्नस्योत्तरं दर्शयितुमाह—यतस्त्रित्यादि । अविनश्यन्नित्यत्र विनाशेन विकृतिः  
अभिप्रेता, विकृतावपि ‘विनाश’शब्दो दृष्टः । यथा—असच्छीलत्वेन विकृते पुरुषे ‘विनष्टोऽयम्’



गर्भाशयौ दूषयन्ति, तदेयं गर्भं लभते, तदा गर्भस्य तस्य मातृजानामवयवानामन्यतमोऽवयवो विकृतिमेकोऽनेकोऽथवोपपद्यते । यस्य यस्य ह्यवयवस्य बीजभागे दोषाः ॥ प्रकोपमापद्यन्ते तं तमवयवं विकृतिराविशति । यदा ह्यस्याः शोणितगर्भाशय-बीजभागः प्रदोषमापद्यते तदेयं बन्ध्यां जनयति । यदा पुनरस्याः शोणितगर्भाशयबीजभागावयवः प्रदोषमापद्यते यदा न कार्त्स्न्येन शोणितशयगर्भाशयौ दूषयन्ति तदेयं स्त्री गर्भं लभते, किन्तु तस्य गर्भस्य मातृजावयवा विकृता भवन्ति । तत्र दोषा यद्यवयवारम्भक-बीजभागं दूषयन्ति स स चावयवो विकृतो भवति । यदा पुनरस्याः स्त्रियाः शोणितगर्भाशयबीजभागः प्रदुष्टो भवति तदा बन्ध्यां कन्याभिर्यं जनयति । यदा पुनरस्याः स्त्रियाः शोणितगर्भाशयबीजभागैकदेशः प्रदुष्टो भवति तदेयं इति व्यपदेशः । एवञ्च सत्येकदेशेनापि विकृतौ 'विनाश'शब्ददर्शने 'कार्त्स्न्येन' इति विशेषणं युक्तं भवति ।

दोषप्रकोपणेनैव दोषप्रकोपणसेवायां लब्धायां पुनः 'दोषप्रकोपणोक्तान्यासेवमानायाः' इति पदं दोषाणां स्वहेतुसेवया न बलवन्तं प्रकोपं दर्शयितुम् । परहेतुसेवयापि हि स्तोकाग्रया अनुबन्धरूपो दोषकोपो भवति । यथा—अगलेन पित्तं जन्यमानं श्लेष्मोपगतं जन्यते । 'न तु कार्त्स्न्येन दूषयन्ति' इति वचनेन, कार्त्स्न्येन दुष्टया गर्भजन्मैव न भवतीति दर्शयति । मातृजानामिति त्वग्लोहितादीनाम् । अन्यतम इति जातावेकवचनम् । तत्रैकोऽप्यवयवोऽन्यतमः, तथा अनेकेऽवयवाः 'अन्यतम'शब्देन प्रोक्ताः । अत एवैकोऽथवानेक इत्यन्यतमविवरणमुपपन्नं भवति । अन्यथा तु 'अन्यतम'पदेन एकस्यैवावयवस्य गृहीतत्वात् 'अनेक' इति करणमसङ्गतं स्यात् । कुतः पुनरेकस्यानेकस्य वा विकृतिर्भवतीत्याह—यस्येत्यादि । बीज इति कृत्स्न एवारम्भके । बीजभागे वेत्यवयवबीजस्यैकदेशे । एतां विकृतिमेव शृङ्गाग्रहिक्तया वक्तुमाह—यदेत्यादि । शोणित इत्यात्तवे । गर्भाशयजनको बीजभागो गर्भाशयबीजभागः, शोणितगतो गर्भाशयबीजभागो शोणितगर्भाशयबीजभागः । किंवा गर्भाशयस्य तथा बीजभागस्य आर्त्तवरूपस्य जनकः । गर्भाशयात्तवे च मातृजावयवमध्ये पतिते शोणितजन्ये एव । तेन आर्त्तवेतरबीजभागस्य दुष्टिरुपपन्ना । आर्त्तवञ्च यद्यपि द्वादशवर्षाद्बुद्धौ व्यज्यते, तथापि आर्त्तवोत्पत्तिर्गर्भकाले एव भवति । येन सतामार्त्तवदन्त-श्मश्रुप्रभृतीनां काले व्यक्तिर्भवति, तेन आर्त्तवारम्भकस्यापि बीजस्य गर्भकाले प्रदोष उपपन्नः । प्रदोष इत्यत्र 'प्र'शब्देन दुष्टिप्रकर्षं प्रकृष्टबन्ध्यतारूपकार्यजनकं दर्शयति । गर्भाशयस्य तथा आर्त्तवस्य चोपघातेन स्त्रिया बन्ध्यत्वं व्यक्तमेव । गर्भाशयबीजभागावयव इत्यत्रापि पूर्ववद

\* बीजे बीजभागे वा दोषः इति चक्रष्टतः पाठः ।

तदा पूतिप्रजां जनयति । यदा त्वस्याः शोणित-<sup>\*</sup>गर्भाशय-  
बीजभागावयवः स्त्रीकराणाञ्च बीजभागानामेकदेशः प्रदोष-  
सापद्यते, तदा स्त्राकृतिभूयिष्ठामस्त्रियं वार्त्तां † नाम  
जनयति तां स्त्रीव्यापदमाचक्षते । एवमेव पुरुषस्य बीजदोषे  
पितृजावयवविकृतिं विद्यात् । यदा शरीरे बीजभागः प्रदोष-  
सापद्यते, तदा वन्ध्यं जनयति । यदा ह्यस्य बीजे बीजभागावयवः  
प्रदोषसापद्यते तदा पूतिप्रजां जनयति । यदा त्वस्य बीजे  
बीजभागावयवः पुरुषकराणाञ्च बीजभागानामेकदेशः प्रदोष-  
सापद्यते, तदा पुरुषाकृतिभूयिष्ठमपुरुषं तृणपूलिकं ‡ नाम  
पूतिप्रजां दुर्गन्धिप्रजां जनयति । यदा पुनरस्याः स्त्रियाः शोणितगर्भाशययोः  
बीजभागैकदेशः स्त्रीकराणामार्त्तवाधिकशुक्रादीनामेकदेशश्च प्रदुष्टो भवति तदा  
स्त्राकृतिभूयिष्ठामस्त्रियं नपुंसकरूपां वार्त्तां † नाम जनयति । तां सर्वान् स्त्री-  
व्यापदमाचक्षते वैद्या इति । अथ पुरुषव्यापदमाह—एवमित्यादि । अनेन  
प्रकारेण पुरुषस्य दोषप्रकोपणान्यासेवमानस्य प्रकुपिता दोषाः शरीरे बीजे बीज-  
भागं पुरुषकरं शुक्राधिकादिकं प्रदूषयन्ति तदा वन्ध्यपुत्रं जनयति । यदा  
पुनरस्य बीजे बीजभागः प्रदुष्टो भवति तदा पूतिप्रजं पुत्रं जनयति । यदा  
च पुनरस्य पुंसो बीजे बीजभागावयवः पुरुषकराणाञ्च शरीरबीजभागानामेक-  
देशः शुक्रादिः प्रदुष्टो भवति तदा पुरुषाकृतिभूयिष्ठमपुरुषं नपुंसकं तृण-  
पूलिकं नाम जनयति । तां पुरुषव्यापदमाचक्षते । इति ।

व्याख्येयम् । 'अवयव'शब्देन तु गर्भाशयस्य चार्त्तवस्य चैकदेश इहोच्यते । पूतिप्रजामिति त्रिय-  
भागापत्यम् । अन्ये तु क्लृप्ताङ्गप्रत्यङ्गां पूतिमाहुः । स्त्रीकराणां शरीरबीजभागानामिति स्त्री-  
स्यङ्गकस्ततोपस्थलोमराज्यादिजनकबीजभागानाम् । अस्त्रियमित्यसम्पूर्णलक्षणाम् । रान्तां नामेति  
'रान्ता'संज्ञा शास्त्रसमयकृता । स्त्रीनिमित्तान्तवदोषकृतव्यापत् स्त्रीव्यापत् । एवं तां पुरुष-  
व्यापदमाचक्षते इत्यत्रापि पुरुषव्यापद् व्याख्येया ।

बीज इति शुक्रे । शुक्ररूपबीजजनको भागो बीजभागः । इह वन्ध्यमित्यनेन पुरुषवन्ध्यं ब्रूते,  
इह तु पूतिप्रजाव्याख्या पूर्ववत् । अपुरुषमिति असमस्तपुरुषलक्षणयुक्तम् । 'तृणपुत्रिक'संज्ञापि  
शास्त्रसमयसिद्धैव । रान्तातृणपुत्रिकयोर्व्यवायेच्छा परं भवति, न तु व्यवायसामर्थ्यमिति ध्रुवते ।

\* शोणिते इति चकचृतः पाठः ।

† रान्तामिति चक्रः ।

‡ तृणपुत्रिकमिति वा पाठः ।

जनयति तां पुरुषव्यापदमाचक्षते । एतेन सात्मजानां रसजानां  
सत्त्वजानांश्चावयवानां विकृतिरपि व्याख्याता भवति । निर्विकारः  
परस्वात्मा सर्वभूतानां निर्विशेषः सत्त्वशरीरयोस्तु विशेषात्  
विशेषोपलब्धिः ॥ १३ ॥

एतेनेत्यादि । एतदनुसारेण यस्या गर्भवत्याः सात्म्यमाहाररसं दोष-  
प्रकोपणान्यासेवमानायाः प्रकुपिता दोषा दूषयन्ति तदा सात्म्यरसाहाररस-  
जानामारोग्यादीनामवयवानां शरीराभिनिवृत्त्यभिवृद्ध्यादीनांश्चावयवानां  
विकृतिर्भवति । यस्याः सत्त्वं दूषयन्ति यदि तदा सत्त्वजानांश्चावयवानां  
भक्तिशीलशौचादीनां विकृतिर्भवतीति व्याख्यातं भवति । तर्हि चात्मजानांश्च  
अवयवानां क्रिमात्प्रदोषाद् विकृतिर्भवतीत्यत आह—निर्विकार इत्यादि ।  
शारीरमानसैर्दोषैरात्मनो न दुष्टिरस्ति । कस्मात् ? यत परस्वात्मा चेतना-  
धातुरव्यक्तं नाम निर्विकारः । सर्वभूतानां निर्विशेषः । समसत्त्वरज-  
स्तमोऽक्षणां हीनाधिकावस्थारहितः सूक्ष्मदेहसर्गानन्तरं नारायणेन हिंसा-  
हिंसादिभावैर्योगे कृते विशेषेऽपि विकाराभावान्निर्विशेषत्वं स्थूलपुरुषेषु  
सर्वेष्व्वात्मन इति स्थूलपुरुषावस्थायां सत्त्वशरीरविशेषयोगात् प्रतिजन-  
मात्मनो विशेषोपलब्धिरिति विशेष्यमात्रं न तु विकारः स्यादिति ॥ १३ ॥

एवं मातापितृजावयवविकृतिं व्याख्याय सात्म्यरससत्त्वजावयवविकृतिव्यपदेशार्थमाह—  
एतेनेत्यादि । सात्म्यविभ्रमात् तु सात्म्यजानामारोग्यानालस्यादीनामन्यतमेन हीयते । एवं रस-  
सत्त्वयोरप्युन्नेयम् ।

आत्मजोऽप्ययं गर्भ उक्तः, तत् कथमिह तद्विकृत्या विकृतिर्गर्भस्य नोच्यत इत्याह—  
निर्विकार इत्यादि । पर इत्यनेन मनःशरीरादिसमुदायादात्मानं व्यवच्छिनत्ति । सर्व-  
भूतानां निर्विशेष इति, सर्वेषु भूतेषु वर्तमानोऽप्ययं परमात्मा तुल्य एव । यस्तु तत्र सुख-  
दुःखादिविशेष उपलभ्यते, स शरीरविशेषस्य तथा मनोविशेषस्य च सुखदुःखादिविशेषकारणस्य  
विशेषादुपलभ्यते । एतदेव 'शरीरसत्त्वयोस्तु' इत्यादिनोक्तम् । सुखादयस्तु न परमात्मविकाराः,  
किन्तु धर्मा एवेति दर्शितमेव । यानि चात्मजत्वेन गर्भे "तासु तासु योनिषु उत्पत्तिः" इत्यादीनां  
ग्रन्थेनात्मजानि दर्शितानि, तान्यपि परमात्मविकारा न भवन्ति, किन्तु सत्त्वरजस्तमःप्रचलत्तारूप-  
विकारजनोऽन्यधर्माधर्मजन्यान्येव । तेन सूक्ष्मचिन्तायामात्मजान्यपि यान्युक्तानि, तानि  
सत्त्वजान्येव । ततश्चेहात्मजावयवविकारोऽपि सत्त्वजावयवविकार एव बोद्धव्य इति भावः ॥ १३ ॥

तत्र त्रयस्तु शरीरदोषा वातपित्तश्लेष्माणस्तै शरीरं  
दूषयन्ति । द्वौ पुनः सत्त्वदोषौ रजस्तमश्च, तौ सत्त्वं दूषयतः ।  
ताभ्यां सत्त्वशरीराभ्यां दुष्टाभ्यां विकृतिरुपजायते, नोपजायते  
चादुष्टाभ्याम् ॥ १४ ॥

तत्र शरीरं योनिविशेषाच्चतुर्विधमुक्तमग्रे । त्रिविधं खलु  
सत्त्वं, शुद्धं राजसं तामसमिति । तत्र शुद्धमदोषमाख्यातं  
कल्याणांशत्वात् । राजसं सदोषमाख्यातं रोषांशत्वात् । तथा  
तामसमपि सदोषमाख्यातं मोहांशत्वात् ॥ १५ ॥

तेषां त्रयाणामपि सत्त्वानामेकैकस्य भेदाग्रमपरिसंख्येयं

गङ्गाधरः—नन्विह के दोषा इत्यत आह—तत्रेत्यादि । सत्त्वदोषौ मनो-  
दोषौ रजश्च तमश्चेति द्वौ । ताभ्यां शरीरदोषमानसदोषाभ्यां दुष्टाभ्यां शरीर-  
सत्त्वाभ्यां गर्भस्य विकृतिरुपजायते ताभ्यामेवादुष्टाभ्यां गर्भस्य विकृतिर्नोप-  
जायते ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—तद् विवृणोति—तत्रेत्यादि । योनिविशेषाच्चतुर्विधं शरीरं  
जरायुजमण्डजं स्वेदजमुद्भिज्जमुक्तमग्रे । त्रिविधं खलु सत्त्वं मनः । शुद्धं  
केवलसात्त्विकं राजसं रजोबहुलं तामसं तमोबहुलमिति । तत्र शुद्धं केवल-  
सत्त्वगुणं मनोऽदोषं निर्दोषमाख्यातमिति कल्याणांशत्वाच्चतुर्भसत्त्वांशत्वात् ।  
राजसं सदोषं मनः रोषांशत्वात्, रोपो हि रजोमूलः । तामसश्च मनः सदोषं  
मोहांशत्वात्, तमो हि मोहात्मकमिति ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—तेषामित्यादि । तेषां त्रयाणां सत्त्वानामिति मनसापेकैकस्य

चक्रपाणिः—‘शरीरसत्त्वयोस्तु’ इत्यादिना शरीरमनसौ दुःखरूपविकारेऽपि कारणमुक्ते । तत्रैव  
त्रयैर्दोषैः शरीरं मनश्च याभ्यां दोषाभ्यां युक्तं दुःखकारणं भवति, तानाह—तत्र त्रय इत्यादि ।  
विकृतिरुपजायत इति शरीरमानसरोगरूपं जायते ॥ १४ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति ‘शरीरसत्त्वयोस्तु विशेषाद्’ इत्यनेन दर्शितान् शरीरसत्त्वविशेषानेवाह—  
तत्रेत्यादि । चतुर्विधमिति जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजम् । ‘अग्रे’ इति खुड्धिकायाम् ।  
कल्याणांशत्वादिति शुभरूपांशत्वात् । मनो हि कल्याणभाग-रोषभाग-मोहभागैस्त्रिभागम् ।

तरतमयोगाच्छरीरयोनिविशेषेभ्यश्चान्योन्यानुविधानत्वाच्च । शरीरं  
हि \* सत्त्वमनुविधीयते, सत्त्वश्च शरीरम् । तस्मात् कतिचित्  
सत्त्वभेदाननूकाभिनिर्देशेन निदर्शनार्थमेवानुव्याख्यास्यामः ॥१६

भेदाग्रं भेदस्य प्रवरमपरिसङ्ख्यम् । कस्मात् ? तरतमयोगात् । सत्त्वरजस्तमसां  
द्वयोद्वयोरेकस्योत्कर्षयोगात् त्रयाणाञ्चैकस्योत्कर्षयोगाच्च । उत्कर्षो हंश  
एवाणुद्वयणुकादिभेदादसङ्ख्यः । न केवलं सत्त्वादितरतम्यात्, शरीरयोनि-  
विशेषेभ्यश्चेति । शरीरविशेषाणां योनिविशेषेभ्यः । योनिः शरीराणां  
जरादयः । तद्विशेषाः प्रत्येकभेदादसङ्ख्यः । कुतः शरीरयोनिविशेषेभ्यः  
सत्त्वविशेष इत्यत आह—अन्योन्यानुविधानाच्चेति । शरीरसत्त्वयोरेकत्र  
सहजातत्वात् परस्परमनुरूपेण विधानात् । कथमित्यत आह—शरीरं  
हीत्यादि । हि यस्मात् । जायमाने गर्भे निर्माणकर्त्रा शरीरं सत्त्वमनु  
विधीयते सत्त्वसदृशं शरीरं निर्मीयते । सत्त्वश्च शरीरमनु विधीयते योनि-  
विशेषे जायमानं शरीरमनु सादृश्येन सत्त्वं निर्मीयते । तस्मात् सत्त्वभेदान्  
कतिचिदनूकाभिनिर्देशेन सादृश्याभिनिर्देशेन निदर्शनार्थमनुव्याख्यास्यामो  
न तु कृत्स्नान् सत्त्वभेदान् । कृत्स्नसत्त्वभेदस्यानूकाभिनिर्देशेन निदर्शनकरणा-  
शक्यत्वात् । सत्त्वभेदनिर्देशेनैव शरीरभेदस्यापि निदर्शनसिद्धेः पृथङ्निर्देशनं  
करिष्यामः । सत्त्वशरीरयोरन्योन्यानुविधानात् ॥ १६ ॥

तत्र रोपांशतमोऽंशौ सदोषौ अधर्मरूपतया । भेदाग्रमिति भेदप्रमाणम् । तरतमयोगादिति  
शुचितरशुचितमनोभेदयोगात् । शरीरविशेषाः बालयुवशरीरादिविशेषाः । योनिविशेषास्तु  
मनुष्यपश्यादिजातिविशेषाः । किंवा शरीरस्य नरपश्यादिजातिविशेषाः शरीरयोनि-  
विशेषाः, तेभ्यः । अथ शरीरभेदाद् वा कथं मनोभेदो भवतीत्याह—अन्योन्यानुविधानाच्च ।  
एतदेव विभजते—शरीरमपीत्यादि । सत्त्वानुरूपं शरीरं भवति, यदि शुद्धसत्त्वं भवात्, तदा  
देवादिशरीरं भवति इत्यादि, तथा शरीरानुरूपञ्च सत्त्वं भवति । यथा पशुशरीरे तामसम्,  
मनुष्यशरीरे राजसम्, देवशरीरे सात्त्विकमिति ज्ञेयम् । किंवा अन्योन्यानुविधानादिति सत्त्व-  
रजस्तमसां परस्परानुविधानादित्यर्थः । अस्मिन् पक्षे शरीरं ह्यपि 'सत्त्वमनु विधीयते' इत्यादिना  
व्यवहितमपि शरीरानुविधानं मनसो बुबोधत्वात् व्याख्येयम् । सत्त्वभेदानिति मनोभेदान् ।  
अनूकाभिनिर्देशेन सादृश्याभिनिर्देशेन ॥ १५॥१६ ॥

तद् यथा — शुचिं सत्याभिसन्धिं जितात्मानं संविभागिनं ज्ञान-  
विज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तिसम्पन्नं स्मृतिमन्तं कामक्रोधलोभ-  
मोहेर्ष्याहर्षापेतं समं सर्व्वभूतेषु ब्राह्मणं विद्यात् । इज्याध्ययन-  
व्रतब्रह्मचर्य्यपरमतिथिव्रतमुपशान्तमदमानरागद्वेषलोभमोह-रोषं  
प्रतिभावचनविज्ञानोपधारणशक्तिसम्पन्नमार्पं विद्यात् । ऐश्वर्य्य-  
वन्तमादेयवाक्यं यज्वानं शूरमोजस्विनं तेजसोपेतमक्लिष्टकर्म्मणं  
दीर्घदर्शिनमर्थधर्मकामाभिरतमेन्द्रं विद्यात् । लेखास्थवृत्तं

गङ्गाधरः—तद् यथेति । प्राधान्यादुत्कर्षाच्च प्रथमं शुद्धसत्त्वभेदानाह—  
शुचिमित्यादि । अभिसन्धिरनुसन्धानम् । संविभागिनं यत् कार्य्यं यदकार्य्यं  
तद्विभागकरणबुद्धिशीलम् । कामाद्यपेतम् । सर्व्वभूतेषु सममिति ब्राह्मणं  
ब्रह्मसत्त्वं विद्यात् । एतेन ब्राह्मणं शरीरञ्च व्याख्यातम् । यो हि ब्राह्मणसत्त्वः स  
एव ब्राह्मणकायः । उक्तं हि सुश्रुते । “शौचमास्तिक्यमभ्यासो वेदेषु गुरुपूजनम् ।  
प्रियतातिथ्यमिज्या च ब्रह्मकायस्य लक्षणम्” इति । एतेन ब्राह्मणसत्त्वं  
व्याख्यातं परस्परानुविधानात् ।

इज्येतादि । इज्या यजनम् । उपशान्ता मदादयो यस्य तं प्रतिभादिसम्प-  
न्नम् । तत्र प्रतिभा श्रुतमात्रबोधः । आर्पं सत्त्वं विद्यात् । एतेनार्पकायो  
व्याख्यातः । तथा च सुश्रुतः । “जपव्रतब्रह्मचर्य्य-होमाध्ययनसेविनम् । ज्ञान-  
विज्ञानसम्पन्नमृपिसत्त्वं नरं विदुः ॥”

ऐश्वर्य्यवन्तमित्यादि । आदेयवाक्यं ब्राह्मणवाक्यवादिनम् । शूरं विक्रम-  
वन्तम् । ओजस्विनं बलवन्तम् । तेजसोपेतं दीप्तिमन्तम् । अक्लिष्टकर्म्मणम्  
अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशास्तैर्व्वर्ज्जितं कर्म्म यस्य तं तथा ।  
ऐन्द्रमिन्द्रसत्त्वं नरं विद्यादिति । एतेन चैन्द्रकायः पुरुषो व्याख्यातः ।  
सुश्रुते चोक्तः । “माहात्म्यं शौर्य्यमाज्ञा च सततं शास्त्रबुद्धिता । भृत्यानां  
भरणञ्चापि माहेन्द्रं कायलक्षणम् ॥” इति । एतेन माहेन्द्रसत्त्वो व्याख्यातः ।

लेखास्थवृत्तमित्यादि । लेखास्थवृत्तं कर्त्तव्याकर्त्तव्यव्यवस्थावृत्तम् ।

चक्रपाणिः—संविभागिनमिति सम्पत्फलविभजनशीलम् । अतिथौ यथोचितसपर्यादिकयुक्तं  
व्रतमाचरतीति अतिथिव्रतः । लेखा कर्त्तव्याकर्त्तव्यमर्यादा, तत्र स्थितं वृत्तं यस्य स लेखास्थवृत्तः

प्राप्तकारिणमसंहाय्यमुत्थानवन्तं स्मृतिमन्तमश्वर्यालम्बितं \*  
 व्यपगतरागेष्याद्वेषमोहं याम्यं विद्यात् । शूरं धीरं शुचिमशुचि-  
 द्वेषिणं यज्वानमम्भोविहाररतिमक्लिष्टकर्ममाणं स्थानकोपप्रसादं  
 वारुणं विद्यात् । स्थानमानोपभोगं परिवारसम्पन्नं सुखविहारं  
 धर्मार्थकामनित्यं शुचिं व्यक्तकोपप्रसादं कौबेरं विद्यात् ।  
 प्रियनृत्यगीतवादित्रोल्लापकं श्लोकाख्यायिकेतिहासपुराणेषु  
 कुशलं गन्धमाल्यानुलेपनवसनस्त्रीविहारकामनित्यमनसूयकं  
 गान्धर्वं विद्यात् । इत्येवं शुद्धसत्त्वस्य सप्तविधं भेदांशं  
 असंहाय्यमसञ्चयिनम् । उत्थानवन्तं सम्यक् समर्थम् । याम्यं यमसत्त्वं नरं  
 विद्यादिति । एतेन याम्यकायो व्याख्यातः । सुश्रुते च । “प्राप्तकारी दृढोत्थानो  
 निभयः स्मृतिमान् शुचिः । रागमोहभयद्वेषैर्वर्जितो याम्यसत्त्ववान् ॥” इति ।  
 शूरमित्यादि । अम्भोविहाररतिं जलविहारे रतिर्यस्य तम् । अक्लिष्ट-  
 कर्ममाणं पूर्वं व्याख्यातम् । स्थानकोपप्रसादं यत्र कोपः कर्तव्यो यत्र च  
 प्रसादः कर्तव्यस्तत्र तत्र स्थाने कोपप्रसादौ यस्य तम् । वारुणं वरुणसत्त्वं  
 विद्यादिति । एतेन वरुणकायश्च व्याख्यातः । सुश्रुतेऽप्युक्तः । “शीतसेवा  
 सहिष्णुत्वं पैङ्गव्यं हरिकेशता । प्रियवादित्वमित्येतद् वारुणं कायलक्षणम् ॥”  
 इति । एतेन वरुणसत्त्वो व्याख्यातः ।

स्थानमानेत्यादि । यत्र मानः कर्तव्यो यत्र उपभोगः कर्तव्यस्तत्र  
 तत्र मानोपभोगौ यस्य तम् । व्यक्तकोपप्रसादं न तु शूद्रकोपप्रसादम् ।  
 कौबेरं कुबेरसत्त्वं नरं विद्यादिति । एतेन कौबेरकायः पुरुषो व्याख्यातः ।  
 सुश्रुते हुतम् । “मध्यस्थता सहिष्णुत्वमर्थस्यागमसञ्चयौ । महाप्रसवशक्तित्वं  
 कौबेरं कायलक्षणम् ॥” इति । एतेन कौबेरसत्त्वश्च व्याख्यातः ।

प्रियनृत्येत्यादि । प्रिया नृत्यगीतवादित्रोल्लापा यस्य तम् । श्लोकादिषु  
 कुशलं दक्षम् । गन्धादिषु विहारकामो नित्यं यस्य तम् । गान्धर्वं गन्धर्व-  
 तम्, अलङ्कितकर्तव्याकर्तव्यमित्यर्थः । असम्प्रहाय्यमित्यशक्यवारणम् । ऐश्वर्यं लभत इति ऐश्वर्य-  
 लम्बी । स्थाने उचिते कोपः प्रसादश्च यस्य स स्थानकोपप्रसादः । सुखविहारमिति सुखक्रीडम् ।  
 उल्लापः स्तोत्रम् । विहारः क्रीडा, किंवा स्त्रीभिः समं विहरणं स्त्रीविहारः । गान्धर्वमिति

विद्यात् कल्याणांशत्वात् । तत्संयोगात् तु ब्राह्मणमत्यन्तशुद्धं  
व्यवस्येत् ॥ १७ ॥

शूरं चण्डमसूयकमैश्वर्यवन्तमौदरिकं ॐ रौद्रमननुक्रोशक-  
मात्मपूजकमासुरं विद्यात् । अमर्षिणमनुबन्धकोपं छिद्र-  
प्रहारिणं क्रूरमाहारातिमात्ररुचिमासिपप्रियतमं स्वप्नायास-  
बहुलमीर्ष्युं राजसं विद्यात् । महालसं स्त्रणं स्त्रीरहस्काममशुचिं

सत्त्व नरं विद्यात् । एतेन गान्धर्वकायो व्याख्यातः । सुश्रुते ह्युक्तम्—“गन्धमाल्य-  
प्रियत्नञ्च नृत्यवादित्रकामिता । विहारशीलता चैव गान्धर्वं कायलक्षणम् ॥”  
इति । एतेन गन्धर्वसत्त्वो व्याख्यातः । इत्येवमित्यादिना शुद्धसत्त्वस्य सप्तविधं  
भेदांशं विद्यात् । तत्र ब्राह्मणं सत्त्वमत्यन्तं शुद्धं विद्यात् कल्याणांशत्वात् ॥ १७

गङ्गाधरः—अथ राजससत्त्वानाह—सुश्रुते च । सप्तैते सात्त्विकाः कायाः  
राजसांस्तु निबोध मे इति । शूरमित्यादि । चण्डं कोपस्वभावम् । औदरिकं  
वहाशिनम् । रौद्रमुग्रम् । अननुक्रोशं निदंयम् । आत्मपूजकं निजस्याहारादिभि-  
रुपचारैर्भजनशीलम् । आसुरमासुरसत्त्वं विद्यादिति । एतेनासुरकायः पुरुषो  
व्याख्यातः । सुश्रुते चोक्तम् । “ऐश्वर्यवन्तं रौद्रञ्च शूरं चण्डमसूयकम् ।  
एकाशिनञ्चौदरिकमासुरं सत्त्वमीदृशम् ॥” इति । अमर्षिणमित्यादि । अनुबन्ध-  
कोपं यं प्रति कुप्यति कोपनिवृत्तेऽपि कोपानुबन्धो यस्य तं प्रति वर्त्तते तमनु-  
बन्धकोपम् । छिद्रप्रहारिणं यदा तस्य कार्येषु विवरं प्राप्नोति तदैव तं प्रहरति ।  
राक्षसं राक्षससत्त्वं तं नरं विद्यादिति । एतेन राक्षसकायोऽपि व्याख्यातः ।  
सुश्रुते च । “एकान्तग्राहिता रौद्रमसूया धर्मवाहता । भृशमात्रं तमश्वापि राक्षसं  
कायलक्षणम् ॥” इति । एतेन राक्षससत्त्वो व्याख्यातः । महालसमित्यादि ।

गान्धर्वसत्त्वम् । एवं ब्राह्मणमित्यादावपि ज्ञेयम् । एवञ्च ब्राह्मणादिभिः सत्त्ववाचकैः पदैरेव  
प्रत्यवमृष्टैः सत्त्वस्य सप्तविधभेदकथनं समानकारणादुपपन्नं भवति । शुद्धस्येति सत्त्वगुणबहुलस्य ।  
अथ कथमेते ब्राह्मणदयः शुद्धसत्त्वस्यैव भेदा इत्याह—कल्याणांशत्वादिति । तत्संयोगादिति  
कल्याणांशस्य सम्यग्योगात् ॥ १७ ॥

चक्रपाणिः—औपधिकमिति च्छानुचारिणम् । अननुक्रोशमित्यननुनेयम् । स्त्रिया समं रहसि

\* औदरिकमित्यत्र औपधिकमिति चक्रसम्मतः पाठः ।



शुचिद्वेषिणं भीरुं भीषयितारं विहारशीलं पशाचं विद्यात् ।  
 क्रुद्धशूरमक्रुद्धभीरुं तीक्ष्णमायासबहुलं मन्त्रसुगोचरम् \*  
 आहारविहारपरं सर्पं विद्यात् । आहारकाममतिदुःखशीलाचारोप-  
 चारमसूयकमसंविभागिनमतिलोलुपकर्मशीलं प्रैतं विद्यात् ।  
 अनुषक्तकाममजस्रसाहार-विहार-परमनवस्थितममर्षिणमसञ्चयं  
 शाकुनं विद्यात् । इत्येवं खलु राजसस्य सत्त्वस्य षड्विधं भेदांशं  
 विद्याद् रोषांशत्वात् ॥ १८ ॥

स्त्रैणं स्त्रीवर्गं स्त्रीषु रहसि स्थितिकामं भीरुश्च भीषयितारश्च पैशाचं पिशाच-  
 सत्त्वं नरं विद्यादिति । एतेन पिशाचकायो व्याख्यातः । सुश्रुते च ।  
 “उच्छिष्टाहारता तैक्ष्णं साहसप्रियता तथा । स्त्रीलोलुपत्वं नैर्लज्ज्यं पैशाचं  
 कायलक्षणम् ॥” इति । एतेन पैशाचसत्त्वश्च व्याख्यातः ।

क्रुद्धशूरमित्यादि । यदा क्रुद्धः स्यात् तदा शूरः स्यादिति क्रुद्धशूरस्तम् ।  
 अक्रुद्धभीरुम् यदा न क्रुद्धस्तदा भीरुरित्यक्रुद्धभीरुस्तम् । मन्त्रसुगोचरम्  
 यत्किञ्चित् कोऽपि मन्त्रयते तन्मन्त्रं सुष्टुगोचरं ज्ञानविषयीभवतीति मन्त्र-  
 सुगोचरस्तम् । सर्पं सर्पसत्त्वं नरं विद्यादिति । एतेन सर्पकायो व्याख्यातः ।  
 सुश्रुते हि—“तीक्ष्णमायासिनं भीरुं चण्डं मायान्वितं तथा । विहाराचार-  
 चपलं सर्पसत्त्वं विदुर्नरम् ॥” इति ।

आहारकाममित्यादि । अतिदुःखाः शीलाचारोपचारा यस्य तम् ।  
 असंविभागिनं कार्याकार्यविभागज्ञानहीनम् । प्रैतं प्रेतसत्त्वं नरं विद्यादिति ।  
 एतेन प्रैतकायो व्याख्यातः । सुश्रुते चोक्तः । “असंविभागमलसं दुःखशील-  
 मसूयकम् । लोलुपश्चाप्यदातारं प्रेतसत्त्वं विदुर्नरम् ॥” इति ।

अनुषक्तकाममित्यादि । अनुषक्तः सदा संसक्तः कामो यस्य तम् । अजस्रं  
 यथा स्यात् तथा आहारविहारेषु परं रतम् । शाकुनं पक्षिसत्त्वं नरं विद्यात् ।  
 एतेन शाकुनकायो व्याख्यातः । सुश्रुतेऽपि । “प्रवृद्धकामसेवी चाप्यजस्रहार-  
 एव च । अमर्षणोऽनवस्थायी शाकुनं कायलक्षणम् ॥” इति । एतेन शाकुनसत्त्वो  
 व्याख्यातः । इत्येवं राजसस्य सत्त्वस्य रोषांशत्वात् षड्विधं भेदांशं विद्यात् ॥१८॥

स्थातुमिच्छतीति स्त्रीरहस्कामः । क्रुद्धशूरमक्रुद्धभीरुमिति क्रोधे सति शूरम्, अक्रोधे सति भीरुम् ।

निराकरिष्णुमधमवेशं जुगुप्सिताचाराहारविहारमैथुनपरं  
स्वप्नशीलं पाशवं विद्यात् । भीरुमवुधमाहारलुब्धमनवरिथित-  
मनुपक्तकामक्रोधं सरणशीलं तोयकामं मात्स्यं विद्यात् ।  
अलसं केवलमभिनिविष्टमाहारे सर्व्वबुद्धरङ्गहीनं वानस्पत्यं  
विद्यात् । इत्येवं खलु तामसस्य सत्त्वस्य त्रिविधं भेदांशं  
विद्यान्मोहांशत्वात् । इत्यपरिसंख्येयभेदानां खलु त्रयाणामपि  
सत्त्वानां भेदैकदेशो व्याख्यातः ॥ १६ ॥

शुद्धस्य सत्त्वस्य सप्तविधो ब्रह्मर्षिशक्रवरुणयमकुबेर-  
गन्धर्व्वसत्त्वानुकारेण । राजसस्य षड्विधो दैत्यराक्षसपिशाच-  
सर्पप्रेतशकुनिसत्त्वानुकारेण । तामसस्य त्रिविधः पशुमत्स्य-  
वनस्पति-सत्त्वानुकारेण । कथञ्च यथासत्त्वमुपचारः स्यादिति ।

गङ्गाधरः—अथ तामसानाह—निराकरिष्णुमित्यादि । सर्व्वेनिराकरण-  
शीलम् । पाशवं पशुसत्त्वं विद्यात् । एतेन पशुकायो व्याख्यातः । सुश्रुते च ।  
“पङ्कते राजसाः कायास्तामसास्तु निबोध मे । दुर्ममधस्त्वं मन्दता च स्वप्ने  
मैथुननित्यता । निराकरिष्णुता चैव विज्ञेयाः पाशवा गुणाः ॥” इति ।

भीरुमित्यादि । सरणशीलं गमनस्वभावम् । मात्स्यं मत्स्यसत्त्वम् । एतेन  
मात्स्यकायो व्याख्यातः । सुश्रुते च । “अनवस्थितता मौर्ख्यं भीरुत्वं सलिञ्ज-  
र्यिता । परस्पराभिर्मर्दश्च मत्स्यसत्त्वस्य लक्षणम् ॥” इति ।

अलसमित्यादि । वानस्पत्यं वनस्पतिसत्त्वं नरम् । एतेन वनस्पति-  
कायश्च व्याख्यातः । सुश्रुते च । “एकस्थानरतिर्नित्यमाहारे केवले रतः ।  
वानसाल्यो नरः सत्त्वयुग्मकामार्थवर्जितः ॥” इति । इत्येवमित्यादुपसंहारे ।  
मोहांशत्वात् तमोऽंशत्वादिति । इत्यपरिसङ्ख्येत्यादि । इत्यपरिसङ्ख्येत्या-  
गोचरशब्देन अचिरभावविषये प्रचारो लक्ष्यते, तेन सन्त्रस्तगोचरमिति ब्रह्मविषयप्रचारम् ।  
पिशाचाद् भिन्न एव यथोक्ताचारः प्रेतः । तेन प्रेतमपि सत्त्वं पृथगुक्तम् । सरणशीलमिति गमन-  
शीलम् । बुद्ध्यादीनि ऊहापोहविचारस्मृत्यादीनि उक्तानि ॥ १८।१९ ॥

चक्रपाणिः—सुखस्मरणार्थं शुद्धादिभेदेन बन्धीकृत्य सत्त्वभेदानाह—शुद्धस्येत्यादि । वनस्पति-  
सत्त्वानुकारेणेत्यन्तो ग्रन्थो भेदैकदेशो व्याख्यात इत्यन्ते योजनीयः क्रियान्तराभावात् । एते च

केवलश्चायमुद्देशो यथोद्देशमभिनिर्दिष्टो भवति । गर्भावक्रान्ति-  
संप्रयुक्तस्यार्थस्य विज्ञाने सामर्थ्यं गर्भकराणाञ्च भावानामनु-  
समाधिर्विघातश्च विघातकराणां भावानामिति ॥ २० ॥

तत्र श्लोकाः ।

निमित्तमात्मा प्रकृतिवृद्धिः कुक्षौ क्रमेण च ।  
वृद्धिहेतुश्च गर्भस्य पञ्चार्थाः शुभसंज्ञिताः ॥  
अजन्मनि च यो हेतुर्विनाशे विकृतावपि ।  
इमांस्त्रीनशुभान् भावानाहुर्गर्भविघातकान् ॥ २१ ॥  
शुभाशुभसमाख्यातानष्टौ भावनिमान् भिषक् ।  
सर्व्वथा वेद यः सर्व्वान् स राज्ञः कर्तुं मर्हति ॥

दिभिः पङ्क्तिभिः श्लोकैरुपसंहारः । तत्र गर्भावक्रान्तीति । गर्भावक्रान्तिशारीर-  
द्वयस्य खड्गीकामहदाख्यस्य सम्प्रयुक्तस्य वाच्यस्यार्थस्य ज्ञाने सामर्थ्यमभि-  
निर्दिष्टं भवति । गर्भकराणां भावानामनुसमाधिः संग्रहः स चाभि-  
निर्दिष्टो भवति । विघातकराणां गर्भविघातकराणां विघातोऽभिनिर्दिष्टो  
भवति ॥ १९/२० ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थोपसंहारार्थमाह—तत्र श्लोका इति । निमित्तं  
गर्भस्य । आत्मा गर्भस्य स्वरूपम् । प्रकृतिर्गर्भस्य । यया चानुपूण्या गर्भस्य  
कुक्षौ वृद्धिः । वृद्धिहेतुश्चेति । शुभसंज्ञिताः पञ्चार्थाः । अजन्मनि हेतुः ।  
गर्भस्य विनाशे हेतुर्गर्भस्य विकृतौ च हेतुरितीमांस्त्रीनशुभान् भावान् ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—इत्थञ्चाष्टौ शुभाशुभसमाख्यातान् भावान् यो भिषक् सर्व्वथा

सत्त्वभेदाः प्रायेण भवन्ति मानुषेष्वाति कृत्वा एत एवोदाहरणार्थमुक्ताः । एवमनुक्तं अपि शूकर-  
व्याघ्रादिसत्त्वानुसारेण सत्त्वभेदा बोद्धव्या एवेति दर्शयन्नाह—कथमित्यादि । कथं नाम यथासत्त्वं  
प्राणिमनोभिर्मनुष्याणामुपचारः स्यादित्येतदर्थमुदाहरणरूपा अमी सत्त्वभेदा व्याख्याता इति  
वाक्यार्थः । यथाप्रतिज्ञं वाक्यार्थमुपसंहरति—केवल इत्यादि । केवलः कृत्स्नः । उद्देश इति  
'यत्र गर्भे' इत्यादिग्रन्थकृतः । यथोद्देशमिति उद्देशकमानतिक्रमेण । सामर्थ्यमिति प्रयोजनम् ।  
अनुसमाधिरनुष्ठानम् । विघातो वर्जनम् । विघातकराणामिति गर्भविघातकराणाम् ॥ २० ॥

अवाप्त्युपायान् गर्भस्य स एवं ज्ञातुमर्हति ।

ये च गर्भविघातोक्ता भावास्तांश्चाप्त्युपायान् ॥ २२ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने महती-  
गर्भावक्रान्तिशारीरं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

वेद वेत्ति । स राक्षः सर्वान् चिकित्सितविधीन् कर्तुमर्हतीति । एवं ये च  
गर्भविघातोक्ता भावास्तांश्चाप्त्युपायान् प्राप्त्युपायान् गर्भस्य । स उदारधी-  
र्ज्ञातुमर्हति ॥ २२ ॥

अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि ।

इति वद्य श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ  
शारीरस्थानजल्पाख्ये चतुर्थस्कन्धे महतीगर्भावक्रान्ति-  
शारीरजल्पाख्या चतुर्थी शाखा ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—अद्यैतेषु मध्ये के ते गर्भस्य शुभाः, ये गर्भेऽनुष्ठेया इत्याह—निमित्तमित्यादि ॥२॥२३

इति चरकचतुरानन-महामहोपाध्याय-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायां चरकतात्पर्यटीकायामायुर्वेद-  
दीपिकायां शारीरस्थाने महतीगर्भावक्रान्तिशारीरं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

## पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातः पुरुषविचयं शारीरं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

पुरुषोऽयं लोकसम्मित इत्युवाच भगवान् पुनर्व्वसुरात्रेयः ।  
यावन्तो हि मूर्त्तिमन्तो लोके भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे,  
यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—अतः पूर्वाध्यायेऽभिहितमेवमयं लोकसम्मितः पुरुष इति ।  
तस्य प्रपञ्चाथमतोऽनन्तरं पुरुषविचयं शारीरमारभते—अथात इत्यादि ।  
पुरुषं विशेषेण चिनोत्यस्मिन्ननेन वेति पुरुषविचयमधिकृत्य कृतं शारीर-  
मिति ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—पुरुषस्य विचयोऽयम् पुरुषोऽयं लोकसम्मित इति ।  
अयमन्नमयः पुरुषः खलु लोकसम्मितः । लोकस्त्वनुत्तमतमो भूधुवःस्वरिति  
त्रिलोकरूपः परमव्योम परमात्मा परमपुरुषः । कुतोऽयं लोकसम्मितस्तदाह—  
यावन्तो हीत्यादि । हि यस्माल्लोके यावन्तो मूर्त्तिमन्तो भावविशेषाः सन्ति  
तावन्तः पुरुषे वर्त्तन्ते, तथा यावन्तो मूर्त्तिमन्तो भावविशेषाः पुरुषे वर्त्तन्ते  
तावन्तो लोकेऽपीति । पुरुषे यावन्तस्तावन्तो लोके सन्तीति पुनर्वचनेन लोके  
यन्न दृश्यते पुरुषे तु दृश्यते तदपि पुरुषस्थभावेनानुमेयमिति ख्यापितम् ।  
तेन स्वाङ्गुलिमानेन यथा चतुरशीत्यङ्गुलिमितः पुरुषस्तथा तस्याङ्गुलिमानेन  
लोकोऽपि चतुरशीत्यङ्गुलिमित इति लोकसम्मितः पुरुषः पुरुषसम्मितश्च  
लोक इति । मूर्त्तिमन्त इति शिष्यवोधार्थं स्थूलत उक्तम् । वस्तुतो यावन्तो  
भावा लोके तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके मूर्त्तिमन्त इति  
वचनेनामूर्त्तानां प्रतिषेधाभावात् ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—पूर्वाध्यायेऽभिहितं “यावन्तो हि लोके भावास्तावन्तः पुरुषे” इति, तच्च न  
प्रपञ्चितं बहुवाच्यत्वात् । अतः प्रपञ्चाभिधानार्थं पुरुषविचयं ब्रूते । पुरुषविचयनं लोकसामान्येन  
गणनं पुरुषविचयः, तमधिकृत्य कुतोऽध्यायः पुरुषविचयः ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—सम्मितस्तुल्यः । लोकसम्मितत्वमेव विभजते—यावन्तो हीत्यादि । भगवता

इत्येवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच । नैतावता  
वात्रयेनोक्तं वात्रयार्थमवगाहामहे । भगवता बुद्ध्या भूयस्तर-  
तमतोऽनुव्याख्यायमानं शुश्रूपामहे इति ॥ ३ ॥

तमुवाच भगवानात्रेयः । अपरिसंख्येया लोकावयवविशेषाः,  
पुरुषावयवविशेषा अपरिसंख्येयाः । यथा यथा प्रधानञ्च तेषां  
यथास्थूलं पुरुषावयवविशेषाः कतिचित् तेषां सामान्यमभि-  
प्रेत्योदाहरिष्यामः ; तानेकमना निबोध सस्यगुणवर्ण्यमानानग्नि-  
वेश ! षड् धातवः समुदिता लोक इति शब्दं लभन्ते । तद्  
यथा—पृथिव्यापस्तैजो वायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमित्येत एव  
च षड् धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते ।

गङ्गाधरः—इत्येवमित्यादि तत् श्रुत्वाग्निवेश उवाच—नैतावतेत्यादि ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—तमुवाचात्रेयः अपरिसंख्येया इत्यादि । तान् लोकपुरुषयोः  
समानान् कतिचिदवयवविशेषान् । अनुत्तमतमेव त्रिषु लोकेषु प्रथमं लोकमाह—  
षड् धातव इत्यादि । तदर्थेति । पृथिवीत्यादि—येषां पृथिवी तस्या दशगुणा  
आपस्तां परित आवृत्य वर्तन्ते । अपथ ताः परितो दशगुणं तेज आवृत्य  
वर्तन्ते । तेजश्च दशगुणो वायुरावृत्य वर्तन्ते । वायुमपि चाकाशो दशगुण आवृत्य  
वर्तन्ते । आकाशश्चाहङ्कारो दशगुण आवृत्य वर्तन्ते । तश्चाहङ्कारमभितो दशगुणो  
महानावृत्य वर्तन्ते । महान्तश्चाव्यक्तमात्मा ब्रह्म दशगुणमावृत्य वर्तन्ते  
इत्येवमहङ्कारमहङ्कारासुपलक्षितमव्यक्तं ब्रह्मेह विवक्षितमित्येत एव षड् धातवो  
यथा लोक इति शब्दं ( अनुत्तमतमाष्टलोकी भूलोकशब्दं ) लभन्ते तथा स्वस्वते  
एव षड् धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते । कथं पुरुषः पृथिव्यादि-

बुद्धानुव्याख्यायमानमिति योजना । लोकस्य तत्तृणपञ्चादिरूपा अवयवाः तथा पुरुषस्य च  
स्नायुकण्डराधमन्यादिरूपा अवयवा अपरिसंख्येयाः । तेन अकार्त्स्न्याभिधानम् । अतो ये ये  
लोकपुरुषयोः स्थूला अवयवाः, ते ते सामान्यप्रतिपादनार्थमुच्यन्त इति वाक्यार्थः । ब्रह्मणो

तस्य च पुरुषस्य पृथिवी मूर्तिः, आपः क्लेदः, तेजोऽभिसन्तापो, वायुः प्राणो, वियच्छिद्राणि, ब्रह्म अन्तरात्मा ।

यथा खलु ब्राह्मी विभूतिर्लोके तथा पुरुषेऽप्यान्तरात्मिकी विभूतिः । ब्रह्मणो विभूतिर्लोके प्रजापतिरन्तरात्मनो विभूतिः पुरुषे सत्त्वम् । यस्त्विन्द्रो लोके स पुरुषेऽहङ्कारः, आदित्यास्तु आदानं, रुद्रो रोषः, सोमः प्रसादो, वसवः सुखम्, अश्विनौ कान्तिः, मरुदुत्साहः, विश्वेदेवाः सर्वेन्द्रियाणि सर्वेन्द्रिया-  
र्थाश्च, तमो मोहो, ज्योतिर्ज्ञानम् । यथा लोकस्य सर्गादिस्तथा पुरुषस्य गर्भाधानं, यथा कृतयुगमेवं बाल्यं, यथा त्रेता तथा यौवनं, यथा द्वापरस्तथा स्थाविर्युवः, यथा कलिरेवमातुर्यं, यथा युगान्तस्तथा मरणम् । इत्येवमेतेनानुमानेनानुक्तानामपि

पङ्क्थातुकः पुरुष इत्यत आह—तस्य चेत्यादि । या सा पङ्क्थातुके पुरुषे विश्वरूपेऽन्तरात्मनि पृथिवी तस्या एव विकारभूता पृथिवी, पुरुषेऽस्मिन् मूर्तिः । यास्ता आपस्तासां विकाररूपा आपः, क्लेदः शरीरे । यत्तेजो विश्वरूपे तद्विकारभूतं तेजः, शरीरे सन्तापः । यः स विश्वरूपे वायुस्तद्विकार एव शारीरः प्राणः । यत् तद्विश्वरूपे वियत्तद्विकारभूतवियदेतानि शरीरे छिद्राणि । यत् तद्विश्वरूपेऽव्यक्तमात्मा ब्रह्म तदेवायं शारीरो भूतात्मा विश्वरूप इति ।

नन्वेतावता न लोकसम्मितः पुरुषो भवति । लोके हि ब्रह्मादयः सन्ति पुरुषे तु ते के वर्तन्ते इत्यत आह—यथा खल्वित्यादि । लोके खलु यथा ब्राह्मी विभूतिराव्यक्तिकी विभूतिस्तथा पुरुषेऽप्यान्तरात्मिकी आव्यक्तिकी विभूतिः । तद् यथा—ब्रह्मणोऽव्यक्तस्य विभूतिर्यथा लोके प्रजापतिर्ब्रह्मादि-  
स्तथान्तरात्मनो विभूतिः पुरुषे सत्त्वं मनः । यस्त्विन्द्र इत्यादि स्पष्टम् । अथानुक्तार्थमुपसंहरति—इत्येवमित्यादि । एतेनानुमानेनानुक्तानामपि लोक-

विवरणम्—‘अव्यक्तम्’ इति । तस्येत्यादिना पुरुषे पङ्क्थातुक् दर्शयति । मूर्तिः काटिन्यम् । लोके पङ्क्थातुको व्यक्तो एवेति न विवेचिताः । ब्राह्मीति आत्मविशेषजगत्स्रष्टुर्विभूतिः । प्रजापतिर्दक्ष-

लोकपुरुषयोरवयवविशेषाणामशिवेश ! सामान्यं विद्यात्  
इति ॥ ४ ॥

पुरुषयोरवयवविशेषाणां सूक्ष्मासूक्ष्माणां सामान्यमशिवेश ! भवान् विद्यादिति ।  
तथा च । “यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके” इत्यनेन ख्यापितं यद्यदत्र पुरुषे तच्च  
तत्रेति, तत्र पुरुषो यथा स्वाङ्गुलिमानेन चतुरशीत्यङ्गुलिमितस्तथा परमव्योम  
परमात्मा परमपुरुषः शिवोऽपि लोकाख्यः स्वाङ्गुलिमानेन चतुरशीत्यङ्गुलिमितः ।  
तत्राधस्तात् पुरुषस्यापादनाभिपर्यन्तः पञ्चाशदङ्गुलिमितो भूर्लोकः यथा  
प्रथमः पादस्तथामुष्यापि परमपुरुषस्येश्वरस्याधस्तात् पञ्चाशदङ्गुलिमितो-  
ऽव्यक्ता भूर्भुवःस्वर्गहर्जनतपःसत्यविष्णुलोका इत्यष्टलोका अनुत्तमतमो  
भूर्लोकः प्रथमः पादः । यथा चास्य पुरुषस्य नाभेरुद्धं कण्ठपर्यन्तोऽन्तरा-  
धिश्चतुर्विंशत्यङ्गुलिमितो भुवर्लोकः द्वितीयः पादस्तथामुष्य लोकाख्यस्य  
परमव्योम्नः परमेश्वरस्याव्यक्ताख्यादूद्धं चतुर्विंशत्यङ्गुलिमितो देशोऽनुत्तमतमो  
भुवर्लोकः द्वितीयः पादः । यथैव चास्य पुरुषस्य कण्ठादूद्धं शिरोग्रीवं  
दशाङ्गुलं स्वर्लोकस्तृतीयः पादस्तथैव चास्य परमव्योम्नः परमपुरुषस्य  
लोकाख्यस्योद्धं दशाङ्गुलमनुत्तमतमः स्वर्लोकस्तृतीयः पाद इति । त्रिपात्  
पुरुषो यथा तथा त्रिपात् परमपुरुषः परमव्योमलोकाख्यः शिवः ।  
तत्राधस्तात् पञ्चाशदङ्गुले परमे व्योम्नि यानि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाहङ्कार-  
महदव्यक्तानि तानि, तथा यानि च सप्तपातालाद्येतत् पृथिव्यप्ते भूर्लौके  
नागादीनि मनुष्यादीनि, यानि चान्तरीक्षे भुवर्लौके चन्द्रार्कादीनि ज्योतीर्षि,  
यानि स्वर्लौके शक्रादीनि, यानि च महर्लौके यानि जनोलोके यानि तपो-  
लोके विराडादीनि, यानि सत्यलोके ब्रह्मलोकवैकुण्ठशिवलोकादीनि, यानि  
चाव्यक्ताख्ये लोके प्रधानाख्यो ब्रह्मा क्षेत्रज्ञाख्यो विष्णुः कालाख्यो  
महाविष्णुश्चेत्येतानि तानि सर्वाणि परमव्योमरूपपृथिव्या नातिरिक्तानि  
अतत्स्थग्रात् । इत्यष्टलोका अनुत्तमतमा पृथिवी यथा प्रथमः पादः परमव्योम  
तानि सर्वाण्यावृणोत् । तथास्य पुरुषस्य नाभेरधस्ताद् यावन्ति तानि  
नाधोदेहादतिरिक्तानि तात्स्थग्रादिति भूर्लोकः प्रथमः पादः । यदेव तत्  
परमव्योमाष्टलोकात्मकादव्यक्तादूद्धं चतुर्विंशत्यङ्गुलमनुत्तमतमो भुवर्लोकः  
कौमारलोक उच्यते । तत्र पञ्च ब्रह्मपुरुषाः कुमाराः सदाशिवगर्वेदादयो विद्या

नामा । आदानं ग्रहणम् । आदित्योऽप्याददातीति, आदानमप्यादित्यः । इह च मनुप्रभृतिषु प्राजा-



त्राविद्या च तानि सर्वाणि न ततोऽतिरिक्तानि तात्स्थ्यादिति ।  
तत्परमव्योम तान्यावृणोत् । एवमस्य पुरुषस्य नाभेरुर्द्ध्वं कण्ठपर्यन्तो भुव-  
र्लोकस्तत्र हृदि ये पञ्च प्राणाः पञ्चब्रह्मपुरुषास्ते ततो नातिरिक्ता इष्यन्ते  
अतात्स्थ्यात् । इत्येवमष्टलोकात्मकभूमिलोकसहितं कौमारलोकात्मकभुवर्लोकं  
सर्वतो वृत्त्वासौ परमव्योम परमपुरुष ऊर्द्ध्वं दशाङ्गुलमनावृतत्वेनातिशयेन  
आशिरोग्रीवं स्वर्लोकोऽतिष्ठदिति । तथास्य पुरुषस्यापि शिरोग्रीवं दशाङ्गुलमुत्त-  
माङ्गत्वेनातिष्ठदिति । तदुक्तं पुरुषसूक्ते । “सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।  
सभूमिं सर्वतो वृत्त्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥” इति । सभूमिं भूमिलोकसहितं  
भुवर्लोकं सर्वत ऊर्द्ध्वधश्चतुर्दिशं वहिराभ्यन्तरश्चावृत्य दशाङ्गुलं वपुरतिशये-  
नानावरणेनातिष्ठदिति । तथा तत्रैव पुरुषसूक्ते “एतावानस्य महिमा ततो  
ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि” इति यदुक्तम्,  
तत्र पाद इति औस्थाने सुच्छन्दसि । पादावित्यर्थः । विश्वा इति जसौऽङ्गच्छन्दसि ।  
एतावानस्य त्रिपादस्य पुरुषस्य महिमा महत्त्वमस्य त्रिपादस्य द्वौ पादौ  
भूपादभुवःपादौ विश्वानि भूतानि । दिवि तृतीये पादे स्वर्लोके शिरोग्रीवे  
दशाङ्गुलेऽमृतं ज्योतिःस्वरूपं ब्रह्म वाग्गुणा गायत्री चतुर्थः पाद इति । तदमृतं  
पुरुषस्याप्यस्य मूर्द्धि ब्रह्मरन्ध्रे सहस्रदलपद्मकणिकाभ्यन्तरे वर्तते इति  
त्रिलोकसम्मितः पुरुष इति । ननु छान्दोग्योपनिषदि चानयर्चा वस्तुत्वेन  
लोकपुरुषयोरैवयं व्याख्यातम् । तद्यथा—गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं  
किञ्च । वाग् वै गायत्री । वाग् वै सर्वं गायति च त्रायते च । या वै सा  
गायत्री । इयं वाव सा येयं पृथिवी । अस्यां हीदं सर्वंभूतं प्रतिष्ठित-  
मेतामेव नातिशीयते । या वै सा पृथिवी इयं वाव सा यदिदमस्मिन् पुरुषे  
शरीरमस्मिन् हीमे भावाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते इति । १ । या वै सा  
गायत्री । इयं वाव सा यद्वैतत् पुरुषे शरीरमस्मिन् हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिताः  
एतदेव नातिशीयन्ते । यद्वैतत् पुरुषे शरीरमिदं वाव तत् यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे  
हृदयमस्मिन् हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते । २ । सैषा चतुष्पदा  
षड्विधा गायत्री । तदेतद्वचाभ्यनूक्तम् । एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च  
पूरुषः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति । ३ । या वै सा गायत्री  
इयं वाव सा यद्वैतद् ब्रह्मेति । यद्वैतद् ब्रह्म । इदं वाव तद्योऽयं वहिर्द्वाः

पत्यादिरूपता आगमसिद्धैव ज्ञेया । सर्वेन्द्रियार्था विश्वेदेवा एव । सर्गादिरिति प्रलयानन्तरः

कालः । अनुक्तानामित्यनेन मतिर्बृहस्पतिः, कामो गन्धर्व इत्यादि । सामान्यं वक्तव्यम् ॥ २—४ ॥

पुरुषादाकाशः । यो वै स बहिर्द्वाः पुरुषादाकाशोऽयं वाव स योऽयमन्तःपुरुषे  
 आकाशः । यो वै सोऽन्तःपुरुष आकाशोऽयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशः ।  
 यो वै सोऽन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत् पूर्णमप्रवर्त्ति । पूर्णमप्रवर्त्तिर्नां श्रियं लभते  
 य एवं वेदेति । तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुवयः । स योऽस्य  
 प्राङ् सुपिः स प्राणस्तच्छुः स आदित्यस्तदेतत् तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत ।  
 तेजस्यन्नादो भवति य एवं वेदेति । १ । अथ योऽस्य दक्षिणः सुपिः स व्यान-  
 स्तच्छ्रोत्रं स चन्द्रमाः । तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत । श्रीमान् यशस्वी  
 भवति य एवं वेदेति । २ । अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुपिः सोऽपानः सा वाक् सोऽग्नि-  
 स्तदेतद् ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमुपासीत । ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेदेति । ३ ।  
 अथ योऽस्योदङ् सुपिः स समानस्तन्मनः स पर्जन्यस्तदेतत् कीर्त्तिश्च व्युष्टि-  
 श्चेत्युपासीत । कीर्त्तिमान् व्युष्टिमान् भवति य एवं वेदेति । ४ । अथ योऽस्योर्ध्वः  
 सुपिः स उदानः स वायुः स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीत । ओजस्वी  
 महान् भवति य एवं वेदेति । ५ । तत्र ते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य  
 द्वारपाः । स य एवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान् वेद, अथास्य  
 कुले वीरो जायते । प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं य एतानेव पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य  
 लोकस्य द्वारपान् वेदेति । ३ । अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यतेऽपि स्वतः  
 पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमतमेषु लोकेषु । इदं वाव तद् यदस्मिन्नन्तःपुरुषे  
 ज्योतिः । तस्यैषा दृष्टिर्यदत्रैतस्मिञ्छरीरे संस्पर्शेनोष्ममाणं विजानाति ।  
 तस्यैषा श्रुतिः । यत्रैतत् कर्णावपि गृह्य निनदमिव नदधुमिवानेरिव ज्वलन  
 उपशृणोति । तदेतद् दृष्टश्च श्रुतश्चेत्युपासीत । चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं  
 वेदेति । ४ । अत्र ब्राह्मणे पादोऽस्य विश्वा भूतानीत्यनेनोक्तौ द्वौ पादौ या वै  
 सा गायत्रीत्यारभ्य नातिशीयन्त इत्यन्तेन व्याख्यातौ । तत्रादेन नातिशीयन्त  
 इत्यन्तेन प्रथमो भूपादः । द्वितीयेन नातिशीयन्त इत्यन्तेन हृदयं भुवःपादो  
 द्वितीय इति । त्रिपादस्यामृतं दिवीत्यनेनोक्तौ द्वौ पादौ गायत्र्याः सैषा  
 चतुष्पदेत्यादिना व्याख्यातौ । तत्र द्वारपान् वेदेत्यन्तेन दुर्गपादंस्तृतीयो  
 व्याख्यातः । अथ यदतः पर इत्यादिनामृतपादश्चतुर्थी व्याख्यातः । इति  
 चतुष्पादा सैषा गायत्री । षड्विधा वाग्रूपा खल्ववर्णा प्रकृतिरेका  
 ब्रह्म प्रजापतिं प्रति दर्शनयोग्यार्था वर्णवत्यः पञ्चधा । श्वेता रक्ता पीता  
 कृष्णा अघोरा चेति षड्विधा । चेतोऽर्पणनिगदादुक्ता न तु वस्तुत इति ।  
 शरीरकसूत्रैश्चोक्तम् । ज्योतिश्चरणभिधानात् । छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न

एवंवादिनं भगवन्तम् आत्रेयमग्निवेश उवाच, एवमेतत्  
सर्वसनपवादं यथोक्तं भगवता लोकपुरुषयोः सामान्यम् ।  
किन्त्रेवास्य सामान्योपदेशस्य प्रयोजनमिति ॥ ५ ॥

भगवानुवाच, शृण्वग्निवेश ! सर्वलोकमात्मन्यात्मानञ्च  
सर्वलोके ससमनुपश्यतः सत्या बुद्धिरुत्पद्यते । सर्वलोकं  
ह्यात्मनि पश्यतो भवत्यात्मैव सुखदुःखयोः कर्त्ता नान्य इति  
कर्मात्मकत्वाच्च । हेत्वादिभिरयुक्तः \* सर्वलोकोऽहमिति  
विदित्वा ज्ञानं पूर्वमुत्थाप्यते अपवर्गाय । तत्र संयोगापेक्षी  
चेतोऽर्पणनिगदात् । तथा हि दर्शनम्—भूम्यादिपादव्यपदेशाच्चैवमिति । इत्येवं  
लोकपुरुषयोर्देहप्रदेशविभागवस्तुविभागाभ्यां सामान्यमुक्तमिति ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—एतत् श्रुत्वा यदुवाच तदाह—एवंवादिनमित्यादि । किं तु  
अस्येत्यादि प्रश्नः । भगवानुवाचेति तदुत्तरम् । तद् यथा—सर्वलोकमित्यादि ।  
यदि लोकपुरुषयोः सामान्यं नोपदिश्यते तर्हि कथमग्निवेश ! सममनुपश्यतः  
सत्या बुद्धिरुत्पद्यते इत्यादि । कस्मादित्यत आह—सर्वलोकमित्यादि । आत्मैव  
सुखदुःखयोः कर्त्ता नान्य इति बुद्ध्या किं स्यादित्यत आह—कर्मात्मकत्वाच्चे-  
त्यादि । सुखदुःखयोः कर्त्ताहमिति कर्मात्मकत्वात् तु हेतुभिर्धर्माधर्मादिभिः  
कर्मजातैरयुक्तः सन् सर्वलोकोऽहमिति विदित्वापवर्गाय ज्ञानपूर्वं जनेन

चक्रपाणिः—अनपवादमित्यव्यवधानम् । किन्त्रेवस्येत्यादि । आयुर्वेदे किमप्येतत्साम्य-  
कथने प्रयोजनमित्यर्थः । कथं सत्या बुद्धिरुत्पद्यते इति अस्यां योजनायां किञ्चास्याः प्रयोजनमिति  
क्षेपो ज्ञेयः । यथा च लोकपुरुषसाम्यं सत्यबुद्धिजनकं भवति, तदाह—सर्वलोकं हीत्यादि ।  
आत्मनि पश्यत इति आत्मनोऽभेदेन पश्यतः । 'आत्म'शब्देन पदधातुसमुदायात्मकः पुरुष  
इहोच्यते । तेन यत्किञ्चिल्लोकगतं सुखदुःखजनकम्, तदप्यात्मस्वरूपमित्यनेन बाह्यलोकमूतमपि  
आत्मकृतमेव वैषयिकं नित्यदुःखानुयुक्तं हेयं सुखम्, तथा निसर्गाद्देयं दुःखञ्च पश्यन् राग-  
द्वेषनिर्मुक्तः सन् सत्यज्ञानवान् भवतीति भावः । अथ सत्यज्ञानस्यापि किं प्रयोजनमित्याह—  
कर्मेत्यादि । लोकपुरुषसाम्यज्ञानेऽपि सत्यज्ञानस्यादावपवर्गानुष्ठानं प्रयोजनमिति वाक्यार्थः । अत्र  
कर्मात्मकत्वात् इति कर्माधीनत्वात्, हेत्वादयोऽग्रे वक्ष्यामाणाः । कर्मवशः सन् हेत्वादिभिर्युक्तो-  
ऽयमात्मा प्रवर्तते, कर्म, तत्त्वज्ञानात् प्रवृत्तुपरमे सति कारणाभावान्नोपपद्यते । उक्तञ्च—“कर्म

\* हेत्वादिभिर्युक्त इति चक्रः ।

लोकशब्दः, पङ्धातुसमुदायो हि सामान्यतः सर्वलोकः । तस्य  
 च हेतुत्पत्तिवृद्धिरुपप्लवो वियोगश्च । तत्र हेतुत्पत्तिकारणम् ।  
 उत्पत्तिर्जन्म, वृद्धिराव्यायनम्, उपप्लवो दुःखागमः, वियोगः,  
 पङ्धातुविभागः स जीवापगमः प्राणनिरोधो भङ्गो लोक-  
 त्वभावः । तस्य मूलं सर्वोपप्लवानाञ्च प्रवृत्तिर्निवृत्तिरुपरमश्च ।  
 प्रवृत्तिर्दुःखं निवृत्तिः सुखमिति यज् ज्ञानमुत्पद्यते, तत् सत्यम् ।  
 तस्य हेतुः सर्वलोकसामान्यज्ञानमेतत् प्रयोजनं सामान्योपदेश-  
 स्येति ॥ ६ ॥

तथाप्यते । ननु कथं ज्ञानं पूर्वं भवेदित्यत आह—तत्रेत्यादि । संयोगापेक्षी  
 लोकशब्दः । हि यस्मात् पङ्धातुसमुदायः सामान्यतो लोकशब्दः । तस्य लोकस्य  
 पङ्धातुसमुदायस्य हेतुत्पत्त्यादिश्चास्ति । तत्र हेतुत्पत्तिकारणमित्यादि ।  
 तस्य मूलमिति । पङ्धातुसंयोगस्य खलु लोकस्य पुरुषस्य च मूलं सर्वोपप्ल-  
 वानां सर्वदुःखागमानाञ्च मूलं प्रवृत्तिर्वाङ्मनःशरीरारम्भः कर्म । तस्य पङ्-  
 धातुसंयोगस्य जन्मनः सर्वोपप्लवानाञ्च निवृत्तिर्वाङ्मनःशरीरैरनारम्भः उपरमः,  
 पङ्धातुसंयोगस्योपरमः सर्वोपप्लवानाञ्चोपरमः । तस्मात् प्रवृत्तिर्वाङ्मनः-  
 शरीरारम्भो दुःखम् । निवृत्तिर्वाङ्मनःशरीरैरनारम्भः सुखं सुखकरमिति  
 यज् ज्ञानमुत्पद्यते तज् ज्ञानं सत्यं, सा सत्या बुद्धिः । तस्य सत्यज्ञानस्योत्पत्तौ

यत्प्रवृत्तेस्तु तत्त्वज्ञानाद्विधीयते । नोपभोगात्” इति । तदात्यन्तिककर्मक्षयात् आत्यन्तिक-  
 कर्मफलाभावरूपो मोक्षो भवतीति भावः । संयोगापेक्षीति पङ्धातुमेलके पुरुषरूपे वर्तते  
 इत्यर्थः । ‘लोक’शब्देनेह प्रकरणे लोकेति कृत्वा पुरुष एवोच्यते जनजगद्रूपो लोकः । यतः  
 हेत्वाद्वयो येषु कर्मपरवशत्वेन लोके वक्तव्याः, ते पुरुष एव सम्भवन्ति । ‘सर्व’शब्देन सर्व-  
 प्राणिनो ग्राहयान्त ।

हेत्वादपेक्षकं निर्दिश्य विभजते—तस्य हेतुरित्यादि । तस्य मूलमिति तस्य  
 जीवापगमस्य कारणम् । सर्वोपप्लवानाञ्चेति सर्वसुखदुःखानाम् । प्रवृत्तिः रागद्वेषमूला  
 प्रवृत्तिः । निवृत्तिरिति अप्रवृत्तिः । ‘उपरम’शब्दस्तस्येत्यनेन सम्बध्यते तथा सर्वोपप्लवानाञ्च  
 इत्यनेन सम्बध्यते । दुःखाद्यापेरमो निवृत्तिकृत एव, निवृत्तिजन्यत्वेन च कार्यकारणयोः  
 अभेदोपचारादुपरमोऽपि निवृत्तिर्यः शब्दसामानाधिकरण्येनोच्यते । प्रवृत्तिर्दुःखमिति च कार्य-  
 कारणयोरेदोपचाराद् बोद्धव्यम् । सत्यज्ञानस्वरूपमाह—इति यज् ज्ञानमित्यादि । इतीति

अथाग्निवेश उवाच, किंमूला भगवन् प्रवृत्तिः, निवृत्तौ  
वोपाय इति ॥ ७ ॥

भगवानुवाच । मोहेच्छाद्वेषकर्ममूला प्रवृत्तिः । तज्जा ह्यह-  
ङ्कारसङ्गसंशयाभिसंल्लवाभ्यवपात - विप्रत्ययविशेषानुपायास्तरुण-  
मिव द्रुममतिविपुलशाखास्तरवोऽभिभूय पुरुषमवतत्यैवोत्ति-  
ष्ठन्ते, यैरभिभूतो न सत्तामतिवर्त्तते । तत्रैवं जाति-  
रूप-वित्त-बुद्धि-शील-विद्याभिजन-वयो-वीर्य-प्रभावसम्पन्नोऽह-  
मित्यहङ्कारः । यन्मनोवाक्कायकर्म नापवर्गाय, स सङ्गः ।

हेतुः सर्व्वलोकसामान्यस्यात्मनि ज्ञानम् । एतज् ज्ञानमेव लोकपुरुषयोः  
सामान्योपदेशस्य प्रयोजनमिति ॥ ५ । ६ ॥

गङ्गाधरः—तत् श्रुत्वा यदुवाच तदाह—अथेत्यादि । प्रवृत्तिः किंमूला  
निवृत्तौ क उपाय इति ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—तदुत्तरमाह—भगवानित्यादि । मोहादिचतुर्मूला प्रवृत्तिः ।  
मोहादयो हि ज्ञातारं प्रवर्त्तयन्ति पुण्ये पापे वा । पुण्यपापश्च कर्म प्रवर्त्तयति ।  
कथमित्यत आह—तज्जा हीत्यादि । मोहादिभ्यो जायन्तेऽहङ्कारादयः ।  
ततः किं स्यादित्यत आह—तरुणमिवेत्यादि । मोहादिजा अहङ्कारादयः  
खल्वतिविपुलशाखास्तरवो यथा तरुणं द्रुममभिभूयावतत्योत्तिष्ठन्ते तथा  
पुरुषमभिभूयावतत्योत्तिष्ठन्ते । यैर्मोहादिजैरहङ्कारादिभिरभिभूतः पुरुषो न  
सत्तां प्रवृत्तेर्हेतुमतिवर्त्तते नातिक्रामति । अहङ्कारादिः पुनः कीदृश इत्यतस्तान्  
विवृणोति—तत्रैवमित्यादि । जातिरूपादिसम्पन्नोऽहमित्यभिमानोऽहङ्कारः ।

पूर्व्वप्रत्यवमर्षकम् । एतस्मिन् सत्यज्ञाने लोकपुरुषसामान्यज्ञानस्य हेतुत्वं दर्शयन्नाह—  
तस्येत्यादि ॥ ५ । ६ ॥

चक्रपाणिः—प्रवृत्तः संसाररूपायाः तथा निवृत्तेर्मोक्षरूपायाः कारणमुपायश्च पृच्छति—किं-  
मूलेत्यादि । मोहेत्यादुत्तरम् । मोहेच्छाद्वेषकर्ममूलेति मोहान्मिथ्याज्ञानस्वरूपादिच्छाद्वेषौ,  
तयोश्च धर्माधर्मरूपं कर्म, तच्च मूलं संसारस्येत्यर्थः । कथमेते मोहादयः संसारकारणमित्याह—  
तज्जा हीत्यादि । अत्र चाहङ्कारादौ यथायोग्यतया मोहादीनां कारणत्वं ज्ञेयम् । अहङ्कारा-  
दयश्चाष्टावग्रे वक्ष्यमाणा ज्ञेयाः । अवतत्येति व्याप्येति । न सत्तामतिवर्त्तते इति प्रवृत्तिहेतुं  
नातिक्रामति । अत्रोक्तमहङ्कारं विवृणोति—तत्रैवमित्यादि । जात्यादिभिः प्रभावात्तैः सम्पन्न

कर्मफलमोक्षपुरुषप्रत्यभावादयः सन्ति न वेति संशयः । सर्वा-  
 स्वस्थासु अनन्योऽहमहं स्रष्टा स्वभावसंसिद्धोऽहमहं शरी-  
 रेन्द्रियबुद्धिस्मृतिविशेषराशिरिति ग्रहणमभिसंख्यः । मम मातृ-  
 पितृभ्रातृदारापत्यबन्धुमित्रभृत्यगणो गणस्याहमित्यभ्यवपातः ।  
 कार्य्यकार्य्यहिताहितशुभाशुभेषु विपरीताभिनिवेशो विप्रत्ययः ।  
 ज्ञाज्ञयोः प्रकृतिविकारयोः प्रवृत्तिनिवृत्त्योश्च असामान्यदर्शनं  
 विशेषः ॥ प्रोक्षणानशनाग्निहोत्रादयः सवनाभ्युज्जणावाहनयजन-  
 याजनयाचनसलिलहुताशनप्रवेशनादयः समारम्भाः प्रोच्यन्ते  
 ह्यनुपायाः । एवमयमधीधृतिस्मृतिरहङ्काराभिनिविष्टः संसक्त-  
 यद् यन्मनोवाक्कायकर्म नापवर्गाय क्रियते स सङ्गः, यद्यदपवर्गाय  
 कर्म तद् तन्न सङ्गः । कर्मफलमस्ति न वा मोक्षोऽस्ति न वा  
 पुरुष आत्मास्ति न वेत्येवमादिज्ञानं संशयः । सर्वावस्थासु अहमनन्यो  
 ब्रह्मणोऽन्यो नाहमहं स्रष्टा स्वभावसंसिद्ध एवाहं शरीरादिमान् राशि-  
 रिति ज्ञानमभिसंख्यः । ममेयं मातायं पितेत्येवमादिज्ञानमभ्यवपातः ।  
 कार्य्यदिषु विपरीताभिनिवेशो विप्रत्ययः । ज्ञाज्ञयोर्विद्वन्मूर्खयोः सामान्या-  
 दर्शनं प्रकृतिविकारयोश्च प्रवृत्तिनिवृत्त्योश्चैवमादिद्वन्द्वयोः सामान्यादर्शनं  
 विशेष इति । प्रोक्षणानशनाग्निहोत्रादयः समारम्भाः कर्माणि स्वर्गोपाया  
 अपि मोक्षेऽनुपायाः प्रोच्यन्ते । इत्येवमयं पुरुषः खलु धीधृतिस्मृति-  
 वत्कृष्टोऽहमिति ज्ञानमहङ्कारः । यदित्यादि सङ्गविवरणम् । कर्मफलादयः सन्ति न वेति यज्  
 ज्ञानं तत् संशयः । अभिसंख्यमाह—सर्व्वेत्यादि । (आत्मनोऽभिमत आत्मना आत्मन्यभिसंख्य  
 आत्मना आत्मगोचरता आत्मबुद्धिरित्यर्थः ।) सर्वावस्थास्त्विति सर्वासु शरीरावस्थासु ज्ञात-  
 समुदायरूप एवाहमस्मीति यज् ज्ञानम् तदिह ज्ञेयम् । परमात्मनस्तु सर्वावस्थाज्ञान्यत्वमिति  
 यज् ज्ञानं तत् सम्यग्ज्ञानमेव । एवमहं स्रष्टा स्वभावसंसिद्ध इत्यत्रापि शरीरवान् एवाहङ्कार-  
 विषयो ज्ञेयः । अहं शरीरेन्द्रियबुद्धिविशेषराशिरित्यत्र शरीरादिष्वचेतनेष्वहङ्कारास्पदत्वेन  
 चेतनाभिमानी विरुद्ध इति ज्ञेयम् । ममेत्यादिना अभ्यवपातमाह—अभ्यवपातः परात्मता,  
 अनात्मीयेन ममता, कार्य्येत्यादिना विप्रत्ययं ब्रूते । विपरीताभिनिवेशो विपर्य्ययेण ज्ञानम्,  
 यथा—कार्य्ये अकार्य्यमकार्य्ये कार्य्यमित्यादि । ज्ञाज्ञयोर्इत्यादिना अविशेषमाह—अविशेषः

\* सामान्यदर्शनमविशेष इति चक्रसम्मतः पाठः ।

संशयोऽभिप्लुतबुद्धिरभ्यवपतितोऽन्यथादृष्टिर्विशेषग्राहो विमार्ग-  
गतिर्निवासवृत्तः सत्त्वशरीरदोषमूलानां मूलं सर्वदुःखानां  
भवति । एवमहङ्कारादिभिर्दोषैः भ्राम्यमाणो नातिवर्तते प्रवृत्तिम्,  
सा मूलमघस्य । निवृत्तिः अपवर्गस्तत् परं प्रशान्तं तदक्षरं  
तद् ब्रह्म स मोक्षः ॥ ८ ॥

तत्र मुमुक्षूणा मुदयनानि च सर्वाण्यनुव्याख्यास्यामः ।

हीनः सन्नहङ्काराभिनिविष्टः संसक्तसंशयोऽभिप्लुतबुद्धिरभ्यवपतितश्चान्यथा-  
दृष्टिश्च विशेषग्राही विमार्गे गतिश्च सन् सत्त्वशरीरयोर्दोषाणां रजस्तमोवात-  
पित्तकफानां मूलानि यान्यसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगप्रज्ञापराधपरिणामाख्यानि  
निदानानि तेषां मूलं कारणं भवति सर्वदुःखानाञ्च मूलं भवति । अथवा  
सत्त्वशरीरदोषा मूलानि येषां तेषां सर्वदुःखानां मूलं भवति । कथमित्यत  
आह—एवमित्यादि । एवमनेन प्रकारेण पुमानहङ्कारादिभिर्दोषैर्भ्राम्यमाणः  
प्रवृत्तिं बाङ्मनःशरीरारम्भं नातिवर्तते । सा प्रवृत्तिरघस्याशुभस्य मूलम् ।  
इति किंमूला प्रवृत्तिरिति प्रश्नस्योत्तरमुक्त्वा निवृत्तौ वोपायः क  
इत्यस्योत्तरमाह—निवृत्तिर्वाङ्मनःशरीरानारम्भः खल्वपवर्गोऽपवर्गजनकत्वा-  
दिति या सा निःशेषा निवृत्तिस्तत् परं प्रशान्तं तदक्षरं तद् ब्रह्म ब्रह्मरूपेणाभि-  
निष्पत्तिहेतुत्वात् । स मोक्ष इति सर्वेभ्यो बन्धेभ्यः प्रमोचनहेतुत्वात् ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—निवृत्तिमुक्त्वा तत्रोपायान् वक्तुमाह—तत्रेत्यादि । तत्र निवृत्तौ

विशेषाप्रतीतिः । विप्रत्ययस्तु विशेषाणां विपर्ययेण ग्रहणमिति भेदः । प्रोक्षणेत्यादिना अनुपाय-  
माह । अनुपाया इति अन्योपायाः सन्तोऽपि परमपुरुषार्थे मोक्षे अनुपायाः । त्रिःसवनं त्रिः  
सम्यक् स्नानम् । सम्प्रति अहङ्कारादीनां धीष्टतिस्मृतिविभ्रंशमूलत्वेनाधीष्टतिस्मृत्यभिधानपूर्वकं  
संसाररूपनित्यानुबन्धशरीरमानसदुःखकारणत्वं व्युत्पादितम् । अहङ्कारादीन् संक्षिप्याप्याह—एव-  
मित्यादिना । निवासवृक्ष इव निवासवृक्षः । तेन यथा निवासवृक्षः पक्षिणां नित्यमाश्रयो भवति,  
एवमहङ्कारादियुक्तोऽपि रोगस्य निवासो भवतीति दर्शयति । भ्राम्यमाण इति पुनःपुनरपि  
शरीरान्तराणि नीयमानः । नातिवर्तते प्रवृत्तिमिति संसारं न त्यजति । एवं मोहेच्छाजन्यकर्म-  
मूलतां प्रवृत्तेर्दर्शयित्वा प्रवृत्तेरपि कर्मकारणतामाह—सा च मूलमघस्येति । प्रवृत्तिरपि धर्माधर्म-  
रूपस्य मूलम् । इह च धर्माधर्मावविशेषेण संसारदुःखकारणतया 'अघ'शब्देनोक्तौ । सम्प्रति  
निवृत्तावुपायं वक्तुं निवृत्तिमेव तावदुपादेयताप्रतिपादकपर्यायैराह—निवृत्तिरित्यादि ॥ ७।८ ॥

चक्रपाणिः—उदित्यर्थे मोक्ष इति, उदयनानि हि मोक्षोपाया इत्यर्थः । लोकदोषदर्शिन

तत्र ॐ मुमुक्षोरादित एवाचार्याभिगमनं, तस्योपदेशानुष्ठानम्,  
अग्नेरेवोपचर्या, धर्मशास्त्रानुगमनं, तदर्थवबोधस्तेनावष्टम्भः,  
तत्र यथोक्ताः क्रियाः । सतामुपासनम्, असतां परिवर्जनं, न  
सङ्गतिदुर्जनेन, सत्यं सर्वभूतहितमपरुपमनतिकाले परीक्ष्य  
वचनम्, सर्वप्राणिषु चात्मनीवावेक्षा, सर्वसामस्मरणम्  
असंकल्पनमप्रार्थनाऽनभिभाषणञ्च स्त्रीणाम्, सर्वपरिग्रहत्यागः

मुमुक्षूणां बन्धान्मोक्तुमिच्छूनामुदयनानि चानुव्याख्यास्यामः निवृत्तायुषाया-  
ननुव्याख्यास्याम इति । तद् यथा—तत्रेत्यादि । तत्र सर्ववन्द्येभ्यो  
मोक्तुमिच्छोषु मुक्षोरादितः प्रथमत आचार्याभिगमनम् । यः कार्त्तस्येन  
मोक्षोपायानुपदेष्टुं प्रभवति तमाचार्यमुपगम्य मुमुक्षुस्तस्याचार्यस्य मोक्षे य  
उपदेशस्तस्यानुष्ठानं कर्मकरणम् । मोक्षायाचार्येण यदुपदेष्टव्यं तदुपदिष्टस्य  
कर्मणोऽनुष्ठानमाचरणम् । अग्नेरेवोपचर्या । वैतानिकवैवाहिकस्याग्नेरेवोप-  
चर्या सेवा । धर्मशास्त्रानुगमनं मन्वादिस्मृतिशास्त्रानुगतकर्मकरणम् ।  
तदर्थवबोधो धर्मशास्त्रार्थस्यावबोधः गुरुणा व्याख्यातस्यार्थस्य धारणम् ।  
तेन धर्मशास्त्रार्थधारणेनावष्टम्भः चित्तावरुद्धता । ततस्तत्र धर्मशास्त्रार्थज्ञाता  
क्रियाचर्या । ततः सतामुपासनं वर्जनंश्चासतामसाधूनां पुरुषाणां विशेषेण  
दुर्जनेन सह सङ्गतिः सङ्गो न विधेया । सत्यं वचनं वक्तव्यं, न चाहितं  
न वा कस्यचिद्धितं कस्यचिदहितं परन्तु सर्वभूतहितं न चापि परुषं न  
निष्ठरम्, अनतिकाले वाक्यकालमनतिक्रम्य पुरुषं सत्पुरुषमेव लक्षीकृत्य  
काले वाक्यप्रयोगार्हसमये न त्वकाले परीक्ष्य यद्वचनं यदुपयुक्तं तथा  
रूपेण परीक्ष्य वचनं वक्तव्यमित्यर्थः । अवेक्षा दृष्टिः, सा च समाना न तु  
विषमा । सर्वसां स्त्रीणामस्मरणं स्मृतिः पूर्वानुभूतासम्प्रमोषः, असङ्कल्पनं  
मनसा चिन्तादिक्रियावर्जनम्, अपार्थनमयाच्चा अनभिभाषणञ्च । स्त्रीणा-  
मित्यनेन सर्वत्रान्वयः । ततः सर्वं भोजनाद्यर्थपरिग्रहस्तस्यापि त्यागः ।

इति हेतुगर्भविशेषणम् । तेन नित्यं दुःखाकान्तलोकदर्शनाद् विरक्तस्य सत इति दर्शयति । आचार्य  
इह मोक्षशास्त्रोपदेष्टा । तेनावष्टम्भ इति शास्त्रावबोधेन धैर्यं करणीयम्, मनसि तत्र कथन्ता  
न कर्तव्या इत्यर्थः । यथोक्ता क्रिया कर्तव्या इति शेषः । आत्मनीवावेक्षा चेति यथा आत्मनि

\* लोकदोषदर्शनं इत्यधिकं कचित् पठ्यते ।



कौपीनं प्रच्छादनार्थं धातुरागनिवसनं, कन्थासीवनहेतोः सूची-  
पिप्पलकं, शौचाधानहेतोर्जलकुण्डिका, दण्डधारणं, भैक्ष्यचर्यार्थं  
पात्रं, प्राणधारणार्थमेककालमग्राभ्यो यथोपपन्न एवाभ्यवहारः,  
श्रमापनयनार्थं शीर्णशुष्कपर्णतृणास्तरणोपधानं, ध्यानहेतोः  
कायनिबन्धनं, वनेष्वनिकेतनिवासः, तन्द्रानिद्रालस्यादिकर्म-  
वर्जनं, सर्वेष्विन्द्रियार्थेष्वनुरागोपतापनिग्रहः, सुप्तस्थितगत-  
प्रेक्षिताहार-विहार-प्रत्यङ्गचेष्टादिकेष्वारम्भेषु स्मृतिपूर्विका  
प्रवृत्तिः, सत्कारस्तुतिगर्हाविमानजमित्रं, क्षुत्पिपासायासश्रम-

प्रच्छादनार्थं परिधानार्थं कटिव्यतिरिक्ताङ्गाच्छादनार्थञ्च धातुरागनिवसनं  
गैरिकमृद्रञ्जितं कौपीनं वस्त्रचीरम् । तत्र परिधानार्थं कौपीनमात्रं सर्वा-  
ङ्गाच्छादनार्थं कन्था कार्या । सुतरां कन्थासीवनहेतोः सूचीपिप्पलकं सूची-  
रक्षणार्थं फलकोपादिरूपं पात्रम् । शौचश्चाधानश्च तयोर्हेतोः शौचाधानहेतोर्जल-  
कुण्डिका जलकमण्डलुः, आधानं स्वलनरक्षा तदर्थं दण्डधारणम्, भैक्ष्यचर्यार्थं  
पात्रं स्थाली, एककालं नाधिकवारमग्राभ्यो ग्राभ्याहार ओदनपूपसूपमांसमत्स्य-  
दधिघृतदुग्धपायसादिस्तद्व्यतिरिक्तः फलमूलरूपः यथोपपन्नः यदृच्छया  
यल्लभ्यते तदभ्यवहारः । शीर्णं यदृच्छया गलितं शुष्कं पर्णं तृणञ्च तत्-  
कृतास्तरणोपधानमास्तरणं शय्या उपधानं शिरोऽधः कृतपिण्डिताकारः ।  
कायनिबन्धनम् योगासनम् । वनेषु न तु ग्रामादिषु अनिकेतवासः  
कुटीरादिनिकेतनहीनवासः वृक्षादितलादौ वासः । इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु  
अभीष्टेष्वनुरागः अनभीष्टेषूपतापस्तयोर्निग्रहः । तर्हि किमनभीष्टेष्वनुराग  
उपतापोऽभीष्टेष्विति चेन्न । इष्टानिष्टेष्वर्थेष्वनुरागोऽपि न कार्य इत्यर्थात् ।  
सुप्तादिष्वारम्भेषु स्मृतिपूर्विका न तु यथाकथञ्चित् प्रवृत्तिः, सत्कारः पूजनं

अकार्यताबुद्धिस्तथा सर्वप्राणिषु कर्तव्या । असङ्कल्पनमित्यभावनम् । प्रच्छादनार्थं कटिवेष्टनार्थम् ।  
किंवा कौपीनार्थं प्रच्छादनार्थञ्च । सूचीपिप्पलकं सूचीस्थापनपात्रम् । भैक्ष्यचर्यार्थं पात्रं  
मिक्षापात्रमित्यर्थः । प्राणयात्रार्थमित्यनेन यावन्मात्रेणाहारेण प्राणयात्रा भवति, तावन्मात्र  
आहारः कर्तव्यः, न तु रागादिति दर्शयति । एवं श्रमापनयनार्थमित्यादावपि तावन्मात्रप्रयोजनता  
ध्यालयेया । कायनिबन्धनं योगपट्टम् । अनिकेतवास इति अगृहवासः । एतेन वनेऽपि न गृहं  
कृत्वा, स्थातव्यमिति दर्शयति । इन्द्रियाथपु गन्धादिषु अनुरागस्य तथोपतापस्य द्वे परस्परस्य

शीतोष्णवातवर्षासुखदुःखसंस्पर्शसहत्वम् । शोक-दैन्य-द्वेषमद-  
मानलोभरागेर्ष्याभयक्रोधादिभिरसम्बलनम्, ॐ अहङ्कारादिषूप-  
सर्गसंज्ञा । लोकपुरुषयोः स्वर्गादिसामान्यावेक्षणं, कार्यकाला-  
त्ययभयं, योगारम्भे सततमनिर्वेदः सत्त्वोत्साहः, अपवर्गाय  
धीधृतिस्मृतिवलाधानं, नियमनमिन्द्रियाणां चेतसि, चेतस  
आत्मन्यात्मनश्च, धातुभेदेन शरीरावयवसंख्यानमभीक्षां, सर्व्व  
स्तुतिः प्रशंसा, गर्हा निन्दा, अवमानमवज्ञा, तेषु क्षमित्युदासीनता । यदि  
कश्चित् सत्करोति तेन हृष्टो न स्यात्, यदि कश्चित् स्तौति तेनापि नाह्लादितः  
स्यात्, यदि कश्चिन्निन्दति वावजानीति, न च ताभ्यां दुःखी स्यात्, न शोकाद्य-  
सम्बलनं शोकादिसम्बलितवराहित्यम् । अहङ्कारादिष्वभिमानादिषु उपसर्ग-  
संज्ञा उपसर्गत्वेन ज्ञानम् । स्वर्गादिसामान्यावेक्षणं स्वर्लोकैः स्वर्गादिपूरुषेऽपि  
गर्भाधानादौ स्वर्गादि इत्येवमुक्तं यल्लोकपुरुषयोः सामान्यं तस्यावेक्षणं दर्शनम् ।  
कार्यकालात्यये भयं मोक्षार्थमुपयुक्तकार्याणां कालवर्त्तने तदत्यये तदतीतत्वे  
भावनि भयं विधेयम् । अनिर्वेद इति । वैराग्यादितो मनःखंदो निर्वेदः ।  
योगारम्भे सततवैराग्यादिना मनःखेदो न कार्यः, किन्तु योगारम्भे सततं  
सत्त्वोत्साहो मनस उत्साहः । धीधृत्यादीनां चतुर्णामाधानं धारणं पोषणञ्च ।  
इन्द्रियाणां नियमनं शब्दाद्यर्थेभ्यो निवर्त्येन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां चेतसि  
मनसि नियमनं धारणं कार्यम् । चेतसश्च चिन्त्यादिभ्यो निवर्त्य स्वस्मिन्नेव  
चेतसि नियमनं धारणं कार्यम् । आत्मनश्च चिन्त्यसङ्कल्पादिशब्दादि-  
विषयेष्विच्छाद्वेषसुखदुःखप्रयत्नबुद्धिभ्यो निवर्त्यैवात्मन्येव नियमनं धारणं  
निग्रहः कर्त्तव्यः । स्मृतिपूर्व्विका प्रवृत्तिरिति कोऽहम्, किमर्थं रागाद्यादिकमारभ्यते इत्यादि  
सर्त्तव्यमित्यर्थः । सत्कारः पूजा, सत्कारे स्तुतिं च सत्यामहृष्टत्वम् । यथा गर्हायामवमाने च  
समदर्शित्वम्, तथा सत्कारादिष्वपि ज्ञेयम् । क्षुधादिषु चानुद्वेगः क्षुधादिसहत्वम् । असंवसनम्  
असंवासः । अहङ्कारादयोऽष्टाविहैवोक्ताः । उपसर्गसंज्ञेति अनर्थहेतुत्वभावेन । लोकपुरुषयोः  
सर्गादिसामान्यावेक्षणमिति यथा इहैव लोकपुरुषयोरादिसर्गतः प्रकृतिसामान्यमुक्तं, तथावेक्षणम्  
इत्यर्थः । कार्यकालात्ययभयमिति मोक्षानुगुणकर्त्तव्यस्य कालातिपातभयं कर्णीयम् । नियमनम्  
इन्द्रियाणां चेतसि इन्द्रियाणि बाह्यविषयनिवृत्तानि मनस्येव नियतानि कर्त्तव्यानि । चेतसः  
चिन्त्यादिविषयेभ्यो व्यावृत्तस्य परमात्मन्यात्मज्ञानार्थं नियमनं कर्त्तव्यम् । आत्मनश्चात्मनि

कारणवद् दुःखमस्वमनित्यमित्यभ्युपगमः । सर्वप्रवृत्तिषु दुःख-  
संज्ञा, सर्वसंन्यासे सुखमित्यभिनिवेशः । एष मार्गोऽपवर्गाय,  
अतोऽन्यथा बध्यते । इत्युदयनानि व्याख्यातानि ॥ ६ ॥

भवन्ति चात्र ।

एतैरविमलं सत्त्वं शुद्ध्रपायैर्विशुध्यति ।

मृज्यमान इवादर्शस्तैलचेलकचादिभिः ॥

ग्रहाम्बुदरजोधूम-नीहारैरसमावृतम् ।

यथार्कमण्डलं भाति भाति सत्त्वं तथामलम् ॥

कार्यम् । धातुभेदेन त्वङ्मांसरसरक्तादिभेदेन शरीरावयवसंख्यानं शरीरा-  
वयवानां ज्ञानं कार्यम् । सर्वं कारणवद् दुःखमित्यभीक्षणं कार्यम् ।  
सर्वमस्वमात्मव्यतिरिक्तं यदिदं किञ्चित् तत्सर्वमनित्यमित्यभ्युपगमः ।  
सर्वप्रवृत्तिषु वेदोक्तविधिविहिताविहितेषु कर्मसु धर्माधर्मसाधनेषु या या  
प्रवृत्तिस्तासु दुःखसंज्ञा दुःखत्वेन ज्ञानम्, सर्वसंन्यासे सर्वपरित्यागे  
सुखमिति द्वयमभिनिवेशः स च कार्यः । अतोऽन्यथा उक्तेभ्योऽपीभ्य  
आचार्याभिगमनादिभ्योऽन्यथा बध्यते वद्धो भवति पुरुषः । इत्युदयनानि  
निवृत्तावुपायाः ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—एषांमुपायानां फलं वक्तुमाह—भवन्तीत्यादि । एतैरिति ।  
एतैराचार्याभिगमनादिभिः सर्वैः शुद्ध्रपायैर्मनसः शुद्धेरुपायैरविमलमनिर्मलं  
सत्त्वं मनः शुद्ध्रति निर्मलं भवति । क इवेत्यत आह दृष्टान्तम्—मृज्यमान  
इत्यादि । दृष्टान्तान्तरमाह—ग्रहेत्यादि । ग्रहो राहुकेतुरूप आच्छादकः । असमा-  
वृतं सस्यगनाच्छादितं तथामलं तद्वदमलं निर्मलं सत् सत्त्वं मनो भाति ।  
नियमनमिति योजना । तेन आत्मापीन्द्रियादिविषयेभ्यो व्यावर्त्योत्तमि मन्तव्यः । धातुभेदेन  
शरीरावयवसंख्यानमिति शरीरस्य रसमलस्नायवादिरूपतया ज्ञानम् । शरीरं हि रसमलस्नायवादि-  
रूपतया भाव्यमानं वैराग्यहेतुर्भवति, यथा—“मज्जाऽस्थना रजसा झीह्वा यकृता शकृतापि च ।  
पूर्णाः स्नायुक्षिरा याः स्युस्ताः स्त्रियश्चर्मपेशिकाः ॥” इत्यादिका वैराग्यभावना । कारणवदित्यनेन  
नित्यात्मव्यतिरिक्तं सर्वमनित्यं दर्शयति । दुःखमिति दुःखहेतुः । अस्वमिति आत्मव्यतिरिक्तम्  
अनात्मीयञ्च । सर्वसंन्यासेष्विति सर्वप्रवृत्त्युपरमेणु ॥ ९ ॥

चक्रपाणिः—अविमलमिति, क्रियाविशेषणम् । ग्रहो राहुः । सत्त्वस्य पञ्चैवेन्द्रियाणि

ज्वलत्यात्मनि संरुद्धं तत् सत्त्वं संवृतायने ।

शुद्धः स्थिरः प्रसन्नार्चिर्वदीपो दीपाशये यथा ॥ १० ॥

शुद्धसत्त्वस्य या शुद्धा सत्या बुद्धिः प्रवर्तते ।

विद्या सिद्धिर्मतिर्मेधा प्रज्ञा ज्ञानञ्च सा मता ॥

यया भिनत्त्यतिवलं महामोहमयं तमः ।

सर्वभावस्वभावज्ञो यया भवति निस्पृहः ॥

योगं यया साधयते साङ्ख्यः सम्पद्यते यया ।

यया नोपैत्यहङ्कारं नोपास्ते कारणं यया ॥

ननु कुत्र भातीत्यत आह—ज्वलतीत्यादि । संवृतायने संवृतानि अयनानि श्रोत्रादीन्द्रियच्छिद्ररूपाणि वह्निर्गमनकर्मणि यस्य तस्मिन्नात्मनि, तत् शुद्धसत्त्वं मनः संरुद्धं वहिरनिगच्छेत् अन्तःसंरुद्धं सत् ज्वलति दीप्यते । क इवेत्यत आह—शुद्ध इत्यादि । दीपाशये प्रदीपसंरक्षणाधाने यदि संवृतच्छिद्रे दीपं स्थापयति तदा स दीपः शुद्धो धूमाद्याविलतारहितः सन् स्थिरो वातादिभिश्चाचञ्चलः सन् प्रसन्नार्चिश्च सन् यया प्रज्वलति तथा तत् सत्त्वमित्यर्थः ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—ननु सत्त्वे शुद्धे किं स्यादित्यत आह—शुद्धेत्यादि । शुद्धसत्त्वस्य शुद्धं सत्त्वं मनो यस्य तस्य पुरुषस्य, शुद्धा निर्मला सत्या च बुद्धिः प्रवर्तते, या च सा शुद्धा सत्या बुद्धिः सा विद्या सा सिद्धिः सा मतिः सा मेधा सा प्रज्ञा सा ज्ञानञ्च मता । ननु कथं सा बुद्धिर्विद्यादिरूप्यते इत्यत आह—ययेत्यादि । यया शुद्धया सत्यया बुद्ध्या अतिवलम् अतिशयबलवत् महामोहमयं तमो भिनत्ति नाशयति योगी । यया च शुद्धया सत्यया बुद्ध्या निस्पृहः सन् सर्वभावाणां स्वभावज्ञो भवति । यया च बुद्ध्या योगं साधयते । यया च बुद्ध्या पुरुषः साङ्ख्यः सङ्ख्याया तत्त्वज्ञानेन वर्तते यः स साङ्ख्यः ज्ञानावरकाणि भवन्तीति कृत्वा सूर्यस्यापि पञ्चैव ग्रहादयश्चावरका उक्ताः । ज्वलतीति केवलात्मज्ञानजनकत्वेन प्रकाशते । आत्मनि संरुद्धमिति इन्द्रियेभ्यो व्यावृत्त्यात्मनियतम् । संवृतायन इति आत्मपक्षेऽपि संवृतेन्द्रियरूपच्छिद्रमात्मनि ज्ञेयम् । दीपाशयो दीपधारिका गृहं वा ॥ १० ॥

धर्मपाणिः—शुद्धसत्त्वमभिधाय तज्जन्यां मोक्षसाधनत्वेनात्यर्थोपादेयां सत्यां बुद्धिं विविधैः उपयुक्तैः स्वरूपैराह—शुद्धेत्यादि । महामोहोऽहमादि मिथ्याज्ञानम् । निस्पृह इति उपादित्साजिहासाग्रन्थः । योगमिति विषयव्यावृत्तस्य मनस आत्मन्येव परं योगम् । सङ्ख्या-सत्त्वज्ञानम्,

यया नालम्बते किञ्चित् सर्वं संन्यस्यते यया ।  
 याति ब्रह्म यया नित्यमजरं शान्तमक्षरम् ॥ ११ ॥  
 लोके वितत-ॐ-मात्मानं लोकश्चात्मनि पश्यतः ।  
 परावरदृशः शान्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति ॥  
 पश्यतः सर्वभूतानि सर्वावस्थासु सर्वदा ।  
 ब्रह्मभूतस्य संयोगो न शुद्धस्योपपद्यते ॥ १२ ॥

सम्पद्यते भवति । यया चाहङ्कारमभिमानाद्यहङ्कारकर्म नोपैति । यया च कारणं पुनर्भवहेतुं नोपास्ते । यया च किञ्चिदपि नालम्बते । यया च सर्वं संन्यस्यते । यया च ब्रह्म निर्वर्णं याति प्राप्नोति । ब्रह्म तु नित्यम् अजरं शान्तमक्षरञ्च । एषा च बुद्धिर्महत्तत्त्वमुच्यते ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—ज्ञानस्यास्य निर्वर्णसाधकत्वं दर्शयति—लोके इत्यादि । लोके जगति आत्मानं विततं पश्यतो जानतः पुंसः आत्मनि च लोकं विततं पश्यतः परावरदृशः परं सर्वतः श्रेष्ठं ब्रह्म ततोऽवरं सर्वमिदं महदादिकं द्रष्टुं शीलं यस्य तस्य । तथा शान्तिर्निर्वृत्तिर्ज्ञानमूला निरुक्तसत्यबुद्धिमूला न कदापि नश्यति । अस्याः शान्तेः फलमाह—पश्यत इत्यादि । सर्वावस्थासु जागरण-स्वप्न-सुषुप्तिषु सर्वदा अविच्छेदेन सर्वभूतानि समं पश्यतो

तथा वर्तत इति साङ्ख्यः । नोपास्ते कारणमिति न सुखदुःखकारणं सेवते । नालम्बते किञ्चिदिति क्वचिदप्यास्थानं न करोति । संन्यस्यत इति सर्वत्रोदासीनो भवति । ब्रह्मेति मोक्षः । विद्या-सिद्ध्यादयश्च यद्यपि ज्ञानविशेषेऽपि प्रसिद्धाः, तथापीह प्रकरणात् तत्त्वज्ञानपरा एव ज्ञेयाः ॥ ११ ॥

चक्रपाणिः—लोकविततमात्मानमिति लोकरूपमात्मानम्, तथा लोकश्चात्मनि शरीरात्मरूप-मेलकरूपे व्यवस्थितमिति शेषः । पश्यतः । परावरदृश इति परमात्मानम्, अवराण्यात्मन्यति-रिक्तानि प्रकृत्यादीनि यः पश्यति, तस्य परावरदृशः । 'ज्ञानमूला' इत्यनेन मोहमूलामस्थिरां शान्तिं निरस्यतीति ।

अथ जीवन्मुक्तस्य किमिति सुखदुःखहेतुधर्माधर्मसंयोगो न भवतीत्याह—पश्यत इत्यादि । पश्यत इति पश्यत एव परं न तु रज्यतो नापि द्विपत इत्यर्थः । ब्रह्मभूतस्येति—

नात्मनः कारणाभावात् \* लिङ्गमप्युपलभ्यते ।  
 स सर्वकारणत्यागान्मुक्त इत्यभिधीयते ॥  
 विषाणं विरजः शान्तं परमक्षरमव्ययम् ।  
 अमृतं ब्रह्म निर्वाणं पर्य्यायैः शान्तिरुच्यते ॥ १३ ॥  
 एतत् तत् सौम्य ! विज्ञानं यज् ज्ञात्वा मुक्तसंशयाः ।  
 मुनयः प्रशमं जम्बुर्वीतमोहरजःस्पृहाः ॥ १४ ॥

तत्र श्लोकौ ।

सप्रयोजनमुद्दिष्टं लोकस्य पुरुषस्य च ।  
 सामान्यं मूलमुत्पत्तौ निवृत्तौ मार्ग एव च ।

ब्रह्मभूतस्य जीवन्मुक्तस्य शुद्धस्य शुद्धसत्त्वस्य संयोगः संसारसंसरणहेतुधर्मा-  
 धर्माभ्यां संयोगो न सम्पद्यते ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—शरीरपरित्यागे तु ब्रह्मभूतस्यात्मनः कारणाभावान्मनः-  
 शरीराद्यभावात् लिङ्गं प्राणापानादि सुखदुःखादि च नोपलभ्यते । स पुरुषः  
 सर्वकारणानां सत्त्वशरीरादीनां त्यागान्मुक्त इत्यभिधीयते । मुक्तेः पर्य्याय-  
 माह—विषापमित्यादि ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थस्य फलमाह—एतत् तदित्यादि । तदेतत् पुरुषविचय-

ब्रह्मभूतस्य जीवन्मुक्तस्येति व्याख्येयम् । सर्वथा मुक्ते हि ज्ञानमपि नास्ति । तेन पश्यत इति  
 न स्यात् । संयोग इति धर्माधर्मसम्बन्धः ॥ १२ ॥

चक्रपाणिः—अथ मुक्तात्मनः किं लक्षणमित्याह—नेत्यादि । आत्मन इति मुक्तात्मनः ।  
 करणाभावादिति मनःप्रभृतिकरणाभावात् । उक्तं हि—“करणानि मनोबुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च”  
 इति, मनःप्रभृत्यभावाच्च शरीराभावोऽप्यर्थलब्ध एव । सर्वाभावाच्चात्मनि किमपि लक्षणं  
 नास्ति, स्वरूपेण चात्मातीन्द्रिय एव । तेन नात्माभावान्नोपलभ्यते, तल्लिङ्गानामभावादेव नोपलभ्यत  
 इति भावः ।

विषापमित्यादिना मोक्षस्वरूपप्रकाशकान् पर्य्यायानाह—यज् ज्ञात्वेति ज्ञानं प्राप्येत्यर्थः ।  
 किंवा गुणप्रकाशकत्वात् ज्ञानमपि ज्ञेयं भवतीति बोद्धव्यम् । संग्रहे शुद्धसत्त्वसंसाधानमित्यनेन,

\* करणाभावादिति चक्रः ।

शुद्धसत्त्वसमाधानं सत्या बुद्धिश्च नैष्ठिकी ।

विचये पुरुषस्योक्ता निष्ठा च परमर्षिणा ॥ १५ ॥

इत्यग्निवेशकृतै तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतै शारीरस्थाने

पुरुषविचयशारीरं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

शारीरं विज्ञानं, हे सौम्य ! यज् ज्ञात्वा यच्छारीरज्ञानेन मुनयो मुक्तसंशयाः  
सन्तो वीतमोहरजःस्पृहाः सन्तः प्रशमं शान्तिं जग्मुः ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—अथाध्यायार्थमुपसंहरति—तत्र श्लोकावित्यादि । निष्ठा  
मोक्षः ॥ १५ ॥

अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि ।

इति वैद्य श्रीगङ्गाधरकविरत्नविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ शारीरस्थानजल्पे  
चतुर्थस्कन्धे पुरुषविचयशारीरजलपाख्या पञ्चमी शाखा ॥ ५ ॥

‘एतैरविमलम्’ इत्यादिना ‘दीपाशये यथा’ इत्यन्तेन ग्रन्थेनोक्तार्थः संगृहीतः । ‘शुद्धसत्त्वस्य’  
इत्यादिना सत्या बुद्धिरुक्ता । नैष्ठिकी मोक्षसाधिका । निष्ठा मोक्षः ॥ १३—१५ ॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुराननश्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां चरक-  
तात्पर्यटीकायां शारीरस्थाने पुरुषविचयशारीरं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः ।

अथातः शरीरविचयं शरीरं व्याख्यास्यामः,  
इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

शरीरविचयः शरीरोपकारार्थमिष्यते । ज्ञात्वा हि शरीरतत्त्वं  
शरीरोपकारकोषु भावेषु ज्ञानमुत्पद्यते, तस्माच्छरीरविचयं प्रशं-  
सन्ति कुशलाः ॥ २ ॥

तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं, पञ्चसहाभूतविकार-

गङ्गाधरः—अथ योगारम्भे शरीराद्व्यत्यङ्गानामपेक्षत्वात् तद्धर्मांसादीनां  
विशेषेण ज्ञानस्य प्रयोजनं वक्तुञ्च शरीरविचयशरीरमारभते—अथात इत्यादि ।  
शरीरविचयं शरीरं विशेषेण चीयते चयनं क्रियते येनेति शरीरविचयः  
तमधिकृत्य कृतं शरीरमिति शरीरविचयं शरीरमित्यर्थः ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—शरीरेत्यादि । विचयो विचयनं विज्ञानं शरीरोपकारार्थं  
शरीरस्योपकारः समधातुलकरणरक्षणप्रयोजनकमिष्यते । ननु कुतः शरीरोप-  
काराय शरीरस्य विचयः स्यादित्यत आह—ज्ञात्वा हीत्यादि । हि यस्मात् ।  
शरीरतत्त्वं शरीरस्य याथार्थ्यं ज्ञात्वा पुंसः शरीरोपकारकरेषु शरीरस्य  
धातुसाम्यकरणरक्षणकारिषु भावेषु ज्ञानमुत्पद्यते ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—ननु शरीरं किं तावदित्यत आह—तत्रेत्यादि । चतन आत्मा  
तस्याधिष्ठानं भूतम्, अधिष्ठीयते यत् तदधिष्ठानं तद् भूतम् । नन्वात्मनो महदादि-  
ष्वपि बाह्यजगत्सु अधिष्ठानमस्तीति तद्व्यवच्छेदार्थमाह—पञ्चेत्यादि । पञ्च  
महाभूतानि त्वं वायुर्ज्योतिरापो भूरित्येतानि च विकाराश्च मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः

चक्रपाणिः—पुरुषविचयं मोक्षोपयुक्तत्वेन पुरुषोपकारकमभिधाय व्याक्रियमाणचिकित्सोपयुक्तं  
शरीरोपकारकं शरीरविचयं ब्रूते । शरीरस्य विचयः विचयनं शरीरस्य प्रविभागेन ज्ञानमित्यर्थः ।  
शरीरोपकारार्थमिति शरीरारोग्यार्थम् । अथ कथं शरीरज्ञानं शरीरोपकारकमित्याह—ज्ञात्वा  
हीत्यादि । शरीरस्य रक्तादिरूपस्य स्वभावरूपं तत्त्वं ज्ञात्वैव हृदमस्य वृद्धस्य धातोरसामान्य-  
गुणतयाऽवर्द्धकत्वेनोपकारकमिति, तथोक्तविपर्ययाच्चापकारकमिति ज्ञेयम् । ज्ञायते उपकार्यते  
शरीरतत्त्वमनेनेति वाक्यार्थः ॥ ११२ ॥

चक्रपाणिः—समुदितस्यैव शरीरस्य स्वरूपमाह—तत्रेत्यादि । 'चेतना'शब्देन ज्ञानकारणम्



समुदायात्मकम् । समसंयोगवाहिनो यदा ॐ ह्यस्मिन् शरीरे  
धातवो वैषम्यमापद्यन्ते, तदायं विनाशं बलेशं वा प्राप्नोति ॥३॥

वैषम्यगमनं पुनर्हि धातूनां वृद्धिहासगमनमकार्त्स्न्येनैव ।

त्वगादीनि चेत्येते तेषां समुदायः समस्तरूपः तदात्मकं शरीरमिति सूक्ष्म-  
शरीरेऽनुगतं न स्थूलशरीरे । त्वङ्मांसादीनां प्रकृतिभूतपञ्चमहाभूतत्वङ्मनो-  
दशेन्द्रियार्थत्वाभावात् । मनसश्च शरीरत्वे सत्त्वमात्मा शरीरञ्चेति सूत्रे शरीरस्य  
मनस्तः पृथग्वचनस्यासङ्गतेः । तस्मात् पञ्च महाभूतानि तद्विकाराश्च दशेन्द्रिय-  
पञ्चार्थास्त्वङ्मांसादयश्चेत्येते तेषां समुदायः समस्तरूपो न प्रत्येकरूपः  
तदात्मकं शरीरम् । अथवा विकारा दशेन्द्रियाण्यर्थाश्च समुदाया मातृजादि-  
पञ्चभूतात्मकास्त्वङ्मांसादय इति ज्ञानार्थम् । शरीरमुक्त्वा शरीरस्योपकारार्थम्  
अपकारमाह—समेत्यादि । हि यस्मादस्मिन् शरीरे धातवस्त्वग्रक्तमांसादयः  
प्रसादधातवः, स्वेदादय उपधातवो, वातपित्तकफमूत्रादयो मलधातवश्च  
समसंयोगवाहिनः समेन समुचितमानेन संयोगं परस्परं धातूनां मेलकं  
नीरोगतया वहन्तीति । वस्तुतः समानां स्वस्वघटकानां भावानां द्रव्यगुणकर्मणां  
सम्यगारोग्यलक्षणसम्पत्करं योगं समवायं वहन्तीति समसंयोगवाहिनो  
धातवो यदा वैषम्यमापद्यन्ते प्राप्नुवन्ति तदा ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—ननु वैषम्यप्राप्तिः का ? इत्यत आह—वैषम्येत्यादि । वृद्धिहास-  
गमनं वृद्धिगमनं हासगमनञ्च । अकार्त्स्न्येन सर्वेषां धातूनामसाकल्येन  
आत्मोच्यते । 'भूत'शब्द उपमाने । तेन चेतनाया आत्मसम्बन्धिन्या शरीर एवोपलम्भादात्मनः  
शरीरमधिष्ठानमिति भवति । परमार्थस्तु चेतनाश्रय आत्मा, आत्मा च निराश्रय एव, किंवा  
चेतनस्यात्मनोऽधिष्ठानभूतमिति चेतनाधिष्ठानभूतमिति । पञ्चानां महाभूतानां विकारा रसादयः  
शरीरारम्भकाः, तेषां समुदायो मेलकः, स आत्मा स्वरूपं यस्य तत् तथा । 'समुदाय'शब्देन  
च समुदायारम्भका धातव एवोच्यन्ते । तेन न संयोगमात्रस्य शरीरत्वप्रसक्तिः । किंवा समुदायः  
संयोग एवोच्यताम्, तथा समुदाय आत्मा कारणं यस्य शरीरस्य द्रव्यरूपस्य तत् पञ्चमहाभूत-  
विकारसमुदायात्मकं शरीरमेव । समेनोचितप्रमाणेन धातूनां मेलकेन समयोगतया वहतीति  
समयोगवाहि । यदा तु धातूनां न्यूनातिरिक्तत्वेन विषमो मेलको भवति, तदा असमयोगवाहीति  
दर्शयन्नाह—यदा हीत्यादि । लघुना वैषम्येण रोगमात्रजनकेन क्लेशम्, महता दुःसाध्यरोग-  
जनकेन वैषम्येण विनाशं मरणं प्राप्नोतीति शरीरम् ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—अथ किं तत् वैषम्यमित्याह—वैषम्यगमनमिति, वैषम्यगमनं वैषम्यावस्थाप्राप्तिः ।

\* समुदायात्मकं समयोगवाहि । यदेत्यादि चक्रवृत्तः पाठः ।

प्रकृत्या च यौगपदेन विरोधिनां धातूनां वृद्धिहासौ भवतः ।

सकलधातूनां हि सामान्याभावेन, युगपद्वृद्धेर्विज्ञेयाभावेन तु हासस्य चासम्भवात् । ननु क्षयः स्थानञ्च वृद्धिश्चेति त्रिविधं वैषम्यमुक्तम्, अत्र तु वृद्धि-हासगमनमिति स्ववचनविरोध इति चेत्, न, स्थानस्य पृथक्त्वे हि न वैषम्यं परन्तु साम्यमेव, विषमसहचरितत्वेन स्वस्थानाकर्षणादित्वे तु समस्तान्तर्गतत्वेन पृथग्वचनानावश्यकत्वात् । तद्वक्तुमाह—प्रकृत्या चेत्यादि । प्रकृत्या च

वैषम्यमेव कादाचित्कमित्यर्थः, यदि हि वैषम्यमेव घृष्यते, तदा सहजसिद्धमपि धातूनां यत् न्यूनान्तिरिक्तत्वेन वैषम्यं, तदपि गृह्यते । तेन 'गमन'पदप्रक्षेपात् सहजं वैषम्यं परित्यज्य प्रमाणापेक्षं कदाचिदुत्पद्यमानं वैषम्यं दर्शयति । वृद्धिहासगमनञ्चेह व्यस्तसमस्तवैषम्यं ज्ञेयं वृद्धिहासस्यैव विशेषाभावात् । अकारस्तेनैव प्रकृत्या चेति अकारस्तेनैवेति एकदेशेन, प्रकृत्येति सकलेन स्वभावेन । तेन च रसादीनाञ्च अशेषेण वृद्धिहासौ तथा अकारस्तेनैव वृद्धिहासौ उपसंगृहीतौ भवतः । अन्ये तु 'अकारस्तेनैव' इतिपदं क्लेशं विनाशं प्राप्नोतीत्यनेन योजयति । तेन यदापि धातवो वैषम्यमापद्यन्ते, तदापि न क्लेशविनाशौ भवतः, 'अकारस्तेनैव' इतिपदेन क्लेशविनाशव्यभिचारस्य विहितत्वाच्च । दृष्टञ्चेतत्, यथा—वृष्यप्रयोगात् शुक्रवृद्धौ सत्यामपि न क्लेशविनाशौ भवतः, तथा बालस्य वर्द्धमानधातोरपि गुण एव परं दृश्यते । तच्च नातिसाधु । यतः बालस्य वर्द्धमानधातोरपि वयोऽनुरूपाः प्राकृतमानस्थिता एव धातवो भवन्ति, तेन न ते प्राकृतमाना वृद्धा उच्यन्ते । या तु वृष्यप्रयोगजा शुक्रवृद्धिः, सा यदि विकारकारिका न भवति, तदा तु प्राकृतमानान्तर्गता एव । एतदेव धातूनां प्राकृतमानम्—यद्विकारकारि । अक्षल्यादिमानन्तु ग्रन्थान्तरेणाभिहितमपि नित्यपरोक्षतया पुनः स्वाभाविक-धातुलक्षणरेव ज्ञातव्यम् । तस्माच्छुक्रस्य यावती वृद्धिरदोषा, तावती प्राकृतमानावस्थारूपैव । प्राकृतमानान्तिरिक्तो चेह वृद्धिहासौ 'वैषम्यगमन'शब्देनोच्येते । तस्मादादैव व्याख्या । यस्मादेवं केवलं वृद्धिहासगमनमेव वैषम्यगमनम् । किन्तु प्रकृत्या च वैषम्यगमनं धातूनां भवतीति व्याख्या न भवति । तथा हि—“प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारुतः श्लेष्मणः क्षये” इत्यादौ प्रकृतिस्थस्य दोषस्य विकारकर्तृत्वमुच्यते, विकारकरस्य दोषस्य प्रकृतिस्थतापि वैषम्यानुक्रियाकारित्वेन 'वैषम्य'-शब्देनोच्यते । तदपि नातिसुन्दरम् । येन प्रदेशान्तरेणैव त्रिविधां गतिं प्रतिपद्य प्रकृतिस्थता धातूनां निर्विकार एवोक्ता, यथा—“क्षीणा जहति लिङ्गं स्वं रुमाः स्वं कर्म कुर्वते । दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथाबलम्” तथा “विकारो धातुवैषम्यम्” “विकारो दुःखमेव च” एवमादिषु । यत् तु “प्रकृतिस्थं यदा पित्तम्” इत्यादि स्वमानावस्थितस्य पित्तस्य विकारकर्तृत्वम्, तच्छरीरप्रदेशान्तर्गीतस्य पित्तादेस्तु तत्प्रदेशवृद्धस्यैव विकारकर्तृत्वम् । स्वमानस्थितोऽपि दोषः प्रदेशान्तरं नीतः सन् प्रदेशस्थदोषापेक्षया वृद्ध एव भवति । तत्रापि वृद्धस्यैव विकार-कर्तृत्वम्, प्रपञ्चितश्चायं सत्रैव ग्रन्थे । यत्रापि स्वमानस्थितानां रक्तादीनां वातादिदृष्ट्या विकार-

यद्धि यस्य धातोर्वृद्धिकरं तत् ततो विपरीतगुणस्य धातोः  
प्रत्यवायकरन्तु सम्पद्यते । तदेव तस्माद् भेषजं सम्यग्वचार्थ-  
माणं \* युगपद्दूनातिरिक्तानां धातूनामधिकमपकर्षति न्यूनम्

विरोधिनां धातूनां यौगपदेन एककालं वृद्धिहासौ भवतः । यद्यत्र कश्चिद्धातुः  
समो वर्तते वृद्धह्रस्वाभ्याश्चाकृष्यते तदा सोऽपि वृद्धह्रस्वान्तर्गत एव स्यात्,  
तत्र क्षीणो यत्राकृष्यते तत्र वृद्धः स्यादिति युगपद्वृद्धिहासौ भवतः । यदि  
नाकृष्टः स्यात् तदा दुष्टो न स्यादिति भावः । ननु कथं विरोधिनां धातूनां  
युगपद्वृद्धिहासौ भवत इत्यत आह—यद्धीत्यादि । तत इति । तस्माद्धातुतः  
प्रत्यवायकरं हासकरम् । तदेव भेषजं युगपद्दूनातिरिक्तानां धातूनां युगपद्वृ-

कर्तृत्वम्, तत्रापि वातादय एव वृद्धाः प्राधान्येन विकारकारकाः, रक्तादयोऽपि तद्वृद्धिदोष-  
सम्बन्धात् हीनस्वगुणा वृद्धस्वगुणा वा भवन्ति, ततो गुणहानिवृद्धिभ्यां वृद्धिहासौ दूष्येऽपि तिष्ठत  
एवेति न प्रकृतिस्थस्य विकारकारित्वमिति पश्यामः । उपयुक्तभेषजेन यथा वृद्धिहासौ भवतः  
तदाह—यौगपदेनेत्यादि । विरोधिनामिति परस्परविरुद्धगुणानाम्, तदेवोपपादनं दर्शयति—  
यद्धीत्यादि । यद्धि भेषजम्,—यथा क्षीरं कफशुक्रादिवृद्धिकरम्, तत् तु पित्तरक्तदेः प्रत्यवायकरं  
भवति हासकरं भवतीत्यर्थः । विपरीतस्येति कर्तव्ये यत् विपरीतगुणस्येति करोति, तेन  
जातिवैपरीत्याद् गुणवैपरीत्यमेव हासकारणं प्राधान्येन दर्शयति । तेन गोमूत्रं द्रवत्वसामान्यात्  
समानमपि कट्वृष्णरुक्षादिगुणयोगात् कफस्यापि हारकमेव ।

उपपादितयौगपदेन धातूनां वृद्धिहासगमनमुपसंहरन्नाह—तदेवेत्यादि । सम्यग् उपचर्यमाण-  
मित्यनेन उचितमात्रादियोगं तथा साम्यावाप्तावधिकभेषजप्रयोगं दर्शयति,—मात्रादिविगुणं हि  
भेषजं न उचितां क्रियां करोति,—यथा वृद्धस्य कफस्य क्षीणस्यापि पित्तस्य क्षयवृद्धिभ्यां  
सामान्यं समुपयुज्यते कटादि, तत् साम्यापातोत्तरकालमप्युपयुज्यमानं पित्तवृद्ध्या कफक्षयेण  
च पुनर्वैपम्यमावहति । तस्मात् तद्वृद्धोपाणां व्यावृत्त्यर्थं सम्यगुपचर्यमाणमिति कृतम् । ननु  
पूर्वोक्तभेषजेन विरोधिनां वृद्धिहासौ भवतः । उपसंहारे तु धातूनां साम्यकरं भेषजं भवतीत्युच्यते,  
तत् कथं साम्यभेद इत्याशङ्क्य वृद्धिहासकरमेव धातुसाम्यकरं भवतीति दर्शयन्नाह—अधिकमपकर्षति,  
न्यूनमाप्यायतीति । एवंभूतञ्च धातुसाम्यकरणम् । यत्रैव विरोधिनां वृद्धिहासौ विदेते, तत्रैव  
क्षेयम्, न सर्वत्र । तेन यत्र वृद्धिरेव परं दोषाणां न क्षयः, तत्र यथा वृद्धस्य दोषस्य क्षयाधान-  
मुक्तम्, न तथा क्षीणस्य वर्द्धनमिति ज्ञेयम् ।

आध्यायतीति । एतावदेव हि भैषज्यप्रयोगे फलमिष्टं स्वस्थ-  
वृत्तानुष्ठानञ्च यावद्धातूनां साम्यं स्यात् ॥ ४ ॥

स्वस्थस्यापि \* समधातूनां साम्यानुग्रहार्थमेव कुशला रस-  
गुणानाहारविकारांश्च पट्यायेण इच्छन्त्युपयोक्तुम् । सात्म्य-  
वृद्धिह्रस्वधातूनामधिकमपकर्षति न्यूनमाप्याययति वृद्धस्य हासकरं यत् तदेव  
ह्रस्वस्य वृद्धिकरं भवति, इति एकमेव भेपजं तस्मात् साम्यकरं भवति ।  
अकात्स्न्येन तु वृद्धं धातुं समानगुणं द्रव्यं वर्द्धयति विशिष्टगुणं हासयति, ह्रस्वश्च  
तथा, तस्मात् वृद्धे धातौ विपरीतगुणं भेपजं ह्रस्वेतु धातौ समानगुणं द्रव्यं भेपजं  
सम्यगवचाध्यमाणं साम्यकरं भवतीति । एतावदेव धातुवैषम्ये सति धातुसाम्य-  
करणमेव, द्वितीयञ्च यावद्धातूनां साम्यं तावत् स्वस्थवृत्तानुष्ठानमिति । स्वस्थ-  
वृत्तानुष्ठानफलमिष्टं यावद्धातूनां साम्यमिति ; अत एव पूर्वार्ध्यायेऽप्युक्तं  
“धातुसाम्यमिहोच्यते । धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्नस्यास्य प्रयोजनम् ॥”  
इति ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—ननु स्वस्थाः किं भेपजमाचरन्तीत्यत आह—स्वस्थस्यापीत्यादि ।  
साम्यानुग्रहार्थं साम्यरक्षणार्थम् । कुशलाः स्वहितैषिणो बुद्धिमन्तोऽपि  
स्वस्थाः । पट्यायेण सम्यगुचितक्रमेण । पट्यायेणाहारविकाराणामुपयोगमुक्तवा  
उक्तधातुसाम्योपादेयतां दर्शयितुं भेपजप्रयोगस्य तथा स्वस्थवृत्तानुष्ठानस्य धातु-  
साम्यातिरिक्तं फलं निषेधयन्नाह—एतावदेवेत्यादि । ‘एतावदेव’ इत्यनेन वक्ष्यमाणधातुसाम्यं  
प्रत्यवमृपति । धातुसाम्यात्मको हि भेपजसाध्यो न धातुसाम्यादतिरिच्यते, तथा स्वस्थस्यौज-  
स्करत्वम्, रसायनेनापि धातुसाम्यमेव विशुद्धमाधीयते । तेन धातुसाम्यादतिरिक्तमायुर्वेदसाध्यं  
नास्तीति भावः । उक्तञ्च—“धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्नस्यास्य प्रयोजनम्” इति ॥ ३।४ ॥

चक्रपाणिः—ननु स्वस्थे धातुसाम्यं सिद्धमेव, न च सिद्धं साध्यते स्वस्थनिष्ठवृत्तानुष्ठानेऽपि धातु-  
साम्यमेव फलमित्याह—स्वस्था ह्यपीत्यादि । साम्यानुग्रहार्थमिति स्वस्था एव साम्यस्य परापरसात्म्योत्-  
पादेन परिपालनार्थम् । रसा मधुरादयः । गुणा गुर्वीदयः । आहारविकाराः खाद्यलेखा यवाग्वादयः ।  
पट्यायेणेति उचितेन क्रमेण, स च क्रमः, यथा—मधुरमुपयुज्य तज्जन्यकफवृद्ध्यादिप्रतिबन्धार्थं  
कटादुपयोज्यमित्यादिः रसक्रमः, तथा गुरुमुपयुज्य तत्कार्यप्रतिबन्धार्थं लघूपयोगः, इत्येवंप्रकारो  
लघुगुरुरूपयोगक्रमः । आहारविकारेऽपि यवाग्वादुपयुज्य तत्पाकार्यं पेयादुपयोग इत्यादिकः क्रमः ।  
‘गुण’शब्देन च रसा अपि प्राप्यन्ते, तथापि रसाः प्राधान्यात् पृथगुक्ताः । सात्म्यसमाज्ञातानिति  
‘रसगुणान्’ इत्यस्य, तथा ‘आहारविकारांश्च’ इत्यस्य विशेषणम् । सात्म्याश्च ते अभ्यासेन तथा समत्वेन

\* स्वस्था ह्यपीति चक्रः ।

समज्ञातान् एकप्रकारभूयिष्ठांश्चोपयुञ्जानास्तद्विपरीतकरणा-  
लक्षणसमज्ञातचेष्टया सममिच्छन्ति कर्तुम् । देशकालात्मगुण-  
विपरीतानां हि कर्मणामाहारविकाराणाञ्च क्रियोपयोगः  
सम्यक् । सर्वाभियोगो \* अनुदीर्णानां सन्धारणमसन्धारणम्

विपर्ययाणामुपयोगमाह—सात्म्येत्यादि । यान् रसगुणान् आहारविकारान्  
सात्म्यसमज्ञातान् सात्म्यत्वेन सुखानुबन्धहेतुत्वेन धातुसमत्वेन धातुसमगुण-  
तया ज्ञातान् एकप्रकारभूयिष्ठांश्च मधुराद्येकप्रकारबहुलानपि उपयुञ्जानाः  
कुशलाः स्वस्थास्तेभ्य आहारविकारेभ्यो विपरीतानामाहारविकाराणां करण-  
लक्षणेन संस्कारतो लाक्षणिकतया समत्वेन ज्ञातस्यैव द्रव्यस्य समीकरणार्थं  
संस्कारप्रकरणीभूता या चेष्टा तथा तद्विपरीतानाहारविकारानपि समं धातुसमं  
कर्तुमिच्छन्ति । ननु कुतो विपरीतानामेवंरूपेण समीकरणमिष्यते पर्यायेण यत्  
समीभवति तेनैवेष्टसिद्धिः स्यादिति चेत्, न । कस्मादित्यत आह—देशेत्यादि ।  
देशविपरीतानां कालविपरीतानामात्मनो धातुगुणविपरीतानाञ्च कर्मणां सम्यक्  
क्रिया तत्त्वज्ञानं आहारविकाराणाञ्च सम्यक् उपयोगः । तथा सर्वाभियोगः

स्वाभाविकपथत्वेनाज्ञाता इति सात्म्यसमाज्ञाताः, 'सम'शब्देनात्र पथ्यमुच्यते । किंवा सर्वदा  
सात्म्यत्वेन समाज्ञाताः सात्म्यसमाज्ञाताः । तेन असात्म्यानामुपयोगमेव प्रतिक्षिपति । यच्च तावत्  
रसादयः पर्यायेणोपयुज्यते तत् साधु । यत्र त्वेकप्रकारा एव रसादयः कुतश्चिदेतोरभ्यस्यन्ते, तत्र  
को विधिरित्याह—एकप्रकारेत्यादि । तत्रोपयुक्तैकप्रकाररसादिभूयिष्ठाद् रसादेर्विपरीतमेव करोतीति  
तद्विपरीतकरी समाज्ञाता चेष्टा । तथा चेष्टया समं कर्तुमिच्छन्तीति, एकप्रकारभूयिष्ठादुप-  
योगेन आधीयमानवैषम्यशरीरं समधातुं कर्तुमिच्छन्ति । एतदुदाहरणम्—यथा मधुरप्रकारभूयिष्ठं  
च आहारप्रकारमुपयुञ्जीत, तस्य मधुरसमानकफादिवृद्धिमाशङ्क्य कफादिक्षयकरी व्यायामादिचेष्टा,  
तथा सामान्यमाधीयते । किंवा तद्विपरीतकरी च, तथा समत्वेन च आज्ञाता या चेष्टा, सा तद्वि-  
परीतकरसमाज्ञाता, तेन क्रियमाणम् अतियोगादि निषेधयति ।

सम्प्रति प्रस्तावागतं स्वस्थवृत्तं समासेनाह—देशेत्यादि । देशादिभिः 'गुण'शब्दः  
सम्बध्यते । 'आत्म'शब्देनेह शरीरमुच्यते । देशविपरीतं कर्म यथा—मरौ स्वप्नः ।  
कालविपरीतं कर्म यथा—वसन्ते व्यायामः । आत्मविपरीतं कर्म यथा—स्थूलशरीरे व्यायाम-  
जागरणादि । एवमाहारप्रभेदाश्च कालादिविपरीता उन्नेयाः । कर्मणां सम्यक्क्रियोपयोगस्तथा  
आहारविकाराणां सम्यक्क्रियोपयोगः । मिथ्यायोगायोगरूपोऽप्यतियोगो ज्ञेयः । तेन सर्वेषां

\* सर्वाभियोग इति चक्रः ।

उदीर्णानाञ्च गतिमतां साहसानाञ्च वर्जनम् । स्वस्थवृत्तः  
मेतावद्धातूनां साम्यानुग्रहार्थमुपदिश्यते ॥ ५ ॥

धातवः पुनः शरीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैर्वापि  
आहारविकारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धिं प्राप्नुवन्ति ; हासन्तु विपरीत-  
गुणैर्विपरीतगुणभूयिष्ठैर्वाप्याहारैरभ्यस्यमानैः । तत्रेमे शरीरधातु-  
गुणाः संख्यासामर्थ्यकराः । तद् यथा—गुरुलघुशीतोष्णस्निग्ध-  
सन्धारणं गतिमतामनुदीर्णानां, मलादीनामुदीर्णानामसन्धारणं तथा साह-  
सानाञ्च वर्जनं स्वस्थवृत्तञ्चैतावदेव धातूनां साम्यानुग्रहार्थमुपदिश्यते ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—ननु के धातवः कैर्दृष्टिं कैश्च हासं प्राप्नुवन्तीत्यत आह—  
धातव इत्यादि । शरीरा इत्यनेन मानसानां निरासः । समानगुणभूयिष्ठैर्वेति  
भूयिष्ठगुणानामल्पिष्ठगुणावजयित्वात् । उक्तं हि विरुद्धगुणसमवाये भूयसाल्प-  
मवजीयते इति । जैमिनिनाप्युक्तं—विरुद्धधर्मसमवाये भूयसां स्यात्  
सधम्मकत्वमिति । अभ्यस्यमानैर्न त्वेकवारमात्राभ्यवहारतः । ननु शरीर-  
धातूनां के गुणा इत्यत आह—तत्रेमे इत्यादि । शरीरधातुगुणाः संख्यासामर्थ्यकरा  
इमे वक्ष्यमाणा गुणादय एव शरीरधातुगुणा आहारद्रव्याणां पाञ्चभौतिकानां  
सामान्यविशेषयोर्ज्ञाने सामर्थ्यकराः शक्तिजनका न तन्ये बुद्ध्यादयः शब्दादयः  
परत्वादयो वा शरीरस्य वृद्धौ वा हासे वा सामान्यविशेषज्ञाने शक्तिकराः । बुद्ध्यादि-  
जनकत्वं हि द्रव्याणां प्रभावात् । परत्वाद्विजनकत्वञ्च गुणैर्नास्ति । शब्दादि-  
कालबुद्धीन्द्रियार्थमिध्यायोगादीनां वर्जनं सर्व्वीतियोगसन्धारणम् । कालमिध्यायोगादेस्तु दुष्परि-  
हरस्य प्रतिक्रिययैव वर्जनम् । गतिमतामिति पुरीपादीनां वह्निर्मनशीलानाम् । साहसानाम्  
अयथायत्नानाम् ॥ ५ ॥

चक्रपाणिः—अथ रसादिधातूनां वृद्धिहासावुक्तौ । तौ सात्म्याहाराभ्यां क्रियेते, तद् दर्शयितुमाह—  
धातव इत्यादि । 'शरीराः' इतिपदेनाध्यात्मिकान् बुद्ध्यादीन् व्यवच्छिन्नंति । यतो न बुद्ध्यादयः  
समानगुणवचनाद् व्यावर्त्तन्ते, असमानगुणानाक्रामन्ति । समान एव परं गुणो यस्य तत्समान-  
गुणम्, यथा—मांसं मांसस्य समानगुणमूयिष्ठम् । यदल्पसमानगुणम्, यथा—शुक्लस्य क्षीरम्,  
क्षीरस्यातिद्रवत्वात् शुक्लेऽल्पसमानगुणम् । अभ्यस्यमानैरित्यनेन सकृदुपयोगाद् वृद्धिं हासञ्च  
निषेधयति । विपरीता एव परं गुणा यस्य तद् विपरीतगुणम् । अल्पसमानगुणन्तु विपरीत-  
गुणमूयिष्ठम् । अथ के ते शरीरधातुगुणाः, ये तेषां गुणैः समानाश्चोच्यन्त इत्याह—तत्रेत्यादि ।  
शरीरधातुगुणा इति विशेषेण प्रस्तुतत्वेनानभिधेयात्मगुणान् बुद्ध्यादीन् निरस्यति । परादयस्तु

रुक्ष-मन्द-तीक्ष्ण-स्थिरसरमृदुकठिन-विशदपिच्छिलश्लक्ष्णखर-  
सूक्ष्मस्थूलसान्द्रद्रवाः । तेषु ये ते गुरुवो धातवो गुरुभिराहार-  
विकारगुणैरभ्यस्यमानैराप्याध्यन्ते लघवश्च हसन्ति । लघवस्तु ये ते  
लघुभिरेवाप्याध्यन्ते, गुरुवश्च हसन्ति । एवमेव सर्वधातुगुणानां  
सामान्याद् वृद्धिर्विपर्ययात् हासः । तस्मान्मांसमाप्याध्यते  
मांसेन भूयोऽन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः । तथा लोहितं लोहितेन,  
जनकलन्तु नान्तरीक्षादिद्रव्याहारतो दृश्यते । दृश्यते च प्रभावात् खरस्पर्शवर्ण-  
रसगन्धजनकत्वं द्रव्याणामिति । ननु के च ते गुणा इत्यत आह—तद्यथेत्यादि ।  
गुर्वादयो द्रवान्ता विंशतिः शरीरधातुगुणाः पाञ्चभौतिकाहारद्रव्यसामान्य-  
विशेषज्ञानशक्तिजनका इत्यर्थः । उदाहरणमाह—तेष्वित्यादि । आप्याध्यन्ते इति  
णिजन्तात् कर्मेणि तिङ्, ते इति प्रयोज्यकर्त्ता कर्मसंज्ञायामाख्यातेनोक्तः ।  
धातून् इत्यणिजन्तत्वे कर्म, प्रयोजकस्तु कर्त्ता गुरुभिरिति । लघवस्तु ये ते  
लघुभिराहारविकारगुणैरभ्यस्यमानैराप्याध्यन्ते, धातव इत्येवं योज्यं पूर्ववत् ।  
गुरुलघु गुणबुदाहत्य शेषानतिदिशति—एवमेवेत्यादि हास इत्यन्तेन ।  
वृद्धिहासयोगुणत उदाहत्य तैर्गुणैर्धातुत उदाहरति—तस्मादित्यादि ।  
तस्मात् गुर्वादितो गुर्वादेर्वृद्धिहासौ, लघ्वादितो लघ्वादेर्वृद्धिहासौ  
गुर्वादेरित्यस्माद्धेतोर्मांसमाप्याध्यते मांसेन, भूयोऽन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः ।

यद्यपि शरीरधातुगुणा भवन्ति, तथापि ते वृद्धिं हासञ्च प्रति अनतिप्रयोजनत्वाद् इहानुक्ताः । रसस्तु  
प्रधानत्वेन प्रकरणानन्तरोक्त एवेति नेहोक्तः । स्पर्शस्तु शीतोष्णसंगृहीत एव । शब्दरूपगन्धास्तु  
वृद्धौ हासे च नातिप्रयोजना इति नोक्ताः । संख्या ज्ञानं गणना वा, तत्र सामर्थ्यं कुर्वन्तीति  
संख्यासामर्थ्यकराः । एते हि गुर्वादयो ज्ञाता विंशतिर्गुर्वादयो भवन्तीति यदज्ञानां संख्या-  
सामर्थ्यरूपम्, तत् कुर्वन्ति गुरुलघ्वादयः । परस्परविपर्ययात्मकान् द्वन्द्वान् दश गुणान् दर्शयित्वा  
तेषाञ्च द्रव्यसम्बन्धानां शृङ्खलाग्रहिततया कर्माह—तेष्वित्यादि । लघवश्च हसन्तीति च्छेदः । शेष-  
शीतादिगुणानां वृद्धिमतिदेशेनाह—एवमित्यादि । सामान्ययोगादिति समानैकरूपार्थयोगात् ।  
तच्च सामान्यं सर्वथा समानगुणजातिरूपं भवति, यथा—पोष्यपोषकयोर्मांसयोः । क्वचिद्  
विजातीयगुणा एव पोष्यपोषकवृत्तयो भवन्ति, यथा—क्षीरशुक्रयोः । तत्रात्यर्थवृद्धिकर्तृत्वेन  
प्रथमं जातिरूपमेव सामान्यं सर्वगुणसामान्ययुक्तमुदाहरति—तस्मादित्यादि । भूयस्तरमन्येभ्य  
इत्यनेन, मांसेन मांसगुणभूयिष्ठतया रक्तादिवृद्धिरपि क्रियते, भूयसी तु सामान्ययोगान्मांसस्य वृद्धिः

\* सामान्ययोगात् इति चक्रेण पठ्यते ।

मेदो मेदसा, वसा वसया, अस्थि तरुणास्थ्ना, मज्जा मज्ज्ञा।  
शुक्रं शुक्रेण, गर्भस्त्वामगर्भेण ॥ ६ ॥

यत्र त्वेवंलक्षणेन सामान्येन सामान्यवतामाहारविकाराणा-  
मसन्निध्यं स्यात्, सन्निहितानां वाप्ययुक्तत्वान्नोपयोगः  
घृणित्वादन्यस्माद्वा कारणात् स च धातुरभिवर्द्धयितव्यः स्यात् ।  
तस्य ये समानगुणाः स्युराहारविकारा असेव्याश्च, तत्र समान-  
गुणभूयिष्ठानामन्यप्रकृतीनाञ्च आहारविकाराणामुपयोगः स्यात् ।

मांसं हि कार्त्तस्नेन गुरुस्नेहादिगुणतः समानं मांसस्य, न त्वन्यशरीरधातवः  
कृत्स्नगुणतो मांससमाना इत्यतो भूय एव मांसं मांसेनाप्याय्यते । यावद्भिर्हि  
गुणैर्यौ यस्य समानः स तावद्भिर्गुणैस्तेन वर्द्धत इति भावः । एवमुत्तरेषु  
बोध्यम् । तरुणास्थ्नेति दृढत्वेनास्थिभक्षणासम्भवात् इति ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—शरीरधातूनां वृद्धिहासाबुदाहृत्य कस्य धातुर्वर्द्धयितव्यः कस्य  
हासयितव्य इति तदाह—यत्र त्वेवमित्यादि । यत्र धातौ एवंलक्षणेन मांसस्य  
मांसेनेत्येवमादिरूपेण असन्निध्यमसन्निधानं नोपयोगः स्यात् सन्निहितानामेवं-  
रूपेण कृत्स्नेन सामान्येन सामान्यवतामाहारविकाराणामभ्यवहृतानां वा  
घृणित्वादयुक्तं सदप्यवृंहणं स्यादन्यस्माद् वा कारणादयुक्तं सदप्यवृंहणं स्यात्  
स च धातुरभिवर्द्धयितव्यः । ननु केन प्रकारेण वर्द्धयितव्यः किं मनुष्यमांसेन  
मनुष्यमांसमित्येवमादि स्यादित्यत आह—तस्येत्यादि । यदि घृणित्वादन्यस्माद्  
वा कारणात् मांसवर्द्धनाय मांसं नोपयोक्तुमर्हति यस्य धातोस्तस्य धातोर्ये  
समानगुणा मनुष्यमांसादयोऽसेव्याश्चाहारविकारास्तत्र धातौ तत्समानगुण-  
भूयिष्ठानामन्यद्रव्यात्मकानामन्यप्रकृतिकानां छागादिप्रकृतिकानाश्चाहार-

क्रियत इति दर्शयति । लोहितं लोहितेनैवेत्येवमादौ “मूयस्तरमन्येभ्यः” इत्यनुवर्त्तनीयम् ।  
गर्भस्त्वामगर्भेत्यत्र आमगर्भेणाण्डादिरूपेण समुदितानां मांसादीनां साम्यनिष्पन्नानां वृद्धि-  
रुच्यते ॥ ६ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति समानगुणभूयिष्ठेन विजातीयेन वृद्धिमाह—यत्रेत्यादि । एवंलक्षणेनेति  
तुल्यजातिरूपेण । उक्तार्थं विवृणोति—घृणित्वादित्यादि । अन्यस्माद् वा कारणादित्यभक्ष्यामगर्भ-  
शुक्रादिभक्षजन्त्याधर्मतया । तत्रेत्यनेन असन्निहितान्, घृणया कारणान्तरेण च सन्निहिता अपि



तद् यथा—शुक्रक्षये क्षीरसर्पिषोरुपयोगो मधुरस्निग्धसमाख्याता-  
नाश्चापरेषामेव द्रव्याणाम्, मूत्रक्षये पुनरिचुरस-वारुणीमण्ड-  
द्रवमधुरास्ललवणोपवलेदिनाम्, पुरीषक्षये कुल्माषमाष-  
कुष्कुण्डाजमध्य-यव-शाक-धान्यास्ललानाम्, वातक्षये कटुतिक्त-  
कषायरुक्षलक्षुशीतानाञ्च, पित्तक्षयेऽस्ललवणकटुक्षारोष्णतीक्ष्णा-  
नाम्, श्लेष्मक्षये स्निग्ध-गुरु-मधुर-सान्द्रपिच्छिलानां द्रव्याणाम् ।  
कस्मापि च यद् यस्य धातोर्वृद्धिकरं तत्तदनुसेव्यम् ।  
एवमन्येषामपि शरीरधातूनां सामान्यविपर्ययाभ्यां वृद्धिहासौ  
यथाकालं कार्थौ । इति सर्वधातूनामेकैकशोऽतिदेशतश्च वृद्धि-  
हासकराणि व्याख्यातानि भवन्ति ॥ ७ ॥

विकाराणामुपयोगः स्यात् वृद्धिकर इति ज्ञेयः । अस्योदाहरणमाह—  
तद्यथेत्यादि । शुक्रक्षये इत्यादि । समानगुणभूयिष्ठानामुदाहरणानि ।  
कुष्कुण्डः पलालच्छत्रिका । अजस्य मध्यं मध्यदेहः । आहारानुदाहर्तुमाह—  
कस्मापि चेत्यादि । एतद्वृद्ध्यादाहरणानुसारेण वृद्धानामपि हासो विपरीता-  
हारविहाराभ्यामुदाहर्त्तव्य इति बोध्यम् । अनुक्तधातूनां वृद्धिहासावुप-  
संहर्तुमाह—एवमन्येषामित्यादि । शरीरधातुवृद्धिहासव्याख्यामुपसंहरति—  
इति सर्वधातूनामित्यादि ॥ ७ ॥

अलेव्यान् प्रत्यवमृपति । अन्यप्रकृतीनामिति विजातीयानाम् । अत्रोदाहरणमाह—तद्यथेत्यादि ।  
शुक्रे क्षीणे यदि शुक्रान्तरं न प्राप्यते, प्राप्तं वा घृणादिवशात् न प्रयोज्यं स्यात्, तदा समानगुण-  
भूयिष्ठानां क्षीरादीनामुपयोगः कर्त्तव्य इत्यर्थः । मूत्रादावपि घृणादिना स्वजातिप्रयोगविषये-  
समानगुणभूयिष्ठमाह—मूत्रेत्यादि । कुष्कुण्डं पलालादिच्छत्रिका । अजमध्यं छागान्तरास्थि ।  
द्रव्याणामुपयोग इति योजना । आहारं वृद्धिकरमभिधाय विहारमपि वृद्धिकरमाह—कस्मेत्यादि ।  
'कस्मै'शब्देनेहास्याचिन्तादयोऽपि गृह्यन्ते । कस्मै तु प्रायः प्रभावादेव वृद्धिकरं भवतीति कृत्वात्र  
समानगुणतापरिग्रहो न कृतः । साक्षादनुक्तानामपि धातूनामुक्तन्यायानुसारेण वृद्धिहासकारण-  
मिति दर्शयति—एवमित्यादि । यथाकालमिति क्रियाकालानामनतिपातेन । उक्तं प्रकरणमुप-  
संहरति—इति सर्वेत्यादि । एकैकश इत्यनेन 'मांसमाप्याय्यते मांसेन' इत्यादिनोक्तं गृह्यति ।  
अतिदेशतश्चेत्यनेन "एवमन्येषामपि शरीर धातूनाम्" इत्यादिनोक्तं गृह्यति ॥ ७ ॥

कार्तृस्येन शरीरवृद्धिकरास्त्वमे भावा भवन्ति । तद् यथा — कालयोगः, स्वभावसंसिद्धिः, आहारसौष्ठवम्, अविघातश्चेति । बलवृद्धिकरास्त्वमे भावा भवन्ति । तद् यथा — बलवत्पुरुषे देशे जन्म, बलवत्पुरुषे च काले । सुखश्च कालयोगः । बीजक्षेत्रगुणसम्पच्चाहारसम्पच्च शरीरसम्पच्च सात्म्यसम्पच्च सत्त्वसम्पच्च स्वभावसंसिद्धिश्च यौवनश्च कर्म च संहर्षश्चेति ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः — शरीरैकदेशमांसादिवृद्धिहासावुत्त्वा कृतस्नदेहवृद्धिहासकरानुदाहरति — कार्तृस्नेनेत्यादि । इमे के तानाह — कालेत्यादि । कालो नित्यगः कृतयुगादिः हेमन्तादिश्च तथावस्थिकश्च स्त्री पुमांश्च बाल्ययुवत्वादिः । स्वभावः स्वस्वप्रकृतिः, संसिद्धिः स्वाभाविकी या यस्य सिद्धिः अविघात इत्यव्याघातकरो भावः । बलवृद्धीत्यादि । बलवत्पुरुषे देशे यस्मिन् देशे बलवान् पुरुषो जायते स देशः, एवं बलवान् पुरुषो यस्मिन् काले जायते स कालः । सुखश्च सुखानुबन्धः कालयोगः । बीजक्षेत्रयोर्गुणसम्पत् साद्गुण्यम् । आहारसम्पत् आहारसाद्गुण्यम्, शरीरसम्पत् शरीरगुणानां साद्गुण्यम्, सात्म्यसम्पत् सात्म्यानामपि रसानां मधुरादीनां साद्गुण्यं कट्वादीनामसाद्गुण्यम्, सत्त्वसम्पत् मनसो धर्मवर्गेण साद्गुण्यमधर्मवर्गेणासाद्गुण्यम् । स्वभावसंसिद्धिः स्वाभाविकी सिंहादीनां बलसिद्धिः । यौवनश्च बाल्यवार्द्धक्यापेक्षया । बलकरं कर्म च, धर्मोऽपि न

चक्रपाणिः — वृद्धिप्रस्तावात् सर्वशरीरवृद्धिकरानाह — कार्तृस्नेनेत्यादि । कालयोग इति वृद्धिकारकयौवनादिकालयोगः । यौवनादौ हि सप्तदशवत्सरादिकाललक्षणे कालमहिम्नैव वृद्धिर्भवति । 'स्वभाव'शब्देनादृष्टमुच्यते । तेन स्वभावसंसिद्धिशरीरवृद्धिहेतुरदृष्टम् । आहारसौष्ठवमित्याहारसम्पत् । अविघातश्चेति शरीरवृद्धिविघातकरातिव्यवायमनोघातादिविरहः ।

वृद्धिप्रस्तावाच्च बलवृद्धिकरान् भावानाह — बलेत्यादि । देशमहिम्ना बलवन्तः पुरुषाः यस्मिन् । हेमन्ते शिशिरे वा काले जायमानस्य बलं जनयति । सुखश्च कालयोग इति साधारणकालयोगः । बीजस्य शुक्रस्य तथा क्षेत्रस्यात्तवगर्भाशयरूपस्य गुणानां प्रशस्तधर्माणां सम्पत् बीजक्षेत्रगुणसम्पत् । अत्र बीजक्षेत्रयोर्निर्दोषतापि सम्पत् स्यात् । तेन निर्दोषातिरिक्तस्य सारत्वादिबीजक्षेत्रगुणप्राप्त्यर्थं 'गुण'ग्रहणं ज्ञेयम् । सत्त्वसम्पच्चेति सत्त्वसम्पदापि शरीरं बलं भवतीति ज्ञेयम् । वचनं हि — "शरीरं ह्यपि सत्त्वमनुविधीयते ।" स्वभावसंसिद्धिर्बलजनककर्मसंसिद्धिः । कर्म व्यायामादिकर्मैत्यर्थः । व्यायामादिकर्माभ्यासान् निजं बलं भवति ॥ ८ ॥

आहारपरिणामकरास्त्वमे भावा भवन्ति । तद् यथा—  
 उष्मा वायुः क्लेदः स्नेहः कालः संयोगश्चेति \* । तत्र तु खल्वे-  
 षाम् उष्मादीनामाहारपरिणामकराणां भावानामिमे कर्मविशेषा  
 भवन्ति । तद् यथा—उष्मा पचति, वायुरपकर्षति, क्लेदः  
 शैथिल्यम् आपादयति, स्नेहो सार्द्धं जनयति, कालः पर्य्याप्ति-  
 मभिनिर्व्वर्त्तयति, संयोगस्त्वेषां परिणामधातुसाम्यकरः सम्प-  
 द्यते । परिणामतस्त्वाहारस्य गुणाः शरीरगुणभावमापद्यन्ते  
 सर्व्वो वलहेतुर्यथा युधिष्ठिरः सर्व्वधर्म्वान् न यथा वली तथा भीमोऽतादृश-  
 धर्म्वानपि वली । संहर्षश्च चित्तादादः ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—नन्वाहारसम्पद्बलवृद्धिहेतुः कथमाहारसम्पत् स्यादित्यत आह—  
 आहारेत्यादि । उष्माग्निर्जाठरो धातुगश्च सर्व्वः । ननु कः केन कर्मणाहारं  
 परिणामयति इत्यत आह—तत्रेत्यादि । उष्मा पचतीत्यादि । कालः  
 पर्य्याप्तिं परिणतिं निष्पत्तिम् । संयोगस्त्वेषामिति एषामाहारजरसानां  
 परिणामेन धातुभिः सह साम्यं समतां करोतीति । ननु कथं संयोगः  
 परिणामेन धातुसाम्यं करोतीत्यत आह—परिणामत इत्यादि । परिणामत

चक्रपाणिः—प्रशस्तगुणाभिधानप्रस्तावादाहारपरिणामस्यापि प्रशस्तस्य हेतुमाह—आहारेत्यादि ।  
 काल इति पाककालो निशावसानादिरूपः । समयोग इत्याहारस्य प्रकृत्याद्यष्टाहारविधिविशेषात्  
 समययोगः । तत्र चाहारपरिणामकरेषु उष्मैव साक्षात् पाके व्याप्रियते, वाय्वादयस्तु तस्य  
 पचतः सहायताव्यापारविशेषेण सहायतां यान्तीति दर्शयन्नाह—तत्रेत्यादि । वायुरपकर्षतीति  
 उष्मस्थानाद् विदूरस्थितमन्नमुष्मसमीपं नयति । यदुक्तम्—“अन्नमादानकर्म्म तु प्राणः कोष्ठं  
 प्रकर्षति” इति । वायुरपकर्षतीत्युपलक्षणम् । तेन अग्न्युत्तेजनमपि समानाख्यस्य वायोः  
 द्योद्वण्यम् । उक्तं हि—“समानेनावधूतोऽग्निः पचति” इति । पर्य्याप्तिमिति पाके निष्पत्तिम्,  
 सत्यपि उष्मादिव्यापारे कालवशादेव पाको भवति, नोष्मादिव्यापारमात्रादिति भावः । समयोगस्तु  
 एषामिति एषामाहारद्रव्याणां प्रकृत्यादीनां यः समयोगः, स परिणामकरो धातुसाम्यकरश्च भवति ।  
 यदा हि प्रकृत्यादिविरुद्ध आहारो भवति, तदा प्रकृत्यादिदोषादेव न समयक्परिणामकरो भवति ।  
 एतदुष्मादिव्यापारप्रतिपादकं ग्रन्थान्तरम्, यथा—“अन्नमादानकर्म्म तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति ।  
 तद्द्रवैर्भिन्नसंघातं स्नेहेन मृदुतां गतम् । समानेनावधूतोऽग्निरुदर्य्यः पचनेन तु । काले पक्वं  
 समं समयक् पचत्यायुर्विवृद्धये ॥” इति

यथास्वम् अविरुद्धाः, विरुद्धाश्च विहन्युर्विहताश्च विरोधिभिः  
शरीरम् ॥ ६ ॥

शरीरधातवरत्वेन द्विविधाः संग्रहेण, मलभूताः प्रसाद-  
भूताश्च । तत्र मलभूतास्ते, ये शरीरस्य बाधकराः स्युः । तद्  
यथा—शरीरच्छिद्रेषूपदेहाः पृथग्जन्मानो वहिर्मुखाः परि-  
पकाश्च धातवः, प्रकुपिताश्च वातपित्तश्लेष्माणो, ये चान्येऽपि  
उष्मवाद्यादिभिराहाररूपान्तरनिष्पत्त्याहारस्य ये गुणा यथास्वमविरुद्धाः  
समानास्ते शरीरधातूनां यद्रूपा गुणास्तद्भावं तद्रूपतामापद्यन्ते प्राप्नुवन्ति ।  
विरुद्धाश्च ये आहारस्य गुणास्ते च परिणामतो विरोधिभिर्गुणैर्विहताः सन्तः  
शरीरं विहन्युर्न तु शरीरगुणभावमापद्यन्ते ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—शरीरेत्यादि । शरीरधातवो द्विविधाः संग्रहेण संक्षेपेण, मल-  
भूतास्ते आहारजपुरीपादयः शरीरस्य बाधकराः । मलरूपान् शरीरधातून्  
विष्टुणोति कर्मतः । उपदेहा उपलेपरूपाः पृथग्जन्मानः स्वेदसिंघाणकादि-  
रूपेण पृथक्पृथग्जन्मानः । वहिर्मुखा वहिर्निःसरणोन्मुखाः परिपकाश्च  
पाकात् पूयतां गताश्च धातवो भवन्ति । प्रकुपिताश्च कोपमापन्नाः

अथ कथा परिपाट्या परिणाममापद्यमान आहारो धातुसाम्यकरो भवतीत्याह—परिणामत  
इत्यादि । सर्वमाननिर्देशेन, यो यथा यथा आहारांशः परिणमते, स तथा तथा शरीर-  
गुणरूपतां याति, न कृत्स्नाहारपरिणाममपेक्षत इति दर्शयति । यथास्वमविरुद्धा इति य आहार-  
गुणा यस्मिन् शरीरगुणेऽविरुद्धाः, त एव तद्रूपतां नयन्ति । यथा—आहारस्य कठिनो भागो  
मांसास्थ्यादिकठिनभागपोषको भवति, द्रवांशस्तु शोणित्वादिरूपो भवति इत्यादि । विरुद्धास्तु  
विहन्युरिति शरीरगुणविरुद्धास्तु आहारगुणा विरुद्धान् गुणान् विहन्युर्होसयेयुरित्यर्थः । अथ ते  
शरीरगुणा आहारगुणविहताः सन्तः किं कुर्वन्तीत्याह—विहतास्तु विरोधिभिः शरीरं विहन्युरिति  
योजना । विरोधिभिरिति विपरीतैराहारगुणैर्विहता इति क्षयं नीताः, किंवा विरोधिभिरिति  
येथा—दुग्धमत्स्यादिविरुद्धाहारैर्विहताः शरीरं हन्युः, 'च'कारात्, विरुद्धगुणैश्च क्षयं नीताः शरीरं  
हन्युरिति दर्शयति ॥ ९ ॥

चक्रपाणिः—अथ कृतिप्रकारास्ते शरीरगुणा इत्याह—शरीरेत्यादि । संग्रहेण संक्षेपेण ।  
तेन विस्तरेण धातुषधात्वादिविभागेन बहवश्च भवन्ति । 'भूत'शब्दः स्वरूपे । बाधकरा इति  
पीडाकरा इत्यर्थः । पृथग्जन्मान इति पीडाकारकाः सिङ्घाणकादिभेदेन नानारूपाः । 'वहिर्मुखाः'  
इत्यनेन, य एव च्छिद्रमलाः प्रभूततया वहिर्निःसरणाभिमुखाः, त एव पीडाकर्तृत्वेन मलारूपाः ।

केचिच्छरीरे तिष्ठन्ति भावाः शरीरस्योपघातायोपपद्यन्ते,  
सर्वास्तान् मलान् \* सञ्चक्ष्महे, इतरास्तु प्रसादाख्यान्,  
गुर्वादींश्च द्रवान्तान् गुणभेदेन, रसादींश्च शुक्रान्तान् द्रव्य-  
भेदेन ॥ १० ॥

तेषां सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माणो दुष्टा दूषयितारो  
भवन्ति दोषत्वात् । वातादीनां पुनर्धात्वन्तरे कालान्तरे  
दुष्टानां विविधाशितपीतीयेऽध्याये विज्ञानान्युक्तानि । एतावत्येव

वातपित्तश्लेष्माणः । ये चान्येऽपीति अजीर्णान्न-क्रिम्यादयस्तिष्ठन्ति तान्  
सर्वान् शरीरच्छिद्रेषूपदेहकरादीन् । इतरास्तु त्वग्रसादीन् प्रसादाख्यान् ।  
गुणभेदेन गुर्वादीन् संचक्ष्महे । द्रव्यभेदेन रसादीन् शुक्रान्तान् सञ्च-  
क्ष्महे । रसस्य श्रेयस्त्वञ्च रसशब्देन गृह्यते ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—तेषामित्यादि । तेषां मलानां रसादीनाञ्च सर्वेषां दूषयितारो  
दुष्टा वातपित्तश्लेष्माणः । धात्वन्तरे कालान्तरे च दुष्टानां वातादीनान्तु

ये तु उपलेपमात्रकारका गुणकर्तृत्वात्, न ते मलाख्याः । परिपक्वाश्च धातव इति पाकात् पूयतां  
गताश्च शोणितादयो मलाख्याः । किंवा अपकाश्चेति पाठः । तदा समधातवो मलाख्या इति  
ज्ञेयम् । कुपिताश्चेति पदेन वातादयः सामान्येन क्षीणा वृद्धा वा गृह्यन्ते । विकृतिमात्रं हि  
वातादीनां कोपः । ये चान्येऽपीत्यादिना विमर्गगतान् पीडाकारकान् शरीरधातून् तथाजीर्णादीन्  
ग्राहयन्ति । मल इति एकवचनं जातौ । इतरानिति स्वमानस्थितपुरीषवातादीन् । पुरीष-  
वातादयोऽपि शरीरावष्टम्भकाः प्रसाद एव गुणकर्तृत्वात् । शरीरगतान् मलप्रसादभावानभिधाय  
पुनर्गुणद्रव्यभेदानाह—गुर्वादींश्चेत्यादि । \*गुर्वादयो द्रवान्ताः पश्चादुक्ता एव । अत्र च ये मला  
उपधातवश्च नोक्ताः, ते गुर्वादिगुणाधारत्वेन ग्राह्याः । किंवा इतरास्तु निर्व्याधकरान् मलादीन्  
प्रसादे सञ्चक्ष्महे, तथा गुर्वादींश्च तथा रसादींश्च निर्विकारान् द्रव्यगुणरूपान् प्रसादे सञ्चक्ष्महे ।  
इति व्याख्येयम् ॥ १० ॥

चक्रपाणिः—अथ यदेतत् पुरीषादीनां मलत्वम्, तद्दूषणाय भवति । तेन तेषां दूषकत्वे  
हेतुमाह—तेषामित्यादि । तेषामिति पुरीषादीनां रसादीनाञ्च । इष्टा इति स्वहेतूपचिताः ।  
क्षीणास्तु नानादृष्टिं दोषाः कुर्वन्तीति प्रतिपादितमेव । अथ धात्वन्तराश्रयिणां वातादीनां  
दुष्टानां किं तल्लक्षणम्, येन ज्ञातव्या इत्याह—वातादीनामित्यादि । विज्ञानानीति लक्षणानि ।

\* मलानित्यत्र मले तथा प्रसादाख्यानित्यत्र प्रसादे इति चक्रधृतः पाठः ।

दुष्टदोषगतिर्यावत् संस्पर्शनाच्छारीरधातूनाम् । प्रकृतिभूतानान्तु खलु वातादीनां फलमारोग्यम् । तस्मादेषां प्रकृतिभावे प्रयतितव्यं बुरि मद्भिः ॥ ११ ॥

तत्र श्लोकः ।

सर्व्वदा सर्व्वथा सर्व्वं शरीरं वेद यो भिषक् ।

आयुर्व्वेदं स कात्स्थ्येन वेद लोकसुखप्रदम् ॥ १२ ॥

विद्यानानि लक्षणानि अश्रद्धा चारुचिश्चास्येत्यादिभिरुक्तानि । यावत् संस्पर्शनादिति शरीरधातूनां संस्पर्शनेन्द्रियत्वञ्च यावत् । दुष्टदोषगतिरेतावती । त्वगतीता तु न दुष्टदोषगतिरस्तीति । दुष्टदोषकार्य्यमुक्त्वा प्रकृतिभूतानां वातादीनां कार्य्यमाह—प्रकृतिभूतानामित्यादि । तस्मादित्यारोग्यफलकत्वात् एषां वातादीनाम् ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—एतमर्थं श्लोकेनाह—सर्व्वदित्यादि । वेदेति वेत्ति । लोकसुखप्रदमायुर्व्वेदम् । स कृत्स्नेन वेद वेत्ति ॥ १२ ॥

ननु रसाद्याश्रयदुष्टवातादिलक्षणं तावत् विविधाशितपीतीये चोक्तम् । केशमूत्रनखाद्याश्रयदुष्टलक्षणान्तु यदत्र नोक्तम्, तत् कथं ज्ञेयमित्याह—एतावत्येवेत्यादि । केशादौ दुष्टानामपि वातादीनां गतिर्नास्तीति वाक्यार्थः । यावत् संस्पर्शनादिति स्पर्शनेन्द्रियव्याप्यत्वेन शरीरधातूनां वृषण स्पर्शनेन्द्रियपर्य्यन्तमेव दुष्टदोषगतिर्भवति, तेन न केशादिषु दुष्टदोषगतिः । यत्तु पलितादिकेशे मूत्रे नखे वा पुष्पम्, तत् स्पर्शवच्छरीरस्थितेनैव दोषेण कृतम्, न पुनर्नखमूत्रकेशेष्वपि स्वमार्गचारी दोषः प्रचरतीति व्रुते । नयन्तु ब्रूमः—विविधाशितपीतीयोक्तदुष्टया सर्व्वदुष्टदुष्टसंग्रहो भवतीति दर्शयन्नाह—एतावत्येवेत्यादि । यावत् संस्पर्शनादिति कृत्स्नसम्बन्धात् । तेन शरीरधातूनां यावत् स्पर्शनाद् दुष्टदोषगतिर्भवति, सा एतावत्येव, सा सर्व्वा विविधाशितपीतीयोक्तैव, न ततोऽधिका दुष्टिर्देहस्यास्ति । तत्र हि “मलानाश्रित्य दुष्टास्तु भेदशोधप्रदूषणम्” इति ग्रन्थेन कृत्स्नग्रहणात् केशानखौ च मलौ गृहीतावेव । एतेन नखाग्रकेशाग्रगतेन दोषेणैव कृतं भवेत् । अथ दुष्टा वातादयो दुष्टिलक्षणानि कुर्वन्ति, प्रकृतिस्थास्तु किं कुर्वन्तीत्याह—प्रकृतिभूतानामित्यादि । सम्प्रत्युक्तप्रकरणजन्यशरीरज्ञानस्य फलमाह—शरीरमित्यादि ॥ १११२ ॥

तमेवमुक्तवन्तं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच । श्रुत-  
मेतद् यदुक्तं भगवता शरीराधिकारे वचः । किं नु खलु  
गर्भस्याङ्गं पूर्वमभिनिर्वर्तते कुक्षौ, कुतोमुखः कथं वा चान्त-  
र्गतस्तिष्ठति, किमाहारश्च वर्तयति, कथम्भूतश्च निष्क्रामति,  
कैश्चायमाहारोपचारैर्जातस्त्वव्याधिरभिद्वर्तते, सद्यो हन्यते कैः,  
कथञ्चास्य देवादिप्रकोपनिमित्ता विकारा उपलभ्यन्ते आहो-  
स्विन्न, किञ्चास्य कालाकाल-मृत्योर्भावाभावयोर्भगवानध्यवर्षयति,  
किञ्चास्य परमायुः, कानि चास्य परमायुषो निमित्तानीति ॥१३॥

तमेवमुक्तवन्तमग्निवेशं भगवान् पुनर्वसुरात्रेय उवाच ।  
पूर्वमुक्तमेतद्गर्भावक्रान्तौ यथायमभिनिर्वर्तते कुक्षौ । यच्चास्य  
यदा सन्तिष्ठतेऽङ्गजातम् । विप्रतिपत्तिवादात्स्वत्र बहुविधाः

गङ्गाधरः—तमेवेत्यादि । एवं पूर्वमुक्तं यावत् तावदुक्तवन्तं भगवन्तम् ।  
यत्प्रश्नमुवाच तदाह—किं न्वित्यादि । नु भो गर्भस्य खलु किमङ्गं कुक्षौ  
पूर्वमभिनिर्वर्तते । इत्यादयः प्रश्नाः ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—तेषामुत्तरमुवाच । तदाह—पूर्वमुक्तमित्यादि । यदङ्गं कुक्षौ गर्भस्य

चक्रपाणिः—शरीरविचायकं प्रकरणं समाप्य गर्भशरीरविचायकं प्रकरणमारभते—एवंवादिन-  
मित्यादि । कुक्षावित्यन्तेन एकः प्रश्नः । कुतोमुखः कथञ्चान्तर्गतस्तिष्ठतीति द्वितीयः ।  
निष्क्रामतीत्यन्तेन तृतीयः । कैश्चायमाहारोपचारैर्जातः सद्यो हन्यत इति चतुर्थः । कैरव्याधिरभि-  
द्वर्तत इति पञ्चमः । आहोस्विन्नेत्यन्तः षष्ठः । शेषं प्रश्नत्रयं पूर्वप्रश्नद्वयस्य व्यवच्छेदमेव । एवं  
नव प्रश्नाः । अध्यवर्षयतीति निश्चिनोति ॥ १३ ॥

चक्रपाणिः—यथाक्रममुत्तराण्याह—पूर्वमित्यादि । पूर्वमुक्तमिति यच्चास्य यदा सन्तिष्ठते  
अङ्गजातम्, तदपि गर्भावक्रान्तौ 'एवमस्य युगपदिन्द्रियाणि अङ्गावयवाश्च यौगपदेयनाभिनिर्वर्तन्ते,  
अन्यत्र तेष्वन्यः, येऽस्य जातस्योत्तरकालं जायन्ते' इत्यादिना अन्येनोक्तम् । यद्यपि 'कथमभि-  
निर्वर्तते कुक्षौ, इति नेह पृष्ठम्, तथापि अभिनिर्वृत्तिक्रमोपदर्शनेन 'किं नु खलु गर्भस्याङ्गं  
पूर्वमभिनिर्वर्तते' इति प्रश्नस्य यथोक्तोत्पादक्रमोपदर्शनादुत्तरं भवतीति मुनिनोक्तम्,—  
'उक्तमेतत् गर्भावक्रान्तौ यथायमभिनिर्वर्तते कुक्षौ' इति । उक्तमपि युगपदङ्गाभिनिर्वृत्तिं

सूत्रकारिणामृषीणां सन्ति सर्व्वेषां, तानपि निबोधेच्यमानान् ।  
 शिरः पूर्व्वमभिनिर्व्वर्त्तते कुक्षाविति कुमारशिरा भरद्वाजः  
 पश्यति, सर्व्वेन्द्रियाणां तदधिष्ठानमिति । हृदयमिति काङ्कायनो  
 बाह्लीकभिषक् चेतनाधिष्ठानत्वात् । नाभिरिति भद्रकाप्य  
 आहारागम इति कृत्वा । पक्कगुदमिति ॥ शौनको मारुताधिष्ठान-  
 त्वात् । हस्तपादमिति वडिशस्तत्करणत्वात् पुरुषस्य । इन्द्रिया-  
 णीति जनको वैदेहस्तान्यस्य बुद्ध्याधिष्ठानानोति कृत्वा । बुद्धि-  
 परोक्षत्वादचिन्त्यमिति मारीचिः कश्यपः । सर्व्वान्निर्वृत्तिः  
 युगपदिति धन्वन्तरिः । तदुपपन्नं सर्व्वान्नाणां तुल्यकालाभि-  
 पूर्व्वमभिनिर्व्वर्त्तते । अत्र विप्रतिवादाः सूत्रकारिणामृषीणां बहुविधास्तानुच्य-  
 मानान् मया त्वं निबोध । तद् यथाह—शिरः पूर्व्वमित्यादि । कुमारशिरा भरद्वाजः  
 पश्यति सर्व्वेन्द्रियाणां तद्वि शिरोऽधिष्ठानमिति । हृदयं पूर्व्वमभिनिर्व्वर्त्तते कुक्षा-  
 विति काङ्कायनः । सर्व्वान्निर्वृत्तिर्युगपदिति धन्वन्तरिरित्यन्ता विप्रतिपत्तीः  
 कुमारशिरःप्रभृतिवच्छौनकादयोऽपि चक्रुस्तदुक्तं सुश्रुते । “गर्भस्य हि सम्भवतः  
 पूर्व्वं शिरः सम्भवतीत्याह शौनकः शिरोमूलत्वाद् देहेन्द्रियाणाम् । हृदयमिति  
 कृतवीर्य्यो बुद्धेर्भनसश्च स्थानत्वात् । नाभिरिति पाराशर्य्यस्ततो हि वर्द्धते  
 देहो देहिनः । पाणिपादमिति मार्कण्डेयस्तन्मूलत्वाच्चेष्टाया गर्भस्य । मध्य-  
 शरीरमिति सुभूतिगौतमस्तन्निवद्धत्वात् सर्व्वगात्रसम्भवस्य । तत् तु न सम्यक् ।  
 सर्व्वान्निर्वृत्त्यङ्गानि युगपत् सम्भवन्तीत्याह धन्वन्तरिः । गर्भस्य सूक्ष्मत्वान्नोप-  
 लभ्यन्ते वंशाङ्कुरवच्चूतफलवच्च । तद् यथा चूतफले परिपक्वे केशरमांसास्थि-  
 मज्जानः पृथग् दृश्यन्ते कालप्रकर्षात्, तान्येव तरुणे नोपलभ्यन्ते सूक्ष्मत्वात्  
 तेषां सूक्ष्माणां केशरादीनां कालः प्रव्यक्ततां करोति । एतेनैव वंशाङ्कुरोऽपि  
 व्याख्यातः । एवं गर्भस्य तारुण्ये सर्व्वेष्वङ्गप्रत्यङ्गेषु सत्स्वपि सौक्ष्म्यादनुप-  
 मतान्तरोद्दारेण स्थिरं कर्तुमाह—विप्रतिवादास्त्वन्नेत्यादि । पकाशयश्च गुदञ्चेति पकाशयगुदम् ।  
 किंवा पकाशयसमीपस्थगुदम् उत्तरगुदमित्यर्थः । इन्द्रियाणीति इन्द्रियाधिष्ठानानि नयन्-  
 गोलकादीनि । तदुपपन्नमिति प्रतिज्ञामिहितार्थस्य युगपदङ्गाभिनिर्वृत्तिरूपस्य सिद्धत्वादिति



निवृत्तत्वाद् । हृदयप्रभृतीनां \* सर्वाङ्गाणां ह्यस्य हृदयं  
मूलमधिष्ठानञ्च केषाञ्चिद्भावानाम्, न च तस्मात् पूर्वाभि-  
निवृत्तिः एषाम् । तस्माद् हृदयपूर्वाणां सर्वाङ्गाणां  
तुल्यकालाभिनिवृत्तिः । सर्वभावा ह्यन्योन्यप्रतिवद्धास्तस्माद्  
यथाभूतदर्शनं साधु ॥ १४ ॥

लब्धिः । तान्येव कालप्रकर्षात् प्रव्यक्तानि भवन्ति ।" इति । एतद्धन्वन्तरिमतम्  
अनुपन्तुमाह—तदुपपन्नमित्यादि । कस्मात् तदुपपद्यत इत्यत आह—सर्वाङ्गाणा-  
मित्यादि । तत्रापि किञ्चित् स्वमतमुपदर्शयन्नुपपादयति—हृदयेत्यादि ।  
हि यस्मात् हृदयप्रभृतीनां सर्वाङ्गाणामस्य गर्भस्य हृदयादिसर्वाङ्गाणां हृदयं  
मूलं केषाञ्चिद् भावानामोजःप्रभृतीनाम् आत्ममनोबुद्धीनाञ्चाधिष्ठानञ्च  
तस्माद् हृदयस्य पूर्वाभिनिवृत्तिरिति काङ्क्षायनकृतवीर्ययोर्मतमद्रप्रत्यङ्गानां  
पूर्वाभिनिवृत्तिर्वापेक्षं सर्वाङ्गाणां पूर्वं हृदयस्याभिनिवृत्तिरिति न सम्यक् ।  
सर्वाङ्गप्रत्यङ्गानि युगपत् सम्भवन्तीति धन्वन्तरिमतञ्च सम्यक् उपपन्नं  
यथा तदाह—तस्माद् हृदयपूर्वाणामित्यादि । पूर्वं हृदयस्याभिनिवृत्तिरात्माव-  
क्रान्तिम् अन्तरेणाङ्गाभिनिवृत्तेरसम्भवात् आदौ गर्भाशयगते शुक्रशोणिते  
यत्रात्मावक्रम्य तिष्ठति तदेव हृदयं भवति । तस्माद् हृदयनिर्देशपूर्वाणां सर्वा-  
ङ्गाणां तुल्यकालाभिनिवृत्तिः । कस्मात् ? सर्वभावा हीत्यादि । हि यस्मात्  
हेत्वर्थः प्रतिज्ञार्थादभिन्न एव । ये तु तुल्यकालाभिनिवृत्तत्वादिति पठन्ति, तेषां हेत्वर्थो व्यक्त-  
त्वादभिन्न एव । येन उत्तरकालमपि सर्वाङ्गाणां युगपद् वृद्धिदर्शनम् । समानकालवर्द्धमानानां  
फलानां समकालमेव जन्मानुमीयते, असमानकालजातानां न समानकालसमा वृद्धिर्भवति ।  
पूर्वार्पाणां मतानि हृदयपूर्वाभिनिवृत्तिदूषणेनैव समानन्यायाद् दूषयन्नाह—सर्वाङ्गाणां तस्येत्यादि ।  
मूलमिव मूलम्, तदुपघातेन सर्वाङ्गोपघातात् । अधिष्ठानमित्याश्रयः । तत्रौजःप्रभृतीनामधिष्ठानं  
हृदयञ्च भवति, न च तस्मात् पूर्वाभिनिवृत्तिरिति तस्याधिष्ठानमूलत्वात्, नानधिष्ठानानाञ्च  
पूर्वाभिनिवृत्तिर्भवति । यदि हि मूलं कारणमिह मतं स्यात्, तदा प्राक् कार्यस्योऽङ्गस्यश्च  
हृदयं स्यात्, न चेहाङ्गानां हृदयं कारणम्, किन्तु प्रधानम्, प्राधान्यञ्च तदुपघातेन सर्वोपघातात्  
इति । यथाप्याश्रयाश्रयिभावः, स चापि सहोत्पन्नानामेव । हृदयं तदाश्रितौजःप्रभृतीनां  
प्रधानं भवतीति भावः । तदेवं चेत् हृदयस्य प्रधानस्य पूर्वोत्पादो नास्ति, तदा शिरः-  
प्रभृतीनामपि पूर्वोत्पादो नास्त्येवेति कृत्वोपसंहरन्नाह—एषां तस्मादित्यादि । युगपदभिनिवृत्तौ

\* सर्वाङ्गाणां तुल्यकालाभिनिवृत्तत्वाद् । हृदयप्रभृतीनामित्यत्र सिद्धत्वादिति चक्रः ।

गर्भस्तु खलु मातुः पृष्ठाभिमुख ऊर्ध्वशिराः सङ्कुच्याङ्गानि  
आस्तै जरायुवृतः कुक्षौ । व्यपगतबुभुक्षापिपासस्तु गर्भः परतन्त्र-  
वृत्तिर्मातरमाश्रित्य वर्त्तयत्युपस्नेहोपस्वेदाभ्याम्, गर्भस्तु सद-  
सद्भूताङ्गावयवः । तदनन्तरं ह्यस्य लोमकूपायनैरुपस्नेहः कश्चित्  
सर्वभावा अन्योन्यप्रतिवद्धा न हेतुकं विना अपरो भावः शरीरे प्रतिवद्धो वर्त्तते ।  
तस्माद् यथाभूतदर्शनमुक्तरूपेण दर्शनम् साधु । इति पूर्वप्रश्नस्योत्तरमिति ॥१४

गङ्गाधरः—अथ कुतोमुखः कथं वा चान्तर्गतस्तिष्ठतीति द्वितीयप्रश्नोत्तर-  
माह—गर्भस्त्वित्यादि कुक्षावित्यन्तम् । तत्र कुतोमुख इत्यस्योत्तरं—मातुः  
पृष्ठाभिमुख इति । कथं वा चान्तर्गतस्तिष्ठतीत्यस्योत्तरमाह—ऊर्ध्वशिरा  
इत्यादि । जरायुवृतः कुक्षाविति । जरायुवृतमुखत्वाद् गर्भो न कुक्षौ रोदिति ।  
तदुक्तं सुश्रुते—जरायुणा मुखे च्छन्ने कण्ठे च कफवेष्टिते । वायोर्मा-  
निरोधाच्च न गर्भस्थः प्ररोदिति ॥ इति । अथ गर्भः किमाहारश्च वर्त्तयतीति  
प्रश्नस्योत्तरमाह—व्यपगतेत्यादि । क आहारो यस्य स किमाहारो गर्भो  
वर्त्तयतीति चौरादिको वृत्तिः । गर्भः कुक्षौ व्यपगतक्षत्पिपासस्तु सन्  
परतन्त्रवृत्तिर्मातरमाश्रित्य वर्त्तयति । व्यपगतबुभुक्षापिपास इति निरा-  
हारश्चेत् कथं जीवन् वर्त्तते इत्यत आह—परतन्त्रवृत्तिरिति । कोऽसौ परो  
यस्य तन्त्रवृत्तिर्वर्त्तत इत्यत आह—मातरमाश्रित्य वर्त्तयति । कथं निराहार  
इत्यत आह—उपस्नेहोपस्वेदाभ्यामिति । गर्भाशयस्य यः स्नेहो यश्चोष्णमा तत्-  
स्नेहस्य स्नेहेन तदुष्मणः स्वेदेन गर्भाशये वर्त्तयति, यथा घृतादिस्निग्धभाण्डे स्थित  
वस्तु वर्त्तते । तथा गर्भाशये सदसद्भूताङ्गावयवः किञ्चिदङ्गं जातं किञ्चिदजात-  
मिति सदसद्भूताङ्गावयवो यदा गर्भस्तदैवमुपस्नेहोपस्वेदाभ्यां गर्भाशये वर्त्तते ।  
सदवयवस्तु कथं वर्त्तते इत्यत आह—तदनन्तरमित्यादि । तत्सदसद्भूता-  
ङ्गावयवानन्तरं सदभूताङ्गावयवस्यास्य गर्भस्य लोमकूपायनैः कश्चिदुपस्नेहः कश्चित्  
हेत्वन्तरमाह—सर्वभावा हीत्यादि । भावा इति शरीरभावाः । अन्योन्यप्रतिवद्धा इति यस्मात्  
सर्वभावाः परस्परप्रतिवद्धा एव सिरास्नाय्वादिभिर्जायन्ते, तेन समाननिबन्धना युगपदेव भवन्ति ।  
यथाभूतदर्शनमिति यथात्मदर्शनम्, तच्च धन्वन्तरिमतमेव ॥ १४ ॥

चक्रपाणिः—गर्भस्त्वित्यादि द्वितीयप्रश्नस्योत्तरम् । ‘व्यपगत’ इत्यादि, ‘किमाहारश्च वर्त्तयति’  
इति प्रश्नस्योत्तरम् । परतन्त्रवृत्तिरिति मात्राधीनवृत्तिः । एतदेव विवृणोति—मातरमित्यादि ।  
उपस्नेहो निष्पन्दः । सदसद्भूताङ्गावयव इतिच्छेदः । तदनन्तरमित्यङ्गप्रत्यङ्गवृत्तौ सत्याम् ।

नाभिनाड्ययनैः । नाभ्यां ह्यस्य नाडी प्रसक्ता, सा नाभ्याञ्च  
अमरा । अमरा चास्य मातुः प्रसक्ता हृदये । मातृहृदयं ह्यस्य  
ताममरामभिप्लवतैः सिराभिः स्यन्दमानाभिः । स तस्य रसो  
वलवर्णकरः सम्पद्यते । स च सर्व्वरसवानाहारः स्त्रिया ह्यापन्न-  
गर्भायास्त्रिधा रसः प्रतिपद्यते स्वशरीरपुष्टये स्तन्याय  
गर्भवृद्धये च । स तेनाहारेणोपपृब्धो वर्त्तयत्यन्तर्गतः । स चोप-

नाभिनाड्ययनैरुपस्नेहस्तं गर्भं वर्त्तयति । कथं नाभिनाड्ययनैरित्यत आह—  
नाभ्यां हीत्यादि । हि यस्मादस्य गर्भस्य सद्भूताङ्गावयवस्य या नाभिप्रसक्ता  
नाडी सा नाभ्याञ्च अमरा नाम नाडी । अमरा चास्य गर्भस्य मातृहृदये  
प्रसक्ता । मातृहृदयञ्चास्य ताममरां गर्भनाडीं स्वप्रसक्तां नाडीं रसं स्यन्दमानाभिः  
सप्तशतसिराभिरभि व्याप्य प्लवते आप्लवते । स मातुः सिराभिः स्यन्दितो  
रसस्तस्य गर्भस्य वलवर्णकरः सम्पद्यते । यदि मातुराहाररसो गर्भस्य वलवर्ण-  
करः सम्पद्यते, तर्हि मातुः शरीरं कथं पुष्यतीत्यत आह—स चेत्यादि । स  
सर्व्वरसवान् आहार आपन्नसत्त्वायाः त्रिधा रसः त्रिभारसः सम्पद्यते ।  
आहारपरिणतरसस्य त्रयो भागा भवन्ति, एकभागो रसः स्त्रियाः स्वशरीरपुष्टये  
सम्पद्यते, द्वितीयो रसभागः स्तन्याय सम्पद्यते, तृतीयो रसभागस्तु  
गर्भवृद्धये । तत्तृतीयं रसभागं स्यन्दमानाभिः सिराभिर्गर्भस्यामरामभिप्लवते,  
तेन मातृरसं स्यन्दमानाभिः सिराभिरभिप्लुतया नाभिनाड्याऽभिष्यन्दितेन  
रसेनाहारेण गर्भं उपपृब्धः सन्नन्तर्गतो गर्भाशये वर्त्तयतीति । तेन मूत्रपुरीषवातोत्-  
सर्गाभावः सर्व्वसम्पूर्णधातुत्वेऽप्यल्पमूत्रपुरीषवातत्वात् । सुश्रुते चोक्तम् ।  
मलाल्पत्वादयोगाच्च वायोः पक्वाशयस्य च । वातमूत्रपुरीषाणि न गर्भस्थः  
करोति हि ॥ इति । नाभिनाड्ययनैः यमाहाररसमेवाहरति तज्जनितवातमूत्र-  
पुरीषाप्यल्पानि भवन्ति तेषु पक्वाशयसंयोगाभावादपानयोगाभावाच्च अप्रवृत्ति-  
भवति । इति तृतीयप्रश्नस्योत्तरम् ।

नाभिसक्ता नाडी नाभिनाडी । अयनैरिति मार्गैः । अपरा गर्भस्य नाभिनाडीप्रतिबद्धा 'अमरा'  
इति ख्याता । अभिसंप्लवते इति प्राप्नोति । एतच्चापरादिजन्म गर्भादृष्टवशाद् भवति । कथंभूतोः

स्थितकाले जन्मनि प्रसूतिमारुतयोगात् परिवृत्त्या अवाक्छिराः  
निष्क्रामत्यपत्यपथेन । एषा प्रकृतिः, विकृतिः पुनरतोऽन्यथा ।  
परन्तु एव स्वतन्त्रवृत्तिर्भवति ॥ १५ ॥

तस्याहारोपचारौ जातिसूत्रीयोपदिष्टाविकारकौ चाभि-  
वृद्धिकरौ भवतः । ताभ्यामेव विषमाभ्यां जातः सद्य उप-  
हन्यते तरुरिवाचिरव्यपरोपितो वातातपाभ्यामप्रतिष्ठितमूलः ।

अथ कथम्भूतश्च निष्क्रामतीति प्रश्नस्योत्तरमाह—स चोपस्थितकाल  
इत्यादि । स च परिपूर्णसर्वाङ्गगर्भ उपस्थितकाले जन्मनि जन्मकालोप-  
स्थितौ प्रसूतिमारुतयोगात् प्रसूयते येन वायुना तद्वायुयोगात् परिवृत्त्या मातुः  
पृष्ठाभिमुख ऊर्ध्वशिराः शिरःपरिवर्त्तनेनाधःशिरा भूत्वाऽपत्यपथेन योनिपथेन  
निष्क्रामति निर्गच्छति । सुश्रुतेऽप्युक्तम्—शङ्खनाभ्याकृतियौनिस्त्रावर्त्ता  
सम्प्रकीर्चिता । तस्यास्वृतीये त्वावर्त्तं गर्भशय्या प्रतिष्ठिता ॥ यथा रोहित-  
मत्स्यस्य मुखं भवति रूपतः । तत्संस्थानां तथारूपां गर्भशय्यां विदुर्बुधाः ॥  
आभुग्नोऽभिमुखः शेते गर्भो गर्भशये स्त्रियाः । स योनिं शिरसा याति  
स्वभावात् प्रसवं प्रति ॥ इति । एषा प्रकृतिः प्रसवस्य । अतोऽन्यथा मूढगर्भोक्त-  
प्रकारेण प्रसवो विकृतिः । इत्येवं प्राग् जन्मनः परतन्त्रवृत्तिः । परन्तु अतो  
जन्मनः परन्तु स्वतन्त्रवृत्तिर्भवत्याहारविहारादिषु, स्वेन निजेन तन्नः स्वतन्नः  
स्वाधीनः । इति चतुर्थप्रश्नोत्तरम् ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—कैश्यायमाहाराचारैर्जातोऽव्याधिवर्द्धते, कः सद्यो हन्यत इति  
पञ्चमप्रश्नस्योत्तरमाह—तस्येत्यादि । तस्य गर्भस्य जातस्य जातिसूत्रीयोपदिष्टा-  
वित्यतः परं वक्ष्यमाणाध्यायोक्तौ आहारोपचारौ अविकारकौ अभिवृद्धिकरौ  
च भवतः । ताभ्यामाहारोपचाराभ्यामेव विषमाभ्यां सेविताभ्यां जातः पुत्रः  
सद्य उपहन्यते । तत्र दृष्टान्तमाह—तरुरिवेत्यादि । यथा तरुरिवाचिरव्यप-  
निष्क्रामतीत्यस्योत्तरम्—स चोपस्थितकाल इत्यादि । उपस्थितकाल इति प्रत्यासन्नकाले ।  
विकृतिरतोऽन्यथेति निर्गत्य चरणेनापि निर्गमो भवतीति दर्शयति । स्वतन्त्रवृत्तिर्भवतीति  
स्वयंकृतेन स्नान्यपानादिना वर्त्तते, न गर्भस्य इव मातुरेवाहारेण परं वर्त्तत इत्यर्थः ॥ १५ ॥

चक्रपाणिः—‘कैश्यायम्’ इत्यादिप्रश्नस्योत्तरम्—तस्येत्यादि । ‘जातिसूत्रीयोपदिष्टौ’ इत्यन्ता-  
गतावेक्षणानागते मूलवत्प्रयोगाद् बोद्धव्यम् । व्यपारोपितस्तदात्वारोपितः । किञ्चास्येत्यादि-

आप्तोपदेशादद्भुतरूपदर्शनात् समुत्थानलिङ्गचिकित्सितविशेषाच्च ॐ दोषप्रकोपानुरूपाश्च देवादिप्रकोपनिमित्ताश्च विकाराः समुपलभ्यन्ते ॥ १६ ॥

कालाकालमृत्योस्तु भावाभावयोरिदमध्यवसितं नः । यः कश्चिन्म्रियते सत्त्वं काल एव स म्रियते । न हि कालच्छिद्र-

रोपितः शीघ्रमुत्पाद्य प्रतिरोपितो विपमाभ्यां वातातपाभ्यामप्रतिष्ठितमूलोऽस्थिरमूलः सद्य उपहन्यते तद्वत् । इति पञ्चमप्रश्नस्योत्तरम् । अथ किञ्चास्य देवादिप्रकोपनिमित्ता विकाराः समुपलभ्यन्ते, इति षष्ठप्रश्नस्योत्तरमाह—आप्तोपदेशादित्यादि । अस्य जातस्य शिशोदेवादिप्रकोपनिमित्ताः स्कन्दादिग्रहावेशनिमित्ता विकारा दोषप्रकोपानुरूपा आप्तोपदेशात् समुपलभ्यन्तेऽद्भुत-  
(रूप)-दर्शनादाश्चर्य्य-(रूप)-दर्शनाच्च समुपलभ्यन्ते । समुत्थानविशेषान्निदान-  
विशेषाल्लिङ्गविशेषाच्चिकित्सितविशेषाच्च समुपलभ्यन्ते । इति षष्ठप्रश्नोत्तरम् ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—अथ कालमृत्योर्भावाभावयोः किमध्यवस्यति, अकालमृत्योर्भावे किमध्यवस्यति, अकालमृत्योरभावे च किमध्यवस्यतीति प्रश्नोत्तरमाह—कालाकालेत्यादि । इदमित्यत उत्तरं वक्ष्यमाणम् । अध्यवसितं निश्चयेन नोऽस्माकं व्यवसितम् । तत् किमित्यत आह—य इत्यादि । यः कश्चित् म्रियते

प्रश्नस्योत्तरम्—आप्तोपदेशादित्यादि । आप्तोपदेश इति कुमारतन्त्रोपदेशो ब्रह्मादिप्रणीतः । तत्र हि कुमारानां देवादिनिमित्तविकाराः प्रतिपाद्यन्ते । देवादिग्रहणेन च तदनुचरा अपि गृह्यन्ते । स्फन्दग्रहादयः सुश्रुतोक्ता देवादयश्चाष्टौ । यदुक्तम्—‘देवास्तथा शत्रुगणाश्च तेषां गन्धर्व्वयक्षाः पितरो भुजङ्गाः । तथैव रक्षांसि पिशाचजातिरेपोऽष्टको देवगणो ग्रहाः स्युः ॥’ इति । अनुमानमप्यत्राह—अद्भुतेत्यादि । अद्भुतमाश्चर्य्यमिति यावत्, अद्भुतरूपदर्शनादिना यद् भवति, तच्चामानुषबलशोभादि ज्ञेयम् । एतद्विदोपाजन्यत्वाद् देवादि-कारणं गमयति । समुत्थानादिविशेष आगन्तूनामागन्तुविकारेषु स्फुट एव । अदोषप्रकोपानुरूपा इति दोषप्रकोपजन्यरोगविधर्मणः ॥ १६ ॥

चक्रपाणिः—कालाकालेत्यादौ ‘इदमध्यवसितम्’ इत्यनेन, प्रकरणव्यवस्थापनीयत्वम्, ‘तस्माद् अभयमस्ति काले मृत्युरकाले च’ इति ग्रन्थे वक्ष्यमाणं प्रत्यक्षमृपति । एकीयमतमाह—यः

मस्तीत्येके भाषन्ते । तच्च असम्यक् । न ह्यच्छिद्रता सच्छिद्रता वा कालस्योपपद्यते कालस्वलक्षणभावात् ॥ १७ ॥

तथाहुरपरे—अकालमृत्युर्नास्ति, यो यदा म्रियते स तस्य नियतो स सर्व्वः काल एव म्रियते । ननु योऽयं कश्चिद्वाले म्रियतेऽपरो यौवने, सोऽपि सर्व्वः किं काल एव म्रियते कस्मादित्यतो हेतुमाह—न हीत्यादि । हि यस्मात् कालच्छिद्रं नास्ति । कालो हि महानसङ्ख्यो नित्यगश्चक्रवद् भ्रमति न कालव्यतिरेकेण कश्चिदस्ति यस्तकालोऽभिधीयते । इत्यतोऽकालाभावाद् योऽयं वर्त्तते स यदा म्रियति सोऽप्यस्मिन्नेव काले सर्व्वः काल एव म्रियते । इति कालमृत्युरेवास्ति न त्वकालमृत्युरस्तीत्येके भाषन्ते एके मुनयो वदन्ति । मतमेतद् दूषयति—तच्चेत्यादि । ननु कस्मात् तदसम्यगित्यत आह—न हीत्यादि । हि यस्मात् कालस्याच्छिद्रता सच्छिद्रता वा कालस्याविच्छेदेन चक्रवद्भ्रमणस्वभावस्य लक्षणभावान्नोपपद्यते । चक्रवद्भ्रमणेन नित्यगत्वस्य लक्षणत्वेन सच्छिद्रतानोपपद्यते । शीतोष्णवर्षादिस्वलक्षणत्वेन षड् ऋतुमासपक्षदिनरात्रिप्रहरादिरवलक्षणत्वेनाच्छिद्रता च नोपपद्यते ऋतुमासादिलक्षणत्वेनाच्छिद्रता नोपपद्यते इति भावस्तस्मात् तदसम्यक् ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—तथाहुरित्यादिना परेषां मतमाह—तथा अकालमृत्युर्नास्तीति आहुरपरेऽप्ये मुनयः । परन्तु यो यदा म्रियते स तस्य नियतो मृत्युकाल इति कालमृत्युरेव हि भूतानामस्तीति । ननु यो यदा म्रियते स तस्य नियतो मृत्योः कालः, स च यद्यरिष्टाधिकारोक्तलक्षणैर्व्योतिषादिना च विज्ञेयः तर्हि तेन विज्ञाय कालपरिमाणं प्रागपि ततः कालाद् युद्धादावसीपुशूलादिप्रहरणादिना इतस्याकालमृत्युदृश्यते इति चेन्न । तथा मृत्युचिह्नमपि हि तस्य वर्त्तते एवेति । अरिष्टादि ज्ञात्वा तस्य नियत एवेति । (परे क्लित्यादि ।)

कश्चिदित्यादि । न हि काले छिद्रमस्तीति कालविहितः कश्चिदवकाशोऽस्तीति यं कालशून्यमवकाशम् आसादाकाले मृत्युः स्यादिति भावः । एतद् दूषयति तच्चेत्यादिना । सान्तरं यदवयविद्रव्यम्, तत् सच्छिद्रमिष्यते । यच्च निरन्तरम्, तदच्छिद्रम् । तेन कालस्य निरवयवस्य सच्छिद्रताः सच्छिद्रता वा न सम्भवति, तेन यद्व्यते—“कालस्याच्छिद्रत्वाच्चाकाले मृत्युरस्ति” इति तदयुक्तमिति भावः । यत् त्वकालमृत्युव्यापकत्वेन कालस्योपचरितच्छिद्रत्वम्, तदुत्तरवक्ष्यमाणैकजातीयमत-  
भूषणेनैव वृषितम् । कालस्वलक्षणस्वभावादिति कालस्वलक्षणे सच्छिद्रताया अच्छिद्रतायाश्च अभावादित्यर्थः । एकीयमतान्तरमाह—तथाहुरित्यादि । यो यदा म्रियते, स एव तस्य नियतो

मृत्युकालः, स सर्वभूतानां सत्यः समक्रियत्वादिति । तदपि चान्यथार्थग्रहणम् । न हि कश्चिन्न म्रियते इति समक्रियः । कालः पुनरायुषः प्रमाणमधिकृत्योच्यते । यस्य चेष्टं यो यदा म्रियते तस्य स नियतो मृत्युकाल इति । तस्य सर्वे भावा यथास्वं नियतकाला

कालः किञ्चिद्भूतमधुना न मारयत्यनुग्रहात्, किञ्चिच्च भूतमधुना मारयति निग्रहादिति विषमक्रियो न भवति परन्तु समक्रियत्वात् सर्वभूतानां सत्यश्च । सर्वभूतानां प्राक्तनकर्माद्यनुरूपेणायुषः क्षये कस्मिंश्चित् काले कस्यचिन्मरणं कस्यचिदायुषः शेषे सति कस्मिंश्चित् काले जीवनं न किमपि भूतम् । कालो मारयति न, वा जीवयति । परन्तु प्राक्तन-कर्मादिवशादायुषः कालपरिसंख्यापूरणकालतो म्रियते सर्वाप्येव भूतानीति । कालः सर्वभूतानां समक्रियत्वात् सत्यः प्रकृतार्थकारीति ; तस्मादकालमृत्युर्नास्त्यस्ति च कालमृत्युरेवेति पर आहुः । मतञ्चैतद् दूषयति— तदपि चेत्यादि । अन्यथार्थग्रहणमसम्यग्ज्ञानम् । ननु कस्मादन्यथार्थग्रहणं तदित्यतो हेतुमाह—न हीत्यादि । हि यस्मात् कश्चिन्न म्रियते, कालः किञ्चिद्भूतं न मारयति द्वेषात् किञ्चिद्भूतं न जीवयत्यनुग्रहादिति समक्रियः कालो नोच्यते पुनः काल आयुषः प्रमाणं परिमाणमधिकृत्योच्यते । मरण-जीवनहेतुतया कालो यदुच्यते तर्हि सर्वेषां सर्वदा मरणापत्तिर्न हि मारकः कश्चित् कालो नियतो दृश्यते सर्वदा हि म्रियते सर्वदा च जीवतीत्यतश्च कालो न मरणमधिकृत्योच्यते परन्त्यायुषः परिमाणमधिकृत्योच्यते । परिमाणे परिपूर्णकाले मरणकारणम्रियते इत्यतो न समक्रियत्वं हेतुरिति समक्रिय-त्वादित्यतः दूषणम् । अथ यस्य चेत्यादिना यो यदा म्रियते स तस्य नियतो मृत्युकाल इति मतं दूषयति । तस्येति तस्य वादिनो मते सर्वे भावा

मृत्युकालः, इति कथं ज्ञायते इत्याह—कालः सर्वभूतानां सत्यः समक्रियत्वादिति, यस्मात् कालः सर्वभूतानामविशेषेण मारकतया समक्रियः, न रागात् किञ्चिद्भूतं मारयति, न द्वेषाद् वा किञ्चित् तु, किन्तु सर्वाप्येव हन्ति । तेन सर्वभूतानामयं सत्यो रागद्वेषश्चैव इत्यर्थः । ततश्च राग-द्वेषश्चैव नोचित एव परं मारयति, नानुचित इति भावः । दूषयति एतदपीत्यादिना । न हि कश्चिन्न म्रियते इति कृत्वा समक्रियः कालो भवत्येव, न तु शतवर्षलक्षणमायुःप्रमाणमधिकृत्य भवता समक्रियः कालोऽभिधीयते, यदि हि शतवर्षायुःप्रमाणेऽपि समक्रियः स्यात्, तेन शतवर्षाद् वा पूर्वं न केचिन्म्रियेरन्, दृश्यते चैतत् । तस्मादेवंभूतसमक्रियत्वेन कालस्य शतवर्षायुः-

भविष्यन्ति, तच्च नोपपद्यते । प्रत्यक्षं ह्यकालाहारवचनकर्मणां फलमनिष्टं विपर्यये चेष्टम् । प्रत्यक्षतश्चोपलभ्यते खलु कालाकालयुक्तिस्तासु तास्ववस्थासु तं तमर्थमभिसमीक्ष्य । तद् यथा—कालोऽयमस्य तु व्याधेराहारस्यौषधस्य प्रतिकर्मणो विसर्गस्य चाकालो वा । लोकेऽप्येतद्भवति—काले देवो वर्षत्यकाले वर्षति, काले शीतमकाले शीतं, काले तपत्यकाले तपति, काले पुष्पफलमकाले च पुष्पफलमिति । तस्मादुभयमस्ति काले

मृत्युमन्तो नामरास्तत्र केचिन्नियतमरणकालाः केचिदनियतमरणकालास्तत्र नियतकालाः सव्य भविष्यन्ति । इष्ट्यापत्तौ लाह—तच्चेत्यादि । कुतो नोपपद्यते इत्यतो हेतुमाह—प्रत्यक्षमित्यादि । अत्रायं भावः । यो यदा भुङ्क्ते स तस्य नियतो भोजनकाल इति चेत् तर्हि कथं यः कश्चिदेकदिनं मध्याह्ने भुङ्क्तेऽपरदिनं प्रातरपरेदुः सायमित्यतस्तस्याकालभोजनफलं किं न स्यात् ? एवं यो यदा यद्वक्ति स तस्य वचनस्य नियतः काल एवञ्च यो यदा यत् कर्म करोति स तस्य नियतस्तत्कर्मकाल इत्यादौ व्याख्येयम् । विपर्यये मध्याह्नादिप्रतिनियतकाले भोजनादौ च फलमिष्टम् । हि यस्मात् प्रत्यक्षं तस्मात् यो यदा त्रियते स तस्य न नियतो मृत्युकाल इति । प्रत्यक्षतः प्रमाणान्तरं दर्शयति कालाकालयोः—प्रत्यक्षतश्चेत्यादि । भावानां कालाकालयोरस्तित्वनास्तित्वविषया युक्तिश्च प्रत्यक्षत उपलभ्यते किं दृष्ट्वेत्यत आह—तासु तास्वित्यादि । तासु तासु वक्ष्यमाणासु व्याध्यादिसद्भावासद्भावास्ववस्थासु तं तं व्याध्यादिमर्थमभिसमीक्ष्य सर्व्वतोभावेन सम्यग् दृष्ट्वा । उदाहरणमाह—तदप्येत्यादि । प्रतिकर्मणश्चिकित्सायाः । विसर्गस्य व्याधिमुक्तेः । लोकतोऽपि

प्राप्तेरर्वाङ् मरणम् । 'कालमृत्यु'शब्दमिधेमिहायुर्व्वेदे, तन्निरस्तं भवतीति भावः । अकालमृत्युप्रतिपेधे दूषणमाह—तस्येत्यादि । सर्व्वभावा इति मृत्युव्यतिरिक्ता अप्याहारवचनादयः । प्रत्यक्षमिति सुव्यक्तं प्रमाणेत्यर्थः, कालाकालव्यक्तिस्तासु तास्विति तासां अवस्थास्तं तं व्याध्याहारादिकमर्थं बुद्धिस्थीकृत्य 'कालाकाल'शब्देनोच्यन्त इत्यर्थः । अत्र तृतीयदिनयुक्तायां तृतीयकालं प्रति कालोऽयमस्येति व्यपदिश्यते, विपर्यये चाकाल इति व्यपदेशः, तथा ग्लान्यादिसुक्तायां शरीरावस्थायामाहाररूपमर्थमुद्दिश्य कालोऽयमाहारस्येति ज्ञानं भवति, विपर्यये चाकालमित्युदाहरणमुन्नेयम् । विसर्गस्येति व्याधिमोक्षस्य । इह प्रकरणे 'काल'शब्देनोचितः कालोऽभि-



मृत्युरकाले च । नैकान्तिकमत्र । यदि ह्यकाले मृत्युर्न  
स्यान्नियतकालप्रमाणमायुः सर्व्व स्यात् ॥ १८ ॥

एवं गते हि हिताहितज्ञानमकारणं स्यात्, प्रत्यक्षानुमानोप-  
देशाश्चाप्रमाणाः स्युः, ये प्रमाणभूताः सर्व्वतन्त्रेषु यैरायुष्याण्य-  
नायुष्याणि चोपलभ्यन्ते । वाग्वस्तुमात्रमेतद्वादमृषयो मन्यन्ते  
नाकाले मृत्युरस्तीति । वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले ।  
तस्य निमित्तं प्रकृतिगुणात्मसम्पत् सात्म्योपसेवनञ्चेति ॥ १९ ॥

कालाकालयोर्दृष्टान्तमाह—लोकेऽपीत्यादि । नैकान्तिकमत्रेति अत्र मृत्यौ  
कालाकालयोर्नैकान्तिकत्वमिति । युक्त्यन्तरमाहानैकान्तिकत्वे—यदि हीत्यादि ।  
हि यस्मात् अकाले यदि मृत्युर्न स्यात् तर्हि सर्व्वमायुर्नियतकालप्रमाणं स्यात्  
न हि कश्चित् दीर्घायुः कश्चिदल्पायुर्वा स्यात् ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—यदि च सर्व्वमायुर्नियतकालप्रमाणं स्वीकुर्मः का च तेन  
हानिरित्यत आह—एवमित्यादि । हि यस्मादेवं सर्व्वमायुर्नियतकालप्रमाणमिति  
गतेऽभ्युपगते हिताहितज्ञानमकारणं स्यात् । हितसेवनेन चिरायुरहिता-  
चरणेनाल्पायुरिति प्रयोजनाभावात् । ननु दीर्घायुरल्पायुश्च स्वभावतो न  
हिताहिताभ्यामिति चेन्न । कुत इत्यत आह—प्रत्यक्षेत्यादि । ये प्रत्यक्षादितः  
प्रमाणभूता यैः सर्व्वतन्त्रेषु आयुष्याणि अनायुष्याणि चोपलभ्यन्ते च तेऽप्रमाणाः  
स्युः । आप्तोपदेशतः सर्व्वतन्त्रेषु यानि निषेव्य दीर्घायुर्भवन् दृश्यते,  
स्वल्पायुर्भवन्नपराणि निषेव्य दृश्यतेऽनुमीयते च तथादर्शनात् । यथा  
ब्रह्मचर्य्य हितमहितमतिमैथुनादिकम् । अत एवोभयमस्ति काले मृत्युरकाले  
च नैकान्तिकमत्र । तस्मात् नाकाले मृत्युरस्तीत्येतद्वादमृषीणां वाग्वस्तुमात्रं  
धीयते, ‘अकाल’शब्देनानुचितः कालः, न तु कालविग्रहः । सिद्धान्तमुपसंहरति—तस्मादित्यादि ।  
नैकान्तिकमिति कालमृत्युरेव परं भवति, किंवा अकालमृत्युरेव परं भवतीत्यैकान्तिकपक्षो नास्ति ।  
अकालमृत्योरभावपक्षे दूषणमाह—यदि हीत्यादि । हिताहितज्ञानमकालमृत्युप्रतिषेधार्थं विधीयते ।  
पुनं चेदकालमृत्युर्नास्ति, तदा हिताहितज्ञानं निष्प्रयोजनं स्यात् । प्रत्यक्षानुमानोपदेशा अप्रमाणानि  
स्युरिति, आयुर्व्वेदसम्बन्धाः प्रत्यक्षादयः आयुर्व्वेदार्थदर्शकाः आयुष्यानायुष्यार्थाभावादप्रमाणभूताः  
स्युरिति भावः । दूषितपक्षं निःसारतया दर्शयन्नाह—वागित्यादि । “किञ्चास्य परमायुः” इत्यस्य  
प्रश्नस्योत्तरमाह—वर्षशतमिति । अस्मिन् काले कलौ । शेषप्रश्नस्योत्तरम्—तस्येत्यादि । प्रकृति-

तत्र श्लोकाः ।

शरीरं यद् यथा तच्च वर्त्तते क्लिष्टमामयैः ।

यथा क्लेशं विनाशं वा याति ये चास्य धातवः ॥

वृद्धिहासौ तथा चैषां क्षीणानामौषधश्च यत् ।

देहवृद्धिकरा भावा बलवृद्धिकराश्च ये ॥

न वस्तुतः । इति सप्तमप्रश्नोत्तरम् । अथ किञ्चास्य परमायुः परिमाणत उत्कृष्टमायुरिति स तत्प्रश्नोत्तरमाह—वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमिति । नियत-कालप्रमाणमायुरनियतकालप्रमाणञ्चेति तत्र नियतकालप्रमाणस्यायुषः सव्व-मुत्कृष्टं प्रमाणमस्मिन् काले वर्षशतमिति । अस्य विस्तार इन्द्रियोपक्रमणीये श्लोकस्थाने व्याख्यातः । अस्मिन् काले इति कलियुग इति कश्चित् तेन “शतायुर्वै पुरुष” इति श्रुतेः “शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व” इति कठोपनिषदि च “जिजीविषे शतं समा” इति ईशोपनिषदि च दर्शनात् । एवञ्च समाः शतमव्याधिरायुषा न वियुज्यते इति स्ववचनदर्शनाच्च । न हि सर्व्वे बहुलस्यापनार्थमेकमेव शब्दं प्रयुज्यते । तस्मादस्मिन् कल्पे इति कल्परूपकालार्थे कालशब्दप्रयोगः । हिताहित-सेवनात् तस्य वृद्धिहासौ भवत इति इत्यष्टमप्रश्नोत्तरम् । अथ कानि चास्य परमायुषो निमित्तानीत्यस्य नवमप्रश्नस्योत्तरमाह—तस्येत्यादि । प्रकृतिगुण-सम्पत् प्रकृतीनां मातुः शोणितं, पितुः शुक्रमात्मा च, सात्म्यश्च, रसश्चेति, मातुराहारः सत्त्वञ्चेत्येतासां प्रकृतीनां गुणानां सम्पत् । आत्मसम्पदिति तत् पुरुषस्य । सात्म्योपसेवनञ्चेति । इति नवमप्रश्नोत्तरम् ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—अथाध्यायार्थोपसंहारायाह—तत्र श्लोका इत्यादि । शरीर-विचय इत्यादिना सविचयप्रयोजनं शरीरं यत् । समयोगवाहिन इत्यादिना तच्छरीरं यथा वर्त्तते यथामयैः क्लिष्टं भवति यथा चामयैः संक्लेशं विनाशं वा याति । वैषम्यगमनं हीत्यादिना अस्य ये धातवो वृद्धिहासौ यान्ति ।

गुणात्मसम्पदिति प्रकृतिसम्पत्, गुणसम्पत्, आत्मसम्पत् । तत्र प्रकृतिसम्पत् समवातादिप्रकृतित्ता-समप्रकृतिर्हि चिरायुर्भवति, गुणसम्पत् तु सारसंहननादिभिरायुष्यलक्षणैर्योगः किंवा या प्रकृतेर्मातु-पित्रादुपकरणस्य गुणसंगत्, सा प्रकृतिगुणसम्पत् । आत्मनस्तु चिरायुष्यकारणधर्मयुक्ता सम्पत् ॥ १७—१९ ॥

चक्रपाणिः—संग्रहे ‘ये चास्य धातवः’, इत्यनेन ‘मांसं मांसेन वर्द्धते’ इत्यादौ भातुरूपेणोक्तः ।

परिणामकरा भावा या च तेषां पृथक् क्रिया ।  
मलाख्याः संप्रसादाख्या धातवः प्रश्न एव च ॥  
नवको निर्णयश्चारय विधिवत् संप्रकाशितः ।  
तथ्यः शरीरविचये शरीरे परमर्षिणा ॥ २० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतै शरीरस्थाने शरीर-  
विचयशारीरं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

तस्मान्मांसमाप्यायते मांसेनेत्यादिना एषामस्य धातूनां क्षीणानां यदौषधं  
वृद्धिकरम् । कार्त्तस्येनेत्यादिना ये देहवृद्धिकरा भावाः । बलवृद्धिकरास्त्वमे  
इत्यादिना ये च बलवृद्धिकरा भावाः । आहारेत्यादिना परिणामकरा ये भावाः ।  
तत्स्वल्पेषामित्यादिना तेषां परिणामकराणामुष्मादीनां या या क्रिया पृथक्  
प्रत्येकम् । शरीरधातवस्त्वेषां द्विविधा तु इत्यादिना मलाख्या धातवः ।  
इतरांस्त्वित्यादिना प्रसादाख्या धातवः । तमेवमुक्तवन्तमित्यादिना नवक  
एव च प्रश्नः । पुनश्च तमेवमुक्तवन्तमित्यादिनास्य नवकस्य प्रश्नस्य यथावत्  
यथार्थनिर्णयश्च तथ्यश्च । परमर्षिणा पुनर्व्वसुना संप्रकाशितः ॥ २० ॥

अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि ।

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरत्नविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ शरीरस्थानजल्पे  
चतुर्थस्कन्धे शरीरविचयशारीरजल्पाख्या षष्ठी शारवा ॥ ६ ॥

मांसादीनां संग्रहोऽयमिति वदन्ति । 'वृद्धिहासौ यथा तेषाम्' इत्यनेन 'धातवः पुनः' इत्यादि-  
ग्रन्थार्थं गृह्णाति । 'क्षीणानामौषधं यत्' इति मांरुमाप्यायते मांसेन' इत्यादि संगृह्णाति ।  
या च तेषां पृथक् क्रिया' इत्यनेन तेषामाहारपरिणामकराणामुष्मप्रभृतीनां पृथक्कर्मणाम् ।  
यदुक्तम्—'तद् यथा—उष्मा पचति' इत्यादिना, तद् गृह्यते ॥ २० ॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुराननश्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां चरक-  
तारपर्य्यटीकायां शरीरस्थाने शरीरविचयशारीरं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

## सप्तमोऽध्यायः ।

अथातः शरीरसंख्यानाम शरीरं व्याख्यास्यामः,  
इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

शरीरसंख्यामवयवशः कृत्स्नं शरीरं प्रविभज्य सर्वशरीर-  
संख्यानप्रमाणज्ञानहेतोर्भगवन्तमात्रेयमग्निवेशः पप्रच्छ ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—अथ शरीरविचयः शरीरोपकारार्थमिष्यते इति यदुक्तं, तत्रोक्ता-  
ध्यायोक्तशरीरविचयानन्तरं शरीरविचयपरिशेषं व्याकृतुं शरीरसङ्ख्यानाम  
शरीरमारभते—अथात इत्यादि । शरीरस्य सङ्ख्या सङ्ख्याया ज्ञानमननेति  
शरीरसङ्ख्या, सा विद्यतेऽस्मिन्नध्याये मत्वर्थीयप्रत्ययः । पूर्ववच्छन्दसीति  
मत्वर्थे च्छन्दःप्रत्ययमुत्पाद्य तल्लोपे प्रकृतिभावश्च विधाय शरीरसङ्ख्येति  
निष्पाद्यते । शरीरसङ्ख्या नाम यस्य तत् तथा । सर्वं पूर्ववत् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—शरीरेत्यादि । अग्निवेशो भगवन्तमात्रेयं सर्वशरीराणां सङ्ख्यानस्य  
सङ्ख्याया ज्ञानस्य प्रमाणं साधनं तस्य ज्ञानहेतोः शरीरमवयवशः प्रविभज्य  
शरीरसङ्ख्यां पप्रच्छेति योजना ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—पूर्वाध्याये धातुभेदेन शरीरमभिधाय एतदेव शरीरमवयवसंख्याभेदेन प्रति-  
पादयितुं शरीरसंख्या उच्यन्ते, अवयवसंख्यानप्रमाणभेदेन च शरीरज्ञानं प्राधान्येन साक्षात्  
साधनं चिकित्सोपयुक्तं करिष्यतीति अध्यायान्ते 'शरीरसंख्यां यो वेद' इत्यादि । अवयवशः  
शरीरं विभज्य शरीरसंख्यां पप्रच्छेति योजना । पृच्छाप्रयोजनमाह—सर्वशरीरसंख्यानप्रमाण-  
ज्ञानहेतोरिति । संख्यानस्य प्रमाणमित्या संख्यानप्रमाणम्, तच्च 'पद् द्वादश' इत्यादिग्रन्थ-  
वाच्यम् । किंवा संख्यानञ्च प्रमाणञ्च संख्यानप्रमाणम् । अत्र 'पद् त्वचः' इत्यादि संख्यानम्,  
'दशोदकाञ्जलयः' इत्यादि शरीरावयवप्रमाणम् । किंवा संख्यानामप्रमाणज्ञानहेतोरिति पाठः ।  
तत्र संख्यानप्रमाणस्य दत्तमेवोदाहरणम्, नामज्ञानन्तु 'एकजिह्विका' इत्यादिग्रन्थे भवतीति  
व्याख्यानयन्ति ॥ १।२ ॥

तमुवाच भगवानात्रेयः । शृणु मत्तोऽग्निवेश ! शरीरं सर्व-  
सभिसंचक्षाणस्य यथाप्रश्नमेकमनाः । यथावत् शरीरे षट् त्वचः ;  
तद्वयथा—उदकधरा त्वग् वाह्या, द्वितीया त्वसृग्धरा, तृतीया  
सिध्मकिलाससम्भवाधिष्ठाना च, चतुर्थी कुष्ठसम्भवाधिष्ठाना,

गङ्गाधरः—तमुवाचेत्यादि । अभिसंचक्षाणस्य व्याख्यानं कुर्वतो मम ।  
यथावदित्यादि । षट् त्वचस्ता विवृणोति—तद्वयथेत्यादि । ननु सुश्रुतेन  
गर्भव्याकरणशरीरे तूक्तम्—अग्निः सोमो वायुः सत्त्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि  
भूतात्मेति प्राणाः । तस्य खल्वेवं प्रवृत्तस्य शुक्रशोणितस्याभिपच्यमानस्य  
क्षीरस्येव सन्तानिकाः सप्त त्वचो भवन्ति । तासां प्रथमाऽवभासिनी नाम,  
या सर्ववर्णानवभासयति पञ्चविधाश्च च्छायां प्रकाशयति । सा व्रीहेरष्टादशभाग-  
प्रमाणा सिध्मपञ्चकण्टकाधिष्ठानेति । तन्त्रे तस्मिन्निर्यं वाह्या त्वगुदकधरेति  
नाम्नाभिहिता । द्वितीया त्वसृग्धरेति । सुश्रुतेनापि तत्रैवोक्तं द्वितीया लोहिता  
नाम व्रीहेः षोडशभागप्रमाणा तिलकालकन्यच्छव्यङ्गाधिष्ठानेति । तृतीया  
सिध्मकिलाससम्भवाधिष्ठाना चेति । अत्र सुश्रुतः प्रोवाच तृतीया श्वेता  
नाम व्रीहेर्द्वादशभागप्रमाणा चर्मदलाजगल्वीमशकाधिष्ठाना । चतुर्थी ताम्रा  
नाम व्रीहेरष्टमभागप्रमाणा विविधकिलासकुष्ठाधिष्ठानेति द्वे त्वचे प्रोवाच ।  
तन्त्रे ऽस्मिन् ते द्वे त्वेकत्वेन स्वीकृत्य तृतीया त्वगुक्ता, तेनास्मिंस्तन्त्रे या चतुर्थी  
सा सुश्रुते पञ्चमी, अस्मिन् पञ्चमी या सुश्रुते सा षष्ठी, अस्मिन् षष्ठी सुश्रुते  
सप्तमीति न विरोधः । तथा च तृतीया या सा तूपरिदेशे श्वेता, तत्र सिध्मचर्म-  
दलाजगल्वीमशकाधिष्ठानम् । अद्यस्तात् तु ताम्रा किलासाख्यकुष्ठाधिष्ठाना  
एतयोः प्राधान्यात् सम्भवस्य कारणस्य दोषादेरधिष्ठानभूता इत्यर्थः । चतुर्थीति ।

चक्रपाणिः—भाचक्षाणस्येत्यत्र 'मतम्' इति शेषः । तेन सर्वं शरीरमाचक्षाणस्य मे मत्तः  
शृण्वन्ति योजना । ततश्च 'नटस्य शृणोति' इतिवदनुपयोगे षष्ठी शृण्वित्यनेन । मतान्तरमप्यस्ति  
शरीरावयवसंख्यान इति सूचयति । ततश्च सुश्रुते—“सप्त त्वचस्त्रीण्यस्थनां शतानि” इत्यादिना  
यद्वि प्रतिपादितं संख्याविरुद्धमुच्यते, तच्छल्यशास्त्रोपयुक्तमतभेदादिति दर्शयति । यदुक्तम् सुश्रुते—  
“त्रीणि सपष्टानि शतान्यस्थनां वेदविंदो भापन्ते । शल्यतन्त्रे तु त्रीण्येव शतानि”, अनेन वचनेन  
योऽन्योऽपि त्वगादिसंख्याभेदश्चरकसुश्रुतयोः स्वतन्त्रोपयुक्तसंख्याोपादानाच्चोन्नेयः । सिध्मकिलास-

पञ्चमी अलजीविद्रधीसम्भवाधिष्ठाना । षष्ठी तु सा यस्यां  
छिन्नायां ताम्यत्यन्ध इव च तमः प्रविशति, याश्चाप्यधिष्ठायारूँषि  
जायन्ते पर्वसन्धिषु सुकृष्णरक्तानि स्थूलमूलानि दुश्चिकित्स्य-  
तमानि च । इति षट् त्वचः । एताः षडङ्गं शरीरमवतस्य  
तिष्ठन्ति ॥ ३ ॥

कुष्ठानां सम्भवस्य दोषस्याधिष्ठानं यस्यां सा तथा । सुश्रुते तु पञ्चमीयमुक्ता ।  
तद् यथा—पञ्चमी वेदिनी नाम त्रीहिपञ्चमभागप्रमाणा कुष्ठविसर्पाधिष्ठाना ।  
इति । पञ्चमीत्यलजीविद्रधीति प्राधान्यादुक्तम् । सुश्रुते हि रोहिणीनाम्नीयं  
पट्टी त्वक् । तद् यथा—पट्टी रोहिणी नाम त्रीहिप्रमाणा ग्रन्थ्यपच्यवृद्धश्लेष्मद-  
गलगण्डाधिष्ठानेति । षष्ठीत्यादि । यस्यां त्वचि छिन्नायां ताम्यति पुरुषः ।  
कीदृशं ताम्यतीति तद् विवृणोति—अन्ध इवेत्यादि । तत्र कस्याधिष्ठानमित्यत  
आह—याञ्चेत्यादि । अरूँषीति । व्रणा या अरूँषिका शोथरूपा व्रणाः । कुत्र  
कीदृशानीत्यत आह—पर्वेत्यादि । सुकृष्णरक्तानि स्थूलमूलानि दुश्चिकित्स्य-  
तमानित्वरूँषीत्यस्य त्रीणि विशेषणानि । इत्येताः षट् त्वचः षडङ्गं शरीरमवतस्य  
व्याप्य तिष्ठन्तीति । उपलक्षणमेतत् तेन तन्त्रान्तरोक्तं शेषमपि बोध्यम् । तद्  
यथा—सुश्रुते—सप्तमी मांसधरा नाम त्रीहिद्वयप्रमाणा भगन्दरविद्रध्यर्शाधि-  
ष्ठाना । यदेतत् प्रमाणं निर्दिष्टं तन्मांसलेप्त्रवकाशेषु न ललाटे सूक्ष्माङ्गुल्यादिषु  
च । यतो वक्ष्यत्युदरेषु त्रीहिमुखेणाङ्गुष्ठोदरप्रमाणमवगाढं विध्येदिति ।  
कलाः खल्वपि सप्त सम्भवन्ति धात्वाशयान्तरमर्यादाः । भवतश्चात्र ।  
यथा हि सारः काष्ठेषु छिद्यमानेषु दृश्यते । तथा धातुर्हि मांसेषु छिद्य-  
मानेषु दृश्यते । स्नायुभिश्च प्रतिच्छन्नान् सन्ततांश्च जरायुणा । श्लेष्मणा  
वेष्टितांश्चापि कलाभागांस्तु तान् विदुः । आसां प्रथमा मांसधरा नाम, यस्यां मांस  
सिरास्नायुधमनीस्रोतसां प्रताना भवन्ति । भवति चात्र । यथा विसृणालानि  
विवर्द्धन्ते समन्ततः । भूमौ पङ्कोदकस्थानि तथा मांसे सिरादयः । द्वितीया  
रक्तधरा नाम । मांसस्याभ्यन्तरतस्तस्यां शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृत्-  
सम्भवाधिष्ठानेति सिध्मकिलासौ यतो दोषात् सम्भवतः, तस्य दोषस्याधिष्ठानमूता । एवमुत्तरत्रापि  
व्याख्येयम् । ताम्यतीत्यस्य विवरणम्—‘अन्ध इव तमः प्रविशति’ इति । किंवा ताम्यतीति  
तमोयुक्तभावश्चेष्टते । अरूँषीति व्रणानि । पर्वस्विति अवयवसन्धिषु ॥ ३ ॥

तत्रायं शरीरस्याङ्गविभागः—तद् यथा—द्वौ वाहू द्वे  
सक्थिनी शिरोग्रीवमन्तराधिरिति षडङ्गमङ्गम् ॥ ४ ॥

प्रीहोश्च भवति । भवति चात्र । दृक्षाद् यथाभिप्रहतात् क्षीरिणः क्षीरमावहेत् ।  
मांसादेवं क्षतात् क्षिप्रं शोणितं सम्प्रसिच्यते । तृतीया मेदोधरा नाम, मेदो हि  
सर्वभूतानामुदरस्थमण्वस्थिषु, महत्सु च मज्जा भवति । भवति चात्र । स्थूला-  
स्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तराश्रितः । अथेतेषु सर्वेषु सरक्तं मेद उच्यते ।  
शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्त्तिता । चतुर्थी श्लेष्मधरा नाम  
सर्वसन्धिषु प्राणभृतां भवति । भवति चात्र । स्नेहाभ्यक्ते यथा त्वक्षे चक्रं  
साधु प्रवर्त्तते । सन्धयः साधु वर्त्तन्ते संश्लिष्टाः श्लेष्मणा तथा । पञ्चमी  
पुरीषधरा नाम, याऽन्तःकोष्ठे मलमभिविभजते पक्वाशयस्था । भवति चात्र ।  
यकृत् समन्तात् कोष्ठञ्च तथान्नाणि समाश्रिता । उण्डुकस्थं विभजते मलं  
मलधरा कला । षष्ठी पित्तधरा नाम, या चतुर्विधमन्नपानमुपयुक्तम्  
आमाशयात् प्रच्युतं पक्वाशयोपरिस्थितं धारयति । भवति चात्र । अशितं खादितं  
पीतं लीढं कोष्ठगतं नृणाम् । तज्जीर्याति यथाकालं शोषितं पित्ततेजसा ।  
सप्तमी शुक्रधरा नाम, या सर्वप्राणिनां सर्वशरीरव्यापिनी । भवन्ति चात्र ।  
यथा पयसि सर्पिस्तु यथा चेक्षुरसे गुडः । शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद्  
भिषग्वरः । द्वाङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे वस्तिद्वारस्य चाप्यधः । मूत्रस्रोतःपथाच्छुक्रं  
पुरुषस्य प्रवर्त्तते । कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा । स्त्रीषु  
व्यायच्छतश्चापि हर्षात् तत् सम्प्रवर्त्तते ॥” इति ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—अथ किं षडङ्गं शरीरमित्यत आह—तत्रायमित्यादि । द्वौ वाहू  
इति द्वे अङ्गे । द्वे सक्थिनी इति द्वे अङ्गे । शिरोग्रीवमित्येकमङ्गम् । शिरश्च  
ग्रीवा चेति तयोः समाहार इत्येकवङ्गावात् । अन्तराधिरित्येकमङ्गम् ;  
अन्तर्मध्यमादधातीति व्युत्पत्त्या मध्यदेह इत्यर्थः । इति षडङ्गमङ्गं शरीरम् ।  
सुश्रुतेऽप्युक्तम् शरीरसङ्ख्याव्याकरणशारीरे—तच्च षडङ्गं शाखाश्चतस्रो मध्यं  
पञ्चमं षष्ठं शिर इति । अत्र शिर इति ग्रीवापर्यन्तं शिरःसंज्ञम् ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—षडङ्गतामुक्तां शरीरस्य विभजते—तत्रायमित्यादि । शिरश्च ग्रीवा च शिरो-  
ग्रीवम्, एतच्चैक्यं विवक्षया ज्ञेयम् ; अन्तराधिर्मध्यम् ॥ ४ ॥

त्रीणि पट्टधिकानि शतान्यस्थानां सह दन्तोलूखलनखैः ; तद् यथा—द्वात्रिंशद् दन्तोलूखलानि, द्वात्रिंशदन्ताः, विंशतिर्नखाः, विंशतिः पाणिपादशलाकाः । पट्टिरङ्गल्यस्थीनि । द्वे पाण्योर्द्वे कूर्चाधश्चत्वारः पाण्योर्मणिकाः, चत्वारः पादयोर्गुल्फाः । चत्वार्यरत्नोरस्थीनि चत्वारि जङ्घयोः द्वे जानुनोर्द्वे

गङ्गाधरः—त्रीणीत्यादि । दन्तनखैः सहास्थानां पट्टधिकानि त्रीणि शतानि वृणामिति । ननु शल्यतन्त्रे त्रीणि शतान्यस्थानामित्युक्तं कथमिह पट्टधिकानीत्यत आह—सहेत्यादि । शल्यतन्त्रे सुश्रुतेऽप्युक्तम् । त्रीणि सपट्टान्यस्थिशतानि चेद्वादिनो भाषन्ते, शल्यतन्त्रेषु त्रीण्येव शतानि । इति । शल्यतन्त्रेप्येवामस्थानां विशेषेण शस्त्रक्रिया चिकित्सिते नास्ति तानि पट्टस्थीनि नोपदिश्यन्ते, न तु सन्तीति कृत्वा नोपदिश्यन्ते । तानि च पट्टिरस्थानामेषा—दन्तोलूखलेन जङ्घस्थीनि पट्टिस्तैः सह त्रीणि शतानि भवन्त्यस्थनामिति । तानि विवृणोति—द्वात्रिंशदित्यादि । दन्तानां द्वात्रिंशत् एकैकस्यैकैकगुलूखलाकृतिस्थितिस्थानमिति । द्वात्रिंशदेव दन्तोलूखलानि शल्यतन्त्रे नोक्तानि । द्वात्रिंशद् दन्तास्तुक्तास्तद्ग्रहणैर्न तान्यपि गृह्यन्ते । विंशतिर्नखा इति शल्यतन्त्रे नोक्तम् । विंशतिः पाणिपादशलाका इति । द्वयोः पाण्योः पादयोश्च द्वयोस्तलेषु चतुर्षु स्थानेष्वङ्गुलिर्विंशतेः मूलेषु स्थिताः विंशतिः शलाकाः । पट्टिरङ्गल्यस्थीनि । पाणिपादचतुष्टये विंशतेरङ्गुलीनाम् एकैकस्यामङ्गुल्यां त्रीणि त्रीण्यस्थीनि तान्येकैकस्मिन् पाणिपादे पञ्चदश, चतुर्षु पट्टिः । द्वे अस्थिनी पाण्योः । पादयोर्मूले शलाकाभ्योऽधस्तादेकैकमिति द्वे । द्वे कूर्चाध इति पाण्योः शलाकाभ्योऽधस्तात् तच्छलाकावन्धे एकैकमिति, द्वयोः पाण्योर्मूले द्वे अस्थिनी पाण्योः स्थिवत् । ततोऽधस्ताच्चत्वारः पाण्योर्मणिका मणिवन्धस्थाने त्वेकैकस्मिन् पाणौ द्वे अस्थिनी ; द्वयोश्चत्वारि । एवमेव पादयोश्चत्वारो गुल्फा इति । ततोऽधस्ताच्चत्वारि अरत्नोः

चक्रपाणिः—सपट्टानीति पट्टधिकानि । दन्तेषूलूखलम्, यत्राश्रिता दन्ताः । यद्यपि नखा विविधाशितपीतीये मलभागपोष्यत्वेन मले एव प्रक्षिप्ताः, तथापीहास्थितारूपयोगत्वापि विद्यमानत्वाद् अस्थिगगनायां पतिताः । प्रत्यङ्गुलि पर्वत्रयम् । तेन विंशत्यङ्गुलिगतम् अस्थानं विंशतित्रयं भवति । वृद्धाङ्गुष्ठे यद्वस्त्रपादप्रविष्टम्, तत् तृतीयं पर्वत्रयेयम् । वृद्धाङ्गुष्ठशलाका अपि स्वल्पमाना ज्ञेयाः, अङ्गुलीनां शलाका यत्र लग्नाः, तत्र शलाका अङ्गुष्ठाधि-



कूर्परयोर्द्वे ऊर्ध्वोर्द्वे बाह्वोः सांसयोः, द्वावक्षकौ द्वे तालुनि, द्वे श्रोणीफलके, एकं भगास्थि पुंसां मेढ्रास्थि, एकं त्रिक-  
संश्रितमेकं गुदास्थि, पृष्ठगतानि पञ्चत्रिंशत्, पञ्चदशा-  
स्थीनि ग्रीवायाम् । द्वे जत्रुण्येकं हन्वस्थि, द्वे हनुमूलवन्धने,  
द्वे ललाटे, द्वे अक्ष्णोर्द्वे गण्डयोर्नासिकायां त्रीणि घोणा-  
ख्यानि, द्वयोः पार्श्वयोश्चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्जरास्थीनि  
अस्थीनि । हस्तयोः प्रकोष्ठे त्रैकैकस्मिन् द्वे द्वे अस्थिनी, ततश्चत्वारि द्वयोरिति ।  
एवं चत्वारि जङ्घयोरस्थीनि गुल्फाधस्ताज्जानुपर्यन्ते । द्वे जानुनोरिति पृथु-  
गुटिकाकारे । एवमेव कूर्परयोर्द्वे अस्थिनी । प्रकोष्ठबाह्वोः सन्धौ क्षुद्रगुटिकाकारे  
द्वे । द्वे ऊर्ध्वोरित्येकैकस्मिन् ऊरावेकैकमिति द्वे । एवमेव सांसयोर्बाह्वोर्द्वे,  
एकैकस्मिन् बाहावेकैकमिति द्वे । इत्येवं चतसृषु पाणिपादरूपासु शाखासु  
खल्वेकैकस्यां शाखायां नखैः सह द्वात्रिंशदस्थीनि ; चतसृषु तान्यष्टाविंशत्युत्तरं  
शतं भवन्ति । शल्यतन्त्रेषु सुश्रुतादिषु नखानुक्तत्वादेकैकस्यां शाखायां  
सप्तविंशतिस्तान्यष्टोत्तरशतमुक्तानि । इति दन्तोलूखलदन्तसहितानि तान्यष्टा-  
विंशत्युत्तरशतास्थीनि द्विनवत्यधिकशतं भवन्ति ।

द्वावक्षकावित्यादि । अत्र द्वित्वप्रसङ्गाद् द्वे तालुनीत्युक्तम् । तालुगतद्वय-  
वर्जमक्षकादिषु खल्वक्षश्रोणिभगमेढ्रत्रिकगुदपृष्ठेषु द्वाचत्वारिंशत् । तद् यथा—  
द्वावक्षकौ कण्ठादधोऽंसकौ द्वे । द्वे श्रोणीफलके इति नितम्बे द्वे । स्त्रीणामेकं  
भगास्थि पुंसां मेढ्रास्थि । त्रिकसंश्रितमेकं गुदे चैकम् । इति पञ्च श्रोण्याम्,  
अक्षकौ द्वाविति सप्त । पृष्ठगतानि पञ्चत्रिंशदिति द्वाचत्वारिंशत् ।

अथ ग्रीवां प्रत्युद्धुं सप्तत्रिंशदिति । तद् यथा—द्वे तालुनीत्युक्तम् । पञ्चदश  
ग्रीवायामिति ; तेषामेकादश ग्रीवायां कण्ठनाड्यां चत्वारि । द्वे जत्रणि । नेमे  
शल्यतन्त्रे वर्णिते, हन्वस्थि चैकं न वर्णितमिति । द्वे हनुमूलवन्धने । द्वे  
ललाटे । द्वे अक्ष्णोर्द्वे गण्डयोः नासिकायां त्रीणीति घनरूपमेकवत् । इति  
वक्ष्यति शिरःकपालानि चत्वारि द्वौ शङ्खकाविति जत्रुगतद्वयवर्जं पञ्चत्रिंशद्  
ग्रीवां प्रत्युद्धुम् ।

अथ मध्यदेहे—द्वयोः पार्श्वयोरित्यादि । द्वयोः पार्श्वयोरेकैकस्मिन् पार्श्वेक-  
मूले वक्षसि लग्नानि द्वादश द्वादश । इति चतुर्विंशतिः । चतुर्विंशतिः पञ्जरा-  
ष्टानम् । जानु जङ्घोर्वीः सन्धिः । अक्षाविवाक्षकौ, जत्रुसन्धेः क्रीलकौ । तालुपके तालवस्थिनी ।

च पार्श्वकानि । तावन्ति चैषां स्थालिकान्यव्वुदाकाराणि तानि द्विसप्ततिः । द्वौ शङ्खकौ चत्वारि शिरःकपालानि । वक्षसि सप्तदशेति त्रीणि षष्ठ्यधिकानि शतान्यस्थानामिति ॥ ५ ॥

स्थीनि पार्श्वकानि तान्येकैकस्मिन् पार्श्वे द्वादश द्वादशेति चतुर्विंशतिः । तावन्ति चैषां स्थालिकानि पृष्ठे खव्वुदाकाराणि द्वादश द्वादशेति चतुर्विंशतिस्तानि मिलित्वा द्विसप्ततिः ।

वक्षसि सप्तदशेति । पूर्वं द्वे जत्रुणीत्युक्तम् इत्येकाधिकनवतिर्मध्यदेहे । द्वौ शङ्खकौ चत्वारि शिरःकपालानीति ग्रीवां प्रत्यूढं षट् व्याख्यातानीति मिलित्वा षष्ठ्यधिकानि त्रीणि शतान्यास्थानां भवन्ति । तत्र शल्यतन्त्रेषु दन्तोलूखलानि द्वात्रिंशद् विंशतिर्नखा जत्रुणि द्वे हन्वस्थि चैकमिति षष्टिः पृथङ् नोच्यन्ते । दन्तग्रहणेन दन्तोलूखलानां ग्रहणात् नखानां बाह्यत्वात् जत्रुणि द्वयोर्वक्षसोऽस्थिग्रहणेन ग्रहणात् हन्वस्थश्च यौवने पृथक्त्वाभावाद् द्वित्वमिति न विरोधः ।

सुश्रुते चोक्तम् । त्रीणि सपष्टान्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते । भवन्ति चात्र । स्थालैः सह चतुःषष्टिर्दशना विंशतिर्नखाः । पाणिपादशलाकाश्च तासां स्थानचतुष्टयम् । षष्ठ्यङ्गुलीनां द्वे पाण्योः कूर्चाधो मणिगुल्फयोः । चत्वार्यरत्नयोश्चास्थीनि जङ्घायां तद्वदेव च । द्वे द्वे जानुकूर्परोरुफलकांससमुद्भवे । अक्षे तालूपके श्रोणी-फलके चैवमादिशेत् । भगास्थ्येकं त्रिके पायो पृष्ठे त्रिंशच्च पञ्च च । ग्रीवा पञ्चदशास्थिः स्यात् जञ्चेकैकं तथा हनोः । तन्मूले द्वे ललाटाक्षि-गण्डे नासायनास्थिका । पार्श्वकस्थालिकैः सार्द्धमव्वुदानि द्विसप्ततिः । द्वौ शङ्खकौ कपालानि चत्वार्येव शिरस्यथ । उरः पञ्चदशास्थि स्यात् पुरुषस्यास्थिसंग्रहः । इति । एतदेवाग्नेयपुराणे याज्ञवल्क्यसंहितायाञ्च स्मृतावुक्तमिति ।

तथा पुनः सुश्रुते—शल्यतन्त्रे तु त्रीण्येव शतानि । तेषामष्टोत्तरशतं शाखासु । षट् विंशत्युत्तरशतं श्रोणिपार्श्वपृष्ठाक्षोरःसु । ग्रीवां प्रत्यूढं षट् षष्टिः । एवमस्थानां त्रीणि शतानि पूर्यन्ते । एकैकस्यान्तु पादाङ्गल्यां त्रीणि त्रीणि तानि पञ्चदश । तलकूचगुल्फसंश्रितानि सप्त । पाण्णावेकम् । जङ्घायां द्वे । जानुन्येकमेकमूरौ, इति सप्तविंशतिरेकस्मिन् सकृन् भवन्ति । एतेन भगास्थि अभिमुखं कटीसन्धानकारकं तिष्ठत्यगस्थि । स्थालिकानीति पशुकानां मूलस्थानलग्नानि ।

पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि, तद् यथा—त्वग् जिह्वा नासिकाक्षिणी कर्णौ च । पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, तद् यथा—स्पर्शनं रसनं घ्राणं दर्शनं श्रोत्रमिति । पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, तद् यथा—हस्तौ पादौ पायुरुपस्थो जिह्वा चेति ॥ ६ ॥

हृदयं चेतनाधिष्ठानमेकम् । दश प्राणायतनानि । तद् यथा—सृङ्घ्रा कण्ठा हृदयं नाभिर्गुदं वस्तिरोजः शुक्रं शोणितं इतरसक्थिवाहू च व्याख्यातो । तान्यष्टोत्तरशतमस्थनाम् । श्रोण्यां पञ्च । तेषां द्वे नितम्बे । गुदभगत्रिकसंश्रितमेकैकम् । पार्श्वे पट्त्रिंशत् एवमेकस्मिन्, द्वितीयेऽप्यत्रम् । पृष्ठे त्रिंशत् । द्वे अक्षसंज्ञे । सप्तदशोरसि । ग्रीवायामेकादश । कण्ठनाड्यां चत्वारि । द्वे हन्वोदन्ता द्वात्रिंशत् । नासायां त्रीणि । द्वे तालुनि । गण्डकणेशङ्गेष्वेकैकं तानि पट् । पट् शिरसि । तानि पट् पट्टिरिति त्रीणि शतान्यस्थनां पूर्यन्ते । इत्यस्थिसंग्रहो व्याख्यातो भवति ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—अथ पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानीति । तद् यथा—त्वग्जिह्वेत्यादि । त्वचामुत्पात्तस्तत्ता । जिह्वायास्तत्पात्तः सुश्रुतेनोक्ता—उदरे पच्यमानानामाधमाना रुक्मसारवत् । कफशोणितमांसानां सारो जिह्वा प्रजायते ॥ पञ्च बुद्धीन्द्रियाणीत्यादि स्पष्टम् । पञ्च कर्मेन्द्रियाणीति । जिह्वा चेति वागिन्द्रियं न तु रसनेन्द्रियम् । द्वयोरधिष्ठानं हि जिह्वा ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—हृदयमिति सुश्रुतेऽप्युक्तम् । शोणितकफप्रसादजं हृदयं यदाश्रया हि धमन्यः प्राणवहाः । तस्याधो वामतः स्त्रीहा फुफसश्च, दक्षिणतो यकृत् क्लोम च । तद् हृदयं विशेषेण चेतनास्थानमतस्तस्मिन् तमसावृते सर्वे प्राणिनः स्वपन्ति । भवति चात्र । पुण्डरीकेण सहजं हृदयं स्यादधोमुखम् । जाग्रतस्तद् विकशति स्वपतश्च निमीलतीति । विस्तरस्तु अर्धदशमहामूलीयेऽस्योक्तः । दश प्राणायतनानीति च विस्तरेण दश प्राणायतनिकेऽध्याये व्याख्यातम् । तेषु दशसु मध्ये पूर्वार्वाणि मूर्द्धकण्ठहृदयनाभिस्थालकावुदानि तु पशुकामूलान्यवुदाकाराण्यस्थीनि । नासिकागण्डकूटललाटानामेकमूलत्वादेकमेवास्ति गणनीयम् । ये तु पृथगङ्गानि पठन्ति, तेषां नासागण्डकूटललाटानां त्रयाणां त्रीण्येवास्थीनि, एकत्वेन तु संख्यापूर्णम् । अक्षिणी कर्णौ च पृथक्त्वेऽपि एकैकेन्द्रियाधिष्ठानत्वेन एकत्वेन ग्राह्ये । एवं हस्तौ पादौ च एकतया ग्राह्यौ ॥ ५६ ॥

चक्रपाणिः—इह दशप्राणायतनेषु दशप्राणायतनीयोक्तां शङ्खैः परित्यज्य नाभिं मांसजं गृहीतम् ।

मांसमिति । तेषु षट् पूर्वाणि मर्मसंख्यातानि । पञ्चदश  
कोष्ठाङ्गानि, तद् यथा—नाभिश्च हृदयश्च क्लोम च यकृच्च  
प्लीहा च वृक्कौ च वस्तिश्च पुरीषाधारश्चामाशयश्च पक्वाशयश्चोत्तर-  
गुदश्चाधरगुदश्च जुद्रान्तश्च स्थूलान्तश्च वपावहनञ्चेति ॥ ७ ॥

गुदवस्तय इति षट् मर्मसंख्यातानि । पञ्चदश कोष्ठाङ्गानीति । सप्त आशया-  
ङ्गानि । सुश्रुते तु—आशयाः सप्त ते तु वाताशयः पित्ताशयः श्लेष्माशयो रक्ताशय  
आमाशयः पक्वाशयो मूत्राशयः स्त्रीणां गर्भाशयोऽष्टमः इति । अत्राङ्गानि  
विवृणोति । तद् यथा—नाभिश्चेत्यादि । सुश्रुतेनोक्तम्—तस्यान्तरेण नाभिस्तु  
ज्योतिःस्थानं ध्रुवं स्मृतम् । तद् आधमति वातेन देहस्तेनास्य वर्द्धते ॥  
इति । क्लोमशब्देनात्र पुष्फुस उण्डुकश्चेति द्वयम् । सुश्रुतेनोक्तम्—  
शोणितफेनप्रभवः फुफ्फुसः शोणितकिट्टप्रभव उण्डुकः इत्युण्डुकः क्लोम । यकृत्  
प्लीहा च रक्ताशयः । सुश्रुतेनोक्तम्—गर्भस्य यकृत्प्लीहानौ शोणितजाविति ।  
वृक्कौ वृक्द्वयम्, वक्षोऽधस्तात् । सुश्रुतेऽप्युक्तम्—रक्तमेदःप्रसादाद् वृक्कौ  
भवत इति । वस्तिरेका मूत्राशयः । पुरीषाधारश्चेति यत्र पुरीषमादधाति ।  
आमाशयश्चेति नाभिस्तनान्तरदेशो यत्र भुक्तमात्रमपक्वं तिष्ठति । पक्वाशय-  
श्चेति नाभेरधस्तादेशो यत्र पक्वं भुक्तस्य किट्टं तिष्ठति । उत्तरगुदञ्चेति  
तत् पक्वं पुरीषं यद्वहति । अधरगुदञ्चेति अर्द्धपञ्चाङ्गुलिमानं त्रिवलिरूपं  
गुदं तस्याधोभागः पुरीषं यद्विमुञ्जति । अन्त्रं यदुदरमध्यस्थं, या लोके  
नाङ्गीत्युच्यते, न तु सा नाङ्गी, शास्त्रे हि तदन्त्रमित्युच्यते । तच्च द्विविधं क्षुद्रान्तश्च  
स्थूलान्तश्च । सुश्रुते तु गर्भस्येत्यधिकृत्य । असृजः श्लेष्मणश्चापि यः प्रसादः  
परो मतः । तं पच्यमानं पित्तेन वायुश्चाप्यनुधावति । ततोऽस्यान्त्राणि जायन्ते  
गुदं वस्तिश्च देहिनः ॥ इति । तथा सार्द्धं त्रिव्यामान्यन्त्राणि पुंसां स्त्रीणामर्द्धं  
व्यामहीनानीति । व्यामोऽत्र सवक्षःप्रसारितबाहुद्वयम् । वपावहनञ्चेति ।  
हन्मेदस्तु वपा वसेति तद्वहनं मेदःस्थानम् । इति पञ्चदश कोष्ठाङ्गानीति ॥ ७ ॥

तेन नाभिमांसयोरेपि प्राणायतनत्वं तथा शङ्खयोश्च, पाठद्वयदर्शनाद् बोद्धव्यम् । यदुक्तम् दश-  
प्राणायतनीये—“दशवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः । शङ्खौ मर्मत्रयं कण्ठे रक्तं शुक्रौजसी  
गुदम् ॥” इति । क्लोम पिपासास्थानम् । वस्तिः मूत्रस्थानम् । उत्तरगुदम्—यत्र पुरीषमवतिष्ठते ।  
येन तु पुरीषं निष्क्रामति तदधरगुदस्थानम् ‘तैलवर्त्तिका’ इति ख्यातम् ॥ ७ ॥

पट्पञ्चाशत् प्रत्यङ्गानि पट्खङ्गेषूपनिवद्धानि, यान्यपरि-  
संख्यातानि पूर्वमङ्गेषु परिसंख्यायमानेषु, तान्यन्यैः पर्यायैरिह  
प्रकाश्य व्याख्यातानि भवन्ति । तद् यथा—द्वे जङ्घापिण्डके  
द्वे ऊरुपिण्डके द्वौ स्फिचौ द्वौ वृषणावेकं शेफो द्वे उखे द्वौ  
वङ्चणौ द्वौ कुकुन्दरौ एकं वस्तिशीर्षमेकमुदरं द्वौ स्तनौ द्वौ भुजौ ७  
द्वे बाहुपिण्डके चिबुकमेकं द्वावोष्ठौ द्वे सूक्ष्मण्यौ द्वौ दन्तवेष्टका-  
वेकं तालु एका गलशुण्डिका द्वे उपजिह्विके एका गोजिह्विका  
द्वौ गण्डौ द्वे कर्णशङ्कुलिके द्वौ कर्णपुत्रकौ द्वे अक्षिकूटे  
चत्वार्यक्षिबर्त्मानि द्वे अक्षिकर्त्तनिके द्वे भ्रुवावेकोऽवटुः चत्वारि

गङ्गाधरः—कोष्टाङ्गान्युक्त्वा प्रत्यङ्गान्याह—पट्पञ्चाशत् प्रत्यङ्गानीत्यादि ।  
नन्वेतानि किं पङ्क्ताधिकान्युतावान्तराणीत्यत आह—पट्खित्यादि । पूर्व  
येषु परिसंख्यायमानेष्वङ्गेषु यान्यपरिसंख्यातानि तानि पङ्क्तेषु पाणिपादशिरो-  
ऽन्तराधिषु पट्पूपनिवद्धानि । तान्यन्यैः पर्यायैरिह पुनः प्रकाश्यानि भवन्ति ।  
तद् यथेत्यादि—तत्रैते जङ्घादिके द्वे द्वे । जङ्घे द्वे द्वे चोरुपिण्डके । द्वौ स्फिचौ ।  
द्वौ वृषणौ । द्वे उखे । द्वौ वङ्चणे । द्वौ कुकुन्दरौ । द्वौ स्तनौ । द्वौ भुजौ । द्वे बाहु-  
पिण्डके । द्वावोष्ठौ । द्वे सूक्ष्मण्यौ । द्वौ दन्तवेष्टकौ । द्वे उपजिह्विके । द्वौ गण्डौ ।  
द्वे कर्णशङ्कुलिके । द्वौ कर्णपुत्रकौ । द्वे लक्षिकूटे । द्वे अक्षिकर्त्तनिके । द्वे भ्रुवौ

चक्रपाणिः—पट्पञ्चाशत् प्रत्यङ्गानीति, तद् यथा—द्वे जङ्घापिण्डके इत्यादिग्रन्थवक्ष्यमाणानि ।  
यानीत्यादि—यानि यानि वक्ष्यमाणानि पट्पञ्चाशत् प्रत्यङ्गानि पूर्वमङ्गेषु हस्तादिषु पट्सु परिसंख्याय-  
मानेषु अपरिसंख्यातानि, तान्यन्यैः पर्यायैः प्रकाश्यानि भवन्तीति योजना । पर्यायाश्च 'जङ्घा-  
पिण्डकादयः' शब्दा एव, एतेन हस्तादिपङ्क्त्यन्तर्गतं तदाश्रिता अपि जङ्घापिण्डकादय उक्ता एव ।  
सम्प्रति तु अवयवविशेषव्यवहारार्थं जङ्घापिण्डकादयः पृथगुक्ता इति वाक्यार्थः । पूर्वमङ्गेष्विति-  
स्थाने पूर्वमन्येष्विति पाठः, तथापि 'अन्य'शब्देन हस्तादीनि पङ्क्तानि ग्राह्यानि । उखे इति कक्षस्य  
पार्श्वयोर्निम्नभागौ । कुकुन्दरौ स्फिचोरुपरि उन्नतौ भागौ । वस्तिशीर्षं नाभेरधः । श्लेष्मभुजौ कण्ठ-  
पार्श्वयोर्व्यवस्थितौ कठिनौ भागौ । सूक्ष्मण्यौ वदनान्तं । द्वे उपजिह्विके इति जिह्वाया अधोगता जिह्वा,  
तथा उपरिगता ग्राह्या । एका गोजिह्विकेति गौर्वाक, तस्याः कारणभूता जिह्वा । तेन वचनकारणभूता  
प्रधानभूता जिह्वैव गृह्यते । कर्णशङ्कुलिके कर्णगतावर्त्तकौ, कर्णपुत्रकौ तु द्वौ कर्णावेव । अक्षिकूटे

\* द्वौ भुजौ हृत्पत्रं द्वौ श्लेष्मभुजौ इति चक्रः ।

पाणिपादहृदयानि । नव महान्ति छिद्राणि सप्त शिरसि द्वे  
चाधः ॥ ८ ॥

च । इत्येतानि प्रत्यङ्गानि खलु (एकोनविंशतिः) । विंशतिः द्विद्विसहस्रानि भवन्ति ।  
शेफः प्रभृतीन्येकैकसहस्रानि । तद् यथा । एकं शेफः (एका वस्तिः) एकं वस्ति-  
शीपमेकम् उदरमेकं चित्रकमेकं तालु एका गलशुण्डिका एका गोजिह्विका एको-  
ऽवटुः । तथान्यत्रोक्तम्—एकोऽवटुरेकं मस्तकमेकं पृष्ठमेको नाभिरेकं ललाटमेका  
नासिका ग्रीवा चैका । इत्येतान्येकैकसहस्रानि । तत्र जङ्घापिण्डिका जानुनोरध-  
स्तान्मांसपिण्डाकारमङ्गम् । ऊरुपिण्डिका ऊरुस्थमांसपिण्डिका । स्फिक् नितम्ब-  
मांसपिण्डिका । वृषणावण्डद्वयम् । सुश्रुते च—घांसासृक्कफप्रेदः प्रसादाद् वृषणौ  
भवतः इत्युक्तम् । शेफः शिशो ग्रीवाहृदयनिबन्धिनीनामधोगानां कण्डराणां  
प्ररोह इति । उखे इति उखं कक्षपाश्वर्योर्निम्नभागः । ऊरुवृषणयोर्मध्यभागो  
वङ्क्षणः । स्फिचोरुपयुज्यतभागः कुक्षुन्दरः । नाभेरधोदेशो वस्तिशीर्षम् ।  
चित्रकं मुखाधोभागो हन्वग्रदेशः । एका गलशुण्डिकेति गलाभ्यन्तरं नलीति  
लोके । द्वे उपजिह्विके इति गलसंलग्ना क्षुद्रजिह्वा चैका गलाभ्यन्तरमेका  
चति । एका गोजिह्विकेति गौर्वाक् तदर्था जिह्वा रसनानामेति । अवटुर्घाटा ।  
पाणिहृदयं पाणितलं पादहृदयं पादतलम् । नव महान्ति छिद्राणीति  
पुरुषाभिमायेण । तानि विवृणोति—सप्त शिरसि द्वे अधः इति । चक्षुषोर्द्वयोः  
द्वे छिद्रे । नासिकायां द्वे छिद्रे । कर्णयोर्द्वयोर्द्वे छिद्रे । मुखच्छिद्रमेकमिति  
सप्त छिद्राणि शिरसि महान्ति स्त्रीपुरुषयोः । उपस्थद्वारमेकमेकं गुदद्वारमिति  
द्वे अधश्छिद्रे महती, इति नव महान्ति छिद्राणि स्त्रीपुंसयोर्ब्रह्मरन्ध्रे चैकम्  
आवृतमिति दश । स्त्रीणामपराणि त्रीणि महान्ति छिद्राणि । द्वे स्तनयोश्छिद्रे  
एकं योनिद्वारमात्तववहमधस्तादिति त्रयोदश छिद्राणि स्त्रीणां महान्ति ।  
सुश्रुते चोक्तानि—श्रवण-नयन-वदन-घ्राण-गुदमेहाणि नव स्रोतांसि नराणां  
वहिर्मुखान्येतानि, स्त्रीणामपराणि त्रीणि, द्वे स्तनयोरधस्ताद्रक्तवहञ्चैकमिति ।  
तन्त्रान्तरेऽन्तर्मुखमेकं ब्रह्मरन्ध्रमिति । तेन सह पुंसो दश स्त्रीणां त्रयोदशेति ।  
लोमकूपान्यसहस्रानि क्षुद्रच्छिद्राणि ॥ ८ ॥

अक्षिमोलके । द्वे अक्षिकनीनिके इत्यत्र 'कनीनिका' शब्देन नासया सममक्षिसन्धिरभिधीयते ।  
अवटुर्घाटा । चत्वारि पाणिपादहृदयानीति पाणयोः पादयोश्च तलानि मध्यानि चत्वारित्यर्थः ।  
एतावतैव पटपञ्चाशत् प्रत्यङ्गानि पूर्यन्ते । नव महान्ति छिद्राणीति व्याकरोति—सप्त शिरसि द्वे

एतावद्दृश्यं शक्यमपि निर्देष्टुम्, अनिर्देश्यमतः परं तत्पर्य-  
मेव । तद् यथा—नव स्नायुशतानि सप्त सिराशतानि

गङ्गाधरः—एतावदिति त्वगादिकं यावदुक्तं तावद् दृश्यं निर्देष्टुं शक्यमतः  
परं प्रत्यक्षं तत्पर्यमूहनीयमिति । तद् विवृणोति—तद् यथेत्यादि । नव  
स्नायुशतानि । स्नायूनां नव शतानि । तदुक्तं सुश्रुतेऽपि—त्वक्पर्यन्तस्य  
देहस्य योऽयमङ्गविनिश्चयः । शल्यक्षानादृते नैष वर्ण्यतेऽङ्गेषु केषुचित् ।  
तस्मान्निःसंशयं ज्ञानं हर्त्रां शल्यस्य वाञ्छता । शोधयित्वा मृतं सम्यग् द्रष्टव्योऽङ्ग-  
विनिश्चयः । प्रत्यक्षतो हि यद् दृष्टं शास्त्रदृष्टञ्च यद्भवेत् । समासतस्तदुभयं भूयो-  
ज्ञानविबर्द्धनम् ॥ तस्मात् समस्तगात्रमविपोह्य तमदीर्घव्याधिपीडितम् अवर्ष-  
शक्तिकं निःसृष्टात्रपुरीषं पुरुषमवहन्त्यामापगायां निबद्धं पञ्जरस्थं मुञ्जवल्बज-  
कुशशणादीनामन्यतमेन वेष्टिताङ्गमप्रकाशे देजे कोथयेत् । सम्यक्प्रकुथितञ्च  
उद्धृत्य ततो देहं सप्तरात्रादुशीरवालवेषुवल्बजकुचीनामन्यतमेन शनैःशनैः  
अवधर्षयंस्त्वगादीन् सर्वानेव बाह्याभ्यन्तराङ्गप्रत्यङ्गविज्ञेयान् यथोक्तान् लक्षयेत्  
चक्षुषा । श्लोकौ चात्र भवतः । न शक्यश्चक्षुषा द्रष्टुं देहे सूक्ष्मतमो विभुः ।  
दृश्यते ज्ञानचक्षुर्भिस्तपश्चक्षुर्भिरेव च । शरीरे चैव शास्त्रे च दृष्टार्थः स्याद्  
विशारदः । दृष्टश्रुताभ्यां सन्देहमवापोह्याचरेत् क्रियाः ॥ इति । तत्र । नव स्नायु-  
शतानि तासां शाखासु षट्शतानि । द्वे शते त्रिंशच्च कोष्ठे । ग्रीवां प्रत्यूढ्वा सप्ततिः  
इति । तत्रैककस्यान्तु पादाङ्गुल्यां षट् निचितास्तास्त्रिंशत् तावत्य एव तलकूर्च-  
गुल्फेषु । तावत्य एव जङ्घायाम् । दश जानुनि । चत्वारिंशदूर । दश  
वङ्क्षणे । शतमध्यर्द्धमेवमेकस्मिन् सकृन् भवन्ति । एतेनेतरसकृन्निवाह च  
व्याख्यातौ । एवं शाखासु षट् शतानि भवन्ति । षष्टिः कथ्यामशीतिः पृष्ठे  
पार्श्वयोः षष्टिरसि त्रिंशत् । एवं कोष्ठे द्वे शते त्रिंशच्च भवन्ति । षट्त्रिंशद्  
ग्रीवायां मूर्द्धि चतुस्त्रिंशत् । एवं ग्रीवां प्रत्यूढ्वा सप्ततिः । एवं नव स्नायु-  
शतानि व्याख्यातानि । भवन्ति चात्र । स्नायूश्चतुर्विधा विद्यात् तास्तु सर्वा  
निबोध मे । प्रतानवत्यो वृत्ताश्च पृथ्व्यश्च शुपिरास्तथा । प्रतानवत्यः शाखासु

चाध इति । एतावत् त्वगादि दृश्यं प्रायः प्रत्यक्षविषय इत्यर्थः । अतः परं तत्पर्यमेवेति अतस्त्वगादेः  
परं यत् स्नाय्वादि, तत् प्रायस्तत्पर्यमेव, अनुमानगम्यमेवेत्यर्थः । यद्यपि स्नाय्वाद्यपि प्रत्यक्षं  
भवति, तथापीह वक्ष्यमाणसंस्थायुक्तं सर्वं स्नाय्वादि न प्रत्यक्षेण सुकरग्रहणमिति 'तत्पर्यम्'  
इत्युक्तम् । स्नाय्वादिभेदानेवाह—नव स्नायुशतानीत्यादि ।

सर्वसन्धिषु चाप्यथ । वृत्तास्तु कण्डराः सर्वा विज्ञेयाः कुशलैरिह ।  
 आमपकाशयान्तेषु वस्तौ च शुषिराः खलु । पार्श्वैरसि तथा पृष्ठे पृथुलाश्च  
 शिरस्यथ । नौर्यथा फलकास्तीर्णा बन्धनैर्वहुभिर्युता । भारक्षमा तरेदंस्तु  
 नृयुक्ता तु समाहिता । एवमेव शरीरेऽस्मिन् यावन्तः सन्धयः स्मृताः ।  
 स्नायुभिर्वहुभिर्वद्धास्तेन भारवहा नराः । न ह्यस्थीनि न वा पेश्यो न सिरा न च  
 सन्धयः । व्यापादितास्तथा हन्युर्यथा स्नायुः शरीरिणम् । यः स्नायूः प्रविजानाति  
 बाह्याश्चाभ्यन्तरास्तथा । स गूढं शल्यमुद्धर्तुं देहाच्छक्नोति देहिनाम् ॥ इति ।  
 तथा । मेदसः स्नेहमादाय सिरा स्नायुत्वमाप्नुयात् । सिराणाञ्च मृदुः पाकः  
 स्नायूनाञ्च ततः खरः इति । इति नव स्नायुशतानि व्याख्यातानि भवन्ति ।

अथ सप्त सिराशतानीति । तदुक्तं सुश्रुते—सप्त सिराशतानि भवन्ति ।  
 याभिरिदं शरीरमाराम इव जलहारिणीभिः केदार इव च कुल्याभिरुपस्त्रिहते-  
 ऽनुगृह्यते चाकुञ्चनप्रसारणादिभिर्विशेषैः । द्रुमपत्रसेवनीनामिव च तासां  
 प्रतानास्तासां नाभिर्मूलम् । ततश्च प्रसरन्त्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च । भवतश्चात्र ।  
 यावत्यस्तु सिराः कार्ये सम्भवन्ति शरीरिणाम् । नाभ्यां सर्वा निबद्धास्ताः  
 प्रतन्वन्ति समन्ततः । नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिव्युपाश्रिताः ।  
 सिराभिराहतो नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥ तासां मूलसिराश्चत्वारिंशत् तासां  
 वातवाहिन्यो दश । पित्तवाहिन्यो दश । कफवाहिन्यो दश । दश रक्तवाहिन्यः ।  
 तासान्तु वातवाहिनीनां वातस्थानगतानां पञ्चसप्ततिः शतञ्च भवति । तावत्य  
 एव पित्तवाहिन्यः पित्तस्थाने, कफवाहिन्यश्च तावत्यः कफस्थाने, रक्तवाहिन्यस्तु  
 यकृत्प्लीहयोः ; एवमेतानि सप्त सिराशतानि । तत्र वातवाहिन्यः सिरा एकस्मिन्  
 सकृन्धि पञ्चविंशतिः । एतेनेतरसक्थिवाहू च व्याख्यातौ । विशेषतस्तु  
 कोष्ठे चतुस्त्रिंशत्—तासां गुदमेढ्राश्रिताः श्रोण्यामष्टौ, द्वे द्वे पार्श्वयोः, षट् पृष्ठे,  
 तावत्य एव चोदरे, दश वक्षसि, एकचत्वारिंशज्जुण ऊर्ध्वम् ;—तासां चतुर्दश  
 ग्रीवायां, कर्णयोश्चतस्रः, नव जिह्वायाम्, षट् नासिकायाम्, अष्टौ नेत्रयोः ।  
 एवमेतत् पञ्चसप्तत्यधिकशतं वातवहानां सिराणां व्याख्यातम् । एष एव  
 विभागः शेषाणामपि । विशेषतस्तु पित्तवाहिन्यो नेत्रयोर्दश, कर्णयोर्द्वे ।  
 एवं रक्तवहाः कफवहाश्च । एवमेतानि सप्त सिराशतानि सविभागानि  
 व्याख्याताति । भवन्ति चात्र । क्रियाणामप्रतीघातममोहं बुद्धिकर्मणाम् ।  
 करोत्यन्यान् गुणांश्चापि स्वाः सिराः पवनश्चरन् । यदा तु कुपितो वायुः स्वाः  
 सिराः प्रतिपद्यते । तदास्य विविधा रोगा जायन्ते वातसम्भवाः ।



भ्राजिष्णुतामन्नरुचिमग्निदीप्तिमरोगताम् । संसर्पत् स्वाः सिराः पित्तं कुर्या-  
 चान्यान् गुणानपि । यदा प्रकुपितं पित्तं सेवते स्ववहाः सिराः । तदास्य विविधा  
 रोगा जायन्ते पित्तसम्भवाः । स्नेहमद्ग्रेषु सन्धीनां स्थैर्यं बलमुदीर्णताम् ।  
 करोत्यन्यान् गुणांश्चापि चलाशः स्वाः सिराश्चरन् । यदा तु कुपितः श्लेष्मा  
 स्वाः सिराः प्रतिपद्यते । तदास्य विविधा रोगा जायन्ते श्लेष्मसम्भवाः ।  
 धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शानमसंशयम् । स्वाः सिराः सञ्चरद्रक्तं कुर्याच्चान्यान्  
 गुणानपि । यदा तु कुपितं रक्तं सेवते स्ववहाः सिराः । तदास्य विविधा  
 रोगा जायन्ते रक्तसम्भवाः । न हि वातं सिराः काश्चिन्न पित्तं केवलं तथा ।  
 श्लेष्मप्राणं वा वहन्त्येता अतः सर्ववहाः स्मृताः । प्रदुष्टानां हि दोषाणा-  
 मुच्छिन्नानां प्रधावताम् । ध्रुवमुन्मार्गगमनमतः सर्ववहाः स्मृताः । तत्रारुणा  
 वातवहाः पूर्यन्ते वायुना सिराः । पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च शीता गौर्यः सिराः  
 कफात् । असृग्बहास्तु रोहिण्यः सिरा नात्युष्णशीतलाः । अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि  
 न विध्येद् याः सिरा भिषक् । वैकल्यं मरणञ्चापि व्यधात् तासां ध्रुवं  
 भवेत् । सिराशतानि चत्वारि विद्याच्छाखास्तु बुद्धिमान् । पट्त्रिंशच्च  
 शतं कोष्ठं चतुःपष्टिश्च मूर्द्धनि । शाखास्तु षोडश सिराः कोष्ठे द्वात्रिंशदेव  
 तु । पञ्चाशज्जत्रुणश्चोर्ध्वमवेध्याः परिकीर्त्तिताः ॥ तत्र सिराशतमेकैकस्मिन्  
 सक्थिन भवति । तासां जालधरा त्वेका, तिस्रश्चाभ्यन्तराः ; तत्रोर्व्वसिंघे द्वे,  
 लोहिताक्षसंघा चैका एतास्त्ववेध्याः । एतेनेतरसक्थिवाहू च व्याख्यातौ ।  
 एवमशस्त्रकृत्याः षोडश शाखास्तु । द्वात्रिंशत् श्रोण्यां, तासामष्टावशस्त्रकृत्याः ।  
 द्वे द्वे विटपयोः कटीकतकरुणयोश्च । अष्टावष्टावेकैकस्मिन् पार्श्वे तासामेकैका-  
 मूर्द्धगां परिहरेत् । पार्श्वमधिगते च द्वे । चतस्रो विंशतिश्च पृष्ठवंशमुभयतरतासाम्  
 ऊर्ध्वगामिन्ये द्वे द्वे परिहरेद् दृहतीसरे । तावत्य एवोदरे । तासां मेढ्रोपरि रोम-  
 राजीम् उभयतो द्वे द्वे परिहरेत् । चत्वारिंशद्वक्षसि, तासां चतुर्दशाशस्त्रकृत्याः ।  
 हृदये द्वे । द्वे द्वे स्तनमूले स्तनरोहितापलापस्तम्बेऽप्युभयतोऽष्टौ । एवं द्वात्रिंशत्  
 अशस्त्रकृत्याः पृष्ठोदरोरस्तु भवन्ति । सचतुःपष्टि सिराशतं जत्रुण ऊर्ध्वं भवति ।  
 तत्र पट्पञ्चाशच्छिरोधरायाम् ; तासामष्टौ चतस्रश्च मम्मसंघाः परिहरेत् । द्वे  
 कृकाटिकयोर्द्वे विधुरयोः । एवं ग्रीवायां षोडशावेध्याः । हन्वोरुभयतोऽष्टावष्टौ  
 तासान्तु सन्धिधमन्यौ द्वे द्वे परिहरेत् । पट्त्रिंशज्जिह्वायाम् ; तासामधः  
 षोडशाशस्त्रकृत्याः । रसवहे द्वे, वागवहे च द्वे । द्विर्द्वादश नासायाम् । तासामौप-  
 नासिक्यश्चतस्रः परिहरेत् । तासामेव च तालुन्येकां मृदाबुद्देशे । अष्टात्रिंशत्

द्वे धमनीशते पञ्च ॥ पेशीशतानि सप्तोत्तरं मर्मशतं द्वे पुनः

उभयोर्नेत्रयोः ; तासामेकैकामपाङ्गयोः परिहरेत् । कर्णयोर्दश । तासां शब्द-  
वाहिनीनामेकैकां परिहरेत् । नासानेत्रगतास्तु ललाटे पष्टिः । तासां  
केशान्तानुगताश्चतस्रः । आवर्तयोरेकैका स्थापन्याञ्चैका परिहर्त्तव्या ।  
शङ्खयोर्दश । तासां शङ्खसन्धिगतामेकैकां परिहरेत् । द्वादश मूर्द्धनि तासामुत्-  
क्षेपयोर्द्वे परिहरेत् । सीमन्तेष्वेकैकामेकामधिपताविति । एवमशस्त्रकृत्याः  
पञ्चाशज्जत्रुण ऊर्द्धमिति । भवति चात्र । व्यामृन्वन्त्यभितो देहं नाभितः  
प्रसृताः सिराः । प्रतानाः पद्मिनीकन्दाद्विसादीनां यथा जलम् ॥ इति ।

अथ द्वे धमनीशते इति । धमनीनां द्वे शते भवतः । सुश्रूतेऽपि दृश्यते—  
चतुर्विंशतिर्धमन्यो नाभिप्रभवा अभिहिताः । तत्र केचिदाहुः सिराधमनी-  
स्रोतसामविभागः । सिराविकारा एव धमन्यः स्रोतांसि चेति । तत् तु न सम्यक् ।  
अन्या एव हि धमन्यः स्रोतांसि च सिराभ्यः । कस्मात् ? व्यञ्जनान्यत्वात्,  
मूलसंनियमात्, कर्मवैशेष्यादागमाच्च । केवलन्तु परस्परसन्निकर्षात् सदृशागम-  
कर्मत्वात् सौक्ष्म्याच्च विभक्तकर्मणामप्यविभाग इव कर्मसु भवति । तासान्तु  
नाभिप्रभवाणां धमनीनामूर्द्धगा दश, दश चाधोगामिन्यश्चतस्रस्तित्यर्गगाः ।  
ऊर्द्धगाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धप्रश्वासोच्छ्वासजृम्भितक्षुद्रसितकथितरुदितादीन्  
विशेषानभिवहन्त्यः शरीरं धारयन्ति । तास्तु हृदयमभिप्रपन्नास्त्रिधा जायन्ते  
तास्त्रिंशत् । तासान्तु वातपित्तकफशोणितरसान् द्वे, द्वे बृहत्, ता दश ।  
शब्दरूपरसगन्धानष्टाभिष्टुलीते । द्वाभ्यां भापते च, द्वाभ्यां घोषं करोति, द्वाभ्यां  
स्वपिति, द्वाभ्यां प्रतिबुध्यते । द्वे चाश्रुवाहिण्यौ, द्वे स्तन्यं स्त्रिया बृहत्  
स्तनसंश्रिते ; ते एव शुक्रं नरस्य स्तनाभ्यामभिवहत् । तास्त्वेतास्त्रिंशत्  
सविभागा व्याख्याताः । एताभिरूर्द्ध नाभेरुदरपार्श्वपृष्ठोरःस्कन्धग्रीवावाहवो  
वार्यन्ते याप्यन्ते च । भवति चात्र । ऊर्द्ध गतास्तु कुर्वन्ति कर्मा-  
ण्येतानि सर्व्वशः । अधोगतास्तु वक्ष्यामि कर्म तासां यथायथम् ।  
अधोगमास्तु वातमूत्रपुरीषशुक्रार्चवादीन्यधो वहन्ति । तास्तु पित्ताशयमभि-  
प्रतिपन्नास्तत्रस्थमेवान्नपानरसं विपक्वमौष्ण्याद्विरेचयन्त्योऽभिवहन्त्यः शरीरं  
तर्पयन्त्यर्पयन्ति चोर्द्धगतानां तित्यर्गगतानां रसस्थानञ्चाभिपूरयन्ति

मूत्रपुरीषस्वेदांश्च विरेचयन्त्यामपकाशयान्तरे च त्रिधा जायन्ते तास्त्रिंशत् ।  
तासान्तु वातपित्तकफशोणितरसान् द्वे द्वे वहंतस्ता दश, द्वे अन्नवाहिन्यौ  
अन्नाश्रिते । तोयवहे द्वे । मूत्रवस्तिमभिप्रपन्ने मूत्रवहे द्वे । शुक्रवहे द्वे  
शुक्रप्रादुर्भावाय द्वे विसर्गाय, ते एव रक्तमभिवहतो नारीणामार्त्तवसंज्ञम् । द्वे  
वर्चा निरसन्यौ स्थूलात्रप्रतिवद्धे, अप्रावण्यास्तिर्यग्गाणां धमनीनां स्वेदम्  
अर्पयन्ति । तास्वेतास्त्रिंशत् सविभागा व्याख्याताः ।

एताभिरधो नाभेः पकाशयकटीमूत्रपुरीषगुदवस्तिमेढसक्थीनि धार्यन्ते  
याप्यन्ते च । भवति चात्र । अधोगमास्तु कुर्वन्ति कर्म्मार्ण्येतानि  
सर्व्वशः । तिर्यग्गाः संप्रवक्ष्यामि कम्म तासां यथायथम् । तिर्यग्-  
गणान्तु चतसृणां धमनीनाम् एकैका पञ्चधा प्रतन्वन्ती विंशतिर्भवति ।  
विंशतिश्चैकैका पुनरष्टधा प्रतन्वन्ती पञ्चुत्तरशतं भवति, ता एता  
धमन्यो द्वे शते भवन्त्यथैवं शतधा सहस्रधा चोत्तरोत्तरं विभज्यन्ते,  
तास्त्वसहोत्र्याः ; ताभिरिदं शरीरं गवाक्षितं विवद्धमाततश्च । तासां मुखानि  
रोमकूपप्रतिवद्धानि, यैः स्वेदमभिवहन्ति रसश्चापि सन्तर्पयन्त्यन्तर्वहिश्च,  
तैरेव चाभ्यङ्गपरिपेकावगाहालेपनवीर्याण्यन्तःशरीरम् अभिप्रतिपद्यन्ते त्वचि  
विपक्वानि, तैरेव स्पृशंसुखमसुखं वा गृह्णाति । तास्वेताश्चतस्रो धमन्यः  
सर्व्वङ्गताः सविभागा व्याख्याताः । भवतश्चात्र । यथा स्वभावतः खानि  
मृणालेषु विसेषु च । धमनीनां तथा खानि रसो यैरुपचीयते । पञ्चाभिभूतास्त्वथ  
पञ्चकृत्तः पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयन्ति । पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वा  
पञ्चलमायान्ति विनाशकाले ॥ इति ।

अथ यद्यपि स्रोतसां परिसंख्यानं स्रोतोविमाने व्याख्यातं,  
तथापि तत्प्रपञ्चार्थं सौश्रूतमत ऊर्द्ध्वं स्रोतसां मूलविद्धलक्षणमुपदेक्ष्यामः ।  
गर्भस्य तु । यथास्वमुष्मणा युक्तो वायुः स्रोतांसि दारयेत् । अनुप्रविश्य  
पिशितं पेशीर्विभजते तथा ॥ तानि खलु स्रोतांसि प्राणान्नोदक-  
रसरक्तमांसमेदोमूत्रपुरीषशुक्रार्त्तववहानि । येष्वधिक एकेषां बहूनि । एतेषां  
विशेषा बहवः । तत्र प्राणवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः ;  
तत्र विद्धस्य क्रोशनविनमनमोहनभ्रमणवेपनानि मरणं वा भवति । अन्नवहे  
द्वे, तयोर्मूलमामाशयोऽन्नवाहिन्यश्च धमन्यः ; तत्र विद्धस्याध्मानं शूलान्नद्वेषौ  
छद्दिः पिपासान्ध्यं मरणं वा । उदकवहे द्वे, तयोर्मूलं तालुः क्लोम च ;  
तत्र विद्धस्य पिपासा सद्योमरणश्च । रसवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च

धमन्यः । तत्र विद्धस्य शोषः प्राणवहविद्धवच्च मरणं तल्लिङ्गानि चेत्यर्थः । रक्तवहे द्वे, तयोर्मूलं यकृतप्लीहानौ रक्तवाहिन्यश्च धमन्यः ; तत्र विद्धस्य श्यावाङ्गता ज्वरो दाहः पाण्डुता शोणितातिगमनं रक्तनेत्रता चेति । मांसवहे द्वे, तयोर्मूलं स्नायुलवचं रक्तवहाश्च धमन्यः ; तत्र विद्धस्य श्वयथर्मांसशोषः सिराग्रन्थयो मरणं वा । मेदोवहे द्वे, तयोर्मूलं कटी बुक्रौ च ; तत्र विद्धस्य स्वेदागमनं स्निग्धाङ्गता तालुशोषः स्थूलशोफता पिपासा च । सूत्रवहे द्वे, तयोर्मूलं वस्तिर्मेढ्रश्च ; तत्र विद्धस्यानद्धवस्तिता मूत्रनिरोधः स्तब्धमेढ्रता च । पुरीपवहे द्वे, तयोर्मूलं पकाशयो गुदश्च ; तत्र विद्धस्यानाहो दुग्न्धता ग्रथितान्नता च । शुक्रवहे द्वे, तयोर्मूलं स्तनौ वृषणौ च ; तत्र विद्धस्य क्लीवता चिरात् प्रसेको रक्तशुक्रता च । आर्त्तववहे द्वे, तयोर्मूलं गर्भाशय आर्त्तववाहिन्यश्च धमन्यः ; तत्र विद्धायां वन्ध्यात्वं मैथुनासहिष्णुत्वमार्त्तवनाशश्च । सेवनीच्छेदाद् रुजाप्रादुर्भावः । वस्तिगुदविद्धलक्षणं प्रागुक्तमिति । स्रोतोविद्धन्तु प्रत्याख्यायोपाचरेदुद्धृतशल्यन्तु क्षतविधानेनोपाचरेत् । मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतन्तभिवाहि यत् । स्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम् ॥ इति ।

अथ पञ्च पेशीशतानीति । पेशीनां पञ्च शतानीत्यर्थः । तद् यथा—सुश्रुते गर्भस्य । यथास्वमुष्मणा युक्तो वायुः स्रोतांसि दारयेत् । अनुप्रविश्य पिशितं पेशीर्विभजते तथा ॥ पञ्च पेशीशतानि भवन्ति । तासां चत्वारि शतानि शाखासु, कोष्ठे षट्षष्टिः, ग्रीवां प्रत्यूढं चतुस्त्रिंशत् । एवं ताः पञ्च शतानि भवन्ति । तद् यथा—एकैकस्यान्तु पादाङ्गुल्यां तिस्रस्तिस्रस्ताः पञ्चदश । दश प्रपदे । पदोपरि कूर्चसन्निविष्टास्तावत्य एव । दश गुल्फतलयोः । गुल्फजान्वन्तरे विंशतिः । पञ्च जानुनि । विंशतिरुरौ । दश वङ्क्षणे । शतमेवमेकस्मिन् सकृन्नि भवति । एतेनेतरसकृन्नि बाहू च व्याख्यातौ । एवं शाखासु चत्वारि शतानि पेशीनां पूर्यन्ते । तिस्रः पायौ । एका मेढ्रे । सेवन्याश्चापरा । द्वे वृषणयोः । स्फिचोः पञ्च पञ्च । द्वे वस्तिशिरसि । पञ्चोदरे । नाभ्यामेका । पृष्ठोर्ध्वसन्निविष्टाः पञ्च पञ्च दीर्घाः । षट् पाङ्ग्वयोः । दश वङ्क्षसि । अक्षकांसौ प्रति समन्तात् सप्त । द्वे हृदयामाशययोः । षट् यकृतप्लीहोण्डकेषु । एवं कोष्ठे षट्षष्टिः पेशीनां पूर्यन्ते ।

ग्रीवायां चतस्रः । अष्टौ हन्वोः । एकैका काकलकगलयोः । द्वे तालुनि । एका जिह्वायाम् । ओष्ठयोर्द्वे । घोणायां द्वे । द्वे नेत्रयोः । गण्डयोश्चतस्रः । कर्णयोर्द्वे । चतस्रो ललाटे । एका शिरसीत्येवं ग्रीवां प्रत्यूढं त्रिंशत् पेशयः पूर्यन्ते ।

एवमेतानि पञ्च पेशीशतानि । सिरास्त्रावस्थिपर्व्वणि सन्धयश्च शरीरिणाम् ।  
पेशीभिः संयुतान्यत्र बलवन्ति भवन्त्यतः ॥ स्त्रीणान्तु चतुर्विंशतिरधिका । दश  
तासां स्तनयोः, एकैकस्मिन् पञ्च पञ्च । यौवने तासां परिवृद्धिः । अपत्यपथे  
चतस्रस्तासां प्रसृते अभ्यन्तरतो द्वे । मुखाश्रिते वाह्ये च प्रसृते द्वे । गर्भेच्छिद्र-  
संश्रितास्तिस्रः । शुक्रार्त्तवप्रवेशिन्यस्तिस्रः । चतस्र एव पित्तपकाशयमध्ये गर्भा-  
शयः, यत्र गर्भस्तिष्ठति । तासां बहलपेलवस्थूलाणुपृथुवृत्तह्रस्वदीर्घस्थिरमृदुश्लक्ष्ण-  
कर्कशभावाः सन्ध्यास्थिसिरास्त्रायुप्रच्छादका यथादेशं स्वभावत एव भवन्ति ।  
भवति चात्र । पुंसां पेश्यः पुरस्ताद् याः प्रोक्ता लक्षणमुष्कजाः । स्त्रीणामावृत्य  
तिष्ठन्ति फलमन्तर्गतं हि ताः ॥ इति ।

अथ सप्तोत्तरं मर्मशतमिति । म्रियतेऽस्योपघातेनेति मर्मम् । मर्मणां सप्तोत्तरं  
सप्ताधिकं शतमेकं भवतीत्यर्थः । तद् यथा सुश्रुते । सप्तोत्तरं मर्मशतम् । तानि  
मर्माणि पञ्चात्मकानि । तद् यथा—मांसमर्माणि । सिरामर्माणि । स्नायु-  
मर्माणि । अस्थिमर्माणि । सन्धिमर्माणि चेति । न खलु मांससिरास्त्रावस्थि-  
सन्धिव्यतिरेकेणान्यानि मर्माणि भवन्ति ; यस्मान्नोपलभ्यन्ते । तत्रैकादश  
मांसमर्माणि । एकचत्वारिंशत् सिरामर्माणि । सप्तविंशतिः स्नायुमर्माणि ।  
अष्टावस्थिमर्माणि । विंशतिः सन्धिमर्माणि । तदेतत् सप्तोत्तरं मर्मशतम् ।  
तेषाम् एकादशैकस्मिन् सक्थिन् भवन्ति । एतेनेतरसक्थि वाहू च व्याख्यातौ ।  
उदरोरसोद्वादश । चतुर्दश पृष्ठे । ग्रीवायां प्रत्यर्द्धं सप्तत्रिंशत् । तदेतत्  
सप्तोत्तरं मर्मशतं पूर्यते । इति ।

तत्र सक्थिमर्माणि—क्षिप्रतलहृदयकूर्चकूर्चशिरोशुल्फेन्द्रवस्तिजान्वा-  
ण्यूर्व्वीलोहिताक्षाणि विटपञ्चेत्येकादश । एतेनेतरसक्थि व्याख्यातम् ।  
उदरोरसोस्तु—गुदवस्तिनाभिहृदयस्तनमूलस्तनरोहितापलापान्यपस्तम्भौ चेति  
द्वादश । पृष्ठमर्माणि तु—कटीकतरुणकुङ्कुन्दरनितम्बपार्श्वसन्धिवृहत्यंसफल-  
कानि अंसौ चेति चतुर्दश । बाहुमर्माणि तु—क्षिप्रतलहृदयकूर्चकूर्चशिरो-  
मणिवन्धेन्द्रवस्तिकूर्पराणूर्व्वीलोहिताक्षाणि कक्षधरञ्चेत्येकादश । एतेनेतरो  
वाहुर्व्याख्यातः । जत्रूर्द्धं मर्माणि—चतस्रो धमन्योऽष्टौ मातृका द्वे कृकाटिके द्वे  
विधुरे द्वौ फणौ द्वावपाङ्गौ द्वावदन्तौ द्वावुत्क्षेपौ द्वौ शङ्खौ एका स्थपनी पञ्च-  
सीमन्ताः चत्वारि शृङ्गाटकान्येकोऽधिपतिः । इति सप्तत्रिंशत् । इत्येवं सप्तोत्तरं  
मर्मशतम् ।

प्रत्यङ्गनामतः—तत्र तलहृदयेन्द्रवस्तिगुदस्तनरोहितानि मांसमर्माणि ।

नीलधमनी-मातृकाशृङ्गाटकापाङ्गस्थपनीफणस्तनमूलापलापापस्तम्भ-हृदयनाभि-  
 पार्श्वसन्धिग्रहतीलोहिताक्षोर्व्यः सिरामर्माणि । आणिविटपक्षधर-  
 कूचैर्कूचैश्शिरोवस्तिक्षिप्रांसविधूरोत्क्षेपाः स्नायुमर्माणि । कटीकतरुण-  
 नितम्बांसफलकशङ्खास्तस्थिमर्माणि । जानुकूर्परसीमन्ताधिपतिगुल्फमणिवन्ध-  
 कुकुन्दरावत्कुकाटिकाश्चेति सन्धिमर्माणि । तान्येतानि पञ्चविकल्पानि  
 मर्माणि भवन्ति । तद् यथा—सद्यःप्राणहराणि । कालान्तरप्राणहराणि ।  
 विशल्यघ्नानि । वैकल्यकराणि । रुजाकराणीति । तत्र सद्यःप्राणहराण्येकोनः  
 विंशतिः । कालान्तरप्राणहराणि त्रयस्त्रिंशत् । त्रीणि विशल्यघ्नानि ।  
 चतुश्चत्वारिंशद् वैकल्यकराणि, अष्टौ रुजाकराणीति । भवन्ति चात्र । शृङ्गाट-  
 कान्यधिपतिः शङ्खौ कण्ठशिरोगुदम् । हृदयं वस्तिनाभी च घ्नन्ति सद्योहतानि  
 तु । वक्षोमर्माणि सीमन्ततलक्षिमेन्द्रवस्तयः । कटीकतरुणे सन्धी पार्श्वजौ  
 ग्रहती च या । नितम्बाविति चैतानि कालान्तरहराणि तु । उत्क्षेपौ स्थपनी  
 चैव विशल्यघ्नानि निर्दिशेत् । लोहिताक्षणि जानूर्वी-कूचैर्विटपक्षधराः ।  
 कुकुन्दरे कक्षधरे विधूरे सकृकाटिके । अंसांसफलकापाङ्गा नीले मन्ये फणौ  
 तथा । वैकल्यकरणान्याहुरावर्त्तौ द्वौ तथैव च । गुल्फौ द्वौ मणिवन्धौ  
 द्वौ द्वे द्वे कूचेशिरांसि च । रुजाकराणि जानीयादष्टावृतानि बुद्धिमान् ।  
 क्षिप्राणि विद्धमात्राणि घ्नन्ति कालान्तरेण च ।

मर्माणि नाम मांससिराम्नायवस्थिसन्धिसन्निपातास्तेषु स्वभावत एव  
 विज्ञेयेषु प्राणास्तिष्ठन्ति, तस्यान्मर्म्भस्वभिहतास्तांस्तान् भावानापद्यन्ते । तत्र  
 सद्यःप्राणहराण्यग्नेयान्यग्निगुणेष्वशु क्षीणेषु क्षपयन्ति । कालान्तरप्राणहराणि  
 सौम्याग्नेयान्यग्निगुणेष्वशु क्षीणेषु क्रमेण च सोमगुणेषु कालान्तरेण क्षपयन्ति ।  
 विशल्यघ्नानि वायव्यानि, शल्यमुखनिरुद्धो यावदन्तर्वायुस्तिष्ठति तावज्जीवति  
 उद्धृतमात्रे तु शल्ये मर्म्मस्थानाश्रितो वायुर्निष्क्रामति; तस्मात् सशल्यो जीवति  
 उद्धृतशल्यो म्रियते । वैकल्यकराणि सौम्यानि, सोमो हि स्थिरत्वाच्छैत्याच्च  
 प्राणावलम्बनं करोति । रुजाकराण्यग्निवायुगुणभूविष्टानि, विज्ञेयतश्च तौ रुजाकरो ।  
 पाञ्चभौतिकीश्च रुजामाहुरेके ।

केचिदाहुर्मांसादीनां पञ्चानामपि समस्तानां विद्वानाञ्च समवायात्  
 सद्यःप्राणहराणि । एकहीनानामल्पानां वा कालान्तरप्राणहराणि । द्विहीनानां  
 विशल्यप्राणहराणि । त्रिहीनानां वैकल्यकराणि । एकस्मिन्नेव रुजाकराणीति ।  
 यत्तच्चैवमतोऽस्थिमर्म्मस्वप्यभिहतेषु शोणितागमनं भवति । चतुर्विधा यास्तु

सिराः शरीरे प्रायेण ता मर्मसु सन्निविष्टाः । स्नायवस्थिमांसानि तथैव सन्धानं सन्तर्प्य देहं प्रतिपालयन्ति । ततः क्षते मर्मणि ताः प्रवृद्धः समन्ततो वायुरभिस्तृणोति । विवर्द्धमानस्तु स मातरिश्वा रुजः सुतीव्राः प्रतनोति काये । रुजाभिभूतस्तु पुनः शरीरं प्रलीयते नश्यति चास्य संघा । अतो हि शल्यं विनिहत्तुं मिच्छन् मर्माणि यत्नेन परीक्ष्य कर्षेत् । एतेन शेषं व्याख्यातम् ।

तत्र सद्यःप्राणहरमन्ते विद्धं कालान्तरेण मारयति । कालान्तरप्राणहरमन्ते विद्धं वैकल्यमापादयति । विशल्यप्राणहरमन्ते विद्धं कालान्तरेण क्लेशयति रुजाश्च करोति । रुजाकरमतीववेदनं भवति । तत्र सद्यःप्राणहराणि सप्त- रात्राभ्यन्तरान्मारयन्ति । कालान्तरप्राणहराणि पक्षान्मासाद् वा । तेष्वपि तु क्षिप्राणि कदाचिदाशु मारयन्ति । विशल्यप्राणहराणि वैकल्यकराणि च कदाचिदत्यभिहतानि मारयन्ति ।

अत ऊर्द्धं प्रत्येकशो मर्मस्थानान्यनुव्याख्यास्यामः । तत्र पादाङ्गुष्ठाङ्गुल्यो- र्मध्ये क्षिप्रं नाम मर्मम् ; तत्र विद्धस्याक्षेपेकेण मरणम् । मध्यमाङ्गुलीमनुपूर्व्वण मध्ये पादतलस्य तलहृदयं नाम ; तत्रापि रुजाभिर्भरणम् । क्षिप्रस्योपरिष्ठादुभयतः कूर्चो नाम ; तत्र पादस्य भ्रमणवेपने भवतः । गुल्फसन्धेरध उभयतः कूर्चशिरौ नाम ; तत्र रुजाशोफौ । पादजङ्घयोः सन्धाने गुल्फो नाम ; तत्र रुजास्तब्ध- पादता खञ्जता वा । पाष्णिं प्रति जङ्गामध्ये इन्द्रवस्तिर्नाम ; तत्र शोणितक्षये मरणम् । जङ्घोर्व्वोः सन्धाने जानु नाम ; तत्र खञ्जता । जानुन ऊर्द्धमुभयत- स्त्राङ्गुलमाणिर्नाम ; तत्र शोफाभिवृद्धिः स्तब्धस्रविथता च । ऊरुमध्ये उर्व्वी नाम ; तत्र शोणितक्षयात् सक्थिशोषः । ऊर्व्व्या ऊर्द्धमधो वङ्क्षणसन्धेरुत्तमूले लोहिताक्षं नाम ; तत्र लोहितक्षयेण पक्षाघातः । वङ्क्षणवृषणयोरन्तरे विटपं नाम ; तत्र षाण्ड्रमल्पशुक्रता वा भवति । एवमेतान्येकादश सक्थिमर्माणि व्याख्यातानि । एतेनेतरसक्थिवाहू च व्याख्यातौ । विशेषतस्तु यानि सक्थि गुल्फजानुविटपानि, तानि बाहौ मणिवन्धकूर्परकक्षधराणि । यथा वङ्क्षणवृषणयोरन्तरे विटपं एवं वक्षःकक्षयोर्मध्ये कक्षधरम् ; तस्मिन् विद्धे त एवोपद्रवाः । विशेषतस्तु मणिवन्धे कुण्ठता कूर्परारुख्ये कुणिः कक्षधरे पक्षाघातः । एवमेतच्चतुश्चत्वारिंशच्छाखासु मर्माणि व्याख्यातानि ।

अत ऊर्द्धं मुदरोरसोर्मर्मस्थानान्यनुव्याख्यास्यामः । तत्र वातवर्चोर्निरसनं स्थूलान्नप्रतिवर्द्धं गुदं नाम ; तत्र सद्योमरणम् । अल्पमांसशोणितोऽभ्यन्तरतः कट्यां मूत्राशयो वस्तिर्नाम ; तत्रापि सद्योमरणमंशमरीत्रणादन्ते । तत्राप्युभयतो भिन्ने

न जीवति, एकतो भिन्ने मूत्रसायी व्रणो भवति । स तु यत्नेनोपक्रान्तो रोहति । पक्वमाशययोर्मध्ये सिरामभवा नाभिर्नाम ; तत्रापि सद्य एव मरणम् । स्तनयोः मध्यमधिष्ठाय उरस्यामाशयद्वारं सत्त्वरजस्तमसामधिष्ठानं हृदयं नाम ; तत्र सद्य एव मरणम् । स्तनयोरधस्तात् द्वाङ्गुलमुभयतः स्तनमूले नाम मर्मणी ; तत्र कफ-पूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां म्रियते । स्तनचूचुकयोरुर्द्ध्वं द्वाङ्गुलमुभयतः स्तन-रोहितौ नाम ; तत्र लोहितपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्याश्च म्रियते । अंसकूटयो-रधस्तात् पार्श्वोपरिभागयोस्तपलापौ नाम ; तत्र रक्तेन पूयभावं गतेन मरणम् । उभयत्र उरसो नाड्यौ वातवहे अपस्तम्भौ नाम ; तत्र वातपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्याश्च मरणम् । एवमेतान्युदरोरसोर्द्वादश मर्माणि व्याख्या-तानि ।

अत ऊर्द्धं पृष्ठमर्माण्यनुव्याख्यास्यामः । तत्र पृष्ठवंशमुभयतः प्रतिश्रोणीकाण्ड-मस्थिनी कटीकतरुणे नाम मर्मणी ; तत्र शोणितक्षयात् पाण्डुर्विण्णौ हीनरूपश्च म्रियते । पार्श्वजघनवर्हिर्भागे पृष्ठवंशमुभयतो नातिनिम्ने कुकुन्दरे नाम मर्मणी ; तत्र स्पर्शज्ञानमधःकाये चेष्टोपघातश्च । श्रोणीकाण्डयोरुपर्याशयाच्छादनौ पार्श्वान्तरप्रतिवद्धौ नितम्बौ नाम ; तत्राधःकायशोपो दौर्वल्याच्च मरणम् । अधः-पार्श्वान्तरप्रतिवद्धौ जघनपार्श्वमध्ययोस्तिर्य्यगूर्द्ध्वं जघनात् पार्श्वसन्धी नाम ; तत्र लोहितपूर्णकोष्ठतया म्रियते । स्तनमूलादुभयतः पृष्ठवंशस्य वृहत्तौ नाम ; तत्र शोणितातिप्रवृत्तिनिमित्तरूपद्रवैर्म्रियते । पृष्ठोपरि पृष्ठवंशमुभयतस्त्रिकसम्बन्धे अंसफलके नाम ; तत्र बाह्वोः स्वापः शोपो वा । बाहुमूर्द्ध्वग्रीवामध्येऽंसपीठ-स्कन्धनिवन्धनावंसौ नाम ; तत्र स्तब्धबाहुता । एवमेतानि चतुर्दश पृष्ठमर्माणि व्याख्यातानि ।

अत ऊर्द्धं जन्तुगतानि व्याख्यास्यामः । तत्र कण्ठनाडीम् उभयतश्चतस्रो धमन्यः, द्वे नीले द्वे च मन्ये व्यत्यासेन ; तत्र मूकता स्वरवैकृतमरस-ग्राहिता च । ग्रीवायामुभयतश्चतस्रः सिरामातृकाः ; तत्र सद्योमरणम् । शिरोग्रीवयोः सन्धाने कृकाटिके नाम ; तत्र चलमूर्द्धता । कर्णपृष्ठतोऽधः-संश्रिते विधुरे नाम ; तत्र वाधिर्यम् । घ्राणमार्गमुभयतः स्रोतोमार्गप्रतिवद्धे अभ्यन्तरतः फणे नाम ; तत्र गन्धाज्ञानम् । श्रुपुच्छान्तयोरधोऽक्ष्णोर्वाह्यतो-ऽपाङ्गौ नाम ; तत्रान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वा । श्रुवोरुपरिनिम्नयोरावर्तौ नाम ; तत्रान्ध्यं दृष्ट्युपघातश्च । श्रुवोः पुच्छान्तयोरुपरि कर्णललाटयोर्मध्ये शङ्खौ नाम ; तत्र सद्योमरणम् । शङ्खयोरुपरि केशान्त उत्क्षेपौ नाम ; तत्र सशल्यो



जीवति, पाकात् पतितश्लयो वा, नोद्धृतश्लयः । भ्रूवोर्मध्ये स्थपनी नाम ; तत्रोत्क्षेपवत् । पञ्च सन्धयः शिरसि विभक्ताः सीमन्ता नाम ; तत्रोन्मादभय-  
चित्तनागैर्मरणम् । घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासन्तर्पणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्नि-  
पातः । शृङ्गाटकानि, तानि चत्वारि मर्माणि ; तत्रापि सद्योपरणम् ।  
मस्तकाभ्यन्तरोपरिष्ठात् सिरासन्धिसन्निपातो रोमावर्त्तोऽधिपतिर्नाम ;  
तत्रापि सद्योपरणम् । एवमेतानि सप्तत्रिंशत् ऊर्ध्वजन्तुगतानि मर्माणि  
व्याख्यातानि ।

भवन्ति चात्र । ऊर्ध्वः सिरांसि विटपे च सकृदक्षपार्श्वे एकैकमङ्गुलमिताः  
स्तनपूर्वमूलम् । विद्धङ्गुलिद्वयमितं मणिबन्धगुल्फं त्रीण्येव जानु सपरं  
सह कूर्पराभ्याम् । हृदस्तिक्कूर्चगुदनाभि वदन्ति मूर्द्ध्नि चत्वारि पञ्च च गले  
दश यानि च द्वे । तानि स्वपाणितलकुञ्चितसम्मितानि शेषाण्यवेहि  
प्रतिविस्तरतोऽङ्गुलार्द्धम् । एतत् प्रमाणमभिवीक्ष्य वदन्ति तज्ज्ञाः शस्त्रेण  
कर्मकरणं परिहृत्य मर्मम् । पार्श्वविधातितमपीह निहन्ति मर्मम् तस्माद्धि  
मर्मसदनं परिवर्जनीयम् । छिन्नेषु पाणिचरणेषु सिरा नराणां सङ्कोचमीषु-  
रसृगल्पमतो निरेति । प्राप्यामितव्यसनमुग्रमतो मनुष्याः संछिन्नशाख-  
तस्त्रन्निधनं न यान्ति । क्षिप्रेषु तत्र सतलेषु हतेषु रक्तं गच्छत्यतीव पवनश्च  
रुजं करोति । एवं विनाशमुपयान्ति हि तत्र विद्धा वृक्षा इवायुधविधात-  
निकृत्तमूलाः । तस्मात् तयोरभिहतस्य तु पाणिपादं छेत्तव्यमाशु मणिबन्धन-  
गुल्फदेगे । मर्माणि शल्यविषयार्द्धगुदाहरन्ति यस्माच्च मर्मसु हता न  
भवन्ति सद्यः । जीवन्ति तत्र यदि वैद्यगुणेन केचित् ते प्राप्नुवन्ति  
विकलत्वमसंशयं हि । संभिन्नजज्जरितकोष्ठशिरःकपाला जीवन्ति  
शस्त्रविहतैश्च शरीरदेगैः । छिन्नैश्च सकृद्युजपादकरैरशेषैर्येषां न मर्म-  
पतिता विविधाः ग्रहाराः ॥ सोममारुततेजांसि रुजःसत्त्वतमांसि च । मर्मसु  
प्रायशः पुंसां श्रुतात्मा चावतिष्ठते । मर्मरवभिहतास्तस्मान्न जीवन्ति  
शरीरिणः । इन्द्रियार्थेष्वसंवित्तिमनोबुद्धिविपर्ययः । रुजश्च विविधास्तीव्रा  
भवन्त्याशुहरे हते । हते कालान्तरघ्ने तु भ्रूवो धातुक्षयो नृणाम् । ततो  
धातुक्षयाज्जन्तुर्वेदनाभिश्च नश्यति । हते वैकल्यजनने केवलं वैद्यनैषुणात् ।  
शरीरं क्रियया युक्तं विकलत्वमवाप्नुयात् ॥ विशल्यघ्नेषु विज्ञेयं पूर्वोक्तं  
यच्च कारणम् । रुजाकराणि मर्माणि क्षतानि विविधा रुजः । कुर्वन्त्यन्ते  
च वैकल्यं कुवैद्यवशात् यदि । छेदभेदाभिघातेभ्यो दहनाद् दारणादपि ।

उपघातं विजानीयान्मर्मणां तुल्यलक्षणम् ॥ मर्माभिघातश्च न कश्चिदस्ति यो-  
ऽल्पात्ययोवापि निरत्ययो वा । प्रायेण मर्मस्वभिताडितास्तु वैकल्यमृच्छन्त्यथ वा  
त्रियन्ते । मर्माण्यधिष्ठाय हि ये विकारा मूर्च्छन्ति काये विविधा नराणाम् ।  
प्रायेण ते कृच्छतमा भवन्ति नरस्य यत्नैरपि साध्यमानाः ॥ इति ।

द्वे सन्धिषते इति । सन्धीनां द्वे शते इत्यस्य सन्ध्यभिप्रायेण, स्नायुसन्धीनाम्  
असङ्ख्येयत्वात् । तद् यथा मुश्रुते । सन्ध्यस्तु द्विविधाश्चेष्टायन्तः स्थिराश्च ।  
शाखामु हन्योः कट्याश्च चेष्टावन्तस्तु सन्ध्यः । शेषास्तु सन्ध्यः सर्व्वे विज्ञेया  
हि स्थिरा युधैः ॥ सहस्रातस्तु दशोत्तरे द्वे शते । तेषां शाखाश्चष्ट-  
पष्टिः, एकोनपष्टिः कोष्ठे, ग्रीवां प्रत्यूद्धं त्र्यशीतिः । एवं दशोत्तरे द्वे शते ।  
तत्रैकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रयस्त्रयः, द्वावङ्गुष्ठे ते चतुर्दश । जानुगुल्फवङ्गुष्ठे चैकैकः ।  
एवं सप्तदशैकस्मिन् सकृन्नि भवन्ति । एतेनेतरसकृन्निवाहू च व्याख्यातौ ।  
त्रयः कटीकपालेषु । चतुर्विंशतिः पृष्ठवंशे । तावन्त एव पार्श्वयोः । उरस्यष्टौ ।  
तावन्त एव ग्रीवायाम् । त्रयः कण्ठे । नाडीषु हृदयक्लोमनिबद्धास्तष्टादश ।  
दन्तपरिमाणा दन्तमूलेषु । एकः काकलके नासायाश्च । द्वौ वर्तमण्डलजौ  
नेत्राश्रयौ । गण्डकर्णशङ्खे चैकैकः । द्वौ हनुसन्धी । द्वावपरिष्ठाद् भ्रुवोः शङ्खयोश्च ।  
पञ्च शिरःकपालेषु । एको मूर्द्धि । त एते सन्ध्योऽष्टविधाः । कोरोदूखल-  
सामुद्र-प्रतर-तुन्नसेवनी-वायसतुण्ड-मण्डल-शङ्खावर्त्ताः । तेषामङ्गुलिमणित्र्यंश-  
गुल्फजानुकूर्परेषु कोराः सन्ध्यः । कक्षवङ्गणदशनेषूदूखलाः । अंसपीठगुद-  
भगनितम्बेषु सामुद्राः । ग्रीवापृष्ठवंशयोः प्रतराः । शिरःकटीकपालेषु तुन्नसेवनी ।  
हन्वोरुभयतस्तु वायसतुण्डाः । कण्ठहृदयनेत्रक्लोमनाडीषु मण्डलाः । श्रोत्र-  
शृङ्गाटकेषु शङ्खावर्त्ताः । तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः । अस्थान्तु  
सन्ध्यो हेयते केवलाः परिकीर्त्तिताः । पेशीस्नायुसिराणान्तु सन्धिसङ्ख्या  
न विद्यते ॥ इति । इति शेषाणां सन्धीनां प्रतिसन्धानं तन्त्रान्तरतः कार्य्यम् ।

अथ प्रत्यङ्गेषु यद्यपि कण्डरादीनि नोक्तानि, तथापि उपलक्षणतः  
सुश्रूतादितश्च कतिचन प्रत्यङ्गान्यधिकानि कण्डरादीनि व्याख्यास्यन्ते ।  
तद् यथा—पोद्दश कण्डराः । तासां चतस्रः पादयोस्तावत् एव हस्तग्रीवापृष्ठेषु ।  
एवं पोद्दश कण्डराः । तत्र हस्तपादगतानां कण्डराणां नखाः प्ररोहा  
इति । नखास्तस्मिंस्तन्त्रे प्रागस्थिषु गणिताः । ग्रीवाहृदयनिबन्धिनीनाम्  
अधोभागगतानां मेढं प्ररोहः । श्रोणीपृष्ठनिबन्धिनीनामधोभागगतानां  
विम्बः । मूर्द्धाखक्षोऽक्षपिण्डादीनाञ्चेति ।

सन्धिंशते । त्रिंशच्छतसहस्राणि \* नव च शतानि षट्पञ्चाशत्-  
सहस्राणि † शिराधमनीनामणुशः प्रविभज्यमानानां मुखाग्रपरि-  
माणम् । तावन्ति चैव केशश्मश्रुलोमानीत्येतद् यथावद् यत्संख्यातं

अथ मांससिरास्त्राय्वस्थिजालानि प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि । तानि मणि-  
बन्धगुल्फसंश्रितानि परस्परनिबद्धानि परस्परसंश्लिष्टानि परस्परगवाक्षितानि  
चेति योगवाक्षितमिदं शरीरम् । अथ षट् कूर्चार्चः । ते हस्तपादग्रीवामेढेषु ।  
हस्तयोर्द्वौ पादयोर्द्वौ ग्रीवामेढयोः एकैकः । एवमेते षट् कूर्चार्चः । अथ महत्यो  
मांसरज्जवश्चतस्रः । पृष्ठवंशमुभयतः पेशीनिबन्धनार्थं द्वे वाहे आभ्यन्तरे च द्वे ।  
एवं चतस्रः । अथ सप्त सेवन्यः । शिरसि विभक्ताः पञ्च, जिह्वाशेफसोरेकैकास्ताः  
परिहर्त्तव्याः शस्त्रेण । अथ चतुर्दशास्थनां संघाताः, तेषां त्रयो गुल्फजानु-  
वङ्गणेषु । एतेनेतरसक्थिवाहू च व्याख्यातौ । त्रिकशिरसोरेकैकः । एवं  
चतुर्दशास्थनां संघाताः । अथ चतुर्दशैव सीमन्ताः । ते चास्थिसंघातवद्गुणीयाः ।  
यतस्तैर्युक्ता अस्थिसंघाताः । ये ह्युक्ताः सङ्घातास्तु खल्वष्टादशैकेषामिति ।  
अथ परिगणनसामर्थ्येऽपि सिराधमनीनां परिसंज्ञार्थमाह—त्रिंशदित्यादि ।  
सिराधमनीनामणुशः प्रविभज्यमानानां समस्तत्वे त्रिंशच्छतसहस्राणीति  
त्रिंशल्लक्षाणि । शतञ्च तानि सहस्राणि चेति शतसहस्राणि लक्षमुच्यन्ते ।  
त्रिंशच्च तानि शतसहस्राणि चेति तानि तथा । द्विगुर्वा शतसहस्रमिति,  
पात्रादित्वा न स्त्रीत्वम् । सिराधमनीत्वभेदेन नाभिप्रभवाश्चत्वारिंशत् सिराश्चतु-  
र्विंशतिर्धमन्यस्तासां प्रधानात् नव शतानि । सप्त सिराशतानि द्वे धमनीशते  
इति तानि नव शतानि । षट्पञ्चाशत्सहस्राणि प्रतानतो भूत्वा पुनः प्रतानत-  
स्त्रिंशल्लक्षाणि भवन्त्यणुशो विभज्यमानानि । तेषां यावन्ति मुखाग्र-  
परिमाणानि तावदेव केशश्मश्रुलोमकूपपरिमाणम् । तावन्ति चैव मिलित्वा  
केशश्मश्रुलोमानि न त्वधिकानीति । द्वासप्ततिः कोट्यो लोमानीत्युक्तमग्निनापि ।

अणुशः प्रविभज्यमानानामिति अणुभावानां भेदेन भिद्यमानानाम् । मुखग्रपरिमाणमिति  
मुखरूपस्य परिमाणम् । अत्र यान्येव सप्त शिराशतानि धमनीशतद्वयञ्चोक्तानि, तान्येव  
सूक्ष्मप्रतानाश्च भेदगणनया एकोनत्रिंशत् सहस्राणि नव शतानि षट्पञ्चाशत्कानि, स्थूलगणनत्वे  
पूर्वशिरासंख्या धमन्यन्तर्भवतीति न विरोधः । तावन्ति चैव केशश्मश्रुलोमानीति एकोनत्रिंशत्  
सहस्राणि नव शतानि षट्पञ्चाशत्कानि केशश्मश्रुलोमनां भवन्तीत्यर्थः । एतच्च

\* एकोनत्रिंशत्सहस्राणीति पाठान्तरम् ।

† षट्पञ्चाशत्कानीति वा पाठः ।

त्वक्प्रभृति दृश्यमतः परं तत् तर्क्यम् । एतदुभयमपि न विकल्प्यते प्रकृतिभावाच्छरीरस्य ॥ ६ ॥

यत् त्वञ्जलिसंख्येयं तदुपदेक्ष्यामः । तत् परं प्रमाणमभिज्ञेयम् । तच्च वृद्धिहासयोगि तर्क्यमेव । तद् यथा—दशोदकस्याञ्जलयः शरीरे स्वेनाञ्जलिप्रमाणेन । यत् तु प्रच्यवमानं पुरीष-

“त्रिंशच्छतसहस्राणि शतानि च नवैव तु । षट्षाशत्सहस्राणि रसदेहौ वहन्ति ताः ॥ द्वासप्ततिस्तथा कोट्यो लोमानीह महामुने ॥” इति । उपसंहरतीत्येतदित्यादि । इत्यतः किं त्वगादि दृश्यं नान्यदित्यत आह—यत् संख्यातमित्यादि । त्वक्प्रभृति यद् दृश्यं सङ्ख्यातम् अतः परं त्वगादिभिन्नं यत् तर्क्यमेव च संख्यातम्, तत् तदित्येतत् यथावत् यथार्थम् । एतदुभयमपि दृश्यं तर्क्यमित्युभयमपि न कल्प्यते, कुत इत्यत आह—प्रकृतीत्यादि । शरीरस्य प्रकृतिभावात् आरोग्यात् ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—अथ यद् यदपरं तदाह मानत एव—यत् कित्यादि । नन्वञ्जलिमानतः कथमुपदिश्यते इत्यत आह—तत् परमित्यादि । तदुपदेक्ष्यमाणमञ्जलिप्रमाणमभिज्ञेयं, यतः परं प्रमाणम् उत्कृष्टं प्रमाणकरणम् । ननु कथं प्रमाणं स्यादित्यत आह—तच्चेत्यादि । तच्चाञ्जलिमानं वृद्धिहासयोगितया तर्क्यमनुमेयमेव, तत्रास्ति प्रयोजनं वृद्धं हासयितव्यं ह्रस्वं वर्द्धयितव्यं समं पालयितव्यमिति । ननु कस्य कस्य कियदञ्जलिमानमित्यत आह—तद् यथेत्यादि । स्वेनाञ्जलिप्रमाणेन स्वस्वयुग्मकरतलधृतोन्मानेन । एतेन सर्वत्र व्याप्तिः । ननु कस्योदकस्य दशाञ्जलय इत्यत आह—यत् कित्यादि । त्रिरेचनेन दोषतो वा अतियोगेन युक्तं पुरीषं

केशादिसंस्थानं स्थूलशिरागतकेशादिविभागेन ज्ञेयम्, सूक्ष्मसूक्ष्मविभागे तु केशादीनां बहुत्वमपि शास्त्रान्तरोक्तं भवतीति ज्ञेयम् । एतत् त्वक्प्रभृति दृश्यम्, तर्क्यञ्च स्नायवादि । यथावत् संख्यातमिति योजना । सम्प्रति यथोक्तं त्वगादीनां मानं प्रकृतिस्थे शरीरे न व्यभिचरतीति दर्शयन्नाह—एतदुभयमिति दृश्यं तर्क्यञ्च । प्रकृतिभावादिति अविकृतत्वात् शरीरस्य, यत्र तु शरीरं विकृतं भवति, तत्र यथोक्तत्वगादिमानमपि विकृतं भवतीति भावः ॥ ८१९ ॥

चक्रपाणिः—ननु यथा प्रकृतिस्थे शरीरे यथोक्तं मानं त्वगादि न व्यभिचरति, तथा किं

मनुबध्नाति अतियोगेन, तथा मूत्रं रुधिरमन्यांश्च शरीरधातून् ;  
 यत् तु सर्वशरीरचरं बाह्यत्वम् विभर्त्ति, यत् त्वगन्तरे व्रणगतं  
 लसीकाशब्दं लभते, यच्चोष्मणानुबन्धं लोमकूपेभ्यो निष्पतत्  
 स्वेदशब्दमवाप्नोति, तदुदकं दशाञ्जलिप्रमाणम् । नवाञ्जलयः  
 पूर्वस्याहारपरिणामधातोर्यद्रसमित्याचक्षते । अष्टौ शोणितस्य,  
 सप्त पूरीषस्य, षट् श्लेष्मणः, पञ्च पित्तस्य, चत्वारो मूत्रस्य, त्रयो  
 वसायाः, द्वौ मेदसः, एको मज्जः । मस्तिष्कस्यार्द्धाञ्जलिः,  
 शुक्रस्य तावदेव प्रमाणं, तावदेव श्लेष्मणश्चौजसः । इत्येतदेव  
 शरीरतत्त्वमुक्तम् ॥ १० ॥

प्रच्यवमानं यदुदकमनुबध्नाति, एवं यदुदकमतियोगयुक्तं मूत्रञ्च रक्तञ्च  
 अन्यानपि शरीरधातून्तियोगेनानुबध्नाति, यच्चोदकं सर्वशरीरचरं  
 बाह्यत्वम् विभर्त्ति, यत् तूदकं त्वगन्तरे वर्त्तमानं व्रणगतं क्षतगतं सत् निर्गच्छति  
 लसीकाशब्दञ्च लभते तस्योदकस्य दशाञ्जलयः । नन्वेतावदेव किमुदकमस्ति  
 नास्त्यन्यदित्यत आह—यच्चेत्यादि । यच्चोदकम् उष्मणा शरीरव्यापि-  
 नोष्मणा । तदप्युदकं दशाञ्जलिप्रमाणं स्वेनाञ्जलिप्रमाणेनेति परत्र  
 सर्वत्रानुवर्त्तते । पूर्वस्याद्यस्य आहारपरिणामधातो रसाख्यस्य नवाञ्जलयः  
 इत्याह—यद् रसमित्यादि । अष्टौ शोणितस्य द्वितीयधातोरञ्जलयः  
 स्वेनाञ्जलिमानेन । सप्त पूरीषस्याञ्जलयः । षट् श्लेष्मणोऽञ्जलयः । पञ्च  
 पित्तस्याञ्जलयः । चत्वारो मूत्रस्याञ्जलयः । त्रयो वसाया अञ्जलयः । द्वौ  
 मेदसोऽञ्जली । एको मज्जो मज्जधातोरञ्जलिः । मस्तिष्कस्य मस्तकान्तरस्थस्य  
 घृतिकाख्यस्यार्द्धाञ्जलिः । शुक्रस्यार्द्धाञ्जलिः । श्लेष्मणश्चौजस ओजोधात्वाख्य-  
 श्लेष्मणः श्लेष्मविशेषस्य तावदेवार्द्धाञ्जलिरेव । अष्टविन्द्वात्मकन्तु यदोजः  
 तत्र वृद्धिहासयोगि तर्क्यं, तन्नाशाद्धि नाशः स्यादिति । विन्दुहि कर्पमाणम्,  
 तेऽष्टौ लब्ध्वाञ्जलिः ॥ १० ॥

प्रकृतिस्थे शरीरे तदुदकाद्यपि यथोक्तं मानं न व्यभिचरतीत्याह—यत् त्वक्षलीत्यादि । यत् तु  
 रुद्धादि अञ्जलिसंख्येयमग्रे वक्ष्यमाणम्, तदुदकादेः परं प्रमाणम् ॥ १० ॥

तत्र यद् विशेषतः स्थूलं स्थिरं मूर्तिमद् गुरुखरकठिनमङ्गं  
नङ्गास्थिदन्तमांसचर्मवर्चःकेशश्मश्रुलोमकण्डरादि, तत् पार्थिवं  
गन्धो घ्राणञ्च । यद् द्रवसरमन्दस्निग्धमृदुपिच्छिलं रसरुधिरवसा-  
कफपित्तमूत्रस्वेदादि, तदाप्यं रसो रसनञ्च । यत् पित्तमुष्मा च  
यो या च भाः शरीरे, तत् सर्व्वमाग्नेयं रूपं दर्शनञ्च ।  
यदुच्छ्वासप्रश्वासोन्मेषनिमेषाकुञ्चनप्रसारणगमनप्रेरणधारणादि,  
तद् वायवीयं स्पर्शः स्पर्शनञ्च । यद् विविक्तमुच्यते महान्ति  
चाणूनि च स्रोतांसि, तदान्तरीक्षं शब्दः श्रोत्रञ्च । यत् प्रयोक्तृ  
तत् तत् प्रधानम् बुद्धिर्मनश्च । इति शरीरावयवसंख्या यथा-  
स्थूलभेदेन अवयवानां निर्दिष्टा ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—अथोक्ततगादिषु मातृजलादिभेदेन पूर्व्वमुक्तं पाञ्चभौतिकत्वम्,  
तदेव सामान्यतो भौतिकत्वं विशिनष्टि—तत्रेत्यादि । तत् पार्थिवमिति पृथि-  
व्यधिकपाञ्चभौतिकं, गन्धोऽपि घ्राणञ्चेन्द्रियं तादृशम्, अन्यथा गन्धविशेषो  
न स्यात् घ्राणस्यापीन्द्रियत्वं न स्यात् । यद् द्रवेत्यादि । तदाप्यमित्यवहुल-  
पञ्चभूतात्मकं, रसोऽपि तथा, अन्यथा विशेषो न तस्य स्यात् । रसनमपि तथा, न  
हीन्द्रियत्वरूपेण विशिष्टापूर्व्वत्वं केवलजलात्मकत्वे भवति । यत् पित्तमित्यादि ।  
आग्नेयं तेजोऽधिकपञ्चभूतात्मकं, रूपं दर्शनञ्चेन्द्रियं तथात्वात् । यदुच्छ्वासा-  
दिकं तद् वायवीयं वायुप्रधानपञ्चभूतात्मकवायुकार्य्यम् । यद् विविक्तं विरलत्वं  
छिद्रादिरूपं, तदान्तरीक्षमाकाशात्मकं, शब्दश्चाकाशवहुलपञ्चभूतात्मकः स्वरूपो  
विशेषरूपात्, श्रोत्रश्चाकाशवहुलपाञ्चभौतिकं सचेष्टत्वात् । निश्चेष्टस्याकाशस्य  
स्वमात्रात्मकत्वे तु न तथालं स्यात् । यत् प्रयोक्तृ मनःश्रोत्रादीनि च स्वस्वार्थं  
यत् प्रयुङ्क्ते यत् सत्त्वादिगुणाश्रित आत्मा प्रेरयति तद्गुणप्रधानं तत् ।  
तदाश्रयणं बुद्धिर्मनश्च यदा यत् प्रयोक्तृ तदा तद्गुणप्रधानं तद् गुणवदात्म-  
प्रधानम् ॥ ११ ॥

शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसंख्येया भवन्ति अतिबहु-  
त्वादतिसौक्ष्म्यादतीन्द्रियत्वाच्च । तेषां संयोगविभागे परमा-  
णूनां कारणं वायुः कर्म स्वभावश्च । तदेतच्छरीरसंख्या-  
तम् अनेकावयवं दृष्टम्, एकत्वेन सङ्गसंख्यातं, पृथक्त्वेन

गङ्गाधरः—उपसंहर्तुमाह—शरीरेत्यादि । ननु परमाणुभेदेनापरिसंख्येया  
भवन्तु शरीरावयवास्तेषां संयोगविभागौ कथं भवत इत्यत आह—  
तेषामित्यादि । तेषां स्थूलाङ्गप्रत्यङ्गघटकानां मातृजादिपरमाणूनां संयोगे  
विभागे च कारणं वायुः सक्रियत्वात् । ननु सव्वदा संयोगस्य विभागस्य  
प्रवृत्त्यापत्तिर्वायुसद्भावादित्यत आह—कर्म स्वभावश्चेति । कर्म शुभाशुभ-  
क्रियानिष्पन्नसंस्कारविशेषधर्माधर्मपरिणामः, स्वभावश्च तत्तत्पुरुषशरीरा-  
रम्भकतया संयोगे विनाशकतया च विभागे तेषां परमाणूनां स्वभावोऽपि  
कारणमित्यर्थः । ननु तेषां संयोगे सति किं विभागे वा किं स्यादित्यत  
आह—तदेतच्छरीरेत्यादि । तत् त्वगादिकमेतत् अनेकावयवं शरीरसङ्ख्यातं शरीर-  
संख्या ख्यातं दृष्टं भवति । एकत्वेनात्मनोऽबुद्धप्रहंकाराकाशादीनां  
समुदायानां मिलितत्वेनैकीभूतत्वेन सङ्गसंख्यातं सङ्गः संयोगस्तेन सङ्गेन  
संख्यातं व्याख्यातम् । पृथक्त्वेन तेषां परमाणूनामात्मनःप्रभृतीनां विभागेन

चक्रपाणिः—अतिसौक्ष्म्यादिति अतिसूक्ष्मबुद्धिवोध्यत्वात् । अतीन्द्रियत्वञ्च परमाणूनां स्वभाव-  
सिद्धिसेवास्वदादीन् प्रति । यत् तु सूक्ष्ममतीन्द्रियं वा, तत् परिसंख्यातं नितरामेव दुष्करं  
भवतीति युक्तं हेतुत्रयमपरिसंख्याने । अथैते विषयकलिताः परमाणवः कथं शरीरे संयुज्यन्ते,  
शरीरविनाशोऽपि वियुज्यन्ते इत्याह—तेषामित्यादि । ननु यदि वायुः कारणं परमाणूनां संयोग-  
विभागे, तत् किमिति करोतीत्याह—कर्म स्वभावश्चेति, न केवलो वायुः, किन्तु कर्मस्वभाव-  
परिगृहीत एव । तेन संयोगे कर्मणा स्वभावेन च वायुः परिगृहीतो भवति, तथा वियोगे  
परमाणूनां शरीरविनाशं जनयतीत्यर्थः । इदानीं शरीरसंख्याफलमाह—तदेतदित्यादि । परमार्थतो-  
ऽनेकावयवमपि तच्छरीरं संख्याने मोहादेकत्वेन दृष्टं सत् सङ्गहेतुर्भवतीत्यर्थः । एकत्वेन हि शरीरं

अपवर्गः । तत्र प्रधानमशक्तं सर्वसत्तानिवृत्तौ \* निवर्त्तते  
इति ॥ १२ ॥

तत्र श्लोकौ ।

शरीरसंख्यां यो वेद सर्वव्यवशो भिषक् ।

तदज्ञाननिमित्तेन स मोहेन न युज्यते ॥

अपवर्गो मोक्षः । मृते हि न मनसा न कर्मणा नाकाशादिभिरात्मनो विभागः ।  
ननु यथा आत्माधिष्ठानेन वायुः कर्म च स्वभावश्च परमाणूनामात्मादीनां  
संयोगेनैकीभावेन सङ्गसंख्यातत्वं सम्पादयति, यथा च विभागेन शरीरदेहिनो-  
मृ तत्वं सम्पादयति, तथात्मनो मनोबुद्ध्यादिभिर्विभागं सम्पादयन्नपवर्गं सम्पा-  
दयतु इत्यत आह—तत्रेत्यादि । प्रधानं सत्त्वादित्रिगुणवानात्मा तत्रात्मनो-  
बुद्ध्यादीनां पृथक्त्वे अशक्तं न समर्थं न हि वायुर्वा कर्म वा शुभाशुभं स्वभावो  
वा सर्वपरमाणूनां पृथक्त्वरूपे संभवति, परन्तु सर्वसत्तानिवृत्तौ सर्व-  
भावानां निवृत्तौ सत्यां निवर्त्तते निःशेषतो निवृत्तिमद् भवतीति ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—अथैतच्छरीरज्ञानफलार्थं श्लोकावाह—शरीरसङ्ख्यामित्यादि ।  
तदज्ञाननिमित्तेन तेषां शरीरावयवानामज्ञानं निमित्तं यस्य तेन मोहेन

पश्यन् तदुपकाराय प्रवर्त्तमानो रागद्वेषाभ्यां सक्तो भवति । अपवर्ग इत्यपवर्गहेतुरित्यर्थः । शरीरन्तु  
पृथगवयवेन भाष्यमाणं न समतास्पदं भवति, समताभावाच्च न तदुपकारकापकारकेषु रागद्वेषौ  
भवतः, तदभावाच्च प्रवृत्त्युपरमे सति धर्माधर्माभावादपवर्गो भवतीत्यर्थः । शरीरसंख्याने यथा  
मोक्षो भवति, तद्वाह—तत्रेत्यादि । प्रधानमात्मा । तत्रेति शरीरपृथक्भावनायाम् । असक्तमिति  
यथोक्तक्रमेण रागद्वेषपरहितम् । सर्वसन्तानाभिनिवृत्ताविति सर्वश्रोपकारके वापकारके च भागे  
आस्थानिवृत्तौ सत्याम्, निवर्त्तते इति संसारे निवर्त्तते ॥ १११२ ॥

चक्रपाणिः—इममेव गद्योक्तमर्थं श्लोकेनाह—शरीरेत्यादि । तदज्ञाननिमित्तेनेति शरीरैक-  
रूपतारूपमिध्याज्ञानजन्येन । मोहेनेति 'अहं स्थिरशरीरी एको ममेदमुपकारकम्' इत्यादिमोहेन ।

\* अशक्तं सर्वसत्तानिवृत्तौ इत्यत्र असक्तं सर्वसन्तानाभिनिवृत्तौ इति चक्रसम्मतः पाठः ।



अमूढो मोहमूलैश्च न दोषैरभिभूयते ।

निर्दोषो निस्पृहः शान्तः प्रशाम्यत्यपुनर्भवः ॥ १३ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिषंस्कृते शारीरस्थाने शरीर-  
संख्यानाम शारीरं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इच्छाद्वेषभयशोकलोभादिना स भिषक् न युज्यते । तेन च यत् फलति तदाह—  
अमूढ इत्यादि । अमूढो भिषक् मोहमूलैर्दोषैः कामादिहेतुकप्रवर्त्तनालक्षणैः  
नाभिभूयते । ततश्च यन् फलति तदाह—निर्दोष इत्यादि । निर्दोषः प्रवर्त्तना-  
लक्षणदोषरहितो भिषक् निस्पृहश्च भवति । तादृशस्तु चेद्भवति तदा शान्तः  
स्यात् सर्व्वकर्मसु प्रवर्त्तनायां यतः प्रशाम्यति । शान्तश्च यदि भवति तदा  
अपुनर्भवः पुनर्भवरहितो मुक्तो भवतीति चरमं फलति ॥ १३ ॥

अध्यायं समापयति -अग्नीत्यादि ।

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरचिविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ शारीरस्थानजल्पाख्ये  
चतुर्थस्कन्धे शरीरसंख्याशारीरजल्पाख्या सप्तमी शाखा ॥ ७ ॥

मोहमूलैरिति मोहकारणकैः । दोषैरिति रागद्वेषैः । निर्दोषत्वेन निस्पृहो भवति । रागद्वेषमूला  
हीच्छा तदभावाद्भवति । निस्पृहश्च सन् सर्व्वक्रियोपरमात् शान्तो भवति । शान्तश्च सन्  
प्रशाम्यति संसरेण विश्राम्यति । ततश्च नास्य पुनर्भवो जन्मरूपो भवतीति ॥ १३ ॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुराननश्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायामयुर्व्वेददीपिकायां चरक-  
तात्पर्य्यटीकायां शारीरस्थाने शरीरसंख्यानाम शारीरं सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातो जातिसूत्रोयं शरीरं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

स्त्रीपुंसयोरव्यापन्नशुक्रशोणितगर्भाशययोः श्रेयसीं प्रजा-  
मिच्छतोस्तन्निवृत्तिकरं कर्मोपदेक्ष्यामः । अथाप्येतौ स्त्री-

गङ्गाधरः—अथ शरीरं यावदुक्त्वा जन्मप्रकारोपदर्शनार्थं जातिसूत्रीयं  
शरीरमारभते—अथात इत्यादि । जातिर्जन्म तस्याः सूत्रमधिकृत्य कृतमिति  
जातिसूत्रीयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—स्त्रीपुंसयोरिति द्वन्द्वे स्त्रियाः पूर्वनिपातः । द्वादशवर्षा स्त्री  
पञ्चविंशतिवर्षः पुमान्, न ततो न्यूनवयसोः स्त्रीपुंसयोरव्यापन्नशुक्रशोणितगर्भा-  
शययोः श्रेयसीं प्रजामिच्छतोस्तन्निवृत्तिकरं कर्मोपदेक्ष्यामः । अथाप्येतौ स्त्री-  
गङ्गाधरः—अथ शरीरं यावदुक्त्वा जन्मप्रकारोपदर्शनार्थं जातिसूत्रीयं  
शरीरमारभते—अथात इत्यादि । जातिर्जन्म तस्याः सूत्रमधिकृत्य कृतमिति  
जातिसूत्रीयम् ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति पारिशेष्यात् जातिसूत्रीयमुच्यते । 'जाति'शब्देन जन्मकारणमुच्यते,  
तस्य सूत्रं जन्मोपायकथनसूत्रम्, तदधिकृत्य कृतोऽध्यायः । स्त्रीपुंसयोरिति क्रमनिर्देशं कृत्वा  
अव्यापन्नशोणितगर्भाशयशुक्रयोरिति निर्देशो यथाक्रमानुरोधात् यद्यपि युज्यते, तथाप्यत्र 'शुक्रं  
पूर्वं नियच्छति' इति न्यायमाश्रित्य क्रमभेदेन निर्देशः । श्रेयसीं प्रजामिच्छतोस्तित्यत्र श्रेयसी  
प्रजा गुणवान् पुत्रो गुणवती च कन्यामिप्रेता । यतः अत्र कन्योत्पादविधानं लेख्यतः करिष्यति ।  
तेन निर्गुणयोः कन्यापुत्रयोस्तथा नपुंसकस्य चाश्रेयस्त्वेन द्युदासः । अन्ये पुत्रमेव श्रेयसीं प्रजा-  
माहुः । यतः अत्र सर्व्वम्, पुत्रमेवोद्दिश्य विधानं प्रायः करिष्यति । तदर्थमिनिवृत्तिकरमिति

पुंसौ स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्य वमनविरेचनाभ्यां संशोध्य  
क्रमात् प्रकृतिमापादयेत् । संशुद्धौ चास्थापनानुवासनाभ्याम्  
उपाचरेत्, उपाचरेच्च मधुरौषधसंस्कृताभ्यां घृतक्षीराभ्यां पुरुषं,  
स्त्रियं पुनस्तैलमाषाभ्याम् । ततः पुण्यात् प्रभृति त्रिरात्रं  
ब्रह्मचारिणी आसीताधःशायिनी पाणिभ्यामन्नमज्जर्जरपात्रे  
भुञ्जाना न च काश्चिदेव मृजामापदेत् ॥ २ ॥

प्रतिष्ठापि बोध्या । अथाप्येतात्रित्यादि । एतौ स्त्रीपुंसौ निरुक्तरूपौ । क्रमेण  
वमनविरेचनानन्तरं दौर्बल्ये जाते पेयादिक्रमेण प्रकृतिं जातवलादिकत्वं प्राग्बहुप-  
पादयेत् । संशुद्धाविति वमनविरेचनाभ्याम् । उपाचरेच्चेति । आस्थापनानुवास-  
नोपचरणानन्तरं पुरुषं मधुरौषधैर्जीवनीयौषधैर्दशभिः संस्कृताभ्यां साधिताभ्यां  
घृतक्षीराभ्यां पुरुषमुपाचरेत् । मधुरौषधसंस्कृताभ्यां तैलमाषाभ्यां स्त्रियं  
उपाचरेत् पानाहारविधिना । तत्र जीवनीयदशककाथकल्काभ्यां स्नेहात्  
चतुर्गुणपादिकाभ्यां घृतं तैलञ्च साधयेत् । क्षीरन्तु चतुर्गुणजलेन स्वाष्टमांश-  
जीवनीयदशककल्केन स्वावशेषं साधयेत् । मापस्तु यूपसूपादिरूपेण निष्पाद्यः ।  
जीवनीयदशककल्ककर्पं प्रास्थिकजले पूर्वमर्द्धशृतं काथं कृत्वा तेन काथेन  
चतुर्दशगुणेनाष्टादशगुणेन वा पक्वः पादशिष्टो मापो यूपः स्यात् । कल्कसाध्यो वा  
कार्थ्य इति । ततः पुण्यात् प्रभृतीति । ततो मासं क्रमेणोपचितशुद्धार्त्तवप्रवर्त्तन-  
मारभ्य त्रिरात्रं नारी अधःशायिनी खट्वादूर्द्ध्वदेशे शयनं हित्वा भूमिदेशे दभ-  
संस्तरे शयाना सती ब्रह्मचारिणी च सती रमणोपरता सती पाणिभ्यां कर-  
तलाभ्यामन्नमज्जर्जरपात्रे वा भुञ्जाना च जीर्णतमपात्रेतरपात्रेऽन्नं हविष्यविधिना

श्रेयःप्रजारूपप्रयोजननिष्पादकम् । अथापीत्यादौ 'अथ'शब्दोऽधिकारे, 'अपि'शब्दो विशेषार्थः ।  
तेन व्यापन्नशुक्रशोणितगर्भाशययोरपि स्त्रीपुंसयोः श्रेयःप्रजाजनकगुणाधानार्थं स्नेहादिकर्मकरण-  
मिति दर्शयति । यद्यपि 'एतौ' इतिपदेनैवाधिकृतौ स्त्रीपुंसौ लब्धौ, तथापि पुनर्यतः स्त्रीपुंसौ  
स्नेहनादिवक्ष्यमाणकर्मणा योज्यौ इति दर्शयति । क्रमेणेति पेयादिक्रमेण, स च क्रमः वमने  
पृथक्प्रदेशान्तरोक्तक्रमन्यायेन बोद्धव्यः । पुनः 'संशुद्धौ च' इति वचनात् सम्यक्कृद्भयोरैवास्थाप-  
नानुवासने कर्त्तव्ये, नासम्यक्कृद्भयोरिति दर्शयति । 'मधुरौषध'शब्देन मधुरौषधग्रहणं मधुरस्य  
विशेषेण शुक्रवृद्धिकरत्वात् । अन्ये तु 'मधुरौषध'शब्देन जीवनीयगणमिच्छन्ति । पुण्यादित्यार्त्तव-

ततश्चतुर्थेऽह्न्येनामुत्साद्य सशिरस्कं स्नापयित्वा शुक्लान्यक्षुण्णानि वासांस्याच्छादयेत् भूषाञ्च धारयेत्, पुरुषश्च ।

शुद्धाना च सती आसीत वत्तत, न च काश्चित् मृजां दन्तगात्रादिमार्जनं नापदेतेति । उक्तञ्च सुश्रुते—“अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षा पत्नीमावहेत् पित्रथर्म्मार्थकामप्रजाः प्राप्स्यतीति । ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति दृष्टात्तेव । अदृष्टार्त्तवाऽप्यस्तीत्येके भाषन्ते । तद्वर्षाद् द्वादशात् काले वत्तगानमसृक् पुनः । जरापक्षशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम् । पीनप्रसन्नवदनां प्रक्षिन्नात्ममुखद्विजम् । नरकामां प्रियकथां सस्तकुक्ष्यक्षिभूर्द्धजाम् ॥ स्फुटद्भुजकुचश्रोणीनाभ्यर्जयनस्त्रिचम् । हर्षोत्सुक्यपराञ्चापि विद्यादृतुमतीमिति ॥ नियतं दिवसेऽतीते संकुचत्यम्बुजं यथा । ऋतौ व्यतीते नार्य्यास्तु योनिः संव्रियते तथा ॥ मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्त्तवम् । ईषत्कृष्णं विगन्धञ्च वायुर्यौनिमुखं नयेत् ॥ ऋतौ प्रथमदिवसात् प्रभृति ब्रह्मचारिणी दिवास्वप्नाञ्जनाश्रुपातस्नानानुलेपनाभ्यङ्गनखच्छेदनप्रधावनहसनकथनातिशब्दश्रवणविश्लेषनानिलायासान् परिहरेत् । किं कारणम् ? दिवास्वयन्त्याः स्वापशीलोऽञ्जनादन्धो रोदनाद् विकृतदृष्टिः स्नानानुलेपनाद् दुःखशीलसैलाभ्यङ्गाद् कुष्टी नखापकर्त्तनात् कुनखी प्रधावनाच्चञ्चलो हसनाच्छ्रावदन्तौष्ठतालुजिह्वः प्रलापी चातिकथनादतिशब्दश्रवणाद् बधिरः अवलेखनात् खलतिर्मास्तायासमेवनात् उन्मत्तो गर्भो भवतीत्येवमेतान् परिहरेत् । दभसंस्तरणशायिनीं करतलशरावपणान्यतमभोजिनीं हविष्यं त्रग्रहञ्च भर्त्तः संरक्षयेत् । इति ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—ततश्चतुर्थे इत्यादि । ततस्त्रिरात्रानन्तरं चतुर्थेऽहनि दिने एनां ब्रह्मचारिणीमृतुमतीं स्त्रियमुत्साद्य खलितैलहरिद्रादुग्रद्वर्त्तनेनोद्वर्त्तय सक्केशगात्रं सशिरस्कं शिरःसहितं स्नापयित्वा शुक्लानि श्वेतवर्णान्यक्षुण्णानि वासांस्याच्छादयेत् भूषाञ्च धारयेत् । पुरुषञ्चेति । पुरुषमपि पूर्वं मासं मैथुनोपरतं, स्त्रीपुष्पात् प्रभृति च त्रिरात्रं ब्रह्मचारिणं मैथुनोपरमणेन, तथाप्रशायिनं पाणिभ्यामज्ज्वरपात्रे वा हविष्यविधानेनान्नं शुद्धानम्, गात्रादिमार्जनादि वर्जयन्तम्, चतुर्थेऽहनि तथैवोत्साद्य सशिरस्कं स्नापयित्वा शुक्लान्यक्षुण्णानि वासांस्याच्छादयेत्, तथा स्रजं भूषणञ्च धारयेत् । बहुवचनात्

ततः शुक्लवाससौ च स्रग्विणौ सुमनसावन्योन्यमभिकामौ  
संवसेतामिति ब्रूयात् । स्नानात् प्रभृति युग्मेष्वहसु संवसेतां  
पुत्रकामौ, अयुग्मेषु दुहितृकामौ ॥ ३ ॥

एकदिवसनाच्छादनव्यवच्छेदः । तथा स्नातं स्रग्विणमलङ्कृतं भर्तारं तथा शुद्ध-  
स्नाता स्रग्विणी भूपालङ्कृता कृतमङ्गलाचरणस्वस्तिवाचना प्राक् पश्येत्  
भर्तृसदृशपुत्रकामा इत्यर्थः शेषः । उक्तं हि सुश्रुते—ततः शुद्धस्नातां चतुर्थे-  
ऽहन्यहतवाससमलङ्कृतां कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनां भर्तारं दर्शयेत् । तत् कस्य  
हेतोः ? पूर्वं पश्येद्वत्स्नाता यादृशं नरमङ्गना । तादृशं जनयेत् पुत्रं भर्तारं  
दर्शयेदतः । ततो विधानं पुत्रीयमुपाध्यायः समाचरेत् । कर्मन्ते च क्रमं  
द्वेनमारभेत विचक्षणः ॥ इति । ततः किं कुर्यादित्यत आह—ततः शुक्लवाससौ  
इत्यादि । सुमनसाविति सुचित्तौ संवसेतां सहवासं कुर्यातामित्यर्थः ।  
ननु पुत्रकामयोर्दुहितृकामयोश्च दिवसनियमोऽस्ति न वा सहवासे इत्यत  
आह—स्नानादित्यादि । स्नानदिनमारभ्य युग्मेष्वहसु दिनेषु न तु स्नानात्  
पूर्वं, तेन चतुर्थे पष्ठेऽष्टमे दशमे द्वादशे वा दिने पुत्रकामौ संवसेताम् ।  
दुहितृकामौ त्रयुग्मेषु, स्नानात् प्रभृति न तु स्नानात् पूर्वं, तेन पञ्चमे सप्तमे  
नवमे एकादशे चाहनि संवसेतामित्यर्थः । सुश्रुतेऽप्युक्तम्—ततोऽपराह्णे पुमान्  
मासं ब्रह्मचारी सर्पिःस्निग्धः सर्पिःक्षीराभ्यां शाल्योदनं भुक्त्वा मासं ब्रह्म-  
चारिणीं तैलस्निग्धां तैलमापोत्तराहारां नारीमुपेयाद्रात्रौ सामादिभिरभिविश्वास्य  
विकल्पैव चतुर्थ्यां पष्ठग्रामष्टम्यां दशम्यां द्वादश्याञ्च रात्रावुपेयादिति पुत्र-  
कामः । एप्त्तरोत्तरं विद्यादायुरारोग्यमेव च । प्रजासौभाग्यमैश्वर्यं वलञ्च  
दिवसेषु वै ॥ अतः परं पञ्चम्यां सप्तम्यां नवम्यामेकादश्याञ्च रात्रौ स्त्रीकामः ।  
त्रयोदशीप्रभृतयो निन्द्या इति । एवं (गर्भावक्रान्तिशारीरे) सुश्रुतेऽप्युक्तम्—  
युग्मेषु तु पुमान् प्रोक्तो दिवसेष्वन्यथाऽवला । पुष्पकाले शुचिस्तस्मादपत्यार्थी  
स्त्रियं व्रजेत् ॥ अथ तत्र प्रथमे दिवसे ऋतुमत्यां मैथुनगमनमनायुष्यं पुंसां  
भवति । यश्च तत्राधीयते गर्भः स प्रसवमानो विमुच्यते, द्वितीयेऽप्येवम् सूतिका-  
गृहे वा । तृतीयेऽप्येवमसम्पूर्णाङ्गोऽल्पायुर्वा भवति । चतुर्थे तु सम्पूर्णाङ्गो  
दर्शनात् । ब्रह्मचारिणीति अधःशायिनीति च त्रिरात्रमित्यनेन सम्बध्यते । स्नानात्  
प्रभृतीति संवसेतामित्यनेन सम्बध्यते, तेन स्नानात् प्रभृति मैथुनं विधीयते, न तु स्नानदिनात्  
(पूर्वं) प्रभृति, पुत्रकामयोर्युग्मदिनविधानात् । युग्मदिनन्तु प्रथमदिनात् प्रभृत्येव गणनीयम् ।

न च न्युब्जां पार्श्वगतां वा संसेवेत ; न्युब्जाया वातो  
बलवान् स योनिं प्रपीडयति, पार्श्वगताया दक्षिणे पार्श्वे श्लेष्मा  
संव्यूतः पिदधाति गर्भाशयम्, वामे पार्श्वे पित्तं तदस्याः  
पीडितं विदहति रक्तं शुक्रञ्च, तस्मादुत्ताना सती वीजं गृहीयात् ।  
तस्या हि यथास्थानमवतिष्ठन्ते दोषाः । पर्याप्ते चैनां शीतोदकेन  
परिपिञ्चेत् ॥ ४ ॥

दीर्घायुश्च भवति । न च प्रवर्त्तमाने रक्ते वीजं प्रविष्टं गुणकरं भवति । यथा नद्यां  
प्रतिस्रोतः प्लावि द्रव्यं प्रक्षिप्तं प्रतिनिवर्त्तते नाद्धं गच्छति, तद्वदेव द्रष्टव्यम् ।  
तस्मान्नियमवतीं त्रिरात्रं परिहरेत् । अतः परं मासादुपेयात् । इति । अत्र  
मासादूर्द्धमित्यर्थः । अवर्द्धमासाद् गमनं पुनर्गर्भद्वारविघटनेन स्थितमपि  
गर्भं व्यापादयति । केचित् तु अतः परं पञ्चदशदिनात् गर्भलाभविनिश्चय एव  
लब्धगर्भात् तु नैवेति पठन्ति ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—ननु सहवासे बहवो बन्धाः कामशास्त्रे दृश्यन्ते, केन बन्धेन  
संवेसेतामित्यत आह—न चेत्यादि । न्युब्जामनुत्तानां पार्श्वगतां दक्षिणेन  
वामेन वा पार्श्वेन शयितां वामेन दक्षिणेन वा पार्श्वेन शयितः सन् न च  
संसेवेत रमेत । ननु कस्मात् न्युब्जां न सेवेतेत्यत आह—न्युब्जाया इत्यादि ।  
प्रपीडयति न च वीजं ग्राहयतीति भावः । ननु पार्श्वगतां कस्मान्नोपसेवेतेत्यत  
आह—पार्श्वेत्यादि । पार्श्वगताया वामपार्श्वेन शयिताया दक्षिणे पार्श्वे  
श्लेष्मा संव्यूतः सन् गर्भाशयं पिदधाति । दक्षिणेन पार्श्वेन शयिताया वाम-  
पार्श्वे पित्तं तत् संव्यूतं सत् पीडितञ्च सत् अस्याः स्त्रिया मैथुनेन गृहीतशुक्रायाः  
तच्छुक्रं स्वार्त्तवरक्तञ्च मिलितमपि विदहति । तस्मादुत्तानेति । ननु कुतो  
वीजमुत्ताना गृह्णातीत्यत आह—तस्या हीत्यादि । दोषा वातपित्तकफाः ।  
यथास्थानं स्वस्थानम् । पर्याप्ते चैनामिति परिगतमैथुने मैथुनसमाप्तावित्यर्थः ।  
एनां कृतरमणां स्त्रियं मैथुनश्रमोष्मप्रशमार्थं शीतोदकेन मुखनयनादिषु योनिषु  
च परिपिञ्चेत् ॥ ४ ॥

यदुक्तं हारीते चतुर्थोपप्लव्यष्टमीद्वादशीषु गुणवन्तमायुष्मन्तं पुत्रं जनयति, पञ्चमीनवम्येकादशीषु  
कन्या गुणवतीः, सप्तम्यां दुर्भगाकन्यामिति ॥ २।३ ॥

तत्रात्यशिता क्षुधिता पिपासिता भीता विमनाः शोकार्त्ता  
क्रुद्धा चान्यश्च पुमांसमिच्छन्ती मैथुने चातिकामा वा नारी गर्भं  
न धत्ते, विगुणां वा प्रजां जनयति । अतिवालासतिवृद्धां  
दीर्घरोगिणीमन्येन वा विकारेणोपसृष्टां वर्जयेत् । पुरुषे-  
ऽप्येत एव दोषाः । अतः सर्वदोषवर्जितौ स्त्रीपुरुषौ  
संस्तृज्येयाताम् ॥ ५ ॥

**गङ्गाधरः**—अथ न्युञ्जन्नादिषु गर्भानाधानप्रकरणादन्यानपि गर्भानाधान-  
हेतूनाह—तत्रेत्यादि । अत्यशिता अतिशयेनाशितं भुक्तं पीतं लीढं खादितं  
वा यया सा अत्यशिता । क्षुधिता क्षुधा जातास्याः सा, एवं पिपासा जातास्याः  
सा । विमनाः विगतं चिन्तादिभिर्न स्वच्छन्दं मनो यस्याः सा । इच्छन्तीति  
रमणार्थमिच्छति रमणकालेऽन्यं पुरुषं या सा । यदि चात्यशिताद्यन्यतमा  
गर्भं धत्ते, तदा विगुणां वेत्यादि । गर्भं न धत्ते विगुणां वा प्रजां जनयतीति  
सूत्रद्वयमनुवर्त्ततेऽधिकारत्वात् । तस्मात् अतिवालासित्यादिकां स्त्रियं वर्जयेत् ।  
उक्तं ह्यन्यत्र—वालेति गीयते नारी यावत् षोडशवत्सरम् । ततः परन्तु तरुणी  
यावद् द्वात्रिंशत् व्रजेत् ॥ तत ऊर्ध्वं भवेत् प्रौढा यावत् पञ्चाशत् व्रजेत् । ततः परं  
भवेद् वृद्धा सुरतोत्सववर्जिता । वाला तु प्राणदा प्रोक्ता तरुणी प्राणधारिणी ।  
प्रौढा करोति वृद्धत्वं वृद्धा मरणमादिशेत् । निदाघशरदोर्वाला प्रौढा  
वर्षावसन्तयोः । हेमन्ते शिशिरे योग्या वृद्धा कापि न शस्यते ॥ सद्योमांसं  
नवान्नश्च वाला स्त्री क्षीरभोजनम् । घृतमुष्णोदकञ्चैव सद्यःप्राणकराणि  
पट् ॥ पूतिमांसं स्त्रियो वृद्धा वालार्कस्तरुणं दधि । प्रभाते मैथुनं निद्रा सद्यःप्राण-  
हराणि पट् ॥ इति । सुश्रुतेऽप्युक्तम्—(गर्भेणी व्याकरणे) अथास्मै पञ्चविंशति-  
वर्षाय द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत् पित्राधर्मार्थकामप्रजाः प्राप्स्यतीति । ऊनषोडश-  
वर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् । यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥  
जातो वा न चिरञ्जीवेज्जीवेद्वा दुर्व्वलेन्द्रियः । तस्मादत्यन्तवालायां गर्भाधानं  
न कारयेत् ॥ अतिवृद्धायां दीर्घरोगिण्यामन्येन वा विकारेणोपसृष्टायां  
गर्भाधानं न कुर्वीत । पुरुषस्यैवविधस्य त एव दोषाः सम्भवन्तीति ॥”

**चक्रपाणिः**—न्युञ्जामित्यधोमुखीम् । पथ्याप्ते समाप्ते मैथुने ; मैथुने चातिकामेति निवृत्तेच्छे-  
ऽपि पुरुषे मैथुनमिच्छन्ती । अन्येन वा विकारेणेति कुण्ठादिशुष्पितेन रोगेण ॥ ४१५ ॥

संजातहर्षौ मैथुने चानुकूलौ इष्टगन्धं स्वास्तीर्णं सुखं  
शयनमुपकल्प्य मनोज्ञं हितमशनं मात्रावदशित्वा दक्षिणपादेन

पुरुषस्याप्यत्यशितत्वाद्यतिवालत्वादिदोषाद् गर्भानाधानहेतुत्वं विगुणप्रजाहेतु-  
त्वाभिप्रेत्यातिदेशेनात्यशितादिकं पुरुषं वर्जयितुमाह—पुरुषेऽप्येत एवे-  
त्यादि। एत एवात्यशितत्वादयो दोषाः। उक्तञ्चान्यत्र—अतिवालो  
ह्यसम्पूर्ण-सर्वधातुः स्त्रियं व्रजन्। अपतप्येत सहसा तडागमिव काजलम्॥  
शुष्कं रुक्ं यथा काण्डं जन्तुजग्धं विजर्जरम्। संस्पृष्टमाशु जीर्येत तथा वृद्धः  
स्त्रियं व्रजन्॥ पञ्चपञ्चाशतो नारी सप्तसप्ततितः पुमान्। द्वावेतौ न प्रसूयेते  
प्रसूयेते व्यतिक्रमात्॥ इति। अत्रातिवालामित्यतिशब्देन द्वादशवर्षात् प्रायो  
रजःप्रवृत्तिः स्त्रीणां तदा यौवनारम्भः। पौगण्डावस्था बाल्यमेव न त्वतिवालत्वम्।  
तदा पञ्चविंशत्यादिप्राप्तपुंयोगाद् गर्भाधानं न सदोषं, प्रागपि द्वादशवर्षात् तु  
रजःप्रवृत्तिर्यस्यास्तामतिवालां वर्जयेत्। वृद्धा तु पञ्चाशद्वर्षा प्रायेण स्त्रीणां  
तावद्रजःप्रवृत्तिस्तत्र मध्यवयःपुरुषयोगाद् गर्भाधानं न सदोषम्। पञ्चाशतः  
परन्तु या सरजस्का सप्तसप्ततिप्रभृतिवर्षेषु सातिवृद्धा। श्रेयसीप्रजार्थं तां  
वर्जयेत्। एवं पुरुषस्यापि षोडशवर्षं यावद् बाल्यं यदुक्तं तदतिवालयाभि-  
प्रायेण, स्त्रिया इव द्वादशवर्षं यावत्, पञ्चविंशतिं यावत् तु सर्वसम्पूर्णधातुत्वात्  
शुक्रस्य च सर्वगुणोपपन्नत्वात्। स्त्रिया इव षोडशवर्षं यावद् बाल्यातीतत्वं  
तदा गर्भाधानकरणं न सदोषं प्राक् च पञ्चविंशतेः सदोषं, तस्मादतिवालं  
श्रेयसीं प्रजां जनयितुं वर्जयेत्। एवमतिवृद्धस्यापि सप्ततेरुद्धं सप्तसप्तति-  
प्रभृतिषु वयःसु जरापक्वशरीरत्वेनाहाररसस्य प्रीणनलाभावेन क्षीणशुक्रत्वेन  
श्रेयःप्रजाजननं सदोषं, प्राक् सप्ततेरदोषम्। तस्मादतिवृद्धं पुरुषं श्रेयसीं प्रजां  
जनयितुं वर्जयेदिति भावः। अत उक्ताद्धेतोः सर्वदोषवर्जितौ रजोयोनि-  
गर्भाशय-दोष-रजस्वलाकालिकापरिहाय्य-परिहारदोष-न्युब्जादि-दोषात्यशित-  
त्वादिदोषातिवालत्वादिदोषरहिता स्त्री, तथा शुक्रदोषाव्रह्मचर्यत्वादिदोषात्य-  
शितत्वादिदोषातिवालत्वादिदोषरहितः पुमान्, एतौ द्वौ श्रेयसीं प्रजामुद्-  
पादयितुं संसृज्येयातां संसर्गं कुर्वीयाताम्॥ ५॥

गङ्गाधरः—ननु केन प्रकारेण संसर्गं कुर्वीयातामित्यत आह—संजाते-  
त्यादि। मनोज्ञं हितञ्चाशनं मात्रावदशित्वा नातिमात्रमशित्वा चतुर्थ्यादौ  
रात्रौ शयनं शय्याम् इष्टगन्धं स्वमनोरमगन्धयुक्तं स्वास्तीर्णं स्वाच्छादनं सुखं



पुमान्, वामपादेन स्त्री चारोहेत् । तत्र मन्त्रं प्रयुञ्जीत । अहिरसि आयुरसि सर्व्वतः प्रतिष्ठासि धाता त्वा दधातु विधाता त्वा दधातु ब्रह्मवर्चसा भवेदिति ।

ब्रह्मा बृहस्पतिर्विष्णुः सोमः सूर्यस्तथाश्विनौ ।

भगोऽथ मित्रावरुणौ पुत्रं वीरं दधातु मे ॥

इत्युत्तवा संवसेयाताम् । सा चेदेवमाशासीत बृहन्तमवदातं हर्यक्षमोजस्विनं शुचिं सत्त्वसम्पन्नं पुत्रमिच्छेयमिति ॥ ६

शुद्धस्नानात् प्रभृत्यस्यै मन्थमवदातं यवानां मधुसर्पिर्भ्यां संसृज्य श्वेताया गोः सरूपवत्सायाः पयसालोड्य राजते कांस्ये

सुखकरं मनोह्रञ्च शयनमुपकल्प्य संजातहर्षौ सम्यक्परस्परेण लिङ्गन-चुम्बन-दर्शन-कटाक्षविक्षेपण-स्मित-हसित-संलाप-लपित-घनजघनस्तनोपमर्दितादिभिः जातो हर्षो ध्वजोच्छ्राययोनिस्फुरणादिलक्षणो ययोस्तौ मैथुने चानुकूलौ परस्पर-सम्मतौ सन्तौ पुमान् वामपार्श्वेन स्त्री तु दक्षिणपार्श्वेन परस्पराभिमुखं शयित्वा दक्षिणपादेन पुमान् स्त्रिया दक्षिणपादमारोहेत् । वामपादेन स्त्री तं दक्षिण-पदारूढं पुंसो दक्षिणपदमारोहेत् । यद्वा निरुक्तरूपेण संजातहर्षौ मैथुने चानु-कूलौ हितं मात्रावदशित्वा इष्टगन्धादिकं शयनं शय्यामुपकल्प्य दक्षिणपादेन पुमानारोहेच्छयनं ततः स्त्री च तच्छयनं वामपादेनारोहेत् इत्यर्थः । तत्रारोहणे मन्त्रमिमं प्रयुञ्जीत पठेत् । मन्त्रस्तु अहिरसीत्यादि । सा चेदित्यादि । हर्यक्षं सिंहमिव सत्त्वसम्पन्नं सत्त्वसारम् ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—शुद्धस्नानादित्यादि । यवानां मन्थं स्नानात् प्रभृत्यस्यै प्रातः पानाय प्रयच्छेत् । मन्थं विवृणोति—यवानामवदातं तुपादिमलरहित-त्वेनावदातं सत्तुकं मधुघृताभ्यां संसृज्य संसृष्टं कृत्वा सरूपवत्सायाः समानवर्णवत्सायाः श्वेताया गोः पयसालोड्य । भुञ्जीतेति मध्याह्ने, तथा

चक्रपाणिः—आरोहेत् शयनमिति सम्बन्धः । ‘अहिरसीत्यादि दधातु मे’ इत्यन्तो मन्त्रः । हर्यक्षं सिंहविक्रमम् । तेनोपादेयमेवेत्याह—इच्छेयमिति । इच्छेयमित्यनेकार्थत्वाद् धातूनां लभेयमित्यर्थः, तेन ‘आशासीत’ इत्यस्य ‘इच्छेयम्’ इत्यनेन न पौनरुक्त्यमिति व्याख्यानयन्ति ॥ ६ ॥

वा पात्रे काले काले सप्ताहं सततं प्रयच्छेत् पानाय । प्रातश्च शालियवात्रविकारान् दधिमधुसर्पिर्भिः पयोभिर्वा संसृज्य भुञ्जीत तथा सायम् अवदातशरणशयनासनपानवसन-भूषणवेशा च स्यात् । सायं प्रातश्च शश्वत् श्वेतं महान्तम् ऋषभमाजानेयं वा हरिचन्दनाङ्गदं पश्येत् । सौम्याभिश्चैनां कथाभिर्मनोऽनुकूलाभिरुपासीत । सौम्याकृतिवचनोपचार-चेष्टांश्च स्त्रीपुरुषानितरानपि चेन्द्रियार्थानवदातान् पश्येत् । सहचर्यश्चैनां प्रियहिताभ्यां सततमुपाचरेयुः, तथा भर्ता । न च मिश्रीभावमापदेयाताम् । इत्यनेन विधिना सप्तरात्रं स्थित्वा अष्टमेऽहनि आप्लुत्याद्भिः सशिरस्कं सह भर्ता, चाहतानि वस्त्रा-रयाच्छादयेदवदातान्यवदाताश्च स्वजो भूषणानि विभृयात् ॥ ७

सायं भुञ्जीतेत्यन्वयः । अवदातशरणशयना शुक्रगृहे शुक्रशय्यासुप्ता शुक्रासना शुक्रपाना शुक्रवसना शुक्रभूषणा च स्यात् । शश्वच्छ्वेतं सर्वतः शुक्रं महान्तमृषभं वृहद्वृषम् आजानेयं प्राशुक्तमश्वं हरिचन्दनाङ्गदं हरिचन्दनं बाहुभूपा यस्य तं तथा । हरिचन्दनं श्वेतचन्दनम् । सौम्याभिर्वात्सल्यपुक्ताभिः कथाभिः । सौम्याकाराः सौम्यवचनाः सौम्योपचाराः सौम्यचेष्टाश्च स्त्रियो वा पुरुषा वा ये ये भवन्ति तांस्तान् पश्येत् इतरानपि चेन्द्रियार्थांश्चक्षुर्ग्राह्यान्व-दातान् शुक्रानेव पश्येत् । सहचर्यः सहचरीजनाः । तथा भर्ता प्रियहिताभ्यां सततमेनामुपाचरेदित्यन्वयः । मिश्रीभावं मैथुनम् । इत्यनेनेत्यादि । सप्तरात्र-मिति न स्नानात्-किन्तु ऋतुप्रवृत्ति एव सप्तरात्रम् । अष्टमेऽर्थाद्वृत्ति-एवाष्टमे त्रहनि । आप्लुत्य निमज्ज्य ॥ ७ ॥

चक्रपाणिः—काले काल इति सायं प्रातः । अत्र च मन्थपानस्य तथा शालियवात्रभोजनस्य च विहितत्वाद्भावपि मात्रया काले करणीयौ । शरणं गृहम् । आजानेयमुत्तमकुलजम् । 'हरिचन्दन' शब्देन श्वेतचन्दनं । चवक्षितम् । 'हरि'शब्दस्यानेकार्थत्वात् 'हरि'शब्देन श्वेतस्यैव ग्रहणं प्रशस्तत्वात् । अङ्गदोऽङ्गरागः, किंवा अङ्गदो बाहुभूषणम् । पश्येदित्युपलभेत । तेन श्रोत्र-मनोभ्यामपि अवदातत्त्वग्रहणं लभ्यते ॥ ७ ॥

तत ऋत्विक् प्रागुत्तरस्यां दिश्यगारस्य प्राक्पुवन-ॐ-मुदक्-  
पुवनं वा देशसभितसीक्ष्य गोमयोदकाभ्यां स्थण्डिलमुप-  
संलिप्य प्रोक्ष्य चोदकेन वेदीं सस्मिन् स्थापयेत् । तां पश्चि-  
मेनाहतवस्त्रसञ्चये श्वेतार्षभे वाप्यजिन उपविशेत् ब्राह्मण-  
प्रयुक्तः, राजन्यप्रयुक्तस्तु वैयाघ्रे चर्मणयानडुहे वा, वैश्यप्रयुक्तस्तु  
रौरवे वास्ते वा । तत्रोपविष्टः पालाशीभिरैङ्गदीभिरौडुम्बरीभिः  
साधूर्काभिर्वा समिद्धिरग्निमुपसमाधाय कुशैः परिस्तीर्य परिधि-  
भिश्च परिधाय लाजैः शुक्लाभिश्च गन्धवतीभिः सुमनोभिः  
उपाकिरेत् । तत्र प्रणीयोदयात्रं पवित्रं पूतमुपसंस्कृत्य सर्पि-  
राज्यार्थं यथोक्तवर्णानाजानेयादीन् समन्ततः स्थापयेत् ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—तत इत्यादि । तत ऋत्विक् जलपुवनानन्तरं याजकः । अगारस्य  
प्रागुत्तरस्यां पूर्वदिदिग्भागे क्रमेणावरायां दिशि प्राक्पुवनं पूर्वस्यां दिशि  
निम्नतयां जलं यथा पुवते तम्, उदक्पुवनम् उत्तरस्यां दिशि चोदकं पुवते यथा  
तं देशम् । तां वेदीं पश्चिमेन पश्चाद्देशे अहतवस्त्रसञ्चये नववस्त्राणि बहुलपटली-  
कृत्य आसनं रचयित्वा तत्र उपविशेत् । श्वेतार्षभे वा शुक्लवृषभस्य वाप्यजिने  
चर्मणि उपविशेत् । ब्राह्मणप्रयुक्त ऋत्विक् ब्राह्मणनियोगेन प्रवृत्त ऋत्विक् ।  
राजन्यप्रयुक्तस्तु क्षत्रियेण नियुक्तस्तु वैयाघ्रे व्याघ्रस्य चर्मणि आनडुहे  
वापेभे वा चर्मणि उपविशेत् । वैश्यप्रयुक्तस्तु वैश्येन पुत्रार्थं नियुक्तस्तु  
ऋत्विक् रौरवे हारिणे चर्मणि वास्ते च्छागे वा चर्मण्युपविशेत् ।  
तत्र यथोक्ते चर्मणि । अग्निमुपसमाधाय वेद्यामग्निं संस्थाप्य कुशैः  
परिस्तीर्य चतुर्दिक्षु कुशानास्तीर्य परिधिभिः पलाशादिशाखासमिद्धिः  
परिधाय इष्ट्वा लाजैरुपकिरेत् जुहुयात्, शुक्लाभिर्गन्धवतीभिः सुमनोभिः  
गुप्पैश्चोपाकिरेत् । ततस्तत्र होमस्थाने पवित्रं स्वभावतो विशुद्धं पूतं

चक्रपाणिः—स्थण्डिलं पूजनस्थानम् । वेदीं पिण्डिकाम् । तां पश्चिमेनेति वेदिकायाः पश्चिमे ।  
श्वेत आर्षभे अजिने श्वेतवृषभचर्मणीत्यर्थः । ब्राह्मणप्रयुक्त इति यदि ब्राह्मणेन पुष्टेष्टयं वा  
प्रयुक्तः स्यात्, तदा ऋत्विक् श्वेतवस्त्रसञ्चये श्वेतवृषभचर्मणि वा उपविशेत् । राजन्यप्रयुक्तस्तु

वर्णमिति चक्रः ।

ततः पुत्रकामा पश्चिमतोऽग्निं दक्षिणतो ब्राह्मणमुप-  
वेश्यान्बालभेत सह भर्ता यथेष्टं पुत्रमाशासाना । ततस्तस्या  
आशासानाया ऋत्विक् प्रजापतिमभिनिर्दिश्य योनौ तस्याः  
कामपरिपूरणार्थं काम्यामिष्टिं निर्व्वपेत्—विष्णुर्योनिं कल्पयतु  
इत्यनयर्चा । ततश्चैवाज्येन स्थालीपाकमभिसंसार्य्य  
त्रिर्जुहुयात् यथाम्नायं मन्त्रोपमन्त्रितमुदपात्रं तस्यै दद्यात् ।  
सर्व्वोदकार्यान् कुरुवेति । ततः समाप्ते कर्मणि पूर्व्वं  
दक्षिणपादमभिहरन्ती प्रदक्षिणमग्निमनु परिक्रामेत् । ततो  
ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयित्वा सह भर्ताऽज्यशेषं प्राश्नीयात् पूर्व्वं  
मन्त्रपूतमुदकपात्रं प्रणीय । आज्यार्थं होमार्हघृतमाज्यं तदर्थं, सर्पिः  
संस्कृत्य । यथोक्तवर्णान् आशासीत पुत्रवर्णीयवर्णयुक्तान् आजानेयादीन्  
पूर्व्वोक्तकुलीनाश्वादीन् समन्ततश्चतुर्दिक्षु वेद्याः स्थापयेत् ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—तत इत्यादि । ततः पुत्रकामा सह भर्ता यथेष्टं स्वाभिमतं  
पुत्रमाशासाना वाञ्छन्ती सती अग्निं पश्चिमतो दक्षिणतो ब्राह्मणम्  
उपवेश्यान्बालभेत प्रलाशादिशाखाभिरिष्टा लाजादिभिरुपकुरेत् । तस्याः  
पुत्रमाशासानायाः प्रजापतिमभिनिर्दिश्य ऋत्विक् तस्या एव नार्या योनौ  
काम्यामिष्टिं “विष्णुर्योनिं कल्पयतु” इत्यनयर्चा कामपूरणार्थं निर्व्व-  
पेत् । ततश्चानन्तरं स्थालीपाकं चरुम् आज्येन सर्पिषाभिसंसार्य्य  
मिश्रीकृत्य यथाम्नायं यथावेदं यस्या यद्वेदीययच्छाखा तस्यास्तद्वेदीय-  
तच्छाखोक्तमन्त्रोपमन्त्रितं प्राक्प्रणीतमुदकपात्रं तस्यै दद्यात् । किमर्थं दद्यात् ?  
सर्व्वोदकार्यान् अनेनोदकेन कुरुवेति ब्रुवंस्तस्यै दद्यादिति । तत इत्यादि ।

वेद्याद्वे चर्मण्युपविशेदिति शेषः । रुहंरिणविशेषः । परिधिभिरिति चतुर्भिः परलादावृहद्वृद्धैः ।  
परिधयेति वेष्टयित्वा परिहितान्येव । पूतं मन्त्रपूतम्, तद्योदपात्रविशेषणम् । उपसंस्कृत्येति  
तदुदपात्रमेव संस्कारमन्त्रैरुपसंस्कृत्य । सर्पिराज्यार्थमिति नवनीतं घृतार्थम् । किंवा सर्पिर्घृत-  
मेव, आज्यार्थमिति मन्त्रपूतघृतकरणार्थम् । ‘आज्य’शब्देन मन्त्राभिमन्त्रितं घृतमुच्यते ।  
पश्चिमतोऽग्निं दक्षिणतो ब्राह्मणमिति यथा पूर्व्वेणाग्निर्वामे च ब्राह्मणो भवति तथेत्यर्थः । अनु-  
लभेतेति ऋत्विक्प्रयुक्ता ऋत्विग्विधानमनुकुर्यादित्यर्थः । प्रजापतिमभिनिर्दिश्येति ब्राह्मणमभि-  
मन्त्र । योनौ कामपूरणार्थमग्नामिष्टिं निर्व्वपेदिति कुर्यात् । इष्टिर्योनिशोषिका । इष्टिसाधिका

पुमान् पश्चात् स्त्री । न चोच्छिष्टमवशेषयेत् । ततस्तौ सह संवसेताम् अप्टरात्रं तथाविधपरिच्छदावेव च स्यातां तथेष्टपुत्रं जनयेताम् ॥ ६ ॥

या तु स्त्री श्यामं लोहितानं व्यूहोरस्कं महाबाहुश्च पुत्रमाशासीत्, या वा कृष्णं कृष्णशृदुदीर्घकेशं शुक्लानं शुक्लदन्तं तैजस्विनमात्मवन्तम् । एष एवानयोरपि होमविधिः । किन्तु परिवर्हो वर्णवर्जं स्यात्, पुत्रवर्णानुरूपस्तु यथाशीरेव तयोः परिवर्होऽन्यः कार्यः स्यात् । द्विजेभ्यः शूद्रा तु नमस्कारमेव कुर्याद् देवगुरुतपस्विसिद्धेभ्यश्च । या या च यथाविधं पश्चात् स्त्री पूर्वं भर्ता उच्छिष्टं चक्षेपं न रक्षेदित्यर्थः । ततः परं तौ पुनरात्रौ सह संवसेतां संसर्गं कुर्याताम् । अप्टरात्रमष्टमाहम् आरभ्याष्टरात्रं पञ्चदशरात्रं यावदित्यर्थः । तथाविधपरिच्छदावेव उक्तप्रकारपरिच्छदावेव । तथेष्टपुत्रं तत्प्रकारमिष्टं पुत्रं जनयेतां न त्वन्यविधपरिच्छदौ स्त्रीपुरुषौ ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—नन्वन्यविधपुत्रमिच्छन्ती किमाचरन्ती जनयेदित्यत आह—या त्वित्यादि । व्यूहोरस्कं व्यूहं विपुलौजस्वदुरो वक्षो यस्य तं तथा । एवं तृतीयविधपुत्रान्तरप्रकारमाह—या वेत्यादि । श्यामकृष्णयोर्भेदस्तु श्वेतकृष्णयोर्मिश्रीभावे यद्रूपं तत् श्यामम् । कृष्णस्तु प्रसिद्धः । आत्मवन्तमित्यन्तस्य आशासीतेत्यनेन पूर्व्वेणान्वयः । अनयोरपि द्वयोः पुत्रविशेषाविच्छन्त्योरेष एवोक्तः शुक्लवर्णपुत्रकामाया एव होमविधिः कार्यः । ननु वर्णादिभेदः कुतः स्यादित्यत आह—किन्त्वित्यादि । वर्णवर्जं परिवर्हः परिच्छदः स्यात् यन्मन्थाद्याहारशुक्लवासोऽलङ्करणदिवर्जमस्याः पुत्रवर्णानुरूपः । श्यामं पुत्रमिच्छन्त्याः श्यामः, कृष्णं पुत्रमिच्छन्त्याः कृष्णः । यथाशीर्यथाकामं परिवर्हः पानाशनवसनभूषणगृहशयनासनादुत्पसेवनरूपः परिच्छदः कार्यः । शूद्रा त्वित्यनेनापकर्षवर्णां तूत्कर्षवर्णेभ्यो द्विजेभ्यो नमस्कारं कुर्यात् ।

अथानुक्ततावत्प्रकारपुत्रजननप्रकरणमाह—या या चेत्यादि ।

श्रृक् । पाकमिति चरुम् । अभिधार्येति मिश्रीकृत्य । यथाग्न्यायमिति यथावेदम् । किन्तु परिवर्हवर्जमिति परिवर्हः शयनासनपुष्पादिपरिच्छदः । तेन यथाविधा पुत्रेच्छा तथावर्णपरिवर्हः

पुत्रमाशासीत्, तस्यास्तस्यास्तां तां पुत्राशिपमनुनिशम्य तांस्तान् जनपदान् मनसानुपरिक्रामयेत् । ततो या या येषां जनपदानां मनुष्याणामनुरूपं पुत्रमाशासीत्, सा सा तेषां तेषां जनपदानां मनुष्याणामाहारविहारोपचारपरिच्छदाननुविधीयस्वेति वाच्या स्यात् । इत्येतत् सर्वं पुत्राशिपां समृद्धिकरं कर्म व्याख्यातं भवति ॥ १० ॥

न खलु केवलमेतदेव कर्म वर्णानां वैशेष्यकरम् ; अपि तु तेजोधातुरभ्युदकान्तरीक्षधातुप्रायोऽवदातवर्णकरो भवति ।

पुत्राशिपं पुत्रकामनाम् अनुपरिक्रामयेन्मनसा चिन्तयेत् । मनसाऽनुपरिक्रम्य विचिन्त्य या या नारी येषां येषां जनपदानां मनुष्याणामनुरूपं पुत्रमाशासीत् कामयेत्, सा सा तेषां तेषां जनपदानां मनुष्याणामाहारादीन् अनुविधीयस्व भो भो अनुकुरुष्वेति ऋत्विजा वाच्या स्यात् । छान्दसत्त्वात् कर्त्तरि तड्विकरणे । अथवा अनुविधाने द्विकर्मवत् । तत्रैकं कर्माहारविहारोपचारपरिच्छदानिति, द्वितीयं भो नारि पुत्रकामे लभिमिति । एतत् तु युष्मत्कर्त्तरि वाच्ये तड्विकरणे, कर्त्ता लमिहास्ति । तत्तज्जनपदीयादाराद्यनुविधाने नाय्याः स्वातन्त्र्यात् परन्तु लिङुपदेशेन हेतुना तदाहाराद्यनुविधानाचरणात् फलाश्रयकर्मकत्वं तत्तुल्यक्रियावत्त्वेन स्वातन्त्र्यात् तु कर्मकर्त्ता कर्मवत् । अन्तरधीयतेतिवत् । समृद्धिकरं पुत्रेच्छानां परिपूरणकरम् ॥ १० ॥

नन्वेताव्रतैव कर्मणा किं शुक्रश्यामकृष्णादिरूपवन्तः पुत्रा भवेयुस्त कारणान्तरमस्तीत्यत आह—न खल्वित्यादि । केवलमुक्तं यावत् कर्मवर्णवैशेष्यकरं न खलु भवति । अपि तु शुक्रादिवर्णवैशेष्ये उक्तकर्मवदन्यदपि कारणमस्ति तत् किमित्यत आह—तेजोधातुरपीत्यादि । तेजसो हि वर्णस्तस्मात् तेजोधातुर्वर्णकरो यथाप्यो रसो रसकरश्चाव्यातुरिति तत्र भूतान्तरयोगो वर्णस्य वैशेष्यकरो भवति, यथा—भूतान्तरयोगोऽव्यातोः

कर्त्तव्य इति वाक्यार्थः । श्रद्धाविधानमाह—श्रद्धा त्वित्यादि । नमस्कारमेव कुर्यादिति श्रद्धाया मन्त्रे होमे वानधिकारात् नमस्कारमात्रकरणम् ॥ ८—१० ॥

पृथिवीवायुधातुप्रायः कृष्णवर्णकरः, समसर्वधातुप्रायः श्याम-  
वर्णकरः ॥ ११ ॥

रसवैशेष्यकरः । यथापोऽव्यक्तरसास्तथा तेजोऽव्यक्तरूपं स्वरूपतः । ननु केन भूतेन सह योगे वर्णविशेषकर इत्यत आह—उदकेत्यादि । तेजोधातुः वर्णकरः स च तत्तदवयवारम्भकद्रव्यारम्भकः पाञ्चभौतिक एवाधुना वत्ते तेन तत्तदवयवारम्भकाले तत्प्रकृतिभूतद्रव्यगतस्तेजोधातुर्यदि उदकान्तरीक्ष-  
धातुप्रायो जलाकाशोभयधातुबहुलः पाञ्चभौतिको भवति, तदा अवदातवर्णकरः शुक्लवर्णकरः स्यात्, उदकं हि पाञ्चभौतिकं शुक्लमाकाशश्च विशदं, तदुभययोगेन अन्यतरत्वं तेजसोऽव्यक्तवर्णः श्वेतत्वेनाभिव्यज्यते । यथाव्धातोरव्यक्तरसो भूमियोगेन मधुरत्वेनाभिव्यज्यते । एवं स च तेजोधातुर्यदि पृथिवीवायुधातुप्रायः पृथिवीगुणवायुगुणबहुलः पाञ्चभौतिकः स्यात् तदा कृष्णवर्णकरः स्यात्, पृथिवी हि कृष्णवर्णा पाञ्चभौतिकी, पाञ्चभौतिकश्चाधुना वायुविशदोऽपि खरचलत्वेन भूतान्तरयोगात् कृष्णवर्णकरः, तद्द्वययोगेन तेजसोऽव्यक्तवर्णः कृष्णत्वेन अभिव्यज्यते । एवं षड्रसवत् द्वौ वर्णौ विज्ञेयेन भेदकभूतभिन्नौ भवतः । पुनस्तयोस्तारतम्येन रक्तपीतारुणादयो बहवो वर्णा भवन्ति । उक्तञ्च सुश्रुते—तत्र तेजोधातुः सर्ववर्णानां प्रभवः । स यदा गर्भोत्पत्तावधातुप्रायो भवति तदा गर्भं गौरं करोति, पृथिवीधातुप्रायः कृष्णम्, पृथिव्याकाश-  
धातुप्रायः कृष्णश्यामम्, तोयाकाशधातुप्रायो गौरश्यामम् । यादृग्वर्णम् आहारमुपसेवते गर्भिणी तादृग्वर्णप्रसवा भवतीत्येके भाषन्ते । तत्र दृष्टिभागमप्रतिपन्नं तेजो जात्यन्धं करोति । तदेव रक्तानुगतं रक्ताक्षं, पित्ता-  
नुगतं पिङ्गाक्षं, श्लेष्मानुगतं श्वेताक्षं, वातानुगतं विकृताक्षमिति । अत एव समसर्वधातुप्रायो यदि तेजोधातुर्भवति तदा श्यामवर्णकरः स्यात् । श्यामस्तु खलु तुल्यांगेन शुक्लकृष्णयोर्मिश्रीभावे सत्युपलभ्यते यो वर्णः, स एव द्विविधः सुश्रुते हुतः—कृष्णश्यामः गौरश्यामः । पृथिवी हि कृष्णा खन्तु विशदं शुक्लकरं, तयोर्द्वयोः संयोगे तेजसोऽव्यक्तवर्णः कृष्णाधिकश्यामत्वेन अभिव्यज्यते । तोयं शुक्लमाकाशश्च विशदं शुक्लकारणं तयोश्च द्वयोः संयोगे तेजसोऽव्यक्तवर्णो गौराधिकश्यामत्वेनाभिव्यज्यते इति तु तत्रकृतिनानेनाव-

चक्रपाणिः—वर्णविशेषकरं हेत्वन्तरमाह—न तु खल्वित्यादि । तेजोधातुः कृष्णवर्णे श्यामवर्णे

सत्त्ववैशेष्यकराणि पुनस्तैषां तैषां प्राणिनां मातापितृ-  
सत्त्वान्यन्तर्वर्त्तकाः श्रुतयश्च अभीक्ष्णं स्वोचितश्च कर्म सत्त्व-  
विशेषाभ्यासश्चेति । यथोक्तेन विधिनोपसंस्कृतशरीरयोः  
स्त्रीपुरुषयोस्तु मिश्रीभावमापन्नयोः शुक्रं शोणितेन सह  
समेत्याव्यापन्नमव्यापन्नेन योनावनुपहतायाम् अप्रदुष्टे गर्भाशये

दातव्य उच्यते । तथा च उदकैकधातुबहुलः पाञ्चभौतिकश्चेत् तेजोधातुस्तदा  
हरिद्राभगौरवर्णकरः स्यात्, आकाशबहुलस्तु पालाशाभहरितवर्णकरः स्यात् ।  
पृथिवीबहुलस्तु पक्वजम्बूपमकृष्णवर्णकरः स्यात्, वायुबहुलस्तु रुक्मकृष्णवर्णकरः  
स्यान्नीलवर्णकर इत्यर्थः । तदुभयबहुलस्तु कज्जलवर्णकरः स्यात् । पृथिव्या-  
काशबहुलस्तु कृष्णश्यामवर्णकरः स्यात् । एवं वर्णभेदा उन्नेयाः ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—ननु वर्णविशेष एवं भवतु सत्त्वविशेषस्तु किं तत्तत्कर्मणा  
स्यादित्यत आह—सत्त्वेत्यादि । तेषां तेषां प्राणिनां सत्त्ववैशेष्यकराणि  
पुनर्मातापितृसत्त्वानि गर्भारम्भकशुक्रशोणितसंसर्गकाले मातुः पितुश्च यद्गुण-  
बहुलं मनः स्यात् तद्गुणबहुलं तपोः पुत्रदुहित्रोर्मनः । अन्तर्वन्त्रा गर्भिण्याः  
अभीक्ष्णं सततं यादृशगुणबहुलगाथाख्यायिकापुराणवेदादिविषयाणां श्रुतयः  
श्रवणानि, स्वोचितश्च कर्म जन्मान्तरे स्वेनात्मना उचितं स्वक्रियया समवेतं  
यत् कर्म धर्माधर्मरूपम् । सत्त्वविशेषस्य शुद्धस्य राजसस्य तामसस्य वा  
तत्प्रभेदब्राह्म्यादिरूपेणाभ्यासः सततक्रियया । एतानि सत्त्ववैशेष्यकराणि  
तेषां तेषां प्राणिनां भवन्तीत्यर्थः ।

अथाव्यभिचारेणापत्यजन्महेतुमाह—यथोक्तेनेत्यादि । यथोक्तेन उक्त-  
रूपेण विधिना । मिश्रीभावं संसर्गं शुक्रमव्यापन्नं पुरुषस्य शुक्रमव्यापन्नेन  
स्त्रियाः शोणितेन समेत्य संयोगमेत्यानुपहतायां स्त्रिया योनौ चाप्रदुष्टे च

च वर्त्तते । वर्णविशेषहेतुमभिधाय सत्त्वभेदहेतुमाह—सत्त्वेत्यादि । मातापितृसत्त्वानीति माता-  
पित्रनुकारेण सत्त्वानि प्रायः प्रभावादेव भवन्ति । अन्तर्वन्त्री गर्भिणी । श्रुतयश्चाभीक्ष्णमिति  
यथा गर्भिणी गीतादि शृणोति, तथासत्त्वमपत्यं जनयति । स्वोचितञ्च कर्मेति गर्भेणोपाजितं कर्म  
स्वबलानुरूपं सत्त्वं जनयति । सत्त्वविशेषाभ्यासश्चेति यथाविधं सत्त्वं पुरुषोऽभ्यस्यति जन्मान्तरे,  
तत्सत्त्व एव जायते । वचनं हि—“जन्म जन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः । तेनैवाभ्यास-  
योगेन तच्चाप्यभ्यस्यते पुनः ॥” इति ।



गर्भं सभिनिवृत्तयत्येकान्तेन । यथा निर्ममले वाससि सुपरि-

स्त्रिया गर्भाशये गर्भमेकान्तेनाव्यभिचारेणाभिनिवृत्तयति जनयति । सुश्रुते-  
ऽप्युक्तम्—ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्याद् गर्भः स्याद् विधिपूर्वकः । ऋतुक्षेत्राम्बु-  
वीजानां सामग्रादङ्कुरो यथा ॥ इति । अत्र ऋतुर्वसन्तादिसमयः । क्षेत्रं कर्पित-  
भूखण्डम् । अम्बु वापिकादि जलम् । बीजं बीजमेव धान्यादिकम् । इति चतुर्णां  
समस्तानां नैकद्वित्रिसंख्यकानां, विधिपूर्वकसान्निध्यात् संयोगात् यथाङ्कुरो  
ध्रुवः स्यात्, तथा ऋतुः स्त्रिया आर्त्तवसमयः, क्षेत्रं गर्भाशयः, अम्बु पुनराहार-  
पाकजो व्यापी रसधातुजातः, स्त्रीपुंसयोरार्त्तवशुक्रं बीजं, बीजधर्मा मूक्षमदेही  
ह्यात्मा चेति चतुर्णां विधिपूर्वकं सान्निध्यात् यथोक्तेन विधिना संयोगाद्  
गर्भो ध्रुवं स्यादिति कश्चिद् व्याचष्टे, तदनेन विरोधान्न सम्यक् । ऋतुसमयं विना  
हि शोणितभावात् । आर्त्तवशोणितप्रभवस्थानं गर्भाशय एव ऋतुशब्देनोच्यते,  
क्षेत्रं योनिः अम्बु शोणितं शुक्रञ्च बीजं प्रागुक्तम् । एभ्यस्तु चतुर्भ्यो  
गर्भाभिनिवृत्तिरेव भवति । ततोऽभिष्टब्धस्तु मातुराहारपरिणामजरसेनाङ्कु-  
राभिनिवृत्तिरेनन्तरं परिपेकजलेनेव । तस्मादङ्कुरोत्पत्तिकाले यज्जलम्  
अभिषिक्तं कारणं भवति तद्वदार्त्तवं न तु मात्राहारजरस इति न तत्रयोर्विरोधः ।  
नन्वनैकान्तोऽत्र दृश्यते पुरुषस्य शुक्रं विनापि गर्भाभिनिवृत्तिः, उक्तञ्च सुश्रुते—  
यदा नार्यावुपेयातां वृषस्यन्त्यौ कथञ्चन । मुञ्चन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमनस्थि-  
स्तत्र जायते । इति । उच्यते, अत्र केनचित् न खलु शुक्रं विना, विना  
चार्त्तवं योनिञ्च, विना गर्भाशयं गर्भाभिनिवृत्तिः, अत एवाव्यापन्नशुक्रशोणित-  
योनिगर्भाशयसमुदायादवश्यं गर्भाभिनिवृत्तिर्भवति न तु गर्भस्यानिष्पत्ति-  
रेषामवर्गिकद्वित्रिहेतुतो यदि गर्भाभिनिवृत्तिस्तेन चानैकान्तिकत्वं  
कथमिति । अन्ये त्राहुरविकृतगर्भात्पत्तेरिदं हेतुचतुष्टयम् । स्त्रीद्वययोगे तु  
विकृतगर्भः, यतोऽभिहितमनस्थिस्तत्र जायत इति । वस्तुतस्तु अव्यापन्नशुक्र-  
शोणितयोनिगर्भाशयसमुदाय एवैकान्तेन गर्भाभिनिवृत्तिहेतुस्तत्र स्त्रीद्वययोगेऽपि  
शुक्रशोणितयोगोऽस्ति अन्यथा विना शुक्रयोगं गर्भः स्यात्, पुंशुक्रकार्यमस्थ्या-  
दिकमुक्तं स्त्रीशुक्रकार्यं नोक्तमप्युन्नेयमदहनलकास्थ्यादिकं न पुंशुक्रकार्यं  
तावत् तेनानस्थिस्तत्र जायत इति दृढास्थ्यादिहीनः कोमलास्थ्यादिमान्  
पुरुषो जायते । एतेन पुंशुक्रकार्यवचनेन स्त्रीशुक्रकार्यमपि तत् सर्वं

सम्प्रति गर्भोत्पत्तिक्रममाह— यथोक्तेनेत्यादि । यथोक्तेन विधिनेति पञ्चकस्मीदिना उक्तेनेति ।

कल्पिते रञ्जनं समुदितगुणमुपनिपातादेव रागमभिनिर्वर्त्तयति,  
तद्वत् । यथा वा क्षीरं दध्नाभिषुतमभिषवणाद् विहाय स्वभावम्  
आपद्यते दधिभावं, शुक्रं तद्वत् । एवमभिनिर्वर्त्तमानस्य गर्भस्य  
तु स्त्रीपुरुषत्वे हेतुः पूर्वमुक्तः ॥ १२ ॥

कोमलत्वेन भवतीत्युक्तं भूतम् । तत्रापि शुक्राधिक्ये पुमान् आर्त्तवाधिक्ये  
स्त्रीति व्याख्येयम् । यत् पुनरुक्तं—योषितोऽपि स्रवत्येव शुक्रं पुंसः  
समागमे । तत्र गर्भस्य किञ्चित् तु करोतीति न चिन्त्यते ॥ इति, तदनापेम् ।  
अवश्यं हि चिन्तनीयं स्त्रीशुक्रकार्यम्, अन्यथानस्थिकापत्यजन्मवचनं  
मुञ्चन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमिति वचनञ्च व्यर्थं स्यात् । स्त्रिया आर्त्तवपट्टत्तिमात्रा-  
दनस्थिकापत्यजन्मप्रसङ्गात् । शुक्रन्तु स्त्रिया वा पुंसो वा यदि न व्यापन्नं  
भवति, योनावदुष्टायामप्रदुष्टे च गर्भाशये शोणितेन संसर्गमेति, तदा तदेवादुष्ट-  
योनिगर्भाशयगतार्त्तवसंसृष्टं शुक्रं जीवोऽवश्यमवक्रामतीति । तत्र पुंसः  
शुक्रञ्चेत् तदा सर्व्वसम्पूर्णाङ्गो भवति गर्भः । स्त्रियाः शुक्रञ्चेत् तदा  
पुंसः शुक्रकार्यकेशश्मश्रुनखास्थिप्रभृतिदृढाङ्गहीनो भवति । यतः शुक्र-  
मात्रस्यैव कार्याणि केशादीनि तत्र पुंशुक्रकार्याणि दृढानि केशादीनि,  
स्त्रीशुक्रकार्याणि पुनर्मृदूनि नलकास्थ्यादीनि न दृढास्थ्यादीनि ।  
तेनानस्थिस्तत्र जायते इत्यत्रानस्थिरल्पकोमलास्थिरित्यर्थः । स्त्रियाः  
स्वपरान्यतरशुक्रं स्वशोणितसंसृष्टं जीवावक्रान्तौ हेतुः । सुश्रुते—ऋतुस्नाता  
तु या नारी स्वप्ने मैथुनमावहेत् । आर्त्तवं वायुरादाय कुक्षौ गर्भं करोति  
हि ॥ मासि मासि विवद्धत गर्भिण्या गर्भलक्षणम् । कलनं जायते तस्या  
वर्ज्जितं पैतृकैर्गुणैः ॥ इति दर्शनात् ; अत्र कलनं सिंघाणप्रख्यं, पैतृकैर्गुणैः  
केशादिभिः दृढैरङ्गैः । न तु कोमलास्थ्यादिभिर्वर्ज्जितम् ।

अथात्रैकान्तेन गर्भाभिनिर्वृत्तौ दृष्टान्तमाह—यथेत्यादि । रञ्जनं रागाधान-  
हेतुः संस्कारद्रव्यम् उपनिपातात् प्रक्षणात् समुदितगुणं रागमभिनिर्वर्त्तयति ।  
दृष्टान्तान्तरमाह—यथा वेत्यादि । दध्नाभिषुतं दध्ना सन्धानीकृतम्,  
तद्वत् शुक्रमित्यन्वयः । ननु शुक्रं किं शोणितेनाभिसन्धानीभूतं स्वभावं

रञ्जनं रागद्रव्यम् । दध्यभिषुतमिति दध्ना स्तोकमात्रेण मिश्रितम् । आपद्यते दधिभावमिति  
दधित्वमापद्यते । तद्वदिति यथा क्षीरं दधि भवति रञ्जनं रागो वा भवति तथा शुक्रं गर्भमभि-

यथा हि वीजमनुपतप्तमुप्तं. स्वां स्वां प्रकृतिमनुविधीयते  
व्रीहिर्वा व्रीहित्वं यवो वा यवत्वम्, तथा स्त्रीपुरुषावपि यथोक्तं  
हेतुविभागमनुविधीयेते । तयोः कर्मणा वेदोक्तेन विवर्त्तनम्

शुक्रत्वरूपं विहाय क्षीरस्याभिसन्धानदधिभाववत् स्वाभिसन्धानार्त्तवभावम्  
आपद्यते इति चेत् न, दध्नाभिपुतमित्यत्र दध्नेति पदं येन सन्धीयते यत्तद्व्यं  
सन्धानभावमापद्यते इति ख्यापनार्थं प्राधान्येनोपलक्षणान्न तु दधिमात्रं, तेन  
तत्क्राद्यम्लद्रव्येणाप्यभिपुतं क्षीरं स्वभावं विहाय तदुभयं दधिभावमेवापद्यते न तु  
तत्क्राद्यम्लद्रव्यभावं, तद्वदेव शुक्रं शोणिताभिपुतं तद्व्यं गर्भभावमापद्यते विहाय  
शुक्रभावमित्यर्थः । एवमभिनिर्वर्त्तमानस्येत्यादि । एवमुक्तप्रकारेणोत्पद्यमानस्य  
गर्भस्य सद्योगृहीतगर्भलक्षणं व्यक्तगर्भलक्षणञ्च पूर्वमुक्तम् । सुश्रुतेऽपि—  
तत्र सद्योगृहीतगर्भाया लिङ्गानि । श्रमो ग्लानिः पिपासा सक्थिसदनं  
शुक्रशोणितयोरवबन्धः स्फुरणञ्च योनेः । स्तनयोः कृष्णमुखता रोमराज्युद्गम-  
स्तथा । अक्षिपक्ष्माणि चाप्यस्याः संमील्यन्ते विशेषतः ॥ अकामतश्छद्वयति  
गन्धादुद्विजते शुभात् । प्रसेकः सदनञ्चापि गर्भिण्या लिङ्गमुच्यते ॥ तदा-  
प्रभृत्येव व्यायामं व्यायामपतर्पणमतिकर्षणं दिवास्वप्नं रात्रिजागरणं शोकं  
यानारोहणं भयमुत्कटुकासनञ्चैकान्ततः स्वेदादिक्रियां शोणितमोक्षणञ्चा-  
काले वेगविधारणञ्च न सेवेत । दोषाभिघातैर्गर्भिण्या यो यो भागः प्रपीड्यते ।  
स स भागः शिशोस्तस्य गर्भस्थस्य प्रपीड्यते ॥ इति । तथा, तथोक्तरूपेणाभि-  
निर्वर्त्तमानस्य गर्भस्य स्त्रीपुरुषत्वे हेतुः पूर्वमतुल्यगोत्रीये रक्तेन कन्यामधिकेन  
पुत्रं शुक्रेणेत्यनेनोक्तः ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—स च स्त्रीपुरुषत्वहेतुः कीदृशत्वेनोक्तः किमेकान्ततोऽप्रतिहननीय-  
त्वेन किं कारणान्तरेण प्रतिहननीयत्वेनेत्याशङ्क्याह—यथा हीत्यादि । अनु-  
विधीयते स्वस्वप्रकृत्यनुरूपेणाङ्क रभावमापद्यते । तद् विदुषोति—व्रीहिरित्यादि ।  
तथा स्त्रीपुरुषयोरपि स्त्रीत्वे हेतुः शोणिताधिक्यं पुरुषत्वे हेतुः शुक्राधिक्यं नपुंसकत्वे  
द्वयोः साम्यम् इति । यथोक्तं हेतुविभागं स्त्रीहेतुः शोणिताधिक्यं स्त्रीत्वमनुविधीयते ।

निर्वर्त्तयति । शुक्रं यथोक्तशुक्रमित्यर्थः । सम्प्रति स्त्रीपुरुषत्वे च रक्ताधिक्यं शुक्राधिक्यञ्च  
पूर्वोक्तं हेतुमन्त्र्य वैदिकं पुत्रजनकं विधानान्तरं वक्तुमाह—एवमित्यादि ॥ ११।१२ ॥

चक्रपाणिः—यथोक्तं हेतुविभागमनुविधीयत इति “रक्तेन कन्यामधिकेन पुत्रम् । शुक्रेण”

उपदिश्यते प्राग् व्यक्तीभावात् प्रयुक्तेन । सम्यक् कर्मणां हि देशकालसम्पदुपेतानां नियतमिष्टफलत्वं तथेतरेषामितरत्वम् । तस्मादापन्नगर्भां स्त्रियमभिसमीक्ष्य प्राग् व्यक्तीभावाद् गर्भस्य पुंसवनसौप्रथमस्यै दद्यात् ॥ १३ ॥

गोष्ठे जातस्य न्यग्रोधस्य प्रागुत्तराभ्यां शाखाभ्यां शुङ्गे अनुपहते आदाय द्वाभ्यां धान्यमाषाभ्यां सम्पदुपेताभ्यां गौर-

पुरुषहेतुः शुक्राधिक्यं पुरुषत्वमनुविधीयते । नपुंसकहेतुस्तयोः साम्यं नपुंसकत्वमनुविधीयते । तयोः स्त्रीपुरुषयोरार्चवरेतसोर्द्वौर्विवर्त्तनमन्यधात्वेन प्रवर्त्तनं शोणिताधिक्यमपि समशोणितशुक्रमपि च वीजं स्त्रीनपुंसकं न जनयित्वा वीजं पुत्रं जनयिष्यत्येकान्तेन इतिरूपप्रवर्त्तनं वेदोक्तेन कर्मणा उपदिश्यते । कदोपदिश्यते इत्यत आह—प्राग् व्यक्तीभावाद् इति । स्त्रीत्व-पुंस्त्व-नपुंसकत्व-चिह्नानां व्यक्तीभावात् पूर्वकालम्, सर्वम् अत्राक्त्रिमासात् प्रयुक्तेन कृत-प्रयोगेण वेदोक्तकर्मणा विवर्त्तनं तयोरुपदिश्यते । तयोरिति सप्रयोजनत्वेन स्त्रीनपुंसकवीजयोः पुंस्त्वरूपेण विवर्त्तनं कर्त्तव्यं, न तु स्त्रीवस्य स्त्रीरूपस्य वा हेतुविवर्त्तनमिष्यते । ननु कुतो हेतुं विवर्त्तयति कर्मणेत्यत आह—सम्यगित्यादि । तथेतरेषामिति असम्यक्कर्मणामदेशे चाकाले च असम्पदुपेतानामितरत्वम् अनिष्टफलत्वमित्यर्थः । तस्मादापन्नगर्भां गर्भमापन्नाम् अभिसमीक्ष्य गर्भस्य लिङ्गव्यक्तीभावात् पूर्वं तृतीयमासं यावत्, अस्यै गर्भमापन्नायै पुंसवनं पुमांसं स्रूयतेऽनेनेति पुंसवनमौषधं दद्यात् ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—ननु किं पुंसवनं तदाह—गोष्ठे जातस्येत्यादि । न्यग्रोधस्य वटस्य पूर्वस्थशाखाया एकां शुङ्गामुत्तरस्थशाखायाश्चैकामिति शुङ्गे द्वे अनुपहते इत्यादिग्रन्थोक्तविभागं स्त्रीपुरुषजनकमनुविधीयते । वेदोक्तेनायुर्वेदोक्तेन । प्राग् व्यक्तीभावादिति यावत् स्त्रीत्वं पुंस्त्वं वा गर्भस्य व्यक्तं भवति तावदेव, तद् वक्ष्यमाणं कर्म लिङ्गपरिवृत्तिकरं भवति । व्यक्तिस्तु द्वितीयमासे भवति । यदुक्तम्—“द्वितीये मासे घनः सम्पद्यते,” इति । किंवा तृतीये मासे अङ्गप्रत्यङ्गाभिव्यक्तीभावो ज्ञेयः । द्वितीये तु मासे ग्रन्थ्यादिरूपगर्भप्रत्यङ्गव्यक्तीभावो न वक्तव्यः । तेन वक्ष्यमाणं कर्म मासद्वयं यावत् कर्त्तव्यम् । प्रयुक्तेनेति पूर्वेण सम्बध्यते । नियतं निश्चितम् । तथेतरेषामितरत्वमिति देशकालविगुणानामनिष्टकारणत्वाद्भिन्नचेयमित्यर्थः । पुंसवनमिति पुंस्त्व-कारकं कर्म । गोष्ठो गयां विश्रामस्थानम् । अतः स्थानादिविशेषपरिग्रह एव फलदो भवतीति

सर्षपाभ्यां वा सह दधि प्रक्षिप्य पुण्ये ऋक्षे पिवेत् । तथैव  
 अपरान् जीवकर्षभकापामार्गसहचरकल्कांश्च युगपदेकैकशो  
 यथेष्टं वाप्युपसंस्कृत्य पयसा, कुड्यकीटकं मत्स्यकञ्च ॐ  
 उदकाञ्जलौ प्रक्षिप्य पुण्येण पिवेत् । तथा कनकमयान्  
 राजतानायसांश्च पुरुषकान्निवर्णान् अणुप्रमाणान् दध्नि पयसि  
 उदकाञ्जलौ वा प्रक्षिप्य पिवेदनवशेषतः पुण्येण । पुण्येणैव  
 च पिष्टस्य पच्यमानस्योष्माणमुपघ्राय तस्यैव च पिष्टस्योदक-  
 संसृष्टस्य रसं देहलीमुपनिधाय दक्षिणे नासापुटे स्वयमासिञ्चेत्  
 अभग्ने आदाय द्वाभ्यां धान्यमापाभ्यां शमीधान्यरूपमापाभ्यां सम्पदुपेताभ्याम्  
 अक्षुण्णाभ्यां गौरसर्षपाभ्यां सम्पदुपेताभ्यां द्वाभ्यां श्वेतसर्षपाभ्यां वा सह  
 दधि प्रक्षिप्य पुण्ये नक्षत्रे पिवेत् । इत्येको योगः । तथापरान् जीवकर्षभादीन्  
 चतुरो युगपत् मिलित्वा एकः, एकैकशो वा चत्वारः । यथेष्टं वा अन्यतम-  
 द्वयेन षड् वा योगा इति । तथान्यतमत्रयेण चत्वार इति दश पञ्च  
 योगानपरान् पयसोपसंस्कृत्य किञ्चित् पक्त्वा पुण्येण पिवेत् । तथा  
 कुड्यकीटकं बल्मीनामकीटं उदकाञ्जलौ प्रक्षिप्य पुण्येण पिवेत् । तथा  
 मत्स्यकं क्षुद्रमत्स्यकमेकमुदकाञ्जलौ प्रक्षिप्य पुण्येण पिवेत् । तथा  
 कनकमयान् स्वर्णनिर्मितान् राजतान् रौप्यनिर्मितान् आयसान् लौहनिर्मि-  
 तान् वा पुरुषकान् पुरुषमूर्त्तियुक्तान् अणुप्रमाणान् भक्षणयोग्यसूक्ष्मपरिमाणान्  
 अग्निवर्णान् अथौ दग्ध्वा अग्निवर्णान् कृत्वा दधि गव्ये पयसि दुग्धे गव्ये निर्वर्ण-  
 पितान् उदकाञ्जलौ वा प्रक्षिप्य पुण्येण अनवशेषतो निःशेषेण पिवेत् । अथवा  
 पुण्येणैव च नक्षत्रेण पिष्टस्य पिष्टकविशेषस्य उष्माणम् औष्ण्यमुपघ्राय घ्रात्वा  
 तस्योष्णपिष्टस्य जलसेकेन जलसंसृष्टस्य रसं तदीयजलं देहल्यां निधाय  
 ध्वजनाडुनीयते, नात्र तादृशा युक्तयः प्रभवन्ति । 'धान्यमाप'शब्देन ग्रीहिमापं ग्राहयन्ति,  
 सुवर्णमापञ्च व्यावर्त्तयन्ति । गौरसर्षपः श्वेतसर्षपः । पुण्येणेति पुण्यानक्षत्रेण । यथेष्टमित्यनेन  
 द्विशस्त्रिशो वा पिवेदित्यपि दर्शयति । कुड्यकीटः 'कवडिगणा' इति ख्यातः । किंवा ज्येष्ठी कुड्य-  
 कीटः । जतूकर्णेऽप्यत्र 'भित्तिमत्स्यः' इति पठ्यते । भित्तिमत्स्यशब्देन च पाश्चात्ये 'ज्येष्ठी'  
 उच्यते । मत्स्यकोद्गः मत्स्यहा मत्स्यकेति ख्यातः । देहली गृहद्वाराधिकाण्डम्, तन्त्रोपरि

पिचुना । इति पुंसवनानि । यच्चान्यदपि ब्राह्मणा ब्रूयु-  
रात् वा पुंसवनमिष्टं, तच्चानुष्ठेयम् ॥ १४ ॥

अत ऊर्द्धं गर्भस्थापनानि व्याख्यास्यामः । ऐन्द्री ब्राह्मी  
शतवीर्या सहस्रवीर्यामोघाव्यथा शिवा वलारिष्टा वाव्यपुष्पी

प्राङ्गणस्य समीपे निधाय तां देहलीमुपनिधाय गृहीत्वा दक्षिणे नासापुटे  
छिद्रे पिचुना तूलकवर्त्या गर्भिणी नारी स्वयमासिञ्चेन्न त्वन्योऽन्येनेति ।  
अन्यान्यपि पुंसवनान्यनुमन्तुमाह—यच्चान्यदपीत्यादि । सुश्रुतेऽप्युक्तं—  
लब्धगर्भायाश्चैतेष्वहःसु लक्षणावटशुक्लासहदेवाविश्वदेवानामन्यतम क्षीरेणाभिपुत्य  
त्रीश्वतुरो वा विन्दून् दद्याद् दक्षिणे नासापुटे पुत्रकामायै न च  
तान् निष्टीवेत् इति । अत्र लक्षणालक्षणन्तु—पुत्रकाकाररक्ताल्प-विन्दुभिः  
लाञ्छितच्छदा । लक्षणा पुत्रजननी वस्तगन्धाकृतिर्भवेत् ॥ ताश्च शरत्काले  
पुष्पफलोपेतां दृष्ट्वा शनिवारसन्ध्यायां तस्याश्चतुर्भागेषु खदिरकीलकं निखाय  
अपरेदुर्द्धि मूलपुष्पयोगं गते दिवाकरे मन्त्रञ्च जपित्वा समानवर्णवस्त्राया गोः  
क्षीरेण यथाविधि नस्यं दद्यात् । वटशुद्धो वटप्ररोहः । सहदेवा वलामेदः  
पीतपुष्पा काश्चरोति लोके । विश्वदेवा गाङ्गेरुकी गुडशर्करेति लोके, अन्ये  
सितपुष्पां वलामाहुः । अभिपुत्य क्षीरेण सन्धानीकृत्य न तान् निष्टीवेदिति न  
युत्कुर्यात् । चकारादलब्धगर्भायाः सर्व्वेपामेव लक्षणादीनां नस्यदानं  
सहस्राभिहुतं गर्भग्रहणाय पश्चाद् ग्राम्यधर्मसेवनमिति । तदुक्तं तन्त्रान्तरे ।  
पूर्व्वमौषधं सहस्राभिहुतं कृतमङ्गलदेशे गोः क्षीरेण पेययित्वा तस्मात् त्रीन् विन्दून्  
दक्षिणे नासापुटे दद्यात् न निष्टीवेत् तान् कण्ठप्राप्तान् । सायञ्च दिनानि  
पयसौदनम् अश्नीयात् तदूर्द्धं ग्राम्यधर्मसेवनमिति ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—अत ऊर्द्धं मित्यादि । ऐन्द्री गोरक्षककटी, ब्राह्मी ब्राह्मणयष्टी,  
शतवीर्या सहस्रवीर्या श्वेतकृष्णदलभेदेन दूर्वाद्वयम्, अमोघा पाटला, अव्यथा

वेधाय शिर इति शेषः । किंवा आत्मानमेव देहल्यामुपरि विधायेति मन्तव्यम् । यदुक्तं  
ऋतुकर्णे—“देहल्यामासीना” इति ॥ १३।१४ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति स्थितस्य गर्भस्य गर्भोपघातकप्रभावखण्डकत्वेन यत् पुनः स्थितिकारकम्,  
तद् गर्भस्थापनमुच्यते, अत ऊर्द्धं मित्यादिना । ऐन्द्री गोरक्षककटी । शतवीर्यासहस्रवीर्या

विश्वक्सेनकान्ता च, आसामोषधीनां शिरसि दक्षिणेन पाणिना धारणम्, एताभिश्चैव सिद्धस्य पयसः सर्पिपो वा पानम्, एताभिश्चैव पुण्ये पुण्ये स्नानम्, सदा चैताभिः समालभेत । तथा सर्वासां जीवनीयोक्तानामोषधीनां सदोपयोगस्तैस्तेरुपयोगविधिभिः । इति गर्भस्थापनानि व्याख्यातानि भवन्ति ॥ १५ ॥

गर्भोपघातकरारित्वमे भावा भवन्ति । तद् यथा उत्कट-  
विषमस्थानकठिनासनसेविन्याः, वातमूत्रपुरीषदेगान् उपरुन्धत्याः,  
दारुणानुचितव्यायामसेविन्याः, तीक्ष्णोष्णातिमात्रसेविन्याः,

गुडूची, शिवा हरीतकी, अरिष्टा कटुकी, वाय्वपुष्पी पीतवला, विश्वक्सेनकान्ता शतमूली ; आसामोषधीनां धारणं शिरसि दक्षिणेन पाणिना कार्यं गर्भिण्या । एताभिरैन्द्रादिभिरोषधीभिः पयसोऽष्टमांशाभिः कल्करूपाभिः पयसोऽपि चतुर्गुणेन जलेन पयोऽवशेषः पाकस्तस्य पयसः पानम् । तथा चैताभिर्मिलिताभिरैन्द्रादिभिरोषधीभिर्घृतात् पादांशाभिः कल्करूपाभिर्घृताच्चतुर्गुणजलेन च पकस्य सर्पिपो वा पानम् । पुण्ये पुण्ये प्रतिपुण्यानक्षत्रे एताभिरैन्द्रादिभिः शृतजलेन स्नानम् । सदा च प्रत्यहञ्चैताभिरैन्द्रादिभिरोषधीभिः समालभेत उद्वर्त्तनं कुर्यात् । तथा सर्वासां दशानामेव, न न्यूनानां, जीवनीयोक्तानाम् । तैस्तैर्दक्षिणेन पाणिना शिरसा धारणं, ताभिः सिद्धस्य पयसः सर्पिपो वा पानम्, पुण्ये पुण्ये च ताभिः सिद्धजलेन स्नानम्, प्रत्यहञ्च जीवनीयैरुद्वर्त्तनमित्येतैर्विधिभिः । इति गर्भस्य स्थापनानि ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—गर्भोपघातकरास्त्रित्यादि । दारुणो व्यायामोऽतिधावनादिः । अनुचितो व्यायामोऽनभ्यस्तव्यायामः । तीक्ष्णस्य मरिचविषजयपालादेः । उष्णस्य वीर्यतो गुडूच्यर्कादेः, स्पर्शतो वह्नादेः, अतिसेविन्याः । अल्पाल्पसेवनस्तु

प्रमिताशनसेविन्या गर्भो म्रियतैऽन्तः कुक्षेः, अकाले वा स्रंसते शोषी वा भवति । तथाभिघातप्रपीडनैः श्वभ्रकूपप्रपात-  
देशावलोकनैर्वा अभीक्ष्णं मातुः प्रपतत्यकाले, तथातिमात्र-  
संज्ञोभिभिर्यानैरप्रियातिमात्रश्रवणैर्वा । प्रततोत्तानशायिन्याः  
पुनर्गर्भस्य नाभ्याश्रया नाडी कण्ठमनुवेष्टयति । विवृत-  
शायिनी नक्तञ्चारिणी चोन्मत्तं जनयति, अपस्मारिणं पुनः  
कलिकलहाचारशीला, व्यवायशीला दुर्व्वपुषम् अह्नीकं स्त्रैणं वा,  
शोकनित्या भीतमपचितमांसमल्पायुषं वा, अभिध्यात्री परोप-  
तापिनमीप्यु स्त्रैणं वा, स्तेना त्वायासबहुलमतिद्रोहिणमकर्म-

प्रमिताशनमत्यल्पमिताशनम् । कुक्षेर्गर्भाशयस्यान्तर्मध्ये म्रियते । स्रंसतेऽथस्तात्  
पतति । शोषी शुष्करूपो वा भवति । अभिघातोऽभिहननं दण्डादिभिः,  
प्रपीडनम् उपमर्दनादिकम् । श्वभ्रदेशः गर्तयुक्तदेशस्तत्रापि अतिगर्त्तत्वात् कूपरूपो  
देशः । प्रपातदेशः प्रपतत्यस्मादिति पर्व्वतादुग्रच्वदेशः । तेषां मातुरभीक्ष्णम्  
आलोकनेनैवाकाले गर्भः प्रपतति । अतिमात्रसंज्ञोभिभिरतिमात्रगत्रचालन-  
करैर्यानैः, अप्रियाणां शब्दानामतिमात्रश्रवणैः प्रपतत्यकाले इत्यन्वयः ।  
प्रततं निरन्तरमुत्तानशायिन्याः पुनर्गर्भस्य नाभ्याश्रया नाडी गर्भस्य कण्ठमनु-  
वेष्टयति । विवृतशायिनी हस्तपादौ सर्व्वान्श्च विस्तीर्य्य शयनशीला, नक्तं  
रात्रौ चारिणी, कलिर्वाचा कलहः, कलहः शरीरेण कलहस्तौ शीलयति सततं  
करोति या सा कलिकलहशीला अपस्मारिणं जनयति । व्यवायशीला  
प्रायेण गर्भवती व्यवायं शीलयति या सा दुर्व्वपुषं दुर्निन्दितदेहमपत्यं जनयति  
अह्नीकमलज्जं स्त्रैणं स्त्रीवशं वा । शोकनित्या शोकः सततो यस्याः सा  
भीतमपत्यमपचितमांसं कृशमपत्यं वाल्पायुषमपत्यं वा जनयतीत्यन्वयः ।  
अभिध्यात्री परस्वविषयं सततं वाञ्छन्ती । स्तेना चौर्य्यशीला गर्भवती ।

चक्रपाणिः—वालस्याचिरजातस्यापि 'गर्भ'व्यपदेशो भवतीति । तेन कुक्षेर्वहिरपि मरणसम्भवे  
'अन्तः कुक्षेः' इति विशेषणमुपपन्नम् । प्रततोत्तानशायिनी उत्तानशयनशीला । विवृते अनावृते,  
विवृते तु शायिनी तथा नक्तञ्चारिणी च रक्षःप्रभृतिसूताभिगमनीया भवति । ततश्च मूतैरभिभूतो गर्भ  
उन्मत्तो भवतीति युक्तम् । कलिर्वाचा, कलहस्तु शारीरकलहः । स्त्रैणं स्त्रीवशम् । अभिध्यात्री मनसा



शीलं वा, अमर्षिणी चण्डमौपाधिकमसूयकं वा, स्वप्ननित्या तन्द्रालुमबुधमल्पाग्निं वा, मद्यनित्या पिपासालुमनवस्थितचित्तं वा, गोधामांसप्रिया शार्करिणम् आशमरिलं शनैर्मेहिणं वा । वराहमांसप्राया रक्ताक्षं क्रथनमतिपरुषोमाणं वा, मत्स्यमांसनित्या चिरनिमिषं स्तब्धाक्षं वा, मधुरनित्या प्रमेहिणं सूकमतिस्थूलं वा । अम्लनित्या रक्तपित्तित्तं त्वगक्षिरोगिणं वा, लवणनित्या शीघ्रवलिपलितखालित्यरोगिणं वा, कटुकनित्या दुर्बलमल्पशुक्रमनपत्यं वा, तिक्तनित्या शोषिणमवलमपचित्तं वा, कषायनित्या श्यावम् आनाहिनमुदावर्त्तिनं वा । यद् यच्च यस्य यस्य व्याधेर्निमित्तमुक्तं तत् तदासेवमानान्तर्बली तन्निमित्तविकारबहुलमेवापत्यमुपजनयति । पितृजास्तु शुक्रदोषा अमर्षिणी क्रोधशीला । चण्डं क्रोधशीलम् । औपाधिकमुपाधिच्छन्नचरणं तेन व्यवहरतीत्यौपाधिकं छन्नचारिणम्, स्वप्ननित्या सततनिद्राशीला तन्द्रालुं तन्द्रायुतम्, मद्यनित्या सततमद्यपा अनवस्थितचित्तं चञ्चलचित्तम् । गोधा स्वर्णगोधिका । शार्करिणं शर्कराख्यरोगयुक्तम् आशमरिलमश्मरीरोगयुक्तं, वराहमांसप्राया प्रायेण वराहमांसाशना, क्रथनं क्रथयति अकस्मादुच्छ्वासरोधं करोति तं तथा, मत्स्यमांसनित्या मत्स्यनित्या मांसनित्या वा मत्स्यमांसोभयनित्या वा चिरनिमिषं चिरेण निमेषक्षेपो यस्य तं तथा, स्तब्धाक्षमतिचिरनिमिषम्, त्वगक्षिरोगिणं त्वगक्षिणमक्षिरोगिणं वा, खालित्यमिन्द्रलुप्तं टाक् इति लोके । अपचित्तं कृशम् । श्यावं धूम्रवर्णम् । आनाहिनं पुरीषबन्धकोष्ठम् । अनुक्तमुपसंहरन्नाह—यच्चेत्यादि । अन्तर्बली गर्भिणी । ननु मातुरेवाहाराचारनिमित्तं किं गर्भस्योपहननं न पितुरित्यत आह—

द्रोहणशीला । औपाधिकं शास्त्रप्रचारिणम् । क्रथनमकस्मादुच्छ्वासाचरोधम् । मधुरनित्येति गर्भिणीविहितं क्षीरं विहायान्यमधुराण्यनुसेविनी बोद्धव्या, क्षीरस्य विहितत्वेन प्राशस्त्यम् । तत्र सालयानामपि रसानामत्यर्थोपयोगे दोषमभिधाय यत् पुनर्मद्यादीनामत्यर्थसेवने पृथग् दोषं ब्रूते, तत् प्रभावस्य दोषविशेषाभिधानार्थमिति ज्ञेयम् । यद्वस्तुसेवया ये च विकारा गर्भस्योचितनिद्राना दृश्यन्ते, ते तावदचित्तोत्पादा एव । यथा—निद्रातिसेवया तन्द्रालुः, अम्लेन

मातृजैरपचारैर्व्याख्याताः । इति गर्भोपघातकरा भावा  
व्याख्याताः ॥ १६ ॥

तस्मादहितानाहारविहारान् प्रजासम्पदमिच्छन्ती विशेषेण  
वर्जयेत् । साध्वाचारा चात्मानमुपचरेद्धिताभ्यामाहारविहा-  
राभ्यामिति ॥ १७ ॥

पितृजास्त्वित्यादि । शुक्रदोषा इत्यनेन यावत् पितुरपचारः शुक्रं न दूषयति,  
तावदपचारो न गर्भोपघातायोपपद्यते इति ख्यापितम् । मातृजैः अपचारैरुक्तैर्यौ  
मातुरपचारैर्गर्भोपघातः पितुरपि तैरपचारैर्दुष्टशुक्रं यं गर्भमारभते स गर्भं  
उपहन्यते इत्यर्थः ॥ १६ ॥

गङ्गाधर—तस्मादिति । गर्भोपघातात् । अहितान् उक्तानाहारविहारान्  
अपरांश्च तन्त्रान्तरोक्तान् पुरुषो विशेषेण स्त्री च वर्जयेत् । साध्वाचारा चेति—  
गर्भिणी प्रथममासात् प्रभृति साध्वाचारा च मङ्गलशान्तिदेवताब्राह्मणगुरुपरा  
नित्यं प्रहृष्टा शुचिरलङ्घ्यता शुक्रवसना च सती हिताभ्यामाहारविहाराभ्याम्  
आत्मानमुपचरेदिति । सुश्रुतेऽप्युक्तं—गर्भिणी प्रथमदिवसात् प्रभृति नित्यं  
प्रहृष्टा शुच्यलङ्घ्यता शुक्रवसना शान्तिमङ्गलदेवताब्राह्मणगुरुपरा च भवेत् ।  
मलिनविकृतहीनगात्राणि न स्पृशेत् । दुर्गन्धदुर्दृशानि परिहरेद्द्वेजनीयाश्च  
क्रथाः । शुष्कं पथ्युपितं कुथितं क्लिन्नश्चान्नं नोपभुञ्जीत । वह्निर्निष्क्रमणं  
शून्यागारं चैत्यश्मशानवृक्षाश्रयान् क्रोधभयसङ्करांश्च भावानुच्चैर्भाष्यादिकं  
परिहरेत्, यानि च गर्भं व्यापादयन्ति । न चाभीक्ष्णं तैलाभ्यङ्गोत्सादनादीनि  
निषेवेत् । न चायासयेच्छरीरं, पूर्वोक्तानि च परिहरेत् । शयनासनं  
मृदास्तरणं नात्युच्चमपाश्रयोपेतमसम्बन्धं विदध्यात् । हृद्यं द्रवं मधुरप्र-  
म्लिग्धं दीपनीयं संस्कृतञ्च भोजनञ्च भोजयेत् । सामान्यमेतत् आपसवात् ।

रक्तपित्तादियुक्त इत्यादि । ये तु हेतुसदृशविकारा गर्भस्य दृश्यन्ते, यथा गोमांसेन शर्कराश्मरीत्यादि,  
तेऽपि द्रव्यप्रभावादेव ज्ञेयाः । यद्यपि गर्भग्रहणात् प्रागपि स्त्रियपि अपथ्यसेवात्तवदुष्टद्वारा  
गर्भे विकारं जनयति, तथा पुरुषस्यापथ्यसेवाशुक्रदुष्टद्वारा गर्भे दुष्टं जनयतीति ह्येव “पितृ-  
जास्तु” इत्यादिना अन्ये वक्तव्यम्, तथापि गृहीतगर्भाया एव स्त्रिया अपचाराविशेषेणाव्यवधानाद्  
गर्भेऽदृष्टिकरा भवन्तीति कृत्वा तत् तदासेवमानन्तर्वर्तीत्याहुः । मातृजैरपचारैर्व्याख्याता इति  
मातुरपचारानुरूपं गर्भव्याधयो भवन्ति, एवं पितुरपि व्यवयात् प्रागपचारेणेह शुक्रदुष्टपचारानु-

व्याधींश्चास्या मृदुमधुरशिशिरसुखसुकुमारप्रायैरौषधा-  
हारोपचारैरुपचरेत् । न चास्या वमनविरेचनशिरोविरेचनानि  
प्रयोजयेत्, न रक्तमवसेचयेत्, सर्वकालञ्च नास्थापनमनु-  
वासनं वा कुर्यादन्यत्रात्ययिकाद् व्याधेः । अष्टमं मासमुपादाय  
वमनादिसाध्येषु पुनर्विकारेष्वात्ययिकेषु मृदुभिर्वमनादिभिः तदनु-

विशेषतस्तु गर्भिणी प्रथमद्वितीयतृतीयमासेषु मधुरशीतद्रवप्रायमाहारमुपसेवेत् ।  
विशेषतस्तु तृतीये पष्टिकौदनं पयसा भोजयेत् । चतुर्थे दध्ना, पञ्चमे पयसा,  
षष्ठे सपिपा चेत्येके । चतुर्थे पयोनवनीतसंस्पृष्टमाहारयेज्जाङ्गलमांससहितं  
हृद्यमन्नं भोजयेत् । पञ्चमे क्षीरसर्पिःसंस्पृष्टं, षष्ठे श्वदंष्ट्रासिद्धस्य सर्पिणो मात्रां  
पाययेद् यवागूं वा । सप्तमे सर्पिः पृथक्पण्यादिसिद्धम् । एवमाध्याय्यते गर्भः ।  
अष्टमे वदरोदकेन वलातिवलाशतपुष्पापललपयोदधिमस्तुतैललवणमदनफल-  
मधुघृतमिश्रेणास्थापयेत्, पुराणपुरीषशुद्धार्थम् अनुलोमनार्थञ्च वायोः । ततः  
पयोमधुरकपायसिद्धेन तैलेनानुवासयेदनुलोमे हि वायौ सुखं प्रसूयते निरुपद्रवा  
च भवति । अत ऊर्ध्वं स्निग्धाभिर्यवागूभिर्जाङ्गलरसैश्चोपक्रमेत् आप्रसवकालात् ।  
एवमुपक्रान्ता स्निग्धा बलवती सुखमनुपद्रवा प्रसूयते इति ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—अथास्या गर्भिण्या ज्वरादीनामुपक्रममाह—व्याधींश्चास्या  
इत्यादि । सुकुमारं क्लेशजनकवर्जं मृदादयः प्राया बहुला यत्र तैस्तथा । तथा हि  
ज्वरादीनां व्याधीनां स्वस्वाधिकारे वक्ष्यमाणा ये त्रौषधाहारोपचारास्तेषु मध्ये  
ये त्रौषधाहारोपचारा मृदुमधुरशिशिरसुखसुकुमारप्रायास्तैज्वराधिकारोक्तैरस्याः  
गर्भिण्या ज्वरमुपचरेत् रक्तपित्ताधिकारोक्तै रक्तपित्तमित्येवं यथास्वाधि-  
कारोक्तैर्मृदाद्यौषधाहारोपचारैरस्याः सर्वान् व्याधीनुपचरेदित्यर्थः । न  
चेत्यादि स्पष्टम् । न रक्तमित्याद्यपि स्पष्टम् । अन्यत्रेति अष्टममासादिषु  
विधेयतया वक्ष्यमाणादन्यत्र । अष्टमं मासमित्यादि । यदि चाष्टमादिमासेषु  
वमनादिकं विना न साध्यव्याधिप्रशमस्तदा आशुप्रतिकारार्थं वमनादिकं न विधे-  
यम् । यदि चात्ययिकश्च व्याधिः स्याद्वमनादिभिरेव साध्यो न तु शमनादिभिः

रूपा व्याधयो भवन्तीत्यर्थः । 'स्त्री विशेषेण' इत्यनेन पुरुषोऽपि वर्जयेदिति दर्शयति । साध्या-  
चारेति मङ्गलाचारशीला ॥ १६।१७ ॥

चक्रपाणिः—मृदुभिर्वमनादिभिरिति मृदुद्रव्यगतैरल्पमात्रैश्च वमनादिभिरित्यर्थः । तदथ-

कारिभिर्वोपचारः स्यात् । पूर्णमिव तैलपात्रमसंक्षोभयित्वान्त-  
र्द्वली भवत्युपचर्या ॥ १८ ॥

सा चेद्वचाराद् द्वयोस्त्रिषु वा मासेषु पुण्यं पश्येन्नास्या गर्भः  
तदा सहले मृदुभिर्वमनादिरुपचारः । असहले तु वमनाद्यनुकारिभिर्निष्ठीवन-  
कवडादिरुपचारः स्यादित्यर्थः । कस्माद् एवमुपचार इत्यत आह—पूर्ण-  
मिवेत्यादि । यथा पूर्णं तैलपात्रम् असंक्षोभयित्वा उपचर्यं तथान्तर्द्वली स्त्री  
असंक्षोभयित्वा उपचर्या भवति । संपूर्वकलेऽपि नवपूर्वकलात् न तत्रो ल्यप्  
इति असंक्षोभयित्वेति पदं साधु । सुश्रुतेऽप्युक्तम् । अथ गर्भिणीं व्याधुत्पत्ताव-  
त्यये लईयेत् । मधुराम्लेनान्नोपहितेनानुलोमयेच्च । संशमनीयश्च मृदु विदध्यात् ।  
अन्नपानयोरश्रीयाच्च मृदुवीर्यं मधुरमायं गर्भाविरुद्धश्च । गर्भाविरुद्धाश्च क्रिया  
यथायोगं विदधीत मृदुमायाः । भवन्ति चात्र । सौवर्णं सुकृतं चूर्णं कुष्ठं मधु  
घृतं वचा । मत्स्याक्षकः शङ्खपुष्पी मधुसर्पिः सकाञ्चनम् ॥ अर्कपुष्पी मधु घृतं  
चूर्णितं कनकं वचा । हेमचूर्णानि कैटयः श्वेता दूर्वा घृतं मधु । चत्वारोऽभि-  
हिताः प्राशाः श्लोकाद्रेषु चतुर्वर्षि । कुमाराणां वपुर्मैधा-वलवुद्धिविवर्द्धनाः ॥  
इति । तत्रान्तरेऽप्युक्तम् । ज्वरादिरोगे गर्भिण्या मृदु कुर्याच्चिकित्-  
सितम् । तीक्ष्णं हि भेषजं तस्या गर्भपाताय कल्पते । अतो धान्यपटोलादि  
बुद्धा योज्यं ज्वरादिजित् । सिंहास्यादि शुद्ध्यादि तथा धान्यपटोलकः ।  
पित्तज्वरहरः काथो गर्भिण्या ज्वरशान्तये । मधु तीक्ष्णं न गंसन्ति केचिद्-  
गर्भवतीज्वरे । कुशकाशोरुवृक्षाणां मूलं गोलुरकस्य च । शृतशीतं सितायुक्तं  
गर्भिण्या ज्वरदाहनुत् । चन्दनं शारिवा लोधं मृद्रीका शर्करान्वितम् । काथं  
कृत्वा प्रदातव्यं गर्भिण्या ज्वरनाशनम् । एरण्डमूलममृता मज्जिष्ठा रक्तचन्दनम् ।  
दारुपद्मयुतः काथो गर्भिण्या ज्वरनाशनः । ह्रीवेरारलुरक्तचन्दनवलाघन्याक-  
वत्सादनी, मुस्तोशीरवरा सपर्पटविषा काथं पिबेद् गर्भिणी । नानावर्णरुजाति-  
सारकगदे रक्तस्रुतौ वा ज्वरे योगोऽयं मुनिभिः पुरा निगदितः सूत्र्यामयेपूज्यः ।  
आम्रजम्बूतचः काथं लेहयेल्लजसंक्तुभिः । अनेन लीढमात्रेण गर्भिण्या ग्रहणीं  
जयेदिति ॥ १८ ॥

**गङ्गाधरः**—इति गर्भिण्या व्याधिप्रतिक्रियामुक्त्वा गर्भिण्या अपचारादिना  
गर्भोपघातारम्भे पुनरार्त्तवप्रवृत्तौ तत्प्रतिकारार्थमाह—सा चेदित्यादि । सा  
कारिभिर्वेति यथा वमनार्थकारि निष्ठीवनम्, विरेचनानुकारिणी फलवर्त्तिरित्यादिरुपचारः कर्तव्यः ।

स्थास्यतीति विद्यात् । अजातसारा हि तस्मिन् काले भवन्ति गर्भाः । सा चेच्चतुष्प्रभृतिषु मासेषु क्रोधशोकासूयेर्ष्याभय-  
त्रास-व्यवायव्यायाम-संचोभसन्धारणविषमाशनशयनस्थानक्षुत्-  
पिपासाद्यतियोगात् कदाहाराद्वा पुष्पं पश्येत् तस्या गर्भस्थापन-  
विधिमुपदेक्ष्यामः ॥ १६ ॥

पुष्पदर्शनादेवैनां त्रयाच्छयनं तावन्मृदुसुखशिशिरास्तरणा-  
स्तीर्णमीषद्वनतशिरस्कं प्रतिपद्यस्वेति । ततो यष्टीमधुक-  
सर्पिभ्यां परमशिशिरवारिणि संस्थिताभ्यां पिचुमाप्लाव्योपस्थ-  
समीपे स्थापयेत् । तस्यास्तथा शतधौतसहस्रधौताभ्यां सर्पिभ्याम्  
गर्भिणी चेद् यदि द्वयोर्मासयोस्त्रिषु वा मासेषु । ननु त्रिषु मासेष्वित्युक्तैत्रव  
प्रथमद्वितीयतृतीया मासा लभ्यन्ते, कथं पुनः द्वयोरित्युक्तमिति चेन्न । प्रथममासे  
हि पुष्पदर्शने गर्भासम्भव एव तत् कथं गर्भिणीति व्यवस्यते । तस्मात् प्रथम-  
मासे गर्भिण्याः पुष्पदर्शनस्यासम्भव इति ख्यापनार्थं त्रिष्विति वचनं न  
त्रिमासबोधकं किन्तु तृतीयमासपरं, सुतरां द्वयोरिति वक्तुमावश्यकं भवति, तेन  
द्वयोरिति च पदं द्वितीयमासपरमिति बोध्यम् । पूरणार्थप्रत्ययलोपो वा । ननु  
कुतोऽस्या द्वितीयमासे तृतीयमासे वा पुष्पदर्शिन्या गर्भिण्या गर्भो न स्थास्यती-  
त्यत आह—अजातसारा हीत्यादि । न जातं सारं स्थिरांशो येषां तेऽजातसारा  
गर्भाः, हि यस्मात् तस्मिन् काले द्वितीये तृतीये च मासे भवन्ति तस्मादस्या गर्भो  
न स्थास्यति । ननु चतुष्प्रभृतिमासेषु यदि पुष्पं पश्येत् तदा किं स्यादित्यत  
आह—सा चेदित्यादि । क्रोधाद्यपचाराद् यदि चतुर्थादिषु मासेषु पुष्पं  
पश्येत् तदा प्रतिक्रियास्या गर्भः स्थास्यतीत्यतस्तस्या गर्भस्थापनविधिमुप-  
देक्ष्यामः ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—पुष्पेत्यादि । पुष्पदर्शनाच्चतुर्थादिषु मासेषु पुष्पं दृष्ट्वा प्रथममेनां  
गर्भिणीं त्रयात् मृदुसुखशिशिरास्तरणास्तीर्णं शयनं शय्यामीपद्वनतशिरस्कं यथा  
स्यात् तथा प्रतिपद्यस्वेति । तथा प्रतिपन्नाया गर्भिण्या उपस्थसमीपे योनिद्वारे  
परमशिशिरवारिणि संस्थिताभ्यां यष्टीमधुकसर्पिभ्यां पिचुं विस्तृततूलकम्  
सन्धारणं वेगसन्धारणम् । कदाहारः कुत्सिताहारः । क्षिशिरं क्षीतम् । यष्टीमधुकसिद्धं सर्पिः

अथो नाभेः प्रदिह्यात् । सर्व्वतश्च गव्येन चनां पयसा सुशीतेन मधुकाम्बुना वा न्यग्रोधादिकपायेण वा परिपेचयेद्दधो नाभेः । उदकं वा सुशीतमवगाहयेत्, क्षीरिणां कपाय-  
द्रुमाणाञ्च स्वरसपरिपीतानि चेलानि ग्राहयेत् । न्यग्रोधादि-  
सिद्धयोर्वा क्षीरसर्पिपोः पित्तं ग्राहयेत् अतश्चैवाक्षमात्रं प्राशयेत्,  
प्राशयेद्वा केवलञ्च क्षीरसर्पिः । पद्मोत्पलकुमुदकिञ्जल्कांश्च  
अस्यै समधुशर्करान् लेहार्थं दद्यात् शृङ्गाटकपुष्करबीजकशेरुकान्  
भक्षणार्थम् । गन्धप्रियङ्गुसितोत्पलशालूकोदुम्बरशलातुन्यग्रोध-

आप्लाव्य स्थापयेत् । तस्यास्तथेत्यादि । नाभेरथः प्रदिह्यात् । सर्व्वतश्च शिरः-  
प्रभृति सर्व्वार्हं सुशीतेन पयसा सुशीतेन मधुकाम्बुना वा सुशीतेन न्यग्रोधादि-  
कपायेण वा परिपेचयेत् । न्यग्रोधादिस्तु प्रसिद्धः—न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्ष-  
मधूककपीतन-ककुभाप्रकोपाप्रचोरकपत्र-जम्बूद्वय-पियाल-मधुकरोहिणीवज्जुल-  
कदम्बवदरीतिन्दुकीसल्लकीलोध्रसावरलोध्रभट्टातकपलाशा नन्दीवृक्षश्चेति ।  
न्यग्रोधादिर्गणो व्रण्यः संग्राही भग्नसाधकः । रक्तपित्तहरो दाह-मेदोघ्नो योनि-  
दोषहृत् ॥ इति । अथो नाभेरित्यादि नाभेरधोदेशपर्य्यन्तम् । उदकं  
वेत्यादि । क्षीरिणाञ्चेति । क्षीरिणः प्रसिद्धाः वटोदुम्बराश्वत्थप्लक्षकपीतनाः  
पञ्च । स्वरसपरिपीतानि क्षीरिणां बलकलस्वरसेन चेलखण्डानि भावयित्वा  
योनावभ्यन्तरतो ग्राहयेत् । न्यग्रोधादिसिद्धयोरित्यादि । उक्तन्यग्रोधादि-  
गणस्य क्षीरादष्टमांशकल्केन चतुर्गुणजलेन सिद्धस्य क्षीरावशेषपक्वस्य  
क्षीरस्य पित्तं तत्क्षीरभाविताप्लुततूलकं किंवा न्यग्रोधादेः कल्केन  
पादिकेन चतुर्गुणेन जलेन सिद्धस्य सर्पिपः पित्तं तत्सर्पिपाप्लुत-  
तूलकं योनावन्तग्राहयेत् । अतश्चेति । न्यग्रोधादिसिद्धात् क्षीराद् वा सर्पिपो  
अक्षमात्रं तोलकद्वयम् । केवलमेव क्षीरसर्पिः क्षीरोत्थं घृतमसाधितम् ।  
पद्मोत्पलेत्यादि । पद्मादीनां त्रयाणां किञ्जल्कान् । शृङ्गाटकेत्यादि । पुष्करबीजं  
पद्मबीजम् । गन्धप्रियङ्गुतित्यादि । गन्धप्रियङ्गुगन्धद्रव्यविशेषः प्रियङ्गुर्नाम, न तु  
यष्टीमधुकसर्पिः । चेलानि ग्राहयेदित्यत्र योनिमिति शेषः । अतश्चेति न्यग्रोधादिशुद्धान् । किंवा  
क्षीरसर्पिप इत्यस्मिन् पाठे क्षीरोत्थितं सर्पिः क्षीरसर्पिः ॥ १८—२० ॥

शुङ्गानि वा पाययेदेनामाजेन पयसा । पयसा चैनां  
बलातिबलाशालिषष्टिकैक्षुमूल-काकोलीशृतेन समधुशर्करं रक्त-  
शालीनामोदनं मृदुसुरभिशीतं भोजयेत् । लावकपिञ्जलकुरङ्ग-  
शम्बरशशहरिणैकालपुच्छकरसेन वा घृतसुसंस्कृतैः सुख-  
शिशिरोपवातदेशस्थां भोजयेत् । तथा क्रोधशोकायासव्यवाय-  
व्यायामतश्चाभिरक्षेत् । सौम्याभिश्चैनां कथाभिर्मनोऽनुकूलाभिः  
उपासीत । तथारया गर्भस्तिष्ठति ॥ २० ॥

यस्याः पुनरामान्वयात् पुष्पदर्शनं स्यात् प्रायस्तस्यास्तद्वर्भ-  
वाधकं भवति विरुद्धोपक्रमत्वात् तयोः । यस्याः पुनरुष्णतीक्ष्णोप-  
प्रियङ्गुधान्यम् । एषां कल्कं पाययेदाजेन पयसा च्छागदुग्धेन । पयसा चेत्यादि—  
बलादीक्ष्वन्तानां मूलं काकोलीनां कल्केन पयोऽष्टमांशेन चतुर्गुणजलेन शृतेन  
पक्वेन पयसा मृदुसुरभिशीतं न तु स्पर्शोष्णं रक्तशालीनामोदनं समधुशर्करं  
भोजयेत् । लावेत्यादि—लावादीनां मांसं सलिले पक्त्वा रसं निष्पाद्य घृतेन  
संस्कृत्य तेन रसेन वा सुखादिदेशस्थामेनां गर्भिणीं रक्तशालीनामोदनं  
समधुशर्करं भोजयेत् । क्रोधादितश्चाभिरक्षेत् क्रोधादिकं कर्तुं वारयेत् ।  
सौम्याभिर्वात्सल्यवतीभिः । तथास्या उक्तप्रकारेणास्याश्चतुर्धादिमासेषु पुष्प-  
दर्शनेऽपि पुष्पप्रवृत्तिनिवृत्तौ गर्भस्तिष्ठति ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—अथामान्वयात् पुष्पदर्शने किं स्यादित्यत आह—यस्याः पुन-  
रित्यादि । आमस्त्वपक्व आहारस्तस्यान्वयोऽनुबन्धस्तस्याद् यस्याः पुष्पदर्शनं  
स्यात् प्रायस्तस्यास्तत् पुष्पदर्शनं गर्भवाधकं भवति । कुत इत्यत आह—  
विरुद्धेत्यादि । विरुद्धोपक्रमतन्त्रेण पुष्पप्रवृत्तिनिवारणार्थं मधुरशिशिरादुत्पचार  
उपक्रमः, स चामे विरुद्धो भवति । आमो हि मधुरशिशिरादिगुणो भवति तेन  
वर्द्धते इति । लघुरुक्षोष्णादुत्पचारस्त्वामे उपक्रमः, स च पुष्पप्रवृत्तौ विरुद्धः । पुष्पं  
हि रुक्षोष्णादिगुणं तेन वर्द्धते प्रवर्त्तते च । इति विरुद्धोपक्रमत्वादामान्वयात्  
पुष्पदर्शनं गर्भिण्या गर्भवाधकरं भवतीत्यर्थः । यस्याः पुनरित्यादि—यस्याः

चक्रपाणिः—आमान्वयादिति आमजनकहेतोः सकाशादित्यर्थः । विरुद्धोपक्रमत्वादिति गर्भस्त्रावे  
हि स्तम्भनं कर्तव्यम्, तच्च शीतं मृदु मधुरञ्च, तच्चैतदामविरुद्धमामजनकत्वादिति विरुद्धोपक्रमता ।

योगाद्भिण्या महति संजातसारे गर्भे पुष्पदर्शनं स्यादन्यो वा योनिस्त्रावः, तस्या गर्भो वृद्धिं न प्राप्नोति निःस्रुतत्वात्, स कालान्तरमवतिष्ठतैऽतिमात्रं, तमुपविष्टकमित्याचन्यतै केचित् । उपवासव्रतकर्मपरायाः पुनः कदाहारायाः स्नेहद्वेषिण्या वात-प्रकोपणान्यासेवमानाया गर्भो वृद्धिं नाप्नोति परिशुष्कत्वात्, स चापि कालान्तरमवतिष्ठतैऽतिमात्रमस्पन्दनश्च भवति, तन्तु नागोदरमित्याचन्यतै ॥ २१ ॥

नाय्योस्तयोरुभयोरपि चिकित्सितविशेषमुपदेक्ष्यामः ।  
भौतिकजीवनीयवृंहणीयमधुरवातहरसिद्धानां सर्पिषामुपयोगः ।

जातसारे गर्भे महति सति उष्णतीक्ष्णोपयोगात् पुष्पदर्शनं स्यात्, अन्यो वा प्रदरादिरूपो योनिस्त्रावः स्यात्, स निःस्रुतत्वात् गर्भोऽप्यथास्वकालवर्द्धमानः कालान्तरं प्रसवकालमतीत्यातिमात्रं कालमवतिष्ठते गर्भाशये इति शेषः । तस्य संज्ञामाह—तमित्यादि । उपवेशनशीलत्वादुपविष्टकसंज्ञा । उपवासेत्यादि—कदाहारायाः कुत्सिता रुक्षशाकाशुधान्यादितण्डुलादिनादय आहारा यस्यास्तस्याः । परिशुष्कत्वात् उपवासादिभिर्गर्भस्य परिशोषात् । तेन सोऽपि गर्भः कालान्तरमवतिष्ठतेऽतिमात्रम् । स च गर्भोऽस्पन्दनः स्पन्दनरहितो भवति । तस्य संज्ञामाह—तमित्यादि । नागोदरमिति संज्ञा ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—अनयोश्चिकित्सामाह—नाय्योस्तयोरित्यादि । तयोरुपविष्टक-गर्भवतीनागोदरगर्भवत्योर्नाय्योः । भौतिकेत्यादि भूतोपघातेभ्यो हितं वचा-गुग्गुलवादिकं भूतोन्मादापस्मारोक्तं द्रव्यं भौतिकम् । जीवनीयो दशकः । वृंहणीयः क्षीरिणीराजक्षवकादिदशकः । मधुरोऽत्र विमानोक्तमधुरस्कन्धः, न तु सुश्रुतोक्तः काकोल्यादिर्गणः—काकोलीक्षीरकाकोली-जीवकर्षभकमुद्रपर्णीमाष-पर्णीमेदामहामेदाच्छिन्नरुहा-कर्कटशृङ्गीतृगाक्षीरीपञ्चकप्रपौण्डरीकर्द्धिष्टृद्धिमृद्वीका-जीवन्त्यो मधुकंश्चेति । काकोल्यादिरयं पित्त-शोणितानिलनाशनः । जीवनो अन्यो वेति आर्त्तवज्रक्षगव्यतिरिक्तः । अत्रापि केचिदित्युक्तम्, तथाप्यप्रतिषेधादाचार्यस्यापि एतत् सम्मतं किञ्चिद्विशेषमिति ॥ २१ ॥

चक्रपाणिः—अत्र 'विशेष'शब्देन गर्भव्याध्यन्तरापेक्षया चिकित्सितविशेषो ज्ञेयः । उप-



नागोदरे तु योनिव्यापत्तिर्दिष्टं पयसामामगर्भाणां गर्भवृद्धि-  
कराणाञ्च सम्भोजनमेतैरेव सिद्धैश्च घृतादिभिः सुबुभुक्षायाम् । ॥  
अभीक्ष्णं यानवाहनापमार्ज्जनावजृम्भणैरुपपादनमिति ॥ २२ ॥

यस्याः पुनर्गर्भो न स्पन्दते, तां श्येनमतस्य गवयतित्तिरिताम्र-  
चूडशिखिनामन्यतमस्य सर्पिष्मता रसेन माषयूपेण वा प्रभूत-  
वृंहणो वृष्यः स्तन्यश्लेष्मकरस्तथा ॥ इति । क्षीरघृतवसामज्जशालिपट्टिकयव-  
गोधूमपापशृङ्गाटककशेरुकत्रपुष्वारुककर्कारुकालावूककालिन्दककतकाङ्गुल्य  
पियाल-पुष्करवीजकाश्मर्यमधुक-द्राक्षाखज्ज्वरराजादनतालनारिकेलेषु विकार-  
बलातिबलात्मगुप्ता-विदारीपयस्यागोक्षुरक-क्षीरमोरटमधूलिकाकुष्माण्डप्रभृतीनि  
समासेन मधुरो वर्गः । वातहरोऽत्र भद्रदावर्वादिः सुश्रुते वीरतवर्वादिरुक्तः ।  
तद् यथा—वीरतरु-सहचरद्वय-दर्भवृक्षादनीगुन्द्रानल-कुशकाशाश्मभेदकाग्निमन्थ-  
मोरटावसुकवसिरभल्लकुरुण्टकेन्दीवरकपोतवक्त्राः श्वदंष्ट्रा चेति । वीरतवर्वादि-  
रित्येष गणो वातविकारनुत् । अश्मरीशर्करामूत्र-कृच्छ्राघातरुजापहः ॥ इति ।  
एषां भौतिकादीनां घृतपादांशकल्केन चतुर्गुणकाथेन च सिद्धानां सर्पिषामुप-  
योगः । बहुवचनं गणाभिप्रायेण । भौतिकेन सिद्धस्य सर्पिषो जीवनीयेन  
सिद्धस्य वा वृंहणीयेन सिद्धस्य वा मधुरेण सिद्धस्य वाप्युपयोग इति बोध्यम् ।  
इत्युपविष्टकगर्भिण्याः । नागोदरगर्भिण्यास्ताह—नागोदरे क्लित्यादि । योनि-  
व्यापत्तिर्निर्दिष्टम् आमगर्भाणां वृद्धिकरो यावान् तावान् पयसा आमगर्भाणां  
चकारात् नागोदरसंज्ञगर्भस्य च वृद्धिकरः । संभोजनमेतैरेव भौतिकादि-  
सिद्धैर्घृतादिभिः सुबुभुक्षायामभीक्ष्णं संभोजनमन्नस्य सम्यगा वृत्त्या भोजनम् ।  
यानं नौकाद्यनभिसंक्षोभणयानैर्दोलादिवाहनैरपामार्ज्जनैरभ्यङ्गस्तानादिभिरव-  
जृम्भणैरुत्साहवर्द्धनैः प्रियाश्वासादिवचनैर्गात्रप्रसारणैर्वा उपपादनम् ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—यस्याः पुनरित्यादि । श्येनः पक्षिविशेषः । श्येनादीनामन्यतम-  
मांसस्य रसेन सर्पिष्मता घृतयुक्तेन । सर्पिष्मता माषयूपेण वा । प्रभूत-  
विष्टकनागोदरयोस्तु विशिष्टैवेह चिकित्सा वक्तव्या । किंवा 'यस्याः पुनर्गर्भः प्रसुप्तो न स्पन्दते'  
इत्यादिना योऽवस्थायां विशेषो वक्तव्यः, तमपेक्ष्योक्तं चिकित्सितविशेष इति । भौतिकं सूतोप-  
युक्तहितं वचागुग्गुलवादि । किंवा महापैशाचिकादिघृतवक्ष्यमाणं द्रव्यम्, सुभिक्षाया इति

सर्पिषा मूलकयूषेण वा रक्तशालीनामोदनं मृदुमधुरशीतं भोज-  
येत् । तैलाभ्यङ्गेनास्याश्चाभीक्ष्णमुदरवड्ढणोऽकटीपार्श्वपृष्ठ-  
प्रदेशानीषदुष्णेनोपचरेत् ॥ २३ ॥

यस्याः पुनरुदावर्त्तविवन्धः स्यादष्टमे मासे न चानुवासन-  
साध्यं मन्यते, ततस्तस्यास्तद्विकारप्रशमनमुपकल्पयेन्निरुहम् ।  
उदावर्त्तो ह्युपेक्ष्यो गर्भं सगर्भां गर्भिणीं वा निपातयेत् । तत्र  
वीरण-शालि-षष्टिक-कुश-काशेज्जुवालिका-त्रेतसपरिव्याधमूलानां  
भूतीकाऽनन्ताकाश्मर्ध्यपरुषकमधुकमृद्वीकानाञ्च पयसाऽर्द्धोदकेन  
उद्गमय्य रसं पियालविभीतकमज्ज तिलकल्कसंप्रयुक्तम् ईषल्लव-  
णम् अनत्युष्णञ्च निरुहं दद्यात् । व्यपगतविवन्धाञ्चैनां सुख-  
सर्पिषा ह्रस्वमूलकयूषेण वा रक्तशालीनामोदनं भोजयेत् । अस्या नागोदरिण्या  
उदरं वङ्गणादिप्रदेशाञ्च ईषदुष्णेन तैलाभ्यङ्गेनाभीक्ष्णमुपचरेत् ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—यस्या इत्यादि । न चानुवासनसाध्यं मन्यतेऽर्थात् तमुदावर्त्त-  
विवन्धम् । अत्रायं भावः । अनुवासनसाध्यो यदुदावर्त्तविवन्धः स्यात्  
तदानुवासयेदेनाम् । यस्यास्त्वानुवासनसाध्यं न मन्यते तदा तस्या उदावर्त्त-  
विवन्धिन्या अष्टममासगर्भिण्यास्तद्विकारस्य उदावर्त्तविवन्धस्य प्रशमनो यो  
निरुहः साधुर्भवति तं निरुहमुपकल्पयेत् । कुत इत्यत आह—उदावर्त्त इत्यादि ।  
हि यस्मात् । उदावर्त्तः न प्रतिकृत्य उपेक्ष्यः सन् सगर्भां गर्भसहितां गर्भिणीं नारीं  
निपातयेत् मारयेत्, गर्भं वान्तर्गर्भाशये निपातयेत् । तस्मादुदावर्त्तप्रशमनं निरुहम्  
उपकल्पयेत् । निरुहद्रव्यमाह—तत्रेत्यादि । वीरणमुशीरम् ईक्षुवालिका नटाइ  
इति लोके । परिव्याधः जलवेतसः । एषां मूलानाम् । भूतीकं यमानी । भूतीका-  
दीनाञ्च रसं काथम् अर्द्धोदकेन पयसा मिलित्वाष्टगुणेन वीरणादीनां मूलानि  
भूतीकादीनि च पत्तवा पादावशेषं रसं काथमुद्गमय्य उद्गतं कृत्वा तं काथं  
पियालविभीतकयोर्मज्ज-तिलानां कल्कैः संप्रयुक्तं सम्यगालोढनेन प्रकर्षेण युक्तम्  
ईषल्लवणमल्पसैन्धवयुक्तमनत्युष्णमीषदुष्णं कृत्वा निरुहं गुदेन पथा आस्थापन-  
सुदुमुक्षयायाः । न चानुवासनसाध्यं मन्येत इति सामत्वाद्दुदावर्त्तस्येति नानुवासनसाध्यो भवतीति  
ज्ञेयम् । तद्विकारप्रशमनमिति उदावर्त्तप्रशमनमित्यर्थः । उदावर्त्तप्रशमनं निरुहमाह—तत्रेत्यादि ।

सलिलपरिषिक्ताङ्गीं स्थैर्य्यकरमविदाहिनमाहारं भुक्तवतीं  
सायं मधुरकसिद्धेन तैलेनानुवासयेत्, न्युब्जान्त्वेनामास्थापनानु-  
वासनाभ्यामुपचरेत् ॥ २४ ॥

यस्याः पुनरतिमात्रदोषोपचयाद्वा तोदणोष्णातिमात्रसेवनाद्वा  
वात-मूत्र-पुरीष-वेगधारैर्वा विषमाशन-शयनस्थान-संपीडनैर्वा  
क्रोधशोकेर्ण्यासूयाभयत्रासादिभिर्वा अपरैः कर्मभिरन्तःकुक्षौ  
गर्भो भ्रियते । तस्याः स्तिमितं स्तब्धमुदरमाततं शीतमश्मान्त-  
र्गतमिव भवत्यस्पन्दनो गर्भः, शूलमधिकमुपजायते, न चाव्यः  
प्रादुर्भवन्ति, योनिर्न प्रस्रवत्यक्षिणी चास्याः स्रस्ते भवतः ।  
ताभ्यति व्यथते भ्रमते श्वसित्यरतिबहुला च भवति, न वास्या  
वेगप्रादुर्भावो वा यथावदुपलभ्यते, इत्येवंलक्षणां स्त्रियं मृत-  
गर्भेयमिति विद्यात् ॥ २५ ॥

धस्तिं दद्यात् । व्यपगतविवन्धां तेन निरुहेण विवन्धं भित्त्वा पुरीषनिःसरणवती-  
मेनामष्टममासिकगर्भवतीं सुखसलिलन्नातां स्थैर्य्यकरं गर्भस्यास्थापनकरम्  
ऐन्द्रीब्राह्मीत्यादुक्तं तेन सिद्धमाहारं भुक्तवतीं सायं सन्ध्याकाले मधुरकसिद्धेन  
उक्तकाकोल्यादिकल्ककाथाभ्यां पादिकचतुर्गुणाभ्यां साधितेन तैलेनानुवास-  
येत् । नन्वेतां किं वामपार्श्वेन शयितामास्थापनानुवासनाभ्यामुपचरेदित्यत  
आह—न्युब्जामित्यादि । न्युब्जामनुत्तानामधोमुखेन शयितामिति यावत् ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—अथान्तर्मृतगर्भायाः प्रतिक्रियामाह—यस्याः पुनरित्यादि । अन्तः-  
कुक्षौ गर्भाशयाभ्यन्तरे । अन्तर्मृतगर्भलक्षणमाह—तस्या इत्यादि । स्तिमित-  
माद्र्द्रव्यमिव, स्तब्धमचलत्वेन गुरु, आततं सर्व्वोदरव्याप्तमिव, अश्मान्तर्गतं  
यस्य तदन्तर्गतप्रस्तरमिव तस्या उदरं भवति गर्भश्चास्पन्दनः । न चाव्यः आवी  
प्रसवकालिकशूलः । अस्या गर्भिण्या अक्षिणी स्रस्ते अधःपतिते भवतः । मृतगर्भेयम्

परिव्याधो वेतसभेदः । उदगमस्य रसमिति कथं निःकाथ्य । काथादिपरिमाणञ्च निरुहपरिमाण-  
परिभाषयैव कर्त्तव्यम् । न्युब्जामित्यधोमुखीम् ॥ २२—२४ ॥

चक्रपाणिः—अश्मान्तर्गतमिवेति अन्तर्गतप्रस्तरमिवेत्यर्थः । आवी प्रसवकालशूलम् ।

इति कुक्षौ मृतो गर्भो यस्याः सा मृतगर्भा । सुश्रुते तु मूढगर्भनिदानेऽप्युक्तम्—  
 ग्राम्यधर्मयानवाहनाध्वगमनप्रस्वलनप्रपतनप्रपीडनथावनाभिघातविषमशयना-  
 सनोपवास-वेगाभिघातातिरुक्ष-कटुतिक्त-भोजन-आक्रातिसारसेवनातिसारवमन-  
 विरेचनप्रेङ्खोलनाजीर्णगर्भशातनप्रभृतिभिर्विशेषैवेन्धनान्गुच्यते गर्भः फलमिव  
 वृन्तवन्धदभिघातविशेषैः । स विमुक्तवन्धनो गर्भाशयमतिक्रम्य यकृतप्लीहान्त्र-  
 विवरैरवस्रंसमानः कोष्ठसंक्षोभमापादयति । तथा जठरसंक्षोभाद् वायुरपानो  
 मूढः पाण्ड्वस्तिशीर्षोदरयोनिशूलानाहमूत्रसङ्गानामन्यतममापाद्य गर्भं व्यापा-  
 दयति तरुणं शोणितस्त्रावेण । तमेव कदाचिद् विट्छमसम्यगागतमपत्यपथमनु-  
 प्राप्तमनिरस्यमानमपानवैगुण्यसम्प्रोहितं गर्भं मूढगर्भमित्याचक्षते । ततः स  
 कीलः प्रतिखुरो बीजकः परिघ इति । तत्र ऊर्द्धवाहुशिरःपादो यो योनिमुखं  
 निरुणद्धि कील इव, स कीलः । निःसृतहस्तपादशिराः कायसङ्गी  
 प्रतिखुरः । यस्तु निर्गच्छत्येकशिरोभुजः स बीजकः । परिघ इव योनि-  
 मुखमावृत्य तिष्ठेत् स परिघः । इति चतुर्विधो भवतीत्येके भाषन्ते । तत्  
 तु न सम्यक् । कस्मात् ? स यदा विगुणानिलप्रपीडितोऽप्रत्यपथमनेकधा  
 प्रतिपद्यते, तदा सङ्घा हीयते । तत्र कश्चित् द्वाभ्यां सकृधिभ्यां योनि-  
 मुखं प्रतिपद्यते । कश्चिदाशुनंकसकृधिरेकेन । कश्चिदाशुप्रसकृधिशरीरः  
 स्निग्देशेन तिर्यग्गागतः । कश्चिदुरःपार्श्वपृष्ठानामन्यतमेन योनिद्वारं पिधायाव-  
 त्तिष्ठते । अन्तःपार्श्वपरिवर्त्तशिराः कश्चिदेकेन वाहुना । कश्चिदाशुप्रशिराः  
 वाहुद्वयेन । कश्चिदाशुग्रमध्यो हस्तपादशिरोभिः । कश्चिदेकेन सकृश्चा-योनि-  
 मुखमभिप्रतिपद्यतेऽपरेण पायुमित्यष्टविधा मूढगर्भगतिरुद्धिष्ठा समासेन । तत्र  
 द्वावन्त्यावसाध्यौ मूढगर्भौ । शेषानपि विपरीतेन्द्रियार्थाक्षेपकयोनिभ्रंशसंवरण-  
 मकल्लासकासभ्रमनिपीडितान् परिहरेत् । भवन्ति चात्र । कालस्य परिणामेन  
 मुक्तं वृन्ताद् यथा फलम् । प्रपदेत स्वभावेन नान्यथा पतितुं फलम् ॥ एवं  
 कालप्रकर्षेण मुक्तो नाङ्गीविवन्धनात् । गर्भाशयस्थो यो गर्भो जननाय  
 प्रपद्यते ॥ क्रिमिवाताभिघातैस्तु तदेवोपद्रुतं फलम् । पतत्यकालेऽपि यथा  
 तथा स्याद् गर्भविच्युतिः । आ चतुर्थात् ततो मासात् प्रसवेद् गर्भविच्युतिः ।  
 ततः स्थिरशरीरस्य पातः पञ्चमपष्ठयोः ॥ प्रविध्यति शिरो या तु शीताङ्गी  
 निरपत्रपा । नीलोद्धतशिरा हन्ति सा गर्भं स च तां तथा ॥ गर्भास्पन्दनमाव्रीणां  
 प्रणाशः श्यावपाण्डुता । भवत्युच्छ्वासपूतित्वं शूलश्चान्तमृते शिशौ ॥ मानसा-  
 गन्तुभिर्मातुरुपतापैः प्रपीडितः । गर्भो व्यापद्यते कुक्षौ व्याधिभिश्च प्रपीडितः ॥

तस्य गर्भशल्यस्य जरायुप्रपातनं कर्म शमनमित्याहुरेके ।  
मन्त्रादिकमथर्ववेदविहितमित्येके । परिदृष्टकर्मणा शल्यहर्त्रा  
आहरणमित्येके ॥ २६ ॥

वस्तमारविपन्नायाः कुक्षिः प्रस्पन्दते यदि । तत्क्षणाज्जन्मकाले तं पाटयित्वाद्धरेद्  
भिषक् । इति ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—अथास्या मृतगर्भायाश्चिकित्सामाह—तस्येत्यादि । गर्भशल्यस्य  
गर्भाशयान्तमृतशिशुरूपशल्यस्य शमनं शान्तिकरं जरायुप्रपातनं यच्चर्म-  
कृतिजरायुणा गर्भो वेष्टितः सन्नन्तर्गर्भे वर्तते तस्य जरायोर्निगमनमित्येके  
वदन्ति । अन्ये त्वेकेऽथर्ववेदविहितं मन्त्रादिकर्म तरय गर्भशल्यस्य शमनमित्याहुः ।  
परे त्वेके परिदृष्टकर्मणा सर्वतोभावेन दृष्टं गर्भशल्याहरणं कर्म येन तेन  
शल्यहर्त्रा शल्याहरणशीलेन भिषजा तस्य गर्भशल्यस्याहरणं शमनमित्याहुः ।  
त्रयमेवैतदप्रतिपिद्धत्वादनुमतमाचार्येण । गर्भशल्यापहरणमुक्तं सुश्रुते—नातः  
कष्टतममस्ति यथा मूढगर्भशल्योद्धरणम् । अत्र हि योनियकृत्प्रीहान्नविवर-  
गर्भाशयानां मध्ये कर्म कर्त्तव्यं स्पर्शेन । उत्कर्षेणापकर्षेणस्थानापवर्त्तनोत्-  
कर्त्तनभेदनच्छेदनपीडनञ्ज्वरकरणदारणानि चैकहस्तेन गर्भं गर्भिणीं वा  
अहिंसता । तस्मादधिपतिमापृच्छ परश्च यत्नमास्थायोपक्रमेत । तत्र समाखेनाष्ट-  
विधा मूढगर्भगतिरुद्दिष्टा । स्वभावगता अपि त्रयः सङ्गा भवन्ति, शिरसो  
वैशुण्यादंसयोर्जघनस्य वा । जीवति तु गर्भे मृतिकागर्भे निर्हरेणे प्रयतेत ।  
निर्हर्त्तुमशक्ये च्यवनान मन्त्रानुपशृणुयात् । तान् वक्ष्यामः । इहामृतञ्च  
सोमश्च चित्रभानुश्च भामिनि । उच्चैःश्रवाश्च तुरगो मन्दिरे निवसन्तु ते ॥  
इदममृतमपां समुद्धृतं वै तव लघु गर्भमिमं प्रमुञ्चतु स्त्री । तदनलपवनार्क-  
वासवास्ते सह लवणाशुधरैर्दिशन्तु शान्तिम् ॥ मुक्ताः पाशा विपाशाश्च मुक्ताः  
मूय्यण रश्मयः । मुक्तः सर्वभयाद् गर्भ एहेहि विरमावितः ॥ औषधानि च  
विदध्यात् यथोक्तानि । मृते चोत्तानाया आभुग्नसक्थ्या वस्त्राधारको-  
न्निमित्तकट्रा धन्वननगट्टिकाशाल्मलीमृत्स्नाघृताभ्यां अक्षयित्वा हस्तं योनौ  
प्रवेश्य गर्भमुपहरेत् । तत्र सकृत्स्थिभ्यामागतमनुलोममेवाञ्छेत् । एकसक्थि-  
प्रपन्नस्येतरसक्थि प्रसाय्यापहरेत् । स्फिग्देशेनागतस्य स्फिग्देशं प्रपीड्य ऊढ-  
मुत्क्षिप्य सकृत्स्थिनी प्रसाय्यापहरेत् । तिर्यगागतस्य परिघस्येव तिरश्चीनस्य  
'एके' इति वचनेन अप्रतिपेक्षेन च दुश्चिकित्सव्याघेर्जरायुपातनकर्मादीनां त्रयाणामपि मृतगर्भापहरणं

व्यपगतगर्भशल्यान्तु स्त्रियमामगर्भां सुरासीध्वरिष्टमधु-  
मदिरासवानामन्यतमम् अग्रे सामर्थ्यतः पाययेत गर्भकोष्ठ-  
विशुद्ध्यर्थमर्त्तिविस्मरणार्थं प्रहर्षणार्थञ्च ।

अतः परं वृंहणैर्वलानुरजिभिः स्नेहप्रयुक्तैः यथाग्वादिभिर्वा  
तत्कालयोगिभिराहारैरुपाचोद् दोषधातुवलेदविशोषणमात्रं वा  
तत्कालम् । अतः परं स्नेहपानैर्वस्तिभिराहारविधिभिश्च  
दीपनीयजीवनीयवृंहणीयमधुरवातहरैरुपाचारैराचरेत् । परिपक्व-  
गर्भशल्यायाः पुनर्विमुक्तगर्भशल्यायास्तदहरं स्नेहोपचारः  
स्यात् ॥ २७।२८ ॥

पश्चादूर्ध्वमूढं मृतक्षिप्य पूर्वार्द्धमपत्यार्थं प्रत्याज्जवमानीयापहरेत् । पार्श्वपरि-  
वर्त्तेशिरसमंसं प्रपीड्योर्ध्वं मृतक्षिप्य शिरोऽपत्यपथमानीयापहरेत् । बाहुद्वयप्रति-  
पन्नस्योर्ध्वं मृतक्षिप्योर्ध्वं शिरोऽनुलोममानीयापहरेत् । द्वावन्यावसाध्यौ मूढ-  
गर्भा । एवमशक्ये शस्त्रमवधारयेत् । सचेतनश्च शस्त्रेण न कथञ्चन  
दारयेत् । दार्यमाणो हि जननीमात्मानञ्चैव धातयेत् । तत्र स्त्रियमाश्वास्य  
मण्डलाग्रेणाङ्गुलीशस्त्रेण वा शिरो विदार्य शिरःकपालान्याहृत्य शङ्खुना  
गृहीत्वोरसि कक्षायां वापहरेदभिन्ने शिरसि चाक्षिकूटे गण्डे वा । अंससंस्तस्य  
अंसदेशे बाहुं छित्त्वा दृतिमिवाततं वातपूर्णोदरं वा विदार्य निरस्यान्नाणि  
शिथिलीभूतमाहरेत् । जघनसक्तस्य वा जघनकपालानीति । यद्यदङ्गं हि  
गर्भस्य तस्य स्वजति तद्विपक् । सम्यग्विनिर्दरेच्छित्त्वा रक्षेत्रारीञ्च यन्नतः ।  
गर्भस्य गतर्याश्चित्रा जायन्तेऽनिलकोपतः । तत्रानल्पमर्त्तिर्वैद्यो वर्त्तेत विधि-  
पूर्वकम् । नोपेक्षेत मृतं गर्भं मुहूर्त्तमपि पण्डितः । स ह्याशु जननीं हन्ति  
निरुच्छासं पशुं यथा । मण्डलाग्रेण कर्त्तव्यं छेद्यमन्तविजानता । वृद्धिपत्रं हि  
तीक्ष्णाग्रं नारीं हिंस्यात् कदाचन । अथापतन्तीममरां पातयेत् पूर्ववद्विपक् ।  
हस्तेनापहरेद्वापि पार्श्वार्थ्यां परिपीड्य वा । धुनुयाच्च मुहुर्नारीं पीडयेद्  
वांसपिण्डिकां । तैलाक्तयोनेरेवं तां पातयेन्मतिमान् भिषक् ॥ २६ ॥

गङ्गाधरः—निर्हृतगर्भशल्याया उपक्रममाह—व्यपगतेत्यादि । आमगर्भा  
निर्हृतामगर्भशल्याम् । परिपक्वगर्भशल्याया विमुक्तगर्भशल्याया इत्यन्वयः । तदह-

परमतो निर्विकारमाप्यायमानस्य गर्भस्य मासे मासे कर्म उद्देक्ष्यामः । प्रथममासे शङ्किता चेद् गर्भमापन्ना क्षीरमनुपस्कृतं मात्रावच्छीतं काले पिवेत् । सात्म्यश्च भोजनं सायं प्रातश्च भुञ्जीत । द्वितीये मासे क्षीरमेव च मधुरौषधसिद्धम्, तृतीये मासे क्षीरं मधुसर्पिर्भ्यामुपसंसृज्य, चतुर्थे मासे तु क्षीरनवनीतमन्ना-  
सात्रमश्नीयात्; पञ्चमे मासे क्षीरसर्पिः, षष्ठे मासे क्षीरसर्पिर्मधु-

रेवेति गर्भशल्यनिहरणदिनमेव । सुश्रुतेऽप्युक्तम्—एवं निर्हृतशल्यान्तु सिञ्चे-  
दुष्णेन वारिणा । ततोऽभ्यक्तशरीराया योनौ स्नेहं निधापयेत् । एवं मृद्वी भवेद्  
योनिस्तच्छूलश्चोपशाम्यति । कृष्णातन्मूलशुण्ठेला-हिङ्गुभागीसदीप्यकाः ।  
वचामतिविपां रास्नां चव्यं सञ्चूर्य पाययेत् । स्नेहेन दोषस्यन्दार्थं वेदनोप-  
शमाय च । काथञ्चैपां तथा कल्कं चूर्णं वा स्नेहवर्जितम् । शाकत्वग्धिं ग्वति-  
विपा-पाठाकटुकरोहिणीः । तथा तेजोवतीञ्चापि पाययेत् पूर्व्ववद् भिषक् ।  
त्रिरात्रं पञ्चसप्ताहं ततः स्नेहं पुनः पिवेत् । पाययेद्वासवं नक्तपरिष्टं वा  
सुसंस्कृतम् । शिरीषकुम्भाभ्याश्च तोयमाचमने हितम् । उपद्रवाश्च येऽप्ये स्युस्तान्  
यथास्वमुपाचरेत् । सर्व्वतः परिशुद्धा च स्निग्धपथ्याल्पभोजना । स्वेदाभ्यङ्गपरा  
नित्यं भवेत् क्रोधविवर्जिता । पयो वातहरैः सिद्धं दशाहं भोजने हितम् ।  
रसं दशाहं शेषे तु यथायोगमुपाचरेत् । व्युपद्रवां विशुद्धाश्च क्षाला च  
वरवर्णिनीम् । ऊर्द्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यो विसृजेत् परिहारतः । योनिसन्तर्पणे-  
ऽभ्यङ्गे पाने वस्तिषु भोजने । वलातैलमिदं वास्यै दद्यादनिलवारणम् ॥  
वलामूलकपायस्येत्यादिना वलातैलं बोध्यं सुश्रुते ॥ २७ । २८ ॥

गङ्गाधरः—परमत इत्यादि । अतः परम् एतदनन्तरम् । प्रथममासे गर्भमापन्ना  
आपन्नगर्भतया लोकेऽनुभूता चेद्भवति । अनुपस्कृतमौषधैरसंस्कृतमेव । सायमिति  
सन्ध्यातीते निशामुखे, प्रातरिति पूर्व्वभोजनकाले । द्वितीये मासे इत्यादि—  
मधुरौषधं काकोल्यादि, तदष्टांशकल्कचतुर्गुणजलसिद्धम् । तृतीये इत्यादि—  
मधुसर्पिर्भ्यामुपसंसृज्य सम्यगालोड्य मिश्रीकृत्य । चतुर्थे मासे इत्यादि—क्षीर-  
नवनीतं क्षीरमन्थनोद्भूतं नवनीतं, न तु दध्युत्थम् । पञ्चमे इत्यादि—क्षीरसर्पिः  
प्रति सम्यक्साधनतां नास्तीति दर्शयति । दोषधातुक्तेदविशोषणमात्रं कालमित्यनेन दोषधातु-  
क्तेदविशोषणावधि तां यथोक्तक्रमस्य दर्शयति ॥ २५—२८ ॥

रौषधसिद्धम्, तदेव सप्तमे मासे । तत्र गर्भस्य केशा जायमाना मातुविदाहं जनयन्तीति स्त्रियो भापन्तै, तन्नेति भगवानात्रेयः । किन्तु गर्भोत्पीडनाद् वातपित्तश्लेष्माण उरः प्राप्य विदहन्ति । ततः कण्डूरूपजायतै, कण्डूमूला च किक्रशावाप्तिर्भवति । तत्र कोलोदकेन नवनीतस्य मधुरौषधसिद्धस्य पाणितलमात्रमस्यै पातुं दद्यात् । चन्दनमृणालकल्कैश्चास्याः स्तनोदरं विमृद्नीयात् । शिरीषधातकोसर्षपमधुकचूर्णैः कुटजाज्जकवीजमुस्तहरिद्रा-कल्कैर्वा, निम्बकोलसुरसमज्जिष्ठाकल्कैर्वा, पृषध्वरिणशशरुधिर-युतया त्रिफलया वा, करवीरकपत्रसिद्धेन वा तैलेनाभ्यङ्गः । परिषेकः पुनर्मालतीमधुकसिद्धेनाम्भसा । जातकण्डूया च

क्षीरोत्थं घृतं, न तु दध्युत्थम् । पृष्ठे इत्यादि—मधुरं काकोल्याद्यौषधकाथकल्काभ्यां चतुर्गुणपादिकाभ्यां सिद्धं क्षीरसर्पिः क्षीरोत्थं सर्पिर्न तु दध्युत्थम् । तदेवेति मधुरौषधसिद्धं क्षीरसर्पिरेव सप्तमे मासे । सर्वत्र सात्म्यमेव च भोजनं सायं प्रातश्चर्यं ज्ञेयं योज्यम् । तत्रेत्यादि । तत्र सप्तमे मासे । सर्वं स्पष्टम् । किक्रशा-वाप्तिश्चर्मविदरणावाप्तिः । तत्रेत्यादि । कोलोदकेन शुष्कवदरफलकाथेन चतु-र्गुणेन मधुरौषधानां काकोल्यादीनां कल्केन नवनीतात् पादिकेन सिद्धस्य पक्वस्य नवनीतस्य गव्यस्य पाणितलमात्रं कर्षप्रमाणम् । चन्दनादीनां कल्कैर्मृदनीयात् । शिरीषादिरेको योगः कुटजाद्यपरः । कुटजस्याज्जकस्य तुलस्याश्च बीजम् । तृतीयस्तु निम्बादिकल्कः । चतुर्थः पृषदादिः । पृषत् क्षुद्रहरिणः । त्रिफलया हरीतकीविभीतक्यामलकीति त्रयी त्रिफला तथा कल्क-रूपया प्रकरणात् स्तनोदरं मृदनीयादित्यस्य सव्वैत्रान्वयः । पञ्चमः करवीरक-पत्रेत्यादि । करवीरकपत्रकल्कः पादिकस्तेन चतुर्गुणेन जलेन च पक्वेन तैलेन । परिषेक इत्यादि । मालत्यादिभिरनुरूपैः कल्कैः सिद्धेनार्द्धभृतेन

चक्रपाणिः—गर्भस्य प्रतिमांसिकं कर्माह—परमत इत्यादि । तन्नेति भगवानात्रेय इति युगपदेव तृतीये मासेऽङ्गप्रत्यङ्गनिष्पत्तेः केशा अपि तदैव जाताः क्रमेण वर्द्धन्ते, न सप्तमे मासे इति भावः । अथ कथं तर्हि सप्तमे विशेषेण कण्डूर्भवतीत्याह—गर्भोत्पीडनाद्वीत्यादि । किक्रशः



कण्डूयनं वर्जयेत् त्वग्भेदनवैरूप्यपरिहारार्थम् । अशक्वायान्तु  
कण्डूमा उन्मर्दनोद्धर्षणाभ्यां परिहारः स्यात् । मधुरमाहारजातं  
वातहरम् अल्पमल्पस्नेहलवणमल्पोदकानुपानञ्च भुञ्जीत ॥ २६ ॥

अष्टमे मासे क्षीरयवागूं सर्पिष्मतीं काले काले पिबेत् ।  
तन्नेति भद्रकाप्यः, पैङ्गल्यावाधो ह्यस्या गर्भमागच्छेदिति ।  
अस्त्वत्र पैङ्गल्यावाध इत्याह भगवान् पुनर्द्वसुरात्रेयः । न हेत-  
दकार्थम् \* । एवं कुर्वती ह्यारोग्यवलवर्णस्वरसंहननसम्पदुपेतं  
जातीनामपि श्रेष्ठमपत्यं जनयति । नवमे खल्वेनां मासे  
अम्भसा । जातकण्डूरुपस्थितकण्डूया च । किमर्थं कण्डूयनं वर्जयेदित्यत आह—  
त्वग्भेदेत्यादि । अशक्वायामसह्यायाम् । उन्मर्दनम् उद्धर्षणं वा कृत्वा कण्डू-  
परिहारः कार्यः स्यात् । मधुरमित्यादि क्षीरेत्यादुक्तम् ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः—अष्टमे इत्यादि । क्षीरयवागूं क्षीरेण चतुर्दशगुणेन षड्गुणेन वा  
पक्वां क्षुद्रतण्डुलानां यवागूं मण्डं पेयां वा सर्पिष्मतीं घृतपक्षेपां काले काले  
यथाकाले पिबेत् । तन्नेति भद्रकाप्य इत्यादि । अष्टममासे सर्पिष्मतीं क्षीर-  
यवागूं न पिबेदित्याह । कस्मात् ? पैङ्गल्यावाध इत्यादि । हि यस्मादस्या  
गर्भिण्याः पैङ्गल्यावाधः पैङ्गल्यस्य पिङ्गलनेत्रताया आवाधो गर्भमागच्छेत् गर्भ-  
स्यापि पिङ्गलनेत्रता स्यात् । ननु पित्तेऽत्यर्थं प्रदुष्टे तु नेत्रयोः पिङ्गता भवेदिति  
शालाक्यवचनात् कथं क्षीरयवागूपानात् पैङ्गल्यावाधः स्यादिति चेन्न । अष्टमे हि  
मासे गर्भिण्याः क्षीरयवागूपानस्य प्रभावान् पैङ्गल्यजनकत्वमिति । मतमेतद् दूष-  
यति—अस्त्वत्रेत्यादि । पैङ्गल्यावाधोऽस्तु गर्भस्य भवतु, स च न क्षतिकरः । कस्मात् ?  
हि यस्मात् एवमष्टमे मासि सर्पिष्मत्क्षीरयवागूपानं कुर्वती गर्भिणी स्वयमरोगा  
सती आरोग्यादिसम्पदुपेतं जातीनां मध्ये श्रेष्ठमपत्यं जनयति । एतन्नकार्यं न तु  
भवति । महाफलमेतत् कार्यमेव पिङ्गलनेत्रत्वमल्पं न किञ्चित्करम् । तेन किम्  
चर्मविदरणम् । स्तनावुदरञ्च स्तनोदरम् । कोलं वदरी । परिहारः कण्डू इति शेषः । पैङ्गल्यं  
पिङ्गलनेत्रता, सा च यद्यपि पित्तकृता, यदुक्तं शालाक्ये “पित्तेऽत्यर्थं प्रदुष्टे तु नेत्रयोः पिङ्गता  
स्युता” इति, तथापीह अष्टममासीयगर्भं क्षीरयवागवाहारसम्भवप्रभावादेव पैङ्गल्यं भवतीति  
ज्ञेयम् । न त्वेवैतन्न कार्यमिति पैङ्गल्यस्याल्पदोषत्वादुत्तरकालं सुकरप्रतिक्रियत्वाच्च क्षीरयवागू-

\*. न त्वेवैतन्न कार्यमिति पाठान्तरम् ।

मधुरौषधसिद्धेन तैलेनानुवासयेत् । अतश्चैवास्यास्तैलं पिचुमिश्रं योनौ प्रणयेद् गर्भस्थानमार्गस्नेहनार्थम् ॥ ३० ॥

यदिदं कर्म प्रथममासमुपादायोर्दिष्टमा नवमान्मासात्, तैन गर्भिण्या गर्भसमये गर्भधारणे कुक्षिकटीपार्श्वपृष्ठं मृदु भवति वातश्चानुलोमः संपद्यते । सूत्रपुरीषे च प्रकृतिभूते सुखेन मार्गमनुपद्यते चर्मनखानि माद्वमुपयान्ति बलवणौ चोपवीयेते । पुत्रं ज्येष्ठं सम्पदुपेतं सुखिनं सुखेनैषा काले प्रजायत इति ॥ ३१ ॥

प्राक् चैवास्या नवममासात् सूतिकागारं कारयेत् अपहतास्थि- शर्कराकपाले देशे प्रशस्तरूपरसगन्धायां भूमौ प्राग्द्वारमुदगद्वारं वा । वैल्वानां काष्ठानां तैन्दुकैर्द्वादानां भल्लातकानां वारुणानां खादि-

इत्यतोऽत्रास्तु पैङ्गल्यावाध इत्याह भगवान् । नवमे इत्यादि । मधुरौषधैः काको- ल्यादिभिः पादिककल्करूपैश्चतुर्गुणजलेन च सिद्धेन पक्वेन । कश्चित् मधुरौषधानां काथकल्काभ्यां चतुर्गुणपादिकाभ्यामित्याह । अतश्चैव मधुरौषध- सिद्धादेतत्तैलाच्च, तैलं किञ्चित् पिचुमिश्रं तूलकमिश्रमस्या नवमगासगर्भिण्या योनौ प्रणयेत् धारणार्थं वितरेत् । किमर्थमित्यत आह—गर्भस्थानेत्यादि । गर्भस्थानं गर्भाशयः, मार्गो गर्भनिर्गमवर्त्म योनिद्वारं, तयोः स्नेहनार्थम् ॥ ३० ॥

गङ्गाधरः—एतत् प्रथममासादिनवममासपर्यन्तोपदिष्टक्रियाफलमाह— यदिदमित्यादि स्पष्टम् । सुश्रुतेऽप्युक्तं तत् पूर्वं लिखितम् ॥ ३१ ॥

गङ्गाधरः—अथ प्रसवार्थं तावत् कर्माह—प्राक् चेत्यादि । नवममासात् पूर्वमष्टमे मासि । अत्रापि मासे प्रसवप्रसक्तेः । अपहतेत्यादि । अपहता व्यपगता अस्थ्यादयो यत्र देशे तस्मिन् देशे । प्राग्द्वारं पूर्वद्वारम्, उदगद्वारमुत्तरद्वारं वा । वैल्वानां विल्वकाष्ठानां, तिन्दुकानां तूद इति लोके, ऐङ्गुदानां जीवपुत्रिकाणां

सेवनमिति भावः । अतश्चैवेति मधुरौषधसिद्धेतैलात् । प्रजायते इति गर्भधारिण्या अनेन कर्मणा पुत्रजन्यैव व्याकृतं भवतीति ॥ २९—३१ ॥

चक्रपाणिः—पुत्रं प्रसूते यत्र गर्भिणी प्रसूता च यत्र प्रतिष्ठति, तत् सूतिकागारमुच्यते ।

राणां वा यानि चान्यान्यपि ब्राह्मणाः शंसेयुरथर्ववेदविदः । तद्-  
 वसनालेपनाच्छादनापिधानसम्पदुपेतं वास्तु \* विद्यात् । हृदययोगे-  
 नाग्निसलिलोदूखलवर्चःस्थानस्नानभूमिसहानसमृतसुखश्च † ।  
 तत्र सर्पिस्तैल-मधुसैन्धव-सौवर्चलकाललवण-विडङ्गगुडकुण्ड-  
 किलिम-नागर-पिप्पलीपिप्पलीमूलहस्तिपिप्पली-मण्डूकपर्ण्येला-  
 लाङ्गलिकी-वचा-चव्य-चित्रक-चिरविल्व-हिङ्गुसर्षप-लसुन-कण-  
 कणिकानीपातसीवल्लिजभूर्जाः कुलत्थमैरेयसुरासवाः सन्निहिताः  
 स्युः । तथाश्मानौ द्वौ द्वे चण्डमुषले द्वे उदूखले खरो वृषभश्च द्वौ च  
 तीक्ष्णौ सूचीपिप्पलकौ सौवर्णराजतौ शस्त्राणि च तीक्ष्णायसानि  
 वारुणानां वरुणकाष्ठानाम् । शंसेयुः प्रशस्तान्युपदिशेयुः । तद्वसनेत्यादि  
 तपां तेषां काष्ठनिर्मितं वसनं पीठखट्वादिकम् आलेपनमालेपनार्थं पात्रम्  
 आच्छादनम् चतुष्पाश्वे गृहस्यावरणम् अपिधानं कवाटम् एवमादिसम्पदुपेतं  
 वास्तु सूतिकागारस्य वासस्थानं विद्यात् । हृदययोगेन मनोयोगेन तत्तदुत्सुख-  
 मग्निः सलिलमुदूखलं वर्चःस्थानं विड्विसर्षस्थानं स्नानभूमिसहानसञ्च,  
 इत्येतत् सव्वेमृतसुखं तत्प्रसवकालसुखम् । तत्रेत्यादि । काललवणं विड-  
 लवणमित्यन्ये विटलवणसदृशकुण्डलवणम् । किलिमो देवदारुः । कणः  
 कुण्डक इति ख्यातः । कणिका स्थूलावयवतण्डुलकणाः । वल्लिजः कुष्माण्डम् ।  
 अश्मानौ द्वौ शिलाशिलापुत्रौ । द्वे चण्डमूपले गुरुतरमूपलद्वयम् । उदूखलद्वयश्च ।  
 सूतिकागारद्वारे स्थापनार्थं, न तु मुषलव्यायामार्थम् । खरो गद्दभः, वृषभोऽनङ्गान् ।  
 सूचीपिप्पलकौ सूचिगुडकद्वयं सौवर्णराजतौ एका सूची सुवर्णस्य द्वितीया  
 धारणस्वगावरणं वा । तत् सेवयेदिति समग्रन्धः । वसनं वस्त्रम् । आच्छादनमास्तरणम् । अपिधानं  
 कपाटः । वास्तुविद्याहृदयं वास्तुविद्यातरवम्, तदयोगादन्यादीनां स्थानं यत्र तद् गृहम् ।  
 वास्तुविन्मतेन विभक्तमग्न्यादिस्थानं तद् मूर्तं कर्तव्यमित्यर्थः । वर्तमानर्तुमपेक्ष्य सुखमृत-  
 सुखम् । सर्पिस्तैलादीनाञ्चात्र गृहे स्थापनीयानां व्यक्त एव तावदुपयोगः । बहुत्वेन येषान्त्  
 न वक्तव्यः, तेषामप्ययमुपयोग उन्नेयः । किलिमं देवदारुः । कणः कुण्डक इति ख्यातः ।  
 कणिका तु कुण्डकात् स्थूला । तण्डुला येन कुट्टयन्ते, तन्मुषलम् । कुण्डमुषले इति ह्रस्वमुषले ।  
 किंवा चण्डमुषले इति पाठः, तदा गुरुतरमुषले इत्यर्थः । सूच्याकारौ पिप्पलकौ सूचीपिप्पलकौ ।

\* वास्तुविद्याहृदययोगानीति चक्रधृतः पाठः ।

† सेवयेदित्यधिकः पाठः चक्रधृतः ।

द्वौ च विल्वमदौ पर्यङ्कौ तैन्दुकैर्द्वादानि काष्ठान्यग्निसन्धुक्षणानि,  
स्त्रियश्च बहुशः बहुशः प्रजाताः सौहार्दयुक्ताः सततमनुरक्ताः  
प्रदक्षिणाचाराः प्रतिपत्तिकुशलाः प्रकृतिवत्सलास्त्यक्तविषादाः  
क्लेशसहिष्णवोऽभिमताः । ब्राह्मणाश्चाथर्ववेदविदो यच्चान्यदपि  
तत्र समर्थं मन्येत यच्चान्यच्च ब्राह्मणा ब्रूयुः स्त्रियश्च वृद्धास्तत्  
कार्यम् ॥ ३२ ॥

ततः प्रवृत्ते नवमे मासे पुण्येऽहनि प्रशस्तनक्षत्रयोगमुपगतै  
भगवति शशिनि कल्याणे करणे मंत्रे मुहूर्त्ते शान्तिं हुत्वा  
गोब्राह्मणमग्निमुदकश्चादौ प्रवेश्य गोभ्यस्तृणोदकं मधु  
लाजांश्च प्रदाय ब्राह्मणेभ्योऽन्नतान् सुमनसो नान्दीमुखानि  
फलानीष्टानि दत्त्वोदकपूर्वमासनस्थेभ्योऽभिवाद्य पुनराचम्य

रजतस्य । बहुशः प्रजाताः बहुपत्यप्रसूताः । प्रदक्षिणाचाराः प्रकर्षेण दाक्षिणेन  
साम्मुख्येन न वैमुख्येनाचरणशीलाः कर्मदक्षा इत्यर्थः । प्रतिपत्तिकुशलाः—  
यदुच्यते केनचित् तदुक्तिमात्रेण बोद्धव्यः घापिकाश्च । प्रकृतिवत्सला  
वात्सल्यस्वभावाः । अभिमताः प्रसूतिमनोऽभिसम्पताः । एतानि स्त्रीविशेषणानि ।  
ब्राह्मणाः इत्यादि । तत्र समर्थं कर्मकरत्वेनावश्यकम् । वृद्धा इति स्त्रिय  
इत्यन्वयः ॥ ३२ ॥

गङ्गाधरः—तत इत्यादि । कल्याणे इत्यस्य करण इत्यनेनाप्यन्वयः ।  
शान्तिं शान्तिकर्म विधिना हुत्वा आदौ सूतिकागारे प्रवेशकाले पूर्वं गोब्राह्मणं  
तत्र गृहे प्रवेश्य प्रवेशन कारयित्वा ततोऽग्निं तत्र प्रवेश्य उदकञ्च तत्र प्रवेश्य,  
अक्षतांस्तण्डुलान् सुमनसः पुष्पाणि नान्दीमुखानि माङ्गल्यसूचकफलानि  
केचित् नान्दीमुखो मृदङ्गस्तदाकारफलानि इष्टानि गर्भिण्याः स्वाभिमतानि  
प्रविश्यागारे आसनस्थेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा पूर्वमुदकमभिवाद्य ततो ब्राह्मणा-  
किंवा सूची यत्र स्थाप्यते स सूचीपिप्पलकः । पर्यङ्कः खट्वा । समर्थं मन्येत इति कार्यमिति  
शेषः ॥ ३२ ॥

चक्रपाणिः—शान्तिं कृत्वेति शान्तिहोमं कृत्वा । नान्दीमुखानि च फलानि नान्दीमुखश्राद्धोप

स्वस्ति वाचयेत् । ततः पुण्याहशब्देन गोब्राह्मणमन्त्रा-  
वर्त्तमाना प्रविशेत् सूतिकागारम् । तत्रस्था च प्रसवकालं  
प्रतीक्षेत ॥३३॥

तस्यास्तु खल्विमानि लिङ्गानि प्रजननकालमभिभवन्ति । तद्  
यथा—कृमो गात्राणां, ग्लानिराननस्य स्नानता, अक्षणोः शैथिल्यं,  
विमुक्तवन्धनत्वमिव वक्षसः, कुक्षेरवलं सनमधो गुरुत्वं, वड्जगण-  
वस्तिकटीकुक्षिपार्श्वपृष्ठनिस्तोदो योनेः प्रसवणमनन्नाभिलाषश्च ।  
ततोऽनन्तरमावीनां प्रादुर्भावः प्रसेकश्च गर्भोदकस्य । आवी-  
प्रादुर्भावे तु भूमौ शयनं विदध्यान्मृदास्तरणोपपन्नम् ।

दीनभिवाद्य पुनराचम्य स्वस्तिवाचनं कृत्वा पुण्याहं पुण्याहमित्युक्त्वा गोब्राह्मणं  
प्रदक्षिणं चरणमभिहरन्ती । सुश्रुतेऽप्युक्तं—नवमे मासे सूतिकागारमेनां प्रवेशयेत्  
प्रशस्ततिथ्यादौ । तत्रारिष्टं ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां श्वेतरक्तपीतकृष्णेषु  
भूमिप्रदेशेषु विल्वन्यग्रोधतिन्दुकभल्लातकनिर्मितं सर्वार्गारं यथासह्यं  
तन्मयपय्यङ्गमुपलितमिति सुविभक्तपरिच्छदं प्राग्द्वारमुदगद्वारं वाष्टहस्तायतं  
चतुर्हस्तविस्तृतं रक्षामङ्गलसम्पन्नं विधेयमिति । तत्रस्थेत्यादि स्पष्टम् ॥ ३३ ॥

गङ्गाधरः—तस्या इत्यादि । प्रसवकालमभि लक्ष्यीकृत्य । कृमो गात्राणाम्  
अवसन्नता । ग्लानिरहर्षः । आननस्य म्लानता । अक्षणोः शैथिल्यं निमेषोन्मेषा-  
सामर्थ्यमित्यर्थः । विमुक्तवन्धनत्वमिवेति वक्षोवन्धमोचनमिवेत्यर्थः । कुक्षेरव-  
लं सनमधस्तात्पतनमिव । अधोगुरुत्वमधस्तादुदरे गुरुता । वड्जगणादिषु निस्तोदः,  
योनेः प्रसवणं स्नावः । सुश्रुतेऽप्युक्तम्—जाते हि शिथिले कुक्षौ मुक्ते हृदय-  
वन्धने । सशूले जघने नारी ज्ञेया सा तु प्रजायिनी ॥ तत्रोपस्थितप्रसवायाः  
कटी पृष्ठं प्रति समन्ताद् वेदना भवत्यभीक्ष्णं पुरीषप्रवृत्तिमूर्त्रं प्रसिच्यते । योनि-  
मुखात् श्लेष्मा चेति । ततोऽनन्तरमित्यादि । आवीनां प्रसववेदनानाम्  
गर्भोदकस्य गर्भगतोदकस्य । आवीप्रादुर्भावे तित्यादि—शयनं शय्याम् ।

हितानि फलानि । किंवा नान्दी मुरजः, तन्मुखाकृतीनि फलानि खज्जूरादीनि । पुण्याहशब्दो  
लक्ष्यः । प्रदक्षिणं यथा भवति तथा समनुवर्त्तमाना ॥ ३३ ॥

तदध्यासीनां तां ततः समन्ततः परिचार्य्य यथोक्तगुणाः स्त्रियः  
पर्युपासीरन् । ताश्चाश्वासयन्त्यो वाग्भिर्ग्राहणीयाभिरुदिष्ट-  
वदर्थभिर्धायिनीभिः । सा चेदावीभिः संक्लिश्यमाना न  
प्रजायेत, अथैनां ब्रूयाद्—उत्तिष्ठ मुषलमन्यतरश्च गृह्णीष्व ।  
अनेनैतदूखलं धान्यपूर्णं मुहुर्महुरभिजहि मुहुर्महुरवजृम्भस्व  
चक्रमस्व चान्तरान्तरा इत्येवमुपदिशन्त्येकै ॥ ३४ ॥

तन्नेत्युवाच भगवानात्रेयः । दारुणव्यायामवर्जनं हि  
गर्भिरयाः सततमुपदिश्यते विशेषतश्च प्रजननकाले । प्रचलित-  
सर्वधातुदोषायाः सुकुमारस्वभावाया नाध्या मुषलव्यायाम-  
समीरितो वायुरन्तरं लब्ध्वा प्राणान् हिंस्यात् । दुष्प्रतीकारतमा  
हि तस्मिन् काले विशेषेण भवति गर्भिणी । तस्मान्मुषलग्रहणं  
परिहार्य्यमृषयो मन्यन्ते, जृम्भणं चक्रमणश्च पुनरनुष्ठेय-  
मिति ॥ ३५ ॥

अथास्यै दद्यात् कुष्ठैलालाङ्गलिकीवचाचित्रकचिरवित्त्व-†-  
चूर्णमुपघातुं । सा तत् मुहुर्महुरुपजिघ्रेत् । तथा भूर्जपत्रधूमं  
तदध्यासीनां तच्छयनमध्यासीनां तां गभिणीम् । प्रादुर्भूतावीं मृदास्तरण-  
सम्पन्नां शय्यामध्यास्तवतीं गर्भिणीं समन्ततश्चतुर्दिक्षु ता यथोक्तगुणाः स्त्रियः  
परिचार्य्य परिचर्य्यकर्माणि कृत्वा ग्राहणीयाभिरुपदेष्टव्यार्थाभिधायिनीभिः  
वाग्भिराश्वासयन्त्यः पर्युपासीरन् सर्वतोभावेनोपासनां कुर्युः । सा चेदि-  
त्यादि । न प्रजायेत न प्रसूयेत । अथैनां गर्भिणीं तासामेका ब्रूयात् । किं  
ब्रूयादित्यत आह—उत्तिष्ठेत्यादि । अनेन मुपलेन । अभिजहि अभिघातं  
कुरु । अवजृम्भस्व हस्तपादादिप्रसारणं कुरु । चक्रमस्व मुहुः पादविहरणं  
कुरु । अन्तरान्तरा मध्ये मध्ये ॥ ३४ ॥

गङ्गाधरः—तन्नेत्यादि । स्पष्टार्थास्त्रयः श्लोकाः ॥ ३५ ॥

चक्रपाणिः—उपदिष्टार्थाभिधायिनी वाग् ग्राहणीया । अवजृम्भस्वेति गात्राणि प्रसारय । अन्तरं

\* परिवार्य्येति बहुषु ग्रन्थेषु पाठः ।

† इतः परं चन्द्रेत्यधिकः पाठो दृश्यते ।

शिंशपासारधूमं वा, तरयाश्चान्तरान्तरा कटीपार्श्वपृष्ठसक्थि-  
देशानीषदुष्णेन तैलेनाभ्यज्यानुमुखमवमृद्नीयात् । इत्यनेन तु  
कर्म्मणा गर्भोऽवाक् प्रतिपद्यते । स यदा जानीयाद् विमुच्य  
हृदयमुदरमस्यास्त्वाविशति वस्तिशोर्षमवगृह्णाति त्वरयन्त्येना-  
माव्यः परिवर्त्ततेऽस्या अवाग् गर्भ इति । असंयामवस्थायां  
पर्यङ्कमेनामारोप्य प्रवाहयितुमुपक्रमेत । कर्णे चास्या मन्त्र-  
मिममनुकूला स्त्री जपेत् ।

क्षितिर्जलं वियत् तैजो वायुरिन्द्रः प्रजापतिः ।

सगर्भां त्वां सदा पान्तु वैश्वस्यश्च दिशन्तु ते ॥

प्रसुव त्वमविक्लिष्टमविक्लिष्टा शुभानने ।

कार्तिकेयदुर्गतिं पुत्रं कार्तिकेयाभिरक्षितम् ॥ ३६ ॥

ताश्चैनां यथोक्तगुणाः स्त्रियोऽनुशिष्युरनागतावीर्मा  
प्रवाहिष्ठाः, यदि ह्यनागतावीः प्रवाहयते व्यर्थमेवास्यास्तत् कर्म्म  
भवति । प्रजा चास्या विकृता विकृतिमापन्ना च श्वासकास-  
शोषप्लीहप्रसक्ता वा भवति । यथा हि क्ष्वथूद्गारवातसूत्रपुरीष-  
वेगान् प्रयतमानोऽप्यप्रासकालान्न लभते कृच्छ्रेण वाप्यवाप्नोति,  
तथाऽनागतकालं गर्भमपि प्रवाहमाणा । यथा चैषामेव क्ष्वत्वा-

गङ्गाधरः—अथेत्यादि । भूर्जपत्रधूमं शिंशपासारधूमं वोपाजिघ्रेन्मुहुर्मुहु-  
रित्यन्वयः । अनुमुखमधोनयनरूपेण । अवाक् हृदयवन्धमुक्तोऽधः । स यदेत्यादि ।  
आविशति गर्भः त्वरयन्त्येनामाव्य इति आवीभिरेषा वग्रा भवतीत्यर्थः । तदास्या  
गर्भोऽवाक् परिवर्त्ततेऽधः शिरा भवति । प्रवाहयितुं कुन्थयितुम् । मन्त्रमाह—  
क्षितिर्जलं वियत् तैजो वायुरिन्द्रः । किमनुशिष्युस्तदाह—अनागतावीः ।  
तत्र दोषमाह—यदि हीत्यादि । व्यर्थं विस्त्यर्थम् । विकृतेति विवृणोति—

। लब्ध्वेति हेतुमासाद्य । यद्यपि सुपलग्रहणं निषिद्धम्, तथाप्युत्तरकालं द्वारे सुपलस्थापनं वक्तव्य-  
मिति साधु सुपलोपादानम् ॥ ३४—३५ ॥

दीनां सन्धारणमुपघातायोपपद्यते, तथा प्रातःकालस्य गर्भस्या-  
प्रवाहणम् इति । सा यथानिर्देशं कुरुष्वेति वक्तव्या स्यात् ।  
तथा च कुर्वती शनैःपूर्वं प्रवाहेत ततोऽनन्तरं बलवत्तर-  
मिति । तस्याश्च प्रवाहमाणायां स्त्रियः शब्दं कुर्युः “प्रजाता  
प्रजाता धन्यं धन्यं पुत्रं,” इति । तथास्या हर्षेणाप्याय्यन्ते  
प्राणाः ॥ ३७ ॥

यदा च प्रजाता स्यात् तदनैवामवेक्षेत काचिदस्या अमरा  
प्रपन्ना वा प्रपन्ना नेति । तस्याश्चेदमरा न प्रपन्ना स्यादथैनान्  
अन्यतमा स्त्री दक्षिणेन पाणिना नाभेरुपरिष्ठाद् बलवन्निपीड्य  
सव्येन पाणिना पृष्ठत उपगृह्य सुनिर्द्धूतं निर्द्धुनुयात् । अथास्याः  
पाण्यो ॐ श्रोणीमाकोटयेत् । अथास्याः स्फिचानुपसंगृह्य  
सुपीडितं पीडयेत् । अथास्या बालवेण्या कण्ठतालु परिमृशेत् ।

विकृतिमित्पादि । विकृतिं विपरीताकृतिम् । तथा प्रातःकालस्येति । प्रातःवी-  
र्णभिर्घ्नी यदि न प्रवाहेत तदा तदप्रवाहणं प्रवाहणकालप्रातस्य गर्भस्योप-  
घातायोपपद्यते इति । तथेत्यादि । शनैःपूर्वं शनैःपूर्वं यत्र तत् शनैःपूर्वं प्रवाहेत  
पूर्वं मन्दंमन्दं प्रवाहानन्तरं बलवत्तरं प्रवाहेत । प्रजाता प्रजाता प्रसूतवती  
प्रसूतवती धन्यं धन्यं पुत्रमिति शब्दं स्त्रियः कुर्युः । तथा तेन शब्दकरणेन  
अस्याः प्राणा हर्षेणाप्याय्यन्ते ॥ ३६।३७ ॥

गङ्गाधरः—यदा चेत्यादि । प्रजाता स्यादिति प्रसूतवती स्यात् तदा  
वेनां प्रसूतामवेक्षेत अवधानेन काचित् स्त्री । अस्या अमरा नाम नाडी पुष्पनाडी  
पन्ना पतिता वा न प्रपन्नेति पश्येत् । न चेत् प्रपन्ना तदा सुनिर्द्धूतं  
निष्कम्पितं निर्द्धुनुयात् निष्कम्पयेत् । पाण्यो श्रोणीम् आकोटयेत् कुटिलं  
कारयेत् । बालवेण्या केशवेणीं मुखमध्ये प्रवेश्य कण्ठस्य तालु परिमृशेत्

चक्रपाणिः—सुनिर्द्धूतामिति क्रियाविशेषणम् । आकोटयेदिति पीडयेत् । बालकृता वेणी

पाण्यो इत्यत्र पादपाण्यो, परिमृशेदित्यत्र परिमृशेदिति पाठान्तरम् ।



भूर्जपत्रकाचमणिसर्पनिस्मोर्कैः ॐ चास्या योनिं धूपयेत् । कुण्ड-  
तालीशकल्कं वल्वजयूपे मरेयसुरामण्डे वा कौलत्थे वा मण्डूक-  
पिप्पलीकाथ वा संप्लाव्य तथा पाययेदेनाम् ॥ ३८ ॥

तथा सूक्ष्मैलाकिलिमकुण्ठनागरविडङ्ग-कालविडगुड-चव्य-  
पिप्पलीचित्रकोपकुश्विकाकल्कं, खरवृषभस्य जरतो वा दक्षिणं  
कर्णमुत्कृत्य वृषदि जर्जरीकृत्य वल्वजयूपादीनामन्य-  
तमे प्रक्षिप्याप्लाव्य सुहृत्स्थितमुद्धृत्य तदाप्लावनं पाययेदेनाम् ।  
शतपुष्पाकुण्डहिङ्गमदनसिद्धस्य चैनां तैलस्य पिचुं ग्राहयेत् ।  
ततश्चैवानुवासयेदेतैरेव चाप्लावनैः फलजीमूतकेद्विकूधामा-  
र्ग्यकुटजकृतवेधनहस्तिपर्ण्युपहितैरास्थापयेत् । तदास्थापनम्  
अस्या हि सह वातमूत्रपुरीषैर्निर्हरत्यमरासासक्तां वायोरनुलोम-  
योजयेत् । भूर्जत्यादि । काचमणिः काच एव । कुण्डत्यादि । वल्वजयूपे  
ऊल्याघासस्य बीजविदलकाथे । मण्डूकः मण्डूकपर्णी ॥ ३८ ॥

गङ्गाधरः—तथेत्यादि । किलिमो देवदारु । कालविडः विट्त्वणम् । गुडः  
पुराणगुडः । उपकुश्विका कुण्ठजीरकम् । खरेत्यादि । खरवृषभस्य पुं गर्भस्य,  
चण्डवलीवर्दस्य जरतो वृद्धस्य मृतस्य दक्षिणं कर्णं वा उत्कृत्य कर्त्तनं कृत्वा  
जर्जरीकृत्य कुट्टयित्वा वल्वजकाथाद्यन्यतमे मुहूर्त्तस्थितं तं कल्कं कर्णं वा तदा-  
प्लावनं वल्वजयूपादिकं पाययेदेनामित्यर्थः । शतपुष्पेत्यादि । शतपुष्पादिकल्केन  
तैलपादिकेन तेषां काथेन सिद्धस्य चतुर्गुणजलेन वा पक्वस्य तैलस्य पिचुं तूलकम्  
एनाम् अपपन्नामरां प्रसृतां योनौ ग्राहयेत् । तत इति पिचुग्रहणानन्तरं तेन  
तैलेन अनुवासयेत् । एतैरेव च वल्वजयूपादिभिराप्लावनैः फलादिकल्कोपहितैः  
आस्थापयेत् । फलं मदनफलम् । जीमूतधामार्ग्यौ वोपकप्रभेदौ । इक्ष्वाकूस्तिक्ता-  
लावूः । कुतवेधनं ज्योत्स्निका । हस्तिपर्णी मोरटः । आस्थापनकर्म्मार्ह—तदा-  
स्थापनमित्यादि । निर्हरति वहिष्करोति । ननु वातमूत्रादिसंहितां कथममरम्  
वालचेणो । वल्वजयूपो वल्वजकाथः । मण्डूकपिप्पली मण्डूकपर्णी । किंवा मण्डूको मण्डूकर्णी,  
पिप्पली-पिप्पल्येव, तयोः । वल्वजयूपादौ सूक्ष्मैलादीनां पानं विधीयते । खरवृषभश्चण्ड-

\* निर्मोर्कैरित्यत्र निर्मोर्कधूमैः, मण्डे इत्यनन्तरं तीक्ष्णे, काथे इत्यत्र सम्पाके, कालविड-  
गुडेत्यत्र कालगुडतः, हस्तिपर्णीत्यत्र हस्तिपिप्पलीति पाठान्तरम् ।

गमनात् । अमरां हि वातसूत्रपुरीषाण्यन्यानि चान्तर्वहि-  
 स्सुखाणि ० सज्जन्ति । तस्यास्त्वमरायाः प्रपतनार्थं खल्वेवमेव  
 कर्मणि क्रियमाणे जातमात्रस्यैव कुमारस्य कार्थ्याण्येतानि  
 कर्मणि भवन्ति । तद् यथा—अश्मनोः संघट्टनं कर्णयोर्मूले,  
 शीतोदकेनोष्णोदकेन वा सुखपरिषेकः । तथा संक्लेशविहतान्  
 इत्यत आह—अमरां हीत्यादि । अमरां नाङ्गीं वातादीन्यन्यानि च  
 प्रसवानन्तरं वहिर्मुखाणि सन्त्यन्तः सज्जन्ति लगन्ति तिष्ठन्ति ।  
 तेनास्थापनं वातानुलोमनं वातादिभिः सदैवासक्ताममरां निर्दरतीति भावः ।  
 सुश्रुतेऽप्युक्तम्—प्रजनयिष्यमाणां कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनां कुमारपरिवृतां  
 पुंनामफलहस्तां स्वभ्यक्तामुष्णोदकपरिपिक्तामथैनां सम्भृतां यवागूमा कण्ठात्  
 पाययेत् । ततः कृतोपधाने मृदुविस्तीर्णं शयने स्थितामाशुप्रसक्तं श्नीमुत्तानाम्  
 अशङ्कनीयाश्चतस्रः स्त्रियः परिणतवयसः प्रजननकुशलाः कर्त्तितनखाः परिचरेयु-  
 रिति । अथास्या विशिखान्तरमनुलोममनुमुखमभ्यज्यात् । ब्रूयाच्च एनामेका  
 भुभगे प्रवाहस्वेति न चाप्राप्तावीः प्रवाहस्व । ततो विमुक्ते गर्भनाडी-  
 प्रवन्धे सशूलेषु श्रोणिवङ्क्षणवस्तिशिरःसु प्रवाहेथाः शनैः शनैः । ततो  
 गर्भनिर्गमे प्रगाढं, ततो गर्भं योनिमुखं प्रपन्ने गाढतरम् आ विशल्यभावात् ।  
 अकालप्रवाहणाद्वधिरं मूकं व्यस्तहनुं मूर्द्धाभिधातिनं कासश्वासशोपोपद्रुतं  
 कुब्जं विकलं वा जनयति । तत्र प्रतिलोममनुलोमयेत् । गर्भसङ्गे तु योनिं  
 धूपयेत् कृष्णसर्पनिर्मोकेण पिण्डीतकेन वा । यध्नीयाद्विरण्यपुष्पीमूलं,  
 हस्तपादयोर्धारयेत् सुवर्चलां विशल्यां वा । इति । अथामरापातनान्तरं  
 किं कर्त्तव्यं, शिशोर्वा जातमात्रस्य किं विधेयं इत्यत आह—तस्यास्त्वित्यादि ।  
 तस्या अमरायाः पुष्पनाड्याः प्रपातनार्थं क्रियमाणे निरुक्ते कर्मणि सति  
 तालमेव जातमात्रस्यैव कुमारस्य, न तु जातोत्तरं कियन्तं कालं विश्राम्य ।  
 अश्मनोः प्रस्तरद्वयस्य संघट्टनं घर्षणेन शब्दायनम् उदरान्निष्क्रमणयातनाभिभूत-  
 शोश्चैतन्यार्थं कार्थ्यं शिशोरेव तस्य कर्णयोर्मूले । तथा तेन प्रकारेण क्रिय-  
 षलीवहः । एतैरेवेति बल्वजादियूपैः, सज्जन्ति वहिर्गमनशीलानि पुरीषादीनि अभ्यन्तरदेशे  
 संसक्तानि भवन्ति । शीतोदकेन चोष्णोदकेनेति ऋतुभेदेन ज्ञेयः, ग्रीष्मकाले शीतोदकेन, शीत-

प्राणान् पुनर्लभेत, कृष्णकपालिकासूर्पेण चैनमभिनिष्पुणीयुः ।  
यद्व्यच्छेष्टं स्याद् यावत् प्राणानां प्रत्यागमनं तत्तत्  
सर्वमेव कुर्युः ॥ ३६ ॥

ततः प्रत्यागतप्राणं प्रकृतिभूतमभिसमीक्ष्य स्नानोदकग्रह-  
णाभ्यामुपपादयेत् । अथास्य ताल्वोष्ठकण्ठजिह्वामार्ज्जनम् आर-  
भेताङ्गुल्या सुपरिलिखितनखया सुप्रक्षालितोपधानयाकार्पास-  
पिचुमत्या । प्रथमं प्रमार्ज्जितास्यस्य चास्य शिरस्तालु कार्पा-  
सिकपिचुना स्नेहगर्भेण प्रतिसंछादयेत् । ततोऽभ्यानन्तरं  
कार्यं सैन्धवोपहितेन सर्पिषा प्रच्छेदनम् । ततः कल्पनं  
नाड्यास्ततस्तस्याः कल्पनविधिमुपदेक्ष्यामः । नाभिवन्धनात्

माणे क्लेशविहतान् गर्भाशयात् निष्क्रमयान्नाभिभूतान् प्राणान् कृष्णकपा-  
लिकासूर्पेण ईपिकनेलीवद्धकपालदेशः कृष्णकपालिका तत्कृतः सर्पस्तेन पुन-  
श्शिशुम् अभिनिष्पुणीयुर्वीजयेयुरित्यर्थः । यद् यदित्यादि । क्लेशविहतप्राणा-  
गमनकरं यावत् कर्म कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥ ३९ ॥

गङ्गाधरः—तत इत्यादि । शिशोश्चैतन्यानन्तरं स्नानम् उदकग्रहणं मलमार्ग-  
शौचं कारयेत् । अथास्येत्यादि । अस्य प्राणागतत्वेन प्रकृतिभूतस्य कृतस्नान-  
शौचस्य । सुप्रक्षालितोपधानया प्रक्षालितमावरणं यस्या अङ्गुल्यास्तया ।  
लिखितनखया कर्त्तितनखया कार्पासपिचुमत्याङ्गुल्या ताल्वादिकप्रमार्ज्जनं  
कुर्यात् । प्रमार्ज्जितास्यस्य उक्तरूपेण प्रमार्ज्जिततालवादेः शिशोः शिरस्तालु  
ब्रह्मरन्ध्रस्थानं स्नेहगर्भेण घृताक्तेन कार्पासपिचुना तूलकेन । ततोऽनन्तरमस्य  
शिशोः सैन्धवोपहितेन सर्पिषा प्रच्छेदनं कार्यम् । सुश्रुतेऽप्युक्तम्—अथ जात-  
स्योत्वं मुखश्च सैन्धवसर्पिषा विशोध्य घृताक्तं मुर्छि पिचुं दद्यादिति । अत्र उल्वं  
शिशोः कण्ठगतश्लेष्माणं विशोध्य छेदनेन निर्हरेदित्यर्थः । तत इत्यादि ।  
ततः कल्पनं नाड्या इति नाभिनाडीच्छेदनम् । नाभिवन्धनात् नाभिमूलस्त

काले तु उष्णोदकेनेत्यर्थः । संकुशविहृतानिति यानिरन्ध्रपीडितादिक्लेशपराहतात् । कृष्ण-  
कपालिका ईपिकेति, तत्कृतसूर्पः, कृष्णकपालिकासूर्पः, तेन निष्पुण्ययुः वीजयेयुरित्यर्थः ।  
अथ कियन्तं कालं तद्वीजनमित्याह—यावत् प्राणानां प्रत्यागमनमिति । उदकग्रहणं मलमार्ग-

प्रभृति हित्वाष्ट्राङ्गुलमभिज्ञानं कृत्वा च्छेदनावकाशस्य द्वयो-  
रन्तरयोः शनैर्गृहीत्वा तीक्ष्णेन रौबम्यराजतायसानामन्यतमे-  
नोर्द्ध्वधारेण ॐ च्छेदयेत् तामग्रे सूत्रेणोपनिबध्य कण्ठे चास्य  
शिथिलमवसृजेत् ॥ ४० ॥

अस्य चेन्नाभिः पच्यते तां लोभ्रमधुकप्रियङ्गुहरिद्रादारु-  
कल्कसिद्धेन तैलेनाभ्यज्यात् । एषामेव तैलौषधानां चूर्णेनाव-  
चूर्णयेत् । एष नाडीकल्पनविधिरुक्तः सम्यक् । असम्यक्-  
कल्पने हि नाड्यः आयामव्यायामोत्तुण्डितापिण्डलिका-  
विनामिकाविजृम्भिकावाधेभ्यो भयम् । तत्राविदाहिभिर्वात-  
पित्तप्रशमनैरभ्यङ्गोत्सादनपरिषेकैः सर्पिर्भिश्चोपक्रमेत गुरु-  
प्रभृति अष्टाङ्गुलं नाड्या हित्वा त्यक्त्वा च्छेदनस्थानस्यावकाशस्थानस्य द्वयोरन्त-  
रयोरभिज्ञानमभिसन्धानं (चिह्नं) कृत्वा तां नाडीमग्रे सूत्रेण बद्धा । रौबम्यं सुवर्ण-  
निर्मितम् । छित्त्वा तत्सूत्रैकदेशमस्य शिशोः कण्ठे उपनिबध्य विष्टजेत् ।  
सुश्रुतेऽप्युक्तम्—ततो नाभीनाडीमष्टाङ्गुलमायम्य सूत्रेण बद्धा च्छेदयेत् तत-  
स्तत्रैकदेशश्च कुमारस्य ग्रीवायां सम्यग् वद्रीयात् इति ॥ ४० ॥

गङ्गाधरः—अस्य चेदित्यादि । अस्य च्छिन्ननाभिनाडीकस्य । तां च्छिन्न-  
नाडीं नाभिं लोभ्रादीनां कल्केन तैलपादिकेन चतुर्गुणजलेन च सिद्धेन तैलेन ।  
एषामेव तैलोषधानां तैलकल्कार्थमेपां लोभ्रादीनां चतुर्णां चूर्णनं । असम्यग्  
इत्यादि । आयामा दीर्घा व्यायामा विस्तीर्णा चासौ उत्तुण्डिता चेति आयाम-  
व्यायामोत्तुण्डिता । आयामव्यायामाभ्यामुत्तुण्डिता दीर्घपीनगुडकाकारा ।  
पिण्डलिका परिमण्डलगुडकाकारा । विनामिका अन्तोच्छूनमध्यनिम्नगुडकाकारा ।  
विजृम्भिका मुहुर्मुहुर्दृष्टिमाती । एते चत्वारो नाभिगता आवाधाः । कथमुप-  
शोचम् । उपधानमावरणम्, तच्चेहोङ्गुल्या कार्पासपिचुनैव । अष्टाङ्गुलमभिज्ञानं कृत्वेति अष्टाङ्गुलं  
चिह्नं कृत्वा । अर्द्धधारस्तिर्यग्धारः शस्त्रविशेषः । तामिति च्छिन्नावशिष्टाङ्गुलां नाडीम् ।  
कण्ठेऽवसृजेदिति नाड्यग्रवर्द्धं सूत्रं कुमारस्य कण्ठे निबध्नीयात् ॥ ३८—४० ॥

चक्रपाणिः—नाड्या अधिककल्पने दोषमाह—असम्यगित्यादि । आयामो दैर्घ्यम्, व्यायामो

\* अर्द्धधारेण इति चक्रः ।

† आयामव्यायामहुण्डिका इति अन्तरम् ।

लाघवमभिसमीक्ष्य कुमारस्य । प्रागतो जातकर्म कार्य्यं,  
ततो मधुसर्पिषी मन्त्रोपमन्त्रिते यथाम्नायं प्राशितुमस्मै दद्यात् ।  
स्तनमत ऊर्द्धमनेनैव विधिना दक्षिणं पातुं पुरस्तात् प्रयच्छेत्  
अथातः शीर्षतः स्थापयेदुदकुम्भं मन्त्रोपमन्त्रितम् ॥ ४१ ॥

अथास्य रक्षां विदध्यात् । आदानीककन्दुखदिरपीलु-

क्रमेतेत्यत आह—तत्रेत्यादि, गुरुलाघवमिति कुमारस्य नाभिवाधकदोषाण-  
गुरुलाघवम् अभिसमीक्ष्य पूर्वं गुरुदोषं त्वरयोपक्रम्यानन्तरं लघुदोषमुपक्रमे-  
दित्यर्थः । प्रागत इत्यादि । नाभिनाडीच्छेदनात् पूर्वं शीताभिरद्भिः कुमार-  
माश्वस्य कुमारस्य जातकर्म कार्य्यम् । तत इत्यादि । यथाम्नायं यस्य यद्वे-  
दोक्तविधिना पुरुषानुक्रमेण कर्म विधीयते तद्वेदोक्तमन्त्रोपमन्त्रिते मधुसर्पिषी  
प्राशितुं दद्यादा स्तन्यप्रवृत्तेश्च प्रसूतायाः । सुश्रुते च—अथ कुमारं शीताभि-  
रद्भिराश्वस्य जातकर्मणि कृते मधुसर्पिरनन्ताब्राह्मीरसेन सुवर्णचूर्णमङ्गुल्या-  
नामिकया लेहयेत् । ततो बलातैलेनाभ्यज्य क्षीरिवृक्षकषायेण सर्व्वगन्धोदकेन  
वा रूप्यहेमप्रतप्तेन वा चारिणा स्थापयेदेनम् कपित्थपत्रकषायेण वा कोष्णेन  
यथाकालं यथादोषं यथाविभवञ्च इति । स्तन्यमत ऊर्द्धमिति । अत ऊर्द्धम्  
अतः परं स्तन्यप्रवृत्तौ सत्याम् । सुश्रुतेऽप्युक्तं—धमनीनां हृदिस्थानां विवृतत्वात्  
अनन्तरम् । चतुरात्रात् त्रिरात्राद्वा स्त्रीणां स्तन्यं प्रवर्त्तते । तस्मात् प्रथमेऽह्नि मधु-  
सर्पिरनन्तामिश्रं मन्त्रपूतं त्रिकालं पाययेत् । द्वितीये लक्ष्मणसिद्धं सर्पिस्तृतीये च ।  
ततः प्राङ्निवारितस्तन्यं मधुसर्पिः स्वपाणितलसम्पितं त्रिकालं पाययेत् इति ।  
अत ऊर्द्धं स्तन्यप्रवृत्तौ अनेन विधिना यथाम्नायं मन्त्रोपमन्त्रितं दक्षिणं स्तनं  
पुरस्तादग्रे पातुं प्रयच्छेत् । ततो वाममिति शेषः । अथात इत्यादि । उदकुम्भं  
जलपूर्णकुम्भं यथाम्नायं मन्त्रोपमन्त्रितं कुमारस्य शीर्षतः स्थाने स्थापयेत् ॥ ४१ ॥

गङ्गाधरः—अथास्य रक्षां विदध्यादिति । रक्षाविधिमाह—आदानी-

विस्तारः, ताभ्यां हुण्डिका आयामव्यायामहुण्डिका दीर्घपीनत्वयुतेत्यर्थः । पिण्डलिका तु  
परिमण्डलयुता । विनामिका अन्ताच्छूना मध्यनिम्ना । विजृम्भिका तु सुहुस्सुहुवृद्धिमती ।  
गुरुलाघवमवेक्ष्येति नाडीपाककारकपित्ते तथा घाते चायामव्यायामहुण्डिकादिविकारचतुष्टयकारके  
यो दोषो गुरुः, स उपकर्त्तव्यस्त्वरयेत्यर्थः । जातमात्रस्य वेदोक्तं कर्म जातकर्म । यथाम्नायमिति  
यथायमं मन्त्रोपमन्त्रिते । एतेनैव विधानेन स्तनमभिमन्त्रितं पाययेदित्यर्थः । आदानी घोषकभेदः ।

परुषकशाखाभिरस्या गृहं भिषक् समन्ततः परिवारयेत् । सर्व्व-  
 तश्च सूतिकागारस्य सर्पपातसीतण्डुलकणकणिकाः \* प्रकिरेत् ।  
 तथा तण्डुलवलिमङ्गलहोमः सततमुभयकालं क्रियेत प्राङ्  
 नामकर्मणः† । द्वारे च मुषलमनुतिरश्चीनं न्यस्तं कुर्यात् ।  
 वचाकुष्ठजौमकहिङ्गुसर्पपातसीलसुनकणकणिकानां रक्षोघ्नसमा-  
 ख्यातानाञ्चौषधीनां षोडशिकां वद्ध्वा सूतिकागारस्योत्तर-  
 देहल्यामवसृजेत्, तथा सूतिकायाः कण्ठे सपुत्रायाः,  
 स्थाल्युदकुम्भपर्य्यङ्केष्वपि, तथैव द्वयोर्द्वारपक्षयोः । सकणकुम्भ-  
 केन्धनाग्निस्तिन्दुककाण्ठेन्धनश्चाग्निः सूतिकागारस्याभ्यन्तरतो  
 नित्यं स्यात् । स्त्रियश्चैनां यथोक्तगुणाः सुहृदश्चानुजागृयुः दशाहं  
 द्वादशाहं वा अनुपरतप्रदानमङ्गलाशीः स्तुतिगीतवादित्रमन्त्र-  
 त्यादि । आदानी देवदानी घोषकभेदः । अस्याः सूतिकाया गृहं समन्ततः  
 चतुर्दिक्षु । सूतिकागारस्य सर्व्वतश्चतुर्दिक्षु मध्यतश्च सर्पपादीन् प्रकिरेत्  
 प्रक्षिपेत् । तण्डुलानां क्षुद्रतरकणाः कणाः, क्षुद्रकणाः कणिकाः । तण्डुल-  
 वलिमङ्गलहोमस्तण्डुलवलिना मङ्गलहोम उभयकालं सायं प्रातश्च क्रियत ।  
 प्राङ् नामकर्मण अशौचान्तदिनपर्यन्तम् । मुषलम् अनुतिरश्चीनं तिरो-  
 भावेण न्यस्तं कुर्यात् । वचादीनां तथान्येषामपि गुग्गुलुवादीनां रक्षोघ्न-  
 समाख्यातानामोषधीनां वस्त्रे षोडशीं वद्ध्वा उत्तरदेहल्यामुत्तरप्राङ्गणे द्वारोपरि  
 अवसृजेत् रक्षेत् । सूतिकायाः पुत्रस्य च कण्ठे तस्य षोडशीं वधीयात् ।  
 स्थाल्यादिषु च रक्षेत् तस्य षोडशीं, द्वारपक्षयोः द्वारपार्श्वयोर्द्वयोश्च षोडशीद्वयं  
 रक्षेत् । सूतिकागारस्याभ्यन्तरतो नित्यं कणस्तण्डुलकणः, कुम्भ उदकुम्भः,  
 इन्धनं काष्ठमग्निस्तैः सहितः स्यादग्निश्च तिन्दुककाण्ठेन्धनः स्यात् । स्त्रियश्च  
 इत्यादि । अनुजागृयुर्जागरणम् एनामनु लक्ष्यीकृत्य कुर्युः । अनुपरतानि  
 तण्डुलवलिहोमः कियत्कालं कर्त्तव्य इत्याह—आ नामकर्मण इति । दशाहं यावदित्यर्थः, दशाहं  
 तु नामकर्म भविष्यतीति । जतुकर्णेऽप्युक्तम्—‘तण्डुलवलिहोमो द्विकालमा दशमाहम्’ इति ।

\* सर्पपातसीकणकणिकाः तथा तण्डुलवलिहोम इति चक्रः । † आ नामकर्मण इति चक्रः ।

पानविशदसंनुरक्तप्रहृष्टजनसम्पूर्णश्च तद्वेश्म कार्यम् । ब्राह्मण-  
श्चाथर्ववेदवित् सततमुभयकालं शान्तिं जुहुयात् स्वस्त्ययनार्थं  
सुकुमारस्य तथा सूतिकायाः । इत्येतद् रक्षाविधानमुक्तम् ॥ ४२

सूतिकान्तु खलु बुभुक्षितां विदित्वा स्नेहं पाययेत् प्रथमं  
परमया शक्त्या सर्पिस्तैलं वसां मज्जानं वा सात्स्यीभावमभि-  
समीक्ष्य भिषक् पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरचूर्णसहि-  
तम् । स्नेहं पीतवत्याश्च सर्पिस्तैलाभ्यामभ्यज्य वेष्टयेदुदरं महता  
वाससा । तथा अस्या न वायुरुदरे विकृतिमापादयति अनवकाश-  
त्वात् । जीर्णे तु र्नेहे पिप्पल्यादिभिरेव सिद्धां यवागूं सुम्निग्धां  
अविरतानि प्रदानादीनि यत्र तदनुपरतप्रदानादि । अन्नपानविशदम् अन्नेन  
पानेनावदातं । तद्वेश्म सूतिकागारम् । सुकुमारस्य स्वस्त्ययनार्थं तथा सूतिकायाः  
स्वस्त्ययनार्थम् । सुश्रुतेऽप्युक्तम्—अथ बालं क्षौमपरिवृतं क्षौमवस्त्रास्तृतायां  
शय्यायां शाययेत् । पीलुवदरीनिम्बपरुपकशाखाभिश्चैनं वीजयेत् । मूर्द्धि  
चास्याहरहस्तैलपिचुमवचारयेत् । धूपयेच्चैनं रक्षोघ्नैर्धूपैः । रक्षोघ्नानि चास्य  
पाणिपादशिरोघ्नीवास्त्वसृजेत् । तिलातसीसर्पपकणांश्चात्रं प्रकिरेत् । अधिष्ठाने  
चाग्निं प्रज्वालयेत् । त्रणितोपासनीयश्चावेक्षेत इति ॥ ४२ ॥

गङ्गाधरः—सूतिकान्वित्यादि । प्रथमं प्रथमदिनावधि सर्पिर्वा तैलं वा  
वसां वा मज्जानं वा स्नेहं पाययेत् परमया शक्त्या । सर्पिरादीनां सात्स्यी-  
भावं सूतिकाया अभिसमीक्ष्य पिप्पल्यादिचूर्णसहितं स्नेहं सर्पिराद्यन्यतमं  
पाययेत् । तच्च पीतवत्याः सूतिकाया उदरं महता वाससा वस्त्रेण वेष्टयेदिति ।  
अस्य फलमाह—तथेत्यादि । तेन प्रकारेण अस्या अवकाशमप्राप्य उदरे वायुर्न  
विकृतिमापादयति । कस्मादित्यत आह—अनवकाशत्वादिति । वस्त्रवेष्टनेन  
‘रक्षोघ्नसमाख्यातानाम्’ इत्यनेन गुग्गुल्वादीन् ग्राहयति । उत्तरदेहल्यामिति द्वारोपरि, अन्ये तु  
देहलीं द्वाराधःकाष्ठमाहुः ॥ ४१।४२ ॥

चक्रपाणिः—कुमारस्य जातकर्मभिधाय ३ सूतिकायाः कर्तव्यमाह—सूतिकान्वित्यादि ।  
बुभुक्षितामित्यनेन यावता कालेन बुभुक्षिता भवति, तदा स्नेहपानं कर्तव्यम् । परमया शक्त्याति  
उत्तमया शक्त्या लक्षिता स्नेहं पिबेत्, यावता स्नेहेन बलविरोधो न भवति तावन्मात्रं स्नेहं  
पिबेदित्यध्याहृतम् । सात्स्यीभावमभिसमीक्ष्येति सर्पिरादिषु यद् यस्याः सात्स्यम्, तत् तस्यै

द्रवां मात्रशः पाययेतोभयकाल-ः-ओष्णोदकेन परिपेचयेत् प्राक्  
स्नेहयवागूपाणाभ्याम् । एवं पञ्चरात्रं सप्तरात्रं वानुपाल्य क्रमे-  
णाप्याययेत् । स्वस्थवृत्तमेतावत् तु सूतिकायाः ॥ ४३ ॥

वायुरुदरेऽवकाशं न प्राप्नोतीति भावः । ततोऽस्मिन् पीते स्नेहे जीर्णे सति  
पिप्पल्यादीत्यादि । अत्रायमर्थः—पूर्वमुष्णोदकेनैनां परिपिच्य घृताद्यन्य  
तमं स्नेहं पिप्पल्यादिचूर्णसहितं मात्रावत् पाययेत् । ततोऽनन्तरमुक्त-  
रूपेण वस्त्रवेष्टनं, ततस्तस्मिन् जीर्णे पिप्पल्यादिकल्कपादिकचतुर्गुणजलसिद्धां  
घृतादिमुस्तिग्धां द्रवां यवागू\* मण्डरूपां पेयां वा मात्रां पाययेत् पूर्वार्द्धम् ।  
एवमवराद्धे पूर्वमुष्णोदकेनैनां परिपिच्य स्नेहं पाययित्वा तस्मिन् जीर्णे  
तादृशीं यवागू\* मात्रां पाययेदिति बोध्यम् । एवं पञ्चरात्रं वा सप्तरात्रं वा  
यावत् । मुश्रुतेऽप्युक्तम्—अथ मृत्तिकां बलतैलाभ्यक्तां वातहरौषधनिकाथेनोप-  
चरेत् । सशेषदोषान्तु तदहः पिप्पलीपिप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीचित्रक-  
शृङ्गवेरचूर्णं गुहोदकेनोष्णेन पाययेत् । एवं द्विरात्रं त्रिरात्रं वा कुर्यात्  
आ दुष्टशोणितविशुद्धेः । ततो विदारिगन्धादिसिद्धां स्नेहयवागू\* क्षीरयवागू\* वा  
पाययेत् त्रिरात्रम् । ततो यवकोलकुलत्थसिद्धेन जाङ्गलरसेन शाल्योदनं  
भोजयेद् बलमग्निबलश्चावेक्ष्य । अनेन विधिनाध्यर्द्धमासमुपसंस्कृता विमुक्ता-  
हाराचारा विगतमृत्तिकाभिधाना स्यात् पुनरात्तवदर्शनादित्येके । धन्वभूमि-  
जातां मृत्तिकां घृततैलयोरन्यतरस्य मात्रां पाययेत् पिप्पल्यादिकपायानुपानं  
स्नेहानित्या च स्यात् त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा । बलवतीमबलां यवागू\* पाययेत्  
त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा । अत ऊर्द्धं स्तिग्धेनान्नसंसर्गेणोपचरेत् प्रायशश्चैनां  
प्रभूतेनोष्णोदकेन परिपिच्येत् । क्रोधायासमैथुनादीन् परिहरेत् । भवतश्चात्र ।  
मिथ्याचारात् सूतिकाया यो व्याधिरुपजायते । स कृच्छ्रसाध्योऽसाध्यो वा  
भवेदत्यपतर्पणात् । तस्मात् तां देशकालौ च व्याधिसात्म्येन कर्मणा ।  
परीक्ष्योपचरेदेवं नेयमत्ययमाप्नुयात् ॥ इति ॥ ४३ ॥

देयम् । अच्छेनेति निम्मलेन । उभयतः कालमिति पदम् उष्णोदकेन परिपेचयेदित्यनेन योज्यम् ।  
तदेव कालद्वयमाह—प्रागित्यादि । पौर्वाहिकस्नेहपाने परिपेकं कारयितव्यम्, तथा जीर्णे स्नेहे  
परिपेचितां यवागूः पाययितव्येत्यर्थः । अयन्तु व्यवहारोऽनूपदेशे प्रबलकफत्वात् प्राणिनाम्, न  
जाङ्गलादिदेशव्यवहार इति ॥ ४३ ॥

\* इतः परम् अच्छेनेत्यधिकः पाठश्चक्रेतः ।



तस्यास्तु खलु सूतिकाया यो व्याधिरुत्पद्यते, स कृच्छ्र-  
साध्यो भवत्यसाध्यो वा । गर्भवृद्धिद्वयितशिथिलसर्वधातुत्वात्  
प्रवाहणवेदनाक्लेदरक्तनिःसृतिविशेषशून्यशरीरत्वाच्च । तस्मात्  
तां यथोक्तेन विधिनोपचरेत् । भौतिकजीवनीयवृंहणीय-  
वातहरसिद्धैरभ्यङ्गोत्सादनपरिषेचनावगाहनान्नपानविधिभिर्विशे-  
षतश्चोपचरेत् । विशेषतो हि शून्यशरीराः स्त्रियः प्रजाता  
भवन्ति ॥ ४४ ॥

गङ्गाधरः—अथ सूतिकायाः स्वास्थ्यवृत्तमुत्तमाह—तस्या-  
स्त्वित्यादि । ननु कस्मात् कृच्छ्रसाध्योऽसाध्यो वेत्यत आह—गर्भेत्यादि ।  
गर्भस्याधानात् प्रभृति वृद्ध्या क्षयिताः शिथिलाश्च सर्वे धातवो यस्यास्तत्त्वात् ।  
ततः परं प्रसवकाले प्रवाहणं वेदना प्रसवयातना । क्लेदरक्तयोर्निःसृतिः निःशे-  
षेण स्नावस्तेषां विशेषेण शून्यं स्नेहरहितं शरीरं यस्यास्तथात्वाच्च । यथोक्तेन  
पूर्वोक्तेन विधिनोपचरेत् । विशेषतश्च भौतिकादिसिद्धैरभ्यङ्गादिविधिभिरुप-  
चरेत् । कस्माद् भौतिकादिसिद्धैरभ्यङ्गादिविधिभिरुपचरेदित्यत  
आह—विशेषतो हीत्यादि । प्रजाताः प्रसूताः स्त्रिय इति । अत्र रुक्षणे दोष उक्तः  
सुश्रुते—प्रजातायाश्च नाय्या रुक्षशरीरायास्तीक्ष्णैरविशोधितं रक्तं वायुना  
तद्देशेनातिसंरुद्धं नाभेरधः पार्श्वयोर्वस्तौ वस्तिशिरसि वा ग्रन्थिं करोति ।  
ततश्च नाभिवस्तुदरशूलानि भवन्ति । सूचीभिरिव निस्तुच्यते भिद्येते दीर्यत  
इव च पकाशयः । समन्तादाध्मानमुदरे मूत्रसङ्गश्च भवतीति मक्कललक्षणम् ।  
तत्र वीरतर्वादिसिद्धं जलमूपकादिप्रतीवापं पाययेत् । यवक्षारचूर्णं वा  
सर्पिषा सुखोदकेन वा लवणचूर्णं वा, पिप्पल्यादिकाथेन पिप्पल्यादिचूर्णं वा,  
सुरामण्डेन वरुणादिकाथं वा, पञ्चक्रोळैलाप्रतीवापं पृथक्पण्यादिकाथं वा,

चक्रपाणिः—सूतिकाया मिथ्योपचारेण व्याधिर्भवन् कृच्छ्रसाध्योऽसाध्यो वा भवति तथा दर्शयन्  
यथोक्तक्रमस्यावधानेन कर्तव्यतां दर्शयितुमाह—तस्यास्त्वित्यादि । गर्भवृद्ध्या धात्वन्तरापोषणेन  
क्षयितांश्च शिथिलीकृताश्च सर्वे धातवो यस्याः सा तथा । यथा गर्भव्यपगम एव तावच्छरीर-  
शून्यत्वे हेतुः, तथा प्रवाहणवेदनाक्लेदरक्तनिःसृतिविशेषो हेतुरित्याह—प्रवाहणेत्यादि । यथोक्तेनेति  
स्नेहपानादिना, एतेन यथोक्तविधिकरणमेव दुश्चिकित्सस्य सूतिकाव्याधेश्च निदानवर्जनमुत्तमं

\* इतः परं मधुरेत्यधिकः पाठः कचिद् दृश्यते ।

दशमे त्वहनि सपुत्रा स्त्री सर्वगन्धौषधैर्गौरैरसर्षप-  
लोध्रैश्च स्नाता लध्वहत वस्त्रपरिहिता पवित्रेष्टलघुभूषणवती  
च सुसंस्पृश्य मङ्गलानि उचिताम् अर्चयित्वा च  
देवतां शिखिनः शुक्लवाससोऽव्यङ्गांश्च ब्राह्मणान् स्वस्ति  
वाचयित्वा कुमारमहतेन शुचिवाससाच्छादयेत् । प्राक्-  
शिरसमुदक्शिरसं वा संवेश्य देवतापूर्वं द्विजातिभ्यः प्रणमति  
इत्युत्तवा कुमारस्य पिता द्वे नामनी कारयेत् नाक्षत्रिकं  
नामाभिप्रायिकञ्च । तत्राभिप्रायिकं नाम घोषवदाद्यन्तस्थान्त-  
मुष्मान्तञ्च वृद्धं त्रिपुरुषान्तरमनवप्रतिष्ठितम् । नाक्षत्रिकन्तु  
नक्षत्रदेवतासंयुक्तं कृतं द्वाक्षरं चतुरक्षरं वा ॥ ४५ ॥

भद्रदारुमरिचसंसृष्टं पुराणगुडं वा, त्रिकटुकचतुर्जातककुस्तुम्बुरुमिश्रं खादेदच्छं  
वा पिवेदरिष्टमिति । इति ॥ ४४ ॥

गङ्गाधरः—ततः किं कार्यमित्यत आह—दशमे त्वित्यादि । तद्यु चाहतश्च  
वस्त्रं परिहितं यथा सा, तथा पवित्रञ्च इष्टञ्च लघु च भूषणं वर्त्तते यस्याः सा,  
तथा चंचितां देवतां गणेशादिं शिखिनः शिखावतः शुक्लवाससः शुक्ल-  
वस्त्रावृतान् अव्यङ्गान् सर्व्वसम्पूर्णाङ्गान् । अहतेन नवेनाक्षुण्णेन वाससा ।  
प्राक्शिरसं पूर्व्वशिरसम् उदक्शिरसम् उत्तरशिरसं वा संवेश्य शाययित्वा देवता-  
पूर्वं पूर्व्वं देवताभ्यो नमस्कृत्वा द्विजातिभ्यो द्विजातीनुद्देश्य प्रणमतीत्युत्तवा  
कुमारस्य पिता घोषवदाद्यन्तस्थं, घोषवन्तो वर्णाः कवर्गादीनां पञ्चानां  
वर्णानामन्त्यान्त्यास्त्रयस्त्रयः । तेषामन्यतमो वर्णो यस्यादौ अन्ते च स्थितो  
तत् घोषवदाद्यन्तस्थम् । उष्मान्तञ्चेति चशब्दो वार्थः । शपसहा  
उष्माणः, तदन्यतमवर्णान्तम् । त्रिपुरुषान्तरं पितृपितामहप्रपितामहनाम-

भेषजमिति दर्शयति । यदुत्पन्नग्याधौ विहितं भेषजम् तत् प्रायो न सिध्यतीति कृत्वा नेहोक्तम् ।  
भौतिकं भूतहरम् ॥ ४४ ॥

चक्रपाणिः—उचितामिति या यस्या देवता सदा पूज्या, तामर्चयित्वा । शिखिन इति  
पावकान् । किंवा शिखा चूडा, तद्वतो ब्राह्मणानसुण्डान् । नक्षत्रदेवतायुक्तमिति, यस्मिन् नक्षत्रे  
कुमारो जातः, तस्य नक्षत्रस्य या तु देवता, तस्या नाम कर्त्तव्यमित्यर्थः । किंवा द्वे नामनी

कृते च नामकर्माणि कुमारं परीक्षितुमुपक्रमेतायुषः  
प्रमाणज्ञानहेतोः । तत्रेमान्यायुष्मतां कुमाराणां लक्षणानि  
भवन्ति । तद् यथा—एकैकजा मृदवोऽत्याः स्निग्धाः  
सुवर्णमूलाः कृष्णाः केशाः प्रशस्तान्ते । स्थिरा वहला त्वक्,  
प्रकृत्याकृतिसम्पन्नमीषत्प्रमाणातिरिक्तम् । अनुरूपमातपत्रोपमं  
शिरः प्रशस्यते । व्यूढं दृढं समं सुश्लिष्टशङ्खसन्ध्यर्द्धव्यञ्जन-  
वर्जम् । अनवप्रतिष्ठितं नवीनसङ्केतितवर्जं प्रसिद्धप्रतिष्ठितम् । नक्षत्राणि  
अश्विन्यादीनि तत्कुमारजन्मकालिकानि । नक्षत्रदेवता अश्विनमदहनादयः  
तत्र यज्जन्मनक्षत्रं तस्य नामसंयुक्तं अन्यतरनामसंयुक्तं द्वाक्षरं चतुर्क्षरं वा  
कृतं नाम नाक्षत्रिकम् । सुश्रुतेऽप्युक्तं—ततो दशमेऽहनि मातापितरौ कृतमङ्गल-  
कौतुकौ स्वस्तिवाचनं कृत्वा नाम कुर्यातां यदभिप्रेतं नक्षत्रनाम वा । इति । अत्र  
दशमेऽहनीति श्रेष्ठत्वाद् ब्राह्मणाभिप्रायेण तत्रोपलक्षणादशौचान्तदिने सर्व्वपा-  
मित्यर्थः ॥ ४५ ॥

गङ्गाधरः—नामकरणानन्तरं किं कार्यमित्यत आह—कृते चेत्यादि ।  
एकैकजाः पृथक् पृथग्जाता इत्यादीनि सर्व्वानि केशा इत्यस्य विशेषणानि ।  
स्थिरेत्यश्लथा वहला स्थूला त्वक् चर्म । प्रकृत्येत्यादिना शिरोलक्षणं,  
प्रकृतिरविकृतिराकृतिस्तया सम्पन्नं शिरः प्रायेण शरीरानुरूपमीषत्प्रमाणाति-  
रिक्तम् । आतपत्रोपमं छत्रोपमम् । व्यूढमित्यादि ललाटलक्षणम् । व्यूढं दृढं  
दृढं गाढं सममनुचावचं सुष्ठु श्लिष्टैः संमिलितैः शङ्खसन्धिभिरर्द्ध-  
कारयेत् नाक्षत्रिकम् आभिप्रायिकञ्च, इत्यादि पाठः । घोषवदित्यादि विशेषणम्, घोषा वर्गचतुर्या  
'घण्टदधभाः,' अन्यस्या 'यरलवाः,' 'शपसाः' उपमाणाः ॥ ४५ ॥

चक्रपाणिः—नामकर्माणीति नामकरणसमयक्रियमाणहोमादिकर्मणि, नामैव वा कर्म ।  
स्थिरेत्यश्लथा । ईपत्प्रमाणातिवृत्तं शिर इति उत्सर्गापवादन्यायेन बोद्धव्यम् । तेन यदुक्तं पूर्व्वम्—  
“पद्भुलोत्सेधं द्वात्रिंशदङ्गुलपरिणाहं शिरः” एतच्चाभिधायोक्तम्—“तत्रायुर्वलमित्यादि यावद-  
प्रमाणवति शरीरे, विपर्ययस्तु हीनेऽधिके वा” इति, एतद्वचनादपवादभूतमप्यतीव प्रशस्तं  
भवतीति ज्ञेयम् । एवं महदुपचितं पाणिपादम् इत्यत्रापि व्याख्येयम् । अनुरूपमित्यनेन  
शरीरानुरूपतां शिरसो दर्शयन् उक्तलक्षणादनतिवृद्धिं शिरसो दर्शयति, अतिवृद्धिं शरीरानुरूपं

सम्पन्नमुपचितं वलिनमर्द्धचन्द्राकृति ललाटम्, वहलौ विपुल-  
समपीठौ समौ नीचैर्द्वौ पृष्ठतोऽवनतौ सुश्लिष्टकर्णपुत्रकौ  
महाच्छिद्रौ कर्णौ । ईषत्प्रलम्बिन्यावसङ्गतौ समे संहते महत्यौ  
भ्रुवौ । समे समाहितदर्शने व्यक्तभागविभागे वलवती तैज-  
सोपपन्ने खङ्गापाङ्गे चक्षुषी । ऋज्वी महोच्छ्वासा वंशसम्पन्ना  
ईषदवनताग्रा नासिका । महद् ऋजु सुनिविष्टदन्तमास्यम् ।  
आयामविस्तारोपपन्ना श्लक्ष्णा तन्वी प्रकृतियुक्ता पाटलवर्णा  
जिह्वा । श्लक्ष्णं युक्तोपचयमुष्मोपपन्नं रक्तं तालु । महान् अदीनः

व्यञ्जनमर्द्धाकारस्तेन सम्पन्नम् । उपचितं वृद्धिम् । वलिनं वलिम् । अर्द्ध-  
चन्द्राकृति च ललाटं प्रशस्यते इत्यन्वयः । वहलावित्यादिना कर्णलक्षणम् ।  
विपुलतया समपीठौ नीचैर्द्वौ लतिकाभागतौ वृद्धौ । पृष्ठतः पश्चाद्भागेनावनतौ  
नम्रौ । सुश्लिष्टौ कर्णपुत्रकौ बाह्यकर्णग्रन्थी ययोस्तौ । ईषदित्यादिना भ्रूलक्षणम् ।  
ईषत्प्रलम्बिन्यौ नातिलम्बनातिहासरूपे नातिविच्छिन्नमध्ये इत्यसङ्गते समे  
समानरूपे संहते घनलोमवत्यौ महत्यौ स्थले । समे इत्यादिना चक्षुर्लक्षणम् ।  
समे समानरूपे, समाहितदर्शने सम्यगाहितदृष्टिभागे, भागाः शुक्लकृष्णादयः  
तेषां विभागा व्यक्ता ययोस्ते तथा, वलवती दर्शनवलयुक्ते, तेजसा दूर-  
दृष्ट्यादिलक्षितेन उपपन्ने, सुष्ठु अङ्गानि वर्त्मादीनि अपाङ्गौ च ययोस्तथा ।  
ऋज्वीत्यादि नासिकालक्षणम् । ऋज्वी सरला, महोच्छ्वासा वृहन्निश्वासयुक्ता,  
वंशसम्पन्नेति दीर्घवंशाकारतया सम्पन्ना, ईषदवनताग्रा अल्पनम्राग्रभागा ।  
महदित्यादिनास्यलक्षणम् । आस्यं मुखच्छिद्ररेखा महद् दीर्घतया वृहत् ऋजु  
सरल सुनिविष्टं सुष्ठु निवेशः स्थानं युक्तदन्तपंक्ति तद्युक्तम् । आयामेत्यादिना  
जिह्वालक्षणम् । आयामेन दैर्घ्येण विस्तारेण विस्तृततया उपपन्ना, श्लक्ष्णा  
अखरा, तन्वी अधना, प्रकृतियुक्ता अविकृता, पाटलवर्णा श्वेतरक्तवर्णा ।  
श्लक्ष्णमित्यादिना तालुलक्षणम् । श्लक्ष्णमखरं युक्तोपचयं नातिनिम्नं  
नात्युच्चम् । उष्मोपपन्नं स्वाभाविकेनोष्मणा सम्पन्नं, रक्तं रक्तवर्णम् । महान्

भवति, तच्चाप्रशस्तमेव । ऊर्द्धं व्यञ्जनमिति ऊर्द्धं रेखाग्रयरूपलक्षणयुक्तम् । जतुकर्णे हि त्रिरेखः  
ललाटमुक्तम् । नीचैर्द्वौ द्वाविति अनुदभूतौ सन्तावनुक्रमवृद्धौ । व्यक्तभागविभागे इति प्रव्यक्त-  
कृष्णशुक्लविभागे । शोभनानि वर्त्मादीनि अङ्गानि अपाङ्गौ च ययोस्ते स्वाङ्गोपाङ्गौ । अत्र 'अङ्ग'-

स्निग्धोऽनुनादी गम्भीरसमुत्थो धीरः स्वरः । नातिस्थूलौ नाति-  
 कृशौ विस्तारोपपन्नावास्यप्रच्छादनौ रक्तावोष्ठौ । महत्यौ हनू ।  
 वृत्ता नातिमहती ग्रीवा । व्यूढमुपचितमुरः । गूढं जत्रु पृष्ठवंशश्च ।  
 विप्रकृष्टान्तरौ स्तनौ । अंसानुपातिनी स्थिरे पार्श्वे । वृत्तपरिपूर्णा-  
 यतौ बाहू सकृथिनी अङ्गुलयश्च । महदुपचितं पाणिपादम् ।  
 स्थिरा वृत्ताः स्निग्धास्ताम्रास्तुङ्गाः कूर्माकाराः करजाः । प्रदक्षिणा-  
 वर्त्ता सोत्सङ्गा च नाभी । नाभ्युरस्त्रिभागहीना समा समुपचित-  
 मांसा कटी । वृत्तौ स्थिरोपचितमांसौ नात्युन्नतौ नात्यवनतौ  
 स्फिचौ । अनुपूर्वं वृत्तावुपचययुक्तावूरू । नात्युपचिते नात्यपचिते

इत्यादिना स्वरलक्षणम् । येन शब्देन भापते स शब्दः कण्ठस्य स्वरः ।  
 महान् वृहान्, अदीनः अक्षीणः, स्निग्धोऽर्कशः श्रुतौ मधुर इत्यर्थः । अनुनादी  
 प्रतिध्वनिमान्, गम्भीरसमुत्थो नाभित इव प्रपद्यते इति लक्ष्यते घोषरूपः ।  
 धीरः अशीघ्रः । नातिस्थूलावित्यादिनौष्ठलक्षणम् । आस्यप्रच्छादनौ सम्पुटरूपौ  
 न विवृतरूपौ, स्वभावतो दन्तानाच्छाद्य सततं वर्त्तिनौ । द्वे हनू महत्यौ ।  
 वृत्तेत्यादि ग्रीवालक्षणम् । ग्रीवा वृत्ता वर्त्तुला नातिमहती नातिवृहती ।  
 व्यूढमित्यादिना वक्षोलक्षणम् । व्यूढं वृहत् उपचितं मांसलतया वृद्धिमत् ।  
 गूढं गुप्तमव्यक्तमित्यर्थः । जत्रु कण्ठोरसोः सन्धिः । पृष्ठवंशश्च गूढ इत्यन्वयो  
 लिङ्गविपर्ययेण । विप्रकृष्टं न सन्निकृष्टमन्तरमन्तरालदेशो ययोस्तौ स्तनौ ।  
 अंसेत्यादिना पार्श्वलक्षणम् । अंसौ भुजयोरुपरिभागौ तावन्तु लक्षीकृत्य पतितुं  
 शीलं ययोस्ते अंसानुपातिनी, स्थिरे अश्लथे च पार्श्वे । वृत्तेत्यादिना बाहुलक्ष-  
 णम् । वृत्तौ वर्त्तुलौ परिपूर्णौ घनौ आयतौ दीर्घौ च बाहू सकृथिनी च वृत्ते  
 परिपूर्णे आयते । अङ्गुलयश्च वृत्ताः परिपूर्णा आयताश्चेति । लिङ्गवचनविपर्य-  
 येण अन्वयः । महदित्यादिना पाणिपादलक्षणम् । उपचितं मांसलम् । स्थिरा  
 इत्यादिना नखलक्षणम् । सोत्सङ्गा अन्तोन्नतत्वेन मध्यनिम्ना गभीरेत्यर्थः ।  
 नाभ्युरसोर्मध्ये यावन्मात्रं तस्य तृतीयभागहीना द्विभागयुक्ता, समा नोच्चावचा  
 कटी । वृत्तावित्यादि स्फिक्लक्षणम् । स्थिरमश्लथमुपचितं वृद्धं मांसं ययोस्तौ

ग्रहणं च नेत्रस्यापाङ्गस्य लब्धस्यापि पुनः करणं विशेषेणापाङ्गशोभोपदर्शनार्थम् । आस्यप्रच्छादनौ

एणीपदे प्रगूढसिरास्थिसन्धी जङ्घे । नात्युपचितौ नात्यपचितौ  
गुल्फौ । पूर्वोपदिष्टगुणौ पादौ कूर्माकारौ । प्रकृतियुक्तानि  
वातमूत्रपुरीषाणि तथा स्वप्नजागरणायासस्मितरुदितस्तन-  
ग्रहणानि । यच्च किञ्चिदन्यदनुक्तमस्ति तदपि सर्वत्र  
प्रकृतिसम्पन्नमिष्टम्, विपरीतं पुनरनिष्टम् । इति दीर्घायु-  
र्लक्षणानि ॥ ४६ ॥

अतो धात्रीपरीक्षामुपदेक्ष्यामः । अथ ब्रूयाद् धात्रीमानयेति ।  
समानवर्णां यौवनस्थां निभृतामनातुरामव्यङ्गामव्यसनाम्

तथा नात्युच्चनातिनीचौ । अनुपूर्ववृत्तावित्यादिनोरुलक्षणम् । अनुपूर्वं क्रमेण  
वृत्तौ वृत्तुलौ क्रमेण च मांसलौ । नात्युपेत्यादिना जङ्घालक्षणम् । एणीपदे  
हरिणीसमपादे । प्रगूढसिरे अस्फुटसिरास्थिसन्धिमती जङ्घे । नात्युपेत्यादिना  
गुल्फलक्षणम् । पूर्वोपदिष्टगुणौ महदुपचितं पाणिपादमित्युक्त्या महान्तौ  
चोपचितौ च पादावित्यर्थः । पुनः कूर्माकारौ कूर्मपृष्ठवत् मध्योन्नतौ । प्रकृति-  
युक्तानीत्यविकृतानि वातादीनि, तथा प्रकृतियुक्तानि स्वप्नादीनि । यच्च किञ्चित्  
अनुक्तं पार्श्वादिपाणिपादविहरणादि । विपरीतं यस्य यस्याङ्गस्य यद्युलक्षण-  
मुक्तं तद्विपरीतम् अनिष्टमदीर्घायुर्लक्षणम् । इति दीर्घायुर्लक्षणं शतायु-  
र्लक्षणम् ॥ ४६ ॥

गङ्गाधरः—कुमारस्यायुःपरीक्षानन्तरं किं कार्यमित्यत आह—अत इत्यादि ।  
समानवर्णमिति । वर्णोऽत्र किं वेदे वर्णत्वेनोपदिष्टजातिः ? किं शरीरस्य रूपम् ?  
नायः । शूद्राः खलु सन्ति बह्व्यो जातयः । शूद्रत्वेन तास्तु सर्वाः समानाश्चेत्  
मनुष्यत्वेन ब्राह्मणादयोऽपि समाना भवन्तु । न वान्त्यम् । सर्वेषां न हेतुकं  
रूपं ब्राह्मणक्षत्रियादीनाञ्चैकदेशेन समानरूपत्वमस्तीति । तस्मादत्र वर्णो वेदे  
शुक्लादिवर्णत्वेनोपदिष्टा जातिरूपलक्षणीया प्राधान्यात् समानजातिरित्यर्थः ।  
निभृतामनुद्धताम् । अव्यङ्गां सर्वसम्पूर्णाङ्गीं नाङ्गहीनाम् । अव्यसनां काम-

मुखावरकौ । पृष्ठवंशश्च गूढ इति योजनीयम् । असम्प्राप्तिनी सुनिर्गतक्षे । एणीपदे इति  
एणीजङ्घासदृशे । प्रकृतियुक्तानीति न बहूनि नात्यल्पानि च, प्रकृतियुक्तमिति देहानुरूपम् ॥ ४६ ॥

कृपाणिः—समानवर्णमिति सुख्यजातीयाम् । 'यौवनस्थाम्' इत्यनेन न बालावृद्धेः । बाला-

अविरूपामञ्जुगुप्सां देशजातीयामक्षुद्राम् अक्षुद्रकर्मिर्माणीं कुले  
जातां वत्सलांमरोगजीवद्वत्सां पुंवत्सां दोग्धीमप्रमत्ताम्  
अशायिनीमनुच्चारशायिनीमनन्तावशायिनीं कुशलोपचारां  
शुचिमशुचिद्वेषिणीं स्तनस्तन्यसम्पदुपेतमिति ॥ ४७ ॥

तत्रेयं स्तनसम्पत्—नात्यूच्छ्रौं नातिलम्बावनतिकृशावन्ति-  
पीनौ युक्तपिप्पलकौ सुखप्रपाणौ चेति । स्तन्यसम्पत् तु  
प्रकृति-वर्णगन्धरसस्पर्शम् उदपात्रे च दुह्यमानं दुग्धमुदकं  
व्येति प्रकृतिभूतत्वात् तत् पुष्टिकरमारोग्यकरञ्चेति । अतो-  
ऽन्यथा व्यापन्नं ज्ञेयम् ॥ ४८ ॥

क्रोधादिदोषरहिताम् अविरूपामविकटरूपाम् अञ्जुगुप्सां परनिन्दाजनभि-  
धायिनीं देशजातीयां समानदेशजत्वेन सप्रकाराम् । अक्षुद्राम् अक्षुद्रस्वभावाम् ।  
न वा क्षुद्रकर्मिणीं क्षुद्रकर्मकरीम् । कुले जातां सतां ब्राह्मणादीनां कुले  
जातामपि स्थितां, न तु दुःशीलादिष्वकुलेषु जाताम् । वत्सलां वात्सल्यवतीम् ।  
अरोगजीवद्वत्साम् अरोगो जीवश्च वत्सः स्वपुत्रो यस्याः सा । पुंवत्सां  
पुत्रवत्सां न तु कन्यावत्साम् । दोग्धीं स्वयंप्रवृत्तदुग्धवतीम् । अप्रमत्तामपाप-  
वतीम् । अशायिनीमकाले चादेशे चाशयनशीलाम् । अनुच्चारशायिनीम्  
उच्चारोऽमेध्यदेशस्तत्राशयनशीलां मेध्यदेशे शयनशीलामित्यर्थः । अनन्ताव-  
शायिनीम् अन्तावशायिनी पतितब्राह्मणीप्रभृतिरुच्यते तद्भिन्नाम् । कुशलोप-  
चारां भद्रोपचरिताम् ॥ ४७ ॥

गङ्गाधरः—ननु कीदृशी स्तनस्तन्ययोः सम्पदित्यत आह—तत्रेयमित्यादि ।  
युक्तपिप्पलकौ स्तनानुरूपवृन्त्युक्तस्तनगुडकौ । स्तन्येत्यादि । प्रकृतयोऽविकृताः  
स्वाभाविका वर्णगन्धरसस्पर्शा यस्य तत् स्तन्यं सम्पदुपेतम् । तस्य परीक्षा-  
प्रकारमाह—उदपात्रे चेत्यादि । दुग्धं स्तन्यदुग्धम् उदकं व्येति उदकं व्ययं कृत्वा  
वृद्धयोरसम्पूर्णाङ्गक्षीणघातुत्वेन निरस्यति । निभृतामिति विनीताम् । अविरूपामिति अविकृता-  
वयवाम् । अव्यङ्ग्यामिति अहीनाङ्गीम् । देशजातीयां समानदेशजाम् । अनन्त्यावशायिनीमिति  
शूद्रस्य हि सवर्णत्वे चाण्डालादिसौ च प्रशस्ता, सा न निषिध्यते, ब्राह्मणादीनामसवर्णत्वेनैव सा

तस्य विशेषाः—श्यावारुणवर्णं कपायानुरसं विशदमना-  
लक्ष्यगन्धं रुजं द्रवं फेनिलं लघ्वतृप्तिकरं कर्षणं वातविकाराणां  
कर्तृ वातोपसृष्टं क्षीरमिति ज्ञेयम् । कृष्णनीलपीतताम्रावभासं  
तिक्तानुकटुकास्तरसं ॐ कुणपरुधिरगन्धि भृशोष्णश्च पित्त-  
विकाराणां कर्तृ पित्तोपसृष्टं क्षीरमिति ज्ञेयम् । अत्यर्थ-  
शुक्लमतिमाधुर्योपपन्नं लवणानुरसं घृततैलवसामज्जगन्धि  
पिच्छिलं तन्तुमदुदकपात्रेऽवसीदत् श्लेष्मविकाराणाञ्च कर्तृ  
श्लेष्मोपसृष्टं क्षीरमिति ज्ञेयम् । तेषान्तु त्रयाणामपि  
क्षीरदोषाणां प्रतिविशेषमभिसमीक्ष्य यथास्वं यथादोषश्च  
वमनविरेचनास्थापनानुशासनानि विभज्य कृतानि प्रशमनाय  
भवन्ति ॥ ४६ ॥

दुग्धमयं भवति तेन विशेषेणोदकं व्याप्नोति उदकेन सहैकीभावमापद्यते इत्यर्थः ।  
तत् स्तन्यं प्रकृतिभूतत्वादविकृतत्वात् पुष्टिकरम् । अतोऽन्यथा उदपात्रे दुह-  
मानं दुग्धं यदि नोदकं व्येति तदा व्यापन्नं विकृतिमापन्नं स्तन्यं ज्ञेयम् ॥ ४८

गङ्गाधरः—ननु केन विकृतं कीदृशं भवतीत्यत आह—तस्येत्यादि । विशदम्  
अपिच्छिलम् । अनालक्ष्यगन्धं सम्यग्लक्षणीयगन्धरहितम् । कर्षणं कृशकरम् । एव-  
म्भूतं क्षीरं वातोपसृष्टं ज्ञेयम् । कृष्णेत्यादि पित्तदुष्टस्तन्यलक्षणम् । कुणपगन्धि  
रुधिरगन्धि च । अत्यर्थेत्यादि श्लेष्मदुष्टस्तन्यलक्षणम् । एषां प्रतीकारार्थमाह—  
तेषामित्यादि । तत्र तेषां त्रयाणां क्षीरदोषाणां वातादीनां प्रतिविशेषं विशेषं  
विशेषं कोष्ठाश्रयत्वोदीर्णत्वादि संशोधनानुगुणं दुष्टिविशेषमभिसमीक्ष्य यथास्वं  
वमनाद्यहर्हानर्हं यथादोषं वमनादीनि विभज्य कृतानि प्रशमनाय क्षीरदोषप्रशम-  
नाय भवन्ति ॥ ४९ ॥

निरस्ता । किंवा ग्राहणादीनामपि पतितग्राहणादि 'अनन्यावशायिनीम्' इतिशब्देन क्षिप्यते ।  
युक्तपिप्पलकाविति उच्चैस्तरवृन्तौ । उदकं व्येतीति उदकं विशेषेण एति प्राप्नोतीत्यर्थः, उदके  
विंसर्पत् क्षीरं प्रशस्तमिति ॥ ४७, ४८ ॥

चक्रपाणिः—वातादिदुष्टक्षीरलक्षणान्याह—श्यावेत्यादि । लवणानुरसमिति श्लेष्मदुष्टक्षीरदोष-

\* तिक्तानुकटुकानुरसमिति चक्रः ।



पानाशनविधिस्तु दुष्टक्षीराया यवगोधूमशालिषष्टिकमुद्ग-  
हरेणुककुलत्थसुरासौवीरक-ॐ-मैरैयमेदकलसुनकरञ्जप्रायः स्यात् ।  
क्षीरदोषविशेषांश्चावेक्ष्यावेक्ष्य तत्तद् विधानं कार्यं स्यात् ।  
पाठामहौषधसुरदारुमुस्तमूर्वागुडू चीवत्सकफलकिराततित्तकटुक-  
रोहिणीशारिवाकषायाणांश्च पानं प्रशस्यते । तथान्येषां तित्त-  
कषायकटुकमधुराणां द्रव्याणां प्रयोगः । इति क्षीरविशोधनानि  
उक्तानि भवन्ति । क्षीरविकारविशेषानभि समीक्ष्य मात्रां  
कालञ्च । इति क्षीरविधानानि ॥ ५० ॥

क्षीरजननानि तु मद्यानि सीधुवज्ज्यानि ग्राम्यानूपौदकानि  
च शाकधान्यमांसानि द्रवमधुराम्लभूयिष्ठाश्चाहाराः क्षीरिण्यश्च  
औषधयः क्षीरपाणश्चानायासश्च वीरणाषष्टिकशालिकैज्जुवालिका-  
दर्भकुशकाशगुन्द्रेतुकटमूलकषायाणांश्च पानम् । इति क्षीर-  
जननान्युक्तानि ॥ ५१ ॥

गङ्गाधरः—पानाशनेत्यादि । दुष्टक्षीराया धात्र्याः । क्षीरदोषविशेषांश्च  
वातादीनवेक्ष्यावेक्ष्य यवादीनां भक्ष्यविधानं कार्यं स्यादित्यर्थः । पानविधान-  
माह—पाठेत्यादि । तथान्येषां प्रयोग इत्यन्वयः । क्षीरविकारमभि लक्ष्यीकृत्य  
मात्रां कालञ्च समीक्ष्य तत्तद्विधानं कार्यमित्यर्थः ॥ ५० ॥

गङ्गाधरः—क्षीरदोषप्रतिकारमुक्त्वा क्षीरजननविधिमाह—क्षीरजननानि  
क्षित्यादि । सीधुवज्ज्यानि मद्यानि ग्राम्यादीनि च शाकानि धान्यानि मांसानि  
च । द्रवादिभूयिष्ठा आहाराश्च, क्षीरिण्यश्च वटोडुम्बरादयः । वीरणादीनामित्-  
कटान्तानां मूलस्यैकशः कषायाणां पानं बहुवचनात् । एतयोः क्षीरदोष-क्षीर-  
दोषप्रतिकारयोः प्रकारा विस्तरेण योनिव्यापदि वक्ष्यन्ते ॥ ५१ ॥

दूष्यत्संमूर्च्छनप्रभावाज्ज्ञेयम्, येन श्लेष्मदुष्टे लवणरसता भवति । एतत्पृथग्लक्षणयोगाच्च द्वन्द्व-  
सन्निपातदुष्टिरप्युन्नेया । चिकित्सामाह—पुषामित्यादि । प्रतिप्रतिविशेषमभिसमीक्ष्येति प्रतिप्रति-  
वातादीनां कोष्ठाश्रयित्वोदीर्णत्वादि शोधनानुगुणविशेषमिति, चिह्नविशेषादपि धात्रीमपेक्ष्य वमना-

धात्री तु यदा स्वादुबहुलशुद्धदुग्धा स्यात् तदा स्नातानुलिप्ता  
गुक्लवस्त्रं परिधाय ऐन्द्रीं ब्राह्मीं शतवीर्यां सहस्रवीर्याम  
अमोघामव्यथां शिवामरिष्टां वाटपुष्पीं विष्वक्सेनकान्तामिति  
विभ्रत्योषधीः कुमारं प्राङ्मुखं प्रथमं दक्षिणं स्तनं पाययेत् ।  
इति धात्रीकर्म ॥ ५२ ॥

गङ्गाधरः—अथ दशमाहानन्तरं नामकर्मणि कृते स्तन्यपानविधिमाह—  
धात्री क्लित्यादि । ऐन्द्राद्योषधीर्विभ्रती धात्री कुमारं प्राङ्मुखं मन्त्रोपमन्त्रितं  
दक्षिणं स्तनं प्रथमं पाययेत् ततः परं वामम् । सुश्रुतेऽप्युक्तम्—ततो यथावर्णं  
धात्रीमुपेयान्मध्यमप्रमाणां मध्यमवयसमरोगां शीलवतीमचपलामलोलुपाम्  
अकृशामस्थूलां प्रसन्नक्षीरामलम्बोष्ठीमलम्बोर्द्ध्वस्तनीमव्यङ्गामव्यसनिनीं जीवद्-  
वत्सां दोग्ध्रीं वत्सलामक्षुद्रकर्मिणीं कुले जातामतो भूयिष्ठैश्च गुणैरन्वितां  
श्यामाम् आरोग्यवलद्वये वालस्य । तत्रोर्द्ध्वस्तनी करालं कुर्व्यात् । लम्बरतनी  
नासिकामुखं छादयित्वा मरणमापादयेत् । ततः प्रशस्तायां तिथौ शिरःस्नातम्  
अहतवाससमुदङ्मुखं शिशुमुपवेष्ट्य धात्रीं प्राङ्मुखीमुपवेष्ट्य दक्षिणं स्तनं  
धौतमीपत्परिस्त्रितमभिपन्ना मन्त्रेणानेन पाययेत् । “चत्वारः सागरास्तुभ्यं  
स्तनयोः क्षीरवाहिणः । भवन्तु सुभगे नित्यं वालस्य बलद्वये । पयोऽमृत-  
रसं पीत्वा कुमारस्ते शुभानने । दीर्घमायुरवाप्नोतु देवाः प्राश्यामृतं यथा ॥”  
अतोऽन्यथा नानास्तन्योपयोगस्यासात्म्याद्व्याधिजन्म भवति । अपरिस्तुते-  
ऽप्यतिस्तब्धस्तन्यपूर्णस्तनपानादुत्सृष्टस्रोतसः शिशोः कासश्वासवमी-  
प्रादुर्भावः । तस्मादेवंविधानं स्तन्यं न पाययेत् । क्रोधशोकावात्सल्यादिभिश्च  
स्त्रियाः स्तन्यनाशो भवति । अथास्याः क्षीरजननार्थं सौमनस्यमुत्पाद्य  
यत्रगोधमशालिपट्टिकमांसरससुरासौवीरकपिण्याकलसुनमत्स्यकशेरुकशृङ्गाटक-  
विसृष्टिदारिकन्दमधुकशतावरीनलिकालावृकालशाकप्रभृतीनि विदध्यात् ।

क्षीनां बहुत्वल्पत्वविशेषः कर्तव्य इत्यर्थः । तत्तद्विधानं कार्यं स्यादिति सम्बद्धदोषप्रतिकूलमाहारे-  
विधानं कार्यं स्यात् । कषायाणामिति बहुवचनात् व्यस्तसमस्तानां कषाया गुह्यन्ते । क्षीरिण्यश्च  
इन्द्रिकाकलग्निकादयो दृश्यमानक्षीराः । अमोघादयोऽनन्तरं व्याकृताः, अव्यथा गुडूची ॥४९—५२॥

अतोऽनन्तरं कुमारागारविधिमनुव्याख्यास्यामः । वास्तु-  
विद्याकुशलः प्रशस्तं रम्यमतमस्कं निवातं प्रवातैकदेशं दृढमप-  
गतश्चापदपशुदंष्ट्रिमूषिकापतङ्गं सुविभक्तसलिलोदूखलमूत्रवर्चः  
स्थानस्नानभूमिमहानसमृतसुखं यथर्तुं शयनासनास्तरणसम्पन्नं  
कुर्वात् । तथा सुविहितरक्षाविधानवलिमङ्गलहोमप्रायश्चित्तं  
शुचि वृद्धवैद्यानुरक्तजनसम्पूर्णम् । इति कुमारागारविधिः ॥५३॥

शयनास्तरणप्रावरणानि कुमारस्य शृदुलघुशुचिसुगन्धीनि  
स्युः । स्वेदमलजन्तुमन्ति मूत्रपुरीषोपसृष्टानि च वज्ज्यानि स्युः ।

अथास्याः स्तन्यमप्सु परीक्षेत । तच्चेच्छीतलममलं तनु शङ्खावभासमप्सु  
न्यस्तमेकीभावं गच्छत्यफेनिलमतन्तुमन्नोत्प्लवते न सीदति वा तच्छुद्धमिति  
विद्यात् । तेन कुमारस्यारोग्यं शरीरोपचयो बलवृद्धिश्च भवति । न च  
क्षुधित-शोकार्त्त-श्रान्त-प्रदुष्टधातु-गर्भिणीज्वरिताति-क्षीणातिस्थूल-विदग्ध-भक्ष्य-  
विरुद्धाहारतर्पितायाः स्तन्यं पाययेत्, नाजीर्णोपधश्च बालम्, दोषोपधमलानां  
परस्पररोपघातेन तीव्ररोगोत्पत्तिभयात् । भवतश्चात्र । धात्रास्तु गुरुभिर्भोज्यैः  
विषमैर्दोषलैस्तथा । दोषा देहे प्रकुप्यन्ति ततः स्तन्यं प्रकुप्यति । मिथ्या-  
हारविहारिण्या दुष्टा वातादयः स्त्रियाः । दूषयन्ति पयस्तेन शरीरा व्याधयः  
शिशोः ॥ इति ॥ ५२ ॥

गङ्गाधरः—अथैवं धात्रीस्तन्यपानानन्तरं गते जननाशौचे निष्क्रान्ते च  
सूतिकागृहात् कुत्र बालं वासयेत् कथञ्च रक्षेदित्यत आह—अतोऽनन्तर-  
मित्यादि । वास्तु सूतिकागारान्निष्क्रान्तस्य शिशोर्वार्त्तार्थं गृहम् अतमस्कमन्ध-  
काररहितं निवातमपि प्रवातैकदेशं तद्वास्तुन एकदेशे प्रकृष्टो वातो वातीत्येवं  
वास्तु विद्यात् । अपगतश्चापदादिकं सुविभक्तानि विभागशः स्थितानि सलिला-  
दीनि महानसान्तानि यत्र तत् तथा । तद्वास्तु ऋतुसुखं तस्मिन्नुतौ सुखकरम्  
अकृष्टदं यथर्तुं ऋतुनुरूपं शय्यादिसम्पन्नं विहितरक्षाविधानमुक्तसूतिकागृह  
रक्षाविधानेन कृतं रक्षाविधानं वलिमङ्गलादिकञ्च यत्र तत् तथा । शुचि च  
एवं वृद्धादिसम्पूर्णम् ॥ ५३ ॥

गङ्गाधरः—यथा पालयेत् तदाह—शयनास्तरणेत्यादि । स्वेदादिमन्ति मूत्रा-

असति सम्भवेऽन्येषां तान्येव सुप्रक्षालितोपधानानि सुधूपितानि ॥ शुद्धानि शुष्काणि योगं गच्छेयुः ॥ ५४ ॥

धूपनानि पुनर्वाससां शयनास्तरणप्रावरणानाञ्च यव-  
सर्पपातसीहिङ्गुगुगुलुवचाचोरकवयःस्थागोलोमीजटिलापलङ्कषा-  
ऽशोकरोहिणीसर्पनिर्मोकाणि घृतयुक्तानि स्युः । मणयश्च  
धारणीयाः कुमारस्य, खड्गुरुगवयवृषभाणां जीवतामेव  
दक्षिणेभ्यो विजाणेभ्योऽग्राणि गृहीतानि स्युः । ऐन्द्राद्या-  
श्चौषधयो जीवकर्षभकौ च यानि चान्यान्यपि ब्राह्मणाः  
प्रशंसेयुरथर्ववेदविदः ॥ ५५ ॥

द्रुपसृष्टानि च शयनादीनि वर्ज्यानि स्युः । यस्य शयनादीनि बहूनि न सन्ति  
तस्य विधानमाह—असति सम्भवे इत्यादि । अन्येषां स्वेदादिमूत्रादियुक्तानि  
शय्यादीन्येकविधानि त्यक्तवान्येषां सम्भवे तसति तान्येव स्वेदादिमूत्रादि-  
युक्तानि शय्यादीनि सुप्रक्षालितादीनि योगं गच्छेयुः ॥ ५४ ॥

गङ्गाधरः—ननु कैर्धूपयेदित्यत आह—धूपनानीत्यादि । यवादीनां  
सर्पनिर्मोकांतानां चूर्णं कृत्वा घृतेन अक्षयित्वा चक्षुशय्यादीनां धूपनं कार्य-  
मित्यर्थः । गुगुलुर्महिषाक्षगुगुलुः । पलङ्कषा साधारणगुगुलुः । चोरकश्चोर-  
पुष्पी । गोलोमी गोडुम्बा । जटिला जटामांसी । रोहिणी कटुरोहिणी ।  
मणयश्चेत्यादि । मणयश्च धारणीयाः यस्य ये सम्भवन्ति । तथा खड्गः  
खड्गिनामा पशुः । रुरुः स्वरूपहरिणः । गवयः गोसदृशः पशुभेदः । वृषभो-  
ऽनङ्गान् । जीवतामेपां दक्षिणशृङ्गाग्राणि च्छित्त्वानीय कुमारस्य धारणीयानि

चक्रपाणिः—सुप्रक्षालितोपधूपितानीति सुधौतोत्तरप्रच्छादनानि । शुद्धशुष्काणीति धौतान्यपि  
यदा मलादिरागेणापि रहितानि भवन्ति शुष्काणि च, तदैवोपयोज्यानि । सुधौतं द्वाद्विमपि स्यात्  
तथा गाढरागमलादिभावितं धौतमप्यशुद्धं स्यात्, तस्मादुक्तम् शुद्धशुष्काणीति ॥ ५३।५४ ॥

चक्रपाणिः—वयःस्था ब्राह्मी, गोलोमी इवेतदूर्वा । जटिला मांसी । अग्राणि धारणीयानि  
स्युरिति योजना । उक्तं हि जंतुकर्णे—“रुरुखड्गादीनां जीवतां दक्षिणशृङ्गाग्राणि निकृत्तानि  
धारयेत् ।” जीवकर्षभकौ प्रजास्थापनोक्तौ । सन्त्राश्चाथर्ववेदोक्तः ऐन्द्राद्या दश ।

\* सुप्रक्षालितोपधानानि सुधूपितानि इत्यत्र सुप्रक्षालितोपधूपितानि इति चक्रवर्तः पाठः ।

क्रीडनकानि त्वस्य विचित्राणि घोषवन्त्यभिरामाणि चागुरुणि चातीक्ष्णाग्राणि चानास्यप्रवेशीनि चाप्राणहराण्य-  
वित्रासनानि स्युः । न ह्यस्य वित्रासनं साधु । तस्मात् तस्मिन् रुदत्यभुञ्जाने वान्यत्र विधेयताम् अगच्छति राक्षसपिशाच-  
पूतनाद्यानां नामानि चाह्वयता कुमारस्य वित्रासनार्थं नामग्रहणं न कार्यं स्यात् ॥ ५६ ॥

स्युः । तथा ऐन्द्राद्या उक्ता याः पूर्वमतः ऐन्द्रीं ब्राह्मीमित्यादिना धात्रा धारणीयाः । एवं जीवकर्षभकौ तथान्यानि च धारणीयानि ॥ ५५ ॥

अथ बालस्य क्रीडार्थं द्रव्याणि कीदृशानि स्युरित्यत आह—क्रीडनकानि खित्यादि । बालस्य क्रीडनमेभिरिति तानि क्रीडनकानि । चित्रेण कृतविचित्राणि घोषवन्ति शब्दवन्ति तेन बाला हृष्यन्ति । अगुरुणि पतलानि कुमारो यदुत्तोलनक्षेपणादिषु शक्नोति । अतीक्ष्णाग्राणि तीक्ष्णाग्राणि हि बालं हिंस्युः । अनास्यप्रवेशीनि कुमारस्य मुखे प्रवेशार्हाणि न भवन्ति यानि कुमारो न गिलितुं शक्नोति । अप्राणहराणि विषाद्यनाक्तानि हीरकविषादि-  
प्राणहरद्रव्याकृतानि । अवित्रासनानि कुमारस्य त्रासाजनकानि । ननु कथमवित्रासनानि क्रीडनकानि कुर्युर्बालो यदि रोदिति नदति न पिबति न भुङ्क्ते तदा लोके केनचित् वित्रासनेन बालं वित्रास्य शान्तं कुरुते, मौनञ्च पाययेत् भोजयेच्चैवमादि इत्यत आह—न ह्यस्येत्यादि । अस्य कुमारस्य यस्माद्वित्रासनं न साधु, तस्मात् तस्मिन् कुमारे रुदति वाप्यभुञ्जाने वान्यत्र विधेयतामगच्छति नदति चापिबतीत्येवमादौ सति तूष्णीम्भावदुग्धपानादि-  
कर्त्तव्यतामगच्छति न कुर्वति राक्षसादीनां नामान्याह्वयता पुरुषेण स्त्रिया वा कुमारस्य वित्रासनार्थं तेषां राक्षसादीनां वित्रासजनकानां नामग्रहणं न कार्यम् । सुश्रुतेऽप्युक्तं—बालं पुनर्गात्रसुखं शृङ्गीयात् । न चैनं तर्जयेत् सहसा न प्रतिरोधयेत् वित्रासभयात् सहसा नापहरेदुत्क्षिपेद्वा वातादिविघात-  
भयात् नोपवेशयेत् कौञ्ज्यभयात् । नित्यञ्चैनमनुवर्त्तेत प्रियशतैरजिघांसुः । एवमनभिहतमनास्त्वभिबद्धेते नित्यमग्रसत्त्वसम्पन्नो नीरोगः सुप्रसन्नमनाश्च भवति । वातातपविदुरत्प्रभापादपलताशून्यागारनिम्नस्थानगृहच्छायादिभ्यो दुर्गहोपसर्गतश्च बालं रक्षेत् । नाशुचौ विसृजेद्बालं नाकाशे विपमे न च ।

यदि त्वातुर्य्यं किञ्चित् कुमारमागच्छेत्, तत् प्रकृतिनिमित्त-  
पूर्वरूपलिङ्गोपशयविशेषैस्तत्त्वतोऽनुबुध्य सर्वविशेषानातुरौषध-  
देशकालाश्रयानवेक्षमाणश्चिकित्सितुमारभेतैनं मधुरमृदुलघु-  
सुरभिशीतसङ्करं \* कर्म प्रवर्त्तयन् । एवंसात्म्या हि कुमारा  
भवन्ति, तथा ते शर्म लभन्तेऽचिराय ।

नोष्णमास्तवर्षेषु रजोधूमोदकेषु च ॥ क्षीरसात्म्यतया क्षीरमाजं गव्यमंधापि वा ।  
दद्याद् आ स्तन्यपय्याप्तिर्वालानां वीक्ष्य मात्रया ॥ पण्मासञ्चैनमन्नं प्राशयेद्दुग्धं  
हितञ्च नित्यमवरोधानारतश्च स्यात् कृतरक्ष उपसर्गभयात् । प्रयत्नतश्च  
ग्रहोपसर्गेभ्यो रक्षया वाला भवन्ति ॥ इति ॥ ५६ ॥

अथास्यातुर्य्यप्रतिकारार्थमाह—यदि त्वातुर्य्यमित्यादि । आतुर्य्यं व्याधित-  
त्वम् । तत् कुमारस्यातुर्य्यम् । प्रकृतिर्वातादिदोषदूष्यरूपा, निमित्तं, वाह्य-  
कारणम्, रक्षादिस्तन्यादिकं पूर्वरूपम्, लिङ्गं रूपम्, उपशयश्च, तेषां विशेषै-  
र्यस्य व्याधेयां प्रकृतियन्निमित्तं यत् पूर्वरूपं यल्लिङ्गं यश्चोपशयस्तेषां स्तद्विशेषै-  
स्तत्त्वतो यथार्थतोऽनुबुध्य ज्ञात्वा आतुरस्य व्याधिविशेषं प्रकृतिविशेषं बल-  
विशेषमेवमादि । औषधस्य तीक्ष्णत्वादिवीर्य्यविशेषं मानविशेषं रसविशेषमेव-  
मादि । देशस्य साधारणत्वजाङ्गलत्वानूपत्वादिविशेषम् । कालस्य नित्यगस्य  
वसन्तादितदाद्यत्वमध्यत्वान्तत्वादिनाद्यमध्यत्वान्तादिविशेषमिति आतुरौषधदेश-  
कालाश्रयान् सर्वविशेषानवेक्षमाण एनं कुमारमातुरं चिकित्सितुं मधुरादि-  
सङ्करं मधुरादिमिलितं कर्म प्रवर्त्तयन् आरभेत । कस्मात् मधुरादिसङ्करं कर्म  
प्रवर्त्तयन्नारभेतेत्यत आह—एवंसात्म्या हीत्यादि । हि यस्मात् कुमारा एवं मधुर-  
मृदुलघुसुरभिशीतसङ्करसात्म्या भवन्ति, तस्यान्मधुरादिसङ्करं कर्म प्रवर्त्तयन्  
नारभेत । तथा तेन प्रकारेण ते कुमारा अचिराय शीघ्रं शर्म सुखं लभन्ते ।

सुश्रुतेऽप्युक्तं—धात्रास्तु गुरुभिर्भोज्यैर्विपमैर्दोषलैस्तथा । दोषा देहे  
प्रकुप्यन्ति ततः स्तन्यं प्रदुष्यति ॥ मिथ्याहारविहारिण्या दुष्टा वातादयः  
स्त्रियाः । दूषयन्ति पयस्तेन शारीरा व्याधयः शिशोः ॥ भवन्ति

तदित्यादौ प्रकृतिर्वातादयः । निमित्तं वाह्यं रक्षादि साक्षाद् वातादिकारणम् । सर्व-  
विशेषानित्योदौ 'आतुर'शब्देनातुर्य्यहेतुव्याधिर्गृह्यते । 'आश्रय'शब्देन तु शरीरम् । शं कल्याणं

कुशलास्तांश्च भिषक् सम्यग् विभावयेत् । अङ्गप्रत्यङ्गदेशेषु रुजा यत्रास्य जायते ॥ मुहुःस्पृशति तं स्पृश्यमानश्च रोदिति । निमीलिताक्षो मूर्धस्थे शिरो रोगे न धारयेत् ॥ वस्तिस्थे मूत्रसङ्घातौ रुजा तृष्यति मूर्च्छति । विण्मूत्रसङ्घवैवर्ण्य-च्छर्द्वाध्मानान्त्रकूजनैः ॥ कोष्ठे दोषान् विजानीयात् सर्व्वत्रस्थांश्च रोदनैः ॥ तेषु च यथाभिहितं मृद्रच्छेदनीयमौषधं मात्रया क्षीरपस्य क्षीरसर्पिषा धात्राश्च विदध्यात् । क्षीरान्नादस्यात्मनि धात्राश्च ; अन्नादस्य कपायादीनात्मन्येव न धात्राः । तत्र मासादृद्ध क्षीरपायाङ्गुलिपर्व्वद्वयग्रहणसम्मितामौषधमात्रां विदध्यात् ; कोलास्थिसम्मितां कल्कमात्रां क्षीरान्नादाय, कोलसम्मितामन्नादायेति । येषां गदानां ये योगाः प्रवक्ष्यन्तेऽगदङ्कराः । तेषु तत्कल्कसंलिप्तौ पाययेत् शिशुं स्तनौ । एकं द्वे त्रीणि चाहानि वातपित्तकफज्वरे ॥ स्तन्यपायं हितं सर्पिरितराभ्यां यथार्थतः । न च तृष्णाभयादत्र पाययेत् शिशुं स्तनौ । विरेकवस्तिवमनाच्छ्रुते कुर्याच्च नात्ययात् ॥ मस्तुल्लङ्घयाद् यस्य वायुस्ताल्वस्थिं नापयेत् । तस्य तृड्दैन्ययुक्तस्य सर्पिर्मधुरकैः शृतम् ॥ पानाभ्यञ्जनयोर्यौज्यं शीताम्बूद्वेजनं तथा । वातेनाध्मापितां नाभिं सरुजां तुण्डिसंज्ञिताम् ॥ मारुतघ्नैः प्रशमयेत् स्नेहस्वेदोपनाहनैः । गुदपाके तु बालानां पित्तघ्नीं कारयेत् क्रियाम् । रसाञ्जनं विशेषेण पानालेपनयोर्द्वितम् ॥ क्षीराहाराय सर्पिः पाययेत् सिद्धार्थकवचापांसी-पयस्यापामार्गशतावरीसारिवाब्राह्मीपिप्पलीहरिद्राकुष्ठसैन्धवसिद्धम्, क्षीरान्नादाय मधुकवचापिप्पलीचित्रकत्रिकलासिद्धम्, अन्नादाय द्विपञ्चमूलीक्षीर-तंगरभद्रदारुमरिचमधुविडङ्गद्राक्षाद्विब्राह्मीसिद्धम् । तेनारोग्यबलमेधायुःपि शिशोर्भवन्ति ।

अथ कुमार उद्विजते त्रस्यति रोदिति नष्टसंज्ञो भवति नखदशनैर्धात्रीमात्मानश्च परिणुदति दन्तान् खादति कूजति जृम्भते भ्रुवौ विक्षिपत्यूढं निरीक्षते फेन-मुद्वमति सन्दष्टौष्ठः क्रूरो भिन्नामवर्चा दीनार्त्तस्वरो निशि जागति दुर्व्वलो म्लानाङ्गो मत्स्यच्छुच्छन्दरिमत्कुणगन्धो यथा पुरा धात्राः स्तन्यमभिलपति तथा नाभिलपतीति सामान्येन ग्रहोपसृष्टलक्षणमुक्तम् विस्तरेणोत्तरे वक्ष्यामः ॥ तदुत्तरे यथा बालग्रहाणां विज्ञानं साधनञ्चाभिनन्तरम् । उत्पत्तिं कारणञ्चैव सुश्रुतैकमनाः शृणु । स्कन्दग्रहस्तु प्रथमः स्कन्दापस्मार एव च । शकुनी रेवती चैव पूतना चान्धपूतना । पूतना शीतनामा च तथैव मुखमण्डिका । नवमो नैग-मेयश्च यः पितृग्रहसंज्ञितः । धात्रीमात्रोः प्राक् प्रदिष्टापचाराञ्छौचभ्रष्टान्

मङ्गलाचारहीनान् । अस्तान् हृष्टान् तर्जितान् क्रन्दितान् वा पूजाहेतोः स्विष्ट्युरेते  
 कुमाराण् । ऐश्वर्यस्थास्ते न शक्या विशन्तो देवं द्रष्टुं मानुषैर्विवस्वपाः । आप्तं  
 वाक्यं तत् समीक्ष्याभिधास्ये लिङ्गान्येषां यानि देहे भवन्ति ॥ शूनाक्षः क्षतज-  
 सगन्धिकः स्तनद्विद्व रक्तास्थो द्रुतचलितैकपक्षमेव । उद्विग्नः मूललितचक्षु-  
 रल्परोदो स्कन्दार्त्तो भवति च गाढमुष्टिवर्चाः ॥ १ ॥ निःसंक्षो भवति पुनर्भवेत्  
 ससंक्षः संरन्ध्रः करचरणैश्च नृत्यतीव्र । विष्णुने सृजति विनय जृम्भमाणः  
 फेनश्च प्रसृजति तत्सखाभिपन्नः ॥ २ ॥ सस्ताङ्गो भयचकितो विहङ्गगन्धिः संस्त्रावि-  
 व्रणपरिपीडितः समन्तात् । स्फोटैश्च प्रतततनुः सदाहपाकैर्विधेयो भवति  
 शिशुः क्षतः शकुन्या ॥ ३ ॥ रक्ताक्षो हरितमलोऽतिपाण्डुदेहः श्यावो वा ज्वर-  
 मुखपाकवेदनात्तः । रेवत्या व्यथिततनुश्च कर्णनासं मृद्नाति ध्रुवमभिपीडितः  
 कुमारः ॥ ४ ॥ सस्ताङ्गः स्वपिति मुखं दिवा न रात्रौ विद्वन्मिन्नं सृजति च  
 काकतुल्यगन्धिः । छद्मार्त्तो हृषिततनूरुहः कुमारस्तृष्णालुर्भवति च पूतना-  
 गृहीतः ॥ ५ ॥ यो द्वेष्टि स्तनमतिसारकासहिक्काच्छर्द्दीभिर्ज्वरसहिताभिरर्द्धमानः ।  
 दुर्वर्णः सततमधःशयोऽम्लगन्धिस्तं ब्रूयाद् भिषगिह गन्धपूतनार्त्तम् ॥ ६ ॥  
 उद्विग्नो भृशमतिवेपथे प्रख्यात् संलीनः स्वपिति च यस्य चान्द्रकूजः । विसृष्टो  
 भृशमतिसारयते च यस्तं जानीयाद् भिषगिह शीतपूतनार्त्तम् ॥ ७ ॥ म्लानाङ्गः  
 सुरुचिरपाणिपादवक्तो वद्वाशी कलुषसिराद्यतोदरो यः । सोद्वेगो भवति  
 च मूत्रतुल्यगन्धिः स क्षेयः शिशुरथ वक्तुमण्डिकार्त्तः ॥ ८ ॥ यः फेनं वमति  
 विनम्यते च मध्ये सोद्वेगं विलपति चोर्द्धमीक्षमाणः । ज्वर्येत प्रततमथो  
 वसासगन्धिर्निःसंक्षो भवति हि नैगमेयजुष्टः ॥ ९ ॥ प्रस्तब्धो यः स्तनद्वेपी  
 मुह्यते चाविशन् मुहुः । तं बालं न चिरादधन्ति ग्रहः सम्पूर्णलक्षणः । विपरीत-  
 मतः साध्यं चिकित्सेदचिरार्दितम् । गृहे पुराणहविषाभ्यज्य बालं शुचौ  
 शुचः । सर्पपान् प्रकिरेत् तेषां तैलैर्दीपश्च कारयेत् । सदा सन्निहितश्चापि  
 जुहुयाद्धव्यवाहनम् । सर्वगन्धौषधीबीजैर्गन्धमाल्यैरलङ्कृतम् । अग्नये कृत्तिका-  
 भ्यश्च स्वाहा स्वाहेति संस्मरन् । नमः स्कन्दाय देवाय ग्रहाधिपतये नमः ।  
 शिरसा त्वाभिर्वन्देऽर्द्धं प्रतिगृह्णीष्व मे वलिम् । नीरुजो निर्व्विकारश्च शिशुर्मे  
 जायतां ध्रुवम् ॥

अथ स्कन्दग्रहप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः । स्कन्दग्रहोपसृष्टानां कुमाराणाञ्च  
 शस्यते । वातघ्नद्रुमपत्राणां निःकाथः परिपेचने । तेषां मूलेषु सिद्धश्च  
 तैलमभ्यञ्जने हितम् ॥ सर्वगन्धसुरामण्ड-कैटय्यावापमिष्यते । देवदारुणि



रास्तायां मधुरेषु द्रुमेषु च ॥ सिद्धं सर्पिश्च सक्षीरं पानमस्मै प्रयोजयेत् ।  
 सर्पपाः सर्पनिर्मोको वचा काकादनी घृतम् ॥ उष्ट्राजाविगवाञ्चैव रोमाधुद-  
 धूपनं शिशोः । सोमवल्लीमिन्द्रवल्लीं शमीं विल्वस्य कण्टकान् । मृगादन्याश्च  
 मूलानि ग्रथितान्येव धारयेत् ॥०॥ रक्तानि माल्यानि तथा पताका रक्ताश्च  
 गन्धा विविधाश्च भक्ष्याः । घण्टा च देवाय बलिर्निवेद्यः सकुक्कुटः स्कन्दग्रहे  
 हिताय ॥ स्थानं त्रिरात्रं निशि चत्तरेषु कुर्यात् पुनः शालियवैर्नैवेत्तु ।  
 अद्भिश्च गायत्र्यभिर्मन्त्रिताभिः प्रज्वालनञ्चाहुतिभिश्च बह्वैः ॥ ० ॥ रक्षामतः  
 प्रवक्ष्यामि बालानां पापनाशिनीम् । अहन्यहनि कर्त्तव्या या भिषग्भिरतन्द्रितैः ।  
 तपसां तेजसाञ्चैव यशसां वपुषां तथा । निधानं योज्ययो देवः स ते स्कन्दः  
 प्रसीदतु । ग्रहसेनापतिर्देवो देवसेनापतिर्विशुः । देवसेनारिपुहरः पातु त्वां  
 भगवान् गुहः । देवदेवस्य महतः पावकस्य च यः सुतः । गङ्गोमाकृत्तिकानाञ्च  
 स ते शर्म प्रयच्छतु । रक्तमाल्याम्बरः श्रीमान् रक्तचन्दनभूषितः । रक्त-  
 दिव्यवपुर्देवः पातु त्वां क्रौञ्चसूदनः ॥ १ ॥

अथातः स्कन्दापस्मारप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः । विल्वः शिरीषो  
 गोलोमी सुरसादिश्च यो गणः । परिषेके प्रयोक्तव्यः स्कन्दापस्मारशान्तये ।  
 सर्वगन्धविपक्वन्तु तैलमभ्यञ्जने हितम् । क्षीरवृक्षकपाये च काकोल्यादौ गणे  
 तथा । विपक्वव्यं घृतं वापि पानीयं पयसान्वितम् । उत्सादनं वचाहिङ्ग-  
 युक्तं स्कन्दग्रहे हितम् । गृध्रोलूकपुरीषाणि केशा हस्तिनखा घृतम् । वृषभस्य  
 च रोमाणि योज्यान्धुदूपनंऽपि च । अनन्तां कटुकीं विम्वीं मर्कटीञ्चापि  
 धारयेत् । पक्वापक्वानि मांसानि प्रसन्नं रुधिरं पयः । भूतौदनो निवेद्यश्च  
 स्कन्दापस्मारिणोऽवटे । चतुष्पथे च कर्त्तव्यं स्नानमस्य यथात्मना ।  
 स्कन्दापस्मारसंज्ञो यः स्कन्दस्य दयितः सखा । विशाखसंज्ञश्च शिशोः  
 शिवोऽस्तु विकृताननः ॥ २ ॥

अथातः शकुनीप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः । शकुन्यभिपरीतस्य कार्य्यो  
 वैदेयः जानता । वेतसाम्रकपित्थानां निःकाथः परिषेचने ॥ कपाय-  
 मधुरैस्तैलं कार्य्यमभ्यञ्जने शिशोः । मधुकोशीरहीवेर-सारिवोत्पलपद्मकैः ॥  
 रोध्रप्रियङ्गुमञ्जिष्ठा-गेरिकैः प्रदिहेच्छिशुम् । व्रणेषूक्तानि चूर्णानि पथ्यानि  
 विविधानि च ॥ स्कन्दग्रहे धूपनानि तानीहापि प्रयोजयेत् । शतावरी-  
 मृगैर्वारु-नागदन्तीनिदिग्धिकाः ॥ लक्ष्मणां सहदेवाश्च वृहतीञ्चापि धारयेत् ।  
 तिलतण्डुलकं माल्यं हरितालं मनःशिला ॥ बलिरेष करञ्जेषु निवेद्यो

नियतात्मना । निकुञ्ज च प्रयोक्तव्यं स्नानमस्य यथाविधि ॥ स्कन्दग्रहोप-  
शमनं घृतं तच्चेह पूजितम् । कुर्याच्च विविधां पूजां शकुन्याः कुसुमैः  
शुभैः ॥ अन्तरीक्षचरा देवी सर्वालङ्कारभूषिता । अधोमुखी तीक्ष्णतुण्डा  
शकुनी ते प्रसीदतु ॥ दुर्दृशना महाकाया पिङ्गाक्षी भैरवस्वरा । लम्बोदरी  
शङ्खकर्णी शकुनी ते प्रसीदतु ॥ ३ ॥

अथातो रेवतीप्रतिपेधं व्याख्यास्यामः । अश्वगन्धाजशृङ्गी च सारिवा  
सपुनर्नवा । सहे विदारी च तथा कपायाः सेचने हिताः ॥ तैलमभ्यञ्जने  
कार्यं कुष्ठे सज्जरसेऽपि वा । धवाश्वकर्णककुभ-धातकीतिन्दुकीषु च ॥  
काकोल्यादिगणे चैव पानीयं सर्पिरिष्यते । कुलत्थाः शङ्खचूर्णञ्च प्रदेहाः  
साव्वैगन्धिकाः ॥ शृङ्गोलूकपुरीषाणि यत्रा यवफलो घृतम् । सन्ध्ययोरुभयोः  
कार्यमेतदुद्धूपनं शिशोः ॥ वरुणारिष्टकमयं रुचकं सेन्दुकं तथा । सततं  
धारयेच्चापि कृतं वा पौत्रजीविकम् ॥ शुक्लाः सुमनसो लाजाः पयः शाल्योदनं  
तथा । वलिर्निवेद्यो गोतीर्थं रेवत्यै प्रयतात्मना ॥ सद्गमे च भिषक् स्नानं  
कुर्याद् धात्रीकुमारयोः । नानावस्त्रधरा देवी चित्रमाल्यानुलेपना ॥ चलत्-  
कुण्डलिनी श्मामा रेवती ते प्रसीदतु । लम्बा कराला विनता तथैव  
बहुपुत्रिका । रेवती सततं माता सा ते देवी प्रसीदतु ॥ ४ ॥

अथातः पूतनाप्रतिपेधं व्याख्यास्यामः । कपोतवक्त्रारलुको वरुणः  
पारिभद्रकः । आस्फोताञ्चैव योज्याः स्युर्वालानां परिपेचने । वचा वयःस्था  
गोलोमी हरितालं मनःशिला ॥ कुष्ठं सज्जरसञ्चैव तैलार्थं वर्गं इष्यते ।  
हितं घृतं तुगाक्षीर्यौ सिद्धं मधुरकेषु च ॥ कुष्ठतालीशखदिरं चन्दनस्यन्दनं  
तथा । देवदारु वचा हिङ्गु कुष्ठं गिरिकदम्बकः ॥ एला हरेणवश्चापि योज्या  
उद्धूपने सदा । गन्धनाकुलिकुम्भीका-मज्जानो वदरस्य च ॥ कर्कटास्थि  
घृतञ्चैव धूपनं सर्पपैः सह । काकादनीं चित्रफलां विम्ब्यीं गुञ्जाञ्च  
धारयेत् ॥ मत्स्यौदनञ्च कुर्वीत कृशरां पल्लं तथा । शरावसम्पुटे कृत्वा  
वलिं शून्यग्रहे हरेत् ॥ उच्छिष्टेनाभिषेकेण शिरसि स्नानमिष्यते । पूज्यां  
च पूतना देवी वलिभिः सोपहारकैः ॥ मलिनाम्बरसंवीता मलिना  
रक्षमूर्द्धजा । शून्यागाराश्रिता देवी दारकं पातु पूतना ॥ दुर्दृशना  
सुदुग्न्धा कराला मेघकालिका । भिन्नागाराश्रया देवी दारकं पातु पूतना ॥ ५ ॥

अथातोऽधपूतनाप्रतिपेधं व्याख्यास्यामः । तिक्तकट्टुमपत्राणां कार्यः  
काथोऽवसेचने । सुरा सौवीरकं कुष्ठं हरितालं मनःशिला । तथा

स्वर्ज्जरसञ्चैव तैलाथमुपदिश्यते ॥ पिप्पल्यः पिप्पलीमूलं व्रगो मधुरको  
मधु । शालपर्णी दृहत्यौ च घृतार्थमुपदिश्यते ॥ सर्व्वगन्धैः प्रदेहश्च  
गात्रेष्वक्ष्णोश्च शीतलैः । पुरीषं कौक्कुटं केशांश्चर्म सपत्तचं तथा ॥ जीर्णाश्च  
भिक्षुसङ्घाटीं धूपनायोपकल्पयेत् । कुक्कुटीं मकैटीं शिम्बीमनन्ताश्चापि  
धारयेत् ॥ मांसमामं तथा पक्वं शोणितञ्च चतुष्पथे । निवेद्यमन्तश्च गृहे  
शिशो रक्षानिमित्ततः ॥ शिशोश्च स्लपनं कुर्यात् सर्व्वगन्धादिकैः शुभैः ।  
कराला पिङ्गला मुण्डा कपायाम्बरवासिनी ॥ देवी वालमिमं प्रीता संरक्षत्वन्ध-  
पूतना ॥ ६ ॥

अथातः शीतपूतनाप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः । कपित्थं सुवहां विम्बीं  
तथा विल्वं प्रतीवलाञ्च । नन्दीं भल्लातकीश्चापि परिपेक्षे प्रयोजयेत् ॥  
वस्तमूत्रं गवां मूत्रं मुस्तञ्च सुरदारु च । कुष्ठञ्च सर्व्वगन्धांश्च तैलार्थमवचारयेत् ॥  
रोहिणीस्वर्ज्जखदिर-पलाशकजुभत्वचः । निःकाथ्य तस्मिन् निःकाथे सक्षीरं  
विपचेद् घृतम् ॥ गृध्रोळूकपुरीषाणि वस्तगन्धामहेस्तवः । निस्त्रपत्राणि  
मधुकं धूपनार्थं प्रयोजयेत् ॥ धारयेदपि लम्बाश्च गुञ्जां काकादनीं तथा ।  
नद्यां मुद्गकृतैश्चान्नैस्तर्पयेज्जीतपूतनाम् ॥ देव्यै देयश्चोपहारो वारुणी रुधिरं  
तथा । जलाशयान्ते वालस्य स्लपनञ्चोपदिश्यते ॥ मुद्गौदनाशना देवी  
सुराशोणितपायिनी । जलाशयालया देवी पातु त्वां शीतपूतना ॥ ७ ॥

अथातो मुखमण्डिकाप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः । कपित्थविल्वतर्कारी-  
वांशीगन्धर्व्वहस्तकाः । कुवेराक्षी च योज्याः स्युर्वालानां परिपेचने ॥  
स्वरसैर्भृङ्गवृक्षाणां तथाजहरिगन्धयोः । तैलं वसाञ्च संयोज्य पचेद्भ्यञ्जने  
शिशोः ॥ मधूलिकायां पयसि तुगाक्षीर्यां गणे तथा । मधुरे पञ्चमूले च कनी-  
यसि घृतं पचेत् ॥ वचा सज्जरसः कुष्ठं सर्पिश्चोद्धूपने हितम् । धारयेदपि  
जिह्वाश्च चापचीरल्लिसर्पजाः ॥ वर्णकं चूर्णकं माल्यमञ्जनं पारदं तथा ।  
मनःशिलाश्चोपहरेद्गोष्ठमध्ये वलिं तथा ॥ पायसं सपुरोडाजं वल्यर्थमुपहारयेत्  
मन्त्रपूताभिरद्भिश्च तत्रैव स्लपनं हितम् ॥ अलङ्कृता रूपवती सुभगा काम-  
रूपिणी । गोष्ठमध्यालयरता पातु त्वां मुखमण्डिका ॥ ८ ॥

अथातो नैगमेयप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः । विल्वान्निमन्धपूतीकाः कांठ्याः  
स्युः परिपेचने । सुरासौवीरधान्याम्लैः परिपेक्षश्च शस्यते ॥ प्रियङ्गु-  
सरलानन्ता-शतपुष्पाकुटन्तैः । पचेत् तैलं सगोमूत्रैर्दधिमस्त्वम्लकाञ्जिकैः ॥  
पञ्चमूलद्वयकाथे क्षीरे मधुरकेषु च । पचेद् घृतञ्च मेधावी स्वर्ज्जरी-

मस्तकेऽपि च ॥ वचां वयःस्थां गोलोमीं जटिलां वापि धारयेत् । उत्सादनं  
हितश्चात्र स्कन्दापस्मारनाशनम् ॥ सिद्धार्थकवचाहिङ्गु-कुष्ठञ्चैवाक्षतैः सह ।  
भल्लातकाजमोदाश्च हितमुद्धूपनं शिशोः ॥ मर्कटोलूकगृध्राणां पुरीषाणि  
नवग्रहे । धूपः सुप्ते जने कार्यो वालस्य हितमिच्छता ॥ तिलतण्डुलकं  
माल्यं भक्ष्यांश्च विविधानपि । कुमारपितृमेपाय वृक्षमूले निवेदयेत् ॥  
अधस्ताद् वटवृक्षस्य रूपनञ्चोपदिश्यते । वलिं न्यग्रोधमूलेषु तिथौ पष्ठ्यां  
निवेदयेत् ॥ अजाननश्चलाक्षिभ्रुः कामरूपी महायशः । वालं पालयिता  
देवो नैगमेयोऽभिरक्षतु ॥ ९ ॥

अथातो ग्रहाणामुत्पत्तिं व्याख्यास्यामः । नव स्कन्दादयः प्रोक्ताः  
वालानां य इमे ग्रहाः । श्रीमन्तो दिव्यवपुषो नारीपुरुषविग्रहाः ॥ एते गृहस्य  
रक्षार्थं कृत्तिकोमाग्निशूलिभिः । सृष्टाः शरवणस्थस्य रक्षितस्यात्मतेजसा ॥  
स्त्रीविग्रहा ग्रहा ये तु नानारूपा मयेरिताः । गङ्गोमाकृत्तिकानाश्च ते भागा  
राजसा मताः ॥ नैगमेयस्तु पार्वत्या सृष्टो मेपाननो ग्रहः । कुमारधारी  
देवस्य गृहस्यात्मसमः सखा ॥ स्कन्दापस्मारसंघो यः सोऽग्निनाग्निसमदुःप्रतिः ।  
स च स्कन्दसखा नाम विशाख इति चोच्यते ॥ स्कन्दः सृष्टो भगवता देवेन  
त्रिपुरारिणां । विभर्त्ति चापरां संज्ञां कुमार इति स ग्रहः ॥ वाललीलाधरो  
योऽयं देवो रुद्राग्निसम्भवः । मिथ्याचारेषु भगवान् स्वयं नैव प्रवर्त्तते ॥  
कुमारः स्कन्दसामान्यादत्र केचिदपण्डिताः । गृह्णातीत्यल्पविज्ञाना ब्रुवते  
देहचिन्तकाः ॥ ततो भगवति स्कन्दे सुरसेनापतौ कृते । उपतस्त्रुग्रहाः  
सर्व्वे दीप्तशक्तिधरं गृहम् ॥ ऊर्जुः प्राञ्जलयश्चैनं वृत्तिं नः संविधत्स्व वै ।  
तेषामर्थं ततः स्कन्दः शिवं देवमचोदयत् ॥ ततो ग्रहास्तानुवाच भगवान्  
भगनेत्रहृत् । तिर्य्यग्योनिं मानुषश्च दैवश्च त्रितयं जगत् । परस्परोपकारेण  
वर्त्तते धार्य्यतेऽपि च ॥ देवा मनुष्यान् प्रीणन्ति तिर्य्यग्योनींस्तथैव च ।  
वत्तमानैर्यथाकालं शीतवर्षाण्णमारुतैः ॥ इज्याञ्जलिनमस्कार-जपहोमव्रता-  
दिभिः । नराः सम्यक् प्रयुक्तैश्च प्रीणन्ति त्रिदिवेश्वरान् ॥ भागधेयं विभक्तश्च  
शेषं किञ्चिन्न विद्यते । तद् युष्मार्कं शुभा वृत्तिर्वालेष्वेव भविष्यति ॥ कुलेषु  
येषु नेज्यन्ते देवाः पितर एव च । ब्राह्मणाः साधवश्चैव गुरवोऽतिथयस्तथा ॥  
निवृत्ताचारशौचेषु परपाकोपभोजिषु । उच्छिन्नवंलिभिक्षेषु भिक्षकांस्योप-  
भोजिषु ॥ गृहेषु तेषु ये वालास्तान् गृह्णीध्वमशङ्किताः । तत्र चो विपुला  
वृत्तिः पूजा चैव भविष्यति ॥ एवं ग्रहाः समुत्पन्ना वालान् गृह्णन्ति चाप्यतः ।

ग्रहोपसृष्टा वालास्तु दुश्चिकित्स्यतमा मताः ॥ वैकल्यं मरणश्चाथ ध्रुवं  
स्कन्दग्रहे मतम् । स्कन्धग्रहोऽत्युग्रतमः सर्वेष्वेव यतः स्मृतः ॥ अन्यो वा  
सर्वरूपस्तु न साध्यो ग्रह उच्यते ॥ इति ।

अथ रावणकृतकुमारतन्त्रे नन्दाप्रभृतिद्वादशमातृका वालग्रहा उक्ताः  
प्रतिकाराश्च तासाम् । तद् यथा—प्रथमे दिवसे मासि वर्षे वा गृह्णाति नन्दा  
नाम मातृका । तया गृहीतमात्रस्य प्रथमं भवति ज्वरः । अशुभशब्दं  
मुञ्चत्यात्कारश्च भवति स्तन्यं न गृह्णाति । वलिं तस्याः प्रवक्ष्यामि येन  
सम्पद्यते शुभम् । नदुरभयतटमृत्तिकां गृहीत्वा पुत्तलिकां कृत्वा शुक्रभक्तं  
शुक्रपुष्पं सप्त ध्वजाः सप्त प्रदीपाः सप्त स्वस्तिकाः । सप्त शङ्कुलिकाः सप्त  
जम्बुङ्गिका गन्धं धूपं ताम्बूलं मत्स्यं मांसं सुराग्रभक्तञ्च पूर्वस्यां दिशि  
चतुष्पथे मध्याह्ने वलिर्दातव्या । अश्वत्थपत्रं कुम्भे प्रक्षिप्य वालं शान्त्युद-  
केन स्नापयेत् । रसोनसिद्धार्थमेपभृद्गन्धनिम्बपत्रशिवनिर्माल्यैर्वालिं धूपयेत् ।  
ॐ नमो रावणाय हन हन मुञ्च मुञ्च स्वाहा । चतुर्थे दिवसे ब्राह्मणान् भोजयेत्, ततः  
सम्पद्यते शुभम् । १ । द्वितीये दिवसे मासे वर्षे वा गृह्णाति सुनन्दा नाम मातृका ।  
तया गृहीतमात्रस्य प्रथमं भवति ज्वरः । चक्षुरुन्मीलति गात्रमुद्वेजयति न  
क्षोते क्रन्दति स्तन्यं न गृह्णात्यात्कारश्च भवति । वलिं तस्य प्रवक्ष्यामि येन  
सम्पद्यते शुभम् । तण्डुलं हरतपृष्ठैकं गृहीत्वा दधिगुडघृतमिश्रितं शरावैकं  
गन्धं ताम्बूलं पीतपुष्पं पीतसप्तध्वजाः चत्वारः प्रदीपा दश स्वस्तिकाः  
मत्स्यमांससुरातिलचूर्णञ्च पश्चिमस्यां दिशि चतुष्पथे वलिर्देयः, दिनानि  
त्रीणि सन्ध्यायाम् । ततः शान्त्युदकेन स्नापयेत् । शिवनिर्माल्यसिद्धार्थ-  
मार्ज्जारलोमोशीरकवालकघृतैर्धूपं दद्यात् । ॐ नमो रावणाय हन हन  
मुञ्च मुञ्च हृ फट् स्वाहा । चतुर्थे दिवसे ब्राह्मणान् भोजयेत्, ततः सम्पद्यते  
शुभम् । २ । तृतीये दिवसे मासे वर्षे वा गृह्णाति पूतना नाम मातृका । तया  
गृहीतमात्रस्य प्रथमं भवति ज्वरः । गात्रमुद्वेजयति स्तन्यं न गृह्णाति  
मुष्टिं वध्नाति क्रन्दत्यङ्गं निरीक्षते । वलिं तस्य प्रवक्ष्यामि येन सम्पद्यते शुभम् ।  
नदुरभयतटमृत्तिकां गृहीत्वा पुत्तलिकां कृत्वा गन्धं ताम्बूलं रक्तपुष्पं  
रक्तचन्दनं रक्तसप्तध्वजाः सप्त प्रदीपाः सप्त स्वस्तिकाः पक्षिमांसं  
सुराग्रभक्तञ्च दक्षिणस्यां दिश्यपराह्णे चतुष्पथे वलिर्देयः । शिव-  
निर्माल्यसर्पपगुल्गुलिनिम्बपत्रमेपभृद्द्वैर्दिनत्रयं धूपयेत् । ॐ नमो रावणाय  
हन हन मुञ्च मुञ्च त्रासय त्रासय स्वाहा । चतुर्थे दिवसे ब्राह्मणान्

भोजयेत्, ततः सम्पद्यते शुभम् । ३ । चतुर्थ दिवसे मासे वर्षे वा गृह्णाति मुखमुण्डतिका नाम मातृका । तथा गृहीतमात्रस्य प्रथमं भवति ज्वरः । ग्रीवां नमयति चक्षुरुन्मीलति स्तन्यं न गृह्णाति रोदिनि स्वपिति मुष्टिं वध्नाति । वलिं तस्य प्रवक्ष्यामि येन सम्पद्यते शुभम् । नदुःप्रभयतटमृत्तिकां गृहीत्वा पुत्तलिकां कृत्वा तु पलपुष्पगन्धताम्वूलं दश ध्वजाश्चत्वारः प्रदीपाः त्रयोदश स्वस्तिका मत्स्यमांससुराग्रभक्तश्चोत्तरस्यां दिव्यपराह्णे चतुष्पथे बलिर्देयः । ३० नमो रावणाय हन हन मुञ्च मुञ्च स्वाहा । चतुर्थे दिवसे ब्राह्मणान् भोजयेत्, ततः सम्पद्यते शुभम् । ४ । पञ्चमे दिवसे मासे वर्षे वा गृह्णाति कटपूतना नाम मातृका । तथा गृहीतमात्रस्य प्रथमं भवति ज्वरः । गात्रमुद्वेजयति स्तन्यं न गृह्णाति मुष्टिश्च वध्नाति । वलिं तस्य प्रवक्ष्यामि येन सम्पद्यते शुभम् । कुम्भकारचक्रमृत्तिकां गृहीत्वा पुत्तलिकां कृत्वा गन्धं ताम्वूलं शुक्लौदनं शुक्लपुष्पं पञ्च ध्वजाः पञ्च प्रदीपाः पञ्च वटकाः ऐशान्यां दिशि बलिर्देयः । शान्त्युदकेन स्नापयेत् । शिवनिर्माल्यसर्प-निर्माल्यगुग्गुलुनिम्बपत्रवालकघृतैर्धूपं दद्यात् । ३० नमो रावणाय चूर्णय चूर्णय स्वाहा । चतुर्थे दिवसे ब्राह्मणान् भोजयेत् । ततः सम्पद्यते शुभम् । ५ । षष्ठे दिवसे मासे वर्षे वा गृह्णाति शकुनिका नाम मातृका । तथा गृहीत-मात्रस्य प्रथमं भवति ज्वरः । गात्रभेदश्च दर्शयति दिवा रात्रावुत्थानं भवत्यूर्ध्वं निरीक्षते । वलिं तस्य प्रवक्ष्यामि येन सम्पद्यते शुभम् । पिष्टकेन पुत्तलिकां कृत्वा शुक्लपुष्पं रक्तपुष्पं पीतपुष्पं गन्धं ताम्वूलं दश प्रदीपाः । पीतदशध्वजाः दश स्वस्तिका दश वटकाः क्षीरजम्बुद्विका मत्स्यमांससुराग्र-भक्तश्चाग्नेय्यां ग्रामनिष्क्रान्ते मध्याह्ने वलिं दद्यात् । शान्त्युदकेन स्नापयेत् । शिवनिर्माल्यरसोनगुग्गुलुसर्पनिर्माल्यनिम्बपत्रघृतैर्धूपयेत् । ३० नमो रावणाय हन हन मुञ्च मुञ्च स्वाहा । चतुर्थ दिवसे ब्राह्मणान् भोजयेत्, ततः सम्पद्यते शुभम् । ६ । सप्तमे दिवसे मासे वर्षे वा गृह्णाति शुष्करेवती नाम मातृका । तथा गृहीतमात्रस्य प्रथमं भवति ज्वरः । गात्रमुद्वेजयति मुष्टिं वध्नाति रोदिनि । वलिं तस्य प्रवक्ष्यामि येन सम्पद्यते शुभम् । रक्तपुष्पं शुक्लपुष्पं गन्धं ताम्वूलं रक्तौदनं कृशरां त्रयोदश स्वस्तिकासुरयोदश शकुलिकाः जम्बुद्विकाः । मत्स्यमांससुरास्त्रयोदश रक्तध्वजाः पञ्च प्रदीपाः पश्चिमदिशि ग्रामनिष्क्रमेऽपराह्णे वृक्षमाश्रित्य वलिं दद्यात् । शान्त्युदकेन स्नापनं गुग्गुलुमेपशृङ्गसर्पपोशीरवालकघृतैर्धूपयेत् । ३०

नमो रावणाय दीप्ततेजसे हन हन मुञ्च मुञ्च स्वाहा । चतुर्थे दिवसे ब्राह्मणान् भोजयेत् । ततः स्वस्थो भवति बालकः । ७ । अष्टमे दिवसे मासे वर्षे वा गृह्णात्याय्यका नाम मातृका । तया गृहीतमात्रस्य प्रथमं भवति ज्वरः । गृध्रगन्धः पूतिगन्धश्च जायते आहारश्च न गृह्णाति उद्वेजयति गात्राणि । वलिं तस्य प्रवक्ष्यामि येन सम्पद्यते शुभम् । रक्तपीतध्वजाश्चन्दनं पुष्पं शङ्कुल्यः पर्पटिकाः मत्स्यमांसजम्बुद्विकाः सुराः प्रत्यूषे बलिदैयः । ॐ रावणाय त्रैलोक्यविद्रावणाय चतुर्विंशमोक्षणाय ज्वल ज्वल हन हन दह दह ॐ ह्रीं फट् फट् स्वाहा । चतुर्थे दिवसे ब्राह्मणान् भोजयेत्, ततः सम्पद्यते शुभम् । ८ । नवमे दिवसे मासि वर्षे वा गृह्णाति सूतिका नाम मातृका । तया गृहीतमात्रस्य प्रथमं भवति ज्वरः । नित्यं छर्दिर्भवति गात्रभङ्गं दग्नेयति मुष्टिं वध्नाति स्वापो भवति । वलिं तस्य प्रवक्ष्यामि येन सम्पद्यते शुभम् । नदुग्धयतद-मृत्तिकां गृहीत्वा पुत्तलिकां कृत्वा शुक्लवस्त्रेणावेष्टयेत् । शुक्लपुष्पं गन्धं ताम्बूलं शुक्लत्रयोदश ध्वजाः त्रयोदश प्रदीपाः त्रयोदश स्वस्तिकाः । त्रयोदश पूपिकाः त्रयोदश मत्स्यपोलिका मत्स्यमांससुरा उत्तरदिग्भागे ग्रामनिष्क्रामे बलिर्दातव्यः । शान्त्युदकेन स्नापयेत् । गुग्गुलुनिम्बपत्र-गोशृङ्गश्वेतसपेपघृतैर्धूपयेत् । ॐ नमो रावणाय चतुर्भुजाय हन हन स्वाहा । चतुर्थे दिवसे ब्राह्मणान् भोजयेत् । ततः स्वस्थो भवति बालकः । ९ । दशमे दिवसे मासे वर्षे वा गृह्णाति निर्ऋता नाम मातृका । तया गृहीत-मात्रस्य प्रथमं भवति ज्वरः । गात्रमुद्वेजयति आत्कारश्च भवति रोदिति मूत्रं पुरीषश्च भवति । वलिं तस्य प्रवक्ष्यामि येन सम्पद्यते शुभम् । पारा-वारमृत्तिकां गृहीत्वा पुत्तलिकां कृत्वा गन्धं ताम्बूलं रक्तपुष्पं रक्तचन्दनं पञ्च वर्णाः पञ्च ध्वजाः पञ्च प्रदीपाः पञ्च स्वस्तिकाः पञ्च पूपिकाः मत्स्यमांससुरा वायव्यां दिशि वलिं दद्यात् । काकविष्टागोमांसगोशृङ्ग-रसोनमाज्जरलोमनिम्बपत्रघृतैर्धूपयेत् । ॐ नमो रावणाय चूर्णितहस्ताय मुञ्च मुञ्च स्वाहा । चतुर्थे दिवसे ब्राह्मणान् भोजयेत्, ततः सम्पद्यते शुभम् । १० । एकादशे दिवसे मासे वर्षे वा गृह्णाति पिर्लिर्पिञ्जिका नाम मातृका । तया गृहीतमात्रस्य प्रथमं भवति ज्वरः । आहारं न गृह्णात्यूर्ध्वदिष्टं भवति आत्कारश्च भवति । वलिं तस्य प्रवक्ष्यामि येन सम्पद्यते शुभम् । पिष्टकेन पुत्तलिकां कृत्वा रक्तचन्दनरक्तां तस्या मुखं दुग्धेन सेचयेत् । पीतपुष्पं गन्धं ताम्बूलं पीतसप्तध्वजाः सप्त प्रदीपा अष्टौ वटका अष्टौ शङ्कुल्यो मत्स्य-

† रोगे त्वरोगवृत्तम् आतिष्ठेद् देशकालात्मगुणविपर्ययेण  
वर्त्तमानः । क्रमेणासात्म्यानि परिवर्त्योपयुञ्जानः सर्व्वान्यहि-  
तानि वर्ज्जयन् तथा बलवर्णशरीरायुषां सम्पदमाप्नोतीति ॥ ५७

मांससुराः पूर्व्वस्यां दिशि बलिं दद्यात् । शान्त्युदकेन स्नापनं, शिव-  
निर्माल्यगुग्गुलुगोशृङ्गसर्पनिर्मालकघृतैर्धूपयेत् । ३० नमो रावणाय मुञ्च  
मुञ्च स्वाहा । चतुर्थे दिवसे ब्राह्मणान् भोजयेत्, ततः सम्पद्यते शुभम् । ११ ।  
द्वादशे दिवसे वपे वा गृह्णानि कामुका नाम मातृका । तया गृहीतमात्रस्य  
प्रथमं भवति ज्वरः । विहस्य वादयति करेण तर्ज्जयति गृह्णाति क्रामयति  
निश्वासति मुहुर्मुहुः । आहारं न करोति कृशताऽस्य च भवति । बलिं  
तस्य प्रवक्ष्यामि येन सम्पद्यते शुभम् । क्षीरेण पुत्तलिकां कृत्वा गन्धं  
ताम्रबलं शुक्लपुष्पं शुक्लसप्तध्वजाः सप्त प्रदीपाः सप्त शङ्कुलिकाः करम्भकेण  
बलिं दद्यात् । शान्त्युदकेन स्नापयेत् । शिवनिर्माल्यगुग्गुलुसर्पनिर्मालक-  
सर्पघृतैर्धूपयेत् । ३० नमो रावणाय मुञ्च मुञ्च हन हन स्वाहा । चतुर्थे दिवसे  
ब्राह्मणान् भोजयेत्, ततः सम्पद्यते शुभम् । १२ । इति रावणकृतकुमारतन्त्रम् ।

नन्वेवंविधिना त्वारोग्ये सति किं विधेयमित्यत आह—रोगे त्वित्यादि ।  
अरोगवृत्तं स्वस्थवृत्तम् उक्तं यावत् तावदातिष्ठेत् । ननु यस्यानायुष्याणि  
सात्म्यानि तस्य स्वास्थ्यवृत्तास्थानं कथं स्यादित्यत आह—देशेत्यादि ।  
देशस्य गुणतः कालस्य गुणतः आत्मनश्च गुणतो विपर्य्ययशालिष्वाहाराचारादिषु  
वर्त्तमानः शिशुः । नन्वेवं वर्त्तमानः शिशुः किं कुर्यादित्यत आह—  
क्रमेणेत्यादि । क्रमेण परिवर्त्य देशगुणविपरीतान् कालगुणविपरीतान्  
आत्मगुणविपरीतांश्च आहारविहारादीन् क्रमेण त्यक्त्वा सात्म्यानि देश-  
कालात्मगुणसमानि उपयुञ्जानः सन् अहितानि वर्ज्जयन् सन् तथा उक्त-  
प्रकारबलवर्णशरीरायुषां सम्पदम् आप्नोतीति ॥ ५७ ॥

करोतीति शङ्करम् । देशकालेत्यादौ 'आत्म'शब्देन शरीरमुच्यते, तेन देशस्य तथा कालस्य  
'शरीरस्य च यो गुणः शीतादिः । शुद्धिपरिहाराचारादिसेवायां वर्त्तमानः स्वस्थवृत्तं कुर्यात् ।  
अन्यत्रापि स्वस्थवृत्ते प्रोक्तम्,—देशकालादिगुणविपरीताहारविहाराः सात्म्या भवन्तीति । क्रमेण  
नवेगान्धारणीयोक्तेन "उचितादहिताद् भीमान् क्रमशो विरमेन्नरः" इत्यादिस्वस्थवृत्तोक्तेन



एवमेनं कुमारम् आ यौवनप्राप्तेर्धर्मार्थकौशलागमनादनु-  
पालयेत् । इति पुत्राशिषां समृद्धिकरं कर्म व्याख्यातम् ।  
तदाचरन् यथोक्तैर्विधिभिः पूजां यथेष्टं लभतेऽनसूयकः  
इति ॥ ५८ ॥

तत्र श्लोकौ ।

पुत्राशिषां कर्म समृद्धिकारकं  
यदर्थमेतन्महदर्थसंहितम् ।  
तदाचरन् ज्ञो विधिभिर्यथातथं  
पूजां यथेष्टं लभतेऽनसूयकः ॥

गङ्गाधरः—नन्वेवमातिष्ठेत् कियन्तं कालमित्यत आह—एवमेनमित्यादि ।  
एवमुक्तप्रकारेण एनं कुमारम् आ यौवनप्राप्तेः षोडशाब्दायुःप्रमाणपूर्ति-  
पर्यन्तमनुपालयेत् । कस्मादित्यत आह—धर्मत्यादि । धर्मार्थयोः विषययोः  
साधनाय यत् कौशलं तस्यानुपगमः शैशवे । तस्माद् आ यौवनप्राप्तेरेवमेनं  
कुमारमनुपालयेदिति भावः । अध्यायमुपसंहरति—इति पुत्राशिषामित्यादि ।  
पुत्रस्य आशिषाम् आशासनानां शुभवाञ्छानां समृद्धिः सत्फलं तत्करम् ।  
तदाचरन् तत् पुत्राशिषां समृद्धिकरं कर्माचरन् पुरुषः यथोक्तैरुक्तविधिमनति-  
कस्याचरन् अनसूयको लोके परानसूयकः पूजां मानमर्यादादिकां यथेष्टां  
स्वाभिलषितां लभते । इति सत्पुत्रलाभफलम् ॥ ५८ ॥

गङ्गाधरः—एतमर्थं श्लोकेनाह—तत्र श्लोकावित्यादि । अर्थसंहितं प्रयोजन-  
सहितं महदेतत् पुत्राशिषां समृद्धिकारकं कर्म यदर्थं भवति, विधिभिः  
उक्तविधानैस्तत् कर्माचरन्नमूयारहितो ज्ञः पण्डितो यथायथं यथायोग्यं

क्रमेणोपयुञ्जान इत्यर्थः । तथा वरत्त्वन्तरसाध्यसेवायामपि बालश्चैवमेव भवतीति व्याख्यानम् ।  
स्वस्थवृत्ताचरणफलमाह—तथेत्यादि ॥ ५५—५७ ॥

चक्रपाणिः—पुत्राशिषां समृद्धिकरमिति पुत्रप्रार्थनानुरूपफलकरमित्यर्थः । पुत्राशिषा-  
मित्यध्यायार्थसंग्रहश्लोकः । 'ज्ञः' इति पुरुषविशेषणं प्राधान्यात् कृतम् । तेन पूजामेव लभते,

शरीरं चिन्त्यते सर्वं दैवमानुपसम्पदा ।

सर्वभावेर्यतस्तस्माच्छारीरं स्थानमुच्यते ॥ ५६ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने

जातिसूत्रीयं शारीरं नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इत्याचार्य्यचरकमुनिविरचितायां संहितायां शारीरस्थानकं

चतुर्थं समाप्तम् । शारीरस्थानमेकपिण्डेन श्लोकानाम्

एकोनपञ्चाशदुत्तराणि नवशतानि । अङ्केन ६४६ ।

इति शारीरस्थानम् ॥ ४ ॥

यथेष्टं स्वाभिलषितां पूजां लभते इत्यर्थः । अथास्य स्थानस्य शारीरस्य निरुक्तिमाह—शरीरमित्यादि । यतो यस्माद्धेतोः सर्वभावैर्महदहङ्कारादिभि-  
विशिष्टं दैवमानुपसम्पदा च विशिष्टं शरीरं सर्वं चिन्त्यते तस्माद्धेतोः शारीरस्थानमुच्यते । दैवसम्पदस्तु शरीरे परमात्मादिकाः । मानुपसम्पदस्तु पुरुषकारादिकाः ॥ ५९ ॥

अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि । जातिसूत्रीयं नाम शारीरं कौमारभृत्य-  
तन्त्रं स्थानं समापयति—इत्याचार्य्येत्यादि ।

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविराजकविरचिविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ चतुर्थस्कन्धे  
शारीरस्थानजल्पे जातिसूत्रीयशारीरजल्पाख्याप्यमी शाखा ॥ ८ ॥

इति चरकजल्पकल्पतरौ शारीरस्थानजल्पश्चतुर्थस्कन्धः ॥ ४ ॥

पुत्रस्यात्यन्तप्राधान्यं बहतीत्यनसूयकः । शारीरस्थानशब्दव्युत्पत्तिदर्शकं श्लोकं पठन्ति—शरीर-  
मित्यादि । तच्च व्यक्तार्थमेव ॥ ५८।५९ ॥

इति महामहोपाध्याय-चरकचतुरानन-श्रीमद्यक्षपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां चरक-  
तात्पर्यटीकायां शारीरस्थाने जातिसूत्रीयं शारीरं नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥



# चरक-संहिता।

इन्द्रियस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातो वर्णस्वरीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः,  
इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—अथ जातिसूत्रीये बालानामायुषः परीक्षार्थं लक्षणानि संक्षेपतो व्याख्यातानि, पुनस्तेषामरिष्टलक्षणानि चिकित्सायामुपयोगाय भवन्तीत्यतः शारीरस्थानानन्तरमिन्द्रियस्थानमारभते। उक्तं हि सुश्रुते—“फलाग्निजलवृष्टीनां पुष्पधूमाम्बुदा यथा। रूपापयन्ति भविष्यत्त्वं तथारिष्टानि पञ्चताम्। तानि लौक्ष्म्यात् प्रमादाद् वा तथैवाशुव्यतिक्रमात्। गृह्यन्ते नोद्गान्यङ्गैर्मूर्ध्नीनां तसम्भवात्। ध्रुवन्तरिष्ठे मरणं ब्राह्मणैस्तत् किलामलैः। रसायन-तपो-जप्य-

चक्रपाणिः—शारीरे चिकित्साधिकरणं शरीरं प्रतिपाद्य चिकित्सा व्यक्तव्या, सा च साध्यरोगे व्यक्तव्या नासाध्यरोगे। यदुक्तं “स्वार्थविद्यायशोहानिमुपक्रोशमसंग्रहम्। प्राप्नुयाद्विद्यतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत्” इति। न च रिष्टप्रतिपत्तिमन्तरा साध्यत्वप्रतिपत्तिरिति रिष्टप्रति-पादकमिन्द्रियस्थानमेव चिकित्सास्थानात् प्रागुच्यते। तस्यान्तर्गस्य लिङ्गं रिष्टाख्यमिन्द्रियम्, यदुक्तं व्याकरणे “इन्द्रियं रिष्टम्” इत्यादि। तस्येन्द्रियस्य स्थानमिन्द्रियस्थानम्। अत्रापि चेन्द्रियस्थाने वक्तव्ये व्यक्ततरिष्टाभिधायकतया वर्णस्वरीयमिन्द्रियमुच्यते। अत्र हि यानि रिष्टानि वक्तव्यानि, तानीतरिष्टेभ्यश्चक्षुरादिग्राह्यतया व्यक्तमानि। वर्णस्वरावभिज्ञतया कृतो वर्णस्वरीयः।

इह खलु वर्णश्च स्वरश्च गन्धश्च रसश्च स्पर्शश्च चक्षुश्च श्रोत्रश्च घ्राणश्च रसनश्च स्पर्शनश्च सत्त्वश्च भक्तिश्च शौचश्च तत्परैर्वा निवार्यते । नक्षत्रपीडा बहुधा यथा कालाद्विपच्यते । तथैवारिष्टपाकश्च ब्रुवते बहुधा जनाः । असिद्धिमाप्नुयाल्लोके प्रतिकुर्वन् गतायुषः । अतो रिष्टानि यत्नेन लक्षयेत् कुशलो भिषक् ॥” इति । अथात इत्यादि । अथ जातिमूत्रीयानन्तरमतोऽरिष्टलक्षणानां चिकित्सायामुपयोगात् वर्णस्वरीयं वर्णश्च स्वरश्चेति परीक्षितुमधिकृत्य कृतोऽध्यायस्तं तथा । इन्द्रियम् इन्द्रः प्राणस्तस्य लिङ्गम् इतीन्द्रियं रिष्टम् । अथवा इन्द्रोऽन्तरात्मा तस्य लिङ्गमिति इन्द्रियं रिष्टमरिष्टमित्यनर्थान्तरम् । व्याकरणे ह्युक्तमिन्द्रियमिन्द्रियलिङ्गमिति ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—इहेत्यादि । खलुशब्दो व्याख्यालङ्कारे । वर्णश्चेति बुद्धोन्द्रियाणां मध्ये बहुविपयत्वेन चक्षुषः प्राधान्यात् शीघ्रतरग्रहणत्वाच्च चाक्षुषभावस्य परीक्षार्थं पूर्वं वर्णश्चेत्युक्तम् । अत्र वर्णशब्देनोपलक्षणात् रौक्ष्यादयो गृह्यन्ते । वक्ष्यते ह्यत्रैव वर्णग्रहणेन ग्लानिहर्परौक्ष्यस्नेहा व्याख्याता इति कश्चित्, तन्न ; वर्णस्वरमधिकृत्य ग्लानिहर्परौक्ष्यादेः परीक्ष्यत्वेन निर्देशात् । स्वरश्चेति । शारीरभावान्तरमपेक्ष्याशुस्वरस्य श्रावणत्वात् रूपतोऽनाशुग्रहणाद् रूपादनन्तरं गन्धरसादेः पूर्वमुपादानम् । एवमाशुबानादुत्तरोत्तरेषामनाशुबोधादुपादानं बोध्यम् । सत्त्वश्चेति मनः । भक्तिरिच्छा शीलता साहजिकी वृत्ता । शौचं

इन्द्रियस्य रिष्टरूपस्य प्रतिपादकोऽध्याय इन्द्रियस्तं व्याख्यास्यामः । एवमन्यत्रापि पुष्पितकमिन्द्रियमित्याद्यपि इन्द्रियविशेषणं व्याख्येयम् ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—इन्द्रियस्थानप्रतिपादत्र कृत्स्नं विषयमाह—इहेत्यादि । इहेन्द्रियस्थाने । ‘खलु’-शब्दो व्याख्यालङ्कारे । इह यद्यपीन्द्रियाण्येव विषयवर्णादिग्राहकतया अग्रे वक्तुं युज्यन्ते, तथापि हेपामतीन्द्रियत्वेन न तदाश्रयरिष्टानां व्यक्तत्वम् । तेन प्रव्यक्तानि वर्णादीन्त्येवेति प्रव्यक्तरिष्टाधिकरणान्यग्रेऽभिधीयन्ते, वर्णादिष्वपि च यथा व्यक्तत्वं तथा पूर्वनिपातः । मेघादिशब्दस्तु यद्यपि वर्णादपि व्यक्तस्तथापि शब्दविशेष एवेह चात्मादिसम्पाद्यः ‘स्वर’शब्दाभिधेयो रिष्टाधिकरणत्वेनाभिमतः, स च वर्णापेक्षयाऽव्यक्त एव । इहेत्यादावसमासेन वर्णादीनां प्रत्येकमपि रिष्टाधिकरणत्वं दर्शयति । समासे हि समुदायस्य रिष्टाधिकरणकतया परीक्षितव्यत्वं शङ्केतम् । वर्णशब्देन च वर्णसहचरिवाक्षुषाद्या रौक्ष्यादयोऽपि गृह्यन्ते । अत एव वर्णग्रस्ताव एव वक्ष्यति यत् ‘वर्णग्रहणेन ग्लानिहर्परौक्ष्यस्नेहा व्याख्याता’ इति । स्वरादिग्रहणेन च स्वराद्यभावोऽपि गृह्यते । तेन अङ्गुलिपर्वशब्दाभावगन्धाभावादयो रिष्टान्यवबुध्यन्ते । स्पर्शग्रहणेन च स्पर्शोपलभ्य-

शीलञ्चाचारश्च स्मृतिश्च प्रकृतिश्च विकृतिश्चाकृतिश्च मेधा च  
 वलश्च ग्लानिश्च हर्षश्च रौक्ष्यश्च स्नेहश्च तन्द्रा चारम्भश्च गौरवश्च  
 लाघवश्च गुणश्च आहारश्च विहारश्चाहारपरिणामश्चोपायश्चापायश्च  
 व्याधिश्च पूर्व्वरूपश्च वेदनाश्चोपद्रवाश्च छाया च प्रतिच्छाया च  
 शुचिता । शीलं शीलनं सहजवृत्तम् । आचार आचरणं परम्परया शिक्षित-  
 व्यवहारः । स्मृतिः स्मरणम् । प्रकृतिः स्वभावः । विकृतिः सत्त्वशरीरयोः  
 वैकृत्यम् । आकृतिराकारः शरीरस्य । मेधा धारणावती बुद्धिः । ग्लानिः  
 अहर्षः । तन्द्रा निद्रैव । आरम्भः क्रियासु प्रवृत्तिः । गौरवं गुरुताधातादीनाम् ।  
 लाघवं लघुता शरीरस्य । गुणश्चेति शरीरो गुणो मृदुतीक्ष्णशीतोष्णादयः ।  
 तत्र प्राधान्यात् गौरवलाघवे पृथगुक्ते । आहारश्चेति अशितादिचतुर्विधो-  
 ऽभ्यवहारः । विहारो विहरणम् । आचारस्तु शिक्षया व्यवहार उक्तस्तेनास्य  
 भेदः । आहारपरिणामश्चेत्यभ्यवहृतस्य परिणतिः । उपायो व्याधिप्रति-  
 काराय यो य उपायस्तत्सौष्टवासौष्टवाभ्यां शुभाशुभफलात् । अपायो व्याधे-  
 र्निवृत्तिः । व्याधिः ज्वरादिव्याधिरेव । वेदनाः सुखदुःखे । छाया देहस्य छविः ।  
 काष्ठिन्पाद्यवयोधः । सत्त्वं मनः सत्त्वविकृतेरुदाहरणम् यथा—“भौतमुक्त्वं भजते सत्त्वं चेतोभिः  
 आविशत्यपि” इत्यादि । भक्तिरिच्छा । शीलं सहजवृत्तम् । आचारः शास्त्रशिक्षाकृतो  
 व्यवहारः । भक्त्यादयो यद्यपि सत्त्वविकारत्वेन सत्त्वग्रहणेनैव लभ्यन्ते, यदुक्तम्—“भक्तिः शीलं  
 शौचं द्रव्यः स्मृतिर्मोहसत्यागो मात्सर्यं भयं क्रोधस्तन्द्रोत्साहस्तैर्क्षणां मार्दवं गाम्भीर्यमनव-  
 स्थितमित्येवमादयः सत्त्वविकाराः” इति, तथापि भक्त्यादीनामपि पृथगरिष्टाधिकरणत्वेन इह  
 पृथक्करणम् । निद्रादौर्ध्वल्यात् तन्द्रेति ‘तन्द्रा’शब्देन निद्रोच्यते । अत्र च रिष्टमुक्तम्, यथा—  
 ‘निद्रा नित्या भवति न वा’ इति । आरम्भ इति अरिष्टव्याधुत्पादारम्भः । यदुक्तम्,—  
 “श्वययुर्यस्य कुक्षिस्थो हस्तपादं प्रधावति” इत्यादि । गौरवे रिष्टं यथा—“निष्ठूततत्र पुरीषञ्च  
 रेतश्चाम्भसि मज्जति” इत्यादि । लाघवे रिष्टं गुरुणामङ्गानां लाघवं ज्ञेयम् । गुणारिष्टम्, यथा—  
 “गुणाः शरीरदेशानां शीतोष्णमृदुदारुणाः । विपर्ययात्तेन लक्ष्यन्ते स्थानेष्वन्येषु तद्विधाः” इति ।  
 आहाररिष्टं यथा—“आहारमुपयुञ्जानो भिषजा सूपकल्पितम्” इत्यादि । आहारपरिणामरिष्टं  
 यथा—“दुर्बलो बहु भुङ्क्ते यः प्राग् भुक्तादन्नमातुरः । अल्पमूत्रपुरीषश्च” इति । उपाय उपगमनं  
 व्याधिमेलक इत्यर्थः, यदुक्तम्—“सहसा ज्वरसन्तापस्तृष्णा मूर्च्छा बलक्षयः । विद्वलेपणञ्च  
 सन्धीनाम्” इति । व्याध्यपगमनमपायः यदुक्तम्—“यं नरं सहसा रोगो दुर्बलं परिमुञ्चति”  
 इत्यादि । व्याधिश्चेति व्याधिरेव रिष्टं यथा—“वाताष्टीला सुसंवृत्ता दाहणा हृदि तिष्ठति”  
 इति । छाया भौतिकी पञ्जरुगा । प्रतिच्छाया तु देहछायावत् नेत्रकुमारिकापि प्रतिच्छायारूपापि

स्वप्नदर्शनश्च दूताधिकारश्च पथि चौत्पातिकश्चातुरकुले भावा-  
वस्थान्तराणि च भेषजश्च भेषजप्रवृत्तिश्च भेषजाधिकार-  
युक्तिश्च, इति परीक्ष्याणि भवन्ति प्रत्यक्षानुमानोपदेशैरायुषः  
प्रमाणावशेषं जिज्ञासमानेन भिषजा । तत्र खल्वेषां परी-  
क्ष्याणां कानिचित् पुरुषानाश्रितानि भवन्ति, कानिचिच्च  
पुरुषसंश्रयाणि । तत्र यानि पुरुषानाश्रितानि तान्युपदेशतो  
युक्तितश्च परीक्षेत, पुरुषसंश्रयाणि प्रकृतितो विकृतितश्च ॥ २ ॥

प्रतिच्छाया लोके या तु छायेत्युच्यते । दूताधिकारः आतुरस्य चिकित्साय  
वैद्यनयनाय यो गच्छति स दूतस्तस्याधिकारस्तद्गतचेष्टादिः । पथि वैद्यस्य  
तदातुरचिकित्सार्थं गच्छतः पथि उत्पातकरभावदर्शनम् । आतुरकुले च  
आतुरस्यामात्यस्वर्गणेषु शुभाशुभसूचकानि यानि यानि भावावस्थान्तराणि ।  
भेषजं तद्व्याधिहितमौषधम् । भेषजप्रवृत्तिस्तस्मिन् व्याधौ प्रयुक्तस्य भेषजस्य  
शरीरे प्रवृत्तिः क्रिया । भेषजानामधिकारस्य तद्भेषजस्य स आतुरोऽधिकारी  
वा न वेति भेषजाधिकारे युक्तिः । इति वर्णादीनि आयुषः प्रमाणावशेषं  
जिज्ञासमानेन ज्ञातुमिच्छता भिषजा प्रत्यक्षानुमानोपदेशैः परीक्ष्याणि भवन्ति ।  
नन्वेतानि कथं परीक्षितव्यानि भिषजा इत्यत आह—तत्रेत्यादि । एषां  
वर्णादीनां मध्ये कानिचिद् दूताधिकारादीनि । पुरुषं यस्यायुषः प्रमाणाव-  
शेषो जिज्ञास्यः तम् । कानिचित् वर्णादीनि उपदेशतः प्रश्नादितः युक्तितः

ग्रहीतव्या । अथञ्च छायादिभेदः पञ्चरूपीयेन्द्रिये दर्शयितव्यः । आतुरकुले भावावस्थारिष्टं  
यथा—“अग्निपूर्णानि पात्राणि भिन्नानि विशिखानि च । भिषङ्मुमूर्षतां वेश्म प्रविशन्नेव  
पश्यति ॥” इत्यादि । भेषजसंवृत्तौ रिष्टं यथा—“यमुद्दिश्यातुरं वैद्यः संवर्त्तयितुमौषधम् । यत-  
मानो न शक्नोति दुर्लभं तस्य जीवितम् ।” भेषजस्य विकारेण समं या युक्तिः, तत्र रिष्टं यथा—  
“जिज्ञातं बहुशः सिद्धं विधिवद्वावचारितम् । न सिध्यत्यौषधं यस्य तस्य नास्ति चिकित्सितम् ।”  
शेषे घटुरिष्टोदाहरणमुक्तम् । इति समाप्तौ । प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् सर्वप्रमाणानामिहादौ प्रत्यक्षं  
कृतम् । यद्यपि वर्णादय आयुर्लक्षणप्रतिपादिता दीर्घायुःप्रमाणजिज्ञासायामपि परीक्ष्यन्ते, तथापीह  
गुणारिष्टप्रकरणे आयुःप्रमाणाविशेषज्ञानार्थमेव परीक्षणीयाः । अत उक्तम्—“प्रमाणविशेषं जिज्ञास-  
मानेन” इति । पुरुषम् अनाश्रितानि दूताद्याश्रयाणि रिष्टानि । युक्तितश्चेत्यनुमानत इत्यर्थः ।  
अत्र युक्तैरपि रिष्टवावधारणे क्षमत्वात् । प्रत्यक्षं हि दूतादीनां स्वरूपमात्रं गृह्णाति, रिष्टम्

तत्र प्रकृतिर्जातिप्रसक्ता कुलप्रसक्ता च दशानुपातिनी ॥  
च कालानुपातिनी च वयोऽनुपातिनी च प्रत्यात्मनियता चेति ।  
एतावज्जातिकुलदशाकालवयःप्रत्यात्मनियता हि तेषां तेषां पुरु-  
पाणां ते ते भावविशेषा भवन्ति ॥ ३ ॥

तकतोऽनुमानतश्च । युक्त्यपेक्षो हि तर्कोऽनुमानं न तकभिन्नम् । प्रकृतितः  
सहजस्वरूपतः । विकृतितः सहजस्वरूपवैपरीत्यतः ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—प्रकृतिः पोदेल्यभिप्रायेणाह—तत्र प्रकृतिर्जातिप्रसक्तेत्यादि ।  
जातिप्रसक्ता, प्रकृतिर्जातिः ब्राह्मणादिस्तत्स्वभावेन या प्रकृतिः प्रसज्यते  
सा । कुलप्रसक्ता, तत्रापि यत्कुले जातः पुरुषस्तदंशे जातानां पुरुषाणां या  
या प्रकृतिः प्रसक्ता सा । दशानुपातिनी, व्यापत्सम्पदातुर्य्यानातुर्य्यादिषु  
दशासु यस्यां दशायां या प्रकृतिः सम्पतति यादृशरूपेण तदनु रूपेण या दशा  
पतति सा दशानुपातिनी । कालानुपातिनी, यस्मिन् काले वसन्तादौ कृत-  
युगादौ च यादृशरूपेण प्रकृतिः पतति तदनु रूपेण पतनशीला प्रकृतिः  
कालानुपातिनी । वयोऽनुपातिनी, यस्मिन् वयसि शिशुवालपौगण्डकिशोर-  
युवमध्यष्टद्वान्यतमस्मिन् पतनशीला या प्रकृतिस्तदनु रूपेणैतस्मिन् वयसि पतन-  
शीला प्रकृतिर्वयोऽनुपातिनी । प्रत्यात्मनियता, प्रत्येकपुरुषे नियता या प्रकृतिः  
सा प्रत्यात्मनियता । ते ते भावविशेषाः तेषां तेषां पुरुषाणां ये ये वर्णादयस्ते  
ते भावविशेषाः एतावत्सु जातिकुलदशाकालवयःप्रत्यात्मसु नियताः । हि  
यस्मात् वर्णादयः शौचादयश्च भावाः पुरुषाणां जातिनियताश्च भवन्ति, कुल-  
दृतादीनामागमादेव ज्ञायते । पुरुषाप्रयिवर्णादिगतरीष्टग्रहणे तु प्रत्यक्षमपि तत्तदरीष्टविशेष-  
ग्रहणे तत्तद्विशेषेण व्याप्रियत इति मत्वा तत् प्रतिपिदम् । अनुमानन्तु रीष्टत्वेन प्रति-  
पादितमनिमित्तत्वादिति धर्मविचारे व्याप्रियते । एवं सर्वत्र । प्रकृतितश्चेति विकृतिज्ञान-  
हेतुतया प्रकृतिरिष्टज्ञाने व्याप्रियते, यत् प्रकृतिज्ञानाधीनं विकृतिविज्ञानं भवति । परीक्षा त्वन्नाधि-  
कृता प्रसिद्धैः प्रत्यक्षादिभिरेव ज्ञेया ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—प्रकृतिं विभजते—तत्रेत्यादि । जातिप्रसक्ता यथा—ब्राह्मणजातौ शौचम् ।  
कुलप्रसक्ता यथा—कश्चिदेव कुलं शुन्याचारवद् भवति । देशानुपातिनी यथा—अन्तर्ज्वेदिवासिनः  
शुच्यो भवन्ति । कालानुपातिनी यथा—कृतयुगे शौचम् । वयोऽनुपातिनी यथा—याल्ये-  
ऽशौचम् । प्रत्यात्मनियता यथा—कश्चिदेव पुरुषः प्रकृत्या शुचिर्भवति इत्याहुजदाहरणीयम् ।

देशानुपातिनीति चक्रः ।



विकृतिः पुनर्लक्षणनिमित्ता च लक्ष्यनिमित्ता च निमित्तानु-  
रूपा च । लक्ष्यमिति तावन्निमित्तानुमानम् । तत्र लक्षणनिमित्ता  
नाम सा यस्याः शरीरे लक्षणान्येव हेतुभूतानि भवन्ति । लक्ष-  
णानि हि कानिचिच्छरीरोपनिवद्धानि । यानि तस्मिंस्तस्मिन् काले

नियताश्च भवन्ति, दशनियताश्च भवन्ति, कालनियताश्च भवन्ति, वयोनियताश्च  
भवन्ति, प्रत्येकपुरुषनियताश्चैव भवन्ति नान्यनियताः । तस्मात् जाति-  
प्रसक्तादिः षोढा प्रकृतिः ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—विकृतिं विवृणोति स्वरूपतः—विकृतिरित्यादि । लक्षणं  
शरीरगतरेखाचक्रशङ्खादिचिह्नं तन्निमित्तं यस्याः सा लक्षणनिमित्ता विकृतिः ।  
लक्ष्यं निमित्तैरनुमीयते यत् तल्लक्ष्यं व्याध्यादिकम्, तन्निमित्तं यस्याः सा  
लक्ष्यनिमित्ता विकृतिः । व्याधितो हि सत्त्वशरीरयोर्विकृतिर्भवति । निमित्तानु-  
रूपेति । निमित्तेन यत् क्रियते तत् क्रियते यया विकृत्या सा विकृतिर्निमित्तानु-  
रूपा । ननु रेखादिलक्षणेन यल्लक्ष्यते शुभाशुभं तदत्र किं लक्ष्यमित्यतः स्वयं  
विवृणोति—लक्ष्यमित्यादि । निमित्तानुमानं कारणेनानुमानं यस्य तन्निमित्तानु-  
मानं व्याध्यादिकं तावल्लक्ष्यम् । न तु लक्षणरेखादिभिर्लक्ष्यं शुभाशुभमत्र  
विवक्ष्यते । लक्षणनिमित्तादिविकृतित्रयं क्रमेण भाष्येण विवृणोति—  
तत्रेत्यादि । शरीरे लक्षणान्येव शङ्खाकुशादिरेखादिकानि चिह्नानि यस्याः  
विकृतेर्हेतुभूतानि भवन्ति सा विकृतिर्लक्षणनिमित्ता नाम । कुत एतदित्यत  
आह—लक्षणानि हीत्यादि । हि यस्मात् कानिचिल्लक्षणानि शरीररेखादि-  
चिह्नानि शरीरोपनिवद्धानि शरीरेण सह जातानि उत्तरकालं जातानि च  
शरीरे लग्नानि भवन्ति । ननु तानि कानि चिह्नानि इत्यत आह—यानी-  
त्यादि । यानि शरीरचिह्नानि तस्मिंस्तस्मिन् काले तत्तच्चिह्नसूचनीयशुभा-

कुतः पुनर्ज्ञात्यादिनियता प्रकृतिर्भवतीत्यत्र हेतुमाह—जातिकुलेत्यादि । ते ते भावविशेषा इति  
शुचित्वाशौचादयः ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—रिष्टाधिकाराधिकृतां विकृतिं विवेचयितुं सर्वानेव विकृतिभेदानाह—विकृति-  
त्यादि । हेतुभूतानीति हेतुसदृशानि, तेन दैवमेव नखरेखापत्रादिसामुद्रिकोक्तलक्षणयुक्ते शरीरे  
राज्यधनवधवन्धनादिरूपविकृतिप्राप्तौ हेतुः, लक्षणानि तु दैवनिमित्तानि बोधकमात्राणि, अत एव

तत्राधिष्ठानमासाद्य तां तां विकृतिमुत्पादयन्ति । लक्ष्यनिमित्ता तु सा यस्या उपलभ्यते निमित्तं यथोक्तनिदानेषु । निमित्तानुरूपा तु निमित्तार्थकारिणी । यामनिमित्तां निमित्तमायुषः प्रमाणज्ञानस्येच्छन्ति भिषजः । भूयश्चायुषः ज्ञयनिमित्तां

शुभकर्मपरिणामकाले तत्र शरीरप्रदेशेऽधिष्ठानमासाद्य तां तां शुभां वाशुभा वा शरीरे विकृतिं स्वाभाविकशरीरप्रकृत्यन्यथारूपामुत्पादयन्ति । लक्ष्यनिमित्तां भाष्येण विवृणोति—लक्ष्यनिमित्ता खित्यादि । यस्यास्तु विकृतेर्निमित्तं व्याध्यादिकमुपलभ्यते सा लक्ष्यनिमित्ता विकृतिः । यथोक्तनिदानेषु व्याधीनां निदानादिषु सा विकृतिरुक्ता वाच्या च । निमित्तानुरूपां विकृतिं भाष्येण विवृणोति—निमित्तानुरूपा खित्यादि । निमित्तार्थकारिणी निमित्तानां लक्षणानां लक्ष्याणाञ्च येषां विकृतयस्तान् अर्थान् कर्तुं शीलं यस्याः सा निमित्तार्थकारिणी । उदाहरणेन तां दर्शयति—यामित्यादि । यां विकृतिम् अनिमित्तां निमित्तं विना रेखादिचिह्नं व्याध्यादिकं कारणं विना प्राप्तन-कर्मतो यदृच्छया वा जातमायुषः प्रमाणज्ञानस्य निमित्तमिच्छन्ति भिषजः सा निमित्तार्थकारिणी निमित्तानुरूपोच्यते । ननु यदृच्छयैव कस्मान्नवतीत्यतस्तु

दैवादित्युक्तं दैवकर्तृत्वज्ञात्रोच्यते । विकृतिमुत्पादयन्तीत्यत्रापि दैवादिति योजनीयम् । तेन दैवबलादेव लक्षणानां राज्यधनवधयन्धनादिरूपविकृतिकर्तृत्वम् । तस्मिंस्तस्मिन् काले इत्यनेन लक्षणसूचिरिष्टपाककाले नियतत्वं विकृतेर्दर्शयति । लक्षणसूचिताश्च राज्यादय इह पुरुषस्य कदाचिद्भवन्तोऽस्वाभाविका एवेति कृत्वा विकृतिशब्देनोच्यन्ते । यथोक्तं निदानेऽपि यथा—रक्षादिस्त्वया वातादिप्रकोपरूपा विकृतिर्निदानोक्तेत्यर्थः । निमित्तानुरूपेति निमित्तसदृशी । तदेव स्फारयति—निमित्तार्थकारिणीति निमित्तस्य यो अर्थः कार्यजननरूपः कार्यबोधनरूपो वा, तमनुकरोतीति निमित्तार्थानुकारिणी । रिष्टाख्या हि विकृतिर्मरणे, तस्यैव बोधने वा निमित्तं भवति । अपरमपि “अनिमित्तम्” इत्यनन्तरमस्य विशेषणं कथयिष्यति । रिष्टस्य हि न रौक्ष्यादिना शरीर-सम्बन्धादि निमित्तमुपलभ्यते । यद् वा आयुःक्षयरूपं यन्निमित्तं तद् विद्यमानमपि नान्यैरुप-लभ्यते, किन्तु तदेव रिष्टादुच्यते । तेन लक्ष्यनिमित्तत्वमिहानिमित्तत्वं ज्ञेयम् । अत्र गतायुषमेव सकलपुरुषसंश्रितरिष्टव्यापकं कारणं साधु । यत् तु वक्ष्यति—“क्रियापथमतिक्रान्ताः केवलं देह-माश्रिताः चिह्नं कुर्वन्ति यद् दोषास्तद्विरिष्टं प्रचक्षते” इति, तद् दूतादिगतरिष्टव्यापकतया पुरुषाश्रयिगिरिष्टमात्राभिप्रायेण ज्ञेयम् । आयुषः प्रमाणज्ञानस्येति आयुःशेषप्रमाणज्ञानस्येत्यर्थः । भूय

प्रेतलिङ्गानुरूपाम्, यामायुपोऽन्तर्गतस्य ज्ञानार्थमुपदिशन्ति  
धीराः । याश्चाधिकृत्य पुरुषसंश्रयाणि मुमूर्षतां लक्षणान्युप-  
देक्ष्यन्ते । इत्युद्देशः । तं विस्तरेणोपदिशन्तो भूयः परमतो  
व्याख्यास्यामः ॥ ४ ॥

अपराञ्चाह—भूयश्चेत्यादि । यां विकृतिमन्तगतस्य लक्षणलक्ष्याभ्यामवि-  
ज्ञेयस्यायुपो ज्ञानार्थमायुपः क्षयनिमित्तामायुपः कर्मवशात् क्षय एव निमित्तं  
यस्यास्ताश्च भूयो भूयिष्ठं प्रेतलिङ्गरूपां मृतस्यानुमानकरणरूपां धीरा  
उपदिशन्ति । एवं परीक्षाहेतुत्वास्मिन् स्थाने यद् यल्लक्षणं वाच्यं तदाह—  
याञ्चेत्यादि । याश्च विकृतिमधिकृत्यात ऊर्द्धं पुरुषसंश्रयाणि मुमूर्षताम्  
आसन्नमृत्यूनां पुंसां लक्षणान्युपदेक्ष्यन्ते सा विकृतिनिमित्तानुरूपा । एते-  
नास्मिन् स्थाने लक्षणनिमित्ता लक्ष्यनिमित्ता च विकृतिः पुरुष-  
संश्रयाणां वर्णादीनां परीक्षार्थं न दर्शयितव्या निमित्तानुरूपैव विकृतिर्दर्शयि-  
तव्या, तथा पुरुषसंश्रयाणि मृत्युलक्षणानि परीक्षेतेत्यर्थः । इत्युद्देशः संक्षेपेणात्र  
प्रमाणविशेषज्ञानार्थं परीक्षासूत्रोपदेश एषः । तस्यायुपः प्रमाणज्ञानार्थं परीक्षा-  
सूत्रोद्देशं भूयोऽतः परम् ऊर्द्धं व्याख्यास्यामः । इति प्रतिज्ञा ॥ ४ ॥

इति अत्यर्थम् । तेनात्यर्थमायुःक्षयनिमित्तां प्रत्यासज्जायुःक्षयजन्यामिति यावत् । यामिति क्षीणायुः-  
कार्थ्यम् । प्रेतलिङ्गानुरूपामिति प्रेतसदृशीम्, “मला दन्तेषु जायन्ते प्रेताकृतिरुदीर्यन्ते”  
इत्यादिग्रन्थवक्ष्यमाणाम् । इमां हि विकृतिमायुपोऽन्तर्गतस्य ज्ञानार्थं वदन्ति । या त्वन्या  
प्रेतलिङ्गानुरूपा वर्णाश्रया सा नात्यर्थं प्रत्यासन्नमरणबोधिका । तेन सा नात्यर्थं क्षीणायुः-  
कार्थ्येत्यर्थः । एवं ‘भूयश्च’ इत्यादिना ‘धीराः’ इत्यन्तेन निमित्तानुरूपविकृतिविशेषस्य कार्थ्य-  
विशेषं मरणलक्षणमभिधाय पुनः सामान्येनानिमित्ततया धर्मान्तरमाह—यामधिकृत्येत्यादि ।  
‘पुरुषसंश्रयाणि’ इति विशेषणेन पुरुषानाश्रितदूतादिरिष्टे नावश्यमनिमित्ततास्तीति दर्शयति । यतो  
दूताधिकारादौ यानि रिष्टानि, तानि दृश्यमाननिमित्तान्याप्यागमादेव रिष्टत्वेनावधार्यन्ते, यथा—  
“मुक्तकेशोऽथवा नग्ने रुद्रत्यप्रत्ययेऽथवा । भिषगाभ्यागतं दृष्ट्वा दूतं मरणमादिशेत् ।” अत्र  
भिषजा मुक्तकेशवचनाद् दृश्यत एव कारणम्, तथा दूतागमने चातुरस्य प्रेरणादिकारणमस्त्येव ।  
तेनानिमित्तञ्च आतुराश्रयि रिष्टमेव । अन्ये तु एवंभूतवैद्यदूतसमागमः परिहर्तव्यत्वेन ज्ञातः सन्  
यदा दैवाद् भवति, तदा दैवनिमित्तः सन् रिष्टं भवति । तेन सर्व्वरिष्टव्यापिकैवेयमनिमित्तता ।  
‘भूयश्च’ इत्यादिग्रन्थेन तु प्रेतलिङ्गानुरूपां विकृतिं भूय आयुपोऽन्तर्गतस्य ज्ञानार्थमुपदिशन्ति  
इति च तथा पुरुषसंश्रयान् भूय उपदेक्ष्यन्ते, पुरुषानाश्रयाणि तु स्तल्पग्रन्थेनोपदेक्ष्यन्ते इति  
व्याख्यानयन्ति । इत्युद्देश इति इन्द्रियस्थानार्थो ज्ञेय इत्यर्थः ॥ ४ ॥

तत्रादित एव वर्णाधिकारः । तद् यथा—कृष्णश्यामः श्यामावदातोऽवदातश्चेति प्रकृतिवर्णाः शरीरस्य भवन्ति । यांश्चापरान् अवेक्ष्यमाणानपि विद्यादन्तकृतोऽन्यथा वापि निर्दिश्यमानास्तज्ज्ञैः । नीलश्यामताम्रहारितशुक्लाश्च वर्णाः शरीरे वैकारिका भवन्ति । यांश्चापरानवेक्ष्यमाणानपि विद्यात् प्राग्विकृतानदूरोत्पन्नान् + । इति प्रकृतिविकृतिवर्णा भवन्ति इत्युक्ताः शरीरस्य ॥ ५ ॥

**गङ्गाधरः**—उद्देशानुक्रमेण व्याख्यातुमाह—तत्रेत्यादि । कृष्णः स्निग्ध-कृष्णः पक्वजम्बूफलवत् तद्व्युक्तः श्याम ईपत्कृष्ण इत्यर्थः । श्यामावदात ईपच्छ्यामः उज्ज्वलश्याम इति यावत् । अवदातो गौर इति च त्रयो वर्णाः प्रकृतिवर्णाः । तज्ज्ञैर्वर्णभेदानामन्वैर्यांश्च अपरान् अनूकृतो वस्तन्तरसादृश्येन निर्दिश्यमानान् अन्यथा वस्तन्तरानूकृत्यतिरेकेण वा निर्दिश्यमानान् अवेक्ष्यमाणान् तानपि प्रकृतिवर्णान् विद्यात्, तेऽपि प्रकृतिवर्णा भवन्ति । नीलश्याम इति नीलवत् श्यामवर्णः । ताम्रवर्णः । हारितशुक्ल इति पालाशवद्गौरः । एते त्रयो वर्णा विकृतिवर्णाः । यांश्चापरान् प्राग्विकृतान् पूर्ववर्णान्यवर्णान् अदूरोत्पन्नान्, न तु दूरोत्पन्नान् विद्यात् । तेन जन्ममात्रं

**चक्रपाणिः**—प्रकृतिज्ञानान्तरीयकत्वाद् विकृतिज्ञानस्य प्रकृतिवर्णानेव तावदाह—कृष्ण इत्यादि । अवदातो गौरः । इह च प्रायेण ये वर्णाः प्रकृत्या भवन्ति, ते प्रकृतिवर्णा उच्यन्ते, ये तु प्रायेण विकृत्या भवन्ति, ते विकृतिवर्णा उच्यन्ते इति ज्ञेयम् । तेन प्रकृतिवर्णा अपि कदाचिद् विकृतिवर्णा भवन्ति, तथा विकृतिवर्णा अपि जन्मप्रभृति जायमानतया कदाचिदपि प्रकृतिवर्णा भवन्तीति ज्ञेयम् । अनुक्तप्रकृतिवर्णातिदेशार्थमाह—यांश्चेत्यादि । उपेत्य ईक्षमाण इत्युपेक्षमाणः । अनुकृत इति सादृश्यतः । अनेन च 'कृष्णश्यामादिवर्ण'शब्देन निर्दिश्यमानान् विद्यादिति योजना । नीलेश्यादिना विकृतिजायमानतया विकृतिवर्णानाह । इह 'अपरान्' इति वचनेन विकृतिवर्णसङ्करजा वर्णा ज्ञेयाः । विकृतिवर्णान्तरमाह—प्रागित्यादि । प्राग्विकृतानिति पूर्ववर्णादन्यथाभूतानित्यर्थः । तेनापि येन श्यामेन सता रसायनयोगाद् गौरवर्णत्वं प्राप्तम्, स च त्यक्तरसायनः कालवशात् पुनः श्यामवर्णो भवति, तस्यापि पूर्वगौरवर्णाद् विकृतिः श्यामवर्णो

\* अवेक्ष्यमाणानित्यत्र उपेक्षमाण इति चक्रवर्तः पाठः ।

+ प्राग्विकृतानमूत्वोत्पन्नानिति चक्रसम्मतः पाठः ।

तत्र प्रकृतिवर्णोऽर्द्धशरीरे विकृतिवर्णोऽर्द्धशरीरे, द्वावपि वर्णौ मर्यादाविभक्तौ दृष्टा यद्येवं सव्यदक्षिणविभागेन, यद्येवं पूर्वपश्चिमविभागेन, यद्येवमधोत्तरविभागेन, यद्येवमन्तर्बहिर्विभागेन ० आतुरस्यारिष्टमिति विद्यात् । एवमस्य वर्णभेदो मुखस्यान्तर्गतो वर्त्तमानो मरणाय भवति । वर्णभेदेन ग्लानि-

यो वर्णस्तदुत्तरं केशोरादौ यद्वर्णान्यथात्वं तद्वारितम् । न ते शरीरस्य वैकारिका वर्णा भवन्ति ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—तत्र कस्मिन् वर्णेऽरिष्टत्वमित्यत आह—तत्रेत्यादि । प्रकृतिवर्ण इति साहजिको वर्णः । अर्द्धशरीरे इति नृसिंहाकारेण वार्द्धनारीश्वराकारेण वा तदाह—द्वावपीत्यादि । द्वौ प्रकृतिवर्णविकृतिवर्णौ मर्यादाविभक्तौ सीमया विभागीकृतौ दृष्टा सव्यदक्षिणविभागेन सव्ये वामे प्रकृतिवर्णौ दक्षिणे विकृतिवर्णः, दक्षिणे प्रकृतिवर्णः, वामे विकृतिवर्णौ वेत्येवंरूपेण यदि मर्यादाविभक्तौ, यदि वा पूर्वपश्चिमविभागेन पुरोदेहे प्रकृतिवर्णः पृष्ठतो विकृतिवर्णोऽथवा पृष्ठतः प्रकृतिवर्णः पुरस्ताद्विकृतिवर्ण इत्येवंरूपेण मर्यादाविभक्तौ, यदि वाऽधोत्तरभागेन ऊर्द्धाद्धेकाये प्रकृतिवर्णोऽधोऽर्द्धेकाये विकृतिवर्णोऽथवा अधोऽर्द्धेदेहे प्रकृतिवर्ण उर्द्धाद्धेदेहे विकृतिवर्ण इत्येवंरूपेण मर्यादाविभक्तौ, यदि वान्तर्बहिर्विभागेन देहाभ्यन्तरे प्रकृतिवर्णो बहिर्देहे विकृतिवर्णोऽथवा बहिर्देहे प्रकृतिवर्णो देहाभ्यन्तरे विकृतिवर्ण एवंप्रकारेण मर्यादाविभक्तौ द्वावपि वर्णौ दृष्टातुरस्यारिष्टमिति विद्यान्तु स्वस्थस्य । एवमस्यातुरस्य न तु स्वस्थस्य एवंप्रकारेण वर्णभेदो यदि मुखस्यान्तर्गतोऽर्द्धे प्रकृतिवर्णोऽर्द्धे विकृतिवर्णो वर्त्तमानः स्यात् तदा मरणाय भवति, अरिष्टं भवति । न तु नियतमरणख्यापकतो भिन्नमरिष्टं भवतीत्युक्तम् । तुल्यप्रकारत्वाद् ग्लान्यादीनप्याह—

भवन् रिष्टं स्यादित्याह—अमृतत्वोत्पत्तिरिति । तेन नायं दोषः । अत्र हि पूर्वमूत एव वर्णः पुनर्भवति । तेन न रिष्टम् ॥ ५ ॥

चक्रपाणिः—मर्यादाविभक्ताविति समसीमान्तरस्थापितौ । पूर्वपश्चिमविभागेनेति अभि-

हर्षरौक्ष्यस्नेहा व्याख्याताः, तथा पिप्लवव्यङ्गतिलकालक-  
पिङ्कानामन्यतमस्यानने जन्मातुरस्यैवमेवाप्रशस्तं विद्यात् ॥ ६

नखनयनवदनमूत्रपुरीषहस्तपादौष्ठादिषु च वैकारिकोक्तानां  
वर्णानामन्यतमस्य प्रादुर्भावो हीनवलङ्घर्णेन्द्रियेषु लक्षणमायुषः  
क्षयस्य भवति । ॐ यदन्यदपि किञ्चिद्गणवैकृतमभूतपूर्वं सहस्रैव  
वर्णभेदेनेत्यादि । यथा वर्णेऽरिष्टमुक्तम्, तथाऽर्द्धशरीरे ग्लानिर्ऽर्द्धशरीरे हर्षः  
यदि द्वावपि सव्यदक्षिणविभागेन वा पूर्वपश्चिमविभागेन वाप्यधरोत्तरविभागेन  
वाप्यन्तर्वह्निविभागेन वा मर्यादाविभक्तौ दृष्टातुरस्यारिष्टं विद्यात् । एवमस्य  
ग्लानिहर्षभेदो मुखस्यान्तर्गतो वर्त्तमानो मरणाय भवति । एवं यद्यर्द्धशरीरे  
रौक्ष्यमर्द्धशरीरे स्नेहो द्वावपि सव्यदक्षिणविभागेन वा पूर्वपश्चिमविभागेन  
वाप्यधरोत्तरविभागेन वान्तर्वह्निविभागेन वा मर्यादाविभक्तौ पश्येत् तदातुरस्य  
अरिष्टं विद्यात्, न तु स्वस्थस्य । एवमस्यातुरस्य वर्णभेदो यदि मुखस्यान्तर्गतो  
वर्त्तमानो भवति तदा मरणाय भवति । इति यथा वर्णौ द्वौ सव्यदक्षिणभेदेन  
पूर्वपश्चिमभेदेन वा अधरोत्तरभेदेन वा अन्तर्वह्निभेदेन वा व्याख्यातौ, तथा  
ग्लानिहर्षौ द्वौ रौक्ष्यस्नेहौ द्वौ चेति, वर्णभेदेन ग्लान्यादयो व्याख्याता  
बोध्याः । तथा पिप्लवो न्यञ्जः कुण्ठः व्यङ्गः तिलकालकादीनामन्यतमस्य  
यद्यातुरस्यानने जन्म स्यात्, तदा एवमेवारिष्टरूपमप्रशस्तं विद्यात् ॥ ६ ॥

**गङ्गाधरः**—नखनयनादिषु वैकारिकोक्तानां नीलश्यामताम्रहारितशुक्लाना-  
मन्यतमस्य वर्णस्य प्रादुर्भावो जन्म हीनवलादिके व्याधिते पुरुषे आयुषः  
क्षयस्य लक्षणं, न त्वक्षीणवलवर्णेन्द्रिये वा स्वस्थे । यदन्यदपीति । अभूतपूर्व-  
जन्मप्रभृति स्वास्थ्यदशायां यन्न वर्णस्वरूपं तदेव वर्णवैकृतं यदुक्तादन्यत्  
मुखपृष्ठभागेनेत्यर्थः । अन्तर्विभागेनेति अत्रान्तर्गतो वर्णो मुखनासाकर्णश्रोत्रान्तर्गततया उन्नेयः ।  
अन्यत्रेति अवान्तरे हस्तपादादौ । वर्णभेदेनेति यथा वर्णविभागेन रिष्टम्, तथापि ग्लान्यादि-  
विभागेनेत्यपीत्यर्थः । हर्ष इह उपचयो ज्ञेयः, मानसहर्षस्येह चाक्षुषाधिकारेऽसङ्गतत्वात् । तथेत्यादौ  
पिप्लुप्रभृतीनामपि वर्णवत् सव्यदक्षिणादिविभागेन जन्म रिष्टं भवति । एतदेव 'जन्म'-  
शब्देनोच्यते ॥ ६ ॥

**चक्रपाणिः**—नखेत्यादौ बलहान्याद्यभावे सति न रिष्टम् । यच्चेत्यादिना अनुक्तवर्णरिष्टं  
गृह्णाति । अभूतपूर्वमिति पूर्वव्याकृतसंयनविहितवर्णप्रादुर्भावव्युदासार्थम् । सहस्रो-

उत्पद्यतऽनिमित्तमेव हीयमानस्यातुरस्य ॐ तच्चारिष्टमिति विद्यात् । इति वर्णाधिकारः ॥ ७ ॥

स्वराधिकारस्तु—हंसक्रौञ्चनेमिदुन्दुभिकलविङ्ककाकपोत-  
भर्भरानूकाः प्रकृतिस्वरा भवन्ति । यांश्चापरानवेक्ष्यमाणान्  
विद्यादन्कतोऽन्यथा वापि निर्दिश्यमानांस्तज्ज्ञैः । † शुक-कल-  
ग्रहग्रस्ताव्यक्त-गद्गद-क्षाम-दीनानुकीर्णाश्चातुराणां स्वरा वैका-  
रिका भवन्ति । यांश्चापरानवेक्ष्यमाणानपि विद्यात् प्राग्विकृताद्  
अदूरोत्पन्नान् । इति प्रकृतिविकृतिस्वरा व्याख्याता भवन्ति ।  
तत्र प्रकृतिवैकारिकाणामाश्वभिनिवृत्तिः स्वराणामेकत्वमेकस्य  
सहसैवानिमित्तमेव देहे उत्पद्यते, तत् तु हीयमानस्य वलादिभ्य आतुरस्यारिष्टं  
विद्यादिति ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—इति वर्णारिष्टमुक्त्वा उद्देशानुरूपत्वात् स्वरारिष्टाधिकारः । हंसे-  
त्यादि । नेमी रथचक्रम् । कलविङ्कः पक्षिविशेषः । झर्झरः वाद्यभेदः । एषामनूकाः  
सदृशाः प्रकृतिस्वरा भवन्ति यांश्चापरान् स्वरानन्कतोऽन्यथा वा तज्ज्ञैः  
स्वरविद्भिर्वेक्ष्यमाणान् दृश्यमानानपि निर्दिश्यमानान् स्वरान् विद्यात्,  
तेऽपि प्रकृतिस्वराः । शुकः पक्षिविशेषः । कलः सूक्ष्मः । ग्रहग्रतः  
सर्व्वथानुचरणम् । अव्यक्तः । गद्गदोऽर्द्धाच्चरितः । क्षामः क्षीणः । दीनो दुःखो-  
च्चार्यमाणः स्वरः । अनुकीर्ण उपर्य्युपर्य्युच्चार्यमाणः । एते स्वरा आतुराणां  
वैकारिका भवन्ति । यांश्चापरान् स्वरक्षैर्वेक्ष्यमाणानपि विद्यात् वैकारिकान्  
स्वरान् प्राग् विकृतात् पूर्व्वस्वरतोऽन्यथारूपात् अदूरोत्पन्नानल्पकालोत्पन्नान्  
स्वरान् विद्यात्, तेऽपि वैकारिकाः स्वरा भवन्ति । अथ स्वरारिष्टमाह—  
तत्रेत्यादि । तत्र प्रकृतिविकृतिस्वरेषु मध्ये प्रकृतिस्वराणामुपघातेन वैकारिक-  
त्पद्यत इत्यनेन रिष्टानां शीघ्रस्वभावं दर्शयति । अनिमित्तमिति पूर्व्वोक्तार्थमेव । हीयमानस्य  
शश्वदिति स्वभावकथनम्, रिष्टोत्पत्त्या हीयमानता शश्वदवश्यं भवति ॥ ७ ॥

चक्रपाणिः—क्रमागतं स्वरमाह—स्वरेत्यादि । झर्झरो वाद्यभाण्डविशेषः । यांश्चेत्यादि-  
पूर्व्ववत् । एडको मेपः किंवा अनङ्गान् । कलः सूक्ष्मः । ग्रस्तः सर्व्वथानुचारः । क्षामो  
रुक्षः । दीनो दुःखोच्चार्यमाणस्वरः । अनुकीर्णः उपर्य्युपर्य्युच्चार्यमाणः । प्रकृतेवैकारिका

चानेकत्वमप्रशस्तम् । इति स्वराधिकारः । इति वर्णस्वराधि-  
कारो यथावदुक्तौ मुमूर्षतां ज्ञानार्थम् ॥ ८ ॥

भवन्ति चात्र ।

यस्य वैकारिको वर्णः शरीर उपपद्यते ।

अर्द्धे वा यदि वा कृत्स्ने निमित्तं न च नास्ति सः ॥

नीलं वा यदि वा श्यामं ताम्रं वा यदि वारुणम् ।

मुखाद्धर्मन्यथावर्णो मुखाद्धेऽरिष्टमुच्यते ॥

स्नेहो मुखाद्धे सुव्यक्तो रौक्ष्यमर्द्धमुखे भृशम् ।

ग्लानिरर्द्धे तथा हर्षो मुखाद्धे प्रेतलक्षणम् ॥

स्वराणामाशु शीघ्रमभिनिवृत्तिः, अप्रशस्तमरिष्टमातुरस्य । तथा स्वराणामने-  
केषां प्रकृतिस्वराणां वा विकृतिस्वराणां वा एकत्वम् मिश्रीभावेणैक-  
स्वरत्वम् एको वैकारिकः स्वरः । एकस्य वा स्वरस्यानेकत्वं बहवो वैकारिकस्य  
स्वराः । तथातुरस्य बलादिहीनस्य सहसा भवति तदा तस्यातुरस्य अप्रशस्त-  
मिति ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—एतदर्थं श्लोकानाह—भवन्तीत्यादि । यस्येत्यादि । वैकारिको  
वर्णो नीलज्यामादिव्याख्यातः । अर्द्धे वा शरीरे उपपद्यतेऽपरार्द्धे प्रकृतिवर्ण  
इति गम्यमानत्वात् । न च तत्र निमित्तं, तदा स नास्ति मृतोऽभूदित्यर्थः ।  
यदि वा कृत्स्ने शरीरे बाहेः वाभ्यन्तरे वा कृत्स्नशरीरे वैकारिको वर्ण उत्पद्यते,  
न च तत्र निमित्तं वातादिकारणं, वर्त्ततेऽभ्यन्तरे वा बाहेः वा गम्यमानत्वात्  
प्रकृतिवर्णस्तदा स नास्ति । नीलं वेत्यादि । यद्यर्द्धं मुखं नीलं मुखाद्धेऽन्यथा-  
वर्णः प्रकृतिवर्णात्, किं वार्द्धं मुखं श्याममभ्यन्तरतो मुखाद्धेऽन्यथावर्णो यदि  
वार्द्धं मुखमभ्यन्तरतस्ताम्रं मुखाद्धेऽन्यथावर्णः, यदि वार्द्धं मुखमभ्यन्तरेण  
अरुणं हारितशुक्लं मुखाद्धेऽभ्यन्तरतोऽन्यथावर्णः प्रकृतिवर्णः स्यात् तदा  
अरिष्टमुच्यते । स्नेह इति । स्नेहो मुखाद्धे इत्यादि पूर्वं व्याख्यातम् ।

अन्यथासृता इति प्रकृतिवैकारिकाः । स्वराणेकत्वमिति कदाचिदेव एडकस्वरत्वं कदाचित्  
कलस्वरत्वमित्यादि । एकस्य चानेकत्वमिति एकस्यैव स्वरस्य चानेकत्वमिति प्रतिभाति ।  
अनिमित्तमिति सम्बध्यते ॥ ८ ॥



तिलकाः पिप्लवो व्यङ्गा राजयश्च पृथग्विधाः ।  
 आतुरस्याशु जायन्ते मुखे प्राणान् मुमुक्षतः ॥  
 पुष्पाणि नखदन्तैषु पङ्क्तो वा दन्तसंश्रितः ।  
 चूर्णको वापि दन्तैषु लक्षणं तद् गतायुषः ॥  
 ओष्ठयोः पादयोः पाण्योरक्ष्णोर्मूत्रपुरीषयोः ।  
 नखेष्वपि च वैवर्ण्यमेतज्जीर्णवले-ॐ-ऽन्तकृत् ॥ ६ ॥  
 यस्य नीलावुभावोष्ठौ पक्वजाभवसन्निभौ ।  
 मुमूर्षुरिति तं विद्यात् नरं धीरो गतायुषम् ॥  
 एको वा यदि वानेको यस्य वैकारिकः स्वरः ।  
 सहस्रोत्पद्यते जन्तोर्हीयमानस्य नास्ति सः ॥  
 यच्चान्यदपि किञ्चित् स्याद् वैकृतं स्वरवर्णयोः ।  
 बलमांसविहीनस्य तत् सर्वं मरणोदयम् ॥ १० ॥

नखदन्तेषु व्याधितस्य यदि पुष्पाण्याशु भवन्ति दन्तसंश्रितश्च पङ्क्तः कदम् इव  
 क्लेदो भवति किंवा चूर्णकश्चूर्णरजोवद् दन्तेषु भवति तद् गतायुषो लक्षणम् ।  
 ओष्ठयोरित्यादि । नखनयनवदनेत्यादिना व्याख्यातम् ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—यस्येत्यादि । यस्यातुरस्य, न तु स्वस्थस्य, प्रकरणात् ।  
 सुष्पष्टार्थत्वात् पूर्वं न व्याख्यातमिदं स्वयम् । स्वराधिकारं यद्वाख्यातवान्  
 तत्र श्लोकमाह—एको वेत्यादि । तत्रेत्यादिना व्याख्यातम् । यच्चान्यदपी-  
 त्यादि । वर्णारिष्टं यदन्यदपीत्यादिना व्याख्यातम् । तथैव स्वरविषये  
 बोध्यम् । यदन्यदपि किञ्चित् स्वरवैकृतमभूत्पूर्वं सहस्रोत्पदेति  
 अनिमित्तमेव बलमांसहीनस्यातुरस्य तच्च सर्वमरिष्टमिति विद्यात् ॥ १० ॥

चक्रपाणिः—अयमेवार्थो गद्योक्तः स्पष्टार्थं सुखग्रहणार्थञ्च श्लोकेनोच्यते यस्येत्यादिना । तिलका  
 इत्यादौ मुख इति मुखे तथा सुखाभ्यन्तरे ॥ ९ ॥

चक्रपाणिः—ओष्ठाविति द्विवचनमुक्तापि यत् 'उभौ' इति करोति, तेन सकलौष्ठव्याप्तिं  
 दर्शयति । मुमूर्षुरित्युक्तापि यत् गतायुषमिति करोति, तेन रिष्टयुक्तो मुमूर्षुर्गतायुरिति

तत्र श्लोकः ।

इति वर्णस्वरावुक्तौ लक्षणार्थं मुमूर्षताम् ।  
यस्तु सम्यग् विजानाति नायुर्ज्ञाने स मुह्यति ॥ ११ ॥  
इत्यग्निवेशकृतै तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतै इन्द्रियस्थाने  
वर्णस्वरीयमिन्द्रियं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—अत्राध्यायार्थोपसंहारश्लोकमाह—तत्र श्लोक इति ॥ ११ ॥  
अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि ।

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरत्नविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ पञ्चमस्कन्धे  
इन्द्रियस्थानजल्पे वर्णस्वरीयजल्पाख्या प्रथमशाखा ॥ १ ॥

दर्शयति । अजातरिष्टस्तु प्रतिक्रियाभावाद् मुमुर्षुर्गतायुरपि भवति । मरणोदयमिति मरण-  
कारणमिति ज्ञानार्थम् ॥ १०।११ ॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुराननश्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां चरक-  
तात्पर्यटीकायाम् इन्द्रियस्थाने वर्णस्वरीयेन्द्रियं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

## द्वितीयोऽध्यायः ।

अथातः पुष्पितकमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

पुष्पं यथा पूर्वरूपं फलस्येह भविष्यतः ।

तथा लिङ्गमरिष्टारूपं पूर्वरूपं मरिष्यतः ॥

अप्येवन्तु भवेत् पुष्पं फलेनाननुबन्धि यत् ।

फलश्चापि भवेत् किञ्चिद् यस्य पुष्पं न पूर्वजम् ॥

न त्वरिष्टस्य जातस्य नाशोऽस्ति मरणादृते ।

मरणाश्चापि तन्नास्ति यन्नारिष्टपुरःसरम् ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—अथोद्देशानुक्रमत्वाद् वणस्वरपरीक्षोपदेशानन्तरं गन्धरस-  
परीक्षार्थं पुष्पितकमिन्द्रियमारभते—अथेत्यादि । फलस्य पूर्वरूपं पुष्पमिति ।  
पुष्पितमधिकृत्य कृतोऽध्याय इति पुष्पितकम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—पुष्पमित्यादि । भविष्यतः फलस्य पूर्वरूपं पुष्पं यथा, तथा  
मरिष्यतः पुरुषस्य अरिष्टारूपं लिङ्गं भविष्यन्मरणस्य पूर्वरूपम् । तत्र व्यभिचारं  
दर्शयति—अप्येवन्त्वित्यादि । न केवलं फलस्य भविष्यत एव पुष्पं पूर्वरूपं  
फलेनाननुबन्धि फलजनकत्वं विनापि, पुष्पस्य सद्भावोऽस्ति । अपि च यस्य  
फलस्य पूर्वजं पुष्पं न भवति, तदपि किञ्चित् फलमस्ति, यथोदुम्बराश्वत्थ-  
वटादिफलं पुष्पं विनापि भवति । न तु तथारिष्टस्य जातस्य नाशोऽस्ति मरणादृते

चक्रपाणिः—वर्णस्वरानन्तरं गन्धस्य कृतत्वान्निर्दिष्टत्वाच्च तदाश्रयिरिष्टप्रतिपादकं पुष्पितक-  
मुच्यते—पुष्पं यथेत्यादि । प्रकरणार्थं यद्यपि सकलेन्द्रियसाधारणतया प्रथमाध्याय एव वक्तुं  
युज्यते, तथापीह पुष्पानुकारेण गन्धाश्रयिरिष्टस्य वाच्यत्वात् पुष्पं प्रकृतम्, तत्प्रसङ्गाच्च रिष्टस्य  
पुष्पधर्मख्यापकमपि प्रकरणमिहोच्यते । पुष्पं यथेत्यादौ अव्यभिचारितफलसम्बन्धमेव पुष्पम् ।  
अत एव अप्येवन्त्वित्यादिना फलपुष्पयोः परस्परव्यभिचारं दर्शयति पुष्पफलदृष्टान्तेन रिष्टमरणयोः  
दुर्बोधत्वात् । ननु पुष्पफलव्यभिचारमपि शिष्यो गृह्णीयादिति तन्निरासार्थमाह—अप्येवमित्यादि ।  
फलेनाननुबन्धीति यथा वेतसपुष्पम् । यस्य पुष्पं न पूर्वजमपि शाखादेव फलम् ।  
जातस्येति सम्पूर्णस्य । किञ्चिदुदिते ह्यरिष्टेऽसम्पूर्ण नावश्यं मृत्युः । अन्ये तु जातस्य

मिथ्या दृष्टमरिष्टाभमनरिष्टमजानता ।

अरिष्टं वाप्यसम्बुद्धमेतत् प्रज्ञापराधजम् ॥ ३ ॥

जातस्यारिष्टस्य फलादृते न पुष्पनाशवन्नाशोऽस्ति । मरणश्चापि न चारिष्टं विना वर्तते । अत एव यत्रारिष्टं पुरःसरं पूर्वं सरति तत्र मरणमस्ति, यद्यत्र रसायनतपोजप्यतत्परत्वं मरणहरमन्नब्राह्मणञ्च न प्रयुङ्क्ते तदा “ध्रुवन्त्वारिष्टे मरणं ब्राह्मणैस्तत् किलामलैः । रसायनतपोजप्य-तत्परैर्वा निवार्यते ॥” इति सुश्रुतवचनात् ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—नन्वरिष्टवतोऽपि जीवनं दृश्यतेऽजातारिष्टस्यापि मरणं दृश्यते इति चेन्नेत्याह—मिथ्येत्यादि । अनरिष्टमजातारिष्टं पुरुषस्य यदजानता वैदेनारिष्टाभं दृष्टं तन्मिथ्या, न रिष्टम् । जातञ्च यदरिष्टम् अजानता वैदेन असम्बुद्धं न सम्यक् ज्ञातं तदपि मिथ्या, अनरिष्टम् । ननु कथमेवं भवति ? मिथ्यारूपम् एतज्ज्ञानं प्रज्ञापराधजं वैद्यानां प्रज्ञापराधात् नियतस्येति वर्णयन्ति । द्विविधं हि रिष्टं नियतञ्चानियतञ्च । तत्र नियतम्, “मृतमेव तमाप्नेयो आचक्षते पुनर्जयः” इत्यादि । अनियतम्, यथा—“संशयप्राप्तमात्रे यो मन्यते तस्य जीवितम् । अरोगः संशयं गत्वा कश्चिदेव प्रमुच्यते” इति । तथाऽनियतारिष्टाभिप्रायेणैव सुश्रुतेऽप्युक्तम्—“ध्रुवन्त्वारिष्टे मरणं ब्राह्मणैस्तत् किलामलैः । रसायनतपोजप्य-तत्परैर्वा निवार्यते ॥” एतच्चाप्ये न मन्यन्ते । आचार्य्येण रिष्टमरणयोरन्यभिचारस्य महता प्रयत्नेन दर्शितत्वात् । “संशयप्राप्तम्” इति वचनं मरणप्रतिपादकमेवाचार्य्येण भङ्गान्तरेणोक्तम्, यथाचार्य्यस्यारिष्टार्थस्तथा तदग्रन्थ एव व्याख्यास्यामः । यत् तु रसायनादिसाध्यत्वं रिष्टस्य तदनुमतमेव । रसायनमहेश्वरप्रसादादयो हि सर्वलोकमर्यादामपि हन्तुं क्षमाः । तेन तदव्यभिचारमपेक्षेह ग्रन्थः क्रियते । महेश्वरो हि भस्मीभूतं कामं पुनर्जीवयति सः । तपसा च रामेण मृतोऽपि विश्वपुत्रः पुनर्जीवित इत्याणु-सरणीयम् । अन्ये तु कालमृत्यावेव रिष्टपूर्वकं मरणं भवतीति वर्णयन्ति, वदन्ति च—“यद्यकाल-मृत्यौ रिष्टं भवति तदा वर्णादंश मृत्युप्रदं रिष्टं तत् विफलं स्यात्, येन कालमृत्यु-रुचिताचरणेऽपि परं मृत्युर्भवति, तत्र रिष्टे जाते यदुचिता क्रिया क्रियते तदा मृत्युर्भवितु-मर्हति, तेन कालगतमेव रिष्टम्” इति । तच्च न, अविशेषेण कालकालमरणे रिष्टसद्भावनियमात् । अकालमृत्यौ च कालमृत्यौ च यदैव क्रियापथमतिक्रान्तोऽपचारजनितो व्याधिर्भवति, तदैव परं रिष्टं भवति । अत एवोक्तम्—“क्षणेनैव रिष्टाः प्रादुर्भवन्ति” इति । यद्वचनं न स्वीकरोति, तस्य नियतायुषोऽपचारजन्यव्याधेरसाध्यता कदापि न स्यात् । येन यथाऽपचारजा दोषा अतिशयप्रमादादुपसाध्यव्याधिजनका भवन्ति, तथा मरणपूर्वैरिष्टजनका अपि भवन्ति ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—यत्र कुत्रचित् रिष्टमरणव्यभिचारिलिङ्गज्ञानं भवति, तद् आन्तमिति दर्शयन्नाह—मिथ्येत्यादि । अरिष्टाभमिति अरिष्टसंज्ञाम् । मिथ्यादृष्टमिति रिष्टत्वेन ज्ञातम्, एतदेवारिष्टे

ज्ञानसंवर्द्धनार्थन्तु लिङ्गैर्मरणापूर्वजः ।

पुष्पितानुपदेक्ष्यामो नरान् बहुविधान् बहून् ॥

नानापुष्पोपमो गन्धो यस्य भाति दिवानिशम् ।

पुष्पितस्य वनस्येव नानाद्रुमलतावतः ॥

तस्माहुः पुष्पितं धीरा नरं मरणलक्षणैः ।

स ना संवत्सराद् देहं जहातीति विनिश्चयः ॥ ४ ॥

भवति । तस्मात् भ्रुवन्तरिष्टं मरणं न तु ब्राह्मणादिभिर्निर्वाह्यमिति कश्चिदत्र व्याचष्टे तन्न सुश्रुतविरोधात् ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—ज्ञानेत्यादि । ज्ञानमायुषः प्रमाणावशेषस्य ज्ञानसंवर्द्धनार्थं मरण-पूर्वजैर्मरणात् पूर्वं जायन्ते ये तैः लिङ्गैः पुष्पितान् नरान् पुरुषान् बहून् बहु-विधानुपदेक्ष्यामः इत्यर्थः । नानेत्यादि । यस्य पुरुषस्य देवानिशमर्थत्वं सर्वदेवाविच्छेदेन नानापुष्पोपमो गन्धः शरीरे भाति प्रकाशते तं नरं मरण-लक्षणैः पुष्पितं धीरा आहुः, यथा नानाद्रुमलतावतः पुष्पितस्य वनस्य नाना-पुष्पोद्भवो गन्धो भाति । एतावता तद्वनस्य नाशवत् नाश इति न ख्यापितं, किन्तु नाशे पुष्पवद्गन्धांशे इयमुपमा । ननु कियद्विवसान्मरणं स्यादित्यत आह—स नेत्यादि । यो नानापुष्पैर्गन्धतस्तुल्यगन्धो भाति स ना संवत्सरात् संवत्सरसमाप्तिं प्राप्य देहं जहातीति निश्चयः ॥ ४ ॥

रिष्टज्ञानं प्रज्ञापराधजम् । तथा रिष्टमपि सूक्ष्मरूपतया मारके व्याधौ सन्बन्धं भवति, एतदपि प्रज्ञापराधजं मिथ्याज्ञानम् । तेन रिष्टे यत्र सत्यपि मरणं न भवतीति च ज्ञानं भ्रान्तम्, तथा रिष्टं विनापि क्वचित् मरणं भवतीति ज्ञानं भ्रान्तम्, ततश्च सिद्धोऽव्यभिचारो मरणरिष्टयोरिति वाक्यार्थः ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—ज्ञायते मरणमनेनेति ज्ञानं रिष्टम्, तस्य सम्बोधनं ज्ञानसम्बोधनम् । मरण-पूर्वकैरिति मरणपूर्वभावविभिः । पुष्पिता यथा वृक्षादयो गन्धवन्तो भवन्ति, तथा रिष्टगन्ध-प्रयुक्ता ये भवन्ति, ते पुष्पिताः, तान् पुष्पितान् । बहुविधैर्लिङ्गैर्बहून् पुष्पितानिति योजना । वनस्येत्युक्तेऽपि यन्नानाद्रुमलतावत इति करोति, तेन भिन्नजातीयं वनं ग्राहयति । वनं हि सजातीयवृक्षाणामपि स्यात्, यथा—चम्पकवनमशोकवनमित्यादि । नानात्वञ्च पुष्पाणामेक-जातीयानामपि कलिकाद्यवस्थाभेदादपि स्यात्, तस्मात् साधु विशेषणम् ‘नानाद्रुमलतावतः’ इति । मरणलक्षणैर्गन्धैर्गन्धैस्तं पुष्पितकमाहुरित्यादि योज्यम् । संवत्सरादिति संवत्सराभ्यन्तरे ॥ ४ ॥

“ज्ञानसम्बोधनार्थन्तु लिङ्गैर्मरणापूर्वकैः ।... बहुविधैर्बहून्” इति चक्रसम्मतः पाठः ।

एवमेकैकशः पुष्पैर्यस्य गन्धः समो भवेत् ।

इष्टैर्वा यदि वानिष्टैः स च पुष्पित उच्यते ॥

समासेनाशुभान् गन्धानेकत्वेनाथ वा पुनः ।

आजिघ्रेद् यस्य गात्रेषु तं विद्यात् पुष्पितं भिषक् ॥ ५ ॥

आप्लुतानाप्लुते ॥ काये यस्य गन्धाः शुभाशुभाः ।

व्यत्यासेनानिमित्ताः स्युः स च पुष्पित उच्यते ॥

तद् यथा चन्दनं कुण्डं तगरागुरुणो मधु ।

माल्यं मूत्रपुरीषे वाऽमृतानि + कुण्णपानि वा ॥

**गङ्गाधरः**—एवामत्याद । एवं यदेकैकशः पुष्पैरिष्टैर्मनोह रनिष्टैः दुर्गन्धिभिर्वा समो गन्धो यस्य भवेत्, सोऽपि पुष्पित उच्यते, संवत्सराद् देहं जहाति । इति पुष्पितस्य जीवितसंख्यामानम् । समासेनेत्यादि । यस्य गात्रे अशुभान् गन्धान् समासेन बह्वशुभगन्धमेलकतया एकीभावेन वैद्य आजिघ्रेत् तमपि भिषक् पुष्पितं विद्यात् । संवत्सराद् देहं स जहाति । अथवा पुनः । अशुभान् गन्धान् एकैकशो न तु मिश्रान् यस्य गात्रेषु भिषगाजिघ्रेत् तमपि पुष्पितं नरं विद्यात् । सोऽपि संवत्सराद् देहं जहातीति ॥ ५ ॥

**गङ्गाधरः**—आप्लुतेत्यादि । यस्य काये तैलचन्दनागुरुकुङ्कुमादिभिरशुभ-शुभगन्धद्रव्यैराप्लुते वानाप्लुते वा व्यत्यासेनानिमित्ताः अकारणतो गन्धाः शुभाशुभाः स्युः स च पुष्पित उच्यते संवत्सराद् देहश्च जहातीति । एतद्भाष्येण विवृणोति—तद्यथेत्यादि । चन्दनादिगन्धः शुभः । मूत्रपुरीषादि-

**चक्रपाणिः**—एवमिति दिवानिशम् । समासेनेत्यादि । पुष्पव्यतिरिक्तशवाद्यशुभगन्धयोगेनापि 'पुष्पितत्वं' परिभाष्यते इति शेषः । समासेनेति मेलकेन । आप्लुतेत्यादौ आप्लुतानाप्लुतत्व-विशेषव्यत्यासश्च शुभाशुभगन्धानाञ्च ज्ञेयः । पुष्पितत्वाभिधानञ्च यत्र यत्र, तत्र तत्र संवत्सरात् जीवितं पूर्ववचनाद् भवति । तद् यथेत्यादिना शुभाशुभद्रव्याभ्याह—मृतानीति मानुष-

ये चान्ये विविधात्मानो गन्धा विविधयोनयः ।  
 तैऽत्यनेनानुमानेन ज्ञेया विकृतितां गताः ॥  
 इदञ्चाप्यतिदेशार्थं लक्षणं गन्धसंश्रयम् ।  
 वक्ष्यामो यदभिज्ञाय भिषङ् मरणमादिशेत् ॥ ६ ॥  
 वियोनिर्विदुरो गन्धो यस्य गात्रे तु जायते ।  
 इष्टो वा यदि वानिष्टो न स जीवति तां समाम् ।  
 एतावद् गन्धविज्ञानम् ————— ॥ ७ ॥

गन्धोऽशुभः । ये चान्ये इत्यनेनानुक्तशुभाशुभगन्धसंग्रहः । विविधात्मान इति अकृत्रिमा नानागन्धाः । विविधयोनय इति नानाद्रव्यकृतसंयोगतः ये गन्धाः शुभाः किंवा अशुभाः । तथा च यस्य काये चन्दनादिशुभ-गन्धद्रव्यैराप्लुतेऽकारणतस्तत्तच्छुभगन्धा न स्फुरन्तोऽशुभाः सूत्रपुरीषादिगन्धा भान्ति सोऽपि पुष्पितः संवत्सराद् देहं जहाति । एवं यस्य चन्दनादिशुभगन्ध-द्रव्यैर्विनाप्लुते कायेऽनिमित्ताश्च यदि शुभगन्धा भान्ति सोऽपि पुष्पितः सम्बत्सराद् देहं जहातीति भावः । एवं यस्य सूत्राद्यशुभगन्धद्रव्यैरनाप्लुते कायेऽनिमित्ता सूत्रपुरीषादिका अशुभा गन्धा भान्ति सोऽपि पुष्पितः सम्बत्सराद् देहं जहातीति भावः । ननु किं चन्दनादिशुभाशुभगन्धा एव नान्ये इत्यत आह—इदञ्चेत्यादि । इदञ्चातिदेशार्थं न तु नियमार्थं, तेन शुभाशुभगन्धं यावद् द्रव्यं बोध्यम् ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—वियोनिरित्यादि । विगता नास्ति योनिरूपत्तिहेतुर्यस्य स वियोनिरनिमित्तो गन्धः, विदुरः स्थायी गन्धः, विद् सत्तायामित्यस्य कृदन्तत्वे रूपम् । तथा च यस्य गात्रेऽनिमित्तो निरन्तरं विद्यमान इष्टो वाप्यनिष्टो वा गन्धो जायते स पुष्पितस्तां प्रवर्त्तमानां समां संवत्सरं न च जीवति । इति गन्धपरीक्षा ॥ ७ ॥

व्यतिरिक्तानि गवादीनि मृत्तानि । कुणपानि मानुषशरीराणि । “विविधयोनयः” इत्यनेन नाना-द्रव्यकृतधूपवर्त्त्यादिगन्धान् ग्राहयति । विविधात्मान इत्यनेन तु अकृत्रिमनानाद्रव्यगन्धा उच्यन्ते । अनेनानुमानेनेति “आप्लुते” इत्यादिग्रन्थोक्तप्रमाणानुसारेण । अतिदेशार्थमिति अनुक्त-ज्ञानार्थम् । वियोनिरिति निहतुकः । विदूर इति स्थायी ॥ ५—७ ॥

—रसज्ञानमतः परम् ।

आतुराणां शरीरेषु वक्ष्यते विधिपूर्वकम् ॥ ८ ॥

यो रसः प्रकृतिस्थानां नराणां देहसम्भवः ।

स एषां चरमे काले विकारं भजते द्वयम् ॥

कश्चिद्देवास्य वैरस्यसत्यर्थमुपपद्यते ।

स्वादुत्वमपरश्चापि विपुलं भजते रसः ॥

तमनेनानुमानेन विद्याद् विकृतितां गतम् ।

मनुष्यो हि मनुष्यस्य कथं रसमवाप्नुयात् ॥

मज्जिकाश्चैव यूकाश्च दंशाश्च मशकैः सह ।

विरसादपसर्पन्ति जन्तोः कायान्मुमूर्षतः ॥

अत्यर्थरसिकं कायं कालपक्षस्य मज्जिकाः ।

अपि स्नातानुलिसस्य भृशमायान्ति सर्व्वशः ॥ ९ ॥

**गङ्गाधरः**—अतः परमुद्देशक्रमत्वात् रसज्ञानमाह—आतुराणामित्यादि । आतुराणां शरीरेषु विधिपूर्वकं रसज्ञानं वक्ष्यते ॥ ८ ॥

**गङ्गाधरः**—यो रस इत्यादि । यो रसः एषामातुराणां प्रकृतिस्थानाञ्च नराणां चरमे काले मृत्युकाले द्वयं विकारं भजते । किं द्वयं विकारम् इत्यत आह—कश्चिदित्यादि । अस्य कश्चिद्रसोऽत्यर्थं वैरस्यमथुभरसत्वमुपपद्यते प्राप्नोति । अपरश्च कश्चिद्रसो विपुलं स्वादुत्वं मधुरत्वं भजते । तमित्यादि । तं द्विविधं विकृतितां गतं रसमनेन वक्ष्यमाणमक्षिकादिनानुमानेन विद्यात् । ननु कस्माद्रसो रसनार्थोऽनुमानेन वेदितव्य इत्यत आह—मनुष्यो हीत्यादि । अनुमानार्थमाह—मक्षिकाश्चेत्यादि । मुमूर्षतो जन्तोः कायात् विरसान्मक्षिकादयोऽपसर्पन्ति अपगच्छन्ति न तु तत्र काये चरन्ति । इत्यनेन कायस्य

**चक्रपाणिः**—वैरस्यमिति अनिष्टरसताम् । कथमित्याक्षेपे, तेन न कथमपीत्यर्थः । अवाप्नुयादिति जानीयात् । अत्यर्थरसिकमिति अतिस्वादुरसम् । कालपक्षस्येति पूर्णकालस्य । सर्व्वश इति सर्व्वगात्रेषु ॥ ८।९ ॥



तत्र श्लोकः ।

यान्येतानि \* मयोक्तानि लिङ्गानि रसगन्धयोः ।

पुष्पितस्य नरस्यैतत् फलं मरणमादिशेत् ॥ १० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने

पुष्पितकमिन्द्रियं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

वैरस्यमनुमेयम् । अत्यर्थमित्यादि । कालपक्वस्य जीवितकालपरिणतस्य, अर्थात् आसन्नमृत्युकालस्य । अत्यर्थं रसिकम् अत्यर्थस्वादुरसयुक्तं कार्यं सर्व्वशः सर्व्व-  
थैव भृशमायान्ति आगच्छन्ति न मुञ्चन्ति । यदि स पुरुषो मक्षिकापसर्पणार्थं  
स्नातोऽनु पश्चात् चन्दनादित्तद्रवैरवलितो भवति तथापि तस्य तमत्यर्थ-  
रसिकत्वात् कार्यं भृशं सर्व्वश आयान्ति न मुञ्चन्ति । इत्यनेन कायस्याति-  
मधुरत्वमनुमेयम् ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—संग्रहार्थं फलवचनाथश्च श्लोकमाह—यान्येतानीत्यादि ।

मरणमेवैतयोः फलमादिशेत् तुल्यमानमेव एतयोरिति बोध्यम् ॥ १० ॥

अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि ।

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरत्नविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ पञ्चमस्कन्धे इन्द्रिय-  
स्थानजल्पे पुष्पितकेन्द्रियाध्यायजल्पद्वितीयशाखा ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—संग्रहश्लोके सामान्येन पुष्पितस्येतिवचनात् रसरिष्टेऽपि पुष्पितत्वमस्य विवक्षितम् ।

तेन रसरिष्टेऽपि संवत्सराभ्यन्तरे मरणमिति फलति ॥ १० ॥

ज्ञातं महामहोपाध्यायचरकचतुराननश्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्व्वददीपिकायां चरक-

तात्पर्य्यटीकायाम् इन्द्रियस्थाने पुष्पितकेन्द्रियंशारीरं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

\* सामान्येनेति चक्रः ।

तृतीयोऽध्यायः ।

अथातः परिमर्शनीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

वर्णे स्वरे च गन्धे च रसे चोक्तं पृथक् पृथक् ।

लिङ्गं मुसूर्पतां सम्यक् स्पर्शेष्वपि निबोधत ॥ २ ॥

स्पर्शप्राधान्येनातुरस्यायुपः प्रमाणावशेषं जिज्ञासुः प्रकृति-  
स्थेन पाणिना शरीरस्य केवलं स्पृशेत्, विमर्शयेद्धान्येन ।  
परिमृशता तु खल्वतुरशरीरमिमे भावास्तत्र तत्र बोद्धव्या  
भवन्ति । तद् यथा—सततं स्पन्दमानानां शरीरदेशानां

गङ्गाधरः—अथ उद्देशानुक्रमत्वाद् गन्धरसपरीक्षानन्तरं स्पर्शपरीक्षार्थं  
परिमर्शनीयमिन्द्रियं व्याख्यातुमारभते—अथात इत्यादि । परिमर्शनमन्येन स्वेन  
च पाणिना स्पृष्टुं परिमर्शनमधिकृत्य कृतमिन्द्रियमिति परिमर्शनीयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—वर्ण इत्यादि । स्पृष्टम् ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—स्पर्शप्राधान्येनेत्यादि । स्पर्शः स्पर्शनेन्द्रियार्थस्तत्प्राधान्येन चक्षु-  
रादिस्पर्शरूपविशेषेणापि आतुरस्यायुपः प्रमाणावशेषं जिज्ञासुः क्षातुमिच्छुर्भिषक्  
प्रकृतिस्थेन पाणिना न तु विकारयुक्तेन पाणिना, तेन हि सम्यक् स्पर्शो न क्षायते,  
अस्यातुरस्य केवलं कृतस्नं शरीरं स्पृशेत् । ननु यदङ्गं न स्पृष्टुं युज्यते, यस्य वा  
अमृत्यम्पश्यादेः स्पर्शो न युज्यते, भिषजो वा पाणिरप्रकृतिस्थः, तस्य कथं  
स्पर्शनं स्यादित्यत आह—विमर्शयेद्धान्येनेति । कथं परिमर्शनं स्यादित्यत  
आह—परीत्यादि । आतुरशरीरं परिमृशता भिषजा त्वातुरशरीरस्य स्व-  
पाणिना वान्येन वा स्पर्शनेन परीक्षां कुर्वता खल्विमे तत्र तत्र शरीरे भावा  
बोद्धव्या भवन्ति । के ते भावा इत्यत आह—तद् यथेत्यादि । सततं स्पन्द-

चक्रपाणिः—इन्द्रियार्थानां रिष्टपारिशेष्यात् स्पर्शंगतारिष्टाभिधायकं परिमर्शनीयमिन्द्रिय-  
मुच्यते । इममेव चाध्यायसम्बन्धं दर्शयन्नाह—वर्ण स्वरे चेत्यादि । स्पर्शनेति वक्तव्ये, यत्

\* निबोधत इत्यत्र विधीयते इति पाठान्तरं क्वचित् ।

स्तम्भः, नित्योष्मणां शीतभावः, मृदूनां दारुणत्वम्, श्लक्ष्णानां खरत्वम्, सतामसद्भावः, सन्धीनां स्त्रंसभ्रंश्च्यवनानिः, मांस-  
शोणितयोर्वीतभावः, दारुणत्वम्, स्वेदानुबन्धः, स्तम्भो वा ।  
यच्चान्यदपि किञ्चिदीदृशं विकृतमनिमित्तं स्यात् । इति-  
लक्ष्णानां संग्रहः स्पृश्यानां भावानाम् ॥ ३ ॥

तद् व्यासतोऽनुव्याख्यास्यामः । तस्य चेत् परिमृश्यमानं  
पृथक्त्वेन पादजङ्घोरुस्फिगुदरपार्श्वस्पृष्टेषिकापाणिग्रीवा-  
ताल्वोष्ठललाटं स्विन्नं शीतं प्रस्तब्धं दारुणं वीतमांसशोणितं

मानानां शरीरदेशानां नयनहृदयादीनां स्तम्भोऽस्पन्दनम् । नित्योष्मणां  
मुखाभ्यन्तरनासामूढकण्ठहृदयनाभ्यादीनां शीतभावः शीतत्वम् । मृदूनां  
शरीरदेशानां दारुणत्वं कठिनत्वम् । श्लक्ष्णानां शरीरदेशानां जिह्वादीनां  
खरत्वं कर्कशत्वम् । सतां वृषणादीनां अकस्मादसद्भावो विलयनम् । सन्धीनां  
स्त्रंसो नात्यधःपतनं, भ्रंशः स्वस्थानादधःपतनं, च्यवनं सन्धीनां स्वस्थानात्  
विश्लेषः । मांसशोणितयोर्वीतभावः क्षयः नास्तित्वमित्यर्थः । दारुणत्वं  
कठिनत्वम् । स्वेदानुबन्धः प्रायेण स्वेदसातत्यम् । स्तम्भो वा स्वेदस्यैव । अनुक्त-  
विकृतिमुपसंहरति—यच्चान्यदित्यादि । अनिमित्तमकस्मादकारणमीदृशं भृशं  
विकृतम् । इतिलक्षणानाम् इत्येवंप्रकारलक्षणयुक्तानां स्पृश्यानां शरीर-  
भावाणाम् ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—तत्परिमर्शनं व्यासतोऽनुव्याख्यास्याम इत्यर्थः । तस्येत्यादि ।  
तस्यातुरस्य पृथक्त्वेन एकैकशः पादजङ्घादिकं परिमृश्यमानं यदि स्विन्नं घर्म-  
युक्तं शीतं शीतलं प्रस्तब्धमस्पन्दं दारुणं कठिनं वीतमांसशोणितं मांस-

‘स्पर्शप्राधान्येनैव’ इति करोति, तेन अस्पर्शग्राह्यमपि चक्षुर्लोहितत्वादि रिष्टमिह स्पर्शपरीक्षामध्ये  
वक्तव्यमिति दर्शयति । अत्र च वृषणादीनां सतामिति ज्ञयं स्थूलावयवानां रिष्टेऽप्यभावदर्शनात् ।  
भ्रंशोऽपि गमनम्, धावनन्तु पार्श्वतो गमनम् । वीतीभावोऽतिक्षीणत्वमिति । लक्षणमनिमित्त-  
मिति मरणलक्षणम् । स्पर्शानामिति छेदः ॥ १—३ ॥

वा स्यात्, परासुरयं पुरुषो नचिरात् कालं मरिष्यतीति विद्यात् ॥ ४ ॥

तस्य चेत् परिमृश्यमानानि पृथक्त्वेन गुल्फजानुवङ्क्षण-  
गुदवृषणमेढूनाभयंसस्तनमणिक-दर्शुकाहनुनासिकाकर्णाक्षिभ्रू-  
शङ्खार्दानि हस्तानि व्यस्तानि च्युतानि स्थानेभ्यः स्कन्नानि स्युः,  
परासुरयं पुरुषो नचिरात् कालं मरिष्यतीति विद्यात् ॥ ५ ॥

तथास्योच्छ्वासमन्यादन्तपद्मचक्षुःकेशलोमोदरनखाङ्गुलीश्च  
लक्षयेत् । तस्य चेदुच्छ्वासोऽतिदीर्घो ह्रस्वो वा स्यात्, परासुरिति  
विद्यात् । तस्य चेन्मन्ये परिमृश्यमाने न स्पन्देयातां, परासुरिति  
विद्यात् । तस्य चेद् दन्ताः प्रतिकीर्णाः श्वेता जातशर्कराः स्युः,  
परासुरिति विद्यात् । तस्य चेत् पद्माणि जटावद्धानि स्युः,  
परासुरिति विद्यात् । तस्य चैवचक्षुषी प्रकृतिहीने विकृति-  
शोणिताभ्यां क्षीणं स्यात् । परासुगतप्राणः पराशब्दस्य गतार्थत्वात् । नचिरात्  
कालमचिरात् कालम् ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—अथ तस्यातुरस्य पृथक्त्वेन एकैकशः परिमृश्यमानानि गुल्फा-  
दीनि स्थानेभ्यश्च्युतानि सन्ति स्कन्नानि गतिमन्ति शुष्काणि स्पृष्टदायं  
पुरुषः परासुर्नचिरात् कालं मरिष्यतीति विद्यात् ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—तथेत्यादि । लक्षयेत् परिमृशेत् । कथमित्यत आह—  
तस्येत्यादि । श्वासपरिमर्शनम् । ततस्तस्येत्यादि । परिमृश्यमाने पाणिना  
स्पृश्यमाने यदि न स्पन्देयातां तदायं परासुरिति विद्यात् । तस्य चेदित्यादि ।  
प्रतिकीर्णा मललिप्ताः, श्वेताः श्वेतवर्णाः, जातशर्करा दन्तान्तर्जातशर्करा दृढ-  
रूपाः । तस्य चेदित्यादिना पक्ष्मणां परीक्षा । जटावद्धानि त्रिचतुरादिपक्ष्माणि  
मिलित्वा जटाकाराणि । तस्य चेदित्यादि । चक्षुःपरीक्षा । प्रकृतिहीने प्रकृत्याः

चक्रपाणिः—पृष्ठेपिका पृष्ठवंशः । पृथक्त्वेनेति पृथक्त्वेन । मणिकं करवाहुसन्धिः । मन्ये  
मलपाद्वंगते धमन्यौ । वच्छ्वासदैर्घ्यहासौ नासाग्रदन्तकरस्पर्शादुपलभ्येते । परिकीर्णा इति  
मललिप्ताः । श्वेतत्वं चक्षुःपरीक्षामपि स्पर्शपरीक्षणाय दन्तधर्मप्रस्तावाद्भ्येते । चक्षुषी

युक्ते अत्युत्पिण्डिते अतिप्रविष्टे अतिजिह्वे अतिविषमे अति-  
मुक्तबन्धने अतिप्रसृते सततोन्मिषिते निमेषोन्मेषातिप्रवृत्ते  
विभ्रान्तदृष्टिके विपरीतदृष्टिके हीनदृष्टिके नकुलान्धे कपोतान्धे  
अलातवर्णे कृष्णानीलपीतश्यावताम्रहरितशुक्लवैकारिकाणां वर्णा-  
नामन्यतमेनातिप्लुते वा स्याताम्, तदा परासुरिति विद्यात् ॥ ६ ॥

तस्य चेत् केशलोसान्यायम्यमानानि प्रलुच्येरन् न वेदयेयुः,  
तं परासुरिति विद्यात् । तस्य चेदुदरे सिराः प्रकाशेरन् श्याव-

स्वभावाद् हीने भवतः सुतरां विकृतियुक्ते, अत्युत्पिण्डिते अतिशयेन वहिः  
पिण्डाकारतया निर्गते, अतिप्रविष्टे अभ्यन्तरतोऽतिकोटराकारे, अतिजिह्वे  
अतिकुटिले, अतिविषमे चक्षुर्द्वयस्यातिवैषम्यं न तुल्यत्वम्, अतिमुक्तबन्धने  
अत्यथैस्फारिते, अतिप्रसृते अत्यर्थं स्रावयुक्ते, सततोन्मिषिते सर्वदा प्रायेण  
निमेषरहिते, किंवा निमेषोन्मेषयोरतिप्रवृत्तियुक्ते, विभ्रान्तदृष्टिके इतस्ततो  
दृष्टियुक्ते, विपरीतदृष्टिके विपरीतदृष्टियुक्ते, हीनदृष्टिके दर्शनरहिते, नकुलान्धे  
कपोतान्धे वा । तद् यथा—“नकुलान्धस्तु रूपाणि दिवा शुक्लानि पश्यति ।  
कपोतान्धस्तु रूपाणि दिवा कृष्णानि पश्यति ॥” अलातवर्णे तप्ताङ्गारवर्णे ।  
कृष्णादिवैकारिकाणां वर्णानामन्यतमेनातिशयेन प्लुते वा स्यातामेकैकविधे  
तदायं गतासु ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—तस्येत्यादिना केशपरीक्षा । आयम्यमानानि आयतीकृतानि  
प्रलुच्येरन् न वेदयेयुस्तपाटने न वेदनावोधं गच्छेयुः । तस्य चेदित्यादिना

प्रकृतिहीने विकृतियुक्ते इति सामान्यवचनम्, तस्य विवरणम्—अत्युत्पिण्डिते इत्यादि ।  
अत्युत्पिण्डिते इति अत्यर्थनिर्गते । अतिजिह्वे अतिकुटिले, अतिविषमे इति एकं  
संवृतमपरं विस्मृतमिति । निमेषोन्मेषक्रियायां अत्यर्थं वर्तते इति निमेषोन्मेषातिप्रवृत्ते ।  
विपरीतदृष्टिके इति व्यस्तदृष्टिके । किंवा विपरीतदृष्टिके अन्यथाग्राहिणी । हीनदृष्टिके अदूर-  
दर्शिनी, नष्टदृष्टिके वा । नकुलान्धकपोतान्धलक्षणग्रस्तः “नकुलान्धस्तु रूपाणि दिवा शुक्लानि  
पश्यति । कपोतान्धस्तु रूपाणि दिवा कृष्णानि पश्यति ॥” अलातस्तु तप्ताङ्गारः । इह चक्षुराता-  
रिष्टाभिधानप्रस्तावादस्पृश्याग्राह्यमपि चक्षुषोरलातवर्णत्वादिकमुच्यते ॥ ४—६ ॥

चक्रपाणिः—उदरानुगताः शिरास्त्वह स्पर्शनग्राह्या भवन्तीति उक्ताः, तत्प्रसङ्गात् चक्षुर्ग्राह्याः

ताम्रनीलहारिद्रशुक्ला वा स्युः, परासुरिति विद्यात् । तस्य चेन्नखा  
वीतमांसशोणिताः पक्वजाम्बववर्णाः स्युः, तं परासुरिति  
विद्यात् । अथास्याङ्गुलीः लज्जयेत् । तस्य चेदङ्गुल्य आयम्यमाना  
न स्फुट्येयुः, तं परासुरिति विद्यात् ॥ ७ ॥

भवति चात्र ।

एतान् स्पृश्यान् बहून् भावान् यः स्पृशन्नबुध्यते ।

आतुरे न स संमोहमायुर्ज्ञानस्य गच्छति ॥ ८ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतै इन्द्रियस्थाने परिमर्श-  
नीयमिन्द्रियं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

उदरपरीक्षा । सिराः सरणशीला नाड्यः । प्रकाशेरन् व्यक्ताः स्युः किंवा  
ताश्च श्यावादिवर्णाः स्युः । तस्य चेदित्यादिना नखपरीक्षा । वीतमांसशोणिता  
मांसशोणितरहिताः पक्वजाम्बववर्णाश्च स्युः । अथास्येत्यादिनाङ्गुलीपरीक्षा ।  
आयम्यमाना आयामेन क्रोडशोऽन्युज्जीकरणेन न स्फुट्युस्तदायं परासुः ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—अत्र श्लोकेन दर्शयति—एतानित्यादि । स भिषगातुरे  
आयुर्ज्ञानस्य सम्मोहं न गच्छतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायं समापयति—अग्रीत्यादि ।

इति वैद्य श्रीगङ्गाधरकविरचविरचिते चरकजलपकलपतरौ इन्द्रियस्थानजल्पे  
पञ्चमस्कन्धे परिमर्शनीयेन्द्रियतृतीयाध्यायजलपाख्या

तृतीयशाखा ॥ ३ ॥

शिरावर्णा अप्युक्ताः । आयच्छेदिति स्फोटयेत् । नखाङ्गुलिगतारिष्टपरीक्षायान्तु स्पृशोऽपि  
व्याप्रियते एवेति कृत्वा तदरिष्टमपीहोक्तम् । एतान् स्पृश्यामिति बाहुल्यादुक्तम् । एवं स्पृश्यान्  
इत्येतदपि बाहुल्यादुक्तम् । 'अज्ञानस्यैव' पाठपक्षे पक्षी सम्बन्धविवक्षायाम् ॥ ७/८ ॥

इति महामहोपाध्याय-चरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां चरक-  
तात्पर्यटीकायाम् इन्द्रियस्थाने परिमर्शनीयेन्द्रियं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

## चतुर्थोऽध्यायः ।

अथात इन्द्रियानीकमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः,  
इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

इन्द्रियाणि यथा जन्तोः परीक्षेत विशेषवित् ।  
आयुःप्रमाणं जिज्ञासुर्भिषक् तन्नो निबोधत ॥  
अनुमानात् परीक्षेत दर्शनादीनि तत्त्वतः ।  
अद्धा हि वितथं ज्ञानमिन्द्रियाणामतीन्द्रियम् ॥  
स्वस्थेभ्यो विकृतं यस्य ज्ञानमिन्द्रियसम्भवम् ।  
आलक्ष्येतानिमित्तेन लक्षणं मरणस्य तत् ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—अथोद्देशानुक्रमिकत्वात् पञ्चार्थपरीक्षानन्तरं पञ्चेन्द्रियपरीक्षार्थ-  
मिन्द्रियानीकमिन्द्रियमाह—अथात इत्यादि । इन्द्रियाणामनीकं समूहमायुषः  
प्रमाणवशेषज्ञानार्थं परीक्षितुमधिकृत्य कृतमितीन्द्रियानीकम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—इन्द्रियाणीत्यादि । विशेषवित् इतीन्द्रियशक्तिविशेषवेत्ता  
भिषक् । तदिन्द्रियपरीक्षणम् । नन्विन्द्रियप्रत्यक्षं कथं परीक्षेतेत्यत आह—  
अनुमानादित्यादि । दर्शनादीनि चक्षुरादीनि । इन्द्रियेषु बहुविपयत्वेन  
प्राधान्यादादौ चक्षुर्ग्रहणम् । ननु कस्मादनुमानादित्यत आह—अद्धा  
हीत्यादि । हि यस्मादिन्द्रियाणामतीन्द्रियत्वेनेन्द्रियाणां ज्ञानमप्यतीन्द्रियम्  
इन्द्रियाण्यतिक्रान्तं, ततो न वितथमद्धानेन्द्रियप्रत्यक्षतो ज्ञानम् तस्मादनुमानेन  
चक्षुरादीनि तत्त्वतः परीक्षेत । परीक्षामाह—सामान्यसूत्रेण । स्वस्थेभ्यः  
इत्यादि । यस्य पुरुषस्य त्विन्द्रियसम्भवं चक्षुरादिभिर्दर्शनादिजं ज्ञानं

चक्रपाणिः—उद्देशकमानुरोधादिन्द्रियगोचरारिष्टाभिधानार्थमिन्द्रियानीकमुच्यते । इन्द्रियाणा-  
मनीकं समूहमधिकृत्य कृतमिन्द्रियानीकम् । दर्शनं चक्षुः, दर्शनादीनि चक्षुरादीनि पञ्चे-  
न्द्रियाणि । इन्द्रियाणां परीक्षा न प्रत्यक्षेणेत्याह—अद्धा हीत्यादि । अद्धेति अवितथम् ।  
अतीन्द्रियत्वादनुमानेनैव परीक्षणमिति वाक्यार्थः । स्वस्थेभ्य इति प्रकृतिस्थेभ्य इन्द्रियेभ्यः ।  
उत्पन्नमिति शेषः । इन्द्रियसंश्रयमिति बाहेरिन्द्रियजन्यम् । अनिमित्तेनेति विकृतज्ञानजनक-  
वाद्यहेतुव्यतिरेकेण । इन्द्रियगतविकृतज्ञानजनकदोषनिरासस्तु 'स्वस्थेभ्यः' इति विशेषणेनैव

इत्युक्तं लक्षणं सम्यगिन्द्रियेष्वशुभोदयम् ।  
 तदेव तु पुनर्भूयो विस्तरेण निबोधत ॥ ३ ॥  
 घनीभूतमिवाकाशमाकाशमिव मेदिनीम् ।  
 विगीतमुभयन्तरेतत् पश्यन् मरणमृच्छति ॥ ४ ॥  
 यस्य दर्शनमायाति मारुतोऽम्बरगोचरः ।  
 अग्निना याति वा दीप्तस्तस्यायुःक्षयमादिशेत् ॥ ५ ॥

स्वस्थेभ्यः पुरुषेभ्यो विकृतमनिमित्तेन भिषगालक्षेत, तस्य तल्लक्षणं मरणस्य ।  
 इतीन्द्रियेष्वशुभोदयं लक्षणं सम्यगुक्तम् । तदेव भूयो बहुतमं विस्तरेण यूयं  
 निबोधत ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—घनीभूतमित्यादि । पुमानाकाशं घनीभूतं मूर्त्तिमन्तमिव  
 पश्यन् मरणमृच्छति । मेदिनीं पृथिवीमाकाशमिव पश्यन् मरणमृच्छति ।  
 एतदुभयन्तु विगीतं विपर्ययेण गीतं निन्दितम् ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—यस्येति । अम्बरगोचर आकाशगत्या स्पृशनेन्द्रियविषयो मूर्त्तिः  
 मारुतो यस्य पुंसो दर्शनमायाति मूर्त्तिमान् सन् दृष्टिगोचरो भवति । अथवाग्निना  
 वा दीप्तः सन् दग्धं आयाति तस्यायुःक्षयमादिशेत् । मृश्रुतेऽप्युक्तं—यश्चानिर्लभं  
 मूर्त्तिमन्तमन्तरीक्षञ्च पश्यति । धूमनीहारवासोभिरावृतामिव मेदिनीम् ।

कृतः । अशुभोदयमिति मरणकारणम् । 'पुनः'शब्दः प्रकाशने । यथा—“दोषाः पुनस्तथाः” ।  
 'भूयः'शब्दः पुनःपुनरर्थः । किंवा 'भूयः'शब्दो महदर्थः । तेन 'पुनर्भूयः'शब्दयोर्भिन्नार्थत्वम् ।  
 घनीभूतमिति कठिनतां गतम् । तेन 'भूत'शब्दो गतार्थः, यथा—उपधानीभूतम् । तेन  
 'इव'शब्दश्चोपमाने भवति । घनीमन्ये पृथिवीं वदन्ति । तेन घनीभूतं पृथिवीरूपतां  
 यातम् । आकाशमिव मेदिनीमिति शून्यरूपं मेदिनीम् । विगीतमिति विपरीतत्वेन ज्ञातम् ।  
 “उभयम्” इत्यनेन यौगपदेन पृथिव्याकाशविपरीतोपरम्भो रिष्टम् नैकैकत्वेन । अथचारिष्ट-  
 महिमा यथा—एवंरूपमेव रिष्टं भवति, एवमप्युक्तारिष्टेषु तथा तथोत्पादः स्वमहिम्नैव ज्ञेयः ।  
 एतानि चारिष्टानि सामान्येनैवेन्द्रियारिष्टाभिधायकप्रकरणलब्धान्यपि प्रायोभावित्वेन शृङ्गप्राहिक-  
 तयामिधीयन्ते ॥ १—४ ॥

चक्रपाणिः—दर्शनमिति चक्षुर्गोचरताम् । अम्बरगोचर इत्यनेन अधिष्ठातृदेवतारूपवातदर्शनं  
 निषेधयति । एतेन एव वायुरित्याकारवानिति मारुतप्रत्यक्षज्ञानमरिष्टम् । नायाति दर्शनमिति  
 सम्बन्धः ॥ ५ ॥



जले सुविमले जालमजालावतते नरः ।

स्थिरे गच्छति वा दृष्ट्वा जीवितात् परिमुच्यते ॥ ६ ॥

जाग्रत् पश्यति यः प्रेतान् रक्षांसि विविधानि च ।

अन्यद्वाप्यद्भुतं किञ्चिज्जीवितात् परिमुच्यते ॥ ७ ॥

योऽग्निं प्रकृतिवर्णस्थं नीलं पश्यति निष्प्रभम् ।

कृष्णं वा यदि वा शुक्लं सोऽग्नौ \* व्रजति सप्तमीम् ॥ ८ ॥

प्रदीपमिव लोकश्च यो वा प्लुतमिवाम्भसा । भूमिमष्टापदाकारां रेखाभिर्यश्च पश्यति । न पश्यति सनक्षत्रां यश्च देवीमरुन्धतीम् । ध्रुवमाकाशगङ्गां वा तं वदन्ति गतायुषम् ॥ इति ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—जले इति । स्थिरे गच्छति चपले वा सुविमलेऽजालावतते जालैरनवतते जले जालं दृष्ट्वा जीवितात् परिमुच्यते म्रियते इत्यर्थः ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—जाग्रदित्यादि । यः स्वस्थ आतुरो वा जाग्रत् सन् प्रेतान् मृतान् पश्यति स जीवितात् परिमुच्यते । यो वा जाग्रत् सन् विविधानि रक्षांसि पश्यति स जीवितात् परिमुच्यते । अन्यद्वापीदृशमद्भुतं किञ्चित् यो जाग्रत् सन् पश्यति स म्रियते । उक्तञ्च सुश्रुते—ज्योत्स्नादर्शोष्णतोयेषु छायां यश्च न पश्यति । पश्यत्येकाङ्गहीनां वा विकृतां वान्यसत्त्वजाम् । श्वकाककङ्कगृध्राणां प्रेतानां यक्षरक्षसाम् । पिशाचोरगनागानां भूतानां विकृतामपि । यो वा मयूरकण्ठाभ विधूमं वह्निमीक्षते । आतुरस्य भवेन्मृत्युः स्वस्थो व्याधिमवाप्नुयात् ॥ इति ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—योऽग्निमित्यादि । प्रकृतिवर्णस्थं न गन्धकादिसम्भवत्वेन नीलं, वह्निं य आतुरो नीलं, निष्प्रभमग्नेर्या प्रभा प्रसिद्धा तथा हीनं पश्यति, स सप्तमीं रात्रिम् अग्नौ व्रजति, सप्तमरात्रे म्रियते । एवं य आतुरोऽग्निं कृष्णं निष्प्रभं पश्यति, सोऽपि सप्तमरात्रे म्रियते । एवं य आतुरोऽग्निं शुक्लं धवलं निष्प्रभं पश्यति सोऽपि सप्तमरात्रे म्रियते ॥ ८ ॥

चक्रपाणिः—स्थित इति स्थिरे । गच्छति वहमाने । येषु चेह. रिष्टेषु मरणकालनियमो नोक्तस्तत्र संयत्सरमवधिर्भवति । ततः परेण हि रिष्टे मरणानभिधानात् ॥ ६ ॥

चक्रपाणिः—प्रेतानित्यादिवहुवचनाज्ञैकप्रेतादिदर्शनं रिष्टमिति भावः । प्रकृतिवर्णस्थमिति

\* सोऽग्नौ इत्यत्र निशामिति क्वचित् पाठः ।

सरीचीनसतोऽमेघान् मेघान् वाप्यसतोऽम्बरे ।

विदुःसतो वा विना मेघान् यः पश्यति स नश्यति ॥ ६ ॥

मृन्मयीमिव यः पात्रौ कृष्णान्धरसमावृताम् ।

आदित्यमीक्षते शुद्धं चन्द्रं वा न स जीवति ॥ १० ॥

अपव्वणि यदा पश्येत् सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहम् ।

अव्याधितो व्याधितो वा तदन्तं तस्य जावितम् ॥ ११ ॥

नक्तं सूर्यमसच्चन्द्रमनशौ धूममुत्थितम् ।

अग्निं वा निष्प्रभं रात्रौ दृष्ट्वा मरणमृच्छति ॥ १२ ॥

**गङ्गाधरः**—मरीचीनित्यादि । य आतुरोऽमेघान् मेघहीनान् असतश्च मरीचीन् मेघज्योतिषः अम्बरे आकाशे पश्यति, स नश्यति । यो वातुरोऽम्बरे विना मेघान् असतः असत्यान् मेघान् पश्यति, स नश्यति । यो वाप्यातुरोऽम्बरे विना मेघान् विदुःसतः पश्यति, स नश्यतीति ॥ ९ ॥

**गङ्गाधरः**—मृन्मयीमिवेत्यादि । य आतुरः कृष्णाम्बरसमावृतां कृष्णवर्ण-वस्त्रावृतां मृन्मयीं पात्रौमिव शुद्धं मेघाद्यनावृतं निर्मलमादित्यं सूर्यमीक्षते पश्यति, स न जीवति । यो वातुरस्तथा मेघाद्यनावृतं निर्मलं चन्द्रं कृष्णाम्बर-समावृतां मृन्मयीं पात्रौमिव पश्यति स न जीवति । पात्रौ-स्थालीं शरावादिकाम् ॥ १० ॥

**गङ्गाधरः**—अपव्वणीत्यादि । अव्याधितो व्याधितो वा यस्त्वेपव्वणि अमावास्यां विना अन्यत्र तिथौ सूर्यग्रहणं राहुकेतुभ्यां यदा पश्येत्, किंवा पूर्णिमां विना अन्यत्र तिथौ चन्द्रस्य ग्रहणं यदा पश्येत्, तस्य तदन्तं तद्ग्रहणदर्शनपदार्थन्तं जीवितम् । यदा ग्रहणदर्शनं न स्यात् तदा मरिष्यतीति भावः ॥ ११ ॥

**गङ्गाधरः**—नक्तमित्यादि । आतुरोऽनातुरो वा नक्तं रात्रौ सूर्यं दृष्ट्वा मरणम् वैवर्ष्यविकुरयादिकारकसविपात्रवर्णादिविरहेण स्वीय एव लोहितकर्पिले वर्णे व्यवस्थितम् । सप्तमां निशां व्रजति । तेनाष्टमाहान्मरणम् ॥ ७—८ ॥

**चक्रपाणिः**—मरीचीनसतः इत्यत्र प्रकरणात् 'मरीचि'शब्देन मेघद्वयतिरुच्यते । मरीचीनां विशेषणम् 'असतः' इति । विदुःसतो वा विना मेघादिति अत्रान्तच्छटा, एव सदा मेघसम्बन्धोप-लभ्यमाना विदुःसत इति, ता हि न विना मेघदर्शनमपि कदाचित् स्वस्थैरुपलभ्यन्ते ॥ ९ ॥

**चक्रपाणिः**—शुद्धमिति मेघाद्यनन्तरितम् । रात्रावित्यनेन दिवा चङ्निष्प्रभत्वं दर्शनमरिष्टं

प्रभावतः प्रभाहीनान् निष्प्रभान् ये प्रभावतः ।

नरा विलिङ्गान् पश्यन्ति भावान् प्राणान् जिहासवः ॥ १३ ॥

व्याकृतीनि विवर्णानि विसङ्ख्योपगतानि च ।

विनिर्मितानि \* पश्यन्ति रूपाण्यायुक्ष्ये नराः ॥ १४ ॥

यश्च पश्यत्यदृश्यान् वै दृश्यान् यश्च न बुध्यते ।

तावप्युभौ यथा प्रेतौ तथा ज्ञेयौ विज्ञानतां ॥ १५ ॥

मृच्छति । रात्रौ असच्चन्द्रं यस्यां रात्रौ चन्द्रो न वर्तते तस्यां रात्रौ चन्द्रं दृष्ट्वा मरणमृच्छति । अनयो उत्थितं धूमं दृष्ट्वा मरणमृच्छति । शीते तु यन्नद्यादि-जले धूमवत् पश्यति स न धूमः, परन्तु वाष्पः । रात्रौ अग्निं निष्प्रभं दृष्ट्वा मरणमृच्छति ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—प्रभावत इत्यादि । प्राणान् प्राणादिकान् शरीरान् जिहासवो हातुमिच्छवोऽर्थात् शीघ्रं ये मरिष्यन्ति ते नराः प्रभावतो भावान् प्रभाहीनान् पश्यन्ति, निष्प्रभान् भावान् अप्रभावतो निष्प्रभान् न पश्यन्ति अर्थात् निष्प्रभान् प्रभावतः पश्यन्ति । एवं प्रकारेणान्यान्पि भावान् विलिङ्गान् विगतसहज-लिङ्गान् पश्यन्ति ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—व्याकृतीनीत्यादि । नरा आयुक्ष्ये सति रूपाणि मूर्ति-विशेषान् विनिर्मितानि विशिष्टं साधु निर्मितानि प्रतिमादीनि व्याकृतीनि विरुद्धाकृतीनि पश्यन्ति विवर्णानि वा पश्यन्ति, विसङ्ख्योपगतानि सङ्ख्या-वैपरीत्ययुक्तानि वा पश्यन्ति ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—यश्चेत्यादि । यश्चादृश्यान् वाय्वाकाशादीन् पश्यति, यश्च वा दृश्यान् मूर्तिमतो घटादीन् न बुध्नते न पश्यति, तावुभौ यथा प्रेतौ मृतौ यथा, तथा ज्ञेयौ विज्ञानता विज्ञेन । सुश्रुते च—द्वन्द्वान्युष्णहिमादीनि कालावस्था दिशस्तथा । विपरीतेन शृङ्गाति भावानन्यांश्च यो नरः ॥ दिवा नैवेति दर्शयति । विलिङ्गानिति विगतसहजलिङ्गान् । तेन प्रभाव्यतिरिक्ताक्षेनादिलिङ्गविपर्ययो रिष्टं भवति । भावानिति प्राणान् । किंवा महापञ्चभूतानि शरीररूपाणि । व्याकृतीनीति विविधाकृतीनि । विवर्णानीति विरुद्धवर्णानि । विसंख्योपगतानीति विगतसंख्यायुक्तानि । विनिर्मितानीति व्याकृत्यादौ विगतनिर्मितानि व्याकृत्यादिकारकहेतुव्यतिरेकेण व्याकृत्यादियुक्त-रूपदर्शनमरिष्टमित्यर्थः । रूपाणीति रूपवन्ति द्रव्याणि ॥ १०—१५ ॥

\* विनिर्मितानि इति चक्रः ।

अशब्दस्य च यः श्रोता शब्दान् यश्च न बुध्यते ।  
 द्वावेतौ पश्यतः क्षिप्रं यमालयमसंशयम् ॥ १६ ॥  
 संवृत्याङ्गुलिभिः कर्णौ ज्वालाशब्दं य आतुरः ।  
 न शृणोति गतासुं तं बुद्धिमान् परिवर्जयेत् ॥ १७ ॥  
 विपर्ययेण यो विद्याद् गन्धानां साध्वसाधुताम् ।  
 न चैतान् सर्वशो विद्यात् तं विद्याद् विगतायुषम् ॥ १८ ॥

द्वन्द्वान्युष्ण हिमादीनि कालावस्था दिशस्तथा । विपरीतेन यो गृह्णाति  
 भावानन्यांश्च यो नरः ॥ ज्योतीषि यथापि ज्वलितानीव पश्यति । रात्रौ सूर्यं  
 ज्वलन्तं वा दिवा वा चन्द्रवच्चसम् । अमेघोपप्लवे यश्च शक्रचापतद्दिग्गुणान् ।  
 तद्विस्तृतोऽसितान् यो वा निर्मले गगने घनान् । विमानयानप्रासादैर्यश्च  
 सङ्कुलमम्बरम् । यश्चानिलं मूर्त्तिमन्तमन्तरीक्षश्च पश्यति । तं वदन्ति  
 गतायुषम् । इति परेणान्वयः । इति चक्षुःपरीक्षा ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—अथ श्रोत्रपरीक्षामाह—अशब्देत्यादि । अशब्दस्य शब्देतरस्य  
 श्रवणेन्द्रियाग्राह्यस्य स्पर्शादेर्यः श्रोता, यो वा शब्दान् न बुध्यते न शृणोति,  
 एतौ द्वौ क्षिप्रं यमालयं पश्यतः ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—संवृत्येत्यादि । य आतुरः कर्णावङ्गुलिभिः संवृत्य ज्वाला-  
 शब्दं ज्वालावद्वर्निं न शृणोति, गतासुं गतप्राणं तं बुद्धिमान् परिवर्जयेत् ।  
 सुश्रुते तु—शृणोति विविधान् शब्दान् यो दिव्यानामभावतः । समुद्रपुरमेघाणा-  
 मसम्पत्तौ च निस्वनान् । तान् स्वनान् नावगृह्णाति मन्यते चान्यशब्दवत् ।  
 ग्राम्यारण्यस्वनांश्चापि विपरीतान् शृणोत्यपि । द्विपच्छब्देषु रमते सुहृच्छब्देषु  
 कुप्यति । न शृणाति च योऽकस्मात् तं ब्रुवन्ति गतायुषम् ॥ इति । इति  
 श्रवणाधिकारः ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—अथ घ्राणपरीक्षा—विपर्ययेणेत्यादि । यो गन्धानां साधुत्वम्  
 असाधुत्वं विपर्ययेण विद्यादसाधुत्वं वा साधुत्वं विद्यात् साधुत्वं वाप्य-  
 साधुत्वं तौ द्वौ । यश्च एतान् साधून् वाप्यसाधून् वा सर्वान् गन्धान्  
 सर्वशो न विद्यात् तं त्रिकं विगतायुषं विद्यात् । सुश्रुतेऽपि—सुगन्धिं वेत्ति

चक्रपाणिः—अशब्दस्येत्यादिना—श्रोत्रारिष्टमाह । ज्वालाया शब्द इव शब्दो ज्वालाशब्दसम् ।  
 विपर्ययेणेत्यादिना—घ्राणारिष्टमुच्यते । न वा तान् सर्वशो विद्यादिति सर्वथैव गन्धान् शुभान्

यो रसान् न विजानाति न वा जानाति तत्त्वतः ।

मुखपाकाद्वे पक्वं तमाहुः कुशला नरम् ॥ १६ ॥

उष्णान् शीतान् खान् श्लेष्मणान् मृदून्पि च दाहणान् ।

स्पृष्टा विद्यात् ततोऽन्यत्वं मुमूर्षु स्तैषु मन्यते ॥ २० ॥

दुर्गन्धिं दुर्गन्धस्य सुगन्धिताम् । यो वा गन्धान् न जानाति गतासुं तं विनिर्दिशेत् ॥ इति घ्राणपरीक्षा ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—अथ रसनान्द्रियपरीक्षा—यो रसानित्यादि । मुखपाकाद्वे मुखस्य वातादिना दुष्टौ रसनोपघातं विना यो रसान् मधुरादिविशेषान् न विजानाति रसमात्रं जानाति, यो वा रसत्वेन वा न रसान् जानाति, तं नरं कुशला वैद्याः पक्वं जीवितकालेन पक्वं परिणतमाहुराचिरान्मरिष्यतीत्याहुरित्यर्थः । सुश्रुते च—विपरीतेन गृह्णाति रसान् यश्चोपयाजितान् । उपयुक्ताः क्रमाद् यस्य रसा दोषाभिवृद्धयः ॥ यस्य दापाग्निसाम्यश्च कुट्युर्मिथ्योपयोजिताः । यो वा रसान् न संवत्ति गतासुं तं प्रचक्षते ॥ इति रसनापरीक्षा ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—अथ स्पृशेनेन्द्रियपरीक्षा—उष्णानित्यादि । मुमूर्षुर्नर उष्णान् स्पर्शान् शीतान् स्पृष्ट्वा तेषूपुष्णेषु ततोऽन्यत्वं शीतत्वं मन्यते । एवं खरान् स्पर्शान् श्लेष्मणान् स्पृष्ट्वा खरेषु श्लेष्मणत्वं मन्यते । एवं मृदून् स्पर्शान् दारुणान् कठिनान् स्पृष्ट्वा मृदूषु दारुणत्वं मन्यते । सुश्रुते च—यस्तूष्णमिव गृह्णाति शीतमुष्णञ्च शीतलम् । संजातशीतपिङ्गको यश्च दाहेन पीड्यते ॥ उष्णगात्रोऽतिमात्रञ्च यः शीतेन प्रवेपते । प्रहारान् नाभिजानाति योऽङ्गच्छेदमथापि वा ॥ पांशुनेवावकीर्णानि यश्च गात्राणि मन्यते । वर्णान्यभावो राज्यो वा यस्य गात्रे भवन्ति हि ॥ स्नातानुलिप्तं यश्चापि भजन्ते नीलमक्षिकाः । सुगन्धिर्वीति योऽकस्मात् तं ब्रूवन्ति गतायुषम् ॥ इति स्पृशेनेन्द्रियपरीक्षा ॥ २० ॥

अशुभान् वा न वेत्ति । तत्त्वत इति स्वकीयेन रूपेण । 'मुखपाक'शब्दः पित्तादिदोषोपलक्षणम् । तेन पित्तदुष्टरसनान्यथात्वमाहकस्य व्युदासोऽवस्थ्यते । पक्वमिति सम्पूर्णयुष्कालम् । ततोऽन्यत्वमिति उष्णे शीतत्वम्, श्लेष्णे खरत्वमित्यादि मन्यते ॥ १६—२० ॥

अन्तरेण तपस्तीव्रं योगं वा विधिपूर्वकम् ।  
 इन्द्रियैरधिकं पश्यन् पञ्चत्वमुपपद्यते ॥ २१ ॥  
 इन्द्रियाणामृतै हृष्टैरिन्द्रियार्थान् न पश्यति \* ।  
 विपर्ययेण यो विद्यात् तं विद्याद् विगतायुषम् † ॥ २२ ॥  
 स्वस्थाः प्रज्ञाविपर्ययसैरिन्द्रियार्थेषु वैकृतम् ।  
 पश्यन्ति ‡ ये सुबहुशस्त्रान् गतायुष आदिशेत् ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—अथ सामान्येन्द्रियपरीक्षा—अन्तरेणेत्यादि । विधिपूर्वकं तीव्रं तपोऽन्तरेण तीव्रं योगमन्तरेण च इन्द्रियैः श्रोत्रादिभिः पञ्चभिः अधिक-मिन्द्रियाग्राह्यम् अगोचरञ्च पश्यन् जानन् पञ्चत्वं मृत्युमुपपद्यते । तपोयोगाभ्यां हि अधिकं पश्यति तन्नाशुभम् ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—इन्द्रियाणामित्यादि । इन्द्रियाणां मध्ये हृष्टैर्कृतै चक्षुषी विनान्यैश्चतुर्भिरीन्द्रियैरिन्द्रियार्थान् स्पर्शादीन् न पश्यति न जानाति सर्वार्थान् चक्षुषैव पश्यति न तु रूपवत्तया । परन्तु चक्षुर्ग्राह्याथस्य विपर्ययेण तत्तच्छब्दस्पर्शादितया विद्यात् तं गतायुषं विद्यात् ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—स्वस्था इत्यादि । स्वस्था नरा यं प्रज्ञाविपर्ययसैर्बुद्धिर्विपर्ययैरिन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु सुबहुशो वैकृतं पश्यन्ति तान् गतायुष आदिशेत् ॥ २३ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति सव्विन्द्रियरिष्टं सामान्येन ब्रूते—अन्तरेणेत्यादि । अन्तरेणेति विना । योगमित्यस्य विशेषणं विधिपूर्वकमित्यनेन यथाविधि कृतस्त्वं योगस्यातीन्द्रियज्ञाने समर्थत्वम् । अधिकमिति अस्मादादीन्द्रियाविषयम् । पञ्चत्वमिति मरणम् । हृष्टैरुपलब्धः या हृष्टैरुपचारात् ज्ञायते, तेन कृते हृष्टैरिति उपलब्धिं विना । तत्रैवेन्द्रियाणामुपलब्धिगतिं विना य इन्द्रियैः उपलब्धुमशक्यान् पश्येद्विन्द्रियैः न स जीवति । अदोपज्ञानित्यनेन च दोषजस्वभावादिन्द्रिया-शक्यार्थग्रहणं निराकरोति । यथा अङ्गुलिचन्द्रितं चक्षुर्वानदृष्ट्या आसन्नवस्तुद्वयमिन्द्रियाविषयं पश्यति, यथा पिच्छदृष्टरसनं ह्यङ्गं न मधुरं प्रत्येतीत्यादि बोध्यम् । स्वस्था इत्येविकृतेन्द्रिय-मनसः । प्रज्ञाविपर्ययसैरिति दोषीभूतार्थप्रभावकृतः प्रज्ञाविपर्ययसः । असदिति अथामृतम् ।

\* “अदोपज्ञान” इति चक्रः ।

† नरः पश्यति यः कश्चित् इन्द्रियैर्न स जीवति इति चक्रवर्णितः पाठः ।

‡ येऽसद्वहुशस्तेषां मरणमादिशेत् । इति चक्रसम्मतः पाठः ।

तत्र श्लोकः ।

एतदिन्द्रियविज्ञानं यः पश्यति यथातथम् ।

मरणं जीवितञ्चैव स भिषग् ज्ञातुमर्हति ॥ २४ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने

इन्द्रियानीकमिन्द्रियं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायाथमुपसंहृत्य प्रशंसति—तत्रेत्यादि । इन्द्रियस्य विज्ञानं विज्ञानकरणं शास्त्रं यः पश्यति जानाति ॥ २४ ॥

अध्यायं समापयति—अग्रीत्यादि ॥

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरत्नविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ पञ्चमस्कन्धे इन्द्रिय-  
स्थानजल्पे इन्द्रियानीकेन्द्रियजल्पाख्या चतुर्थी शाखा ॥ ४ ॥

बुद्धिश्च इत्यनेन सकृददर्शनस्य नारिष्टत्वम् । इन्द्रियविज्ञानम् इन्द्रियगतरिष्टज्ञानम् । जीवित-  
ज्ञानञ्चेहं रिष्टशून्येन्द्रियज्ञाने सति भवतीति ज्ञेयम् ॥ २१—२४ ॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुरानन-श्रीमच्छक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां

चरकतात्पर्यटीकायाम् इन्द्रियस्थाने इन्द्रियानीकेन्द्रियं

नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातः पूर्वरूपीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः,  
इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

पूर्वरूपाण्यसाध्यानां विकाराणां पृथक् पृथक् ।  
भिन्नाभिन्नानि वक्ष्यामि भिषजां ज्ञानवृद्धये ॥ २ ॥  
पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया ।  
यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरः ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—अथेत्यादि । अथेन्द्रियानीकेन्द्रियादनन्तरमतः आतुरविषया-  
रिष्टोद्देशानुक्रमत्वात् पूर्वरूपाणां पूर्वरूपीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः, इतिह  
स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—तद् यथा—पूर्वरूपाणीत्यादि । असाध्यानां विकाराणां  
पृथक् पृथक् रोगाणामसाध्यत्वख्यापकानि पूर्वरूपाणि भिन्नाभिन्नानि  
विशेषसामान्यानि प्रतिरोगं विशेषेण पूर्वरूपाणि सर्वरोगाणामेकविधया  
च वक्ष्यामि ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—सामान्यविधया प्रथमत आह—पूर्वरूपाणीत्यादि । एनं ज्वरि-  
णम् ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—इन्द्रियगतरिष्टमभिधाय सत्त्वादीनामग्रे सूचितानामरिष्टमग्रे वक्तुं श्रूयते ; तत् तु  
अल्पवक्तव्यत्वात् तदुल्लङ्घ्य बहुवक्तव्यं पूर्वरूपरिष्टमभिधातुं पूर्वरूपीयोऽभिधीयते । प्रथमाध्याये  
एव तु सत्त्वादीनामग्रेऽभिधानमिन्द्रियैः समं बुद्धिसाधनत्वादिप्रसङ्गागतं ज्ञेयम् । व्याधिस्तु यद्यपि  
बहुत्वेन वक्तव्यः कतमानिशरीरीयेऽग्रे सूचितश्च, तथापि पूर्वरूपपूर्वकत्वात् व्याधेः पूर्वं पूर्वं-  
रूपमिह । सूत्रे त्वग्रे व्याधिवचनेन पूर्वरूपात् व्याधेः पूर्वरूपबोध्यस्य प्राधान्यं दर्शयति ।  
भिन्नाभिन्नानीति साधारणासाधारणानि । तत्र “पूर्वरूपाणि” इत्यादिना “तस्यापि मरणं ध्रुवम्”  
इत्यन्तेन सर्वव्याधिरिष्टं साधारणमुक्तम् । पूर्वरूपैकदेशास्तु इत्यादिना तु प्रतिव्याधिं भिन्नं  
पूर्वरूपारिष्टमुच्यते । अन्ये तु भिन्नाभिन्नानीति उक्तानुक्तानीति ब्रुवते, तत्र ज्वरादिपूर्व-  
रूपाण्युक्तानि । श्वरैरित्यादि तु पूर्वरूपमनुक्तम् । सर्वाणीति समस्तानि । अति-



अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम् ।  
 त्रिशन्त्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणां ध्रुवम् ॥ ४ ॥  
 पूर्वरूपैकदेशांस्तु वक्ष्याम्यन्यान् सुदारुणान् ।  
 ये रोगाननुवृणन्ति मृत्युर्यैरेव बुध्यते ॥ ५ ॥  
 बलञ्च हीयते यस्य प्रतिश्यायश्च वर्द्धते ।  
 तस्य नारीप्रसक्तस्य शोषोऽन्तायोपजायते ॥ ६ ॥  
 श्वभिरुष्ट्रैः खरैर्वापि याति यो दक्षिणां दिशम् ।  
 स्वप्ने यक्ष्माणमासाद्य जीवितं स विमुञ्चति + ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—अन्यस्यापीत्यादि । अनेन कल्पेन साकल्येः पूर्वरूपाणि यं नरं विशन्ति इत्यन्वयः ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—इत्यभिन्नानि पूर्वरूपाण्युक्त्वा भिन्नान्याह—पूर्वरूपैकदेशांस्तु इत्यादि । अन्यान् कान् ये पूर्वरूपैकदेशा रोगान् अनुवृणन्ति अभिव्यक्त-  
 दशायामपि संवृणन्ति न चान्यपूर्वरूपवर्द्धितं यान्ति तान् । ननु तांश्च  
 बहून् बहूनां व्याधीनामनुबन्धनः पश्यामो न च तैर्म्रियते इत्यत आह—  
 मृत्युरित्यादि । यैः पूर्वरूपैकदेशैरेव मृत्युर्बुध्यते ज्ञायते तान् पूर्वरूपैकदेशान्  
 वक्ष्यामि ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—बलञ्चेत्यादि । शोषो राजयक्ष्मा । तस्य पूर्वरूपविशेषः  
 प्रतिश्यायो यस्य क्रमेण वर्द्धते बलञ्च हीयते नारीप्रसक्तस्य सततं मैथुनं सेव-  
 मानस्य तस्यातः परं शोषः स्यात् । स च तस्यान्ताय नाशायोपपद्यते ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—पूर्वरूपावस्थायां स्वप्नतोऽप्यरिष्टमाह—श्वभिरित्यादि । यः

मात्रयेति अत्युल्लवणत्वेन । ज्वरपुरःसर इति ज्वरान्तरभावी । एतेन कल्पेनेत्यनेन सर्वानि चाति-  
 मात्रया चेति दर्शयति ॥ १—४ ॥

चक्रपाणिः—रोगाननुवृणन्तीति रोगेण पश्चाद्भाविना अवश्यं युज्यन्ते । मृत्युर्यैरनुवध्यते  
 इति यै रोगैरनुवध्यते । एतेनैतत् फलति, ज्वरिणो तैर्व्याधिभिर्नित्यतस्म्यन्वा अवश्यं मारका  
 भवन्तीत्यर्थः । “श्वभिरुष्ट्रैः खरैः” इत्यादि शोपनिदानेऽप्युक्तम् । तेन दक्षिणदिशागमनं

\* अनुवध्यते इति पाठान्तरम् ।

+ स्वप्ने यक्ष्मा तमाविश्य न जीवन्नवसृज्यते । एतत् पाठान्तरञ्च दृश्यते ।

प्रेतैः सह विन्मदं स्वप्ने यः कृष्यते शुना ।  
 स घोरं ज्वरमाप्नोति न जीवन्न च सृज्यते ॥ ८ ॥  
 लाक्षालक्ताम्बराभं यः पश्यत्यम्बरमन्तिकात् ।  
 स रक्तपित्तमासाद्य तेनैवान्ताय नीयते ॥ ९ ॥  
 रक्तस्रक्त्तसर्वाङ्गो रक्तवासा मुहुर्हसन् ।  
 यः स्वप्ने नोयते नाय्या स रक्तं प्राप्य सीदति ॥ १० ॥  
 शूलाटोपात्तूजाश्च दौर्बल्यश्चातिमात्रया ।  
 नखादिषु च वैवर्ण्यं गुल्मेनान्तकरो ग्रहः ॥ ११ ॥

पुरुषः स्वप्ने श्वभिः कुक्कुरैरुष्टैः खरैर्गर्धभैर्वा दक्षिणां दिशं याति स यक्षमाणं  
 पश्चात् यक्षमरोगं प्राप्य भ्रियते । एतत्पूर्व्वरूपवान् यक्ष्मा न साध्य इत्यर्थः ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—प्रेतैरित्यादि । यः पुरुषः पूर्व्वं ज्वरात्पत्तेः, स्वप्ने प्रेतैः मृतैः सह  
 मदं पितृत्वं यो वा स्वप्ने शुना कुक्कुरेण कृष्यते कपणीक्रियते, सोऽपि घोरं  
 ज्वरमासाद्य न जीवेन न च सृज्यते । एतत्पूर्व्वरूपको ज्वरोऽसाध्य इत्यर्थः ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—लाक्षेत्यादि । यः पुरुषः । प्रकरणात् स्वप्ने पूर्व्वम् अन्तिकात्  
 स्वनिकटमवधीकृत्य अम्बरमाकाशं लाक्षालक्ताम्बराभं लाक्षालक्तेन रक्तम्  
 अम्बरं वस्त्रं तदाभं पश्यति स परं रक्तपित्तमासाद्य तेन रक्तपित्तेन अन्ताय  
 मरणाय नीयते यमालयं नीयते इत्यर्थः । कर्म्मणि गत्यर्थत्वाच्चतुर्थी । एतत्-  
 पूर्व्वरूपकं रक्तपित्तमसाध्यमित्यर्थः ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—रक्तस्रगित्यादि । यो वा पुरुषः स्वप्ने रक्तस्रक् रक्तपुष्पमाला-  
 वान् भूत्वा रक्तसर्वाङ्गो रक्तप्रक्षितसर्वाङ्गो भूत्वा रक्तवासाश्च भूत्वा मुहुर्हसन्  
 सन् नाय्या नीयते स रक्तं रक्तपित्तमासाद्य सीदति भ्रियते । एतत्पूर्व्वरूपक-  
 आसाध्यम् ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—शूलाटोपेत्यादि । यस्य गुल्मस्य पूर्व्वरूपाण्येतानि शूलाटोपात्र-  
 कूजातिमात्रदौर्बल्यनखादिवैवर्ण्यानि तस्य गुल्मेन ग्रहो ग्रहणम् अन्तःकरः

विशेषितमेतद्विष्टम् । अन्तिकादिति समोपात् । रक्तं प्राप्येति रक्तपित्तं प्राप्य । सीदति  
 भ्रियते ॥ ५—१० ॥

चक्रपाणिः—आटोपः कुक्षौ शब्दवदवातभ्रमणम् । गृह्यते अनेनेति ग्रहो लिङ्गमित्यर्थः ।

लता कण्टकिनी यस्य दारुणा हृदि जायते ।  
 स्वप्ने गुल्मस्तमन्ताय क्रूरो विशति मानवम् ॥ १२ ॥  
 कायेऽल्पमपि संस्पृष्टं सुभृशं यस्य दीर्य्यते ।  
 क्षतानि च न रोहन्ति कुष्ठैर्भृत्युर्हिनस्ति तम् ॥ १३ ॥  
 नग्नस्याज्यावसिक्तस्य जुह्वतोऽग्निमनर्चिषम् ।  
 पद्मान्युरसि जायन्ते स्वप्ने कुष्ठैर्मरिष्यतः ॥ १४ ॥  
 स्नातानुलितगात्रेऽपि यस्मिन् गृध्नन्ति मक्षिकाः ।  
 स प्रमेहेण संस्पर्शं प्राप्य तेनैव हन्यते ॥ १५ ॥

नाशकः स्यादित्यर्थः । न चेदं स्वप्नतः पूर्व्वरूपम् । कश्चित् प्रकरणात् स्वप्ने  
 एवं दर्शनं व्याचष्टेऽसाध्यगुल्मपूर्व्वरूपमिति, तन्न ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—लतेत्यादि । यस्य स्वप्ने हृदि कण्टकिनी कण्टकवती दारुणा  
 लता जायते, तं मानवमन्ताय नाशाय क्रूरो गुल्मो विशति । एतत्पूर्व्वरूपको  
 गुल्मोऽसाध्यः ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—काये इत्यादि । यस्य कायेऽल्पमपि संस्पृष्टं सुभृशं दीर्य्यते  
 क्षतानि च न तस्य रोहन्ति, तं पुरुषं मृत्युः कुष्ठैर्भावविभिर्हिनस्ति ।  
 एतत्पूर्व्वरूपाणि कुष्ठान्यसाध्यानि । नेदं स्वप्नतोऽरिष्टं पूर्व्वरूपम् ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—स्वप्नत आह—नग्नस्येत्यादि । कुष्ठरोगैर्भवेविष्यद्भिर्मरिष्यतः  
 पुरुषस्य, स्वप्ने नग्नस्य दिगम्बरस्य आज्यावसिक्तस्य घृतमक्षितसर्वाङ्गस्य  
 अनर्चिषम् अप्रज्वलितमग्निं निर्व्वर्णाग्निं वा जुह्वतो होमं कुर्व्वत उरसि  
 वक्षसि पद्मानि जायन्ते इति । यो नरः स्वप्ने नग्नो भूत्वा घृतं मक्षयित्वा  
 निर्व्वर्णाग्नौ होमं करोति पद्मानि च तस्य वक्षसि जायन्ते इति पश्यति तस्य  
 कुष्ठरोगेण मरणं भविष्यतीति विद्यादित्यर्थः ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—स्नातेत्यादि । यस्मिन् पुरुषे मक्षिका गृध्नन्ति स्नातानुलिते  
 गात्रेऽपि अनुलेपतिक्तत्वेन न तं मुञ्चन्ति गृध्नन्त्येव लुभ्यन्त्येव, स प्रमेहेण संस्पर्शं  
 प्राप्य प्रमेहं प्राप्य तेनैव प्रमेहेण हन्यते । एतत्पूर्व्वरूपकप्रमेहोऽसाध्यः ॥ १५ ॥

संस्पृष्टमिति शस्त्रवृणादिसंस्पृष्टम् । यद्यपि “स्नातानुलितगात्रे” इत्यादि ‘स्नातानुलितस्य’  
 इत्यादिनोक्तम् तथापीह प्रमेहेण मरणोपदर्शनार्थं पुनरुच्यते । तत्र च यदा प्रमेहपूर्व्वरूपान्तराणि

स्नेहं बहुविधं स्वप्ने चण्डालैः सह यः पिवेत् ।  
 वध्यते स प्रमेहेण स्पृश्यतेऽन्ताय मानवः ॥ १६ ॥  
 ध्यानायासौ तथोद्वेगो मोहश्चास्थानसम्भवः ।  
 अरतिर्वलहानिश्च मृत्युरुन्मादपूर्वकः ॥ १७ ॥  
 आहारद्वेषणं यस्य लुप्तचित्तमुद्धतम् ।  
 विद्याद् धीरो मुमूर्षुः तमुन्मादेनातिपातिना ॥ १८ ॥  
 क्रोधनं त्रासबहुलं सकृत्प्रहसिताननम् ।  
 मूर्च्छायतृष्णाबहुलं हन्युन्मादः शरीरिणम् ॥ १९ ॥  
 नृत्येद् रक्षोगणैः सार्द्धं यः स्वप्नेऽम्भसि मज्जति ।  
 स प्राप्य भृशमुन्मादं याति लोकमितः परम् ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—स्नेहमित्यादि । यः स्वप्ने चण्डालैः सह बहुविधं स्नेहं घृत-  
 नवनीततैलादिकं पिवेत्, स मानवः प्रमेहेण वध्यतेऽनुवध्यतेऽन्ताय मरणाय  
 स्पृश्यते च । तस्य प्रमेहो भविष्यति तेन प्रमेहेण स मरिष्यतीति भावः ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—ध्यानेत्यादि । पूर्व्वरूपाधिकारात् । यस्योन्मादपूर्व्वरूपाणि  
 ध्यानं चिन्ता, आयासः श्रमकरो भावः, उद्वेगः, अस्थानसम्भवो मोहः—यत्र  
 मोहविषयता नास्ति तत्र मोहः, अरतिरनवस्थचित्तत्वं, वलहानिश्चैतानि  
 यस्य, तस्योन्मादरोगो भूत्वा पश्चान्मृत्युरित्यर्थः ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—आहारेत्यादि । यस्योन्मादपूर्व्वरूपेषु आहारद्वेषणं लुप्तचित्त-  
 त्वन मुदा हर्षभावेण प्रवर्त्तमानेन अर्द्धितं व्यथितं तं पुरुषमतिपातिना भाविना  
 उन्मादेन मुमूर्षुः धीरो विद्यात् ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—क्रोधनमित्यादि । उन्मादपूर्व्वरूपेषु क्रोधनं त्रासबहुलं सकृदेक-  
 वारमात्रं प्रहसिताननं मूर्च्छायतृष्णाबहुलं शरीरिणम् उन्मादो भूत्वा हन्ति ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—नृत्येदित्यादि । उन्मादपूर्व्वरूपेषु यः स्वप्ने रक्षोगणैः सह

भवन्ति, एतच्च लक्षणं भवति, भवति तदा प्रमेहेण मृत्युः । यदा प्रमेहपूर्व्वरूपाणि न भवन्ति,  
 तदा येन केनापि व्याधिना मृत्युञ्जयः । उद्धतमिति उद्धतशुक्तम् । यद् वा उद्धतं मृद-  
 वातार्द्धितम् ॥ ११—२० ॥

असत् तमः पश्यति यो यः शृणोत्यसतः स्वनान् ।  
 वहून् बहुविधान् जाग्रत् सोऽपस्मारेण वध्यते ॥ २१ ॥  
 मत्तं नृत्यन्तमाविध्य प्रेतो हरति यं नरम् ।  
 स्वप्ने हरति तं मृत्युरपस्मारपुरःसरः ॥ २२ ॥  
 स्तभ्येते प्रतिबुद्धस्य हनुमन्ये तथाक्षिणी ।  
 यस्य तं वहिरायामो गृहीत्वा हन्त्यसंशयम् ॥ २३ ॥  
 शङ्कुलीर्वायूपूपान् वा स्वप्ने खादति यो नरः ।  
 स चेत् प्रच्छर्दयेत् तादृक् प्रतिबुद्धो न जीवति ॥ २४ ॥

नृक्षेत्, अन्भसि च मज्जति, स भृशमुन्मादं रोगं प्राप्य इतो जन्मक्षेत्रात् परलोकं याति ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—असत् तम इत्यादि । यो जाग्रत् सन्नसत् तमो मिथ्याऽन्धकारं पश्यति, यो वा जाग्रत् सन्नसतो मिथ्या बहुविधान् वहून् स्वनान् शृणोति, सोऽपस्मारेण भाविना वध्यते हन्यते ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—मत्तमित्यादि । प्रेतो मृतः पुरुषो यं नरं नृत्यन्तं मत्तं स्वम् आविध्याधःशिरसं कृत्वा स्वप्ने हरति, स्वप्ने इति पश्यन्तं तम् अपस्मारेण भाविना मृत्युर्हरतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—स्तभ्येते इत्यादि । पूर्व्वं निद्रया बाह्यज्ञानहीनस्य पश्चात् प्रतिबुद्धस्य जागरितस्य यस्य हनुमन्ये तथाऽक्षिणी च स्तभ्येते, तं नरं वहिरायामो धनुःस्तम्भो भविष्यन् गृहीत्वा हन्ति ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—शङ्कुलीरित्यादि । यो नरः स्वप्ने शङ्कुलीरूपान् वा खादति, स चेत् प्रतिबुद्धो जागरितः सन् तादृक् शङ्कुलीर्वापूपान् वा प्रच्छर्दयेत्, स वहिरायामेण भाविना न जीवति मरिष्यतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

चक्रपाणिः—आविध्येति अधःशिरसं कृत्वा । तादृगिति अपूपशङ्कुलीरूपम् ॥ २१—२४ ॥

एतानि पूर्वरूपाणि यः सम्यगवबुध्यते ।  
 त एषामनुबन्धश्च फलञ्च ज्ञातुमर्हति ॥ २५ ॥  
 य इमांश्चापरान् स्वमान् दारुणानुपलक्षयेत् ।  
 आतुराणां विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा ॥ २६ ॥  
 यस्योत्तमाङ्गे जायन्ते वंशगुल्मलतादयः ।  
 वयांसि च निलीयन्ते स्वप्ने मौण्डास्मियाश्च यः ॥  
 गृध्रोल्बकश्चकाकादयः स्वप्ने यः परिवार्यते ।  
 रक्षःप्रेतपिशाचस्त्री-चण्डालद्रविडान्वकैः ॥  
 वंशवेन्नलतापाश-तृणकण्टकसङ्कटे ।  
 प्रमुह्यति च यः स्वप्ने यो गच्छन् प्रपतत्यपि ॥

गङ्गाधरः—पूर्वरूपारिष्टाधिकारस्याशिषं समापयति—एतानीत्यादि ।  
 अनुबन्धम् एषामुक्तानां व्याधीनां पश्चादवश्यं मन्वन्धं तद्वाधीनामेषां वा पूर्व-  
 रूपाणां फलञ्च मरणं ज्ञातुमर्हति ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—अथ पूर्वरूपावस्थिकस्वमानुत्तवा रूपावस्थादिषु स्वममकरणम्  
 आरब्धमाह—य इमानित्यादि । यस्य यस्य यक्षपञ्चरात्रे रोगस्य पूर्वरूपतया  
 यो यः स्वप्ने उक्तस्तत्तद्व्याधिनातुरस्य स एष एष स्वप्ने विनाशाय उपलक्ष्यते  
 इत्यर्थे इमानुक्तान् दारुणान् स्वमान् आतुराणां तत्तद्व्याधिभिः पीडितानां  
 विनाशायोपलक्ष्यते । अपरानपि दारुणान् स्वमान् वक्ष्यमाणान् आतुराणां  
 वर्त्तमानानुत्पद्यमानां विनाशाय महते क्लेशाय वापि उपलक्ष्यते ॥ २६ ॥

गङ्गाधरः—ननु के तेऽपरे स्वप्ना इत्यत आह—यस्योत्तमाङ्गे इत्यादि ।  
 यथायथमनियतसङ्केत्यं स्वप्ने दर्शनं बोध्यम् । उत्तमाङ्गे मूर्द्धनि वंशाद्यन्यतमाः,  
 मौण्डा मुण्डनम् इयात् प्राप्नुयात् । गृध्रादिभी रक्षःप्रेतादिभिश्च वंशादिसङ्कटे  
 स्वप्ने यः परिवार्यते परिवारीक्रियते, यः प्रमुह्यति मोहं प्राप्नोति, यः स्वप्ने

चक्रपाणिः—एषामनुबन्धमिति एतत्पूर्वरूपोत्तरकालभाविनंव्याधिम् । . फलञ्चैषां मृत्यु-  
 रूपम् । क्लेशाय महतेऽपि वेत्यत्रारोगिणां क्लेशाय महते इति बोध्यम्, रोगिणान्तु मरणायैव ।  
 यत उत्तरत्रोपसंहारे “इत्येते दारुणाः स्वप्नाः” इत्यादौ यथोक्तमेव विभागं करिष्यति ॥ २५।२६ ॥

चक्रपाणिः—वयांसीति पक्षिणः । गृध्रादिकाकादयः परिवार्यते इति सशब्दः । संसृजति

भूमौ पांशूपधानायां वल्मीके वाथ भस्मनि ।  
 श्मशानायतने श्वभ्रे स्वप्ने यः प्रपतत्यपि ॥  
 कलुषेऽम्भसि पङ्के वा कूपे वा तमसावृतै ।  
 स्वप्ने सज्जति शीघ्रेण स्रोतसा नीयते च यः ॥  
 स्नेहपानं तथाभ्यङ्गः प्रच्छर्दनविरेचने ।  
 हिरण्यलाभः कलहः स्वप्ने बन्धपराजयौ ॥  
 उपानद्व्युगनाशश्च प्रपातः पदचर्मणोः ।  
 हर्षः स्वप्ने प्रकुपितैः पितृभिश्चापि भर्त्सनम् ॥  
 चन्द्रतारार्कनक्षत्र-दीपदैवतचक्षुषाम् ।  
 पतनञ्च प्रणाशो वा स्वप्ने भेदो नगस्य वा ॥  
 रक्तपुष्पं वनं भूमिं पापकर्मालयं चिताम् ।  
 गुहान्धकारसंवाधं स्वप्ने यः प्रविशत्यपि ॥  
 रक्तमाली हसन्नुच्चैर्दिग्वासा दक्षिणां दिशम् ।  
 दारुणामटवो स्वप्ने कपियुक्तः प्रयाति वा ॥

गच्छन् सन् प्रपतति, यः स्वप्ने कलुषेऽम्भसि पङ्के वा तमसावृते कूपे वा मज्जति,  
 यश्च शीघ्रेण वेगवता स्रोतसा नीयते, यस्य स्वप्ने स्नेहानां घृतादीनां पान  
 तथा स्नेहाभ्यङ्गः, एवं प्रच्छर्दनं विरेचनञ्च, यस्य स्वप्ने हिरण्यस्य कपर्दकस्य  
 लाभः, स्वप्ने च कलहः एवं बन्धो वा पराजयो वा, एवमुपानद्व्युगस्य  
 चर्मपादुकाद्वयस्य नाशः, स्वप्ने तथा पादयोश्चर्मणोर्द्वयोः प्रपातः,  
 स्वप्ने हर्षः, एवं प्रकुपितैः पितृभिर्भर्त्सनम्, तथा स्वप्ने चन्द्रादीनां  
 प्रपातः णाशो वा, नगस्य वृक्षस्य भेदो भङ्गः स्वप्ने, यः स्वप्ने रक्तपुष्पादिकं  
 प्रविशति — गुहान्धकाररूपसम्यग्वाधाकरं देशं यः स्वप्ने प्रविशति, यो रक्तमाली  
 इति संयुक्तो भवति । किंवा प्रमुह्यतीति वा पाठः, तत्र प्रमुह्यतीति वंशादिसङ्कटे लग्नः सन्  
 न निर्गममार्गमासादयति । प्रपतत्यपीति भूमावित्यादिनां योज्यम् । पांशूपधानायामिति धूलि-  
 संयुक्तायाम् । किंवा भूमावित्यादि प्रविशतीत्यनेन योज्यम् । उपानत् उपानघ्नी । रक्तपुष्पमिति  
 वनविशेषणम् । गुहान्धकारसंवाधमिति गुहान्धकाररूपं कष्टकारकम् । दिग्वासा नग्नः सन् ।

कपायिणामसौम्यानां नशानां दण्डधारिणाम् ।

कृष्णानां रक्तनेत्राणां स्वप्ने नेच्छन्ति दर्शनम् ॥ २७ ॥

कृष्णा पापाग्रनाचारा दीर्घकेशनखस्तनी ।

विरागमाल्यवसना स्वप्ने कालनिशा मता ॥ २८ ॥

इत्येते दारुणाः स्वप्ना रोगी यैर्याति पञ्चताम् ।

अरोगः संशयं गत्वा कश्चिदेव प्रमुच्यते ॥ २९ ॥

मनोवहानां पूर्णत्वाद् दोषैरतिवलैस्त्रिभिः ।

स्रोतसां दारुणान् स्वप्नान् काले पश्यति दारुणे ॥ ३० ॥

रक्तपुष्पमालावान् सन्तुच्चैहसन दिग्वासा नशः सन् दक्षिणां दिशं याति,  
अथवा तथाविधः सन् कपियुक्तेन वानरसहयोगेन दारुणामटव्रीं प्रयाति, अथवा  
कपायिणामसौम्यादीनाञ्च दर्शनम् स्वप्ने नेच्छन्ति । एषां स्वप्ने दर्शनमशुभ-  
हरत्नान्नेच्छन्ति तज्ज्ञा इति भावः ॥ २७ ॥

गङ्गाधरः—कृष्णा स्त्री पापाग्रनाचारा वा स्त्री दीर्घकेशादिमती स्त्री  
विरागमाल्यवसना रक्तमाल्यवसना स्त्री च स्वप्ने दृष्टा सती कालनिशा  
कालरात्रिर्यमभगिनी मता मारिका श्रेया ॥ २८ ॥

गङ्गाधरः—एषां स्वप्नानामाशिपमाह—इत्येते इत्यादि । एषां दारुणत्वं  
रोगिणां मारकत्वमरोगाणां प्रायेण मारकत्वञ्च । कस्यचिद्वहुक्लेशेन मोचकत्व-  
मिति भावः ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः—ननु कस्माद्दारुणं स्वप्नं पश्यति तदाह—मनोवहानामित्यादि ।  
नरो दारुणे मारके काले समुपस्थितेऽतिवलैरतिशयबलवद्भिस्त्रिभिर्दोषैर्वर्त-  
पित्तकफैर्मनोवहानां स्रोतसां पूर्णत्वाद् दारुणान् मारकान् स्वप्नान्  
पश्यति ॥ ३० ॥

कपियुक्तेन यानेनेति शेषः । कश्चिदेव प्रमुच्यत इत्यरोगान् प्रति नैतत् स्वप्नानामरिष्टत्वम् ।

तेन अरोगेप्तेतेषां मरणव्यभिचारेण नारिष्टत्वं वक्ष्यति ॥ २७—२९ ॥

चक्रपाणिः—यथैतत् स्वप्नदर्शनं भवति तदाह—मनोवहानामित्यादि । मनोवहानि स्रोतांसि  
यद्यपि पृथङ् नोक्तानि तथापि मनसः केवलमेवेदं शरीरमयनमूलम् इत्यभिधानात् सर्वशरीरस्रोतांसि  
गृह्यन्ते, विशेषेण तु हृदयाश्रितत्वान्मनसस्तदाश्रिता दश धमन्यो मनोवहा अभिधीयन्ते । त्रिभिरिति



नातिप्रसुप्तः पुरुषः सफलानफलांस्तथा ।

इन्द्रियेशेन मनसा स्वप्नान् पश्यत्यनेकधा ॥ ३१ ॥

दृष्टं श्रुतानुभूतञ्च प्रार्थितं कल्पितं तथा ।

भाविकं दोषजञ्चैव स्वप्नं सप्तविधं विदुः ॥ ३२ ॥

गङ्गाधरः—ननु कीदृक् पुरुषो दारुणान् स्वप्नान् पश्यति न च कथं स्वप्नः पश्यति, न वा कथं सर्व्वदैव निद्रायां पश्यतीत्यत आह—नातीत्यादि । नातिप्रसुप्तोऽनतिप्रसुप्तः, विभाषया नञोऽनादेशविधानात् । अनतिप्रसुप्तस्तु सुषुप्तिवर्ज्जं या निद्रा तन्निद्रागतः । तादृशस्तु तैजसाहङ्कारयोगेणात्मा भवति । सुषुप्तस्तु तामसाहङ्कारयोगेण भवति । ईदृशस्त्वात्मा न त्रिदोषपूर्णमनोवहस्रोतस्त्वं विना दारुणान् स्वप्नान् पश्यति । परन्तु तैजसाहङ्कारयोगमात्रेण स्वप्नान् पश्यति न दारुणान् पश्यति । त्रिदोषपूर्णमनोवहस्रोतास्तु दारुणान् स्वप्नान् पश्यति, न तु सर्व्वः पुरुषः । यदा तामसाहङ्कारयोगः स्यात् तदा न कश्चन स्वप्नं पश्यति । नन्वेवमपि दारुणान् स्वप्नान् दृष्ट्वापि जीवन् अस्तीति दृश्यते इत्यत आह—सफलानफलांस्तथेति । एतान् दारुणान् स्वप्नान् सफलान् अफलाञ्च पश्यति । योऽफलान् पश्यति स जीवति, यः सफलान् स म्रियते एवेति भावः । ननु कस्मात् स्वप्नाः सफलाश्चाफलाश्च भवन्त्येकविधत्वादात्मन इत्यत आह—इन्द्रियेशेनेत्यादि । मनसा इन्द्रियेशेन दशेन्द्रियप्रेरकेण मनसानेकधा स्वप्नान् पुरुषः पश्यति ॥ ३१ ॥

गङ्गाधरः—ननु कीदृशा अनेकधा स्वप्ना इत्यत आह—दृष्टमित्यादि । श्रुत-श्रुतानुभूतञ्च तत्तथा । एकं स्वप्नं दृष्टं विदुः । द्वितीयं श्रुतम् । तृतीयमनुभूतं मनसा चिन्तितं तर्कितं व्याख्यातमित्यादिकम् । चतुर्थं प्रार्थितं पूर्वं मनसा वाचा वा यद् याचितम् । पञ्चमं कल्पितं मनसाऽप्राप्याप्राप्यत्वादिरूपेण यन्मनसा

त्रिभिरपीत्यर्थः । तेन पृथक् चापि दोषैः पूरणं ज्ञेयम् । नातिप्रसुप्त इति नातिनिद्राभिभूत इत्यर्थः । इन्द्रियेशेनेति इन्द्रियप्रेरकेण ॥ ३०३१ ॥

चक्रपाणिः—स्वप्नानां फलवत्त्वज्ञोक्तं स्वप्नप्रकारानाह—दृष्टमित्यादि । दृष्टमिति चक्षुषा, अनुभूतस्तु शेषेन्द्रियज्ञातम् । कल्पितमिति मनसा भावितम् । प्रार्थितं याच्नाविषयकृतम् । भाविकमिति भाविशुभाशुभफलसूचकम् । दोषजमिति उल्वणवातादिदोषजन्यम् ॥ ३२ ॥

तत्र पञ्चविधं पूर्व्वसफलं भिषगादिशेत् ।

दिवास्वप्नमतिह्रस्वमतिदीर्घं तथैव च ॥ ३३ ॥

दृष्टः प्रथमरात्रे यः स्वप्नः सोऽल्पफलो भवेत् ।

न स्वपेद् यः पुनर्दृष्टा स सद्यः स्यान्महाफलः ॥ ३४ ॥

अकल्याणमपि स्वप्नं दृष्ट्वा तत्रैव यः पुनः ।

पश्येत् सौम्यं शुभाकारं तस्य विद्याच्छुभं फलम् ॥ ३५ ॥

वल्गुक्रियते पूर्व्वं तत् । भाविकं भविष्यन्तं पण्डितम् । दोषजं वातादिदोषभवं सप्तमं विदुः । इति सप्तविधं स्वप्नं विदुः ॥ ३२ ॥

गङ्गाधरः—तत्रेत्यादि । तत्र पञ्चविधं पूर्व्वं दृष्टं श्रुतम् अनुभूतं प्रार्थितं कल्पितञ्चेति पञ्चविधमफलं भिषगादिशेत् । शेषां भाविकदोषजौ सफलौ । तत्राप्याह—दिवेत्यादि । भाविकं वा दोषजं वा दिवा यदि पश्यति तदाप्यफलं विदुः । यदि वा भाविकं दोषजं वा स्वप्नं रात्रावतिह्रस्वं स्वल्परूपेण पश्यति तदा तमप्यफलं विदुः । यदि वातिदीर्घं रात्रौ भाविकं दोषजं वा स्वप्नं पश्यति तदा तमप्यफलं विदुस्त्वर्थस्तथैवेत्यस्य ॥ ३३ ॥

गङ्गाधरः—नन्वेभ्योऽतिरिक्ताः सर्व्वे फलवन्तः सन्तु न कथं सर्व्वदा फलन्ति इत्यत आह—दृष्ट इत्यादि । प्रथमरात्रे प्रहररात्राभ्यन्तरे सोऽल्पफलश्चिर-फलश्च । स्वप्ने तु प्रथमे यामे वत्सरेण फलं लभेत् इति तत्रान्तरवचनात् । एतेन द्वितीय-तृतीय-चतुर्थयामेपृत्तरोत्तरं फलाधिवयं स्वल्पकालश्च ख्यापितः । तत्रापि स्वल्पफलत्वमाह—न स्वपेदित्यादि । यः स्वप्नं दृष्ट्वा पुनर्न स्वपेत् न निद्रां गच्छेत् स सद्यस्त्रिरात्रेण महाफलः स्यात् महाफलप्राप्तः स्यात् । एतेन स्वप्नं शुभं वाशुभं दृष्ट्वा पुनर्निद्रागमे स्वल्पफलः चिरेण फलहानिर्वा भवतीति ख्यापितम् ॥ ३४ ॥

गङ्गाधरः—ननु पुनरपि निद्रागतो यदि पूर्व्वस्वप्नविरोधिस्वप्नं पश्येत्, तदा किं स्यादित्यत आह—अकल्याणमपीत्यादि । यद्यकल्याणं कल्याणं चकपाणिः—पूर्व्वं दृष्टादिकल्पितान्तं पञ्चविधस्वप्नमफलं फलशून्यत्वादिति पारिशेष्याद् भाविकं दोषजन्यञ्च सफलम् । तत्र भाविकं शुभाशुभरूपतया शुभाशुभफलप्रदम् । यत्तु दोषजन्यं तद् दोषप्रकोपजन्यव्याधिरूपफलसूचकतया सफलम् । अफलस्वप्नान्तरमाह—दिवा-स्वप्नमित्यादि । दिवादृष्टं सर्व्वं स्वप्नम् तथा रात्रिदृष्टातिदीर्घमतिह्रस्वञ्च स्वप्नमफलं

वा स्वप्नं पूर्वं दृष्ट्वा तत्रैव स्वप्ने शुभाकारं सौम्यं न तदशुभाकारं स्वप्नं पश्येत् । तस्य शेषस्वप्नफलं शुभं स्यात् । सुतरां जागरित्वा पुनर्निद्रायां शुभस्वप्न-दर्शनस्य शुभमेव फलं लभ्यते । एतेन शेषस्वप्नो गरीयानिति ख्यापितः ।

इत्थञ्चापरिसङ्ख्येयाः स्वप्ना द्विधा, कतिचिच्छुभाः कतिचित् अशुभा-स्तत्रास्मिंस्तन्त्रेऽशुभाः कतिचिदुपदिष्टा अरिष्टाधिकारात् । अपरे तु अशुभाः शुभाश्च कतिचित् तन्त्रान्तरतोऽवगन्तव्याः । सुश्रुते तु अशुभाः शुभाश्च कतिचिदुक्तास्तत्र कतिचिदशुभा यथा—स्वप्नानतः प्रवक्ष्यामि मरणाय शुभाय च । सुहृदो यांश्च पश्यन्ति व्याधितो वा स्वयं तथा ॥ स्नेहाभ्यक्त-शरीरस्तु करमव्यालर्गर्भैः । वराहैर्महिषैर्वापि यो यायाद् दक्षिणामुखः ॥ रक्ताम्बरधरा कृष्णा हसन्ती मुक्तमूर्द्धजा । यं वा कर्षति वद्धा स्त्री नृत्यन्ती दक्षिणामुखम् ॥ अन्त्यावसायिभिर्यो वा कृष्यते दक्षिणामुखः । परिष्वजेरन् यं वापि प्रेताः प्रव्रजितास्तथा ॥ मूर्द्धन्याघ्रायते यस्तु श्वापदैर्विकृताननैः । पिवेन्मधु च तैलञ्च यो वा पङ्केऽवसीदति ॥ पङ्कप्रदिग्धगात्रो वा प्रनृत्येत् प्रहसेत् तथा । निरम्बरश्च यो रक्तां धारयेच्चिरसि स्रजम् ॥ यस्य वंशो नलो-धापि तालो वोरसि जायते । यं वा मतस्यो ग्रसेद् यो वा जननीं प्रविशेन्नरः ॥ पर्वताग्रात् पतेद् यो वा श्वभ्रो वा तमसावृते । ह्रियते स्रोतसा यो वा यो वा मौण्ड्यमवाप्नुयात् ॥ पराजीयेत वध्येत काकादैर्वाभिभूयते । पतनं तारकादीनां प्रणाजं दीपचक्षुषोः ॥ यः पश्येद् देवतानां वा प्रकम्पमवने-स्तथा । यस्य छद्दिर्विरेको वा दशनाः प्रपतन्ति वा ॥ शाल्मलीं किंशुकं यूपं बल्मीकं पारिभद्रकम् । पुष्पाढ्यं कोविदारं वा चितां वा योऽधिरोहति ॥ कार्पासतैलपिण्याक-लोहानि लवणं तिलान् । लभेताश्रीत वा पक्कमन्नं यश्च पिवेत् सुराम् । स्वस्थः स लभते व्याधिं व्याधितो मृत्युमृच्छति ॥ यथास्वं प्रकृतिस्वप्नो विस्मृतो विहतश्च यः । चिन्ताकृतो दिवादृष्टो भवन्त्यफलदास्तु ते ॥ ज्वरितानां शुना सख्यं कपिसख्यन्तु शोषिणाम् । उन्मादे राक्षसः प्रेतैः अपस्मारे प्रवर्त्तनम् । मेहातिसारिणां तोय-पानं स्नेहस्य कुष्ठिनाम् ॥ गुल्मेऽपिपासयोः । हरिद्राभोजनं वापि यस्य स्यात् पाण्डुरोगिणः । रक्तपित्ती-पिवेद् यस्तु शोणितं स चिन्तयति ॥ स्वप्नानेवंविधान् दृष्ट्वा प्रातस्तथाय यत्रवान् । दद्यान्मापांस्तिलान् लोहं विप्रेभ्यः काञ्चनं तथा । जपेच्चापि पुमान् विद्यात् । अत्र बाध्याये येषामेव स्वप्नरूपरिष्टसम्भवः त एषोक्ताः । तेन ग्रहण्यादीनां किमिति

तत्र श्लोकः ।

पूर्वरूपाण्यथ स्वप्नान् य इमान् वेत्ति दारुणान् ।

न स मोहादसाध्येषु कर्माण्यारभते भिषक् ॥ ३६ ॥

इत्यग्निवेशकृतौ तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने

पूर्वरूपीयमिन्द्रियं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

मन्त्रान् गायत्रीं त्रिपदां तथा । दृष्ट्वा च प्रथमे यामे सुष्याद् ध्यात्वा पुनः शुभम् ॥  
जपेद्द्वान्यतमं देवं ब्रह्मचारी समाहितः । न चाचक्षीत कस्मैचिद् दृष्टं स्वप्न-  
मशोभनम् ॥ देवतायतने चैव वसेद् रात्रित्रयं तथा । विप्रांश्च पूजयेन्नित्यं  
दुःस्वप्नात् प्रविमुच्यते ॥ अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्रशस्तं स्वप्नदर्शनम् । देवान् द्विजान्  
गोवृषभान् जीवतः सुहृदो नृपान् ॥ समिद्धमग्निं विप्रांश्च निर्मलानि जलानि  
च । पश्येत् कल्याणलाभाय व्याधेरपगमाय च । मांसं मत्स्यान् सृजः श्वेताः  
वासांसि च फलानि च । लभन्ते धनलाभाय व्याधेरपगमाय च । महाप्रासाद-  
सफल-वृक्षवारणपर्वतान् । आरोहेद् द्रव्यलाभाय व्याधेरपगमाय च । नदी-  
नदसमुद्रांश्च क्षुभितान् कलुषोदकान् । तरेत् कल्याणलाभाय व्याधेरपगमाय  
च । उरगो वा जलौको वा भ्रमरो वापि यं दृशेत् । आरोग्यं निदिजेत् तस्य  
धनलाभश्च बुद्धिमान् । एवरूपान् शुभान् स्वप्नान् यः पश्येद्व्याधितो नरः । स  
दीर्घायुरिति ह्येस्तस्मै कर्म समाचरेत् ॥ इति ॥ ३५ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायाशिपमाह—तत्र श्लोक इति । पूर्वरूपाणीत्यादि ।  
एतदध्यायोक्तानि पूर्वरूपाणि इमान् इत्यस्य लिङ्गविपर्ययेणान्वयात् । स  
मोहात् अज्ञानात् ॥ ३६ ॥

अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि ॥

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतराविन्द्रिय-  
स्थानजल्पे पञ्चमस्कन्धे पूर्वरूपीयेन्द्रियजल्पाख्या पञ्चमी शाखा ॥ ५ ॥  
न स्वप्नारिष्टानि, इत्यादि न वाच्यम् । तत्र रिष्टासम्भावादेवानभिधानं ज्ञेयम् । “दृष्टः प्रथमयामेयः”  
इत्यादिग्रन्थं केचिदत्र पठन्ति, स व्यक्तार्थ एव ॥ ३३—३६ ॥

इति महामहोपाध्याय-चरकचतुरानन-श्रीमच्छक्रपाणिदत्तविरचितायामयुर्वेददीपिकायां  
चरकतात्पर्यटीकायाम् इन्द्रियस्थाने पूर्वरूपीयमिन्द्रियं  
नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

## षष्ठोऽध्यायः ।

अथातः कतमानिशरीरीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

कतमानि शरीराणि व्याधिमन्ति महामुने !

यानि वैद्यः परिहरेद्वेषु कर्म न सिध्यति ॥

इत्यग्निवेशेन गुरुः प्रश्नं पृष्टः पुनर्व्वसुः ।

आचक्षते यथा तस्मै भगवांस्तन्निबोधत ॥ २ ॥

यस्य वै भाषमाणस्य रुजत्पूङ्खुरो भृशम् ।

अन्नं वा च्यवतेऽपक्वं स्थितं वापि न जीर्यति ॥

गङ्गाधरः—अथ पूर्व्वरूपीयेन्द्रियव्याख्यानन्तरं स्थानविशेषे व्याधि-  
विशेषतोऽरिष्टं व्याख्यातुं कतमानिशरीरीयमिन्द्रियं व्याख्यायते—अथात  
इत्यादि । कतमानि शरीराणि व्याधिमन्तीत्यादि । श्लोकार्थं कतमानि  
शरीराण्यधिकृत्य कृतमित्यर्थे कतमानिशरीरीयमिति ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—कतमानीत्यादि । हे महामुने गुरो ! येषु व्याधिमत्सु शरीरेषु  
चिकित्सितं कर्म न सिध्यति, तानि कतमानि व्याधिमन्ति शरीराणि  
भवन्ति, यानि शरीराणि व्याधिमन्ति वैद्यः परिहरेदरिष्टत्वान्न चिकित्सेदिति  
प्रश्नमग्निवेशेन शिष्येण पृष्टो भगवान् पुनर्व्वसुर्गुरुस्तस्मै अग्निवेशाय यथा  
आचक्षते तन्निबोधत ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—यस्येत्यादि । भाषमाणस्य वाक्यं वदत एव यस्य ऊर्द्धमुरो  
वक्षसं ऊर्द्धदेशो भृशं रुजति व्यथते, न त्वभाषमाणस्य तं भिषक् परिवर्ज्जयेत् ।  
यस्य भुक्तमपक्वमन्नं च्यवते गुदात् निर्गच्छति, अथवा यस्य भुक्तमन्नमुदरे

चक्रपाणिः—सम्प्रति पूर्व्वरूपीयानन्तरं भावव्याध्याश्रयारिष्टमिधानार्थं कतमानिशरीरीय-  
मिन्द्रियमुच्यते । कतमानि शरीराण्यधिकृत्य कृतं कतमानिशरीरीयम् । प्रश्नमिति पृच्छाविषयम् ।  
ऊर्द्धमुर इति उरऊर्द्धभाग इत्यर्थः । एतदध्यायप्रतिपाद्यानाञ्जासाध्यव्याधीनां मरणसूचकेन

बलञ्च हीयते शीघ्रं तृष्णा चातिप्रवर्द्धते ।  
 जायते हृदि शूलञ्च तं भिषक् परिवर्जयेत् ॥ ३ ॥  
 हिक्का गम्भीरजा यस्य शोणितञ्चातिसार्यते ।  
 न तस्मा औषधं दद्यात् स्मरन्नात्रेयशासनम् ॥ ४ ॥  
 आनाहश्चातिसारश्च यमेतौ दुर्व्वलं नरम् ।  
 व्याधितं विशतो रोगौ दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ ५ ॥  
 आनाहश्चातिसारश्च कर्पितं यमुभौ भृशम् ।  
 विशतो विजहत्येनं प्राणा नातिचिरान्नरम् ॥ ६ ॥

स्थितमपि न जीर्यति, बलञ्च हीयते, शीघ्रं तृष्णा चातिप्रवर्द्धते, हृदि च शूलं जायते, तं नरं भिषक् परिवर्जयेत् ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—हिक्का इत्यादि । गम्भीरजा नाभिप्रवृत्ता गम्भीरा नाम हिक्का यस्य तस्यैव शोणितातिसारश्चेत् ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—आनाह इत्यादि । आनाहो विड्विन्धव्याधिः स्वनामाख्यातस्तत्रातिसारश्चेत् तदा एतौ द्वौ मिथो विरुद्धौ यं दुर्व्वलं व्याधितं नरं प्रविशतस्तस्य दुर्लभं जीवितं स्यात्, न तु प्रबलस्य नापि स्वस्थस्य ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—एवमानाहश्चेत्यादि व्याख्येयम् । कर्पितं व्याधिभिर्वा धनवान्धवक्षयोपवासादितो वा, इति पूर्व्वस्माद्भेदः । नातिचिरादिति शीघ्रमित्यर्थः ॥ ६ ॥

अरिष्टेन समं मरणसूचकतया साधर्म्योदरिष्टानामपि व्याधीनामभिधानमिह ब्रूते । यदि एत एवासाध्यव्याधयो मरणपूर्व्वरूपतया रिष्टरूपा एव भवन्ति, तथापि न कदाचित् क्षतिः । तेनारिष्टाधिकारादरिष्टत्वमेव एतदध्यायवाच्यानामपि व्याधीनामिच्छामः ॥ १—३ ॥

चक्रपाणिः—गम्भीरजा इति गम्भीरनाभ्यादिदेशजा न तु गम्भीरा; तस्याः स्वरूपासाध्यत्वेनोक्तत्वात् । ‘शोणितञ्चातिसार्यते’ इति विशेषणमनर्थकं स्यात् । व्याधितमित्यनेन हि रक्तातिसारारिष्टव्याधिगृहीतमिति दर्शयति । आनाहातिसारयो रोगत्वेनापि ‘रोग’विशेषणं विशेषेण

ज्वरः पौष्वाह्निको यस्य शुष्ककासश्च दारुणः ।  
 वलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ ७ ॥  
 ज्वरो यस्यापराह्णे तु श्लेष्मकासश्च दारुणः ।  
 वलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ ८ ॥  
 यस्य मूत्रं पुरीषश्च ग्रथितं संप्रवर्तते ।  
 निरुष्मणो जठरिणः श्वसतो न स जीवति ॥ ९ ॥  
 श्वयथुर्यस्य कुक्षिस्थो हस्तपादं विसर्पति ।  
 ज्ञातिसङ्घं स संक्लेश्य तेन रोगेण हन्यते ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—ज्वर इत्यादि । पौष्वाह्निको दिवापूर्वदशदण्डाभ्यन्तरे ज्वरस्य भोगावग्रेषस्तत्र कफकाले । दारुणः कष्टदः । शुष्ककासो वातकर्म । इति अचिन्त्यलक्षणम् । वलमांसहीनस्य मरणाय, वलमांसवतस्तु कष्टेन जीवनमिति भावः । एवं ज्वरो यस्यापराह्णे त्विति व्याख्येयम् ॥ ७ । ८ ॥

गङ्गाधरः—यस्येत्यादि । मूत्रं ग्रथितं ग्रन्थिलवत्, पुरीषश्च ग्रथितं यस्य श्वसतः श्वासं कुर्वतः, निरुष्मणो मन्दाग्नेर्जठरिण उदररोगिणः संप्रवर्तते, स न जीवति ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—श्वयथुरित्यादि । यस्य कुक्षिस्थ उदरगतः श्वयथुः क्रमेण हस्तपादं विसर्पति, तेन श्वयथुरोगेण स चिरकालं तदार्तः सन् नानाविध-परिचर्याभिर्ज्ञातिसङ्घं संक्लेश्य क्लेशं दत्त्वा तेन रोगेण हन्यते अत्रिते इत्यर्थः ॥ १० ॥

रुजाकर्तृत्वोपदर्शनार्थम् । इहालभ्य एव जीविते 'दुर्लभम्' इत्युक्तम् । यदाह—सर्वथालभ्यं दुर्लभमिति । अन्ये तु 'दुर्लभमापया' अनियतं मरणे रिष्टमिति ब्रुवते, एवं "संशयप्राप्तमात्रेयो जीवितं तस्य मन्यते" इत्यादावपि व्याख्यानयन्ति । अनियतरिष्टता स्वरसतस्त्वस्माभिः पुष्पितक एवोक्ता । "संशयप्राप्तमात्रेयो जीवितं तस्य मन्यते" इत्यस्य चार्थं यस्यस्यावनिमित्तीये वक्ष्यामः ॥ ४—८ ॥

चक्रपाणिः—मूत्रं ग्रथितमिति घनीमृतं ज्ञेयम् । ज्ञातिसङ्घं स संक्लेश्येतिवचनेन चिरमस्य रोगोऽनुवर्तते । ततः प्रत्याशया ज्ञातयस्तत्प्रतीकारार्थं क्लिश्यन्ति, ततस्तु म्रियत एव न प्रतिकर्तुं पार्यते ॥ ९।१० ॥

श्वयथुर्यस्य पादस्थस्तथा स्रस्ते च पिण्डके ।  
 सीदतश्चाप्युभे जङ्घे तं भिषक् परिवर्जयेत् ॥ ११ ॥  
 शूनहस्तं शूनपादं शूनगुह्योदरं नरम् ।  
 हीनवर्णवलाहारमौपधैर्नोपपादयेत् ॥ १२ ॥  
 उरोयुक्तो बहुश्लेष्मा नीलः पीतः सलोहितः ।  
 सततं च्यवते यस्य दूरात् तं परिवर्जयेत् ॥ १३ ॥  
 हृष्टरोना सान्द्रमूत्रः शुष्क-ॐ-कासज्वरार्दितः ।  
 जीणमांसो नरो दूराद् वज्ज्यो वैद्येन जानता ॥ १४ ॥  
 त्रयः प्रकुपिता यस्य दोषाः कोष्ठेऽभिलक्षिताः † ।  
 कृशस्य बलहीनस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम् ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—श्वयथुर्यस्येत्यादि । यस्य पादस्थः श्वयथुः पिण्डके जान्वधो-  
 मांसपिण्डद्वयञ्च स्रस्ते अथस्तालम्बितं भवति, उभे द्वे च जङ्घे सीदतोऽवसन्ने  
 भवतस्तं भिषक् परिवर्जयेत् ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—शूनेत्यादि । यस्य हस्ते शोधः पादे च शोधः गुह्योदरयोश्च  
 शोधः, हीनाश्च बलवर्णाहारास्तमौपधैर्नोपपादयेत्, स मरिष्यतीति  
 भावः ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—उर इत्यादि । यस्य उरसि वक्षसि युक्तो लग्नो बहुश्लेष्मा  
 उत्कासादिना तस्मादुरसः सततं सलोहितो नीलो वा सलोहितः पीतो वा  
 च्यवते, तं दूरात् परिवर्जयेत् ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—हृष्टरोमेत्यादि । सान्द्रमूत्रो घनं मूत्रं यस्य सः ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—त्रय इत्यादि । कोष्ठे मलमूत्ररुधिराद्याशये हृदुण्डुकादिषु च ।  
 अकृशस्य बलवतो वा । न तस्य चिकित्सितमस्तीति भावः ॥ १५ ॥

चक्रपाणिः—पिण्डके इति जङ्घां सपिण्डके । उरोयुक्त इति उरोभवत्वेन रोगोऽनुमीय-  
 मानः । कष्टाभिलक्षिता इति दुरुपक्रमत्वेन ज्ञाताः । किंवा कोष्ठाभिलक्षिता इति पाठः, स व्यक्त

\* शून इति पाठान्तरम् ।

† कष्टाभिलक्षिता इति चक्रः ।



ज्वरातिसारौ शोफान्ते श्वयथुर्वा तयोः क्षये ।  
 दुर्बलस्य विशेषेण नरस्यान्ताय जायते ॥ १६ ॥  
 पाण्डुरश्च कृशोऽत्यर्थं तृणयातिपरिप्लुतः ।  
 डम्बरी कुपितोच्छ्वासः प्रत्याख्येयो विजानता ॥ १७ ॥  
 हनुमन्याग्रहस्तृण्णा बलहासोऽतिमात्रया ।  
 प्राणाश्चोरसि वर्तन्ते यस्य तं परिवर्जयेत् ॥ १८ ॥  
 व्यायच्छते ताम्यति च शर्म किञ्चिन्न विन्दति ।  
 क्षीणमांसवलाहारो मुमूर्षुश्चिरान्नरः ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—ज्वरेत्यादि । यस्य शोफान्ते पूर्वं शोथो भूत्वा निवृत्तौ ज्वरातिसारौ च युगपज्जायेते, तस्य नरस्यान्ताय नाशाय व्योध्यौ । स यदि दुर्बलस्तदा किमत्र वचः । नरस्य तयोः क्षये पूर्वं ज्वरातिसारौ द्वावेव भूत्वा निवृत्तौ श्वयथुश्चान्ताय जायते भवति, दुर्बलस्य तस्य विशेषेणाचिरादेवान्ताय जायते इत्यर्थः ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—पाण्डुर इत्यादि । पाण्डुरः पाण्डुरोगवान् योऽत्यर्थं कृशस्तृणया चात्यर्थं परिप्लुतः । डम्बरी आडम्बरवान् स्तब्धाक्षः सन्नवलोकयति संरम्भेण वा पश्यति । कुपितोच्छ्वासः श्वासरोगवान् प्रत्याख्येयस्त्याज्यः ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—हनुमन्येत्यादि । यस्य हनुग्रहो मन्याग्रहस्तृण्णा तथातिमात्रया बलहासः प्राणा उरसि वर्तन्ते इत्येवं लक्ष्यते, तेन प्राणनिर्गमोन्मुखत्वमाख्यायते तं परिवर्जयेत् ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—व्यायच्छते इत्यादि । यो व्यायच्छते व्यायामं कुरुते तेन व्यायामेन ताम्यति ग्लायति न किञ्चित् शर्म सुखं विन्दति क्षीणमांसादिश्च भवति, स नरोऽचिरान्मुमूर्षु भवति ॥ १९ ॥

एव । डम्बरी स्तब्धाक्षवलोकौ, किंवा डम्बरी संरम्भवान् । कुपित उच्छ्वासो यस्य कुपितोच्छ्वासः ॥ ११—१७ ॥

चक्रपाणिः—प्राणाश्चोरसि वर्तन्ते इति वायव उरसि प्रकुपिता वहन्ति । यदि तु जीवित प्राणा इहोच्यन्ते, तदा तस्योरसि वर्तन्ते मृत एव पुरुषो भवति । ततश्च तस्मिन् काले रिष्टेनासाध्यतां ज्ञात्वा रोगपरित्यागे वैद्यस्याप्रसिद्धिर्भवत्येवेति कृत्वा प्राणा वायव इहोच्यन्ते इति ब्रुवते । वयन्तु ब्रूमः सद्योमरणीयारिष्टवदेतत् प्रत्यासन्नमृत्युगमकमेव भविष्यतीति ॥ १८ ॥

विरुद्धयोनयो यस्य विरुद्धोपक्रमा भृशम् ।

जायन्ते दारुणा रोगाः शीघ्रं शीघ्रं स हन्यते ॥ २० ॥

बलं विज्ञानमारोग्यं ग्रहणी मांससारिणी ॐ ।

एतानि यस्य हीयन्ते क्षिप्रं क्षिप्रं स हीयते ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—विरुद्धेत्यादि । यस्य विरुद्धयोनयो योनीनां परस्परं विरोधिता येषां ते विरुद्धयोनयो रोगाः । ते च वातपित्तश्लेष्मजसान्निपातिकादयो रोगा भवन्ति, न च ते मारकाऽकस्मादित्यत आह—विरुद्धोपक्रमा भृशमिति । योनीनां परस्परविरुद्धत्वेऽपि न क्षतिर्यदि तेषां रोगाणामपि दोषदूष्यतो विरुद्ध उपक्रमः स्यात् । यथाधोगरक्तपित्तं वातानुगपित्तजं, विरेकसार्धं पित्तं तच्च नाधोगरक्त-पित्तहितमिति उभयगं वा । तत्र ते यदि दारुणाः कष्टदाः शीघ्रं जायन्ते तदा तै रोगैः स शीघ्रं हन्यते । इत्यनुक्तसर्वरोगारिष्टं व्याख्यातम् ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—बलमित्यादि । मांससारिणी ग्रहणी मांससन्निविष्टा ग्रहणी नाडी अर्थाज्जठराग्निः । एतानि यस्य हीयन्ते तस्य जीवितं मृत्युर्हरीतीति । एतेन स्मृतिमेधाप्रकृतिबलपरीक्षा व्याख्याता । इति व्याधीनां रूपतः परीक्षाः व्याख्याताः । सुश्रुतेऽप्यवारणीयेऽध्याये यथा—उपद्रवैस्तु ये जुष्टा व्याधयो यान्त्यवाय्यताम् । रसायनाद्विना वत्स तान् शृण्वेकमना मम ॥ वातव्याधिः प्रमेहश्च कुष्ठमर्शो भगन्दरः । अश्मरी मूढगर्भश्च तथंबोदरमष्टमम् । अष्टावेते प्रकृत्यैव दुश्चिकित्स्या महागदाः ॥ प्राणमांसक्षयश्वास-तृष्णाशोपवमिज्वरैः । मूर्च्छातिसारहिक्काभिः पुनश्चैतैरुपद्रुताः । वर्जनीया विशेषेण भिषजा सिद्धि-मिच्छता ॥ शूनं सुप्तत्वं भग्नं कम्पाध्माननिपीडितम् । रुजार्त्तिमन्तश्च नरं वातव्याधिर्विनाशयेत् ॥ यथोक्तोपद्रवारिष्टमतिप्रसू तमेव वा । पिङ्गकापीडितं गाढं प्रमेहो हन्ति मानवम् ॥ प्रभिन्नं प्रसू तान् रक्तनेत्रं हतस्वरम् । पञ्चकर्म-गुणातीतं कुष्ठं हन्तीह कुष्ठिनम् ॥ तृष्णारोचकशूलार्त्तमतिप्रसू तशोणितम् । शोफातिसारसंयुक्तमर्शोव्याधिर्विनाशयेत् ॥ वातमूत्रपुरीषाणि क्रिमयः शुक्रमेव च । भगन्दरात् प्रसू वन्ति यस्य तं परिवर्जयेत् ॥ प्रशूननाभिद्विपणं वद्ध-

चक्रपाणिः—आयच्छते अङ्गानि क्षिपति । विरुद्धयोनय इति परस्परविरुद्धधर्माणः । विरुद्धयोनयोऽपि स्वल्पतयैकभूततया वा अविरुद्धोपक्रमा अपि भवन्तीत्यत उक्तं विरुद्धोपक्रमा इति ।

\* मांसशोणितमिति चक्रः ।

मूत्रं रुजार्दितम् । अश्मरी क्षपयत्याशु सिकता शर्करान्विता ॥ गर्भकोपपरासङ्गो  
मकल्लो योनिसंघृतिः । हन्यात् स्त्रियं मूढगर्भो यथोक्ताश्चाप्युपद्रवाः ॥ पार्श्व-  
भङ्गान्नविद्वेष-शोफातिसारपीडितम् । विरिक्तं पूर्यमाणश्च वर्जयेदुदरार्दितम् ॥  
यस्ताम्यति विसंघश्च शेते निपतितोऽपि वा । शीतार्दितोऽन्तरुणश्च ज्वरेण म्रियते  
नरः ॥ यो हृष्टरोमा रक्ताक्षो हृदि सङ्घातशूलवान् । नित्यं वक्त्रेण चोच्छ्रंस्यात् तं  
ज्वरो हन्ति मानवम् ॥ हिकाश्वासपिपासात्तं मूढं विभ्रान्तलोचनम् । सन्ततो-  
च्छासिनं क्षीणं नरं क्षपयति ज्वरः ॥ आविलाक्षं प्रताम्यन्तं निद्रायुक्तमतीव च ।  
क्षीणशोणितमांसश्च नरं क्षपयति ज्वरः ॥ श्वासशूलपिपासात्तं क्षीणं ज्वर-  
निपीडितम् । विज्ञेयेन नरं वृद्धमतीसारो विनाशयेत् ॥ शुक्लाक्षमन्त्रद्वेष्टार-  
मूढश्चासनिपीडितम् । कृच्छ्रेण बहु मेहन्तं यक्ष्मा हन्तीह मानवम् ॥  
श्वासशूलपिपासान्न-विद्वेषग्रन्थिमूढताः । भवन्ति दुर्व्वलश्च गुल्मिनो  
मृत्युमेष्यतः ॥ आध्मानं बहु निष्यन्दं छर्दिहिकातृड्दितम् । रुजाश्वाससमाविष्टं  
विद्रधिर्नाशयेन्नरम् ॥ पाण्डुदन्तनखो यस्तु पाण्डुनेत्रश्च मानवः । पाण्डसंघात-  
दर्शी च पाण्डुरोगी विनश्यति ॥ लोहितं छर्दयेद् यस्तु बहुशो लोहितेक्षणः ।  
रक्तानाश्च दिशां द्रष्टा रक्तपित्ती विनश्यति ॥ अवाङ्मुखस्तून्मुखो वा क्षीण-  
मांसवलो नरः । जागरिष्णुरसन्देहमुन्मादेन विनश्यति ॥ बहुशोऽपस्सरन्तनु  
प्रक्षीणं चलितभ्रुवम् । नेत्राभ्याश्च विकुर्वाणमपस्सारो विनाशयेत् ॥ इति ।  
तथा विपरीताविपरीतव्रणविघ्नानीयेऽपि । गन्धवर्णरसादीनां विशेषाणां  
समासतः । वैकृतं यत् तदाचष्टे व्रणिनः पक्वलक्षणम् ॥ कटुस्तीक्ष्णश्च विस्रश्च  
गन्धस्तु पवनादिभिः । लोहगन्धस्तु रक्तेन व्यामिश्रः सान्निपातिकः ॥  
लाजातसीतैलसमाः किञ्चिद्विस्त्रास्तु गन्धतः । श्लेयाः प्रकृतिगन्धाः स्युरतो-  
ऽन्यद् गन्धवैकृतम् । मद्यागुर्वाज्यसुमनः-पद्मचन्दनचम्पकैः । सगन्धा दिव्यगन्धा  
वा मुमूर्षूणां व्रणाः स्मृताः । श्ववाजिमृपिकध्वाङ्ग-पूतिवल्लूरमतकुणैः । सगन्धाः  
पङ्कगन्धाश्च भूमिगन्धाश्च गहिताः । ध्यामकुङ्कुमकङ्कुष्ठ-सवर्णाः पित्तकोपतः ।  
न दहन्ते न चूष्यन्ते भिषक् तान् परिवर्जयेत् । कण्डूमन्तः स्थिराः श्वेताः  
स्निग्धाः कफनिमित्ततः । दूयन्ते च विदहन्ते भिषक् तान् परिवर्जयेत् ।  
कृष्णास्तु ये तनुस्तावा वातजा मर्मतापिनः । खल्वपामपि न कुर्वन्ति रुजं  
तान् परिवर्जयेत् । क्ष्वेदन्ति घुर्घुरायन्ते ज्वलन्तीव च ये व्रणाः । लङ्मांस-  
स्थाश्च पवनं सशब्दं विसृजन्ति ये । ये च मर्मस्वसम्भूता भवन्त्यत्यर्थवेदनाः ।  
दहन्ते चान्तरत्यर्थं वहिः शीताश्च ये व्रणाः । दहन्ते वहिरत्यर्थं भवन्त्यन्तश्च

विकारा यस्य वर्ज्यन्ते प्रकृतिः परिहीयते ।

सहसा सहसा तस्य मृत्युर्हरति जीवितम् ॥ २२ ॥

तत्र श्लोकः ।

इत्येतानि शरीराणि व्याधिमन्ति विवर्जयेत् ।

न ह्येषु धीराः पर्यन्ति सिद्धिं काश्चिदुपक्रमात् ॥ २३ ॥

इत्यसिवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतै इन्द्रियस्थाने कतमानि-  
शरीरीयमिन्द्रियं नाम पष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

शीतलाः । शक्तिकुन्तध्वजस्था वाजिवारणगोवृषाः । येषु चाप्यवभासेरन्  
प्रासादाकृतयस्तथा । चूर्णावकीर्णा इव ये भान्ति वा न च चर्णिताः । प्राण-  
मांसक्षयव्वास-कासारोचकपीडिताः । प्रष्टुपूयरुधिरा व्रणा येषाञ्च मम्भेष्टु ।  
क्रियाभिः सम्यगारब्धा न सिध्यन्ति च ये व्रणाः । वर्जयेत् तान् भिषक् प्राष्ठः  
संरक्षन्नात्मनो यशः ॥ इति ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—विकारा इत्यादि स्पष्टम् ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायाद्यमुपसहर्तुमाह—इत्येतानीत्यादि ॥ २३ ॥

अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि ।

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरत्नविरचिते चरकजल्पकल्पतराविन्द्रियस्थान-  
जल्पे पञ्चमस्कन्धे कतमानिशरीरीयेन्द्रियजल्पाख्या  
पष्ठी शाखा ॥ ६ ॥

आरोग्यं हीयत इति अत्रोक्तोगव्यतिरिक्तोगवृद्ध्या आरोग्यहानिर्योध्या । प्रकृतिः परिहीयत  
इति स्वभावसुखीलत्वादिरूपं क्षीयते । किंवा प्रकृतिर्जन्मप्रतिबद्धलेप्सप्रकृत्यादिरूपा  
हीयते ॥ १९—२३ ॥

इति महामहोपाध्याय-चरकचतुरानन-श्रीमद्यक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां चरक-  
तात्पर्यटीकायाम् इन्द्रियस्थाने कतमानिशरीरीयेन्द्रियं नाम पष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

## सप्तमोऽध्यायः ।

अथातः पन्नरूपीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

दृष्ट्वा \* यस्य विजानीयात् पन्नरूपां कुमारिकाम् ।

प्रतिच्छायामयीमक्ष्णोर्नैनमिच्छेच्चिकित्सितुम् ॥ २ ॥

ज्योत्स्नायामातपे दीपे सलिलादर्शयोरपि ।

अङ्गेषु विहृता यस्य च्छाया प्रेतस्तथाविधः ॥ ३ ॥

ङ्गाधरः—अथेत्यादि । अथ कतमानिशरीरीयेन्द्रियव्याख्यानन्तरमतः

शरीरीयत्वात् प्रतिच्छायादीनां परीक्षार्थं पन्नरूपीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ।  
गइत्यर्थः । पन्नं गतं विनष्टं रूपं यस्याः सा पन्नरूपा । तामधिकृत्य कृत इति  
पन्नरूपीयस्तं तथा । सर्व्वं पूर्व्ववत् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—दृष्ट्वेत्यादि । यस्याक्ष्णोः दृष्ट्वा भिषक् प्रतिच्छायामयीं स्वकीय-  
प्रतिविम्बमयीं कुमारिकां पुत्तलिकां पन्नरूपां विगतरूपां विजानीयात्, तमेनं  
पुरुषं चिकित्सितुं नेच्छेदसाध्यत्वात् ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—ज्योत्स्नायामित्यादि । यस्य अङ्गेषु ज्योत्स्नादिनिविष्टप्रति-  
विम्बरूपाङ्गेषु च्छाया छविर्विकृता विकृतिमापन्ना स्वरूपान्तरप्राप्ता, तथाविधः  
स प्रेतो मृत एवाचिरान्मृत्युत्वात् ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—व्याधिरूपानन्तरं वेदनोपद्रवौ सत्त्वस्वप्नौ च पूर्व्वोऽध्याय एव “शूलाटोपान्त्र-  
कृजश्च” इत्यादिना रिष्टरूपावुक्तावेवेति कृत्वा च्छायाप्रतिच्छायारूपारिष्टस्य क्रमप्राप्तस्याभिधायकं  
पन्नरूपीयमुच्यते । पन्नरूपामधिकृत्य कृतं पन्नरूपीयम् ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—पन्नरूपामिति नष्टरूपाम् । कुमारिकामिति पुरुषान्तरनयनगतां कुमारिकाम् ।  
किंवा आतुरनयनगतामेव । यदुक्तं हारीते—“अदर्शनमसंघाते नेत्र नष्टकुमारिके” इति ।  
प्रतिच्छायामयीमिति प्रतिच्छायारूपाम् ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—अन्यत्रापि च्छायाविकृतिमाह—ज्योत्स्नेत्यादि । अङ्गेषु विकृतेति शिरोबाहु-

\* दृष्टवाम् इति बहुषु ग्रन्थेषु पाठः ।

छिन्ना छिद्राकुला च्छाया हीना वाप्यधिकापि वा ।  
 नष्टा तन्वी द्विधाच्छिन्ना विकृता ॐ विशिराश्च या ॥  
 एताश्चान्याश्च याः काश्चित् प्रतिच्छाया विगर्हिताः ।  
 सत्त्वा मुसूर्पतां ज्ञेया न चेत्लक्ष्यनिमित्तजाः ॥ ४ ॥  
 संस्थानेन प्रमाणेन वर्णेन प्रभयापि वा ।  
 छाया विवर्तते यस्य स्वस्थोऽपि प्रेत एव सः ॥

गङ्गाधरः—अस्याः प्रतिच्छायायाः विकृतिमाह—छिन्नेत्यादि । यस्य ज्योत्स्नादिषु छाया प्रतिविम्बरूपा प्रतिच्छायेत्यर्थः छिन्ना विच्छिन्नरूपा, किंवा छिद्रा छिद्रवती, अथवा आकुला आविला अनिश्चितप्रतिविम्बरूपा, हीना वा केनापि अङ्गप्रत्यङ्गतः न्यूना, किंवा अधिका, अथवा नष्टा ज्योत्स्नादिषु च्छाया न दृश्यते, किंवा तन्वी अतिमृक्षरूपा, अथवा द्विधा-छिन्ना ज्योत्स्नादिषु द्विधाच्छेदवती दृश्यते । अथवा विकृता अननुकारिणी, किंवा विशिरा शिरोहीना । एता याः प्रतिच्छाया अन्या वा याः काश्चित् विगर्हिताः प्रतिच्छायाः सत्त्वाः एव ताः प्रतिच्छाया मुसूर्पतां ज्ञेयाः, चेद् यदि लक्ष्यनिमित्तजा न स्युः । लक्ष्या ज्योत्स्नादयस्तदोपनिमित्तजा न चेद्भवेयुरित्यर्थः । लक्ष्यदोषनिमित्तास्तु न रिष्टलक्षणम् इत्यर्थः ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—संस्थानेनेत्यादि । संस्थानमाकृतिः च्छाया स्वमूर्तिर्नात्र प्रति-  
 छाया, यस्य विवर्तते रूपान्तरत्वेन वर्तते स स्वस्थ आतुरोऽपि प्रेत एव ।

जह्वादिप्वधिकरणभूतेषु प्रतिच्छाया यस्य विकृता भवतीत्यर्थः । तेन व्यस्तसमस्ताङ्गविकृता च्छाया गृह्यते । अन्ये तु विभक्तिविपरिणामादङ्गानामिति व्याख्यानयन्ति, तथा च सुगम एवार्थः ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—एतानेव च्छायाविकृतिभेदानाह—छिन्नेत्यादि । आकुलेति अनिश्चितप्रतिविम्ब्या । विकृता विकृतानुकारिणी । यद्यप्यरिष्टाधिकारे अनिमित्तमेव यद् भवति तदरिष्टमुक्तम्, तथापि [नः स्पर्ष्टार्थं 'न चेत्लक्ष्यनिमित्तजा' इत्युक्तम् ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति च्छायारूपं सामान्येन दर्शयन् छायाश्रयारिष्टमाह—संस्थानेनेत्यादि । एतच्च प्रतिच्छायायाः समानं सूत्रम् । तत्र संस्थानेन प्रमाणेन च्छायायाः प्रतिच्छायायाः स्वरूप-

संस्थानमाकृतिज्ञेया सुषमा विषमा च या ।

मध्यमत्वं महच्चोक्तं प्रमाणं त्रिविधं नृणाम् ॥ ५ ॥

प्रतिप्रमाणसंस्थाना जलादर्शादिषु ।

छाया या सा प्रतिच्छाया या च वर्णप्रभाश्रया ॥ ६ ॥

खादीनां पञ्च पञ्चानां छाया विविधलक्षणाः ।

नाभसी निर्मला नीला सरनेहा सप्रभेव च ॥

रुक्षा श्यावारुणा या तु वायवी सा हतप्रभा ।

विशुद्धरक्ता त्वाग्नेयी दीप्ताभा दर्शनप्रिया ॥

संस्थानं विवृणोति—संस्थानमित्यादि । संस्थानमाकृतिर्नाम ज्ञेया सा चाकृतिः द्विविधा सुषमा विषमा च । सुषमा अविकृता शोभनरूपा, विषमा समाद्विगता नातिशोभना इत्यर्थः । प्रमाणं विवृणोति—मध्यमित्यादि ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—प्रतिच्छायां विवृणोति—प्रतीत्यादि । प्रमाणसंस्थानयोः प्रति सरूपा या छाया जलादिषु सा प्रतिच्छाया । एवं जलादिषु वर्णप्रभाश्रया वर्णप्रभयोरपि अनुरूपा या छाया सापि प्रतिच्छाया, छायामाह लोके ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—खादीनामित्यादि । खादीनां पञ्चानां भूतानां पञ्च छायाः संस्थानप्रमाणवर्णप्रभारूपविविधलक्षणाः । तद् यथा—तदाह नाभसीत्यादि । नाभसी छाया तु सा या नीला निर्मला सस्नेहा स्निग्धेत्यर्थः । सप्रभेव प्रभावतीव, न हि प्रभा सम्भवत्याकाशस्य किन्तु वैशद्यात् सप्रभेव । वायवीच्छायामाह—रुक्षेत्यादि । हतप्रभा प्रभाहीना । आग्नेयीं छाायामाह—कथनम् तथा वर्णेन प्रभया च छायायाः स्वरूपकथनम् । संस्थानेन प्रमाणेन च सदृशी छाया प्रतिच्छाया ज्ञेया । वर्णेन प्रभया च लक्षिता वर्णप्रभाश्रयाऽग्रे वक्ष्यमाणा पञ्चविधा ज्ञेया । अत्र यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् सा इत्यध्याहार्यते । तेन संस्थानादिभिर्या छाया प्रतिच्छायारूपा, सा यस्य विवर्तते अन्यथा भवति स प्रेत एवेति योजना ।

प्रतिच्छायाकारभूते संस्थानप्रमाणे एव विवृणोति—संस्थानमित्यादि । आकृति-राकारः । प्रतीत्यादि प्रतिच्छायाविवरणम् । 'छाया वर्णप्रभाश्रया' इत्यादि तु छायाविवरणं भविष्यति । प्रतिप्रमाणसंस्थानेत्यत्र प्रति सादृश्ये । तेन प्रमाणसदृशी संस्थानसदृशी प्रमाणसंस्थानसदृशतया जलादिषु या छाया सा प्रतिच्छाया । छाया तु या पञ्चविधा सा वर्ण-प्रभाश्रया वर्णप्रभासहचरितोपलभ्यत इत्यर्थः ॥ ५६ ॥

चक्रपाणिः—खादीनामित्यादिना छायां विभजते । सप्रभेति दीप्ताभा ।

शुद्धवदूर्ध्वविमला सुस्निग्धा चाम्भसी शुभा ।  
 स्थिरा स्निग्धायता ॐ श्लक्ष्णा श्यामा श्वेता च पार्थिवी ॥७॥  
 वायवी गर्हिता तासां चतस्रः स्युः शुभोदयाः ।  
 वायवो तु विनाशाय वलेशाय महनेऽपि वा ॥ ८ ॥  
 स्यात् तैजसी प्रभा सवर्वा सा तु सप्तविधा स्मृता ।  
 रक्ता पीता सिता श्यावा हरिता पाण्डुराऽसिता ॥  
 तासां याः स्युर्विकाशिन्यः स्निग्धाश्च विपुलाश्च याः ।  
 ताः शुभा रुचमलिनाः संक्लिष्टा-†-श्चः शुभोदयाः ॥ ९ ॥

विशुद्धेत्यादि । आग्नेयी च्छाया विशुद्धा निर्मलं चासौ रक्ता चेति । दीप्ताभा प्रदीप्तदृष्टिः । दग्नेनप्रिया द्रष्टुः मनोरमा । आम्भसी छायामाह—शुद्धेत्यादि । शुद्धं वैदूर्यमिव विमला निर्मलेला सुस्निग्धा शुभा शोभना च्छाया आम्भसी । पार्थिवी छायामाह—स्थिरेत्यादि । स्थिरा चिरावस्थायिनी, स्निग्धा चिकण-रूपा, आयता इति दीर्घा प्रमाणाभिप्रायेणोक्तं संस्थानवर्णप्रभाणां दीर्घताभावात्, श्लक्ष्णा ईषत्श्लक्ष्णा, श्यामा, श्वेता च व्यस्तसमस्ता पार्थिवीयं छाया ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—छायालक्षणान्युक्त्वा तच्छुभाशुभमाह—वायवीत्यादि । तासां पञ्चानां, पाञ्चभौतिकीनां छायाणां मध्ये गर्हितत्वं विवृणोति—वायवी तित्यादि ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—तैजस्याश्छायाया विशेषमाह—स्यात् तैजसीत्यादि । सवर्वा तैजसी प्रभा, विना हि तैजसतां न प्रभा सम्पद्यते । सा तु तैजसी प्रभा सप्त-विधा मता । किं सप्तविधा तदाह—रक्तेत्यादि । तासामित्यादि । तासां रक्ता-दीनां सप्तानां प्रभाणां मध्ये याः प्रभाः विकाशिन्यः आशुप्रसारिण्यः स्निग्धाश्च

वायवी गर्हितेति वायवी रिष्टे प्रायो भवति । यस्य जन्मप्रभृति वायवी स चापि प्रमृतकृ-शमाम् भवतीति एतदेवाह—वायवीत्यादि । विनाशयेति अकसादुत्पन्ना विनाशाय सहजा तु वायवी कृषायेति ज्ञेयम् ॥ ७।८ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति छायाश्रयत्वेन वर्णभेद उक्तः, तत्र वर्णभेदास्तद्विरिष्टा प्रथमाध्याय एवो-क्तम् । प्रभायास्तु भेदं विष्टाह—तैजसीत्यादि । प्रभा च यद्यपि प्रथमाध्याय एव संग्रहेणोक्ता,

\* स्निग्धा घना इति चक्रवर्तः पाठः ।

† संक्लिष्टा इति ज्ञा पाठः ।



वर्णमाक्रामति च्छाया प्रभा ॐ वर्णप्रकाशिनी ।

आसन्ना लक्ष्यते च्छाया प्रकृष्टा भाः प्रकाशते ॥१०॥

नाच्छायो नाप्रभः कश्चिद्विशेषाश्चिह्नयन्ति तु ।

नृणां शुभाशुभोत्पत्तिं काले च्छायाः प्रभाश्रयाः ॥ ११ ॥

विमलाश्च स्युस्ताः तैजस्यः प्रभाः सप्त शुभोदयाः । यास्तु रक्तादयस्तैजस्यः प्रभा रुक्षमलिनाः संक्लिष्टाः उत्पतिताश्च स्युस्ता अशुभोदयाः ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—प्रभाच्छाययोर्भेदमाह—वर्णमित्यादि । छाया वर्णमाक्रामति मलिनीकरोति, प्रभा तु वर्णप्रकाशिनी । तद्विज्ञानार्थमाह लक्षणान्तरम्—आसन्नेत्यादि । छाया न दूरालक्ष्यते परन्त्वासन्ना नैकट्यमापन्ना च लक्ष्यते । भाः प्रभा तु प्रकृष्टा विप्रकर्षेण दूरादपि लक्ष्यते । इति च्छायाप्रभयोर्भेदः ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—तत्र प्रभागतच्छायाया अशुभशुभत्वमाह—नाच्छाय इत्यादि । कश्चित् पुरुषो नाच्छायश्छायारहितोऽस्ति, न वा अप्रभः प्रभारहितोऽस्ति । तस्मात् सर्वाश्छायाः सर्वाश्च प्रभा न नृणां शुभं वा अशुभं वा चिह्नयन्ति परन्तु विशेषाश्छायानां प्रभाणाञ्च विशेषाः प्रभेदाः काश्चिच्छायाः काश्च प्रभा नृणां शुभाशुभोत्पत्तिं काले कालपरिणामे चिह्नयन्ति, चिह्नीभूता ज्ञापयन्ति, सुतरां यदा प्रभाविशेषा नृणां शुभाशुभोत्पत्तिं चिह्नयन्ति, तदा ते प्रभाविशेषा स्वरूपान्यत्वेन च्छायाभिधैव भवन्तीति । प्रभाश्रयापि च्छाया न त्वतिरिक्ता प्रभा शुभाशुभोत्पत्तिचिह्नकदशायामिति भावः ॥ ११ ॥

तथापि तत्र च्छायाश्रयत्वेन न वर्णभेदा उक्ताः, तत्र वर्णभेदास्तद्विष्टञ्च प्रथमाध्याये संग्रहेणोक्ताः, इतथापि च्छायाश्रयत्वेन न तत्र सूचिता इति ज्ञेयम् । अशुभोदया इत्यकसादुत्पादे मरणोदयाः, सहजोत्पादे तु बहुदुःखरूपा अशुभोदया इति ज्ञेयम् ॥ ९ ॥

चक्रपाणिः—प्रभाच्छाययोर्बुलक्षणत्वेन भेदकं लक्षणमाह—वर्णमिति । वर्णमाक्रामतीति च्छाया-क्रान्ते वर्णो नोपलभ्यते सम्यक् । आसन्ना लक्ष्यते च्छाया । यथा—चित्रगता च्छाया प्रत्यासन्नं लक्ष्यते । भाः प्रकृष्टा प्रकाशते यथा मणिमौक्तिकादीनां प्रभा दूरादुपलभ्यत इत्यर्थः ॥ १० ॥

चक्रपाणिः—विशेषा इति च्छायाप्रभयोः शुभाशुभरूपविशेषाः । चिह्नयन्तीति गमयन्ति ।

कामलाक्ष्णोर्मुखं पूर्णं शङ्खयोर्मुक्तमांसता ॥  
 सन्तासश्चोष्णता चाङ्गे + यस्य तं परिवर्जयेत् ॥ १२ ॥  
 उत्थाप्यमानः शयनात् प्रमोहं याति यो नरः ।  
 मुहुर्मुहुर्न सप्ताहं स जीवति विकत्थनः ॥ १३ ॥  
 संसृष्टा व्याधयो यस्य प्रतिलोमानुलोमगाः ।  
 व्यापन्ना ग्रहणी प्रायः सोऽर्द्धमासं न जीवति ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—छायाविशेषमुक्त्वाऽपरमरिष्टं दशयति—कामलेत्यादि । यस्या-  
 क्ष्णोर्द्वयोः कामला, मुखश्च पूर्णमुपचितं न कृशम्, शङ्खयोर्छलाटोभयदेशयोर्मुक्त-  
 मांसता हीनमांसता, सन्तासः सम्यक्त्रासस्तथाङ्गेषु चोष्णता, तं नर  
 परिवर्जयेत् ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—उत्थाप्येत्यादि । शयनात् निद्रितस्तु निद्रातः शयानः शय्यातो  
 वा यदि उत्थाप्यमानो मुहुस्तेहुरेव प्रमोहं याति, विकत्थनः विशेषेण श्लाघया  
 वैद्यो वदेत् इति भावः ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—संसृष्टा इत्यादि । यस्य संसृष्टा अनेकव्याधयो मिलितास्तत्र मध्ये  
 कश्चित् प्रतिलोमगोऽपरश्चानुलोमग ऊर्द्धमागोऽधोमार्गग इत्यर्थः । प्रायो  
 ग्रहणी ग्रहणशीला नाडी व्यापन्ना ग्रहण्यध्यायोक्तदोषयती सोऽर्द्धमासं न  
 जीवति ॥ १४ ॥

काल इति परिपाककाले । कामलाक्ष्णोस्ति कामलिन इव पीतासत्वम् । विकत्थन इति  
 निन्दापरः । संसृष्टा इति परस्परसंबन्धाः । किंवा संसृष्टदोषजन्याः । प्रतिलोमानुलोमगा इति  
 अधोमार्गोर्द्धमार्गगताः । व्यापन्ना ग्रहणीति च्छेदः । किंवा व्यापन्ना ग्रहणी यस्य स व्यापन्न-  
 ग्रहणीक इति पाठः । 'प्रायशोऽर्द्धमासं न जीवति' इत्यनेनार्द्धमासमतिक्रम्यापि मरणं भवति,  
 न तु मरणव्यभिचारः ॥ ११—१४ ॥

उपरुद्धस्य योगेन कर्षितस्याल्पमश्रुतः ।

बहु मूत्रपुरीषं स्याद् यस्य तं परिवर्जयेत् ॥ १५ ॥

दुर्बलो बहु भुङ्क्ते यः प्राग्भुक्तादन्नमातुरः \* ।

अल्पमूत्रपुरीषश्च यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ १६ ॥

वर्द्धिष्णुं † गुणसम्पन्नमन्नमश्नाति यो नरः ।

शश्वच्च बलवर्णाभ्यां हीयते न स जीवति ॥ १७ ॥

प्रकूजति प्रश्वसिति शिथिलश्चातिसार्यते ।

बलहीनः पिपासार्तः शुष्कास्यो न स जीवति ॥ १८ ॥

ह्रस्वश्च यः प्रश्वसिति व्याविद्धं स्पन्दते च यः ।

मृतमेव तमान्नयो व्याचचक्षे पुनर्व्वसुः ॥ १९ ॥

**गङ्गाधरः—**उपरुद्धस्येत्यादि । व्याधिना कर्षितस्य योगेनोपरुद्धस्याल्पमश्रुतो यस्य मूत्रपुरीषं बहु स्यात् तं परिवर्जयेत् ॥ १५ ॥

**गङ्गाधरः—**दुर्बल इत्यादि । य आतुरः प्राग्भुक्तात् अनातुर्यावस्थायां यावान्मतं भुक्तामासीत् तद्भुक्ताद्बहुमानमन्नमातुरः सन् आतुर्यावस्थायां भुङ्क्ते-  
ऽथच दुर्बलः अल्पमूत्रपुरीषश्च स्यात्, स यथा प्रेतो मृतो नरस्तथा, अर्थादासन्न-  
मृत्युरित्यर्थः ॥ १६ ॥

**गङ्गाधरः—**वर्द्धिष्णुगुणेत्यादि । यो नरो वर्द्धिष्णुगुणसम्पन्नमन्नं न तु  
हीनगुणमन्नं वर्द्धिष्णुं क्रमेण मानतोऽधिकमश्नाति शश्वच्च दिने दिने च बल-  
वर्णाभ्यां हीयते, स न जीवति ॥ १७ ॥

**गङ्गाधरः—**प्रकूजतीत्यादि । यः प्रकूजति अव्यक्तशब्दं करोति प्रश्वसिति च  
शिथिलं द्रवं यथा स्यात् तथातिसार्यते बलहीनादिश्च भवति, स न  
जीवति ॥ १८ ॥

**गङ्गाधरः—**ह्रस्वश्चेत्यादि । यो ह्रस्वमदीर्घं व्याविद्धं कुटिलम् ॥ १९ ॥

**शंकरपाणिः—**प्राग्भुक्तेति भृष्टर्बलः सन्नभुक्तेत्यर्थः । पूर्वदिनेषु बहु भुङ्क्ते इत्यर्थः ।  
इष्टमिति इष्टरसम् । गुणसम्पन्नमिति पथ्यम् । शिथिलमिति पूर्व्वेण संबध्यते । तेन श्लथ  
इव प्रकूजति । प्रश्वसित्यन्तःश्वासं नयति । व्याविद्धमिति कुटिलम् ॥ १५—१९ ॥

ऊर्द्धश्च यः प्रश्वसिति श्लेष्मणा चाभिभूयते ।  
 हीनवर्णवलाहारो नरो वा न स जीवति ॥ २० ॥  
 ऊर्द्धाग्रे नयने यस्य यस्यानारतकम्पने \* ।  
 बलहीनः पिपासार्तः शुष्कास्यो न स जीवति ॥ २१ ॥  
 यस्य गरडावुपचितौ ज्वरकासौ च दारुणौ ।  
 शूली प्रद्वेष्टि चाप्यन्नं तस्मिन् कर्म न सिध्यति ॥ २२ ॥  
 व्यावृत्तमुखजिह्वस्य भ्रुवौ यस्य च विच्युते ।  
 कण्टकैश्चाचिता जिह्वा यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ २३ ॥  
 शोफश्चात्यर्थमुत्सिक्तं निःसृतौ वृषणौ भृशम् ।  
 अतश्चैव विपर्ययासो विकृत्या प्रेतलक्षणम् ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—ऊर्द्ध मित्यादि । श्लेष्मणाभिभूयते कण्ठ आत्रियते । हीनवर्णः  
 दिको वा, स न जीवति ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—ऊर्द्धाग्रे इत्यादि । यस्य नयने द्व ऊर्द्धाग्रे । यस्य वा नयने द्वे  
 अनारतं सततं कम्पने सततकम्पनशीले भवतः । बलहीनादिः स च न  
 जीवति ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—यस्येत्यादि स्पष्टम् ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—व्यावृत्तेत्यादि । व्यावृत्तं स्वरूपान्यथारूपं मुखजिह्वं यस्य ।  
 विच्युते अधोनते । कण्टकैः कण्टकाकारैराचिता व्याप्ता जिह्वा ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—शोफश्चेत्यादि । यस्य विकृत्या शोफो मेढमत्यर्थमुत्सिक्तमन्तः-  
 प्रविष्टं, वृषणौ च भृशं निःसृतौ निर्गतौ, त्वेतत् प्रेतलक्षणं मृतस्य लक्षणम् । एवं

धकपाणिः—ऊर्द्धाग्रे इति ऊर्द्धमुखे । आरतकम्पने अविश्रान्तकम्पने । उत्सिक्तमिति,  
 अन्तःप्रविष्टम् । अतश्चैव विपर्ययास इति शोफोऽतिनिःसृतं वृषणौ चापि प्रविष्टौ । विकृत्येति,

\* मध्ये चारतकम्पने इति पाठश्चक्रसम्मतः ।

निचितं यस्य मांसन्तु त्वगस्थि ॐ चैव दृश्यते ।

क्षीणस्यान्यूनतस्तस्य मांसमायुः परं भवेत् ॥ २५ ॥

विकृत्यैवातो विपर्यासे च प्रेतलक्षणम् । तद् यथा—शेफो भृगं निःसृतं वृषणौ चात्यर्थमन्तःप्रविष्टौ इत्यर्थः । विकृत्येति वचनेन प्रकृत्या यस्य त्वेवं तन्न रिष्टमिति ख्यापितम् ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—निचितमित्यादि । यस्य मांसं शरीरे निचितं सम्पूर्णम् । त्वगस्थि च दृश्यते, यस्य क्षीणस्यान्यूनतः सम्पूर्णतः मांसहीनस्य त्वगस्थि च निचितं दृश्यते, तस्य मांसं व्याप्य परमायुर्भवेदित्यर्थः । सुश्रूतेऽपि—श्यावा लोहितिका नीला पीतिका वापि मानवम् । अभिद्रवन्ति यं छायाः स परासुरसंशयम् ॥ अभिद्रवन्ति अभिधावन्ति । ह्रींश्रियो नश्यतो यस्य तेजओजः-स्मृतिप्रभाः । अकस्माद् यं भजन्ते वा स परासुरसंशयम् । यस्याधरोष्ठः पतितः क्षिप्तश्चोद्धूतथोत्तरः । उभौ वा जास्ववाभासौ दुर्लभं तस्य जीवितम् । आरक्ता दशना यस्य श्यावा वा स्युः पतन्ति वा । खञ्जनप्रतिमा वापि तं गतायुषमादिशेत् । कृष्णा स्तब्धावलिप्ता वा जिह्वा शूना च यस्य वै । कर्कशा वा भवेद् यस्य सोऽचिराद्विजहात्यसूनु । कुटिला स्फुटिता वापि शुष्का वा यस्य नासिका । अवस्फूर्जति मग्ना वा न स जीवति मानवः । संक्षिप्ते विपमे स्तब्धे रक्ते स्तब्धे च लोचने । स्यातां वा प्रसृते यस्य स गतायुर्नरो ध्रुवम् । केशाः सीमन्तिनो यस्य संक्षिप्ते विनते ध्रुवौ । लुनन्ति चाक्षिपक्ष्माणि सोऽचिराद् याति मृत्यवे । नाहरत्यन्नमास्यस्थं न धारयति यः शिरः । एकाग्रदृष्टिर्मूढात्मा सद्यः प्राणान् जहाति सः । बलवान् दुर्व्वलो द्वापि संमोहं योऽधिगच्छति । उत्थाप्यमानो बहुशस्तं धीरः परिवर्जयेत् । उत्तानः सर्व्वदा जेते पादौ विकुरुत च यः । विप्रसारणशीलो वा न स जीवति मानवः । शीतपादकरोच्छ्वास-श्छिन्नश्वासश्च यो भवेत् । काकोच्छ्वासश्च

स्वभावं विना । तेन स्वभावोत्सिक्तशेफादि न रिष्टम् । किन्त्वनिमित्तं कादाचित्कं तदेव तावद् भरिष्टम् । निचितमिति क्षीणं 'नि'शब्दस्य प्रतिषेधार्थत्वात् । एवञ्च तथा मांसं क्षीणं भवति । यथा

यो मत्त्यस्तं धीरः परिवर्जयेत् । निद्रा न च्छिद्यते यस्य यो वा जागति सर्वदा । हृद्देहा वक्तुकामस्तु प्रत्याख्येयः स जानता । उत्तरोष्ठश्च यो लिङ्गादुद्वारांश्च करोति यः । प्रेतैर्वा भाषते सार्द्धं प्रेतरूपं तमादिशेत् ॥ खेभ्यः सरोमङ्गपेभ्यो यस्य रक्तं प्रवर्त्तते । पुरुषस्याविपार्त्तस्य सद्यो जह्यात् स जीवितम् । वाताष्टीला तु हृदये यस्योद्धमनुयायिनी । रुजान्नविद्वेषकरी स परानुरसंशयम् । अनन्योपद्रवकृतः शोकः पादसमुत्थितः । पुरुषं हन्ति नारीश्च मुखजो गुह्यजो द्वयम् । अतिसारो ज्वरो हिका च्छर्दिः शूनाण्डमेढ्रता । श्वासिनः कासिनो वापि यस्य तं परिवर्जयेत् । स्वेदो दाहश्च बलवान् हिका श्वासश्च मानवम् । बलवन्तमपि प्राणैर्वियुञ्जन्ति न संशयम् । श्यावा जिह्वा भवेद् यस्य सव्यश्चाक्षि निमज्जति । मुखश्च जायते पूति यस्य तं परिवर्जयेत् । वक्तमापूर्यतेऽश्रूणा स्विद्यतश्चरणान्त्रुभौ । चक्षुश्चाकुलतां याति यमराष्ट्रं गमिष्यतः । अतिमात्रं लघूनि स्युर्गात्राणि गुरुकाणि च । यस्याकस्मात् स विज्ञेयो गन्ता वैवस्वतालयम् । पङ्कमत्स्यवसातैलघृतगन्धाश्च ये नराः । मृष्टगन्धाश्च ये वान्ति गन्तारस्ते यमालयम् । यूका ललाटमायान्ति बलिं नाश्रन्ति वायसाः ॥ येषां वापि रतिर्नास्ति यातारस्ते यमालयम् । ज्वराति-सारशोफाः स्युर्यस्यान्योन्यावसादिनः । प्रक्षीणबलमांसस्य नासौ शक्य-श्चिकित्सितुम् । क्षीणस्य यस्य क्षुत्तृष्णे हृदैरिष्टैर्हितैस्तथा । न शाम्यतो-ऽन्नपानैश्च तस्य मृत्युरूपस्थितः । प्रवाहिका शिरःशूलं कोष्ठशूलश्च दारुणम् । पिपासा बलहानिश्च तस्य मृत्युरूपस्थितः । विषमेणोपचारेण कर्मभिश्च पुराकृतैः । अनित्यत्वाच्च जन्तूनां जीवितं निधनं व्रजेत् । प्रेतभूत-पिशाचाश्च रक्षांसि त्रिविधानि च । मरणाभिमुखं नित्यं पसर्पन्ति मानवम् । तानि भेषजवीर्याणि प्रतिघ्नन्ति जिघांसया । तस्मान्मोघाः क्रियाः सर्व्वं भवन्तेव गतायुषः ॥ इति ॥ २५ ॥

त्वगरिथप्वेव लग्ना दृश्यते । किंवा निचितमुपचितं मांसं स्यात् । त्वगस्थिप्वेव दृश्यते त्वगस्थि-मात्रावशेषो वा भवतीति यावत् ॥ २०—२६ ॥

तत्र श्लोकः ।

इदं लिङ्गमरिष्टाख्यमनेकमभिजज्ञिवान् ।

आयुर्वेदविदित्याख्यां लभते कुशलो जनः ॥ २६ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने

पन्नरूपीयमिन्द्रियं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थमुपसंहर्तुमाशिपमाह—तत्र श्लोक इत्यादि । इद-  
मित्यादि । अभिजज्ञिवान् अभिज्ञातवान् कुशलो जन आयुर्वेदवित् इत्याख्यां  
लभते ॥ २६ ॥

अध्यायं समापयति—अग्रीत्यादि ।

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरत्रविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ इन्द्रियस्थान-  
जल्पे पञ्चमस्कन्धे पन्नरूपीयेन्द्रियजल्पाख्या सप्तमी शाखा ॥ ७ ॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुराननश्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां चरक-  
तात्पर्यटीकायाम् इन्द्रियस्थाने पन्नरूपीयमिन्द्रियं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातोऽवाक्शिरसीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अवाक्शिरा वा जिह्वा वा यस्य वा विशिरा भवेत् ।

जन्तो रूपप्रतिच्छाया नैनमिच्छेच्चिकित्सितुम् ॥ २ ॥

जङ्गीभूतानि पक्ष्माणि दृष्टिश्चापि न गृह्यते ।

यस्य जन्तोर्न तं धीरो भेषजेनोपपादयेत् ॥ ३ ॥

यस्य शूनानि वर्त्मानि न समायान्ति शुष्यतः ।

चक्षुषी चोपदहेते यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—अथ पञ्चरूपीयेन्द्रियानन्तरम् । अतश्छायाधिकारात् हेतोर्वाक्-  
शिरसीयमिन्द्रियम्, अवाक्शिरा इति पदार्थमधिकृत्य, कृतमिन्द्रियम् व्याख्या-  
स्यामः ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—अवाक्शिरा इत्यादि । यस्य जन्तो रूपप्रतिच्छाया जलादर्श-  
व्योत्स्नातपादिषु मूर्त्तिप्रतिबिम्बः अवाक्शिरा ऊर्ध्वपदा स्यादथवा जिह्वा  
कुटिला स्यादथवा विशिरा विवर्त्तितमस्तका वा स्यादेनं चिकित्सितुं  
नेच्छेत् ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—जङ्गीभूतानीत्यादि । यस्य जन्तोः पक्ष्माणि जङ्गीभूतानि  
मिलितानि भवन्ति न च तैर्दृष्टिगृह्यते तं जन्तुं धीरो न भेषजेनोपपादयेत् ।  
सुश्रुतेऽप्युक्तं—मिलन्ति चाक्षिपक्ष्माणि सोऽचिराद् याति मृत्यवे ॥ इति ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—यस्येत्यादि । यस्य शुष्यतः शोषं गच्छतो जन्तोर्वर्त्मानि  
चक्षुषोश्चक्षारि उपर्यधोवर्त्मानि शूनानि शोफवन्ति भवन्ति न समायान्ति  
सम्यक्त्वं परस्परं सङ्गततया मिलनं नायान्ति, चक्षुषी च उपदहेते, स यथा  
प्रेतस्तथैव स्यादित्यर्थः ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—उक्तानुक्तपरिग्राहकेऽध्यायद्वये वक्तव्ये च्छायारिष्टाभिधायकत्वसाधन्यादवाक्-  
शिरसीयोऽभिधीयते । अवाक्शिरा इति ऊर्ध्वपादः । एतच्छायाप्रकरणवक्तव्यमपि श्रीभगवत्कृत्-



भ्रुवोर्वा यदि वा मूर्च्छिं सीमन्तावर्त्तकान् बहून् ।  
 अपूर्व्वान्-❀-कृतान् व्यक्तान् दृष्ट्वा मरणमादिशेत् ॥ ५ ॥  
 अग्रहमेतेन जीवन्ति लक्षणैनातुरा नराः ।  
 अरोगाणां पुनस्त्वेतत् षड् रात्रं परमुच्यते ॥ ६ ॥  
 † आयस्योत्पाटितान् केशान् यो नरो नावबुध्यते ।  
 अनातुरो वा रोगी वा षड् रात्रं नातिवर्त्तते ॥ ७ ॥  
 यस्य केशा निरभ्यङ्गा दृश्यन्तेऽभ्यक्तसन्निभाः ।  
 उपरुद्धायुषं ज्ञात्वा तं धीरः परिवर्जयेत् ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—भ्रुवोरित्यादि । यस्य जन्तोभ्रुवोर्द्वयोर्लामसु अपूर्व्वान् पूर्वं  
 न ये सीमन्तावर्त्तकास्तान्, अकृतान् न च कैश्चिन्निमित्तैः कृता ये तान्,  
 व्यक्तान् बहून् सीमन्तावर्त्तकान् दृष्ट्वा यदि वा मूर्च्छिं केशेषु दृष्ट्वा तस्य  
 मरणमादिशेत् । अस्य लक्षणस्य स्वस्थानुरत्नदिननियममाह—अग्रहमित्यादि ।  
 एतेन सीमन्तावर्त्तकलक्षणेन आतुरा नरास्त्रग्रहं जीवन्ति । अरोगाणान्तु षड्-  
 रात्रम् एतज्जीवनं परं परमायुरुच्यते ॥ ५।६ ॥

गङ्गाधरः—आयस्येत्यादि । अनातुरो रोगी वा यो नरः स्वस्य केशान्  
 परेण वा स्वेन वा आयस्य आयतीकृत्य उत्पाटितान् नावबुध्यते, स षड् रात्रं  
 नातिवर्त्तते अतिक्रामति । षड् रात्रं प्राप्य म्रियते इत्यर्थः ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—यस्येत्यादि । यस्य निरभ्यङ्गास्तैलादिस्नेहेनाभ्यङ्गरहिताः केशा  
 अभ्यक्तसन्निभास्तैलादिस्नेहाभ्यक्तकेशतुल्या दृश्यन्ते, धीरस्तं पुरुषमुपरुद्धायुषं  
 क्षीणायुषं ज्ञात्वा परिवर्जयेत् ॥ ८ ॥

ख्यापनार्थमिह शीघ्रमारकरिण्डेण्वपि पठितम् । अत्र छरिष्टानि अग्रहादिमारकाणि वक्तव्यानि ।  
 समायान्तीति न परस्परं मिलन्ति । असजानकृतानिति प्रयत्नेनाकृतान् ॥ १—६ ॥

चक्रपाणिः—आयस्येति बलादाकृष्य । यद्यपि “मृतस्य केशलोमानि” इत्यादिनैव तदरिष्ट-  
 मित्युक्तम्, तथापीहातुरस्वस्थविषयप्रतिपादनार्थमभिधानम्, किञ्च तत्र ‘प्रच्यवेरन्’ इति पदेन  
 केशानामनुत्पादनमुक्तम्, नेह तथेति विशेषः ॥ ७।८ ॥

ग्लायतो \* नासिकावंशः पृथुत्वं यस्य गच्छति ।  
 अशूनः शूनसङ्काशः प्रत्याख्येयः स जानता ॥ ९ ॥  
 अत्यर्थविवृता यस्य यस्य चात्यर्थसंवृता ।  
 जिह्वा वा परिशुष्का वा नासिका न स जीवति ॥ १० ॥  
 मुखशब्दश्चावोष्ठौ † शुक्लश्यावातिलोहितौ ।  
 विकृतौ ‡ यस्य वा नीलौ न स रोगाद्विमुच्यते ॥ ११ ॥  
 अस्थिश्वेता द्विजा यस्य पुष्पिताः पङ्कसंवृताः ।  
 विकृत्या न स रोगास्तु विहायारोग्यमश्नुते ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—ग्लायत इत्यादि । यस्य ग्लायतो हृष्यतः पुरुषस्य नासिकावंशः पृथुत्वं गच्छति, अशूनः सनं शूनसङ्काशश्च भवति, स जानता वैदेन प्रत्याख्येयस्त्याज्यः ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—अत्यथत्यादि । यस्य नासिका जिह्वा कुटिला अत्यर्थविवृता अतिशयविवृता निर्गता वा अथवात्यर्थसंवृता कुञ्चिता अनिर्गता वा, यस्य नासिका जिह्वा कुटिला वा परिशुष्का स न जीवति ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—मुखेत्यादि । यस्य रोगिणो द्वावोष्ठौ मुखशब्दश्चैव स्वमुखत्वं शब्दनिःसृतौ स्रवतः स्रावं कुरुतस्तौ । यदा शब्दं न कुरुते स पुमान्, तदा न स्रवतः । शुक्लवर्णौ श्याववर्णावतिलोहितवर्णौ मिलितत्रयवर्णौ वा । यस्य वा विकृतौ स्वरूपान्यरूपौ नीलौ वा, स तद्रोगान्न मुच्यते ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—अस्थीत्यादि । यस्य रोगिणो द्विजा दन्ता अस्थिश्वेता अस्थिवत् सिता रुक्षाः पुष्पिताः पुष्पवद्गन्धा दन्तश्वेतत्वापेक्षया अतिश्वेता वा

चक्रपाणिः—ग्लायत इति दौर्ब्यस्थं भजते । अशून इति परमार्थतोऽशूनः । विवृतेति निर्गता । संवृतेति प्रविष्टा । शब्दश्चैव कर्णौ । विकृत्येति सहजं यिना तथा हेतुं विनेत्यर्थः ॥ ९—११ ॥

\* ग्लायते इति चक्रः ।

† मुखं शब्दश्चावोष्ठौ इति वा पाठः ।

‡ विकृत्या इति पाठान्तरम् ।

स्तब्धा निश्चेतना गुर्वी कण्टकोपचिता भृशम् ।  
 श्यावा शुष्काथवा शूना प्रेतजिह्वा विसर्पिणी ॥ १३ ॥  
 दीर्घमुच्छस्य यो ह्रस्वं नरो निश्चस्य ताम्यति ।  
 उपरुद्धायुषं ज्ञात्वा तं धीरः परिवर्जयेत् ॥ १४ ॥  
 हस्तौ पादौ च मन्ये च तालु चैवातिशीतलम् ।  
 भवत्यायुःक्षये क्रूरमथवापि भवेन्मृदु ॥ १५ ॥  
 घट्टयन् जानुना जानु पादावुद्यम्य पातयन् ।  
 योऽपास्यति मुहुर्वक्त्रमातुरो न स जीवति ॥ १६ ॥  
 दन्तैश्छिन्दन् नखाग्राणि नखैश्छिन्दन् शिरोरुहान् ।  
 काष्ठेन भूमिं विलिखन् न रोगात् परिमुच्यते ॥ १७ ॥

विकृत्या स्वभावं विना पङ्कसंघृताः क्लेदयुक्ताः, स रोगान् विहायारोग्यं नाश्नुते ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—स्तब्धेत्यादि । यस्य जिह्वा स्तब्धा निश्चला निश्चेतना स्पर्श-  
 रसानभिज्ञा गुर्वी परिपुष्टा कण्टकोपचिता भृशं कण्टकाकारैरुपचिता व्याप्ता  
 श्यावा शुष्का अथवा शूना शोफवती एवं विसर्पिणी वह्निर्निर्गता सा प्रेतजिह्वा  
 प्र तस्याचिरान्मरिष्यतो जिह्वा ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—दीर्घमित्यादि । यो रोगी नरः पूर्वं दीर्घमुच्छस्य पश्चात् ह्रस्वं  
 निश्चस्य ताम्यति, तमुपरुद्धायुषं क्षीणायुषं ज्ञात्वा धीरः परिवर्जयेत् ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—हस्तावित्यादि । आयुःक्षये नराणां हस्तादिकमतिशीतलं भवति  
 अथवा क्रूरं भवति अपि वा मृदु भवति ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—घट्टयन्नित्यादि । य आतुरो नरो जानुना जानु घट्टयन् पादौ  
 च उद्यम्य उच्चैः कृत्वा क्षिप्त्वा पातयन् मुहुर्वक्त्रं वक्त्रम् अपास्यति  
 अपाक्षिपति, स न जीवति ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—दन्तैरित्यादि । रोगी नरो दन्तर्नखाग्राणि च्छिन्दन् नखैः  
 शिरोरुहान् केशान् च्छिन्दन् काष्ठेन भूमिं विलिखन् रोगान् परिमुच्यते ॥ १७ ॥

चक्रपाणिः—अस्थिवत् श्वेता अस्थिश्वेताः । विसर्पिणी वह्निर्निर्गता । निश्चस्येति अन्तरो-

दन्तान् खादति यो जाग्रदसाम्ना विरुदन् हसन् ।  
 विजानाति न चेद्दुःखं न स रोगाद् विमुच्यते ॥ १८ ॥  
 मुहुर्हसन् मुहुः क्ष्वेडन् शय्यां पादेन हन्ति यः ।  
 उच्चैश्छिद्राणि विमृशन्नातुरो न स जीवति ॥ १९ ॥  
 यैर्विन्दते पुरा भावैः समेतैः परमां रतिम् ।  
 तैरेव रममाणस्य ग्लास्रोर्मरणमादिशेत् ॥ २० ॥  
 न विभर्त्ति शिरोग्रीवं पृष्ठं वा भारमात्मनः ।  
 सहनं पिण्डमास्यस्थमातुरस्य मुमूर्षतः ॥ २१ ॥  
 सहसा ज्वरसन्तापस्तृष्णा मूर्च्छा बलक्षयः ।  
 विश्लेषणञ्च सन्धीनां मुमूर्षोरुपजायते ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—दन्तानित्यादि । यो जाग्रत् सन् दन्तान् खादति दन्तकङ्कड़ि-  
 ध्वनिं करोति । असाप्ना अशान्तवचनेन विरुदन् रुदन् हसन् चैव यदि  
 दुःखं न विजानाति, स रोगी न रोगाद् विमुच्यते ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—मुहुरित्यादि । य आतुरो मुहुर्हसन् सन् मुहुः क्ष्वेडन् विपादं  
 कुर्वन् सन् पादेन शय्यां हन्ति शय्यायामाघातं करोति उच्चैश्छिद्राण्युद्धाङ्गानि  
 छिद्राणि कर्णनासादिविवराणि विमृशन् स्पृशन्नर्थात् स्पृशति, स आतुरो न  
 जीवति ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—यैरित्यादि । यैः समेतैः सङ्गतैः भावैर्नरः पुरा परमां रतिं  
 विन्दते तैरेव सङ्गतैर्भावै रममाणस्य क्रीडतस्तस्य ग्लास्रोरक्रीडतोऽहृष्यतो  
 मरणमादिशेत् ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—न विभर्त्तित्यादि । मुमूर्षत आतुरस्य शिरोग्रीवम् आत्मनो  
 भारं न विभर्त्ति, पृष्ठं वा आत्मनो भारं न विभर्त्ति, आस्यस्थं पिण्डमन्नग्रासः  
 सहनं हनुसंहितम् आत्मनो भारं न विभर्त्ति ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—सहसेत्यादि । मुमूर्षोर्नरस्य सहसा ज्वरसन्तापक्षयः ।  
 सन्धीनां विश्लेषणञ्च शैथिल्यम् उपजायते ॥ २२ ॥

च्छासं नीत्वा । अपास्यति मुहुरिति मुखमाक्षिपति । असाप्ना इति उच्चैः । छिद्राणीति  
 नासाकर्णोक्षिप्तोत्तासि ॥ १८—१९ ॥

गोसर्गे वदनाद् यस्य स्वेदः प्रच्यवतै भृशम् ।  
 लेपज्वरोपतप्तस्य दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ २३ ॥  
 नोपैति कण्ठमाहारो जिह्वा कण्ठमुपैति च ।  
 आयुष्यन्तं गते जन्तोर्वलञ्च परिहीयते ॥ २४ ॥  
 शिरो विक्षिपते कृच्छ्रान्मुञ्चयित्वा प्रपाणिकौ ।  
 ललाटप्रसृत्स्वेदो मुमूर्षुः श्लथवन्धनः ॥ २५ ॥

तत्र श्लोकः ।

इमानि लिङ्गानि नरेषु बुद्धिमान्  
 विभावयेतावहितो मुहुर्महुः \* ।

गङ्गाधरः—गोसर्ग इत्यादि । यस्य लेपज्वरोपतप्तस्य प्रलेपकज्वरवतः गोसर्ग प्रभातकाले वदनात् मुखात् भृशमतिशयं यथा स्यात् तथा स्वेदो घर्मः प्रच्यवते, तस्य जीवितं दुर्लभम् ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—नोपैतीत्यादि । जन्तोरायुषि अन्तं शेषं गते सत्याहारो न कण्ठमुपैति जिह्वा च कण्ठमुपैति बलञ्च परिहीयते ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—शिर इत्यादि । मुमूर्षुर्नरः शिरोगतौ स्वप्रपाणिकौ पाणिद्वयाग्र-  
भागौ शिरस्तः कृच्छ्रात् मुञ्चयित्वा आनीय शिरो विक्षिपते चालयते, ललाट-  
प्रसृत्स्वेदश्च भवति, श्लथवन्धनः शिथिलसन्धिवन्धनो भवतीति ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थोपसंहारार्थमाशिष्यमाह—तत्र श्लोक इत्यादि ।  
इमानीत्यादि । बुद्धिमान् भिषगवहितोऽवधानपूर्वकमिमानि अत्राध्याये  
प्रोक्तानि लिङ्गानि मरणलक्षणानि नरेषु मुहुर्महुर्विभावयेत विशेषेण

चक्रपाणिः—रलास्नोरिति क्षीयमाणस्य । भारमात्मन इति ऊर्ध्वशरीरम् । पृष्ठमिति

क्षणेन भूत्वा ह्यपयान्ति कानिचित्  
न चाफलं लिङ्गमिहास्ति किञ्चन ॥ २६ ॥

इत्यग्निवेशकृतैः तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतैः इन्द्रियस्थाने अवाक्-  
शिरसीयमिन्द्रियं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

निरीक्षेत । कस्मात् ? हि यस्मादेषु कानिचिद्विज्ञानानि क्षणेन भूत्वा अपयान्ति  
अपगच्छन्ति । ननु यान्यपयान्ति यान्तु अपरलक्षणेन ज्ञातव्यमिति तैश्च  
किमित्यत आह—न चेत्यादि । इह एषु चिह्नेषु मध्ये किञ्चन चिह्नं न चाफलं  
निष्फलमस्ति । यद्विज्ञं क्षणेन भूत्वापगतं न च ज्ञातं ततोऽन्यच्च  
लक्षणं किञ्चिन्न यदि भवति तदा तत्र भिषग् मुह्यति, तस्मान्मूढमुह-  
र्विभावयेतेत्यर्थः ॥ २६ ॥

अध्यायं समापयति—अग्रीत्यादि ।

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरत्नविरचिते चरकजलपकल्पतराविन्द्रियस्थान-  
जल्पे पञ्चमस्कन्धेऽवाक्शिरसीयेन्द्रियजलपाख्याष्टमी शारदा ॥ ८ ॥

शरीराधोभागः । गोसर्ग इति प्रत्यये । लेपज्वरः स्वरूपशीतयुक्तः कफज्वरः । कृष्णादित्यदीर्घं  
मुञ्चयित्वा प्रपाणिकौ मणिवन्धादुद्ध्वं कूर्परपर्यन्तं शिरो विक्षिपति ॥ २०—२६ ॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुराननश्रीमद्यक्षपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां  
चरकतात्पर्यटीकायाम् इन्द्रियस्थाने अवाक्शिरसीयमिन्द्रियं  
नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

## नवमोऽध्यायः ।

अथातो यस्य श्यावनिमित्तीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः,  
इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

यस्य श्यावे परिध्वस्ते हरिते चापि दर्शने ।  
आपन्नो व्याधिरन्ताय ज्ञेयस्तस्य विजानता ॥ २ ॥  
निःसंज्ञः परिशुष्कास्यः संविद्धो \* व्याधिभिश्च यः ।  
उपरुद्धायुषं ज्ञात्वा तं धीरः परिवर्जयेत् ॥ ३ ॥  
हरिताश्च सिरा यस्य लोमकूपाश्च संवृताः ।  
सोऽम्लाभिलाषी पुरुषः पित्तान्मरणमश्नुते ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—अथावाक्शिरसीयेन्द्रियानन्तरम् अतश्छायाधिकाराद्धेतोः यस्य-  
श्यावनिमित्तीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—यस्येत्यादि । यस्य नरस्यातुरस्य दर्शने चक्षुषी परिध्वस्ते नष्टे  
श्यावे हरिते वा तमापन्नः प्राप्तो व्याधिस्तस्यान्ताय मरणाय विजानता भिषजा  
ज्ञेय इत्यर्थः ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—निःसंज्ञ इत्यादि । यो नरो व्याधिभिः संविद्धो निःसंज्ञः  
परिशुष्कास्यश्च स्यात्, तम् उपरुद्धायुषं ज्ञात्वा धीरः परिवर्जयेत् ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—हरिताश्चेत्यादि । यस्य सिरा हरिताः पालाशवर्णाः, लोम-  
कूपाश्च संवृता न स्वेदान् वहन्ति स यद्यम्लाभिलाषी स्यात् तदा पित्तात्  
पित्तजरोगान्मरणमश्नुते ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—यस्यश्यावनिमित्तीयोऽपि उक्तानुक्तिरिष्टाभिधायकतया उच्यते । 'यस्यश्याव'-  
शब्देन लक्षणेन 'यस्यश्याव' इत्यादिग्रन्थोक्तं रिष्टम् ग्राह्यम् । तेन यस्यश्यावरूपनिमित्तं  
रिष्टमधिकृत्य कृतोऽध्यायः यस्यश्यावनिमित्तीयः । समृद्ध उपचितः ॥ १—३ ॥

\* समृद्ध इति चक्रव्याख्यातः पाठः ।

शरीरान्ताश्च शोभन्ते शरीरञ्चोपशुष्यति ।  
 बलञ्च हीयते यस्य राजयक्ष्मा हिनस्ति तम् ॥ ५ ॥  
 अंसाभितापो हिक्का च दर्शनं शोणितस्य च ।  
 आनाहः पार्श्वशूलश्च भवत्यन्ताय शोषिणः ॥ ६ ॥  
 वातव्याधिरपस्मारी कुण्ठी रक्ती ० तथोदरी ।  
 गुल्मी च मधुमेही च राजयक्ष्मी च यो नरः ॥  
 अचिकित्सया भवन्त्येते बलमांसक्षये सति ।  
 मन्देष्वपि विकारेषु तान् भिषक् परिवर्जयेत् ॥ ७ ॥  
 विरेचनहतानाहो † यस्तृष्णानुगतो नरः ।  
 विरिक्तः पुनराध्माति यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—शरीरान्ताश्चेत्यादि । यस्य शरीरान्ता हस्तपादाद्यन्तावयवाः शोभन्ते पुष्टिवर्णप्रभादिभिः साधुभावा भवन्ति शरीरञ्चान्तराधिर्मध्यकाय उपशुष्यति बलमपि च हीयते, तं राजयक्ष्मा हिनस्ति ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—अंसेत्यादि । यस्य शोषिणो राजयक्ष्मणः अंसाभितापो भुजयोरुर्द्धदेशयोरुपतापः हिक्का च शोणितस्य रक्तस्य दर्शनञ्चानाहः पार्श्व-शूलश्च, अन्ताय मरणाय स्यात् ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—वातव्याधिरित्यादि । वाताज्जातोऽसाधारणो नानात्मजो व्याधिर्यस्य स तथा । रक्ती रक्तपित्ती । अचिकित्सया असाध्याः । मन्देषु अल्पेष्वपि बलमांसक्षयेऽल्पदोषेष्वपि बहुदोषेषु सुतरां वातव्याध्यादीन् परिवर्जयेत् ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—विरेचनेत्यादि । यो नरो विरेचनहतानाहः विरेचनेन हतो जित आनाहो यस्य स तृष्णानुगतो यदि विरिक्तः सन् पुनराध्माति वायुना पूर्णोदरो भवति, तदा स यथा प्रेतस्तथैव भवति ॥ ८ ॥

चक्रपाणिः—शरीरान्ता हस्तपादादयः । शोभन्त इति राजन्ते, किंवा प्रोभायुक्ता इव भवन्ति । वात एव व्याधिर्यस्य रोगिणः स वातव्याधिः । तानिति बलमांसक्षययुक्तान् । विरेचनहत आनाहो यस्य स तथा ॥ ४—८ ॥

\* शोफी इत्यन्यत्र पठ्यते ।

† विरेचनहतानाह इति चक्रः ।



पेयं पातुं न शक्नोति शुष्कत्वादास्यकण्ठयोः ।  
 उरसश्च विबन्धत्वाद् यो नरो न स जीवति ॥ ६ ॥  
 स्वरस्य दुर्बलीभावं हानिश्च बलवर्णयोः ।  
 रोगवृद्धिमयुक्त्या च \* दृष्ट्वा मरणमादिशेत् ॥ १० ॥  
 ऊर्ध्वश्वासं गतोष्माणं शूलोपहतवङ्क्षणम् ।  
 शर्म चानधिगच्छन्तं बुद्धिमान् परिवर्जयेत् ॥ ११ ॥  
 † अपस्वरभाषमाणं प्राप्तं मरणमात्मनः ॥  
 श्रोतारश्चाप्यशब्दस्य दूरतः परिवर्जयेत् ॥ १२ ॥  
 यं नरं सहसा रोगो दुर्बलं परिमुञ्चति ।  
 संशयप्राप्तमात्रेयो जीवितं तस्य मन्यते ॥

गङ्गाधरः—पेयमित्यादि स्पष्टम् ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—स्वरस्येत्यादि । स्वरस्य दुर्बलीभावं स्वरक्षीणत्वं दृष्ट्वा बल-  
 वर्णयोर्हानिश्च दृष्ट्वा अयुक्त्या युक्तिं विना अर्थादनुचितक्रमेण रोगवृद्धिश्च  
 दृष्ट्वा सर्वेषां रोगिणां मरणमादिशेत् ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—ऊर्ध्वेत्यादि । गतोष्माणं नित्योष्मस्थानवक्षःशिरोजिह्वादिषु  
 गतोऽतीत उष्मा यस्य तं तथा, शूलोपहतवङ्क्षणं वङ्क्षणदेशेऽतिशयशूलवन्तं  
 शर्म च क्षणमपि नाधिगच्छन्तं सर्वं रोगिणं बुद्धिमान् परिवर्जयेत् ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—अपस्वरेत्यादि । अपस्वरेण विकृतस्वरेण भाषमाणं नरम्  
 आत्मनो मरणं प्राप्तं परिवर्जयेत् । अशब्दस्य शब्दाभावे सति शब्दस्य  
 श्रोतारश्च परिवर्जयेदिति ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—यं नरमित्यादि । यं दुर्बलं रोगिणं नरं सहसा स रोगो  
 मुञ्चति तस्य जीवितं संशयप्राप्तमात्रेयो मन्यते कश्चित् कश्चिज्जीवति महा-

चक्रपाणिः—अयुक्तेनेत्यनुचितरूपेण अपस्वरमिति विकृतस्वरं यथा भवति तथा भाषमाणम् । किं

अथ चेज्ज्ञातयस्तस्य याचेरन् प्रणिपाततः ।

रसेनाद्यादिति ब्रूयान्नास्मै दद्याद्विशोधनम् ॥

मासेन चेन्न दृश्येत विशेषस्तस्य शोभनः ।

रसैश्चान्यैर्वहुविधैर्दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ १३ ॥

निष्ठूतञ्च पुरीषञ्च रेतश्चास्भसि मज्जति ।

यस्य तस्यायुषः प्राप्तमन्तमाहुर्मनीषिणः ॥ १४ ॥

कण्ठेनेति संशयप्राप्तमित्यनेन ख्यापितम् । तदाह अथ चेदित्यादि । वैदेयन प्रत्याख्यानानन्तरं चेद् यदि तस्य ज्ञातयो भ्रात्राद्यमात्यगणाः प्रणिपाततोऽस्य चिकित्सार्थं याचेरन्, तदा रसेन मांसरसेन पुष्ट्यर्थमद्यादिति वैद्यस्तान् ज्ञातिगणान् ब्रूयात् । न चास्मै दुर्व्वलाय सहसा रोगमुक्तये विशोधनं दद्यात् कर्षकत्वात् । ननु तेन किं स्यादित्यत आह—मासेनेत्यादि । चेद् यदि मांसरसेन मासमन्नादनेन तस्य दुर्व्वलस्य शोभनो विशेषः सुलक्षणयोगेन पूर्व्वभावाद्विशिष्टो भावो न दृश्यते, तदा बहुविधैरन्ये रसरदनेनापि तस्य जीवितं दुर्लभम् । यदि च मासेन मांसरसादनेन शोभनो विशेषो दृश्येत तदा स जीवेदिति मत्वा अन्यैर्वहुविधैः रसरदनेन चिकित्सेदिति भावः ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—निष्ठूतञ्चेत्यादि । निष्ठूतं निष्ठीवनम् ॥ १४ ॥

भाषमाणमित्याह—मरणमात्मन इति । मरिष्यामि मरिष्यामीति भाषमाणमित्यर्थः । श्रोतारब्धे त्यादिरिष्टानन्तरं 'संशयप्राप्तमात्रेयः' इत्यादि अनियतारिष्टतया मात्रेयस्यात्र मरणं प्रति सन्देह इति ब्रूते, तत्र, नारिष्टस्य मरणाव्यभिचारित्वमाचार्य्येण प्रयत्नेनोक्तम्, व्युत्पादितज्ञात्माभिः । किञ्च न च धीतसंशयस्यात्रेयस्य संशयोऽस्ति । तेन क्षिप्यव्युत्पत्त्यर्थमाचार्य्यः संशयं दर्शयति, तथा निर्णयं करोति । यथा "दृष्ट्वा प्रमेहं मधुरं सपिच्छं मधूपमं स्याद् द्विविधो विचारः" इत्यादौ संशयं दर्शयित्वा निर्णयं दर्शितवान्, तथा अत्रापि दुर्व्वलस्येह रोगमुक्तौ रिष्टं वा स्यात् सर्व्वथा सन्तर्पणाद् व्याधिक्षयो वा स्यादिति सन्देहः, अरिष्टपक्षे तु मरणम् । तत्र 'अथ चेत्' इत्यादिना परीक्षामारभते, परीक्षाञ्च मासादिना विशेषादालभ्य रिष्टत्वावधारणं भवतीति सुव्यवस्थोऽयं ग्रन्थः । दुर्लभमित्यप्राप्यम् ॥ ९—१३ ॥

निष्ठूयते यस्य दृश्यन्ते वर्णा बहुविधाः पृथक् ।  
 तच्च सीदेत् पयः प्राप्य न स जावितुमर्हति ॥ १५ ॥  
 पित्तमुष्मानुगं यस्य शङ्खौ प्राप्य विशुष्यति ।  
 स रोगः शङ्खको नाम त्रिरात्राद्धन्ति मानवम् ॥ १६ ॥  
 सफेनं रुधिरं यस्य सुहुरास्यात् प्रसिच्यते ।  
 शूलश्च तुद्यते कुक्षिः प्रत्याख्येयः स तादृशः ॥ १७ ॥  
 बलमांसक्षयस्तीव्रो रोगवृद्धिररोचकः ।  
 यस्यातुरस्य लक्ष्यन्ते त्रीन् पक्षान् न स जीवति ॥ १८ ॥

तत्र श्लोकः ।

विज्ञानानि मनुष्याणां मरणे प्रत्युपस्थिते ।  
 भवन्त्येतानि संपश्येदन्यान्येवंविधानि च ॥

गङ्गाधरः—निष्ठूयते इत्यादि । तच्च निष्ठूयते पयो जलं प्राप्य सीदेत् गलितं स्यात् ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—पित्तमित्यादिना शङ्खकस्यात्रारिष्टाधिकारत्वात् प्रदग्नेनम् ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—सफेनमित्यादि । स्पष्टम् ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—बलमांसेत्यादि ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थाशिपमाह—विज्ञानानीत्यादि । मनुष्याणामुपस्थितं मरणं प्रति एतानि विज्ञानानि भवन्ति, एतानि संपश्येत् । एवंविधान्यन्यानि च उपस्थितमरणविज्ञानानि सम्यक् पश्येत् । सर्वान्येवोपस्थितमरणविज्ञानानि मनुष्याणां भिषक् पश्येदिति भावः ।

चक्रपाणिः—निष्ठूयते इत्यादौ बहुविधवर्णयोगः पूर्वोरिष्टाद्विशेषः । सीदतीति मज्जति । 'पित्तम्' इत्यादिना सूत्रस्थानोक्तोऽपि शङ्खक इह मरणसूचकतयारिष्टत्वेनोच्यते । विज्ञानानीति

तानि सर्वाणि लक्ष्यन्ते न तु सर्वाणि मानवम् ।

विशन्ति विनशिष्यन्तं तस्माद् बोध्यानि सर्वशः ॥ १६ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने यस्य-  
श्यावनिमित्तीयमिन्द्रियं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ६ ॥

ननु सर्वाण्येवारिष्टचिह्नानि, तदि किं सर्वानेव पुरुषान्  
प्रविशन्ति इत्यत आह—तानीत्यादि । तानि उपस्थितमरणविज्ञानानि  
सर्वाण्येवैकैकं पुरुषं प्रति लक्ष्यन्ते कानि कानि जातानि इति कृत्वा अवैक्ष्यन्ते,  
कानि कस्य भवन्तीति नियमाभावात् । न तु सर्वाणि मरणलिङ्गानि  
विनशिष्यन्तं मरिष्यन्तमेकं मानवं विशन्ति । तस्मात् प्रतिनियतलिङ्गाभावात्  
सर्वशः सर्वाण्येवैकैकं मानवं प्रति बोध्यानि भवन्तीत्यर्थः ॥ १९ ॥

अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि ।

ति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरचिविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ इन्द्रियस्थानजल्पे  
‘ध्रुमस्कन्धे यस्यश्यावनिमित्तीयेन्द्रियजल्पाख्या नवमी शाखा ॥ ९ ॥

लक्षणा १ नयनादिवैकृतानि ज्ञेयानि । सर्वाणि लक्ष्यन्त इति नाना पुरुषेषु लक्ष्यन्ते । न तु  
सर्वाणि मानवं विद्वन्तीति न एकं पुरुषं सर्वाणि विद्वन्तीति ॥ १५—१९ ॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुराननश्रीमचक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां  
चरकतात्पर्यटीकायाम् इन्द्रियस्थाने यस्यश्यावनिमित्तीयेन्द्रियं  
नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

## दशमोऽध्यायः ।

अथातः सद्योमरणीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

सद्यस्तितिक्षतः प्राणान् लक्षणानि पृथक् पृथक् ।

अग्निवेश ! प्रवक्ष्यामि स स्पृष्टो यैर्न जीवति ॥ २ ॥

वाताष्ठीला सुसंवृत्ता तिष्ठन्ती दारुणा हृदि ।

तृष्णयाभिपरोतस्य सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ३ ॥

पिण्डके शिथिलीकृत्य जिह्वीकृत्य च नासिकाम् ।

वायुः शरीरे विचरन् सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ४ ॥

भ्रुवौ यस्य च्युते स्थानादन्तर्दाहश्च दारुणः ।

तस्य हिक्काकरो रोगः सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—अथ यस्यश्यावनिमित्तीयेन्द्रियानन्तरमतच्छायारिष्टप्रसङ्गात् सद्योमरणीयं सद्योमरणमधिकृत्य कृतमिन्द्रियं व्याख्यास्याम इति ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—सद्यस्तितिक्षत इत्यादि । प्राणान् सद्यस्तितिक्षतो वर्तमान-शरीरेण भोग्यभोगात् सद्यः क्षान्तीकुर्वतः पुरुषस्य पृथक् पृथक् लक्षणानि प्रवक्ष्याम्यग्नवेश ! स यैर्लक्षणैः स्पृष्टो न जीवति ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—वाताष्ठीलित्यादि । दारुणा वाताष्ठीला हृदि वक्षसि सुसंवृत्ता सती तिष्ठन्ती तृष्णयाभिपरीतस्य जीवितं सद्यो मुष्णाति चोरयति ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—पिण्डके इत्यादि । पुरुषस्य वायुः पिण्डके जान्वधोमांस-पिण्डद्वयं शिथिलीकृत्य नासिकाञ्च जिह्वीकृत्य कुटिलीकृत्य शरीरे विचरन् सद्यो जीवितं मुष्णाति ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—भ्रुवावित्यादि । यस्य यस्मिन् रोगे भ्रुवौ स्थानात् च्युते अधस्तानीचे भवतः, अन्तर्दाहश्च दारुणो भवति, स च रोगो यदि तस्य हिक्काकरः स्यात्, तदा तस्य जीवितं सद्यो मुष्णाति ॥ ५ ॥

चक्रपाणिः—व्यवहितमरणप्रतिपादकमरिष्टमभिधाय प्रत्यासन्नमरणप्रतिपादकरिष्टयुक्तः सद्यो-मरणीयोऽभिधीयते । 'सद्यः'शब्देनेह केचित् ससरात्रमिच्छन्ति, अपरे त्रिरात्रम् । तितिक्षत

जीणशोणितमांसस्य वायुरुद्ध्वगतिश्चरन् ।  
 उभे मन्ये समे यस्य सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ६ ॥  
 अन्तरेण गुदं गच्छन् नाभिश्च सहसानिलः ॐ ।  
 कृशस्य वङ्क्षणौ गृह्णन् सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ७ ॥  
 वितत्य पशुं काग्राणि गृहीत्वोश्च मारुतः ।  
 स्तिमितस्यायताक्षस्य सद्यो मुष्णाति जावितम् ॥ ८ ॥  
 हृदयश्च गुदे चोभे गृहीत्वा मारुतो बली ।  
 दुर्व्वलस्य विशेषेण सद्यो मुष्णाति जावितम् ॥ ९ ॥  
 वङ्क्षणौ च गुदे चोभे गृहीत्वा मारुतो बली ।  
 श्वासं संजनयन् जन्तोः सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—क्षीणेत्यादि । स्पष्टम् ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—अन्तरेणेत्यादि । कृशस्यानिलो गुदं नाभिश्चान्तरेण गुदनाभी  
 विना गच्छन् वङ्क्षणौ गृह्णन् जीवितं सद्यो मुष्णाति ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—वितत्येत्यादि । मारुतो नरस्य पशुं काग्राणि पार्श्वस्थानाम्  
 अग्राणि वितत्य विस्तृतीकृत्य उरो वक्षश्च गृहीत्वा स्तिमितस्य स्तब्धाङ्गस्य  
 आयताक्षस्य स्फारितनेत्रस्य तस्य जीवितं सद्यो मुष्णाति ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—हृदयञ्चेत्यादि । बली मारुतो नरस्य हृदयं वक्षो गुदे चोभे  
 उत्तरगुदश्चाधरगुदश्च गृहीत्वा सर्वस्यापि जीवितं सद्यो मुष्णाति । दुर्व्वलस्य  
 विशेषेणातिशीघ्रं जीवितं मुष्णाति ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—वङ्क्षणौ चेत्यादि । स्पष्टम् ॥ १० ॥

इति तितिक्षत इव, प्राणानां प्रियत्वेन स्वयं हननायोग्यत्वात् । पिण्डके इति जङ्घा-  
 पिण्डके ॥ १—६ ॥

चक्रपाणिः—गुदं नाभिञ्चान्तरेणेति गुदनाभिमध्ये । हृदयं गृहीत्वेति हृदयं स्वविकारेण  
 प्राप्येति ॥ ७—१० ॥

\* गुदं नाभिञ्चान्तरेण गृह्णाति सहसाऽनिलः इति चक्रोकः पाठः ।

नाभिं वस्तिशिरो मूत्रं पुरीषञ्चापि मारुतः ।

विवध्य \* जनयन् शूलं सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ११ ॥

भिद्येते वङ्क्षणौ यस्य वातशूलैः समन्ततः ।

भिन्नं पुरीषं तृष्णा च सद्यः प्राणान् जहाति सः ॥ १२ ॥

आप्लुतं मारुतेनेह शरीरं यस्य केवलम् ।

भिन्नं पुरीषं तृष्णा च सद्यः प्राणान् जहाति सः ॥ १३ ॥

शरीरं शोफितं यस्य वातशोफेन देहिनः ।

भिन्नं पुरीषं तृष्णा च सद्यः प्राणान् जहाति सः ॥ १४ ॥

पकाशयसमुत्थाना यस्य स्यात् परिकर्त्तिका ।

तृष्णा गुदग्रहश्चोद्यः सद्यः प्राणान् जहाति सः ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—नाभिमित्यादि । नरस्य मारुतो नाभिं विवध्य वस्तिशिरो विवध्य मूत्रं पुरीषञ्चापि विवध्य शूलं जनयन् जीवितं सद्यो मुष्णाति ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—भिद्येते इत्यादि । यस्य नरस्य वातशूलैर्वङ्क्षणौ समन्ततश्चतुर्दिक्षु भिद्येते भेदवत् पीड्येते, पुरीषञ्च भिन्नं द्रवीभूतं भवति, तृष्णा च भवति, स नरः प्राणान् सद्यो जहाति ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—आप्लुतमित्यादि । यस्य केवलं कृत्स्नं शरीरमिह मारुतेन आप्लुतं विगुणीभावेन व्याप्तं, पुरीषञ्च भिन्नं द्रवीभूतं, तृष्णा च वर्त्तते, स प्राणान् सद्यो जहाति ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—शरीरमित्यादि । स्पष्टम् ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—पकाशयेत्यादि । परिकर्त्तिका कर्त्तनवत् पीडा । गुदग्रहो गुदस्य रुक् ॥ १५ ॥

चक्रपाणिः—वस्तिशीर्षमिति वस्त्यूद्धभागम् । प्रच्छिन्नमिति प्रच्छिन्नमिव प्रच्छिन्नं छेदनाकार-वेदनायुक्तत्वात् । आप्लुतमिति व्याप्तम् । शोफितमिति शोफयुक्तम् । परिकर्त्तिका परि-कर्त्तनाकारा वेदना ॥ ११—१५ ॥

\* वस्तिशिरः इत्यत्र वस्तिशीर्षं तथा विवध्य इत्यत्र प्रच्छिन्नमिति पाठान्तरम् ।

पकाशयमधिष्ठाय हत्वा संज्ञाञ्च मास्तः ।

कण्ठे घुर्घुरकं कृत्वा सद्यो हरति जीवितम् ॥ १६ ॥

दन्ताः कर्दमदिग्धाभा मुखं चूर्णकसंयुतम् ।

सिप्रायन्ते च गात्राणि लिङ्गं सद्यो मरिष्यतः ॥ १७ ॥

तृष्णाश्वासशिरोरोग-मोहदौर्जल्यकूजनैः ।

स्पृष्टः प्राणान् जहात्याशु शकृद्भेदेन चातुरः ॥ १८ ॥

तत्र श्लोकः ।

एतानि खलु लिङ्गानि यः सम्यगवबुध्यते ।

स जीवितञ्च मर्त्यानां मरणञ्चापि बुध्यते ॥ १९ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतै इन्द्रियस्थाने सद्यो-

मरणीयमिन्द्रियं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—पकाशयत्यादि । मास्तः पकाशयमधिष्ठाय सद्यश्च हत्वा कण्ठे घुर्घुरकं शब्दं कृत्वा नरस्य प्राणान् सद्यो हरति ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—दन्ता इत्यादि । सद्यो मरिष्यतः पुरुषस्य लिङ्गं—दन्ताः कर्दम-दिग्धाभा भवन्ति, मुखञ्च चूर्णकसंयुतं शम्बुकशुक्तिकादिभस्मचूर्णयुक्तमिव भवति, गात्राणि च सिप्रायन्ते । सिप्रा नदी, सेवाचरन्ति स्वेदवाहुत्येन रोमाञ्चायन्ते वा इति ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—तृष्णेत्यादि । आतुरो येन केनापि व्याधिना व्याधित-स्तृष्णादिभिः स्पृष्टः शकृद्भेदेन च स्पृष्टः आशु प्राणान् जहाति ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—तत्र श्लोक इत्यादिनाशीरस्याध्यायस्य ॥ १९ ॥

अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि ।

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरत्नविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ इन्द्रियस्थानजल्पे पञ्चमस्कन्धे सद्योमरणीयेन्द्रियजलपाख्या दशमी शाखा ॥ १० ॥

चक्रपाणिः—घुर्घुरकमिति घुर्घुरकमित्याकारशब्दः, स कफात्मकेन श्वासेन भवति । मुखं चूर्णकसन्निभं श्वेत्यात् । सिप्रायन्त इति सिप्रा नदीवत् स्वेदप्रादुर्भावादाचरन्तीति सिप्रायन्ते, किंवा सिप्रायन्त इति शिथिलीभवन्ति अनेकार्थत्वाद् धातूनाम् । स जीवितञ्चावबुध्यत इति यथोक्तरीत्याभावेन जीवितं बुध्यते । तेन रिष्टसङ्गावेन च मरणं बुध्यत इति ॥ १६—१९ ॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुराननश्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां चरक-तात्पर्यटीकायाम् इन्द्रियस्थाने सद्योमरणीयेन्द्रियं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥



## एकादशोऽध्यायः ।

अथातोऽणुज्योतीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अणुज्योतिरनेकाग्रो दुश्छायो दुर्मर्नाः सदा ।

रतिं न लभते गन्ता परलोकं समान्तरे ॥ २ ॥

बलिं बलिभुजो यस्य प्रणीतं नोपभुञ्जते ।

लोकान्तरगतः पिण्डं भुङ्क्ते संवत्सरेण सः ॥ ३ ॥

सप्तर्षीणां समीपस्थां यो न पश्यत्यरुन्धतीम् ।

संवत्सरान्तरे जन्तुः स पश्यति महत् तमः ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—अथ सद्योमरणीयेन्द्रियानन्तरं छायाधिकाराद्धेतोरणुज्योतीयम्  
अणुज्योतिरिति पदमधिकृत्य कृतमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—अणुज्योतिरित्यादि । समान्तरे संवत्सरानन्तरं परलोकं गन्ता  
गमनशीलः पुरुषः । अणु ज्योतिः सर्व्वशरीरगतं तेजः, अल्पो वा जठराग्निर्यस्य  
ओऽणुज्योतिः । अनेकाग्रो नानाविधतया व्याकुलचित्तः, न एकाग्र  
इत्यर्थः । दुश्छायोऽशोभमानच्छविः । दुर्मर्ना दुष्टं दुःखितं वा मनो यस्य सः ।  
तेनानेकाग्र इत्यनेन न पौनरुक्त्यम् । रतिम् अवस्थितचित्तत्वं न लभते ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—बलिमित्यादि । यस्य निमित्तं प्रणीतं कल्पितं बलिं भोज्यं  
बलिभुजः काका नोपभुञ्जते, स संवत्सरेण लोकान्तरगतः सन् पिण्डं  
भुङ्क्ते ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—सप्तर्षीणामित्यादि । स्वर्गार्गे गगनोपरि वसिष्ठादिसप्तर्षिणाम-

चक्रपाणिः—सद्यःकालनियतं रिष्टमभिधाय कालविशेषनियतारिष्टाभिधायकमणुज्योतीय-  
मुच्यते । अणुज्योतिश्चेह यथाश्रुतं रोगं वर्ज्जयित्वा संज्ञायामनुक्रियते, ज्योतिः सकलशरीरान्तर्गतं  
तेजः, अणुज्योतिर्मन्दान्निः । अनेकाग्रो व्याकुलचित्तः । दुर्मर्ना इत्यनेन मनोदौर्बल्यमित्युच्यते,  
तेन न पौनरुक्त्यम् । समान्तरमिति समामध्ये ॥ १।२ ॥

चक्रपाणिः—बलिमिति वायसानां विधिवद्दत्तमन्नम् । महत् तम इति मरणरूपं तमः ।

विकृत्या विनिमित्तं यः शोभामुपचयं धनम् ।

प्राप्नोत्यतो वा विभ्रंशं समान्तं तस्य जीवितम् ॥ ५ ॥

भक्तिः शीलं स्मृतिस्त्यागो बुद्धिर्वलमहेतुकम् ।

पङ्केतानि निवर्तन्ते पङ्क्तिर्मासैर्मरिष्यतः ॥ ६ ॥

धमनीनामपूर्वार्णां जालमत्यर्थशोभनम् ।

ललाटे दृश्यते यस्य पङ्क्तिर्मासैर्मरिष्यति ॥ ७ ॥

लेखाभिश्चन्द्रवक्राभिर्ललाटमुपचीयते ।

यस्य तस्यायुषः पङ्क्तिर्मासैरन्तं समादिशेत् ॥ ८ ॥

नक्षत्रसमीपस्थामरुन्धतीं तन्नामक्षूद्रतमनक्षत्रं यो न पश्यति, स जन्तुः संवत्-  
सरान्तरे महत् तमो यमालयं पश्यति ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—विकृत्येत्यादि । विनिमित्तं शोभोपचयधनलाभसूचकं  
स्वाभाविकं शरीरसम्बन्धि रेखाचिह्नादिकं लक्षणं विना विकृत्या विकारेण  
तत्तच्छोभादिमूचकं चिह्नं यः प्राप्नोति अतः शोभोपचयधनचिह्नाद् वा विभ्रंशं  
प्राप्नोति तस्य समान्तं वत्सरान्तपर्यन्तं जीवितम् ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—भक्तिरित्यादि । पङ्क्तिर्मासैर्मरिष्यतः पुरुषस्य भक्त्यादि-  
बलान्तानि पङ्केतानि अहेतुकं निवर्तन्ते । इति स्वभावविप्रतिपत्तिः ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—धमनीनामित्यादि । यस्य पूर्वं यादृशीनां धमनीनां जालं  
वर्तते तद्विपश्ययेण धमनीनां जालमत्यर्थशोभनं ललाटे दृश्यते, स पङ्क्ति-  
र्मासैर्मरिष्यति ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—लेखाभिरित्यादि । यस्य ललाटं चन्द्रवक्राभिर्द्वितीया-  
तृतीयाभ्युदितचन्द्र इव वक्राभिर्लेखाभिर्वह्नीभिरुपचीयते वृध्यते, तस्य नरस्यायुषः  
अन्तं शेषं पङ्क्तिर्मासैर्वैद्यः समादिशेत् ॥ ८ ॥

विकृत्येति प्रसिद्धं धनादिकारणं विना । विनिमित्तमिति शरीरसम्बन्धधनादिसूचकलक्षणं विना  
कस्मिंश्च काले धनादि तदुपचयो वा भवति, तच्चानिमित्तलक्षणत्वादरिष्टं प्रथमाध्याय एवोक्तम् ।  
उपचयमिति शरीर एवोपचयम् । अतो विभ्रंशमिति शोभाद्यभावम् ॥ ३—५ ॥

चक्रपाणिः—भक्तिरिच्छा । अहेतुकमिति क्रियाविशेषणम् । संख्येयनिर्देशादेव पटुत्वं प्राप्तं  
पुनः 'पङ्क्ति' इति पङ्क्तिं पण्णां समुदितानामेव निष्कृतिरिति दर्शयितुम् । जालमिति  
जालाकारम् । चन्द्रवक्राभिरिति बालचन्द्रवक्राभिः ॥ ६—८ ॥

शरीरकम्पः संमोहो गतिर्वचनमेव च ।  
 मत्तस्येवोपलक्ष्यन्ते यस्य मासं न जीवति ॥ ६ ॥  
 रेतोमूत्रपुरीषाणि यस्य मज्जन्ति चास्मसि ।  
 स मासात् स्वजनद्वेष्टा मृत्युवारिणि मज्जति ॥ १० ॥  
 हस्तपादं मुखञ्चोभे विशेषाद् यस्य शुष्यतः ।  
 शूयेते वा विना देहात् स च मासाद् विनश्यति ॥ ११ ॥  
 ललाटे वस्तिशीर्षे वा नीला यस्य प्रकाशते ।  
 राजी बालेन्दुकुटिला न स जीवितुमर्हति ॥ १२ ॥  
 प्रवालगुटिकाभासा यस्य गात्रे मसूरिकाः ।  
 उत्पद्याशु विलीयन्ते नचिरात् स विनश्यति ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—शरीरेत्यादि । यस्य मत्तस्य मदकरद्रव्यं भुक्तवतो मदेन यथा शरीरकम्पसम्मोहगतिवचनानि तथा उपलक्ष्यन्ते, स मासं न जीवति ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—रेत इत्यादि । यद्यपि नवमाध्याये निष्ठूतञ्च पुरीषञ्चेत्यादिना रिष्टमिदमुक्तम्, तथाप्यत्र स्वजनद्वेष्टृत्वलक्षणमधिकमिति लक्षणान्तरमिदं न पुनरुक्तम् ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—हस्तपादमित्यादि । यस्य हस्तपादं मुखञ्चेत्युभे विशेषाद् अङ्गान्तरमपेक्ष्यातिशयेन देहात् मध्यदेहाद्विना शुष्यतः देहो न शुष्यतीत्यर्थः, स मासात् परं विनश्यति । यस्य च हस्तपादं मुखञ्चेत्युभे देहाद्विना विशेषात् शूयेते शोफवती भवतः देहस्तु न शूनः स्यात्, स च मासात् परं विनश्यति ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—ललाटे इत्यादि । यस्य ललाटे वस्तिशीर्षे वा बालेन्दुकुटिला नीला राजी रेखा प्रकाशते उद्भवति, स जीवितुं नार्हति ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—प्रवालेत्यादि । यस्य गात्रे प्रवालगुटिकाभासा मसूरिका लोके

चक्रपाणिः—रेत इत्याद्यरिष्टम्, 'निष्ठूतञ्च पुरीषम्' इत्यादिना, यद्यप्युक्तम्, तथापीह समासवचनात् समुद्दितानामेव रेतःप्रभृतीनां मज्जनं स्वजनद्वेष्टे सति मारकं भवतीति ज्ञेयम् ॥ ९।१० ॥

चक्रपाणिः—'उभे' इति वचनं मुखात् हस्तादिशोपमिति दर्शयति । प्रवालकृतगुटिकावत्

ग्रीवामर्दो न बलवान् जिह्वाश्रयथुरेव च ।  
 ब्रध्नास्यगलपाकश्च यस्य पक्वं तमादिशेत् ॥ १४ ॥  
 सम्भ्रमोऽति प्रलापोऽति पर्वभेदश्च दारुणः ।  
 कालपाशपरीतस्य त्रयमेतत् प्रवर्त्तते ॥ १५ ॥  
 प्रमुहोल्लुञ्चयेत् केशान् परान् गृह्णात्यतीव च ।  
 नरः स्वस्थवदाहार-वचनः कालचोदितः ॥ १६ ॥  
 समीपे चक्षुषः कृत्वा मृगयेताङ्गुलीकरम् ।  
 स्मर्यतेऽपि च कालांश्च ऊर्ध्वाक्षोऽनिमिषेक्षणाः ॥  
 शयनादासनादङ्गात् काण्ठात् कुड्यादथापि च ।  
 असन्मृगयते किञ्चित् स मुह्यन् कालचोदितः ॥ १७ ॥

वसन्तनामिका व्याधिः उत्पद्याथु विलीयन्ते लयमापद्यन्ते, स नचिरात् शीघ्रं  
 विनश्यति ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—ग्रीवेत्यादि । यस्य ग्रीवामर्दो ग्रीवाग्रहः । न बलं वास्ति  
 जिह्वाश्रयथुश्च आस्यगलपाकश्च तं बुद्ध्वा पक्वं आयुषोऽन्तत्वेन परिणतम्  
 आदिशेत् ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—सम्भ्रम इत्यादि । सम्भ्रमोऽतिशयेन भ्रान्तिः । त्रयमेतन्मिलितं  
 कालपाशपरीतस्य ( कालपक्षशरीरस्य ) आयुषः परिशेषाभाववतो नरस्य  
 प्रवर्त्तते ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—प्रमुहेत्यादि । कालचोदित आयुषः कालपरिणामेन चोदितः  
 प्रेरितो नरः प्रमुह्य मुग्धो भूत्वा केशान् स्वकरेणोल्लुञ्चेत् उत्पाटयेत् एवं मुग्धो  
 भूत्वा अतीव च परान् गृह्णाति तथा यथा प्रायेण कष्टात् मुच्यन्ते । किन्तु  
 स्वस्थवदाहारवचनश्च भवति ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—समीपे इत्यादिश्लोकद्वयम् । यो नरो मुह्यन् मोहं प्राप्तः  
 सन् अज्ञान इव सन् स्वचक्षुषः समीपे कृत्वा अङ्गुलीकरं मृगयते किमपि यत् तत्र  
 आभासन्त इति प्रवालगुडिकाभासाः । कालपाशपरीतस्येति शीघ्रं मरिष्यन्तः । परिगृह्णाति  
 स्वस्थवदाहारमिति योजना, अवलः सन् स्वस्थवदाहारमत्यर्थं करोतीत्यर्थः ॥ ११—१६ ॥

चक्रपाणिः—समीपे इत्यादि । चक्षुःसमीपेऽङ्गुलीकरं कृत्वा तत् पश्यन् अङ्गुलिकरञ्च मृगयते

अहास्यहासी संमुह्यन् यो लेढि दशनच्छदौ ।  
 शीतपादकरोच्छ्वासो यो नरो न स जीवति ॥ १८ ॥  
 आह्वयंस्तं समीपस्थं स्वजनं जनमेव वा ।  
 महामोहावृतमनाः पश्यन्नपि न पश्यति ॥ १९ ॥  
 अयोगमतियोगं वा शरीरे मतिमान् भिषक् ।  
 खादीनां युगपद् दृष्ट्वा भेषजं नावचारयेत् ॥ २० ॥

नास्ति । ऊर्द्धाक्षश्च सन् अनिमिषेक्षणः अनिमिषेण दृष्टिशीलश्च सन् कालान् दिवारात्रिरूपान् स्मरते विस्मयीभवति । असच्च वस्तु किञ्चित् यत् तत्र तत्र नास्ति तत् तत्र तत्रासीदिति मत्वा मोहेन शयनात् शय्यायाम् आसनादासने तथाङ्गात् स्वकीयाङ्गे काष्ठात् कुड्यात् काष्ठकुड्यादिषु च मृगयते अन्वेषणं कुरुते, स कालचोदितो मरणकालप्रेरितभाववान् ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—अहास्येत्यादि । यो नरो संमुह्यन् मदमुग्ध इव सन् अहास्यहासी हास्यविषयासत्त्वे हासशीलः, दशनच्छदावोष्ठौ लेढि, यश्च शीतपादकरोच्छ्वासश्च, स न जीवति ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—आह्वयंस्तमित्यादि । यो नरः समीपस्थं स्वजनं स्वजनभिन्नं जनमेव वा आह्वयंस्तं स्वजनं जनं वा महामोहावृतमनाः सन् पश्यन्नपि न पश्यति परिचयशीलो न भवति, स न जीवतीति पूर्व्वेणान्वयः ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—अयोगमित्यादि । खादीनामाकाशादीनां शब्दादिमतां विषयाणां सञ्ज्ञावेऽपि श्रोत्रादिभिरयोगो यदा तदैव श्रोत्रस्पर्शनेन्द्रियादिभिरतियोग इति युगपदाकाशादीनां स्पर्शेन्द्रियाद्ययोगातियोगौ शरीरे दृष्ट्वा मतिमान् भिषक् भेषजं न कारयेत् ॥ २० ॥

प्रार्थयते । स्मरते विस्मितो भवति । ऊर्द्धगम् अनिमिषञ्च ईक्षणं यस्य स तथा सन् मृगयते । अविद्यमानं शयनासनादि मृगयते प्रार्थयते ॥ १७ ॥

चक्रपाणिः—अहास्यहासी इति अहास्यविषये हासवान् । दशनच्छदौ ओष्ठौ । 'शीत' शब्दः उच्छ्वासान्तैः संयध्यते । जनमिति गोत्रलीवर्हन्त्यायेनास्वजनम् । खादीनामिति खादिकार्याणां श्रोत्रादीनां योग्यविषयाग्रहणमयोगः ॥ १८—२० ॥

अतिप्रवृद्धा दोषाणां मनसश्च वलक्ष्यात् ।  
 वासमुत्सृजति क्षिप्रं शरीरी देहसंज्ञकम् ॥ २१ ॥  
 वर्णस्वरावग्निलं वागिन्द्रियमनोवलम् ।  
 हीयतेऽसुक्षये निद्रा नित्या भवति वा न वा ॥ २२ ॥  
 भिषग्भेषजपानान्नगुरुमित्रद्विषश्च ये ।  
 वशगाः सर्वे एवैते वोद्धव्याः समवर्त्तिनः ॥  
 एतेषु रोगः क्रमते भेषजं प्रतिहन्यते ।  
 नैवामन्त्रानि भुञ्जीत न चोदकमपि स्पृशेत् ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—अतीत्यादि । शरीरी आत्मा दोषाणामतिप्रवृद्धा मनसो वलक्ष्याच्च देहसंज्ञकं वासं वसतिस्थानं क्षिप्रमुत्सृजति ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—तत्रापि कारणान्तरमाह—वर्णेत्यादि । वर्णश्च स्वरश्चाग्निलश्च वाचामिन्द्रियाणां मनसश्च वलञ्चेति सर्वं नृणामसुक्षये हीयते । निद्रा च नित्या अविरता वा भवति नैव वा भवति ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—भिषगित्यादि । ये भिषगादिकानामेकद्वयादीनां द्वेष्टार एते सर्वे एव नराः समवर्त्तिनो यमस्य वशगा वोद्धव्याः । भिषगादिद्वेषिणां दोषम् आह—एतेष्वित्यादि । एतेषु भिषगादिद्वेषिषु रोगः क्रमते आक्रमते वर्द्धते इत्यर्थः । सम्यक्कृतमपि भेषजं प्रतिहन्यते भेषजेन रोगो न हन्यते, रोगेण

चक्रपाणिः—वासमिव वासं शरीरमात्मनो गृहमिव भवति । न वा भवतीति सर्व्वथा न भवतीत्यर्थः ॥ २१।२२ ॥

चक्रपाणिः—समवर्त्तिन इति यमस्य । अन्ये तु 'समवर्त्तिन'शब्देन कालमृत्युं व्युचते । 'च'-शब्देनोक्तवक्ष्यमाणसकलारिष्टग्रहणं कुर्वन्ति । तेन सर्व्वमेव रिष्टं कालमृत्योः परं भवतीति रिष्टं वर्णयन्ति । अत्र च द्वेषमनु रोगक्रमणम्, निष्फलो भेषजप्रयोगश्चापि स्यादित्याह—

पादाः समेताश्चत्वारः सम्यन्नाः साधकैर्गुणैः ।

व्यर्था गतायुषो द्रव्याद्विना नारित गुणोदयः ॥ २४ ॥

परीक्ष्यमायुर्भिषजा नीरुजस्यातुरस्य च ।

आयुर्वेदफलं कृत्स्नमायुर्देह्यनुवर्त्तते ॥ २५ ॥

पुनर्भेषजं हन्यते । एषां भिषगादिद्वेपिणामन्नानि साधुर्न भुञ्जीत न चोदक-  
मपि स्पृशेत् पानस्य का कथा । भिषगादिद्वेपिणां मृतप्रायत्वेनान्नजलयो-  
रशुद्धत्वात् । नन्वेवं चेत् सव्वपामेव जातारिष्टानामन्नजलग्रहणं न प्रसज्येतेति  
चेन्न, तथाविधत्वेन ज्ञातत्वे मृतप्रायत्वेऽपि भिषगादिद्वेपिणामति-  
पापात् ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—ननु जातारिष्टानां गुणवच्चतुष्पादेऽपि सति किं नारोग्यं  
स्यादित्यत आह—पादा इत्यादि । साधकैः फलसाधकतमैर्भिषगादीनां  
श्रुतपर्यवदातत्वादिभिर्गुणैः सम्पन्नाश्चत्वारः पादाः भिषग्द्रव्योपस्थातुरोगिणः  
समेता मिलिता अपि गतायुषो नरस्य व्यर्था निष्फलाः आरोग्यफलस्य न  
साधकाः । कस्मादित्यत आह—द्रव्यादित्यादि । यस्माद्द्रव्यात् जीवनहेतोः  
आयुषो विना गुणोदयश्चिकित्साफलस्यारोग्यस्योदयो नास्ति ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—परीक्ष्यमित्यादि । नीरुजस्य स्वस्थस्य आतुरस्य चायुर्भिषजा  
परीक्ष्यं परीक्षितव्यम् । कृत्स्नमायुर्वेदफलमायुर्देही यस्मादनुवर्त्तते ॥ २५ ॥

पुतेष्वित्यादि । भेषजं प्रतिहन्यत इति सम्यक् कृतमपि भेषजं हन्यत इत्यर्थः । नैषामन्नानि  
भुञ्जीत इति प्रायेण तदन्नस्यारिष्टत्वात् । एवमुदकप्रतिषेधेऽपि बोध्यम् ॥ २३ ॥

चक्रपाणिः—पादा भेषजादयः । साधकैर्गुणैरिति श्रुते पर्यवदातत्वमित्यादिभिः पौद्गुणैः  
सम्पन्नाः । कस्माद् वैद्यादयो गतायुषो रोगान् न साधयन्तीत्याह—द्रव्यं विना नास्ति गुणोदय  
इति, द्रव्यं कारणं विना आरोग्यलक्षणो गुणोदयो नास्ति, कारणञ्चेहारोग्योत्पत्तौ अगतायुर्द्रव्यम्,  
तच्च नास्तीति भावः । आयुर्ज्ञानफलं विद्यमानायुषि भेषजदानात् ॥ २४२५ ॥

तत्र श्लोकः ।

क्रियापथमतिक्रान्ताः केवलं देहमाप्नुताः ।

दोषा यत् कुर्वन्ते चिह्नं तदरिष्टं निरुच्यते ॥ २६ ॥

इत्यग्नवेशकृतै तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतै इन्द्रियस्थाने अणु-  
ज्योतीयेन्द्रियं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—नन्वरिष्टं किं तावदित्यत आह—तत्र श्लोक इति । क्रियापथ-  
मित्यादि । दोषा वातादयः क्रियापथं चिकित्साक्रियायाः पन्थानम् आरोग्य-  
लक्षणफलोदयजननव्यापारोपायमतिक्रान्ता उल्लङ्घ्य केवलं कृत्स्नं देहम्  
आप्नुता आप्लाव्य यच्चिह्नं कुर्वन्ते, तच्चिह्नमरिष्टं निरुच्यते । तदेव नियत-  
मरणाख्यापकं लिङ्गमिति बोध्यम् ॥ २६ ॥

अभ्यायं समापयति—अग्रीत्यादि ।

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरचकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ  
इन्द्रियस्थानजल्पे पञ्चमस्कन्धेऽणुज्योतीयेन्द्रिय-  
जल्पाख्यैकादशी शाखा ॥ ११ ॥

चक्रपाणिः—रिष्टलक्षणमाह—क्रियापथमतिक्रान्ता इत्यादि । आप्लुता इति गताः ।  
दृतादिगतारिष्टलक्षणमेतन्न भवति, किन्तु शरीररिष्टलक्षणम् । तेन व्याप्तिर्लक्षणस्य वाच्या ।  
सर्वरिष्टव्यापकन्तु लक्षणम्, यथा—अन्तर्गतस्य लिङ्गमिति, तच्च 'इन्द्रिय'पदेनैवोक्तमिति ।  
प्रथमाध्याय एव 'इन्द्रिय'पदव्याख्या प्रोक्ता । ननु निर्निमित्तं रिष्टमित्युक्तम्, इह  
दोषजन्यत्वं रिष्टानामुच्यत इति न कथं विरोधः ? निर्निमित्तत्वं अनुपलभ्यमाननिमित्तता, तस्मान्न  
विरोधः ॥ २६ ॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुराननश्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां  
चरकतात्पर्यटीकायाम् इन्द्रियस्थाने अणुज्योतीयेन्द्रियं  
नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥



## द्वादशोऽध्यायः ।

अथातो गोमयचूर्णीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

यस्य गोमयचूर्णाभं चूर्णं मूर्द्धनि जायते ।

सस्नेहे ॐ भ्रश्यते चैव मासान्तं तस्य जीवितम् ॥ २ ॥

निर्घर्षन्निव यः पादौ च्युतांसः परिधावति ।

विकृत्या न स लोकेऽस्मिंश्चिरं वसति मानवः ॥ ३ ॥

यस्य स्नातानुलितस्य पूर्वं शुष्यत्युरो भृशम् ।

आर्द्रेषु सर्वगात्रेषु सोऽर्द्धमासं न जीवति ॥ ४ ॥

**गङ्गाधरः**—अथाणुज्योतीयेन्द्रियानन्तरं छायाधिकारात् पारिशेष्याच्च गोमय-  
चूर्णीयं गोमयचूर्णाभमिति पदार्थमधिकृत्य कृतमिन्द्रियं व्याख्यास्याम  
इत्यर्थः ॥ १ ॥

**गङ्गाधरः**—यस्येत्यादि । यस्य नरस्य मूर्द्धनि गोमयचूर्णाभं चूर्णं  
वर्णाकृतिभ्यां जायते सस्नेहे च तस्मिन् मूर्द्धनि तैलादिना सस्नेहे कृते च  
सति तद्गोमयचूर्णाभचूर्णं भ्रश्यते लीयते एव, तस्य मासान्तं जीवितम् । सुश्रुते-  
ऽप्युक्तं “गोमयचूर्णप्रकाशस्य वा रजसो दर्शनमुत्तमाङ्गे विलयनञ्च” इति ॥ २ ॥

**गङ्गाधरः**—निर्घर्षन्निवेत्यादि । विकृत्या विकारवशात् न तु प्रकृत्या  
तेनाकस्माद् यः पादौ निर्घर्षन्निव च्युतांसः सन्धिवन्धनान्मुक्तभुजोर्द्ध्वं देश-  
चं सन् परिधावति, स मानवस्त्वस्मिन् लोके चिरं न वसति । प्रकृत्या चेदेवम्,  
न तदाऽचिरान्म्रियते इत्यर्थः ॥ ३ ॥

**गङ्गाधरः**—यस्येत्यादि । स्नातः सन्ननुलिप्तोऽगुरुचन्दनादिना यस्तस्य यदि  
सर्वगात्रेषु आर्द्रेषु सत्सु पूर्वम् अङ्गान्तरस्थानुलेपनं न विशुष्य उरो वक्षःस्थल-  
मेव भृशं शुष्यति, सोऽर्द्धमासं न जीवति ॥ ४ ॥

**चक्रपाणिः**—पारिशेष्याद् गोमयचूर्णीयमुच्यते । चूर्णमित्यस्य विशेषणं सस्नेहमिति ।  
निकपन्निवेति घर्षन्निव । विकृत्येत्यनेन पादाद्यवघर्षणादि निषेधयति । ‘पूर्वमुः शुष्यति’  
इत्यभिधानादेव श्लेषगात्रार्द्रतायां लब्धायां पुनः ‘आर्द्रेषु सर्वगात्रेषु’ इति वचनात् विशेषेण  
अपरगात्राणामार्द्रतां दर्शयति ॥ १—४ ॥

\* सस्नेहे इत्यत्र सस्नेहं तथा निर्घर्षन्निवेत्यत्र निकपन्निव इति चक्रधृतः पाठः ।

ॐ समुद्दिश्यातुरं वद्यः सम्पादयितुमौषधम् ।  
 यतमानो न शक्नोति दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ ५ ॥  
 विज्ञातं बहुशः सिद्धं विधिवच्चावचारितम् ।  
 न सिध्यत्यौषधं यस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम् ॥ ६ ॥  
 आहारमपि भुञ्जानो भिषजा मूपकल्पितम् ।  
 यः फलं तस्य नाप्नोति दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ ७ ॥  
 दूताधिकारे वद्यन्ते लक्षणानि मुमूर्षताम् ।  
 यानि दृष्ट्वा भिषक् प्राज्ञः प्रत्याख्यायादसंशयम् ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—समुद्दिश्येत्यादि । वैद्य आतुरं समुद्दिश्य यदातुरार्थम् औषधं सम्पादयितुं प्रस्तुतं कर्तुं यतमानोऽपि अत्यर्थप्रयत्नवानपि प्रस्तुतं कर्तुं केनाप्यभावेन न शक्नोति, तस्य जीवितं दुर्लभम् । कश्चिज्जीवति बहुकष्टेनेति भावः ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—विज्ञातमित्यादि । वैद्येन बहुशो बहुधा विज्ञातं सिद्धं दृष्ट-फलत्वेन यदौषधं बहुधा विज्ञातं तदेवौषधं यस्यातुरस्य विधिवच्चावचारितं सेवितं कृतं किन्तु तदौषधं फलदत्वेन न सिध्यति चेत् तदा तस्य चिकित्सितं नास्ति, स मरिष्यतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—आहारमित्यादि । यः पुरुषो भिषजा मूपकल्पितं शास्त्रविधिना युक्त्या शोभनमुपकल्पितमाहारं भुञ्जानो न तस्याहारस्य फलं तत्तद् यदीप्सितं तन्नाप्नोति, तस्य जीवितं दुर्लभम् । कष्टेन कश्चिज्जीवतीति भावः ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—दूताधिकारे इत्यादि । प्रत्याख्यायादातुरमिति शेषः । सुश्रुतेऽप्युक्तम्—दूतदर्शनसम्भाषावेशश्चेष्टितमेव च । ऋक्षं वेलातिथिश्चैव निमित्तं शकुनोऽनिलः । देशो वैद्यस्य वाग्देह-मनसाञ्च विचेष्टितम् । कथयन्त्यातुरगतं शुभं वा यदि वाशुभम् ॥ इति ॥ ८ ॥

\* चक्रपाणिः—यमुद्दिश्येति, यस्यार्थः । सिद्धमित्यनेन रूपेण बहुशो ज्ञातम् । आहारम् इत्याद्यरिष्टं रोगविषयम् । तेन 'दृष्टञ्च गुणसम्पन्नम्' इत्यादिग्रन्थोक्तेन स्वस्वविषयेणारिष्टेन समं न पौनरुक्त्यम् ॥ ५—८ ॥

\* यमुद्दिश्य इति चक्रवर्णितः पाठः ।

मुक्तकेशेऽथवा नग्ने रुदत्यप्रयतेऽथवा ।

भिषगभ्यागतं दृष्ट्वा दूतं मरणमादिशेत् ॥

सुप्तै भिषजि ये दूताश्छिन्दत्यपि च भिन्दति ।

आगच्छन्ति भिषक् तेषां न भर्तारमनुव्रजेत् ॥ ९ ॥

जुह्वत्यग्निसथो पिण्डान् पितृभ्यो निर्व्वपत्यपि ।

वैद्ये दूता य आयान्ति \* घ्नन्ति प्रतिजिघांसवः ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—मुक्तकेशे इत्यादि । भिषक् स्वस्मिन् मुक्तकेशे सति अथवा नग्ने, विवस्त्रे सति किंवा रुदति सति अथ वाप्यप्रयतेऽथुचौ सति । मरणाद्य-शौचन्तु नाप्रयतं, तदात्वे हि तदेव प्रयतम् । इत्यतो विट्स्पर्शाद्यपवित्रे सति यस्यातुरस्य चिकित्सामुद्दिश्य स्वस्याह्वानार्थं स्वमभिलक्ष्य आगतं दूतं दृष्ट्वा तस्यातुरस्य मरणमादिशेत् । सुप्त इत्यादि । भिषजि स्वस्मिन् सुप्ते निद्रिते सति अथवा किमपि च्छिन्दति सति किंवा किमपि भिन्दति सति ये दूता यस्यातुरस्य चिकित्सार्थं स्वमाह्वयितुमागच्छन्ति तस्य भर्तारं तमातुरं चिकित्सितुं भिषङ् नानुव्रजेत् ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—जुह्वतीत्यादि । वैद्ये जुह्वति अग्निं प्रज्वालयति अग्निं प्रज्वाल्य होमं वा कुर्व्वति तण्डुलादिकं पचति वा सति, पिण्डान् पितृभ्यो निर्व्वपति वा सति ये दूता वैद्यमाह्वयितुमायान्ति ते प्रतिजिघांसवो दस्यव इव तमातुरं घ्नन्ति । सुश्रुतेऽप्युक्तम्—दक्षिणाभिमुखं देशं त्वथुचौ वा हुताशनम् । ज्वालयन्तं पचन्तं वा क्रूरकर्म्मणि चोद्यतम् । नग्नं भूमौ शयानं वा वेगोत्सर्गेषु वाऽथुचिम् । प्रकीर्णकेशमभ्यक्तं स्विन्नं विह्वमेव च । वैद्यं य उपसर्पेन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः । वैद्यस्य पैत्रे दैवे वा काय्य चोत्पातदर्शने ॥ इति ॥ १० ॥

चक्रपाणिः—अप्रयत इति अपवित्रे । सुप्त इत्यादि । न भर्तारमिति न दूतप्रेषकमातुरम् इत्यर्थः । न प्रजिघांसवश्च भवन्ति, न च शक्त्या दूता घ्नन्ति, अथो प्रजिघांसवो घ्नन्तीति चोक्तम् । दूताश्च यद्यपि रोगिहितमिच्छन्ति, तथापि यथातुरस्य विनाशो भवति तथा दैवप्रेरिताः सन्तः आगच्छन्तो दूताः प्रजिघांसव इव तथा घ्नन्तीवेति कृत्वा प्रजिघांसवो घ्नन्तीत्युच्यते । तेन 'इव'-शब्दो लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः ॥ ९।१० ॥

• ते घ्नन्ति प्रजिघांसवः इति चक्रः ।

कथयत्यप्रशस्तानि चिन्तयत्यथवा पुनः ।

वैद्ये दूता मनुष्याणामागच्छन्ति मुमूर्षताम् ॥ ११ ॥

मृतदग्धविनष्टानि भजति व्याहरत्यपि ।

अप्रशस्तानि चान्यानि वैद्ये दूता मुमूर्षताम् ॥ १२ ॥

विकारसामान्यगुणे देशे कालेऽथवा भिषक् ।

दूतसम्वागतं दृष्ट्वा नातुरं समुपाचरेत् ॥ १३ ॥

**गङ्गाधरः**—कथयतीत्यादि । वैद्येऽप्रशस्तानि कथयति सति, अथवा वैद्येऽप्रशस्तानि चिन्तयति सति, अथवा वैद्ये मृतं वा दग्धं वा विनष्टं वा भजति सति, किंवा वैद्येऽन्यानि चाप्रशस्तानि व्याहरति वदति व्यवहरति वा सति, मुमूर्षतां रोगिणां दूता आगच्छन्तीत्यर्थः ॥ ११ । १२ ॥

**गङ्गाधरः**—विकारसामान्येत्यादि । विकाराणां वायव्याग्नेयसोम्यानां सामान्यगुणो यत्र तस्मिन् देशेऽथवा विकारसामान्यगुणे कालेऽभ्यागतं दूतं दृष्ट्वा भिषगातुरं न समुपाचरेत् । तथा च वातरोगिणो दूतो यदि वैद्यनाद्वयितुं वैद्यस्य प्रायेण नित्यावस्थितिदेशं कालश्च विना वातवहदेशस्ये वैद्येऽपराद्धे वा वा शेषरात्रौ वा वातकाले गच्छति, तदा तं दूतं दृष्ट्वा तद्वातरोगिणं भिषङ् न समुपाचरेत् । एवं यदि पित्तरोगिणो वा कफरोगिणो दूत आगच्छति, तदा शुभम् । अथ पित्तरोगिणो दूतो यदि उष्णाभितप्ते देशे स्थिते वैद्ये उष्णाभिव्यासक्तदेहे वा मध्याह्ने मध्यरात्रे वाप्यायाति, तदा तं रोगिणं नोपाचरेत् । वातकफरोगिणश्चेत् तदा शुभम् । अथ कफरोगिणो दूतो यदि जलाद्याद्र देशे स्थिते वैद्ये पूर्वाह्णे पूर्वरात्रे वा रात्रिमात्रे वाप्यायाति, तदा तं कफरोगिणं नोपाचरेत् । वातपित्तरोगिणश्चेत् तदा शुभमिति भावः । सुश्रुतेऽप्युक्तम्—मध्याह्ने चार्द्धरात्रे वा सन्ध्ययोः कृत्तिकासु च । आर्द्राश्लेषमघामूल-पूर्वासु भरणीषु च । चतुर्थ्यां वा नवम्यां वा पष्ठ्यां सन्धिदिनेषु च । वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः । स्निग्धाभितप्ता मध्याह्ने ज्वलनस्य समीपतः । गर्हिताः पित्तरोगेषु दूता

**चक्रपाणिः**—चिन्तयत्यप्रशस्तानीति सम्बन्धः । व्याहरत्यपि वैद्ये मृतदग्धविनष्टानीति योजना । विकारसामान्यगुणो देशो यथा—रक्तपित्ते ज्वलनसन्निहितो देशः । विकारसामान्यगुणः कालो यथा—रक्तपित्ते मध्याह्न इत्यादि ज्ञेयम् ॥ ११—१३ ॥

दीनभीतद्रु तत्रस्त-मलिनानसतीं स्त्रियम् ।

त्रीन् व्याकृतींश्च पण्डांश्च \* दूतान् विद्यान्मुमूर्षताम् ॥ १४ ॥

अङ्गव्यसनिनं दूतं लिङ्गिनं व्याधितं तथा ।

संप्रोक्ष्य चोग्रकर्माणां न वैद्यो गन्तुमर्हति ॥ १५ ॥

आतुरार्थमनुप्राप्तं खरोष्ठरथवाहनम् ।

दूतं दृष्ट्वा भिषग् ब्रूयादातुरस्य पराभवम् ॥ १६ ॥

पलालवुषमांसास्थि-केशलोमनखद्विजान् ।

माऽर्जनीसूर्पमुषलान्युपानद्भ्यविच्युते ।

तृणकाष्ठतुषाङ्गारं रुशन्तो लोष्ट्रमश्म च ॥ १७ ॥

वैद्यमुपागताः । त एव कफरोगेषु कर्मसिद्धिकराः स्मृताः । एतेन शेषं व्याख्यातं बुद्ध्वा संविभजेत् तु तत् । रक्तपित्तातिसारेषु प्रमेहेषु तथैव च । प्रशस्तो जलरोधेषु दूतवैद्यसमागमः । विद्यायैव विभागन्तु जेपं बुध्येत पण्डितः ॥ इति ॥ १३ ॥

**गङ्गाधरः**—दीनेत्यादि । दीनान् वा भीतान् वा दूतान् वा त्रस्तान् वा मलिनान् वा दूतान् मुमूर्षतामातुराणां विद्यात् । असतीं स्त्रियं दूतीं मुमूर्षतां विद्यात् । त्रीन् जनान् दूतान् मुमूर्षतां विद्यात् । व्याकृतीन् विकृताकारान् दूतान् मुमूर्षतां विद्यात् । पण्डान् नपुंसकान् दूतान् मुमूर्षतां विद्यादित्यर्थः । सुश्रुतेऽप्युक्तम्—पापण्डाश्रमवर्णानां स्वपक्षाः कर्मसिद्धये । त एव विपरीताः स्युर्दूताः कर्मविपत्तये । नपुंसकं स्त्री-वहवो नैककार्य्या असूयकाः । गर्द्धभोष्ठरथमाप्ताः प्राप्ता वा स्युः परम्पराः । वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः ॥ इति ॥ १४ ॥

**गङ्गाधरः**—अङ्गव्यसनिनमित्यादि । अङ्गेन व्यसनिनं छिन्ननासादिकं दूतं लिङ्गिनं पापण्डधर्माश्रमं सन्न्यासिप्रभृतिकचिह्नयुक्तं तथा व्याधितं वा दूतं तथा उग्रकर्माणम् उग्रकर्म कुर्वन्नायाति यस्तं दूतं संप्रोक्ष्य वैद्यो गन्तुं नार्हति ॥ १५ ॥

**गङ्गाधरः**—आतुरेत्यादि । खरोष्ठरथवाहनमातुरार्थं वैद्यमनुप्राप्तं दूतं दृष्ट्वा आतुरस्य पराभवं रोगाद् ब्रूयाद् भिषक् ॥ १६ ॥

**गङ्गाधरः**—पलालेत्यादि । पलालं धान्योज्झिततृणविशेषः पोयाल इति

**चक्रपाणिः**—त्रीनिति त्रिसंख्या एव दूता अप्रशस्ताः । पण्डा नपुंसकाः । अङ्गव्यसनी

तत्पूर्वदर्शने दूता व्याहरन्ति मुमूर्षताम् ।  
 यस्मिंश्च दूतैर्ब्रुवति वाक्यमातुरसंश्रयम् ।  
 पश्यन् निमित्तमशुभं तच्च नानुव्रजेद्विपक् ॥ १८ ॥  
 तथा व्यसनिनं प्रेतं प्रेतालङ्कारमेव वा ।  
 भिन्नं दग्धं विनष्टं वा तद्वादीनि वचांसि वा ॥

लोके । वुधं तण्डुलहीनधान्यम् । द्विजा दन्ताः । माज्जनी गृहसम्पाज्जनी । सूर्य  
 कुला इति लोके । मुषलं प्रसिद्धम् । उपानचर्मपादुका तस्या भग्नविच्युते  
 चर्मणी तृणादीनि लोष्ट्राश्मनी च स्पृशन्तं दूतं दृष्ट्वा भिपग् ब्रुयादातुरस्य परा-  
 भवमिति पूर्वेष्वान्वयः । सुश्रुतेऽप्युक्तम्—पाशदण्डायुधधराः पाण्डरेतर-  
 वाससः । आर्द्रजीर्णापसव्यैक-मलिनध्वस्तवाससः । न्यनाधिकाङ्गा उद्विशा  
 विकृता रौद्ररूपिणः । रुक्मिण्युवादाश्चाप्यमाङ्गलाभिधायिनः । छिन्दन्त-  
 स्तृणकाष्ठानि स्पृशन्तो नासिकां स्तनम् । वस्त्रान्तानामिकाकेश-  
 नखरोमदशास्पृशः । सोतोऽवरोधहृद्गण्ड-मूर्द्धोरःकुक्षिपाणयः । कपालो-  
 पलभत्सास्थि-नुपाङ्गारकराश्च ये । विलिखन्तो महीं किञ्चित् मुञ्चन्तो  
 लोष्ट्रभेदिनः । तैलकद्वेपदिग्धाङ्गा रक्तस्रगनुलेपनाः । फलं पकमसारं वा  
 गृहीतान्यच्च तद्विधम् । नखैर्नखान्तरं वापि करेण चरणं तथा । उपानचर्म-  
 हस्ता वा विकृतव्याधिपीडिताः । वामाचारा रुदन्तश्च श्वासिनो विकृतेक्षणाः ।  
 याम्यां दिशं प्राञ्जलयो विपमैकपदे स्थिताः । वैद्यं य उपसपेन्ति दूतास्ते  
 चापि गर्हिताः ॥ इति ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—तत्पूर्वदर्शने इत्यादिना दूतम्भाषां दर्शयति । तत्पूर्वदर्शने  
 पूर्वं वैद्यदर्शने मुमूर्षेतामातुराणां दूता इति व्याहरन्ति भाषन्ते । किं व्याहरन्ति  
 तदाह—यस्मिन्नित्यादि । यस्मिन् दूते आतुरसंश्रयं वाक्यं ब्रुवति सति  
 तत्कालमशुभं निमित्तं पश्यन् भिपक् तमातुरं नानुव्रजेत् ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—तत्कालमशुभं निमित्तं किं किमित्यतस्तदाह—तथेत्यादि ।  
 व्यसनिनं प्रेतं वा मृतं वा प्रेतालङ्कारं वा भिन्नं वा किमपि दग्धं वा किमपि

छिन्नासादिः । अग्रकर्मा मारणाद्यकार्यप्रवृत्तः । पलालेत्यादौ तृणकाष्ठादिपरिस्पृशो दूताः ।  
 तत्पूर्वदर्शन इति वैद्यपूर्वदर्शने पलालवृषादीनि स्पृशन्तो व्याहरन्तीति योजना । प्रेतालङ्कारम्

रसो वा कटुकस्तीव्रो गन्धो वा कौणपो महान् ।  
 स्पर्शो वा विपुलः क्रूरो यद्वान्यदशुभं भवेत् ॥  
 तत्पूर्वमभितो वाक्यं वाक्यकालेऽथवा पुनः ।  
 दूतानां व्याहृतं श्रुत्वा धीरो मरणमादिशेत् ॥ १६ ॥  
 इति दूताधिकारोऽयमुक्तः कृतस्त्रो मुमूर्षताम् ।  
 पथ्यातुरकुलानाञ्च वक्ष्याम्यौत्पातिकं पुनः ॥ २० ॥

विनष्टं वा किमपि किंवा व्यसनादिवाचकानि वचांसि । कटुको वा रसः तीव्रो गन्धो महान् कौणपो वा गन्धः । विपुलो वा स्पर्शो वह्निर्झञ्जावाद्यादिः क्रूरो वा स्पर्शः सर्पादिस्पर्शः । अन्यद्वा यदशुभं किञ्चिद्भवेत् । ननु दूते व्याधितसंवादं वदति सति किं पूर्वं किं परमेवमशुभं पश्यन् अनुव्रजेत् इत्यत आह—तत्पूर्वमित्यादि । वैद्यस्य प्रथमतो दर्शने दूता आतुरार्थं यद् वदन्ति तत् पूर्वं तस्मात् पूर्वमव्यवहितप्राक्कालमेवमशुभं यदि भवेत् किंवा तद्वाक्यमभितः पूर्वं पश्चाच्च भवेत्, अथवा तद्वाक्यकाले एवमशुभं भवेच्चेत्, तदा तद् दूतानां वाक्यं श्रुत्वा धीरो भिषक् तस्यातुरस्य मरणमादिशेत् ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—दूतारिष्टाधिकारं समापयति—इतीत्यादि । शुभदूतोऽपि सुश्रुतेनोक्तः—स्वस्यां जातौ स्वगोत्रो वा दूतः कर्मकरः स्मृतः । गोयाने नागतस्तुष्टः पांदाभ्यां शुभचेष्टितः । धृतिमान् विधिकालज्ञः स्वतन्त्रः प्रतिपत्तिमान् । अलङ्कृतो मङ्गलवान् दूतः कार्यकरः स्मृतः । स्वस्थ प्राङ्मुखमासीनं समे देशे शुचौ शुचिम् । उपसर्पति यो वैद्यं स च कर्मकरः स्मृतः ॥ इति । दूताधिकारमुक्त्वा पथि चौत्पातिकम् आतुरकुलानाञ्चौत्पातिकं वक्ष्यामि । तथा च सुश्रुतः—मांसोदकुम्भात्पत्र-विप्रवारणमोदृषाः । शुक्लवर्णाश्च पूज्यन्ते प्रस्थाने दर्शनं गताः । स्त्री पुत्रिणी सवत्सा गौर्वर्द्धमानमलङ्कृताः । कन्या मत्स्याः फलञ्चामं स्वस्तिका मोदका दधि । हिरण्याक्षतपात्रं वा रत्नानि सुमनो नृपः । अप्रशान्तोऽनलो वाजी हंसश्चापः शिखो तथा । ब्रह्मदुन्दुभिजीमूत-शङ्खवेणुरथस्वनाः । सिंहगोदृषनादाश्च हे पितृ एव न्यस्तं पश्येत् यस्मिंस्तच्च नानुव्रजेदिति सम्बन्धः । तद्वादीनि भिन्नादिवादीनि । तीव्र इति इन्द्रियोद्देजकः । स्पर्शो विपुलो यथा तीव्रोप्रादिस्पर्शः । तत्पूर्वमिति दूतवेचनात् पूर्वम् अभितो वाक्यमिति सर्वभूतकालवचनम् । व्याहृतमिति आतुरावस्थाकथनम् ॥ १६—१९ ॥

अवक्षुतं तथोत्क्रुष्टं रखलनं पतनं तथा ।

आक्रोशः संप्रहारो वां प्रतिषेधो विगर्हणम् ॥

गजद्वहितम् । शस्तं हंसरुतं नृणां कौशिकश्चैव वामतः । प्रस्थान यायिनः  
श्रेष्ठा वांचश्च हृदयङ्गमाः । पत्रपुष्पफलोपेतान् सक्षीरान् नीरुजो द्रुमान् । आश्रिता  
वा नभोवेश्म-ध्वजतोरणवेदिकाः । दिक्षु शान्तासु वक्तारो मधुरं पृष्ठतोऽनुगाः ।  
वामा वा दक्षिणा वापि शकुनाः कर्मसिद्धये ॥ इति । सुश्रुतोक्तं यथा—  
शुष्केऽशनिहते पत्रे वल्लीनद्धे सकण्डके । वृक्षेऽथवाश्मभस्मास्थि-विट्पुष्पाङ्गार-  
पांशुषु । चैत्यत्रलमीकविषम-स्थिता दीप्तिखरस्वराः । पुरतो दिक्षु दीप्तासु  
वक्तारो नार्थसाधकाः । पुत्रामानः खगा वामाः स्त्रीसंघा दक्षिणाः शुभाः । दक्षि-  
णाद् वामगमनं प्रशस्तं श्वश्रुगालयोः । वामं नकुलचापाणां नोभयं शशसर्पयोः ।  
भासकौशिकयोश्चैव न प्रशस्तं किलोभयम् । दर्शनं वा रुतं वापि न गोधा-  
कुकलांसयोः । दूतैरनिष्टैस्तुल्यानामशस्तं दर्शनं नृणाम् । कुलत्थतिल-  
कार्पास-तुपपापाणभस्मनाम् । पात्रं नेष्टं तथाङ्गार-तैलकर्मपूरितम् ।  
प्रसन्ननेतरसद्मानां पूर्णं वा रक्तसपेपैः । शवकाष्ठपलाशानां शुष्काणां पथि  
सङ्गमाः । नेप्यन्ते पतितान्तस्थ-दीनान्धरिपवस्तथा । मृदुः शीतोऽनुकूलश्च  
सुगन्धिवानिलः शुभः । खरोष्णोऽनिष्टगन्धश्च प्रतिलोमश्च गर्हितः । ग्रन्थ्य-  
वृन्दुदादिषु सदा च्छेदशब्दश्च पूजितः । विद्रध्युदरगुल्मेषु भेदशब्दस्तथैव च ।  
रक्तपित्तातिसारेषु रुद्धशब्दः प्रशस्यते । एवं व्याधि-विशेषेण निमित्तमुप-  
धारयेत् । तथैवाक्रुष्टाकष्ट-माक्रन्दरुदितस्वनाः । छर्द्द्यां वातपुरीपाणां शब्दो  
वै गर्द्भोष्ट्रयोः । प्रतिपिडं तथा भग्नं क्षुतं स्खलितमाहतम् । दौर्मनस्यश्च  
वैद्यस्य यात्रायां न प्रशस्यते ॥ इति ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—वैद्यस्य गच्छतः पथि यात्राशुभमातुरार्थमाह—अवक्षुतमित्यादि ।  
यात्राकालेऽवक्षतं छिक्त्वा चि इति लोके । उत्क्रुष्टं व्यग्रतो रुतं वैद्यस्य स्खलनं  
पादस्खलनम् आक्रोश उच्चैर्ध्वनिः प्रहार आघात प्रतिषेधो निषेधकरणम्

चक्रपाणिः—औत्पातिकमिति अरिष्टसूचकनिमित्तम् । अवक्षुतं छिका । उत्क्रुष्टं सन्वस्तुनम् ।



वस्त्रोष्णीषोत्तरासङ्ग-च्छत्रोपानद्वयुगाश्रयम् ।  
 पतनं \* दर्शनं वापि मृतं व्यसनिनं † तथा ॥  
 चैत्यध्वजपताकानां पूर्णानां पतनानि च ।  
 हतानिष्टप्रवादांश्च दूषणं ‡ भस्मपांशुभिः ॥  
 पथश्छेदो विडालेन शुना सर्पेण वा पुनः ।  
 मृगद्विजानां क्रूराणां गिरो दोष्तां दिशं प्रति ॥  
 व्रजतां दर्शनंचैवमुत्तानानाञ्च दर्शनम् ।  
 इत्येतान्यप्रशस्तानि सवर्णाण्याहुर्मनीषिणः ॥  
 एतानि पथि वैद्येन पश्यतातुरवर्त्मनि § ।  
 शृण्वतापि न गन्तव्यं तदागारं विपश्चिता ॥ २१ ॥

विगर्हणं निन्दाकरणं वस्त्रं परिधानवसनम् उष्णीषं शिरोबन्धनवस्त्रम् उक्तं च  
 उत्तरीयवस्त्रं तेष्वसङ्गः । छत्रमुपानद्वयुगं तेषामाश्रयः । पतनं तेषां पतनमेव तेषां  
 दर्शनं वा मृतं जन्तुं व्यसनिनं छेदवस्त्रादिविषयकव्यसनं पूर्णानां चैत्यादीनां  
 पतनानि हतप्रवादान् अनिष्टप्रवादान् तथा भस्मपांशुभिर्दूषणं व्याकुलीभवनम् ।  
 विडालेन पथश्छेदो विडालो गमनपथस्य तिर्यग्ग्यद् गच्छति तद् गमनं  
 छेदः पथः । एवं शुना वा पथश्छेदः सर्पेण वा पथश्छेदः । क्रूराणां मृगद्विजानां  
 मृगाणां व्याघ्रादीनां द्विजानां श्येनादीनां पक्षिणां गिरो नादान् दीप्तां  
 सूर्यावस्थानेन सप्रकाशां नानाविधकोलाहलध्वनिभिर्वा स्फुटां नानाविध-  
 स्फुटकरभावैर्वा स्फुटां दक्षिणां वा दिशं प्रति तादृशदिग्भागे । क्रूराणां  
 मृगपक्षिणां व्रजतां गच्छतां दर्शनम् । एवमुत्तानानां क्रूराणां मृगपक्षिणां  
 वा दर्शनम् । इत्येतानि सवर्णाणि अप्रशस्तानि मनीषिण आहुः । पथि  
 एतान्यप्रशस्तानि पश्यता वैद्येन विपश्चिता तदागारं न गन्तव्यम् । आतुरवर्त्मनि

प्रतिपेक्षो मा गच्छ इत्येवंरूपः । व्यसनं वस्त्रादीनां यत् स्फुटनादि । व्यसनीति व्यङ्ग्यः,  
 कलहवान् वा । पूर्णाः पूर्णकुम्भादयः । मूपणं भस्मपांशुभिरिति भस्मपांश्ववकिरणम् । पथिश्छेद

\* व्यसनम् इति वा पाठः ।

† मृतव्यसनिनां इति चक्रः ।

‡ मूपणमिति चक्रसम्मतः पाठः ।

§ वेदमनि इति च पठ्यते ।

इत्यौत्पातिकमाख्यातं पथि वैद्यविगर्हितम् ।  
 इमामपि च बुध्येत गृहावस्थां मुमूर्षताम् ॥ २२ ॥  
 प्रवेशे पूर्णकुम्भाग्निं मृद्वीजफलसर्पिषाम् ।  
 वृषशस्त्रणारत्नानां देवतानाञ्च निर्गतिम् ॥  
 अग्निपूर्णानि पात्राणि भिन्नानि विशिखानि च ।  
 भिषग् मुमूर्षतां वेश्म प्रविशन्नेव पश्यति ॥ २३ ॥  
 छिन्नभिन्नाभग्नानि दधानि मृदितानि च ।  
 दुर्च्चलानि च सेवन्ते मुमूर्षो वैश्विका जनाः ॥ २४ ॥  
 शयनं वसनं यानं गमनं भोजनं रुतम् ।  
 श्रूयतेऽमङ्गलं यस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम् ॥ २५ ॥

आतुराथ गच्छता वर्त्मनि एतान्यप्रशस्तानि शृण्वतापि तदागारं न गन्तव्यम् ॥ २१/२२ ॥

गङ्गाधरः—पथि चौत्पातिकमुत्तवा आतुरकुलानामौत्पातिकमाह—प्रवेशे इत्यादि । आतुरभवनप्रवेशकाले वैद्यः पूर्णकुम्भादीनां निर्गतिम् आतुरभवनान्निःसरणं, तथाग्निपूर्णानि पात्राणि भिन्नानि भग्नानि विशिखानि मुमूर्षतामातुराणां वेश्म प्रविशन् पश्यत्येव ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—छिन्नेत्यादि । आतुरस्य वैश्विका गृहनियता जना यदि छिन्नभिन्नादीनि वस्तूनि सेवन्ते, तदा तपातुरं मुमूर्षुं विद्यादिति भावः । मुमूर्षोरातुरस्य हि वैश्विका जनाश्छिन्नादीनि वस्तूनि सेवन्ते ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—शयनमित्यादि । यस्य शयनादिकममङ्गलं श्रूयते तस्य चिकित्सितं नास्ति ॥ २५ ॥

इति विद्यादिभिर्मार्गलक्षितम् । मृगद्विजाः क्रूराः शृगालगृध्रादयः । दीप्ता दिक्, यस्यां सूर्यो वर्तते, किंवा दक्षिणा दिक् दीप्तोच्यते । शयनं खटादि । आसनं पीठादि ॥ २२—२२ ॥

चक्रपाणिः—विशिखानीति खण्डितानि । किंवा विशिखानीति पाठः, तदा शून्यानीत्यर्थः ।

शयनं वसनं यानमन्यद्वापि परिच्छेदम् ।

प्रेतवद् यस्य कुर्वन्ति सुहृदः प्रेत एव सः ॥ २६ ॥

अन्नं व्यापद्यतेऽत्यर्थं ज्योतिश्चैव प्रशाम्यति ।

निवाते सेन्धनं यस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम् ॥ २७ ॥

आतुरस्य गृहे यस्य भिद्यन्ते वा पतन्ति वा ।

अतिमात्रममत्राणि दुर्लभं तस्य जावितम् ॥ २८ ॥

गङ्गाधरः—शयनमित्यादि । - यस्यातुरस्य सुहृदः प्रेतवच्चयनवसनादिकं कुर्वन्ति, स प्रेतो मृत एव ॥ २६ ॥

गङ्गाधरः—अन्नमित्यादि । आतुरस्य यस्य भोजनाय पच्यमानमन्नमत्यर्थं व्यापद्यते निष्पन्नं न भवति । निवाते स्थाने सेन्धनं सकाष्ठं ज्योतिरग्निः प्रशाम्यति तस्य चिकित्सितं नास्ति ॥ २७ ॥

गङ्गाधरः—आतुरस्येत्यादि । यस्यातुरस्य गृहे वासगृहे अमत्राणि पात्राणि अतिमात्रं चूर्णचूर्णीभूय भिद्यन्तेऽतिशब्देन वा पतन्ति तस्य जीवितं दुर्लभं, कश्चिज्जीवति । सुश्रुतेऽप्युक्तं—प्रवेशेऽप्येतदुद्देशादवेक्ष्यञ्च तथा-तुरे । प्रति द्वारं गृहे वास्य पुनरेतन्न गण्यते । केशभस्मास्थिकाष्ठाश्म-तुषकार्पास-कण्टकाः । खट्वोर्द्धपादा मद्यापो वसा तैलं तिलास्तृणम् । नपुंसकव्यङ्ग-भय-नयमुण्डासिताम्बराः । प्रस्थाने वा प्रवेशे वा नेष्यन्ते दर्शनं गताः । भाण्डानां सङ्करस्थानात् स्थानात् सञ्चरणं तथा । निखातोत्पाटनं भङ्गः पतनं निर्गमस्तथा । वैद्यासनावसादो वा रोगी वा स्यादधोमुखः । वदत्र सम्भाष-माणोऽङ्गं कुड्यमास्तरणानि वा । प्रमृद्याद्वा धुनीयाद्वा करौ पृष्ठं शिरस्तथा । हस्तश्चाकृष्य वैद्यस्य न्यसेच्छिरसि वोरसि । यो वैद्यमुन्मुखः पृच्छेदुन्माष्टि-स्वाङ्गमातुरः । न स सिध्यति वैद्यो वा गृहे यस्य न पूज्यते । भवने पूज्यते वापि यस्य वैद्यः स सिध्यति । शुभं शुभेषु दूतादिष्वशुभं त्र्यशुभेषु च । आतुरस्य ध्रुवं तस्माद् दूतादीन् लक्षयेद्भिषग् ॥ इति ॥ २८ ॥

वैश्विका जना इति गृहप्रतिष्ठिता जनाः । प्रेतवत् मृतस्य यथा क्रियते तथा । 'सुहृदः' इति वचनेनासुहृद्विर्द्धे पादमङ्गलार्थं कृतं प्रेतवत् शयनादि निषेधयति । ज्योतिरग्निः निवाते सेन्धनश्च सन् यदि निर्व्वृत्तिः, ततो रिष्टम् । अमत्राणीति शरावस्थाख्यादीनि ॥ २३-२८ ॥

भवन्ति चात्र ।

यद् द्वादशभिरध्यायैर्व्यासतः परिकीर्तितम् ।

मुमूर्षतां मनुष्याणां लक्षणं जावितान्तकृत् ॥

तत् समासेन वक्ष्यामि पर्यायान्तरमाश्रितम् ।

पर्यायवचनं श्रुत्वा विज्ञाना-ॐ-योपकल्पते ॥ २६ ॥

अत्यर्थं पुनरेवेयं विवक्षा नोपपद्यते ।

तस्मिन्नेवाधिकरणे यत् पूर्वमभिदर्शितम् ॥ ३० ॥

गङ्गाधरः—शिष्यान् प्रत्यनुग्रहेण धारणार्थम् अर्थदाढ्यार्थञ्च संक्षेपेण विस्तरेण द्वादशाध्यायप्रोक्तारिष्टलक्षणान्वाह—भवन्तीत्यादि । यद् द्वादशभिरित्यादि । मुमूर्षतां मनुष्याणां जीवितान्तकृद् यल्लक्षणं वर्णस्वरीयादिभिरेतदन्तैर्द्वादशभिरध्यायैर्व्यासतो विस्तरतः परिकीर्तितं, तत् सर्वं मनुष्याणां मुमूर्षतां जीवितान्तकृल्लक्षणं पर्यायान्तरमाश्रितं तदर्थवाचकसंस्कृतान्तरेण समासेन संक्षेपेण वक्ष्यामि । ननु कस्मादित्यत आह—पर्यायवचनमित्यादि । यस्मात् पर्यायवचनं तदर्थवाचकसंस्कृतान्तरवचनं श्रुत्वा विज्ञानाय पूर्वोक्तार्थे-ज्ञाननिश्चयाय संक्षेपतो बुद्ध्या बुद्ध्या कण्ठेन धृत्वा च स्वल्पकालेनातुराणां सर्वारिष्टलिङ्गज्ञानाय च उपकल्पते अध्येता ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः—ननु कथं पुनरपि विस्तरेण विवक्षते इत्यत आह—अत्यर्थ-मित्यादि । इयमेवारिष्टलक्षणस्य विवक्षा पुनर्वारम् अत्यर्थमतिशयेन नोप-पद्यते । कस्मादित्यत आह—तस्मिन्नित्यादि । यद् यस्मात् पूर्वमेव तस्मिन् तस्मिन् वर्णस्वरीयादावधिकरणेऽभिदर्शितं विस्तरेण दर्शितमिति ॥ ३० ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति द्वादशाध्यायोक्तं रिप्टं इरधिगमार्थं संग्रहेण स्पष्टीकरणार्थमाह—यद् द्वादशभिरित्यादि । पर्यायान्तरमाश्रितमिति संज्ञान्तरेण कीर्तितम् । अर्थविज्ञानायेति पूर्वमि-धानात् शब्दस्थानेकार्याभिधायित्वादिना यत्र सन्देहो मिथ्याज्ञानं वा भवति, तस्य शब्दान्तरेण अभिधानादुक्तार्थो भवतीति ॥ २९ । ३० ॥

\* ह्यर्थविज्ञानाय इति च पाठः ।

वसतां चरमे काले शरीरेषु शरीरिणाम् ।  
 अभ्यग्राणां ॐ विनाशाय देहेभ्यः प्रविवत्सताम् ॥  
 इष्टांस्तितिक्षतां प्राणान् कान्तं वासं जिहासताम् ।  
 तन्त्रयन्त्रेषु भिन्नेषु तमोऽन्त्यं प्रविविक्षताम् ॥  
 विनाशायेह रूपाणि यान्यवस्थान्तराणि च ।  
 भवन्ति तानि वक्ष्यामि यथोद्देशं यथागमम् ॥ ३१ ॥  
 प्राणाः समुपरुध्यन्ते विज्ञानमुपरुध्यते ।  
 वमन्ति बलमङ्गानि चेष्टा ह्युपरमन्ति च ॥  
 इन्द्रियाणि विनश्यन्ति खिलीभवति वेदना ।  
 औत्सव्यं भजते सत्त्वं चेतो भीराविशत्यपि ॥

गङ्गाधरः—इति प्रेत्यभावाय जावतान्तकृलक्षणसंक्षेपोक्तिं प्रतिज्ञाय  
 अपुनर्भावाय जीवितान्तकृलक्षणोक्तिं प्रतिजानीते—वसतामित्यादि । शरीरेषु  
 वसतां शरीरिणां सूक्ष्मदेहवताम् अभ्यग्राणाम् आकुलानां नित्यानुबन्धानां  
 विनाशाय देहेभ्यः प्रविवत्सतां देहं त्यक्त्वा प्रवासमिच्छताम्, इष्टान् प्राणान्  
 तितिक्षतां क्षन्तीकुर्वताम्, कान्तं वासं स्थूलदेहे वासं जिहासतां हातुमिच्छ-  
 ताम्, तन्त्रयन्त्रेषु स्थूलदेहेषु भिन्नेषु सत्सु अन्त्यं तमो मृत्युं प्रविविक्षतां प्रवेष्टुम्  
 इच्छताम्, विनाशाय इह शरीरे यानि रूपाणि यानि चावस्थान्तराणि भवन्ति  
 तानि वक्ष्यामि यथोद्देशं यथागमं यथाशास्त्रमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

गङ्गाधरः—प्राणा इत्यादि । येषां प्राणाः श्वासोच्छ्वासाः समुपरुध्यन्ते,  
 तेषां कर्म्मं चिकित्सा न सिध्यति । येषां विज्ञानं ज्ञानेन्द्रियमुपरुध्यते  
 तेषाम् । येषामङ्गानि बलं वमन्ति त्यजन्ति तेषाम् । येषां चेष्टाश्चोपरमन्ति  
 नश्यन्ति वाग्दहमनसां चेष्टाः तेषाम् । येषामिन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि विनश्यन्ति

चक्रपाणिः—अभ्युग्राणामिति अभ्युदगतानाम् । प्रविवत्सतामिति प्रवस्तुमुद्यतानाम् । 'कान्तं  
 वासम्' इत्यनेन सर्वप्राणिनामेव सर्वावस्थासु शरीरं काम्यं भवतीति दर्शयति । स्वकान्तमपि  
 शरीररूपं वासं जीवितं वा बलादेव कर्मणा त्यज्यमानमपि ब्रह्मोपचारात् 'इव'शब्दलोपाद् वा  
 स्वतन्त्रेण निर्दिश्यते, यथा जिहासतामिति तथा तितिक्षतामिति । तन्त्रं शरीरम्, तस्य यन्त्रं  
 शिरास्नाय्वादिरूपं तन्त्रयन्त्रम् । तमोऽन्त्यमिति मरणरूपं तमः । विनाशायेह रूपाणीति ।

\* अभ्युग्राणाम् एवं पाठोऽपि वर्तते ।

स्मृतिस्त्यजति मेधा च ह्रीश्रियौ चापसर्पतः ।  
 उपप्लवन्ते पाप्मानः क्रोधस्तैजश्च नश्यति ॥  
 शीलं व्यावर्त्ततेऽत्यर्थं शक्तिश्च परिवर्त्तते ।  
 विक्रियन्ते प्रतिच्छायाश्लयाश्च विकृतिं प्रति ॥  
 शुक्रं प्रच्यवते स्थानादुन्मार्गं भजतेऽनिलः ।  
 क्षयं मांसानि गच्छन्ति गच्छत्यसृगपि क्षयम् ॥  
 उष्माणः प्रलयं यान्ति विलयं यान्ति सन्धयः ।  
 गन्धा विकृतिमायान्ति भेदं वर्णस्वरौ तथा ॥  
 ववर्यं भजते कायः कायच्छिद्रं विशुष्यति ।  
 धूमः संजायते मूर्च्छिं दारुणाख्यश्च चूर्णकः ॥

तेषाम् । येषां वेदना खिलीभवति अथग्राहिणी सती कीलवद्भवति तेषाम् ।  
 येषां सत्त्वं मन औत्सुक्यं भजते भीर्भयश्च चेतो मन आविशति तेषाम् ।  
 यान् स्मृतिस्त्यजति तेषाम् । यान् मेधा त्यजति तेषाम् । येभ्यो ह्रीश्रियौ  
 लज्जा श्रीश्चापसर्पतः अपगच्छतस्तेषाम् । येषां पाप्मानो दुःखसंज्ञा व्याधय  
 उपप्लवन्ते नश्यन्ति हृतात् तेषाम् । येषां क्रोधो नश्यति तेजश्च नश्यति  
 तेषाम् । येषामत्यर्थं व्यावर्त्तते शीलं शीलता तेषाम् । येषां शक्तिश्चात्यर्थं परि-  
 वर्त्ततेऽशक्तिरायाति शक्तिगच्छतीति शक्तः परिवर्त्तनं तेषाम् । येषां प्रतिच्छायाः  
 विक्रियन्ते विकृतिमापद्यन्ते तेषाम् । येषां छायाश्च विकृतिं प्रति भवन्ति तेषाम् ।  
 येषां शुक्रं स्थानात् प्रच्यवतेऽकारणात् तेषाम् । येषामनिलो वायुरुन्मार्गमूर्च्छ-  
 मार्गं भजते तेषाम् । येषां मांसानि क्षयं गच्छन्ति तेषाम् । येषामसृगपि क्षयं  
 गच्छति तेषाम् । येषामुष्माणो नित्योष्मवत्सु शरीरावयवेषूष्माणः प्रलयं क्षयं  
 यान्ति तेषाम् । येषां सन्धयः शरीरे विलयं नाशं यान्ति तेषाम् । येषां देहगन्धा  
 विकृतिं यान्ति तेषाम् । येषां वर्णस्वरौ वर्णश्च स्वरश्च भेदमन्यथात्वं यातः,  
 येषां कायश्च वैरूप्यं भजते तेषाम् । येषां कायच्छिद्रं विवरवद्धमनीजातं  
 प्राणसमुपतापादीनि । खिलीभवतीति अपथग्राहिणी भवति । पाप्मान इति पापजनितरोगाः,  
 अन्धमार्गश्च क्रियाः । छायाश्च विकृतिं प्रतीति गच्छन्तीति शेषः । तेन प्रत्येकं छाया विकृतिं  
 गच्छतीत्यर्थः । धूमः संजायते मूर्च्छीति प्रकृतं वाष्पनिर्गमं विना बहलो-धूम इति । दारुणाख्यश्च

सततस्पन्दना देशाः शरीरे येऽभिलक्षिताः ।  
 ते स्तम्भानुगताः सर्वे न चलन्ति कथञ्चन ॥  
 गुणाः शरीरदेशानां शीतोष्णमृदुदारुणाः ।  
 विपर्ययासेन वर्तन्ते स्थानेष्वन्येषु तद्विधाः ॥  
 नखेषु जायते पुष्पं पङ्क्तौ दन्तैषु जायते ।  
 जटाः पद्मसु जायन्ते सीमन्ताश्चापि मूर्धनि ॥  
 भेषजानि न संवृत्तिं प्राप्नुवन्ति तथा रुचिम् \* ।  
 यानि वाप्युपपद्यन्ते तेषां कर्म न सिध्यति ॥ ३२ ॥  
 नानाप्रकृतयः क्रूरा विकारा विविधौषधाः ।  
 क्षिप्रं समभिवर्तन्ते प्रतिहृत्य बलौजसी ॥

विशुष्यति तेषाम् । येषां मूर्द्धि धमो वाष्पनिगमो जायते तेषाम् । येषां  
 मूर्द्धि दारुणाख्यो गोमयचूर्णाभश्चूर्णको जायते तेषाम् । येषां सर्वेषामेव  
 सततस्पन्दना ये शरीरप्रदेशा अभिलक्षितास्ते शरीरप्रदेशाः स्तम्भानुगताः स्तब्धा  
 भवन्ति न च चलन्ति कथञ्चित् तेषाम् । येषां शरीरप्रदेशानां शीतादयो गुणा  
 विपर्ययासेन विपर्ययरूपेण शीतम् उष्णत्वेन उष्णः शीतत्वेन मृदुदार्ढ्यत्वेन  
 दारुणो मृदुत्वेन शुक्लः कृष्णत्वेन कृष्णः शुक्लत्वेन रक्तोऽरक्तत्वेनारक्तो  
 रक्तत्वेन स्थिरश्चलत्वेन चलः स्थिरत्वेन अथान्यानि यान्युपपद्यन्ते पृथुः संक्षिप्त-  
 त्वेन संक्षिप्तः पृथुत्वेन दीर्घो ह्रस्वत्वेन ह्रस्वो दीर्घत्वेन अपतनधर्म्मिणां  
 पतनधर्म्मत्वं पतनधर्म्मिणाम् अपतनधर्म्मिणमित्येवमादीनि यान्युपपद्यन्ते  
 येषां तेषां कर्म न सिध्यति ॥ ३२ ॥

गङ्गाधरः—येषां न सिध्यति तानाह—नानेत्यादि । येषां विकारा व्याधयो  
 नानाप्रकृतयो वातादिनानाप्रकृतिकाः क्रूराः क्रूरगतयो विविधौषधाः  
 प्रतिकारार्थमुपचारितनानौषधाः, तेषां कर्मे न सिध्यति । क्षिप्रमित्यादि ।

चूर्णक इति “यस्य गोमयचूर्णाभम्” इत्यादिग्रन्थोक्तचूर्णकः । स्थानेष्वन्येषु तद्विधा इति  
 शरीरान्तरदेशेषु, बहुवचनेन स्नेहादयो विपर्ययासेन वर्तन्त इत्यर्थः । संवृत्तिमिति निष्पत्तिम् ।

\* यथारुचि हृत्यपि पाठः ।

शब्दः स्पर्शो रसो रूपं गन्धश्चेष्टाश्च ॐ चेष्टितम् ।  
 उत्पद्यन्तेऽशुभान्येव प्रतिकर्मप्रवृत्तिषु ॥  
 दृश्यन्ते दारुणाः स्वप्ना दौरात्ममुपजायते ।  
 प्रेव्याः प्रतीपतां यान्ति प्रेताकृतिरुदीर्यते ॥  
 प्रकृतिर्हीयतेऽत्यर्थं विकृतिश्चाभिवर्द्धते ।  
 कृत्स्नमौत्पातिकं घोरमनिष्टमुपलभ्यते ।  
 इत्येतानि मनुष्याणां भवन्ति विनशिष्यताम् ॥ ३३ ॥  
 लक्षणानि यथोद्देशं यान्युक्तानि यथागमम् ।  
 मरणायेह रूपाणि पश्यतापि भिषग्विदा ॥  
 अपृष्टेन न वक्तव्यं मरणं प्रत्युपस्थितम् ।  
 पृष्टेनापि न वक्तव्यं तत्र यच्चोपघातकम् † ॥

येषां शब्दादयो बलाजसी प्रतिहत्य क्षिप्रं समभिवर्तन्ते सम्यगेव सम्पद्यन्ते, चेष्टा क्रिया चेष्टितं कम्म, शब्दादीनि तेषां तत्तद्भावेः प्रतिकर्मप्रवृत्तिषु शुभान्युत्पद्यन्ते इति । अपराण्याह—दृश्यन्ते इत्यादि । यैर्दारुणाः स्वप्ना दृश्यन्ते, येषां दौरात्ममुपजायते, येषां प्रेव्याः भृत्याः प्रतीपतां विरोधितां यान्ति, येषां प्रेताकृतिर्मृताकार उदीर्यन्ते, येषां प्रकृतिरत्यर्थं हीयते, येषां विकृतिश्चाभि सर्वतोभावेन वर्द्धते, यस्मै वैद्यस्य यात्रायां पथि कृत्स्नं घोरं भयानकमतिशयमौत्पातिकं भवति, येषां सर्वेषामनिष्टमुपलभ्यते, तेषामित्येतानि उक्तानि लक्षणानि विनशिष्यतां मरिष्यतां मनुष्याणां भवन्ति ॥ ३३ ॥

गङ्गाधरः—लक्षणानीत्यादि । लक्षणानि यानि यथोक्तानि यथागमञ्चेह मरणाय रूपाणि पश्यतापि भिषग्विदा वैद्येन अपृष्टेन तदातुरामात्य-

उपपद्यन्ते सिध्यन्ति । नानाप्रकृतय इति परस्परं विरुद्धस्वभावाः । क्रिया इति प्रतिक्रियाः । प्रतिकर्मप्रवृत्तिश्चिकित्साप्रवृत्तिः । औत्पातिकमिति आकस्मिकम्, तस्य विशेषणमरिष्टमिति, तेन अरिष्टमौत्पातिकमिति फलति ॥ ३१—३३ ॥

\* क्रियाइचेति चक्रः ।

† यत्रोपघातकम् इति च पाठः ।



आतुरस्य भवेद् दुःखमथवात्यस्य कस्यचित् ।

अब्रुवंस्तस्य मरणं नैनमिच्छेच्चिकित्सितुम् \* ॥ ३४ ॥

लिङ्गेभ्यो मरणाख्येभ्यो विपरीतानि पश्यता ।

लिङ्गान्यारोग्यमागन्तु वक्तव्यं भिषजां ध्रुवम् ॥

दूतैरौत्पातिकैर्भावैः पथ्यातुरकुलाश्रयैः ।

आतुराचारशीलैस्तु द्रव्यसम्पत्तिलक्षणैः ॥ ३५ ॥

स्वजनादिभिरजिज्ञासितेन मरणं प्रति उपस्थितं न वक्तव्यम् । यदि वा आतुरादिभिरस्मिन् रोगे जीवनं किं न वेति पृष्टेनापि भिषग्विदा तत्र यदुपघातुकं तदातुरामात्यादीनां हठादुपघातकरं तन्न वक्तव्यम् । कस्मादित्यत आह—आतुरस्येत्यादि । तस्य मरणमब्रुवन् न वदन् तमेनं चिकित्सितुं नेच्छेत् ॥ ३४ ॥

गङ्गाधरः—तर्हि किं ब्रूयादित्यत आह—लिङ्गेभ्य इत्यादि । भिषजा मरणाख्येभ्यो नियतमरणाख्येभ्यो लिङ्गेभ्यो विपरीतानि लिङ्गानि स्फुटारोग्य-सूचकानि दूतादिलिङ्गानि पश्यता दर्शयता आगन्तु आरोग्यं ध्रुवं वक्तव्यमिति । ननु कानि लिङ्गानि दृष्ट्वागन्तारोग्यं वक्तव्यमित्यत आह—दूतैरित्यादि । दूतैः पथि चौत्पातिकैर्भावैरातुरकुलाश्रयैर्भावैरातुराचारशीलैश्च द्रव्याणां सम्पत्तिलक्षणैः करणैर्नियतमरणाख्येभ्यो लिङ्गेभ्यो विपरीतानि तदातुराद्यनुपघातुकानि लिङ्गानि पश्यता आगन्तु आपातत आरोग्यं वक्तव्यमिति भावः ॥ ३५ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति ज्ञातस्य रिष्टस्य यथार्हप्रकाश्यत्वम् । तदाह—मरणायेत्यादि । आतुरस्य उपघातकमिति योज्यम् । भवेद् दुःखमन्यस्येति सम्यग्बन्धः । हन्त मरणं चेदातुरस्य भावि नोच्यते, तत् किमारोग्यमपि भावि न वक्तव्यमेवेत्याह—लिङ्गेभ्य इत्यादि । मरणमाख्यान्तीति मरणाख्याः, तेभ्यो विपरीतानि आरोग्यसूचकानि । आगन्त्विति पश्चात्कालभावि । दूतैरौत्पातिकैरिति औत्पातिकैर्भावैः शुभाशुभसूचनार्थमकस्मादुत्पन्नैर्भावैः । सामान्येन शुभाशुभसूचकं यदकस्मादुत्पद्यते तदौत्पातिकमुच्यते । द्रव्यसम्पत्तिलक्षणैरित्यन्ते आरोग्यमागन्तु वक्तव्यमिति योजना ॥ ३४-३५ ॥

\* इतः परं “यस्य पश्येद्विनाशांय लिङ्गानि कुशलो भिषक” इत्यधिकः कचन पश्यते ।

स्वाचारं हृष्टमव्यङ्गं यशस्यं शुक्लवाससम् ।

अमुण्डजटिलं दूतं जातिवेशक्रियासमम् ॥

अनुपूरयानस्थमसन्ध्यास्वग्रहेषु च ।

अदारुणेषु नक्षत्रेष्वनुग्रेष्वध्रुवेषु \* च ॥

विना चतुर्थीं नवमीं विना रिक्तां चतुर्दशीम् ।

मध्याह्नमर्द्धरात्रञ्च भूकम्पं राहुदर्शनम् ॥

विना देशमशस्तश्चाशस्तौत्पातिकलक्षणम् † ।

दूतं प्रशस्तमव्यग्रं निर्दिशेदागतं भिषक् ॥ ३६ ॥

गङ्गाधरः—ननु किं लक्षणं शुभमागन्तुकारोग्यख्यापकमित्यतो दूतादि-  
शुभलक्षणमाह—स्वाचारमित्यादि । अव्यङ्गं सञ्ज्ञासम्पूर्णम् अमुण्डजटिलं  
मुण्डनजटाभ्यां रहितमातुरस्य जातिवेशक्रियाभिः समम् उष्ट्रादियानानवस्थितम्  
असन्ध्यासु सन्ध्याकालातिरिक्तकालेष्वगतम् अग्रहेषु क्रूरग्रहशुक्लभिन्नेषु  
अदारुणेषु भरण्यादिभिन्नेषु अनुग्रेषु उग्राः पूर्वमयान्तका इत्युग्रसंशकनक्षत्र-  
भिन्नेषु अध्रुवेषु च ध्रुवसंशकनक्षत्रभिन्नेषु च नक्षत्रेषु आगतम् रिक्तां विना  
तिथिप्रागतं रिक्तां विवृणोति चतुर्थीं नवमीं चतुर्दशीं विना मध्याह्नादि विना  
अशस्तं देशं विना अशस्तौत्पातिकलक्षणं विना आगतमव्यग्रं व्यग्रताशून्यं  
दूतं प्रशस्तमव्यङ्गं भिषगादिशेदिति । सुश्रुते चोक्तम् । शुक्लवासाः शुचिगौरः  
श्यामो वा प्रियदर्शनः । स्वस्यां जातौ स्वगोत्रो वा दूतः कार्यकरः स्मृतः ।  
गोयानेनागतस्तुष्टः पादाभ्यां शुभचेष्टितः । धृतिमानपि कालज्ञः स्वतन्त्रः  
प्रतिपत्तिमान् । अलङ्कृतो मङ्गलवान् दूतः कार्यकरः स्मृतः । स्वस्थं प्राङ्मुख-

चक्रपाणिः—शुभलक्षणं स्वाचारमित्यादिना द्रूते । अमुण्डमिति सशिरकृतवपनोऽभिप्रेतः ।  
जात्यादिभिरातुरेण सह समो जातिवेशक्रियासमः । अग्रहेष्विति अपशस्तस्थानस्थितक्रूरग्रहानधिष्ठितेषु  
इत्यर्थः । अदारुणेषु नक्षत्रेषु अनुग्रेषु ध्रुवेषु चेति, दारुणानीति तीक्ष्णानि । यदुवाच वराह-  
“मूलाशिवाशकभुजगाधिपानि तीक्ष्णानि” इति शिवा आर्द्रा, शक्रो ज्येष्ठा, भुजगाधिपमश्लेषा ।  
“उग्राणि च वराहोक्तानि यथा,—“उग्राणि पूर्वभरणीपित्र्याणि” इति । पूर्वाणि पूर्वोफाल्गुनी,  
पूर्वोपादा, पूर्वभाद्रपदम् । पित्र्यं मघा । वराहोक्तदारुणादीनि नक्षत्राणि वृज्जंशित्वान्येषु  
नक्षत्रेषु दूता आगताः शुभा भवन्ति । रिक्तामिति चतुर्थ्यादिविशेषणम्, चतुर्थीं नवमीं चतुर्दशीं

\* ध्रुवेषु इति वा पाठः ।

† अशस्तौत्पातिकलक्षणम् इति चक्रः ।

दध्यक्षतद्विजातीनामृषभाणां नृपस्य च ।  
 रत्नानां पूर्णकुम्भानां सितस्य तुरगस्य च ॥  
 सुरध्वजपताकानां फलानां पावकस्य च ।  
 कन्यानां वर्द्धमानानां \* वर्द्धस्यैकपशोस्तथा ॥  
 पृथिव्या उद्धृतायाश्च वह्नेः प्रज्वलितस्य च ।  
 मोदकानां सुमनसां शुक्लानां चन्दनस्य च ॥  
 मनोज्ञस्यान्नपानस्य पूर्णस्य शकटस्य च ।  
 नृभिर्धेन्वाः सवत्साया वडवायाः स्त्रियास्तथा ॥

मासीनं समे देशे शुचौ शुचिम् । उपसर्पति यो वैदं स च कार्य्यकरः स्मृतः ॥  
 इति ॥ ३६ ॥

गङ्गाधरः—प्रशस्तदूतमुक्त्वा पथि चातुरवेष्टमप्रवेशे च प्रशस्तमाह—  
 दधीत्यादि । ऋपभो वृषः । सितस्य श्वेतवर्णस्य तुरगस्य । फलानामित्या-  
 मानाम्, पकानामशस्तत्वेनोक्तत्वात् । पावकस्य पवित्रकरवस्तुनः । कन्यानां  
 वर्द्धमानानां कन्यानामनूदानामद्भुतितयौवनानाम् । एकस्य वर्द्धपशोर्दर्शनं  
 शुभं न त्वनेकस्य । उद्धृताया हलादिनोद्धृतमृत्तिकायाः पृथिव्याः ।  
 शुक्लानां सुमनसां पुष्पाणाम् । चन्दनस्य शुक्लस्य, रत्नानुलेपनस्याप्रशस्तत्वेन  
 उक्तत्वात् । नृभिः पूणस्य शकटस्य सवत्साया धेन्वा वडवायाश्च सवत्सायाः

रिक्तोच्यते, तथा रिक्तति विशेषणेन चतुर्थादीनां निष्फलत्वसूचनेन कर्म्मोरम्भं प्रत्यनुपादेयतोप-  
 दिश्यते । शस्तमौत्पातिकमाकस्मिकं लक्षणं यस्य तत् शस्तौत्पातिकलक्षणम् ॥ ३६ ॥

चक्रपाणिः—दध्यक्षतेत्यादिना मार्गादिषु प्रशस्तदर्शनान्याह । सुरध्वजः शक्रध्वजः । कन्या-  
 पुं वर्द्धमानानामिति भङ्गारोपिताः कुमार्यः कुमारश्च वर्द्धमानाः, पुरुषोत्तमवत् समासः । अन्ये  
 तु वर्द्धमानाः शरावा इत्याहुः, ते चालेपनादिना मण्डिता इति बोद्धव्यम् । एकपशुः श्रेष्ठपशुः

\* कन्यापुं वर्द्धमानानाम् इति चक्रसम्मतः पाठः ।

जीवजीवकसिद्धार्थ-सारसप्रियवादिनाम् ।  
 हंसानां शतपत्राणां चाषाणां शिखिनां तथा ॥  
 मत्स्याजद्विजशङ्खानां मांसस्य च \* घृतस्य च ।  
 रुचकादर्शसिद्धार्थ-रोचनानाञ्च दर्शनम् ॥  
 गन्धः सुगन्धो वर्णश्च सुशुक्लो मधुरो रसः ।  
 मृगपक्षिमनुष्याणां प्रशस्तानां गिरः शुभाः ॥  
 छत्रध्वजपताकानामुत्क्षेपणमभिप्लुतिः ।  
 भेरीमृदङ्गशङ्खानां शब्दाः पुण्याहनिस्वनः ॥  
 वेदाध्ययनशब्दाश्च सुखो वायुः प्रदक्षिणः ।  
 पथि वेश्मप्रवेशे च विद्यादारोग्यलक्षणम् ॥ ३७ ॥  
 मङ्गलाचारसम्पन्नः सातुरो वैश्विको जनः ।  
 श्रद्धधानोऽनुकूलश्च प्रभूतद्रव्यसंग्रहः ॥

स्त्रियाश्च सवत्सायाः । जीवजीवकश्चकोरः । अजच्छागः । मांसस्य सद्यस्कस्य  
 न तु पशुपितस्य । रुचकं लवणविशेषः । आदर्शो दपेणम् । सिद्धार्थः  
 श्वेतसर्पपः । रोचना गोरोचना । सुगन्धो गन्धः । सुशुक्लश्च वर्णः । रसो मधुर-  
 इत्येव । प्रशस्तानां मृगाणां हरिणशृगालादीनां पक्षिणां जीवजीवकादीनां मनु-  
 ष्याणां पुण्यशीलसाधुदातृप्रभृतीनां शुभा गिरः । छत्रादीनामुत्क्षेपणमुद्धीनता ।  
 अभिप्लुतिरितस्ततो दोलनमाञ्छादनञ्च । पुण्याहनिस्वनः पुण्याहेतिशब्दो  
 नादः । सुखो वायुः जैत्यमान्यसौगन्ध्यवहः । प्रदक्षिणो दाक्षिण्यगुणयुक्तः ॥ ३७ ॥

गङ्गाधरः—पथि चातुरकुलप्रवेशे च शुभलक्षणमुत्त्वा अथातुरकुले प्रशस्त-  
 माह—मङ्गलाचारेत्यादि । प्रभूतद्रव्यसंग्रहो नानाविधौषधस्वस्त्ययनादि-  
 हत्यर्थः । शकटस्य पूर्णस्य नृमिरिति सम्बन्धः । यदवायाः स्त्रियाश्च सवत्सायां इति योजना ।  
 जीवजीवकः पक्षी प्रसिद्धः । प्रियवादी चातकः ॥ ३७ ॥

धनैश्चर्य्यसुखावतिरिष्टलाभः \* सुखेन च ।  
 द्रव्याणां तत्र योग्यानां योजना सिद्धिरेव च ॥ ३८ ॥  
 गृहप्रासादशैलानां नागानां वृषभस्य च ।  
 हयानां पुरुषाणाञ्च स्वप्ने समधिरोहणम् ॥  
 अर्णवानां प्रतरणं वृद्धिः सम्बाधनिःसृतिः ।  
 स्वप्ने देवैः सपितृभिः प्रसन्नैश्चाभिभाषणम् ॥  
 सोमार्काग्निद्विजातीनां गवां नृणां यशस्विनाम् ।  
 दर्शनं शुक्लवस्त्राणां हृदस्य विमलस्य च ॥  
 मांसमत्स्यविषामेध्य-च्छत्रादर्शप्रतिग्रहः ।  
 स्वप्ने सुमनसाञ्चैव शुक्लाणां दर्शनं शुभम् ॥  
 अश्वगोरथयानञ्च यानं पूर्वोत्तरेण च ।  
 रोदनं पतितोत्थानं द्विषताञ्चाभिमर्दनम् ॥ ३९ ॥

कर्म्मार्थद्रव्यसम्पन्नः । धनाद्यवाप्तिर्विभक्तजनानामातुरस्य च । इष्टलाभश्च  
 सुखेन, न त्वनिष्टं किञ्चिद्वर्त्तते । इति । चिकित्साप्रशस्तिमाह—  
 द्रव्याणामित्यादि । चिकित्सार्थं यद्द्रव्यं यादृशगुणेन सम्पन्नं तत्र योग्यं  
 भवति, तस्य तद्द्रव्यस्य तत्रौषधपथ्यादौ योजना योजनार्थं लाभश्च । योजनायां  
 सत्यां तत्क्रियायाः संशोधनादिरूपायाः सिद्धिश्चैवेत्यारोग्यलक्षणम् ॥ ३८ ॥

गङ्गाधरः—अथ प्रशस्तस्वप्नानाह—गृहेत्यादि । नागानां हस्तिनां स्वप्ने  
 गृहाद्यारोहणं प्रशस्तम् । अर्णवानां प्रतरणं सन्तरणेनोत्तीर्णत्वं, प्रसरणमिति  
 पाठे विस्तीर्णत्वम् । वृद्धिरर्णवानां पूर्णत्वम् । सम्बाधनिःसृतिः सङ्कटान्मुक्तिः ।  
 प्रसन्नदेवपितृभिः सह भाषणम् । सोमश्चन्द्रः । यशस्विनां नृणां विमलहृदस्य मांस-  
 मत्स्यानां विषाणां सविप्राणिनां प्रतिग्रहः, अमेध्यानां विष्टादीनां छत्रादर्शयोश्च  
 प्रतिग्रहो ग्रहणम् । शुक्लानां सुमनसां पुष्पाणां स्वप्ने दर्शनम् । स्वप्नेऽश्वादियानं  
 शुभम् । एवं पूर्वोत्तरेण च दिग्भागेन यानं गमनं शुभं स्वप्ने रोदनं शुभम् ।

चक्रपाणिः—योजनायां सत्यां सिद्धिः योजनासिद्धिः । सम्बाधनिःसृतिः सङ्कटनिस्सरणम् ।

